भारतीय रंगमंच

का

विवेचनात्मक इतिहास

(बंगला, मराठी और गुजराती रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी रंगमंच का अद्यतन अध्ययन)

डॉ० अज्ञात

पुस्तक संस्थान
१०९/५९-ए नेहरूनगर, कानपुर

BHARTIYA RANGAMANCH KA VIVECHANATMAK ITIHAS

By Dr. AGYAT

Price Rs. One hundred fifty only.

पुस्तक : भारतीय रगमंच का विवेचनात्मक इतिहास
लेखक : डॉ० अज्ञात
प्रकाशक : पुस्तक संस्थान, १०९/५० A, नेहरू नगर, कानपुर
मुद्रक : आराधना प्रिन्टर्स, ब्रह्मनगर, कानपुर
संस्करण : प्रथम, १९७८
जिल्द साज : अब्दुल गफूर एण्ड संस, कानपुर
ब्लाक वर्क्स : शाइन ब्लाक वर्क्स, रामबाग, कानपुर
मूल्य : एक सौ पचास रुपये

मातृश्री
श्रीमती हरभेजी देवी सुल्तानियां

स्नेहमयी माँ को

जिनके
स्नेह की शीतल छाया,
करुणा की अजस्र फुहार
तथा
त्याग के चंदनी पवन
से
मेरा जीवन वृक्ष
अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित हुआ

अज्ञात

प्राक्कथन

महाराष्ट्र को लेकर प्राय सम्पूर्ण उत्तरी भारत हिन्दी रंगमच का प्रसार-क्षेत्र रहा है। हिन्दी रंगमंच केवल हिन्दी-भाषी प्रदेशों तक ही सीमित नही रहा, वरन् उसके प्रयोग एवं प्रसार में अन्य प्रदेशो का भी योगदान रहा है। हिन्दी-रंगमंच के प्रादुर्भाव एव विकास मे अन्य भारतीय भाषाओ, विशेषकर बंगला, मराठी ओर गुजराती के रंगमंच ने और हिन्दी ने भी उक्त भाषाओं के रंगमच के विकास मे यत्किंचित् योग दिया है, किन्तु हिन्दी मे अभी तक उसके रंगमंच का, विशेषकर उपर्युक्त सभी भारतीय भाषाओं के परिप्रेक्ष्य मे लिखा गया कोई क्रमबद्ध, पूर्ण और तुलनात्मक इतिहास उपलब्ध न होने से उनके पारस्परिक संबंध-सूत्रो का आकलन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन संभव नही हो पाया। अतः मुझे यह सहज जिज्ञासा हुई कि इन संबंध-सूत्रों की खोज कर क्यों न उनकी विस्तृत परीक्षा एवं मूल्यांकन किया जाय। दीर्घ काल से सक्रिय रंगकर्मी होने के कारण यह जिज्ञासा और भी बलवती हो उठी। फलतः इस जिज्ञासा के समाधान और उक्त अभाव की पूर्ति का संकल्प लेकर मैंने बंबई, बडौदा, नागपुर, जबलपुर, कलकत्ता, दिल्ली, आगरा, बरेली, लखनऊ, सीतापुर, वाराणसी, इलाहाबाद आदि नगरो की लंबी अध्ययन-यात्राएँ सन् १९६५ से १९७५ के बीच की। विषय के मूल स्रोतों तक पहुँचने के लिए बंगला, मराठी और गुजराती के मूल ग्रन्थों के अध्ययन के अतिरिक्त उक्त भाषाओ के प्रमुख विद्वानों, नाटककारों, नाट्योपस्थापकों, निर्देशकों, कलाकारों आदि से साक्षात्कार किया। देश की अनेक रंगशालाएँ और विभिन्न भाषाओं के नाटक एवं लोकनाट्य भी देखे। हिन्दी रंगमंच से संबंधित अनेक पोस्टर भी प्राप्त हुए, जिनसे हिन्दी-रंगमंच के बिखरे हुए संबंध-सूत्रों को खोजने तथा जोड़ने मे सहायता मिली है।

यह ग्रंथ इसी जिज्ञासा, खोज और विस्तृत अध्ययन का परिणाम है।

इस ग्रंथ द्वारा कुछ नई खोजें प्रस्तुत की गयी हैं, जिनसे बेताब युग (१८८६–१९१५ ई०) तथा उसके अनन्तर आधुनिक युग तक पारसी-हिन्दी रंगमंच के इतिहास की छूटी हुई कड़ियों को क्रमिक रूप में जोड़ने में सहायता मिली है। बंबई और काठियावाड़ के अतिरिक्त कलकत्ते, कानपुर, आगरा, बरेली, मेरठ, रामपुर, दिल्ली, पंजाब, ढाका और रंगून की नाटक मंडलियाँ भी इस शृंखला को पूर्णत्व प्रदान करने वाली महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ रही हैं। एक प्रकार से पारसी-हिन्दी रंगमच का जो क्रम बंबई मे उन्नीसवीं शती के आठवें दशक मे प्रारम्भ हुआ था, वह बिना किसी विराम के बीसवी शती के सातवें दशक तक चलता रहा है। कलकत्ते का मूनलाइट थियेटर हिन्दी के व्यावसायिक रंगमंच की अन्तिम जाज्वल्यमान कडी रहा है। दुर्भाग्यवश सन् १९६९ के प्रारम्भ मे इस थियेटर के बंद हो जाने से हिन्दी के व्यावसायिक रंगमंच के अन्तिम सीमाचिह्न का भी लोप हो गया।

अव्यावसायिक रंगमंच के क्षेत्र में वाराणसी की भारतेन्दु नाटक मंडली और नागरी नाटक मंडली, कलकत्ते की हिन्दी नाट्य-परिषद्, भारतीय जन-नाट्य संघ, बंबई का पृथ्वी थियेटर्स तथा दिल्ली, कलकत्ता, बंबई, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, आगरा आदि विभिन्न नगरों की हिन्दी नाट्य-संस्थाओ के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता, अतः उनका क्रमबद्ध अद्यतन इतिहास भी इस ग्रन्थ में विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी रंगमंच की प्रगति और उपलब्धियों का अध्ययन बंगला, मराठी और गुजराती

रंगमंचो के परिप्रेक्ष्य मे करने के उद्देश्य से उक्त भारतीय भाषाओ की विविध नाटक मंडलियो का भी सांगोपांग इतिहास पहली बार सुसबद्ध रूप मे प्रस्तुत किया गया है, जो उक्त भाषाओ के किसी एक ग्रन्थ मे क्रमबद्ध रूप में दुष्प्राप्य है ।

हिन्दी नाट्य-क्षेत्र मे अभी तक जो कार्य हुआ है, वह मुख्यत: हिन्दी-नाटक के इतिहास, नाटककारो के जीवन एव कृतित्व, नाट्य-शास्त्र, हिन्दी और किसी एक भारतीय भाषा के नाटको के तुलनात्मक अध्ययन अथवा हिन्दी नाटको पर सस्कृत या पाश्चात्य नाटको के प्रभाव तक ही सीमित है और इनमे से कुछ में हिन्दी रगमंच, विशेषकर पारसी रगमच के सबध मे जो अध्याय या अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, वह प्राय: अपूर्ण अधकचरा एव एकागी है । इस प्रकार सन् १९६५ तक के प्रकाशित प्रमुख ग्रन्थ हैं .

(१) हिन्दी नाट्य साहित्य, ब्रजरत्नदास (१९३८ ई०),
(२) हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, डॉ० सोमनाथ गुप्त (१९४८ ई०),
(३) *हिन्दी नाटककार, प्रो० जयनाथ, 'नलिन'* (१९५२ ई०),
(४) हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, डॉ० दशरथ ओझा (१९५४ ई०),
(५) हमारी नाट्य-परम्परा, श्रीकृष्णदास (१९५६ ई०),
(६) हिन्दी नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, वेदपाल खन्ना 'विमल' (१९५८ ई०),
(७) हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, डॉ० श्रीपति शर्मा (१९६१ ई०),
(८) हिन्दी के पौराणिक नाटको का आलोचनात्मक अध्ययन, देवर्षि सनाढ्य (१९६१ ई०),
(९) पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, स०, देवदत्त शास्त्री (१९६२-६३ ई०),
(१०) भारतेन्दु का नाटक साहित्य, डॉ० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल, तथा
(११) हिन्दी नाट्य-साहित्य और रंगमच की मीमांसा, कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, प्रथम खंड (१९६४ ई०) ।

उपर्युक्त ग्रन्थों मे से अधिकांश में हिन्दी रंगमंच के सम्बन्ध मे जो तथ्य या निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं, वे अपर्याप्त एव अपूर्ण हैं ।

इन ग्रन्थो मे डॉ० दशरथ ओझा का 'हिन्दी नाटक . उद्भव और विकास' तथा कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह का 'हिन्दी नाट्य-साहित्य और रगमंच की मीमासा' निश्चय ही शोधपूर्ण कृतियाँ हैं, किन्तु इनके द्वारा भी एकांत रूप से हिन्दी रंगमच का सर्वागपूर्ण अध्ययन नही प्रस्तुत किया गया है । 'पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन-ग्रन्थ' में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के रगमच पर अवश्य प्रकाश डाला गया है, किन्तु यह कोई क्रमबद्ध वैज्ञानिक इतिहास या तुलनात्मक अध्ययन न होकर सक्षिप्त एव स्फुट लेखो का सग्रह मात्र है ।

विशुद्ध रगमंच, विशेषकर भारतीय रगमच को लेकर अंग्रेजी और बँगला में कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमे से डॉ० हेमेन्द्रनाथदास गुप्त के 'दि इडियन स्टेज' (अंग्रेजी) तथा 'भारतीय नाट्यमच' (बँगला), डॉ० चन्द्रभान गुप्त का 'दि इंडियन थियेटर इट्स ओरिजिन एण्ड डवलपमेंट अपटु दि प्रेजेन्ट एज' तथा बलवंत गार्गी का 'थियेटर इन इडिया' प्रमुख हैं । डॉ० दास गुप्त ने अपने ग्रन्थो मे सस्कृत नाट्यशास्त्र और नाटक, बँगला के लोक-नाट्य यात्रा, १८ वी और १९ वी शती के बगाल के अग्रेजी रगमच की पृष्ठभूमि मे बँगला रगमंच का इतिहास और भारतीय अभिनेतादि का परिचय बडे विस्तार से दिया है, यद्यपि यह सर्वत्र क्रमबद्ध नही है । डॉ० चन्द्रभान गुप्त ने अपने '*दि इडियन थियेटर-इट्स ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट अपटु दि प्रेजेन्ट एज*' मे प्रधान रूप से भारतीय रगमच का सैद्धान्तिक विवेचन नाट्यशास्त्र के आधार पर करके आधुनिक हिन्दी रंगमंच का सक्षिप्त सिंहावलोकन भी प्रस्तुत किया है । बलवत गार्गी ने 'थियेटर इन इण्डिया' के आधुनिक रगमंच वाले खण्ड मे पारसी-हिन्दी रंगमच और आधुनिक हिन्दी रगमच के साथ बँगला, मराठी और गुजराती के रगमंच का पृथक्-पृथक् संक्षिप्त

अध्ययन अवश्य प्रस्तुत किया है, किन्तु इसमे भी एक भाषा के रंगमच का दूसरी भाषा के रंगमच के अभ्युदय उत्थान आदि में योगदान अथवा दो या अधिक भाषाओं के रगमचों की उपलब्धियो आदि का कोई सापेक्षिक, मूल्यांकन या तुलनात्मक विवेचन नही किया गया है। रगमंच और रगदर्शन के नाम से हिन्दी मे भी इधर कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, किन्तु वे मुख्यत. रगमच के सैद्धान्तिक पक्ष के विवेचन अथवा उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम के दर्शन से संबधित हैं। इस प्रकार की पुस्तकें है :

(१) भारतीय तथा पाश्चात्य रगमच, सीताराम चतुर्वेदी (१९६४ ई०)
(२) रगमच, अनु० श्रीकृष्णदास (मू० ले० शेल्डान चेनी) (१९६५ ई०),
(३) रगमंच और नाटक की भूमिका, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल (१९६४ ई०),
(४) रगदर्शन, नेमिचन्द्र जैन (१९६७ ई०),
(५) रंगमच, सर्वदानद (१९६६ ई०), तथा
(६) रंगमंच : एक माध्यम, कुँवरजी अग्रवाल (१९७५ ई०)।

'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' मे भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र एव रंगमंच का, विशेष कर भारतीय एवं आधुनिक अभिनय एव नाट्य-प्रदर्शन पद्धतियो, रगशाला, रगशिल्प आदि की मीमासा की गई है। 'रगमच' में पश्चिम की रंगशालाओं, नाटक, अभिनय, उपस्थापन और रग-शिल्प का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे विवेचन किया गया है। 'रगमंच और नाटक की भूमिका' की वस्तु-सामग्री रगमंच की अवधारणा के साथ भारतीय और पाश्चात्य रंगमंच के कृतित्व (अर्थात् नाटक-प्रस्तुतीकरण) प्रेक्षागृह, तथा रगमच के इतिहास और परम्परा के संक्षिप्त दिग्दर्शन से संबधित है। 'रग-दर्शन' में भारतीय रगमच, विशेषकर हिन्दी रंगमंच के विविध पक्षो—नाट्य लेखन प्रदर्शन, प्रशिक्षण, आलोचना आदि पर विचार करने के उपरान्त परिशिष्ट में हिन्दी रंगमंच की परम्परा और प्रयोग के सूत्रों के अन्वेषण, दिल्ली के हिन्दी रंगमच आदि का वर्णन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। सर्वदानंद-कृत 'रंगमंच' मे प्रेक्षागृह एवं मंच-निर्माण, अभिनय, रंगशिल्प, अग-रचना, वेश-विन्यास आदि के व्यावहारिक पक्ष की चर्चा के साथ अपनी अनुभूतियों एव कृतित्व का उल्लेख भी किया गया है। 'रगमंच : एक माध्यम' में कुँवरजी अग्रवाल के नाटक और रंगमंच के संबंध में विभिन्न पत्रिकाओं मे समय-समय पर प्रकाशित कुछ लेखों तथा नाट्य-समीक्षाओ का संकलन-मात्र है, जिनमें स्फुट विचार व्यक्त किये गये हैं। कई लेख तो मात्र विदेशी लेखकों के अनुवाद हैं।

स्पष्टत: इनमे से किसी भी ग्रंथ का हिन्दी रगमच के क्रम-बद्ध इतिहास से कोई सम्बन्ध नही है।

उपर्युक्त प्रकाशित ग्रन्थो के अतिरिक्त हिन्दी रंगमच के विकास को लेकर एक अध्ययन महावीर सिंह ने सन् १९६४ मे आगरा विद्यालय में प्रस्तुत किया था। पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' को लेकर उनकी पुत्री श्रीमती विद्यावती 'नम्र' द्वारा प्रस्तुत 'हिन्दी रंगमंच और पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' नामक शोध-प्रबन्ध पूना विश्व-विद्यालय से स्वीकृत होकर प्रकाशित हो चुका है। निश्चय ही यह एक आधिकारिक अध्ययन है, किन्तु पुस्तक का नाम भ्रांतिपरक है क्योंकि इसमे हिन्दी के अव्यावसायिक रगमच की कोई चर्चा न कर केवल पारसी रगमंच के जन्म और विकास के साथ पृथ्वी थियेटर्स की गतिविधियों का ही चित्रांकन किया गया है। आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत 'राधेश्याम कथावाचक : कवि और नाटककार' विषय पर भी शोध-कार्य हुआ बताते हैं। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल की नयी पुस्तक 'पारसी-हिन्दी रगमंच' (१९७३ ई०) ऊपरी और सतही अध्ययन तथा कुछ जनश्रुतियो एवं अविश्वसनीय साक्षात्कारो के आधार पर जल्दी मे तैयार की गई है, जिसमे पारसी-हिन्दी रगमंच की सही प्रतिमा प्रक्षेपित नही होती। डॉ० लाल-कृत 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रगमच' (१९७३ ई०) में भी 'पारसी-हिन्दी रंगमच' की अनेक भ्रांतियो को दोहराया गया है।

इस प्रकार के अध्ययनो से हिन्दी रगमच के विविध युगो पर विशेष प्रकाश पड़ने की सम्भावना है, किन्तु

बेताब युग का अध्ययन गुजराती और मराठी रगमच के पर्याप्त अध्ययन के बिना पूर्णतया सम्भव नही है, क्योंकि पारसी-हिन्दी रगमच का विकास पारसी-गुजराती रगमच से हुआ और मराठी रगमच ने भी भारतेन्दु युग (मराठी मे भावे युग) मे हिन्दी रगमच के अभ्युदय और विकास मे पूरा योगदान दिया। इस युग को अभी तक हिन्दी मे 'द्विवेदी युग' या 'अन्धकार युग' के नाम से स्मरण किया जाता रहा है, जो समीचीन नही है। वास्तव मे यह हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास का स्वर्ण युग रहा है, जिसे इस प्रबन्ध मे 'बेताब युग' का नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन मे न केवल बेताब युग, वरन् प्रसाद युग और आधुनिक युग मे भी भारतीय रगमंच की प्रगति, उपलब्धियो और परिसीमाओ, समस्याओं, अनुप्रेरणाओ और सभावनाओ का क्रमबद्ध रूप से विस्तृत विवेचन किया गया है।

हिन्दी रगमच के सम्पूर्ण इतिहास को लेकर डॉ० चन्द्रूलाल दुबे ने एक स्पृहणीय प्रयास 'हिन्दी रंगमंच का इतिहास' (१९७४ ई०) के रूप मे किया है, जिसमे पारसी-हिन्दी रगमंच से सबद्ध नाटक मडलियो से लेकर आज तक की प्राय: सभी हिन्दी नाट्य-सस्थाओ और उनके कृतित्व का विवरण दिया गया है, यद्यपि यह संकलनात्मक अधिक, विश्लेषणात्मक कम है। कुछ तथ्य एवं नाम भी गलत एवं भ्रामक हैं। फिर भी इस वृहत् कार्य से डॉ० दुबे का श्रम और धैर्य, उत्साह और लगन परिलक्षित होती है।

इसके प्रतिकूल डॉ० विश्वनाथ शर्मा-कृत 'भारत की हिन्दी नाट्य-संस्थाएँ एवं नाट्यशालायें' (१९७३ ई०) पुस्तक डॉ० दुबे की पुस्तक की अपेक्षा लघु एव प्रमुखतया अव्यावसायिक रगमच के इतिहास से ही सम्बन्धित है। अपर्याप्त एव अपूर्ण तथ्यो के कारण तथा वैज्ञानिक विश्लेषण के अभाव मे यह पुस्तक अधिक उपादेय एवं विश्वसनीय नही बन सकी। सम्भवत. यह पुस्तक अनेकमूल शोध-ग्रंथ 'हिन्दी रगमच का उद्भव और विकास' पर आधारित है अथवा उसी का कोई अध्याय या परिशिष्ट है।

उपर्युक्त ग्रंथो के प्रकाशन के पूर्व ही मूलतः इस ग्रंथ की रचना आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत 'बँगला, मराठी और गुजराती रंगमच के सन्दर्भ में हिन्दी मंच का अध्ययन, १९००-१९६०' शीर्षक शोध-प्रबन्ध के रूप मे सन् १९६८ में ही पूर्ण हो चुकी थी, किन्तु इसमे गत कुछ वर्षों के भीतर सन् १९७० तक के विवेचन को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे जोड़, अपेक्षित संशोधन कर तथा कुछ नये चित्रो एवं रेखाचित्रों, नयी सामग्री आदि को बढाकर इसे एक ओर अद्यतन बनाने की चेष्टा की गई है, तो दूसरी ओर इसके माध्यम से अन्य भारतीय भाषाओ के रंगमच एवं रगशिल्प, उपलब्धियो आदि के परिप्रेक्ष्य मे हिन्दी रगमच का विवेचनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है।

कतिपय विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत हिन्दी और बँगला, हिन्दी और मराठी, हिन्दी और गुजराती तथा हिन्दी और मलयालम नाटको का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन अध्ययनों मे से कुछ मे दो भाषाओ के नाटको के साथ उनके रगमचो के तुलनात्मक अध्ययन को भी सम्मिलित किया गया है। अभी हाल में डॉ० माहेश्वर की पुस्तक 'हिन्दी बँगला नाटक' (१९७४ ई०) प्रकाशित हुई है, जिसमे दोनो भाषाओ के नाटको के तुलनात्मक अध्ययन के साथ केवल नवें अध्याय मे दोनो भाषाओ के रंगमच का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यह इतिहास सदोष एव एकागी है तथा हिन्दी रंगमच के सम्बन्ध मे तो डॉ० माहेश्वर की जानकारी अधूरी, तथ्य से परे और भ्रामक है (देखें—डॉ० अज्ञात, डॉ० माहेश्वर-कृत 'हिन्दी-बँगला नाटक' की समीक्षा 'प्रकरण', दिल्ली, वर्ष ७, अक ९, सितम्बर, १९७५, पृ० ८)। डॉ० रमासेन गुप्ता ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी तथा बँगला नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन' मे मूलतः दोनो भाषाओं के नाटको के तुलनात्मक अध्ययन पर ही जोर दिया है। डॉ० रणधीर उपाध्याय-कृत 'हिन्दी और गुजराती नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' (१९६६ ई०) अवश्य एक स्पृहणीय प्रयास है और इसमें प्रथम बार पारसी रगमच पर नवीन तथ्यों के प्रकाश मे आधिकारिक अध्ययन प्रस्तुत

किया गया है, यद्यपि यह भी अधिक विस्तृत नही है। देवर्षि सनाढ्य ने अपने 'हिन्दी के पौराणिक नाटको का तुलनात्मक अध्ययन' मे बँगला, मराठी और गुजराती के अतिरिक्त अन्य कई भारतीय भाषाओं के केवल पौराणिक नाटको का सक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है, किन्तु 'रगमचीय पौराणिक नाटक' मे सम्बन्धित उनके अध्याय में अनेक भ्रातियाँ हैं। डॉ० सनाढ्य के अनुसार शीतलाप्रसाद का 'जानकीहरण' ('जानकीमगल' नही) सन् १८६२ में खेला गया, अमानत वाजिदअली शाह के दरबार से सम्बद्ध थे और उनका 'इंदरसभा' सन् १८६३ में लिखा गया, जो 'हिन्दी का सबसे प्रथम रगमचीय नाटक' है, बेताब काश्मीरी ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम 'ढलाराय' था, आदि। ये सभी तथ्य भ्रामक हैं। सही तथ्यो पर प्रस्तुत ग्रथ के अध्याय २ तथा ३ मे यथास्थान प्रकाश डाला गया है।

इसके अतिरिक्त 'हमारी नाट्य परम्परा', 'सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रथ' (१९५६ ई०), 'नाट्यकला मीमासा' तथा 'पृथ्वीराज कपूर अभिनदन ग्रथ' मे अन्य भारतीय भाषाओ के साथ बँगला, मराठी और गुजराती के रंगमंच और/या नाटको पर भी कुछ पृथक्-पृथक् लेख या वर्णन दिये गये हैं, जिनमे से एकाध लेखों को छोड कर अधिकाश मे उक्त भाषाओ के रंगमच का बहुत सक्षिप्त वर्णन-मात्र दिया गया है। इनमे हिन्दी का उक्त भाषाओं मे से किसी एक भाषा के साथ अथवा बँगला, मराठी आदि का हिन्दी के साथ कोई सम्बन्ध-सूत्र ढूँढने, पारस्परिक विनिमय या योगदान का मूल्याकन अथवा तुलनात्मक अध्ययन करने की कोई चेष्टा नही की गई है।

इसी प्रकार 'साहित्य सदेश' के अंतःप्रातीय नाटक विशेषाक तथा 'आलोचना' के नाटक विशेषाक के बँगला, मराठी और गुजराती के नाट्य-साहित्य और रगमंच से सम्बन्धित लेख और भी सतही, चलताऊ एवं अपर्याप्त हैं और इन्हे पढ कर किसी भी निर्णय पर नही पहुँचा जा सकता। इनमे तथ्य-विषयक भूले भी हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ मे मूल स्रोतो, अधिकारी विद्वानो, रंग-समीक्षकों, रंगकर्मियो एव रगशिल्पियो से तथ्यों को संग्रहीत कर प्रस्तुत किया गया है। यह सात अध्यायों मे विभक्त है।

अध्याय १ मे रगमंच की अवधारणा और उसके विविध उपादानों—रंगशाला, नाटक और अभिनय के आधार पर प्राचीन भारतीय तथा पाश्चात्य रग-स्थापत्य, रग-शिल्प और अभिनय-पद्धति का तुलनात्मक विवेचन कर नाटक की सम्प्रेषणीयता और अभिनय के तीन सिद्धांतों—अनुकृति, व्याख्या और प्रत्यक्षीकरण की मीमासा की गई है।

इस अध्याय मे दो मौलिक स्थापनाएँ प्रस्तुत की गई हैं—पहली यह कि रगमंच एक अर्वाचीन शब्द है। भरत-नाट्यशास्त्र में 'रंग' शब्द का प्रयोग रंगपीठ या रंगशीर्ष के अर्थ में हुआ है, किन्तु 'रंगमंच' शब्द इस रंग का अपने सीमित अर्थ मे पर्याय होते हुए भी अपने विस्तृत अर्थ मे वह रगशाला या नाट्यमडप का वाचक है, परन्तु रंगमंच कोरे स्थापत्य की वस्तु नही, उसकी व्यापक परिधि मे रगशाला के अतिरिक्त काव्य (नाटक) और अभिनय भी आ जाता है। दूसरी स्थापना के अनुसार अभिनय या नाटकोपस्थापन मे अनुकृति और/या व्याख्या के सिद्धात पर्याप्त नही हैं, प्रत्यक्षीकरण के बिना सामाजिक के लिए रस-निष्पत्ति सभव नही है। अनुकृति मे नट का और व्याख्या मे नट और उपस्थापक, दोनो का योग रहता है, जबकि प्रत्यक्षीकरण मे रगमच के त्रिदेवो—नाटककार, नट (जिसमे उपस्थापक भी सम्मिलित है) और सामाजिक की एकान्विति अभिप्रेत है, अत. यह अनुकृति और व्याख्या की अपेक्षा एक विशद भूमि पर खडा है और सभी पूर्ववर्ती सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लेता है।

अध्याय २ मे सस्कृत रंगमंच के ह्रास के बाद लोकमच के अभ्युदय, लोकमंच के प्रभाव को लेकर अथवा उसके विरोध मे अंग्रेजी रगमंच के प्रभाव को ग्रहण कर बँगला, मराठी, गुजराती तथा हिन्दी के रंगमंच के अभ्युदय और बीसवी शती में उनके विकास का विहगावलोकन किया गया है। साथ ही उन्नीसवी और बीसवी शती में इस अध्ययन की भाषाओ मे पारस्परिक आदान-प्रदान, योगदान तथा एकीकरण के सूत्रों का उल्लेख कर यह बताया

गया है कि भाषा, जाति अथवा प्रान्तो (अब राज्यो) की विविधता के बावजूद समूचे भारत की एकता एव समग्रता को दृष्टि मे रख कर सत कवियो की भाँति ही उन्नीसवी शती के भारतीय रगमच तथा बहुभाषी कलाकारो ने भी कम-बेश रूप मे हिन्दी को अपनाया और इस प्रकार बँगला, मराठी और गुजराती के रगमचो पर हिन्दी स्वीकृत भाषा के रूप मे ग्रहीत हो गई थी। पुनश्च, नाटक मडली कही की भी हो, उन सब का मुख्य कार्य-क्षेत्र उत्तरी भारत या हिन्दी-क्षेत्र ही रहा है। हिन्दी-क्षेत्रो के बाहर भी कुछ प्रदेशो मे नाटक हिन्दी मे दिखाये जाते थे, अत इस भ्राति के लिए कोई स्थान नही रहना कि हिन्दी का अपना कोई रगमच नही है। हिन्दी का रगमंच था और है। यह बात दूसरी है कि इसके अभ्युत्थान और विकास मे हिन्दी-क्षेत्रो से अधिक हिन्दीतर क्षेत्रो ने योगदान दिया।

बेताब युग से सम्बन्धित तृतीय अध्याय मे पहली बार पारसी-हिन्दी रगमच की, हिन्दी रगमंच के समग्र इतिहास की एक भूली हुई किन्तु सुसम्बद्ध कडी के रूप में, समीक्षा की गई है। उसके सम्बन्ध मे प्रचलित अनेक भ्रातियो का निवारण कर उसका क्रमबद्ध इतिहास, रग-शिल्प, युग की उपलब्धियो आदि का विवेचन किया गया है। यह विवेचन गुजराती और मराठी रगमच के सापेक्षिक (रिलेटिव) अध्ययन के बिना पूर्ण नही हो सकता। इस अध्याय मे बँगला, मराठी और गुजराती रगमच के समकालीन युगो की स्थिति, सापेक्षिक उपलब्धियो और आदान-प्रदान, योगदान एव एकसूत्रता का भी विश्लेषण किया गया है। अध्याय के अन्त मे बेताब युग एवं विस्तारित बेताब युग के नाटककारो और उनकी कृतियो का मूल्याकन भी प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय ४ प्रसाद युग से सम्बन्धित है। इसमे हिन्दी रगमच, विशेषकर बनारस, कानपुर, लखनऊ, प्रयाग, आगरा, छपरा, दरभगा तथा कलकत्ता के अव्यवसायिक रंगमंच की गतिविधियों, उपलब्धियो और परिसीमाओ का बँगला, मराठी और गुजराती रंगमंचों के समकालीन युगों की गतिविधियो, उपलब्धियो और परिसीमाओं के परिप्रेक्ष्य मे सापेक्षिक आकलन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रसाद युग के नाटककारो की अभिनेय या अभिनीत कृतियो का, अभिनेय नाटक के विविध तत्वो और उसके विशिष्ट रग-शिल्प के आधार पर रंगमंचीय मूल्याकन भी प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय मे प्रसाद के इस मत का समर्थन करते हुए कि 'नाटक के लिए रगमच' होना चाहिए, यह प्रतिप्रादित किया गया है कि प्रसाद और प्रसाद युग के अधिकाश नाटक, यदि उनके रंगशिल्प के अनुरूप रगमच का निर्माण या उसकी व्यवस्था की जाय, तो, खेले जा सकते हैं, किन्तु इसके लिए उनकी रगावृत्तियाँ पुन. तैयार करनी होगी।

आधुनिक युग से सम्बन्धित अध्याय ५ मे बँगला, मराठी और गुजराती रगमचो के विकास, उपलब्धियो और परिसीमाओ को दृष्टि मे रख कर हिन्दी रगमच की स्थिति, प्रगति, उपलब्धियो और परिसीमाओ का विवेचन कर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि हिन्दी रगमंच की उपर्युक्त किसी भी भारतीय भाषा के रगमंच की तुलना मे नगण्य नही कहा जा सकता। इस अध्याय मे हिन्दी की प्राय सभी देशव्यापी आधुनिक व्यावसायिक नाटक मडलियों तथा अव्यावसायिक नाट्य-सस्थाओ और उसकी विविध गतिविधियो का क्रमबद्ध इतिहास भी दिया गया है।

अध्याय ६ मे बेताब युग से लेकर आधुनिक युग तक के हिन्दी तथा बँगला, मराठी और गुजराती के रगमचो का सक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अन्तिम अध्याय ७ मे हिन्दी रगमच की समस्याओ और नवीन अनुप्रेरणाओ पर विचार कर उसके उज्ज्वल भविष्य के लिए कुछ रचनात्मक सुझाव दिये गये हैं, जिनमे कहा गया है कि रगमच पर नाट्य-प्रदर्शन नियन्त्रण अधिनियम, १८७६ के युग-विरोधी प्रतिबन्धो को हटाया जाय, प्रत्येक नाटक के उपस्थापन के समय मडली या सस्था उस नाटक का प्रकाशन करे, अन्यथा लेखक को उस अवसर पर प्रकाशन की छूट रहे. रगमंच की परि-

सीमाओं को दूर करने के लिए नवीन आधुनिकतम साज-सज्जा से युक्त रंगशालाओं का भारतीय रंग-स्थापत्य के आधार पर निर्माण किया जाय, जिनमें से प्रत्येक के साथ एक संग्रहालय (म्यूज़ियम), नाट्य-पुस्तकालय, पूर्वाभ्यास कक्ष आदि की व्यवस्था होनी चाहिये। मनोरंजन कर हटाया जाय, लुप्त होते रंगनाटकों की सुरक्षा के लिए उनके प्रकाशन का प्रबन्ध किया जाय अथवा उनकी 'माइक्रो कापी' तैयार कराई जाय आदि।

इस ग्रंथ की व्यापक सीमाओं को दृष्टि में रख कर अनावश्यक विस्तार से बचते हुए उपलब्ध सामग्री को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने और उसका सभी पूर्वाग्रहों से मुक्त रह कर निस्संग भाव से मूल्यांकन करने की चेष्टा की गई है।

इस अध्ययन में संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमंच-सम्बन्धी कुछ शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। साथ ही तद्विषयक नई पारिभाषिक शब्दावली की भी हिन्दी में रचना की गई है, जिसे इस ग्रंथ के प्रारम्भ में दे दिया गया है। इस शब्द-रचना में इस बात का ध्यान रखा गया है कि शब्द या तो संस्कृत नाट्यशास्त्र से लिये जायें अथवा किसी-न-किसी भारतीय भाषा से।

इस अध्ययन को प्रस्तुत करने में मुझे देश के अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं से सहायता उपलब्ध हुई है। एतदर्थ मैं अपने गुरुदेव क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर के भू० पू० हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० बालमुकुन्द गुप्त तथा बी० एस० एस० डी० कालेज, कानपुर के भूतपूर्व प्राध्यापक और बाद में आकाशवाणी, दिल्ली के मुख्य संगीतोपस्थापक डॉ० कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति का मार्ग-दर्शन के लिए हृदय से आभारी हूँ।

पारसी-हिन्दी रंगमंच के अध्ययन में मुझे बम्बई के प्रसिद्ध कला-समीक्षक, पारसी रंगमंच के सुविज्ञ अध्येता और संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली के कार्यकारी मंडल के सदस्य डॉ० (अब स्व०) डी० जी० व्यास, कु० कज्जन के इंडियन आर्टिस्ट्स एसोसियेशन और बम्बई की दि स्टाऊ अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के भूतपूर्व निर्देशक श्री सोराबजी केरेवाला और श्रीमती विद्यावती नम्र (सुपुत्री, नारायण प्रसाद 'बेताब') तथा कलकत्ते के मूनलाइट थियेटर के निर्देशक श्री प्रेमशंकर 'नरसी' से जो विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई, वह अन्यथा संभव न थी।

मराठी रंगमंच के अध्ययन के सन्दर्भ में मराठी नाटककार एवं उपस्थापक श्री मोतीराम गजानन रांगणेकर, मराठी रंगमंच के अध्येता श्री के० टी० देशमुख, साहित्य अकादमी के तत्कालीन सहायक सचिव तथा बाद में सचिव डॉ० प्रभाकर माचवे और मुम्बई मराठी साहित्य संघ, बम्बई के श्री एस० एन० बंधुटकर का, गुजराती रंगमंच के सन्दर्भ में गुजराती नाटककार एवं कलाकार प्रो० मधुकर रांदेरिया तथा श्री धनसुखलाल मेहता, कला-समीक्षक डॉ० डी० जी० व्यास, देशी नाटक समाज, बम्बई के निर्देशक तथा संगीत नाटक अकादमी से पुरस्कार-प्राप्त श्री कासमभाई मीर, भारतीय विद्या भवन कलाकेन्द्र के अवैतनिक महासचिव श्री नवीन टी० खाड़वाला और बड़ौदा के नाट्य निर्देशक दत्तू पटेल तथा बँगला रंगमंच के सन्दर्भ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो० आशुतोष भट्टाचार्य, लिटिल थियेटर ग्रुप, कलकत्ता के अध्यक्ष श्री तापस सेन, स्टार थियेटर, कलकत्ता के परिचालक श्री देवेन्द्र नारायण गुप्त और साहित्य अकादमी, नई दिल्ली के तत्कालीन सहायक सचिव श्री लोकनाथ भट्टाचार्य का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

हिन्दी-क्षेत्र में दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ० दशरथ ओझा, संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली के तत्कालीन सचिव डॉ० सुरेश अवस्थी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के (अब भू० पू०) निदेशक पद्मश्री श्री ई० अलकाज़ी, 'नटरंग'-संपादक श्री नेमिचन्द्र जैन और श्रीमती शीला भाटिया, केन्द्रीय सूचना मंत्रालय के गीत एवं नाटक प्रभाग के उप निदेशक श्री वीरेन्द्र नारायण, थ्री आर्ट्स क्लब, नयी दिल्ली के निर्देशक एवं नाटककार रमेश मेहता, लिटिल थियेटर ग्रुप, नई दिल्ली के निर्देशक श्री ईश्वरदास, हिन्दुस्तानी थियेटर और अब नया थियेटर, नई दिल्ली के निर्देशक श्री हबीब तनवीर, न्यू अल्फ्रेड के भूतपूर्व कलाकार मास्टर निसार, उत्तर प्रदेश जन नाट्य संघ, आगरा

के भूतपूर्व महासचिव श्री राजेन्द्र सिंह रघुवशी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भू० पू० अध्यक्ष एू ग्रथ अकादमी, लखनऊ के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० रामकुमार वर्मा, नाट्य परिषद्, प्रयाग के उपस्थापक डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, श्रीरगम्, प्रयाग के श्री रामेश्वर प्रसाद मेहरोत्रा, कानपुर की रामहाल नाटक मडली के हारमोनियम मास्टर (सगीत निर्देशक) प० रामेश्वरप्रसाद शुक्ल और स्टेज मास्टर कन्हैयालाल दुबे, कैलाश क्लब, कानपुर के उपस्थापक प० रुद्रप्रसाद वाजपेयी, नक्षत्र अन्तर्राष्ट्रीय, लखनऊ के महासचिव शरद नागर, वाराणसी की नागरी नाटक मडली के मत्री श्री राजकुमार और श्रीनाट्यम् के अवैतनिक महासचिव श्री टी० पी० भार्गव तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० कल्याणमल लोढा, हिन्दी नाट्य परिषद्, कलकत्ता के भूतपूर्व निर्देशक श्री ललित कुमारसिह 'नटवर' एव प० देवदत्त मिश्र तथा बिडला क्लब, कलकत्ता के निर्देशक प० बद्रीप्रसाद तिवारी के प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

अन्त मे बम्बई की सेन्ट्रल लाइब्रेरी, पेटिट लाइब्रेरी, भारतीय विद्याभवन पुस्तकालय, बडौदा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय, दिल्ली की साहित्य अकादमी और सगीत नाटक अकादमी के पुस्तकालयो, इलाहाबाद के हिन्दी साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय, वाराणसी की नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय और कलकत्ता की नेशनल लाइ-ब्रेरी, सीतापुर के हिन्दी भवन, कानपुर के क्राइस्ट चर्च कालेज के पुस्तकालयाध्यक्षो के प्रति भी मैं आभारी हूँ, जिन्होने मुझे प्राचीन एव दुर्लभ पुस्तकें देखने का अवसर प्रदान किया।

मैं उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा दिये गये अनुदान और पुस्तक सस्थान के सचालक पं० महेश त्रिपाठी के योगदान के लिये हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिसके बिना इस ग्रथ का प्रकाशन सम्भव न था।

छायालोक, —डॉ० अज्ञात
१११-ए/१८३ अशोकनगर,
कानपुर, दिनाक १ जनवरी, १९७८

पारिभाषिक शब्दावली

इस ग्रन्थ में रंगमंच और उसके उपादानों आदि से सम्बन्धित जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनके अंग्रेजी पर्याय नीचे दिए जा रहे हैं।

अंक, बाब, ड्राप–Act
अंग–Limb, Division
अंग-रचना (सं०), रूप-सज्जा–Make up
अंगहार (सं०)–Gesticulation
अटारी–Balcony
अत्यभिनय (गु०)–Over acting
अनुकरण, अनुकृति–Imitation
अनुप्रेरणाएं–Stimulants
अभिनटन, चित्राभिनय (सं०)–Pantomime
अनुरचना, तात्कालिक रचना–Improvisation
अभिनय–Acting, Representation
–आंगिक–Gestural
–वाचिक–Vocal
–आहार्य–Extraneous
–सात्त्विक–Internal
अभिनय-पद्धति–Style of acting
–अतियथार्थवादी–Sur–realistic
–कल्पनावादी–Fantastic
–कृत्रिम–Artificial
–प्रतीकवादी–Symbolic
–प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी–Impressionistic
–प्रहसनात्मक–Burlesque
–प्राकृतिक, स्वाभाविक–Naturalistic
–यथार्थवादी–Realistic
अभिनय-क्षेत्र–Acting area
अभिनिर्णय–Adjudication
अभिनिर्णायक–Adjudicator
अभिनीत, मंचस्थ (बं०), अभिमंचित, आरंगित–Staged
अभिनेता, नट, कलाकार–Actor
–तारक–Star
बाल-अभिनेत्री–Boy actress
अलंकरण, अलंकार–Embellishment, Decoration
अवधारणा–Concept
अव्यावसायिक, अवेतन या विनयंवादारी (गु०), शौकिया (बं०)–Amateur
अर्हता–Qualification
आंतरिक यथार्थ, अन्तर्वस्तु–Inner Content
आचार्य–Preceptor, one who propounds
आलोक-चित्र प्रक्षेपक–Effects projector
आभास, सत्याभास–Illusion
आयाम–Extension, Manifestation, Dimension
आसन, पीठासन–Seat
उपकरण–Accessory, Equipment
उपलब्धि–Achievement
उपस्थापन, प्रस्तुतीकरण, प्रस्तुति–Production
उपस्थापक, प्रयोक्ता (सं०), प्रस्तोता–Producer
उपादान, अवयव–Ingredients, Constituents
उपांग–Minor limbs
एकीकरण–Integration
कठपुतली–Puppet
कथोपकथन, संवाद–Dialogue
कलाकार–Artist
काकु (सं०)–Change of voice, Intonation
कार्य-व्यापार–Action
काल–Time
कुआं–Trap, Grave

कुतप (स०)–*Orchestra Musical instrument*
कृत्रिम, बनावटी–False
खड, भूमि (संस्कृत)–Storey, Floor
गगनिका–Cyclorama
गति–Movement, Gait
गति प्रचार (म०)–Gait
गीति नाट्य–Verse drama, Musical drama
घटना-वृत्त–Phenomenon
चरमसीमा–*Climax*
चरित्र, पात्र–Character
चित्रबंध–Picture-frame
टुकड़े-टुकड़े जुड़ा नाटक–Loosely knitted play
टेबलो, छवि–Tableau
तटस्थता प्रभाव–Alienation effect
तलघर, तलगृह–Underground cell
ताल–Time measure
तोरण-कक्ष–Foyer
दीपन–Lighting
दीपनोपकरण, दीप्ति उपकरण–Light equipment
दीप्ति–Light
दीप्ति-नियंत्रण कक्ष–Light control room
दीप्ति-नियामक, मदक–Dimmer
दीप्ति-प्रभाव–Light effect
दृश्य, प्रवेश (मराठी-गुजराती), गर्भांक (बं०) सीन–Scene
दृश्यावली–Scenery
दृश्य-चित्रक–Painter
दृश्यबंध–Set, Setting
दृश्यांकन–Stage designing
दृश्यसज्जा–Stage decor
धरातल, भूमि (सं०)–Tier, level
ध्वनि-नाट्य–Radio play
ध्वनि-विस्तारक यंत्र–Microphone
ध्वनि-संकेत, पार्श्वनिनाद (गु०)–Sound effects
ध्रुवागीत (संस्कृत)–Introductory Stanza of song, Dhruwa song

नाटक, नाट्य (स०)–Play, drama
–अति नाटक, करुणाभासी नाटक (गु०)–Melodrama
–अतियथार्थवादी–Sur-realistic
–अद्भुत नाटक–Miracle play
–अ-नाटक–Anti-play
–अभिव्यंजनावादी–Expressionistic
–असंगत–Absurd
–उदात्त–Classic
–एकपात्रीय नाटक–Monoplay
–एकांकप्रवेशी (म०), एकांकदृश्य–Play with one scene in one act.
–एकांकी नाटक–One-act play
–दुःखांतकी–Tragedy
–नृत्यनाट्य–Ballet, dance drama
–नैतिक नाटक–Morality pay
–प्रतीकवादी नाटक–Symbolic play
–प्रहसन, फार्स (म०), फारस (गु०)–Farce
–पूर्णकालिक नाटक, पूर्णांग नाटक (बं०), पूर्णाकार नाटक–Full-fledged play
–मिश्रांतकी, मिश्र-सुखांतिका (म०)–Tragi-comedy
–यथार्थवादी, वस्तुवादी (म.)–Realistic
–रहस्य नाटक–Mystery Play
–स्वच्छंदतावादी, कल्पनारम्य (म०)–Romantic
–संगीतक, संगीतकम् (गु०)–Opera
–संगीतिका–Extravaganza
–सुखांतकी–Comedy
–हास्यविभाग (गु०), हास्य उपकथा–Comic
नाट्य–Acting, dramatic representation, science or art of acting or dancing, theatre.
–वृत्त नाट्य–Documentary theatre.
–सम्पूर्णनाट्य–Total theatre.
नाट्यधर्मी रीति–Conventional practice, rules of dramatic representation.
नाट्यमंच (बं०)–Stage, theatre.
नाट्यमंडप (स०), नाट्यशाला, रंगशाला, रंगालय–Theatre hall

–चतुरस्र–Square
–विकृष्ट–Rectangular
–त्र्यस्र–Triangular
नाट्यमहोत्सव, नाट्यसमारोह–Drama festival
नाट्य-पद्धति–Style of acting or play
नाट्योपस्थापन–Play production
नाट्यालोचक, नाट्य-समीक्षक Drama critic
नायक, नेता (संस्कृत)–Hero
नायिका–Heroine
नांदीपाठ–Benediction
निर्देशक–Director
निर्माणवाद–Constructivism
निष्कर्ष–Conclusion
नेपथ्य (संस्कृत)–Tiring room, costume, behind the curtain, offstage
परंपरा–Tradition
परावर्तक–Reflector
परिचर्चा–Symposium
परिचालक (बं०)–Producer, Director
परिधान, वस्त्र–Costume
परिशोधन–Catharsis
पश्चात्-दर्शन, प्रत्यावर्त–Flashback
पुनरुत्थापन–Reproduction
प्रकाश–Light
–पादप्रकाश-पगदीवा (गु०)–Foot light
–बिन्दु प्रकाश–Spot light
–शीर्ष प्रकाश–Battons
–तीव्र प्रकाश–Flood light
–प्रकीर्ण प्रकाश–Diffused light
प्रतियोगिता, स्पर्धा, होड़–Competition
प्रतिरूप (सं०)–Pattern
प्रतिशिर (सं०), मुखौटा–Mask
प्रतीक सज्जा–Symbolic decor
प्रभाग–Division
प्रयोग (संस्कृत-मराठी), प्रदर्शन–Performance, production, show
प्रयोक्ता (संस्कृत), प्रयोजक (बं०)–Producer
प्ररोचना (संस्कृत)–Description of what is to follow
प्रवेश (गु० + हि०)–Entrance, Scene
प्रस्तावना–Prologue
प्रस्थान–Exit
प्रेक्षक, सामाजिक, दर्शक–Spectator, audience
प्रेक्षागार, प्रेक्षागृह (सं०)–Auditorium
पृष्ठपट–Back cloth
पार्श्व, पखवाई, पक्ष–Wing
पात्र–Cast, character
पात्र-समूहन–Character ensemble
पुस्त (संस्कृत)–Model work
पूर्वरंग (सं०)–Preliminaries
पूर्वाभ्यास–Rehearsal
फलक, फ्लाट, फ्लैट–Flat
फलागम–Production of fruits
भरत–Preceptor Bharat, theatrical party, actyr.
भाव–State, emotion
–व्यभिचारी भाव–Subordinate state
–स्थायी भाव–Primary or dominant state
–सात्त्विक भाव–Temperamental state
भूमितलस्थली–Pit
मंच–Stage
–अग्र मंच, मंचाग्र–Apron Stage, Fore Stage
–उद्वाह मंच–Lift stage
–ढालू मंच–Sloping stage
–परिक्रामी मंच–Revolving stage
–परिसारी मंच–Rolling stage
–बहुक्षीय मंच–Multi-flanked stage, multi-platform stage
–बहुखंडीय मंच–Multi-storeyed stage
–बहुधरातलीय मंच–Multi-tier stage
–मुक्ताकाश या खुला मंच–Open air stage
–रहट मंच–Persian wheel stage

–वृत्तस्थ मच–Arena stage
–शकट मच (ब०)–Wagon stage
–समतल मच–Flat stage
–पैरचक्की मच–Trade–mill stage
मच-सज्जा–Stage decor
मचाग्र–Apron stage
मत्तावारणी (स०)–Veranda, Pavilion
मनोवृत्ति, चित्तवृत्ति–Mood
महाकाव्यात्मक अभिनय–Epic Representation
मुद्रा–Gesture
मुद्राभिनय–Mime
यवनिका, पट, पटी, तिरस्करिणी–Curtain
रग–Colour
रग (स०), रगमच (बँ०), रगभूमि (म०, गु०)–Theatre, stage
रंगचर्या–Stage business
रग-पद्धति, आरगण-पद्धति–Style of staging
रगपीठ (सं०)–Down stage
रगदीपन–Stage lighting
रंग-निर्माणी, रंग-शिविर, नाट्य-शिविर– Theatre workshop
रगमुख–Proscenium
रंगमुखी-मेहराब–Proscenium arch
रग-शिल्प–Stage craft
रग-शिल्पी–Stage hand, stage craftsman
रग-शीर्ष–Up stage
रग-सज्जा–Stage decor
रग-सकेत–Stage directions
रग-स्थापत्य–Theatre architecture
रग-व्यवस्थापक–Stage manager
रगावृत्ति–Producer's script
रगोपकरण–Stage property
रस–Sentiment
–अद्‌भुत–Marvellous
–करुण–Pathetic
–बीभत्स–Odious
–भयानक–Terrible
–रौद्र–Furious
–वीर–Heroic
–शात–Pacific
–शृगार–Erotic
–हास्य–Comic
रात्रि–Night
रीतिबद्ध–Stylized
रूढि–Convention
रूपवादी–Formalistic
लय–Rhythm
लोकधर्मी रीति–Popular or realistic practice
लोकनाट्य–Folkplay
लोकमंच–Folk theatre
वस्तु (स०)–Plot
व्यवहार-वैचित्र्य–Mannerism
व्याख्या–Interpretation
व्यावसायिक, धधेदारी (गु०), धधेवाईक (म०), पेशादार (बँ०)–Professional
विचार-गोष्ठी, सगोष्ठी–Seminar
विदूषक--Clown
विनोद–Humour
विराम–Pause
विश्राम–Relaxation
विश्राम-कक्ष–Green room
विषय–theme
विस्तारित–Extended
वीथिका, दीर्घा–Row, Gallery
वेश-धारण–Impersonation
वेश-भूषा,परिधान--Costume
श्रुतिसिद्ध–Sound proof
श्रुतिसिद्धि, श्रुतिशास्त्र–Acoustics
शृगार-कक्ष–Dressing room, toilet room.
समाहार–Adjustment
सकलन-त्रय–Three unities
–कार्य-सकलन--Unity of action

–काल-संकलन–Unity of time
–स्थान-संकलन–Unity of place
संकेत–Cue
सकेत-वाचक–Prompter
संगम–Focus
संगीत-निर्देशक, तौरिय (सस्कृत)–Music director
सघर्ष–Conflict
सघात उपकरण–Magazine equipment
सजीव (संस्कृत)–Living object
सदूकिया दृश्यबध–Box set
संप्रेषण–Communication
संभाषण–Delivery of speech
संरचना–Composition
संयोजन–Synthesis
स्तंभ–Pillar
स्वागत–Aside
स्वर, आवाज़, कंठ, गला–Voice
स्वर-साधना–Voice control
स्वराघात–Accent
सृजनात्मक वृत्ति–Creative Mood
सिद्धि (संस्कृत)–Success
सुगठित नाटक–Well-made play
सूत्रधार (सं.)–Director
सौष्ठव (सं.)–Grace
त्रिगत (स.)–Diaiogue of the three–the Sutradhar, the Pariparshvak (Assistant) and the Vidushak Clown
त्रिपार्श्वीय कांच–prism
त्रिभुजीय दृश्यबंध, त्रिपार्श्वीय दृश्यबंध–Three-dimensional set.

विषय–सूची

३. बेताब युग (सन् १८८६ से १९१५ तक)

श्रीकृष्ण 'हसरत', (१२) मुंशी 'दिल', (१३) मु० अनवर हुसैन 'आरजू', (१४) पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', (१५) प० माधव शुक्ल, अन्य नाटककार; (६) अनुवाद–२५४-२५६ (क) संस्कृत से, (ख) हिन्दीतर भारतीय भाषाओं से–गुजराती, बँगला, मराठी, (ग) अँग्रेजी से, (७) हिन्दी और हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के रंगमंच : आदान प्रदान, योगदान और एकसूत्रता–२५६-२५८; (८) निष्कर्ष–२५८-२६० । सदर्भ–२६०–२७९ ।

४. प्रसाद युग (सन् १९१६ से १९३७ तक)

(१) प्रसाद युग हिन्दी रंगमंच की गतिविधि–२७३-२८३ : बनारस, कानपुर, लखनऊ, प्रयाग, आगरा, छपरा, दरभंगा, कलकत्ता; (२) हिन्दीतर भारतीय रंगमंच : स्थिति तथा समकालीन युग–२८३-३१० : (क) बँगला : रवीन्द्र युग में रंगमंच की गतिविधि, उपलब्धियाँ एवं परिसीमाएँ–जोड़ासाको नाट्यशाला एवं शांतिनिकेतन, बँगला का व्यावसायिक रंगमंच–कोहिनूर थियेटर, मनमोहन थियेटर, मिनर्वा थियेटर, स्टार थियेटर, आर्ट थियेटर, नाट्य मन्दिर, नवनाट्य मन्दिर, रंगमहल, नाट्य निकेतन; अव्यावसायिक रंगमंच, उपलब्धियाँ एवं परिसीमाएँ, (ख) मराठी : वरेरकर युग में रंगमंच की गतिविधि, उपलब्धियाँ एवं परिसीमाएँ–वरेरकर का प्रदेय, मराठी की व्यावसायिक रंगभूमि-नाट्यकला-प्रवर्तक संगीत मंडली, महाराष्ट्र नाटक मंडली, ललितकलादर्श, भारत नाटक मंडली, गन्धर्व नाटक मंडली, नाट्यकला प्रसारक संगीत मंडली, शिवराज संगीत मंडली, आर्यावर्त नाटक मंडली, बलवन्त संगीत नाटक मंडली, गणेश नाटक मंडली, यशवन्त नाटक मंडली, आनन्द विलास संगीत नाटक मंडली, समर्थ नाटक मंडली, नूतन महाराष्ट्र नाटक मंडली, अव्यावसायिक रंगमंच, उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ; (ग) गुजराती : मेहता-मुंशी युग में रंगमंच की गतिविधि, उपलब्धियाँ एवं परिसीमाएँ–सामान्य प्रवृत्तियाँ, मोरबी आर्य सुबोध नाटक मंडली, मुम्बई गुजराती नाटक मंडली, देशी नाटक समाज, धार्मनैतिक नाटक समाज, आर्य नाट्य समाज, सरस्वती नाटक समाज, लक्ष्मीकान्त नाटक समाज, अन्य; अव्यावसायिक रंगभूमि, उपलब्धियाँ एवं परिसीमाएँ; (३) प्रसाद के नये प्रयोग तथा हिन्दी रंगमंच की उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ–३१०-३१५ : प्रसाद के नये प्रयोग और युगीन नाट्यधाराएँ, उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ, (४) प्रसाद युग के नाटककार और उनका कृतित्व : संक्षिप्त रंगमंचीय मूल्यांकन–३१५-३४५ : अभिनेय नाटक के तत्त्व, प्रसाद की रंग-परिकल्पना, प्रसाद और युगीन नाटकों का रंगमंचीय मूल्यांकन–(१) जयशंकर प्रसाद, (२) मैथिलीशरण गुप्त, (३) शिवरामदास गुप्त, (४) हरिदास माणिक, (५) आनन्द प्रसाद कपूर, (६) जी० पी० श्रीवास्तव, (७) सुदर्शन, (८) माखनलाल चतुर्वेदी, (९) जमनादास मेहरा, (१०) दुर्गा प्रसाद गुप्त, (११) प्रेमचंद, (१२) गोविन्दवल्लभ पंत, (१३) पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', (१४) जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, (१५) रामनरेश त्रिपाठी, (१६) लक्ष्मीनारायण मिश्र, (१७) जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', (१८) उदयशंकर भट्ट, (१९) हरिकृष्ण 'प्रेमी', (२०) सियारामशरण गुप्त, (२१) सुमित्रानन्दन पंत, (२२) चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, (२३) सेठ गोविन्ददास, (२४) उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अन्य नाटककार; (५) हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमंच : तुलनात्मक स्थिति, आदान-प्रदान

थ्री आर्ट्स क्लब, लिटिल थियेटर ग्रुप, भारतीय नाट्य संघ, दिल्ली आर्ट थियेटर, भारतीय कला केन्द्र, इन्द्रप्रस्थ थियेटर, हिन्दुस्तानी थियेटर, नया थियेटर यांत्रिक रंगमंच, अभियान, दिशांतर, माडर्नाइट्स, महाराष्ट्र परिचय केन्द्र, दिल्ली नाट्य संघ, कला साधना मन्दिर एवं अन्य, कलकत्ता रंगमंच बिड़ला क्लब, तरुण संघ, भारत भारती, अनामिका, अनामिका कला संगम, संगीत कला मन्दिर, कला भवन, अदाकार, प्ले कार्नर; बम्बई रंगमंच : नाट्य निकेतन, इण्डियन नेशनल थियेटर, थियेटर ग्रुप एवं थियेटर यूनिट, अन्य संस्थाएँ अन्य नगरों के रंगमंच-कानपुर नूतन कला मन्दिर, भारतीय कला मन्दिर, नवयुवक सांस्कृतिक समाज, लोक कला मंच, कला नयन, पर्फार्मर्स, काडा (नाट्य भारती), दि ऐम्बेसडर्स (दर्पण), ककार्ड, फोनोविजन्स (रंगवाणी), वेद प्रोडक्शन्स, प्रतिध्वनि, नाटिका, अतिथि संस्थायें, लखनऊ : राष्ट्रीय नाट्य परिषद्, इप्टा, लखनऊ रंगमंच, नटराज, भारती, सूचना विभाग की गीत-नाटक शाखा, किंग जार्ज मेडिकल कालेज नाट्य समाज, सांस्कृतिक रंगमंच, नवकला निकेतन, स्वर्ण मंच, मानसरोवर कला केन्द्र, झंकार आर्केस्ट्रा एण्ड कल्चरल ग्रुप, उत्तर प्रदेश इंजीनियर्स एसोसिएशन, नक्षत्र अन्तर्राष्ट्रीय, भारतेन्दु रंगमंच अध्ययन एवं अनुसंधान केन्द्र, नाट्यशिल्पी, कलाकेत सांस्कृतिक मंच, उदयन संघ, दर्पण, अन्य संस्थायें, बंगाली क्लब, उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य परिषद्, उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, अतिथि संस्थाएँ; रवीन्द्रालय, नाट्य कला केन्द्र; मनोरंजन कर की समाप्ति; वाराणसी : विक्रम परिषद्, शिवराम नाट्य परिषद्, अभिनय कला मन्दिर, नटराज, ललित संगीत-नाट्य संस्थान, शारदा कला परिषद्, श्रीनाट्यम, लोक कला केन्द्र, नव संस्कृति संगम, प्रगति, ललित कला संगम, अन्य नाट्य-संस्थाएँ, हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह; प्रयाग : नीटा, इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोसिएशन, रंगवाणी, रंगशाला थ्री आर्ट्स सेंटर, रंगशिल्पी, नाट्य केन्द्र, सेतुमंच, ड्रामेटिक आर्ट क्लब, प्रयाग रंगमंच, त्रिवेणी नाट्य मंच, प्रयाग नाट्य संघ, कालिदास अकादमी, भरत नाट्य संस्थान, रंग भारती, कल्पना, अतिथि संस्थायें; आगरा : विविध नाट्य संस्थाएँ; मेरठ : मुक्ताकाश संस्थान; गोरखपुर; रूपांतर, भुवाली; पटना : उदय कला मन्दिर, बिहार जननाट्य संघ, आर्ट्स एण्ड आर्टिस्ट्स, बिहार आर्ट थियेटर, थियेटर आर्ट्स एवं पाटलिपुत्र कला मन्दिर लोकमंच, कला संगम, कला निकेतन, आर० एम० एस० ड्रामेटिक क्लब, एकांकी नाटक समारोह सांस्कृतिक समाज, अरंग, रंग-तरंग; गया—रोटरी क्लब, साधना मन्दिर, अन्य संस्थाएँ; आरा : रंगमंच; बख्तियारपुर, मुजफ्फरपुर; शिमला; उदयपुर . भारतीय लोक कला मंडल, जयपुर : एमेच्यर आर्टिस्ट्स एसोसिएशन, राजस्थान विश्वविद्यालय रिपर्टरी ग्रुप, जयपुर का नाट्य-शिविर, कला समारोह, बीमा-कर्मचारी मनोरंजन क्लब; ग्वालियर : आर्टिस्ट्स कम्बाइन, कला मंदिर, अन्य संस्थाएँ; भोपाल; जबलपुर : शहीद भवन रंगशाला; बिलासपुर : हिन्दी साहित्य समिति, रंगमंच, निर्देशकों की संस्थाएँ, अन्य; उपलब्धियाँ और परिसीमायें; '४–निष्कर्ष–५११-।

६. भारतीय रंगमंच : एक तुलनात्मक अध्ययन

बेताब युग–५२९-५३१ : प्रसाद युग–५३१-५३२ : आधुनिक युग . बदलता युग-बोध–५३२-५३९ : व्यावसायिक रंगमंच के विविध स्वरूप, व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं का सह-अस्तित्व, रंगमंच के नए प्रयोग, नया रंगशिल्प, स्वाभाविक अभिनय

परिशिष्ट

१

रंगमंच : अवधारणा और उसके विविध उपादान

रंगमंच : अवधारणा और उसके विविध उपादान | १

(१) रंगमंच की अवधारणा

'रंगमच' अपेक्षाकृत एक अर्वाचीन शब्द है, जिसका उल्लेख भरत-नाट्यशास्त्र या अन्य परवर्ती नाट्य-विषयक लक्षण-ग्रन्थो में नही मिलता। अपने सीमित अर्थ में यह नाट्यशास्त्र मे वर्णित 'रगशीर्ष' अथवा रंगशीर्ष एवं 'रंगपीठ', दोनो का सयुक्त पर्याय प्रतीत होता है। नाट्यमंडप के आधे पृष्ठ भाग को पुनः दो बराबर भागों में विभक्त करने पर उसके आधे अग्र भाग को 'रंगशीर्ष'[१] और पीछे के भाग को 'नेपथ्य' कहते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य ने इस 'रंगशीर्ष' वाले भाग के पुन दो भाग कर शिरोभाग को 'रगशीर्ष' और पादभाग को 'रगपीठ' माना है।[२] इस प्रकार रंगशीर्ष और रंगपीठ वस्तुत. एक ही 'रग' के दो पीछे-आगे के भाग हैं। इस प्रकार 'रग' कहने मात्र से पूरे रंगमंच का बोध हो जाता है, अतः 'रगमंच' में 'मच' शब्द अनावश्यक-सा प्रतीत होता है, वैसे ही जैसे 'पावरोटी' में रोटी, क्योंकि पुर्तगाली भाषा मे 'पाव' शब्द का अर्थ ही रोटी होता है। भाषा-विकास के सिद्धान्त के अन्तर्गत लोक-व्यवहार की कसौटी पर चढ कर 'पाव' शब्द 'पावरोटी' (दो बार रोटी-व्यजक शब्दों के कारण उसे अब 'डबलरोटी' भी कहने लगे हैं) बन गया और 'रंग' शब्द 'रंगमंच'। अभिनव ने रग के लिये यह आवश्यक बताया है कि वह 'विकृष्ट' अर्थात् आयताकार बनाया जाना चाहिये।[३] रामचंद्र गुणचंद्र ने 'रग' शब्द का प्रयोग 'नाट्यमंडप' के अर्थ मे किया है।[४] अभिनवगुप्ताचार्य ने अपनी विवृति मे 'यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽय' के 'रंग' शब्द का एक अर्थ 'मंडप' अर्थात् 'नाट्यमडप' किया है।[५] इस प्रकार अपने व्यापक अर्थ में रंगमंच नाट्यमंडप या रंगशाला का पर्याय माना जा सकता है। नाट्यमंडप या रंगशाला के अन्तर्गत ही 'रंगमंडप' और 'प्रेक्षागृह' दोनों आ जाते हैं, जो कि नाट्यमडप के क्रमश. आधे-आधे पश्चिम भाग और पूर्वभाग मे बनाये जाते हैं, किन्तु स्वय भरत ने 'रंगमंडप' और 'प्रेक्षागृह' की कोई स्पष्ट व्याख्या नही की है। भरत ने 'रंगमंडप' के सम्बन्ध मे यह बताया है कि उसे रगपीठ और मत्तवारणी की ऊँचाई के बराबर (या अनुपात मे ?) बनाना चाहिये।[६] इस अर्थ मे वह रंग का ही समानार्थी हो जाता है और इस रगभूमि के ऊपर जो मडप बनाया जाता है, उसे ही 'रगमंडप' की संज्ञा दी जा सकती है। डा० नगेन्द्र 'रगमडप' को मुख्यतः सामाजिकों के बैठने का स्थान मानते हैं,[७] यद्यपि इसका एक दूसरा अर्थ भी उन्होंने बताया है और वह यह है कि वह 'सारे नाट्यमडप का वाचक' भी हो सकता है,[८] किन्तु यह अर्थ भ्रान्तिपूर्ण है। 'रंगमंडप' अगागी न्याय मे अर्थात् नाट्यमंडप का अग होने के कारण अगी नाट्यमडप का वाचक अथवा बोधक तो हो सकता है, किन्तु वह 'प्रेक्षागृह' (सामाजिकों के बैठने का स्थान) का पर्याय नही माना जा सकता। स्वय भरत ने 'इह प्रेक्षागृहं दृष्ट्वा' आदि कह कर नाट्यमंडप के अर्थ मे 'प्रेक्षागृह' शब्द का प्रयोग किया है।[९] प्रेक्षागृह का शाब्दिक अर्थ है–वह स्थान, जहा प्रेक्षक बैठ सकें, किन्तु अंगांगी-न्याय से 'प्रेक्षागृह' भी समूचे नाट्यमडप का बोधक बन जाता है। रंग अथवा रंगमडप के बिना प्रेक्षागृह की कल्पना नही की जा सकती, यद्यपि आजकल खेल-कूद के मैदान अथवा अखाडों के चारों ओर भी प्रेक्षागृह (आडिटोरियम) बनाये जाने लगे हैं। अत. यहाँ प्रेक्षागृह को

सीमित अर्थ में नाट्य-प्रेक्षागृह ही समझना चाहिये ।

अध्ययन की सुविधा के लिये 'रंगमंडप' और 'प्रेक्षागृह' के सीमित शाब्दिक अर्थ ग्रहण कर उन्हें नाट्यमंडप के दो अंगों के रूप में ही ग्रहण करना उचित होगा—रंगमंडप अर्थात् वह स्थान, जहाँ रंग-कार्य या नाट्याभिनय हो और प्रेक्षागृह अर्थात् वह स्थान, जहाँ सामाजिक बैठें ।

कालांतर में रंगपीठ, रंगशीर्ष, रंगमंडप आदि शब्दों से रंगभूमि की पूर्ण व्यंजना स्पष्ट न हो पाने के कारण एक ऐसे शब्द की आवश्यकता का अनुभव हुआ, जिसमें रंग-कार्य के समस्त स्थल को ग्रहण किया जा सके। संस्कृत से प्राकृत, अपभ्रंश तथा बंगला, मराठी, गुजराती आदि प्रादेशिक भाषाओं तथा हिन्दी के विकास होने तक इसके लिये किसी समुचित शब्द की उद्भावना नहीं हुई थी । बंगला में एतदर्थ अब 'नाट्यमंच' या 'रंगमंच' तथा मराठी और गुजराती में 'रंगभूमि' शब्द का प्रयोग किया जाता है । महाकवि तुलसीदास (१६वीं-१७वीं शती) ने 'रामचरितमानस' में धनुष-यज्ञ के संदर्भ में यज्ञशाला के पर्याय-स्वरूप 'रंगभूमि'[10] अथवा 'रंग-अवनि'[11] शब्द का प्रयोग किया है । यह यज्ञशाला वस्तुत: कोई 'यज्ञशाला' (शाब्दिक अर्थ में) न होकर रंगशाला या रंगभूमि ही थी, जहाँ धनुष-भंग (जिसे कवि ने 'धनुष-मख' कहा है) और सीता-स्वयंवर का आयोजन किया गया था । अष्टछाप के कवि परमानन्ददास ने तुलसी से कुछ पूर्व मथुरा में धनुष-यज्ञ के अवसर पर चारों ओर मंच रोप कर 'रंगभूमि' के निर्माण की बात कही है, जिससे यह विदित होता है कि धनुष-यज्ञ, मल्ल-युद्ध आदि के लिए विस्तृत रंगभूमि का निर्माण मंच बना कर किया जाता था ।[12] कंस द्वारा निर्मित इस रंगभूमि का उद्देश्य कृष्ण को उनकी उद्दण्डता एवं धृष्टता के लिये दंड देना था, जैसा कि ईसा-पूर्व के इटली में युद्धाभिनय का आयोजन विद्रोही दास या नैमैनिक को मृत्यु-दंड देने के लिये ही किया जाता था । यहीं से 'रंगभूमि' शब्द गुजराती और मराठी में रंगशाला या रंगमंच के अर्थ में गृहीत हुआ, किन्तु हिन्दी ने अपने इस दाय की ओर ध्यान न दिया, फलत: हिन्दी में बंगला के अनुकरण पर 'रंगमंच' शब्द का ही व्यवहार होता है । रंगमंच अपने सीमित अर्थ में वह स्थल समझा जाता है, जहाँ नाट्याभिनय होता है और अपने व्यापक अर्थ में वह सम्पूर्ण नाट्यमंडप या रंगशाला का वाचक माना जा सकता है, क्योंकि बिना रंगशाला (भले ही वह स्थान खुला हो या मंडपयुक्त) के रंगमंच का कार्य या मन्तव्य अधूरा ही रहेगा ।

तो क्या रंगमंच केवल रंगस्थली या रंगभूमि है ? क्या उसे बल्ली, कनात और शामियाने अथवा ईंट-चूने से बनी रंगशाला मान कर उसके सच्चे स्वरूप को समझा जा सकता है ? रंगस्थली या रंगशाला तो रंगमंच का निर्जीव स्थापत्य है, अभिनय, रंगदीपन, ध्वनि-संकेत आदि उसे मुखरित कर प्राणवान् बना देते है, किन्तु नाटक के बिना अभिनयादि की कोई भी स्थिति नहीं हो सकती । अभिनय के बिना नाटक का अस्तित्व बना रह सकता है, किन्तु कोई भी नाटक अभिनीत हुए बिना दृश्यकाव्य या नाटक-पद का अधिकारी नहीं कहा जा सकता । मंच-निरपेक्ष पाठ्य-नाटक का अभिनय नहीं किया जा सकता, अत: अभिनेयता के लिए नाटक को मंच-सापेक्ष्य होना आवश्यक है । इस प्रकार रंगमंच, नाटक और अभिनय का अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है । एक के बिना दूसरे की कोई सार्थकता नहीं । संक्षेप में, नाट्यमण्डप रंगमंच का स्थूल शरीर, नाटक उसका सूक्ष्म शरीर और अभिनयादि उसकी आत्मा या प्राण है ।

नाटक और अभिनयादि में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण रंगमंच के अध्येता के लिये यह आवश्यक है कि वह नाटक के शिल्प या नाट्य-विधान तथा अभिनयादि की कला और उसके विज्ञान-तत्त्व को भी समझे । नाटक के विषय और शिल्प को दृष्टिगत रख कर ही उसके अभिनय के स्वरूप, वेश-भूषा, अलंकरण, रंग-सज्जा आदि पर विचार किया जा सकता है । इस प्रकार रंगमंच एक साथ ही कला भी है और विज्ञान भी ।

रंगमंच : एक कला

रंगमच एक कला है। कला का उद्‌भव मानव-मन में सचराचर जगत के घात-प्रतिघात से उत्पन्न प्रभाव की अभिव्यक्ति की आकांक्षा से हुआ है। रगमच के मूल में भी अन्तम् की अभिव्यक्ति की यही उत्कट आकांक्षा वर्तमान है। सत्य तो यह है कि रगमच किसी एक कला का नहीं, समस्त ललित कलाओं का आगार है। इसके अन्तर्गत काव्य, सगीन, चित्रकला, स्थापत्य आदि सभी कलाओं का सन्निवेश है। इसी बात को लक्ष्य कर भरत ने 'नाट्य' (अर्थात् नाटक या रग '') के सम्बन्ध मे यह गर्वोक्ति कही है कि ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग या कर्म नहीं है, जो इस 'नाट्य' मे न हो।'' रग अर्थात् रगमंच और इन ललित कलाओं में अग-अगी सम्बन्ध है, अत: किसी एक का अभाव सामाजिक को खटकने लगता है। यद्यपि अब ऐसे भी नाटक अभिनीत किये जाने लगे हैं, जिनमें गद्य ने काव्य का स्थान ले लिया है और सगीत का तो उनमे पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया है। मुक्त-वितान मच (ओपेन एयर स्टेज) पर चित्रकला अथवा स्थापत्य की कोई आवश्यक न होगी। विज्ञान के इस युग मे नाटक से समस्त ललित कलाओ का बहिष्कार कोई अतिरजित या वायवीय घटना न होगी। फिर भी यह तो मानना ही पडेगा कि इस प्रकार के नाटक सवाद ही अधिक होंगे, नाटक कम, क्योकि कोरे सवादो मे सामाजिक का मानस रस-सिक्त न हो सकेगा और प्रत्यक्षीकरण के समस्त साधनो के अभाव में अभिनय भी अधकचरा और शुष्क होगा।

ललित कलाओ के अतिरिक्त आधुनिक रगमच की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उपयोगी कलायें, यथा बढ़ईगिरी, सुनारगिरी, रूप-सज्जा आदि भी आवश्यक हैं।

रंगमंच और काव्य--रंगमच और काव्य का चोली-दामन का सम्बन्ध है। रगमच वह 'कैनवेस' है, जिसकी पृष्ठभूमि पर काव्य के अमूर्त भाव को अभिनय या रंग-कार्य द्वारा मूर्त बनाया जाता है। काव्य की लिपि का प्रत्येक वाक्य, वाक्य का प्रत्येक पद, पद का प्रत्येक शब्द अर्थपूर्ण बन जाता है। काव्य की, विशेषकर दृश्यकाव्य की, जो काव्य का ही एक अग है, सार्थकता उसके मंचस्थ होने मे ही है। मच-निरपेक्ष दृश्यकाव्य या नाटक को 'पाठ्य नाटक' कह कर भले ही उसे साहित्य की वस्तु मान लिया जाय, किन्तु वस्तुत उसे 'दृश्य काव्य' की सज्ञा नहीं दी जा सकती। अतः नाटककार को नाट्य-शिल्प के साथ मंच-शिल्प का पूरा ज्ञान होना चाहिये। इसी प्रकार प्रयोक्ता (उपस्थापक) को मच-शिल्प के साथ नाट्य-शिल्प की पूरी जानकारी होनी चाहिये, जिससे वह नाटक को अभिनय द्वारा न केवल अनुकृति या व्याख्या कर सके, वरन् उसका प्रत्यक्षीकरण भी करा सके। सीमित अर्थ में काव्य काव्यत्वपूर्ण पद्य का वाचक है। यह आवश्यक नही कि सारे सवाद काव्यपूर्ण हो, परन्तु भावुकतापूर्ण स्थलो पर काव्यपूर्ण सवाद नाटक में चार चाद लगा देते हैं। फिर नाटक के गीत आदि काव्य के ही अग है। काव्य का नाटक पर कभी-कभी इतना प्रभाव पडता है कि पूरा नाटक ही छंद, गीत आदि के साथ युक्त होकर सामने आता है। ऐसे नाटक काव्य-नाटक, पद्य-नाटक या गीति-नाटक कहे जाते है। प्रसाद का 'करुणालय', भगवतीचरण वर्मा का 'तारा', उदयशंकर भट्ट का 'मत्स्यगधा', 'विश्वामित्र' तथा 'राधा', सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्स्ना', 'रजत-शिखर' और 'शिल्पी', धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' आदि इसी प्रकार के गीति-नाटक या काव्य-नाटक हैं। अभिनीत होने पर ये बडे प्रभावशाली बन सकते हैं।

रंगमंच और संगीत--संगीत ने अनादि काल से मानव-मन, मानव-सभ्यता और मानव-साहित्य को प्रभावित किया है। संगीत के इस ऋण को स्वीकार कर भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में पूर्वरंग के अन्तर्गत वादन, गायन और नृत्य की बड़ी व्यापक व्यवस्था की है'' तथा आतोद्य, तत, सुषिर तथा आवंध वाद्यों, ताल, ध्रुवा आदि का विस्तार से विवेचन किया है।'' नृत्य के सम्बन्ध में १०८ करणों एवं ३२ अंगहारों से युक्त जिस नृत्त (या ताण्डव नृत्य) का वर्णन भरत ने किया है, वह आगे चलकर उनके नाम पर 'भरतनाट्यम्' के नाम से ही विख्यात हो गया।''

कुछ विद्वान 'नृत्य' को 'नाट्य' से भिन्न मानते हैं और 'भरतनाट्य' को बहुत बाद का, अपितु देवदासियों द्वारा विकसित नृत्य-रूप बताते हैं। ऐसे लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि अभिनवगुप्त के अनुसार नृत्य के भेद लास्य और ताण्डव भी दशरूपको की भाँति नाट्य के ही दो भेद हैं, " अत. नृत्य या नृत्त की रूपगत पृथक्ता के बावजूद नाट्य से पृथक् कोई सत्ता नही है। भरत द्वारा 'ताण्डव लक्षण' नामक चतुर्थ अध्याय मे जिस करणादि-विभूषित ताण्डव नृत्य का वर्णन किया गया है, वही पहले 'चित्राभिनय' के नाम से और बाद मे स्वयं भरत के नाम से 'भरतनाट्यम्' के रूप मे प्रख्यात हुआ। सम्भवतः देवदासियो ने भरतनाट्यम् को ही अपने ढंग पर और विकसित किया और परवर्ती आचार्यों ने इसके उद्भव का श्रेय भी उन्हें प्रदान कर दिया, परन्तु यह भरतनाट्यम् के मूल प्रवर्तक नृत्याचार्य भरत के प्रति अन्याय होगा। नृत्य और संगीत ने एक साथ और पृथक्-पृथक् भी नाटक को अत्यधिक प्रभावित किया है। किसी भी नाटक में नृत्य एवं संगीत सोने मे सुहागे का काम करते हैं। बेताब युग के नाटको मे नृत्य और संगीत की प्राय. बहुलता रहती थी, जो पारसी नाटक मण्डलियो की सफलता मे बड़े सहायक होते थे। आज के नाटक मे गद्य की प्रधानता के साथ नृत्य और संगीत की उपेक्षा-सी होने लगी है, परन्तु दूसरी ओर यह उपेक्षा अव्यावसायिक (एमेच्यर) रंगमंच के साधनो की सीमाओं की भी द्योतक है। गद्यनाटकों की अपेक्षा गीति-नाट्य, नृत्य-नाट्य या संगीत नाटक प्राय अधिक संख्या मे सामाजिको को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। भारतीय कला केन्द्र, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'रामलीला', नाट्य बैले सेन्टर, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'कृष्ण-लीला', भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर द्वारा प्रस्तुत 'भूमल महेन्द्र', 'म्हाने चाकर राखो जी', 'पनिहारी और इन्द्रपूजा', सचीनशंकर बैले यूनिट, बम्बई द्वारा प्रस्तुत 'माहीगीर और जलपरी', 'मानव-आत्मा की मुक्ति', 'शिव-पार्वती विवाह' आदि इसी प्रकार के नृत्यनाट्य हैं, जिनकी लोकप्रियता से हिन्दी रंगमंच के उज्ज्वल भविष्य की आशा बँधती है।

रंगमंच एवं चित्र-कला—भरत के नाट्यशास्त्र मे नाट्य-मण्डप की सजावट के लिये 'चित्रकर्म' की बात कही गई है। मण्डप की भीतरी दीवालो पर मिट्टी तथा भूसा मिलाकर पलस्तर बनाया जाता था, जिसे चिकना करने के लिये बालू, सीपी और पिसे हुये शंख के लेप किये जाते थे और फिर उस पर चूने से सफेदी (सुधाकर्म) कर स्त्री-पुरुषो, लताबन्धो, विविध मानव-चरितो आदि का रंगो से चित्रण किया जाता था। " भरत के युग मे चित्र-कर्म नाट्य-वेश्म (रंगशाला) की शोभा बढाने तथा पृष्ठभूमि तैयार करने के लिये प्रयुक्त होता था। परन्तु आज की सचित्र पृष्ठभूमि नाटक का आवश्यक उपादान बन गयी है, जो नाटकीय घटनाचक्र के परिवर्तन के साथ बदलती रहती है। सामाजिक को किसी भी घटना या कार्य-व्यापार की पृष्ठभूमि समझने के लिये कल्पना पर अधिक जोर नही देना पडता। परदे अथवा दृश्यबंध (सेटिंग) पर बदलती हुई परिस्थितियो के साथ बदलता हुआ दृश्यविधान इसी चित्रकला के माध्यम से उपलब्ध हो जाता है। इस कार्य मे आधुनिक विद्युत्-यन्त्रो, यथा आलोक-चित्रोत्पादक लालटेन या पक्षेपक (प्रोजेक्टर) आदि ने सहयोग देकर दृश्यविधान मे एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है और एक नये युग का सूत्रपात किया है। आलोक-यन्त्रो के सहयोग से समुद्र मे जलयान, तूफान, जलप्लावन, अग्निकाण्ड, चलते हुये बादल आदि सभी कुछ दिखाए जा सकते हैं, जो मचीय चित्रकला के अब आवश्यक उपजीव्य बन गये हैं। सभी प्रकार के गद्य-नाटको, गीति-नाटको अथवा नृत्य-नाटको को यथार्थ अथवा रोमांटिक पृष्ठभूमि प्रदान करने मे चित्रकला का योग रहता है। चित्रकला और आलोक-चित्रो के इस महत्त्व को वे लोग समझ सकते हैं, जिन्होने पृथ्वी थियेटर्स के 'आहुति' नाटक मे अग्निकाड का, नाट्य बैले सेंटर की 'कृष्णलीला' मे यमुना की जल-वृद्धि और उसके उतार का, लिटिल थियेटर ग्रुप (कलकत्ता) के 'अंगार' मे कोयले की खान मे जल-प्लावन और खनिको के डूबने अथवा 'कल्लोल' मे समुद्र मे खड़े युद्धपोत आदि का दृश्य देखा है।

रंगमंच और मूर्ति-कला—मंच पर कभी-कभी पुतलियो अथवा मूर्तियो को भी दिखाने की आवश्यकता होती

है। यह काम चित्रकला द्वारा सभव नहीं है, क्योंकि चित्रकला द्वारा उन्हें सरलता से त्रि-भुजीय (थ्री-डाइमेंशनल) रूप नही दिया जा सकता। इसके लिये ऐसे मूर्तिकार की आवश्यकता होगी, जो हथौड़ी-छेनी लेकर इस प्रकार की मूर्ति तैयार कर सके। खर्च को कम करने की दृष्टि से 'प्लास्टर आफ पेरिस' से भी इस प्रकार की मूर्तियाँ तैयार की जा सकती हैं। अभी तो इस प्रकार के प्रयोग नगण्य-से हैं, परन्तु प्रकृत दृश्यबंध के समर्थक प्रयोक्ता आगे चलकर मूर्तिकला का भी खुलकर प्रयोग कर सकते हैं। अव्यावसायिक मच पर इस प्रकार की संभावनायें धन के अभाव मे कुछ कम हो सकती है, परन्तु साहसी प्रयोक्ताओ के लिए कोई कार्य असभव नहीं है।

रंगमंच एवं स्थापत्य—भरत और उनके समवर्ती युग मे स्थायी नाट्य-मंडप बनाये जाते थे, जिनमे लकड़ी, ईंट, चूने, भित्तिलेप आदि का उपयोग होता था। भरत के नाट्यशास्त्र मे रगमडप के तीन भागो-रगपीठ, रंगशीर्ष तथा नेपथ्य मे विभाजन और मत्तवारणी के निर्माण का विस्तृत विवरण मिलता है। इसी प्रकार प्रेक्षागृह की लम्बाई, चौड़ाई और उनके प्रकारो का वर्णन भी नाट्यशास्त्र मे उपलब्ध है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही प्रेक्षागृहों और रंगमंच के विधान मे स्थापत्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। उस काल में भी रंग-मडप द्विधरातलीय बनते थे,[२०] जिससे पृथ्वी और स्वर्ग, प्रासाद और राजसभा आदि के दृश्य दिखलाये जा सकते थे। यूनान के प्रेक्षागृह विस्तार मे भारतीय प्रेक्षागृहो से बड़े बनते थे। आधुनिक प्रेक्षागृह भी आकार-प्रकार की दृष्टि से कई प्रकार के बनते हैं। कुछ प्रेक्षागृह तो इतने बड़े बनते हैं कि एक बार मे कई हजार प्रेक्षक बैठकर एक साथ नाटक देख सकते हैं। इनके मंच इतने विस्तृत होते हैं कि उन पर से कार, अश्वारोही सेना, बारात, बड़े-बड़े जुलूस आदि बड़ी सरलता से गुजर सकते हैं।

यह तो हुई प्रत्यक्ष स्थापत्य की बात। आजकल रगमच पर प्रकृत दृश्य-विधान के लिए जिस प्रकार त्रि-भुजीय दृश्यबन्धों (सेटिंग्स) का उपयोग किया जाता है, वे यद्यपि लकड़ी और कैनवेस द्वारा रगो से रग कर तैयार किये जाते हैं, तथापि एक प्रकार से वे स्थापत्य का ही आभास-सा देने लगते हैं। मच पर इस प्रकार ड्राइंग रूम, होटल, गैरेज, जेल, मकान के बरामदे, गाँव आदि के दृश्य वास्तविक रूप में उपस्थित किये जाने लगे हैं। स्थापत्य ही इस प्रकार के दृश्य-विधान का आधार है, यद्यपि उसमें चतुर्थ भुजा नहीं होती। चतुर्थ भुजा नेपथ्य या पक्षों की ओर होती है, अथवा सामाजिक की ओर। सामाजिक अपनी ओर की इसी चतुर्थ भुजा मे से होकर रगमच के कार्य-व्यापार का साक्षात्कार करता है। मच को यह आधुनिक चलचित्रों की देन है। इस प्रकार स्थापत्य ने चित्रकला का स्थान ले लिया है, यद्यपि इस प्रकार के स्थापत्य मे चित्रकला अर्थात् रग और कूची की उपेक्षा नही की जा सकती। स्थापत्य बिना रग के पृष्ठभूमि को सजीव नही बना सकता। दूसरे शब्दो मे, स्थापत्य और चित्रकला का परस्पर सुखद मिश्रण हो गया है।

इस प्रकार कुछ ललित कलायें नाटक की आत्मा को बोलने की शक्ति प्रदान करती हैं और कुछ उसे रूप या आकृति से युक्त करती हैं। काव्य और सगीत रंगमच की आत्मा है और चित्रकला, स्थापत्य आदि कलायें उसे रूप प्रदान करती हैं। इस प्रकार रंग-दैवत् की स्थापना होती है। इसी से रगमच सभी कलाओं का अधिष्ठान है और कलायें सभी दिशाओ मे अपने अधिष्ठान-रगमच की-कीर्ति-पताकायें फहराती हैं।

रंगमंच : एक विज्ञान

रगमंच एक विज्ञान है। पदार्थ अथवा तत्त्व के विखडन और विश्लेषण, कार्य-कारण व्यापार की खोज और सामान्य तथ्यों के आधार पर विशेष नियम की तथा विशेष तथ्यो के आधार पर सामान्य नियम की स्थापना, यही विज्ञान की प्रक्रिया है। रंगमच इन वैज्ञानिक नियमों का उपयोग कर सामाजिक के मन मे एक नैसर्गिक सौन्दर्य का विधान करता है, जो लौकिक होते हुए भी अलौकिक-सा लगता है। विज्ञान ने नाटक की दो प्रकार से सेवा की है। एक ओर उसने रंगमंच के स्वरूप और शिल्प मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर ध्वनि-सकेतो, रंग-

दीपन और आलोकचित्रो की वैज्ञानिक व्यवस्था की है, तो दूसरी ओर उसने रंगमंच को रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से घर-घर पहुचा दिया है। रगमच का एक अन्य वैज्ञानिक रूपान्तर है—चलचित्र, जिसने कुछ समय के लिए तो स्वय रगमच को भी अपनी लोकप्रियता से अपदस्थ कर दिया था, परन्तु क्रमशः रगमच अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुन प्राप्त करता जा रहा है। विज्ञान ने रगमंच की प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित सीमाओं को तोड कर उसे पुन चलचित्र की-सी यथार्थता और व्यापकता प्रदान कर दी है। परिक्रामी रगमच और त्रिभुजीय दृश्यबधो द्वारा पृष्ठभूमि के स्थापत्य के आयोजन, आलोक-यन्त्रो और आलोक-चित्रो के द्वारा यथावाछित ऋतु-विपर्यय, दिन-रात के सृजन, प्रकृति के सान्निध्य आदि की व्यवस्था, ध्वनि-यन्त्रो के माध्यम से प्रकृति को वाणी-दान द्वारा विज्ञान ने रगमच और चलचित्र के अन्तर को नगण्य-सा बना दिया है। अब दोनो एक-दूसरे के विरोधी नही, सहयोगी बन गये हैं और दोनो का सह-अस्तित्व पुन सभव बन गया है।

विज्ञान के विकास के साथ रग-अभियान्त्रिकी (स्टेज इजीनियरिंग) का अभ्युदय हुआ, जो अभियांत्रिकी के सामान्य नियमों पर आधारित है। दो दृश्यो के बीच त्वरित परिवर्तन की विधा की खोज ने रग-अभियान्त्रिकी को जन्म दिया। इस विधा का प्रथम प्रयोग दो फ्लैंटो को जोडने या पृथक् करने मे फ्लैंटो मे पहिये या गराड़ी लगा कर किया गया। कुए या 'ग्रेव' के तख्ते का नीचे-ऊपर होना रग-अभियान्त्रिकी के द्वारा ही सभव बनाया जा सका। क्रमश· रगमच को घुमाने, आगे-पीछे करने अथवा ऊपर-नीचे करने अथवा रहँट की भाँति घुमाने की विधा का विकास हुआ और परिक्रामी, शकट, उद्वाह और रहँट मच का निर्माण प्रारम्भ हुआ। दृश्य को चलचित्र या बायस्कोप के दृश्य की भाँति गति प्रदान करने के लिये पैरचक्की मच का निर्माण हुआ। रग-अभियान्त्रिकी ने दृश्य-परिवर्तन को, बिना अधिक समय नष्ट किये, सभव ही नही, व्यावहारिक बना दिया है, जिससे सामाजिक के रस-बोध मे बाधा नही पडती।

मच पर ध्वनि-सकेत देने के लिए ध्वनि-रिकार्डो और टेप-रिकार्डर के आविष्कार के पहले कुछ थोडी-सी ही ध्वनियाँ, यथा मेघ-गर्जन, वर्षा-ध्वनि, रेलगाडी के इजन के भाप छोडने या चलने, कार के स्टार्ट होने, घोड़े की टापों आदि की ध्वनियाँ कृत्रिम यन्त्रो अथवा साधनो, यथा थडर-कार्ट या थडर गैलरी, रैन बाक्स, एक मजबूत सन्दूक पर जस्ते की चादर कील से जडकर उस पर रोलर चलाने, ककडो पर लोहे या रबड़ के पहियो वाली गाडी चलाने, प्लास्टिक के दो गिलासो या नारियल के दो खोपडो के परस्पर बजाने आदि से क्रमश· उत्पन्न की जाती थी, परन्तु अब ध्वनि-रिकार्डो अथवा टेप-रिकार्डर द्वारा बच्चे के रोने, कुत्ते के भौंकने, विमान के उडने, जलपोत के चलने, सिंह के गर्जन, रेल के गुजरने, तोप की गडगडाहट आदि किसी भी प्रकार की ध्वनि आलिखित करके सुनाई जा सकती है।

इसी प्रकार विद्युत् के आविष्कार ने रगदीपन (स्टेज लाइटिंग) मे युगान्तर उपस्थित कर दिया है और नाटको के उपस्थापन (प्रोडक्शन) को, जो पहले अधिकाशतः दिन मे हुआ करते थे अथवा दीपो और मशालो के प्रकाश मे ही कभी-कभी रात मे भी हो जाया करते थे, रात्रि मे सभव ही नहीं बना दिया, बल्कि उसे रात्रि-मनोरजन का ही एक प्रमुख अग बना दिया है। विद्युत् ने ही उसे वायु-तरगो के द्वारा दृश्य से श्रव्य बना दिया है। टेलीविजन के आविष्कार ने नाटक को पुन श्रव्य से दृश्य बना दिया है।

नवीन आलोक-व्यवस्था द्वारा चलते हुए बादल और नक्षत्र, सूर्य और चन्द्रमा, वृष्टि और जल-प्लावन, अग्निकाड और धूम, आदि के दृश्य बड़ी सरलता से दिखलाये जा सकते हैं। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान ने रंगमच पर चमत्कार उपस्थित कर दिया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सरसता और सामाजिक के प्रत्यक्षीकरण के लिये यह आवश्यक है कि समस्त ललित कलाओं, उपयोगी शिल्पो तथा विज्ञान की रग-सापेक्ष्य शक्तियों का पूरा उपयोग किया जाय। यह उपयोग सतुलित रूप मे होना चाहिए, अन्यथा किसी एक कला,

शिल्प या वैज्ञानिक विधि के अभाव अथवा आधिक्य से नाटकोपस्थापन मे असतुलन पैदा हो सकता है और सामाजिक की रसानुभूति मे बाधा पड सकती है। कला, शिल्प और विज्ञान के समन्वय पर ही रगमच की सफलता निर्भर है ।

रंगमंच : एक योग

पतजलि ने 'योगश्चित्तवृत्ति. निरोध.' कहकर योग के लिये चित्त की बहुमुखी वृत्तियो का नियत्रण आवश्यक बताया है। यह योग मन, आत्मा और शरीर की क्रियाओ को इस प्रकार सचालित करता है कि संपूर्ण इद्रियाँ और चित्त एक लक्ष्य-ब्रह्म-की प्राप्ति के लिये साधनारत हो जाता है। अपने 'योगदर्शन' मे पतजलि ने योग के चार अग बताये है · समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद । भरत द्वारा प्रवर्तित भरतनाट्यम् मे इस योग की विभिन्न क्रियाओ के दर्शन किये जा सकते है । भरतनाट्यम् पर साधनपाद और विभूतिपाद का गहरा प्रभाव है। साधनपाद मे ऐसे योगासनो का समावेश है, जिनसे शारीरिक व्यायाम होता है और रोग-निरोध मे सहायता मिलती है। 'विभूतिपाद' मे मन की एकाग्रता तथा शरीर के नियत्रण की शिक्षा दी जाती है। भरतनाट्यम् के द्वारा योग के इन दोनो अगो की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त होती है। इस शिक्षा के दो अग हैं–एकाकी अर्थात् किसी एक अग का निक्षेप तथा संधिका अर्थात् सिर तथा अन्य अगो की एक साथ शिक्षा ।

भरतनाट्यम का नर्तक सर्वप्रथम अपनी गर्दन मे गति देकर उसका सचालन करता है और फिर आँखे तथा हाथ-पैर नृत्य-मुद्राओ के साथ सचालित होते हैं और अत मे सपूर्ण शरीर ताल-लय की गति मे बँधकर नृत्यरत हो जाता है। तीव्र गति से नृत्य प्रारम्भ हो जाता है और जैसे ही वह रुकता है कि नर्तक किसी एक मनमोहक मुद्रा मे जडीभूत (फ्रीज) होकर खडा हो जाता है। नर्तक गीत के भावो के अनुरूप प्राय. सवेग पाद-निक्षेप के साथ अपनी मुख-एव-अग मुद्राएं भी उसी गति के साथ प्रदर्शित करता है। हाथ की मुद्राएँ प्राय गीत के शब्द मे निहित भाव को कलापूर्ण ढग से व्यक्त करती है। *मुख-मुद्राओ एवं अगहार का एक साथ सौष्ठव के साथ प्रदर्शन तभी सभव है, जब नर्तक का मन एकाग्र हो और सपूर्ण शरीर पर उसका सुदृढ नियत्रण हो।*[११] *नृत्य के समय जिन आकर्षक अगहारो का प्रदर्शन किया जाता है, वे सुन्दर योगासनो के अतिरिक्त और कुछ भी नही हैं।*[१२]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भरत ने 'नाट्य' मे योग के होने की चर्चा निष्प्रयोजन ही नही की है, वरन् यह एक सार्थक उक्ति है, क्योंकि भरत ने जिस 'नाट्य' की कल्पना की थी, नाटक और संगीत के साथ भरतनाट्यम् नृत्य उसका अपरिहार्य अग रहा है। वस्तुतः नाटक और रगमच का योग से अटूट सम्बन्ध है, क्योंकि आगिक, वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय मे योग द्वारा प्रतिपादित शरीर, वाणी तथा मन की एकाग्रता तथा नियंत्रण परम आवश्यक है।

(२) रंगमंच के विविध उपादान

यह पहले बताया जा चुका है कि रंगस्थली या रंगशाला के रूप मे रगमच कोरे स्थापत्य की वस्तु नहीं, वह समस्त ललित-कलाओ, शिल्प और वैज्ञानिक उपलब्धियो का अधिष्ठान भी है। उसकी व्यापक परिधि के भीतर रगशाला, काव्य (नाटक) और अभिनय, तीनों आ जाते हैं। रगशाला के अतर्गत नाट्यमडप के आकार-प्रकार और भेद, रचना एव स्थापत्य, मच और उसके उपकरणों का विवरण आ जाता है। नाटक रंगमंच का वाङ्मय स्वरूप है, अतः उसके इस स्वरूप को समझने के लिये नाटक के भेद-विभेद और उसके शिल्प की थोडी-बहुत जानकारी आवश्यक है। इसी प्रकार अभिनय रगमच का क्रियात्मक पार्श्व है, अतः रगमच के इस पक्ष की जानकारी के लिये अभिनय के विविध प्रकारों और उसके सिद्धान्तो को समझ लेना भी आवश्यक है।

(ख) रगशाला : उद्गम, विकास और रगशिल्प

आधुनिक रगशाला किसी भी सार्वजनिक स्थान मे समतल भूमि पर किन्तु प्राय प्रेक्षागार (आडिटोरियम) के साथ स्थायी रूप मे बनाई जा सकती है। यह समतल अर्थात चारो ओर से घिरी और बन्द हो सकती है और मुक्ताकाश या मुक्ताकाश (ओपन एयर) भी हो सकती है। मुक्ताकाश रगशाला मे रगकार्य के लिए एक मच की स्थापना कर दी जाती है और इसके तीन ओर या चारो ओर खुला रहता है। कुछ मुक्ताकाश रगशालाओ मे यह मच समतल रगशाला के मच की भाँति ही तीन ओर से बद रहता है किन्तु प्रेक्षागार खुला रहता है। स्थायी रगशाला के अतिरिक्त बास-बल्ली, तम्बू कनात और शामियाने की सहायता से अस्थायी और चचल (मोबाइल) रगशालाए भी बनाई जा सकती है। हिन्दी तथा बगला मराठी गुजराती आदि प्रादेशिक भाषाओ के रगमच के इतिहास मे इनमे से किसी-न-किसी प्रकार की रगशाला के निर्माण का विवरण मिल जाता है। प्रारम्भ मे अधिकाश रगशालाए अस्थायी रूप मे बनाई जाती थी और वे सचल होती थी। अधिकाश नाटक मडलियो अपनी रगशालाओं अपने साथ ही लेकर देश-विदेश का भ्रमण किया करती थी। बगला मे स्थायी रगशाला के निर्माण की परम्परा सब से प्राचीन है। कलकत्ते मे भारत की प्रथम रगशाला सन् १७५६ ई० मे बनी थी। बम्बई मे प्रथम रगशाला–बम्बई थियेटर सन् १७७० ई० मे एल्फिस्टन सर्किल (अब हार्निमैन सर्किल) मे सार्वजनिक चन्दे से बनवाई गई थी। "सन् १८६२ ई० मे यह थियेटर गिरा दिया गया। इसके अनन्तर एक रगशाला जगन्नाथ शकर सेठ नामक एक महाराष्ट्रीय सज्जन ने ग्राट रोड पर बनवाई।" चन्द्रवदन मेहता के अनुसार नगरसेठ शकर सेठ ने उक्त रगशाला बनवाई नही, वरन् सन् १८४७–४८ ई० मे यूरोप की किसी ऑपेरा कम्पनी द्वारा ग्राट रोड पर सन् १८४४ ई० मे बनवाई गई लघु रगशाला खरीदी थी।" जो भी हो, यह बम्बई की दूसरी रगशाला थी। तत्पश्चात् बम्बई मे पारसियो और गुजरातियो ने अपनी-अपनी मडली के लिये कुछ अन्य स्थायी रगशालाएँ भी बनवायी। बम्बई की इन रगशालाओ मे मराठी, गुजराती और हिन्दी, सभी भाषाओ के नाटक खेले जाते रहे है। पारसी-हिन्दी नाटक मडलियो मे से भी कुछ ने बम्बई मे अपनी रगशालाएँ बनवाई थी। रगशाला बनाने वाली मडलियो मे विक्टोरिया नाटक मडली और अल्फ्रेड नाटक मडली प्रमुख हैं।

तब से लेकर अब तक रगशालाओ ने विकास के अनेक चरण पार किये हैं। स्थिर रंगमच की जगह परिभ्रामी या शकट रगमच की स्थापना हो चुकी है। इस दृष्टि से बगला की रगशालाए सबसे आगे है। मशाल और चालीस की बत्ती का स्थान विद्युत् और विद्युत्-उपकरणों ने ले लिया है। इससे रगदीपन, आलोकचित्र, ध्वनि-संकेत आदि की दिशा मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। यह आधुनिक रगशाला की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। मचसज्जा भी बदली है और अब पर्दो और पार्श्वों (विग्स्) की जगह दृश्यखड अथवा प्रतीक सज्जा ने मच का कायाकल्प-सा कर दिया है। द्विखडीय और त्रिखडीय मच के प्रयोग भी सफलता के साथ हो चुके हैं। पश्चिम के वृत्तरग मच (एरेना स्टेज) पर भी हिन्दी तथा अन्य भाषाओ मे कुछ नाटक प्रस्तुत किये गये हैं।

आधुनिक रगशाला पश्चिम की देन है, क्योकि उसकी रचना और स्थापत्य मे पश्चिमी रगशाला और रगशिल्प का बहुत बडा हाथ है। भरत-नाट्यशास्त्र मे वर्णित नाट्यमडप (रगशाला) का जो विकसित और समुन्नत रूप प्राप्त होता है, उसे देखकर आश्चर्य अवश्य होता है, किन्तु उसके अनुसरण पर भारत मे बनी कोई स्थायी या अस्थायी रगशाला दृष्टिगोचर नही होती। सीताबेगा गुफा का नाट्यमडप और कोणार्क का नटमदिर इसके अपवाद है। फिर भी यदि हम आधुनिक वैज्ञानिक चमत्कारो को छोड दें, तो हम देखेंगे कि प्राचीन नाट्यमडप किसी भी माने मे आधुनिक रगशाला से पीछे न थे। अतएव आधुनिक रगशाला की पृष्ठभूमि को भली प्रकार हृदयगम करने के लिए यह आवश्यक है कि नाट्यशास्त्र मे वर्णित नाट्यमडप के आकार-प्रकार और भेद, रचना, स्थापत्य आदि के सम्बन्ध मे एक विहगम दृष्टि डाल ली जाय।

२०′ १०′ ०′ १०′ २०′

(चित्र सं॰ १)

(१) **भरतकालीन नाट्यमण्डप और उसके प्रकार**–भरत ने नाट्यमडप, उसके आकार-प्रकार, रगपीठ, रगशीर्ष, नेपथ्य और मत्तवारणी का जो सूक्ष्म विवेचन किया है, उससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि भरत के पूर्व ही रगमच का पूरा विकास हो चुका था। नाट्यशास्त्र के अन्त-सूत्र के अनुसार स्वय भरत ने अपने सौ पुत्रो और अप्सराओ को लेकर इन्द्र विजयोत्सव मे ध्वज-पूजन के अवसर पर एक नाट्य-प्रयोग किया था।[15] इसी पूर्वानुभव एव पर्यवेक्षण के आधार पर भरत ने अपने नाट्यशास्त्र की रचना की। नाट्यमडप-विषयक उनका पर्यवेक्षण और विवेचन अपने ढग पर इस विषय मे अन्यतम है।

भरत के समय मे दो प्रकार के नाट्यमडप बनाये जाते थे . एक तो शैल-गुहाओ को तराश कर और दूसरे खुले समतल स्थानो मे स्तम्भो की स्थापना कर और रगमडप तथा प्रेक्षागृह के चारो ओर दीवालें आदि बना कर। दूसरे प्रकार के मडप शिष्ट आर्यजनो के लिये थे, जो राज-प्रासादो, देवालयो आदि के साथ ही बनाये जाते थे, किन्तु उनके लिये भी भरत ने यह निर्देश दिया है कि उन्हे 'शैलगुहाकार' और 'द्विभूमि' अर्थात दो धरातलो वाला बनाना चाहिये।[17] शैलगुहा मे बने मडप बस्तियो से दूर होते थे और डा० रायगोविन्द चन्द्र के मतानुसार उनमे 'भारत के आदिवासी अपने नाटक खेला करते थे।'[18]

सीताबेंगा गुफा–शैलगुहा मे सम्राट् अशोक के शासन-काल मे निर्मित एक नाट्यमडप ईसा-पूर्व तीसरी शती की सीताबेंगा गुफा मे पाया गया है। इसी के पास जोगीमारा गुफा है। ये गुफाएँ मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले में है। जोगीमारा गुफा मे प्राप्त लेख से पता चलता है कि इस गुफा मे सुतनुका नामक देवदासी रहती थी। डा० जे० ब्लाश ने 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, १९०३-४, पृ० १२३–१३० मे उक्त लेख का उल्लेख करते हुए यह भी निष्कर्ष निकाला है कि नर्तक या नटियाँ पास की नाट्यशाला में अपना कार्य करने के बाद वहाँ रहा करती थी। यह पास की नाट्यशाला सीताबेंगा गुफा ही हो सकती है, क्योकि उक्त दोनो गुफाएँ रामगढ पहाडी (अथवा कालिदास-वर्णित रामगिरि) के उत्तरी भाग मे पश्चिमी ढलान पर पास-पास बनी हैं। उत्तरी गुफा का नाम 'सीताबेंगा' गुफा और दक्षिणी गुफा का नाम 'जोगीमारा' गुफा है। सीताबेंगा का नाम राम-पत्नी सीता के नाम पर पड़ा प्रतीत होता है। ब्लाश के मत से ये गुफाएँ ईसा-पूर्व तीसरी शती की है। उनके मत का समर्थन सर जॉन मार्शल और प्रो० लूडर्स जैसे विद्वानो ने किया है। प्रो० लूडर्स ने 'कुमारसभव' के निम्नश्लोक के आधार पर नाट्यमंडप मे ब्लाश द्वारा परदो (तिरस्करणियो) के प्रयोग की बात का भी समर्थन किया है :

'यत्रांशुकाक्षेप विलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
दरी गृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥'

(कुमारसभव, १/१०)

सीताबेंगा गुफा मे प्राप्त ब्राह्मी लिपि का लेख इस प्रकार है :
'अदिपयति हृदय ।
सभावगरु कवयो ए रात य···
दुले वसंतिया । हामावनुभूते ।
कुदस्फत एवं अलंग (त)··'

डा० ब्लाश ने इस लेख का यह अर्थ किया है : 'स्वभावत. प्रिय कवि हृदय को दीप्त करते है। वसंत-पूर्णिमा को दोलोत्सव के समय-हास्य और गीतो के मध्य–लोग गले मे कुन्द के फूलो की माला पहनते हैं।'

उपर्युक्त लेख के आधार पर डा० ब्लाश ने सिद्ध कर दिया है कि 'यहाँ कविता-पाठ होता था, प्रेम-गीत गाए जाते थे और नाटकाभिनय हुआ करते थे।'

सीताबेंगा गुफा के मानचित्र (चित्र सं० १) को देखने से ज्ञात होगा कि प्रेक्षागृह वाला भाग अर्द्धचंद्रा-

कार सीढ़ियों का बना है। इन सीढ़ियों पर बैठकर, डा० ब्लाश के अनुसार, लगभग ३० व्यक्ति नाटक देख सकते हैं। गुफा के बाहर भी सामने की तरफ पत्थर की कुर्सियों की पंक्तियाँ हैं, जिन पर वर्षा ऋतु के अलावा अन्य ऋतुओं में बैठ कर नाटक देखा जा सकता है।

गुफा का मुख सबसे ऊपरी अर्द्धचन्द्राकार सीढ़ी से कुछ ऊपर है और वहीं से भीतरी भाग प्रारम्भ होता है। इस भीतरी कक्ष की लम्बाई ४४½ फुट और गहराई १५ फुट है। मुख भाग पर ऊँचाई ६ फुट से अधिक है, परन्तु पृष्ठभाग की ऊँचाई चार फुट से कुछ अधिक है। पृष्ठभाग में दीवाल से सटी २ फुट ऊँची और ३½ फुट चौड़ी पीठिका है। इसी प्रकार की दो पीठिकायें बाईं और दाहिनी ओर हैं, जो १ फुट १० इञ्च ऊँची और २ फुट चौड़ी हैं।[११]

गुफा के मुख द्वार पर शिला में दो छिद्र हैं, जिनमें बाँस या बल्लियाँ लगाकर परदा लगाया जाता था। यही परदा 'तिरस्करिणी' का काम करता था।

परन्तु सीताबेंगा गुफा के नाट्यमण्डप के रूप में प्रयुक्त किए जाने की डा० ब्लाश की स्थापना के विपरीत कई विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि उक्त गुफा का प्रयोग नाट्यमण्डप के रूप में नहीं, नर्तकियों या पण्य-स्त्रियों (गणिकाओं) के निवास-स्थान के रूप में ही होता था। अधिक से अधिक उसे कविता-पाठ या प्रेमगीतों के गायन का स्थल माना जा सकता है। उसे नाट्यमण्डप मानने में निम्नांकित आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

१ भीतरी कक्ष अर्थात् कथित रंगपीठ का सामने का भाग ६ फुट और पीछे का केवल ४ फुट ऊँचा है। रंगपीठ के चारों ओर बनी पीठिकाओं से अभिनय-स्थान और भी संकीर्ण होकर केवल ३२ फुट लम्बा और ५ फुट चौड़ा आयताकार रूप में शेष रह जाता है, अतः इतने संकीर्ण रंगपीठ पर अभिनय करना सम्भव नहीं है।[१२]

२ गुहामुख को प्रवेश-द्वार बनाने की अपेक्षा रंगपीठ बनाने के लिए क्यों उपयुक्त समझा गया? होना तो यह चाहिये था कि यह गुहा के पृष्ठ भाग में बनाया जाता, जिससे सामाजिकों को आने-जाने की सुविधा रहती। यदि रंगपीठ को गुहा के मध्य में रखा जाता, तो भी प्रेक्षागृह की अर्द्धचन्द्राकार सीढ़ियों का विधान इसके अनुकूल होता, परन्तु उस दशा में गुहा को आयताकार न काटकर वृत्ताकार या अण्डाकार बनाना आवश्यक था।[१३]

३ स्वयं डा० ब्लाश के अनुसार जब उस नाट्यमण्डप में केवल ३० व्यक्ति ही नाटक देख सकते थे, तो क्या उस समय किसी भी नाटक को देखने के लिये इतने ही प्रेक्षक पर्याप्त समझे जाते थे? क्या इतने ही प्रेक्षकों के लिये शैलगुहा को काटने का श्रम किया गया? यदि उसे प्रेक्षागृह बनाना ही था, तो आकार-प्रकार में उसे और बड़ा क्यों नहीं बनाया गया, जिससे अधिक प्रेक्षकों को बैठने का स्थान मिल पाता। इस गुफा के पास ही एक मन्दिर है, जहाँ विशिष्ट धार्मिक उत्सवों पर यात्री जाते है, परन्तु मेले की भीड़ के लिए उक्त गुफा के भीतरी और बाहरी प्रेक्षागृह पर्याप्त नहीं हैं।[१३]

४ सीताबेंगा गुफा रामगढ़ पहाड़ी (या रामगिरि) पर ३२०२ फुट की ऊँचाई पर स्थित है और वहाँ तक पहुँचने में प्रेक्षक या यात्री को कठिन चढ़ाई का सामना करना पड़ता है। वह बस्ती से दूर है, अतः बस्ती से दूर इतनी ऊँचाई पर प्रेक्षागृह के निर्माण का कोई औचित्य नहीं है।[१४]

५ 'कुमारसम्भव' के प्रथम सर्ग के दसवें और चौदहवें श्लोकों से यह सिद्ध नहीं होता कि वहाँ किसी प्रकार का नाटक हुआ करता था। उनसे इतना अवश्य प्रमाणित हो जाता है कि उनका उपयोग धार्मिक कार्यों से पृथक् अन्य कार्यों के लिए होता रहा है।[१४]

६. कालिदास स्वयं नाटककार थे, अतः यदि उन्हें यह ज्ञात होता कि इस गुफा में नाटक होते हैं, तो इस प्रकार की गुफाओं के वर्णन के प्रसंग में इसका उल्लेख करना वे न भूलते।[१५]

७. 'लूडर्स' ने 'लेणशोभिका' में 'शोभिका' का अर्थ नहीं किया है और पूरे शब्द का अर्थ है–'गुहा को

शोभित करने वाली नटी,' परन्तु किरणकुमार थपलयाल के अनुसार यह अर्थ उपयुक्त नहीं है और वे इसे वार-वनिता, वारवधू या नगरवधू आदि के समकक्ष ही गणिका का पर्याय मानते हैं।

८. यदि शैलगुहाओं में प्रेक्षागृह बनाने की परम्परा थी, तो दक्षिण-पश्चिमी भारत में अनेक शैल-मंदिर या चैत्य है, उनमें ये प्रेक्षागृह क्यों नहीं बनाए गए ?"

उपर्युक्त आपत्तियाँ विचारणीय है, परन्तु सीताबेंगा गुफा को देखने के बाद यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि उसका जो स्वरूप हमें प्राप्त है, वह यों ही निष्प्रयोजन नहीं हो सकता। इस प्रकार के शैलगुहान्तर्गत प्रेक्षागृह का होना कोई आकस्मिक घटना भी नहीं प्रतीत होती। वारवधू या गणिका को नगर में रहने की कोई मनाही नहीं थी, अत बस्ती से दूर जाकर तपस्वी की भाँति एकान्त में रहने का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। नगर की शोभा होने के कारण उसे 'नगरवधू' भी कहा जाता रहा है। जोगीमारा गुफा के लेख से यह भी स्पष्ट है कि सुतनुका नामक देवदासी अपने रूप-दक्ष प्रेमी देवदत्त के साथ रहती थी, जो वाराणसी-निवासी था। यह देवदत्त रूप-सज्जा में कुशल अभिनेता जान पड़ता है, जो सुतनुका तथा अन्य देव-दासियों के साथ मिल कर नृत्य-नाटक अथवा गीति-नाटक के आयोजन करता रहा होगा। ये आयोजन विशेष रूप से वसन्त-पूर्णिमा को दोलोत्सव के अवसर पर हुआ करते होंगे और आस-पास के नगरों से कुछ थोड़े-से उत्साही नागरिक 'पिकनिक' करने के लिये रामगिरि आकर इन आयोजनों को देखते रहे होंगे, अथवा तत्कालीन राजा के कुछ चुने हुए साथी ही इस अवसर पर विशेष रूप से उपस्थित होते रहे होंगे। यह ठीक है कि सीताबेंगा गुफा का प्रेक्षागृह भरत से पहले का होने के कारण प्रेक्षागृह के उनके वर्णन के पूर्णत अनुरूप नहीं है, परन्तु यह हो सकता है कि वह तत्कालीन शैलगुहाकार प्रेक्षागृह का पूर्व-रूप (न्यूक्लियस) हो, परन्तु प्रायः नगरों के निकट शैल-गुहाओं के न होने से इस प्रकार के प्रेक्षागृह आगे न बने हो और लोगों ने खुले चौरस स्थानों या राजभवनों में ही अस्थायी प्रेक्षागृह बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया हो। भरत के नाट्यशास्त्र में इसी प्रकार के प्रेक्षागृहों का वर्णन विस्तार से पाया जाता है।

सीताबेंगा गुफा की लम्बाई ४६ फुट तथा चौड़ाई २४ फुट है। यह भरत के द्वारा वर्णित विकृष्ट प्रकार के अवर नाट्यमंडप की लम्बाई (४८ फुट) और चौड़ाई (२४ फुट) के लगभग समान है। इस प्रकार का मंडप मनुष्यों के लिए बनाया जाता था। प्रेक्षकों के लिए सीढ़ीनुमा पीठिकाओं का भी वर्णन भरत नाट्यशास्त्र में मिलता है—'सोपानकृत पीठकम्।'" पुनश्च, रंगमंच की लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई ऐसी नहीं है कि साधारणतः अभिनय न किया जा सके। बहुत संभव है कि रंगपीठ वाला अग्रभाग ही विशेष रूप से खड़े होकर अभिनय के काम में आता रहा हो और रंगशीर्ष वाला पृष्ठभाग बैठ कर ही अभिनय करने के लिये हो।

इस प्रकार यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि सीताबेंगा गुफा शैलगुहान्तर्गत नाट्यमंडप का पूर्वरूप है, परन्तु भारतवर्ष के अधिकांश नगरों, विशेषकर राजधानियों के समतल भाग में स्थित होने के कारण इस प्रकार के नाट्यमंडपों को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। नाटकाभिनय एक सामाजिक कला है, अत. जन-कोलाहल से दूर स्थानों में नाट्यमंडप का निर्माण अर्थहीन होता।

देवालयस्थ नाट्यमंडप : उड़ीसा में कोणार्क का सूर्यमंदिर तथा गुजरात में सोमनाथ के मंदिर में स्थायी नाट्यमंडपों की व्यवस्था रही है। इन मंदिरों के मंडप स्तम्भों पर, मंदिर के देव-विग्रह के सम्मुख, स्थापित किये गये थे, जहाँ देवदासियाँ अपने-अपने आराध्य देवों की अभ्यर्थना एवं प्रसन्नता के लिये नृत्य, गीत एवं अभिनय का प्रदर्शन किया करती थीं। इनमें विशेष पर्वों या उत्सवों पर रूपकों-उपरूपकों के अभिनय भी प्रस्तुत किये जाते थे, जिनकी विषय-वस्तु पुराण और इतिहास से ली जाती थी। इन्हें मंदिर में आने वाले राजे-महाराजे, विशिष्ट अतिथि, राजपुरुष, धर्मप्राण दर्शनार्थी यात्री एवं नागरिक देखा करते थे।

रंगपीठ और रंगशीर्ष प्राय समानार्थी-से प्रतीत होते है, किन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रंगशीर्ष रंगार्ध का पृष्ठभाग और रंगपीठ उसका अग्र भाग है । पुनश्च, विकृष्ट और चतुरश्र मडपो के रंगपीठ और रंगशीर्ष मे यह भेद है कि विकृष्ट मे रंगशीर्ष रंगपीठ की अपेक्षा समुन्नत (ऊँचा) और चतुरश्र मे दोनों समतल (अर्थात् एक ही ऊँचाई के) होते है ।[१] अत चतुरश्र मे भरत ने रंगपीठ और रंगशीर्ष मे भेद न कर रंगशीर्ष की जगह भी रंगपीठ शब्द का ही सर्वत्र प्रयोग किया है, अत नेपथ्य के द्वारो के रंगपीठ पर खुलने का उल्लेख स्वाभाविक है । डा० चद्र ने जिस कारिका को उद्धृत किया है, वह चतुरश्र-वर्णन से सम्बन्धित है । विकृष्ट मण्डप के सन्दर्भ मे भरत पहले ही यह स्पष्ट उल्लेख कर चुके हैं कि नेपथ्य-गृह के द्वार रंगशीर्ष पर खुलने चाहिए ।

मत्तवारणी के सम्बन्ध मे डा० चद्र का मत विचारणीय है । स्थापत्य-विषयक गणना के अनन्तर वे मत्त-वारणी की वेदिका को नाट्यमडप की भूमि से ७॥ फुट ऊँचा बना मानते हैं ।[१] भरत के अनुसार इस मत्तवारणी की वेदिका रंगपीठ के तल से १॥ हाथ अर्थात् सवा दो फुट ऊँची बननी चाहिये । इसके अन्तर्गत विकृष्टमडप के रंगशीर्ष की ऊँचाई भी निहित है अर्थात् रंगपीठ से ऊँचा रंगशीर्ष और रंगशीर्ष से ऊँची मत्तवारणी होगी । चूँकि रंगमडप भी द्विभूमि अर्थात् द्वितलीय (या द्विखडीय) होता था, अत यह सम्भव है कि मत्तवारणी के चारो स्तम्भो पर किसी मडप (छत) और उसके ऊपर सजवन (रेलिंग या छडदीवारी) की व्यवस्था रहती हो । इस छत की ऊँचाई मत्तवारणी की वेदी से छ फुट से अधिक नही होगी,अर्थात् जिन खभो पर वह टिकी हो, वे खभे छ फुट तक के होने चाहिये । डा० चन्द्र के मतानुसार मत्तवारणी एक ही हुआ करती थी, दो नही ।[१] हमारा यह निश्चित मत है कि *रंगशीर्ष पर मत्तवारणी एक ही बनाई जाती थी ।*

श्रीकृष्णदास ने अपनी कल्पना के बल पर रंगमडप वाले भाग को पहले दो भागो मे विभक्त कर प्रत्येक भाग को तीन-तीन अशो में विभाजित किया है । पृष्ठ भाग (पश्चिमी भाग) के अन्तर्गत मध्य मे रंगशीर्ष और इसके इधर-उधर एक-एक कक्ष की कल्पना की गई है । इसी प्रकार अग्रभाग (पूर्वी भाग) के बीच मे रंगपीठ और उसके इधर-उधर पुन एक-एक कक्ष की स्थिति मानी गई है ।[१]

अपने आशय को स्पष्ट बनाने के लिये श्रीकृष्णदास ने ये तर्क उपस्थित किये है :

'रंगशीर्ष वाले कक्ष मे नेपथ्य से आने के दो मार्ग होते थे । कक्षो और रंगशीर्ष के बीच, प्रत्येक दिशा की ओर, तीन-तीन स्तम्भ रहा करते थे । यही आज-कल की 'विंग्स' का काम देते थे । कक्षो से रंगशीर्ष पर आने के लिये एक द्वार रहता था ।'

' . ... रंगपीठ के प्रत्येक कक्ष के ऊपर मत्तवारणी रहती थी । इसके नीचे का कक्ष विंग्स के काम मे आता था । मत्तवारणी का प्रयोग आकाशमार्ग मे दिखाये जाने वाले दृश्यो मे होता था ।'

यह समझ मे नही आता कि अन्तत श्रीकृष्णदास के इस विभाजन का आधार क्या है और इतने कक्षो की मच पर क्या आवश्यकता होती रही होगी । पूर्वी भाग के दो कक्षो मे से प्रत्येक के ऊपर उन्होने एक-एक मत्त-वारणी का विधान माना है, परन्तु 'नाट्यशास्त्र' से यह स्पष्ट नही होता कि *मत्तवारणी एक नही, दो हुआ करती थी ।* यदि ऐसा होता, तो इतने विस्तार मे जाने वाले भरत इसके उल्लेख मे भी कभी चूक न करते । वास्तव मे मत्तवारणी एक ही हुआ करती थी ।[१]

नाट्यशास्त्र मे मध्यम विकृष्ट नाट्यमडप (देखें चित्र स० २) के विषय मे जो विवरण मिलता है, उससे जो रूप-रेखा रंगमडप की तैयार होती है, वह इस प्रकार है :

नाट्यमडप को दो समभागो अर्थात् रंगमंडप और प्रेक्षागृह में बाँटने के उपरात उसके पश्चिमी अर्द्धभाग अर्थात् रंगमडप को पुन: दो समभागो में बाटने पर जो अग्रभाग होता है, उसी को रंगशीर्ष के प्रयोजनार्थ काम में लाना चाहिए । उसके पृष्ठभाग में अर्थात् रंगशीर्ष के पीछे नेपथ्य बनाया जाना चाहिए ।[१]
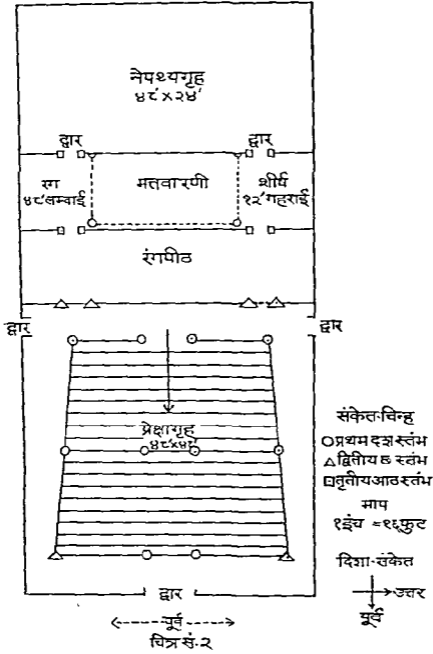
मध्यम विकृष्ट नाट्यमण्डप
(९६×४८')
नेपथ्यगृह
४८'×२४'
द्वार
द्वार
रंग
४८'लम्बाई
मत्तवारणी
शीर्ष
१२' गहराई
रंगपीठ
द्वार
द्वार
प्रेक्षागृह
४८'×४८'
संकेत-चिन्ह
○प्रथम दश स्तंभ
△द्वितीय छ स्तंभ
□तृतीय आठ स्तंभ
माप
१ इंच = १६ फुट
दिशा-संकेत
उत्तर
पूर्व
द्वार
पूर्व

चित्र सं० २

मध्यम विकृष्ट नाट्य-मण्डपः पार्श्व-दर्शन (लौंग सेक्शन)

चित्र सं.३

अवर चतुरश्र नाट्य मण्डप
(४८x४८')

द्वार
नेपथ्यगृह
४८x१२'
द्वार
द्वार
म
रंगपीठ
२४x६
द्वार
द्वार
प्रेक्षागार
४८x२४'
द्वार

संकेत चिन्ह
म= मत्तवारणी
○ प्रथम दस स्तम्भ
△ द्वितीय छः स्तम्भ
□ तृतीय आठ स्तम्भ

← पूर्व →
माप
१इंच = २४फुट

चित्र सं ४

दिशा संकेत
उत्तर
पूर्व
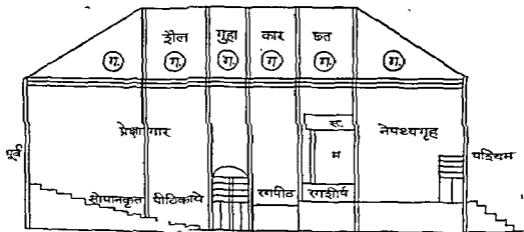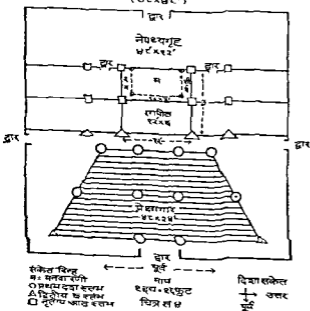
अवर त्र्यश्र नाट्य-मण्डप
(४८x४८x४८')

द्वार
नेपथ्यगृह
द्वार
म
रंगपीठ
प्रेक्षागार
द्वार

संकेत चिन्ह
म = मत्तवारणी
○ प्रथम दस स्तम्भ
△ द्वितीय छः स्तम्भ
□ तृतीय आठ स्तम्भ

← पूर्व →
माप
१इंच = १६ फुट

चित्र सं.५

दिशा संकेत
उत्तर
पूर्व
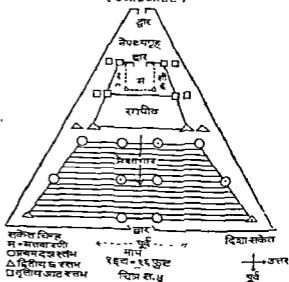
रंगशीर्ष के अग्रभाग में रंगपीठ और पृष्ठभाग में मत्तवारणी बनाई जानी चाहिए। यह मत्तवारणी (रंगशीर्ष के शेषांग में) रंगपीठ के तल से डेढ़ हाथ अर्थात् लगभग सवा दो फुट ऊँची होनी चाहिये और उसके चारों ओर चार खम्भे होने चाहिये। रंगपीठ और मत्तवारणी, दोनों के अनुपात की ऊँचाई पर रंगमंडप बनाना चाहिए।[६] रंगशीर्ष पर आने के लिए नेपथ्य-गृह में दो द्वार होने चाहिए।[७]

रंगशीर्ष 'षड्दारुकसमन्वितम्' होता था।[८] इस षड्दारुक के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। भरत के व्याख्याता अभिनवगुप्त ने स्वयं षड्दारुक की तीन व्याख्याएँ की हैं :(१) नेपथ्यगृह की भीत के बाहर उससे सटे हुए या रंगपीठ और रंगशीर्ष की सीमा पर खड़े काष्ठ के चार खम्भों (मध्य के दो खंभे आठ हाथ की और शेष दो खंभे उनसे चार-चार हाथ की दूरी पर होंगे) और उनके ऊपर और नीचे के दो काष्ठों (धरन और देहरी) को मिलाकर छः काष्ठखंड हो जाते हैं, (२) उक्त चार खंभों में से दो पूर्ववत् आठ हाथ की दूरी पर और शेष दो पार्श्ववर्ती दीवालों में सटा कर खड़े किये जायेंगे और दो शहतीरें (धरन तथा देहरी) पूर्ववत् रखी जायेंगी, तथा (३) षड्-दारुक के छः अंग हैं : १. ऊह (धरन, जो खंभे से बाहर निकली रहती है, २. प्रत्यूह या तुला (धन्नियाँ, जो ऊह के ऊपर आड़ी रखी जाती हैं और उससे भी अधिक आगे निकली रहती हैं), ३. नियूह (प्रत्यूह या तुला पर से निकले भीत-सदृश छत के तख्ते), ४. संजवनफलक (तख्तों पर लगी रेलिंग या छडदीवारी (आकाशे भित्तिव्याख्याः), ५. अनुबंध (खंभों के ऊपर उभरे बने सर्प, व्याघ्र आदि के चित्र) तथा ६. कुहर (लकड़ी की खुदाई करके पर्वत, नगर, निकुंज, गुफा आदि का चित्रांकन)।

इसी तीसरी व्याख्या के अनुसार ही सम्भवतः भरत को काष्ठ-कर्म अभिप्रेत है, किन्तु षड्दारुक के जो छः अंग बताये गये हैं, उनमें से प्रथम चार तो चार काष्ठ-खंड हैं, किन्तु अंतिम दो—अनुबंध (सर्प, व्याघ्र आदि की उभरी चित्रकारी) तथा कुहर (पर्वत, नगर आदि की खुदाई वाला चित्रांकन) स्वयं काष्ठखंड नहीं, बल्कि काष्ठ-कर्म या काष्ठ-कला के अंग हैं। अभिनव की प्रथम दो व्याख्यायें भी रंग-स्थापत्य की दृष्टि से किसी ठोस काष्ठ-रचना (छत डालने) का आधार नहीं प्रस्तुत करतीं, क्योंकि एक ही पंक्ति में खड़े किये गये चार खंभों पर ऊहें (सीधी धरन) तथा प्रत्यूहें (आड़ी धन्नियाँ) नहीं रखी जा सकतीं, उन्हें सहारा देने के लिये उतने ही खंभे उनके ठीक आगे या पीछे होने चाहिए। कोई भी छत बिना सीधी-आड़ी धरन-धन्नियों के नहीं बनाई जा सकती। अतः षड्दारुक को अर्थपूर्ण बनाने के लिये रंग-स्थापत्य की दृष्टि से उसकी पुनर्व्याख्या करनी होगी। रंगशीर्ष या रंगशीर्ष के ऊपर बनी मत्तवारणी पर मंडप की छत डालने के लिये लकड़ी के (१) चार स्तंभ—दो नेपथ्यभित्ति से सटे और दो मत्तवारणी की वेदी के बाहरी दो कोनों पर स्थापित कर (२) ऊह (सीधी धरनें) तथा (३) प्रत्यूह (आड़ी धन्नियाँ) छाना होगा और उस पर (४) नियूह (छत) तथा छत पर (५) संजवनफलक (छडदीवारी) बनाना पड़ेगा। खंभों को स्थापित करने के लिये (६) देहरी की लकड़ियाँ भी लगानी होंगी, जिसके बिना पूर्ण स्थापत्य सुदृढ़ नहीं हो सकेगा।

रंगशीर्ष का तल काली मिट्टी डालकर समतल बनाया जाता रहा है। मिट्टी को शुद्ध करने के लिए उस पर हल चला कर रोड़े, घास-पात, कंकड़ी आदि निकाल दी जाती थी। रंगशीर्ष का तल कछुए की पीठ की तरह बीच में ऊँचा नहीं रखा जाता था और न मछली की पीठ की तरह ढालू। उसे शुद्ध दर्पण के तल के समान समतल और चिकना बनाया जाता था।[११]

इस रंगशीर्ष पर सुनियोजित ढंग से अनेक शिल्पों से मंडित, ऊह-प्रत्यूह-युक्त (स्तम्भों के ऊपरी सिरे से बाहर निकली हुई लकड़ी (धरन) और उसके ऊपर से बाहर आड़ी निकली हुई तुला (धन्नी) को क्रमशः 'ऊह' और 'प्रत्यूह' कहते हैं) लकड़ी का काम (दारु-कर्म) होना चाहिए, जिसके अन्तर्गत सर्प-चित्रित अनेक संजवन (छडदीवारियाँ), चारों ओर सुन्दर शाल-भंजिकाओं (लकड़ी की पुतलियों) से शोभित नियूह (छत के निकले हुए तख्ते) और कुहर अर्थात् पर्वत, नगर, कुंज, गुफा आदि के खुदे हुए चित्रों से अलंकृत वेदियाँ, अनेक शैलियों से बनी

चार या आठ छिद्रो वाली जालियाँ और गोल छेद वाले झरोखे, (स्तम्भो के ऊपर रखे) पीठ (छत) की धरनें, जिन पर अनेक कबूतर बैठे हो तथा रगपीठ, रगशीर्ष, मत्तवारणी आदि के विविध ऊँचाई वाले फर्शों पर स्तम्भ बनाये जाते हैं, किन्तु कोई भी स्तम्भ, खूँटी, झरोखा, कोना या दूसरा द्वार ऐसा न हो, जिससे नेपथ्य के द्वार अवरुद्ध हो।"

यह नाट्यमडप दो भूमियो (धरातलो) का बनाया जाय और उसकी छत शैलगुहाकार हो।" इसके वातायनो (झरोखो) से हलकी-हलकी हवा तो आये, किन्तु तेज हवा न आये। यह मडप श्रुतिसिद्ध (साउण्ड-प्रूफ) बनाया जाय, जिससे उसमे गभीर ध्वनि हो सके अर्थात् नटो या सगीतज्ञो की आवाज अनुगूँज या अन्य किसी कारणवश तेजहीन न हो।"

नाट्यमडप की दीवालो पर पलस्पर चढा कर उन्हें चूने से पोता जाय और फिर रगादि से स्त्री-पुरुष, लताएँ आदि चित्रित की जायें।" दीवाल पक्की ईंट की बनाई जाती थी।

इस नाट्यमडप को लम्बाई की ओर से नीचे से ऊपर तक देखा जाय, तो उसकी रूप-रेखा चित्र संख्या ३ की भाँति होगी। इसी तारतम्य मे भरत के चतुरश्र नाट्यमडप और त्र्यश्र नाट्यमडप की रूपरेखाओं का अध्ययन कर लेना भी अनुपयुक्त न होगा।

भरत ने अवर कोटि के चतुरश्र (देखे चित्र स० ४) का ही विशेष रूप से वर्णन किया है, जो ४८ फुट लम्बा और ४८ फुट चौडा होता है। सभवत. मध्यम विकृष्ट की भाँति ही उस समय अवर चतुरश्र भी बहु-प्रचलित रहा होगा। इस चतुरश्र के चारो ओर पक्की ईंटो की दीवाल होनी चाहिये।" भीतर पूर्व-निर्देशो के अनुसार ही रगपीठ बनाया जाना चाहिए और रगशीर्ष के पृष्ठभाग में मत्तवारणी भी यथास्थान बनाई जानी चाहिए।"

नाट्यमडप को धारण करने के लिये दस स्तम्भों की व्यवस्था थी।" इन स्तम्भो से पृथक् प्रेक्षकों के बैठने के लिये सीढीनुमा पीठिकाएँ बनाई जाती थी, जो ईंटो से बनती थी और प्रेक्षको के बैठने के लिए उन पर लकडी के पटरे या पीढे बिछा दिये जाते थे।" प्रत्येक पीठिका पूर्ववर्ती पीठिका से एक हाथ ऊँची होनी चाहिए, जिससे रगपीठ सरलता से दिखाई पडे।"

रगपीठ पर प्रवेश आदि के लिए नेपथ्य से दो द्वार होने चाहिए, जिनमें से एक अभिनेता आदि के आने के लिये था और दूसरा सभवत रगसज्जा का सामान आदि लाने के लिए।

त्र्यश्र मडप के विषय मे भरत ने अधिक नही लिखा है। इसके सम्बन्ध मे उन्होंने इतना ही बताया है कि यह त्रिकोणात्मक होना चाहिए और उसके मध्य मे त्रिकोणात्मक रगपीठ बनाना चाहिये।" रगपीठ पर आने के लिए एक द्वार होना चाहिए, जो उसके पृष्ठभाग मे ही बनाया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाट्यमडप मे आने के लिए पूर्व का द्वार होना चाहिए। शेष सभी विधान चतुरश्र की ही भाँति किया जाना चाहिए।" अवर त्र्यश्र नाट्यमडप का मानचित्र (प्लान) चित्र स० ५ मे दिया गया है। ऐसा लगता है कि भरत के सक्षिप्त वर्णन का कारण सभवत यह रहा हो कि इस प्रकार के नाट्यमडप का विशेष प्रचलन उस युग मे न रहा होगा।

उपर्युक्त विवरण से नाट्यमडप की सम्पूर्ण ऊँचाई का अनुमान लगाया जा सकता है। अनुमानत. मंडप की ऊँचाई १८ फुट रही होगी। डा० रायगोविन्द चन्द्र की स्थापत्य-सम्बन्धी गणना से इस अनुमान की पुष्टि होती है। इस गणना के अनुसार एक ओर उन्होने रगमडप के अन्तर्गत रगपीठ की पृथ्वीतल से ऊँचाई साढ़े चार फुट और मत्तवारणी की ऊँचाई साढे सात फुट मानी है और इन दोनो ऊँचाइयों के योग के ऊपर छ. फुट की ऊँचाई एक व्यक्ति के खडे होने के लिए रखी है और दूसरी ओर प्रेक्षागार के अन्तर्गत (सवा दो फुट चौडी) कम से कम आठ सीढियाँ होने की बात कही है और प्रत्येक सीढी के एक-दूसरे से डेढ फुट ऊँचा होने के कारण अन्तिम सीढी की ऊँचाई १२ फुट हुई।" इस प्रकार अन्तिम सीढी पर बैठने वाले प्रेक्षक के लिये कम से कम तीन फुट और उसके बाद

वाली सीढी पर खड़े होकर उतरने के लिये कम से कम छः फुट की ऊँचाई और चाहिए । इस प्रकार कुल ऊँचाई १८ फुट ठहरती है, जहाँ पर छत पाटी जा सकती है। मध्य भाग मे शैलगुहाकार बनाये जाने के कारण छत उठी हुई होगी।

उपर्युक्त अनुमान अवर विकृष्ट, चतुरश्र और त्र्यश्र के सम्बन्ध मे सही हो सकता है, क्योकि भरत नाट्य-शास्त्र के अनुसार ये सब से छोटे नाट्यमडप हैं। बडे नाट्यमडपो की ऊँचाई और भी अधिक होती होगी। उदाहरणार्थ मध्यम विकृष्ट नाट्यमडप को ले लें। इसका प्रेक्षागृह ४८ फुट लम्बा होगा। यदि उसके आगे के भाग में ६ फुट जगह छोड दी जाय और प्रत्येक सीढी तीन फुट चौडी और डेढ फुट ऊँची बनाई जाय, तो कुल १४ सीढियाँ होगी। अन्तिम सीढी की ऊँचाई २१ फुट होगी। उसके ऊपर खडे हो सकने के लिये छ फुट स्थान चाहिए। इस प्रकार नाट्यमडप की छत कम से कम २७ फुट की ऊँचाई पर पाटी जानी चाहिए।

(दो) आधुनिक रंगमंच और उसके प्रकार—भरतकालीन नाट्यमडप की एक निश्चित रूपरेखा के विपरीत आधुनिक रगमच अभी प्रयोगशील है और उसके स्वरूप-निर्धारण के लिये विश्व के प्रायः सभी सुसस्कृत देशो में अनेक नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। ये प्रयोग एक ओर रगमच या रगपीठ और दूसरी ओर रगशाला या नाट्यमडप के प्रेक्षागार से सम्बन्धित हैं।

आधुनिक रगमच यूरोप के विभिन्न देशो मे समय-समय पर प्रचलित विभिन्न प्रकार के रगमचों की देन है, जिसका प्रथम पूर्वज वृत्ताकार मच (थियेटर-इन-दि-राउण्ड) था, जिसका आविर्भाव ईसा के लगभग ६०० वर्ष पूर्व ऐक्रोपोलिस (यूनान) के उत्तर मे आयोजित डायोनिशस उत्सव के मध्य हुआ था। उत्सव के समय डायोनिशस की वेदी (आल्टर) के समीप नृत्य के लिये एक घेरा (नृत्य-चक्र) बना लिया जाता था, जहाँ अगूर की फसल के तैयार होने पर, अगूर के देवता डायोनिशस के सम्मान एव अर्चन के लिए, द्राक्षासव पीकर उन्मत्त यूनानी नाचते, गाते, सस्वर कविता-पाठ करते और अभिनय करते थे। सामाजिक इस घेरे के तीन ओर अर्ध-वृत्ताकार पक्तियों में, शिलाखंडों और बाद मे कुर्सियो पर बैठा करते थे। यूनान का यह प्रथम रगमंच कालांतर में ऐक्रोपोलिस के दक्षिण-पूर्वी ढलान पर ले जाया गया, जहाँ उसका ध्वंसावशेष डायोनिशस इल्यूथीरियस के पवित्र देवमदिर मे आज भी अवस्थित है।[१]

इटली की राजधानी रोम मे सर्वप्रथम रगमच ईसा के लगभग तीन शताब्दी पूर्व, इट्रूरिया के कलाकारो की टोली के अभिनयार्थ, बनाया गया था, जिसका नाम था—सरकस मैक्सिमस।[२] इसी प्रथम रगशाला मे रोम की वृत्ताकार रंगशाला (एम्फीथियेटर) का विकास हुआ, जिसकी तुलना आधुनिक खुले क्रीड़ा-घरों (स्टेडियम्स) से की जा सकती है। मध्य मे विशाल वृत्तस्थ मच होता था, जिस पर अभिनय से लेकर हाथी, घोड़ों और ऊँटों के सरकसी जुलूस और उनके आरोही तक (अभिनय के मध्य मे) दिखलाये जाते थे। मच के चारों ओर सोपानकृत पीठो से युक्त प्रेक्षागार हुआ करता था। मच प्रायः मंडपयुक्त और प्रेक्षागार खुले होते थे। प्रेक्षागार के चारो ओर की ऊँची-ऊँची दीवालें स्तम्भों, मूर्तियों आदि से खूब अलंकृत की जाती थीं।[३] रोम मे जल-मचों वाली रगशालाएँ (नौमाचियाज) भी बनाई गई, जिनके मध्य मे सरोवर बने होते थे, जिससे युद्धपोतों का उपयोग कर सामुद्रिक युद्ध दिखाये जा सकें।[४] जूलियस सीजर ने जिस जलीय रंगशाला (नौमाचिया) का निर्माण किया था, वह दो सहस्र फुट लम्बी और दो सौ फुट चौड़ी थी। इस रगशाला के सरोवर में तीन डांडो वाले पचास युद्धपोत एक साथ युद्ध-प्रदर्शन में भाग ले सकते थे।[५]

यूरोपीय रंगमच के सक्रमण-काल में गिरजाघरो के बरामदे में अथवा उनके बाहर स्थायी रंगमच या रंगस्थल बना लिये जाते थे। इस मच पर नरक और स्वर्ग के क्रमश त्रासकारी एवं सुखद दृश्य दिखाये जाते थे। स्वर्ग ऊपर की सीढियों या ऊपरी मजिल पर और नरक नीचे। पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान के लिये द्वारो की व्यवस्था

रहती थी।[६] नाटकाभिनय के गिरजाघरों से शिल्पि-संघों के हाथ में आ जाने पर नगरों के चौराहे ही रंगमंच बन गये। कभी-कभी अश्वाकृष्ट गाडियों पर नाटकीय झांकियां (पेजेन्ट्स) दिखाई जाने लगीं[७] और पूरे नाटक भी। क्रमशः घुमन्तू नाट्य-दलों का विकास हुआ, जो चौराहों, अन्नागारों या खलिहानों, सम्पन्न व्यक्तियों के घरों तथा सरायों के प्रांगणों में नाटक दिखाने लगे। कहना न होगा कि इन स्थानों पर लकड़ी के गोल पीपों पर कामचलाऊ अस्थायी ढंग के ऊँचे मंच खड़े कर लिये जाते थे। सराय के इन प्रांगणों की रूप-रेखा के आधार पर ही आगे चलकर शेक्सपियरकालीन रंगशाला* (सोलहवीं-सत्रहवीं शती) का विकास हुआ। सामाजिक इस मंच के चारों ओर खड़े होकर तथा विशिष्ट प्रेक्षक सराय की खिड़कियों पर खड़े होकर नाटक देखते थे। सराय के अस्तबलों को पात्र रूप-सज्जा परिधान-सज्जा आदि के लिये काम में लाते थे।[८]

पन्द्रहवीं शती के रंगशिल्पी विट्रूवियस-कृत 'दि आर्कीटेक्चुरा' (१४८६ ई० में प्रकाशित) तथा सोलहवीं शती के रंगशिल्पी सेर्लिओ-कृत 'आर्कीटेक्चुरा' (१५४५ ई०) से यह विदित होता है कि इन शतियों में नाटकों के लिये रंगमंच पर पृष्ठपट के रूप में चित्रित दृश्यावली का प्रयोग होने लगा था। सेर्लिओ ने विट्रूवियस द्वारा यूनान तथा रोम की रंगशालाओं के स्थापत्य के वर्णन के आधार पर सोलहवीं शती में रंगशाला का जो रूप निश्चित किया, उसमें रंगमंच लकड़ी का बनाया जाता था, जिसका पृष्ठपट चित्रित हुआ करता था। सत्रहवीं शती के प्रारम्भ में मंचाग्र पर रंगमुख मेहराब (प्रोसीनियम आर्च) बनाने की प्रथा प्रारम्भ हुई, जो बाद में कई शताब्दियों तक चलती रही।

विसेंजा में स्थित ओलम्पिक अकादमी का सिनेमा या पेलाडियो थियेटर १५८० ई०, रंगशाला के निर्माता पेलाडियो के नाम पर) पुनरुत्थानकाल की रोमन परम्परा की रंगशाला है, जो आज भी विद्यमान है। यह ऊपर से ढकी हुई है और इसकी दीवालें मूर्तियों, पच्चीकारी आदि से अलंकृत हैं। पेलाडियो के बाद स्कामोजी इनिगो जोन्स आदि रंग-स्थपति रंगशाला की रूपरेखा एवं रंगसज्जा में परिवर्तन करते रहे। सन् १९१८-१९ में पारमा में बनी तेआत्रो फार्नीस रंगशाला में ये सभी सुधार परिलक्षित होते हैं। इसे विश्व की 'प्रथम आधुनिक रंगशाला' कहा जाता है,[९] जिसमें सर्वप्रथम मंच पर पर्दे (यवनिका) का प्रयोग किया गया था। इसका रंगपीठ अगल-बगल की दीवालों और दृश्यावलियों से परिवेष्ठित था, जहाँ अभिनय किया जा सकता था। बीच में मेहराबदार फाटक द्वारा रंगपीठ के पृष्ठभाग और अग्रभाग को मिला दिया गया। पर्दा इसी फाटक पर डाला जाता था, जिसके उपयोग ने भीतर के दृश्यों को बदल सकना सम्भव बना दिया। इस प्रकार मुख्य अभिनय-स्थल इस पर्दे के पीछे ही बना रहा। आधुनिक रंगमंच को उसके तीन अनिवार्य उपादान-यवनिका, रंगमुख मेहराब और मंचाग्र-इसी फार्नीस

---

*शेक्सपियर के नाटक सर्वप्रथम लंदन के ग्लोब थियेटर में खेले गये थे, जिसका मंचाग्र प्रेक्षागार (पिट) की ओर निकला हुआ था। प्रेक्षागार रंगपीठ से काफी नीचा बना था, जहाँ सराय के सामाजिकों की भाँति ही सामान्य श्रेणी के सामाजिक खड़े होकर नाटक देखा करते थे। उच्च सामन्तवर्गीय प्रेक्षकों के बैठने के लिये पीठिकाओं (गैलरी) का प्रबन्ध था, जो मंच के तीन ओर संपूर्ण रंगशाला में बनी हुई थी। प्रेक्षागार खुला हुआ था, किन्तु मंच ऊपर से आच्छादित था। रंगपीठ के पृष्ठभाग में दोनों ओर द्वार बने हुए थे, जिनसे होकर शृंगार-कक्षों में जाया जा सकता था। इस रंगपीठ पर एक अन्तर्मंच (इनर स्टेज) तथा रंगशीर्ष (अपर स्टेज) की भी व्यवस्था थी। रंगशीर्ष पर ही नगर की प्राचीर, जलपोत का 'डेक' या छज्जा दिखाया जा सकता था, जिसके दोनों ओर खिड़कियां हुआ करती थीं। दृश्य-स्थान अथवा दृश्यावली संकेत-चिन्हों (या सूचना-पटों) द्वारा प्रदर्शित की जाती थी। (देखें-दि ड्रामेटिक स्टोरी आफ दि थियेटर, १९५५, पृ० ४२-४४)।

रंगशाला की देन है। इसके अर्द्ध-वृत्ताकार (जिसे घुड़नाली कहना अधिक उपयुक्त होगा) प्रेक्षागार में २५०० सामाजिक बैठ सकते हैं।[८] पारमा की रंगशाला ने विश्व की सभी आधुनिक रंगशालाओं को बहुत कुछ प्रभावित किया है।

पश्चिम में आज-कल ऐसे रंगमंच का प्रचलन है, जो चौखटे में जड़े चित्र का-सा आभास देता है। इस प्रकार के चित्रवधीय रंगमंच' (पिक्चर-फ्रेम स्टेज) की परिसीमा यह है कि प्रेक्षक को रंगमंच और उस पर होने वाले कार्य का केवल वही भाग दिखलाई पड़ता है, जो रंग-मुख मेहराब (प्रोसीनियम आर्च) के घेरे में से उसके लिये देखना सम्भव है। बाहरी रंगमुख-मेहराब के भीतर एक नकली रंगमुख भी होता है। ये दोनों मेहराबें आज-कल दीवालों से जुड़ी रहती हैं, जिन्हें 'टारमेंटर' कहते हैं। प्रेक्षागार की ओर से देखने पर दाहिनी ओर के 'टारमेंटर' के पीछे संकेतवाचक (प्राम्प्टर), रंगप्रबन्धक आदि के खड़े होने की सुविधा रहती है। मंच और प्रेक्षागार के मध्य में वादक-वृन्द (आरकेस्ट्रा) के बैठने की भूमितलस्थली (पिट) होती है, जो प्रेक्षकों को दिखलाई नहीं पड़ती। कहीं-कहीं संकेतवाचक भी इसी भूमितलस्थली में बैठाया जाता है।

रंगमुख के पीछे बने रंगमंच का तल समतल अथवा कुछ ढालू होता है। यह ढाल हलका होता है और रंगशीर्ष के पृष्ठ भाग से यदि उस पर गेंद लुढ़काया जाय, तो वह स्वतः प्रेक्षागार की ओर लुढ़क कर चला जायगा। इसके विपरीत प्रेक्षागार का ढाल पीछे से रंगमंच की ओर रहता है। रंगमंच नाट्य-प्रदर्शनों की कोटि के अनुसार आकार में बड़े, छोटे या मध्यम प्रकार के हो सकते हैं। आजकल इस ढालू मंच की जगह यंत्र-चालित परिक्रामी मंच ने ले ली है। पश्चिम में नये बनने वाले नाट्यमंडपों में प्रायः परिक्रामी मंच की व्यवस्था रहती है। कहीं-कहीं परिक्रामी मंच के साथ दो या दो से अधिक छोटे, किन्तु स्थिर मंचों की और भी व्यवस्था रहती है। परिक्रामी मंच केन्द्र में और छोटे मंच उसके पार्श्व-भागों में दोनों ओर बने होते हैं। ऐसा केवल दृश्य-परिवर्तन, किसी स्वप्न-दृश्य अथवा मनोराज्य की कल्पना या अचेतन मन के घात-प्रतिघातों के प्रदर्शन की सुविधा के लिये किया जाता है, जिससे दो या अधिक सह-घटित दृश्यों के बीच कोई अवरोध न उपस्थित हो और सामाजिक अपने कल्पनालोक में निरंतर डूबा रहे। इस बहुकक्षीय मंच का एक दूसरा स्वरूप भी है। इसमें स्थिर मंच मध्य भाग में और परिक्रामी मंच दोनों ओर के पार्श्वों में बनाये जा सकते हैं।

स्थिर रंगमंच में दैवी अथवा आसुरी पात्रों के प्रकट अथवा अदृश्य होने के लिये मंच के तल के नीचे एक कुएँ (ट्रैप या ग्रेव) की व्यवस्था रहती है। यह कुआँ इतना गहरा होता है कि पात्र उसमें छिप कर बैठ सके। तलघर के मुखद्वारपट पर खड़ा हुआ पात्र उछाल खा कर ऊपर आ जाता है और मुखद्वारपट रंगमंच के तल के समानान्तर बैठ जाता है। इसी प्रकार अदृश्य होने के समय मुखद्वारपट पर खड़ा पात्र मंच के नीचे चला जाता है और उसके उतरते ही द्वारपट ऊपर जाकर बन्द हो जाता है। प्राचीन रंगमंचों में इसकी विशेष रूप से व्यवस्था रहती थी। भारत में अंग्रेजी रंगमंच के आगमन पर इस प्रथा को पारसी रंगमंच ने भी दैवी चमत्कारों के लिए अपनाया था।

पश्चिम में एक और प्रकार का रंगमंच बनाने की प्रथा है। मंच को दो भागों में बाँट दिया जाता है—रंगशीर्ष और रंगपीठ। सामान्यतः रंगपीठ नीचा और रंगशीर्ष उसकी अपेक्षा ऊँचा होता है। रंगशीर्ष की गहराई रंगपीठ की अपेक्षा कम होती है। रंगशीर्ष को ऊँचा रखने से वहाँ होने वाला कार्य-व्यापार सभी प्रेक्षकों के लिए दृष्टि-सुलभ हो जाता है। कभी-कभी मंच को तीन धरातलों में बाँट दिया जाता है : प्रथम धरातल (रंगपीठ का तल) से दूसरा धरातल लगभग दो फुट ऊँचा और तीसरा धरातल दूसरे से ढाई-तीन फुट ऊँचा रखा जाता है। इस प्रकार के बहुधरातलीय मंच पर बिन्दुप्रकाश (स्पाट-लाइट) के आलोक द्वारा किसी एक धरातल के दृश्य को आलोक-पथ या संगम (फोकस) में रखा जाता है और उसके समाप्त होने पर दूसरे या तीसरे

धरातल पर दूसरा दृश्य प्रारम्भ हो जाता है और तब उक्त धरातल दीपित हो उठता है।

इसके अतिरिक्त कई खंडों के, प्रायः दो से तीन खंडों तक के रंगमंच भी बनाये जाते हैं। इनकी ऊँचाई और बनावट प्राय आनुपातिक होती है, जिससे वह एक समग्र स्थापत्य का बोध कराता है और उसके लिए किसी एक ही अंश या खंड को सामान्यतः आलोक-पथ में रखने की आवश्यकता नहीं रहती।

रंगमंच के चित्रबंध (पिक्चर-फ्रेम) वाले स्वरूप के प्रति ऊब पैदा होने पर उसकी प्रतिक्रिया दो रूपों में हुई। कुछ रंगशालाओं में रंगपीठ को और आगे बढ़ा कर अभिनेता और प्रेक्षक के बीच की दीवाल तोड़ दी गई और इस प्रकार रंगमंच प्रेक्षागार का ही एक अंग बन गया। दूसरी ओर रंगमुख के घेरे को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया गया और प्राचीन वृत्तस्थ रंगमंच के ढंग पर मुक्ताकाश रंगमंचों की स्थापना की गई। अमेरिका में इस प्रकार के प्रयोग प्रारम्भ हो गये हैं।[७] मुक्ताकाश रंगमंचों के लिए प्राय. अर्धवृत्ताकार रंगशालाएँ बनाई जाती हैं, जिनमें सामाजिक मंच के तीनों ओर बैठते हैं। यह मंच भी प्राय अर्धवृत्ताकार होता है, जिसके पृष्ठ भाग में यवनिका (साइक्लोरामा) का प्रयोग किया जाता है। यह मंच प्राय ऊपर से खुला रहता है, जिससे यवनिका आकाश के साथ मिल कर तदाकार हो जाती है और मंच की पृष्ठभूमि अत्यन्त प्राकृतिक एवं वस्तुपरक बन जाती है। कहीं-कहीं मंच तो चित्रबंध वाले रंगमंच की भांति ऊपर और दाहिने-बाएँ से बंद रहता है, किन्तु प्रेक्षागार बिल्कुल खुला रहता है। इंग्लैंड में भी इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप धार्मिक नाटकों को गिरजाघरों के सभामंडपों तथा शेक्सपियर आदि के नाटकों को पार्क आदि में बने मुक्ताकाश मंचों पर प्रदर्शित किया जाने लगा है।[८] इनमें रंगमुख का प्रयोग न होने से मंच के कार्य-व्यापार सीधे प्रेक्षकों के निकट होने से वे उनके साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगते हैं।

सोवियत संघ की राजधानी मास्को में एक और भी नये प्रकार का प्रयोग बीसवीं शती के तीसरे दशक में किया गया था। रंगशाला का नाम था—'क्रस्निया प्रेस्निया'। इसे दुर्भाग्यवश सन् १९३७ में बंद कर दिया गया। क्रस्निया प्रेस्निया में कोई स्थायी रंगमंच न था, बल्कि नाटक के उपस्थापन (प्रोडक्शन) की सुविधा को दृष्टि में रख कर अस्थायी मंच बना लिया जाता था और प्रेक्षकों के बैठने की कुर्सियों को तदनुरूप लगा दिया जाता था। इसमें कई मंचों का प्रयोग किया जाता था। गोर्की के उपन्यास 'माँ' के नाट्य-रूपान्तर के उपस्थापन के समय रंगशाला के मध्य में एक अंडाकार रंगमंच और तीन दीवालों से लगे तीन अपेक्षाकृत लघु मंच बनाये गये थे। जब जिस मंच पर अभिनय होना था, प्रेक्षक अपनी घूमदार कुर्सियों पर ही बैठे-बैठे घूम कर उसे देख सकते थे। इस प्रकार प्रेक्षक भी अपने को नाट्याभिनय का एक अंग समझने लगता था।[९]

पश्चिम के उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का रंगमंच जापान में प्रचलित है। यह वहाँ का अपना रंगमंच है। इसके दो प्रकार हैं—नोह रंगमंच और काबुकी रंगमंच। नोह रंगमंच काबुकी की अपेक्षा बहुत छोटा और प्राय. चौकोर* होता है। मंडप मंच के ऊपर अग्रभाग में दो स्तम्भों पर स्थित होता है। यह मंच एक अग्रमंच द्वारा प्रेक्षागार की ओर निकला हुआ रहता है। प्रेक्षक के रूप में देखने पर मंच के बाएँ पार्श्व में एक पुल या बरामदा-सा होता है, जिसमें से होकर पात्र धीरे-धीरे मुख्य मंच पर प्रवेश करते हैं। मंच के बाएँ स्तम्भ को प्रथम अभिनेता का स्तम्भ और दाहिने स्तम्भ को द्वितीय अभिनेता का स्तम्भ कहते हैं। द्वितीय अभिनेता गौण पात्र का अभिनय भी करता है और प्रेक्षक के प्रतीक-रूप में अपने स्तंभ के पास मंच पर ही अंत तक बैठा रहता है। इस छोटे मंच पर एक बार में चार से अधिक पात्र उपस्थित नहीं होते। दृश्यावली भी प्रतीकात्मक रखी जाती है।[१०]

* शेल्डान चेनी के मतानुसार यह रंगमंच चौकोर न होकर आयताकार होता है। (शेल्डान चेनी, रंगमंच (अनु० श्रीकृष्णदास), हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र०, लखनऊ, प्र० सं०, १९६५, पृ० १६०)।

नोह मंच पर प्रायः काव्यात्मक नाटक खेले जाते हैं, जिनमें संवाद और संगीत की प्रधानता रहती है। इनमें नृत्य भी बीच-बीच में चलता है। संगीतज्ञ भी मंच पर ही रहते हैं। आधुनिक पश्चिमी रंगमंच पर संगीतज्ञों को सदैव पृथक् और अदृश्य रखा जाता है।

काबुकी रंगमंच जापान का सबसे बड़ा रंगमंच है और उसमें चित्रबंध वाली प्रणाली का प्रयोग होता है। *रंगमुख मेहराब (प्रोसेनियम आर्च) की ऊँचाई पश्चिम की तुलना में कम, परन्तु चौड़ाई अपेक्षाकृत अधिक* होती है। इस मंच पर पृष्ठ-पट के अलावा प्रतीक दृश्यावली का भी उपयोग किया जाता है। काबुकी मंच का पश्चिम के आधुनिक रंगमंच पर गहरा प्रभाव पड़ा है और उसने भी 'चित्रबंध' वाली प्रणाली, प्रतीक दृश्यावली आदि के प्रयोग को अपना लिया है। जापान के काबुकी मंच का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। काबुकी मंच की एक और विशेषता है। इसमें प्रेक्षागार से लेकर मंच और नेपथ्य तक एक पृथक् मार्ग होता है, जिसे 'पुष्प-पथ' कहते हैं। यह रंगशाला के मध्य से कुछ दूर हट कर बाईं ओर होता है, जिस पर पात्र प्रवेश कर पूरा दृश्य तक प्रदर्शित करते हैं। इस पुष्प-पथ का उद्देश्य अभिनेता और प्रेक्षक के बीच आत्मीयता की भावना पैदा करना है।[१९]

आधुनिक काबुकी रंगशालाओं में चौकोर (शेल्डान चेनी के मतानुसार आयताकार) रंगमंच की जगह अब परिक्रामी मंच का भी प्रयोग होने लगा है। पुष्प-पथ भी अपेक्षाकृत कुछ चौड़ा बनाया जाने लगा है।

रंगमंच पर यान्त्रिकता अब बढ़ रही है। परिक्रामी मंच इसी यान्त्रिक मंच का एक प्रकार है। यान्त्रिक मंच के कुछ और भी प्रकार आविष्कृत हुए हैं, जिनमें प्रमुख हैं - उद्वाह (लिफ्ट) की भांति ऊपर-नीचे जाने वाले मंच, दायें-बाएं सरकने वाले मंच (रोलिंग स्टेज), रेलगाड़ी के डिब्बे की तरह कहीं भी ले जाकर खड़े किये जाने योग्य मंच (वैगन स्टेज अथवा शकट मंच), रहँट की भाँति वृत्ताकार घूमने वाले मंच[२०] तथा पैरचक्की मंच (ट्रेड मिल स्टेज)। रहँट मंच पर एक दृश्य के समाप्त होने पर तलघर से दूसरा मंच सामने आ जाता है और उसका काम समाप्त होने पर तीसरा मंच नीचे से ऊपर आता है और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। उद्वाह मंच के द्वारा परियों के उड़ने या पूरे जलयान के डूबने के दृश्य बड़ी सरलता और स्वाभाविकता के साथ दिखाये जा सकते हैं। पैरचक्की मंच पर चलते हुए पट्टे के सहारे बदलते दृश्य, दौड़ते व्यक्तियों, यात्रा या घुड़दौड़ के दृश्य सरलता से प्रदर्शित किये जा सकते हैं।

प्रेक्षागारों के सम्बन्ध में भी कई प्रकार के प्रयोग हुए हैं। आकार की दृष्टि से वे आयताकार, अर्धवृत्ताकार, अण्डाकार, घोड़े की नाल या पंखे के ढंग के बनाये जाने लगे हैं। ये प्रेक्षागार प्रायः स्थिर होते हैं। फिनलैंड में एक परिक्रामी प्रेक्षागार टैम्पियर-स्थित 'पाइनिक्की समर थियेटर' में बनाया गया है, जो अपने ढंग का संसार में अद्वितीय प्रयोग है। रंगमंच इस प्रेक्षागार के चारों ओर बने हुए हैं। जब जिस मंच पर अभिनय होता है, प्रेक्षकों को उसी की ओर स्वतः घुमा दिया जाता है। यह प्रेक्षागार अण्डाकार बना हुआ है, जो बिजली से इस्पात के बने परिक्रमण-मार्ग पर घूमता है।[२१] प्रेक्षकों की संख्या की दृष्टि से प्रेक्षागार छोटे से लेकर बड़े तक कई प्रकार के बनने लगे हैं, जिनमें सात-आठ सौ से लेकर २५०० तक प्रेक्षक बैठ सकते हैं। न्यूयार्क के रेडियो सिटी म्यूजिक हाल में ६२०० सामाजिकों तथा दिल्ली के मुक्ताकाश टैगोर थियेटर में ८००० सामाजिकों के बैठने की व्यवस्था है।

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रख कर निम्नांकित प्रकार के मंच बनाये जाने का चलन पाया जाता है—

(१) समतल या ढालू मंच,
(२) बहुकक्षीय मंच,
(३) बहुधरातलीय मंच,
(४) बहुखंडीय मंच,
(५) परिक्रामी मंच,
(६) शकट मंच या सर्पक मंच (वैगन स्टेज या शिफ्ट स्टेज)

(७) उद्वाह मंच (लिफ्ट स्टेज), (१०) पैरचक्की मंच (ट्रेड मिल स्टेज),
(८) परिभागी मंच (रोलिंग स्टेज), (११) मुक्ताकाश या खुला मंच, तथा
(९) रंगट मंच (पमियन ह्वील स्टेज), (१२) वृत्तस्थ मंच (एरेना स्टेज)।

इन मंचों में से भारत में तीन प्रकार के मंच—समतल मंच, बहुधरातलीय मंच और मुक्ताकाश मंच—प्राचीनकाल में पाये जाते रहे हैं। उनमें से दो प्रकार के मंच—समतल मंच और द्विभूमीय अर्थात् बहुधरातलीय मंच—नाट्यधर्मी अर्थात् नाट्यशास्त्र द्वारा अनुमोदित हैं और तीसरे प्रकार का मंच—मुक्ताकाश मंच—लोकधर्मी अर्थात् लोकमंच है। भरत ने अनेक वेदियों वाले रंगशीर्ष का वर्णन किया है, जिससे यह विदित होता है कि उस युग में बहुधरातलीय मंच की भी व्यवस्था थी। सामान्यतः भरत ने समतल मंच को सर्वश्रेष्ठ बताया है और ढालू या बीच में उठे रंगमंच का निषेध किया है। उन्होंने द्विभूमीय (द्विधरातलीय) नाट्यमण्डप को शैलगुहा की आकृति में बनाने की संस्तुति की है। इससे स्पष्ट है कि भारत में ये दोनों प्रकार के रंगमंच बनाने का चलन रहा है। निस्सन्देह वे त्रिपार्श्व प्रणाली के ही होते थे, क्योंकि उनके शेष तीनों बाजू ढके रहते थे। रंगमंच को शैलगुहाकार बनाने का निर्देश इसी बात का द्योतक है। भारत में आज भी प्रायः समतल मंच का ही प्रयोग होता है, किन्तु बहुधरातलीय, द्विखण्डीय या त्रिखण्डीय मंच भी यत्र-तत्र बनाये जाने लगे हैं।

लोकधर्मी मंच प्रायः मुक्ताकाश मंच ही होता है। यात्रा, रासलीला, रामलीला, भवाई, तमाशा, नौटंकी आदि लोक-नाट्यों के लिए खुले मंच की ही आवश्यकता होती है, जिसके चारों ओर बैठ कर प्रेक्षक लोक-नाट्य देखते हैं। मुक्ताकाश मंच में मध्य में बने एक मुक्त-मंडप मंच, अनेक मंचों या चबूतरों अथवा प्रतीक रूप से स्थिर नाट्यस्थलों पर घूम-घूम कर अभिनय किया जाता है। सूत्रधार बीच-बीच में अपने गीतों या कविता से एक-दूसरे प्रसंग को सम्बद्ध कर देता है। काशी की रामलीला में अयोध्या, चित्रकूट, लंका, पंचवटी आदि के दृश्य पृथक्-पृथक् स्थानों पर घूम-घूम कर अभिनीत किये जाते हैं और सामाजिक भी घूम-घूम कर उनका अभिनय देखते हैं। स्वांग या नौटंकी में रंगमंच की व्यवस्था केन्द्र में रहती है।

इस प्रकार खुले रंगमंच का प्रचलन भी भारत में बहुत प्राचीन है, परन्तु आधुनिक खुले रंगमंच को आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों के संयोग से एक नया स्वरूप प्राप्त हो गया है। इस प्रकार का खुला रंगमंच सर्वप्रथम सन् १९५५ में भारत सरकार के युवक-कल्याण विभाग द्वारा नई दिल्ली के तालकटोरा गार्डेन में बनाया गया था। इस मंच पर देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के आये हुए नाट्यदलों ने एकांकी नाटक प्रस्तुत किये थे। इनमें से पटना, पूना और उस्मानिया विश्वविद्यालयों के नाट्य-दलों को पुरस्कार प्राप्त हुए थे।

तालकटोरा की खुली रंगशाला की मूल परिकल्पना में कुछ परिवर्तन करके रंगमंच को अण्डाकार और प्रेक्षागार को घोड़े के नाल की शक्ल का बनाया गया था। रंगमंच के दो भाग किये गये थे : रंगशीर्ष, जो रंगपीठ से दो सीढ़ी ऊँचा था और रंगपीठ। रंगशीर्ष के पीछे अर्धवृत्ताकार गगनिका (साइक्लोरामा) रखी गयी थी। इसमें मंच पर प्राकृतिक आलोक दिखलाने और ध्वनि को गंभीरता प्रदान करने में सहायता मिलती है। मंच को इससे कुछ गहराई भी प्राप्त होती है। रंगशीर्ष की अधिकतम चौड़ाई ३० फुट और रंगपीठ की अधिकतम चौड़ाई ५२ फुट रखी गई थी।"

रंगपीठ में मिली हुई थी जल की एक परिखा, जिसमें मंच की पूरी गोलाई में फुहारे लगे हुए थे। तिरस्करिणी (पर्दा) का काम इन फुहारों से निकली हुई जलधारा ने किया। इस मंच पर किसी भी प्रकार के अन्य परदे का उपयोग नहीं किया गया था।" रंगदीपन का नियंत्रण प्रेक्षागार के पीछे बने कक्ष से किया गया था। मंच के पीछे से प्रवेश एवं प्रस्थान के लिए गगनिका के बाजुओं में एक-एक द्वार रखा गया था। नेपथ्य और शृंगार-कक्ष की व्यवस्था भी गगनिका के पीछे रखी गई थी।

इसी प्रकार का एक और खुला रगमंच–ठाकुर रंगालय (टैगोर थियेटर) नई दिल्ली के पठारी भाग में ग्रिडले राइफल्स के निकट रवीन्द्र शती के सिलसिले मे बनाया गया है। सम्भवतः यह संसार की सबसे बड़ी मुक्ताकाश रगशाला है, जिसके प्रेक्षागार मे आठ हजार सामाजिक बैठ सकते हैं। इस रंगशाला की सबसे बडी विशेषता है इसकी सकुचनशीलता। उपस्थापन (प्रोडक्शन) की कोटि और आवश्यकता के अनुसार रंगमच और प्रेक्षागार के क्षेत्र को घटाया या बढाया जा सकता है। मुख्य रगमच का आकार ४८'×१००' है। विशेष प्रदर्शनों के लिये इसे बढाकर १००'×१२०' तक किया जा सकता है। आवश्यकता होने पर मंच पर रगमुख का भी उपयोग किया जा सकता है। रगशीर्ष के पीछे यवनिका भी है। शीर्षप्रकाश, पार्श्वप्रकाश आदि के नियन्त्रण के लिये प्रेक्षागार के दोनो पार्श्वों में एक-एक दीप्तिकक्ष की व्यवस्था है। इस रगालय का विधिवत् उद्घाटन हो चुका है।

रवीन्द्र शती के सिलसिले में अहमदाबाद मे जो रवीन्द्र रगशाला बनी है, उसके मंच के एक ओर चित्रबध वाले मच की और दूसरी ओर खुले मच की संयुक्त व्यवस्था रखी गई है।[१२]

भारत में बहुकक्षीय, बहुधरातलीय और बहुखडीय रंगमचों का प्रयोग भी होने लगा है। भारतीय कला केन्द्र, दिल्ली अपने नृत्य-नाट्य 'रामलीला' मे त्रिकक्षीय मंच का उपयोग करता रहा है। मुख्य मंच मध्य मे रखा जाता है और इस मच के दोनों बाजुओ में एक-एक लघु मच की व्यवस्था रहती है। इससे दृश्य-परिवर्तन मे बडी सुविधा होती है और दृश्य-क्रम विशृंखलित नही होने पाता।

इडियन नेशनल थियेटर, बम्बई ने अपने गुजराती नाटक 'भरेलो अग्नि' मे बहुधरातलीय मंच का उपयोग किया था। दिल्ली की बगला नाट्य-सस्था चतुरगा भी इसी प्रकार के मच पर अपने बहुदृश्यीय नाटक प्रस्तुत करती है। बहुखडीय मच का प्रयोग पृथ्वी थियेटर्स, बम्बई ने 'दीवार' नामक नाटक मे, इडियन नेशनल थियेटर ने अपने 'लग्नोत्सव' नामक गुजराती नाटक मे और भारतीय कला मन्दिर, कानपुर ने मराठी नाटक 'लग्नाची बेड़ी' के हिन्दी-रूपान्तर 'विवाह का बधन' (१९५८ ई०) में किया था। प्रथम और तीसरे नाटकों में नीचे के तल्ले के अतिरिक्त प्रथम खण्ड (फर्स्ट फ्लोर) भी दिखाया गया था, जिसमें पात्र आ-जा, चढ-उतर या अपना अभिनय प्रस्तुत कर सकते थे। 'लग्नोत्सव' के त्रिखंडीय दृश्यबध मे नगर और ग्राम केन्द्रो विवाहोत्सव एक साथ बड़ी सफलता के साथ प्रदर्शित किये गये थे।

पाश्चात्य अनुकरण पर परिक्रामी मच की कलकत्ता, बम्बई, जबलपुर आदि कई नगरों मे स्थापना हो चुकी है। कलकत्ते के स्टार, रगमहल और विश्वरूपा तथा बम्बई के बिड़ला मातुश्री सभागार में स्थाई रूप मे परिक्रामी मंच की व्यवस्था है। उत्तर प्रदेश में परिक्रामी मंच पर सर्वप्रथम प्रयोग अमृतलाल नागर द्वारा लखनऊ में अपने नाटक 'परिवर्तन' को प्रस्तुत करने के समय (सन् १९५३ के लगभग) किया था।[१३] दिल्ली के नाट्य बैले सेंटर ने 'कृष्णलीला नृत्य नाट्य' (१९६० ई०) मे परिक्रामी मच का सफल प्रयोग किया था। परिक्रामी लघुमच, प्रेक्षागार की ओर से देखने पर, मुख्य मंच के बाहर निकले हुये दाहिने बाजू मे लघु पार्श्व मंच पर अस्थायी रूप से रखा गया था। बम्बई के अत्रे थियेटर्स के पास सचल अनुरचित (मोबाइल एण्ड इम्प्रोवाइज्ड) परिक्रामी मच है, जिसका किसी भी स्थिर मंच पर उपयोग किया जा सकता है। जबलपुर मे सन् १९६१ मे हिन्दी के प्रमुख नाटककार सेठ गोविन्ददास ने शहीद भवन के अन्तर्गत परिक्रामी मंच की स्थापना की और उस पर प्रत्येक वर्ष नाट्य-प्रयोग होते हैं।

शकट मंच का उपयोग भारत में सर्वप्रथम कलकत्ते के नाट्य निकेतन ने सन् १९३३ मे किया था। इस प्रकार के मच के अधिक प्रयोग नहीं हुए। वृत्तस्य मच पर लिटिल थियेटर ग्रुप, नई दिल्ली ने 'गवर्नमेंट इंसपेक्टर' (हिन्दी) और इंडियन नेशनल थियेटर, बम्बई ने 'सोनाबाटकड़ी' (गुजराती) अभिनीत किया था। वृत्तस्थ मंच का यूरोपीय रंगमंच के प्रारम्भिक काल में प्रयोग होता रहा है, जिसे भारत में इन कुछ प्रयोगों द्वारा पुनरुज्जीवित

करने का प्रयास किया गया है। यह स्मरणीय है कि बीसवी शती के प्रारम्भ मे यूरोप मे भी वृत्तस्थ मच के पुनरुद्धार की चेष्टा की गई। मैक्स रीनहार्ट द्वारा साल्जबर्ग (जर्मनी) मे निर्मित फेस्ट्सपील वृत्तस्थ रंगशाला (१९२० ई०) इसी चेष्टा का परिणाम थी।

उद्वाह मच, परिसारी मच, रहँट मच या पैरचक्की मच के उपयोग हिन्दी अथवा आलोच्य किसी भी भारतीय भाषा की रगशालाओ मे नही हुए।

हिन्दी और आलोच्य भाषाओ के क्षेत्र मे रगमच को लेकर तरह-तरह के प्रयोग चल रहे हैं। भारत की विशेष आवश्यकताओ की ओर भारतीय नाटको की उपस्थापन-योजनाओं के अनुरूप रगमच के किसी एक स्वस्थ स्वरूप के स्थिर होने मे अभी समय लगेगा, परन्तु इस दिशा मे हमे अनेक सकेत राष्ट्र की प्राचीन निधि भरत-नाट्यशास्त्र मे ग्रहण करने होगे। इन सकेतो के साथ आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियो का मणि-काचन सहयोग हो जाने पर कोई कुशल स्थपति (आर्किटेक्ट) वास्तविक भारतीय रगशाला की परिकल्पना कर उसे मूर्त रूप दे सकेगा।

(तीन) भरतकालीन रग-शिल्प—सामान्यत. रगशिल्प का अर्थ है वह समस्त कला-व्यापार, जिसकी आवश्यकता किसी भी नाटक को मच पर उपस्थित करने मे होती है। इसके अन्तर्गत रगसज्जा, रगदीपन-योजना, ध्वनि-सकेत आदि विविध व्यापार आ जाते हैं। भरत के युग मे भी रगसज्जा, रगदीपन और ध्वनिसकेतो की अपनी व्यवस्था रही है, जिसका आविष्कार उस युग की परम्पराओ, आवश्यकताओ और सीमाओ के अनुरूप किया गया था।

रंग-सज्जा (स्टेज डेकर) भरत मुनि के युग मे मच की सजावट के लिये काष्ठ-कर्म और चित्रकला की आवश्यकता होती थी। रगशीर्ष और नेपथ्य के बीच एक स्थाई पक्की ईंटो की दीवाल हुआ करती थी, जिस पर भित्ति-लेप किया जाता था। यह भित्तिलेप मिट्टी और भूसा मिलाकर बनाया जाता था, जिसको सूखे नेनुए से रगडकर चिकना किया जाता था। इसके बाद पुन: शख पीस कर उसका लेप चढाते थे और बट्टी मारकर चिकना करते थे।[१८] अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार यह लेप शख, बालू और सीपी को मिलाकर बनाया जाता था।[१९] इस पर चूना पोता जाता था और फिर चित्र-कर्म किया जाता था।[१९] इन चित्रो मे स्त्री-पुरुषो और लताओ के कलात्मक चित्र सम्मिलित होते थे।[१९] इस प्रकार के कुछ चित्र जोगीमारा गुफा मे मिले हैं। इन चित्रो की रचना मे काले, नीले, पीले और लाल, इन्ही थोडे से रगो का प्रयोग किया जाता था। रगशीर्ष और नेपथ्य के बीच की दीवाल ही पृष्ठ-पट (बैक-क्लाथ) का काम करती थी। इस दीवाल के दोनो ओर मेहराबदार एक-एक द्वार होता था, जिस पर परदा (पटी) पडा रहा करता था। मत्तवारणी की छत पर रेलिंग (संजवन) बनाई जाती थी। नाट्यमण्डप बहुधरातलीय बना करता था। रगशीर्ष और मत्तवारणी की सजावट चित्रो, पुतलियो आदि के द्वारा विशेष रूप से की जाती थी, जिसका विवरण इसी अध्याय मे पहले (देखें पृ० १९-२०) दिया जा चुका है।

भरत ने 'नेपथ्य' के अन्तर्गत पुस्त, प्रतिशिर-निर्माण और उपकरणो का विस्तृत विवरण दिया है, जो आहार्य के अङ्ग न होकर वास्तव मे रगसज्जा के ही अङ्ग हैं। पुस्त का अर्थ है—नाट्यप्रयोग के लिये पर्वत, वाहन, प्रासाद, ढाल-कवच, ध्वजदण्ड और हाथी का निर्माण। पुस्त तीन प्रकार का होता था: संधिम, व्याजिम और वेष्टिम। सधिम पुस्त कुश, वस्त्र, चर्म और तद्वत् अन्य वस्तुओ से, व्याजिम किसी यान्त्रिक विधि के उपयोग द्वारा और वेष्टिम किसी वस्तु, यथा वस्त्रादि को लपेट कर बनाया जाता है।[१८]

प्रतिशिर मुखौटे या चेहरे को कहते हैं और भरत ने एतदर्थ ३२ अगुल की पाटी पर बिल्वगोद से भस्म या धान की भूमी चिपकाकर, आग या धूप मे उसे सुखा और मुख के अनुरूप आवश्यक छिद्रादि बनाकर उस पर रत्नजटित मुकुट लगाने की व्यवस्था की है।[१९]

भरत के युग मे भी अनेक रगोपकरणो, यथा ढाल-कवच, शस्त्र, पर्वत, प्रासाद, गुफा, अश्व, हाथी, विमान,

आवास आदि की आवश्यकता होती थी और उन्हें लोकधर्मी (यथार्थवादी) एव नाट्यधर्मी (पारम्परिक) परम्पराओं के आधार पर लाख, चपड़ा, लकडी, खपच्चियों, मिट्टी, मोम, अभ्रक, पत्तियों आदि से तैयार किया जाता था।[100]

इस प्रकार रगमच पर आकाश, स्वर्ग, प्रासाद, राज-सभा, उपवन आदि के दृश्य, सभी प्रकार के रंगोपकरण आदि दिखाने का समुचित विधान रहता था।

रंगदीपन (स्टेज लाइटिंग) · भरत के युग मे गैस या बिजली के प्रकाश की व्यवस्था नही थी, फिर भी नाटक दिन या रात, किसी भी समय खेले जा सकते थे। केवल प्रातःकाल, मध्याह्न, सन्ध्या और मध्य-रात्रि के समय नाटक खेलने का निषेध था। भोजन के समय भी नाटक नही खेले जाते थे।[101] पूर्वाह्न और अपराह्न के प्रयोग दिन के और साय, मध्य-रात्रि और ऊषाकाल के प्रयोग रात्रि के प्रयोग माने जाते थे।[102] प्रत्येक प्रयोग के लिए समय भी निश्चित था। धर्म-कथा पर आधारित कर्ण-मधुर प्रयोग पूर्वाह्न मे तथा सगीतयुक्त, शक्ति और उत्साह से पूर्ण नाटक अपराह्न मे खेले जाते थे। कैशिकी वृत्ति, शृगार रस तथा मौखिक-एव-वाद्य-सगीतपूर्ण नाटक सायंकाल और करुणरस-प्रधान नाटक उषाकाल मे खेले जाते थे।[103] सूर्यास्त के बाद होने वाले नाटक मे दीपको का प्रयोग किया जाता था।[104] डा० राय गोविन्द चन्द्र ने यह अनुमान भी लगाया है कि मशाल से भी कदाचित् काम लिया जाता होगा। सक्षेप मे, उस समय आलोक की कोई विशेष समस्या न थी और सूर्यास्त के बाद के नाटकों में दीपको या मशाल से काम चल जाता था। प्रायः नाटक दिन मे ही हुआ करते थे और नाट्यमडप प्रायः छोटे होते थे, जिससे सात्त्विक भावो का प्रदर्शन भी प्रेक्षको को प्रभावित कर सकता था। दिन में बाहर से प्रकाश आने के लिये गवाक्षो की व्यवस्था की गयी थी।

भरत के युग से चल कर रंगदीपन की व्यवस्था मे अब तक अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुके हैं और रंगदीपन का यह कार्य अब विद्युत्-प्रकाश द्वारा किया जाता है। दृश्यानुरूप आलोक अथवा आलोक-चित्र द्वारा रगसज्जा मे चार चाँद लगाये जा सकते हैं। आधुनिक रगदीपन के साधनों, विधियो, आदि का विस्तृत विवरण इसी अध्याय में आगे दिया गया है।

ध्वनि-संकेत (साउण्ड इफेक्ट्स): भरत के युग मे परिस्थितियो के अनुरूप ध्वनि-संकेत वाद्यो एवं ध्रुवागीतों द्वारा दिये जाते थे। जिन वाद्यो का इस कार्य के लिए प्रयोग किया जाता था, वे थे—मृदंग, भेरी, दुन्दुभि, शख, तूर्य, डमरू, पटह (तासा) आदि। सगीत के लिए मृदग, वीणा, वशी, कास्यताल (मँजीरा) आदि का प्रयोग होता था। सगीत-निर्देशन का कार्य 'तौरिय' करता था, जो अवसरानुकूल ध्वनि-सकेत देने का काम भी करता था। विविध अवसरो के अनुकूल वाद्यों के परिवर्तित स्वर के साथ ध्रुवागीतो की लय मे भी परिवर्तन हुआ करता था। मृत्यु या वध के समय ध्रुवागान मन्द लय से करुण रस मे, असहिष्णुता, दु.ख, निराशा, क्रोध, वीर, भयानक आदि रसो में ध्रुवा का गायन तीव्र लय से और शारीरिक कष्ट, शर-संधान आदि मे ध्रुवागान स्थिर लय मे होता था।[105]

(चार) आधुनिक रंगशिल्प—व्यावसायिक रगमच पर रंग-शिल्प की ओर पूरा ध्यान दिया जाता है, वहाँ अव्यावसायिक रगमच के उपस्थापन मे इस महत्त्वपूर्ण पक्ष की प्रायः उपेक्षा की जाती है, क्योकि अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओ के सदस्य मुख्यतः अभिनय का शौक पूरा करने के लिये सस्थाओं का सगठन करते हैं और रगशिल्प का प्रश्न उनके लिए गौण होता है। अव्यावसायिक रगमच के विकास के साथ ही नाट्य-सस्थाओं ने अब इस दिशा मे भी व्यावसायिक मच की भाँति विशेष रूप से सचेष्ट होना प्रारम्भ कर दिया है। अधिकाश नाट्य-सस्थाएँ अर्थाभाव के कारण भी रगशिल्प को पूर्णता नही प्रदान कर पाती।

रगशिल्प की तनिक-सी उपेक्षा मे भी अच्छे-से-अच्छे खेल का आनन्द मारा जाता है। दृश्यबंध के 'फ्लैटों' के परस्पर ठीक से जुड़े न होने, फ्लैटो के ऊपर से छत के दिखाई पड़ने अथवा फ्लैट की खिडकी के पीछे की पृष्ठ-

सज्जा अथवा दृश्यावली ठीक न होने से सामाजिक का कल्पना-जाल बिखर जाता है और वह खीझ उठता है। समय से मेघ-गर्जन या बादलो मे बिजली की कौंध दिखाई न पडने से भी दृश्य का सही प्रभाव नही उत्पन्न हो पाता, अत यह स्पष्ट है कि रग-शिल्प के उपयुक्त, सामयिक और कलात्मक उपयोग से किसी भी नाटक मे चार-चाँद लग जाते है।

नवीन विचारो और कल्पनाओ के आविर्भाव, नई खोजो और आविष्कारो के साथ रग-शिल्प बराबर विकसित होता जा रहा है और उसका वैज्ञानिक उपयोग कुशल शिल्पियो के बिना सम्भव नही है। होता यह है कि जिन सदस्यो को भूमिकाएँ नही मिलती, उन्हे ही कला-निर्देशक, सकेतवाचक या रगदीपनकार अथवा उनके सहायको का कार्य सौंपा जाता है और वे प्राय अनमने मन से अपना कार्य सम्पन्न करते हैं, जिसमे त्रुटियो का रह जाना स्वाभाविक है। कही-कहीं उपस्थापक ही इन समस्त कार्यों को अपने अन्य कार्यों के साथ स्वय ही कर डालना चाहता है, जो उसके अन्य दायित्वो के साथ पूरे नही पडते। वास्तव मे यह कार्य बडा दिलचस्प है और इसे करने के लिए भी सुरुचि-सम्पन्न और मेधावी शिल्पियो की आवश्यकता है। रगशिल्प के प्रत्येक विभाग मे रुचि लेने से कलात्मक पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। उपस्थापन की सफलता मे परदे के पीछे काम करने वाले परिकल्पकों, बढइयो, रग-सज्जाकारो, रगदीपनकारो आदि का बहुत बडा हाथ रहता है। नाट्य-सस्थाओ मे यह कार्य भी अव्यावसायिक लोग ही कर सकते हैं। भारत मे बढईगिरी, बिजली-मिस्त्री आदि का काम ओछा समझा जाता है, परन्तु पश्चिम मे ऐसा नही है। वहाँ प्राय किसी भी अव्यावसायिक सस्था के सदस्य ही स्वय इन सभी कामो को कर लेते है।

रग-सज्जा—आधुनिक रगमच पर तीन प्रकार की रगसज्जा का उपयोग किया जाता है. चित्राकित रगसज्जा, प्रकृतिवादी रगसज्जा और प्रतीक रग-सज्जा। चित्राकित रग-सज्जा मे रँगे हुए परदो, पार्श्वों या पक्ष-बाइयों (विग्स) आदि का उपयोग होता है। प्रकृतिवादी रगसज्जा मे सदृकिया दृश्यबध (बाक्स सेटिंग) बना कर ड्राइग रूम, होटल, मदिर, गाँव, गैरेज, दुर्ग, कारावास, आदि के यथार्थ दृश्य दिखलाये जा सकते है। त्रिभुजीय दृश्यबध मे चतुर्थ भुजा और छत की कल्पना स्वय सामाजिक कर लेते है। प्रत्येक दीवाल मे कई टुकडे होते है, जिन्हें फलक (फ्लैट) कहते है। ये लकडी और कैनवेस के बनाये जाते हैं और सम्पूर्ण दीवाल बनाने के लिए पीछे से एक-दूसरे से जोड दिये जाते हैं। इन फलको मे से कुछ मे खिडकी या दरवाजे भी बनाये जाते हैं, जो कब्जो से जुडे रहते है। इन खिडकियो और दरवाजो के पीछे गगनिका या पृष्ठ-पट का उपयोग किया जाता है, जिससे दृश्यानुकूल चित्राकन द्वारा दूरवर्ती आकाश, बादल, तारे, वन या पर्वत-शिखर आदि का बोध हो सके। ड्राइग रूम, होटल आदि के दृश्यबधो के साथ सभी प्रकार के आधुनिक फर्नीचर, यथा सोफासेट, मेज, कुर्सी, अल्मारी, शृगारदर्पण आदि का उपयोग भी यथार्थता उत्पन्न करने के लिये किया जाता है।

प्रतीक रग-सज्जा मे वास्तविक मदिर, वन, राज-पथ, गाँव आदि नही दिखलाये जाते, बल्कि प्लाईवुड या मोटी दफ्ती पर रग कर बनाये गये मदिर, वृक्ष, लैम्पपोस्ट, झोपडी आदि प्रदर्शित किये जाते है। प्लाईवुड या दफ्ती को उन्ही के आकार मे काट लिया जाता है। वृक्ष के नीचे एक झोपडी पूरे गाँव की प्रतीक बन जाती है। इसे और अधिक पूर्ण बनाने के लिए प्लाईवुड का बना कूप भी साथ मे दिखलाया जा सकता है। पृष्ठभूमि मे आलोक के द्वारा साँझ-सवेरा, दिन-रात आदि दिखलाने के लिए गगनिका की सुविधा भी उपलब्ध हो, तो प्रतीक रंगसज्जा बडी प्रभावी हो जाती है। गगनिका से दूरी का भी भास होने लगता है।

मच पर किस प्रकार की रग-सज्जा हो, यह नाटक के प्रकार और उसके उपस्थापन के ढग पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। आधुनिक मच पर चित्राकित परदो का उपयोग अब नही के बराबर होता है। दृश्यबधो की अतिप्रकृतिवादिता भी क्रमशः अतीत की वस्तु बनती जा रही है। आधुनिक उपस्थापक प्रतीक रंगसज्जा को अब

अधिक पसन्द करने लगे हैं।

रंगसज्जा चाहे जैसी भी हो, परिकल्पक उसके लिए पहले डिज़ाइन बनाता है, जिसे स्वीकृति मिलने पर बढ़ई लकड़ी के फ्रेम पर या प्लाईवुड की कट-आउट दृश्यावली तैयार करता है और चित्रकार कैनवेस या कट-आउट पर दृश्यानुकूल दीवाल, खिड़की, द्वार, झोंपड़ी, कूप, वृक्ष आदि रँगता है। चित्रकार का रंग-परिज्ञान बहुत विकसित होना चाहिए, अन्यथा दृश्यावली अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में सफल न होगी। उसे इस बात की पूरी जानकारी होनी चाहिये कि रंगीन आलोक पड़ने पर उसके रंगों पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि दो रंगों के मिलने पर तीसरा रंग बन जाता है, जो वांछित प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नहीं भी कर सकता है। लाल रंग पर हरा आलोक पड़ने से लाल रंग काला हो जाता है। इसी प्रकार पीला रंग रंगदीप्ति से हल्का किरमिजी रंग का हो जाता है। चित्रांकन करने से पूर्व इन सब बातों पर विचार कर लेना चाहिए। दूसरे, प्रकृतिवादी दृश्यावली दर्पण या छविचित्र की भाँति तथ्य को तदनुरूप उतारने में ही विश्वास रखती है, परन्तु मंच की रंग-सज्जा कितनी भी प्रकृतिवादी क्यों न हो, उसमें अतिशयोक्ति का होना आवश्यक है। दृश्यावली में दिखाई गई पच्चीकारी या सूक्ष्म-चित्रांकन का दूर बैठे प्रेक्षक के लिये कोई महत्व नहीं है, अत: उसकी कूचियों द्वारा स्थूल चित्रांकन किया जाना चाहिए, जिससे सामाजिक को वह यथार्थ लगे।

किसी भी दृश्य को तैयार करने में उक्त तीनों प्रकार के शिल्पियों में परस्पर सहयोग की आवश्यकता होती है। वांछित स्तर की दृश्यावली तैयार करने के लिए परिकल्पक को नाटक को कई बार पढ़ कर उपस्थापक से पथ-प्रदर्शन और अपनी डिज़ाइन, रंगों आदि की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है। यदि उपस्थापक किसी विशेष प्रकार के रंगीन आलोक का उपयोग करना चाहता है, तो परिकल्पक को उपस्थापक से आलोक के रंग-विशेष में परिवर्तन करने का आग्रह करना आवश्यक होता है। परन्तु यदि उपस्थापक उसके प्रस्ताव से सहमत न हो, तो उसे दृश्यावली की रंग-योजना में परिवर्तन करना होगा। परिवर्तन की यह बात तय हो जाने पर ही दृश्यावली का निर्माण एवं चित्रांकन प्रारम्भ किया जाता है।

रंग-सज्जा की उपर्युक्त तीनों विधाओं में प्रथम विधा-चित्रांकित परदों की जगह अब एक नवीन विधा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ है। उसका नाम है—पट-दृश्यबंध (कर्टेन-सेटिंग)। इस विधा में एकरंगे परदों का उपयोग या अधिक से अधिक दो रंगों के परदों का उपयोग किया जा सकता है। यह रूढ़ चित्रांकित परदों की भाँति एक ही लम्बा-चौड़ा पट नहीं होता, वरन् इनमें से प्रत्येक परदा ५ या ६ फुट चौड़ाई का होता है, जो फलक की भाँति अलग-अलग होता है। इस प्रकार के परदों का उपयोग त्रिभुजीय दृश्यबंध की अपेक्षा बहुत सस्ता होता है और दृश्य-परिवर्तन में भी इनसे सुविधा रहती है। प्रायः इनके साथ द्वार, खिड़की आदि प्रदर्शित करने के लिए फलकों का भी उपयोग किया जाता है। दो रंगों के परदे इस ढंग से लगाये जाते हैं कि एक के बाद दूसरा रंग क्रम से पड़ता है। इस प्रकार के दो परदों को ऐंठन देकर आवश्यकता होने पर स्तम्भ बनाया जा सकता है। एक रंग के परदों से भी, प्रत्येक को समान दूरी पर एकत्र कर, स्तम्भ बनाये जा सकते हैं।

पट-दृश्यबंध के लिए परदे हलके रंग के, ग्रे या हलके नीले होने चाहिए। गहरे नीले (जो रंग-दीप्ति से प्रायः काले लगने लगते हैं), काले या हरे रंगों का प्रयोग उचित नहीं होता।

परदों को इस ढंग से लटकाया जाता है कि उनकी सिकुड़न कलात्मक एवं सुन्दर प्रतीत हो। छः फुट के सिकुड़न-युक्त परदे के लिए मूल चौड़ाई प्रायः आठ फुट रखी जाती है। ये परदे सूती, ऊनी या सूती-ऊनी मिश्रित वस्त्र, रेशमी या मखमली कपड़े के बनाये जाते हैं। सूती परदे सस्ते होते हैं और सुन्दरता के साथ लटकते हैं, परन्तु प्रकाश इनसे छन सकता है और हवा के झोंकों से वे उड़ सकते हैं। इस काम के लिए रेशमी या मखमली कपड़े बहुत महँगे पड़ते हैं। सूती-ऊनी मिश्रित वस्त्र के परदे उत्तम समझे जाते हैं। इनके परदों से प्रकाश सरलता

से नही छनता और वे हवा से भी सरलता से नहीं उड़ते ।

इस विधा के प्रयोग के समय भी पृष्ठ भाग मे सादे पृष्ठ-पट या गगनिका का उपयोग किया जाता है, जिससे खिड़की, द्वार आदि के पीछे की दीवाल न दिखलाई पड़े । इसी प्रकार छत को ढँकने के लिये झालरो की भी आवश्यकता होगी ।

रंगदीपन . मंच पर विद्युत्-प्रकाश के प्रयोग ने रंगदीपन-योजना में क्रान्ति उपस्थित कर दी है । भरत के युग में अधिकांश नाटक आलोक-व्यवस्था के अभाव मे दिन में खेले जाते थे । रात में होने वाले नाटको में मशालों का प्रयोग होता था । फिर तेल के दीपक, चालीस की बत्ती, कछुये, कारबाइड आर्कलैंप आदि का और उसके बाद बिजली का प्रयोग शुरू हुआ । बिजली ने उपस्थापक और दीप्तिकार के लिए अनन्त सम्भावनाओ के द्वार खोल दिये हैं ।

प्रारम्भ मे मंच को समरस आलोक से प्रकाशित करना ही पर्याप्त समझा जाता था, परन्तु आजकल आलोकित करने से अधिक छिपाने की कला अथवा मंद प्रकाश को रंगदीपन का प्रमुख अंग समझा जाता है । आजकल विन्दुप्रकाश (स्पाइट लाइट)से आलोकित दृश्यावली का एक भाग ही पूरा दृश्य बन जाता है ।

रंगदीपकीय उपकरणों को चार भागो में बाँटा जा सकता है–(१) संघात उपकरण (मैगेजीन इक्विपमेंट), यथा पाद-प्रकाश (फुटलाइट) और शीर्ष-प्रकाश (बैटेन्स), (२) तीव्र प्रकाश (फ्लड लाइट), (३) विन्दु प्रकाश और (४) लेंस-युक्त लालटेनें, यथा आलोकचित्र प्रक्षेपक (इफेक्ट्स प्रोजेक्टर) ।[११] इस विभाजन से कुछ भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि विन्दुप्रकाश और सकीर्णकोण तीव्र प्रकाश मे बहुत-थोड़ा अन्तर है । इसी प्रकार संघात उपकरण मे एकत्रित कई लघु तीव्र प्रकाशो (बेबी फ्लड लाइट्स) का समावेश रहता है । अत. लेंस के सम्बन्ध से दीप्ति-उपकरणों का विभाजन अधिक वैज्ञानिक है । इस दृष्टि से ये उपकरण तीन श्रेणियो में विभक्त किये जा सकते है–(१) वह प्रकाश, जिसका आलोक-वितरण समरस है और जिसे परावर्तक (रिफ्लेक्टर) द्वारा कम या अधिक नही किया जा सकता, यथा तीव्र प्रकाश, पाद प्रकाश एवं शीर्ष-प्रकाश, (२) वह प्रकाश, जिसका वितरण रिफ्लेक्टर या लेंस के उपयोग द्वारा कम या अधिक किया जा सकता है, यथा सगम (फोकस) वाली लालटेन एवं कोमल आलोक वाला विन्दु प्रकाश, तथा (३) लेन्स के उपयोग पर निर्भर शोधित प्रकाश, यथा आलोकचित्र प्रक्षेपक और विन्दु प्रकाश ।

(१) तीव्र प्रकाश यह तीन प्रकार का होता है–(क) साठ से १५० वाट तक, (ख) ३०० से ५०० वाट तक तथा (ग) १००० वाट वाला । एक हजार वाट वाले तीव्र प्रकाश से बड़े मचो को आलोकित किया जाता है । प्रथम दोनों छोटे प्रकार के प्रकाशों को 'लघु तीव्र प्रकाश' कहते हैं । इनके साथ जो परावर्तक काम मे लाये जाते हैं, वे प्राय ५०° या १००° पर किरणें फेंकते हैं । पृष्ठपट को प्रकाशित करने के लिए १००° पर किरणें फेंकने वाले विस्तृतकोण परावर्तक की आवश्यकता होती है ।

(२) संघात उपकरण : संघात उपकरण में समरस आलोक वाले पादप्रकाश और शीर्ष प्रकाश सम्मिलित हैं । इन प्रकाशो के लिये भी मध्यमकोण और विस्तृतकोण परावर्तकों की आवश्यकता होती है ।

गगनिका को प्रकाशित करने के लिए विस्तृतकोण परावर्तक की आवश्यकता होती है, जिससे आलोक में समरसता आती है और रंगो की मिलावट मे सुविधा होती है । गगनिका को पाद-प्रकाश और शीर्ष-प्रकाश, दोनों के द्वारा रंगीन फिल्टरो के माध्यम से प्रकाशित किया जाता है । तीन प्रारम्भिक रंगो–लाल, गहरा नीला और हरा के लिये तीन सर्किटों का उपयोग किया जाता है । इन्हें मिला कर अथवा एक में से दूसरा रंग निकाल कर इन्द्र-धनुष के सातो रंग उत्पन्न किये जा सकते हैं । गगनिका के शीर्ष भाग में प्रायः गहरा नीला या हल्का नीला, स्लेटी, नीलापन लिये हरा, लाल या गुलाबी रंग दिये जाते हैं । इसके लिये सं० ५–ए गहरा नारंगी, सं० १६ नीलापन

लिये हरा और सं० २० गहरानीला, इन तीन रंगों के फिल्टर काम में लाने चाहिए। गगनिका के निचले भाग में सं० ६ लाल, सं० ३९ हरा और सं० २० नीला, इन तीन रंगों के फिल्टर रखने चाहिए।

गगनिका का शीर्ष भाग प्रायः एक हजार वाट के तीव्र प्रकाश से और निचला भाग कम वाट के पाद-प्रकाश से आलोकित किया जाता है। पाद-प्रकाश को पट-तल से तीन फुट की दूरी पर प्रेक्षक की दृष्टि से छिपा कर रखा जाता है। पाद-प्रकाश को ६-६ फुट की इकाई में बराबर-बराबर दूरी पर रखा जाता है।

(३) समानान्तर किरणों वाली लालटेन (पैरेलल बीम लैन्टर्न) : इन लालटेन में १०" व्यास के 'पैरा-बोलिक' परावर्तक और 'स्पिल रिंग' से समानान्तर किरणें उत्पन्न होती हैं। इनका उपयोग खिड़की से आने वाली सूर्य-किरणें दिखलाने के लिए किया जाता है। छोटे मंच पर प्रयोग के लिए इनमें ३६ वाट १२ वोल्ट का बल्ब लगता है और 'ट्रान्सफार्मर' इनके अन्दर बना होता है। इसे बड़े मंच पर बिन्दु प्रकाश की भाँति काम में लाया जा सकता है।

(४) सघन लालटेन (फोकस लैन्टर्न) : सघन लालटेन मंच पर बिन्दु प्रकाश' के नाम से प्रायः काम में आती है। इसमें दो सौ पचास, ५०० या १००० वाट के बल्ब काम में आते हैं। स्पष्ट रूप से किसी बिन्दु या लक्ष्य पर प्रकाश को केन्द्रित करने के लिए एक और लेन्स लगाना पड़ता है।

(५) कोमल आलोक वाला बिन्दु प्रकाश (सॉफ्ट एज स्पाट) : इसके लैंस और परावर्तक सघन लालटेन की अपेक्षा बड़े होते हैं और इसमें २००० वाट का बल्ब काम में आता है। इसमें किरणें १०° और ४५° के बीच फूटती हैं।

(६) आलोक-चित्र प्रक्षेपक : इस प्रक्षेपक में स्लाइड का काम उसकी घूमने वाली तश्तरी (डिस्क) करती है। इसके द्वारा चलते हुए बादल, तारों भरा आकाश, आग की लपटें अथवा कोई भी दृश्यावली दिखलाई जा सकती है। यह एक प्रकार का स्लाइड-प्रोजेक्टर है, जिसमें स्लाइड की जगह घूमने वाली तश्तरी लगी रहती है। पार्श्व से बादलों का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये तीन इन्च का फोकस पर्याप्त है।

(७) बिन्दु प्रकाश : बिन्दु प्रकाश के लिए 'स्टैलनर स्पाट' या 'मिरर स्पाट' काम में लाया जाता है। इसमें अन्य परावर्तकों के साथ एक गोलीय परावर्तक भी होता है। इसमें १००० वाट का बल्ब लगता है। किरणें ३° से १९° तक के कोण बनाती हैं। बिन्दु के आकार को प्रकाश के द्वार पर लगे 'शटरों' से नियंत्रित किया जाता है।

रंगीन आलोक के लिए बिन्दु प्रकाश के साथ रंगीन फिल्टरों का उपयोग किया जाता है। बिन्दु प्रकाश में रंगीन फिल्टरों का परिवर्तन हाथ से या बिजली द्वारा किया जा सकता है।

मंच की आधुनिक दीपन-व्यवस्था में दीप्ति-नियामक (डिमर) का बड़ा महत्त्व है। इससे आलोक को धीरे-धीरे घटाया या बढ़ाया जा सकता है। इसका प्रयोग सूर्योदय या सूर्यास्त आदि दिखाने में किया जा सकता है। साथ ही लाल, हरे और गहरे नीले, इन तीनों प्राथमिक रंगों के लिये प्रयुक्त तीन दीप्तिनियामकों से इन्द्रधनुष के अन्य रंग उत्पन्न किये जा सकते हैं।

ये दीप्ति-नियामक दो प्रकार के होते हैं—एक वह, जिसमें 'रेजिस्टेंस' के लिये द्रव-पदार्थ का प्रयोग होता है और दूसरे वह, जिसमें धातु का प्रयोग किया जाता है। द्रवचालित दीप्तिनियामक में खतरा यह है कि घोने वाले सोडे का घोल बिजली से गरम होकर उबलने लगता है। धातु वाले दीप्तिनियामकों में बहुसम्पर्की दीप्तिनियामक स्लाइडर दीप्तिनियामक की अपेक्षा उत्तम होता है।

उपर्युक्त दो प्रकारों के दीप्तिनियामकों के अतिरिक्त एक ट्रान्सफार्मर दीप्तिनियामक होता है, जिसमें स्वचालित ट्रान्सफार्मर लगा रहता है। इससे आलोक को घटाने-बढ़ाने में पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त सभी प्रकाशों और दीप्तिनियामकों के लिए मंच का अपना स्विचबोर्ड होता है। अच्छा तो यहाँ यह होगा कि इसे 'दीप्तिनियामक बोर्ड' कहा जाय, क्योंकि स्विचों की तुलना में दीप्तिनियामक का महत्त्व अधिक है। इस बोर्ड का संचालन हाथ से या बिजली द्वारा दूर से किया जा सकता है। दूर-संचालित बोर्ड हाथ से संचालित बोर्डों की अपेक्षा अधिक महँगे होते हैं।

दिन-रात तथा अन्य विशेष प्रभाव सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य कवि या चित्रकार को ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति के हृदय को आन्दोलित करते हैं। दीप्ति-विशेषज्ञ कृत्रिम साधनों द्वारा गगनिका पर सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य उपस्थित कर आन्दोलित ही नहीं होता, अपनी लघु सृष्टि पर आत्म-विस्मृत भी हो जाता है। उसके लिये यह कार्य कठिन नहीं है। लेकिन यदि एक ही नाटक में सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों के दृश्य दिखाये जायें, तो इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि दोनों में स्पष्ट अन्तर हो। इसी से सूर्योदय प्रायः रंगशाला के मुख भाग अथवा बाल्कनी के पीछे बने दीप्ति-स्थल अथवा प्रेक्षागार के एक या दोनों पार्श्वों में बने दीप्तिकक्षों से प्रक्षेपित आलोक-चित्रों द्वारा और सूर्यास्त पृष्ठ-आलोक द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, जिसमें डूबता हुआ सूर्य और उसकी लालिमा, आकाश की नीलिमा और वृक्षों की हरीतिमा के मिले-जुले रंगों का सम्मिश्रण उपस्थित किया जा सके।

सूर्योदय दिखाने के लिए शीर्ष प्रकाश में प्रकीर्ण प्रकाश (डिफ्यूज्ड लाइट) डाला जाता है और किसी एक पार्श्व से रंगीन किरणें निकलती हुई दिखाई जाती हैं, जो क्रमशः गहरी लाल से हल्की लाल या नारंगी रंग में परिवर्तित की जा सकती हैं। परन्तु यदि बदली हो, तो साथ में आलोकचित्र-प्रक्षेपक से हल्के-फुल्के बादल दिखाये जा सकते हैं। सूर्य के बादलों में छिपे होने पर पक्ष में आने वाली किरणें नहीं दिखाई जानी चाहिए। गगनिका का ऊपरी भाग गुलाबी और निचला भाग नीला या स्लेटी दिखाया जा सकता है। सूर्योदय की इस व्यवस्था में यह मान लिया गया है कि सूर्य प्रेक्षागार की ओर से उदित हुआ है।

मंच के पृष्ठ भाग में सूर्यास्त दिखलाने के लिए गगनिका के निचले भाग में लाल, हरे और नीले रंगों का सम्मिश्रण और ऊपरी भाग में नीले, नीले-हरे और नारंगी रंग के मिश्रण दिखाये जाते हैं। बादलों-भरी साँझ के लिये प्रक्षेपित बादल दिखाए जाने चाहिये।

दिन में खिड़की से भीतर आने वाली सूर्य-किरणें दिखाई जा सकती हैं। कमरे के भीतर के आलोक के लिये तोरण (फ्लायर) के पीछे के दीप्ति-स्थलों से प्रकाश की व्यवस्था की जाती है, क्योंकि कमरे के ऊपर छत होने से ऊपर से प्रकाश का आना प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। खिड़की के पीछे मुख्य पृष्ठ-पट के मेल में पृथक् लघु पृष्ठ-पट की व्यवस्था की जानी चाहिए।

रात्रि प्रदर्शित करने के लिये यह आवश्यक नहीं कि मंच के सभी प्रकाश बुझा दिये जायें। इसके विपरीत दीप्तिनियामक द्वारा नियंत्रित धुँधला नीला आलोक फेंकना चाहिए। इससे गगनिका का आकाश काला-सा प्रतीत होगा। यदि रात तारों-भरी है, तो ये तारे गगनिका की दीवाल में कलापूर्ण लघु छिद्रों के पीछे १५ वाट की डेलाइट नीली बत्तियाँ जलाकर दिखलाए जा सकते हैं। प्रत्येक बत्ती का अपना 'थर्मल फ्लैशर' अलग होना चाहिये। बत्तियाँ बिना बुझे झिलमिलाती रहें, परन्तु इस प्रकार अधिक से अधिक २५-३० तारे ही दिखाए जा सकते हैं। पूर्णतः तारों-भरी रात के लिये प्रक्षेपक से तारों की स्लाइड दिखलाना आवश्यक होगा। यह स्लाइड जस्ते की प्लेट में कलापूर्ण लघु छिद्र बनाकर तैयार की जा सकती है। इसके लिये मध्यमकोण का लेंस और सं० १७ अथवा ४० का फिल्टर काम में लाना चाहिए।

आकाश में तारे न होने की स्थिति में सड़क की बत्ती का प्रकाश या कमरे के भीतर टेबुल लैम्प या अँगीठी का प्रकाश रात के विरोधाभास के लिये आवश्यक है।

चाँदनी रात प्रदर्शित करने के लिये पार्श्व में रखे दो हजार वाट के कोमल आलोक वाले बिन्दु प्रकाश से

किरणो का फैलाव दिखाया जाता है। यदि मच बडा है और उस पर कई पार्श्वो का उपयोग किया गया है, तो एक ही ओर मे इस प्रकार के एक कृत्रिम चांद की अपेक्षा दो-तीन चाँदो से चन्द्रकिरणों का प्रसार दिखाया जाता है। चाँदनी प्रायः श्वेत होती है, अतः प्रक्षेपक पर दो १७ न० के नीले (स्टील-ब्लू) फिल्टर या एक ४० न० का नीला (पेल-ब्लू) फिल्टर लगाया जाता है। वास्तविक चाँद दिखाने के लिए जाली के पीछे मे कृत्रिम चांद दिखाया जा सकता है।

कमरे के भीतर रात का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये १५ वाट से अधिक की बत्ती नहीं जलाई जाती। टेबुल लैम्प के पास बैठे हुए पात्र पर उसका आलोक पर्याप्त होता है। दृश्यबध की छत और ऊपरी भाग मे अँधेरा रखा जाता है। मच के अन्य पात्रो को आलोकित करने के लिये रंगशाला के मुख-भाग या (बालकनी) के पीछे बने दीप्तिकक्ष से हल्का आलोक फेंका जा सकता है। खिडकी पर जालीदार परदा टाँग और उसके पृष्ठ भाग मे पृथक् काला पृष्ठपट लगाकर कमरे के बाहर अधकार का सकेत दिया जा सकता है। यदि पृष्ठपट कुछ आलोकित भी रखा जाय, तो भी जालीदार परदे के कारण बाहर रात्रि का आभास मिलेगा। यदि कमरे के भीतर की बत्ती बुझानी हो, तो खिडकी के पृष्ठपट पर पडने वाला आलोक भी हल्का कर दिया जाना चाहिए। ऐसा न करने से पृष्ठपट ही मच पर प्रमुख होकर उभर आयेगा।

मच पर विशिष्ट दीप्ति-प्रभाव उत्पन्न करने के लिये आलोकचित्र-प्रक्षेपक का प्रयोग करना पडता है। इस प्रक्षेपक द्वारा चलते हुए या स्थिर बादल, आग की लपटे, समुद्र की लहरें, झरना, वर्षा, हिमपात, बिजली की चमक, दृश्यावली आदि दिखलाई जा सकती है। इन प्रभावो को दिखाने के लिए प्रक्षेपक मे अभ्रक की गोल चित्राकित तश्तरियाँ लगा दी जाती है, जो नियन्त्रित गति मे गोलाकार घूमती हैं। तश्तरियो के घूमने से बादल चलते हुए प्रतीत होते है। चित्रित अभ्रक-तश्तरियो को स्लाइड की भाँति बाँध दिया जाता है। प्रदर्शित दृश्य को रँगने के लिए अथवा कई मिश्रित रग उत्पन्न करने के लिए रंगीन फिल्टर। फिल्टरो का उपयोग किया जाता है, जिससे रगों को स्थायित्व प्राप्त होने के साथ गगनिका पर इच्छित रग प्रदर्शित किये जा सकते है। रंगो के सम्मिश्रण के लिए दो या तीन त्रिभुजाकार, चौकोर या गोलाकार फिल्टरो का उपयोग एक-साथ किया जाता है। वर्षा को पूरी गगनिका पर न दिखला कर उसके एक भाग पर केन्द्रित रखने और शेष भाग पर तूफानी बादलो के प्रदर्शन से दृश्यो की प्रभविष्णुता बढ जाती है। आग की लपटें भी एक ओर केन्द्रित रखकर बाद मे फैलाई जायें या फैलती दिखाई जायें, तो दृश्य की यथार्थता बढ जाती है। अग्निकाड के लिए कृत्रिम आग और धुएँ का भी उपयोग किया जा सकता है। स्थायी दृश्यो या स्थिर बादलो को दिखलाने के लिए अभ्रक की विशेष स्लाइडें बनाई जाती हैं। घूमने वाली स्लाइडो को रोकने से उनके जल जाने का भय है।

बिजली की कौंध और उसकी लकीरों को कैमरा द्वारा फोटोग्राफिक प्लेट पर बनाकर उसकी स्लाइड तैयार की जा सकती है। कैमरा उपलब्ध न होने पर किसी भी काले कागज को लेकर बिजली की आडी-टेढी लकीरो को उस पर काट लिया जाता है और उसे कांच की स्लाइड पर चिपका लेते हैं तथा एक कांच और लगा कर स्लाइड की भाँति मढ लेते है। इसे प्रक्षेपक से दिखाया जा सकता है।

स्लाइड के अतिरिक्त बिजली की चमक के लिए कई अन्य तरीके भी है। पृष्ठपट या गगनिका के आगे शीर्ष प्रकाश और पादप्रकाश मे श्वेत और पीली बत्तियो की पक्ति इस प्रकार लगा दी जाती है कि छत की श्वेत बत्तियों की पक्ति नीचे की पीली बत्तियो की पक्ति पर पडे। इन बत्तियों की पक्तियो को बारी-बारी से तीव्रता के साथ जलाने-बुझाने से बिजली की चमक का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। यह प्रभाव इसी उद्देश्य से बनाये गये विद्युत्-यत्र से भी उत्पन्न किया जा सकता है। यह यन्त्र एक कब्जे से जुडे दो लकडियो के छोटे टुकडों से बना होता

है, जिसके बीच मे एक स्प्रिंग लगा होता है। दोनो लकडियो मे से एक के छोर पर कारबन और दूसरी के छोर पर लोहे की चादर लगी होती है । इन दोनो को बिजली के तारो मे जोडकर एक प्लग मे लगा दिया जाता है। लोहे की चादर को स्पर्श करने वाले तार के साथ रेजिस्टेंस भी लगा रहता है। लकडी के दोनो टुकडो को स्प्रिंग द्वारा इतना दबाया जाता है कि कारबन और लोहे की चादर एक-दूसरे को स्पर्श करे। इससे बिजली की चमक पैदा होती है ।

पृष्ठपट या गगनिका पर इन्द्रधनुष भी बडी सरलता से दिखलाया जा सकता है । यह कार्य टिन या किसी अन्य धातु की स्लाइड और त्रिपार्श्व काँच (प्रिज्म) द्वारा सपन्न किया जा सकता है। टिन की स्लाइड मे इन्च के सोलहवे भाग जितना अर्धवृत्त या धनुषाकार छिद्र कर लिया जाता है और उसे स्लाइड-होल्डर मे लगा दिया जाता है। ठीक इसके सामने त्रिपार्श्व काँच इस प्रकार मे लगा दिया जाता है कि प्रक्षेपक से निकलने वाला आलोक स्लाइड के अर्धवृत्त या धनुषाकार छिद्र मे होकर त्रिपार्श्व काँच के द्वारा पृष्ठपट या गगनिका पर पडे। यह प्रतिबिम्ब इन्द्रधनुष का होगा, जिसे प्रक्षेपक को नीचे-ऊपर कर पृष्ठपट के सही भाग मे प्रदर्शित किया जा सकता है।

ध्वनिसंकेत मच पर वातावरण को यथार्थता प्रदान करने के लिए ध्वनिसकेतो का उपयोग किया जाता है, *परन्तु ध्वनिसकेत एक प्रकार की मिथ्या अनुभूति है, जिसे सामाजिक, मच पर प्रस्तुत वातावरण के सन्दर्भ मे,* अपनी कल्पना द्वारा यथार्थ मान लेता है। बाहर यदि पानी बरस रहा है और बिजली की चमक के साथ गर्जन भी सुनाई पड रहा है, परन्तु बाहर से आने वाला व्यक्ति सूखे कपडे ही पहने भीतर चला आता है, तो जिस यथार्थ को देखने की सामाजिक आशा रखता है, वह फलीभूत नही होता और उसकी मिथ्या अनुभूति सत्य मे परिणत नही हो पाती। खिडकी के खुलने पर टपकती हुई पानी की बूँदें भी उसके लिये मिथ्या बन जाती हैं और समस्त ध्वनिसकेत यथार्थता से परे जा पडता है। ध्वनिसकेतो से यथार्थता का भान तभी होता है, जब प्रस्तुत वातावरण भी उनके मेल मे हो। वातावरण की समस्त तैयारी, सवादो मे व्याप्त सकेत, सभी के द्वारा ध्वनिसकेतों को स्पष्ट रूप से समझने मे सहायता मिलनी चाहिये ।

ध्वनिसकेतो के पुरातन साधनों द्वारा सामाजिक स्वय मिथ्यानुभूति को ही सत्याभास के रूप में सुनता और समझता था, परन्तु अब वैज्ञानिक साधनो ने इतनी उन्नति कर ली है कि हम मूल ध्वनियो को यथार्थ रूप मे ही सुन सकते हैं। बिजली के गर्जन के लिए गर्जनगाडी या गर्जन-पट्टिका का उपयोग अब पुराना हो चुका है। आज-कल गर्जन के लिए रिकार्ड या टेप का प्रयोग बडी सरलता से किया जा सकता है। गर्जन तथा अन्य ध्वनिसकेतो के रिकार्ड बाजार मे मिलते हैं, परन्तु टेप पर ध्वनि-अकन के लिये टेपरिकार्डर की सहायता लेना आवश्यक है। जो भी ध्वनि-सकेत देना हो, उसे टेप रिकार्डर द्वारा पहले से ही टेप पर अकित कर लिया जाता है। इस प्रकार ध्वनि-सकेतो को उत्पन्न करने के तीन मुख्य तरीके हैं :

(१) कठ, हाथ, पैर या वाद्ययत्रो द्वारा ध्वनि-संकेत देना,

(२) कृत्रिम साधनो, यथा गर्जनगाडी, वर्षा-पेटिका, पवन-पेटिका आदि के द्वारा ध्वनि-सकेत देना, तथा

(३) वैज्ञानिक साधनो, यथा ग्रामोफोन रिकार्ड, टेप-रिकार्डर, आदि द्वारा मूल ध्वनियो की पुनरावृत्ति।

(१) कठ, हाथ, पैर, वाद्ययत्रो द्वारा ध्वनिसकेत देना कुछ ऐसे प्रतिभासम्पन्न कलाकार होते है, यद्यपि उनकी सख्या अत्यल्प है, जो कठ के लोच द्वारा अनेक प्रकार के पशु-पक्षियो की आवाजें, मोटर साइकिल और ट्रेन के चलने की ध्वनियाँ बडे स्वाभाविक ढग से उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसे अद्वितीय कलाकार का योग हर किसी नाट्य-सस्था को मिलना सभव नही है। ऐसी दशा मे हाथ या पैर के उपयोग से कुछ ध्वनियाँ उत्पन्न करनी पडती हैं। यदि किसी जस्ते की चादर को कीलो से किसी लकडी की सदूक पर जड दिया जाय और उस पर हाथ से 'रोलर स्केट' चलाया जाय, तो ट्रेन के चलने की आवाज़ भासित होने लगती है। कुशल वादक द्वारा तबलों की

गर्जन-गाड़ी
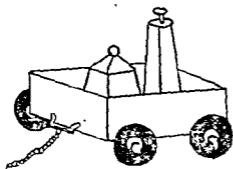
(चित्र सं. ६)

गर्जन-गैलरी
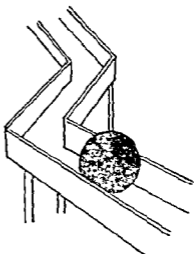
(चित्र सं. ७)

गर्जन-पट्टिका

(चित्र सं. ८)

(चित्र सं· ९)
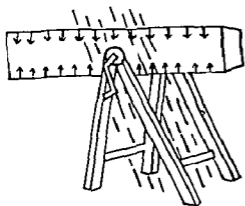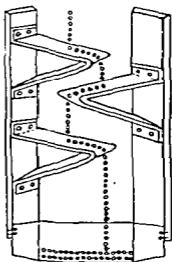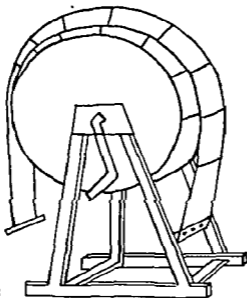
(चित्र सं· १०)

(चित्र सं·११)

सहायता से भी ट्रेन के छूटने या स्टेशन पर पहुँचने, उसकी चाल आदि का बोध कराया जा सकता है। ट्रेन के दरवाजे को बन्द करने की आवाज उत्पन्न करने के लिए लकडी के फर्श पर पैर पटकना या किसी लकडी की सन्दूक पर पैर से ठोकर मारना पर्याप्त होगा। इजन के भाप छोडने की आवाज कुछ लोगो के मिल कर हल्की सीटी बजाने से उत्पन्न की जा सकती है।

घोड़े की टापो की आवाज दो प्लास्टिक बीकरो या नारियल के दो खोपडो के परस्पर रगड़ने मे उत्पन्न हो सकती है। खिडकी के शीशो या चीनी मिट्टी के बरतनो के टूटने का प्रभाव पैदा करने के लिए यह आवश्यक होगा कि काँच या चीनी मिट्टी के टूटे टुकडो को दफ्ती के एक डिब्बे मे भर कर नीचे रखी लकडी या इस्पात की ट्रे मे ऊपर से गिराया जाय। इस ट्रे के चारो ओर कोई कपडा या कागज लगा देना चाहिये, जिसमे काँच आदि ट्रे के बाहर न गिरे।

तबले की थाप से प्राय विस्फोट, गर्जन या किसी भयानक घटना की सूचना दी जाती है। तबले की लगातार तीव्र सम थापो से युद्ध के लिये आह्वान का बोध होता है। मुख से शख, तुरही या बिगुल बजाने मे *युद्धारम्भ की सूचना मिलती है।*

(२) कृत्रिम साधनो द्वारा ध्वनि-सकेत देना : ध्वनि-सकेतों को यथार्थता प्रदान करने की खोज मे लगे मानव ने मच के लिए कुछ यन्त्र भी बनाये है, यद्यपि उनका प्रयोग अब अधिक प्रचलित नही है। इन यन्त्रो द्वारा उत्पन्न ध्वनि मूल-ध्वनियो के बहुत सन्निकट होती है, परन्तु उनको यथार्थ मानने के लिए नाटककार की सवाद-योजना, रग-सज्जाकार, दीपनकार आदि द्वारा अनुकूल वातावरण का सृजन और सामाजिक की कल्पना का योगदान आवश्यक है। यही बात कण्ठ, हाथ या पैर द्वारा उत्पन्न ध्वनि के सत्याभास के लिए भी आवश्यक है, अन्यथा सामाजिक ध्वनि-सकेतो को पूर्णत. समझ सकने मे समर्थ न होगा।

ध्वनिसकेत-यन्त्रो मे गर्जन, वर्षा, पवन और हिमपात दिखाने के यन्त्र या प्रक्रियाएँ प्रमुख है। वर्षा और हिमपात दिखाने के यन्त्रो का सम्बन्ध प्राय दृश्य-योजना से अधिक, ध्वनि-सकेतों के उत्पादन से कम है, यद्यपि इस दृश्य-योजना के लिये भी यन्त्रों का प्रयोग आवश्यक है।

गर्जन गर्जन के लिए यो अनेक विधियाँ हैं, परन्तु यान्त्रिक विधियो मे तीन प्रमुख है और अन्य विधियाँ उन्ही को प्रकारान्तर से प्रस्तुत करती है। ये तीन प्रमुख यन्त्र हैं—गर्जन गाड़ी, गर्जन गैलरी और गर्जन-पट्टिका।

गर्जन गाडी एक प्रकार मे लकडी की सन्दूक है, जिसको चलाने के लिए स्प्रिगहीन और विषम आकार के लोहे के पहिये लगे रहते है। इसमे ईंट-रोड़े या लोहे के टुकडे भर कर इसे जब मच के पृष्ठभाग मे दो-तीन व्यक्तियों द्वारा एक ओर से दूसरी ओर खीचा जाता है, तो गर्जन-ध्वनि उत्पन्न होती है। १९ वी शती के अँग्रेजी और यूनानी रगमचो पर इसका या इससे मिलते-जुलते यन्त्र का उपयोग गर्जन के लिए किया जाता था (देखें चित्र स० ६)।

कुछ रगालयो मे गर्जन-गैलरी का उपयोग किया जाता था। यह गैलरी ढालू सीढ़ीनुमा या बच्चों के घुमावदार फिसलने वाले झूले की तरह की बनाई जाती थी और गर्जन-स्वर के लिए उस पर लोहे या किसी अन्य धातु की भारी गेंद लुढकाई जाती थी (देखें चित्र स० ७)।

इन दोनो यन्त्रो के संचालन के लिए मच के पीछे काफी जगह की आवश्यकता होती है, अत संचालन-क्रिया की सरलता और स्थान की सुलभता को दृष्टि मे रखकर गर्जन-पट्टिका का उपयोग किया जाने लगा। यह लोहे की चादर या प्लाईवुड का एक टुकडा होता है। लोहे की चादर को सुविधा के लिये किसी 'बीम' पर लटका दिया जाता है और उसे डडियो या छोटी हथौडियों से पीटा जाता है (देखे चित्र सं० ८)। डडियों के छोर पर कपड़े या चमड़े की घुडी बना दी जाती है, जिससे विविध घनता के गर्जन-स्वर उत्पन्न करने मे सुविधा होती

है। प्लाईवुड के टुकड़े को जोर से हिलाने से ही गर्जन-स्वर निकलता है। यदि उपर्युक्त गर्जन-पट्टिकाएँ उपलब्ध न हों, तो चाय की ट्रे को पीट या झकझोर कर गर्जन-स्वर उत्पन्न किया जा सकता है।

वर्षा अनेक नाटकों में वर्षा का आद्योपान्त वर्णन रहता है। इसके लिए एक ओर नकली या असली वर्षा के प्रदर्शन का मंच पर विधान किया जाता है, वहीं दूसरी ओर वृष्टि की आवाज का भी सह-आयोजन किया जाता है। वर्षा के वास्तविक विधान का सम्बन्ध दृश्य-योजना से और वृष्टि-स्वर के विधान का सम्बन्ध ध्वनि संकेत से है। जहाँ तक हो, वर्षा की व्यंजना के लिये पानी का उपयोग नहीं किया जाना चाहिये, परन्तु यदि यह आवश्यक ही हो जाय, तो यह कार्य छिद्र-युक्त नलों को, छत की बल्लियों से बाँध कर, किसी पानी के हौज या पानी की टोंटी से रबड़ के पाइप द्वारा जोड़ कर करना चाहिए। मंच पर या मंच के पृष्ठभाग में गिरते वाले पानी से मंच को भीगने से बचाने के लिए मोमजामा बिछा देना चाहिए और उसके नीचे लकड़ी के बुरादे की एक मोटी तह लगा देनी चाहिए। मंच के पृष्ठ भाग में खिड़की पर गिरती हुई पानी की बूँदों को खिड़की के निचले फ्रेम से टिन के पनाले में एकत्र करके नली द्वारा मंच के बाहर गिराया जा सकता है। खिड़की पर गिरती हुई पानी की बूँदें दिखाने के लिए खिड़की के ऊपरी फ्रेम के साथ एक छिद्रयुक्त पनाला लगा दिया जाता है, जिसका मुँह दोनों ओर से बन्द रहना चाहिए। इस पनाले का सम्बन्ध पानी की टंकी या खुली हुई टोंटी से कर दिया जाता है, जिससे उसमें क्रमशः पानी एकत्र होता रहे और छिद्रों में बँधे हुए धागों के सहारे, नीचे के पनाले में पानी की बूँदें गिरती रहें। इन पानी की लड़ियों पर पीला आलोक डालने से बूँदें गिरने का-सा आभास होता है।

पानी गिरना दिखाने का एक और भी तरीका है। एक सन्दूक या दोनों ओर से मुँह-बन्द पनाले के तले में इतने बड़े छिद्र बना लिये जाते हैं कि उनमें से चावल के दाने निकल सकें। तले के नीचे कब्जे से लगा एक 'शटर' लगा दिया जाता है। ऊपर से चावल भर दिये जाते हैं और शटर खोल दिया जाता है। गिरते हुए चावलों पर पीला आलोक डालने से गिरती हुई बूँदों का आभास होता है। यह चावल नीचे रखे दूसरे पनाले या कपड़े की चादर में एकत्र कर लिया जाता है, जिससे उसे पुनः काम में लाया जा सके।

पानी बरसने का स्वर पैदा करने के लिए वृष्टि-यन्त्र का उपयोग किया जाता है। यह वृष्टि-यन्त्र दो प्रकार से बनाया जाता है। प्रथम प्रकार का वृष्टि-यन्त्र एक प्रकार की लम्बी सन्दूक होता है, जिसके भीतर लम्बी उठी हुई कीलें लगी रहती है। यह सन्दूक एक ऊँचे धारक (स्टैण्ड) पर रखी धुरी पर इस प्रकार लगा दी जाती है कि उसे धुरी के द्वारा चारों ओर घुमाया जा सके। इस सन्दूक के भीतर मटर के सूखे दाने भर दिये जाते हैं, जो कीलों से टकरा कर पानी बरसने की आवाज पैदा करते हैं (देखें चित्र सं० ९)।

दूसरे प्रकार का यन्त्र प्लाईवुड और मोटी दफ्ती से तैयार किया जा सकता है। दो ६ इंच चौड़े और ६ फुट लम्बे प्लाईवुड के तख्ते लेकर नीचे के भाग किसी लकड़ी की सन्दूक में जड़ लिये जायें। एक तख्ते पर अँग्रेजी के 'वी' आकार के दफ्ती के दो टुकड़े और दूसरे तख्ते पर दफ्ती का एक टुकड़ा इस प्रकार जड़ लिया जाय कि ऊपर से गिराने पर मटर के दाने परस्पर टक्कर खाते हुए नीचे की सन्दूक में आकर गिरें। मटर के दानों की पटपटाहट को जारी रखने के लिए एक चादर नीचे बिछा कर यन्त्र को उलटा खड़ा किया जा सकता है (देखें चित्र सं० १०)।

पवन : नाटकों में गर्जन और वर्षा की भाँति पवन या तूफान का वर्णन भी प्रायः आता है। बिजली के आविष्कार के पूर्व तक मंच पर वास्तविक तूफान का दृश्य दिखाना सम्भव नहीं था, फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में तूफान के संकेत दे दिये जाते थे। दरवाजा खुलते ही घर में जलते हुए दीपक को बुझा कर अथवा तूफान का सामना करते हुए नायक या नायिका के कपड़े चिथवा और उनके बालों को अस्त-व्यस्त हुआ दिखा कर वांछित वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है। इस वातावरण को यथार्थता प्रदान करने के लिए पवन-यन्त्र का

उपयोग किया जाता था ।

पवन-यन्त्र एक प्रकार का गोलाकार लकडी का ड्रम होता है, जिसके ऊपर उठी हुई लकडी की पट्टियाँ जडी रहती हैं । यह ड्रम धारक पर लगी धुरी पर आश्रित रहता है और हैंडिल से घुमाया जाता है । ड्रम के ऊपर कैन्वेस का एक टुकडा इस तरह से डाला जाता है कि उसका एक छोर तो धारक के साथ कीलों से जड़ दिया जाता है, जबकि दूसरे छोर पर कोई भारी छड या दूसरी चीज सिल दी जाती है, जिससे मच को घुमाने पर ड्रम के ऊपर लकडी की पट्टियों की कैन्वेस मे रगड हो । इस रगड मे उत्पन्न ध्वनि सम अथवा द्रुत गति-जन्य होने पर क्रमश पवन या अधड के चलने का सकेत करती है (देखें चित्र स० ११) । कैन्वेस की जगह रेशमी कपडे की पट्टी का भी प्रयोग किया जा सकता है ।

यह यन्त्र बिजली द्वारा सचालित किया जा सकता है, परन्तु हाथ द्वारा सचालित यन्त्र विद्युत्-सचालित यन्त्र की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय और सन्तोषप्रद है । टूटने पर उसे शीघ्र ही सुधारा भी जा सकता है ।

जो काम किसी युग मे मचीय व्यजना और पवन यन्त्र की सहायता से किया जा सकता था, उसे अब 'एक्झास्ट' या पेडस्टल पखे और अधड के रिकार्ड द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है । नायिका के अचल के उड़ने, बालो के बिखर कर लहराने, धूल के घूर्णित बवण्डर दिखाने आदि के लिए पखे को एक या दोनो पार्श्वों से चालू कर दिया जाता है और अभ्रक-चूर्ण या पीला पाउडर उसके सामने धीरे-धीरे छोडा जाता है ।

हिमपात भारतीय नाटको मे हिमपात अथवा हिम-झझा का वर्णन प्राय नही मिलता, क्योंकि भारत एक उष्ण देश है । लद्दाख अथवा हिमालय की पृष्ठभूमि पर लिखे जाने वाले नाटक हिन्दी मे अत्यल्प हैं । पश्चिमी देशो मे हिमपात या झझा की घटनाएँ कोई आकस्मिक बात नही, इसलिए वहाँ के उपस्थापको ने हिमपात दिखाने के कृत्रिम यन्त्रो का भी आविष्कार किया । प्रारम्भ मे मच के ऊपर बल्लियो पर या ऊपर बाँधे गये मचानो पर बैठ कर कुछ व्यक्ति कागजी बर्फ पात्रो या मच के ऊपर इस तरह छितराया करते थे कि उडते हुए कागज के टुकडे बर्फ के पहल-से लगने लगते थे । हिमयन्त्र एक प्रकार की लम्बी सन्दूक होता है, जो बल्लियो के ऊपर मच के आर-पार इस प्रकार बाँध दिया जाता है, जिससे उसे हिलाया जा सके । हिलाने से सन्दूक में बने चौकोर छिद्रो से फटे हुए कागज के टुकडे बर्फ के समान नीचे गिरने लगते हैं ।

हिम-झझा की जगह अब स-हिम दृश्य दिखाने का प्रचलन हो गया है । बर्फ से ढके पर्वतो से युक्त पृष्ठपट, हिम से लदा वृक्ष, नमक-हिम से युक्त मच-तल आदि इसके लिए पर्याप्त हैं । इस भयानक पृष्ठभूमि में नायक द्वारा यातनाओ का स्वगत सामाजिक को द्रवित किये बिना नही रह सकता । स-हिम दृश्यों मे वास्तविक बर्फ से जमी हुई झील या पोखर अथवा हिम-पदार्थ द्वारा ढके स्थलों पर एक या अनेक दम्पतियो द्वारा स्केटिंग के खेल भी दिखाये जा सकते हैं । हिम-झझा को वास्तविक रूप मे प्रदर्शित करने के लिये यह आवश्यक है कि टिसू कागज के गिरते हुए टुकडो को पार्श्व मे रखे बिजली के पखो द्वारा इस प्रकार उडाया या घूर्णित किया जाय कि कृत्रिम बर्फ प्रेक्षागार मे न जा सके । पखे की आवाज सामाजिक को न सुनाई पडे । पृष्ठभूमि मे हिम-झझा के घूर्णन की आवाज् प्रस्तुत कर दृश्य को प्राणवान् बनाया जा सकता है । दूर से या बाहर से भीतर आने वाले व्यक्ति के सिर और कन्धों पर नमक-हिम होना चाहिए, जिसे वह झाड कर नीचे गिरा दे । जूते उसके भीगे हुए हों । खिडकी पर कच्ची रुई लपेट दी जाय, जिससे दूर से यह प्रकट हो कि बर्फ चिपकी हुई है । इस प्रकार की मचीय व्यजना से हिम-झझा को यथार्थ स्वरूप ही नही प्राप्त होता, पूरा नाटक सप्राण बन जाता है ।

(३) वैज्ञानिक साधनो द्वारा मूल ध्वनियो की पुनरावृत्ति : रगदीपन के आधुनिक विकास की भाँति ही मूल मच-ध्वनियों की पुनरावृत्ति मे भी विज्ञान ने अपूर्व योग दिया है । कण्ठ द्वारा मूल ध्वनियों के अनुकरण की एक सीमा है, परन्तु ध्वनियों के वैज्ञानिक आलेखन की कोई सीमा नही है । उसका क्षेत्र निस्सीम है । कोई

भी ध्वनि ग्रामोफोन रिकार्ड, ट्रांसक्रिप्शन अथवा पतले और लम्बे टेप पर विद्युत् द्वारा अंकित की जा सकती है और उसे पुन प्रस्तुत (प्ले-बैक) किया जा सकता है। इससे मंच-ध्वनियो की पुनरावृत्ति की दशा मे अनेक संभावनाओ के द्वार खुल गये हैं।

रिकार्ड पर शिशु-रोदन, अन्धड के घुमडने की ध्वनि, मेघ-गर्जन, रेल, कार, जलयान अथवा विमान के चलने की ध्वनि, पानी के बहने का कल-कल स्वर, कुत्ते के भूकने अथवा चिडियों की चहचहाहट आदि सभी प्रकार की ध्वनियाँ अंकित की जाती है और प्रत्येक रिकार्ड के एक ओर तीन से लेकर ५–६ प्रकार तक की ध्वनियाँ अंकित रहती है। ध्वनिसंकेतकार को अपने रिकार्डों की ध्वनियो के बारे मे इतना ज्ञान रहना चाहिये कि वह उपयुक्त अवसर पर सही ध्वनि-संकेत दे सके। इसके लिये वह प्रत्येक ध्वनि का नामोल्लेख रिकार्ड के उस स्थल पर सफेदे से कर सकता है, जहाँ से उक्त ध्वनि प्रारम्भ होती है। इस प्रकार का प्रत्येक रिकार्ड लगभग ७–८ इंच व्यास का होता है और एक मिनट मे ७८ बार घूमता है। एक ओर रिकार्ड बजाने मे लगभग ३ से ३॥ मिनट लगते हैं।

ट्रांसक्रिप्शन भी एक प्रकार के रिकार्ड ही है, जो प्राय १६ इंच व्यास वाले होते हैं। ये रिकार्ड की अपेक्षा धीमी गति से अर्थात् एक मिनट मे ३३⅓ बार घूमते हैं और इन्हें एक ओर बजाने मे लगभग ५५ मिनट लगता है। लम्बे ध्वनि-संकेतो, यथा लगातार वृष्टि, अंधड, गर्जन आदि के लिये इनका उपयोग लाभकर है।

टेप पर ध्वनि अंकित करने के लिये टेपरिकार्डर का बटन दबा दिया जाता है और उसके संवेदनशील माइक को ध्वनि-स्रोत के सम्मुख कर दिया जाता है। ध्वनि के अंकित हो जाने पर टेप को खाली चलाकर पीछे कर दिया जाता है और फिर उसे बजाया जाता है। यह ध्वनि मूल ध्वनि का प्रतिरूप होती है। टेप को ३¾ या ७½ इंच प्रति सेकेण्ड के हिसाब से बजाया जा सकता है।

रिकार्डों और ट्रांसक्रिप्शनों की परिसीमा यह है कि उन पर जो ध्वनिसंकेत अंकित हैं, केवल उन्ही को प्रयोग मे लाया जा सकता है। टेप के साथ इस प्रकार की कोई परिसीमा नही है, क्योंकि उस पर मन-वांछित ध्वनि अंकित और प्रस्तुत की जा सकती है। ध्वनिसंकेत की अवधि को भी आवश्यकतानुसार नियन्त्रित किया जा सकता है।

(ख) नाटक : संप्रेषणीयता और विविध तत्त्व

रंगशाला के विविध रंगकर्मियो मे नाट्यकार का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह नाटक के विभिन्न पात्रों मे रस, भाव और सत्त्व भर कर जिस सरस मानव-कथा का निर्माण करता है, नट उसी का रंगमंच पर बार-बार अभिनय करते है। नाटक 'नट्' धातु से बना है। 'नट्' मे 'अच्' प्रत्यय लगाने से 'नट' शब्द बनता है। नट का कार्य ही नाटक है। 'नट्' का अर्थ है—अवस्पन्दन अर्थात् ईषत् चंचलता। इसीलिये सात्त्विक अभिनय-युक्त नाटक को श्रेष्ठ माना गया है। नाटक का वाङ्मय रूप साहित्य है, उसका कार्य-रूप अभिनय और मूर्त-रूप रंगमंच। अत. नाटक को रंगमंच से पृथक् नही किया जा सकता। रंग-निरपेक्ष नाटक अर्थात् कार्य-व्यापार और मूर्तिमत्ता की क्षमता से रहित कृति को नाटक नही कहा जा सकता। मूर्तिमत्ता की क्षमता से अभिप्राय है—नाटक की रंगपात्रता (स्टेजेबिलिटी) और सम्प्रेषणीयता (कम्यूनिकेबिलिटी)। रंगपात्र-नाटक वह है, जिसे रंगमंच पर अभिनीत किया जा सके और इस अर्थ मे प्रत्येक अभिनेय नाटक रंग-नाटक कहा जा सकता है। सम्प्रेषणीयता मे नाट्य-रस के सम्प्रेषण का सिद्धान्त अर्थात् सामाजिक की रसानुभूति के तीन मानसिक उपादानो का समन्वय निहित है : (१) उसकी भावना पूर्वानुभूति, संस्कार आदि के कारण अनुकार्य आश्रय की समानधर्मा बन जाती है, (२) वह अपने व्यक्तित्व का परिहार कर आश्रय के भाव अर्थात् विषयगत भाव को ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाता है, तथा (३) इसमे एक प्रकार के रस या आनन्द का बोध होता है, जो लौकिक नही है, अलौकिक है, भले ही उसे दिव्यता का परिधान न पहनाएँ। इन्ही तीनो उपादानो के समन्वय से नाटक सम्प्रेषणीय बनता है।[१०]

नाटक की सम्प्रेषणीयता को ग्रहण करने के लिये सामाजिक मे नाना गुणो का होना आवश्यक है । भरत के अनुसार सच्चरित्र, कुलीन, शान्त और विद्वान् होने के अतिरिक्त उसे पक्षपातहीन, ईमानदार, वासनाहीन, प्रौढ़ तथा नाट्यागो, वाद्यों, चारो प्रकार के अभिनयो (सात्विक, वाचिक, आंगिक और आहार्य), विविध बोलियों, कला, शिल्प, रस और भाव का ज्ञान होना चाहिये । वह नाटक के दोष-गुणों को समझे और किसी की प्रसन्नता, शोक और दुःख से तदनुसार प्रभावित हो ।[10] किन्तु इतने गुणों का किसी एक सामान्य व्यक्ति मे सन्निवेश सम्भव नही है, अत. किसी भी ऐसे व्यक्ति को सामाजिक माना जा सकता है, जिसे किसी भी वस्त्र, वृत्ति, पाठ्य या कार्य मे रुचि हो और उसमे वह आत्मीयता का सुख अनुभव करे ।[11] ऐसे सामाजिक सर्वत्र मिलेंगे, जिन्हें किसी-न-किसी वस्त्रादि मे रुचि हो । किन्तु नाटक की सम्प्रेषणीयता का प्रभाव सामाजिक पर पड़े, इसके लिए यह आवश्यक है कि नटों (पात्रो) का नाट्य भी प्राकृत एव यथार्थ हो अर्थात् नटो मे भी विभावादि के द्वारा रस की निष्पत्ति होनी चाहिए ।

रस की निष्पत्ति नाटक मे शब्द, कार्य (अभिनय) एव सात्त्विक भावो के आश्रय द्वारा विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव के सयोग से होती है ।[12] रस भारतीय दृश्यकाव्य (नाटक) के तीन भेदको (तत्वो)–वस्तु, नेता और रस–मे से एक है । भरत ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत नामक केवल ८ रसो की स्थिति मानी है ।[13] परवर्ती आचार्यों ने शान्त की नवे रस के रूप मे गणना की है, यद्यपि धनजय शान्त रस की स्थिति नही मानते । वे भरत की भाँति आठ स्थाई भावो[14] के अनुरूप ८ ही रस मानते हैं । धनिक ने भी अपनी अवलोक-वृत्ति मे शान्त को नवाँ रस इसलिए नही माना है कि यह आचार्य भरत के मत के विरुद्ध है, राग-द्वेष का उच्छेदन सम्भव न होने मे शान्त रस परिपुष्ट नही होता और शम नामक स्थायी भाव कोई पृथक् भाव न होकर वीर, वीभत्स आदि रसो के अन्तर्गत ही भावित किया जा सकता है, परन्तु अभिनवगुप्त ने 'निर्वेद' को स्थायी भाव मान कर शान्त रस की स्थिति मानी और उसे भी नाट्यरसो मे परिगणित किया है । निर्वेद का तात्पर्य भी शम से ही लिया गया है । शारदातनय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र[15] भी इसी मत के समर्थक हैं ।

आगे चलकर 'स्फुट चमत्कारितया वत्सलञ्च रस विदु' (साहित्यदर्पण)[16] कहकर विश्वनाथ ने वत्सल या वात्सल्य नामक दसवें रस की स्थिति स्वीकार की । इसका स्थायी भाव 'स्नेह' है, जो तरुण-तरुणी के रति स्थायी भाव से सर्वथा पृथक् है । बाद के आचार्यों ने भक्ति, प्रेयस, श्रद्धा आदि अनेक रस भी माने हैं, किन्तु भक्ति को छोड़कर किसी अन्य रस को मान्यता नही प्राप्त हुई । भक्ति रस का अन्तर्भाव शृंगार और शान्त रसों में ही हो जाता है, अत अलग से उसे ११वाँ रस मानने की आवश्यकता नही प्रतीत होती । इस प्रकार शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य रस के क्रमशः दस स्थायी भाव हैं . रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम और स्नेह । इसके अतिरिक्त तैंतीस संचारी (व्यभिचारी) भाव हैं— निर्वेद, ग्लानि, शका, श्रम, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मोह, मति, आलस्य, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, उत्सुकता और चपलता तथा आठ सात्विक भाव है : स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु और वैस्वर्य । सात्विक भाव आश्रय के विकार होने के कारण अनुभाव ही है, परन्तु 'सत्व' (मन) से उत्पन्न होने के कारण उन्हें भी भाव की संज्ञा दी गई है ।

रस के विभिन्न अवयवो के विवेचन मे आश्रय को रस का उपभोक्ता या आस्वादकर्ता माना गया है । सामाजिक आश्रय के भावो आदि का ही समानधर्मा बनकर रसानुभूति करता है, अतः आश्रय के आलम्बन, अनुभाव आदि उसके भी आलम्बन, अनुभाव आदि बन जाते हैं । आश्रय के लिये आलम्बन मचस्थ कोई भी नायक या नायिका, दोनो एक साथ आलम्बन बन जाते हैं । आलम्बन चाहे नायक हो या नायिका, सामाजिक आश्रय बन

कर प्रत्येक दशा मे रस का आस्वादकर्ता होता है। सामाजिक को रस का आस्वाद नाटकीय सम्प्रेषणीयता के जिन विभिन्न उपादानो द्वारा प्राप्त होता है, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। रस-सिद्धान्त भारतीय नाट्यशास्त्र की विशेष देन है, क्योकि पश्चिमी नाट्य-विधान मे रसो का इतना सूक्ष्म विवेचन नही उपलब्ध होता।

रस के अतिरिक्त नाटक के दो अन्य भेदक है · *वस्तु और नेता।* वस्तु दो प्रकार की होती है : *आधिकारिक और प्रासगिक।* आधिकारिक वस्तु नायक के 'अधिकार' (फलागम के पात्रत्व) मे सम्बन्धित मूल कथावस्तु होती है और प्रासगिक वस्तु गौण। प्रासगिक वस्तु के दो भेद हैं पताका और प्रकरी। अनुबन्ध-सहित तथा नाटक मे दूर तक चलने वाली उपकथा 'पताका' कहलाती है और केवल एक प्रदेश तक सीमित रहने वाली उपकथा 'प्रकरी'। स्वरूप की दृष्टि मे वस्तु के पुन तीन प्रकार बताये गये है प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। प्रख्यात इतिहास, पुराण आदि से ली जाती है, उत्पाद्य कवि-कल्पना-प्रसूत होती है और मिश्र वस्तु मे इतिहासादि और कल्पना का समन्वय होता है। वस्तु-प्रकरण मे बडे विस्तार के साथ बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य, इन पाँच अर्थ-प्रकृतियो, इन्ही के लगभग समानान्तर आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम, इन पाच कार्यावस्थाओं तथा इन दोनो को जोडने वाली पाँच सधियो–मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसहार–का वर्णन किया गया है। इन सधियो के ६४ अङ्ग (सध्यग)* माने गये है। सस्कृतरूपक के प्रथम दो भेदो—नाटक और प्रकरण को छोडकर अन्यत्र इन सभी सधियो और सध्यगो का निर्वाह आवश्यक नही है।

* चौंसठ सध्यग ये है (१) उपक्षेप (बीज अर्थात् इतिवृत्त की प्रथम सूचना), (२) परिकर (बीज का विस्तार), (३) परिन्यास (बीज की निष्पत्ति अर्थात् कथ्य का निश्चय के रूप मे कथन), (४) विलोभन या गुण-कथन, (५) युक्ति (उद्देश्य या प्रयोजन का सम्यक् निर्णय), (६) प्राप्ति-(सुख की उपलब्धि), (७) समाधान (बीज को नायक या नायिका के अनुकूल प्रस्तुत करना), (८) विधान (सुख-दु ख के कारणो का प्रस्तुत होना), (९) परिभव या परिभावना (किसी विस्मयकारी दृश्य को देखकर कौतूहल व्यक्त करना), (१०) उद्भेद (बीज का उद्घाटन), (११) कारण (*प्रस्तुत अर्थ का प्रारम्भ*), (१२) भेद (प्रोत्साहन देना), (१३) *विलास*, (१४) परिसर्प (खोई या नष्ट हुई वस्तु की खोज), (१५) विधूत (सुखद वस्तुओ की उपेक्षा), (१६) शम (विधूत की भावना का लोप), (१७) नर्म (परिहास), (१८) द्युति या नर्मद्युति (परिहास से उत्पन्न आनन्द), (१९) प्रगमन (उत्तर-प्रत्युत्तर), (२०) निरोह (हितकर या वाछित वस्तु की उपलब्धि मे बाधा), (२१) पर्युपासन (मनुहार), (२२) पुष्प (विशेष अनुराग उत्पन्न करने वाली उक्तियाँ), (२३) उपन्यास (युक्तियुक्त उक्ति), (२४) वज्र (निष्ठुर उक्ति), (२५) वर्ण-सहार (चारो वर्णों का सम्मिलन), (२६) अभूताहरण (कपट-उक्ति), (२७) मार्ग (सत्योक्ति), (२८) रूप (वितर्क करना), (२९) उदाहरण (उत्कर्षयुक्त उक्ति), (३०) क्रम (अभिलषित की प्राप्ति), (३१) सग्रह (साम-दाम-युक्त उक्ति), (३२) अनुमान, (३३) अधिबल (धोखा), (३४) त्रोटक (क्रुद्ध वचन), (३५) उद्वेग (शत्रु-भय), (३६) सभ्रम (शका और त्रास), (३७) आक्षेप (गर्भ-स्थित बीज का स्पष्ट होना), (३८) अपवाद (दोष का फैलना), (३९) सम्फेट (दोष-भरी उक्ति), (४०) विद्रव (वध, बन्धन आदि), (४१) द्रव (गुरुजनों की अवमानना), (४२) शक्ति (विरोध का शमन), (४३) *द्युति (डाँटना-फटकारना)*, (४४) प्रसग (गुरुजनों का गुणगान), (४५) छलन (अपमान की अनुभूति), (४६) व्यवसाय (अपनी शक्ति का कथन), (४७) विरोधन (कार्य मे विघ्न का ज्ञापन), (४८) प्ररोचना (सफलता के लक्षण देखकर भावी का अनुमान), (४९) विचलन (डींग हाँकना), (५०) आदान (अर्थ का साधन), (५१) सधि (बीज डालना), (५२) विबोध (कार्य का अनुसंधान), (५३) ग्रथन (कार्य की चर्चा), (५४) निर्णय (अनुभव-कथन),

इन मन्ध्यगो का अन्तिम अग 'प्रशस्ति' भारतीय रूपक की वस्तु का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है। इसके द्वारा कल्याण की कामना की जाती है। इसी को 'भरतवाक्य' कहा जाता है। इसी प्रशस्ति और फलागम के सिद्धान्त की मान्यता के कारण प्राचीन भारतीय नाटक का अन्त सदैव सुखान्त रहा है। फलागम के सिद्धान्त मे यह भाव निहित है कि अन्त मे नायक को फल के रूप मे विजय और / या नायिका प्राप्त हो।

धनजय ने उपर्युक्त विभाजनो मे पृथक् वस्तु का पुन दो प्रकार का विभाजन किया है . दृश्य तथा सूच्य।[११५] वस्तु के रस और भाव से पूर्ण जो अश मच पर दर्शनीय है, वे दृश्य और जो अश नीरस और मच पर दिखाये जाने योग्य नही होते, वे सूच्य कहलाते हैं।[११६] सूच्य वस्तु की सूचना पाँच अर्थोपक्षेपको–विष्कभक, चूलिका, अकास्य, अकावतार और प्रवेशक द्वारा दी जाती है।[११७] अर्थोपक्षेपक का अर्थ है कथावस्तु का सूचक। रगमच की दृष्टि से सूच्य सामग्री का अधिक महत्त्व न होने के कारण विष्कभक आदि अर्थोपक्षेपक नाटक मे नियमित अक के अगभूत नही माने जाते। यही कारण है कि आज-कल भी दृश्य वस्तु वाले नाटक रगमच पर अधिक सफल होते हैं।

सस्कृत नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत वस्तु-वर्णन की एक विशेषता है कि आचार्यों ने वस्तु के अन्तर्गत ही सवाद तत्त्व का भी विवेचन किया है। यह सवाद तीन प्रकार का माना गया है—सर्वश्राव्य, नियत श्राव्य और अश्राव्य। सर्वश्राव्य सवाद सब के सुनने योग्य, नियतश्राव्य कुछ निश्चित लोगो के सुनने योग्य और अश्राव्य किसी भी पात्र के सुनने योग्य नही होता। सर्वश्राव्य को 'प्रकाश' और अश्राव्य को 'स्वगत' कथन कहते हैं। नियतश्राव्य का प्रयोग पश्चिमी नाट्य-विधान मे नही पाया जाता।

इसी प्रसग मे 'आकाशभाषित' नामक एक अन्य प्रकार के सवाद का भी वर्णन आया है। 'किं ब्रवीमि' अथवा 'क्या कहा' कह कर एक ही पात्र किसी कल्पित पात्र से वार्ता करता है। सवाद की इस शैली का प्रयोग रूपक के एक भेद–भाण मे होता है, किन्तु पश्चिम के कथोपकथन मे नियतश्राव्य की भाँति इस शैली का भी उपयोग नही होता।

सवाद-तत्त्व के निरूपण के सन्दर्भ मे भरत ने नाट्य-शब्दावली से सम्बन्धित सत्रहवें अध्याय मे नाटक के छत्तीस लक्षणो, चार अलकारो (उपमा, दीपक, रूपक और यमक), नाटक के गुण-दोषो आदि का और भाषा-प्रयोग के नियम से सम्बन्धित अठारहवें अध्याय मे देश–पात्रानुसार भाषा के सिद्धान्त का बडे विस्तार से विवेचन किया है। एक पात्र अपने से बडे, छोटे या समवयस्क व्यक्ति को किस प्रकार सम्बोधित करेगा, इसका वर्णन नाट्यशास्त्र के उन्नीसवे अध्याय मे किया गया है। सवाद के इन तत्त्वो का सम्बन्ध मुख्यत: वाचिक अभिनय से है, अत: इनका विस्तृत विवरण इसी अध्याय मे वाचिक अभिनय के अन्तर्गत दिया गया है।

नेता भेदक के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद, नायक के साथी और नायिका की सखियाँ, प्रतिनायक और उसके साथी सभी आ जाते हैं। आगे चल कर नायक-नायिका-भेद रूढ हो गये और इसके कारण उनकी चरित्रगत विशेषताओ एव गुणो मे कोई व्यक्ति-वैचित्र्य नही दिखलाई पडता। सक्षेप मे, उन्हें अपने वर्ग का प्रतिनिधि या 'टाइप' कहा जा सकता है। जो भी हो, नायिका-भेद के द्वारा नाट्यशास्त्र ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मे नारी के विभिन्न स्वरूपो का बडा मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

(पिछले पृष्ठ का शेषाश)

(५५) परिभाषण (अपने अपराधो का कथन), (५६) प्रसाद (कह या करके प्रसन्न करना), (५७) आनन्द (वाछित अर्थ की प्राप्ति), (५८) समय (दु:ख का दूर होना), (५९) धृति (अर्थ-प्राप्ति द्वारा शोक का अपसरण), (६०) भाषण (प्रतिष्ठा, यश आदि की प्राप्ति), (६१) पूर्वभाव (कार्य का दिग्दर्शन), (६२) उपगूहन (अद्भुत वस्तु की प्राप्ति), (६३) काव्यसहार (वर-प्राप्ति) तथा (६४) प्रशस्ति (आशीर्वाद)।

यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि अभी तक जिस अर्थ में 'नाटक' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह वास्तव में संस्कृत 'रूपक' का एक भेद है। रूपक दृश्य काव्य के दो भेदों में से एक है और उसका दूसरा भेद है–उपरूपक। रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद किये गये हैं। रूपक के दस भेद ये हैं : नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी एवं प्रहसन।[१८] उपरूपक के अठारह भेद ये हैं : नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी (प्रकरणिका), हल्लीश और भाणिका।

भरत ने रूपक के केवल दस प्रकारों का ही वर्णन किया है। धनंजय ने इन दस भेदों के साथ उपरूपक के भेद नाटिका का लक्षण भी अपने 'दशरूपक' में दिया है।[१९] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाटिका और प्रकरणी सहित रूपक के १२ भेद माने हैं[२०] और 'नाट्यदर्पण' के अन्त में रूपक के तेरह अन्य भेदों–सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, शम्या, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाण और भाणिका का उल्लेख किया है।[२१] ये तेरह अन्य भेद वास्तव में उपरूपक के भेद हैं। अन्य भेदों का 'भाण' रूपक के प्रथम बारह भेदों के 'भाण' से विषय और रचनाशिल्प की दृष्टि से एक पृथक् प्रकार का रूपक है। इसके अनन्तर विश्वनाथ के समय में उपरूपकों की संख्या बढ़ कर अठारह हो गई, जिसमें नाटिका और प्रकरणी भी सम्मिलित कर लिये गये, किन्तु इस सूची में दुर्मिलिता और शम्या के नाम नहीं हैं। विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में जिन अठारह उपरूपकों का उल्लेख किया है, उनकी सूची उपरूपकों के भेद बताते हुए ऊपर दी जा चुकी है।

रूपक के समस्त भेदों में नाटक प्रधान है। इसी में वस्तु, नेता और रस का अन्तर कर देने से प्रकरण, भाण आदि रूपकों की सृष्टि होती है। क्रमशः नाटक ने इतनी प्रधानता प्राप्त कर ली कि अब 'रूपक' की जगह 'नाटक' शब्द का ही व्यवहार होने लगा है। इसी के अन्तर्गत अब रूपक-उपरूपक के समस्त भेद निहित हो गये हैं। 'रूपक' शब्द का अर्थ-संकोच होने से उसका प्रयोग अब रंग-रूपक (वाच्यार्थ से पृथक् ध्वन्यार्थ वाले नाटक, जिसके पात्र भावना, विचार या किसी अन्य अमूर्त पदार्थ के प्रतीक होते हैं) अथवा आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले ध्वनिरूपक और संगीतरूपक आदि तक ही सीमित होकर रह गया है। नाटक को यह क्षेत्र-विस्तार उसके अंग्रेजी के 'ड्रामा' शब्द का समानधर्मी होने के कारण कालान्तर में प्राप्त हुआ प्रतीत होता है।

आधुनिक नाटक शास्त्रीय रूपक का पर्याय होते हुए भी विषय-वस्तु की नवीनता और विविधता, संवाद, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से रूपक या उसके भेद नाटक से बहुत भिन्न है। आधुनिक नाटक की विषय-सामग्री इतिहास-पुराण के अतिरिक्त समाज, राजनीति या विज्ञान के किसी भी क्षेत्र से चुनी जा सकती है। उसका नायक संभ्रान्त नागरिक से लेकर किसान-मजदूर तक कोई भी बन सकता है। रस की दृष्टि से नाटक में शृंगार, हास्य, करुण, अद्भुत, भयानक आदि किसी भी एक या अधिक रस का प्रयोग हो सकता है, किन्तु भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार उसका सांगोपांग सन्निवेश सम्भव नहीं है, क्योंकि पश्चिम के नाट्याचार्यों एवं नाटककारों ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है।

आधुनिक नाटक की भाषा-शैली में भी काफी परिवर्तन हुआ है। संस्कृत की अलंकृत एवं काव्यमय ललित पदावली की जगह अब सरल, बोधगम्य, ओजपूर्ण एवं प्रवाहयुक्त भाषा का प्रयोग होता है। वाक्य छोटे और सुगठित होते हैं, किन्तु प्राचीन आचार्यों की मान्यता के अनुसार देश-पात्रानुसार परिवर्तनशील भाषा के सिद्धान्त को आज भी वही मान्यता प्राप्त है। जातीय, ग्रामीण अथवा निम्न श्रेणी के पात्रों के संवादों पर आजकल प्रायः प्रादेशिक, ग्राम्य अथवा आंचलिक भाषा का प्रभाव रहता है। पद्य या गीतों का आज के गद्य-नाटकों से बिल्कुल बहिष्कार कर दिया गया है, किन्तु गीति-नाट्य या संगीत-रूपक इसके अपवाद हैं। नाटकों में गद्य का बढ़ता हुआ उपयोग उसकी शक्ति, विकास और प्रगति का परिचायक है।

आधुनिक नाटक के, प्राचीन नाटक के तीन तत्त्वो-वस्तु, नेता और रस-की जगह अब, छ तत्त्व माने जाते हैं : वस्तु, मवाद, चरित्र-चित्रण भाषा-शैली, दृश्य-योजना (देश-काल) और उद्देश्य ।

मक्षेप मे, प्राचीन नाटक प्रवृत्तिमूलक है, जिसका लक्ष्य फलागम सिद्धान्त के अनुसार नायक की विजय और उसके द्वारा नायिका की उपलब्धि है, जबकि आधुनिक नाटक विरोधमूलक है और उसका लक्ष्य है–करुणा और भय की भावनाओ को जगा कर मानसिक मवेगो का परिशोधन (कैथार्सिस)। यही कारण है कि प्राचीन नाटक मूलत सुखान्त है, जबकि आधुनिक नाटक मुख्यत दु खान्त । पश्चिम का सुखान्तकी (कॉमिडी) एक हीन कोटि की रचना हे और सिद्धान्तत वह भारतीय प्रहसन के अधिक निकट है, क्योकि उसमे चरित्रगत विकृति, ईर्ष्या-द्वेष, अहकार और जीवन की विद्रूपता की हँसी उडाई जाती है। भारतीय प्रहसन मे भी पाखडी, धूर्त, अहकारी या विकृत व्यक्तियो को पात्र बना कर हँसने की चेष्टा की जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय सुखान्त नाटक पश्चिमी सुखान्तकी का अनिवार्यत पर्याय नही, वरन् तात्त्विक अन्तर के बावजूद दु खान्तकी की कोटि की एक गभीर रचना है।

(ग) अभिनय के विविध प्रकार

अभिनय नाटक और रगमच का एक अपरिहार्य उपादान है, जिसके बिना न तो नाटक की पार्थिव अभिव्यक्ति एव व्याख्या मभव है और न रगमच की प्राण-प्रतिष्ठा ही इसके अभाव मे हो सकती है। प्राचीन भारतीय अभिनय-पद्धति और आधुनिक अभिनय मे कोई मूलभूत अन्तर नही है, किन्तु समय के साथ उसके सैद्धान्तिक आधार बदलते रहे है। आज हम कुछ रूढ नृत्य-नाट्यो को छोड कर भरतानुमोदित भाव-मुद्राओ का आग्रह नही देखते। आधुनिक नृत्य-नाट्यो मे भरतनाट्यम् के अतिरिक्त मणिपुरी, कत्थक, कथकली आदि अनेक नृत्य-पद्धतियो का सम्मिश्रण रहता है। इसी प्रकार आधुनिक नाट्याभिनय भी पाश्चात्य अभिनय-पद्धति से प्रभावित है, जो शेक्सपियर-कालीन कृत्रिम एव पारम्परिक अभिनय से लेकर, मोलियर और स्टैनिस्लावस्की के स्वाभाविक एवं यथार्थवादी अभिनय तक सक्रमण की कई अवस्थाएँ पार कर चुका है। भरत मुनि ने अभिनय को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिए नाट्यधर्मी (पारपरिक) अभिनय के साथ लोकधर्मी (यथार्थवादी) अभिनय का भी विधान किया है, जो उनकी *सर्व-व्यापी दृष्टि का सूचक है*। नाट्यधर्मी अभिनय का भरत ने जैसा सर्वाङ्गपूर्ण और सूक्ष्म-विवेचन किया है, उसे देख कर दावे के साथ कहा जा सकता है कि वह आधुनिक अभिनय-पद्धति से किसी भी प्रकार पीछे नही है।

(एक) भारत की प्राचीन अभिनय-पद्धति भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे नाट्यवेद या नाटक के चार अग बताये है–पाठ्य (कथावस्तु एव सवाद), अभिनय, गीत और रस। इन अगो को उन्होंने क्रमश ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद से लिया।[१११] इस प्रकार अभिनय नाटक का एक अग है, जो पाठ्य के बाद सबसे *महत्त्वपूर्ण है। 'अभिनय' का शाब्दिक अर्थ है–अभि–आभिमुख्येन नय*–नयन अर्थात् रगस्थल मे कथा-पात्रो का अनुकरण-कौशल द्वारा उपस्थापन यही अभिनय है। भरत मुनि ने भी अभिनय की लगभग ऐसी ही व्याख्या की है · अभि+नि+अय अर्थात् नाटककार के मुख्याशय के सम्प्रेषण के लिये प्रयोग करना ही अभिनय है।[११२] इस प्रयोग मे शाखा (आगिक अभिनय), अग (हाथ, पैर, सिर, वक्ष, कटि आदि के द्वारा अभिव्यक्ति) तथा उपांग (नेत्र, भ्रू, नासिका, ओठ आदि के स्फुरण द्वारा अभिव्यक्ति) तीनो का उपयोग किया जाता है, जिससे मुख्याशय का सामाजिक को भावन हो सके।[११३]

इस अभिनय को नाट्य या नाटक की कोटि मे लाने के लिये 'वाक्यार्थमय' होना आवश्यक है अर्थात् इस प्रकार के अभिनय मे वाक्यार्थ की, रस की प्रतीति होनी चाहिए। धनजय ने शुद्ध नाट्य को रसाश्रित माना है। अभिनय की इस कोटि मे वाचिक और सात्त्विक अभिनय अर्थात् संवाद और उसके अर्थ का प्रदर्शन या व्याख्या

सन्निहित हैं। अभिनय की दूसरी कोटि मे आगिक अभिनय की प्रधानता पाई जाती है। पदार्थरूप भावाश्रय नृत्य इसी कोटि का अभिनय है।

'नृत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'गात्रविक्षेप'। इसके विपरीत 'नाट्य' की उत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'अवस्पन्दन' या ईषत् चचलना। अत नृत्य मे आगिक और नाट्य मे सात्विक अभिनय की प्रधानता रहती है।

नृत्य और नाट्य मे मुख्य अन्तर दृश्यता और श्रव्यता का है। नृत्य मे सवाद का अभाव रहता है और केवल शब्दार्थ का अभिनय कर भाव-प्रदर्शन किया जाता है, अत वह श्रव्य नही होता, केवल दृश्य या प्रेक्षणीय होता है। दूसरा अन्तर यह है कि नाट्य-कला-विशारद को 'नट' कहते हैं और 'नृत्य-कला-विशारद' को 'नर्तक'।

इन दो प्रकार के शास्त्रीय अभिनयो के अलावा एक तीसरी कोटि का अभिनय भी है, जिसे प्राचीन आचार्य, अनुकरण तत्त्व के अभाव मे, अभिनय नही मानते। इसे 'नृत्त' (देशी) कहते है। 'नृत्त' अगहारो (अगो के चालन) मे सयुक्त और करणो (नृत्य मे हाथो और पैरो के सयुक्त चालन) पर आधारित होता है।[¹] लोकनृत्त या लोकनृत्य इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। इसमे ताल-लय का आश्रय लिया जाता है। यह केवल अगविक्षेप पर आधारित है।

इस प्रकार नाट्य, नृत्य और नृत्त, तीनो एक-दूसरे से पृथक् है। 'नाट्य' मे आगिक अभिनय के अतिरिक्त वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय भी पाये जाते है, जबकि 'नृत्य' मे केवल आगिक अभिनय होता है और 'नृत्त' मे प्राचीन आचार्यों द्वारा कोरा अग-विक्षेप होने के कारण किसी भी प्रकार के अभिनय की स्थिति स्वीकार नही की गई है। यदि उसे 'अभिनय' की सज्ञा दी भी जाती है, तो वह अत्यन्त निम्न कोटि का होगा, जिसके लिये शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता नही है। नृत्य और नृत्त दोनो ही नाटक के उपकारक माने गये है, क्योंकि पदार्थाभिनय के रूप मे भावाश्रित नृत्य का और सौन्दर्य एव शोभा के लिए नृत्त का प्रयोग किया जाता है।[¹]

इस दृष्टि से अभिनय के चार प्रकार ठहरते है—आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। इन चारो प्रकारो के अभिनयो का भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे तथा अन्य आचार्यों ने भी उनका विस्तार से वर्णन किया है।

आंगिक अभिनय आगिक अभिनय तीन प्रकार का होता है—शारीरज, मुखज और चेष्टाकृत, जिसमे शाखा (शरीर-यष्टि), अगो (शिर, हाथ, उर, पार्श्व, कटि और पैर) तथा उपागो (नेत्र, भ्रू, नाक, अधर, कपोल और चिबुक) का सचालन सम्मिलित है।[¹⁶] इनका उपयोग आन्तरिक भावो के प्रदर्शन के लिए किया जाता है। प्रत्येक मानसिक विकार प्रतिफलित होकर शरीर, शिर आदि अगो अथवा नेत्रादि उपागो मे से किसी एक या कई अगो या उपागो को प्रभावित करता है, जिससे स्थायी और सचारी भावो के प्रकाशन से रस की निष्पत्ति होती है। एक प्रकार से प्रत्येक बाह्य चेष्टा, मुद्रा या गति प्राय आन्तरिक भाव-विकार की अनुवर्तिनी होती है। आधुनिक सभ्यता बाह्य चेष्टाओं को छिपाने और दबाने पर अधिक बल देती है, *यथा सभ्य समाज मे खिलखिला कर हँसना असभ्यता का* प्रतीक समझा जाता है। इसी प्रकार रोना अथवा रोष व्यक्त करना भी सभ्य समाज के नियमो के अनुकूल नही है। परन्तु नाट्याभिनय मे इस प्रकार की चेष्टागत अभिव्यक्ति के बिना काम नही चल सकता। देखा जाय तो सामान्य एव अकृत्रिम जीवन मे मनुष्य प्राय अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्वाभाविक आगिक क्रियाओं का सहारा लेता है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियो ने भी आगिक अभिनय के महत्त्व को स्वीकार किया है, परन्तु उनका वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र की तुलना मे बहुत सक्षिप्त और स्थूल है।

समस्त अगो का सचालन मस्तिष्क के आदेश पर मास-पेशियो तथा स्नायुओं के सकोचन, विस्तार, विक्षोभ

आदि पर निर्भर करता है और इस सचलन की अपनी गति, अपनी लय होती है, जिससे विविध भावो का उतार-चढाव व्यजित होता है। सचालन की गति और लय मे अन्तर से भावो की तीव्रता और अर्थ मे भी परिवर्तन हो जाता है। साधारण प्रेम मे पैरो की गति ललित और अन्य अग सौन्दर्य और विमोहन की अभिव्यक्ति करते हैं, परन्तु गुप्त प्रेम की दशा मे गति स्थिर तथा मद होती है और जरा-सी भी आहट से शरीर मे प्रकप, आँखो मे भय और आशका और गति मे लडखडाहट उत्पन्न हो जाती है।[१०८]

भरत ने आगिक अभिनय के अन्तर्गत अगो और उपागो की विविध चेष्टाओं और कार्य-व्यापारो का विस्तृत अनुशीलन कर भावानुक्रम से उनका सूक्ष्म वर्गीकरण किया है, जो उनकी विस्तृत अनुभूति और वैज्ञानिक अध्ययन का द्योतक है। यह वर्गीकरण मुख्य रूप से नृत्य-दृष्टि से किया गया है, परन्तु इसमे उनकी नाट्य-दृष्टि भी स्पष्ट बनी हुई है। इन विविध वर्गीकृत चेष्टाओ एव मुद्राओ का उपयोग नृत्य-नाटिकाओ मे भली-भाँति किया जा सकता है। नृत्य की दृष्टि से मुद्राएँ प्राय प्रतीक रूप मे ग्रहण की गई हैं। हाथ की अधिकाश चेष्टाएँ प्राय प्रतीकार्थ की ही व्यजना करती हैं।

आगिक अभिनय के अन्तर्गत शिर, हाथ, उर, पार्श्व, कटि और पैर इन छ अगो तथा नेत्रादि छ उपागों की चेष्टाओ एव मुद्राओ के विस्तृत वर्णन के साथ ही मुख तथा ग्रीवा की भी विविध चेष्टाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।[१०९] मृत्यु के अभिनय मे स्वर के कप एव स्खलन आदि के वाचिक अभिनय के साथ भरत ने हिचकी, साँस लेने मे कठिनाई और शिथिल अग, विष-पान से मृत्यु की दशा मे शरीर मे कम्प, तडपन, झाग छोडने, जलन, ग्रीवा-भग, जडता आदि का बडा सूक्ष्म वर्णन किया है। ध्वनि-सकेतार्थवलगम की घरघराहट, हिचकी आदि के प्रदर्शन की आवश्यकता भी बताई गई है।[११०] इस चित्राभिनय मे वाचिक अभिनय के साथ आगिक अभिनय का भी समावेश है।

आगिक अभिनय के अन्तर्गत ही भरत ने गति-प्रचार (चाल के प्रकार) का भी सूक्ष्म वर्णन किया है।[१११] इसमे विविध पात्रो की कोटि, विविध रसो मनोदशाओ और अवस्थाओ के अनुरूप अग, उपाग और शाखा की चेष्टाओ एव गति का सागोपाग वर्णन किया गया है। भरत ने राजाओ, मत्रियों, श्रेष्ठियों, यतियों और श्रमणों की चाल के साथ अँधेरे मे चलने, अन्धे व्यक्ति के टटोल कर चलने, रथ पर चढने, क्षीणकाय, व्याधिग्रस्त और थके व्यक्ति के चलने, मद्यप एव पागल, विकलाग एव बौने की चाल आदि का विशद विवेचन किया है। आकाश मे उडने, प्रासाद, पर्वत या वृक्ष पर चढने और उतरने, नौका-यात्रा, घुडसवारी, सर्प की चाल, युवतियों, वृद्धाओं, बालकों, कबाइली स्त्रियो की चाल आदि का वर्णन भी बडा सूक्ष्म एव चित्रोपम है। नाट्योपस्थापन एव अभिनय की दृष्टि से दो-एक दृष्टान्त पर्याप्त होंगे।

मूसलाधार जल-वृष्टि और शीत के समय स्त्रियाँ और *सामान्य लोग प्राय कम्पन का अनुभव कर* अपने अगो को सिकोड लेते है, हाथो से वक्ष को दबा लेते है, शरीर झुक जाता है और दन्त-वीणा बजने लगती है, ओंठ स्फुरित होने और चिबुक उठने-गिरने लगता है और गति धीमी हो जाती है।[११२]

नदी पार करने के अभिनय मे गति जल की गहराई के अनुसार होनी चाहिए अर्थात् कम जल होने पर वस्त्रो को ऊपर उठाना चाहिए, किन्तु गहरे जल के अभिनय के लिये आगे की ओर किंचित् झुक कर हाथो को बाहर की ओर फेकना चाहिए।[११३] इसके अतिरिक्त बैठने और लेटने की विविध मुद्राओ का भी वर्णन किया गया है।

गति-प्रचार के वर्णन मे भरत की दृष्टि नृत्याभिनय की ओर ही प्रमुख है। उनका नाट्याभिनय मे सीमित प्रयोग ही किया जा सकता है।

वाचिक अभिनय : वाचिक अभिनय के अन्तर्गत पात्रानुकूल भाषा, सवादो की वाक्य-सरचना, नाटकीय

संवाद के लक्षणों, नाटक के गुण-दोषों, उच्चारण, संबोधन के विभिन्न तरीकों, पात्रों के नामकरण आदि पर विचार किया गया है। इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि भाषा पात्र की सामाजिक अथवा राजनैतिक प्रतिष्ठा के अनुकूल हो। भरत के युग में संस्कृत का प्रयोग प्रायः राजवंश के नायकों, ब्राह्मणों, वेदपाठी मुनियों, परिव्राजकों, देवताओं, श्रोत्रियों आदि के लिए स्वीकृत था।[१४] महारानी, राजकन्याओं, मंत्रियों की कन्याओं, अप्सराओं और वेश्याओं, तथा स्त्री-कलाकारों को भी संस्कृत भाषा में बोलने का अधिकार प्राप्त था,[१५] परन्तु सामान्य स्त्रियों, बच्चों, पागलों आदि के लिए प्राकृत में ही बोलने का विधान था।[१६] इसी प्रकार नायिकाओं और उनकी सखियों को शौरसेनी प्राकृत, अन्तःपुर के रक्षकों को मागधी, राजकुमारों और श्रेष्ठियों के लिए अर्ध-मागधी, सैनिकों, जुआड़ियों, शिकारियों, लकड़हारों वनवासियों, आदि को दाक्षिणात्या, शबरी, चाण्डाली, द्राविड़ी, ओड्री आदि विभाषाएँ बोलने का निर्देश किया गया था।[१७]

'*साहित्य-दर्पण*' में विश्वनाथ ने '*यद्देश्य नीचपात्रं तु तद्देश्य तस्य भाषितम्*' कह कर देशानुकूल भाषा को और 'कार्यतश्चोत्तमादीना कार्यो भाषाविपर्यय' कह कर पात्रानुकूल भाषा को मान्यता प्रदान की है।[१८] कहना न होगा कि सभी उत्तम और अभिनेय नाटकों में देश और पात्र के अनुसार भाषा का प्रयोग मिलता है, परन्तु इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि नाटक विविध भाषाओं-विभाषाओं की प्रदर्शिनी बन कर न रह जाय और न भाषा आदि की इस विविधता के कारण सामाजिकों के रस-बोध में बाधा उत्पन्न हो।

वाचिक अभिनय में वाक्य-संरचना का बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इन वाक्यों के बलाघात, स्वर-लय (पिच) आदि के द्वारा ही भावों और विचारों को सामाजिक के लिए प्रेषणीय बनाया जाता है। इसलिए यह अपेक्षित है कि वाक्य-संरचना व्याकरण-सम्मत, लक्षण-एवं-गुण-युक्त हो, परन्तु कभी-कभी वाक्य के कुछ शब्द ही पूरे वाक्यार्थ की प्रभावी व्यंजना कर देते हैं। इसी प्रकार एक ही भाव या विचार को कई छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा भी स्पष्ट बनाया जाता है, परन्तु प्रत्येक वाक्य उत्तरोत्तर उक्त भाव या विचार को तीव्रतर बनाता है, जिससे उसकी प्रेषणीयता बढ़ जाती है।

सामान्य वाक्य की अपेक्षा अलंकृत वाक्य अधिक प्रभावशाली होता है। इसी दृष्टि से भरत ने संवादों के प्रसंग में छत्तीस नाट्य-लक्षणों का उल्लेख किया है।[१९] ये लक्षण नाटक को सौन्दर्य प्रदान करते हैं, अतः भरत ने रसों के अनुसार उनके उपयोग का आदेश दिया है।[२०] नाटकों में लक्षणयुक्त वाक्यों से उनकी प्रेषणीयता बढ़ जाती है, परन्तु जिस प्रकार किसी युवती के शरीर पर परिष्कृत रुचि के साथ पहने गये भूषण उसकी शोभा बढ़ा देते हैं, इन नाट्य-लक्षणों का भी संवाद में विवेकसम्मत प्रयोग ही वांछनीय है। अनेक लक्षणों (या भूषणों) से युक्त वाक्य-रचना बोझिल हो जाती है और सामाजिक के रस-बोध में बाधा उत्पन्न कर देती है।

वाक्य-रचना के सौन्दर्य की वृद्धि के लिए भरत ने दस प्रकार के गुणों-श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस्, सौकुमार्य, अर्थ-व्यक्ति, उदात्त और कान्ति की चर्चा की है।[२१] और उस सौन्दर्य की रक्षा के लिये दस दोषों-गूढार्थ, अर्थान्तर, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसंधि, शब्द-च्युत और अर्थहीन से बचने का परामर्श दिया है।[२२]

तत्कालीन नाटकों में गद्य की अपेक्षा पद्य का अधिक प्रयोग किया जाता था, अतः उनके पाठ या उच्चारण के *सम्बन्ध में भरत ने सप्त-स्वरों, तीन स्वर-स्थानों,* चार वर्णों (मैनर्स आफ अटरिंग नोट्स), दो काकुओं (इन्टोनेशन्स), छः अलंकारों और छः अंगों का भी वर्णन किया है।[२३] सप्तस्वर हैं—स (षड्ज), रे (ऋषभ), ग (गान्धार), म (मध्यम), प (पंचम), ध (धैवत) और नि (निषाद)। इन स्वरों का रसों के अनुसार उपयोग होना चाहिए, यथा शृंगार और हास्य में मध्यम और पंचम का, वीर, रौद्र और अद्भुत रसों में षड्ज और ऋषभ का, करुण में गान्धार और निषाद का तथा बीभत्स और भयानक रसों में धैवत् स्वर का प्रयोग होना

चाहिये ।[१९]

तीन स्वर-स्थान हैं–शिर, कंठ तथा उर । दूर के व्यक्ति को बुलाने के लिए शिरस्थान, थोड़ी दूर के व्यक्ति के लिए कंठ-स्थान तथा निकट के व्यक्ति के लिए उर-स्थान का उपयोग किया जाता है ।[२०] पाठ्य के समय उर-स्थान के स्वर को उठा कर शिर-स्थान के स्वर तक तथा उसके अन्त में कंठ-स्थान तक ले आना चाहिए ।[२१] उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कंपित, ये चार वर्ण हैं । स्वरित और उदात्त स्वर हास्य और शृंगार के लिए, उदात्त और कम्पित स्वर रौद्र, अद्भुत और वीर रसों के लिये, अनुदात्त, स्वरित और कंपित स्वर करुण, वीभत्स और भयानक रसों के लिये प्रयुक्त होते हैं ।[२२]

साकांक्षा (पूर्ण अर्थ की व्यंजना न होकर अतिरिक्त अर्थ की आशा बनी रहे) और निराकांक्षा (अर्थ का व्यक्त होना शेष न रहे) दो काकु है । काकुओं का प्रयोग रसों और भावों के अनुसार होना चाहिए । हास्य, शृंगार और करुण रसों मे विलम्बित काकु का, वीर, अद्भुत और रौद्र रसों मे दीप्त काकु का तथा भयानक और वीभत्स रसों में नीच और द्रुत काकुओं का प्रयोग करना चाहिए ।[२३] पाठ्य (उच्चारण)-विषयक अलंकारों का सम्बन्ध स्वर-सामंजस्य–लय (नोट) मे है । छ अलंकार हैं–उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलंबित । प्रत्येक स्वरालंकार का प्रयोग विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न भावावेगों की अभिव्यक्ति के लिये होना है, यथा दीप्त अलंकार का प्रयोग विवाद, कलह, क्रोध, शौर्य, दर्प, भर्त्सना, विलाप आदि और मन्द्र अलंकार का निराशा, दुर्बलता, चिन्ता, दैन्य, व्याधि, मूर्च्छा, मद, गुप्त वार्ता आदि के समय होता है ।[२४]

नाट्याचार्य भरत की दृष्टि अत्यन्त पैनी रही है, अत. उन्होंने वाक्य-संरचना, काव्य-लक्षण, नाटकीय गुण-दोष आदि का विवेचन करके ही सन्तोष नहीं किया, वाक्य-प्रयुक्त शब्दों के उच्चारण अथवा वाक्य-पाठ की विधि और उसमें श्वास-प्रश्वास क्रिया के योगदान का भी संश्लिष्ट वर्णन किया है । शब्दोच्चारण या वाक्य-पाठ के अन्तर्गत स्वर-भेद, स्वर-स्थान, वर्ण, अलंकार आदि का विवेचन किया जा चुका हैं । श्वास-प्रश्वास के योग से वाक्योच्चारण के छ. अंग बताए गये हैं––विच्छेद (बोलने मे विराम दिया जाय), अर्पण (सुमधुर-ध्वनि से पाठ), विसर्ग (वाक्य की समाप्ति), अनुबन्ध (स्वर न टूटे और एक ही साँस मे निरन्तर बोलते जाना), दीपन (उर, कंठ तथा शिर-स्थानों से क्रमश. वर्धमान स्वर) और प्रशमन (बिना बेसुरेपन के तार-स्वरों का अवरोहण) ।[२५] वाक्यार्थ को प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषणीय बनाने के लिए वाक्योच्चारण में साँसों के उतार-चढ़ाव, विराम (पाज़) आदि का ध्यान रखना आवश्यक है । एक वाक्य मे इस प्रकार के एक, दो या अधिक विराम हो सकते हैं और प्रत्येक विराम वाक्यार्थ को व्यक्त करने और भावार्थ को बोधगम्य बनाने में सहायक होता है ।[२६] आधुनिक उपस्थापक भी वाक्योच्चारण अथवा संवाद को बोलने मे इस प्रकार के विरामों को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं । भरत के विवरण से स्पष्ट है कि उस युग में भी प्रयोक्ता (प्रोड्यूसर) विराम के महत्त्व को जानते थे ।

भरत ने एक उच्च कोटि के प्रयोक्ता की भाँति यह भी बताया है कि विराम का प्रयोग अर्थ अथवा श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया की आवश्यकता के अनुसार कब, किस शब्द या वर्ण के बाद करना चाहिए ।[२७] और उस विराम की अवधि कितनी कलाओं (नाट्य में समय का एक माप) की होनी चाहिए । विलम्बित विराम के लिये भी छः कलाओं से अधिक समय लगाना वर्जित है ।[२८] रस और भावों के अनुसार विराम का उपयोग करते हुए इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि अर्थ के अनुसार विराम दिया जाय, चरण-विभाजन के अनुसार नहीं, परन्तु इससे अपशब्द न बने और न छन्द ही बिगड़े ।[२९] संवाद-पाठ की शैली चाहे प्रकृतिवादी हो, चाहे अतिरंजित, प्रत्येक स्थिति में श्वास-प्रश्वास क्रिया एवं विराम के समुचित प्रयोग पर ही संभाषण या कथोपकथन की सफलता निर्भर है ।

सम्बोधन-विषयक शब्दों को तीन श्रेणियों में रखा गया है––गुरुजनों के प्रति, कनिष्ठों के प्रति और सह-

कर्मियों के प्रति। गुरुजनों में देवता, मुनि, धर्माचार्यों और नानाव्रतधरों को 'भगवन्', उनकी स्त्रियों को 'भगवती', ब्राह्मण को 'आर्य', वृद्ध को 'तात', शिक्षक को 'आचार्य' और राजा को 'महाराज', 'भट्टारक' और 'देव', मंत्री को ब्राह्मणों द्वारा 'अमात्य' या 'सचिव' और अन्य लोगों द्वारा 'आर्य', युवराज को 'भर्तृदारक' या 'कुमार', रानी को 'स्वामिनी' 'देवी' या 'भट्टारिका', पिता को 'तातपाद', माता को 'अम्बे' आदि कहकर सम्बोधित किया जाता था

सम्माननीय व्यक्तियों को 'भाव' या 'मार्ष' कहा जाता था। बौद्ध और जैनमुनियों को 'भदन्त' कहते थे। इसी प्रकार पुत्र और शिष्य को 'वत्स', 'तात' या 'पुत्रक' कह कर और भृत्य आदि को नाम लेकर बुलाया जाता था। अपने से निम्नश्रेणी के व्यक्तियों को 'सौम्य' या 'भद्रमुख' कहा जाता था।

सहकर्मियों में पुरुष को 'वयस्य' तथा एक स्त्री द्वारा दूसरी स्त्री को 'सखी' या 'हला' कहा जाता था। रथवाह द्वारा अपने स्वामी को 'आयुष्मान्', ऋषि द्वारा राजा को 'राजन्' और स्त्रियों द्वारा अपने पति को 'आर्यपुत्र' या 'आर्य' सम्बोधित किया जाता था। श्रेष्ठियों और ब्राह्मणों की पत्नियों को 'आर्ये' कहा जाता था।

भरत नाट्यशास्त्र और 'रसार्णव सुधाकर' में पात्रों के नामकरण आदि पर भी विस्तार से विचार किया गया है। रानियों के नाम विजयसूचक रखे जाते थे तथा वेश्याओं के नामों के पीछे सेना, दत्ता, मित्रा आदि लगाने का विधान रखा गया है, यथा वसन्तसेना, वासवदत्ता आदि। ब्राह्मणों के नामों के साथ 'शर्मा', क्षत्रियों के नामों के साथ 'वर्मा' और श्रेष्ठियों के साथ 'दत्त' का प्रयोग किया जाता था। दासियों (प्रेष्याओं) के नाम पुष्प से सम्बन्धित होने चाहिये और निम्न कर्मचारियों के नाम मंगलसूचक होने चाहिए।

आहार्य अभिनय आहार्य अभिनय में तत्तत् पात्र के योग्य वेष-भूषादि ग्रहण कर उस पात्र की अवस्थाओं का बाह्य अनुकरण किया जाता है। 'अवस्थानुकृति' को यथार्थता प्रदान करने के लिए आहार्य अभिनय अत्यावश्यक है, क्योंकि इसके बिना सामाजिक के हृदय में रस-परिपाक के लिए सही आलम्बन प्राप्त नहीं होता। मंच पर सामाजिक का आलम्बन बनने के लिए पात्र को दुष्यन्त या हरिश्चन्द्र का रूप धारण कर, उन्हीं की वेश-भूषा में उपस्थित होना आवश्यक है। आहार्य अभिनय की सफलता के लिए 'नेपथ्य' अर्थात् अलंकार, अंग-रचना, पुस्त और सजीव का पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में उनका बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है।

भरत के अनुसार नेपथ्य में 'सूचिका' या 'सूचीगृह' होता था, जो पुरुष और स्त्री-पात्रों की पृथक् सज्जा के लिए दो भागों में विभक्त रहता था। एक भाग में पुरुष-पात्र मुख पर चरित्रानुरूप नीले, पीले, लाल या काले रंग, चन्दन-लेप आदि से रूपसज्जा कर वस्त्राभरण, मुकुट आदि धारण करते थे और दूसरे में स्त्री-पात्र अंगराग, ओठों पर लाक्षारस, पैरों में महावर आदि लगा कर अवसरानुकूल केश-रचना कर वस्त्राभरण धारण करती थीं। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों पुष्पमालाएँ भी पहनती थीं। ये पुष्पमालाएँ वेष्टित, वितत, संघात्य, ग्रथिम और प्रलम्बित, इन पाँच प्रकारों की हुआ करती थीं। वेशकार (वस्त्रों की सिलाई करने वाला), आभरणकृत (आभूषण बनाने वाला), मुकुटकृत (मुकुट या शीर्षभूषण बनाने वाला) पात्रों के लिए आवश्यक वस्त्राभरण पहले से ही तैयार रखते थे। नाटक के वस्त्रों को रँगने और मैला होने पर उनके धोने की भी व्यवस्था रहती थी।

अलंकरण पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही प्रायः आभूषण पहनते थे। पुरुष सिर, गले, बाजू, बाँह और कमर में और स्त्रियाँ सिर से लेकर पैर तक आभूषण धारण करती थीं। ये आभूषण पहनने के ढंग के अनुसार चार प्रकार के हुआ करते थे—आवेध्य, आरोप्य, बन्धनीय और प्रक्षेप्य। आवेध्य का अर्थ है, जिन्हें अंग, यथा नाक या कान छेद कर धारण किया जा सके, यथा नाक का काँटा, कर्णाभरण। आरोप्य उन आभूषणों को कहते हैं, जो ऊपर से पहने जा सकते हैं, यथा कंठी, हार आदि। बन्धनीय आभूषण अङ्ग पर बाँधे जा सकते हैं, यथा बाजूबन्द, करधनी आदि। प्रक्षेप्य आभूषण पहने जा सकते हैं, जैसे नूपुर।

पुरुष सिर पर मुकुट, कान मे कुंडल या लौंग, गले में पुष्पमाला, त्रिसर (स्वर्णसूत्र) या मुक्तामाला, उँगलियों में अँगूठी, बाँह मे वलय तथा भुजदंड में केयूर (बाजूबन्द) पहनते थे और स्त्रियाँ सिर पर चूडामणि, शिखापाश (नेट), मुक्ताजाल, शीर्षजाल आदि, कानों में कुंडल, त्रिकंटक, कर्णवलय, पत्रकार्णिक, कर्णोत्कीलिका आदि, गले मे स्वर्णसूत्र, प्रालंबिका (कंठी), नक्षत्रमाला, मुक्तामाला, रत्नमाला, हाथ में अंगद, वलय, खर्जुर, कंकण आदि, उँगलियों में मुद्रिका, कमर में स्वर्णमेखला, तथा पैर मे नूपुर धारण करती थी । इसके अतिरिक्त स्त्रियों द्वारा माथे पर अनेक प्रकार के कलापूर्ण तिलक लगाने, कपोलो पर पत्रलेख अंकित करने, महावर द्वारा पैरों के रँगने, अगरु-धूपादि से केशों को सुगंधित बनाने का भी विधान था ।

यूनानी और रोमन स्त्रियाँ भी भारतीय स्त्रियों की भाँति रत्नाभरण पहनने की बड़ी शौकीन हुआ करती थी । यूनानी स्त्रियाँ सोने-चाँदी के ब्रेसलेट, हार, पिनें, केशजाल, कंघे आदि प्रयोग मे लाती थी । यूनानी पुरुष अँगूठियाँ पहनते थे । इसी प्रकार रोमन स्त्रियाँ भी हार, ब्रेसलेट, कर्णाभरण आदि पहनती थी ।

रंगमंच पर भारी तथा बहुमूल्य आभूषणों के उपयोग का निषेध किया गया है, क्योंकि इससे अभिनय में कठिनाई होती है ।[१३४] अभिनय के लिए ताम्रपत्र, अभ्रक, लाख और नकली रत्नों से बने आभूषण काम में लाने का परामर्श दिया गया है ।[१३५]

भरत ने दैवी पात्रों, यथा विद्याधरों, गंधर्वों, यक्षों और नागों की स्त्रियों, अप्सराओं आदि के विशिष्ट अलंकरण, अंगरचना और वेशधारण की बात कही है । विद्याधरों की स्त्रियों के केश मुक्तामालाओं से गूँथे जाकर ऊपर की ओर बाँधे जाने चाहिये और उन्हें श्वेतवस्त्र पहनने चाहिए,[१३६] जबकि गंधर्व-स्त्रियाँ पद्म-राग और मणियों के आभूषण पहनेंगी और वस्त्र कुसुम्भी (पीले) रंग के धारण करेंगी । गंधर्व होने के नाते उनके हाथों मे वीणा होनी चाहिए । यक्ष-स्त्रियों और अप्सराओं के लिए रत्नाभरण और रत्नजटित श्वेतवस्त्रों के पहनने का विधान किया गया है ।[१३७] देवबालाओं के आभूषण मोती और वैदूर्य मणि के और वस्त्र हरे रंग के होने चाहिए ।[१३८] इसके विपरीत राक्षसियों के गहने इन्द्रनीलमणि के और वस्त्र काले रंग के होने चाहिये । वानरियों के आभूषण मणि, पुष्पराग और वैदूर्य मणि के तथा वस्त्र नीले रंग के बताये गये हैं ।

मानव-स्त्रियों का अलंकरण और केश-रचना देशानुकूल होना चाहिए । आभीर-स्त्रियों के दो चोटियों और नीले दुपट्टे का[१३९], अवन्ती और गौड़ देश की स्त्रियों के घुँघराले बाल तथा शिखापक्ष-सहित वेणी का,[१४०] पूर्वोत्तर की स्त्रियों के ऊपर उठे 'शिखंड' और सिर तक वस्त्र ओढ़ने का विधान बताया गया है ।[१४१] प्रोषित-पतिका, वियोगिनी आदि नायिकाओं की भी पृथक्-पृथक् वेश-भूषा बताई गई है ।[१४२]

अंग-रचना (मेक-अप) : आहार्य अभिनय के अन्तर्गत अंग-रचना या रूप-सज्जा का अपना विशिष्ट महत्त्व है । कलाकार को प्रस्तावित पात्र के चरित्र से तद्रूप करने के लिये उसकी अंग-रचना प्रथम मंचीय आवश्यकता है । इसके अन्तर्गत देश-काल के अनुसार मुख और शेष शरीर को विविध रंगों से रँगने से लेकर भाँति-भाँति के चेहरे या मुखौटे लगाने तक सब कुछ आ जाता है । मुखादि रँगने के लिए नीले, पीले, लाल, श्वेत अथवा काले रंग का प्रयोग किया जाता था । भरत के युग में अंग-रचना की कला निश्चय ही अपने विकसित रूप मे वर्तमान रही होगी, क्योंकि नाट्यशास्त्र के २३ वें अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है ।

उस युग के अंग-रचनाकार को यह ज्ञात था कि दो मूल रंगों के सम्मिश्रण से तीसरे रंग की उत्पत्ति होती है । श्वेत तथा नीले रंगों के मिश्रण से पाण्डु, श्वेत तथा नीले रंगों के मिश्रण से कपोत, श्वेत तथा लाल के मिश्रण से कमल, पीले तथा नीले के मिश्रण से हरा, नीले तथा लाल को मिलाने से काषाय, तथा पीले और लाल को मिलाने से गौर रंग तैयार होता है । इस प्रकार मूल रंगों के परस्पर सम्मिश्रण से अनेक रंग बना कर पात्रों की अंगरचना उनकी भूमिकाओं के अनुसार की जाती थी । देवता, यक्ष, अप्सरा, रुद्र, अर्क आदि का रंग गौर; सोम, बृहस्पति, शुक्र, वरुण, नक्षत्र, समुद्र, हिमालय और गंगा का रंग श्वेत; मंगल का रंग लाल; बुध और अग्नि का

रग पीला, नर, नारायण तथा वासुकि का रग श्याम होना चाहिए । इसी प्रकार दैत्य, पिशाच, आकाश आदि का रग नीला रखना चाहिए ।[१८३]

भरत ने मर्यादा और कर्म के अनुसार राजा को कमल, श्याम या गौर वर्ण का, सुखी व्यक्तियो को गौर वर्ण का, दुष्कर्म करने वालो और तपस्वियो को असित रग का और मुनियो को बेर के रग का प्रदर्शित करने की व्यवस्था दी है ।[१८४] प्रदेश-विशेषो मे रहने वाली उपजातियो के रग भी पृथक्-पृथक् बताए गये हैं, जिससे उनके रग से उनको पहिचाना जा सके । आन्ध्र, द्रविड, किरात, काशी, कोशल तथा दाक्षिणात्य लोगो का रग काला; पाचाल, शूरसेन, माहिषा, मागध, अग, बग, कलिंग के वासियो का रग श्याम तथा शक, यवन, हूण आदि लोगो का रग पीला माना गया है ।

स्त्रियाँ और पुरुष, दोनो रूप-सज्जा किया करते थे । स्त्रियाँ अगराग के साथ ओठो को रँगने के लिए अलक्तक का प्रयोग करती थी । रँगने की विधि यह थी कि अलक्तक पिंड (आलते की गोली) को हल्का-सा भिगो कर ओठो पर लगाया जाता था और ताम्बूल द्वारा भी ओठो को रग प्रदान किया जाता था । ओठो पर पान और अलक्तक की लालियो के सम्मिश्रण एव स्थायित्व के लिये मोम की गोली (सिक्थकगुटिका) ओठो पर रगडी जाती थी ।[१८५] पुरुष भी स्त्रियो की भाँति ओठो को रँगने के लिए अलक्तक और सिक्थक का प्रयोग करते थे ।[१८६] यह प्रयोग आधुनिक लिपस्टिक के समान ही माना जा सकता है ।

रूपसज्जा के अन्तर्गत पुरुष-पात्रो के मुख और शरीर को रँगने के बाद दाढी-मूछ लगाने का विधान किया गया है । पुरोहित, अमात्य तथा धर्म-कार्य करने वालो की दाढी-मूँछें घुटी अर्थात् 'शुद्ध' रहनी चाहिए । दु:खी, तपस्वी, विपत्तिग्रस्तो तथा अपूर्णकाम वालो की दाढी-मूँछ कुछ बढी हुई अर्थात् 'श्याम' होनी चाहिये । राजा, युवराज, राजपुरुष, यौवनोन्मत्त, सिद्ध, विद्याधर आदि की दाढी-मूछें अच्छी तरह सवाँरी हुई अर्थात् 'विचित्र' होनी चाहिये । ऋषियो, तपस्वियो, दीर्घव्रतियो और कृतसकल्प व्यक्तियो की दाढी घनी बढी हुई अर्थात् 'रोमश' होनी चाहिये ।[१८७]

भरत ने चेहरे (प्रतिशीर्षक) बनाने और उनके उपयोग पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है ।

वेश-धारण : विभिन्न प्रकार के पात्रो के लिए विभिन्न प्रकार की वेशभूषा का वर्णन किया गया है। भरत ने देश, जाति तथा अवस्था, उत्तम, मध्यम तथा अधम, स्त्री और पुरुष की दृष्टि से तो वेश-भूषा की व्यवस्था की ही है, उसमे शुभाशुभ आदि का भी विचार रखा है ।[१८८]

मागलिक कार्यों, धर्म-कृत्यो, नियमादि मे स्थिर होने पर स्त्री-पुरुष प्रायः शुद्ध वस्त्र (श्वेत या एक रग के) धारण करते हैं । अमात्य, श्रेष्ठी, सिद्ध, विद्याधर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा स्थानीय (राजा का प्रतिनिधि) भी शुद्ध वेश धारण करते हैं । राजा, कामुक, यक्ष, गधर्व, नाग, राक्षस आदि विचित्र (रग-बिरगे) वस्त्र पहनते हैं । मदोन्मत्त, पागल, पतित, विपद्ग्रस्त आदि मलिन अर्थात् मैले वस्त्र पहनते हैं । परिव्राजक, तपस्वी या मुनि काषायवस्त्र, वल्कल या मृगचर्म का उपयोग करते हैं । बौद्ध भिक्षु, जैन-श्रमण, शैव आदि अपने अपने मतानुसार उपयुक्त वस्त्र धारण करते हैं । योद्धा युद्धोपयोगी वस्त्रो के साथ अस्त्र-शस्त्र, धनुर्बाण, कवच, ढाल आदि का भी उपयोग करते हैं ।[१८९]

राजा, दिव्य पुरुष आदि मस्तकी प्रकार का और सामान्य देवता, नाग, यक्ष और गन्धर्व आदि पार्श्वगत प्रकार का मुकुट पहनते हैं । युवराज और सेनापति पगडी के साथ अर्धमुकुट धारण करते है । अमात्य, कचुकी, श्रेष्ठी तथा पुरोहित केवल पगडी पहनते हैं । बच्चो के सिर पर शिखड तथा ऋषियो के सिर पर जटाजूट होता है । राक्षस या दैत्य के बाल पीले तथा दाढी-मूँछ छोटी होती है । तपस्वी, साधक, उन्मत्त, पिशाच आदि के बाल लम्बे होते हैं । बौद्ध-भिक्षु, निर्ग्रन्थ (जैन-श्रमण), परिव्राजक तथा दीक्षित व्यक्तियो के सिर और दाढी घुटी रहती है ।[१९०] स्त्रियो, कामुको तथा राज्याधिकारियो के बाल घुँघराले और लम्बे होते हैं ।[१९१] दासो की तीन शिखाओ को

छोड शेष सिर घुटा हुआ होता है । विदूषक का सिर गंजा रखना चाहिए ।[११२]

वस्त्र प्रायः चीनान्शुक, दुकूल, तन्तुज, नेत्रसूत्र (रेशमी), कम्बल (ऊनी) और कार्पास (सूती) के होते थे, जो सामाजिक मर्यादा और ऋतु-विपर्यय को ध्यान मे रख कर पहने जाते थे । उच्च कुल की स्त्रियाँ कचुक (अँगिया) या दुकूल-पट्टिका कटिभाग के ऊपर और नीचे अर्धोरुक (घाघरा) तथा कन्धो पर उत्तरीय (दुपट्टा) पहनती थी और अभिजात्य-वर्ग के लोग कमर के नीचे अन्तरीय (धोती), उपरि भाग में कंचुक (अँगरखा), कन्धों पर उद्गमनीय (दुपट्टा) तथा सिर पर उष्णीप (पगडी) का प्रयोग करते थे । कटि-भाग मे कक्ष्या (कमरबन्द) बाँधी जाती थी । युद्ध के समय सैनिक अन्तरीय के स्थान पर सतुला (एक प्रकार की 'ब्रीचेज') और सिर पर उष्णीष के स्थान पर शिरस्त्राण (टोप), पैरों में पादत्राण (जूते) आदि का उपयोग करते थे ।

पाश्चात्य नाट्याचार्यों ने भी रूप–सज्जा और उसके उपकरणो एव विधियो, वेशभूषा आदि का विस्तृत विवेचन किया है । आधुनिक आहार्य मे पश्चिम की रूप-सज्जा के उपकरणों और विधियो का ही उपयोग किया जाता है ।

'नेपथ्य' के अन्तर्गत वर्णित 'पुस्त' तत्कालीन रग-सज्जा का ही अंग था, अत उसका इसी अध्याय मे पहले वर्णन किया जा चुका है । 'सजीव' का अर्थ है–रगपीठ पर प्राणियो का प्रवेश । ये प्राणी तीन प्रकार के बताए गए है - चतुष्पद, द्विपद एव अपद । सर्पादि अपद हैं, पक्षी और मनुष्य द्विपद और वन या बस्ती के शेष पशु चतुष्पद हैं ।[११३] भरत के युग मे रगमच पर पशु-पक्षियो, सर्पादि का प्रवेश भी दिखलाया जाता था । बहुत सभव है कि उनको पुस्त द्वारा तैयार कर उनकी नकली प्रतिकृतियो को ही दिखलाया जाता हो, यद्यपि मृग, शुक-सारिका आदि प्राणियो को तो मंच पर लाने में भी कोई कठिनाई नही होती थी ।

सात्त्विक अभिनय : रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मन सत्त्वम्' अर्थात् जिस मन में रजोगुण और तमोगुण का स्पर्श भी न हुआ हो, वही सत्त्व है । ऐसे सत्त्व-मन–के भावों को सात्त्विक भाव कहते हैं । यद्यपि सात्त्विक भावो मे भी अनुभावत्व पाया जाता है, क्योकि वे भी अनुभावो की ही भाँति आश्रय के विकार हैं, परन्तु फिर भी इन्हें पृथक् रूप से 'भाव' की सज्ञा दी गई है । सात्त्विक मन पर शोक, हर्ष आदि के प्रभाव से तत्काल अश्रु निकल आते हैं और रोमाचादि होने लगता है, अतः सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण ये 'भाव' कहलाते है और साथ ही आश्रय के विकार होने के कारण 'अनुभाव' भी कहे जाते हैं । ये सात्त्विक भाव आठ हैं : स्तम्भ (अंगों की निष्क्रियता या स्थिरता), प्रलय (चेतना का लोप होना), रोमाच, स्वेद, वैवर्ण्य (मुँह का रग उड जाना), वेपथु (कम्प), अश्रु तथा वैस्वर्य (आवाज मे परिवर्तन) ।[११४]

उपर्युक्त आठो सात्त्विक भावों से युक्त अभिनय को सात्त्विक अभिनय कहते हैं । इनके अतिरिक्त स्थायी-भावों और व्यभिचारी भावो का सूक्ष्मता मे प्रदर्शन करना भारतीय नायक और नायिकाओं के लिए अभिप्रेत रहा है, तभी रस की निष्पत्ति सभव है । यह रस-सिद्धान्त भरत की मौलिक देन है, यद्यपि इस पर मतैक्य नही है । 'भाव-प्रकाशन' मे शारदातनय ने नन्दिकेश्वर को भरत का गुरु बताया है । नन्दिकेश्वर ने भरत को नाट्यशास्त्र पढाया । इसके विपरीत नन्दिकेश्वर के 'अभिनयदर्पण' में भरत का नाम कई स्थानों पर आया है, जिससे वे भरत के गुरु नही, सम-सामयिक आचार्य प्रतीत होते हैं अथवा उनके बाद के । ऐसी दशा में रस-सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय भरत को ही मिलना चाहिए । यह इससे भी स्पष्ट है कि बाद के सभी आचार्यों–भट्ट लोल्लट, शकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, धनजय आदि ने भरत के ही रस-विषयक सूत्र–'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगात् रस-निष्पत्तिः' की अपने-अपने ढग मे व्याख्याएँ की हैं । यह रस ही भारतीय नाटक का प्राण है, जो उसे पाश्चात्य नाटकों से पृथक् कर देता है । यूनानी नाटक मुखौटे लगा कर इसीलिये किये जाते थे कि उनमे कुछ विशिष्ट कार्य-व्यापार दिखलाना ही प्रयोक्ता का उद्देश्य हुआ करता था । इसीलिये उनकी रंगशालाएँ भी बड़ी होती

थी । इसके विपरीत भारतीय प्रयोक्ता के लिए यह आवश्यक था कि वह समस्त भाव-जगत को अपने पात्रो के द्वारा मूर्त रूप दे । भारतीय-प्रेक्षागृह यूनानी रगशालाओ की तुलना मे छोटे हुआ करते थे, जिससे प्रत्येक सामाजिक पात्रो द्वारा प्रदर्शित सात्त्विक अभिनय को भी चक्षुओ द्वारा हृदयगम कर सके ।

उपर्युक्त विवेचन पर और गहराई मे विचार किया जाय, तो अभिनय के मोटे-मोटे दो ही प्रकार ठहरते हैं–आगिक और वाचिक । आहार्य और सात्त्विक अभिनय उक्त दोनो प्रकार के अभिनयो के आनुषगिक अवयव-से प्रतीत होते हैं, क्योकि अभिनय चाहे आगिक हो, चाहे वाचिक, प्रत्येक दशा मे अगरचना, अलकरण आदि के द्वारा आहार्य अभिनय और भावो के प्रदर्शन द्वारा सात्त्विक अभिनय का प्रत्येक के साथ रहना आवश्यक है । इस प्रकार समस्त प्रकार के अभिनयो मे आगिक अर्थात् सवादहीन या मूक अभिनय और वाचिक अर्थात् सवादयुक्त या सवाक् अभिनय ही प्रधान है । दोनो प्रकार के अभिनय चाहे एक साथ चले अथवा पृथक्-पृथक्, दोनो से ही रस की निष्पत्ति होगी ।

(दो) आधुनिक अभिनय-पद्धति भारत की प्राचीन अभिनय-पद्धति का लक्ष्य जीवन और जगत के कार्य-व्यापारो और मनोविकारो के वास्तविक प्रतिबिम्बन के द्वारा रस-निष्पत्ति रहा है । पाश्चात्य आचार्य भी यद्यपि शृगार, हास्य और करुण जैसे मूल रसो से सुभिज्ञ रहे हैं, किन्तु रस-निष्पत्ति को साध्य रूप मे स्वीकार कर वे भारतीय आचार्यों की भाँति उसके विस्तृत विवेचन मे नही उतरे । यही कारण है कि नाट्याभिनय के सदर्भ मे पारपरिक (नाट्यधर्मी) एव कृत्रिम अभिनय से आगे बढ कर स्वाभाविक एव यथार्थवादी अभिनय के आदर्श को उन्होने अपने सम्मुख रखा, यद्यपि समय के साथ अभिनय की यह पद्धति भी पुरानी पड चुकी है ।

मूल स्रोत यूरोप की आधुनिक अभिनय-पद्धति का मूल स्रोत यूनान के उस प्रथम अभिनेता मे ढूँढा जा सकता है, जिसने, थेस्पिस की कल्पना के अनुसार, ईसा से लगभग ५५० वर्ष पूर्व, किसी पात्र की कथा के वक्ता की भूमिका छोड कर, स्वय उस पात्र का अभिनय नृत्य-चक्र (आर्केस्ट्रा, आदिकालीन यूनानी रगशाला का अभिनय-स्थल) मे प्रस्तुत किया । परिधान, छद्म-वेश और भीमकाय मुद्राकित मुखौटे की सहायता से प्रथम बार उसने हाथ-पैर के सचालन द्वारा मानवीय भावो की अभिव्यक्ति की । वह रूप-सज्जा की कला मे निष्णात न था, अतः मुखौटे के माध्यम से ही वह दूरासीन सामाजिक के समक्ष देवता, नायक अथवा नायिका की भूमिका सजीव बना सकता था । उस समय पुरुष ही स्त्रियो का अभिनय करते थे ।[१७] कहना न होगा कि भरतकालीन चतुरग अभिनय की तुलना मे यूनानियों का यह अभिनय या नाट्य-पद्धति अत्यन्त अविकसित, भोडी और प्रारभिक थी । क्रमश नाटकाभिनय मे अभिनेताओ की सख्या बढने लगी, किन्तु अभिनय-कला अतिरजित ही बनी रही । यूनानियो ने स्वर के उतार-चढाव द्वारा भावाभिव्यक्ति की कला सीखी, किन्तु मुखौटे से छुटकारा न मिल सका । काले अथवा 'ग्रे' परिधान पहन कर शोक की तथा वस्त्र का रग-परिवर्तन कर अन्य भावो की अभिव्यक्ति वे करने लगे । अभिनय यूनानी जीवन का महत्त्वपूर्ण अग बन गया, जिसके फलस्वरूप नाटककार और अभिनेता को वहाँ उच्च सम्मान प्राप्त हुआ ।[१८] कालातर मे यूनानी वैभव के पतन-काल मे साहित्यिक दुखातकियो का ह्रास हो गया, किन्तु सुखातिका के मूल–मुद्राभिनय (माइम) का प्रचार-प्रसार कई शताब्दियो तक बना रहा ।

इटली मे भी ईसा-पूर्व की कुछ शताब्दियो मे मुद्राभिनय, हास्य-अभिनय तथा युद्धाभिनय की प्रणाली विद्यमान थी । युद्धाभिनय मे दास-अभिनेता अथवा दास-नौसैनिक की मृत्यु रोम के रक्त-पिपासु निठल्ले सामाजिको के आह्लाद एव मनोरजन का विषय होता था । यूनानी उपनिवेशो की विजय के उपरात रोमवासी यूनानी मुद्राभिनय तथा नाटक के साहित्यिक रूप के सपर्क मे भी आये, किन्तु वे यूनानियो के भद्दे अनुकरण से अधिक कुछ न कर सके । रोमी अभिनेता की दशा अत्यन्त दयनीय थी और उसे नकली यथार्थ के लिये मच पर मरण को भी वरण करना पडता था ।[१९] रोम के पतन के साथ वहाँ के रगमच और अभिनय का भी प्राय. अवसान-सा

हो गया। रोमन पादरियो के धार्मिक उन्माद ने वहाँ की अभिनय-कला का गला कई शताब्दियो तक के लिये घोट दिया।

शेक्सपियर के पूर्व : पाँचवी-छठी शताब्दी से लेकर दसवी शताब्दी तक के यूरोपीय रगमच के इतिहास को 'अधकार युग'[६६] कहा जाता है, जब अभिनय-कला घुमन्तू नाटक मडलियो के अनगढ नाटकाभिनय, बाजीगरी, चारणो द्वारा काव्य-कथाओ के साभिनय गायन, विदूषकों के हास-परिहास तक ही सीमित होकर रह गई। जिस गिरजाघर ने रगमच को निर्मम धर्मान्धता के साथ कुचल डाला था, दसवी शती के अत में उसी ने पुन. रगमच और अभिनय का मार्ग, अशिक्षित लोगो के धार्मिक विश्वासो को सुदृढ बनाने के लिये, प्रशस्त किया। तीन परियो और फरिश्तो के सक्षिप्त सवाद के रूप मे, गिरजाघर की सामूहिक प्रार्थना के पूर्व, अभिनय पुन जीवित हो उठा।[६७] क्रमश बाइबिल की कथाओ तथा सतो की जीवनियों पर नाटक लिखे और खेले जाने लगे, जो क्रमशः 'रहस्य नाटक' (मिस्ट्री प्लेज) तथा 'अद्भुत नाटक' (मिरेकिल प्लेज) कहे जाते हैं। ये तथा नैतिक नाटक (मारेलिटी प्लेज, चौदहवी शती) यूरोप के सभी प्रमुख देशो-फास, जर्मनी, इग्लैण्ड आदि के गिरजाघरों के बरामदो मे अथवा उनके बाहर या नगर के प्रमुख चौक मे खेले जाने लगे। पन्द्रहवी शती तक इन नाटको के अभिनय मे भव्य परिधान तथा गर्जन-यत्र, पवन यत्र, वृष्टि यंत्र जैसे रगोपकरणो का भी ध्वनि-संकेत के लिए उपयोग होने लगा। इस काल के अभिनय मे 'हाम' शैली (हाम एक्टिग) की कृत्रिम वाचिक प्रणाली तथा स्वाभाविक अग-चेष्टाओ के बदले अतिरजित आगिक अभिनय की प्रधानता थी, जिसमें भावाभिव्यक्ति की जगह किसी-न-किसी प्रकार सामाजिको को हँसाने का प्रयास अन्तर्निहित रहता था।[६८]

शेक्सपियर-काल मे : सोलहवी शती के दरबारी अंग्रेजी रगमच पर भी केवल आगिक अभिनय अर्थात् हाथ-पैर आदि के सामान्य सचालन के साथ वाचिक अभिनय अर्थात् संवादो के बोलने में कृत्रिमता, शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण, आवाज के उतार-चढाव आदि का ही विशेष ध्यान रखा जाता था, सात्त्विक अभिनय अर्थात् मनोविकारो की अभिव्यक्ति की ओर उस काल के नाट्याचार्यों की दृष्टि नही गई थी। सामाजिक काव्यात्मक सवाद मे वर्णित स्थान, समय, वातावरण आदि का अनुमान अपनी कल्पना से लगा लेता था, किन्तु पदार्थाभास या वातावरण-निर्माण उसके लिये आवश्यक नही समझा जाता था। शेक्सपियर (१५६४ से १६१६ ई०) के नाटको के अभिनय मे भी प्राय. इसी पद्धति को अपनाया गया। अभिनेता प्राय. उच्च स्वर में दीर्घ स्वगत-कथन करते अथवा लयात्मक स्वर मे भावात्मक सवाद बोलते, किन्तु सामाजिक, विशेषकर सामंतवर्गीय सामाजिक उदात्त अभिनय और सवाद के प्रति उन्मुख न होकर आत्म-प्रदर्शन में लीन दिखाई पड़ते, विनोद-वार्ता करते अथवा अवसर पाकर पात्रो के संवाद-कथन की प्रभावहीन पद्धति की टीका-टिप्पणी भी कर देते। नाटक के अन्य पात्र भी स्वगत-वक्ता की दीर्घ स्वोक्ति से ऊब कर पीठिकाओ पर बैठे अपने मित्रो से वार्ता कर, उक्त वक्ता के साथ अपने सवाद के प्रारम्भ होने की प्रतीक्षा मे, अपना समय काट देते थे। इस काल मे भी स्त्रियों की भूमिका बाल-अभिनेत्रियो (ब्वाय एक्ट्रेसेज अर्थात् पुरुषो) द्वारा ही की जाती थी।[६९] सवादों मे निहित स्थानादि के सकेत के कारण भव्य दृश्यावली (सीनरी) अथवा दृश्यबध (सेटिंग) की आवश्यकता नही प्रतीत होती थी। सामाजिक के निकट आ जाने से मूल्यवान परिधान का महत्त्व बढ गया। मुखौटो के परित्याग के कारण मुख की भाव-भंगिमा पर उत्तरोत्तर जोर दिया जाने लगा।

कुछ अभिनेताओ को इस काल मे धन और सम्मान तो मिला, किन्तु अधिकाश की सामाजिक स्थिति शोचनीय थी और उन्हें चोर, बदमाश समझ कर बदी बना लिया जाता अथवा नगर के बाहर निकाल दिया जाता था।[७०] इंग्लैण्ड के महान अभिनेता डेविड गैरिक के प्रयास से शेक्सपियरकालीन कृत्रिम अभिनय-पद्धति में सुधार हुआ और उसमे स्वाभाविकता आई। तभी (अठारहवी शती) अभिनय की पृष्ठभूमि के रूप में प्राकृतिक दृश्यावली एवं

भव्य दृश्यबंधों का विकास भी प्रारम्भ हुआ।

शेक्सपियर के जीवन-काल मे ही कामेडिया डेल आर्टे द्वारा प्रस्तुत अलिखित एव अपूर्वाभ्यासित मुद्रातिकाओ के माध्यम से एक ऐसे व्यावसायिक अभिनेता-वर्ग का अभ्युदय हुआ, जो झीने कथानक के आधार पर ही, अपनी स्मृति, गीत, हास्यास्पद एव भोंडी नाट्य-मुद्राओ, प्रत्युत्पन्नमतित्व आदि का प्रयोग कर, एक अनुरचित नाटक खडा कर देता था और सामाजिक हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाते थे। नायक-नायिका तथा स्त्रियों को छोड कर शेष पात्र मुख पर चिपके कपडे के मुखौटों का प्रयोग भी करते थे।[१०] इस प्रकार के अनुरचित अभिनय ने जन-मानस की स्वीकृति पाकर सोलहवी-सत्रहवी शती मे फ्रांस तथा इंग्लैण्ड मे भी लोकप्रियता प्राप्त कर ली और वहाँ के दरबारी रगमचों के पैर उखड गये।[११] कामेडिया डेल आर्टे तथा अन्य इसी प्रकार की नाट्य मंडलियों ने समूचे यूरोप का परिभ्रमण कर अपने नाटक प्रदर्शित किये। फ्रांस के हास्य-नाटककार मोलियर (१६२२ से १६७३ ई०) ने इन मडलियों के नाटकों से कथावस्तु और पात्र, अभिनय एव हास्य-मुद्राओ को लेकर जो प्रहसन प्रस्तुत किये, वे आज की परिस्थितियों मे भी बेजोड हैं। इनके अभिनय मे, सवाद मे निहित हास्य को हास्य-मुद्रा, सामयिक सूझ, सरलतम दृष्टिपात अथवा अग-विक्षेप के माध्यम से व्यक्त कर मुखरित किया जाता है।

गेटे के अभिनय नियम प्रसिद्ध जर्मन नाटक 'फास्ट' के लेखक जान ऊल्फगैंग वान गेटे (१७४९-१८३२ ई०) ने, जो वाइमर के ड्यूक चार्ल्स आगस्त की निजी रगशाला का निर्देशक भी था, जर्मन अभिनेताओं के लिये कुछ कडे नियम बनाये थे, जिनके अन्तर्गत मच पर उनके गति-सप्रचार, कलात्मक मुख-मुद्रा (गेस्चर), आचरण-व्यवहार आदि की व्यवस्था है, किन्तु तमाम प्रशिक्षण के बावजूद उसकी रगशाला के अभिनेताओं का प्रदर्शन कृत्रिम एव सामान्य स्तर का था।[१२] उन्हें बहुत कम वेतन मिलता था, जिससे वे असंतुष्ट रहते थे। गेटे के पूर्व कुछ अभिनेताओ ने गैरिक की शैली मे स्वाभाविक अभिनय करने की चेष्टा की, किन्तु गेटे ने उसे फिर कृत्रिम रूप दे दिया।

प्राकृतिक अभिनय : उन्नीसवी शती मे पहली बार प्राकृतिक या स्वाभाविक अभिनय (नेचुरलिस्टिक ऐक्टिंग) की ओर वहाँ के नाट्याचार्यों की दृष्टि गई। समन्वित भावाभिनय, चरित्र की मनोवैज्ञानिक व्याख्या, आगिक अभिनय एव स्वर मे स्वाभाविकता इस प्रकार के अभिनय की विशेषता थी। स्वाभाविक (प्राकृतिक) अभिनय के प्रयोग के लिये पेरिस मे थियेटर लिब्रे (१८८७ ई०), बर्लिन मे फ्रेई ब्यून (१८८९ ई०) तथा लदन मे इडिपेण्डेण्ट थियेटर (१८९१ ई०) की स्थापना हुई। जार्ज फ्रीडले तथा जान ए० रीव्स ने थियेटर लिब्रे के प्रदेय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसने 'प्रकृतिवाद के प्रवर्तन-मात्र की अपेक्षा कुछ अधिक ही किया कि उसने पेरिस मे अभिमचन एव अभिनय की सम्पूर्ण अवधारणा को ही बदल दिया, जो रगमच पर अनुदारतावाद का गढ था। आन्त्वाइन (१८५८-१९४३, थियेटर लिब्रे का सस्थापक-प्रयोक्ता) ने अभिनय की भाषणात्मक परपरा मे सुधार किया ···। मद्धिम स्वरों तथा निरन्तर सामाजिकों की ओर पीठ रखने वाले अभिनेताओं को लेकर प्रकृतिवादी निर्देशक सम्भवत. सीमातिक्रमण कर गये, किन्तु उन्होंने कम से कम स्वय को और दूसरों को अभिनय तथा निर्देशन की एक नई अवधारणा दी।'[१३]

प्रकृतिवाद का अर्थ है—दैनंदिन जन-जीवन की घटनाओं का विस्तृत चित्रण, जिसमे क्रूरता, विक्षोभ एवं वीभत्सता पर विशेष बल दिया जाता है। आन्त्वाइन ने टालस्टाय, इब्सन तथा हाप्टमैन जैसे विदेशी नाटककारों के नाटकों के प्रयोग भी अपने थियेटर में किये, किन्तु यह थियेटर प्रकृतिवाद पर आधारित अपने प्रयोगवादी नाटकों के कारण अधिक दिन तक जीवित न रह सका।

. . थियेटर लिब्रे (फ्री थियेटर) ने अल्पकाल ही फ्रेई ब्यून, इंडिपेण्डेण्ट थियेटर, मास्को ˘ ˙ार्ट थियेटर

(१८९८ ई०) तथा अनेक वर्षों के बाद न्यूयार्क के थियेटर गिल्ड को भी अपनी नवीन अभिनय-पद्धति से प्रभावित किया।[¹⁸] इन सभी रंगशालाओं ने न केवल नये नाटककारों के नाटक प्रदर्शित किये, वरन् अभिनय एवं उपस्थापन (प्रोडक्शन) की नयी विधियों का भी सूत्रपात किया। इस नवीन अभिनय-पद्धति में भूमिका (पाठ) याद कर मंच पर उसे उगल देना अथवा किसी तारक-अभिनेता का धुआँधार संवाद बोलना ही पर्याप्त न था, वरन् प्राकृतिक एवं यथार्थ अभिनय के लिये उसे यह जानना भी आवश्यक हो गया कि वह किस पात्र की भूमिका कर रहा है और अन्य पात्रों के प्रति उनके क्या भाव होने चाहिये। उसे नाटककार के मन्तव्य को समझ कर अन्य पात्रों के साथ उस पर विचार करना चाहिए, परन्तु यदि वह नाटक के अन्तर्हित मन्तव्य को ही न समझ सके, तो कोई ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जो उक्त मन्तव्य को उसे समझा सके। इस प्रकार व्यवस्थापक से पृथक् निर्देशक ने जन्म लेकर इस अभाव की पूर्ति की, अतः निर्देशक को प्रकृतिवाद के इस आंदोलन की उपज कहा जा सकता है।

स्टैनिस्लावस्की का यथार्थवाद : प्रारम्भ में ऐसा समझा जाता था कि इस प्रकार का अभिनय इब्सन, स्ट्रिण्डबर्ग, हाप्टमैन, हरमैन सुडरमैन, मैक्सिम गोर्की, टाल्स्टाय, बर्नार्ड शा आदि के यथार्थवादी नाटकों के लिये ही उपयुक्त है, किन्तु बाद में इस अभिनय-पद्धति का उपयोग शेक्सपियर के पारंपरिक नाटकों के उपस्थापन में भी सफलता के साथ किया गया और मास्को आर्ट थियेटर के निर्देशक स्टैनिस्लावस्की (१८६३–१९३८ ई०) स्वयं इस नवीन प्रयोग के अध्वर्यु बने। स्टैनिस्लावस्की ने शेक्सपियर के 'जूलियस सीजर', 'हैमलेट', 'मच एडो एबाउट नथिंग' और 'ऑथेलो' तथा मेटरलिंक के 'दि ब्लू बर्ड' (प्रतीकवादी नाटक) को अपनी यथार्थवादी अभिनय-पद्धति के द्वारा प्रस्तुत कर पाश्चात्य रंगमंच पर एक नयी दिशा की सूचना दी। इन नाटकों के अभिनय में समूह-रचना और रीतिबद्ध (स्टाइलाइज्ड) अभिनय को प्रश्रय देकर स्टैनिस्लावस्की ने निर्देशन को सृजनात्मक भावना एवं कला-तत्त्व से समन्वित कर उसके शुष्क परिवेश में आध्यात्मिक सत्य का निवेशन कर दिया। अभिनय में सहजता, रंगों में स्वाभाविकता और ध्वनि-संकेतों में यथार्थता आई। इस सहजता और यथार्थवाद को मुखर बनाने के लिये स्टैनिस्लावस्की ने नाटककार के मंतव्य को भली भाँति समझने और उसे ईमानदारी से अभिव्यक्त करने तथा चरित्र की आंतरिक व्याख्या करने की चेष्टा की। स्टैनिस्लावस्की ने आर्ट थियेटर के अपने संस्थापक-सहयोगी ब्लादीमीर नेमिरोविच दान्चेन्को के साथ रंगमंच को 'व्यावसायिकता तथा क्षुद्रता' से मुक्त करने का जो संकल्प किया था,[¹⁹] उसे उसने अपनी नवीन 'अभिनय-पद्धति' का पुरस्करण कर पूरा किया।

स्टैनिस्लावस्की ने अपने प्रयोगों के आधार पर अभिनय के कुछ सिद्धान्त स्थिर किये, जिनमें अभिनेता का पात्र के साथ एकाग्रता और तद्रूपता, अभिनेता की सृजनात्मक प्रवृत्ति, आंगिक अभिनय की स्वतन्त्रता और भावाभिव्यक्ति की स्वाभाविकता आदि पर जोर दिया गया है। उनकी 'अभिनय-पद्धति' के अन्तर्गत पात्र के आन्तरिक यथार्थ (इनर कान्टेन्ट) की अभिव्यक्ति और पात्र के साथ तद्रूपता के लिये यह आवश्यक है कि अभिनेता यह समझे कि 'उससे किस बात की अपेक्षा की जाती है, स्वयं वह क्या चाहता है और उसकी कल्पना किस बात से जागृत हो सकेगी। जहाँ तक अभिनेता का प्रश्न है, उसके लिये पात्र के आन्तरिक यथार्थ में अनेक आकर्षक तत्त्व होते हैं।'[²⁰] वह यह मानता है कि 'अभिनेता को यह जानना चाहिये कि वह न केवल स्वयं (को), वरन् पात्र (को प्रस्तुत करने के लिए) कैसे कार्य करे।'[²¹] एतदर्थ उसे पात्र के अध्ययन-विश्लेषण के साथ अपनी मनोवृत्ति (मूड) का भी अध्ययन-विश्लेषण करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह स्वतः अनुभूत आवेगों का ही प्रदर्शन करे। युगीन वातावरण और जीवन की अनुभूतियों से असंपृक्त रह कर अभिनय नहीं किया जा सकता। स्टैनिस्लावस्की यह मानता था कि पात्र की सजीव अभिव्यक्ति के लिये अभिनेता में आतरिक सृजनात्मक वृत्ति भी होनी चाहिए। उपस्थापन का बाह्य पक्ष–दृश्य चित्रण–स्टैनिस्लावस्की के लिये उत्तरोत्तर गौण वस्तु बनता चला गया, यद्यपि प्रारंभ

मे दृश्य के सूक्ष्मतम विवरण की ओर पूरा ध्यान रखा जाता था, जिससे वह यथार्थ प्रतीत हो।

स्टैनिस्लावस्की ने अभिनेता की 'सृजनात्मक वृत्ति (क्रियेटिव मूड) के विकास, पात्र की व्याख्या तथा अभिनेता की इच्छा-शक्ति के तर्क-सगत विकास के लिये' आवश्यक अभ्यासो की व्यवस्था की। [१११] साथ ही उसने स्वाभाविक वाचिक अभिनय की सफलता के लिये स्वर-नियमन एव शुद्ध शब्दोच्चारण तथा उन्मुक्त आगिक अभिनय के लिये आर्ट थियेटर के अभिनेताओ के लिये शारीरिक व्यायाम एव विश्राम (रिलैक्सेशन) द्वारा अग-संतुलन एव अग-विक्षेप की शिक्षा भी अनिवार्य कर दी। अभिनय की इसी सर्वांगीण पूर्णता के कारण मास्को आर्ट थियेटर का सामान्य अभिनेता भी भूमिका को असामान्य ढग से कर सकने मे समर्थ होता था। स्टैनिस्लावस्की के निर्देशन मे छोटी से छोटी भूमिका अर्थपूर्ण बन जाती थी। इसका कारण यह था कि उसकी रगशाला मे 'पूर्वाभ्यास दो या तीन सप्ताह नही, महीनो या वर्षो तक चला करता था', जिसके बीच 'नाटक की प्रकृति, नाटककार के मंतव्य और पात्र के स्वरूप का सपूर्ण मडली अध्ययन करती है और विचार-विनिमय करती थी।......अभिनय सामाजिको को प्रभावित करने की प्रविधि की अपेक्षा (पात्रो की) भावनाओ की अभिव्यक्ति की कला बन गया।'[११३]

क्रेग का व्याख्यात्मक अभिनय स्टैनिस्लावस्की के समकालीन ब्रिटिश रग-निर्देशक एवं दृश्य-चित्रक (पेंटर) गोर्डन क्रेग के अभिनय, निर्देशन तथा रग-सज्जा सबन्धी विचार बहुत-कुछ स्टैनिस्लावस्की से मिलते-जुलते थे। क्रेग ने मुख्य निर्देशक के रूप मे मास्को आर्ट थियेटर के आमत्रण पर स्टैनिस्लावस्की के साथ शेक्सपियर-'हैमलेट' का प्रयोग किया, जो हैमलेट की अन्तरात्मा की सही अभिव्यक्ति, सृजनात्मक निर्देशन तथा प्राकृतिक त्रिभुजीय दृश्यावली के कारण बहुत सफल रहा। क्रेग रगमच की प्राचीन परम्पराओ के साथ एकरस स्वाभाविकता और सरलता का भी विरोधी था, क्योकि इस प्रकार की स्वाभाविकता से काव्य-रस की व्याख्या सम्भव न थी। स्टैनिस्लावस्की की ही भाँति क्रेग एक ऐसी पूर्णता और आदर्श की खोज मे था, जिसके द्वारा 'जीवत मानव उद्वेगों की सरल, सशक्त, गहरी, समुन्नत तथा सुन्दर अभिव्यक्ति' की जा सके। [११४] क्रेग के हृदय मे ऐसे कलाकारों के प्रति बहुत बडा सम्मान था, जिनका अपना व्यक्तित्व सुन्दर एव उल्लेखनीय हो और जिनमें अभिनय की सच्ची प्रतिभा हो। व्यक्तित्वहीन एव प्रतिभाहीन अभिनेता की अपेक्षा निर्जीव कठपुतली को वह उत्तम समझता था, क्योकि उसमे कोई बुरी आदत अथवा बुरी मुख-भगिमाएँ नही होती, न उसका मुँह रँगा जाता है, न वाणी मे अतिशयता होती है, न आत्मा की क्षुद्रता ही होती है और न निरर्थक महत्त्वाकाक्षाएँ। [११५] वह रगमच की प्राचीन सपाट दृश्यावली, पक्षो, परदो आदि को भी घृणा की दृष्टि से देखता था। वह उभरे हुए त्रिभुजीय दृश्यों को पसन्द करता था, जिसे वह रगीन रगदीप्ति के सहारे वाछित यथार्थ से अनुप्राणित कर देता था। क्रेग ने स्टैनिस्लावस्की, फ्रास के कलाकार-निर्देशक जैक्विस कोप्यू (१८७८–१९४९ ई०) तथा अन्य समकालीन निर्देशको के सहयोग से कुशल उपस्थापन का जो मानदड स्थिर किया, उसमे व्याख्यात्मक अभिनय, सृजनात्मक निर्देशन तथा जीवंत रग-शिल्प का समन्वय अभीष्ट था।

मेयरहोल्ड का रीतिवाद एवं अन्य पद्धतियाँ · स्टैनिस्लावस्की की अभिनय-पद्धति को यद्यपि आजकल व्यापक मान्यता प्राप्त है, किन्तु स्वय उसी के युग मे उसके विरुद्ध नयी अभिनय-पद्धतियो का प्रवर्तन प्रारम्भ हो गया। रूस के प्रसिद्ध रग-निर्देशक, व्सेवलोद मेयरहोल्ड ने, जो पहले मास्को आर्ट थियेटर के कई नाटको मे अभिनय कर चुका था और जिसने प्रयोगात्मक नाटको की प्रस्तुति के लिये प्रथम 'स्टूडियो' की स्थापना में स्टैनिस्लावस्की के साथ सहयोग किया था, आर्ट थियेटर की स्वाभाविकता के विरुद्ध रीतिवाद (स्टाइलाइजेशन) को जन्म दिया। रीतिवाद का अर्थ है–'किसी युग या घटना-वृत्त (फेनोमिना) के आन्तरिक संयोजन (सिन्थेसिस) की सभी अभिव्यंजनात्मक साधनो द्वारा अभिव्यक्ति, उसकी उन गूढ विशेषताओ का पुनरुत्थापन (रिप्रोडक्शन), जैसी कि किसी कलात्मक प्रस्तुति की अत्यन्त गूढ शैली में पाई जाती है।'[११६] अभिनय-पद्धति में रीत्यनुकूल कलात्मक अभि-

व्यक्ति का अंश जोड़ कर मेयरहोल्ड ने अभिनेता और सामाजिक के बीच के अन्तर को समाप्त कर दिया। दोनों के बीच का परदा (यवनिका) तथा पादप्रकाश हटा दिया गया।[१६] आगे चलकर अनावश्यक रूप-सज्जा तथा परिधान का भी परित्याग कर दिया गया–विशेषकर भीड़ के दृश्यों में। उसने रंगपीठ में चित्रित परदे भी हटा दिये और उनकी जगह गोल, त्रिकोण या चतुष्कोण लकड़ी के विभिन्न प्रकार के मंच या ज्यामितीय आकारों के दृश्यबंध प्रस्तुत करने प्रारम्भ कर दिये, जिनमें चबूतरे या एक तल से दूसरे तल तक जाने के लिए सीढ़ियों का उपयोग भी होता था। अभिनेता मंच के इन विभिन्न तलों या कोणों से अभिनय प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार मेयरहोल्ड ने अभिनय-पद्धति के संस्कार के साथ निर्माणवाद (कान्स्ट्रक्टिविज्म) का प्रवर्तन कर रंग-सज्जा का स्वरूप भी बदल दिया।

मेयरहोल्ड मूलतः प्रतीकवादी था, जिसके लिये उसने जटिल रंग-सज्जा का विधान किया था। प्रतीकवादी अभिनय-पद्धति में भावों या कार्य-व्यापारों के लिये कुछ निश्चित गतियों अथवा मुद्राओं को प्रतीक रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, जिनका प्रयोग प्रत्येक अभिनेता द्वारा अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये किया जाता है। इनमें एक लैम्पपोस्ट या कुएँ के प्रतीक द्वारा सड़क या गाँव का बोध करा देते हैं और पात्र भी प्रतीक बन जाते हैं, यथा कवि, स्वप्नद्रष्टा, नाविक आदि। मेयरहोल्ड ने मेटरलिंक के कई प्रतीकवादी नाटक मंच पर प्रस्तुत किये। इसी के आधार पर आगे चलकर उसने रीतिवादी अभिनय-पद्धति का विकास किया। इस पद्धति में 'यथार्थ का सचेतन एवं *विधिवत् विद्रूपण' किया जाता है और उसमें* 'रूढ़ियों (कन्वेन्सस) की एक निश्चित प्रणाली' का उपयोग होता है। रीतिबद्ध उपस्थापन (प्रोडक्शन) में दृश्यावली को कोणात्मक बना कर, अत्यन्त सरल करके अथवा उसे अतिशयोक्तिपूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें 'टावर', खड्ग अथवा मुट्ठी की छाया में संपूर्ण मंच आच्छादित हो जाय। खास ढंग के मुखौटों, तीखी मुख-भंगिमाओं अथवा संगीतात्मक स्वर का भी रीतिबद्ध अभिनय में उपयोग किया जा सकता है।[१७]

अभिव्यंजनावाद. रंग-निर्देशकों के अतिरिक्त रूस, जर्मनी और स्वीडेन के नाटककारों–क्रमशः लियोनिद आन्द्रेयेव (१८७१–१९१९), जार्ज बुक्नर तथा आगस्त स्ट्रिंडबर्ग (१८४९-१९१२) ने भी यथार्थवाद का पल्ला छोड़ *कर अभिनय और नाटक के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद का प्रवर्तन किया। आन्द्रेयेव-कृत 'ही हू गेट्स स्लैप्ड'*, बुकनर-कृत 'वोयजेक' तथा स्ट्रिंडबर्ग-कृत 'टु दमस्कस' (दो भागों में), 'ए ड्रीम प्ले' तथा 'दि स्पूक सोनाटा' इसी शैली के नाटक हैं। इन नाटकों में कोई 'सुगठित वस्तु' नहीं होती और न इनमें कोई पात्र ही व्यक्ति बनकर रह पाता है–वह 'टाइप' या जाति या विचारों के प्रवर्तक के रूप में सामने आता है, यथा–स्त्री, पुरुष, गड़रिया, प्रेत, भिखारी आदि। ये पात्र प्रायः मनःरोगी होते हैं और मन रोग से पीड़ित समूह या भीड़ का प्रतिनिधित्व करते हैं। एतदर्थ कभी-कभी भीड़ के दृश्यों का भी प्रदर्शन किया जाता है। पात्रों की भाँति घटना के स्थान भी सामान्य एवं प्रतीकात्मक होते हैं, यथा–एक छोटा कस्बा, एक औद्योगिक देश आदि। अभिव्यंजनावाद एक प्रकार से रीतिवाद का *एक विशिष्ट प्रकार है, जिसका जर्मनी और रूस में विशेष प्रचार रहा।*[१८]

अभिव्यंजनावाद का जन्म सन् १९०० के आस-पास फ्रांस में हुआ था, जहाँ से उसने जर्मनी तथा यूरोप के अन्य देशों में प्रवेश किया। अभिव्यंजनावाद की कोई एक टकसाली परिभाषा न होने के कारण उसे अन्तर की अभिव्यक्ति, अन्तरात्मा के प्रदर्शन, नये मूल्यों, नई नैतिकता की खोज के लिये गतानुगतिकता के परित्याग अथवा नूतन तथा उत्तम की स्थापना के लिये प्राचीन के ध्वंस के रूप में समझा जा सकता है। अभिव्यंजनावादी नूतन की खोज में पीछे मुड़कर नहीं देखता। इस विचारधारा का प्रभाव तत्कालीन अभिनय-पद्धति पर भी पड़ा। इस पद्धति में गोर्डन क्रेग, एडोल्फ अप्पिया तथा मैक्स रीनहार्ट द्वारा दृश्यांकन, रंगदीपन तथा निर्देशन के क्षेत्र में प्रवर्तित *सभी नई प्रवृत्तियों का उपयोग किया जाता है।*[१९] इसमें *रीतिबद्ध दृश्यबंध (रंग-स्थापत्य)*, प्रेक्षागार में निकले हुए मंचाग्र, भीड़ के सुन्दर दृश्यों तथा जातीय पात्रों एवं जीर्ण आदर्शों की अभिव्यक्ति के लिये मुखौटों का उपयोग

किया जाता है। मंच पर अन्धकार का महत्त्व बढ़ गया है और पात्रों और उनकी मानसिक वृत्तियों के चित्रण के लिये गहरे रंगीन एवं विरोधी प्रकाश का उपयोग किया जाता है।

प्रथम महायुद्ध के बाद अभिव्यंजनात्मक नाटक और रंगमंच पर राजनीति का प्रभाव बढ़ने लगा और रंगमंच का उपयोग राजनैतिक आन्दोलनों के लिये होने लगा।

ब्रेख्ट की अभिनय-पद्धति : प्रारम्भ में बीसवीं शती के जर्मन नाटककार बर्टोल्ट ब्रेख्ट ने भी 'बाल' या "ड्रम्स इन दि नाइट' जैसे अभिव्यंजनावादी नाटक लिखे, किन्तु शीघ्र ही उक्त शैली के सीमित दायरे से निकल कर उसने अनेक सुन्दर नाटक लिखे और अपने नये अभिनय-सूत्रों का प्रतिपादन किया, जिन्हें 'महाकाव्यात्मक अभिनय' (एपिक रिप्रेजेन्टेशन) के नाम से पुकारते हैं। ब्रेख्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ए शार्ट आर्गेनम फार दि थियेटर' में इस नवीन अभिनय-पद्धति की विस्तृत व्याख्या की है।

ब्रेख्ट के अनुसार प्रेषणीय बिम्ब के लिये किया गया अभिनय तटस्थता-प्रभाव (एलियनेशन इफेक्ट) पर आधारित होना चाहिए। तटस्थता या निर्लिप्ति के नये साधन मुखौटों, संगीत या मुद्राभिनय आदि के प्राचीन साधनों से पृथक् होने चाहिए, यद्यपि वे ऐसे हों कि सामाजिक घटना-क्रम को परिचय की छाप से मुक्त कर सकें। रंगमंच को सामाजिक जीवन के प्रति एक ऐसी निर्लिप्त दृष्टि का विकास करना चाहिए, जो सामान्य निष्क्रिय स्वीकृति की स्थिति से अभिनेता को महत्वपूर्ण खोज की अवस्था में ढाल सके। तटस्थता-प्रभाव उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि अभिनेता पात्र के साथ तादात्म्य अनुभव करके ऐसा न बह जाय कि सामाजिक भी उसके साथ बह जाय। उसे रंगमंच पर अभिनेता और पात्र या चरित्र की दोहरी भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। इसी को 'महाकाव्यात्मक अभिनय' कहते हैं। अभिनेता स्वयं मंच पर रह कर यह दर्शाता है कि उसके विचार से पात्र क्या और कैसा रहा होगा। उसके अभिनय में यह भी व्यक्त होना चाहिए कि 'प्रारम्भ और मध्य में भी वह जानता है कि अन्त क्या होगा' और इस प्रकार उसे अपना स्वतंत्र अस्तित्व निर्विघ्न रूप से बनाये रखना चाहिए।[३०]

ब्रेख्ट के मतानुसार अभिनय के लिये मात्र अनुकरण पर्याप्त नहीं है, अभिनेता में सूक्ष्म पर्यवेक्षण (आब्जर्वेशन) शक्ति भी होनी चाहिए। पर्यवेक्षण के लिये उसे स्वयं युग के मानवीय सामाजिक जीवन में प्रवेश करना चाहिए। चरित्रों के पारस्परिक व्यवहार के मध्य उसे शारीरिक भंगिमा, मुख-मुद्रा और कंठ-स्वर सभी पक्षों पर पूरा ध्यान देना चाहिए, जिससे बिम्ब-निर्माण करते समय कोई पक्ष छूट न जाय। पात्रों के समूहन और उनकी विभिन्न गतियों को भी सुन्दरता के साथ मंच पर उपस्थित किया जाना चाहिए।

नाटक और रंगमंच का मुख्य कार्य है—कथा का उद्‌घाटन और उसका समुचित तटस्थताकारी उपायों द्वारा सम्प्रेषण। यह कार्य केवल अभिनेताओं के ही माध्यम से नहीं, उनके साथ सभी रंग-शिल्पियों—रंगसज्जाकारों, वेशकारों, संगीतकारों, नृत्यरचयिताओं, दीप्तिकारों आदि के समन्वित कार्य से ही सम्भव है।[३१]

ब्रेख्ट की उपर्युक्त अभिनय-पद्धति में काव्य और संगीत, लोकभाषा तथा लोक-धुनों का सम्मिश्रण मिलता है। लोयार लुट्जे ब्रेख्ट की अद्‌भुत काव्य-शैली के अवयवों का विश्लेषण करते हुए कहता है कि उसमें 'शेक्सपियर के काव्य, बोलचाल के गद्य, प्राचीन जर्मन काव्य, लोकगीत और बच्चों की तुकबंदियों का अपूर्व समन्वय है।'[३२] अभिनय में तटस्थता-प्रभाव उत्पन्न करने के लिए एक ओर उसने काव्य और संगीत को अपनाया तथा वाचक और 'कोरस' के माध्यम से बीती हुई कथा का सारांश प्रस्तुत कर भावी कथा की ओर संकेत करने की पद्धति का अनुसरण किया, तो दूसरी ओर अभिनेता से यह अपेक्षा की कि वह स्वयं पात्र ही न बनकर अपनी स्वतंत्रता बनाये रहे। अपने कथ्य को सामाजिक तक पहुँचाने के लिये काव्य और गद्य में उसने लोक-भाषा का व्यवहार किया और संगीत में लोकधुनों का आश्रय लिया। जहाँ तक काव्य, संगीत तथा वाचक द्वारा कथा-सूत्रों को जोड़ने और आगे बढ़ाने की पद्धति का प्रश्न है, ब्रेख्ट और भारत के संस्कृत नाटकों एवं लोकनाट्यों में बहुत समानता है। भारतीय नाट्य

परम्परा में काव्य, संगीत और सूत्रधार का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

ब्रेख्ट किसी भी अभिनेता से संवाद या पद्य का एक ही अंश बार-बार और कई तरह से कहलवाते थे और संवाद या गायन का जो ढंग, भंगिमा या मुख-मुद्रा उन्हें पसन्द आ जाती थी, उसी को अभिनय के लिये चुन लेते थे। इस प्रकार यह अभिनय 'ऊँचे दरजे की रीतिबद्धता' से युक्त होता था। ब्रेख्ट को अभिनय को अन्तिम स्वरूप देने अथवा दृश्य को पहले कागज पर अभिकल्पित कर उसके 'माडल' तैयार करने और अन्त में दृश्यबद्ध बनाने आदि में कई महीने और पूरा नाटक तैयार करने में वर्षों लग जाते थे।

अन्य अभिनय-पद्धतियाँ : स्टैनिस्लावस्की की प्रकृतिवादी एवं यथार्थवादी अभिनय-पद्धति के विरोध में यूरोप में अन्य कई प्रकार की अभिनय-पद्धतियाँ प्रचलित हुईं, जिनमें स्वाभाविक अभिनय और रंग-सज्जा के प्रति वितृष्णा और विद्रोह की भावना स्पष्ट थी। इनमें प्रमुख हैं—प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्टिक), कल्पनावादी (फैन्टेस्टिक), प्रहसनात्मक (बर्लेस्क), अतियथार्थवादी (सुर-रियलिस्टिक) आदि। इन पद्धतियों के अन्तर्गत अभिनय की विविध विधाएँ देखने में आईं, जो बहुत कुछ नाटक के स्वरूप (फार्म) तथा प्रकृति (नेचर) पर आधारित हैं। अतियथार्थवाद में यथार्थवाद से दो कदम आगे बढ़कर 'अनेक टेढ़ी-मेढ़ी, टूटी और अपूर्ण वस्तुओं का संग्रह करके' अर्ध-चेतन अथवा स्वप्नावस्था का प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। निश्चय ही इस पद्धति से कला-साधना की दिशा में कोई विशेष उपलब्धि नहीं हुई है।

नाट्यधर्मी स्वाभाविकता : जीवन के यथार्थवादी प्रतिबिम्ब या व्याख्या तथा नाटककार के मन्तव्य के स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक है कि अभिनय यथासम्भव स्वाभाविक हो। स्वाभाविक अभिनय का अर्थ व्यावहारिक-जगत के कार्य-व्यापारों का शत-प्रतिशत अनुकरण नहीं है। मंच जीवन का प्रतिबिम्ब है, परन्तु पदार्थ या कार्य-व्यापार की अनुकृति होते हुए भी उसमें एक विशेष प्रकार की आभा होती है, एक विशेष प्रकार के रेशमी और रंगीन ताने-बाने में वह लिपटा रहता है। यह अनुकृति पदार्थ या कार्य-व्यापार की प्रतिकृति ज्ञात होती है, परन्तु वह स्वयं पदार्थ या व्यापार नहीं है। यही पदार्थाभास या व्यापाराभास मंचस्थ नाटक का लक्ष्य है, जो जीवन की वास्तविकता के निकट होते हुये भी उससे कुछ पृथक्, अपार्थिव और अलौकिक होता है। परदा उठते ही सामाजिक को यह अनुभव होने लगे कि वह किसी दूसरे किन्तु 'वास्तविक' लोक में आ गया है और उसके अवचेतन मन में यह बोध भी रहना चाहिए कि वह रंगशाला में बैठा है और यह लोक केवल कल्पनाश्रित है।

अभिनय को स्वाभाविक बनाने के लिए नाट्यधर्मी स्वाभाविकता का आश्रय लेना आवश्यक है, अन्यथा अभिनेता का सारा कार्य-व्यापार जीवन के दैनंदिन कार्य-व्यापार से भिन्न न होगा। अभिनय की स्वाभाविकता की रक्षा के लिए रंगमंच की कलात्मक सीमाओं का ध्यान रखना आवश्यक है, जिससे वह सम्प्रेषणीय बन सके और सामाजिक इसमें रस ले सकें। पुनश्च, अभिनय व्यक्तिगत कला नहीं, समूहगत कला है, अतः किसी एक घटना या व्यापार का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है और प्रत्येक व्यक्ति में क्या क्रिया या प्रतिक्रिया होती है, अभिनय में इसका पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। स्वाभाविकता के लिये कुशल संरचना—'कम्पोज़ीशन' अपरिहार्य है। आधुनिक अभिनय-पद्धति में संरचना के सिद्धान्त को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मंच पर किसी पात्र की मृत्यु होने पर उपस्थित पात्रों में से कोई शोकाकुल होता है, तो कोई भयभीत और वह चीख कर मूर्च्छित हो जाता है। कोई प्रतिशोधवश संतोष और राहत की साँस लेता है, तो कोई कृत्रिम संवेदना-प्रदर्शन की चेष्टा करता है। किसी को निर्वेद हो जाता है और वह आत्म-चिन्तन में खो जाता है। कुशल संरचना में मृतक के साथ विविध सम्बन्धों पर आश्रित इन भावों और मनोविकारों का प्रदर्शन प्रत्येक अभिनेता के चेहरे पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। मनोविकारों के साथ ही किस अभिनेता की क्या स्थिति होगी, वह कैसा आचरण करेगा, इसकी ओर दृष्टि रखना भी आवश्यक होता है। इसी प्रकार भीड़ के अभिनय में कार्य-रत पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्र भी अपनी

शारीरिक चेष्टा, भाव-भंगी, गति आदि के द्वारा अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते रहते है।

विराम एवं कार्य-व्यापार—आंगिक और सात्त्विक अभिनय के साथ ही आधुनिक अभिनय में वाचिक अभिनय को भी यथोचित महत्त्व प्राप्त है। ध्वनि-विस्तारक यन्त्र के आविष्कार ने वाचिक अभिनय को स्वाभाविकता प्रदान करने में सर्वाधिक योग दिया है। रंगशाला की श्रुति-सिद्धता भी इसमें सहायक हुई है। अब भरत, शेक्सपियर या बेताब के युगों की भाँति उच्च स्वर में सम्भाषण आवश्यक नहीं, क्योंकि इस प्रकार का सम्भाषण कृत्रिम होने के कारण अब अनावश्यक हो गया है। अब केवल अवसरानुकूल ही उच्च स्वर या तीव्रगति की आवश्यकता होती है, अन्यथा यति (विराम), धीमेपन या स्वर-नियन्त्रण को सम्भाषण में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस यति या स्वर-नियंत्रण को कई प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है—एक भाव से दूसरे भाव तक पहुँचने के लिये, सामाजिक की प्रतिक्रिया (हँसी, ताली आदि के रूप में) को समाप्त होने देने के लिये, जिससे वाक्य या उसका कोई अंश अनसुना न रह जाय, आदि। विराम की आवश्यकता होने पर, अभिनय की अखंडता को बनाये रखने के लिए, भावानुरूप कार्य-व्यापार का क्रम बनाये रखा जाता है। सिगरेट सुलगाना या उसके कश खींचना, किसी स्त्री का स्वेटर या मोजा बुनना, चाय पीना, समाचार-पत्र या पुस्तक देखना आदि इसी प्रकार के व्यापार हैं, जिनमें विराम से उत्पन्न अन्तराल को भरा जा सकता है।

असंगत-नाट्य—द्वितीय महायुद्ध के कुछ पूर्व और इसके बाद कुछ अन्य अभिनय-पद्धतियों का भी अभ्युदय हुआ, जो मुख्यतः नाटक के स्वरूप और प्रकृति पर ही आधारित थीं। ये हैं असंगत नाट्य (एब्सर्ड थियेटर अथवा थियेटर आफ दि एब्सर्ड), वृत्त नाट्य (डाक्यूमेंटरी थियेटर) तथा सम्पूर्ण नाट्य (टोटल थियेटर)।

असंगत नाट्य में लेखक और प्रयोक्ता, दोनों ही परम्परागत नाट्य-रूढ़ियों से मुक्त होकर क्रमशः नाटक का सृजन और प्रयोग का प्रस्तुतीकरण करते हैं। यह नाट्य-पद्धति अपने को रंगमंच का 'अग्र-प्रहरी' (एवान्त गार्द) मानती है। इसमें ऐसे पात्रों का प्राधान्य है, जो आत्म-पीड़ित, नियति के दारुण व्यंग्य से परितप्त तथा जीवन के परस्पर-विरोधी मूल्यों के बीच दिग्भ्रमित रहते हैं। ये पात्र दिन-प्रति दिन के व्यवहार के पारम्परिक वार्तालाप को असंगत एवं अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि वह उपहासास्पद लगे, किन्तु उससे जीवन के किसी नग्न सत्य का उद्घाटन हो। यह नग्न सत्य शब्दों की तहों की तह में छिपे अर्थ में अन्तर्निहित होता है। बलवन्त गार्गी के मतानुसार असंगत नाट्य, जिसे उन्होंने 'ऊलजलूल का थियेटर' कहा है, 'उस सत्य की खोज करता है, जो परम्परागत शब्दों, रीतियों, तर्क-वितर्क और बौद्धिकता में खो गया है।'[१३८] यह सत्य सहज कथनीय नहीं है, अतः संवाद छोटे और ऊब पैदा करने वाले होते हैं। सत्य का एक बड़ा अंश अनकहा रह जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति प्रायः मौन अथवा अभिनटन द्वारा की जाती है। कभी किसी प्रतीक को अपना कर अनकहे सत्य को व्यक्त करने की चेष्टा की जाती है। सामाजिक नाट्याभिनय, उसके सांकेतिक रंगोपकरण, कथ्य की विचित्रता और कथ्य की अभिव्यक्ति के अद्भुत ढंग अर्थात् संवाद से एक बार हतप्रभ हो उठता है, क्योंकि प्रथम दृष्टि में समस्त कार्य व्यापारों एवं शब्दों (संवाद) में उसे किसी अर्थवत्ता का, संगति का बोध नहीं हो पाता। यूरोप और अमेरिका में ये प्रयोग ऐसे सामाजिकों के बीच सफल हुए हैं, जो असंगत नाट्य के आत्म-पीड़ित एवं दिग्भ्रांत पात्रों के जीवन को कभी जी चुके थे अथवा ऐसे अर्थहीन जीवन को भोग रहे थे।

असंगत नाट्य का आविर्भाव फ्रांस में हुआ, जिसके प्रवर्तक हैं-सैमुअल बैकेट, ज्याँ जेने तथा यूजीन इयोनेस्को। बैकेट-कृत 'गोदो की प्रतीक्षा', 'खेल खत्म' तथा 'अच्छे दिन', जेने के 'नौकरानियाँ' (१९४६ ई०) तथा 'झरोखा' तथा इयोनेस्को के 'कुर्सियाँ' (दि चेयर्स), 'गैंडा' आदि असंगत नाटक हैं। 'गैंडा' नाटक में गैंडा जीवन की कुरूपता, कठोरता और वीभत्स भयानकता का प्रतीक है, जिसका विरोध करने के लिए उसके नायक बैरेंजर को खड़ा होना पड़ता है, किन्तु अन्त में अपने को सर्वथा अकेला पाकर परिस्थितियों से समझौता करने के लिए वह भी बाध्य हो जाता

है। इयोनेस्को असंगत नाटक से आगे बढकर अ-नाटक (एंटी-प्ले) का प्रवर्तक है। उनके 'कुर्सियाँ', 'गेंडा' आदि नाटकों को अ-नाटक कहना अधिक समीचीन होगा।

वृत्त-नाट्य : वृत्त-नाटक एक प्रकार का तथ्यवादी नाटक है, जिसमे अभिलेख, लिखित वृत्त अथवा वास्तविक तथ्यो का निश्चित दिनाक एव हस्ताक्षर के साथ विवरण नाट्य-रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। यह कोई सामान्य साहित्यिक कृति न होकर एक ऐसी नाट्य-कृति है, जिसमे गत्यात्मक नाट्य-व्यापार, सजीव पात्र एवं उत्तेजक घटनाएँ होती हैं। इस नाटक की अभिनय-पद्धति असगत नाटक की उन्मुक्त नाट्य-पद्धति से भिन्न है और कल्पनावादी अथवा कलात्मक अभिनय-पद्धति की अपेक्षा यह अधिक दुरूह है। इसके लिए अन्य सामान्य नाटकों की अपेक्षा कही अधिक *व्यावसायिक अभिनय-कौशल की आवश्यकता है।*[२९] इसके विशिष्ट अभिनय-कौशल के कारण इसमे लेखक की भूमिका उत्तरोत्तर गौण और प्रयोक्ता की प्रमुखता होती जा रही है। लेखक घटनाओं एवं वृत्तो का सकलनकर्ता मात्र रह गया है। वृत्त नाटक की प्रवृत्ति कला की अपेक्षा यथार्थ की ओर अधिक है। इस प्रकार यह ब्रेख्ट के लेखन-प्रधान कलात्मक नाट्य मे भी भिन्न है।[३०] द्वितीय महायुद्ध के बाद मे गत दशक (१९६०-१९७०) तक वृत्त-नाट्य का जर्मनी और रूस के रगमच पर विशेष प्रचार-प्रसार रहा है।

सम्पूर्ण या समग्र नाटक : अ-नाटक और वृत्त-नाट्य की अपेक्षा सम्पूर्ण नाट्य पश्चिम की एक नवीनतम विधा है, जिसके स्वरूप-निर्णय के लिए गत दशक के अन्त तक विचार-विनिमय चलता रहा है। सम्पूर्ण नाट्य पर अक्टूबर, १९६६ मे नयी दिल्ली मे भारतीय नाट्य सघ ने पूर्व-पश्चिम नाट्य-गोष्ठी का आयोजन किया था, जिसमें दक्षिणी अमेरिका के देशो को छोडकर विश्व के लगभग ३० देशो ने भाग लिया। सम्पूर्ण नाट्य के स्वरूप पर विचार करते हुए इसकी यह प्रारम्भिक परिभाषा निश्चित की गई कि सम्पूर्ण नाट्य वह विधा है, जो किसी एक ही एकीकृत सृजनात्मक कृति मे गद्य की बोलचाल की भाषा मे आगे बढकर काव्य, संगीत, गीत, अभिनटन, नृत्य तथा वैद्युतिक एव श्रुतिसिद्धीय उपकरणो को अपनाए।[३१] वैगनर, गोर्डन क्रेग, मेयरहोल्ड, ब्रेख्ट, पिस्केटर, आर्ताउद आदि नाट्य-शास्त्रियो, नाटककारो एवं रग-निर्देशको ने अपने-अपने ढंग से सम्पूर्ण नाट्य की व्याख्या की अवश्य है, किन्तु इस गोष्ठी के पूर्व इस पर सामूहिक रूप से पहले विचार नही किया गया था। अधिकांश विद्वानों ने उपर्युक्त परिभाषा से कम-बेस रूप मे सहमति प्रकट करते हुये सम्पूर्ण नाट्य के दो पहलुओं का निर्देश किया : (१) इस नाट्य मे सम्पूर्ण सामाजिको का योगदान अपेक्षित है तथा (२) नाट्य के विविध उपादानो—शब्द (गद्य एवं पद्य में), गीत, नृत्य, सगीत तथा रगशिल्प (रगदीपन, रंग-सज्जा आदि) का प्रभावी एकीकरण आवश्यक है। इन दोनों पहलुओं को मिलाकर गोष्ठी के प्रथम प्रस्ताव मे इसकी जो अन्तिम परिभाषा निश्चित की गई, वह इस प्रकार है : 'अपनी सर्वाङ्गपूर्ण सम्पूर्णता मे यह एक ऐसी नाट्याभिव्यक्ति है, जिसमे बौद्धिक एव लोकानुगत इच्छा की पूर्ति के *लिए कलात्मक रूप से एकीकृत ढग से प्रत्येक साधन का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार का नाट्य* सर्वाधिक व्यक्तियों के लिये सम्प्रेषणीय होना है।'[३२]

उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें रंगमंच के तीनों मुख्य उपादानों—नाटक, अभिनय तथा रगशाला के सम्मिश्रण अथवा एकीकरण (इंटीग्रेशन) की चेष्टा मुखरित है। इस नाट्य-पद्धति को अपना कर एक नये प्रकार के नाटक, नयी अभिनय-पद्धति, नये प्रकार के मंच और रंगशिल्प की उद्भावना की जा सकती है। पश्चिम मे इसके बीज अमेरिका की सगीतात्मक सुखांतिका में पाये जाते हैं, जो सगीत, नृत्य तथा अतिशय दृश्य-प्रदर्शन पर आधारित एक अमर्यादित सगीतिका (एक्स्ट्रावैगेन्ज़ा) है।[३३] पूर्व मे भारत, चीन, जापान, हिन्देशिया, थाइलैण्ड आदि देशो का पुरातन नाट्य इस दृष्टि से एक सम्पूर्ण नाट्य कहा जा सकता है। भारत और एशिया के अन्य देशो के इस नाट्य मे काव्य, संगीत, नृत्य तथा अभिनटन के साथ सामाजिक तथा अभिनेता को निकट लाने वाले रग-स्थापत्य तथा सवाद-वाचन, स्थान और समय की अभिव्यक्ति की निजी रूढियों का समाहार

रहना है । इस नाट्य की अभिनय-पद्धति मे रीतिबद्धता तथा नाट्यधर्मी रीतियो एव रूढियो का प्राधान्य है । भरत ने भारत के प्राचीन नाट्य की सम्पूर्णता पर विचार व्यक्त करते हुए स्पष्ट घोषणा की है कि ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग या कर्म नही है, जो इस नाट्य मे न हो ।[३४] पश्चिम की आधुनिक अभिनय-पद्धति पूर्वी पद्धति की इन विशेषताओ से न केवल आकृष्ट हुई है, वरन् प्रभावित भी होती जा रही है ।

उपर्युक्त परिभाषा मे एक दोष भी है । कोई भी नाट्य या रगमच हो, सर्वाधिक सम्प्रेषणीयता उसका लक्ष्य हो सकता है, किन्तु उसे उसकी सम्पूर्णता या कला की श्रेष्ठता की कसौटी नही माना जा सकता । सम्भव है, *अत्यधिक लोकप्रिय नाट्य भी कला-मूल्यो से हीन हो, अत लोकप्रिय* (सम्पूर्ण) नाट्य को उदात्त (क्लैसिकल), प्रयोगात्मक अथवा किसी भी अन्य प्रकार के नाट्य के साथ सह-अस्तित्व बनाये रखना चाहिए ।

आधुनिक अभिनय-पद्धति प्रगति के जिस सोपान पर आज आरूढ है, नाट्याचार्य भरत की अभिनय-पद्धति अब से लगभग सत्रह-अठारह सौ वर्ष पूर्व पहुँच चुकी थी । भरत ने चतुर्विध अभिनय के दो अगो—आगिक और वाचिक अर्थात् अङ्ग-चेष्टाओ और शब्दो आदि के सयोग से चित्राभिनय-पद्धति का बडे विस्तार से वर्णन किया है ।[३५] इस चित्राभिनय मे विभिन्न मुद्राओ, अगहारो, गति-प्रचार आदि के द्वारा विविध प्रकार की भावाभिव्यक्ति, सकेत और चाल, शब्दो की पुनरावृत्ति द्वारा भय, क्रोध, शोक आदि भावो की व्यजना, सम्भाषण के विविध प्रकार आदि का समावेश है । सम्भाषण के चार प्रकारो मे से आकाश-भाषित और जनान्तिक आज के युग के लिए अप्राकृतिक समझे जाने लगे है, किन्तु आत्म-गति (स्वगत) और अपवारित (कान मे गुप्त वार्ता) का आज भी सफलता के साथ उपयोग किया जा सकता है । मुद्राओ आदि को रूढ, पारम्परिक, नृत्योपयोगी आदि कह कर भले ही उनकी उपेक्षा की जाय, किन्तु यह तो मानना ही पडेगा कि भावाभिव्यजन की भारतीय पद्धति अत्यन्त विकसित और प्रौढ रही है । *यदि आज भी भावाभिव्यञ्जन की इन कलात्मक एव नाट्यधर्मी सीमाओ को ग्रहण कर अभिनय किया* जाय, तो वह वास्तव मे स्वाभाविक अभिनय की कोटि मे ही रखा जाएगा । इसके लिए प्रत्येक उपस्थापक (प्रोड्यूसर) और निर्देशक (डाइरेक्टर, जो एक प्रकार से सहायक प्रोड्यूसर ही होता है)[३६] के लिए नाट्यशास्त्र का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है ।

आधुनिक आहार्य . आधुनिक युग मे विज्ञान, प्रौद्योगिकी और सभ्यता के विकास के कारण आहार्य के क्षेत्र मे आधुनिक अभिनय-पद्धति भरत को पीछे छोड आई है और यह स्वाभाविक भी है । युग के साथ युग-धर्म बदलता है और तदनुसार आधुनिक आहार्य भी बदला और विकसित हुआ है । आधुनिक आहार्य के तीन प्रमुख अङ्ग हैं : अङ्ग-रचना, वेशभूषा और अलकरण ।

(१) **आधुनिक अंग-रचना (रूप-सज्जा)** यद्यपि आधुनिक अङ्ग-रचना अथवा रूप-सज्जा अपने मे एक पूर्ण कला एव विज्ञान का समन्वय है, तथापि भारत को अङ्ग-रचना के मूल-सिद्धान्तो का अब से लगभग सत्रह-अठारह सौ वर्ष पूर्व भी पूरा वैज्ञानिक ज्ञान था । उस समय यूनान मे चरित्राभिव्यञ्जन एव भाव-प्रदर्शन के लिए तरह-तरह के चेहरो *या मुखौटो का प्रयोग किया जाता था । भारत मे भी चेहरो का प्रयोग किया जाता था*, परन्तु उनका उद्देश्य भावाभिव्यजन नही, विशिष्ट चरित्रो, यथा राक्षस, दैत्य, वानर आदि का प्रदर्शन मात्र करना होता था । भावाभिव्यञ्जन के लिये विविध मुख-मुद्राओ एव सूक्ष्म सात्त्विक भावो के प्रदर्शन पर ज़ोर दिया जाता था । अग-रचना द्वारा सम्भवत पात्र के देश, जाति, रग-रूप आदि का ज्ञान कराना ही अभिप्रेत समझा जाता था । मुख की रूप-सज्जा द्वारा भावाभिव्यक्ति पर अधिक जोर नही दिया जाता था । आधुनिक रूप-सज्जा इस दृष्टि से बहुत आगे बढ चुकी है । विशिष्ट चरित्रो की रूप-सज्जा से ही किसी व्यक्ति के वृद्ध अथवा प्रौढ होने, प्रसन्न-चित्त अथवा क्रोधी होने, नाविक या दास होने का बोध हो जाता है । दूसरे, शोवक रूप-सज्जा से युवक को वृद्ध, दोनो आँख वाले को अन्धा, सम्पन्न को भिखारी बनाया जा सकता है । इसके लिये उपयुक्त रगो के सम्मिश्रण, आलोक एव

छाया का ज्ञान, शरीर-विज्ञान के अन्तर्गत मुख की माम-पेशियो एवं अस्थियों का अध्ययन, मनोविज्ञान के अन्तर्गत भावो के उतार-चढ़ाव के लिये रेखाओ एव झुरियो के घुमावो की अभिज्ञता आवश्यक है। रूप-सज्जा करने के पूर्व उसे यह भी जान लेना आवश्यक होता है कि किस प्रकार या रग की रगदीप्ति में रूप-सज्जा के लिये कौन-कौन-से हलके या गहरे, मूल या मिश्रित रगो का प्रयोग करना पडेगा।

आधुनिक रूप-सज्जा का मूलाधार ग्रीज-पेण्ट है, जिसका आविर्भाव सन् १८७३ ई० में हुआ। ग्रीज-पेण्ट ने रूप-सज्जा के इतिहास में क्रांति उपस्थित कर दी है। इसके द्वारा अपेक्षाकृत स्थायी ढग की वास्तविक, कलापूर्ण एव वैज्ञानिक रूप-सज्जा सम्भव हो सकी है। इसके द्वारा रंगो की कलापूर्ण मिलावट के बाद पाउडर लगाने से मानवीय मास का प्राकृतिक रग उभर आता है, जिससे रूप-सज्जा की स्वाभाविकता बढ जाती है। पुनश्च, यह चर्म को कोई हानि नहीं पहुँचाता। आधुनिक रूप-सज्जा पश्चिम की देन है।

उन्नीसवी शती के उत्तरार्ध मे जब ग्रीज-पेण्ट का आविष्कार नही हुआ था, रूप-सज्जा रग के सूखे चूर्ण से अथवा जल मे उसे घिस या मिलाकर की जाती थी। उन दिनो रूप-सज्जा के लिये (१) खडिया, गेरु, पीली मिट्टी और कोयला, (२) मुर्दाशख, सिन्दूर एवं काजल या काला रग अथवा (३) जिंक आक्साइड, मुर्दा, प्योरिया और काले रग मे की जाती थी। रूप-सज्जा के पिछले दोनो नुस्खे व्यावसायिक मण्डलियों द्वारा उपयोग मे लाये जाते थे। गाँवो तथा नगरो में दूर की अव्यावसायिक मण्डलियों द्वारा खडिया, गेरू आदि द्वारा ही काम चला लिया जाता था। ग्रीज-पेण्ट के आधार पर रूप-सज्जा की प्रणाली केवल अत्यन्त साधन-सम्पन्न, विकसित एवं आधुनिकतम नाट्य-संस्थाओ द्वारा ही काम मे लाई जाती है।

ग्रीज-पेण्ट लम्बी पतली छडियो के रूप मे उपलब्ध है। यह रग मोम और वनस्पति तेल से बनाया जाता है। यो ये ग्रीज-पेण्ट लगभग पचास विविध रगों के होते हैं, परन्तु मुख्य इनमें तीन मूल रंग—लाल, पीले और नीले तथा दो तटस्थ अथवा नकारात्मक रग—सफेद और काले हैं, जिनके सयोग अथवा मिश्रण से अनेक प्रकार के रंग उत्पन्न किये जा सकते हैं। मानवीय मास का रग भी मिश्रित रग है, जो स्त्री-पुरुषों की स्वाभाविक मुख-कान्ति को उभारने मे बडी सहायता देता है।

ग्रीज-पेण्ट के प्रत्येक रग की अपनी एक संख्या होती है और उसका मुख्य उपयोग उसी के साथ अंकित होता है, जिससे नव-सिखिये रूप-सज्जाकारो को बड़ी सहायता मिलती है। स्त्रियों के मुख के लिये प्राय: संख्या १ से लेकर सं० ३ तक के गुलाबी रंगो का और पुरुषो के मुख के लिए स० ३ से लेकर सं० २० तक अनेक गुलाबी, लाल, भूरे, पीले, ग्रे, काले और श्वेत रंगो का उपयोग किया जाता है।

इनके साथ ही कपोलों के रग को उभारने के लिये 'रूज', रेखाओ को स्पष्ट बनाने के लिए 'लाइनर' तथा भौं और ओठो की रेखाओ को व्यक्त करने के लिये भौं और ओठो की पेंसिलो की आवश्यकता होती है। स० १, २, ३ और ४ का कारमाइन रग (एक प्रकार का बैंजनीपन लिए लाल रग) स्त्रियो के कपोलो पर रूज लगाने और ओंठ रँगने के काम मे लाया जाता है स० १, २, ३ और ४ का नारगी रग पुरुषों के कपोलों पर लगाया जाता है। आँखो के नीचे की रेखाओ तथा मुख के छायालोक को स्पष्ट बनाने के लिये ग्रे, नीले और भूरे रगों के लाइनर काम में आते हैं। भौंहें और बरौनियाँ बनाने के लिए काले या भूरे रंग की पेंसिल या लाइनर आता है। लाइनर भी एक प्रकार का ग्रीज-पेण्ट है, जिसकी छडी ग्रीज-पेण्ट की छडी की अपेक्षा बहुत पतली होती है।

पलको पर पडने वाली छाया को वस्त्र अथवा रग-दीप्ति के विशिष्ट रग के सन्दर्भ मे अभिव्यक्त करने के लिए पलको को नीले, हरे, भूरे या बैंजनी रंगों से रँगना आवश्यक होता है।

रूप-सज्जा दो प्रकार की होती है—पहली वह, जिसमे मुख की प्राकृतिक विशेषताओ अथवा परम्परागत आकृति को, बिना उसमें कोई परिवर्तन किये, उभारा जाता है अर्थात् प्राकृतिक रूप-सज्जा और दूसरी वह, जिसमें

चरित्र की विशेषताओं, वेश-भूषा के रंग अथवा रंग-दीप्ति के कारण मूल आकृति मे परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है अर्थात् शोधक रूप-सज्जा।

प्राकृतिक रूप-सज्जा भी दो प्रकार की होती है—एक वह, जिसमे मूल रगों को बिना किसी दूसरे रग मे मिलाए मुख की रूप-सज्जा की जाती है और दूसरी वह, जिसमें रूप-सज्जा को अपेक्षाकृत अधिक प्राकृतिक बनाने के लिये दो या अधिक रगो का सम्मिश्रण किया जाता है। उदाहरण के लिए स० ५ और ९ के रगों के सम्मिश्रण से स० ३½ के समान रग बनाया जा सकता है। इसी प्रकार स० २½ क्रीम और स० ९ के रग मिलाने से भी स० ३½ के समान रग तैयार हो सकता है। किसी तरुणी की स्वाभाविक मुखकान्ति को प्रकट करने के लिये सरल रूप-सज्जा की अपेक्षा सम्मिश्रित रूप-सज्जा अधिक उपयोगी है। इसके लिए स० ५ और स० १½ को बराबर-बराबर मिला कर मुख पर लगाना चाहिए, जिसमे क्रीम रग उभर आए। इसके ऊपर स० ९ या ३ का रग बहुत हल्का लगाना और मलना चाहिए, जिससे प्राकृतिक कान्ति निखर आये।

प्राकृतिक रूप-सज्जा रूप-सज्जा किसी भी प्रकार की हो, दो बातो का ध्यान रखना अत्यावश्यक है: १—मुख को गुनगुने पानी और साबुन से धोकर रोयेंदार तौलिये से मुख का पानी भली प्रकार सुखा लिया जाय, जिसने मुख की गदगी तेल आदि छूट जाय, और २—केशो को केशजाल अथवा सिर पर रूमाल या रिबन बाँध कर मुख से अलग कर दिया जाय, जिससे ग्रीज-पेण्ट या पाउडर बालो मे न लगे। पुरुषो के लिए दाढ़ी बनाकर मुख धोकर साफ कर लेना आवश्यक है। इसके बाद कोल्ड-क्रीम लगा कर अवशिष्ट गदगी, पसीने और चिकनाई को साफ कर लेना चाहिए और मुख को पुन रोयेंदार तौलिये से पोंछ लेना चाहिये। इससे चर्म-रध्र भर जाते हैं और ग्रीज-पेण्ट समरूप से लगाने मे सुविधा होती है।

तरुणी को वाछित कोटि के लावण्य के लिए स० २½ अथवा उसमे स० १½ का दशाश मिला कर अथवा स० २½ मे क्रीम का दशाश मिला कर पहले कुछ लकीरे माथे पर, एक-एक लकीर नाक के अगल-बगल और प्रत्येक कपोल पर कुछ लकीरे तथा चिबुक के चारो ओर एक लकीर तथा चिबुक के नीचे के भाग मे कुछ लकीरें लगा दी जाँय। रग की इन रेखाओं को उँगलियों से मिलाया जाय, जिससे रग सर्वत्र समरस हो जाय। रग को इस प्रकार मिलाया जाय कि मिलावट ऊपर बालो की ओर बढ़े, किन्तु रग बालो मे न लगे और न मिलावट का ही कुछ पता चले। आँखों के नीचे के गडों मे नीचे की बरौनियों तक यह मिलावट आनी चाहिए। रग की मिलावट कानो के पीछे और गर्दन के चारों ओर भी उचित मात्रा मे होनी चाहिए।

आधार-स्वरूप पेण्ट के उपयोग के बाद कपोलो पर रूज—कारमाइन २—लगाया जाता है। रूज एक प्रकार का 'साइनपोस्ट' है, जो प्रेक्षक की आँख को मुख के उस भाग की ओर आकृष्ट करता है, जहाँ वह लगाया जाता है और वह न केवल मुख के सर्वोत्कृष्ट अश को उभारता है, उसकी रेखाओं को भी स्पष्ट बनाता है।[१७] रूज कपोल-अस्थि के घुमाव के अनुसार चन्द्राकार लगाया जाता है और मिलावट द्वारा ऊपर आँखो के किनारे और कनपटी तक और नीचे कपोलो को घेरते हुए इस प्रकार चारो ओर फैला दिया जाता है कि मिलावट का जोड न प्रकट हो। इसके बाद छाया और आलोक का प्रभाव उत्पन्न करना चाहिए।

इसके बाद ओठो और आँखो की सज्जा की जाती है। प्राय रूज से ही अथवा लिपस्टिक या ओठो की पेंसिल से ओठ रग दिये जाते है। ऊपरी ओठ का रग नीचे के अधर मे अपेक्षाकृत गहरा होना चाहिए। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि ओठों को मुख पर पाउडर लगा लेने के बाद रगना चाहिये।[१८]

यदि आँखों की उपयुक्त सज्जा न की जाय, तो सुन्दरतम आँखें भी, रग-दीप्ति मे रगहीन, छोटी और निष्प्राण प्रतीत होने लगती है।[१९] ऐसी दशा मे रूप की कोटि और वस्त्रो के रग को ध्यान मे रख कर पलकों को हल्का या गहरा नीला, भूरा या हरा रँगना होता है। साथ ही बरौनियों को केशो के रग के अनुकूल भूरा या

काला बनाना चाहिये । भौंहो को भी तदनुसार धनुषाकार और बड़ा बनाना चाहिए । बरौनियों और भौंहो को प्राय: पानी के रंगों से रंगा जाता है । बरौनियाँ और भौंहे भी पाउडर लगाने के बाद रंगी जानी चाहिए ।

अन्त मे ग्रीज-पेण्ट को सुखाने और स्थिर बनाने के लिए मुख पर 'ब्लेंडिंग पाउडर' लगाया जाता है । यदि ब्लेंडिंग पाउडर न हो, तो रूप-सज्जा के अनुरूप तीन-चौथाई बेंजनी पाउडर मे एक-चौथाई प्राकृतिक पाउडर अथवा कुछ राकील पाउडर मिला कर लगाना चाहिए । पाउडर फूल (पफ) द्वारा मुख पर थपथपा कर लगाना चाहिए, जिससे आधार-स्वरूप लगा पेण्ट खराब न हो । पाउडर कानो पर, कानो के पीछे और गर्दन पर सर्वत्र भली प्रकार लगाया जाना चाहिए । अतिरिक्त पाउडर कुछ समय बाद किसी हल्के कपडे से पोछ देना चाहिए । मुख-सज्जा को अन्तिम रूप देने के लिए ओठो, भौंहो और बरौनियो को रंगा जाता है ।

पुरुषो की रूप-सज्जा मे आधार का ग्रीज-पेण्ट बदल कर स० ३½ हो जाता है । देश-जाति के अनुरूप पेण्ट का रंग पीला, भूरा या काला भी हो सकता है । गोरे कपोलो पर सख्या ९ के रंग के साथ कारमाइन ३ का प्रयोग किया जाता है । भौहो और बरौनियो के रंग पात्र की शेष सज्जा के अनुरूप रखे जाते हैं । ओठो को हल्के कारमाइन ३ मे रंगा जाता है—ऊपरी ओठ कुछ गहरा और नीचे का कुछ हल्का । सबसे अन्त में पाउडर का प्रयोग किया जाता है । बरौनियो और भौहो पर से पाउडर भली भाँति पोछ देना चाहिए । आवश्यकता होने पर उन्हें पुन पानी के रंग मे रंग भी देना चाहिए ।

रूप-सज्जा को कोल्ड क्रीम लगा कर हटाया जाता है । दूसरा तरीका यह भी है कि मुख पर थोड़ा सा और पाउडर लगा कर साबुन और गरम पानी से मुख धो दिया जाय ।

शोधक रूप-सज्जा - मुख के कुछ अंश उभरे हुए, कुछ दबे हुए और कुछ सम होते हैं । अवस्था के अनुसार कहीं कुछ रेखाएँ, सिकुड़ने अथवा झुर्रियाँ भी होती हैं । प्रेक्षक दिन के प्रकाश मे मुखाकृति, उसके आलोकित एवं छाया-स्थलो को देखने का अभ्यस्त होता है । ठीक यही प्रभाव मुख पर शीर्ष-प्रकाश के पड़ने पर उत्पन्न होता है और प्रेक्षक मुख के आलोक-एव-छाया-स्थलो मे कोई नवीनता का आभास नही पाता । परन्तु मच पर प्राय पाद-प्रकाश की अधिकता रहने से शीर्ष-प्रकाश दब-सा जाता है । फलस्वरूप मुख के छायालोक के स्थल उलट कर एक नवीनता पैदा कर देते हैं । इस विपरीत छायालोक को हल्का बना कर प्राकृतिक तथा नित्य जीवन मे जाने-पहचाने छायालोको का सृजन करना पडता है । इसे शोधक रूप-सज्जा कहते है । इसमे छायालोक का इस प्रकार नियोजन किया जाता है कि मुखाकृति सही जान पडे अथवा उसमे सुधार हो और भावाभिव्यंजन मे परिवर्तन उपस्थित करे अथवा आते हुए बुढापे को व्यक्त करे । चरित्रो की रूप-सज्जा मे शोधक रूप-सज्जा का विशेष महत्त्व है ।[११]

शोधक रूप-सज्जा के लिए मुख को तीन बराबर भागों मे बाँटा जा सकता है—माथा, भौंहो के नीचे से नाक तक तथा नाक के नीचे से चिबुक तक । छाया और आलोक के सहारे माथे को चौडा, पतला या छोटा बनाया जा सकता है । कनपटी पर आधार-स्वरूप पेण्ट हल्का करके लगाने से माथा चौडा और कनपटी पर पेण्ट गहरा करके छायाभास दे देने से माथा छोटा हो जायगा । इसी प्रकार छोटी नाक की अस्थि पर सं० १½ या सख्या ५ के रंग से आलोकाभास दे देने से उसे लम्बा अथवा लम्बी नाक को उसके कोणीय भाग पर गहरे पेण्ट से छाया-भास दे देने से छोटा बनाया जा सकता है ।

ओठो के किनारो को ऊपर उठा देने से मुखाकृति आकर्षक और प्रफुल्ल दीखती है, परन्तु यदि उन्हे नीचे झुका दिया जाय तो उदासीनता, विषाद या निराशा का द्योतन होता है । क्षितिजतलीय किनारो मे शान्तिप्रियता, गम्भीरता और विनय की भावना परिलक्षित होती है । इस प्रकार मुख की अनुरूप रूप-सज्जा से अनुकूल चारित्रिक एव मानसिक अभिव्यक्ति दी जा सकती है । ओठो की रेखाओ को बढा देने से मुख बडा परन्तु चेहरा छोटा लगता है । इसके विपरीत रेखाओ को सकुचित कर देने से मुख छोटा और चेहरा बडा लगने लगता हैं । बरौनियों और

आँखों के बाहरी किनारों को बढ़ा कर आँखों को बड़ा बना कर दिखाया जा सकता है।

चूँकि शोधक रूप-सज्जा का प्रयोग विशेषकर चरित्रों की रूप-सज्जा के लिये होता है, अतः हाथ और पैरों की सज्जा की ओर भी पूरा ध्यान देना चाहिए। गर्दन, कंधों आदि के लिए ग्रीज-पेण्ट और पाउडर अथवा कोल्ड क्रीम और मानव-मांसोपम पाउडर का प्रयोग पर्याप्त होता है, परन्तु हाथों के लिए वे उपयुक्त नहीं हैं। इसके लिए जलीय पाउडर अथवा 'वेट व्हाइट' का प्रयोग वांछनीय है, क्योंकि इसमें चर्म का रंग समरस आता है और वह कपड़ों आदि की रगड़ से नहीं छूटता। जलीय पाउडर भी कई रंगों में आता है। जलीय पाउडर के सूख जाने पर उसे धीरे-धीरे हथेली से मल देना चाहिए, जिससे चमड़ी का प्राकृतिक रंग निखर आता है। परन्तु दासी, ग्राम-वाला या श्रमिक के हाथ श्रम में लाल होते हैं, अतः उन्हें उक्त पाउडर में रंगने की आवश्यकता नहीं। सूखा रूज स्थान-स्थान पर लगा कर श्रमक्लान्त हाथों का प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

अस्वस्थ व्यक्ति के हाथ मटमैले पीले रंग से और उँगलियों तथा अँगूठों के बगल भूरे या ग्रे रंगों से रंगे जा सकते हैं। साथ ही उभरी हुई नसें नीले या ग्रे रंग से दिखलाई जानी चाहिए। वृद्ध व्यक्ति की उँगलियों पर नं० ६ या ८ से छायाभास देकर उन्हें पतला दिखलाया जा सकता है और नीले रंग में उठी हुई नसें दिखला कर स्वाभाविकता का सृजन किया जा सकता है।

इसी प्रकार बालों के रंग बदलने, दाँतों की सफेदी या कालिमा आदि के द्वारा भी चारित्रिक विशेषताएँ उत्पन्न की जा सकती हैं। वृद्ध व्यक्ति के केश, दाढ़ी और मूँछों को रंग बदल कर सफेद या भूरा दिखाया जा सकता है। साथ ही, भौंहों और बरौनियों के रंगों को बदलना नहीं भूलना चाहिए। नकली केश, दाढ़ी, मूँछ आदि का भी उपयोग किया जा सकता है। नकली दाढ़ी-मूँछ 'क्रेप हेयर' से बनाए जाते हैं। सामने के कुछ दाँतों को सफेद और शेष को काला रंग कर उसके झड़े हुए दाँतों का बोध कराया जा सकता है। माथे और कपोलों की झुर्रियों से बढ़ते हुए बुढ़ापे की व्यंजना सजीव हो उठेगी। इस प्रकार की झुर्रियों या सिकुड़नों के प्रदर्शन के लिये रूप-सज्जाकार को शरीर-रचना का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार शोधक रूप-सज्जा कलाकार को चरित्र के कलेवर में पहुँचा देती है, परन्तु इस रूप-सज्जा के साथ तद्रूप होने के लिए उसकी वाणी और कार्य-व्यापार भी तदनुरूप होने चाहिए। रूप, वाणी और कार्य—तीनों के आनुपातिक समन्वय में ही कलाकार की सफलता निहित है।

रंगीन आलोक और रूप-सज्जा : कोई भी रंगीन मंच-आलोक अपने में अपूर्ण होता है और वह दिन के श्वेत प्रकाश की तुलना नहीं कर सकता। दिन के प्रकाश में मुख की जो छाया और आलोक होते हैं, वे शुद्ध और प्राकृतिक होते हैं। रंगीन आलोक अथवा पाद-प्रकाश या बिन्दु प्रकाश में छायालोक का मूल्य बदल जाता है और शोधक रूप-सज्जा द्वारा उन्हें उनका सही मूल्य प्रदान करना पड़ता है।

किसी भी रंग के सम्बन्ध में दो प्रारम्भिक तथ्यों की जानकारी आवश्यक है :

(१) तीन मूल रंगों—लाल, पीले और नीले से मिल कर श्वेत रंग बनता है, अतः कोई भी एक रंग अपने में पूर्ण नहीं है। लाल रंग इसलिये लाल जान पड़ता है कि श्वेत रंग में से पीले और नीले रंग निकाल दिये गये हैं। इसी प्रकार श्वेत में से लाल और पीला निकाल देने में नीला रंग प्राप्त होगा।

(२) रंग कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो पदार्थ का अपना अपरिवर्तनीय गुण हो। श्वेत रंग के अलावा किसी अन्य रंग के आलोक में पदार्थ का रंग बदल जायगा। लाल पदार्थ हरे आलोक में काला दिखलाई पड़ेगा। इसी प्रकार पीले और नारंगी रंग लाल आलोक में काले हो जायेंगे। श्वेत रंग पर जिस रंग का आलोक पड़ेगा, वह उसी रंग को धारण कर लेगा। लाल आलोक से नीला रंग गहरे ग्रे रंग का हो जाता है।

प्रथम विधि को ऋणात्मक विधि और दूसरी को योगात्मक विधि द्वारा रंग का सम्मिश्रण कहते हैं। ऋणात्मक विधि में किसी भी रंग की उपलब्धि श्वेत रंग में से उसके पूरक रंग को निकाल देने से होती है, जबकि

योगात्मक विधि मे दो या अधिक मूल या पूरक रंगो के योग से तीसरे रंग की उपलब्धि होती है । वर्णक्रम के तीनों मूल रंगों—लाल, पीले और नीले के सम्मिश्रण से श्वेत रंग की उपलब्धि होगी, जबकि उन्ही रासायनिक रंगो से श्वेत की जगह गहरा ग्रे या काला रंग बनेगा । इसका कारण यह है कि रासायनिक रंग कितने भी शुद्ध बनाये जायें, वर्णक्रम के रंगो की-सी शुद्धता उनमे नही आ पाती ।

मंच पर प्राय इसी योगात्मक मिलावट का ही उपयोग किया जाता है । विभिन्न रंगो के आलोको के साथ रूप-सज्जा मे किन रंगो और पाउडरो का उपयोग करना चाहिये, इसके सम्बन्ध मे पाश्चात्य रूप-सज्जाविदो ने विस्तार मे विचार किया है । एक रूप-सज्जाविद्[११] ने विभिन्न आलोकों के साथ जो रूप-सज्जा दी है, वह नीचे की सारिणी में दी जा रही है—

प्रमुख आलोक	आधारगत ग्रीज़ पेण्ट	रूज	पलकों का रंग	ओठों का रंग	पाउडर का रंग
१. हरा	क्रीम सं० २½ एवं क्रीम	कारमाइन २	हरापन लिये नीला	मध्यम लाल	राकील
२. नीला	क्रीम सं० २½ एव ५	नारंगी	सुनहला भूरा	हल्का लाल	—वही—
३. हरा	सं० २½	कारमाइन ३	बैंजनी या नीला	गहरा लाल	प्राकृतिक
४. बैंजनी	क्रीम सं० २½ एव ५	नारंगी	हरा	नारंगी	राकील
५. पीला	सं० २½	कारमाइन २	गहरा नीला	मध्यम लाल	प्राकृतिक

उपर्युक्त रूप-सज्जा प्रस्तावित आलोक-रंगो के समान रंग वाले वस्त्रो के साथ भी उपयुक्त होगी । इस संबन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि रंग-दीप्ति तीव्र हो अथवा वस्त्रों के रंग गहरे हो, तो अपेक्षाकृत अधिक गहरी रूप-सज्जा की आवश्यकता होगी ।

सामान्य विद्युत्-प्रकाश में पीला रंग हल्का पीला या सफेद-सा लगने लगता है । शुद्ध लाल रंग अपेक्षाकृत अधिक चमकीला और गहरा मालूम होता है । कारमाइन का बैंजनीपन कम होकर शुद्ध लाल रंग दमकने लगता है । नीला रंग विद्युत्-प्रकाश मे नीली किरणो के अभाव के कारण हल्का पड कर ग्रे रंग का हो जाता है, परन्तु हरा रंग अपेक्षाकृत अधिक हरा जान पडता है । इन बातों को दृष्टि मे रख कर ही रूप-सज्जा मे प्रयुक्त रंगो को गहरा या हल्का बनाना चाहिये, जिससे विद्युत्-आलोक के प्रभाव को समन्वित किया जा सके ।

रंगीन आलोक चमक की दृष्टि मे दो प्रकार के होते हैं : उष्ण और शीत । उष्ण रंग हैं–पीला, नारंगी और लाल और शीत रंग हैं–हरा, नीला और बैंजनी । लाल और गहरे-पीले रंग आक्रामक होते हैं और जिन रंगों पर पड़ते हैं, उनके प्रभाव को प्रायः नष्ट कर देते हैं । लाल आलोक मे हरा रंग काला और नीला रंग गहरा ग्रे रंग का हो जाता है । इसमें मांसोपम रंग क्रीम रंग का और नीला रंग हल्के ढंग का देना चाहिए । लाल आलोक में लाल रंग की चमक बढ जाती है । गहरे पीले आलोक में हरे और नीले रंग गहरे ग्रे रंग के तथा मांसोपम रंग और लाल रंग कुछ नारंगी रंग के हो जाते हैं । इसमे हल्के गुलाबी रंग का आधार देकर पलक नीले और बरौनियाँ काली बनानी चाहिए । हल्के पीले और गुलाबी रंगो से अन्य रंगों में प्रायः परिवर्तन नही होता । इन आलोको में लाल रंग हल्का नारंगी हो जाता है तथा नीले और हरे रंगो की चमक कुछ फीकी पड़ जाती है ।

नीले आलोक मे कपोलों पर रूज और पलकों पर रंग नही लगाना चाहिए । इस आलोक के बदलने पर

रूज आदि का प्रयोग किया जा सकता है।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी भी प्रकार की रूप-सज्जा का उद्देश्य आलोक-चित्रीय परिपूर्णता नहीं, वरन् एक भ्रान्ति, एक आभास उत्पन्न करना है। इस आभास को पूर्ण बनाने में एक ओर कलाकार की वाणी और कार्यव्यापार और दूसरी ओर सामाजिक की अपनी कल्पना और संस्कार भी सहायता करते हैं। रूप-सज्जा कितनी भी पूर्ण क्यों न हो, यदि उसके अनुरूप कलाकार का आचरण या संवाद नहीं है और उससे प्रेक्षक के सही संस्कार न जागृत हों, तो वह रूप-सज्जा निष्फल समझी जाएगी। वृद्ध की रूप-सज्जा में आलोक-चित्रीय परिपूर्णता न होने पर भी प्रेक्षक अपनी कल्पना और संस्कार से मंच पर वृद्ध को यथार्थ रूप में देखता है, अतः रूप-सज्जा करते समय इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

(२) आधुनिक वेश-भूषा वेश-भूषा के जो सिद्धान्त भरत ने स्थिर किये थे, यद्यपि वे आज भी उतने ही सत्य हैं, फिर भी समय के व्यवधान के साथ भारतीय संस्कृति ने विकास के अनेक मोड़ लिये हैं और वस्त्र-चयन की दृष्टि और रुचि में परिवर्तन परिलक्षित हुए है। गति की दृष्टि से जब हम बैलगाडी के युग में निकल कर जेट, अतिस्वन विमान अथवा अन्तरिक्ष-यात्रा के युग में प्रविष्ट हो चुके है, तब वस्त्र-चयन की दृष्टि से कोई परिवर्तन न हो, यह कैसे सम्भव होगा। फिर भी भारतवर्ष इतना बड़ा देश है कि जो वेशभूषा लगभग २००० वर्ष पूर्व प्रचलित थी, आज भी उसके अवशेष किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है। जिस प्रकार के लहँगे, अँगिया और दुपट्टा उस समय की भारतीय नारी पहनती थी, राजस्थानी स्त्री आज भी उसी वेश-भूषा में देखी जा सकती है। उत्तरीय (दुपट्टे) ने विकसित होकर 'ओढने' का रूप ले लिया है, जो समृद्धि और सौभाग्य का प्रतीक समझा जाता है, लेकिन इसके विपरीत दुकूल-पट्टिका का प्रयोग वस्त्रों के इतिहास में प्रागैतिहासिक बन कर रह गया है। आज कोई भी स्त्री स्तनों को दुकूल-पट्टिका से बाँध कर सभ्य समाज में प्रवेश नहीं पा सकती। लहँगा पेटीकोट का और अँगिया 'बाडी' का रूप धारण करके आज भी अपनी प्राचीनता सिद्ध कर रही है। दुपट्टा उसी रूप में अथवा ओढनी, ओढना या चुन्नी के रूप में आज भी वर्तमान है।

पुरुष-वर्ग का वस्त्र भी अपनी प्राचीन परम्परा का अनुकरण कर आज भी देश में विद्यमान है। पुराने लोगों अथवा संस्कृतज्ञ शिष्ट वर्ग में आज भी वह वेशभूषा लोकप्रिय है। धोती, अँगरखा या मिर्जई तथा रेशमी दुपट्टे में वे आज भी आत्मगौरव का अनुभव करते है, परन्तु पुरुष-वर्ग की वेशभूषा सतत् परिवर्तनशील होकर बाह्य प्रभावों को ग्रहण करती रही है। सबसे पहले यहाँ यूनानी आए, फिर मुसलमान और यूरोपवासी। यूनानी भारतीय संस्कृति के साथ एकाकार हो गये और उन्होंने न केवल हिन्दू धर्म और दर्शन को अपनाया, अपने नामों का भारतीय संस्कार भी किया और यहीं की वेशभूषा उन्होंने अपना ली। इस्लाम की कट्टरता के कारण भारतीय नारी को बुरके के समानान्तर घूँघट का आविष्कार करना पड़ा और पुरुष-वर्ग, विशेषकर सामन्त-समाज और राजन्यवर्ग ने मुगल वेशभूषा को अपनाया। धोती ने चूड़ीदार पायजामा और अँगरखे ने अचकन या शेरवानी का रूप धारण किया। भारतीय पगडी की जगह मुगल पगडी ने ले ली। भारतीय नारी के एक वर्ग ने भी अपनी साडी और अँगिया की जगह अपने को मुसलमान स्त्री के कुरते-पायजामे के अनुकरण पर कुरते-सलवार से सजाया और बुरके का काम झीनी चुन्नी से लिया, परन्तु इस्लामी सभ्यता ने भारतीय वेशभूषा को स्थानिक रूप से ही प्रभावित किया और शेष भारत अपनी प्राचीन परम्परा पर ही आरूढ रहा।

अँग्रेजों के आगमन और देश-व्यापी विस्तार ने न केवल भारतीय संस्कृति पर ही प्रहार किया, प्राचीन भारतीय वेशभूषा की खिल्ली उडाई, भारतीय वस्त्र-उद्योग को नष्ट किया और अँग्रेजी शिक्षा तथा ईसाई धर्म के प्रसार के साथ अँग्रेजी वेशभूषा अपनाने के लिये भी भारतीयों को विवश किया। पुरुष-वर्ग पश्चिमी वेशभूषा के रंग में रँग गया, परन्तु नारी-समाज ने यद्यपि परदे का परित्याग किया, परन्तु भारतीय वेशभूषा का परित्याग नहीं

किया । आज की सुशिक्षित नारी भी पेटीकोट (लहँगा) के साथ साड़ी पहनती है और 'बाडी' (अँगिया) के साथ ब्लाउज या जम्पर । केवल ईसाई होने वाली स्त्रियों को छोड़ कर किसी ने भी 'गाउन' और हैट या रुमाल को नहीं अपनाया । इसके विपरीत शिक्षित स्त्रियों ने इस्लामी प्रभाव से विकसित कुरता-सलवार-चुन्नी को अपेक्षाकृत अधिक अपनाने की ओर प्रवृत्ति इधर कुछ विशेष रूप से दिखाई है ।

पुरुष-वर्ग का पहनावा नगरों में पैंट, कमीज और कोट अथवा चूड़ीदार पायजामा और शेरवानी बन गया है । अंग्रेजी कोट की जगह बन्द गले का कोट अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है । गाँव में धोती-कमीज या पायजामा-कमीज का ही प्रचलन है । पाश्चात्य ढंग की वेशभूषा में उन्हें आज भी कोई लगाव नहीं है, वरन् उससे वे एक प्रकार की दूरी का अनुभव करते हैं । पगड़ी की जगह कुछ समय तक हैट या टोपी ने अवश्य ली, परन्तु अब नंगे सिर रहने का चलन-सा पड़ गया है । फिर भी धार्मिक कृत्यों अथवा सामाजिक कार्यों, विवाह आदि के अवसरों पर पगड़ी, साफा या टोपी का प्रयोग अवश्य किया जाता है । पुरानी पीढ़ी के लोग आज भी पगड़ी, साफा या टोपी सिर पर लगाये बिना घर से बाहर नहीं निकलते । फिर भी मुंशी जी की गोल टोपी और नेता जी की गाँधी टोपी में बड़ा अन्तर है । सफेद, लाल, पीली और काली टोपियाँ भी पृथक्-पृथक् विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं—काँग्रेसी, समाजवादी, जनसंघी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की । इस प्रकार वेश का चरित्र या उसके व्यक्तित्व को रूप देने, उभारने आदि की दिशा में बड़ा भारी महत्त्व है । रंगों से न केवल शुभाशुभ, सुख-दुःख अथवा जय-पराजय का बोध होता है, वरन् पृथक् विचारों, मत-मतान्तरों का भी बोध होता है । वस्त्रों के रंग-चयन से व्यक्ति की सुरुचि, मनोदशा, विचार आदि का बोध सहज ही में हो जाता है । श्वेत रंग शुद्धता या पवित्रता का, लाल रंग अनुराग का, केसरिया रंग वीरता का, हरा रंग समृद्धि या प्रसन्नता का प्रतीक है । दार्शनिक विचार की दृष्टि से श्वेत रंग देवता या सत् का और काला रंग असुर या असत् का द्योतक है । राजनैतिक विचार की दृष्टि से श्वेत रंग राष्ट्रीयता का, लाल रंग साम्यवाद का और पीला या काला रंग हिन्दू राष्ट्रवाद का प्रतीक है ।

मंच पर किस प्रकार के वस्त्र पहने जायँ, उनका रंग क्या हो, इस बात का निर्णय कलाकार के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता । यद्यपि उसके सुझाव या रुचि पर विचार किया जाना चाहिए, परन्तु उपस्थापक को मंच पर किसी एक घटना-क्रम के सम्पूर्ण प्रभाव को दृष्टि में रख कर उपयुक्त वस्त्रों एवं उनके रंगों का चयन करना चाहिए। रंगों के चयन के समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि उन पर विविध रंगीन आलोकों का क्या प्रभाव पड़ेगा । उदाहरणार्थ लाल और हरा रंग मिल कर पीला या नारंगी बन जाता है, नीला और हरा रंग मिल कर हल्का नीला या नीला-हरा रंग बनता है और नीला तथा लाल रंग मिल कर गुलाबी या बैंजनी रंग । पुनश्च, यह भी देखना होगा कि नायक या नायिका को अपने दल से यदि कुछ पृथक् दिखाना है, तो उसके वस्त्रों के रंग का दलगत वस्त्रों के रंगों से स्पष्ट वैषम्य होना चाहिये । इस रंग-वैषम्य के बिना उसका व्यक्तित्व ऊपर न उठ सकेगा। दूसरी ओर, दलगत रंगों में परस्पर साम्य अथवा उन्हें एक-दूसरे का पूरक होना चाहिए, जिससे सामाजिक की दृष्टि विशेष रूप से नायक अथवा नायिका की ओर ही केन्द्रित रहे । समस्त रंगों का सामूहिक प्रभाव ऐसा पड़ना चाहिए कि सामाजिक के कलात्मक रस-बोध में कोई व्याघात न हो ।

वस्त्रों के चयन के लिये नाटक के युग की वस्त्र-शैली या फैशन का ज्ञान उपस्थापक को होना आवश्यक है । आधुनिक युग के नाटक में नायिका को लहँगा या दुकूल-पट्टिका पहिनाना हास्यास्पद होगा । इसी प्रकार शकुन्तला या सीता को आधुनिक नारी के कुरता-सलवार-चुन्नी में लपेट कर मंच पर लाना एक अक्षम्य काल-विरोध और अज्ञानता होगी । अतएव किसी युग-विशेष के नाटक के उपस्थापन के पूर्व तत्कालीन मूर्तियों, चित्रों, साहित्य आदि से वेश-भूषा, अलंकरण आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए । चित्रशालाओं में सुरक्षित तत्कालीन वस्त्रों, अलंकारों आदि के अध्ययन से भी पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है ।

मंच के लिए यह आवश्यक नहीं कि वस्त्र उच्चकोटि का हो और अत्यन्त मूल्यवान हो। साधारण वस्त्रों को सुरुचिपूर्ण ढंग से रंग और सजा कर काम चलाया जा सकता है। मखमल में एक प्रकार की चमक होती है, जिससे मंच-आलोक में उसका वास्तविक रंग नहीं उभर पाता। वस्त्र ऐसा होना चाहिये कि जिस पर आलोक पड़ने से वह विकीर्ण न हो। सूती, ऊनी या रेशमी वस्त्र इसके लिये उपयुक्त हैं। साधारण वस्त्रों में ही बहुत मूल्यवान और भव्य वस्त्रों की भ्रान्ति उत्पन्न की जा सकती है।[1] इस भ्रान्ति को उत्पन्न कर सकने में असमर्थ बहुमूल्य वस्त्रों का मंच के लिए कोई मूल्य नहीं होता।

प्रायः वस्त्र-चयन का कार्य गौण समझा जाता है और जैसे-तैसे वस्त्र जुटा कर अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं द्वारा नाटक खेल दिये जाते हैं, परन्तु उपयुक्त वस्त्र-चयन, रंगों के साम्य और वैषम्य, युगानुकूलता आदि के अभाव में नाटक का सारा प्रभाव नष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि रंगदीपन, रूप-सज्जा आदि की भाँति पात्रों की उपयुक्त वेश-भूषा एवं अलंकरण का भी पूरा 'चार्ट' तैयार कर लेना चाहिये, जिससे आलोक, रूप-सज्जा और वेश-रचना में समन्वय और एकसूत्रता स्थापित की जा सके।

(३) **अलंकरण** सभ्यता के विकास के साथ आधुनिक युग में स्त्री-पुरुषों की अलंकरण-प्रवृत्ति कुंठित हुई और पहनावे के साथ अलंकारों में सादगी आई है। कुछ सम्पन्न सेठों, रईसों या जमींदारों को छोड़ कर पुरुष-वर्ग में अँगूठी के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार का कोई आभूषण नहीं धारण किया जाता। कुछ पुराने सेठ आदि कानों में लौंग या गले में कंठी आदि अभी भी पहनते हैं, किन्तु उनकी संख्या भी उत्तरोत्तर घटती जा रही है। कुछ शौकीन तबियत के लोग पुष्पमालाएँ आदि पहन कर घूमने निकलते हैं, किन्तु पुष्पमालाओं का प्रयोग अब विशेष अतिथियों—नेताओं, मंत्रियों, विद्वानों या कलाकारों का सम्मान करने में ही किया जाता है और विशेष अतिथि तत्काल उन्हें गले से उतार कर मंच पर रख देते या किसी बालक बालिका को पहना देते हैं।

सभ्यता ने आधुनिक नारी को भी सुरुचिपूर्ण बनाया है, किन्तु आज भी उसके शृंगार-शास्त्र में आभूषण, पुष्पों एवं पुष्पमालाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पुनश्च, प्रत्येक राज्य की अपनी प्रथा एवं रीति-रिवाजों का भी उसके अलंकरण पर प्रभाव पड़ता है। महाराष्ट्र की नारी के गले का मंगलसूत्र और नथुनी, राजस्थान की नारी का 'बोर' या सुहाग-टीका, नथ और लाख का चूड़ा, उत्तर प्रदेश की नारी के बिछुए, कंगन और काँच की चूड़ियाँ उसके सुहाग-चिह्न हैं, जिन्हें धारण करना उसके लिये अपरिहार्य है। गुजरात और बंगाल की नारी कुंडल, हार आदि के साथ पुष्पमालाओं से केश का शृंगार कर देवी-सी प्रतीत होती है। एक या दोनों हाथों में अँगूठियाँ, गले में कंठी, हार या मुक्तामाला पहनने का रिवाज प्रायः सभी देशों की स्त्रियों में पाया जाता है, किन्तु शिक्षा के प्रसार के साथ स्त्रियों में भी सादगी का प्रसार बढ़ रहा है और एक शिक्षित महिला को पारम्परिक आभूषण पहनाकर मंच पर नहीं लाया जा सकता। इसके विपरीत किसी सम्पन्न परिवार की स्त्री को निराभरण बना कर उपस्थित करना उसके अवसाद, शोक या विपत्ति का सूचक होगा। 'चूड़ा' या चूड़ियों को तोड़ना भी इसी प्रकार के शोक का द्योतक है।

अतः आधुनिक आहार्य में अलंकरण और उसके सामयिक एवं संतुलित प्रयोग पर ही उसकी स्वाभाविकता, भाव-व्यंजकता और सफलता निर्भर है।

(३) अभिनय के तीन सिद्धान्त : अनुकृति, व्याख्या और प्रत्यक्षीकरण

अभिनय के विविध प्रकारों का अध्ययन करने के बाद उसके सैद्धान्तिक पक्ष पर भी विचार कर लेना चाहिए। नाट्य (नाटक और अभिनय) में अनुकरण आवश्यक है। भरत ने 'लोकवृत्तानुकरणम् नाट्य'[2] और धनंजय ने 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'[3] कह कर नाट्य की परिभाषा की है। अरस्तू ने भी सभी कलाओं को अनुकृति-मूलक माना है और नाटक को मनुष्य की चेष्टाओं की अनुकृति कहा है।[4] अनुकृति या अनुकरण मानव-स्वभाव

का एक अग है । अनुकृति के इसी सिद्धान्त पर मानवीय आचार और सभ्यता का विकास हुआ है । बालक अपनी सहजात प्रवृत्तियों के आधार पर अपने माता-पिता की वाणी, आचार-व्यवहार, वेशभूषा आदि का अनुकरण करता है । सबसे पहला अनुकरण वाचिक अर्थात् वाणी से सम्बन्धित होता है और वह माँ के सिखाने पर 'माँ', 'मामा', 'चाचा', 'बुआ' आदि का बोलना सीखता है । इसके बाद वह आगिक कार्यों, यथा चलना, दौडना, उठना-बैठना आदि का अनुकरण करना सीखता है । तीसरी स्थिति वह आती है, जब वह अपने पिता के अनुकरण पर धोती, पायजामा या पैण्ट और कमीज पहनने की चेष्टा करता है । यही उसका आहार्य अनुकरण है । अन्तिम स्थिति में वह भय, वात्सल्य, दुःख आदि से अभिभूत होकर वैवर्ण्य, रोमाच, अश्रु आदि सात्त्विक भावो को अभिव्यक्त करता है । इस प्रकार बालक के विकासक्रम के साथ चतुर्विध अभिनय का, जो अनुकरण पर आधारित है, गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । प्रत्येक बालक आगे चल कर अच्छा अभिनेता बन सकता है, परन्तु शर्त यह है कि वह अनुकरण की अपनी सहजात वृत्तियों को अपना कार्य करने दे ।

मानव ने यह अनुकरण प्रकृति से किया है । वह कोयल के बोलने पर उसके स्वर मे अपना स्वर मिलाता है और इसी प्रकार वह कुत्ते के भौंकने, बन्दर के खौखियाने, बिल्ली के बोलने आदि की नकल करता है । वायु की सगीत-लहरी से प्रभावित होकर नृत्य करने वाले कमल अथवा अन्य पुष्पो से उसने अनेक नृत्य-मुद्राएँ सीखी । वृक्षो की छाल अथवा पशुओं के रोयेंदार चर्म मे उसने अपने लिये उन्ही के अनुकरण पर वस्त्रादि बनाये । प्रकृति के कोप और हास्य मे उसने कम्प और मुस्कराहट सीखी । इस प्रकार प्रकृति का अनुकरण कर उसने अपनी सभ्यता का विस्तार किया । इसी प्रकार अर्द्ध-विकसित सभ्यता अपेक्षाकृत अधिक विकसित सभ्यता का अनुकरण करती है । नाटकाभिनय और मच पर सभ्यताओं के आदान-प्रदान मे होने वाले विकास और परिवर्तनो का बडा प्रभाव पड़ता है । रगमच और नाटक से सम्बन्धित विश्व-इतिहास इस बात का साक्षी है ।

भारतीय रगमच का इतिहास दो सहस्राब्दियो मे भी अधिक प्राचीन है, परन्तु भारत मे मुसलमानो के आगमन के कुछ पूर्व से ही इस रगमच का ह्रास प्रारम्भ हो गया । मुसलमानो के सतत् आक्रमण, लूटपाट, बर्बर रक्त-स्नान और बलात् धर्म-परिवर्तन के अप्रत्याशित दौर के बीच शास्त्रीय अभिजात रगमंच का अधिक काल तक जीवित रह सकना सभव न था । सम्राट् अकबर के उदार शासन-काल तक राजनैतिक स्थिरता आ जाने पर रास-लीला, रामलीला, भवाई आदि के रूप मे लोकमच का अभ्युदय हुआ, जिससे भारत की जीवनी-शक्ति कुछ-न-कुछ बनी रही । अँग्रेजो के आगमन तक इस पारपरिक लोकमच को छोडकर कोई अभिजात रगमच नही रह गया था, अत. नये सिरे से भारतीय रंगमंच का अभ्युदय अँग्रेजी मच के अनुकरण पर ही प्रारम्भ हुआ ।

इस प्रकार हम देखते है कि अनुकृति मे अभिनय के चारों अग विद्यमान हैं । इसी आधार पर भारतीय आचार्यों ने अनुकृति के सिद्धान्त की स्थापना की है, जिसके आधार पर वाचिक, आगिक, आहार्य और सात्त्विक, इन चार प्रकार के अभिनयो का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है । यूनान के सुखान्त और दुःखान्त, दोनो प्रकार के नाटको के उद्भव के इतिहास को देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वहाँ के नाटको का विकास उस देश के वीरो, समाज-नेताओ अथवा राज्याधिकारियो के कृत्यो के अनुकरण के आधार पर ही हुआ । आचार्य श्यामसुन्दरदास ने तो अनुकरण को दृश्य काव्य की 'प्रधान विशेषता, व्यक्तित्व और आत्मा' मानते हुए काव्य मे दृश्यकाव्य की पृथक् सत्ता इसी आधार पर स्वीकार की है कि 'उसमे अनुकरण का जैसा शुद्ध और अमिश्र रूप प्रस्फुटित होता है, वैसा अन्य किसी काव्यांग मे नही ।'[३५]

अनुकरण के भारतीय और यूनानी सिद्धान्तो मे थोडा-सा अन्तर, वहाँ की विशेष परिस्थितियो और रगमच

के विकास की तत्कालीन स्थिति के कारण, पाया जाता है। पाश्चात्य अनुकरण में सात्विक भावों को कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सका है, क्योंकि वहाँ चेहरे लगा कर पात्रों को मंच पर उपस्थित किया जाता था, जिसमें किसी भी प्रकार के सात्विक भाव का प्रदर्शन वहाँ सम्भव नहीं था। इस दृष्टि से भारतीय आचार्य यूनानी आचार्यों से आगे थे, जिन्होंने वाचिक, आंगिक और आहार्य अभिनय के साथ सात्विक भावों का प्रदर्शन भी पात्रों के लिये अनिवार्य कर दिया था। इसीलिये भारतीय प्रेक्षागृह आकार-प्रकार में छोटे हुआ करते थे। प्रेक्षागृहों का निर्माण इस आधार पर किया जाता था कि सात्विक भावों का प्रदर्शन सबसे पिछली पंक्ति में बैठने वाले सामाजिक के दृष्टि-पथ के भीतर ही पड़े। इन सीमाओं के बावजूद भारतीय आचार्यों ने सात्विक *अभिनय से युक्त नाटक को ही श्रेष्ठ माना है।*

परन्तु नाटक में अनुकरण ही सब कुछ नहीं है। अनुकरण में थोड़ी-सी असावधानी में अर्थ का अनर्थ हो सकता है। यदि कोई युवा अभिनेता (नट) किसी वृद्ध का अभिनय करता है, किन्तु उसके स्वर में एक ओर गम्भीरता एवं स्पष्टता और दूसरी ओर वय के बढ़ने के साथ थोड़ा-सा कम्प या कभी-कभी लड़खड़ाहट नहीं उत्पन्न होती, तो वह अनुकरण उपहासास्पद बन कर रह जायगा। किसी सधवा को उसकी माँग में सिन्दूर बिना भरे और माथे पर बिना बिन्दी लगाये ही खड़ा कर दिया जाय, तो यह अनुकरण की एक गम्भीर त्रुटि समझी *जायगी। यदि यह मान भी लिया जाय कि अनुकरण सभी प्रकार से पूर्ण है, तो क्या केवल इतने ही से नाटक की* आत्मा बोल उठती है? कभी-कभी अभिनेता के अनुकरण में बहुत दक्ष रहने पर भी सामाजिक पर वही प्रभाव नहीं पड़ता, जो लेखक को वहाँ पर अभिप्रेत रहता है अथवा जिसे उपस्थापक, लेखक की विचार-सरणि या भाव-प्रणाली को समझ कर, उक्त पात्र के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है, ऐसा क्यों?

इस प्रश्न का उत्तर है—अभिनेता द्वारा नाटककार के विचार या भाव की स्पष्ट व्याख्या में कमी। नाटककार अपनी कृति में अपने समस्त मनोजगत् को, उसकी स्फूर्ति और स्पन्दनों को भर कर रख देता है, जो उसी *समय फिर से सप्राण बनते हैं, जब अभिनेता अपनी वाणी से उनमें प्राण फूँकता है। सामाजिक की ग्राहिका-शक्ति* तीव्र हो या मंद, वह पात्र के साथ तन्मयता और तद्रूपता तभी अनुभव कर सकता है, जब उसकी वाणी में नाटककार के भाव की पूर्णतः व्याख्या कर सकने की क्षमता हो। इस व्याख्या के लिए उसके स्वर में उचित आरोह-अवरोह, व्यंजनात्मकता और रसात्मकता होनी चाहिये।

कभी-कभी कुछ भाव ऐसे भी होते हैं, जिनको वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। दुःख की पराकाष्ठा को टूटे-फूटे शब्दों द्वारा कुछ-कुछ व्यक्त किया जा सकता है, परन्तु जब चोट मन पर इतनी गहरी हो *कि वाणी भी मूक हो जाय, तब उस भाव की अभिव्यक्ति उदास, सूनी आँखें या सजल, छलछलाई आँखें ही कर* सकती हैं। विधवा माँ अपनी अवैध संतान को प्रकृति के आँचल में छोड़ते समय अपने अन्तर्द्वन्द्व को केवल आँसुओं की भाषा में ही अभिव्यक्त कर सकती है। कोई युवक किसी नायिका से अपने प्रेम का निवेदन करता है और प्रत्युत्तर में वह मुस्करा भर देती है अथवा लजा कर मुँह घुमा लेती है। इस प्रकार के मनोगत भावों की अभिव्यक्ति शारीरिक विकारों अथवा लक्षणों द्वारा ही की जा सकती है। नाटककार के भावों की व्याख्या के लिये इन शारीरिक लक्षणों या अंग-विकारों का ज्ञान पात्र के लिये आवश्यक है।

यह व्याख्या पात्र या उसके चरित्र की ही नहीं, घटना की भी होती है। किसी नायिका को यदि किसी युवक से प्रेम हो गया है, तो रात्रि को चुपके से उठ कर सहेट जाना अथवा उस युवक के घर में अतिथि बन कर आने पर उसकी समस्त सुख-सुविधाओं का ध्यान रखते हुए, उसके अपने कमरे में रात्रि को घूम कर लौटने के पूर्व उसका पलंग करीने से बिछाना, कमरे को धूप-गंधादि से सुवासित करना, उसकी पुस्तकें आदि मेज पर व्यवस्थित रूप में रख कर टेबुल लैम्प लगा देना आदि व्यापार के द्वारा उसके प्रेम की व्याख्या हो जाती है। आज का नाटक-

कार इस प्रकार की घटना की व्याख्या अपनी कृति मे वडे विस्तार के साथ करता है, परन्तु यदि नाटककार वर्नार्डशा, इब्सन आदि की भाँति जीवन का यथार्थ व्याख्याता नही है, तो अभिनेता को अपनी सूक्ष्म कल्पना और विराट् कला-दृष्टि का सहारा लेकर इस प्रकार की घटना का सकेत भर पाकर उसकी स्वतः व्याख्या करनी होती है। नाट्योपस्थापक का यह कर्त्तव्य है कि यदि अभिनेता की व्याख्या मे कोई कमी है, तो वह अपने दीर्घ अनुभव और मानव-मन के अध्ययन के आधार पर उक्त स्थलो मे उपयुक्त रग भर कर पूर्णता प्रदान करे। घटना की यह व्याख्या अनुकरण के सिद्धान्त के अन्तर्गत सभव नही है। अनुकरण तो अनुकार्य अथवा चरित्र का ही हो सकता है, घटना का नही और कम से कम उस घटना का नही, जो अमूर्त है, भाव-रूप है और व्यापार या व्यापार-संघात के रूप मे नाटककार द्वारा उपस्थित नही की गई। ऐसी अमूर्त घटना को व्यापार रूप मे 'अभिनय-द्वारा-व्याख्या' के सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रदर्शित किया जा सकता है।

अभिनय द्वारा अनुकरण और व्याख्या के सिद्धान्त पृथक्-पृथक् अथवा दोनो मिल कर अपने मे पूर्ण नही हैं, क्योकि अनुकरण की सीमाएँ नाटककार की कृति मे वर्णित भावो एव कार्य-व्यापारो तक ही है और व्याख्या द्वारा नट तथा नाट्योपस्थापक मिल कर नाटककार द्वारा दिये गये सकेतो के आधार पर छूटे हुए अथवा अपूर्ण भावों और कार्यव्यापारो को भी, उसके द्वारा बनाई गई सीमा के भीतर, प्रदर्शित कर सकते हैं। फिर भी यह आवश्यक नही कि सामाजिक को उस मूल रस की अनुभूति हो, जो नाटककार को अभिप्रेत रही है। यह प्रत्यक्षीकरण अर्थात् सामाजिक के अवचेतन मन मे तीव्र बिम्ब-ग्रहण की शक्ति द्वारा उसी प्रकार के भावो या कार्य-व्यापारो की सृष्टि के बिना सभव नही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभिनय की पूर्णता के लिए रगशाला के त्रिदेवो—नाटककार, नट एव नाट्यप्रेक्षक—की एकरूपता या एकान्विति आवश्यक है। तीनों मे से किसी एक के बिना अभिनय या प्रयोग सभव नही हैं। अभिनय की सफलता के लिये प्रेक्षक का महत्त्व स्पष्ट है। भट्ट नायक और अभिनवगुप्त ने रस की निष्पत्ति मे सामाजिक के योगदान को स्वीकार किया है। सामाजिक के इस महत्त्वपूर्ण योगदान के बिना नाटक की दृश्यता, सम्प्रेषणीयता अथवा साधारणीकरण, रस-निष्पत्ति आदि का कोई अर्थ नही है। किसी भी रगमंच या अभिनय को सफल बनाने के लिए सामाजिक की उपस्थिति ही पर्याप्त नही, उसकी अनुकूलता, उसका ग्राहकत्व और सक्रिय योगदान भी आवश्यक है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र मे भी सामाजिक के इस योगदान और ग्राहकत्व को स्वीकार किया गया है। एफ० ई० डोरन ने उपस्थापन-सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए उपस्थापक के लिये यह आवश्यक बताया है कि सामाजिक भले ही निष्क्रिय या तटस्थ हो, परन्तु उसमे समीक्षा-तत्त्व वर्तमान रहता है, क्योकि वह अपनी समीक्षा और तुलना की सहज वृत्ति के कारण रगमच पर होने वाले कार्य के प्रति तत्काल सवेदनशील हो जाता है, अतः उपस्थापक *को यहीं पर उसके मन पर चोट करनी चाहिए। इस अभियान* मे उसे अपने नटो, संवाद, वेशभूषा, रग और अन्य तत्त्वो को एक सैन्य के रूप मे इस प्रकार सगठित करना चाहिए कि वह सामाजिक के भाव-पथ पर अबाध गति से आगे बढता रहे और पीछे कुछ चिरस्थायी स्मृतियाँ छोड जाय।[३७]

सामाजिक के भाव-जगत पर उपस्थापक की सेना के इस अभियान की सफलता अभिनय की सवेद्यता अथवा प्रत्यक्षीकरण पर ही निर्भर है। इस प्रत्यक्षीकरण के लिये यह आवश्यक है कि नट कुशल हो अर्थात् उनमे अनुकरण और व्याख्या की क्षमता हो, सवाद गठे हुए और भावोत्तेजक हो, वेशभूषा काल और पात्र के अनुरूप हो और रगादि अर्थात् दृश्यबन्ध, रग-दीपन योजना, ध्वनि-सकेत आदि द्वारा दृश्य की पृष्ठभूमि को सजीव बनाया जाय। दूसरी ओर, सामाजिक के भाव-जगत मे मच पर प्रदर्शित भावो एवं कार्य-व्यापारो के अनुकूल प्रतिक्रिया हो, जिसमे उसके अवचेतन मन पर उसका पूर्ण बिम्ब बन सके। यह तभी संभव है, जब उपस्थापक मच पर नाटक की आत्मा को पकड पर उपस्थित कर सके। नाटक की आत्मा उसके लिपि-वद्ध रूप या कलेवर के पीछे छिपी रहती है, जिसका प्रत्यक्षीकरण प्रयोक्ता को स्वय करना और प्रत्येक पात्र की आत्मा मे उस प्रच्छन्न आत्मा का

अन्त प्रवेश कराना पडता है । तभी मच पर प्रदर्शित अभिनय जीवन्त बनता है और सामाजिक भी यह अनुभव करने लगता है कि मच पर नाटक की आत्मा बोल उठी है, परन्तु जिस प्रकार जल की प्राप्ति के लिए पाषाण-शिला का भेदन करना पडता है, उसी प्रकार नाटक की आत्मा तक पहुँचने के लिये शब्द-जाल के शतश आवरण को उठाने के लिये कठोर श्रम करना पडता है । बिना इस अध्यवसाय अर्थात् सतत मनन और चिन्तन के नाटक की आत्मा के दर्शन नही होते ।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त लेखक का यह स्पष्ट मत है कि प्रत्यक्षीकरण अनुकरण अथवा व्याख्या के सिद्धान्तो की अपेक्षा एक विशद् भूमि पर खडा है और एक प्रकार से अभी तक के इन समस्त सिद्धान्तो को आत्मसात् कर लेता है । इसमे अनुकरण अथवा व्याख्या के सिद्धान्तो की एकागता नही है, क्योकि उनका सम्बन्ध नाटककार और नट (जिसमे उपस्थापक या प्रयोक्ता सम्मिलित है) तक ही सीमित है, जबकि प्रत्यक्षीकरण के सिद्धान्त मे प्रेक्षक की उपस्थिति और उसका ग्राहकत्व अथवा सवेदनशीलता भी अनिवार्य है । वह रगशाला के त्रिदेवो को न केवल एक साथ उपस्थित करता, वरन् उनमे भावात्मक एकसूत्रता भी स्थापित करता है ।

(४) निष्कर्ष

सक्षेप मे, रगमच एक अर्वाचीन शब्द है और अपने सीमित अर्थ मे सयुक्त रूप मे रगपीठ और रगशीर्ष का तथा व्यापक अर्थ मे नाट्यमडप या रगशाला का वाचक है । रगमच का काव्य, सगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य आदि कलाओ और आधुनिक विज्ञान के कुछ आविष्कारो से गहरा सम्बन्ध है । रगमच के प्रमुख उपादान तीन है *रगशाला, नाटक और अभिनय ।*

भरत नाट्यशास्त्र म वर्णित कुल नौ प्रकार के नाट्यमडपो मे से सीताबेंगा गुफा के रूप मे केवल अवर विकृष्ट कोटि के (४८′×२४′) नाट्यमडप और कोणार्क के नट मदिर के अतिरिक्त अन्य कोई अवशेष आज उपलब्ध नही है । फिर भी मध्यम विकृष्ट नाट्यमडप आज की परिस्थितियो मे भी एक आदर्श प्रस्तुत करता है । आजकल बनने वाली रगशालाओ मे यद्यपि मूल भारतीय सिद्धान्तों का समावेश रहता है, तथापि उनमे पाश्चात्य रग-स्थापत्य के अनुकरण की भावना अधिक रहती है । परिक्रामी रगमच, शकटमच, उद्वाह मच आदि आधुनिक विज्ञान और रग-अभियान्त्रिकी की देन है ।

रगसज्जा, रगदीपन एव ध्वनि-सकेत के लिये भरत के युग मे अपनी एक व्यवस्था थी, किन्तु इनके स्वरूप एव साधनो मे अब यथेष्ट प्रगति हुई है । परदो की जगह त्रिभुजीय दृश्यबन्धो, बिजली के आविष्कार के उपरात आलोक-यत्रो एव ध्वनि-आलेखन यत्रो का विकास आधुनिक युग की एक उपलब्धि है ।

नाटक को रगमच से पृथक् नही किया जा सकता और रग-नाटक वही है, जिसमे रग-पात्रता और सप्रेषणीयता हो । नाटक की सप्रेषणीयता को ग्रहण करने के लिये सामाजिक (प्रेक्षक) को नानागुणसम्पन्न होना चाहिये । भारत के आचार्य नाटक के तीन भेदक (तत्त्व) मानते थे—वस्तु, नेता और रस, किन्तु अब पश्चिम के प्रभाव से उसके छ तत्त्व माने जाते हैं—वस्तु, सवाद, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली, दृश्य-योजना (देश-काल) और उद्देश्य ।

अभिनय रगमच का अपरिहार्य उपादान है । प्राचीन भारतीय अभिनय-पद्धति और आधुनिक अभिनय मे कोई मूलभूत अन्तर नही है, किन्तु समय के साथ उसके सैद्धान्तिक आधार बदलते रहे है । रस-निष्पत्ति भारतीय अभिनय का साध्य रहा है और जीवन एव जगत के कार्य-व्यापारो तथा मनोभावो का प्रतिबिम्बन उसका साधन, किन्तु जीवनादि के कार्य-व्यापारो एव मनोभावो का स्वाभाविक प्रदर्शन ही पश्चिमी अभिनय का साध्य बन कर रह गया है । विकास के जिस सोपान पर पश्चिमी अभिनय-पद्धति आज पहुँची है, वहाँ तक अभिनय एव भावाभिव्यजन की भारतीय पद्धति सत्रह-अठारह सौ वर्ष पूर्व ही पहुँच चुकी थी । विज्ञान एव प्रौद्योगिकी के विकास के कारण आधुनिक आहार्य–अग-रचना (रूप-सज्जा), वेश-भूषा और अलकरण–भारतीय आहार्य से आगे बढ गया है, जो स्वाभाविक है ।

अभिनय के तीन सिद्धान्त है—अनुकृति, व्याख्या और प्रत्यक्षीकरण । अनुकृति और व्याख्या के सिद्धान्त पृथक्-पृथक् अथवा मिल कर अपने मे पूर्ण नही है । प्रत्यक्षीकरण मे रगमच के त्रिदेवो—नाटककार, नट एव सामाजिक की एकरूपता या एकान्विति अभिप्रेत है, जिसके बिना अभिनय की पूर्णता सभव नही । प्रत्यक्षीकरण अनुकृति अथवा व्याख्या के सिद्धान्तो की अपेक्षा एक विशद् भूमि पर खडा है और अभी तक के समस्त सिद्धान्तो को आत्मसात् कर लेता है ।

आधुनिक रगशाला, आधुनिक नाटक और आधुनिक अभिनय की आत्मा यद्यपि भारतीय है, किन्तु उन पर कुछ स्थानीय प्रभावों को छोड कर, पश्चिम का प्रभाव मुख्य रूप से परिलक्षित होता है ।

संदर्भ

१– रंगमंच : अवधारणा और उसके विविध उपादान

१ एम० रामकृष्ण कवि, सपादक, *नाट्यशास्त्र आफ भरतमुनि, भाग १*, २/३३-३४, बडौदा, ओरिएंटल इंस्टीच्यूट, १९५६, पृ० ५६ ।

२. डॉ० नगेन्द्र (प्रधान संपादक) एवं आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि (संपादक तथा भाष्यकार), हिन्दी अभिनवभारती, भरत की २/३३-३४ कारिकाओं की टीका, दिल्ली, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६०, पृ० २९७ ।

३. वही, पृ० २९८ ।

४ (क) डॉ० नगेन्द्र (प्र० सं०) तथा डॉ० दशरथ ओझा एवं डॉ० सत्यदेव चौधरी (सह-संपादक), हिन्दी नाट्यदर्पण, रामचन्द्र-गुणचन्द्र के ४/२३० सूत्र की टीका, दिल्ली, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६१, पृ० ३६४, तथा

(ख) १–वत्, ५/७, अभिनव-विवृति, पृ० २०९ ।

५. वही, ५/७, अभिनव-विवृति, पृ० २०९ ।

६. वही, २/६४-६५, पृ० ६१ ।

७. २–वत्, २/६४, पृ० ३१८-३२० ।

८. वही, पृ० ३२० ।

९. १–वत्, २/७, पृ० ४९ ।

१०. (१) रंगभूमि आए दोउ भाई । असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ॥
(तुलसीदास, रामचरितमानस, १/२४०/५)

(२) रंगभूमि जब सिय पगु धारी । देखि रूप मोहे नर-नारी ॥
(तुलसीदास, रामचरितमानस, १/२४८/४)

११. रंग-अवनि सब मुनिहि देखाई ॥ (तुलसीदास, रामचरितमानस, १/२४३/३)

१२ घनुषजग्य को ठाठ कियो है, चहो दिसि रोपे मॉंच ।
रगभूमि नीकी कै खेली, मल्ल सकेले पॉंच ॥
कालिह दूत आवन चाहत है राम-कृष्न को लैन ।
(परमानददास, परमानदसागर (स० डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल), भारत प्रकाशन मदिर, अलीगढ, १९५८, पद स० ४७५)

१३. १–वत्, ५/७, अभिनव-विवृति, पृ० २०९ । १४. वही, १/११६, पृ० ४१ ।

१५ मनमोहन घोष, स०, दि नाट्यशास्त्र, भाग १, अध्याय ५, कलकत्ता, दि रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बगाल, १९५० ।

१६ वही, भाग २, अध्याय २८ से ३३ तक ।

१७ एम० रामकृष्ण कवि, सपादक, नाट्यशास्त्र आफ भरतमुनि, भाग १, ४/१४–१६, अभिनव-विवृति, पृ० ८७ ।

१८, वही, ४/३२०, अभिनव-विवृति, पृ० २०६ । १९ वही, २/८४–८५, पृ० ६४ ।

२०. वही, २/८०, पृ० ६४ ।

२१–२२ गीता विश्वनाथ, योग एण्ड भरतनाट्य, वम्बई, इलस्ट्रेटेड वीकली, ३० जुलाई, ७२, पृ० ६१ ।

२३. (क) डॉ० (अब स्वर्गीय) डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, बबई, से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर, तथा
(ख) बापूराव नायक, ओरिजिन आफ मराठी थियेटर, नई दिल्ली, महाराष्ट्र इन्फार्मेशन सेंटर, १९६४, पृ० ७४ ।

२४. २३ (क)–वत् ।

२५ चद्रवदन मेहता, बॉंध गठरिया, भाग २, प्रथम सस्करण, पृ० ५३ ।

२६. १७–वत्, भाग १, १/५५–५७, पृ० २५–२६ ।

२७ वही, २।८०, पृ० ६४ ।

२८. डॉ० राय गोविन्द चद्र, भरत-नाट्यशास्त्र मे नाट्यशालाओ के रूप, वाराणसी, काशी मुद्रणालय, १९५८, पृ० ४ ।

२९–३०. जे० वर्गेस, इडियन एटिक्वेरी, १९०५, पृ० १९७ ।

३१ किरणकुमार थपलयाल, सीताबेंगा केव : थियेटर आर प्लेजर हाउस (नाट्य, त्रैमासिक, दिल्ली, भाग ६, सख्या १, मार्च, १९६२, पृ० १८) ।

३२–३३ वही, पृ० १८ । ३४, ३५ एव ३६. वही, पृ० १९ ।

३७ १७–वत् , २/९०, पृ० ६६ ।

३८. डॉ० वैकुण्ठनाथ शर्मा, हमारे रगमच का प्राचीन इतिहास (स्वतत्र भारत, साप्ताहिक परिशिष्ट, ४ जुलाई, १९७६), पृ० ४ ।

३९. १७–वत्, २/७-८, पृ० ४९ । ४०. वही, २/८, पृ० ४९ । ४१. वही, २/९-१०, पृ० ४९-५० ।

४२. वही, २/११, पृ० ५० ।

४३ डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने उक्त आकार की ही पुष्टि की है (देखें–डॉ० ल० ना० लाल, रगमच और नाटक की भूमिका, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६५, पृ० ७८), जबकि डा० नगेन्द्र ने ज्येष्ठ विकृष्ट का आकार १०८ × ६४ हाथ अर्थात् १६२' × ९६' माना है, किन्तु इस मान्यता का कोई आधार नही दिया

है (देखें–डॉ० नगेन्द्र, प्र० स०, हिन्दी अभिनवभारती, दिल्ली, हि० वि०, दि० वि०, १९६०, पृ० २५५) ।

४४. एम० रा० कवि, स०, नाट्यशास्त्र आफ भरतमुनि, भाग १, २/८४-८५, पृ० ५४-६४।

४५. वही, २/३३-३५, पृ० ५६-५७। ४६. वही, २/६८-६९, पृ० ६१-६२।

४७. वही, २/६३-६४, पृ० ६०-६१।

४८ एम० बी० अग्रवाल, ए नोट आन ऐन्शिएंट इंडियन थियेटर (नाट्य, त्रैमासिक, दिल्ली, थियेटर आर्किटेक्चर नम्बर, विंटर, १९५९-६०, पृ० २३)।

४९ डा० राय गोविन्द चन्द्र, भरत नाट्यशास्त्र में नाट्यशालाओं के रूप, पृ० १०।

५० ४४–वत्, २/३४, पृ० ५६। ५१. वही, २/१००, पृ० ६९।

५२-५३. ४९–वत्, पृ० १८।

५४-५५ श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, प्रयाग, साहित्यकार संसद्, १९५६, पृ० १०८।

५६. ४४–वत्, २/६३-६४, पृ० ६०-६१। ५७ वही, २/३४-३५, पृ० ५६-५७।

५८. वही, २/६३-६५, पृ० ६०-६१। ५९. वही, २/६८-६९, पृ० ६१-६२।

६० वही, २/६८, पृ० ६१। ६१. वही, २/६९-७३, पृ० ६२।

६२. वही, २/७५-८०, पृ० ६३-६४। ६३ वही, २/८०, पृ० ६४।

६४. वही, २/८१-८२, पृ० ६४। ६५ वही, २/८२-८५, पृ० ६४।

६६. वही, २/८९, पृ० ६५। ६७ वही, २/९९, पृ० ६९।

६८. वही, २/९०-९१, पृ० ६६। ६९. वही, २/९१-९२, पृ० ६६।

७०. वही, २/१०२, पृ० ६९। ७१. वही, २/१०४, पृ० ७०।

७२. ४९–वत्, पृ० १३।

७३. शेल्डान चेनी, रंगमंच (अनु० श्रीकृष्णदास), हिन्दी समिति, उ० प्र०, लखनऊ, १९६५, पृ० ४२।

७४ वही, पृ० ९९-१००।

७५. डोरोदी तथा जोसेफ सैमेक्सन, सह-ले०, दि ड्रामेटिक स्टोरी आफ दि थियेटर, एवलार्ड-शूमैन, न्यूयार्क, १९५५, पृ० २६-२८।

७६. ७३–वत्, पृ० १२५-१२६। ७७ वही, पृ० १२७।

७८. वही, पृ० १७९ तथा १८२।

७९-८०. ७५–वत्, पृ० ३९।

८१ ७३–वत्, पृ० २४१-२४३।

८२. (क) प० *सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य* रंगमंच, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६४, पृ० ४९८, तथा

(ख) ७३–वत्, पृ० २४३।

८३ मेरी सेटन, रिफ्लेक्शंस आन थियेटर आर्किटेक्चर (नाट्य, त्रैमासिक, दिल्ली, थियेटर आर्किटेक्चर नम्बर, विंटर, १९५९-६०, पृ० ३१)।

८४. वही, पृ० ३२-३३। ८५. वही, पृ० ३३-३४।

८६. वही, पृ० ३५-३६। ८७ वही, पृ० ३७।

८८. बापूरावनाईक, मुम्बई मराठी साहित्य संघाचे नाट्यगृह (मुम्बई मराठी साहित्य संघ : साहित्य संघ मन्दिर उद्घाटन, १९६४)।

८९. फाइव थियेटर्स आफ डिस्टिंक्शन (नाट्य, दिल्ली, थि० आ० नं०, विंटर, १९५९-६०, पृ० ९४) ।
९०-९१. राजेश्वर प्रसाद सक्सेना, भारतीय रगमच में नये प्रयोग (नया पथ, लखनऊ, नाटक विशेषाक, मई, १९५६, पृ० ४६८) ।
९२. टैगोर थियेटर्स (नाट्य, दिल्ली, टैगोर सेन्टीनरी नम्बर, १९६२, पृ० ५४) ।
९३. शरद नागर, 'लखनऊ' (नटरग, नई दिल्ली, वर्ष १, सख्या ३, पृ० ६२) ।
९४. डा० राय गोविन्द चन्द्र, भरत-नाट्यशास्त्र में नाट्यशालाओं के रूप, पृ० २१ ।
९५. एम० रा० कवि, स०, नाट्यशास्त्र आफ भरतमुनि, भाग १, २/८२, अभिनव-विवृति, पृ० ६८ ।
९६. वही, २/८३-८४, पृ० ६४ ।
९७ वही, २/८४-८५, पृ० ६४ ।
९८. मनमोहन घोष, दि नाट्यशास्त्र, भाग १, २३/३-८, १९५० ।
९९. वही, २३/१७० से १८० तक ।
१००. वही, २३/१८० से १९८ तक ।
१०१. वही, २७/९६ ।
१०२ वही, २७/८९-९० ।
१०३. वही, २७/९३-९५ ।
१०४. ९५–वत्, ३/९०, पृ० ८२ ।
१०५. ९८–वत्, भाग २, ३२/३७६-३८१ ।
१०६. राबर्ट नेस्दिट, स्टेज लाइटिंग (थियेटर एण्ड स्टेज, भाग १, लदन, दि न्यू एरा पब्लिशिंग कं० लि०, पृ० ३३५) ।
१०७. झब्बूलाल सुल्तानिया 'अज्ञात', नाटक की सप्रेषणीयता (सुर सिंगार, बम्बई, अप्रैल-अक्टूबर, १९६५, पृ० ५२) ।
१०८. ९८–वत्, २७/४९-५८, १९५० ।
१०९ वही, २७/५७ ।
११०. ९५–वत्, ६/कारिका ३१ के उपरात, पृ० २७२ ।
१११. वही, ६/१५, पृ० २६६ ।
११२. डा० भोलाशंकर व्यास, व्याख्याकार, दशरूपकम् (मूल लेखक धनजय), ४/३५, बनारस, चौखम्भा विद्या-भवन, १९५५, पृ० २१८ ।
११३. डा० नगेन्द्र, प्र० स० तथा अन्य, हिन्दी नाट्यदर्पण, ३/१११, दिल्ली, हि० वि०, दि० वि०, १९६१, पृ० ३०५ ।
११४. डा० सत्यव्रत सिंह, स०, हिन्दी साहित्यदर्पण (मू० ले० विश्वनाथ), ३/२५१, वाराणसी, चौखम्भा, विद्या-भवन, १९६३, पृ० २६६ ।
११५. ११२–वत्, १/५६, पृ० ६४ ।
११६ वही, १/५७, पृ० ६५ ।
११७. वही, १/५८, पृ० ६५ ।
११८. ९८–वत्, २०/२-३ ।
११९. ११२–वत्, ३/४३, पृ० १६५-१६६ ।
१२०. ११३–वत्, १/३-४, पृ० १५-१६ ।
१२१. वही, ४/५५-६३, पृ० ४०४-४०८ ।
१२२. ९५–वत्, १/१६-१७, पृ० १४ ।
१२३. ९८–वत्, ८/६ ।

१२४. म० घोष, सं०, दि नाट्यशास्त्र, भाग १, ८/७ ।
१२५. वही, ८/१५
१२६. डा० भोलाशंकर व्यास, व्याख्याकार, दशरूपकम् (मू० ले० धनंजय), १/९-१०, पृ० ६।
१२७. १२४–वत्, अध्याय ८ से १३ तक ।
१२८. रघुवंश, नाट्य-कला, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६१, पृ० १५१ ।
१२९. १२४–वत्, ८/१४९-१५७ (मुख) और १६६–१७३ (ग्रीवा) ।
१३०. वही, ९६/१००-११४ ।
१३१. वही, अध्याय १३ ।
१३२. वही, १३/६७-६९ ।
१३३. वही, १३/१०१-१०४ ।
१३४. वही, १८/३१ तथा ३६ ।
१३५. वही, १८/३७-४२ ।
१३६. वही, १८/३५ ।
१३७. वही, १८/४९-५४ ।
१३८. (क) डा० सत्यव्रत सिंह, सं० हिन्दी साहित्यदर्पण (मू० ले० विश्वनाथ), ६/१६८, पृ० ४७३, तथा
(ख) श्यामसुन्दर दास एव पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल, सं० ले०, रूपक-रहस्य, प्रयाग, इंडियन प्रेस लि०, द्वितीय संस्करण, १९४०, पृ० १४१ ।
१३९. १२४–वत्, १७/१-४१ ।
१४०. वही, १७/४२ ।
१४१. वही, १७/९६-१०६ ।
१४२. वही, १७/८८-९४ ।
१४३. वही, १९/३७-३८ ।
१४४. वही, १९/३८-४० ।
१४५. वही, १९/४१-४२ ।
१४६. वही, १९/४२-४३ ।
१४७. वही, १९/४३ ।
१४८. वही, १९/५८-५९ ।
१४९. वही, १९/४५ ।
१५०. वही, १९/५८-५९ ।
१५१. वही, १९/६०-६२ ।
१५२. वही, १९/६६-६७ ।
१५३. वही, १९/७०-७१ ।
१५४. वही, १९/७२-७४ ।
१५५. वही, १९/३-४ ।
१५६. वही, १९/५ ।
१५७. (क) 'राजा भट्टारको देवः' – गुरुप्रसाद शास्त्री, सं०, अमरकोश (मू० ले० अमरसिंह), प्रथम कांड, नाट्यवर्ग, १३, बनारस, भार्गव पुस्तकालय, १९३८, पृ० ६२, तथा
(ख) १२४–वत्, १९/१६ ।
१५८. १२४–वत्, १९/७ ।
१५९. 'युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः' –गुरुप्रसाद शास्त्री, सं०, अमरकोशः, प्र० का०, नाट्यवर्ग,१२, पृ० ६२ ।
१६०. 'अम्बा माता'–१५७–वत्, नाट्यवर्ग १४, पृ० ६२ ।
१६१. २४१–वत्, १९/१० ।
१६२. वही, १९/१५
१६३. वही, १९/१४ ।
१६४. वही, १९/९ ।
१६५. वही, १९/१२ ।
१६६. वही, १९/१० ।
१६७. वही, १९/१७ ।
१६८. वही, १९/११ ।
१६९. वही, १९/२९ ।
१७०. (क) वही, १९/२३, तथा

१७०. (क) म० घोष, दि नाट्यशास्त्र, भाग १, १९/३३, तथा
(ख) डा० सत्यव्रत सिंह, हिन्दी साहित्यदर्पण, ६/१४१, वाराणसी, चौ० वि०, १९६३, पृ० ४६८ ।
१७१. १७० (क)–वत्, १९/३१-३२ ।
१७२. वही, २३/४ ।
१७३. वही, २३/११
१७४. वही, २३/४१-४२ ।
१७५ वही, २३/४३ ।
१७६. वही, २३/४८ ।
१७७ वही, २३/४९ ।
१७८. वही, २३/५५ ।
१७९ वही, २३/६० ।
१८०. वही, २३/५९ ।
१८१ वही, २३/६१ ।
१८२. वही, २३/६५-६६ ।
१८३. रघुवंश, नाट्यकला, दिल्ली, नें० प० हा०, १९६१, पृ० २०५ ।
१८४. १७० (क)–वत्, २३/९४-९६ ।
१८५. 'ईषदार्द्रयालक्तकपिण्ड्या घृष्ट्वौष्ठ ताम्बूलमुपयुज्य सिक्थकगुटिकया ताडयेदित्यर्थक्रम' –जयमंगलाकार, कामसूत्र, १/४/५, जयमंगला टीका (वाराणसी, चौखंभा संस्कृत सीरीज आफिस, १९६४, पृ० १०७) ।
१८६. 'दत्वा सिक्थकमलक्तकं'–वात्स्यायन, कामसूत्र, साधारण अधिकरण, चतुर्थ अध्याय (नागरक वृत्त प्रकरण), पाँच, पृ० १०६ ।
१८७. १७० (क)–वत्, २३/१०५-१०९ ।
१८८. १८३–वत्, पृ० २०७ ।
१८९. १७० (क)–वत्, २३/११३-१२५ ।
१९० वही, २३/१३९-१४१ ।
१९१. वही, २३/१४१-१४२ ।
१९२ वही, २३/१४२-१४३ ।
१९३ वही, २३/१४७-१४८ ।
१९४. डा० भोलाशंकर व्यास, व्या०, दशरूपकम्, ४/५-६, बनारस, चौ० वि०, १९५५, पृ० १८२ ।
१९५. डोरोदी एवं जोसेफ सैमेक्मन, सह–लें०, दि ड्रामेटिक स्टोरी आफ दि थियेटर, एबलार्ड-शूमैन, न्यूयार्क, १९५५, पृ० १५-१७ ।
१९६. वही, पृ० २३ ।
१९७. वही, पृ० २६-३१ ।
१९८. शेल्डान चेनी, रंगमंच (अनु० श्रीकृष्णदास), हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५, पृष्ठ १७३-१७४ ।
१९९. (क) वही, पृष्ठ १७६-१७७, तथा (ख) १९५–वत्, पृष्ठ ३५ ।
२००. १९५–वत्, पृष्ठ ३८ ।
२०१ वही, पृष्ठ ४२-४५ ।
२०२. वही, पृष्ठ ४८-५० ।
२०३. वही, पृष्ठ ५३-५५ ।
२०४. वही, पृष्ठ ५५-५७ ।
२०५. वही, पृष्ठ ९१ ।
२०६. जार्ज फ्रीडले तथा जान ए० रीव्स, ए हिस्ट्री आफ दि थियेटर, न्यूयार्क, क्राउन पब्लिशर्स, सप्तम संस्करण, १९४७, पृष्ठ ३५३ ।
२०७. (क) वही, पृष्ठ ३५२, तथा (ख) १९५–वत्, पृष्ठ १०६ ।
२०८. २०६–वत्, पृष्ठ ५३७ ।
२०९. कान्स्टेन्टिन स्टेनिस्लावस्की, माई लाइफ इन आर्ट, फारेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, पृ० ३८० ।

२१०. कार्स्टेन्टिन स्टैनिस्लावस्की, माई लाइफ इन आर्ट, फारेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, पृ० ३८१ ।
२११. वही, पृ० ४०७ ।
२१२. डोरोदी एव जोसेफ सैमेक्सन, दि ड्रामेटिक स्टोरी आफ दि थियेटर, एबलार्ड-शूमैन, न्यूयार्क, १९५५, पृ० ११३-११४ ।
२१३. २१०–वत्, पृ० ३९९ ।
२१४. वही, पृ० ३८८-८९ ।
२१५. जार्ज फ्रीडले एव जान ए० रीग्स, ए हिस्ट्री आफ दि थियेटर, क्राउन पब्लिशर्स, न्यूयार्क, १९४७, पृ० ५४१ ।
२१६ प० सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६४, पृ० ५११ ।
२१७. २१२–वत्, पृ० १३४ ।
२१८. वही, पृ० १३४ ।
२१९ वही, पृ० १३९ ।
२२० नाटक-अभिनय-प्रदर्शन पर ब्रेश्ट के विचार (नटरग, नई दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर, १९६८), पृ० १३-१५ ।
२२१. वही, पृ० १६ ।
२२२. लोथार लुत्जे, ब्रेश्ट और भारतीय रगमच (नटरग, नई दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर, १९६८), पृ० २२ ।
२२३. हबीब तनवीर, वही, पृ० १७ ।
२२४. (क) २२३–वत्, तथा (ख) कार्ल वेबर, वही, पृ० २२ ।
२२५. २१६–वत्, पृ० ५१६ ।
२२६. कोनराड कार्टर, प्ले प्रोडक्शन, लदन, हर्बर्ट जेन्किन्स लि०, १९५३, पृ० ५४ ।
२२७. वही, पृ० ५४-५५ ।
२२८. बलवन्त गार्गी, ऊलजलूल का थियेटर, रगमच, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, प्रथम हिन्दी सं०, १९६८, पृ० २६४ ।
२२९. कोमिस्सास्जेवस्की, इज डाक्युमेण्टरी ड्रामा शार्ट लिव्ड ? स्मारिका, थियेटर आर्ट्स वर्कशाप, लखनऊ, १३ अक्टूबर, १९६८, पृ० शून्य ।
२३०. डॉ० लोथार लुत्जे, डाक्युमेण्टरी थियेटर इन जर्मनी टुडे, सगीत नाटक, २ अप्रैल, ६६, सगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली, पृ० ७६ ।
२३१. सोम बेनीगल, ईस्ट-वेस्ट सेमिनार, नाट्य, विंटर नम्बर, १९६६-६७, पृ० १३ ।
२३२ सम्पादकीय, नाट्य, वही, पृ० ४ ।
२३३. एम० एम० भल्ला, ईस्ट-वेस्ट थियेटर सेमिनार आन टोटल थियेटर, नाट्य, वही, पृ० ८ ।
२३४. एम० रामकृष्ण कवि, स०, नाट्यशास्त्र आफ भरत मुनि, भाग १, १/११६, पृ० ४१ ।
२३५. म० घोष, स०, दि नाट्यशास्त्र, भाग १, अध्याय २६ ।
२३६. २२६–वत्, पृ० ४१ ।
२३७ अल्फ्रेड हरटॉप, मेक-अप (थियेटर एण्ड स्टेज, भाग १, लदन, दि न्यू एरा पब्लिशिंग क० लि०, पृ० ४४८ ।
२३८. वही, पृ० ४५२ ।
२३९. वही, पृ० ४४९ ।
२४०. वही, पृ० ४५७ ।
२४१. वही, पृ० ४८७ ।
२४२. रघुवंश, नाट्यकला, दिल्ली, ने० प० हा०, १९६१, पृ० २२२ ।

२४३. एम० रा० कवि, सं०, नाट्यशास्त्र आफ भरतमुनि, भाग १, १/११२, पृ० ४० ।

२४४. डा० भोलाशंकर व्यास, व्या०, दशरूपकम्, पृ० ४।

२४५. (क) डा० नगेन्द्र एव महेन्द्र चतुर्वेदी, अनु०, अरस्तू का काव्यशास्त्र (पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, दूसरा सस्करण, १९६६, पृ० २७-२९), तथा
(ख) डा० विश्वनाथ मिश्र, हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव, इलाहाबाद, लोक भारती प्रकाशन, १९६६, पृ० १३६ ।

२४६. श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन, प्रयाग, इडियन प्रेस लि०, छठी आवृत्ति, १९४२, पृ० ११६ ।

२४७. एफ० ई० डोरन, प्रोडक्शन प्रिंसिपुल्स (थियेटर एण्ड स्टेज, भाग २, लदन, दि न्यू ए० प० कं० लि०, पृ० ७७८) ।

२

भारतीय रंगमंच की पृष्ठभूमि और विकास

भारतीय रंगमंच की पृष्ठभूमि और विकास | २

(१) हिन्दी तथा अध्ययनगत भारतीय भाषाओं के रंगमंच : एक पृष्ठभूमि

संस्कृत रंगमंच का ह्रास : रंगमच की अवधारणा और उसके विविध उपादानों—रंगशाला, नाटक और अभिनय—के विवेचन के मध्य हम यह देख चुके हैं कि प्राचीन संस्कृत रंगमच की दीर्घ और समृद्ध परम्परा के सीमा-चिन्ह हमे भरत के नाट्यशास्त्र मे मिलते हैं। उसमे नाट्यमंडप, नाटक (अर्थात् उसके तीन तत्त्व (भेदक) : वस्तु, नेता और रस) और अभिनय का जैसा सांगोपांग विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। परवर्ती आचार्यों ने या तो उसकी वृत्तियाँ लिखीं और नवीन व्याख्याये कर नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये अथवा उसे उपजीव्य ग्रन्थ बना कर नाटक और अभिनय अथवा केवल नाटक और उसके तत्त्वों का विवेचन किया। नवीं शती के तीन आचार्यों—लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक मे से लोल्लट ने भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभि-चारिसंयोगात् रसनिष्पत्ति' की व्याख्या करते हुए 'उत्पत्तिवाद', शंकुक ने 'अनुमितिवाद' और भट्टनायक ने 'भुक्ति-वाद' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

दसवीं शती के धनंजय ने भरत-नाट्यशास्त्र को उपजीव्य ग्रन्थ बनाकर, केवल नाटक के तत्त्वों का ही अपने ग्रन्थ 'दशरूपकम्' मे विवेचन किया, यद्यपि उन्होंने नायिका-भेद तथा शृंगार-रस के वर्णन मे कुछ स्वतंत्रता बरती। अभिनवगुप्त (ग्यारहवीं शती) ने नाट्य-शास्त्र पर 'अभिनव-भारती' विवृति लिखी और भरत की नाट्य-मंडप, नाटक और अभिनय-सम्बन्धी समस्त कारिकाओं की विस्तृत व्याख्या की। नाट्यशास्त्र के अध्ययन के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, क्योंकि उसमे भरत-सूत्रो के आख्यान के साथ लोल्लट, शंकुक आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के मतो का भी उल्लेख किया गया है। अभिनव ने भरत के रस-सूत्र के आधार पर, शब्द की व्यंजना-शक्ति को प्रेरक मान कर, रस के सम्बन्ध मे 'व्यंजनावाद' के एक नये सिद्धान्त का प्रवर्तन किया।

बारहवीं शती में गुजरात के रामचन्द्र-गुणचन्द्र (आचार्य हेमचंद्र के दो शिष्य, सहपाठी) ने नाट्यशास्त्र के दशरूपकों से संबंधित बीसवें अध्याय के आधार पर 'नाट्यदर्पण' की रचना की। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार यह धनंजय के 'दशरूपकम्' की प्रतिद्वंद्विता मे लिखा गया प्रतीत होता है[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने चतुर्विध अभिनय का भी संक्षेप मे वर्णन किया है।[2]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भरत के समय मे (यद्यपि ईसा-पूर्व आठवीं-दसवीं शती से लेकर ईसा की चौथी शती तक के बीच विभिन्न विद्वानों ने भरत-नाट्यशास्त्र का रचनाकाल निर्धारित करने का प्रयास किया है, किन्तु अधिकांश विद्वान अन्तर एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इसे अब दूसरी' या दूसरी-तीसरी' शती की कृति मानने लगे हैं, जो उचित प्रतीत होता है) और उसके पूर्व रंगमंच और अभिनय का पूरा विकास हो चुका था, जो दसवीं-ग्यारहवीं शती तक अर्थात् अभिनवगुप्त के समय तक किसी-न-किसी रूप मे अबाध गति से चलता रहा, किन्तु यह विकास-क्रम आगे दूर तक न चल सका। रंगमच का ह्रास प्रारम्भ हो गया और नाटक के पाठ्य या साहित्यिक स्वरूप को प्रधानता प्राप्त हो चली। धनंजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने

ग्रन्थों में केवल नाटक का तत्त्व-विवेचन किया और नाट्यमंडप वाले पक्ष को तो स्पर्श भी नहीं किया। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रंगमंच के तीसरे अंग—अभिनय का भी बड़ा संक्षिप्त वर्णन किया। इससे भी हमारे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि दसवीं शती और उसके बाद संस्कृत रंगमंच की इतिश्री हो गई और 'अभिनवभारती' उसके पुनरुज्जीवन का, निर्जीव शरीर में प्राण फूँकने का एक प्रयास मात्र है, यद्यपि यह प्रयास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। भरत द्वारा स्थापित नाटक के रंगमंचीय मूल्य की एक बार पुनर्स्थापना हुई, किन्तु अभिनव के इस प्रयास की धारा आगे नहीं बढ़ सकी। परवर्ती आचार्यों ने, विशेषकर विश्वनाथ (चौदहवीं शती) ने नाट्यशास्त्र को पृथक् शास्त्र न मानकर *उसे सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का अंग बना दिया। उनके 'साहित्यदर्पण' के केवल छठे परिच्छेद में दृश्यकाव्य का विवेचन* किया गया है। विश्वनाथ ने यद्यपि वात्सल्य रस नामक दसवें रस की उद्भावना की है, किन्तु रस-सिद्धान्त की दृष्टि से वे मुख्यतः अभिनव के ही अनुयायी हैं।

विश्वनाथ के बाद नाटकों की रचना पंच-संधियों और संध्यंगों को दृष्टि में रखकर बड़े परिमाण में होती रही, किन्तु ये नाटक अधिकांश में पाण्डित्य-प्रदर्शन की दृष्टि से लिखे गये, रंगमंच की दृष्टि से नहीं। कुछ आचार्यों ने नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ भी लिखे, जो सत्रहवीं शती तक लिखे जाते रहे, किन्तु उनमें भरत की पैनी दृष्टि अथवा नवीन उद्भावना नहीं दिखाई देती। शिवप्रसाद सिंह ने इसे संस्कृत रंगमंच का पतन या ह्रास-काल माना है।[1] नाटककार रंगमंच से दूर जा पड़े और संस्कृत नाटक भी नाट्यशास्त्र के जटिल बन्धनों में बँधे होने तथा संस्कृत से प्रसूत पृथक् लोक-भाषा का क्रमशः विकास होने के कारण प्रायः सामान्य प्रेक्षक के लिए बोधगम्य न रह जाने के कारण सम्प्रेषणीय नहीं रहे। पुनश्च, इस युग के प्रेक्षक-वर्ग में भरत-कालीन प्रेक्षक की शास्त्रज्ञता, रस-ग्राहिका-शक्ति एवं भावप्रवणता, गुणावगुण-परीक्षा के विवेक आदि की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी। दूसरी ओर, इन नाटकों के अभिनय राज-प्रासादों अथवा राज-सभाओं तक ही सीमित रह जाने के कारण भी औसत प्रेक्षक की वहाँ तक पहुँच संभव न रही। तीसरे, राज्याश्रय अथवा सम्भ्रान्त सामंतों के आश्रय में पले इस रंगमंच को *भारत पर मुसलमानों के आक्रमण से गहरा धक्का लगा। राजाओं-महाराजाओं का पतन हुआ और साथ ही उनके* आश्रित रंगमंच का भी। फलस्वरूप संस्कृत रंगमंच और नाट्यकला का विकास अवरुद्ध हो गया और देश के विभिन्न भागों में लोक-मानस ने अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये नये माध्यमों की खोज प्रारम्भ कर दी। इसी खोज का परिणाम था—देश की विभिन्न लोक-भाषाओं में लोकमंच की स्थापना और उसका विकास।

लोकमंच का अभ्युदय और विकास : यह लोकमंच शास्त्र-अनुमोदित न होकर प्रदेश-विशेष की प्रतिभा, क्षमता, कला-दाक्षिण्य आदि पर आधारित स्वतःस्फूर्त अनगढ़ रंगमंच था, जिस पर लौकिकता की स्पष्ट छाप थी। इसके लिये किसी नाट्यमंडप, नियम या शास्त्रीय मर्यादा की आवश्यकता न थी और कोई भी सार्वजनिक स्थान-गाँव की अमराई, नगर का उपवन, मंदिर, मैदान या राजपथ, मेले का स्थान आदि लोकमंच बन सकता था। यह लोकमंच ग्राम्य मंच का पर्याय नहीं, बल्कि उससे विस्तृत क्षेत्र इसके अन्तर्गत आ जाता है।

लोकमंच का प्रारम्भिक स्वरूप क्या था और उसका अभ्युदय कब और कैसे हुआ, इसका कोई अधिकृत विवरण उपलब्ध नहीं होता। फिर भी मानव-स्वभाव सदैव विनोदप्रिय और मनोरंजन का पोषक रहा है, अतः मानव-सभ्यता के विकास के साथ मनोरंजन या विनोद का कोई-न-कोई साधन उसके पास अवश्य रहा है। नृत्य, गान, वादन अथवा संवाद में से एक या अधिक तत्त्व लोकरंजन के साधन अवश्य बनते रहे हैं।

वैदिक काल में नृत्य, गीत और संवादों के साथ ऋचाओं का शंसन और संवाद-सूक्तों का अभिनय होता रहा है।[1] वाल्मीकि—'रामायण' (दूसरी-तीसरी शती) में भी 'गायक' और 'पाणिवादक'[2] के साथ नाटक-संघ[3] का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य—'अर्थशास्त्र' (ईसा-पूर्व चौथी शती) में नट, नर्तक, वादक, कथाजीवी, कुशीलव (गायक), प्लवक (रस्सी पर चलने वाले नट) आदि की मंडलियों के खेलों और उन पर लगने वाले कर का

विवरण मिलता है।[९] वात्स्यायन के 'काममूत्र' (तीसरी शती) मे 'नट' और 'प्रेक्षा' शब्द आये है।[१०] भरत के अनुसार 'कुशीलव' वाद्य-सगीत के सूत्रो का प्रयोक्ता और कुशल-वादक होता है।[११] प्रेक्षा (जिसे विश्वनाथ ने 'प्रेड्खण' कहा है) उपरूपको का एक भेद है, जो एक प्रकार का नृत्य-विशेष है, जिसे गली, समाज, चौराहे अथवा सुरालय आदि मे अनेक विशिष्ट पात्रो द्वारा किया जाता है।[१२] 'समाज' ऐसे पर्वोत्सवो को कहते हैं, जिनमे नाट्याभिनय होता है।[१३] ये प्राय. सरस्वती-मदिर तथा अन्य मदिरो मे और विवाह, पुत्र-जन्म आदि के मागलिक अवसरों पर ही आयोजित किये जाते थे।

ये समाज मौर्यों के शासनकाल मे हुआ करते थे। अशोक के शिलालेखो मे 'समाज' का उल्लेख मिलता है। कूटनीतिज्ञ एव अर्थशास्त्री चाणक्य ने एक स्थल पर 'उत्सव', 'समाज' तथा यात्रा' का उल्लेख किया है, जिसमें निरन्तर चार दिनो तक अबाध गति से लोग मद्यपान करते थे। 'महाभारत' मे समाज को एक शैवोत्सव कहा गया है, जो गीत, नृत्य तथा मद्यपान के साथ हुआ करता था। धर्म-निरपेक्ष लौकिक समाज प्रायः रगशाला अथवा प्रेक्षागारों मे आयोजित किये जाते थे, जहां विभिन्न वर्गों के सामाजिको के लिए मच या उन्नत चबूतरे बने होते थे। विशिष्टवर्गीय सामाजिको के लिए शिविकाओ तथा शिविरो का भी प्रबन्ध रहता था। लौकिक समाज के अन्तर्गत सार्वजनिक प्रीति-भोज (जिसमे विविध प्रकार के मासाहार की भी व्यवस्था रहती थी), सैनिक द्वन्द्व-युद्ध, कला के प्रदर्शन अथवा स्वयवर का आयोजन किया जाता था। स्वयवर मे नृत्य, सगीत तथा गायन का प्रबध रहता था। चन्द्रगुप्त मौर्य प्रत्येक वर्ष पशु-युद्ध के लिए विशेष आयोजन किया करता था।

आगे चल कर बौद्ध-काल मे समाज मे, जिसे पाली मे 'समज्जा' कहते हैं, कुछ विकृति आ गई। 'दीघ निकाय' मे इस विकृत एव आपत्तिजनक समज्जा के छ अग बताये गये हैं—नृत्य, गीत, सगीत, कथा-वर्णन, झांझ तथा ढोल।

तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' मे 'समाज' का प्रयोग दो अर्थों मे किया है—परिषद् या सभा तथा आमोद-प्रमोदार्थ गोष्ठी अथवा उत्सव। दूसरे अर्थ मे प्रयुक्त समाज-विषयक अर्द्धालियाँ इस प्रकार हैं—

१. बरनव राम-विवाह समाजू। सो मुद मगलमय रितुराजू॥ (रामचरितमानस, १/४२/३)

२. सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जैहहिं सब राजा॥ (रामचरितमानस, १/२७१/५)

३. नहिं विषाद कर अवसर आजू।
बेगि करहु बन-गवन समाजू॥ (राम०, २/६८/४)

४. तब समाजु सजि सिधि पल माही। जे सुख सुरपुर सपनेहु नाही॥(राम०, २/२१४/७)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, स्वयवर के समय नृत्य, गान आदि की व्यवस्था रहती थी। सीता-स्वयवर के समय नृत्य, गान आदि के साथ धनुष-यज्ञ का विशेष रूप से आयोजन किया गया था, जिससे देश-विदेश से आये हुए राजकुमारो के शौर्य एवं शक्ति की परीक्षा की जा सके।

'समाज' शब्द की व्युत्पत्ति है : सम+अज्+घञ्, जिसका अर्थ है—सभा, समिति, गोष्ठी, परिषद्, समुच्चय, सग्रह, दल, आमोद-प्रमोदार्थ सम्मिलन अथवा गोष्ठी। लौकिक समाज का उसके अन्तिम अर्थ से ही सबंध रहा है। इसी समाज से 'सामाजिक' शब्द की उत्पत्ति हुई है : समाज+ठञ्=सामाजिक, जिसका अर्थ है—किसी सभा का सदस्य अथवा सभा में दर्शक (तेन हि तत्प्रयोगादेवात्र भवतः सामाजिकानुपास्महेमातगलीला)।[१४] मोनियर विलियम्स ने भी 'सामाजिक' का अर्थ सभा का सदस्य या सहायक, प्रेक्षक (साहित्य-दर्पण) ही किया है।[१५] प्रेक्षक के अर्थ में 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग आसाम के वैष्णव कवि शंकरदेव—कृत 'राम-विजय अथवा सीता-स्वयंवर' मे हुआ है—

'सूत्रधार—हे सामाजिक, ये खन रामचन्द्र अजगव धनूष तूरल, सीता शकित भावे चिन्तित भेलि।'

लोकमच की यह परम्परा भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के समय भी इस देश मे विद्यमान थी, इसीलिये

भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्त मे यह सकेत किया कि नाट्य-प्रयोग की शास्त्र-सम्मत रीतियो (व्यवहारो) के विस्तृत विवेचन के बाद भी यदि कुछ कहना शेष रहा हो, तो उसे लोकानुकरण (लोकधर्मी प्रवृत्तियो) से ग्रहण किया जाना चाहिए।[१६]

डा० कीथ ने प्रहसन (रूपक का एक भेद) का उद्भव लोक-नाट्य से माना है और उसे तत्कालीन लौकिक रीति का साहित्यिक रूप बताया है।[१७] यह लौकिक स्वाँग या हास्यपूर्ण नकल या वाङ्मय रूप हो सकता है, क्योकि स्वाँग या प्रहसन, दोनो मे ही व्यग्य और हास्य अभिप्रेत होता है।

इस प्रकार लोक-नाट्यो की यह परम्परा बहुत प्राचीन ठहरती है। यह सस्कृत नाटको के समानान्तर चलती रही, किन्तु अपभ्रश भाषाओ के अनन्तर आधुनिक भारतीय भाषाओ तथा हिन्दी का विकास होने पर, प्रत्येक भाषा-क्षेत्र की जन-रुचि और परिस्थितियो के अनुरूप, उनके लोकमच का विकास हुआ। इस लोकमच से सम्बन्धित कठपुतली-नृत्य और स्वाँग सबसे प्राचीन हैं। कठपुतली-नृत्य का प्रसार सम्पूर्ण भारत मे रहा है, फिर भी मराठी और हिन्दी के क्षेत्र मे इसे विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। स्वाँग महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और बिहार मे प्रचलित रहे हैं। बगाल की यात्राओ का आरम्भ जयदेव के 'गीत गोविन्द' से माना जाता है। मराठी मे तमाशे तेरहवी शती से पूर्व ही होने लगे थे। गोन्धल, ललित और दशावतार मराठी क्षेत्र की जनता के मनोरजन के अन्य साधन थे। गुजराती मे भवाई का प्रारम्भ चौदहवीं शती मे हुआ। गुजराती और राजस्थानी-हिन्दी के रास तेरहवी शती की देन हैं। मैथिल के कीर्तनिया नाटक और ब्रजभाषा की रासलीला सोलहवी शती मे विकसित हुई। रासलीला के जोड पर राम-भक्तो ने रामलीला या राम की रासलीला का प्रचार किया। उत्तर प्रदेश और आस-पास के हिन्दी-क्षेत्रो मे स्वाँग, भगत, सागीत या नौटकी, ख्याल, भाँड और विदेसिया भी लोकप्रिय रहे। ये सस्कृत के अभिजात्यवर्गीय नाटकों से पृथक् लोकप्रिय जन-नाट्य थे, जिनके द्वारा तत्कालीन जन-समाज अपना मनोरजन करता रहा। इनकी भाषा तत्कालीन लोकभाषा थी और इनके भावाभिव्यजन का रूप भी सरल और अकृत्रिम होता था। केवल सगीत की मधुर स्वर-लहरी, नृत्यादि तथा कुछ अनगढ थोडे से सवादो से प्रेक्षक रस-विभोर हो जाते थे।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से ये लोकनाट्य मुख्यत दो प्रकार के होते हैं—लौकिक और पौराणिक। कठपुतली, स्वाँग, तमाशा, भवाई, ख्याल, विदेसिया आदि लौकिक नाट्य के अन्तर्गत और यात्रा, ललित, राम-लीला, रास-लीला आदि पौराणिक नाट्य के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु यह वर्गीकरण वातानुकूलित कक्षो की भाँति अन्तिम और अपरिवर्तनशील नही है। यात्रा-नाटकों के कृष्ण आदि का स्थान आगे चलकर नल-दमयन्ती, विद्या-सुन्दर आदि नायक-नायिकाओ ने ले लिया। तमाशे के 'गौलणी' वाले अश मे राधा-कृष्ण-प्रसग के गीत गाये जाते हैं तथा भेदिक कवन वाले अश मे शिव और शक्ति-सम्बन्धी विवाद होता है।

यात्रा बँगला से, तमाशे, गोधल, ललित आदि मराठी से, भवाई गुजराती से और शेष लोकनाट्य मुख्यतया हिन्दी से सम्बन्धित हैं। बगाल से लेकर महाराष्ट्र तक समस्त उत्तरी भारत मे इस लोकमच ने अपने विविध स्वरूपो मे जन-मानस को आन्दोलित एव आह्लादित किया, किन्तु काल-क्रम से उनमे अश्लीलता और विकृति उत्पन्न हो जाने से उनका पतन प्रारम्भ हो गया। यात्रा, तमाशा, भवाई, नौटंकी, भाँड आदि मे विकृति आ जाने से सामाजिको के बीच उनकी लोकप्रियता घटने लगी, यद्यपि उनके पुनरुद्धार और परिमार्जन की चेष्टा इधर के कुछ वर्षो मे प्रारम्भ हो गयी है और सुसस्कृत रूप मे उन्हें अब रगशालाओं मे प्रस्तुत किया जाने लगा है। इन लोक-नाट्यो का तेरहवी शती या इससे कुछ पूर्व से लेकर बीसवी शती के पूर्वार्द्ध तक जन-मानस पर एकछत्र राज्य रहा है। इस बहुरूपी लोकमच ने आगे चलकर सुरुचि-सम्पन्न नाट्यमच को प्रेरणा प्रदान की और सभी भाषाओ मे सुन्दर नाटको का सृजन प्रारम्भ हो गया।

---

(२) रंगमंच का अभ्युदय

लोकमच से नाट्यमंच या रगमच को प्रेरणा मिलती है, क्योंकि रंगमच लोकमच के रगशिल्प और अभिनय-कौशल को ग्रहण कर नवीन प्रयोग करने लगता है और अपने नये रगशिल्प, अभिनय-पद्धति एवं नाट्य-विधान को गढने मे लग जाता है। नव-निर्माण अर्थात् नवीन प्रयोग की अभिलाषा की पूर्ति के लिये अतीत की नाट्य-परम्पराओं और समकालीन नाट्य-पद्धतियो की ओर उसकी दृष्टि जाना स्वाभाविक है। यदि देश परतन्त्र हो, तो अतीत के प्रति आकर्षण एव श्रद्धा का ह्रास होने लगता है और विजेता की संस्कृति और कला के मानदण्ड उसे शीघ्र ही अभिभूत कर लेते हैं। बँगला, मराठी और गुजराती आदि भारतीय भाषाओ तथा हिन्दी मे रगमच के अभ्युदय के समय भारत की यही स्थिति थी।

सत्रहवी शती के पूर्वार्द्ध मे भारत आकर अंग्रेज व्यापारियो ने क्रमश: मद्रास (१६३९ ई०) और बम्बई (१६६१ ई०) पर अधिकार कर लिया। सन् १६९० ई० मे उन्होने बगाल मे प्रवेश कर कलकत्ता की नीव डाली और सन् १७७२ मे यह बगाल मे अंग्रेजी राज्य की प्रथम राजधानी बना। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध मे भारतीयों की पराजय के बाद अंग्रेज प्राय समस्त भारत के अधिपति बन गये। इस अवधि में अंग्रेजी रगमच और नाट्य-कला ने भारतीय रगमच की स्थापना के लिए न केवल प्रेरणा प्रदान की, बल्कि उसके उन्नयन के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी। हिन्दी तथा प्रस्तुत अध्ययन की सभी भारतीय भाषाओ—बँगला, मराठी तथा गुजराती ने इस प्रभाव को यत्किंचित् ग्रहण किया, यद्यपि भारतीय रगमच के नवीन पुरस्कर्ताओं की दृष्टि लोकमच और अतीत की दीर्घ नाट्य-परम्पराओ की ओर बराबर लगी रही। फलत अभ्युदय-काल मे भारतीय रगमच पर सस्कृत नाट्यशास्त्र और लोकमच की पारम्परिक विशेषतायें स्पष्ट परिलक्षित होती है। हिन्दी और भारत की अन्य अध्ययनगत भाषाओं के प्राय: सभी प्रारम्भिक नाटको मे सस्कृत नाटक के मगलाचरण और प्रस्तावना के साथ लोकनाट्यो का गीति-तत्त्व वर्तमान है, किन्तु बाद मे वे पश्चिमी नाट्य-विधान की ओर झुकते चले गये। आज के नाटक और रगमच, दोनो सस्कृत और लोकनाट्य के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है।

(क) भारत में अंग्रेजी रंगमंच का अभ्युदय और प्रभाव

अंग्रेजो ने कलकत्ते मे एक रगशाला सन् १७५६ मे लाल बाजार और मिशन रो के मोड पर स्थित बाडी मे खोली, जिसका नाम था 'प्ले हाउस'।[१८] यह भारत की प्रथम अंग्रेजी रगशाला थी। सन् १७५७ मे प्लासी युद्ध मे इसी रगशाला मे पश्चिम के किले पर सिराजुद्दौला ने तोपें दागी थी। दूसरी रगशाला सन् १७७७ मे रायटर्स बिल्डिंग के पीछे लायन्स रेंज और क्लाइव स्ट्रीट के चौराहे पर बनी, जिसका नाम था कलकत्ता थियेटर।[१९] यह 'न्यू प्ले हाउस' के नाम से भी प्रसिद्ध है।[२०] इसके निर्माण पर उस समय एक लाख रुपये लगे थे। इस रगशाला के सभी कलाकार उच्च और प्रतिष्ठित घराने के लोग थे।

कलकत्ता थियेटर मे प्राय. अंग्रेजी प्रहसन और विशेषकर शेक्सपियर के 'हैमलेट', 'रिचर्ड तृतीय' आदि कई नाटक खेले गये। इसी थियेटर मे सन् १७८९ मे कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का अंग्रेजी मे अभिनय प्रस्तुत किया गया। टिकट की दर आठ रुपए से लेकर प्राय. एक मोहर तक हुआ करती थी।[२१] कुछ वर्षों की निरन्तर बढती हुई ख्याति के बाद कलकत्ता थियेटर का ह्रास प्रारम्भ हुआ और वह नीलाम हो गया।

श्रीमती ब्रिस्टो नामक एक अंग्रेज महिला ने चौरंगी मे निजी रगशाला का निर्माण किया और सन् १७८९ मे पहली बार स्वय कई अन्य स्त्रियो के साथ 'पुअर सोल्जर' नामक नाटक मे भाग लिया।[२२]

कुछ वर्ष बाद कलकत्ता-निवासी रूसी वादक लेबदेफ ने बगाल थियेटर की स्थापना की और 'डिसगाइज' (नाटक) तथा 'लव इज दि बेस्ट डाक्टर' (प्रहसन) के बँगला अनुवादो को क्रमशः २७ नवम्बर, १७९५ और २३ मार्च, १७९६ को मचस्थ किया।[२३] मच-सज्जा भारतीय रीति से की गई और नाटको मे कवि भारतचन्द्र के गीत

गाये गये । इनमे सर्वप्रथम बगाली स्त्रियो ने स्त्री-भूमिकायें की ।

इसके अनन्तर १९वी शती के प्रारम्भ मे कई अन्य रगशालायें भी निर्मित हुईं । इनमें प्राय अँग्रेजी के ही नाटक खेले जाते थे ।

बम्बई मे अँग्रेजी राज्य के सुदृढ होने पर प्रथम रगशाला सन् १७७० (डॉ० विद्यावती नम्र के अनुमार १७७६ ई०) *मे बनी, जिसका नाम था बम्बई थियेटर ।*[४] *यह सार्वजनिक चन्दे से वर्तमान हार्निमैन सर्किल मे* बनवाई गई थी । बम्बई के मराठे सेठ जगन्नाथ शकर सेठ ने ग्राण्ट रोड पर एक रगशाला पारसी मडलियो के नाटक खेलने के लिये बनवाई, जिसका उद्घाटन १० फरवरी, १८४८ को हुआ । डॉ० विद्यावती नम्र के अनुमार जगन्नाथ शकर सेठ ने इसे सन् १८५५ मे खरीदा था । यह रगशाला ग्राटरोड थियेटर या रायल थियेटर के नाम से प्रसिद्ध हुई ।[५] *जगन्नाथ शकर सेठ की मृत्यु के बाद उनके पुत्र विनायक जगन्नाथ सेठ थियेटर के मालिक बने ।* इसके अनन्तर काल-क्रम से ग्राट रोड पर विक्टोरिया, बालीवाला आदि थियेटर बने, जिन्हे पारसियो ने बनवाया था । कलकत्ते के अनुकरण पर ग्राण्ड रोड के इस क्षेत्र को 'प्ले हाउस' (पिल हाउस) कहा जाने लगा । बाद मे गेयटी (अब कैपिटल), इम्पायर और नावेल्टी थियेटर फोर्ट-क्षेत्र मे बने । पहले इनमे अँग्रेजी नाटक हुआ करते थे, *किन्तु बाद मे गुजराती और मराठी नाटक खेले जाने लगे ।*

कलकत्ते और बम्बई की इन रगशालाओ ने बँगला, मराठी और गुजराती के शिक्षित समाज मे एक नई चेतना उत्पन्न कर दी । वे यह सोचने के लिए विवश हुए कि इस प्रकार की रगशालाएँ उनकी भाषाओ के नाटको के लिये भी बननी चाहिए और इस दिशा मे कुछ लाभ-प्रद प्रयास प्रारम्भ हो गये । बगालियो, पारसियो और *गुजरातियो ने अपनी रगशालाएँ बनाने मे सफलता भी प्राप्त की । बँगला और गुजराती मे नाटको का सृजन भी* प्रारम्भ हो गया ।

मराठी नाटक मडलियो के प्रारम्भिक नाटक पारम्परिक लोकमच और सस्कृत से प्रभावित थे, अत उन्हें स्थायी रगशालाओं की स्थापना की आवश्यकता नही अनुभूत हुई । बम्बई मे वे पारसियो आदि द्वारा बनवाई *गई रगशालाओ को किराये पर लेकर अपने नाटक दिखाने लगी । पूना का पूर्णानन्द नाटक-गृह एकमात्र स्थायी* मराठी रगशाला थी, जो सन् १८५९ या इसके पूर्व बन चुकी थी ।[६]

(ख) हिन्दीतर भारतीय भाषाओ के रगमच का अभ्युदय

अध्ययनगत हिन्दीतर भारतीय भाषाओ अर्थात् बँगला, मराठी और गुजराती के रगमचो की स्थापना में अँग्रेजी रगमच का बहुत बडा हाथ रहा है । फिर भी अँग्रेजी रगमच के इस योगदान और प्रभाव की मात्रा प्रत्येक भाषा के रगमच के लिये समान न होकर किसी के लिये कम और किसी के लिये *अधिक रही है । प्रत्येक भाषा* के रगमच के अभ्युदय के इतिहास पर विहगम दृष्टि डालने से यह बात स्वत. स्पष्ट हो जायगी ।

बँगला रगमंच कलकत्ते मे विदेशियो, विशेषकर अँग्रेजो द्वारा स्थापित रगशालाओ और उनमे होने वाले अँग्रेजी नाटको को देख तथा अँग्रेजी शिक्षा के प्रसार के साथ अँग्रेजी नाटको के पठन-पाठन से प्रभावित होकर नवशिक्षित बगाली-समाज का ध्यान अपनी रगशाला बनाने की ओर गया । फलस्वरूप सन् १८३१ मे प्रसन्नकुमार ठाकुर ने हिन्दू थियेटर की स्थापना की, परन्तु इस थियेटर मे भी प्रमुख रूप से अँग्रेजी या अँग्रेजी भाषा मे अनूदित नाटक ही खेले जाते रहे । इस प्रकार के नाटको मे शेक्सपियर का 'जूलियस सीजर' तथा भवभूति के 'उत्तररामचरित्' का अँग्रेजी रूपान्तर प्रमुख थे ।[७]

सन् १८३२ मे श्यामबाजार के नवीनकृष्ण बोस ने प्रथम सम्पूर्ण रूप से बगाली रगशाला की स्थापना की । इसमे सन् १८३५ मे भारतचन्द्र राय 'गुणाकर'-कृत 'विद्यासुन्दर' काव्य को नाट्यरूप मे प्रस्तुत किया गया ।[८]

इस नाटक मे बिजली की चमक, वादल आदि प्रदर्शित करने का विशेष प्रबन्ध किया गया था । कोई पृथक् मच न होने के कारण सामाजिकों को पात्रो के साथ ही दृश्य-स्थल पर जाना पडता था । इसमे स्त्री-भूमिकाएँ स्त्रियों द्वारा ही की गई थी । यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि भारतचन्द्र के 'विद्यासुन्दर' के बहुत पहले ही भैरवचन्द्र हालदार का 'विद्यासुन्दर' यात्रा-नाटक (१८२३ ई०) रईसो की बाडियो मे खेला जा चुका था ।[१]

सन् १८५६ मे ओरिएटल थियेटर ने रामनारायण तर्करत्न के सामाजिक नाटक 'कुलीनकुलसर्वस्व' को जयराम बसाक की बाडी मे अभिनीत किया । यह रक्षणशील समाज के विरोध के बावजूद बहुत लोकप्रिय हुआ । सन् १८५७ मे कालीप्रसन्न सिंह ने '*विद्योत्साहनी थियेटर*' की *स्थापना की और कालिदास के 'विक्रमोर्वशी'* (१८५७ ई०) और भवभूति के 'मालती माधव' (१८५९ ई०) के बँगला अनुवादो को सफलता के साथ प्रस्तुत किया । कालीप्रसन्न सिंह ने एक मौलिक नाटक भी लिखा– 'सावित्री-सत्यवान', जो ५ जून, १८५८ को खेला गया ।

उपर्युक्त सभी थियेटर अस्थायी ढग के थे, अत बेलगछिया के राजा ईश्वरचन्द्र सिंह और प्रतापचन्द्र सिंह ने बाबू (बाद मे *महाराजा*) *यतीन्द्रमोहन ठाकुर की* प्रेरणा से बेलगछिया *थियेटर* के रूप में एक स्थायी रगशाला की स्थापना की । इसका उद्‌घाटन ३१ जुलाई, १८५८ को '*रत्नावली*' (बँगला में) के *अभिनय से हुआ*,[१] जो १२ *रातों तक चलता रहा*।[१] इसमे *राजा उदयन के प्रासाद के ऐन्द्रजालिक की जादू की* छडी और मन्त्रो द्वारा जलने और आकाश मे पूर्ण चन्द्रोदय के बडे भव्य और यथार्थ दृश्य दिखलाए गये थे ।[३] इस अवसर पर भारतीय वाद्ययन्त्रो का प्रयोग कर सर्वप्रथम भारतीय राग-रागिनियो पर धुनें बाँधी गई थी ।[१] इस थियेटर मे दूसरा नाटक जो तीन सितम्बर, १८५९ को किया गया था, वह था माइकेल मधुसूदन दत्त का 'शर्मिष्ठा' । इसमे स्त्री-पात्रो की भूमिकाएँ पुरुषो द्वारा ही की गई थी ।

सन् १८६१ मे राजा ईश्वरचन्द्र की मृत्यु हो जाने से बेलगछिया थियेटर बन्द हो गया ।[१]

२७ अप्रैल, १८५९ को उमेश चन्द्र मित्र का 'विधवा विवाह' नाटक मैट्रोपालिटन थियेटर द्वारा कैनिंग *स्ट्रीट के पास सिन्दूरिया पट्टी (चितपुर रोड) के बा० गोपाललाल मलिक की बाडी मे मचस्थ किया गया था*।[१] इसे बगाल मे विधवा-विवाह के प्रवर्तक प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी देखने के लिए आये थे और इसे देख कर उनकी आँखें भीग उठी थी । इसके बाद चिरजीव शर्मा (त्रैलोक्यनाथ सान्याल) का 'नव वृन्दावन' नामक सामाजिक नाटक सितम्बर, १८८१ मे खेला गया, जिसमे केशवचन्द्र सेन ने स्वय पहाडी बाबा और बाजीकर का अभिनय किया था ।[१]

सन् १८६४ मे बा० चन्द्रकाली घोष की अध्यक्षता मे शोभा बाजार प्राइवेट थियेट्रिकल सोसाइटी की स्थापना हुई, जिसने माइकेल के 'एकेइ कि बले सभ्यता' का ४, १८ और २९ जुलाई, १८६५ को और बाद मे उनके 'कृष्णकुमारी' का उसी वर्ष अभिनय किया ।[१]

इसके अनन्तर कुछ अन्य थियेटरो की स्थापना हुई, जिनमे पाथुरिया घाट थियेटर, जोडासाको थियेटर और बहूबाजार थियेटर उल्लेखनीय हैं ।

नाट्यानुरागी *महाराजा यतीन्द्रमोहन* ठाकुर ने अपने राजमहल मे पाथुरिया घाट थियेटर की स्थापना की, जिसका उद्‌घाटन ६ जनवरी, १८६६ को उनके 'विद्यासुन्दर' नाटक के सन् १८६५ के परिष्कृत संस्करण को खेल कर किया गया । इस नाटक का अभिनय निरन्तर ९-१० दिन तक चलता रहा ।[१] बेलगछिया-थियेटर के वृन्दवादको ने इस नाटक के लिए सगीत-रचना की थी । इसी वर्ष १५ दिसम्बर को 'बुझले कि ना' शीर्षक प्रहसन अभिनीत हुआ । इसके बाद पाथुरिया घाट थियेटर ने अनेक नाटक खेल कर लगभग २५ वर्ष तक बँगला रंगमच की सेवा की ।

बँगला रगमच के इतिहास मे महर्षि देवेन्द्रनाथ के परिवार से सबधित जोडासाको थियेटर का योगदान अविस्मरणीय रहेगा, यद्यपि यह दीर्घजीवी न हो सका और कुछ ही समय बाद सन् १८६७ मे ही बन्द हो गया। इसके मच पर सर्वप्रथम माइकेल मधुसूदन दत्त-कृत 'कृष्णकुमारी' और 'एकेइ कि बले सभ्यता' के कुछ अशो का अभिनय हुआ। इसके बाद ५ जनवरी, १८६७ को रामनारायण तर्करत्न का बहु-विवाह-सम्बन्धी 'नव नाटक' खेला गया। यह नाटक आठ बार खेला गया था।[१]

लगभग इसी समय विश्वनाथ मातीलाल लेन मे बा० गोविन्दचन्द्र सरकार की बाडी मे बहूबाजार थियेटर की स्थापना चुन्नीलाल बोस ने बन्देश्वर आदि के सहयोग से की। मनमोहन वसु का प्रथम नाटक 'रामाभिषेक' इसी थियेटर मे सन् १८६८ के प्रारभ मे हुआ था। उनका दूसरा नाटक 'सती' सन् १८७२ मे खेला गया। इस नाटक के अभिनय की प्रशसा 'अमृतबाजार पत्रिका' के २२ जनवरी, १८७४ और 'इग्लिशमैन' के १७ मार्च, १८७४ के अको मे की गई थी।[२] इसके बाद उनका तीसरा नाटक 'हरिश्चन्द्र' (दिसम्बर, १८७४ ई०) प्रारभ किया गया, किन्तु चुन्नीलाल की पत्नी और बडे पुत्र की मृत्यु के कारण थियेटर बन्द हो गया।[३]

अभी तक प्राय पौराणिक अथवा सामाजिक नाटक ही मचस्थ हो रहे थे, परन्तु दीनबन्धु मित्र ने सन् १८६० मे 'नीलदर्पण' नामक राष्ट्रीय नाटक लिख कर नाट्य-जगत मे क्राति उपस्थित कर दी। यह नाटक नीलहे गोरो के अत्याचारो के विरुद्ध नदिया जिले के अन्तर्गत गुयातेली गाँव के मित्र परिवार की दुर्दशा से सम्बन्धित एक सत्य घटना पर आधारित था।[४]

बगाल से लाहौर (पजाब) तक इसका अनेक नगरो मे प्रदर्शन हुआ। वापसी मे ग्रेट नेशनल थियेटर जब लखनऊ की छतरमजिल मे 'नीलदर्पण' (१८७५ ई०) का अभिनय कर रहा था, तो एक अँग्रेज दर्शक मच पर चढ कर तोरप का अभिनय करने वाले मतिलाल सूर को मारने पर आमादा हो गया।[५] इससे सारी रगशाला मे अव्यवस्था फैल गई और नाटक रोक दिया गया। ग्रेट नेशनल थियेटर को सीधे कलकत्ता वापस लौट जाना पडा। ऐसी ही घटनाएँ कलकत्ते मे भी कई बार घटी। एक बार तोरप द्वारा रोग पर आघात करने पर दीनदयाल वसु नामक एक बगाली दर्शक ने मच पर चढ़ कर रोग-वेशी पात्र को मारना प्रारम्भ कर दिया और मारते-मारते वह मूर्च्छित हो गया। एक बार रोग (अर्धेन्दुशेखर) के क्षेत्रमणि को विवस्त्र करने की चेष्टा करने पर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने चप्पल फेंककर मारी। अर्द्धेन्दु ने चप्पल अपने माथे से लगा कर कहा—'यही मेरा श्रेष्ठ पुरस्कार है।'[६]

'नीलदर्पण' ने 'अंकिल टाम्स कैबिन' के समान ही देश मे क्राति उपस्थित कर दी और इस प्रकार नीलहे गोरो की दासता से बगाली कृषको को मुक्त कराने मे बहुत बडा योग दिया। यह इस बात का प्रमाण है कि नाटक और रगमच द्वारा सामाजिक एव राजनैतिक क्रान्ति उपस्थित की जा सकती है। 'अंकिल टाम्स कैबिन' ने अमेरिका मे दास-प्रथा का अन्त कराया था।

दीनबन्धु का दूसरा क्रान्तिकारी नाटक था— 'सधवार एकादशी', जो एक प्रहसन है। इस प्रहसन ने सामाजिक क्षेत्र और रगमच-जगत मे उथल-पुथल मचा दी। इस नाटक का सर्वप्रथम अभिनय बागबाजार एमेचर थियेटर द्वारा सन् १८६८ मे गिरीशचन्द्र घोष के निर्देशन मे हुआ था। इस नाटक के उपस्थापन पर कोई विशेष खर्च नही हुआ और इस प्रकार पहली बार जनता के रगमच की स्थापना हुई। अभी तक रामनारायण तर्करत्न और माइकेल मधुसूदन दत्त के नाटक सम्पन्न लोगो के लिये ही होते थे, परन्तु दीनबन्धु मित्र के नाटक सर्वसाधारण के लिये सुलभ हो गये, जिससे बँगला रगमच का विकास तीव्रगति से हुआ।

इस आन्दोलन के फलस्वरूप सन् १८७१ मे नेशनल थियेटर की स्थापना हुई। इसमे सर्वप्रथम जून,

१८७१ मे दीनबन्धु कृत 'लीलावती' नाटक का अभिनय हुआ। सन् १८७२ मे 'नीलदर्पण' टिकट से खेला गया। इसके बाद एक के बाद एक करके कई नाटक खेले गये ।

कुछ वर्षों की अपूर्व सफलता के बाद नेशनल थियेटर में फूट पड गई और उसके कुछ कार्यकर्त्ताओं ने अलग होकर हिन्दू नेशनल थियेटर की स्थापना की। मई, १८७३ मे दोनो थियेटरो ने कलकत्ते से ढाका जाकर अपने-अपने नाटक खेले। नेशनल थियेटर वहाँ कुछ जम नही पाया और उसने हानि उठाई। हिन्दू नेशनल थियेटर को कुछ सफलता तो अवश्य मिली, किन्तु उसे भी वापस लौट जाना पडा। लौट कर दोनो मे पुनः एकता स्थापित हुई और १० जुलाई, १८७३ को दोनो ने मिल कर 'कृष्णकुमारी' नाटक खेला।[१] माइकेल मधुसूदन दत्त की मृत्यु २९ जून, १८७३ को हो जाने के कारण उक्त नाटक मे होने वाली आय उनके परिवार वालो को दे दी गई।[१]

कुछ काल बाद नेशनल थियेटर (सयुक्त) का भुवनमोहन के ग्रेट नेशनल थियेटर के साथ फरवरी, १८७४ मे नियमित विलय हो गया।[१] ग्रेट नेशनल की स्थापना ३१ दिसम्बर, १८७३ को हुई थी। इसका मच लकडी के तख्तो का बनाया गया था और इसके निर्माण पर उस समय १३००० रु० व्यय हुए थे। विलय के बाद १४ फरवरी, १८७४ को 'मृणालिनी', १० मार्च को 'विषवृक्ष', ४ अप्रैल को 'कपालकुण्डला' और ३० मई को 'कमलिनी' नाटक खेले गये।

अभी तक बँगाल थियेटर को छोडकर अन्य किसी भी रगमच पर महिलाये काम नही करती थी, अत. ग्रेट नेशनल थियेटर ने भी क्षेत्रमणि, जादूमणि, लक्ष्मीमणि, राजकुमारी, नारायणी तथा हरीमती नामक स्त्री-कलाकारों को १९ सितम्बर, १८७४ को अभिनीत हुए देवेन्द्रनाथ बनर्जी-कृत 'सती कि कलकिनी ?' सगीतक मे स्त्रियो की भूमिकाओं मे उतारा।[१] यह नाटक अत्यन्त सफल रहा। इसके बाद अनेक नाटक सफलता के साथ खेले गये। उपेन्द्रनाथदास का 'शरत्-सरोजनी' महाराजा बेतिया (महाराजा हरेन्द्रकृष्ण सिंह) के सरक्षकत्व मे २ जनवरी, १८७५ को मचस्थ किया गया। इसमे पहली बार मच पर गोलीकाड दिखाया गया था।

सन् १८७५ की गर्मियो मे ग्रेट नेशनल थियेटर ने दिल्ली, लाहौर, मेरठ, आगरा, वृन्दावन, लखनऊ आदि नगरो मे अपने नाटक प्रदर्शित किए।[१] लखनऊ मे 'नीलदर्पण' के प्रदर्शन के अवसर पर घटित दुर्घटना के कारण उसे सीधे कलकत्ते लौट जाना पडा, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

इसी वर्ष उसने तीन ऐतिहासिक नाटक खेले, जिन्होंने बगाल के राजनैतिक जीवन को चेतना प्रदान की। ये तीन नाटक थे–'पुरु-विक्रम' (३ अक्टूबर, १८७५), 'भारते यवन' (७ नवम्बर, १८७५) और 'बंगेर सुखावसान' (२६ दिसम्बर, १८७५)। इसी वर्ष 'हीरकचूर्ण' (१७ जून), 'सरोजिनी' (२६ दिसम्बर) और 'सुरेन्द्र-विनोदिनी' (३१ दिसम्बर) नाटक भी खेले गये।

सन् १८७६ रगमच के इतिहास मे एक बडी भारी विपत्ति का वर्ष रहा है, जिसने बँगला रगमच को ही नहीं, भारतीय रगमच को अपने शिकजे मे कस कर अपग बनाने की चेष्टा की। बगाल सरकार की प्रार्थना पर लार्ड नार्थब्रुक ने एक अध्यादेश (आर्डिनेन्स) की घोषणा की, जिसमे बंगाल सरकार को नाट्य-प्रदर्शनो पर रोक लगाने का अधिकार दिया गया था। बाद मे १६ दिसम्बर, १८७६ को 'नाट्य-प्रदर्शन नियन्त्रण अधिनियम' स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम से सभी प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वे जिस नाटक को अश्लील, राजद्रोहात्मक अथवा आपत्तिजनक समझें, उसे जब्त कर लें और उसके अभिनय पर रोक लगा दें।

इस कानून का देश भर मे विरोध किया गया। कलकत्ते की 'अमृतबाजार पत्रिका' ने लिखा : 'इस समय हम शासकों के अत्याचारो के बोझ से दबे हुए हैं। यदि हमारे ऊपर सरकार इसी तरह के काले कानूनों के द्वारा राज्य करती रहेगी, तो हमें ऐसा क्षेत्र चुनना पडेगा, जहाँ वर्तमान शासको की बौखलाहट की हमे कोई परवाह न

रहेगी।"[1] फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन ने गति पकडी, यद्यपि रगमच और नाटको का विकास कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गया।

बँगला रगमच के विकास मे जिन अन्य रगशालाओ अथवा नाटक मडलियो ने योगदान दिया, उनमे प्रमुख हैं वगाल थियेटर (१८७३ ई०), वीणा थियेटर (१८७७ ई०), स्टार थियेटर (१८८३ ई०), एमरेल्ड थियेटर (१८८८ ई०), नूतन स्टार (१८८८ ई०), सिटी थियेटर (१८९०-९१ ई०), मिनर्वा थियेटर (१८९३ ई०), क्लासिक थियेटर (१८९७ ई०) और कोहिनूर थियेटर (१९०७ ई०)।

बगाल थियेटर की स्थापना शरद्चन्द्र घोष ने १६ अगस्त, १८७३ को बीडेन स्ट्रीट पर की थी। यह थियेटर कच्ची जमीन पर खपरैल डाल कर बनाया गया था। इसके आजीवन व्यवस्थापक बिहारीलाल चटर्जी की मृत्यु के कारण यह सन् १९०१ ई० मे बन्द हो गया। लेबदेफ थियेटर (१७९५ ई०), नवीनकृष्ण बोस के श्याम बाजार थियेटर (१८३२ ई०) तथा सन् १८७३ के पूर्वार्द्ध मे कुछ मण्डलियो के छुटपुट प्रयासो के बाद बगाल थियेटर ने सर्वप्रथम अलकेशी, जगततारिणी, श्यामासुन्दरी और गोलप, इन चार अभिनेत्रियो मे से दो को माइकेल-कृत 'शर्मिष्ठा' मे शर्मिष्ठा की दासियो की भूमिकाएँ दी। 'शर्मिष्ठा' १६ अगस्त, १८७३ को खेला गया था। इसके अनन्तर 'माया कानन', 'मृहतेर ए कि काज', 'चक्षुदान', 'दुर्गेशनन्दिनी', 'कादम्बरी', 'विद्यासुन्दर', 'नवनाटक', 'पद्मावती', 'पुरुविक्रम' आदि कई नाटक मचस्थ किये गये। इस प्रकार यह रगशाला २८ वर्ष तक गतिशील बनी रही।

स्टार थियेटर की स्थापना बगाल की सुन्दरी अभिनेत्री विनोदिनी ने अपने एक प्रेमी के सहयोग से सन् १८८३ ई० मे की। सन् १८८८ ई० मे गोपाललाल शील ने इसे खरीद लिया और एमरेल्ड थियेटर के नाम से कार्य प्रारम्भ किया। सन् १८९७ ई० मे नाटककार अमरेन्द्रनाथ दत्त ने एमरेल्ड को शील से किराये पर ले लिया और क्लासिक थियेटर के नाम से व्यावसायिक रगमच की स्थापना की। सन् १९०७ ई० मे शरत्कुमार राय ने एमरेल्ड थियेटर को खरीद लिया और कोहिनूर थियेटर के नाम से इसे चालू किया। इस प्रकार स्टार थियेटर का प्रबन्ध और नाम क्रमश बदलता रहा, किन्तु सभी प्रबन्धको के अन्तर्गत नाटको की धारा अजस्र रूप से बहती रही।

स्टार के पुराने सचालको ने स्टार रगशाला तो बेच दी, किन्तु उसकी 'गुडविल' नही बेची थी। उन्होने बिक्री के पैसे और गिरीश के बोनस के पैसे से हाथी बाग मे जमीन खरीद कर सन् १८८८ ई० नूतन स्टार थियेटर की स्थापना की। इसी वर्ष सर्वप्रथम गिरीशचन्द्र घोष का 'नसीराम' खेला गया।"[2] इसके बाद अनेको नाटक खेले गए। अनेक उत्थान-पतन के बाद स्टार थियेटर आज भी कलकत्ते मे बँगला रगमच की सेवा कर रहा है।

वीणा थियेटर की स्थापना नाटककार राजकृष्ण राय ने सन् १८७७ ई० मे की। इस थियेटर की अपनी स्थायी रगशाला थी, जिसका उद्घाटन उसी वर्ष राजकृष्ण के 'चन्द्रहास' नाटक से हुआ। नीलमाधव चक्रवर्ती ने इसे १८९०-९१ ई० मे किराए पर लेकर सिटी थियेटर की स्थापना की और गिरीशचन्द्र घोष के 'सीतार वनवास', 'विल्वमगल ठाकुर' आदि नाटक खेले।

थियेटरो की इस शृखला मे मिनर्वा थियेटर का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी स्थापना नागेन्द्रभूषण मुखोपाध्याय ने बीडेन स्ट्रीट पर सन् १८९३ मे की थी। अनेक चढाव-उतार के बाद भी मिनर्वा थियेटर अपनी क्रातिकारी नाट्य-परम्पराओ के साथ आज भी कलकत्ते मे चल रहा है।

मराठी रंगमच · बम्बई और उसके आस-पास के क्षेत्रो मे अँग्रेजो के प्रभाव जमा लेने के उपरान्त, पश्चिमी प्रभाव से मुक्त रह कर मराठी नाटको का अभ्युदय, महाराष्ट्र की सीमाओ के बाहर, तजौर के मराठे शासको की राजसभा मे १७वी शती के अन्त मे हुआ। इन नाटको पर सस्कृत नाट्य-पद्धति का प्रभाव था, किन्तु वे दरबार की सीमा के बाहर न निकल सके। इसके लगभग डेढ सौ वर्ष बाद सन् १८४३ मे सांगली (महाराष्ट्र) मे एक नए प्रकार के अलिखित नाटक का अभ्युदय हुआ, जो कुछ समय तक राजसभा के भीतर रह कर जन-साधारण की वस्तु

बन गया। इस प्रकार पहली बार सांगली के नाटककार विष्णुदास भावे ने जनता के रंगमंच की स्थापना की। यह रंगमंच तत्कालीन जन-नाट्य शैली के भागवतार या भागवत नाटकों की नाट्य-पद्धति को लेकर चला, जिसमें सूत्र-धार सदैव मंच पर रह कर कथासूत्र को आगे बढ़ाया करता था और पात्र कोई संवाद स्वयं न कह कर सूत्रधार द्वारा गाये गए पदों के अनुसार भाव-प्रदर्शन मात्र किया करते थे। इस प्रकार भावे-पद्धति के नाटक और उनका अभिनय १९वीं शती के आठवें दशक तक चलता रहा।

मराठी रंगभूमि के विकास में भावे की सांगलीकर नाटक मंडली के अतिरिक्त जिन अन्य मण्डलियों ने योगदान दिया, उनमें प्रमुख हैं : अमरचन्दवाडीकर नाटक मंडली, इचलकरंजीकर नाटक मण्डली, चित्तचक्षु चमत्कारिक कोल्हापूरकर नाटक मण्डली, पुणेकर हिन्दू स्त्री नाटक मंडली, अलतेकर नाटक मंडली आदि।

कुछ अँग्रेजी-शिक्षित लोगों का ध्यान अँग्रेजी के 'फार्स' या प्रहसनों की ओर गया और सन् १८५५ ई० के अन्त में स्थापित अमरचन्दवाडीकर नाटक मंडली ने उन्हीं के अनुकरण पर प्रथम फार्स जनवरी, १८५६ में प्रस्तुत किया।[१] इचलकरंजीकर नाटक मंडली ने सर्वप्रथम लिखित नाटक 'थोरले माधवराव पेशवे' सन् १८६२ में प्रस्तुत किया। यह नाटक अँग्रेजी नाट्यपद्धति से प्रभावित था और इसमें अंकों को प्रवेशों (दृश्यों) में विभाजित किया गया था। नाटक दुःखान्त है। इस प्रकार क्रमशः गद्य-नाटकों का विकास हुआ और प्रायः प्रत्येक मंडली गद्य-नाटक खेलने लगी।

सन् १८८० में किर्लोस्कर नाटक मंडली अपने नवीन संगीत नाटकों के साथ मराठी रंगभूमि पर उदित हुई और उसने धूम मचा दी। उसकी सफलता से प्रभावित होकर नाटक मंडलियाँ गद्य-नाटकों के साथ संगीत नाटक भी खेलने लगी। नाट्य-विधान की दृष्टि से अण्णासाहेब किर्लोस्कर के संगीत नाटक का वस्तु-संघटन पाश्चात्य नाट्य-शैली पर हुआ है, किन्तु शिल्प की दृष्टि से यह एक नवीन विधा है, जो अँग्रेजी 'ऑपेरा' से नितान्त भिन्न मराठी रंगभूमि की अपनी देन है। इस नाट्य-विधा में गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग किया जाता है, और पद्य प्रायः छन्द-बद्ध और राग-बद्ध होता है।

इस प्रकार किर्लोस्कर नाटक मंडली ने एक नए युग का सूत्रपात किया, जिसे आगे चलकर श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने नवीन वर्ण्य विषयों को लेकर अपने ढंग से पल्लवित और विकसित किया।

मराठी नाटक मंडलियाँ एक प्रकार की घुमतू नाटक मंडलियाँ थी और उन्होंने अपनी कोई स्थायी रंगशाला नहीं बनायी। बम्बई में ये प्रायः पारसी नाटक मंडलियों द्वारा बनाये थियेटरों को किराए पर ले लेती थी अथवा सम्पन्न लोगों की कोठियों आदि में मँड़वा तान कर नाटक खेला करती थीं। पूना में अवश्य एक स्थायी रंगशाला 'पूर्णानन्द नाटक-गृह' की स्थापना का उल्लेख मिलता है, जहाँ भावे की सांगलीकर नाटक मंडली ने १ सितम्बर, १८५९ तक अपने नाटकों के छः प्रयोग किए थे।[२] मराठी क्षेत्र की सम्भवतः यह पहली रंगशाला थी।

गुजराती रंगमंच : गुजराती रंगमंच और नाटक का इतिहास यद्यपि अधिक पुराना नहीं है, तथापि इसे संस्कृत के नाटकों और रास-नाटकों एवं भवाई के रूप में जन-शैली के नाटकों की सुदीर्घ परम्परा प्राप्त रही है। विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शती में रामचन्द्र सूरि ने संस्कृत में 'नलविलास', 'कर्ण-सुन्दरी' आदि ग्यारह नाटक लिखे। लगभग इसी समय ईसा की तेरहवीं शती में राजस्थान और गुजरात में रास-नाटकों का अभ्युदय हुआ, जो डाँडियों की चोट और तालियों के ताल के साथ अभिनीत किए जाते थे। गुजराती रास करने वाले युवक-युवतियों की वेशभूषा और सज-धज निराली होती है। युवक चूड़ीदार पायजामा, केडियू, भेंट तथा छोगा और युवतियाँ चूड़ीदार पायजामे के ऊपर भरत का घाघरा, कापडा (चोली) और ओढ़नी पहनकर रास में सम्मिलित होती हैं। वे कानों में चाँदी के कुण्डल भी पहनती हैं।

चौदहवीं शती में गुजरात में भवाई का आविर्भाव हुआ, जो गुजराती लोक-मानस को प्रतिबिम्बित करती है।

भवाई का प्रारम्भ 'भाड पाडने' (वाद्य-वादन) के साथ अम्बा और गुरु असाइत की वन्दना से होता है। असाइत भवाई के आदि-प्रवर्तक माने जाते हैं। भवाई मे 'भु गलिया' या 'भु गड' (एक प्रकार की तुरही), काँसे जोडा (मँजीरा) और तबले का प्रयोग होता है। भवाई मे स्त्री-पुरुषो की वेश-भूषा रास नाचने वालों से मिलती-जुलती है, किन्तु उसमे कुछ पृथक् होती है। स्त्रियाँ कापडा, घाघरा और ओढनी के साथ अनेक प्रकार के आभूषण भी धारण करती है और पुरुष सलवार, रेशमी अँगरखा, मखमल की जाकेट और जरी का साफा पहनते हैं। कान मे कुण्डल और गले मे मोतियो की माला, अँगूठी, जरी का आर्मलेट और पाँव मे 'मोजडी' (जूतियाँ) पहने भवाई के नायक को सरलता से पहचाना जा सकता है।

भवाई अम्बा की वन्दना का एक रूप था, परन्तु क्रमश गाँव और समाज की बुराइयो का दिग्दर्शन कर लोक-शिक्षण इसका उद्देश्य बन गया, किन्तु हँसी-मजाक और गाली-गलौज की वृद्धि के साथ इसमे गन्दगी और अश्लीलता का प्रवेश हुआ और इसका पतन हो गया।

इन्ही दिनो गुजरात और बम्बई मे अँग्रेजी रगमच और नाटको का प्रभाव बढा और पारसी तथा गुजराती नाटककारों का ध्यान शिष्ट नाटक लिखने की ओर गया। सन् १८५२ मे दादाभाई नवरोजी ने कुछ पारसी मित्रो के साथ प्रथम पारसी नाटक मडली की स्थापना बम्बई मे की, जिसमे पेस्टन जी मास्टर का गुजराती नाटक 'रुस्तम अने सोहराब', कला-समीक्षक डॉ० डी० जी० व्यास के अनुसार, सन् १८५३ मे अभिनीत किया गया।[५] रतिलाल त्रिवेदी ने इस नाटक का अभिनय-वर्ष सन् १८५२ ही माना है.[५] किन्तु हमे डॉ० डी० जी० व्यास का मत ही अधिक युक्तिसगत लगता है, क्योकि सन् १८५३ मे बम्बई मे अभिनीत भावे के 'गोपीचन्दाख्यान' की सफलता से प्रेरित होकर उक्त मडली ने यह नाटक खेला था।

उक्त मडली की सफलता देखकर अगले दो दशको के भीतर अनेक अव्यावसायिक नाटक क्लबो की स्थापना हुई, जिनमे से कुछ ने व्यावसायिक मडलियो का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार की प्रमुख मडलियाँ थी : एल्फिन्स्टन नाटक मडली (१८६१ ई०), विक्टोरिया नाटक मडली (१८६७ ई०) और अल्फ्रेड नाटक मडली (१८७१ ई०)। एल्फिन्स्टन मे पहले शेक्सपियर के नाटको के गुजराती रूपान्तर और बाद मे हिन्दी-उर्दू के नाटक खेले जाने लगे। विक्टोरिया ने रतन जी शेठना का 'पाकजाद परीन', केखुसरू काबरा जी के 'बेजन अनी मनीजेह' (१८६९ ई०) और 'जमशेद-फरीदुन', पिरोजशा जहाँगीर मर्जबान का 'मासीनो माको', रणछोडभाई उदयराम का 'हरिश्चन्द्र' (१८७६ ई०) आदि और अल्फ्रेड ने बमनजी काबराजी का 'गामरेनी गोरी' आदि गुजराती नाटक खेले, किन्तु बाद मे ये दोनो भी उर्दू-हिन्दी के नाटक खेलने लगी।

कला-समीक्षक डा० डी० जी० व्यास के अनुसार विक्टोरिया नाम की दो अन्य नाटक मडलियाँ भी थी : एक थी ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मडली (सस्थापित १८७४-७५ ई०), जिसके सस्थापक दादाभाई सोराबजी पटेल थे और दूसरी थी—पारसी इम्प्रेस विक्टोरिया नाटक मडली, जिसके सस्थापक थे जहाँगीर खम्भाता। पारसी इम्प्रेस विक्टोरिया की स्थापना दिल्ली मे सन् १८७८ मे हुई थी।[५]

इसी काल मे नाटक-उत्तेजक मडली (१८७४ ई०), पारसी नाटक मडली (द्वितीय, १८८४-८५ ई०) और रिपन नाटक मडली की स्थापना हुई। नाटक उत्तेजक पारसियो और गुजरातियो की सयुक्त मडली थी। पारसी नाटक के सस्थापक थे—फ्रामजी दादाभाई अप्पू और उनके भाई दिनशा जी। रिपन की सस्थापना मेहर जी मर्वेयर ने की थी।[५]

सर मगलदास नाथूभाई नाटक-उत्तेजक मडली की कार्यकारिणी के अध्यक्ष और केखुशरू काबराजी उसके मत्री थे। इस मडली मे रणछोडभाई उदयराम के 'हरिश्चन्द्र' और 'नल-दमयन्ती' तथा नर्मद के 'द्रौपदी-दर्शन', 'सार शाकुन्तल', 'कृष्ण-बालविजय' आदि नाटक सफलता के साथ खेले। इस मडली के लिए

मराठी नाटककार शकर बापूजी त्रिलोकेकर तथा कावराजी ने भी नाटक लिखे थे। सन् १८८५ मे यह मडली विघटित हो गई।[४]

अन्य पारसी नाटक मडलियो मे शेक्सपियर नाटक मडली ने गुजराती के 'मस्तान मनीजेह' और पारसी इम्पीरियल नाटक मडली ने 'ससार-नौका', 'जौहरगढ' आदि गुजराती नाटक खेले।

इन पारसी मडलियो के नाटको की भाषा पर पारसियो की गुजराती और उर्दू का प्रभाव रहता था, अत शुद्ध गुजराती नाटक लिखने और उन्हें खेलने की ओर शिक्षित गुजरातियों का ध्यान गया। गुजराती के प्रथम मौलिक नाटककार रणछोडभाई उदयराम के प्रयास से, जिन्होने केखुशरू कावरा जी को विक्टोरिया नाटक मडली की स्थापना मे योग दिया था, सर्वप्रथम पूर्णत गुजराती-सचालित 'गुजराती नाटक मडली' की स्थापना सन् १८७८ मे हुई। इसी वर्ष आर्य सुबोध नाटक मडली और मोरवी आर्यसुबोध नाटक मडली बनी। सन् १८८९ मे बाँकानेर आय हितवर्धक नाटक मडली, अहमदाबाद मे देशी नाटक समाज और मुबई गुजराती नाटक मडली स्थापित हुई। इनके सस्थापक सभी गुजराती थे। बाँकानेर आर्य हितवर्धक नाटक मडली द्वारा गोकुलजी प्राण-जीवन-कृत 'हरिश्चन्द्र' नाटक प्रदर्शित किया गया,[५] जिसे देख कर बालक मोहनदास कर्मचन्द गाँधी बहुत प्रभावित हुए थे और वे सत्यव्रती बन गये।[६]

इन सभी मडलियो द्वारा अभिनीत गुजराती नाटक प्राय अप्रकाशित है। ये अधिकाशत त्रिअकी सुखान्त नाटक है। कुछ दु खान्त नाटक भी लिखे गये, परन्तु बहुत कम। प्रत्येक अक प्रवेशो मे बँटा हुआ है, जो उन पर पश्चिमी नाट्य-विधान के प्रभाव को व्यक्त करता है। अधिकाश नाटक गद्य-पद्य मिश्रित है और उनमे से अनेक तो अपने गीतो की लोकप्रिय धुनो के कारण प्रसिद्ध हुए।

ये सभी मडलियाँ प्राय गुजरात और बम्बई मे घूम-घूम कर अपने नाटक दिखलाया करती थी। इनमे से कुछ ने अपनी रगशालाएँ भी बनाई —मुख्यत. अहमदाबाद और बम्बई मे।

इन नाटक मडलियो मे नायक, भोजक, गन्धर्व, मारवाडी (जोधपुर के पास की एक अन्त्यज जाति) और मीर (मुसलमान) जाति के कलाकार काम करते थे, जो गुजराती, उर्दू और हिन्दी, तीनो भाषाएँ एक-सी ही क्षमता के साथ बोल लेते थे, यद्यपि वे अपनी उर्दू-हिन्दी नाटको की भूमिकाएँ भी गुजराती लिपि मे ही लिख कर याद किया करते थे। बाद मे कुछ मराठे भी इन मडलियो मे आ गये। इस प्रकार इन मडलियो के सचालको, कलाकारो और शिल्पियो के पूर्णत गुजराती होने के कारण उनका पूर्ण गुजरातीकरण हो गया।

(ग) हिन्दी रगमच का अभ्युदय और उसकी विविध धाराएँ

नेपाल के मैथिली नाटक : हिन्दी रगमच का प्रारम्भ यद्यपि सन् १५३३ मे या इसके आस-पास भाटगाँव (नेपाल) मे अभिनीत 'विद्याविलाप' नामक मैथिली नाटक मे सोलहवी शती के पूर्वार्द्ध मे ही हो चुका था, जो नेपाल मे साढे तीन-चार सौ वर्ष तक निरन्तर चलता रहा, परन्तु यह रगमच व्यावसायिक रगमच न था। एक ओर इसे राज्याश्रय प्राप्त था, तो दूसरी ओर लोकाश्रय। प्राय राजकुमारो के जन्म, विवाह, मन्दिरो मे प्रतिमा की प्रतिष्ठा अथवा अन्य राज्योत्सवो पर ये नाटक खेले जाते थे और सामाजिक अथवा धार्मिक उत्सवो के मध्य अथवा धार्मिक प्रचार एव लोकरंजन के लिये इन्हे जन-साधारण के बीच भी खेला जाता था। दुर्भाग्यवश हिन्दी रगमंच की यह धारा नेपाल तक ही सीमित रही।

रासलीला एव ब्रजभाषा नाटक : ब्रज प्रदेश मे रास लीला नाटको की दूसरी धारा ने भी सोलहवी शती मे ही जन्म लिया और लोकाश्रय पाकर वह उत्तरी भारत, विशेषकर उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान को रस-प्लावित करती रही। जन-नाटको की इस परम्परा से प्रेरणा लेकर कुछ नाटक ब्रजभाषा मे ऐसे भी लिखे गये, जिनके

अभिनीत होने का विशेष विवरण नहीं मिलता, जो इस बात का द्योतक है कि हिन्दी रंगमंच की उत्तरी भारत की यह धारा ब्रजभाषा नाटकों के प्रणयन के साथ सूख चली।

बम्बई का पारसी-हिन्दी रंगमंच १९ वी शती में समस्त भारत में अँग्रेजों के पैर जम जाने के उपरान्त पुनः हिन्दी रंगमंच को नवजीवन प्राप्त हुआ। विष्णुदास भावे की साँगलीकर नाटक मंडली ने २६ नवम्बर, १८५३ को अपना प्रथम हिन्दी नाटक 'गोपीचन्दाख्यान' बम्बई में शंकरसेठ के ग्रान्टरोड थियेटर में खेला।[१] दूसरी ओर अँग्रेजों की देखादेखी बम्बई में अनेक नाटक क्लबों की स्थापना हुई, जिन पर प्रारम्भ में अँग्रेजी नाटक और बाद में उनके गुजराती अनुवाद खेले जाने लगे। इन्हीं क्लबों में से कुछ व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ बनीं, जिनमें से कुँअरजी नाज़र द्वारा सन् १८६१ में स्थापित एल्फिन्स्टन नाटक मंडली प्रमुख है। यह प्रारम्भ में अँग्रेजी और गुजराती के नाटक खेलती थी, किन्तु बाद में उसने 'नूरजहाँ' नामक हिन्दी का नाटक भी खेला और इसके अनन्तर उसके नाटकों में उर्दू को प्रधानता दी जाने लगी। इस मंडली के भागीदार और बाद में स्वामी जमशेदजी मादन इसे बम्बई से उठा कर कलकत्ता ले गये। इसी के अनुकरण पर अन्य पारसी नाटक मंडलियों की व्यावसायिक आधार पर स्थापना हुई, जिनमें से विक्टोरिया नाटक मंडली (१८६७ ई०) और अल्फ्रेड नाटक मंडली (१८७१ ई०) प्रमुख हैं। ये दोनों 'रिपर्टरी' मंडलियाँ थीं, जिनकी बम्बई में अपनी रंगशालाएँ भी थीं। हिन्दी के नाटक प्रमुखतः इन्हीं दो मंडलियों अथवा उनकी उप-मंडलियों ने खेले।[२]

सन् १८७० में विक्टोरिया नाटक मंडली खुरशेदजी मेहरवानजी बालीवाला के हाथ में आ गई और बालीवाला के नाम पर ही 'बालीवाला विक्टोरिया नाटक मंडली' के नाम से प्रसिद्ध हो गई।[३] इस मंडली के प्रमुख नाटककार थे—नसरवानजी खानसाहेब 'आराम' और विनायकप्रसाद 'तालिब'।

अल्फ्रेड नाटक मंडली वर्ष-डेढ़ वर्ष चल कर बन्द हो गई और सन् १८८४ में प्रसिद्ध हास्य-अभिनेता एवं निर्देशक सोराबजी ओग्रा के निर्देशन में उसका पुनर्जन्म हुआ। सन् १८८८ में हिन्दी के अनन्य समर्थक अमृत केशव नायक इस मंडली में ग्यारह वर्ष की अवस्था में ४०) रुपये मासिक वेतन पर कलाकार होकर आये और १४ वर्ष की अवस्था में सोराबजी ओग्रा के साथ सहायक निर्देशक का कार्य करने लगे। उन्हें अस्सी रुपया मासिक मिलने लगा।[४] सोराबजी और अमृत केशव ने मिलकर पारसी-हिन्दी रंगमंच के एक नये युग का सूत्रपात किया।

सन् १८९० के बाद अल्फ्रेड के भागीदारों में फूट पड़ गई और उसके दो भागीदारों माणिकजी जीवनजी मास्टर और मुहम्मद अली बोरा ने मिलकर सोराबजी ओग्रा के नेतृत्व और निर्देशन में 'न्यू अल्फ्रेड नाटक मंडली' के नाम से एक अलग मंडली बना ली।[५] अल्फ्रेड के तीसरे भागीदार कावसजी पालनजी खटाऊ के हाथ में पुरानी अल्फ्रेड बनी रही,[६] जिसे बाद में पारसी अल्फ्रेड नाटक मंडली के नाम से अभिहित किया जाने लगा। दुर्भाग्यवश कुछ काल बाद यह बन्द हो गयी और सन् १८९८ तक बन्द पड़ी रही। इस वर्ष खटाऊ ने पुनः उसे पुनर्गठित किया और अमृतलाल सोराब जी को छोड़कर वहाँ पूर्ण निर्देशक बन कर आ गये।[७] इसी समय प्रसिद्ध अभिनेत्री मिस गौहर (रंजीत फिल्म की भागीदार गौहर नहीं) भी इसमें आ गई। सन् १९०४-५ में न्यू अल्फ्रेड ने बम्बई को गौण बनाकर उत्तरी भारत को अपना प्रमुख कार्य-क्षेत्र बनाया।[८]

पारसी अल्फ्रेड के लिये हिन्दी नाटक प्रमुख रूप से मुंशी मेंहदीहसन 'अहसन', लखनवी और मुंशी नारायण प्रसाद 'बेताब' ने और न्यू अल्फ्रेड के लिये मुंशी आगा मुहम्मद शाह 'हश्र', काश्मीरी और पं० राधेश्याम कथावाचक ने लिखे। 'अहसन' के नाटक न्यू अल्फ्रेड द्वारा भी खेले जाते थे।[९] प्रारम्भ में 'हश्र' के 'मुरीदे शक' (१८९९ ई०), 'मारे आस्तीं' (१८९९ ई०), 'असीरे हिर्स' (१९०० ई०) तथा 'शहीदे नाज' (१९०३ ई०) पारसी अल्फ्रेड द्वारा मंचस्थ हुए। ये सभी नाटककार उत्तरी भारत से बम्बई गये थे।

बम्बई की उपर्युक्त नाटक मंडलियों के अलावा वहाँ की दो अन्य नाटक मंडलियों का उल्लेख करना

आवश्यक है, जो हिन्दी-उर्दू के नाटक खेलती थी। वे थी–मह्बूब की कारोनेशन नाटक मंडली और मेहरजी की रिपन नाटक मडली। कारोनेशन ने अपने इलाहाबाद के दौरे मे (१९०४–५ ई०) 'तालिब' का 'नलदमयन्ती'[१] और रिपन ने लखनऊ के दौरे मे (१९०६–७ ई०) 'खून का खून' ('हैमलेट' का अनुवाद) का प्रदर्शन किया।[१]

अन्य मंडलियां · बम्बई की नाटक मडलियो की सफलता को देख कर आगरा, बरेली, पजाब, काठियावाड़ और मेरठ (उत्तर प्रदेश) मे भी व्यावसायिक नाटक म डलियो की स्थापना हुई। आगरे की नाटक मडली ने अपने बरेली के दौरे (१८९९ ई०) मे मु० नज़ीर-कृत 'शकुन्तला' प्रस्तुत किया।[१] बरेली के औलादअली की नाटक मडली ने स्वय उन्ही का लिखा 'गुलरुज़रीना' सगीतक सन् १९०० के आस-पास ही खेला।[१] पजाब की बाबू नानकचद खत्री की न्यू अल्बर्ट नाटक मडली ने अपने बरेली के दौरे (१९१०–११ ई०) मे अपना 'रामायण' नाटक खेला, जिसमे 'तालिब', 'उफ़क', रामेश्वर भट्ट की सटीक रामायण और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' के अश ज्यो के त्यो रख लिये गये थे और जिसे राधेश्याम कथावाचक ने सशोधित कर उसमे चार चाँद लगा दिये थे।[१] राधेश्याम द्वारा जोड़े गये गीत 'अवध मे है आनन्द छाया, लाल कौशल्या ने जाया', 'जय शिव ओंकारा' आदि गली-गली मे गाये जाने लगे।[१] सन् १९१४ मे नानकचन्द की मृत्यु हो गई।

काठियावाड मे दुर्लभराम जटाशकर रावल और लवजी मयाशकर त्रिवेदी ने सन् १९१४ मे 'सूर विजय नाटक समाज' की स्थापना की। इस मडली ने गुजराती नाटको और गुजरात का परित्याग कर दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया और 'सूरदास' 'श्रवणकुमार', 'उषा-अनिरुद्ध', 'गगावतरण', 'महात्मा विदुर', 'सम्राट् अशोक' आदि नाटक हिन्दी मे खेले।

मेरठ मे भी दो नाटक मडलियाँ बनी–व्याकुल भारत नाटक मडली लि० (१९१७ ई०) और स्टार नाटक मडली। इनमे व्याकुल भारत ने मुख्य रूप से ला० विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' और मुशी जनेश्वर प्रसाद 'मायल' के नाटक खेले, किन्तु यह अधिक काल तक जीवित न रह सकी।

प्राय. व्यावसायिक नाटक मडलियो के प्रति हिन्दी के तत्कालीन विद्वानो का दृष्टिकोण एकागी होने के कारण बहुत सहानुभूतिपूर्ण नही रहा है। कुछ विद्वान तो उन्हे 'हिन्दू जाति और हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका' मानते थे और यह कहते थे कि भविष्य मे 'हमारी नयी सृष्टि मे आर्यता और हिन्दुत्व का चिह्न भी न बचा रहेगा।'[१] सभव है कि प्रारम्भिक पारसी-गुजराती या पारसी-उर्दू नाटको के कारण, जिनमे इश्क और हुस्न की चर्चा अधिक रहती थी, विद्वानो की उक्त धारणा बनी हो, परन्तु 'बेताब', 'हश्र', राधेश्याम आदि हिन्दी नाटककारो ने बाद मे पौराणिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय विषयों को मच पर उतार कर पारसी मच को एक नयी दिशा की ओर मोड दिया। पारसी-हिन्दी रगमच शृङ्गार और भोडेपन के कर्दम से निकल कर नैतिक आदर्शवाद की ओर बढ चला और भारतीय सस्कृति और मानवता मे आस्था की मिट्टी के नीचे उसने अपनी जडें गहरी जमा ली।

लखनऊ की 'इंदरसभा' उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश मे दो अन्य प्रयोग भी हुए–एक था 'शायरे हमादान' तथा 'रगीन तबीयत' सैयद आगा हसन 'अमानत', लखनवी की 'इदर सभा' (१८५७ ई०) का, जिसे संगीतक के क्षेत्र मे हिन्दी-क्षेत्र की अपनी उपज कहा जा सकता है और दूसरा प्रयोग था भारतेंदु हरिश्चन्द्र और उनके मडल के नाटककारो का, जिनमे सस्कृत और समकालीन सभी नाट्यशैलियो की छाप देखी जा सकती है।

'अमानत' के समय मे रगमच लखनऊ के शाही रहसखाने तक सीमित था, अत उनकी 'इदरसभा' (१८५२ ई०, लेखन) ने जनता के रगमंच का मार्ग उन्मुक्त किया। इस सगीतक मे 'हिन्दी देवमाला' (हिन्दू देवताओ की कथायें) और 'इस्लामी रवायात' (इस्लाम की परम्पराओ) का मिश्रण[१८] होने के कारण इसने हिन्दू

और अन्यधर्मी सामाजिकों को एक समान अपनी ओर आकृष्ट किया। डॉ० अब्दुल अलीम नामी ने 'इंदरसभा' की लेखन-शैली के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है 'अमानत ने 'इंदरसभा' बतौर मसनवी लिखी और गाने इजाफे किये। अगर उसमे से गाने निकाल दिये जायँ, तो हर शख्स उसे 'इंदरसभा' बतर्ज मसनवी कहेगा।'[७] मसनवी में किसी लौकिक प्रेम-कथा या आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन होता है, जिसमें प्राय एक ही बहर (छंद) का प्रयोग होता है, यद्यपि प्रत्येक शेर का काफिया-रदीफ बदलता चलता है। हिन्दी में जायसी आदि प्रेमाख्यानी कवियों की मसनवियों का प्रारम्भ प्राय हम्दे खुदा या मंगलाचरण से होता है, जिसमें ईश्वर के अतिरिक्त तत्कालीन बादशाह की भी वंदना की जाती है। 'इंदरसभा' में यद्यपि मंगलाचरण की पद्धति नहीं अपनाई गई है और न किसी एक छंद या तर्ज का ही प्रयोग किया गया है, तथापि अपरिवर्तनशील काफिया-रदीफ वाली गजलों की प्रधानता के कारण इसे मसनवी-पद्धति पर लिखा गया प्रेमाख्यान कहा जा सकता है। गजल का प्रत्येक शेर स्वतंत्र न होकर एक अनुस्यूत वृत्त या भाव की ओर अग्रसर होता है।

मसीकुज्जमाँ के अनुसार यह पहली बार सन् १८५७ ई० में लखनऊ में खेला गया और सन् १८५८ ई० में प्रकाशित हुआ।[८] सैयद मसूद हसन रिजवी 'अदीब' ने अपने ग्रन्थ 'लखनऊ का अवामी स्टेज' में प्रकाशित 'इंदरसभा' के 'पेशनामे' में उसके प्रथम तीन संस्करणों के प्रकाशन वर्ष क्रमश सन् १२७१ हिजरी, १२७२ हिजरी तथा १२७५ हिजरी अर्थात् क्रमश सन् १८५२ ई०, १८५३ ई० तथा १८५६ ई० बतलाये है,[९] जो अन्त सूत्रों से भी प्रमाणित होता है। 'इंदरसभा' के द्वितीय संशोधित संस्करण की अलवी प्रेस में तीसरी बार छपी आवृत्ति[१०] के आवरण-पृष्ठ पर उसका प्रकाशन-वर्ष सन् १२७२ हिजरी (अर्थात् १८५३ ई०) मुद्रित है, जिसका *अर्थ यह हुआ कि 'इंदरसभा' की रचना १८५२ ई० में पूर्ण हो चुकी थी, जिसका पहली बार संशोधन सन् १८५३ ई०* में हुआ। इस प्रकार लेखन और प्रकाशन (प्रथम संस्करण), दोनों का वर्ष एक ही अर्थात् सन् १८५२ ई० है। सन् १८५८ में इसके प्रकाशन की बात प्रमाणित नहीं होती।

'इंदरसभा' का प्रयोग (जलसा) जनता द्वारा किया गया और बहुत ही साधारण साज-सामानों के साथ *इसके लिये एक 'सुर्ख परदे' की आवश्यकता होती थी, जिसके पीछे से प्रवेश करने वाला पात्र घुँघरू बजाता, वाद्य* (सारंगी और चिकारा) मिलाये जाते और पात्र की आमद गायी जाती। परदा उठा लिया जाता और मेहताब छूटने के साथ पात्र मंच पर आ जाता था। प्रत्येक बार यही क्रम प्राय दोहराया जाता था। यह 'सुर्ख परदा' मंच के दायीं ओर बैठे साजिन्दों के पीछे लगाया जाता था।[११]

परियों की भूमिकायें सुन्दर तरुण नर्तकियों-गायिकाओं द्वारा की जाती थी, जिन्हें 'परी' कहा जाता था। लखनऊ में इसकी धूम मच गई और कई बार इसे खेला गया। यह लखनऊ और लखनऊ के बाहर भी बहुत लोकप्रिय हुई। बम्बई की पारसी-हिन्दी एवं पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों द्वारा इसके प्रयोग बम्बई और भारत के अन्य कई नगरों में किये गये। मराठी की नाटक मंडलियों ने भी इसे मंचस्थ किया,[१२] किन्तु कुछ क्षेत्रों में फैली यह धारणा कि इन्दरसभा' की लोकप्रियता को देख कर पारसी नाटक मंडलियों की स्थापना हुई, भ्रामक सिद्ध हो चुकी है। डॉ० रणधीर उपाध्याय का मत है कि 'पारसी मंडलियों का प्रारम्भ न 'इंदरसभा' की प्रेरणा से हुआ और न' उन्होंने उसके 'अनुकरण पर हिन्दी-उर्दू नाटक खेलने' प्रारम्भ किये।[१३] डॉ० डी० जी० व्यास का यह मत रहा है कि 'इंदरसभा' का सन् १८७० के उपरांत ही बम्बई में प्रवेश हुआ था, पहले नहीं,[१४] जबकि प्रथम 'पारसी नाटक मंडली' की स्थापना सन् १८५२ में वहाँ हो चुकी थी। देश की हिन्दीतर भाषाओं, विशेषकर मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि तथा जर्मन और फ्रेन्च भाषाओं में भी इसके कई रूपान्तर हुए।[१५]

'इंदरसभा' के अनुकरण पर दूसरे नाटककारों ने भी 'इंदरसभा', 'बंदरसभा' अथवा अन्य गीति-नाट्य लिखे। भारतेन्दु जी की 'चन्द्रावली' नाटिका और 'भारत दुर्दशा' दोनों 'इंदरसभा' की शैली से प्रभावित हैं और उनके

مصنف کے صحیح کیے ہوئے نسخے کا سرورق

मैयद आग़ा हसन 'अमानत'-कृत 'इदरसभा' के द्वितीय सशोधित संस्करण (१२७२ हिजरी तदनुसार सन् १८५३ ई०) की तीमरी आवृत्ति का आवरण-पृष्ठ

(सैयद मसूद हसन रिज़वी 'अदीब' के सौजन्य से)

चित्र सं० १२

एलेन्स इण्डियन मेल, दिनांक ७ मई १८६८

Benares, *April* 4—Last night a Hindi drama named "Janki Mangal" was acted by natives in the Assembly Rooms, by the order of his Highness the Maharaja of Benares Our enlightened Maharaja who generally takes an interest in all that concerns the improvement of his countrymen, was present on the occasion, he was accompanied by Kunwar-Sahib and his staff. The principal European and native citizens were invited to witness the performance A few ladies and many military and civil officers were present, and many rich folks of the city. A native band of music attended the entertainment and played during the intervals of the play As usual with the Sanskrit drama first of all Sutrdhas (manager) entered and read a few benedictory verses in Sanskrit When the manager had finished his speech, an actress entered and held a short conversation with the manager as how to please the audience I must tell you that this is the way in which Sanskrit dramas used to commence. There is always a short discourse between the manager and some one else, which brings forth the subject of the play. While the dialogue was going on a noise was heard behind the scenes, and the manager said that Ram had come to the forest, which caused the noise Thus they hastened to see him The first scene was a garden, in which Parvati (the bride Siva, the Hindoo goddess of destruction) was sitting Ram and his brother Lakshman entered the scene, and after speaking a few words about the expected arrival of Sita, requested the gardener to allow them to pluck flowers While the two brothers were engaged in plucking the flowers Sita entered with her train of ladies She paid homage to the goddess and began to walk in the garden Meanwhile a lady of Sita's train came and said that she saw a youth of exquisite beauty roving in the forest, who had so enchanted her mind that she was out of her senses While *the maids were* talking about Ram he came before *them* and was struck with the beauty of Sita He said that the shaft of Cupid entered even *his* bosom, who was an ascetic Then *exeunt* Ram and Sita with her train The second and the last scene was a regal hall, in which Janak (the father of Sita) was seated The kings of different *countries, arrayed in different costumes, came to marry Sita* Ram entered the scene last of all When all the princes were seated it was proclaimed that Janak had vowed to give his daughter to that prince who lifts up the bow placed in the hall All the kings attempted to raise the bow one after another, but all failed At last Ram rose and taking up the bow, *broke it into pieces After the* heroic deed of Ram he was married to Sita. Then came Parashram who became very angry with Ram, and attempted to kill Lakshman but was at last appeased, and acknowledged the superiority of Ram when he could use the bow which Parashram gave him to try his strength Then ended the entertainment The play seems to have been taken from the first act of the Sanskrit drama called Hanuman Natak

'जानकीमंगल' के प्रथम प्रयोग के सम्बन्ध में ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन से प्राप्त 'एलेन्स इण्डियन मेल' में प्रकाशित समाचार (चित्र-प्रतिलिपि)

[डॉ० शरद नागर के सौजन्य से]

चित्र सं० १३]

जानकी मंगल नाटक

अर्थात्

धनुर्यज्ञ की लीला का अभिनय

वाराणसीस्थ राजकीय संस्कृत विद्या मन्दिर

अध्यापक

त्रिपाठि श्री पं० शीतलाप्रसाद शर्म्मा ने

नाटक रसिकों के विनोदार्थ

तुलसीकृत रामायण की मूल स्थापनकर

हिन्दी भाषा में

निर्म्माण किया

प्रयाग

ज्ञानमार्तण्ड यंत्रालय में मुद्रित हुआ

संवत् १९३३

शीतला प्रसाद त्रिपाठी-कृत 'जानकीमंगल' का सं० १९३३ वि० के संस्करण का आवरण-पृष्ठ

चित्र सं० १४

भूमिका

यद्यपि यह नाटक संस्कृत के बड़े २
नाटकों के उत्तमता और श्रेष्टता को न-
हीं पहुँचसक्ता परन्तु उस विद्या का प्रचार औ-
र ऐसी लीला का अभिनय इस देश से आ-
पातत: उन्मूलित होगया यहां तक कि
लोग जानतेभी नहीं कि नाटक कैसा का-
व्य और कौन वस्तु है और न उन्हें यही क्यो
चित् ज्ञान है कि संस्कृत में थोड़े से नाटक
जो काल की गति से शेष रह गए हैं वे कौन २
से परमोत्कृष्ट गुण विशिष्ट हैं इस हेतु मैं
ने इसका निर्माण हिन्दी भाषा में किया है· आ·
शा है कि यह रसिक जनों को मनोरञ्जक और
सर्वसाधारण लोगों को आनन्ददायक होवे
इस नाटक का अभिनय पहिलीवार बना-
रस के थिएटर रौयल में श्रीयुत महाराजा-
धिराज काशी नरेश बहादुर की आज्ञानुसार
चैत्रशुक्ल ११ सम्वत् १९२५ को कृष्णा·
वैशाख कृष्ण ४
सम्वत् १९२७ } शीतलाप्रसाद त्रिपाठी

'जानकीमंगल' की भूमिका

चित्र सं० १५

पात्र रंगमंच पर आकर स्वयं अपना परिचय छंदबद्ध रूप में देते हैं। 'इंदरसभा' के छन्द 'गजल' का भी 'भारत दुर्दशा' और 'नीलदेवी' में उपयोग किया गया है।[८]

'इंदरसभा' की भाषा को लेकर उर्दू और हिन्दी वालों में अमानत को अपना नाटककार मानने की खींच-तान मची हुई है। 'इंदरसभा' की भाषा का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन कर जर्मन विद्वान रोजन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस गीतिनाट्य की गजलें तो उर्दू में हैं, लेकिन गीत ठेठ बोली अर्थात् ब्रजभाषा से मिलती-जुलती बोली में और 'रेख्ती या जनानी बोली' में हैं। 'रेख्ती' को उन्होंने मुसलमान शहरी स्त्रियों की बोली माना है, जो उर्दू से इसलिये भिन्न है कि सारी अहिन्दी बोलियाँ प्रायः निकटतम हिन्दी बोलियों में परिवर्तित हो गई हैं। उनके मत से 'इंदरसभा' की वास्तविक भाषा उर्दू है और उसमें ठेठ (ब्रज) और रेख्ती के टुकड़े जोड़ दिये गये हैं।[९] इसके विपरीत डॉ० गोपीनाथ तिवारी का मत है कि 'इंदरसभा' की भाषा 'फारसी शब्दों से भरी हिन्दी ही है। दो चौबोले, पाँच छंद, आठ ठुमरियाँ, चार होलियाँ, एक सावन, एक वसन्त और एक फाग हिन्दी-प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं।' उनके अनुसार उसकी भाषा 'मिल-जुली हिन्दी' है, जिसमें ब्रज, अवधी और खड़ी बोली, तीनों का मिश्रण पाया जाता है।[१०] उक्त छंदों तथा रागबद्ध गीतों की भाषा देख कर डॉ० तिवारी का मत युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

भारतेन्दु ने 'इंदरसभा' को 'भ्रष्ट' अर्थात् नाटकत्व-हीन नाटक माना है। संभवत शृङ्गार-प्रधान गीतों, गजलों आदि की अधिकता और आलिंगन के प्रकरण के कारण ही उन्होंने उसे 'भ्रष्ट' नाटक की संज्ञा दी है, परन्तु मंच की दृष्टि से इस नाटक को जो सफलता मिली, वह निर्विवाद है। नाटक के गीतों और ग़जलों में हृदयग्राहिता और सरसता के गुण हैं और उनमें काव्यगत कल्पना और वक्रता का समावेश भी है। नाटक में अत्यधिक शृङ्गारिकता तत्कालीन विलासप्रिय मुस्लिम संस्कृति और रीतिकाल की देन है।

'इन्दरसभा' के आधार पर मादन थियेटर्स ने इसी नाम की एक संगीत-प्रधान फिल्म भी सन् १९३२ में बनाई थी, जिसमें ७१ गीत थे।[११]

'जानकी मंगल' : भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में लिखा है कि 'हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया, वह (शीतला प्रसाद त्रिपाठी-कृत) 'जानकी मंगल' था'। यह नाटक उनके मतानुसार काशी के प्रसिद्ध रईस ऐश्वर्यनारायण सिंह के प्रयत्न से 'बनारस थियेटर', बनारस में चैत्र शुक्ल ११, सं०१९२५ वि० को खेला गया था।[१२]

भारतेन्दु के इस कथन में तीन तथ्यों की परीक्षा आवश्यक है

(१) क्या 'जानकीमंगल' के खेले जाने का सम्पूर्ण श्रेय ऐश्वर्यनारायण सिंह को ही है ?

(२) क्या यह नाटक 'बनारस थियेटर' में खेला गया था ? और

(३) क्या चैत्र शुक्ल ११, सं० १९२५ वि० का ग्रिगेरी-पंचांग के अनुसार समानान्तर दिनांक ३ अप्रैल, १८६८ था और इसकी सूचना सर्वप्रथम किसने दी ?

जहाँ तक प्रथम जिज्ञासा का सम्बन्ध है, 'जानकीमंगल' की रचना और मंचन काशी-नरेश महाराजाधिराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के आदेश पर हुआ।[१३] संभवत इस नाटक के प्रथम अभिनय का प्रबन्ध ऐश्वर्यनारायण सिंह ने किया था और कहते हैं, काशीनरेश इस नाटक को देखने के लिये 'रामनगर से वाराणसी' गये थे।[१४] 'बनारस थियेटर' में इस नाटक के खेले जाने की बात को लेकर ब्रजरत्नदास तथा ब्रजजीवनदास ने यह अनुमान लगाया था कि यह बनारस थियेटर बुलानाला मुहल्ले के वर्तमान गणेश टाकीज की जगह पर अवस्थित था। सर्वदानन्द की इस सूचना के आधार पर कि यह नाटक कबीरचौरा के वर्तमान राधास्वामी बाग में अस्थायी मंच बनाकर खेला गया था, नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह के अवसर पर वहाँ जाकर दीपदान भी किया था। किन्तु ये दोनों तथ्य भ्रामक हैं, क्योंकि स्वयं नाटककार ने अपने नाटक के वि० सं० १९३३ के द्वितीय संस्क-

रण की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि 'इस नाटक का अभिनय पहली बार बनारस के थियेटर रौयल में··· हुआ ।'[19] ७ मई, १८६८ के 'एलेंस इण्डियन मेल' में प्रकाशित तद्विषयक समाचार की साक्षी से ज्ञात होता है कि इसका अभिनय 'एसेम्बली रूम्स' अर्थात् राजसभा के विस्तृत कक्षों में प्रस्तुत किया गया था। नाटककार द्वारा सम्भवत इन्हीं राज-कक्षों को 'थियेटर रौयल' का नाम दिया गया प्रतीत होता है। अन्तर्साक्ष्य से भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है, क्योंकि नाटक का अभिनय काशीनरेश की राजसभा में किया गया था

'सूत्रधार—प्यारी, आज श्रीयुत् महाराजाधिराज काशीराज द्विजराज श्री ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह वीरपुंगव की इस सभा में बड़े-बड़े विद्यावान, बुद्धिमान, गुणग्राही महाशय इकट्ठे हुए है। इन लोगों ने परम अनुग्रह करके हम लोगों को आज्ञा दी है कि किसी अपूर्व नाटक की लीला करके दिखाओ।'

(शीतला प्रसाद त्रिपाठी, 'जानकीमंगल' नाटक, प्रस्तावना, ज्ञानमार्तण्ड यंत्रालय, प्रयाग, सं० १९३३ (ना० प्र० प०, स० स्मृ० अंक), पृ० ७१–७२)

प्राचीन काल में राजसभाओं अथवा राजप्रासादों में नाटकों के प्रयोग की परम्परा रही है, अत 'जानकीमंगल' भी काशीनरेश की राजसभा में ही अभिनीत हुआ था। काशीनरेश के नाटक देखने के लिये रामनगर से वाराणसी जाने अथवा नगर से बाहर जाकर किसी कथित नाचघर में नाटक देखने की बात युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती।

यह निर्विवाद है कि नाटक चैत्र शुक्ल ११, सं० १९२५, तदनुसार ३ अप्रैल, १८६८ को खेला गया, जिसकी पुष्टि ७ मई, १८६८ के 'एलेन्स इण्डियन मेल' नामक पत्र के समाचार से भी होती है

'बनारस ४ अप्रैल—लास्ट नाइट ए हिन्दी ड्रामा 'जानकी मंगल' वाज ऐक्टेड बाई नेटिव्स इन दि एसेम्बली रूम्स, बाई दि आर्डर आफ हिज हाइनेस दि महाराजा आफ बनारस। आवर इन्लाइटेण्ट महाराजा वाज प्रेजेन्ट आन दि ऑकेजन, ही वाज एकाम्पनीड बाई कुँवर साहिब एण्ड हिज स्टाफ।'

भारतीय तिथि की ओर सर्वप्रथम संकेत स्वयं नाटककार ने 'जानकीमंगल' की भूमिका (१८७६ ई०) में और तत्पश्चात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध (१८८४ ई०) में दिया था। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ८ मई, १८६८ के 'इण्डियन मेल' में उक्त नाटक के प्रथम अभिनय के सम्बन्ध में छपे विवरण का जो उल्लेख अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में किया है,[5] उसके आधार पर शरद नागर ने ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन से 'एलेन्स इण्डियन मेल' के उक्त समाचार की प्रतिलिपि मँगाई और इस सम्बन्ध में ४ अप्रैल, १९६८ के 'धर्मयुग' में एक लेख लिख कर ३ अप्रैल, १८६८ के ग्रिगेरीय दिनांक की उद्घोषणा की। इस दिनांक को हिन्दी के प्रथम अभिनीत नाटक की तिथि मानकर हिन्दी रंगमंच की शतवार्षिकी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी तथा देश के सभी हिन्दी क्षेत्रों की साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा मनाई गई।

उक्त विवेचन से एक जिज्ञासा और उठती है और वह यह है कि क्या 'जानकीमंगल' ही 'हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक है?'[26] वस्तु-स्थिति इससे कुछ पृथक् है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि हिन्दी का पहला नाटक 'विद्याविलाप' सन् १५३३ में 'जानकीमंगल' से कई सौ वर्ष पूर्व खेला जा चुका था। भारतेन्दु के समय तक मैथिली नाटक प्रकाश में नहीं आये थे, अत भारतेन्दु ने अपने समय में उपलब्ध सूचना के अनुसार 'जानकीमंगल' को प्रथम अभिनीत नाटक ठहराया था।

'जानकीमंगल' की कथा तुलसी कृत 'रामचरितमानस' के प्रथम सोपान के दोहा सं० २२६ से २८५ तक की सीता-स्वयंवर की कथा पर आधारित है। स्वयं नाटककार ने नाटक के आवरण-पृष्ठ पर 'तुलसीकृत रामायण' का आभार स्वीकार किया है।[6] यत्र-तत्र तुलसी की 'विनयपत्रिका' तथा 'गीतावली' का भी आश्रय लिया गया है। नाटक के संवाद प्राय खड़ी बोली गद्य में हैं। गद्य के साथ अथवा पृथक् से पद्य का व्यवहार अत्यन्त स्वल्प है। पद्य प्राय 'मानस' अथवा 'गीतावली'[7] से लिये गये हैं। अधिकांशत. गद्य-संवाद 'मानस' के दोहा-चौपाइयों के अनुवाद-

मात्र है । स्वय नाटककार के लिये गद्य-संवाद बहुत थोड़े है ।

'जानकीमंगल' नाटक मे प्रस्तावना के अतिरिक्त तीन अंक है । प्रस्तावना के अन्तर्गत नांदी-पाठ, सूत्रधार-नटी-संवाद तथा पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'जानकीमंगल' नाटक को खेलने का प्रस्ताव निहित है । प्रथम अंक में सीता के पार्वतीपूजन तथा राम के प्रथम दर्शन से उत्पन्न सीता की आसक्ति, द्वितीय अंक मे धनुर्भंग तथा सीता द्वारा राम के वरण, तथा तृतीय अंक मे लक्ष्मण-परशुराम-संवाद तथा अन्त मे राम द्वारा परशुराम के क्रोध एवं भ्रांति के निवारण की कथा वर्णित है । अन्त मे संस्कृत-पद्धति का भरतवाक्य नही है । परशुराम राम की जयजयकार कर और दोनो भाइयो मे क्षमा-याचना कर नेपथ्य में चले जाते हैं ।

भारतेन्दु के नाटक भारतेन्दु को नाटक और रंगमंच के प्रति बाल्यकाल मे ही रुचि थी । सर्वप्रथम उनके पिता-श्री गिरधर दास (वास्तविक नाम गोपालचन्द्र) द्वारा 'नहुष नाटक' की रचना ने सात वर्ष के बालक भारतेन्दु को अपनी ओर आकृष्ट किया । सन् १८६१ मे ग्यारह वर्ष की आयु मे ही पुरी-यात्रा के मध्य उन्होंने वर्दवान (वर्धमान) मे उमेशचन्द्र मित्र-कृत 'विधवा-विवाह' नामक बंगला नाटक (अभिनीत १८५९ ई०)लेकर, 'अटकल ही मे' उसे पढ डाला । इसके बाद सन् १८६८ मे शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'जानकीमंगल' में सर्वप्रथम लक्ष्मण की सफल भूमिका मे उन्हें अपने अभिनय-दाक्षिण्य के प्रदर्शन का अवसर मिला । इसी वर्ष भारतेन्दु ने भारतचन्द्र राय 'गुणाकर' के काव्य पर आधारित यतीन्द्रमोहन ठाकुर के 'विद्यासुन्दर' (प्र० १८५८ ई०, अ० जनवरी, १८६६ ई०) का उसी नाम से छायानुवाद किया । सन् १८७३ मे अपना प्रथम मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिख कर भारतेन्दु एक सशक्त व्यंग्य-नाटककार के रूप मे सामने आये और कुल मिलाकर उन्होंने मौलिक-अनूदित १८ नाटक लिखे, जिनमे 'प्रवास नाटक' अब अप्राप्य है ।

हास्य-विनोद-प्रिय, जिन्दादिल, परिधान-व्यसनी तथा स्वाँगप्रिय भारतेन्दु न केवल रंगकर्मी और नाटककार थे, उनका सम्पूर्ण जीवन काव्य और नाटकीयता से परिपूर्ण था । 'फर्स्ट एप्रिल फूल' की अँग्रेजी प्रथा के वे बड़े कायल थे और इस अवसर पर प्राय प्रत्येक वर्ष नाटक के आयोजन अथवा चमत्कारपूर्ण प्रदर्शनों के नकली कार्यक्रम प्रचारित कर देते थे और इस प्रकार एकत्रित जन-समूह को मूर्ख बना कर परिहास का आनन्द लिया करते थे । नित्य और प्रायः दिन मे कई-कई बार परिधान बदलकर, स्त्री-वेश धारण कर, पैगम्बर मूसा अथवा श्रांत पथिक का स्वाँग बना कर वे अपने मित्रों को चकित-पुलकित और आनन्द-विभोर कर देते थे । इस प्रकार के स्वाँग उनके द्वारा सन् १८७३ मे स्थापित पेनी रीडिंग क्लब (जो पूर्ववर्ती सिटी रीडिंग क्लब का ही पुनर्गठित रूप था) मे हुआ करते थे ।[११]

इसके अनन्तर भारतेन्दु ने अपनी मित्र मण्डली के सहयोग से बनारस मे नाटकों के प्रयोग प्रारम्भ कर दिये । उन्होंने अव्यावसायिक स्तर पर खड़ी बोली के 'आर्य शिष्टजनोपयोगी' रंगमंच की स्थापना कर एक नये युग का प्रवर्तन किया । यह मंच कथित पारसी रंगमंच के विरुद्ध विद्रोह-स्वरूप स्थापित किया गया था ।

भारतेन्दु जी के नाटकों का अभिनय प्राय काशी-नरेश की सभा में होता था । 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' और अंधेरनगरी' के कानपुर, बनारस, प्रयाग, बलिया, डुमरांव (बिहार), आगरा इत्यादि स्थानों मे कई बार प्रयोग किये गये ।[१२] उनका 'भारत जननी' नाटक भी कई बार अभिनीत हुआ ।

इन नाटकों के अभिनय के सम्बन्ध मे जो विशेष विवरण प्राप्त होते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि भारतेन्दु-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' सर्वप्रथम प्रयाग मे १८७४ ई० मे और बाद में कानपुर (१८७६ ई०), काशी तथा बलिया के ददरी मेले (१८८४ ई०) में हुआ । कानपुर मे उसी वर्ष उनका 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' भी खेला गया । 'नीलदेवी' सर्वप्रथम् कानपुर मे १८८२ ई० मे और फिर काशी तथा बलिया मे ददरी मेले के समय १८८४ ई० में

मंचस्थ हुआ। बलिया में अभिनीत 'सत्य हरिश्चन्द्र' में भारतेन्दु ने स्वयं राजा हरिश्चन्द्र की मर्मस्पर्शी भूमिका की थी, जिससे सामाजिक-मंडली तथा विशेष कर वहाँ के कलक्टर राबर्ट साहब और उनकी मेम बहुत प्रभावित हुई थी।[102] इसमें नाटककार राधाकृष्णदास (भारतेन्दु के फुफेरे भाई) तथा कवि रविदत्त शुक्ल ने भी भूमिकाएँ की थी। रविदत्त शुक्ल के अनुसार राबर्ट साहब ने इस नाटक को देख कर उसे 'कवि-शिरोमणि शेक्सपियर से भी उत्तम' होने की संज्ञा दी थी।[103] इस नाटक का रंगमंच खुला और सादा था और पृष्ठभाग में 'बजाज के कपड़े' तान कर नेपथ्य को रंगपीठ से पृथक् कर दिया गया था। किसी पर्दे या दृश्यावली का उपयोग नहीं किया गया था। यह उल्लेखनीय है कि रानी शैव्या की भूमिका यद्यपि पुरुष-पात्र द्वारा ही की गई थी, किन्तु उसके सहज श्मशान-विलाप ने सामाजिकों के धैर्य छुड़ा दिये। संवादों का उच्चारण शुद्ध और स्पष्ट था।[104]

भारतेन्दु ने पारसी और मराठी रंगमंच पर प्रायः अभिनीत 'अंधेर नगरी' प्रहसन देखा था, किन्तु उसकी भाषा तथा अभिनय-पद्धति उन्हें पसन्द न थी। अतः जब नवोदित नाट्य-संस्था नेशनल थियेटर ने इस प्रहसन को खेलने की इच्छा प्रकट की तो भारतेन्दु ने उसे राष्ट्रीय भाव-धारा से अनुप्राणित एक मौलिक कृति–'अंधेरनगरी' (१८८१ ई०) एक ही दिन में लिख कर दी, जो उसी वर्ष (धीरेन्द्र नाथ सिंह के अनुसार सन् १८८४ ई० में)[105] अभिमंचित की गयी। इसके अनन्तर यह नाटक बलिया और डुमराँव के महाराजा के यहाँ खेला गया।

'भारत दुर्दशा' का मंचन कानपुर के बंगालियों ने सन् १८८५ में दुर्गा-पूजा के अवसर पर किया था।

भारतेन्दु ने नाट्य-लेखन को प्रोत्साहन देने के लिये एक नाट्य-प्रतियोगिता का भी आयोजन किया था। इस प्रतियोगिता के विजेता के लिये ४०० रु० के पुरस्कार की घोषणा 'कविवचन-सुधा' (२४ फरवरी, १८७२ ई०) में की गई थी। विषय रखा गया–फ्रांसीसी युद्ध, जिस पर आधारित नाटक वीर रस-प्रधान हो। परन्तु इस घोषणा का सम्भवतः कोई ठोस परिणाम न निकल सका। जो भी हो, भारतेन्दु ने अपने अल्प जीवन में नाट्य-लेखन एवं अभिनय के आदर्श प्रस्तुत कर हिन्दी रंगमंच को जो स्वस्थ दिशा दी, वह विस्तारित भारतेन्दु युग (१८८६ से १९१५ ई०) में भी अनुकरणीय बनी रही।

जीवन के अन्त में 'नाटक' निबन्ध (१८८३ ई०) लिख कर नाट्याचार्य भारतेन्दु ने न केवल हिन्दी में प्रथम बार गद्य में युगानुरूप परिष्कृत नाट्यशास्त्र प्रस्तुत किया, वरन् आगे आने वाले नाटककारों को नया दिशा-संकेत भी दिया। इस निबन्ध में प्राचीन के प्रति मोह और नवीन के प्रति दुराग्रह न रखकर दोनों का समन्वय और एक मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। उनके नाटक-सम्बन्धी इन मध्यममार्गीय विचारों की अनुगूँज गुजराती के प्रसिद्ध नाटककार एवं नाट्याचार्य नथुराम सुन्दर जी शुक्ल के 'नाट्यशास्त्र' में भी मिलती है, जिसमें कई स्थलों पर भारतेन्दु-कृत इस निबन्ध के उद्धरण दिये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने न केवल हिन्दी क्षेत्र में, वरन् हिन्दीतर क्षेत्रों में भी नाट्याचार्य के रूप में यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी।

नाटककार, रंगाभिनेता एवं नाट्याचार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी खड़ी बोली के अव्यावसायिक रंगमंच के प्रवर्तक एवं गौरव-सूर्य थे। यह रंगमंच उनके ही समय में काशी में ही सीमित न रह कर कानपुर, प्रयाग, आगरा, बलिया, डुमराँव, पटना आदि नगरों तक में व्याप्त हो गया था।

भारतेन्दु जी के नाटकों के अतिरिक्त दूसरे सम-सामयिक नाटककारों के नाटकों के खेले जाने के प्रमाण मिले हैं। नाटकाभिनय के ये उल्लेख विभिन्न नाटकों की प्रस्तावनाओं, भूमिकाओं, पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि में मिलते हैं। 'मोरध्वज' की प्रस्तावना में 'द्रौपदी नाटक' और 'रुक्मिणी नाटक' के खेले जाने का उल्लेख है। 'कमलमोहिनी-भँवरसिंह' की प्रस्तावना में बताया गया है कि श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर-प्रेममोहिनी' (६ दिसंबर, १८७१) और 'लावण्यवती-सुदर्शन' नाटक कई बार खेले गये। इसी प्रकार 'विद्या-विनोद' नाटक की प्रस्तावना में उसके अभिनीत होने और 'पुरुविक्रम' नाटक की प्रस्तावना में 'माधवानल-कामकंदला' के खेले जाने का वर्णन

आया है । 'ब्राह्मण', कानपुर के १५ दिसम्बर, १८८७ के अंक मे 'हठी हमीर', 'जय नारसिंह की, 'कलिकौतुक रूपक' और गोसकट नाटक' के अभिनय का उल्लेख आया है । 'कविवचनसुधा', बनारस के ११ सितम्बर, १८७६ के अक मे 'जानकी मगल' के पुनः अभिनीत होने की चर्चा की गई है ।[९५]

इस प्रकार हिन्दी रगमच के अभ्युदय मे व्यावसायिक और अव्यावसायिक, दोनो प्रकार की नाटक मडलियों एव नाट्य-सस्थाओ ने गगा-जमुनी सहयोग दिया । इस रगमच ने ईट–चूने से बनी रगशालाएँ कम, यत्र तत्र आवश्यकतानुसार अस्थायी रगशालाएँ अधिक बनाई अथवा पहले से बनी रगशालाएँ किराये पर ली । बगाल इस दिशा मे अग्रणी रहा, जहाँ एक के बाद एक नाट्यानुरागी व्यक्ति ने आगे आकर रगशाला का निर्माण किया और अपने सारे जीवन की थाती दाँव पर लगा दी । विशुद्ध हिन्दी-क्षेत्र मे वकील शीतला प्रसाद त्रिपाठी 'थियेटर रायल' (या बनारस का 'नाचघर' ?)अवश्य इसी प्रकार की एक रगशाला थी, जहाँ हिन्दी नाटक खेले जाते थे । बम्बई और कलकत्ते मे जो रगशालाएँ बनी थी, उनमे अन्य भाषाओ के नाटको के अतिरिक्त हिन्दी के नाटक भी खेले जाते थे । अहमदाबाद मे न्यू अल्फ्रेड के एक स्वामी माणिकजी जीवनजी मास्टर ने 'मास्टर थियेटर' की स्थापना की थी

(३) सन् १९०० के बाद भारतीय रंगमंच का विकास

रगमच के इतिहास मे बीसवी शती, विशेषकर सन् १९०० से १९७० तक की अवधि भारत के प्रादेशिक (बंगला, मराठी और गुजराती) तथा हिन्दी रगमचो के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योकि अनेक प्रयोगो के बाद रगमच ने एक निश्चित रूप और दिशा ग्रहण की और उसे स्थायित्व प्राप्त हुआ । यह रंगमच न केवल रगशालाओ और उनमे सबद्ध विविध मडलियों के रूप मे विकसित हुआ, वरन् इस आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक नाटककारो को रगमच के लिये नाटक लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई और उन्होने अपनी सुन्दर कृतियो से नाट्य-साहित्य को समृद्ध बनाया । अनेक नटो, नाट्याचार्यो अथवा नाट्य-शिक्षको ने अभिनय को अपने जीवन का लक्ष्य मानकर रगोपासना के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया ।

आगे चल कर नाट्य-क्षेत्र मे पश्चिम के अनुकरण पर अनेक नये प्रयोग सामने आये, जिन्हे मूर्त रूप देने के लिये व्यावसायिक मच प्रस्तुत न था । फलतः अव्यावसायिक रगभूमि का आविर्भाव हुआ, जिसने इन प्रयोगों को सोत्साह अपनाया, किन्तु अनेक नये प्रयोग ऐसे थे, जिन्हें इस अव्यावसायिक रगमंच पर भी न उतारा जा सका । ऐसे अनेक नाटक सामने आये, जो स्कूल-कालेजो के पाठ्यक्रमो अथवा पुस्तकालयो की शोभा की वस्तु बन गये । इसके लिये एक ओर अव्यावसायिक मच का अपरिपक्व सगठन और आर्थिक सीमाएँ उत्तरदायी थी, वही नाटककारो की मच के प्रति उपेक्षा, मचीय ज्ञान और अनुभव के अभाव, नाट्य-निर्देशको की कूप-मडूकता, सकीर्णता और अहम्मन्यता भी कम उत्तरदायी न थी । पुस्तक-प्रकाशन के व्यवसाय ने भी पाठ्य-नाटको के विकास मे योग दिया । रगमच पर प्रयोग के पूर्व नाटक के प्रकाशन से उसकी रग-सापेक्ष्यता की परीक्षा का अवसर नही मिलता, किन्तु वहाँ यह सोच कर सतोष भी होता है कि कोई समर्थ एव बहुज्ञ निर्देशक इन प्रकाशित नाटको के ढेर मे से कुछ को चुन कर उन्हें रगमचीय मूल्य प्रदान करेगा । कमी नाटको की नही, ऐसे निर्देशको की है, जिनके पास अपनी सूझ-बूझ हो, दूरदर्शिता हो कि वे भविष्य के लिये सचित अपने स्वप्नों के रगमच को मूर्त रूप दे सकें । आवश्यकता है ऐसी नाटक मडलियो की, जो नये-नये प्रयोगो को साहसपूर्वक उठा सकें और दूसरी ओर अपने कलाकारो और शिल्पियो की जीविका के प्रश्न को भी हल करे । किन्तु यह तभी संभव है, जब नाटककार और कलाकार को रगमंच का आश्रय प्राप्त हो और रगमच को राज्य तथा सामाजिक का सरक्षण ।

विगतः छ.-सात दशकों मे बंगला, मराठी, गुजराती और हिन्दी के रंगमंचो ने दृढता के साथ अपने कदम बढाये हैं और इनमे से प्रत्येक अपने-अपने ढंग से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है । वर्तमान आशाप्रद है, भविष्य उज्ज्वल है ।

हिन्दीतर भारतीय रंगमंच का विकास

(एक) बँगला रंगमंच . बंगाल में बीसवीं शती का प्रारम्भ उत्तेजना, हलचल और आन्दोलन के वातावरण में हुआ सन् १९०५ में लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन कर दिया, जिसके विरोध में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । आन्दोलन के साथ ही बँगला रंगमंच ने पुन जोर पकड़ा और अनेक ऐतिहासिक नाटक लिखे और खेले गये । इन ऐतिहासिक नाटकों के मूल में राष्ट्रीय चेतना को जगाने और राष्ट्रीय आन्दोलन को सशक्त बनाने की प्रबल प्रेरणा रहती थी । इस प्रकार के नाटकों में प्रमुख थे गिरीशचन्द्र घोष के 'सिराजुद्दौला' (१९०६ ई०), 'मीर कासिम' (१९०६ ई०) और 'छत्रपति शिवाजी' (१९०७ ई०), क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के 'पलासीर प्रायश्चित्त' (१९०७ ई०) और 'नन्दकुमार' (१९०८ ई०) तथा द्विजेन्द्रलाल राय के 'दुर्गादास' (१९०६ ई०), 'मेवाड़पतन' (१९०८ ई०) और 'शाहजहाँ' (१९०९ ई०) । सन् १९०६ से लेकर लगभग चार वर्षों के भीतर इन नाटकों ने हलचल मचा दी । फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार की वक्र दृष्टि उन पर पड़ी और 'सिराजुद्दौला', 'नन्दकुमार' आदि नाटकों पर रोक लगा दी गई ।

सन् १९१०–११ में ब्रिटिश सरकार द्वारा बँगला रंगमंच के दमन के बाद व्यावसायिक थियेटरों की गति कुंठित हो गई । राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीय नाटकों का विकास भी कुछ अवरुद्ध हुआ ।

कुछ वर्ष बाद नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र घोष का निधन हो गया, जिसके बाद बँगला रंगमंच की दशा और भी दयनीय हो गई । शिशिरकुमार भादुड़ी ने इस विषम स्थिति से रंगमंच का उद्धार किया । उन्होंने शिक्षक-पद त्याग कर सन् १९२१ में बँगला नाटक मंडली में अभिनेता का कार्य प्रारम्भ कर दिया ।[१०] इसी वर्ष १० दिसम्बर को वे क्षीरोदप्रसाद के 'आलमगीर' में आलमगीर की भूमिका में अवतीर्ण हुए । इसके उपरान्त उन्होंने रघुवीर की और 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य की भूमिकाओं में कला-सौष्ठव का परिचय दिया । क्रमश वे गिरीश की भाँति ही बंगाल के श्रेष्ठतम अभिनेता माने जाने लगे ।

शिशिर ने सन् १९२४ में अल्फ्रेड थियेटर को किराये पर लेकर 'वसंतलीला' गीति-नाट्य से उसका मार्च, १९२४ में उद्घाटन किया ।[१६] इसके अनन्तर 'आलमगीर' आदि कई नाटक खेले गये । अप्रैल, १९२४ में मनमोहन थियेटर को ३०००)रु० मासिक किराये पर लेकर शिशिर बाबू ने 'मनमोहन नाट्य मंदिर' की स्थापना की और योगेश चौधरी के 'सीता' को सफलता के साथ मंचस्थ किया ।[१७] 'सीता' कई रातों तक चला । इसके बाद क्षीरोदप्रसाद का 'भीष्म', द्विजेन्द्रलाल का 'पाषाणी' और गिरीश का 'जना' अभिनीत हुआ । इसके कुछ काल बाद शिशिर ने कार्नवालिस थियेटर को किराये पर लेकर 'नाट्यमंदिर' का उद्घाटन रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'विसर्जन' नाटक से किया ।[१८] अक्तूबर, १९२८ में गिरीश-स्मृति समिति के प्रयास से 'प्रफुल्ल' और 'बलिदान' नाटक खेले गये । रवीन्द्रनाथ ठाकुर-कृत 'तपती' का अन्तिम अभिनय कर शिशिर ने नाट्यमंदिर को छोड़ दिया और सन् १९३० के मध्य में आर्ट थियेटर में आ गये, जहाँ उन्होंने 'चिरकुमार-सभा', 'मत्रशक्ति', 'चन्द्रगुप्त', 'शाहजहाँ' आदि नाटकों में प्रमुख भूमिकाएँ कीं ।[१९]

सन् १९३० में शिशिर अपने दल के साथ न्यूयार्क गये और वहाँ के वाण्डरबोल्ट थियेटर में 'सीता' का अभिनय किया ।[२०] भारत लौटने के बाद सन् १९३४ में उन्होंने स्टार थियेटर को 'लीज' पर लेकर नव नाट्यमंदिर की स्थापना कर शरत्चन्द्र के 'विराजबहू' और 'विजया', शचीनसेन गुप्त के 'देशेर दावी' आदि नाटक खेले ।[२१] सन् १९३६ में रवीन्द्र का 'योगायोग' मंचस्थ किया गया । इसके बाद उन्होंने स्टार को छोड़ दिया । कुछ काल बाद शिशिर ने नाट्यनिकेतन को लीज पर लेकर 'जीवनरंग' आदि कई नाटक खेले ।

शिशिर ने गिरीश की परम्परा को बीसवीं शती में आगे बढ़ा कर बँगला रंगमंच को नवजीवन प्रदान किया । इसी बीच चलचित्र के अभ्युदय और प्रसार से बँगला रंगमंच कुछ समय के लिये हतप्रभ हो गया, परन्तु

अब पुन. बँगला रंगमच आगे बढ रहा है। गिरीश और शिशिर की परम्परा मे शम्भु मित्र और उनकी पत्नी तृप्ति मित्र ने रंगमच को न केवल आगे बढाया, वरन् अपने अथक परिश्रम और व्याख्या की अपूर्व क्षमता से रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटको को भी एक नया स्वरूप प्रदान कर दिया है। कुछ समय पूर्व तक उनके नाटक मच के योग्य नही समझे जाते रहे है, परन्तु उनके सफल अभिनय प्रस्तुत कर मित्र-दम्पति ने बँगला रंगमच को एक नयी देन दी है।

शम्भु मित्र ने सन् १९३६ मे सर्वप्रथम कलकत्ते मे 'रत्नदीप' नाटक मे अभिनय किया। भारतीय जन-नाट्य सघ की स्थापना के बाद वे उसके एक सक्रिय अभिनेता-निर्देशक बन गये। जन-नाट्य सघ मे शम्भु मित्र के प्रमुख साथी थे—शचीन शकर, माणिक बन्द्योपाध्याय, बलराज साहनी और स्व० शान्तिवर्द्धन। इस सस्था के अन्तर्गत उन्होंने 'नवान्न' का निर्देशन कर अपूर्व ख्याति अर्जित की। कुछ समय बाद उन्होंने भारतीय जन-नाट्य सघ का परित्याग कर दिया और नाटककार मनोरजन भट्टाचार्य की प्रेरणा से प्रथम मई, १९५० को कलकत्ते मे 'बहुरूपी' की विधिवत् स्थापना की।[1] बहुरूपी ने सन् १९५० से १९५३ के बीच कई नाटक खेले और फिर रवीन्द्रनाथ का 'रक्तकरवी' उपस्थापित किया। इसके बाद 'पुतुलखेला', 'काचनरग' और रवीन्द्रकृत 'मुक्तधारा' तथा 'विसर्जन' खेले गये। 'विसर्जन' का प्रदर्शन सर्वप्रथम दिल्ली मे सन् १९६१ मे ठाकुर शती समारोह के अवसर पर किया गया था।

'बहुरूपी' के अतिरिक्त नौभनिक, लिटिल थियेटर ग्रुप, नन्दीकर, धनजय वैरागी आदि के अव्यावसायिक नाट्य-दल बँगला रंगमच पर नये-नये प्रयोगो मे सलग्न हैं। अनेक व्यावसायिक थियेटर भी उल्लेखनीय कार्य कर रहे है। इस प्रकार बगाल मे आधुनिक रंगमच की पुर्नस्थापना हो चुकी है। आधुनिक रंगमच द्वारा प्रस्तुत नवीन मूल्यो एव उत्तमोत्तम नाटकों की ओर सामाजिक आकृष्ट हो रहे हैं।

(दो) मराठी रंगमंच १९ वी शती के अन्त मे किर्लोस्कर सगीत नाटक मडली और पूना की आर्योद्धारक नाटक मडली के नाटको ने मराठी रगभूमि को वस्तुवादी पृष्ठभूमि और सगीत प्रदान किया, किन्तु इस बीच महाराष्ट्र और भारत के प्राय बहुत बडे भूभाग पर ब्रिटिश सत्ता के जम जाने के कारण जन-जीवन और तत्कालीन मराठी रगभूमि कुछ कुंठित हो चली। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने अपने कृत्रिम एव स्वच्छन्दतावादी नाटकों के द्वारा इस विषम स्थिति से मराठी रगभूमि का उद्धार किया। उनके 'वीरतनय', 'मूकनायक' आदि नाटक किर्लोस्कर सगीत नाटक मडली जैसी पुरानी नाटक मडली द्वारा तो खेले ही गये, अनेक नयी मडलियो ने भी बड़े उत्साह के साथ उनके नाटको को मचस्थ कर जनता की कुंठा दूर करने का भरसक प्रयास किया। इन नयी नाटक मडलियों मे प्रमुख थी—बलवत सगीत मडली, गधर्व नाटक मडली, भारत नाटक मंडली और ललित-कलादर्श।

कोल्हटकर की परम्परा मे ही कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर ने भी कृत्रिम नाट्य-पद्धति को अपनाया। उनके नाटकों की प्रयोग-पद्धति मे भी कृत्रिमता का समावेश रहता था। महाराष्ट्र नाटक मडली ने उनके 'सवाई माधवराव यान्चा मृत्यु' (१९०६ ई०), 'कीचक वध' (१९०७ ई०), 'भाऊबंदकी' (१९०९ ई०), 'काचनगडची मोहना' आदि नाटको को इस कृत्रिम पद्धति से खेल कर अपूर्व सफलता प्राप्त की। 'कीचकवध' की पौराणिक कथा के पीछे छिपी देशोद्धार की भावना के कारण यह नाटक बहुत लोकप्रिय हुआ। 'कांचनगडची मोहना' को पहले शाहूनगरवासी मडली ने खेला था, किन्तु उसे सफलता नही मिली।[2] खाडिलकर के अन्य नाटक किर्लोस्कर संगीत नाटक मडली, गधर्व नाटक मडली और सुलोचना सगीत नाटक मडली ने अभिनीत किये।

उपर्युक्त नाटक मडलियों मे से किर्लोस्कर तथा आर्योद्धारक नाटक मडलियो के बाद जिन मडलियो ने मराठी रगभूमि को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया, उनमे से प्रमुख है : गंधर्व नाटक मंडली, शाहूनगरवासी

नाटक मडली, महाराष्ट्र नाटक मडली और ललितकलादर्श ।

गधर्व नाटक मडली की स्थापना किर्लोस्कर मडली के बिखरते वैभव की नीव पर नारायणराव राजहस 'बालगन्धर्व' ने की थी।[११७] बालगन्धर्व का सम्बोधन राजहस को लोकमान्य बालगगाधर तिलक से मिला था, जो उनकी कला के बडे प्रशसक थे। बालगधर्व की मडली खाडिलकर, कोल्हटकर, रामगणेश गडकरी, ना० वि० कुलकर्णी, यशवतनारायण टिपणीस, विट्ठल सीताराम गुर्जर आदि के सगीत नाटक खेला करती थी।[११८] इस मडली को 'मानापमान' (खाडिलकर), 'स्वयवर' (खाडिलकर) और 'एकच प्याला' (गडकरी) के प्रयोगो मे अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। 'मानापमान' के ८ जुलाई, १९२१ के प्रयोग मे ललितकलादर्श ने भी योगदान दिया था। इसमे ललितकलादर्श के केशवराव भोसले ने धैर्यधर की और बालगन्धर्व ने भामिनी की यशस्वी भूमिकाएँ की थी।[११९] यह प्रयोग तिलक के स्वराज्य आन्दोलन के सहायतार्थ किया गया था।[१२०] 'एकच प्याला' के अभिनय मे मडली को ५७००० रु० का लाभ हुआ था।

शाहूनगरवासी नाटक मडली की स्थापना सन् १८८१ ई० मे कृष्णाजी बलाजी जोशी ने की। इसने अधिकाशत शेक्सपियर तथा अँग्रेजी एव यूरोपीय नाटककारो के मराठी अनुवादो के प्रयोग किये। इन प्रयोगो को वस्तुवादी पृष्ठभूमि देकर स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया जाता था, जो भावे के पौराणिक नाटको की आदर्शवादी और चमत्कारपूर्ण भावभूमि की सहज प्रतिक्रिया थी। प्रयोग की इस कार्य-विधि मे आर्योद्धारक नाटक मडली और शाहूनगरवासी मडली का लक्ष्य एक ही था—मराठी रगभूमि को वस्तुवादी भूमि पर लाकर खडा करना। आर्योद्धारक के अल्पायु होने के कारण उसके कार्य को शाहूनगरवासी ने आगे बढाया[१२१] और वह बीसवी शती के प्रारम्भ तक बनी रही। शाहूनगरवासी प्राय गद्य-नाटक, विशेषकर शेक्सपियर के अनूदित नाटक ही खेलती रही।

महाराष्ट्र नाटक मडली ने गद्य-नाटको के क्षेत्र मे एक नवीन परम्परा को जन्म दिया, जो उसकी नाट्य-पद्धति से उद्भूत होती है। शाहूनगरवासी की स्वाभाविकता और वस्तुवादिता के विपरीत महाराष्ट्र नाटक मडली की नाट्य-पद्धति मे जिस वस्तुवादिता को अपनाया गया है, वह कृत्रिमता के छोर तक पहुँच जाती है। इसे सुसस्कृत वस्तुवादिता कहा जा सकता है। इस पद्धति मे अनेक स्वाभाविक नाट्य-व्यापारो के बीच वह व्यापार पसद किया जाता और वास्तविक प्रदर्शन के लिये चुना जाता है, जिसमे नाटकीयता का समावेश हो। मडली के प्रमुख कलाकार गणपतराव भागवत इस नाट्यपद्धति के विशिष्ट व्याख्याता थे।[१२२] इस मडली की स्थापना कई प्रोफेसरो के सहयोग से सन् १९०४-५ में पूना मे हुई थी।[१२३]

महाराष्ट्र नाटक मडली की विशिष्ट खोज थे—कृ० प्र० खाडिलकर, जिनके 'कीचकवध' को खेल कर मडली ने नाट्य-जगत् और राजनीति मे एक तूफान-सा खडा कर दिया। लार्ड कर्जन की सरकार ने इस पौराणिक नाटक को अपने विरुद्ध समझ कर उसके अभिनय पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इस प्रकार सहज ही इस मडली ने भारत के जागृत लोक-मानस को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इस नाटक मे गणपतराव भागवत ने कीचक की भूमिका की थी।

ललितकलादर्श नाटक मडली ने मच-शिल्प और नाटको के नवीन विषय लेकर रगभूमि-जगत् मे एक क्रान्ति उपस्थित कर दी। इसकी स्थापना सन् १९०८ ई० मे हुई थी।[१२४] बालगधर्व मडली के साथ 'मानापमान' का सफल प्रयोग करने के अनन्तर केशवराव भोसले की अकाल मृत्यु (४ अक्तूबर, १९२१) हो जाने के कारण ललितकलादर्श कुछ काल के लिये डाँवाँडोल हो उठी, किन्तु नवीन प्रबन्ध मे शीघ्र ही सँभल कर भार्गवराम विट्ठल (मामा) वरेरकर के नाटक खेल कर इसने अच्छी ख्याति अर्जित की। वरेरकर का सबध इस मडली से बहुत पहले से ही रहा है। इसने सन् १९१८ मे सर्वप्रथम वरेरकर का 'स० हाच मुलाचा बाप' और सन् १९१९

मे 'स०सन्याशाचा समार' नाटक खेले थे । इस मडली को वरेरकर के 'सत्तचे गुलाम' (१९२२ ई०) के प्रयोग मे अच्छी सफलता मिली। इस नाटक पर गाँधी के सत्याग्रह आन्दोलन और खादी का प्रभाव था और दूसरे, इसके प्रयोग मे पहली बार परदे की जगह वस्तुवादी सन्दूकिया दृश्यबध (बाक्स सेट) लगाया गया था। इन दो नवीनताओ ने दर्शको के बीच समा बाँध दिया । अस्पृश्यता-निवारण की समस्या को लेकर लिखित वरेरकर के 'सगीत तुरुगाच्या दारात' (१९२३ ई०) के प्रयोग मे आर्थिक हानि हो जाने के कारण मडली की दशा खराब हो गई। इसमे खिडकी और सीढियो के साथ दुमजिला दृश्यबध दिखाया गया था।[११] काग्रेस ने इस नाटक में अस्पृश्यता-विरोधी प्रचार के कारण एक स्वर्णपदक दिया था। दो वर्ष बाद यह मडली बी०वी० पेंढारकर के स्वामित्व मे पुन सक्रिय हुई, किन्तु कुछ वर्षो के नाट्य-जीवन के बाद पेंढारकर चलचित्र-निर्माण के कार्य में लग गये, जिससे ललितकलादर्श का काम सन् १९३७ मे पूर्णत: अवरुद्ध हो गया।

यद्यपि बीसवी शती के तीसरे-चौथे दर्शको मे अनेक नाट्यमडलियाँ बनी, किन्तु चलचित्र के प्रतियोगिता मे आ जाने और मच के अधिकाश जाने-माने कलाकारो के चलचित्रो मे चले जाने के कारण सन् १९३५ तक प्राय सभी व्यवसायिक नाटक मडलियाँ समाप्त हो गई।[१२] इस बीच बनी समर्थ नाटक मडली (१९२० ई०) और बालमोहन नाटक मडली उल्लेखनीय हैं। इनमे से प्रथम महाराष्ट्र नाटक मडली की एक छूटी हुई शाखा थी, दत्तोपत देशपाण्डे जिसके प्रमुख कार्यकर्ता थे। इसी मडली ने वासुदेव वामन भोले का मराठी में प्रथम आधुनिक वस्तुवादी नाटक 'सरला देवी' ३१ दिसम्बर, १९३१ को मचस्थ किया था। इस मडली द्वारा विष्णुपत औधकर के नाटक मुख्य रूप से खेले गये। पूना की बालमोहन नाटक मडली बच्चो की नाट्य-सस्था थी, किन्तु वयस्क होकर इस मडली के कलाकारो ने सन् १९३३ में प्रह्लाद केशव अत्रे का 'साष्टाग नमस्कार' नाटक खेला । इसके बाद अत्रे के और भी कई नाटक इस मडली द्वारा बडी सफलता के साथ खेले गये, जिनमे से 'उद्यांचा संसार', 'लग्नाची बेडी', 'वन्देमातरम्' आदि प्रमुख है।[१३]

चलचित्रो के अभियान के आगे कुछ समय के लिये व्यावसायिक नाटक मडलियो ने घुटने टेक दिये। रंगमंच के कार्य को अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओ ने उठाया और कुछ सस्थाएँ भी बनी, किन्तु दीर्घजीवी न बन सकी। इन सस्थाओं मे उल्लेखनीय थी—रेडियो स्टार्स और नाट्यमन्वतर लि०। रेडियो स्टार्स की स्थापना पी० वी० अल्तेकर द्वारा सन् १९३२ मे हुई और उसी वर्ष १९ नवम्बर को श्रीपाद नरसिंह बेंडे का "बेबी" (शिशु) नाटक खेला गया। यह सस्था एक वर्ष मे ही समाप्त हो गई। सन् १९३३ मे बम्बई विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों ने मिल कर *नाट्यमन्वतर लि० की स्थापना कर बर्नसन के 'गाण्टलेट' का मराठी अनुवाद 'स० आघल्याची शाला' का* प्रयोग १ जुलाई, १९३३ को बम्बई मे किया। अनुवादक थे श्रीधर विनायक वर्तक। २३ सितम्बर को वर्तक का 'स० लपडाव' और २ दिसम्बर को 'स० तक्षशिला' नाटक खेले गये, किन्तु इनको सामाजिको के बीच लोकप्रियता न प्राप्त होने से सस्था को गहरी हानि हुई, अतः यह सस्था भी दो वर्ष से अधिक न चल सकी।

नाट्यमन्वतर के मच पर दृश्यबधों के साथ पहली बार स्त्रियो ने स्त्री-भूमिकाएँ की। इनमे गायिका और अभिनेत्री ज्योत्स्ना भोले प्रमुख थी। नाटको मे गीत बहुत कम रखे जाते थे। पार्श्व सगीत को अवश्य प्रश्रय दिया जाता था, जिससे भावो और घटनाओ के उतार-चढाव को अभिव्यक्ति दी जा सके। अभिनय मे स्वाभाविकता का ध्यान रखा जाता था। इस दृष्टि से मराठी रंगभूमि के इतिहास मे नाट्यमन्वंतर का योगदान अमूल्य रहा है।

गतिरोध की यह स्थिति अधिक समय तक न बनी रह सकी। सन् १९४१ मे दो नयी सस्थाएँ खुली—लिटिल थियेटर और नाट्य निकेतन। लिटिल थियेटर छः माह चल कर बद हो गया। नाट्य निकेतन की स्थापना दो हजार रुपये से मराठी के प्रसिद्ध नाटककार एव पत्रकार मोतीराम गजानन रागणेकर ने व्यावसायिक आधार पर की। इसके सभी कलाकारो को मासिक वेतन दिया जाता था। रागणेकर का पहला *नाटक 'आशीर्वाद'* बहुत

सफल रहा। इसमें ऊषाकिरण मराठे और ज्योत्स्ना भोले ने भूमिकाएँ की थी। उनका 'कुलवधू' (१९४२ई०) अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और इसकी लगभग १२०० रात्रियाँ हो चुकी है। रांगणेकर के 'एक था म्हातारा' के आधार पर हिन्दी की 'शारदा' फिल्म बन चुकी है और 'भटाला दिली ओसरी' के आधार पर हिन्दी में 'पेइंग गेस्ट' नाटक दिल्ली में खेला जा चुका है।[१७]

नाट्य निकेतन महाराष्ट्र में प्राय सर्वत्र नागपुर, इन्दौर, दिल्ली आदि के दौरे कर चुका है। इस संस्था ने अब तक लगभग तीस नाटक मंचस्थ किये हैं, जिनमें रांगणेकर के नाटकों के अतिरिक्त मामा वरेरकर के 'भूमिकन्या सीता' और 'अपूर्व बंगाल' तथा डॉ०अनंत वामन वर्टी का 'राणीचा बाग' प्रमुख है।

सन् १९४३ में मराठी रंगभूमि की शताब्दी बड़ी धूम से मनाई गई, जिससे अनेक नगरों में नाट्य-संस्थाओं और रंगमंच की स्थापना की ओर साहित्यकारों और कलाकारों का ध्यान आकृष्ट हुआ।

सन् १९४५ में प्रह्लाद केशव अत्रे ने मराठी रंगमंच पर प्रवेश किया। अत्रे थियेटर्स ने उनके अनेक नाटकों का प्रदर्शन किया है। अत्रे थियेटर्स के पास अब अपना स्थायी परिभ्रामी रंगमंच भी है, जिसे किसी भी नाट्यशाला में लगाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त बम्बई के मुंबई मराठी साहित्य संघ, लिटिल थियेटर, इंडियन नेशनल थियेटर (१९४४ई०), कलाकार, रंगमंदिर, रंगमंच आदि नाट्य-संस्थाएँ मराठी रंगभूमि की अपने-अपने ढंग से सेवा कर रही है, जिनका विस्तृत विवरण पंचम अध्याय में दिया गया है। इनमें इंडियन नेशनल थियेटर मराठी के अतिरिक्त गुजराती, हिन्दी, कन्नड और अँग्रेजी में भी नाटक खेलता रहता है।

मुंबई मराठी साहित्य संघ ने केनेवाडी, गिरगाँव में अपनी स्थायी रंगशाला भी बना ली है। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र सरकार ने रवीन्द्र मंदिर की स्थापना प्रभादेवी, उत्तरी बम्बई में की है। इसके अतिरिक्त बम्बई और नागपुर में अन्य रंगशालाएँ भी है।

बंगाल की ही भाँति नाटक अब महाराष्ट्रवासियों के जीवन का एक अंग-सा बन गया है और बंगाल की दुर्गा-पूजा और रथयात्रा पर खेले जाने वाले नाटकों की भाँति ही महाराष्ट्र में और उसके बाहर, जहाँ कहीं महाराष्ट्रवासी रहते है, प्राय गणेश-पूजा के अवसर पर नाटक प्रस्तुत किये जाते हैं।

(तीन) गुजराती रंगमंच सन् १८८५ के बाद गुजराती रंगमंच का यौवनकाल प्रारम्भ होता है। इस काल में रंगमंच की तीन प्रमुख धाराएँ प्रवहमान हुई—पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों द्वारा एक ओर अँग्रेजी के अलावा बोलचाल की पारसी-गुजराती के या गुजराती-उर्दू मिश्रित नाटक खेले जाते थे, तो दूसरी ओर गुजराती नाटक मंडलियो द्वारा शुद्ध गुजराती के नाटक प्रस्तुत किये जाते थे। तीसरी धारा अव्यावसायिक रंगमंच की थी, जिस पर स्कूल-कालेज के छात्र अथवा नाटक क्लब अपने नाटक दिखलाया करते थे। पारसी-गुजराती नाटक मंडलियाँ पाश्चात्य नाटकों के अनुवादों अथवा उपन्यासों के गुजराती नाट्य-रूपान्तरों अथवा पारसी सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि पर रचित स्वतन्त्र नाटकों के माध्यम से शृंगार और हास्य का अजस्र प्रवाह मुक्त कर देती थी। इन मंडलियों का उल्लेख इसी अध्याय के प्रारम्भ में किया जा चुका है। अधिकांश पारसी मंडलियाँ बीसवीं शती के दूसरे दशक के अन्त तक समाप्त हो गई अथवा उन्होंने गुजराती का क्षेत्र छोड़ कर हिन्दी या उर्दू का क्षेत्र अपना लिया। सन् १९४२ में स्थापित खटाऊ अल्फ्रेड नाटक मंडली बाद में भी कई वर्षों तक मणिलाल 'पागल' का 'एकज आशा', प्रफुल्ल देसाई के 'अनोखी पूजा', 'नन्दन वन' आदि नाटक खेलती रही।

शुद्ध गुजराती संचालन में बनने वाली गुजराती नाटक मंडलियों के तेजी के साथ विकास के कारण पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल सका, अतः उन्होंने बम्बई और गुजरात का क्षेत्र गुजराती नाटक मंडलियों के लिए रिक्त कर दिया। यद्यपि सन् १९२० तक गुजराती नाटकों के प्रयोग के लिये लगभग ३००

छोटी-बड़ी मंडलियाँ बन चुकी थी, जिनमें से लगभग दो सौ मंडलियों की सूची (जिनमें पारसी मंडलियाँ भी सम्मिलित हैं) देखने में आई हैं,[१२८] किन्तु इनमें से कुछ बड़ी एवं प्रमुख मंडलियाँ थी – मोरबी आर्यसुबोध नाटक मंडली (१८७८ ई०), वाँकानेर आर्यहितवर्धक नाटक मंडली (१८८९ ई०), देसी नाटक समाज (१८८९ ई०), मुंबई गुजराती नाटक मंडली (१८८९ ई०), वाँकानेर विद्यावर्धक नाटक मंडली (१८९५ ई०), काठियावाडी नाटक मंडली (१९०५ ई०), वाँकानेर नृसिंह गौतम समाज (१९०९ ई०), सूर विजय नाटक समाज (१९१४ ई०), नवीन देशी नाटक मंडली लि० (१९१९ ई०), श्री पालीताणा भक्तिप्रदर्शन नाटक मंडली (१९१२ ई०), श्री आर्य नीतिदर्शक नाटक समाज (१९१२ ई०), श्री आर्यनैतिक नाटक समाज (१९१५ ई०), श्री आर्य नाट्य समाज (१९१५ ई०), श्री लक्ष्मीकांत नाटक समाज (१९१९ ई०), श्री कच्छनीति दर्शक नाटक समाज (१९१७ ई०), रायल नाटक मंडली (१९२० ई०) आदि।

इनमें से मोरबी आर्य सुबोध, देसी नाटक आदि 'रिपर्टरी' मंडलियाँ थी, जिनके साथ कलाकारो के निवास और भोजन, सीन-सीनरी रखने के गोदामो आदि की व्यवस्था रहती थी। प्राय ये सभी मंडलियाँ घुमन्तू मंडलियाँ थीं और अस्थायी मँडवे लगा कर अथवा बड़े नगरो की रंगशालाएँ किराये पर लेकर नाटक खेला करती थी।

इन मंडलियो के नाटक पारसी शैली से प्रभावित होने के कारण प्रायः तीन अंको के होते थे और ६-७ घंटो तक चला करते थे। प्रत्येक नाटक मे 'कॉमिक' का प्राय अलग से विधान रहा करता था, जिसमे अँग्रेजी, अँग्रेजियत और फैशन आदि पर व्यंग्य किया जाता था। संवादो की भाषा पारसी नाटको की अपेक्षा अधिक शुद्ध और परिमार्जित हुआ करती थी, यद्यपि उनमे गद्य-पद्य दोनो का मुला प्रयोग होता था। पद्य या गीतों मे प्रायः हिन्दी और उर्दू का प्रयोग भी देखने मे आया है। भाषा प्राय पात्रानुसार चलती-बदलती रही है। ट्रिक-सीनो और ट्रान्सफर सीनों का प्रयोग भी चमत्कार प्रदर्शन अथवा कभी-कभी पौराणिक कथा के अलौकिक प्रभाव को दिखलाने के लिये किया जाता था। अभिनय-पद्धति भी पारसी शैली के ही अनुकरण पर चलती थी।

पारसी-गुजराती नाटकों की ही भाँति गुजराती मंडलियो के नाटक भी प्राय अप्रकाशित है। उनमे से कुछ के 'गायनो अने टुंकसार', जिन्हें 'ऑपेरा' कहा जाता है, अवश्य मिलते हैं, जिनसे इन नाटकों की कथावस्तु, अंक एवं दृश्यविधान, कॉमिक की उपकथा, गीत एवं उनकी भाषा, उनके काव्यसौन्दर्य आदि का कुछ ज्ञान हो सकता है। इन मंडलियों ने किस बड़े और व्यापक परिमाण मे गुजराती के नाट्य-भंडार को भरा था, इसका अनुमान इन संस्थाओ के कार्यकलापो पर दृष्टि डालने से हो सकता है। कुछ दीर्घजीवी संस्थाओ का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

मोरबी आर्य सुबोध नाटक मंडली : वाघजी आशाराम ओझा ने अपनी मोरबी आर्य सुबोध नाटक मंडली की स्थापना छः अन्य श्रीमाली (ब्राह्मण) बन्धुओं के साथ प्रत्येक से दस-दस रुपये लेकर कुल ७० रुपये की पूँजी से सन् १८७८ में की।[१२९] वाघजी ने स्वयं 'चाँपराज हाडो' (१८८७ ई०, द्वि० सं०), 'चन्द्रहास' (१९०३), 'भर्तृहरि', 'त्रिविक्रम' आदि २५ नाटक लिखे और अधिकाश उनके जीवनकाल में तथा उनके निधन के अनन्तर भी खेले जाते रहे। सन् १८८७ में मंडली का प्रबंध वाघजी के अनुज मूलजीभाई आशाराम ओझा के हाथ में आया और वह सन् १९१९ तक उनके नेतृत्व में सफलतापूर्वक चलती रही। इस अवधि मे मंडली द्वारा वाघजी, फूलचंद मास्टर, रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, हरिशंकर माधवजी भट्ट आदि के नाटक खेले गये।

सन् १९२१ मे मंडली का स्वत्व मूलजीभाई के सुपुत्र प्रेमीलाल मूलजीभाई ओझा तथा सन् १९२३ में ओधव-जी मोरारजी ओझा और सन् १९२४ मे नाटककार हरिशंकर माधवजी भट्ट के पास चला आया। इस मंडली द्वारा अभिनीत नाटकों मे 'भर्तृहरि', 'विविक्रम', 'बुद्धदेव' और 'कंसवध' बहुत लोकप्रिय हुए। इन नाटकों के गीत घर-घर गूँजते थे।

सन् १९१४ में अफ्रीका से भारत लौटने पर महात्मा गाँधी मूलजीभाई के आमंत्रण पर मोरबी आर्यसुबोध

मे आये थे और उनको मण्डली द्वारा एक थैली अर्पित की गई थी। गांधी जी उस समय नाट्याभिनय को ब्राह्मण के लिये 'अधम धधा' समझते थे,[१३] जबकि वांकानेर आर्यहितवर्धक नाटक मडली के 'हरिश्चन्द्र' ने स्वय उनके जीवन मे क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी।

लोकमान्य तिलक भी मण्डली मे पधारे थे और सामाजिको की भीड को देख कर कहा था कि यह सस्था 'एक अग्रगण्य सस्था' है।[११] मोरवी आर्यसुबोध ने अपने पौराणिक एव ऐतिहासिक नाटको द्वारा 'गुजरात के सामाजिक जीवन के प्रवाह को वदल दिया था।'[१२]

वांकानेर आर्यहितवर्धक नाटक मण्डली वांकानेर आर्यहितवर्धक नाटक मण्डली की स्थापना रावल त्र्यबकलाल देवशकर और झवाडी त्र्यबकलाल रामचन्द्र ने सन् १८८९ मे की थी। इस मण्डली के प्रमुख नाटककार थे—गुजराती मे नाट्यशास्त्र के भाषान्तरकार नथुराम सुन्दरजी शुक्ल। शुक्ल जी के नाटको में से 'नरसिंह महेता', 'शैलबाला', 'शिवाजी' और 'मीराबाई', गोकुल जी प्राणजीवन का 'हरिश्चन्द्र' तथा अन्य लेखको के कई नाटक अभिनीत किये गये। इसी मण्डली के 'हरिश्चन्द्र' को देख कर बालक मोहनदास कर्मचन्द गांधी के नेत्रो से अश्रुधारा बह चली थी।

सन् १९०९ मे रावल त्र्यबकलाल देवशकर मण्डली के पूर्ण स्वामी हो गये। सन् १९२७ मे पुन स्वामित्व बदला और यह हिम्मतलाल त्र्यबकलाल रावल के हाथ मे आ गई।

देशी नाटक समाज सन् १८८९ मे अपनी सस्थापना के बाद मे देशी नाटक समाज आज भी जीवित है। समाज की स्थापना गुजराती के नाटककार, साहित्य-शास्त्र और संगीत के मर्मज्ञ साक्षररत्न डाह्याभाई धोलशाजी झवेरी ने अहमदाबाद मे की थी। डाह्याभाई अहमदाबाद के एक सम्पन्न सर्राफ-परिवार के नाट्यरसिक युवक थे, अत अनेक विरोधो और बाधाओ के बावजूद इस क्षेत्र मे एक बार उतरने पर सुदृढ बने रहे।

समाज द्वारा प्रथम अभिनीत नाटक था—केशवलाल शिवराम अध्यापक का सगीतक 'स० लीलावती', जो एक जैन-कथा पर आधारित है। इसके अनन्तर स्वय डाह्याभाई ने 'सती सयुक्ता' (१८९१ ई०), 'वीर विक्रमादित्य' (१८९३ ई०), 'अश्रुमती' (१८९५ ई०), 'उमादेवडी' (१८९८ ई०), 'वीणावेली' (१८९९ ई०) आदि १८ नाटक लिखे, जो सभी समाज द्वारा खेले गये। ३० अप्रैल, १९०२ को डाह्याभाई की ३५ वर्ष की अल्पायु मे ही मृत्यु हो गई, किन्तु इसी अवधि मे उन्होंने अहमदाबाद मे दो रगशालाएँ ,बनवाई—आनन्दभुवन थियेटर (१८९३ ई०) और शान्तिभुवन थियेटर (१८९८ ई०)। समाज उनके जीवन-काल मे अहमदाबाद के अलावा बडौदा, सूरत, बम्बई आदि नगरो के दौरे भी करता था।

डाह्याभाई के बाद चन्द्रलाल दलसुखराम धोलशाजी झवेरी सन् १९०३ मे समाज के स्वामी बने और उनके सचालकत्व मे छोटालाल रुखदेव शर्मा के नाटक प्रमुख रूप मे और मणिशकर रत्नजी भट्ट, मोहनलाल भाईशकर भट्ट, महाराणीशकर अम्बाशकर शर्मा तथा मणिलाल त्रिवेदी 'पागल' के नाटक छुटपुट रूप से खेले गये। इस काल मे डाह्याभाई के भी कुछ नाटको की पुनरावृत्ति हुई और स्वय चन्द्रलाल का 'सती पद्मिनी' (१९११ ई०) भी मचस्थ किया गया।

सन् १९२४-२५ मे देशी नाटक समाज की बागडोर हरगोविन्ददास जेठाभाई शाह के हाथ मे आई। हरगोविन्ददास नियत समय पर कार्यालय जाते थे और नाट्य-शिक्षा के ऊपर पूरा जोर देते थे। उनके काल मे समाज की सचालन-व्यवस्था मे काफी सुधार हुआ। उन्होने डाह्याभाई की नाट्यपरम्परा का अनुसरण करते हुए अनेक नये नाटककारो के नाटक भी खेले, जिनमे प्रमुख थे—जी० ए० वैरागी, मणिलाल 'पागल', शयदा और प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी। ये सभी गुजराती के उच्च कोटि के नाटककार माने जाते हैं। इसी काल मे 'पागल' के गुजराती नाटको के अतिरिक्त हिन्दी का 'सती प्रभाव' (१९३४ ई०) भी खेला गया। सन् १९३८ मे हरगोविन्ददास

का निधन होने पर समाज के संचालकत्व का भार उनकी पत्नी उत्तमलक्ष्मी बेन पर पड़ा। उत्तमलक्ष्मी अभी जीवित है और उनके कुशल संचालन तथा कासमभाई मीर के सफल निर्देशन में समाज निरंतर प्रगति कर रहा है। सन् १९३८ के बाद प्रमुख रूप से प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी के ही नाटक अभिनीत होते रहे, जिनमें 'संपत्ति माटे' (१९४१ ई०), 'सतानोना वांके' (१९४३ ई०), 'शंभुमेलो' (१९४७ ई०), 'सामे पार' (१९४७ ई०), 'सोनाना सूरज' (१९५० ई०) आदि प्रमुख है। इसके अतिरिक्त प्रफुल्ल देसाई, जीवनलाल कहानजी ब्रह्मभट्ट, प्रागजीभाई जण्डोसा, 'पागल' आदि के नाटक भी खेले गये। प्रफुल्ल देसाई का 'सर्वोदय' (१९५२ ई०) बहुत लोकप्रिय हुआ। सन् १९६५ तक उसकी पाँच सौ से ऊपर रात्रियां हो चुकी थी[१]।

समाज के संचालकों ने प्लेग की महामारी (१९००–१ ई०), गुजरात की बाढ़ (१९२७ ई०), रेल दुर्घटना आदि राष्ट्रीय संकटों के समय सदैव लम्बी आर्थिक सहायता दी है।

यह एक 'रिपर्टरी' मंडली है। इसके प्रांगण में उसके लगभग सौ कर्मचारी रहते है, जिनके भोजनादि का वहीं प्रबन्ध रहता है। नाटक की सीन-सीनरी स्वयं समाज के ही 'वर्कशाप' में तैयार की जाती है। समाज का मासिक व्यय लगभग २५०००) रु० है। देशी नाटक समाज की रंगशाला में ८५० सीटें है। मंच की लम्बाई ३० फुट और गहराई ४० फुट है। दृश्यबंधों के लिए १८ फुट ऊँचे फलक (फ्लैट)प्रयुक्त होते है।

मुंबई गुजराती नाटक मंडली रणछोड़भाई उदयराम के प्रयास से सन् १८७८ में स्थापित गुजराती नाटक मंडली से आगे चलकर सन् १८८५ में मुंबई गुजराती नाटक मंडली का विकास हुआ, किन्तु अपने स्थिर रूप में वह सन् १८८९ में आई। सम्थापक थे–छोटालाल मूलचंद पटेल और दयाशंकर वसन जी इस मंडली के प्रमुख भागीदार और निर्देशक थे।[२] मुंबई गुजराती के प्रमुख कलाकार थे–जयशंकर 'सुन्दरी' और बापूलाल नायक। जयशंकर प्राय स्त्री–भूमिकाएँ करते थे और 'सौभाग्यसुन्दरी' में नायिका सुन्दरी की भूमिका करने के कारण वे 'सुन्दरी' नाम से विख्यात हो गये। बापूलाल प्राय नायक की भूमिकाओं में उतरते थे।

मंडली के प्रमुख नाटककार थे–मूलशंकर मूलाणी। मंडली ने उनके 'राजबीज' (१८९१ ई०), 'कुंदवाला' (१८९२ ई०), 'मानसिंह अभयसिंह' (१८९३ ई०), 'अजबकुमारी' (१८९५ ई०), 'कामलता', 'सौभाग्यसुन्दरी' आदि नाटक खेले। इसके अतिरिक्त नृसिंह भगवानदास 'विभाकर' का 'स्नेहसरिता', फूलचंद मास्टर का 'सुकन्या सावित्री', कुंवरजी नाजर का 'करणघेलो', रणछोड़भाई का 'नल दमयंती' (१८९२ ई०) और 'ललितादुःखदर्शक' (१८९५) ई०, रमणभाई का 'राईनो पर्वत', कवि 'पागल' का 'लक्ष्मीना लोभे' (१९४५ ई०), चाँपशी उदेशी का 'आजनी दुनिया' (१९४५ई०) आदि नाटक भी मंचस्थ हुए।

अन्य मंडलियों की भाँति मुंबई गुजराती का स्वामित्व भी बदलता रहा। सन् १९१४ में इसका पूर्ण स्वामित्व *छोटालाल मूलचंद, सन् १९२२ में बापूलाल बी० नायक, सन् १९४४ में शान्तिलाल एण्ड कम्पनी* तथा सन् १९४६ में राजनगर थियेटर्स लि० के हाथ में आया। यह अपने समय की अग्रगण्य नाटक मंडली मानी जाती थी।[३]

श्री वांकानेर नृसिंह गौतम नाटक समाज : वांकानेर आर्यहितवर्धक नाटक मंडली के एक संस्थापक त्रवाड़ी त्र्यंबकलाल रामचन्द्र ने अलग होकर सन् १९०९ में अपनी एक नई नाटक मंडली बना ली, जिसका नाम था–श्री वाँकानेर नृसिंह गौतम नाटक समाज। समाज ने नथुराम सुंदरजी शुक्ल–कृत 'बिल्वमंगल उर्फ सूरदास' के अतिरिक्त कई गुजराती नाटक खेले। *यह संस्था* सन्१९१४ या उसके कुछ आगे तक चलती रही।

श्री आर्यनैतिक नाटक समाज : इस समाज की स्थापना नकुभाई कालूभाई शाह ने सन्१९१५ में की थी। बंबई में बालीवाला विक्टोरिया थियेटर में आकर समाज ने अपना 'सती तोरल' (१९१५ ई०) बड़ी सफलता के *साथ खेला।* इसमें हरिहर *'दीवाना'* ने जेसल की और मास्टर छोटू ने तोरल की भूमिकाएँ की थीं।[१] इसके अनंतर नथुराम सुन्दर जी शुक्ल का 'भक्त कवि जयदेव' नाटक मंचस्थ हुआ। इस नाटक को लिखवाने में लेखक पर दस

हजार रु० व्यय हुए थे ।[१७] इसके लिये एक गीत 'यौवन परिमल–भीनी चाल, बहेली जरा चाल' रसकवि रघुनाथ ब्रह्मभट्ट ने लिखा था ।[१८]

इसके अनन्तर रघुनाथ ब्रह्मभट्ट ('पागल' और मूलाणी के सहखेलन में)–कृत 'सूर्यकुमारी' (१९१६ ई०), परमानद मणिलकर वापजकर–कृत 'समरहाक' (१९३८ ई०, द्वि०म०) और 'सुखी के दु खी' (१९३८ ई०), मणिलाल 'पागल'–कृत 'रा' माडलिक', 'प्रवासी' (१९३७ ई०) और 'मलगतो ममार' (१९३७ ई०), नन्दलाल नकुभाई शाह–कृत 'भावना, बी० ए०' (१९६३ ई०) और 'सवा रुपियो'(१९६३ ई०) आदि कई नाटक खेले गये ।[१९]

आर्य नैतिक नाटक समाज सन्१९५५ तक चलता रहा और इस प्रकार लगभग तीस वर्ष तक गुजराती रगभूमि की निरतर सेवा करता रहा ।

श्री लक्ष्मीकांत नाटक समाज श्री लक्ष्मीकात नाटक समाज ने भी आर्यनैतिक नाटक समाज की भांति ही दीर्घकाल तक गुजराती रगभूमि की सेवा की । इसकी स्थापना सन् १९१८ में चंदूलाल हरगोविन्ददास शाह ने की थी'[२०] और यह सन्१९४६ तक चलता रहा । लक्ष्मीकात ने मणिलाल 'पागल' का 'रा' माडलिक', प्रभुदयाल दयाराम द्विवेदी के 'मालवपति' (१९२७ ई० दर्वा स०), 'मायाना रग'(१९२८ ई०, द्वि०म०), 'समुद्रगुप्त' (१९३२ ई०, द्वि०स०), 'मोह-प्रताप' (१९३५ ई०) और 'नकरचार्य' प्रफुल्ल देसाई का 'आजनो वात' (१९४९ ई०) आदि अनेक नाटक मचस्थ किये ।

समय-समय पर लक्ष्मीकात के सचालन मे भी परिवर्तन हुआ । इसने मु० शाहजहाँ 'शम्स' का 'अरब का सितारा' नामक हिन्दी-उर्दू मिश्रित नाटक भी खेला था ।

शेष मडलियाँ दीर्घजीवी नहीं हुई । प्राय दो-एक वर्ष से लेकर पांच-सात वर्ष के भीतर ही उनका जीवनकाल समाप्त हो गया । इनमे सूर विजय नाटक समाज कुछ अवश्य दीर्घायु हुआ, किन्तु गुजराती नाटकमडली के रूप मे नही, हिन्दी नाटक मडली के रूप मे जिसका उल्लेख इसी अध्याय मे आगे किया गया है ।

सन् १९३५ के बाद सवाक् चलचित्रो के प्रसार और लोकप्रियता के आगे व्यावसायिक मडलियाँ फीकी पडने लगी और अधिकाश रगशालाएँ क्रमश सिनेमा हाल के रूप मे परिणत हो गई ।

व्यावसायिक नाटक मडलियो की विशिष्ट नाट्य-शैली और अभिनय-पद्धति से असतुष्ट कुछ उत्साही व्यक्तियो ने अव्यावसायिक रगभूमि की स्थापना की । कुछ समय तक व्यावसायिक मडलियाँ उन्हें 'अनुभवहीन युवक' कह कर उनका तिरस्कार करती रही, किन्तु बाद मे यह भावना क्रमश समाप्त हो गई और दोनो एक-दूसरे की पूरक समझी जाने लगी । अव्यावसायिक नाट्य-सस्थाओ ने अभिनय, दृश्यबध, रगदीपन-योजना आदि की दिशा मे तो नये प्रयोग किये ही, ऐसे नाटको को खेलना भी प्रारभ किया, जिन्हे व्यावसायिक रगभूमि पर आर्थिक सफलता की दृष्टि से खेलना सभव न होता ।[२१]

यद्यपि सन् १९०४ से ही अव्यावसायिक नाट्य-सस्थाओ ने नाटकाभिनय प्रारम्भ कर दिया, किन्तु उसका विकास सन् १९१५ के बाद हुआ । सन्१९०४ मे बडौदा के एफ० एम० मुधोलकर ने 'मजनसुन्दरी', सन्१९११ मे अहमदाबाद के महेन्द्र विलास क्लब ने 'अनाथ' और सन्१९१२ मे सूरत नागर असोसियेशन ने भी एक नाटक खेला । सन् १९१५ मे बडौदा के नागर एमेच्यर्स ने 'सयुक्ता' और नवसारी के अमेच्यर क्लब ने 'हरिश्चन्द्र' नाटक मचस्थ किये । इस प्रकार बडौदा, अहमदाबाद, सूरत, रतलाम, नडियाद, बम्बई आदि नगरो मे नयी रगभूमि का क्रमश. प्रसार हो चला । इस समय बम्बई के साहित्य ससद् कलाकेन्द्र, इडियन नेशनल थियेटर, भारतीय कलाकेन्द्र, रगभूमि, रगमच, गुजराती नाट्य मडल आदि, अहमदाबाद का रगमडल, बडौदा का भारतीय कलाकेन्द्र आदि नाट्य-सस्थाएँ नई रगभूमि के सवर्द्धन मे सलग्न हैं ।

(ख) हिन्दी रंगमंच का विकास

(एक) **पारसी-हिन्दी रंगमंच** : उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में और बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के तीन दशकों के बीच अनेक पारसी नाटक मंडलियों अथवा उनके अनुकरण पर हिन्दू नाटक मंडलियों का अभ्युदय हुआ और वे कुछ समय तक चल कर, कुछ समय के लिये बन्द होकर और फिर नये स्वामित्व में नया चोला बदल कर अपने अस्तित्व और जीवन का परिचय देती रहीं। ये मंडलियाँ एकान्त रूप से व्यावसायिक थीं और उनका लक्ष्य सभी श्रेणियों के सामाजिकों को गुदगुदा और हँसा कर, उनका मनोरंजन और शिक्षण कर धन और यश का उपार्जन करना था। इस रंगमंच के हिन्दी-नाटकों का स्तर सामान्यतः शिष्ट और उच्चकोटि का है, अतः उर्दू के कुछ सस्ते और अश्लील नाटकों अथवा कॉमिकों में आये आलिंगन-चुम्बन के प्रसंगों के कारण समस्त पारसी-हिन्दी नाटकों को सस्ता, अश्लील अथवा असाहित्यिक नहीं कहा जा सकता।

अधिकांश पारसी मंडलियों का जन्म बम्बई में हुआ और उनके नाम अँग्रेजी के थे। उन्होंने बम्बई तथा समस्त उत्तरी भारत में घूम-घूम कर अपने नाटक प्रदर्शित किये और कीर्ति अर्जित की। फलतः जब भी कोई मंडली कहीं भी बनती, उसका नाम अँग्रेजी में रखा जाता और साथ में 'आफ बम्बई' अर्थात् 'बम्बई की' या 'बम्बई वाली' अवश्य जोड़ दिया जाता।[18] बम्बई की पारसी-हिन्दी मंडलियों में प्रमुख थीं–विक्टोरिया नाटक मंडली, अल्फ्रेड नाटक मंडली और उससे टूट कर बनी पारसी अल्फ्रेड नाटक मंडली और न्यू अल्फ्रेड नाटक मंडली, एल्फिन्स्टन नाटक मंडली, पारसी इम्पीरियल नाटक मंडली, अलेक्जेंड्रा नाटक मंडली, पारसी नाटक मंडली (द्वितीय), कारोनेशन नाटक मंडली आदि। इनमें से विक्टोरिया (१८७० ई०, स्था०), अल्फ्रेड एल्फिन्स्टन, (१८७२-७६, संस्थापक कुँअरजी नाज़र) कारोनेशन आदि ने बम्बई में स्थायी रंगशालाएँ बनवाई।[19] ये रंगशालाएँ अधिकांश में ग्रांट रोड पर बनाई गयी थीं, अतः उस क्षेत्र को 'प्ले हाउस' (पिल हाउस) के नाम से पुकारा जाने लगा। फोर्ट-क्षेत्र में भी कुछ रंगशालाएँ बनीं, यथा कुँअरजी नाज़र द्वारा स्थापित गेइटी (अब कैपिटल थियेटर), इम्पायर और नावेल्टी थियेटर आदि।

नावेल्टी को तोड़ कर सिटी आफ बाम्बे बिल्डिंग्स क० लि० ने एक्सेल्सियर थियेटर बनाया, जिसका उद्घाटन तत्कालीन वायसराय लार्ड मिन्टो ने सन् १९०९ में किया। बाद में सन् १९११-१२ में यह छविगृह बन गया और अन्ततः यह जमशेदजी मादन के स्वामित्व में आ गया। अब इस जगह एक नौमंजिला भवन और छविगृह बन गया है।[20] इसके अतिरिक्त माटुंगा, बम्बई में आर्टिलरी थियेटर तथा अपोलो बन्दर पर अपोलो थियेटर की स्थापना हुई।

विक्टोरिया के खुरशेद जी बालीवाला के स्वामित्व में आने पर उसने एक दूसरी रंगशाला भी बनवायी, जिसका नाम था बालीवाला थियेटर। न्यू अल्फ्रेड के स्वामी माणिकजी जीवनजी मास्टर ने अहमदाबाद में 'मास्टर थियेटर' के नाम से भी एक रंगशाला बनाई थी।[21]

अधिकांश रंगशालाओं में कलाकारों और शिल्पियों के रहने, भोजन आदि का और सीन-सीनरी तथा अन्य रंगोपकरण रखने के लिये गोदामों का प्रबन्ध रहता था।

विक्टोरिया नाटक मंडली : यद्यपि कुछ विद्वानों के मतानुसार इस मंडली की स्थापना सन् १८६२ में हुई थी,[22] किन्तु डा० डी० जी० व्यास के अनुसार इसकी स्थापना केखुशरू काबराजी ने सन् १८६७ में की थी। सन् १८६८ में यह व्यावसायिक रूप में सामने आई। इस मंडली के चार मालिक हुए : दादाभाई रतनजी ठूँठी, फरामजी गुस्तादजी दलाल, कावसजी नसरवानजी कोहिदारू तथा होरमस जी मोदी। बाद में मंडली के बाल-कलाकार खुरशेदजी मेहरवानजी बालीवाला सन् १८७० में इस मंडली के पूर्ण स्वामी बन गये और यह मंडली

उन्हीं के नाम पर 'बालीवाला विक्टोरिया नाटक मंडली' के नाम से विख्यात हो गई। यह उनके स्वामित्व में सन् १९१४ तक बनी रही।[187]

विक्टोरिया नाटक मंडली ने प्रारम्भ में गुजराती के नाटक खेले, किन्तु क्रमश उर्दू और हिन्दी के नाटक खेलने की ओर प्रवृत्त हुई। विक्टोरिया ने प्रथम उर्दू नाटक 'जरखरीद खुरशीद' सन् १८७१ में खेला, जो एदलजी खोरी के गुजराती नाटक 'सोनाना मूलनी खोरशेद' का अनुवाद था। इसके अनन्तर यह अपने हिन्दी-उर्दू नाटकों के साथ सन् १८७२ में हैदराबाद के दीवान सालार जंगबहादुर के निमन्त्रण पर हैदराबाद गई।[188] विक्टोरिया के पहले हिन्दी नाटककार थे—नसरवानजी खानसाहब 'आराम', जिन्होंने 'गोपीचन्द', 'लैला-मजनूं', 'शकुन्तला', 'हातिमताई', मोहनारानी', 'पदमावत', 'चन्द्रावली', बेनजीर-बदरेमुनीर' आदि कई हिन्दी संगीत-नाटक छैलबटाऊ—(आपरा) लिखे। विक्टोरिया ने अपने दिल्ली के दौरे में 'आराम' का संगीत नाटक 'गोपीचन्द' पहले पहल सन् १८७४ में प्रस्तुत किया।[189] विक्टोरिया ने 'आराम' के संगीतक 'शकुन्तला' का प्रदर्शन सन् १८७५ में बनारस के नाचघर में किया।[190] इसी को देख कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि विद्वान एवं नाट्यानुरागी रंगशाला से उठ कर चले गये थे। विक्टोरिया के दूसरे नाटककार थे—विनायक प्रसाद 'तालिब', जिन्होंने 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८८४ ई०), 'गोपीचन्द', 'रामायण', 'विक्रम-विलास' और 'कनकतारा' नाटकों की रचना की।

सन् १८८५ में विक्टोरिया तालिब के 'हरिश्चन्द्र' को लेकर रंगून (बर्मा) और इंग्लैंड भी गई थी।[191]

सन् १९११ में भारत-सम्राट् जार्ज पंचम तथा महारानी मेरी के दिल्ली दरबार के समय देश की अनेक नाटक मंडलियों के साथ बालीवाला विक्टोरिया भी दिल्ली गई। मंडली की नायिका के दिल्ली जाने से मना कर देने पर १३–वर्षीया नेक बानु डी० पराम उर्फ मुन्नीबाई को उसकी जगह नियुक्त कर दिया गया। मुन्नीबाई ने अपने संवाद-कौशल एवं भावपूर्ण अभिनय के द्वारा सभी सामाजिकों को रस-विभोर कर दिया। सम्राट् जार्ज पंचम ने प्रसन्न होकर मुन्नीबाई को स्वर्ण-पदक प्रदान किया।[192]

दिल्ली में निरन्तर ६ माह तक नाट्य-प्रदर्शन के उपरान्त मंडली कलकत्ता, रंगून, सिंगापुर, मद्रास, मैसूर, हैदराबाद आदि स्थानों का अपना दौरा समाप्त कर सन् १९१३ में बम्बई वापस लौटी। मंडली के स्वामी खुरशेद जी मेहरवानजी बालीवाला ने रंगून जाने के पूर्व मुन्नीबाई को अपनी दत्तक पुत्री बना लिया और ८ मई, १९१२ को न्यायालय में रजिस्ट्री करा ली।[193] मंडली के बम्बई लौटने पर खुरशेद जी का निधन हो गया, फलत सन् १९१५ में बालीवाला विक्टोरिया के तत्कालीन निर्देशक हुरमसजी तातार ने मंडली को खरीद लिया। मंडली ने पुन कलकत्ता, रंगून, कोलम्बो तथा हैदराबाद की यात्रा की, किन्तु हैदराबाद में सन् १९२१ में हुरमसजी का स्वर्गवास हो जाने के कारण मंडली बम्बई लौट गई।[194]

युगलकिशोर 'पुष्प' के अनुसार '१९२३ ई० में बालीवाला नाटक कम्पनी सदा के लिए समाप्त हो गई',[195] किन्तु तथ्य यह है कि सन् १९२२ में यह मंडली जहाँगीर आदरजी मास्टर के स्वामित्व में चली गई और तालिब के 'हरिश्चन्द्र', 'विक्रमविलास' आदि नाटक खेलती रही,[196] अत. मंडली के सन् १९२३ में समाप्त होने की बात सिद्ध नहीं होती।

हिन्दी नाटक मंडली .[197] *विक्टोरिया नाटक मंडली से पृथक् होकर दादाभाई रतन जी ठूँठी ने हिन्दी नाटक मंडली की स्थापना की, जिसके वे निर्देशक भी थे। मंडली ने ग्रान्ट रोड पर मुस्लिम कब्रिस्तान के सामने एक ऐसा थियेटर बनवाया, जिसे वे २४ घन्टे के भीतर उठा कर कहीं भी ले जा सकते थे।*

इस मंडली ने 'बेनजीर–बदरेमुनीर' तथा कावरा जी के 'फरेदुम' का प्रदर्शन किया, किन्तु असफल हो जाने से सन् १८७३ में यह बन्द हो गई।

गणपतराव पेंटर इस मंडली के रंगसज्जाकार थे।

ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मंडली :[४४] ठूँठी की भाँति दादाभाई पटेल ने विक्टोरिया से अलग होने के बाद सन् १८७५ (डॉ० डी० जी० व्यास के मतानुसार १८७४-७५ ई०) में ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मंडली की नींव रखी। इसका उद्घाटन 'इंदरसभा' से हुआ, जिसका प्रयोग एल्फिन्स्टन थियेटर में हुआ। पटेल ने स्वयं गुलफाम और नवनियुक्त चार गायिकाओं ने परियों का काम किया।

सन् १८७६ से पटेल ने यात्राएँ प्रारम्भ की और वे मंडली को लेकर मैसूर, मद्रास और हैदराबाद गये। मैसूर में 'इंदरसभा' और 'गुलबकावली' तथा मद्रास में 'शकुन्तला' का प्रदर्शन किया गया। हैदराबाद में पटेल के अस्वस्थ हो जाने के कारण मंडली बम्बई वापस लौट आई, जहाँ ३२ वर्ष की अल्पायु में ही उनकी मृत्यु हो गई।

तदनन्तर मंडली के कलाकारों ने भागीदारी में मंडली चलाई, किन्तु मंडली की मद्रास और बंगलौर की यात्रा के बाद वह टूट गई। अन्तिम मंचस्थ नाटक था–'बेनज़ीर-बदरेमुनीर'।

इम्प्रेस विक्टोरिया नाटक मंडली :[४५] विक्टोरिया के कलाकार जहाँगीर पेस्टनजी खम्भाता ने भी विक्टोरिया से अलग होकर सन १८७७ (डॉ० व्यास के अनुसार १८७८ ई०, जो उपयुक्त नहीं प्रतीत होता) में एक मंडली बनाई जिसका नाम था–इम्प्रेस विक्टोरिया नाटक मंडली।

इस मंडली ने सर्वप्रथम 'इन्दरसभा' (१८७७ ई०) का मंचन किया, जिसके परदे और सीनरी पेस्तनजी खुरशेदजी मादन ने तैयार की। इसमें कावसजी खटाऊ ने गुलफाम, कावसजी कलिजर ने लाल देव तथा काऊ होंडो ने राजा इन्दर की भूमिकाएँ कीं। नसरवानजी सरकारी और दोराबजी मधोनवाला क्रमशः सब्जपरी तथा पुखराज परी बने। मंडली ने जिन अन्य संगीतकों के प्रयोग किये, उनमें प्रमुख थे–'छैलबटाऊ-मोहनारानी', 'लैला-मजनूँ', 'गुलबकावली', 'अलीबाबा चालीस चोर' आदि। शेक्सपियर–'पेरीक्लिस' के उर्दू-बहुल हिन्दी-रूपान्तर 'खुदादाद' (१८७८ ई०) को भी मंडली ने खेला।

इन सभी नाटकों में कावसजी खटाऊ नायक और नसरवान जी सरकारी नायिका के रूप में अवतरित हुए। कावसजी के साथ मिस मेरी फैंटन के उतरने पर मंडली चमक उठी।

मंडली ने मेरठ, लाहौर आदि कई नगरों की यात्राएँ कीं। अमृतसर पहुँच कर मंडली बन्द हो गई।

अल्फ्रेड नाटक मंडली : अल्फ्रेड नाटक मंडली की संस्थापना कावसजी पालनजी खटाऊ ने सन् १८७१ में की थी।[*]

इस मंडली में खटाऊ के अतिरिक्त दो अन्य भागीदार भी थे–मानिकजी जीवनजी मास्टर और मुहम्मद अली बोरा। सन् १८९० में इन भागीदारों में फूट पड़ जाने से दो पृथक् मंडलियाँ बन गईं–खटाऊ के हाथ में पुरानी अल्फ्रेड बनी रही और शेष भागीदारों ने मिल कर न्यू अल्फ्रेड नाटक मंडली के नाम से एक नई मंडली की

---

[*] अल्फ्रेड नाटक मंडली का जन्म १८७१ में हुआ, किन्तु डॉ० चन्द्रूलाल दुबे के अनुसार इसके मूल संस्थापक थे–खुरशेदजी बाटलीवाला, माणिकजी जीवनजी मास्टर तथा फरामजी जोशी। कुछ समय बाद चल कर मंडली शिथिल पड़ गई, अतः सन् १८७७ में मिस मेरी फैंटन को साथ लेकर जब कावसजी पालनजी खटाऊ दिल्ली से बम्बई आये, तो मंडली से उन्हीं दिनों जुड़े नानाभाई रुस्तमजी राणीना की आर्थिक सहायता पाकर खटाऊ के योग-दान ने इस मंडली को एक नया जीवन दिया। इस मंडली ने दिल्ली में सन् १८८१ में 'चन्द्रावली', बम्बई में सन् १८८३ में 'हरिश्चन्द्र' तथा लाहौर में सन् १८८४ में भी 'हरिश्चन्द्र' नाटक खेला। सन् १८८४ में ही राणीना ने इस मंडली में तीन भागीदार बनाये–मानिक जी जीवनजी मास्टर, कावसजी पालनजी खटाऊ तथा मुहम्मद अलीबोरा। (डॉ० चन्द्रूलाल दुबे, 'हिन्दी रंगमंच का इतिहास', पृ० ८०-८३)

इसी वर्ष सोराबजी ओग्रा इसके निर्देशक बने, जिनके मार्ग-दर्शन में मंडली का कायाकल्प हुआ।

इस प्रकार विविध परस्पर विरोधी दीखने वाले तथ्यों का तर्कसंगत समाहार हो जाता है।–लेखक

स्थापना की, जिसका उल्लेख इसी अध्याय मे पहले किया जा चुका है ।

पारसी अल्फ्रेड (पुरानी अल्फ्रेड) के निर्देशक थे—अमृतकेशव नायक और न्यू अल्फ्रेड के सोराबजी फ्रामजी ओग्रा । दोनो ही हिन्दी रगमच के पुरस्कर्ता और अनन्य भक्त थे । उन्होने हिन्दी नाटककारो को तो हिन्दी नाटक लिखने को प्रोत्साहित किया ही, उर्दू नाटककार भी उनकी प्रेरणा से हिन्दी मे नाटक लिखने लगे । आगा 'हश्र' और 'बेताब' अमृतकेशव के हिन्दी-ज्ञान और कुशल निर्देशन के कारण उनका बडा सम्मान करते थे । अमृतलाल लेखको की पाडुलिपि देख कर उन्हें निरन्तर सशोधन करने की प्रेरणा देते रहते थे और यदि कोई नाटक उनकी पसन्द के अनुकूल नही होता था, तो वे उसे फाड भी दिया करते थे । अमृतकेशव स्वय एक अच्छे कवि और गायक भी थे तथा उनके बनाए कई नाट्यगीत बहुत लोकप्रिय हुए, यथा 'परदेसी सैयां नेहा लगायो, दुख दे गयो' ('शहीदे नाज', १९०४ ई०), 'काहे को रार मचाई रे कन्हाई', 'प्यारे, परदेश न जाओ रे ओ साजना ।' ('बज्मे-फानी', १९०० ई०), 'सर पर गागर धर कर गजगामिनी इतराती आवे' ('चन्द्रावली', १९०१ ई०) आदि ।

अमृतकेशव ने पारसी अल्फ्रेड मे न केवल नाटकों का निर्देशन किया, प्राय· वे सगीत भी देते थे और स्वय पुरुष-या-स्त्री भूमिकाएँ भी करते थे । 'अहसन' के 'खूने नाहक' (१८९५ ई०) मे जोहरन्निसा, आगा हश्र के 'मुरीदे शक' (१८९९ ई०) मे हमीदा आदि की उनकी स्त्री-भूमिकाएँ बहुत सफल रही । इस मडली मे मा० मोहन, वल्लभ केशव नायक, रामलाल वल्लभ, पुरुषोत्तम नायक, आदि पुरुष-कलाकार भी स्त्री-भूमिकाएँ किया करते थे । इसके अतिरिक्त इस मडली मे कुछ महिलाएँ भी काम करने लगी थी, जिनमे प्रमुख हैं : मेरी फेंटन (बाद में कावसजी खटाऊ की पत्नी), जोहरा, मिस गौहर आदि ।

पुरुष-कलाकार थे अमृतकेशव नायक, जोसेफ डेविड, कावसजी खटाऊ, अता मोहम्मद, पन्नालाल, फरामजी चौकसी, महबूब, मु० इस्मत अली, आदि ।

सन् १९०४ मे अमृतकेशव त्यागपत्र देकर मडली की सेवा से पृथक् हो गये ।

अमृतकेशव ने न केवल पारसी अल्फ्रेड को, वरन् काशी की नागरी नाट्यकला-सगीत प्रवर्त्तक मंडली को भी भारतेन्दु के नाटक (सभवत. 'सत्य हरिश्चन्द्र') का प्रयोग करने मे अपने कुशल निर्देशन का लाभ दिया था ।[१०] जुलाई, १९०७ मे अल्प वय मे ही उनकी मृत्यु हो गई ।

सोराबजी स्वय उच्चकोटि के हास्य-अभिनेता (कामेडियन) थे और प्राय नाट्य-निर्देशन के साथ स्वय भी मच पर उतरते थे । 'खूबसूरत बला' (हश्र) में खैरसल्लाह की, 'चलता पुर्जा' (अहसन) मे सिकन्दरखां की और 'वीर अभिमन्यु' (राधेश्याम) मे राजाबहादुर की उनकी भूमिकाएँ अद्वितीय मानी जाती रही हैं ।

पारसी अल्फ्रेड का 'ज़हरी सांप' (१९०६ ई०) और न्यू अल्फ्रेड का 'खूबसूरत बला' (१९०७ ई०) बहुत लोकप्रिय हुए और बेताब तथा हश्र सर्वप्रिय नाटककार बन गये । 'खूबसूरत बला' को देख कर राधेश्याम कथावाचक को नाटक लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई ।[११] राधेश्याम का प्रथम नाटक 'वीर अभिमन्यु' ४ फरवरी, १९१६ को न्यू अल्फ्रेड द्वारा दिल्ली मे खेला गया । सोराबजी ओग्रा और उनके सहायक और बाद मे निर्देशक भोगीलाल के मडली से पृथक् होने पर सन् १९२४ मे स्वय राधेश्याम कथावाचक न्यू अल्फ्रेड के निर्देशक बने और सन् १९३० तक वही बने रहे ।[१२] उस समय उन्हें ७५०) रु० मासिक वेतन मिलता था ।[१३] उनके कार्य-काल और निर्देशन मे उनके सात नाटक खेले गये : 'परिवर्तन' (१९२५ ई०), 'मशरिकी' हूर (१९२६ ई०), 'श्रीकृष्णावतार' (१९२६ ई०), 'रुक्मिणी-मगल' (१९२७ ई०), 'श्रवणकुमार' (१९२८ ई०), 'ईश्वर-भक्ति' (१९२९ ई०) और 'द्रौपदी-स्वयवर' (१९२९ ई०) ।

राधेश्याम कथावाचक को अपने समय के सभी प्रमुख नेताओ का प्रेम, विश्वास और सम्मान प्राप्त था । प० मदनमोहन मालवीय दो बार उनका नाटक 'प्रह्लाद' देखने आये । इन्द्र विद्यावाचस्पति ने उनके 'श्रवणकुमार'

पारसी-हिन्दी रंगमंच के दो चित्र

(के० टी० देशमुख के सौजन्य से)

ऊपर : एल्फिस्टन ड्रामेटिक क्लब (स्थापित १८६० ई० या पूर्व) का कलाकार-दल। एल्फिस्टन कालेज, बम्बई के पारसी-छात्रों के इस दल ने ही कुँअर जी नाजर के नेतृत्व मे सन १८६१ मे एल्फिन्स्टन नाटक मण्डली की स्थापना की।

नीचे : 'हैमलेट' की भूमिका मे सोहराब मोदी
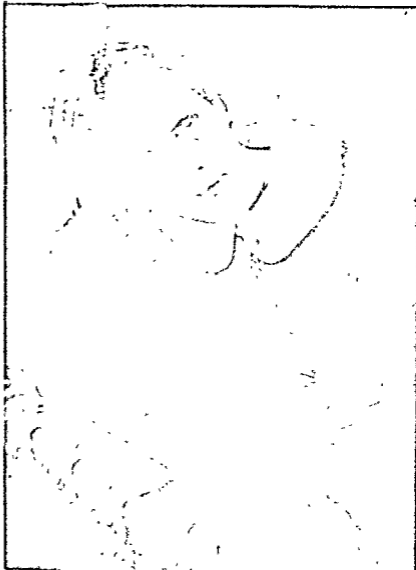
(१९२८ ई०) का और पं० मोती लाल नेहरू ने उनके 'ईश्वर-भक्ति' नाटक का उद्घाटन भी किया था।[11]

न्यू अल्फ्रेड अपने हिन्दी नाटक लेकर बम्बई के बाहर समस्त उत्तरी भारत का दौरा किया करती थी। जिन नगरों में वह अपने खेल दिखाया करती थी, वे हैं–मध्य प्रदेश का इन्दौर, राजस्थान का जयपुर, केन्द्र-शासित दिल्ली, उत्तर प्रदेश के बरेली, कानपुर, लखनऊ, बनारस, आगरा, मथुरा, आदि, अविभाजित पंजाब के लुधियाना, जालन्धर, अमृतसर और लाहौर तथा सीमाप्रान्त का पेशावर। इसके अतिरिक्त वह अलीगढ़, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर और मुरादाबाद की प्रदर्शिनियों मे भी अपना मँड़वा लगाया करती थी।

सन् १९२४ मे न्यू अल्फ्रेड का स्वामित्व बदला और वह उसके भूतपूर्व व्यवस्थापक माणिकशाह के०बलसारा तथा दो अन्य व्यक्तियों फ्रामरोज करंजिया तथा मेहरवानजी कापडिया के हाथ में आ गई।[11] भोगीलाल इस नये प्रबन्ध की मंडली के स्थायी निर्देशक बने, किन्तु मालिकों से मतभेद हो जाने के कारण उन्हें त्यागपत्र दे देना पड़ा।[11] इसी के बाद राधेश्याम कथावाचक मंडली के निर्देशक नियुक्त हुए। मंडली में कोई भी स्त्री नौकर नही रखी जाती थी और पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय किया करते थे। स्त्री-भूमिकाएँ करने वाले पुरुषपात्रों मे प्रमुख थे–मास्टर निसार, भोगीलाल, फिदाहुसैन (प्रेमशंकर 'नरसी'), नर्मदाशंकर, जगन्नाथ नायक, भगवानदास नायक आदि, किन्तु राधेश्याम कथावाचक के मंडली से पृथक् हो जाने के उपरांत स्त्रियाँ भी नौकर रखी जाने लगी।[14] नाटकों और उनके उपस्थापन का स्तर गिर जाने से मंडली को घाटा होने लगा और अन्त में सन् १९३२ मे वह बन्द हो गई।[15] डॉ० विद्यावती नम्र के अनुसार यह मंडली १९३६ में बन्द हुई और उसके अगले वर्ष पुनः चालू होकर पुनः अन्तिम रूप से बन्द हो गई।[11]

पारसी अल्फ्रेड की स्थिति बिगड जाने पर कलकत्ते के मादन थियेटर्स लि० ने उसे सन् १९१८ में खरीद लिया। सन् १९२० में इसने बेताब-'गणेशजन्म' का कलकत्ते मे मचन किया। सन् १९२७ से १९३२ ई० के बीच इस मंडली ने 'हश्र' के 'आँख का नशा' और 'दिल की प्यास' तथा बेताब के 'कृष्ण-सुदामा' नाटकों को कलकत्ते में प्रस्तुत किया।

एल्फिस्टन नाटक मंडली· उपर्युक्त दोनों मंडलियों–विक्टोरिया और अल्फ्रेड के बहुत पहले ही, सन् १८६१ में एल्फिस्टन नाटक मंडली की स्थापना कुँवरजी नाजर ने की थी। स्थापना की दृष्टि से इसका स्थान सर्वप्रथम है, किन्तु हिन्दी नाटकों के उपस्थापन की दृष्टि से इसका स्थान गौण है। बम्बई मे रहते इस मंडली ने केवल 'नूरजहाँ' नामक नाटक हिन्दी मे खेला, किन्तु जमशेदजी मादन के स्वामित्व मे इसके कलकत्ता चले जाने पर आगा 'हश्र' का 'धर्मी बालक याने गरीब की दुनिया' और गिरीशचन्द्र घोष के बँगला नाटक 'नल-दमयन्ती' का हिन्दी अनुवाद खेला।[18]

एल्फिस्टन की सुन्दरी अभिनेत्री शरीफा पर मुग्ध होकर चरखारी के महाराजा अरिमर्दन सिंह ने मादन थियेटर्स से उक्त मंडली को सन् १९३० या इससे कुछ पूर्व तीन लाख रुपये मे खरीद लिया और उसका नाम रखा- 'कोरंथियन नाटक मंडली,' किन्तु मंडली के कलाकारों के बहुत तंग करने पर महाराजा ने उक्त मंडली मादन थियेटर्स को वापस लौटा दी। कोरंथियन द्वारा मु० नस्र का 'प्रेमी बालक' ('वीर बालक' का दूसरा भाग) और हश्र के नाटक खेले गये। यह सन् १९३५ मे बन्द हो गई।

पारसी इम्प्रेस नाटक मंडली (१८७९ ई०) : इम्प्रेस विक्टोरिया नाटक मंडली के बन्द होने पर जहाँगीरजी खभाता ने पारसी इम्प्रेस नाटक मंडली की स्थापना सन् १८७९ के लगभग की। इस मंडली का प्रथम नाटक 'खुदादाद' और दूसरा नाटक 'अलीबाबा' था। आर्थिक दृष्टि से सफल न होने पर भी दोनो नाटक बहुचर्चित हुए।

इसके उपरान्त इस मंडली ने इन्दौर, महू, रतलाम, इलाहाबाद, मिर्ज़ापुर, चुनार, बनारस, डुमराँव, दानापुर पटना तथा गया की नाट्य-यात्राएँ की।

पारसी नाटक मंडली (१९०३ ई०) : पारसी नाटक मंडली 'भागीदारों' की कम्पनी के नाम से भी प्रसिद्ध थी, क्योंकि इसके चार भागीदार थे—सेठ फरामजी अप्पू सेठ रतनलाल अप्पू , सेठ दादाभाई मिस्त्री तथा सेठ वजा। जमादार की नाटक मंडली की स्थिति बिगड़ जाने पर पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' ने इस नाटक मंडली में बम्बई जाकर नौकरी कर ली । इस मंडली द्वारा बेताब-कृत 'कसौटी' (१९०३ ई०, ब्रेडला हाल, लाहौर), 'मीठा जहर' (१९०५ ई०, विक्टोरिया थियेटर, बम्बई), 'जहरी साँप' (१९०६ ई०, विक्टोरिया थियेटर, बम्बई) तथा 'अमृत' (१९०८ ई०, कारोनेशन थियेटर, बम्बई) नाटक सफलतापूर्वक मंचस्थ किये ।

प्रारम्भ में इस मंडली के निर्देशक थे—केशवलाल नायक, किन्तु सन् १९०४ में पारसी अल्फ्रेड से पृथक् होकर अमृतकेशव नायक इस मंडली में निर्देशक होकर आ गये । 'मीठा जहर' तथा 'जहरी साँप' का निर्देशन उन्होंने ही किया ।

'कसौटी' में नायिका दिलबर का काम मिस पुतली ने, 'मीठा जहर' में नायिका हबीबा की भूमिका प्रारम्भ में नरोत्तम ने और बाद में सन् १९०७ से मिस गौहर ने तथा 'जहरी साँप' की प्रमुख पात्री खुर्शीद की भूमिका पुरुषोत्तम नायक ने की ।

जुलाई, १९०७ में अमृतलाल केशव नायक की मृत्यु हो जाने पर 'बेताब' के नये नाटक का नाम 'अमृत' रखा गया, जिसका निर्देशन वल्लभ केशव नायक ने किया ।

सम्भवत इसी नाटक के अनंतर 'बेताब' इस मंडली से पृथक् होकर पारसी अल्फ्रेड में चले गये ।

पारसी इम्पीरियल नाटक मंडली : पर्याप्त सामग्री के अभाव में यह बताना कठिन है कि इस नाटक मंडली की स्थापना कब और किसने की । सन् १९१५ ई० से १९२० ई० के बीच जोसेफ डेविड के उपस्थापकत्व में पारसी इम्पीरियल ने 'एशियाई सितारा', 'बाग़े ईरान', 'खाकी पुतला', 'कौमी दिलेर', 'विराटपर्व' आदि उर्दू-हिन्दी के नाटक खेले ।[१७१] इस मंडली को भी कलकत्ते के मादन थियेटर्स लि० ने खरीद लिया[१७२] और तदुपरान्त 'शम्स' लखनवी का 'तलवार का धनी' नाटक खेला ।[१७३]

अलेक्जेंड्रा नाटक मंडली : बलवन्त गार्गी के अनुसार इस मंडली के मूल संस्थापक थे-मुहम्मद सेठ और हबीब सेठ ।[१७४] जोसेफ डेविड के हाथ में आने पर मंडली ने मुं० नैयर-कृत 'वतन' का अभिनय सन् १९२२ ई० में किया । यह नाटक राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण बहुत लोकप्रिय हुआ । इसके गीत भी बड़े मर्मस्पर्शी थे, जो युवकों को विदेशी सरकार के प्रति रोष से भर देते थे । फलस्वरूप उसे सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा ।[१७५] इस दृष्टि से अलेक्जेंड्रा का वही स्थान है, जो बँगला में राष्ट्रीय नाटकों का पुरस्करण करने के लिए ग्रेट नेशनल थियेटर को और मराठी में महाराष्ट्र नाटक मंडली को प्राप्त है ।

बम्बई की अन्य मंडलियाँ : बम्बई में जन्मी अन्य नाटक मंडलियों में प्रमुख हैं : पारसी रिपन नाटक मंडली, कारोनेशन नाटक मंडली, पारसी मिनर्वा नाटक मंडली, आदि ।

मेहरजी सर्वेयर द्वारा स्थापित पारसी रिपन नाटक मंडली ने 'खून का खून', 'कलियुग' आदि नाटक खेले । इसने भारत के विभिन्न नगरों के अतिरिक्त लंका, बर्मा और सिंगापुर की भी यात्राएँ की थीं । महबूब की कारोनेशन नाटक मंडली ने 'तालिब' का 'कनकतारा' मंचस्थ किया था । पारसी मिनर्वा नाटक मंडली ने मुं० 'दिल' का 'लैला-मजनूँ' (१९२६ ई०) खेला था ।

कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि सेठ पेस्टन जी फ्रामजी ने सन् १८७० के आस-पास 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' स्थापित की थी ।[१७६] यह मत भ्रामक है, क्योंकि ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी नाम की कोई मंडली न थी । मंडली का वास्तविक नाम था—ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मंडली, जिसके संस्थापक दादा भाई सोराबजी पटेल थे । पटेल ने इसकी स्थापना सन् १८७४-७५ के लगभग (सन् १८७० में नहीं) की थी और उनकी मृत्यु

(१८७६ ई०) के अनंतर ओरिजिनल विक्टोरिया के एक कलाकार पेस्टनजी फरामजी मादन उसके मालिक बने। हिन्दी नाटक खेलने वाली सर्वप्रथम नाटकमडली विक्टोरिया नाटक मडली थी, जिसकी स्थापना सन् १८६७ में हुई थी।

कलकत्ते का मादन थियेटर्स लि० एव अन्य : बवई का यह नाट्य-आन्दोलन, न्यू अल्फ्रेड को छोडकर, बीसवीं शती के तीसरे दशक मे शिथिल पडने लगा था, अत कलकत्ते के मादन थियेटर्स लि० ने (जमशेद जे० एफ० मादन जिसके स्वामी थे) बवई की पारसी अल्फ्रेड, एल्फिस्टन, पारसी इंपीरियल आदि कई नाटक मडलियो को खरीद कर कलकत्ते को नाट्य-आन्दोलन का केन्द्र बनाया। जमशेद जी ने ५, धर्मतल्ला (कलकत्ते) में कोरंथियन थियेटर की स्थापना की, जिसे आजकल 'आपेरा सिनेमा' कहते हैं। 'बेताब', [137] 'हश्र', तुलसीदत्त 'शैदा', हरिकृष्ण 'जौहर' आदि अनेक नाटककार कलकत्ते पहुँच गये और मादन थियेटर्स के लिए नाटक लिखने लगे। राधेश्याम कथावाचक भी सन् १९३१ मे मादन थियेटर्स मे आये और सिने लेखक नाटककार के रूप मे उससे संबद्ध हो गये।[138]

मादन थियेटर्स ने बाद मे देश भर मे अनेक सिनेमाघर खोले, जिनकी कुल संख्या १५० के लगभग थी। कुछ चलचित्र भी बनाये, जिनमे आग्रा 'हश्र' का 'शीरीं-फरहाद' (१९३१ ई०), [139] राधेश्याम कथावाचक का 'शकुन्तला' सगीतक (१९३१ ई०) [140] तथा 'लैला-मजनू' [141] सफल चित्र थे। इन चलचित्रो के प्रेमी-युगलो की भूमिकाएँ मुकुट मा० निसार तथा कोकिलकठी मिस जहाँआरा कज्जन ने की थी। अकेले 'शीरीं-फरहाद' में बयालीस गीत रखे गये थे। [142]

मादन थियेटर्स की नाटक मडलियो के अतिरिक्त कुछ अन्य मडलियो का भी पता चला है, जिनमें पजाब की एक नाटक मडली थी, जिसकी स्वामिनी थी-रहमूजान। रहमूजान की मडली का नाम था-'रायल थियेट्रिकल कम्पनी आफ वम्बई'। इस मडली के 'महाभारत' मे रहमूजान स्वय दुर्योधन की पुरुष-भूमिका किया करती थी। पारसी रगमच पर स्त्री द्वारा पुरुष-भूमिका का (छद्मवेश को छोडकर) यह अपने ढग का अकेला दृष्टांत है। [143]

बवई और कलकत्ते के पारसी-हिन्दी रगमच ने हिन्दी रगमच के विकास मे अभूत-पूर्व योगदान दिया। कलकत्ते मे हिन्दी रगमच 'मूनलाइट थियेटर' के रूप मे सन् (१९६९) के प्रारभ तक जीवित रहा। इस रगमंच ने हिन्दी नाटको को न केवल रगभूमि प्रदान की, वरन् यह भी सिद्ध कर दिया कि हिन्दी नाटको को व्यावसायिक आधार पर सफलता के साथ खेला जा सकता है।

हिन्दी रगमच का पुरस्करण करने मे देश की जिन अन्य नाटक मंडलियो ने योग दिया है, उनमे काठियावाड़ के सूर विजय नाटक समाज, मेरठ की व्याकुल भारत नाटक मडली लि०, कानपुर की रामहाल नाटक मंडली और नरसी थियेट्रिकल कम्पनी के नाम उल्लेखनीय है।

सूर विजय नाटक समाज : गुजराती रंगमच के प्रसिद्ध नट लवजी भाई मयाशंकर त्रिवेदी ने सूरत में दुर्लभराम जटाशंकर रावल के साथ मिलकर पन्द्रह हजार रुपये की पूँजी से 'सूर विजय नाटक समाज' की स्थापना सन् १९१४ ई० मे की। लवजी को वाँकानेर नृसिंह गौतम नाटक समाज द्वारा अभिनीत 'बिल्वमगल उर्फ सूरदास' मे सूरदास की भूमिका से काफी प्रसिद्धि प्राप्त हुई, अतः उन्होंने अपनी मडली का नाम 'सूर विजय नाटक समाज' रखा।

सूर विजय ने सर्वप्रथम गुजराती के दो नाटक खेले-चंदूलाल मेहता-कृत 'शुक्रजयंती उर्फ इद्रगर्वखंडन' और नथुराम सुदर जी शुक्ल-कृत 'बिल्वमगल उर्फ सूरदास'। इसके बाद नथुराम से ही उनके नाटक का हिन्दी अनुवाद करा कर इदौर होते हुए वह दिल्ली आ गया। [144] दिल्ली के बाद उसका दूसरा बडा मुकाम था-बरेली। हिन्दी-क्षेत्र मे, विशेषकर उत्तरप्रदेश, बिहार और पजाब मे आकर सूर विजय ने 'सूरदास' के अतिरिक्त प० राधेश्याम कथावाचक के 'श्रवणकुमार' और 'उषा-अनिरुद्ध', मुं० किशनचद 'ज़ेबा' के 'सीता-वनवास', 'गगावतरण' और

'महात्मा विदुर', [१७] हरिशंकर उपाध्याय के 'काशी-दर्शन' और 'काशी विश्वनाथ' [१८], 'संत कबीर', 'मीराबाई', 'सम्राट अशोक' आदि नाटक हिन्दी मे खेले ।

'गंगावतरण' मे भगीरथ के अभिनय से प्रभावित होकर जयपुर के महाराजा ने दो सौ रुपये मासिक [१९] आजीवन पेंशन बाँध दी । लोकमान्य तिलक ने 'सूरदास' को देखकर मंडली के आश्रयदाताओ मे अपना नाम लिखा लिया । लवजी के अभिनय पर प्रसन्न होकर पं० मदनमोहन मालवीय ने 'नाट्यकला-भूषण' की उपाधि प्रदान की । गया मे कांग्रेस के ३३वे *अधिवेशन के समय सूर विजय के नाटक देख कर दिल्ली के हकीम अजमलखां और पं०* मोतीलाल नेहरू ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । [१०] सूरविजय के 'गंगावतरण',' महात्मा विदुर', 'सम्राट अशोक' आदि नाटक राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित होने के कारण दिल्ली और पंजाब मे ब्रिटिश सरकार द्वारा बन्द कर दिये गये थे ।

सन् १९२८-२९ मे अस्वस्थ हो जाने के कारण लवजी भाई ने सूर विजय को अपने कलाकारो के हाथो मे सौप दिया और स्वयं निवृत्त जीवन बिताने लगे ।

व्याकुल भारत नाटक मंडली लि० मेरठ के देवनागरी हाईस्कूल के ड्राइंगमास्टर ला० विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल' ने कुछ रईसो के सहयोग से व्याकुल भारत नाटक मंडली की स्थापना सन् १९१६–१७ मे की । दिल्ली *के कृष्णा थियेटर (अब मोती टाकीज़) मे 'व्याकुल' के 'बुद्धदेव' नाटक का उद्घाटन हकीम अजमलखां ने किया ।* नाटक खूब चला, किन्तु शीघ्र ही कलाकारो की बेरुखी और अनुचित व्यवहारो तथा भागीदारो के आपसी झगड़े के कारण 'व्याकुल' जी मंडली से अलग होकर अस्वस्थ हो गये । बाद में मंडली ने मु० जनेश्वर प्रसाद 'मायल' के 'चन्द्रगुप्त' और 'तेगेसितम' (उर्दू) नाटक मंचस्थ किये ।

अन्त मे व्याकुल भारत नाटक मंडली 'लिक्विडेशन' मे चली गई ।

रामहालनाटक मंडली–कानपुर के प्रसिद्ध नाट्यानुरागी ईश्वरीनारायण वाजपेयी ने वर्तमान कस्तूरबा गाँधी रोड (पहले बिरहानारोड) पर रामहाल थियेटर की स्थापना २० वी शती के प्रथम दशक मे की थी । ऐसा अनुमान है कि इस थियेटर की स्थापना सन् १९०० के लगभग हुई थी । यह कानपुर की सर्वप्रथम हिन्दी रंगशाला थी । इसका रंगमंच ६०'×६०' के आकार का था, जिसके अग्रार्ध मे दोनो ओर पन्द्रह-पन्द्रह फुट के पार्श्वों (विंग्स) के मध्य ३० फुट चौडा और ३० फुट गहरा मुख्य रंग-पीठ था, जिसके पिछले भाग की चौडाई २४ फुट थी । 'ड्राप' २८ फुट चौडा और १८ फुट ऊंचा तथा सबमे पीछे का परदा (पृष्ठपट) २४ फुट चौडा और १८ फुट ऊँचा रहता था । रंगपीठ के पीछे के आधे भाग मे नेपथ्य था, जहाँ रूप-सज्जा कक्ष, सीन-सीनरी, अन्य रंगोपकरण आदि रखने की व्यवस्था रहती थी । रामहाल नाटक मंडली के निर्देशक थे–निजाम और मुहम्मदहुसेन रामपुरी । संगीत निर्देशक (हारमोनियम मास्टर) रामेश्वर प्रसाद शुक्ल और मंचशिल्पी (मिस्त्री या स्टेज मास्टर) कन्हैयालाल दुबे थे । कन्हैयालाल दादाभाई रतनजी ठूँठी की मुम्बई नाटक मंडली में मिस्त्री रह चुके थे ।[१९]

रामहाल नाटक मंडली ने तालिब का 'सत्य हरिश्चन्द्र' 'अहसन' की 'चन्द्रावली' 'बकावली' और 'मुब्वत का *फूल' बेताब के 'ज़हरी साँप' और 'महाभारत' 'हश्र' के* 'भक्त सूरदास', 'सैदे हवस' (शेक्सपियर-'किंग जान पर आधारित), 'असीरेहिर्स', 'सफेद खून' (शेक्सपियर-'किंगलियर' का अनुवाद), 'ख्वाबे हस्ती' तथा 'वनदेवी,' राधेश्याम कथावाचक का 'वीर अभिमन्यू', औलादअली का 'गुलब्ज़रीना' नैयर का वतन, मुंशी दिल का 'लैला-मजनूं' 'शीरी-फरहाद', 'इन्दर सभा' आदि नाटक खेले ।[११०]

मंडली कानपुर के बाहर दौरे पर भी जाती थी । सन् १९१५ के बाद सीतापुर, फर्रुखाबाद, कन्नौज, कासगंज, जौनपुर, जबलपुर आदि नगरो मे जाकर मंडली ने अपने नाटक प्रदर्शित किये ।[१११]

चलचित्रों के प्रसार के उपरान्त रामहाल थियेटर मेजेस्टिक टाकीज (अब नवरंग टाकीज) के रूप मे

परिणत हो गया और इस प्रकार कानपुर में भी अन्य नगरों की भाँति व्यावसायिक रंगमंच का कार्य कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गया।

नरसी थियेट्रिकल कम्पनी–कानपुर की नरसी थियेट्रिकल कम्पनी कानपुर मे व्यावसायिक रगमच की स्थापना की दिशा मे दूसरा गम्भीर प्रयास था, किन्तु तत्कालीन राजनैतिक अस्थिरता के कारण यह दूर तक न चल सकी। राधेश्याम कथावाचक के प्रिय शिष्य एव पारसी-हिन्दी रगमच पर स्त्री-भूमिकाओं के लिये प्रसिद्ध फिदाहुसेन (अब प्रेमशकर 'नरसी') ने सन् १९४२ के प्रारम्भ मे ही इस मडली की स्थापना की थी। इस मडली ने कन्हैयालाल 'कातिल-कृत' भक्त नरसी मेहता', मु० 'अर्श' का 'मुझे देखो' (२७ से २९ मार्च, १९४२), लैला-मजनूं', और प० वृद्धिचन्द्र अग्रवाल 'मधुर' का 'बहुत सोये' (१९४२ ई०) आदि नाटक खेले। ये नाटक माल रोड के मिनर्वा टाकीज (अब रक्सी टाकीज) मे रात को ९॥ बजे से हुआ करते थे।[११]

अगस्त १९४२ मे 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारम्भ हो जाने के कारण मडली लगभग आठ महीने चल कर बन्द हो गई।[१२] इस मडली मे मा० नैनूराम और मा० चम्पालाल सह-निर्देशक थे। नवाबुद्दीन 'ट्रान्सफर सीनों के मास्टर' थे।

इसके अतिरिक्त कुछ नाटक मडलियाँ देश के विभिन्न भागो मे अथवा देश के बाहर बनी थी, जो उत्तरी भारत का दौरा किया करती थीं। इन दौरों के मध्य वे कानपुर भी आती रही हैं। इन मडलियों मे उल्लेखनीय है–रामपुर नवाब की नाटक मडली, रामपुर, लायन थियेट्रिकल कम्पनी, ढाका और 'टाइगर आफ रगून' मामशाह की नाटक मडली, रगून। रामपुर के नवाब का नाट्यानुराग इस सीमा तक बढ़ा हुआ था कि उन्होंने अपना शीश-महल तुड़वा कर रगशाला बनवाई थी। लायन क० हिन्दी-उर्दू के नाटको के साथ बँगला के नाटक भी खेलती थी। मामशाह की मडली ने 'शीरी-फरहाद' आदि नाटक खेले थे।[१३]

ये सभी मडलियाँ देश भर मे प्राय: घूम-फिर कर अपने नाटक प्रदर्शित किया करती थीं, किन्तु किसी एक स्थान मे दो माह से अधिक नहीं ठहरती थी। इसके बाद वे दूसरे नगर चली जाया करती थी। ये प्राय: वर्ष में आठ-दस माह पर्यटन करने अपने मुख्यालय लौट जाया करती थी। इन मडलियों ने न केवल हिन्दी-रंगमच आन्दोलन की नींव डाली, उसे सशक्त भी बनाया, परन्तु आय-व्यय के लेखा-जोखा की विषमता एव व्यय की अधिकता दुष्प्रबन्ध, मुख्य भूमिकाओं की दोहरी तैयारी के कारण कलाकारो के बाहुल्य, वेतन–वितरण की अनियमितता, चलचित्रों और विशेषकर सवाक् चित्रों की प्रतियोगिता, रेडियो और टेलीविजन के आविर्भाव से नये प्रकार के श्रोता–दर्शकों के घर बैठे मनोरजन, अव्यावसायिक मच के अभ्युदय और व्यावसायिक मच की उपेक्षा के कारण वे बीसवीं शती के चौथे दशक मे समाप्तप्राय हो चलीं।

(दो) अव्यावसायिक रंगमंच:–बम्बई और कलकत्ते के पारसी-हिन्दी रगमच ने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दी नाटको को भी सफलता के साथ व्यावसायिक आधार पर खेला जा सकता है। इस सत्य की उपलब्धि इसके पहले भी मराठी नाटक मडलियो द्वारा अभिनीत हिन्दी नाटको की सफलता और लोकप्रियता से हो चुकी है। इसी लोकप्रियता और युगधर्म को पहिचान कर गुजराती नाटक मडलियाँ भी यदा-कदा हिन्दी-नाटक खेला करती थी। इस प्रकार हिन्दी समस्त उत्तरी और दक्षिणी भारत मे रगमच की भाषा के रूप मे स्वीकृत हो चुकी थी, किन्तु दुर्भाग्यवश उसके इस महत्त्व को, व्यावसायिक सफलता की पृष्ठभूमि मे, स्वय शुद्ध हिन्दी-क्षेत्रो मे नहीं पहिचाना जा सका। इसके दो कारण हो सकते हैं–सम्भवत: हिन्दी-क्षेत्रों मे ऐसे नाट्यप्रेमी व्यवसायियों का अभाव था, जो नाटक और रगशाला को आजीविका के रूप मे ग्रहण करते और दूसरे, स्वयं अधिकांश हिन्दी नाटककार रगमच की सम्पूर्ण विद्या तथा शिल्प और उसकी आवश्यकताओ के प्रति, पूर्णत: जागरूक न थे, यद्यपि भारतेन्दु-युग के अधिकांश नाटककारो ने नाटक लिख कर उन्हें आकस्मिक रूप से मंचस्थ किया। वे स्वयं उन नाटकों को व्यावसायिक

आधार पर खेलने की क्षमता नहीं रखते थे। हिन्दी-क्षेत्रों में ऐसे सामाजिकों की कमी न थी, जो पैसा खर्च करके नाटक देखने को सदैव उत्सुक रहते थे, किन्तु स्थायी रंगशालाओं, कुशल अभिनेताओं, उपयुक्त रंग-नाटकों (मंडलियों द्वारा उनके तात्कालिक प्रकाशन की व्यवस्था न होने से) आदि के अभाव के कारण नाट्य-प्रवृत्ति को अधिक प्रोत्साहन न मिल सका। यही कारण है कि हिन्दी-क्षेत्र के कुछ नाटककारों ने स्वतः अथवा अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाएँ बना कर हिन्दी के नाटक समय-समय पर खेले। उत्तरी भारत में जिन केन्द्रों में इस प्रकार की नाट्य-संस्थायें बनीं, उनमें प्रमुख हैं—बनारस,कानपुर, प्रयाग, झाँसी, पटना, छपरा, मुजफ्फरपुर, कलकत्ता, बम्बई और झालावाड़।

इन संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य था—शुद्ध हिन्दी के नाटकों को खेल कर रंगमंच का उन्नयन एवं सामाजिकों की रुचि परिमार्जित करना, उनमें नवीन सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना भरना, नागरी का प्रचार तथा यदा-कदा परोपकारी संस्थाओं के सहायतार्थ अभिनय करना। इसके अतिरिक्त स्कूल-कालेजों के छात्र भी अपने यहाँ के वार्षिकोत्सवों के अवसर पर शौकिया नाटक खेला करते थे।

बनारस—हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना और विकास में बनारस का स्थान उस केन्द्र-बिन्दु के समान है, जिसके चारों ओर सारा वृत्त घूमता है। यहीं खड़ी बोली हिन्दी के सर्वप्रथम अव्यावसायिक रंगमंच का उद्घाटन शीतला प्रसाद-कृत 'जानकीमंगल' से हुआ, जो इसके द्वारा सन् १८६८ में खेला गया था। भारतेन्दु ने स्वयं नाटक लिखे और नाट्य-क्षेत्र में अनेक नये प्रयोग कर उन्हें खेलने की प्रेरणा प्रदान की और इस प्रकार उन्होंने अपने चारों ओर एक ऐसी मित्र-मंडली जमा कर ली, जो हिन्दी रंगमंच और नाटक के उन्नयन के लिये उत्सुक और कटिबद्ध थी। भारतेन्दु के जीवन-काल में ही उनके नाटक बनारस, कानपुर, लखनऊ, प्रयाग, बलिया, आगरा, डुमराँव आदि स्थानों में तथा उनके मित्रों के नाटक बनारस, कानपुर, प्रयाग आदि नगरों में खेले गये।

भारतेन्दु की मृत्यु के कुछ पूर्व सन् १८८४ में दशाश्वमेध घाट पर एक नाट्य-संस्था-नेशनल थियेटर की स्थापना हुई, जिसने भारतेन्दु-कृत 'अंधेरनगरी' का सर्वप्रथम अभिनय किया।[१५]

सन् १९०३ में कुछ रंगप्रेमी युवकों के प्रयास से जैन नाटक मंडली ने जन्म लिया, जिसने पारसी शैली पर सोमा सती, 'हरिश्चन्द्र, 'जहरी साँप (बेताब), 'नूरजहाँ, 'खूबसूरत बला (हश्र), 'चन्द्रगुप्त' 'भक्त विदुर' 'खूने नाहक (अहसन), 'धर्म–विजय, 'दुर्गादास (द्विजेन्द्रलाल राय) आदि नाटक खेले। 'धर्म–विजय' नाटक बहुत सफल रहा, जिसमें हास्य–अभिनेता कुंजीलाल जैन की पुराणिक जी की भूमिका अविस्मरणीय थी।[१६] यह संस्था अब ललित संगीत-नाट्य संस्थान के नाम से पुनर्गठित होकर सक्रिय है।

कुछ अग्रवाल युवकों ने मिल कर सन् १९०४ में अग्रवाल ब्वायज ड्रामेटिक क्लब की स्थापना की, जो भारतेन्दु-कृत अँधेरनगरी' तथा 'नीलदेवी' के प्रयोग कर निर्जीव हो गया।[१७]

भारतेन्दु के निधन के पश्चात् उनके भतीजों और मित्रों ने, जिनमें चौधरी ब्रजचन्द्र, कृष्णदास साह और कलाकार एवं नाटककार हरिदास माणिक प्रमुख थे, सन् १९०९ ई० में बनारस में नागरी नाट्य-कला-प्रवर्तक मंडली की स्थापना की।

धीरेन्द्र नाथ सिंह ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' में धर्म की भूमिका करने वाले बा० बालकृष्णदास (बल्ली बाबू) के कथन के आधार पर यह स्थापना की है कि इस मंडली का वास्तविक नाम 'श्री नागरी-नाट्यकला-संगीत-प्रवर्तक मंडली' था, जिसकी स्थापना सन् १९०९ में न होकर सन् १९०६ में हुई थी।[१८] उनके अनुसार इसी मंडली का नाम भारतेन्दु नाटक मंडली रख कर भारतेन्दु-सत्य हरिश्चन्द्र नाटक खेला गया किन्तु नाटक के उपरान्त इस नाम पर मतभेद हो जाने से भारतेन्दु नाटक मंडली के समर्थक अलग हो गये और शेष सदस्यों ने 'नागरी नाटक मंडली' (१९०८ ई०) नामक एक नई संस्था बना ली।[१९] जहाँ तक मंडली के मूल नामकरण और उसके विघटन के

कारणों का प्रश्न है, उन्हें स्वीकार कर लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। जब तक उनके स्थापना-वर्षों के सम्बन्ध मे अन्य प्रमाण उपलब्ध न हों, उन्हें ठीक ही मानना चाहिए। नागरी नाटक मडली ने अपनी स्वर्ण जयंती सन् १९५९ मे न मना कर सन् १९५८ मे ही मनाई थी, जो उसकी स्थापना के वर्ष (सन् १९०८ ई०) की स्वीकृति का द्योतक है।

भारतेन्दु नाटक मडली को बाबू ब्रजचन्द्र का सन् १९१३-१४ के लगभग निधन हो जाने के कारण आगे बढने का अवसर नही मिला और उसका कार्य-क्षेत्र 'सत्य हरिश्चन्द्र' 'महाराणा प्रताप' गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर के 'सुभद्रा-हरण' तथा 'हर हर महादेव,' ज्वाला राम नागर 'विलक्षण' के 'गुरु द्रोण' और 'दस्यु-दमन,' राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु,' 'प्रह्लाद' और 'परिवर्तन,' 'कौशिक' के 'भीष्म' आदि के अभिनय तक ही सीमित हो कर रह गया। तत्कालीन वाइस राय चेम्स फोर्ड तथा भारत सचिव माटेग्यू ने 'सुभद्रा हरण' देख कर उसकी बड़ी प्रशसा की थी। सन् १९१८ मे कृष्णदास साह की मृत्यु हो जाने पर इस मडली का कार्य कुछ शिथिल हो गया।

नागरी नाटक मडली के प्रथम सभापति थे,—गोस्वामी रामचरण पुरी। मडली का उद्देश्य था—नागरी का प्रसार और नाटको का उपस्थापन। 'नाट्य बोधकर न्याय' उसका उद्देश्य-वाक्य था। तदनुसार सर्वप्रथम भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र २७ जुलाई, १९०९ को और तदनन्तर राधाकृष्ण दास का 'महाराणा प्रताप' २७ नवम्बर, १९०९ को मचस्थ किये गये। 'महाराणा प्रताप' को देखने के लिये गिद्धौर, मझौली, बस्ती और काशी के राजाओं के अतिरिक्त बनारस के प्रसिद्ध नागरिक एव रईस राजा मोतीचन्द भी आये थे। सन् १९११ में काशी—नरेश को *स्वाधीनता का अधिकार प्राप्त होने पर 'सम्राट् युधिष्ठिर' नाटक खेला गया।*

हिन्दी-रगमच और नाट्यकला के माध्यम से समाज-सेवा और राष्ट्रीय जागरण के लक्ष्य को सामने रख कर मडली ने शिक्षा-सस्थाओं तथा विविध सहायता कोषो के लिये भी अनेक नाटक अभिनीत किये। सन् १९१२ मे हिन्दू विश्वविद्यालय के सस्थापन के अवसर पर धन-सग्रह के लिये 'महाराणा प्रताप' और बाद मे सन् १९१६ मे उसके शिलान्यास के अवसर पर नारायण प्रसाद 'बेताब' के 'महाभारत' के प्रयोग किये गये। प्रथम नाटक से होने वाली आय २५४-७५ रु० विश्वविद्यालय को दी गई और दूसरे नाटक के अवसर पर धर्मदत्त शास्त्री द्वारा राष्ट्रीय हिन्दी रगमच की स्थापना की अपील पर आगत राजा—महाराजाओ ने रगमच के निर्माणार्थ ४८,६००रु० दान की घोषणा की जिसमे से २२,८०० रु० मडली के कोष मे शीघ्र ही जमा हो गये। गैस और कारबाइड के द्वारा नाटक मे आलोक की व्यवस्था की गई थी। इसके अनन्तरकोढ, दगा, भूकम्प, बाढ आदि से पीड़ितों के *सहायतार्थ कई बार नाट्याभिनय किये गये। नागरी नाटक मंडली ही नागरी-नाट्यकला-प्रवर्तक मंडली अथवा* नागरी नाट्यकला-सगीत प्रवर्तक मडली की उत्तराधिकारिणी बन कर कार्य करती रही और आज भी रगमंच की सेवा मे उसी प्रकार रत है।

नागरी नाटक मडली का रजिस्ट्रेशन सन् १९१६ मे हुआ। मंडली ने रगमंच के निर्माणार्थ प्राप्त धन से भूमि खरीद ली और रगमंच का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। यह रगमच सन् १९३९ तक बन चुका था और अब उसका प्रेक्षागृह भी बन चुका है।

बनारस के रत्नाकर रसिक मंडल (१९३३ ई०) ने नगर की अन्य मंडलियो के सहयोग से जय शंकर 'प्रसाद' का 'चन्द्रगुप्त' सन् १९३३ में मचस्थ किया।"

सन् १९३८ में पं० मदनमोहन मालवीय की प्रेरणा से सीताराम चतुर्वेदी (अभिनय भरत) ने विक्रम परिषद की स्थापना की, जिसके द्वारा सीताराम चतुर्वेदी के नाटक खेले गये।" नाटकाभिनय के लिये काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय मे संदूकिया रंगमंच (बाक्स स्टेज) की स्थापना की गई थी।

उपर्युक्त दोनो संस्थाएँ प्रायः अब निष्क्रिय—सी हो चली हैं।

नागरी नाटक मंडली के अतिरिक्त अभिनय कला मन्दिर, नटराज, श्री नाट्यम् आदि अन्य कई नवीन सस्थाएँ इस समय कार्यरत हैं।

इन सभी मडलियो का विस्तृत विवरण आगे के अध्यायो मे यथास्थान दिया, गया है। हिन्दी-रगमच का केन्द्र बन जाने के कारण बनारस (अब वाराणसी) ने पुन. उत्तरी भारत की सास्कृतिक राजधानी होने का गौरव प्राप्त कर लिया है।

कानपुर—कानपुर अव्यावसायिक नाट्य-सस्थाओ और व्यावसायिक मडलियो का गढ एवं स्टेशन रहा है। हिन्दी की व्यावसायिक मडलियो के प्रारम्भ होने के समय तक कानपुर के अव्यावसायिक रंगमच पर भी नाटक प्रारम्भ हो गये थे। सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति के पूर्व यहाँ की ठडी सडक (पुराना नाम माल रोड है) पर वर्तमान स्टेट बैंक आफ इडिया के सामने तारघर वाले स्थान मे अंग्रेजो ने अपनी नाट्यशाला का निर्माण किया था।[२०२], जहाँ अंग्रेज अपने मनोरंजनार्थ अंग्रेजी के नाटक खेला करते थे। यह नाट्यशाला हिन्दी के नाटको के अभिनयार्थ मिल जाया करती थी।[२०३] बहुत सम्भव है कि इसी नाट्यशाला मे कानपुर के कुछ उत्साही नाट्यानुरागियो ने नाटक खेले। सर्वप्रथम कानपुर मे 'नाटकाभिनय के मूलारोपक' पटकापुर-निवासी पं० रामनारायण त्रिपाठी, 'प्रभाकर' ने अपने मित्र हटिया-निवासी बिहारीलाल (बल्लू बाबू जो कानपुर नगरपालिका के तत्कालीन अध्यक्ष थे) के सहयोग से भारतेन्दु के दो नाटक—'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सन् १८७६ मे खेले थे। 'रामाभिषेक' आदि कुछ अन्य नाटक भी मचस्थ हुए, किन्तु 'प्रभाकर' के गोरखपुर चले जाने के उपरात यह कार्य जहाँ का तहाँ रुक गया। सन् १८८२ मे कानपुर के कवि, नाटककार एव पत्रकार प० प्रतापनारायण मिश्र के प्रयास से भारतेन्दु के 'नीलदेवी' और 'अंधेरनगरी' अभिनीत हुए।[२०४] मिश्र जी स्वयं एक कुशल अभिनेता भी थे।

१५ अक्टूबर, १८८५ को त्रिलोकीनाथ बनर्जी, हरिश्चन्द्र मुखर्जी आदि कुछ बंगाली सज्जनो ने रोटी गुदाम की दुर्गा-पूजा पर सर्वप्रथम भारतेन्दु—'भारत दुर्दशा' नाटक मचस्थ किया। अभिनय उत्तम न होने के कारण प्रताप नारायण मिश्र ने उसकी कडी टीका की थी।[२०५] इसी वर्ष 'भारत इन्टरटेनमेट क्लब' की स्थापना हुई, जिसने पारसी ढंग का 'अंजामे बदी' नाटक दो बार खेला, किन्तु क्लब मे फूट पड गई। फलतः इससे पृथक् हुए सदस्यो ने 'एम० ए० क्लब' को जन्म दिया और मूल संस्था का नाम बदल कर 'भारत रंजनी सभा' रख दिया गया। 'भारत रंजनी सभा' का लक्ष्य प्रधान रूप से हिन्दी के नाटक ही खेलना था।[२०६] प्रतापनारायण मिश्र इस सभा के सस्थापको मे से थे। इस सभा ने चार नाटक खेले—मिश्र जी के 'हठी हमीर नाटक' और 'कलि प्रवेश नीति रूपक', 'प्रयाग समाचार' के सम्पादक द्वारा लिखित 'जय नारसिंह' और 'पीयूष-प्रवाह' के सम्पादक द्वारा लिखित' गोसंकट'।[२०७]

उपर्युक्त दोनो सस्थाओ की देखा-देखी अनेक नाट्य-सस्थाएँ बनीं, जिनमे 'ए० बी० क्लब' उल्लेखनीय है। इस क्लब ने ९ अगस्त, १८८८ को 'सदम-ए-इश्क' और 'गोरक्षा' नाटक खेले।[२०८] प्रताप नारायण मिश्र के प्रयास से रामगंज मोहल्ले मे 'प्रताप नाटक समाज' की स्थापना हुई थी, जो 'धनुषयज्ञ' तथा अन्य नाटक खेला करता था।[२०९]

मिश्र जी के बाद कानपुर के दूसरे सशक्त नाटककार थे—राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', जिन्होने सन् १८८९ मे अपना 'चन्द्रकला-भानुकुमार' नाटक लिखा। नाटक अलकृत संवादो, पद्य-बहुलता और दीर्घता के कारण अभिनेय न होते हुए भी उस समय साहित्यरत्न के पाठ्यक्रम मे रहा है। 'पूर्ण' जी ने भी कुछ नाटको के अभिनय किये-कराये। वे अपने ग्राम 'भदरस' (भद्रपुर, जिला कानपुर) मे प्रति वर्ष होने वाले 'धनुषयज्ञ' मे केवट का अभिनय किया करते थे। उनका केवट का अभिनय बडा स्वाभाविक हुआ करता था।[२१०]

प्रसाद-युग मे विजय नाट्य-समिति (१९१५ ई०), विक्रम नाट्यसमिति (१९१६ ई०) और फिर उन दोनो की संयुक्त सस्था-विक्रम-विजय नाट्य समिति, कैलाश क्लब (१९१८ ई०), कानपुर दयानन्द नाट्य परिषद्

(१९२७ ई०) तथा छात्रों एवं बंगालियों द्वारा किये गये नाट्याभिनयो ने अव्यावसायिक रंगमंच को जगाये रखा। इन संस्थाओ आदि के कार्य-कलापों का विवरण चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ मे दिया गया है, अत. यहाँ इस युग के व्यावसायिक रंगमंच की गतिविधियों पर प्रकाश डालना अलम् होगा।

इस व्यावसायिक रगमंच के दो रूप थे—बम्बई, कलकत्ते आदि की नाटक मडलियों के नाट्य-प्रदर्शन तथा कानपुर की रामहाल नाटक मंडली के नाटकाभिनय। रामहाल नाटक मडली का विवरण इसी अध्याय में पहले दिया जा चुका है।

इसी काल मे बम्बई, कलकत्ते तथा अन्य स्थानो की पारसी-हिन्दी नाटक मंडलियो के दौरे प्रारम्भ हुए। न्यू अल्फ्रेड, पारसी नाटक मडली, पारसी मिनर्वा नाटक मडली, अलेक्जेण्ड्रा, सूर विजय, व्याकुल भारत, किर्लोस्कर सगीत नाटक मडली, कौरन्थियन नाटक मडली, शाहजहाँ नाटक मडली आदि कई पारसी, मराठी और हिन्दी नाटक मडलियाँ प्राय कानपुर को अपना एक 'मुकाम' ('स्टेशन') बना कर ठहरा करती थी और अपने नाटक भी दिखलाया करती थी। न्यू अल्फ्रेड १९१५ ई० मे कानपुर आई थी। ऐसे ही किसी दौरे के समय यह मडली कानपुर के प्रसिद्ध नाट्यानुरागी, नाटककार एव कॉग्रेसी राम प्रसाद मिश्र के आतिथ्य मे रही, जिस पर उनके डेढ़ लाख रुपये बरबाद हो गये। कहते हैं कि उनका बगाली मुहाल का एक मकान इसी शौक के पीछे बिक गया था।[१११] मिश्र जी ने दो नाटक लिखे थे—'राजसिंह' और 'रूस का राहु-रासपुटिन'। 'राजसिंह' को उन्होंने स्वय खेला भी था।[११२] इस नाटक के प्रकाशन के पूर्व उसके आठ प्रयोग हो चुके थे।

इन मडलियो के नाटक प्राय लाटूश रोड के चारयारी बाग (वर्तमान मालिक श्री मगली प्रसाद खत्री वकील), मोतीमहल थियेटर, रामहाल थियेटर, प्लाजा टाकीज, मिनर्वा टाकीज आदि मे हुआ करते थे। बम्बई की मराठी की किर्लोस्कर मडली ने आकर हिन्दी मे 'महात्मा तिलक' नाटक खेला था।[११३]

लाटूशरोड-स्थित हिन्दू अनाथालय के सामने बने मैंकरावर्ट थियेटर हाल में भी नाटक मडलियो तथा छात्रों द्वारा नाटक खेले जाया करते थे। इस थियेटर के स्वामी थे—कवि एवं नाटककार राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के भतीजे राय पुरुषोत्तम चन्द्र। इसमें क्राइस्ट चर्च कालेज तथा गवर्नमेण्ट हाई स्कूल के छात्रों द्वारा कई बार नाटक मचस्थ किये गये। छात्रों की सस्था—हिन्दू विद्यार्थी धार्मिक सभा ने 'वीर अभिमन्यु' (राधेश्याम कथावाचक) नाटक खेला था। इसमें स्व० डॉ० बेनी प्रसाद, स्व० कर्नल गोविन्द तिवारी, विश्वम्भर मोहले आदि ने अभिनय किया था। यह सस्था अपना स्वतन्त्र मच बना कर भी नाटक खेलती थी। कालान्तर मे मैंकरावर्ट थियेटर बेच दिया गया।[११४]

सन् १९४३ मे विक्रम द्विसहस्राब्दी के अवसर पर कानपुर की सस्कृतज्ञ छात्र-छात्राओं ने कालिदास-कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का जी० एन० के० कालेज हाल मे सफल मचन किया, जिसकी प्रशसा विक्रम द्विसहस्राब्द समारोह के अध्यक्ष (अब स्व०) कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने मुक्तकठ से की थी। नाटक का निर्देशन भूदेव शर्मा विद्यालकार ने किया था।[११५]

इसके अतिरिक्त इस काल मे कानपुर के लोकमच-साँगीत या नौटकी की खूब धूम रही। कानपुर हाथरस की भाँति ही इन नौटकियो का केन्द्र बन गया था। कानपुर-शैली की नौटकी के प्रवर्तक थे—श्रीकृष्ण मेहरोत्रा, जिन्होंने अपने नाम से 'श्रीकृष्ण सगीत कम्पनी' की स्थापना की थी। पहलवानी के बेहद शौक के कारण वे 'श्री कृष्ण पहलवान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मेहरोत्रा जी ने लगभग तीन सौ साँगीत-नाटको की रचना की है।[११६] 'हकीकतराय' उनकी प्रथम कृति है, जो टिकट से भी पहले खेली गई। दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है—'खूने नाहक' जो १३ अप्रैल, १९१९ को बैशाखी के मेले पर घटित जलियाँवाले बाग के रक्त-स्नान की कथा से सम्बन्धित है। बैकुंठ टाकीज (अब कैपिटल टाकीज) मे इसके प्रथम प्रदर्शन के दूसरे दिन ही प्रदर्शन पर रोक लगा दी गई। मेहरोत्रा जी के अन्य प्रमुख सागीत हैं 'आँख का जादू', 'झाँसी की रानी', 'वीरमती', 'दुर्गावती', 'ऊदल का ब्याह', 'अमर भगतसिंह'

राठौर,' 'दुर्गादास राठौर,' 'बिल्वमंगल,' 'श्रीमती मंजरी,' 'हीर-रांझा,' 'सरदार भगतसिंह, 'सुभाषचन्द्र बोस' आदि। सांगीतकार श्रीकृष्ण पहलवान को संगीत नाटक अकादमी ने नौटंकी–लेखन और लोकमन्च की दीर्घकालीन सेवा के लिये सन् १९६७-६८ में पुरस्कृत भी किया है। हिन्दीनाट्य-क्षेत्र में किसी भी नाटककार, विशेषकर लोकनाट्यकार को प्राप्त यह प्रथम पुरस्कार है।[२१]

श्रीकृष्ण संगीत कम्पनी पहली सांगीत मंडली थी, जिसका संगठन सन् १९२७-२८ में व्यावसायिक आधार पर किया गया था और दो आने से लेकर चार आने तक टिकट रखी गई।[१८] कलाकारों को मासिक वेतन दिया जाता था। इसमें स्त्रियाँ भी काम करती थीं।

यह मंडली कानपुर के बाहर नजीबाबाद (बिजनौर), इटावा, बरेली आदि कई नगरों में अपनी नौटंकी दिखलाने जाया करती थी। यह मंडली आज भी जीवित है।

प्रसाद युग का अन्त होने तक कानपुर के व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक, दोनों ही रंगमंच शिथिलप्राय हो गये। सन् १९४१ तक कोई उल्लेखनीय गतिविधि इस क्षेत्र में नहीं दिखलाई पड़ी। सन् १९४१ के अन्त में माणिकलाल मारवाड़ी की शाहजहाँ थियेट्रिकल कम्पनी प० 'मधुर' का 'अमर बलिदान' लेकर कानपुर आई और उसने प्लाजा थियेटर (अब सुन्दर टाकीज) में दो दिन (२८-२९ दिसम्बर) तक नाटक दिखलाया। यहीं रंग-एवं-फिल्म अभिनेता फिदाहुसैन ने मा० नैनूराम के साथ अलग होकर अपनी नरसी थियेट्रिकल कम्पनी की स्थापना जनवरी, १९४२ में की। इस मंडली के कार्यों का उल्लेख इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है। अगस्त, १९४२ में इसके बन्द होने के बाद कानपुर में व्यावसायिक आधार पर किसी अन्य संस्था का आविर्भाव न हो सका।

इसी वर्ष कानपुर के नाटककार विश्वनाथ त्रिपाठी 'विश्व' तथा अमरनाथ भट्टाचार्य आदि के प्रयास से जनरलगंज, कानपुर में रवीन्द्र परिषद् की स्थापना हुई, जिसने 'विश्व'–कृत 'स्वतन्त्रता या बलिवेदी,' 'हमारा समाज' 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान,' 'पहला कदम' आदि तथा कुछ अन्य नाटक खेल कर नगर की राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना को जगाया। सन् १९४४ में 'स्वतन्त्रता या बलिवेदी' के प्रदर्शन को रोक दिया गया था और पुलिस पुस्तक छीन ले गई थी। नाटकों का निर्देशन स्वयं 'विश्व' जी ही करते रहे हैं। यह संस्था सन् १९४६ तक सक्रिय रह कर बन्द हो गई।

सन् १९४७ में 'विश्व' जी, कानपुर के नाटककार 'अज्ञात,' एम० ए० और कथाकार बालकृष्ण बलदुवा ने मिल कर भारतीय कला निकेतन की स्थापना की, जिससे नगर की दस-ग्यारह नाट्य-संस्थाएँ सम्बद्ध हो गयीं। इसकी सीसामऊ शाखा ने 'विश्व' जी का 'सीधा रास्ता' और रेल बाजार की शाखा ने रामकुमार वर्मा का 'कौमुदी महोत्सव' अभिनीत किया। लगभग साल-डेढ़ साल तक चल कर यह संस्था विश्रृंखलित हो कर टूट गई। इसी वर्ष स्थापित 'अभिनय कला परिषद्' ने डा०सुरेश अवस्थी के नाटक 'आजादी का कारवाँ' प्रस्तुत किया था, जिसमें सन् १८५७ की राष्ट्रीय क्रान्ति से लेकर सन् १९४७ तक के मुक्ति-आन्दोलन का चित्रण किया गया था। इसी के बाद यह संस्था भी विघटित हो गई।

सन् १९४३ में भारतीय जन-नाट्य संघ की कानपुर शाखा की स्थापना वेद प्रकाश कपूर, विमल कुन्डू, एस० पी० चक्रवर्ती आदि प्रगतिशील कार्यकर्ताओं के प्रयास से हुई और चक्रवर्ती उसके वर्षों तक प्रथम प्रधान सचिव रहे। शाखा ने बिजन भट्टाचार्य के बँगला नाटक के 'नवान्न' के वेद प्रकाश कपूर-कृत हिन्दी रूपान्तर 'भूखा बंगाल' (या 'आज का बंगाल') के बंगाल के अकाल-पीड़ितों के सहायतार्थ तीन प्रदर्शन किये।[११] अगले लगभग छः वर्षों में कानपुर के जन-नाट्य संघ ने लगभग एक दर्जन नाटक नगर के विभिन्न अँचलों, विशेषकर श्रमिक बस्तियों में प्रदर्शित किये। प्रमुख नाटक थे–'बेकारी' 'संघर्ष,' 'बदला,' 'मशाल' (१९४६ ई०), 'गुनहगार कौन' (१९४७ ई०), 'पानी बाँके' (१९४८ ई०), 'घर' (१९४८ ई०), 'जादू की कुर्सी' (१९४९ ई०), 'तूफान से पहले'

'मैं कौन हूँ ?' आदि । 'धानी बाँके' की लेखक थी इस्मत चुगताई और 'मैं कौन हूँ' के ख्वाजा अहमद अब्बास। 'जादू की कुर्सी' भारतीय जन नाट्य संघ के केन्द्रीय दल की अलिखित देन थी। शेष नाटकों में से अधिकांश के लेखक थे—वेदप्रकाश कपूर। शोषित मिल मजदूर के जीवन पर आधारित 'बेकारी' के लगभग बीस प्रदर्शन हुए।[५०] इन प्रदर्शनों में स्त्रियों ने ही स्त्रियों की भूमिकाएँ की तथा छाया, प्रकाश और ध्वनि-संकेतों के उपयोग के साथ पृष्ठ-पट के रूप में काले या नीले परदे और प्रतीक दृश्यों का उपयोग किया जाता था। अधिकांश रूप-सज्जा और परिधान में भी सादगी और स्वाभाविकता का ध्यान रखा जाता था। नाटकों का निर्देशन प्रायः मुकुन्दलाल बनर्जी, रूप-सज्जा वेद प्रकाश कपूर तथा रंग-सज्जा, दृश्यबंध और छाया-दृश्यों का प्रदर्शन सिद्धेश्वर अवस्थी किया करते थे।

कानपुर में जन-नाट्य संघ के दो प्रान्तीय सम्मेलन हुए—एक १९४६ में और दूसरा १९५८ में। प्रथम सम्मेलन में ही प्रान्तीय संगठन—उत्तर प्रदेश जन-नाट्य संघ के निर्माण का निश्चय किया गया और दूसरे में नाट्य-आन्दोलन के मार्ग की बाधाओं को दूर करने आदि के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। इनका उल्लेख पंचम अध्याय में यथास्थान किया गया है। नगर के वयोवृद्ध साहित्यकार एवं कांग्रेस-कर्मी (अब स्व०) नारायण प्रसाद अरोड़ा, नाटककार मन्नूलाल 'शील', प्रो० ललितमोहन अवस्थी, कैमरामैन (अब स्व०) राजेन्द्र सिंह सिरोहिया, फिल्म सह-निर्देशक गोविन्द मुनिम आदि कानपुर शाखा से सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहे हैं। अरोड़ा जी कुछ काल तक कानपुर शाखा के अध्यक्ष भी रहे हैं।[५१]

कानपुर के प्रसिद्ध नाटककार परिपूर्णानन्द वर्मा ने कई ऐतिहासिक नाटक लिखे और प्रस्तुत किये। इनमें प्रमुख हैं—'नाना फड़नवीस' (१९४६ ई०), 'सन् सत्तावन की क्रान्ति' (१९४९ ई०) और 'वाजिदअलीशाह'। इनमें 'वाजिदअलीशाह' रेलवे इंस्टीट्यूट में हिन्दुस्तानी बिरादरी के तत्त्वावधान में हुआ था, जो बहुत सफल रहा। इन नाटकों में नायक की भूमिकाएँ प्रायः वर्मा जी ने स्वयं कीं। इसका उद्घाटन उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री (अब स्व०) डॉ० सम्पूर्णानन्द ने किया था। कानपुर के एक अन्य बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार सिद्धेश्वर अवस्थी भी छाया-नाटकों, नृत्य-नाटकों आदि का प्रदर्शन करते रहते हैं। ४ जनवरी, १९५९ को उनके स्वलिखित 'शान्ति-दीप' का अभिनय श्री जुहारी देवी मारवाड़ी बालिका विद्यापीठ इण्टर कालेज की छात्राओं द्वारा प्रस्तुत किया गया था। सिद्धेश्वर-कृत 'बुद्ध का गृह-त्याग' (गीति-नाट्य, १९४८-४९ ई०), 'जागो मंगल प्रभात' (नृत्य-नाटक), 'कार्तिकेय-दिग्विजय' (नृत्य-नाटक), 'झाँसी की रानी से इन्दिरा गाँधी तक' (छाया नाटक, २१-२२ सितम्बर, १९७४) आदि स्वयं उनके निर्देशन में मंचस्थ हो चुके हैं।

सन् १९५३-५४ के वर्ष में प्रो० यशपाल और लालसिंह मियला ने 'लिटिल थियेटर' नामक संस्था की स्थापना की, जिसने क्राइस्ट चर्च कालेज हाल में 'बनमिया' और उपेन्द्रनाथ 'अश्क'-कृत 'अंजो दीदी' प्रस्तुत किया।[५२] इनमें ज्ञानप्रकाश अहलूवालिया, मदन चोपड़ा, गोपी कक्कड़, कु० हर्षलता तलवार, प्रमन्नलता मेहरोत्रा, शीला रमानी, शारदा शर्मा, उषा सक्सेना, अनवरी आदि ने भाग लिया था। सन् १९५४ में नगर की एक अन्य सांस्कृतिक संस्था 'चेतना' ने 'अश्क' का 'अलग-अलग रास्ते' दो बार कानपुर में और एक बार औरैया (जिला इटावा) में प्रस्तुत किया। इसमें कृष्णकुमार त्रिवेदी, कृष्णगोपाल सेठ, कु० अमिता कर, कु० सुभाषिणी शर्मा आदि ने भाग लिया था। ये सभी प्रदर्शन अभिनय, उपस्थापन आदि की दृष्टि से सफल रहे।[५३]

सन् १९५७ से १९६० तक कानपुर के रंगमंच पर अनेक नई संस्थाओं ने जन्म लिया, जिन्होंने अपने अभिनय-स्तर, रंगशिल्प, निर्देशन और उपस्थापन की दृष्टि से हिन्दी रंगमंच को एक नई दिशा दी। इस प्रकार की संस्थाओं में उल्लेखनीय हैं—नवयुवक सांस्कृतिक समाज (१९५६–५७ ई०), नूतन कला मंदिर (१९५७ ई०), भारतीय कला मंदिर (१९५७ ई०), लोक कला मंच (लोकम, १९५८ ई०), काडा (कानपुर अकादमी आफ ड्रामेटिक आर्ट्स, १९५९ ई०), 'कलानयन' (१९५९ ई०) और परफार्मर्स (१९५९ ई०)। इन सभी संस्थाओं के कृतित्व पर पंचम अध्याय में यथास्थान प्रकाश डाला गया है, अतः यहाँ इनके सम्बन्ध में इतना कहना ही अलम्

होगा कि हिन्दी-रंगमंच आन्दोलन को अग्रसर करने में इनका योगदान स्पृहणीय रहा है।

लखनऊ—लखनऊ के अवध की राजधानी होने तथा नवाब वाजिदअली शाह के नाट्य-प्रेम ने सन् १८४३ में इस नगरी में शाही रंगमंच अथवा शाही रहसखाने को जन्म दिया। इस वर्ष वाजिदअली शाह ने हुजूर बाग में राधा-कृष्ण की प्रणयलीला पर आधारित स्वलिखित रहस (कृष्णलीला के 'रास' नाम से प्रसिद्ध होने के कारण तत्सम्बन्धी इस प्रथम नाटक को भी रास या 'रहस' कहा गया) प्रस्तुत किया। क्रमशः वाजिदअली शाह ने अपने एक नाट्य-दल का संगठन किया, जिसमें वे स्वयं भी भाग लेते और नाट्य-निर्देशन करते थे। दल की तत्कालीन तारिकाओं को 'परियों' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस दल पर लगभग एक लाख रुपया प्रति माह व्यय किया जाता था।

राधाकृष्ण-सम्बन्धी रहस के कुछ काल बाद वाजिदअली शाह ने अपने 'दरिया-ए-तअश्शुक' तथा 'अफसाना-ए-इश्क' के नाट्य-रूपान्तर तैयार कर उन्हें अपने रहसखाने में प्रस्तुत किया। इन नाट्य-रूपान्तरों के कई प्रयोग किये गये। इनका अन्तिम नाटक था—'बहरे उल्फत।'[११]

वाजिदअली शाह के शासन-काल में ही 'अमानत' की 'इन्दरसभा' की रचना (१८५२ ई०) हुई। एक अनुमान के अनुसार यह सन् १८५७ में राष्ट्रीय क्रान्ति के पूर्व खेला गया, जिसमें ई० डब्लू० नाइटन-कृत 'प्राइवेट लाइफ आफ एन ओरिएण्टल क्वीन' के अनुसार स्वयं नवाब वाजिदअली ने गुलफाम की भूमिका की थी। इसमें परियों का समावेश शाही रहसों के अनुरूप ही किया गया था। किन्तु अब 'इंदरसभा' के रंगमंच को जनता का रंगमंच माना जाने लगा है, जिसका वाजिदअली शाह की 'फर्माइश' अथवा नाटक के एक पात्र के रूप में उनके भाग लेने की बात से कोई ताल-मेल नहीं बैठता। सन् १८५७ का वर्ष वह ऐतिहासिक वर्ष है, जिसमें क्रान्ति असफल हो गई और लखनऊ तथा शेष अवध पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया। फलस्वरूप 'अमानत' के नाटक का प्रयोग, वाजिदअली शाह की नाट्य-परम्परा के क्रम में, जनता के स्वतन्त्र एवं सीमित साधनों द्वारा हुआ, जिसके कारण देश-विदेश में उसकी धूम मच गई। शाही रहसखाने के नाटक एक ऐतिहासिक कालखण्ड के दायरे में ही सिमट कर रह गये थे।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में, अँग्रेजी शासन के जम जाने के उपरान्त, नाटकीय गतिविधियाँ प्रायः अवरुद्ध-सी हो गईं और लखनऊ के कला-रसिक जब-तब आने वाली हिन्दी तथा बँगला की नाटक मंडलियों के (कलकत्ते के ग्रेट नेशनल थियेटर द्वारा सन् १८७५ में छतरमंजिल में 'नीलदर्पण' का प्रदर्शन किया गया था) नाटकों तथा 'इंदरसभा', नौटंकी, रासलीला, रामलीला, सँपेरा आदि लोकनाट्यों द्वारा अपना मनोरंजन करते रहे।

कलकत्ते के मादन थियेटर्स की देश-व्यापी शृंखला में सम्भवतः बीसवीं शती के पूर्वार्ध में ही यहाँ गोलागंज में एक थियेटर (देखें चित्र सं० १६) बना था, जिसकी छत टीन की थी। यह वर्तमान एक्सरे-विशेषज्ञ डॉ० के० बी० माथुर के क्लिनिक के ठीक सामने के मैदान में बनाया गया था, जो अब लखनऊ नगरमहापालिका द्वारा गिराया जा चुका है और जहाँ अब कालिका भवन तथा राधेश्याम बिसारिया और श्यामनाथ चौधरी के मकान बन गये हैं। इस गोलागंज थियेटर में ही प्रायः पारसी-हिन्दी नाटक मंडलियाँ आकर अपने नाटक खेला करती थीं। इनमें कोरथियन, न्यू अल्फ्रेड, कराची की न्यू शीनिंग स्टार नाटक मंडली तथा व्याकुल भारत नाटक मंडली प्रमुख थीं।

एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार कोरथियन को (जिसका पहले नाम था—एल्फिन्स्टन नाटक मंडली) महाराजा चरखारी अरिमर्दन सिंह ने उसकी अभिनेत्री शरीफा पर मुग्ध होकर यहीं पर खरीदा था,[१२] किन्तु मंडली के अन्य कलाकारों के साथ शरीफा चरखारी नहीं गई। कलाकारों के परेशान करने पर महाराजा ने मादन थियेटर्स को मंडली लौटा दी और स्वयं ४८ लाख रुपये की पूँजी से 'महाराज नाट्यशाला' नाम से एक मंडली बनाई, जो चरखारी में ही रहा करती थी। तब शरीफा वहाँ गई, किन्तु महाराजा ने उसे काम पर नहीं रखा।[१३]

गोलागंज थियेटर, लखनऊ का रेखाचित्र (भूमिखंड)

चित्र सं. १६

(कापीराइट : डॉ० अज्ञात)
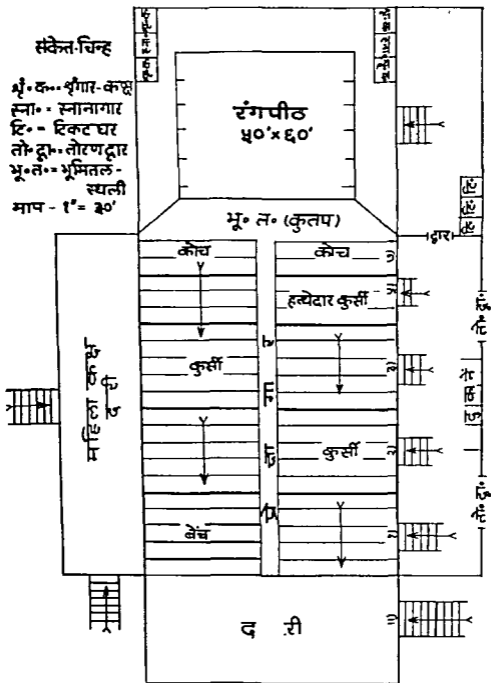
कोरंथियन ने लखनऊ में बालक-श्रेणी के कई नाटक खेले—मुंशी नम्र-कृत 'वीर बालक' तथा 'प्रेमी बालक' और 'हश्र'-कृत 'धर्मी बालक' तथा 'भारतीय बालक'। मुंशी नम्र-कृत 'वीर बालक' (१९३१ ई०) यहीं पर परिक्रामी मंच पर खेला गया था।[२७]

अल्फ्रेड के 'वीर अभिमन्यु', 'श्रीकृष्णावतार', 'ईश्वर-भक्ति' आदि नाटक बड़े लोकप्रिय हुए। इन नाटकों के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि भिश्ती लोग अपनी मश्कें बेंच कर उन्हें देखा करते थे।

न्यू शीनिंग स्टार ने 'नूरजहाँ', 'काली नागन', 'बेताब'—'ज़हरी साँप', 'हश्र'—'असीरे हिर्स', 'अन्जामे हसद', 'खान्दाने हामान' आदि नाटक प्रदर्शित किये।[२८]

व्याकुल भारत का 'बुद्धदेव' भी यहाँ अच्छा चला।

अमृतलाल नागर के अनुसार 'रात को शहर का शहर उस टीन के तबेले (गोलागंज थियेटर) के आगे बाढ़ के पानी की तरह उमड़ पड़ता था। नाटक के गाने बड़े लोकप्रिय हुआ करते थे और दो-चार दिन में ही उनकी गुनगुनाहट से लखनऊ के गली-कूँचे गूँज उठते थे।'[२९] नाटक रात को ९॥ बजे से प्रारम्भ होकर २॥ बजे तक चला करते थे। नाटक का प्रारम्भ पटाखे या घंटी से हुआ करता था।

गोलागंज थियेटर का मंच ५०'×६०' का था, जो लकड़ी का बना था। मंच के सामने भूमितलस्थली में वृन्द-वादकों (आर्केस्ट्रा) के बैठने की व्यवस्था थी। वृन्दवादन में पाँच से सात तक वादक हुआ करते थे। वाद्यों में हारमोनियम, तबला, क्लारियोनेट आदि प्रमुख थे। मंच के दोनों ओर 'फोकस' के लिये प्रकाश की व्यवस्था रहती थी। थियेटर का प्रेक्षागार बहुत बड़ा था, जिसमें लगभग तीन हजार सामाजिक बैठ सकते थे।

बीसवीं शती के प्रारम्भ में प्रबोधिनी परिषद्, हिन्दू यूनियन क्लब तथा हिन्दी नाट्य समिति की गतिविधियों ने लखनऊ के रंगमंच का सूत्रपात किया। प्रबोधिनी परिषद् की स्थापना खुनखुनजी रोड पर दुर्गा बाबू जैतली के मकान में एक पुस्तकालय के रूप में हुई, किन्तु शीघ्र ही रंगमंच में उसकी रुचि जागृत हुई और उद्देश्यों की एकता के कारण हिन्दू यूनियन क्लब में उसका विलय हो गया। हिन्दू यूनियन क्लब की स्थापना इस शती के प्रथम दशक (सन् १९०९) में राजाराम नागर (कथाशिल्पी अमृतलाल नागर के स्वर्गीय पिता) तथा अन्य नवयुवकों ने की थी। इसका कार्यालय खुनखुन जी रोड के कालीचरण के ठाकुरद्वारे के ऊपर था। यह स्थान ठाकुरद्वारा के ट्रस्टी गंगाप्रसाद वर्मा के सौजन्य से क्लब को प्राप्त हो गया था। क्लब ने सन् १९१५ में शाह गंगाप्रसाद धर्मशाला में भारतेन्दु—'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक खेला, जिसमें राजाराम नागर ने हरिश्चन्द्र तथा गोपाललाल पुरी ने विश्वामित्र की भूमिकाएँ की थीं।[३०] इसके पूर्व तुलसी-'मानस' से परशुराम-लक्ष्मण-संवाद सन् १९१३ में मंच पर प्रस्तुत किये गये।

क्लब ने शेक्सपियर-कृत 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' (१९१५ ई०) तथा 'जूलियस सीज़र' (१९१६ ई०) नाटक मंचस्थ किये। सन् १९१७ में गंगाप्रसाद धर्मशाला में राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' मंचित हुआ, जिसमें राजाराम नागर ने राणा प्रताप और गोपाललाल पुरी ने भामाशाह की भूमिकाएँ कीं।

इसके अनन्तर क्लब ने द्विजेन्द्र—'मेवाड़-पतन' (१९२१ ई०) कालीचरण हाई स्कूल में तथा माधव प्रसाद मिश्र-कृत 'पन्नादाई' (१९२१ ई०) (इसके अन्य नाम थे 'स्वामिभक्ति' और 'बनवीर') बानवाली गली में हाजी बेगम के हाते में अभिनीत किये। प्रथम नाटक में राजाराम नागर ने राणा अमरसिंह की, गोपाललाल पुरी ने अजयसिंह की, रमाशंकर गुलेरी (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के भतीजे) ने गोविन्द सिंह की, डॉ० मोहन (फिल्म अभिनेत्री नरगिस के पिता) ने राणा-पत्नी मालती की, मुन्नुआ जी वैद्य ने चारणी की तथा बख्शी ने कल्याणी की भूमिकाएँ की थीं। मुक्ताराम चौबे ने सिपहसालार का हास्य-अभिनय किया। 'पन्नादाई' में विक्रम की भूमिका राजाराम नागर ने और बनवारी की भूमिका बब्बी दलाल ने ग्रहण की।[३१] इसमें अजयसिंह का पाठ गोपाललाल

पुरी ने किया।

सन् १९२१ में प्रबोधिनी परिषद् के विलय के उपरान्त संस्थापक-सदस्यों के पारस्परिक मतभेदों आदि के कारण क्लब बन्द हो गया।

सन् १९२४-२५ में हिन्दू यूनियन क्लब का पुनर्गठन हुआ। अमृतलाल नागर क्लब के साहित्य मंत्री तथा डॉ० जगन्नारायण कपूरिया इसके नाट्य मंत्री बने। पुराने सभी सदस्य इसमें ले लिये गये, किन्तु अवशिष्ट शुल्क की वसूली के प्रश्न पर सभी पुन: बिखर गये और क्लब का अवसान हो गया।[३३]

तत्कालीन बड़े-बड़े ताल्लुकेदार, जिनमें राजा रामपाल सिंह प्रमुख थे, इस क्लब के संरक्षक थे। क्लब के नाटक बनारस, प्रयाग, कानपुर आदि नगरों तक के लोग देखने आते थे। इस क्लब का अपना एक पुस्तकालय-वाचनालय, बच्चों का स्कूल, खेल का मैदान आदि भी था।

सन् १९१२–१३ में नाटककार एवं नाट्याचार्य माधव शुक्ल प्रयाग से लखनऊ की इलाहाबाद बैंक में आ गये। यहाँ वे इलाहाबाद बैंक की कोठी (चौक की वर्तमान मुन्नूलाल धर्मशाला) में ही रहते थे। यहाँ आते ही राजाराम नागर तथा गोपालदास मेहरोत्रा तथा ज्वालाप्रसाद कपूरिया के सहयोग से, जिनमें से प्रथम दो इलाहाबाद बैंक में ही क्रमश: लेखाकार तथा कोषाध्यक्ष थे, माधव शुक्ल ने प्रयाग के ढंग पर ही हिन्दी नाट्य समिति की बान वाली गली में जीवन जी काश्मीरी के मकान में स्थापना की। आजकल यहाँ 'वर्मा मैन्शन' बन गया है और पीछे के भाग में धर्मशाला है।

सन् १९१३ में माधव शुक्ल-कृत 'महाभारत पूर्वार्द्ध' गणेशगंज-स्थित आर्य समाज के पास के पार्क में खेलने का आयोजन किया गया, किन्तु आर्य समाजियों के विरोध और हुड़दंग के कारण नाटक न हो सका। बाद में यह चौक में खेला गया। इसी वर्ष ज्वाला प्रसाद कपूरिया-कृत 'राजसिंह' नाटक खेला गया।[३४]

सन् १९१४ में 'राणाप्रताप' तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पंचम अधिवेशन के अवसर पर भारतेन्दु–'सत्य हरिश्चन्द्र' माधव शुक्ल के निर्देशन में प्रस्तुत किये गये। प्रथम में प्रताप का अभिनय राजाराम नागर ने और द्वितीय नाटक में राजा हरिश्चन्द्र का पाठ माधव शुक्ल ने किया। सम्मेलन के इस अधिवेशन के सभापति श्रीधर पाठक ने इस अवसर पर हिन्दी रंगशाला तथा नाटकों के अभाव की पूर्ति के लिए 'प्रत्येक देश-हितैषी हिन्दी-भाषी' से सचेष्ट होने की अपील की थी।[३४]

तदनन्तर माधव शुक्ल इलाहाबाद और फिर वहाँ से कलकत्ते चले गये।

प्रसाद युग और परवर्ती काल में लखनऊ में अनेक नाट्य-संस्थाएँ बनीं, जिनमें इण्डियन हीरोज एसोसिएशन, रस्तोगी क्लब, योगेशदादा का क्लब, यंगमेन्स म्यूजिकल सोसाइटी, भारतीय जन नाट्य संघ-राष्ट्रीय नाट्य परिषद्, सांस्कृतिक रंगमंच, लखनऊ रंगमंच, नटराज, भारती आदि प्रमुख हैं।

प्रयाग–प्रयाग की पहली नाट्य-मंडली थी–आर्य नाट्य सभा, जिसकी स्थापना सन् १८७०–७१ के लगभग हुई थी। इस मंडली की 'प्रेरणा से प्रयाग में 'नाट्य-पत्र' नामक मासिक पत्र' भी प्रकाशित हुआ था। इस मंडली ने ६ दिसम्बर, १८७१ को श्रीनिवासदास-कृत 'रणधीर-प्रेममोहिनी' को प्रथम बार मंचस्थ किया, जिसमें रणधीर के प्राण-त्याग, उसकी प्रेयसी प्रेममोहिनी के विलाप और मरण के दृश्य अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़े थे। सभा ने २६ अगस्त, १८७६ को शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'जानकीमंगल' तथा 'प्रयाग-समाचार' के संपादक पं० देवकीनंदन त्रिपाठी द्वारा लिखित 'जय नारसिंह' का अभिनय प्रयाग के रेलवे थियेटर में किया। 'जानकी मंगल' को देखने के लिये ५०० से अधिक सामाजिक एकत्र हुए। इसके अतिरिक्त देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'कलियुगी जनेऊ' (२६ अगस्त, १८७६) तथा लाला शालिग्राम वैश्य-कृत 'कामकंदला' नाटक भी सभा द्वारा प्रस्तुत किये गये।[३५]

नगर-नगर में स्थापित रेलवे इंस्टीट्यूटों या थियेटरों की शृंखला ने रंगमंच के विकास मे सक्रिय योगदान दिया है। प्रयाग का रेलवे थियेटर भी इसी शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी रहा है। इस थियेटर मे १४ अगस्त, १८७५ को 'दुर्गेशनन्दिनी' का प्रयोग हुआ, जिसमे दुर्ग, कारागार तथा राजा वीरेन्द्रसिंह के शीश काटने के दृश्य बड़े सजीव बन पड़े थे। इस थियेटर मे अन्य नाट्य-संस्थाओं के भी नाटक अभिनीत हुआ करते थे।[२५]

प्रयाग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था थी—श्री रामलीला नाटक मंडली, जो सन् १८९८ मे माधव शुक्ल, महादेव भट्ट (पं० बालकृष्ण भट्ट के दूसरे सुपुत्र) और गोपाल दत्त त्रिपाठी के प्रयास से स्थापित हुई थी। यह मंडली रामलीला के अवसर पर नाटक खेला करती थी। सर्वप्रथम इसने माधव शुक्ल का 'सीय स्वयम्वर' सन् १८९८ मे ही खेला, किन्तु धनुष-भंग के प्रसंग मे ब्रिटिश कूट-नीति पर आक्षेप होने के कारण उसे देखने के लिए आये महामना मदनमोहन मालवीय बीच मे ही उठ कर चले गये थे, फलस्वरूप नाटक वहीं बन्द कर दिया गया। इसके अनन्तर इस मंडली ने भारतेन्दु-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया।[२६]

यह मंडली सन् १९०७ तक निरन्तर चलती रही, किन्तु सदस्यों मे मतभेद हो जाने के कारण सन् १९०८ मे माधव शुक्ल ने 'हिन्दी नाट्य समिति' की स्थापना की। इसे बालकृष्ण भट्ट और डा० पुरुषोत्तमदास टंडन का सहयोग प्राप्त हुआ। इस समिति द्वारा सर्वप्रथम राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' अभिनीत हुआ, जिसे अस्वस्थ होते हुए भी नाटककार स्वयं देखने गया था। सन् १९११ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन के अवसर पर यह नाटक पुनः मंचस्थ किया गया।

यह समिति सन् १९१५ में और उसके बाद कुछ नाट्य-प्रदर्शनों के बाद शिथिल पड़ गई। इस समिति के कार्यों का विवरण चतुर्थ अध्याय में यथास्थान तथा प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा नाट्याभिनय, रंगमंच की स्थापना और नाट्य-कला की उन्नति के लिये सन् १९२२ से सन् १९३२ तक किये गये प्रयासों का विवरण इसी अध्याय में आगे दिया जा रहा है।

सन् १९४५ भारतीय जन-नाट्य संघ (इप्टा) की शाखा प्रयाग मे खुली, जिसके द्वारा बँगला के अनूदित और हिन्दी के कुछ मौलिक नाटक तथा हिन्दी कहानियों के नाट्य-रूपान्तर मंचस्थ किये गये। सन् १९४८ मे भारतीय जन-नाट्य संघ का वार्षिक अधिवेशन भी प्रयाग में ही हुआ।

सन् १९४८ और उसके बाद पृथ्वी थियेटर्स, बम्बई ने अपने उत्तरी भारत के दौरे मे कानपुर एवं लखनऊ के बाद इलाहाबाद की भी यात्राएँ कीं, जिससे नये रंग-शिल्प और नाट्य-पद्धति को देख कर वहाँ के नाटककारों और कलाकारों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस समय इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोसियेशन, थ्री आर्ट्स सेन्टर, सेतुमंच, नाट्यकेन्द्र आदि कई नाट्य-संस्थाएँ इस दिशा मे कार्यरत हैं।

आगरा—उन्नीसवीं शती के हिन्दी-रंगमंच के मानचित्र में आगरा को भी यथोचित स्थान प्राप्त है। इस शती के अन्तिम दशक मे सर्वप्रथम नाटककार निर्देशक मिर्ज़ा नज़ीर बेग ने अपने तथा अन्य पारसी-हिन्दी नाटक खेलने के लिए एक नाटक मंडली की स्थापना की, जिसने आगरे के बाहर जाकर लखनऊ, दिल्ली, अजमेर, झालावाड़, लाहौर, रावलपिण्डी तथा कलकत्ते मे अपने नाटक प्रदर्शित किये। झालावाड के महाराजा भवानीसिंह ने जब वहाँ एक रंगशाला बनवाई, तो इन्ही नज़ीर बेग को नाट्य-निर्देशन के लिए बुलाया गया था। झालावाड़ से लौट आने पर भी इनकी मंडली सक्रिय बनी रही। उनकी मृत्यु (१९२० ई०) के बाद उनके भानजे वज़ीर खाँ मंडली के निर्देशक बने और सन् १९३२ तक वे इस मंडली को चलाते रहे।

शरद नागर ने नज़ीर बेग के नवासे बद्दन मियाँ से भेंट-वार्ता कर यह बताया है कि उनकी मंडली का 'स्थायी रंगमंच' आगरे के फुलट्टी बाजार में स्थित हाफ़िज़ जी के कटरे मे था। उनका यह अनुमान है कि इस कटरे का नाम हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्ला के नाम पर पड़ा है, जो स्वयं एक नाटककार एवं प्रयोक्ता थे और एक मंडली

चलाते थे । इसी मंडली को नज़ीर बेग ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया, यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं ।[३८]

इस मंडली में ६०-७० कलाकार एवं रंगशिल्पी थे । इस मंडली के दो नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र अथवा तमाशा गर्दिशे तकदीर' तथा 'रुक्मिणी-मंगल' बहुत प्रसिद्ध थे ।

हाफिज़ मुहम्मद ने 'शकुन्तला नाटक' (१८८६ ई०, प्र०) तथा 'जोहरा-बहराम' (१८९१ ई०, प्र०) तथा नज़ीर बेग ने 'रामलीला अथवा नाटक मार्के लंका' (१८९० ई०), 'नाटक राजा सखी', 'कृष्ण औतार अथवा नाटक चमन नौबहार,' 'सत्य हरिश्चन्द्र अथवा तमाशा गर्दिशे तकदीर' (१८९०-९१), 'नई चन्द्रावती लासानी अथवा गुलशन पाकदामनी' (१८९६ ई०), 'माहीगीर', 'बुलबुल', 'इन्दरसभा' तथा 'रुक्मिणी-मंगल' नाटकों की रचना की ।[३९]

बीसवीं शती के दूसरे दशक में ही आगरे में अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं का अभ्युदय प्रारम्भ हो गया। इनमें प्रमुख थी-आगरा नागरी प्रचारिणी सभा तथा आगरा कृष्ण नाटक मंडली ।

आगरा नागरी प्रचारिणी सभा ने गोकुलपुरा तथा बल्का बस्ती में 'महाभारत' नाटक सन् १९१७-१८ में मंचस्थ किया, जिसके ६-७ प्रयोग हुए । अन्तिम दिन कुछ लोगों ने झगड़ा करके रंगमंच में आग लगा दी । यह सभा आगे कोई प्रदर्शन न कर सकी ।[४०]

आगरा कृष्ण नाटक मंडली की स्थापना स्वर्णकार मास्टर हरनारायण वर्मा ने सन् १९१९-२० में की वर्मा जी अच्छे संगीतज्ञ थे और अनेक वाद्य-यन्त्र बजा लेते थे। इस मंडली के नाट्याचार्य थे—पं० तोताराम । मंडली के प्रसिद्ध नाटक हैं-'सती वेश्या अथवा नेक अबला', 'गरीब अथवा दौलत का नशा', 'राजपूत रमणी', 'देवी देवयानी' तथा 'कल्लो तमीजन' । आगे चल कर इस मंडली के प्रमुख कलाकार ज्ञान शर्मा इस मंडली के नाट्य-निर्देशक हुए तथा आगरा जन-नाट्य संघ के नाट्य-प्रदर्शनों में उन्होंने पूरा योगदान दिया ।[४१]

सन् १९३५ में इस मंडली का कार्य अवरुद्ध हो गया ।

आधुनिक युग में आगरा जन-नाट्य संघ ने आगरा तथा सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश के हिन्दी रंगमंच के नव आन्दोलन को अग्रसर करने में अद्भुत योग दिया, जिसका विस्तृत विवरण पंचम अध्याय में यथास्थान दिया गया है ।

बलिया – उन्नीसवीं शती के अन्त में उत्तर प्रदेश के पूर्वी सीमांत पर स्थित बलिया भी नाट्य-आन्दोलन का एक केन्द्र बना । सन् १८८४ ई० अथवा उसके कुछ पूर्व स्थापित बलिया नाट्य समाज ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'नीलदेवी' नाटकों का प्रयोग नवम्बर, १८८४ में ददरी मेले के अवसर पर किया था । इस अवसर पर भारतेन्दु को भाषण देने के निमित्त आमन्त्रित किया गया था, जिन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी न केवल इस निमन्त्रण को स्वीकार किया, वरन् 'हरिश्चन्द्र' में स्वयं हरिश्चन्द्र की भूमिका भी ग्रहण की थी । शैव्या के श्मशान-विलाप तथा भारतेन्दु के अभिनय ने प्रेक्षक-समाज को करुणा-विगलित कर दिया । बलिया के कलक्टर डी० टी० राबर्ट्स तथा उनकी पत्नी, दोनों इस नाटक को देखकर बहुत प्रभावित हुए । कलक्टर की पत्नी ने तो इस दृश्य को देखने का धैर्य खोकर भारतेन्दु बाबू से यह आग्रह किया कि इस दृश्य को बदल दिया जाय ।

झाँसी—वृन्दावनलाल वर्मा की खोज के अनुसार ओरछे दरवाजे की मस्जिद के आस-पास की जमीन पर मोतीबाई की नाटकशाला बनी हुई थी, जो सन् १८५७ के पूर्व से ही स्थित थी । इस जमीन की स्वामिनी मोतीबाई एक कुशल अभिनेत्री थी, जो उन अन्य अभिनेत्रियों में से एक थी, जो इस नाटकशाला में कार्य किया करती थी। गंगाधर राव को नाटकाभिनय का बड़ा शौक था ।

पटना – साप्ताहिक 'बिहार-बन्धु' के सम्पादक एवं नाटककार केशवराम भट्ट ने न केवल पत्रकारिता के क्षेत्र में, अपितु हिन्दी रंगमंच के उन्नयन में भी स्पृहणीय योगदान दिया है । सन् १८७६ में पटना नाटक मंडली की स्थापना कर उसके माध्यम से भट्ट जी ने अपना 'शमशाद-सौसन' नाटक उसी वर्ष दिसम्बर में प्रस्तुत किया ।

नाटक 'बिहार-बन्धु' प्रेस मे अस्थायी रंगमंच बना कर खेला गया था। इसके अनन्तर उकना 'सज्जाद-सम्बुल' मंचस्थ हुआ, जिसके कई प्रयोग हुए।[२२] इसमें छः अंक हैं और प्रथम तीन अकों मे से प्रत्येक में चार-चार और शेष तीन अकों में पाँच-पाँच झाँकियाँ (दृश्य) हैं। 'सज्जाद-सम्बुल' की कथा जमीदार सज्जाद तथा उसके घर मे पली और बड़ी हुई सम्बुल के विकासोन्मुख प्रेम तथा निकाह से सम्बन्धित है।

इस मडली के अनन्तर बिहार थियेट्रिकल ट्रूप तथा बांकीपुर नाटक मडली (१८८४ ई०) की स्थापना हुई, जो पारसी रगमच से प्रभावित थी।

छपरा–छपरा के कुछ उत्साही रगप्रेमी युवकों ने सन् १९१८-१९ के लगभग 'उर्वशी' नाटक खेला। इसके अनन्तर छपरा क्लब की स्थापना हुई, जिसने जगन्नाथशरण का 'प्रह्लाद' तथा द्विजेन्द्रलाल राय का 'भीष्म' मचस्थ किया। इसकी सफलता से अनुप्राणित होकर श्री शारदा नाट्य समिति अस्तित्व मे आई, जिसने द्विजेन्द्र'-भारतरमणी', 'दुर्गादास' आदि अभिनीत किये। समिति के अन्य मचस्थ नाटक हैं–'महाभारत' तथा जगन्नाथशरण-कृत 'कुरुक्षेत्र'। 'कुरुक्षेत्र' का प्रयोग मुजफ्फरपुर मे हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर भी किया गया था, जिसमें स्व० राष्ट्पति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के अग्रज महेन्द्रप्रसाद ने भी एक भूमिका की थी।[२३]

शारदा नाट्य समिति से पृथक् होकर महेन्द्रप्रसाद और उनके मित्रों ने एमेच्यर ड्रामेटिक एसोसिएशन की स्थापना की। इस सस्था ने द्विजेन्द्र लाल राय के तथा बेचनशर्मा 'उग्र' का 'ईसा' नाटक अभिमंचित किये।[२४]

मुजफ्फरपुर – मुजफ्फरपुर मे धर्म सरक्षिणी सभा की स्थापना हुई, जिसके तत्त्वावधान में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'धर्मसाभ रूपक' मचस्थ हुआ।[२५]

कलकत्ता – कलकत्ते के सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध है कि जितना वह बँगला-भाषियो का है, उतना ही वह हिन्दी भाषियो का भी है। कानपुर के युगल किशोर शुक्ल ने हिन्दी का पहला साप्ताहिक पत्र 'उदंड मार्तण्ड' कलकत्ते से सन् १८२६ मे निकाला था। हिन्दी की पाठ्य-पुस्तको का प्रथम प्रणयन भी यही हुआ था। हिन्दी नाटक और रंगमच की दिशा मे भी यह अग्रणी रहा है। सन् १९०६ मे सर्वप्रथम आज़मगढ़वासी मृदंगाचार्य भृगुनाथ वर्मा ने कुछ हिन्दी-प्रेमियों के सहयोग से हिन्दी नाट्य समिति की स्थापना की। यह कलकत्ता की सबसे प्राचीन नाट्य-सस्था रही है। इसके द्वारा सर्वप्रथम 'भक्त प्रह्लाद' नाटक खेला गया, किन्तु वह असफल रहा। कुछ वर्षो के पश्चात् इस समिति का पुनर्गठन हुआ। भृगुनाथ वर्मा इसके सभापति, 'भोलानाथ' वर्मन इसके सचिव और माधव शुक्ल, ईश्वरी। प्रसाद भाटिया, कृष्णचन्द्र जैन आदि कई नाट्यप्रेमी इसके सदस्य बने। नाटकाभिनय का भार माधव शुक्ल पर होने के कारण उन्हे इलाहाबाद से सन् १९१६ मे कलकत्ते बुला लिया गया और भारतेन्दु का 'नीलदेवी' भारत संगीत समाज के थियेटर हाल में खेला गया, जो बहुत सफल रहा। इसके अनन्तर राधेश्याम कथावाचक का 'वीर अभिमन्यु' कटक (उड़ीसा) के बाढ़-पीड़ितों के सहायतार्थ किया गया और चार हजार रुपये उडीसा भेजे गये। 'नीलदेवी' दो तीन बार और 'वीर अभिमन्यु' छ-सात बार खेला गया।

सन् १९२० मे जमुनादास मेहरा का 'पाप-परिणाम' मंचस्थ हुआ और ८-१० वार खेला गया। इसके अनन्तर मेहरा का 'भक्त चन्द्रहास' तथा 'सत्य विजय', 'पाण्डवविजय' आदि कई नाटक खेले गये। कानपुर कांग्रेस (१९२५ ई०) मे समिति ने कई नाटक खेले थे। इस समिति ने सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा लिखित एक नाटक भी खेला था, जिसमे उन्होंने स्वय सूत्रधार और रामेश्वर बिड़ला का अभिनय किया था।[२६]

इस समिति से पृथक् होकर सन् १९१८ मे माधव शुक्ल ने भोलानाथ बर्मन के साथ हिन्दी नाट्य परिषद् की स्थापना की। परिषद् के नाट्याचार्य हुए माधव शुक्ल, जिनके निर्देशन में राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' ('भामाशाह की राजभक्ति' के नाम से), द्विजेन्द्र का'मेवाड़-पतन' ('विश्वप्रेम' के नाम से) आदि नाटक खेले गये। इस परिषद् का विस्तृत विवरण चतुर्थ और पचम अध्यायो मे यथास्थान दिया गया है।

हिन्दी-नाट्य परिषद् से पृथक् होकर शिवरत्न जोशी ने बजरंग परिषद् की स्थापना की और 'भक्त-प्रह्लाद', 'सिंहनाद', किशनचन्द 'जेबा' का 'जख्मी पंजाब', राधेश्याम कथावाचक का 'भक्त अम्बरीष' ('ईश्वर-भक्ति' का नाम-रूपान्तर) आदि नाटक खेले। बजरंग परिषद् से अलग होकर कुछ व्यक्तियों ने श्रीकृष्ण नाट्य परिषद् (१९२० ई०) की स्थापना की और कई नाटक खेले। कलकत्ते की इन सभी संस्थाओं में अब कोई विशेष सक्रियता नहीं दिखाई पड़ती।[२५७]

सन् १९२०–२१ में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में नाट्य-आन्दोलन को लेकर अनेक लेख लिखे गये। इस आन्दोलन के एक पुरस्कर्ता ललितकुमार सिंह 'नटवर' के प्रस्ताव पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सन् १९२२ में हुए लाहौर अधिवेशन में हिन्दी रंगमंच की स्थापना और नाट्यकला की उन्नति के लिये एक नाट्य उपसमिति बना दी गई। इस उपसमिति की कई बैठकें सम्मेलन के इलाहाबाद, दिल्ली, कानपुर, पटना, कलकत्ते आदि के अधिवेशनों के साथ हुईं। कलकत्ते के अधिवेशन (१९३१ ई०) में सम्मेलन की विषय-निर्वाचनी समिति ने जो नाट्य उपसमिति बनाई थी, उसमें १४ सदस्य थे—नारायणप्रसाद 'बेताब', आगा 'हश्र', राधेश्याम कविरत्न, माधव शुक्ल, नरोत्तम व्यास, हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त 'शैदा', बदरीनाथ भट्ट, जयशंकर प्रसाद, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, आनन्दप्रसाद कपूर (नागरी नाटक मंडली वाले), साँवलिया बिहारीलाल वर्मा और ललितकुमार सिंह 'नटवर' (संयोजक)।[२५८]

उपसमिति ने यह निर्णय किया कि नाटककारों को पुरस्कार आदि देकर प्रोत्साहित किया जाय, नाटक लिखाये और अभिनीत किये जायँ, और नाट्य-आन्दोलन का प्रचार पत्र-पत्रिकाओं और अभिनयों द्वारा किया जाय।[२५९]

सन् १९३१ में पुनः कलकत्ते में सम्मेलन का अधिवेशन हुआ और पुरुषोत्तमदास टंडन के सुझाव पर 'हिन्दी रंगमंच समिति' बनी। यह नाट्य उपसमिति की एक व्यावहारिक शाखा थी, जिसके संयोजक थे—माधव शुक्ल और नरोत्तम व्यास। सन् १९३२ में गिरीश—'बलिदान' के व्यास-कृत हिन्दी अनुवाद का अभिनय हुआ, जिसमें उक्त समिति के सदस्यों—कलकत्ते की सभी हिन्दी नाट्य-संस्थाओं के चुने हुए कलाकारों ने भाग लिया। नाटक बहुत सफल रहा। इसके उपरान्त नरोत्तम व्यास, माधव शुक्ल और 'नटवर' फिल्म-क्षेत्र में चले गये और उन्होंने फिल्म कारपोरेशन आफ इंडिया के चलचित्र 'तुम्हारी जीत', 'औलाद' आदि में कुछ भूमिकाएँ भी कीं। नाट्य आन्दोलन वहीं रुक गया।[२६०]

सन् १९३५ में सिनेमा के प्रसार के कारण कलकत्ते के व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक दोनों मंच शिथिल पड़ गये। मादन थियेटर्स की अधिकांश रंगशालाएँ सिनेमाघरों में परिणत हो गईं। मादन थियेटर्स की कुमारी जहाँआरा कज्जन ने सन् १९३६ में अपनी एक मंडली बनाई, जिसका नाम था इंडियन आर्टिस्ट्स एसोसियेशन।[२६१] इसके दूसरे अभिनेता माणिकलाल मारवाड़ी ने सन् १९३८ में शाहजहाँ नाटक मंडली की स्थापना ५, धर्मतल्ला स्ट्रीट पर की। सन् १९४६ में प्रेमशंकर 'नरसी' के प्रयास से कलकत्ते के मिनर्वा थियेटर में 'हिन्दुस्तान थियेटर्स' की स्थापना हुई। इन तीनों मंडलियों का सम्यक् विवरण पंचम अध्याय में दिया गया है।

सन् १९४९ में व्यावसायिक आधार पर मूनलाइट थियेटर्स सुव्यवस्थित रूप में चालू हुआ। प्रेमशंकर 'नरसी' इसके निर्देशक बन कर आ गये। यह 'हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच' रहा है। इस संस्था के कार्यों का विस्तृत विवेचन पंचम अध्याय में किया गया है।

मूनलाइट के अतिरिक्त इधर कुछ अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाएँ भी कलकत्ते में बन गई हैं, जिनमें से प्रमुख हैं—बिड़ला क्लब (१९४४ ई०), तरुण संघ (१९४७ ई०), भारत भारती (१९५३ ई०), अनामिका (१९५५ ई०) और संगीत कला मंदिर (१९४५ ई०)। संगीत कला मंदिर, जिसने हिन्दी नाटक सन् १९६३ से प्रारम्भ किये, तथा

अन्य सभी संस्थाओ के सम्बन्ध मे विस्तार से पंचम अध्याय मे लिखा गया है । इन सभी संस्थाओं ने, विशेषकर अनामिका ने हिन्दी रगमंच के विकास एव उन्नयन मे स्मरणीय योगदान दिया है ।

बम्बई—बीसवी शती के पांचवें दशक के प्रारम्भ में, जबकि चलचित्र बम्बई और समस्त भारत मे अपना विजय-ध्वज फहरा चुका था, एक बार पुन: रगमच पर आत्माभिव्यंजन की पिपासा जागी और क्रमश. अनेक नाट्य-सस्थाओ का आविर्भाव होने लगा, और इन नाट्य-सस्थाओ मे कुछ ऐसी भी संस्थाएँ निकली, जिन्होंने आगे चल कर गुजराती और/या मराठी तथा अन्य भाषाओं के साथ हिन्दी के नाटकों का भी अभिनय प्रारम्भ कर दिया । इन संस्थाओ मे प्रमुख हैं नाट्निकेतन (१९४१ ई०), थियेटर ग्रुप (१९४३ ई०), इडियन नेशनल थियेटर (१९४४ ई०), थियेटर यूनिट (१९५४ ई०) आदि ।

बम्बई मे आधुनिक हिन्दी रगमच के पैर स्वतन्त्र रूप से नही जम पाये । इस दिशा में दो प्रयास बड़े पैमाने पर किये गये, किन्तु कुछ दूर चल कर वे भी ठप्प हो गये । ये प्रयास थे—सन् १९४३ में बम्बई मे भारतीय जन-नाट्य सघ और सन् १९४४ मे पृथ्वी थियेटर्स की स्थापना । ये दोनो सस्थाएँ दो पृथक् विचार-धाराओं की पोषक थी । भारतीय जन-नाट्य सघ के पृष्ठ-पोषक वे साहित्यकार और कलाकार थे, जो बगाल के अकाल-पीडितो की सहायता, द्वितीय विश्व-युद्ध मे रूस और मित्रराष्ट्रो के युद्ध को 'जन-युद्ध' मान कर उनके पक्ष-समर्थन तथा रोटी और वर्ग-युद्ध को अपने 'जिहाद' का लक्ष्य बना कर चल रहे थे । इसके विपरीत पृथ्वी थियेटर्स भारतीय सस्कृति और शुद्ध राष्ट्रीयता का पोषक रहा है ।

इन सभी सस्थाओ एव नाट्य-दलो का विस्तृत विवरण पंचम अध्याय मे यथास्थान दिया गया है ।

झालावाड़ (राजस्थान)—व्यावसायिक क्षेत्र के समानान्तर अव्यावसायिक क्षेत्र मे एक स्मरणीय प्रयास झालावाड के तत्कालीन महाराजा सर भवानीसिंह ने किया था । उन्होंने सन् १९०३ मे झालावाड़ में आगरे की एक मडली के निर्देशक मिर्जा नजीर बेग के परामर्श से एक रंगशाला बनवाई, जो अस्थायी ढग की थी ।[१२] इस रंगशाला मे सर्वप्रथम सन् १९०४ मे 'गुलरूजरीना' नाटक खेला गया । इसके अनन्तर 'गुलेनार-फिरोज', 'खूने नाहक', 'हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'लैला-मजनूँ', 'अलीबाबा चालीस चोर', 'मोरध्वज', 'गुलबकावली', 'पूरन भगत', 'खुदादोस्त', 'इन्द्रसभा', 'भूलभुलैया', 'कत्ले नजीर' आदि कई पारसी-हिन्दी शैली के नाटक खेले गये ।

सन् १९०६ मे राजमाता की मृत्यु हो जाने के कारण मिर्जा साहब के नाटको को अमागलिक मान कर महाराजा ने उनके नाटको को देखना बन्द कर दिया और फलत मिर्जा साहब को अपने कलाकार-दल के साथ आगरे वापस चला जाना पड़ा ।[१३]

सन् १९१० मे उक्त अस्थायी रगशाला की जगह महाराजा भवानीसिंह ने अपने राजभवन मे एक स्थायी रंगशाला बनवाई, जिसका नाम था 'भवानी नाट्यशाला' । इस नाट्यशाला में सर्वप्रथम 'गुलेनार-फिरोज़' मचस्थ हुआ । इस नाटक के लिये विदेशों से चाइना ड्रेस, चोटीदार बाल आदि मँगवाए गये थे ।[१४] महाराजा ने अपने अभिनेताओ के नाट्य-शिक्षण के लिए पुरुषोत्तमदास, अब्दुलरऊफ जैसे योग्य निर्देशको को बुला कर अपने यहाँ आजीवन नौकरी मे रखा ।[१५] पुरुषोत्तमदास के निर्देशन में 'खूबसूरत बला' ('हश्र')और 'महाभारत' ('बेताब') नाटक खेले गये । इसके अनन्तर नाट्यशाला का पुनर्निर्माण हुआ और १६ जुलाई, १९२१ को 'सिकन्दर' मचस्थ हुआ । 'महाभारत' की भाँति इस नाटक की भाषा भी हिन्दी थी । इन नाटको के प्रयोग राजेन्द्र ड्रामेटिक अमेच्यर क्लब द्वारा किये गये थे । सन् १९२९ मे महाराजा भवानीसिंह के निधन के बाद यह सस्था बन्द कर दी गई । सन् १९३० मे नये महाराजा राणा राजेन्द्रसिंह के प्रयास से सस्था को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ और वह टिकट लगा कर नाटक खेलने लगी, किन्तु कुछ काल पश्चात् टिकट की व्यवस्था समाप्त कर दी गई ।[१६]

सन् १९३२ मे राजेन्द्रसिंह-कृत 'अभिमन्यु' और सन् १९४० मे 'कृष्ण-कमला' नाटक खेले गये । सन् १९४३

में राणा राजेन्द्रसिंह की मृत्यु के बाद राणा हरिश्चन्द्रदेव महाराजा हुए, जिनके शासन-काल में ग्राम-सुधार की समस्या पर आधारित कई नाटक खेले गये।[५७]

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के अनुसार भवानी नाट्यशाला इग्लैंड की उत्तमोत्तम रंगशालाओं के अनुकरण पर बनवाई गई थी, जिसमें सब प्रकार के नाटक और जटिलतम दृश्य प्रस्तुत किये जा सकते थे। इसके पार्श्व भाग (नेपथ्यगृह की दीर्घा) में कलाकारों की रूप-सज्जा आदि के लिए पृथक्-पृथक् कक्ष बने हैं। प्रेक्षागृह में सभी श्रेणी के सामाजिकों के बैठने की व्यवस्था है।[५८]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भवानी नाट्यशाला एक सर्वसाधनसम्पन्न राज्याश्रित रंगशाला रही है, जहाँ प्रारम्भ में उर्दू के और बाद में हिन्दी के नाटक खेले जाते रहे हैं। इसमें प्रारम्भ में निःशुल्क और बाद में टिकट लेकर जन-साधारण के लोग भी नाटक देख सकते थे। इस समय यह बन्द पड़ी है। आवश्यकता है—इसका जीर्णोद्धार कर इसे पुनः चालू करने की। अव्यावसायिक क्षेत्र में भवानी नाट्यशाला की स्थापना एक स्पृहणीय प्रयास है।

शिक्षा संस्थाओं की नाट्य-परिषदें एवं नाट्य-प्रशिक्षण : नाटककारों, नाट्यप्रेमी साहित्यकारों तथा इतर जनों की नाट्य मंडलियों के अतिरिक्त छात्रों द्वारा प्रवर्तित नाट्य-परिषदों ने भी हिन्दी रंगमंच को विकसित करने और हिन्दी नाटकों के प्रति सामाजिकों में रुचि उत्पन्न करने में अपूर्व योगदान दिया। छात्र स्कूल-कालेजों और विश्वविद्यालयों से निकल कर सार्वजनिक नाट्य मंडलियों में सम्मिलित होकर अथवा अलग से नई मंडलियाँ प्रवर्तित करके भी नाट्य-जगत के अभाव की सदैव पूर्ति करते रहे। हिन्दी रंगमंच इन शिक्षित जनों की लगन, त्याग और साधना से अनुप्राणित होकर आज तक जीवित-जागृत है। इन्हीं लोगों के प्रयास से मंच पर सदैव नये-नये प्रयोग होते रहे हैं, जो किसी भी रंगमंच के विकास के लिए आवश्यक है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के उपाधि-वितरण के अवसर पर हिन्दू बोर्डिंग हाउस, म्योर हॉस्टल, आक्सफोर्ड-कैम्ब्रिज हॉस्टल (सन् १९२८ से हालैण्ड हाल) तथा कायस्थ पाठशाला हॉस्टल के छात्रों द्वारा नाटक खेले जाते थे।

सन् १९२५ में द्विजेन्द्रलाल राय-कृत 'दुर्गादास', सन् १९२६ में द्विजेन्द्र-'शाहजहाँ' तथा सन् १९२७ में राधेश्याम कथावाचक-कृत 'वीर अभिमन्यु' मंचस्थ हुआ। सन् १९२६–२७ में विश्वविद्यालय के छात्र और अब कवि, कथाकार एवं नाटककार भगवतीचरण वर्मा नाट्य-संयोजक थे। वर्मा जी ने 'वीर अभिमन्यु' में हास्य-भूमिका भी की थी। इस मंच पर कविवर सुमित्रानन्दन पंत और केवलकृष्ण मेहरोत्रा स्त्री-पात्रों की भूमिका में उतर चुके हैं। इन्हीं दिनों पंत जी ने कुछ नाटकों के लिए गीत भी लिखे, जिनमें उनका 'पल्कन पग चूमूँ आज पिया के मैं' बहुत लोकप्रिय हुआ।[५९]

म्योर हॉस्टल में खेले गये उल्लेखनीय एकांकी हैं — जगदीशचन्द्र माथुर-कृत प्रथम एकांकी 'मेरी बाँसुरी' (१९३६ ई०), डॉ० रामकुमार वर्मा-कृत एकांकी 'परीक्षा' (१९४० ई० या इसके उपरान्त) तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क'-कृत 'छठा बेटा' (१९५१ ई०)।[६०] 'परीक्षा' प्रो० आर० एन० देव के निर्देशन में तथा 'छठा बेटा' सी० डी० पांडेय के निर्देशन में अभिमंचित किये गये। 'छठा बेटा' में लड़कियों की भूमिकाएँ भी छात्रों ने ही की थी।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वीमेन्स हॉस्टल (सरोजिनी नायडू हॉस्टल) की छात्राएँ भी समय-समय पर नाटक खेलती रही हैं। सन् १९६७ में डॉ० रामकुमार वर्मा-कृत 'हीरे के झुमके' (एकांकी) इस हॉस्टल की छात्राओं द्वारा मंचस्थ किया गया।[६१]

प्रयाग विश्वविद्यालय में एक रंगभवन (ड्रामेटिक हाल) भी है, जहाँ गत कई दशकों से प्रायः नाटक होते आ रहे हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा का सामाजिक एकांकी 'दस मिनट' यहाँ सन् १९३४ में खेला गया था।[६२]

लगभग इसी प्रकार की परम्पराएँ अन्य विश्वविद्यालयों एवं उनसे सम्बद्ध कालेजों में भी रही हैं। छात्र

प्रायः छात्र परिषद् के उद्घाटन, वार्षिक समारोह अथवा उपाधि-वितरण समारोह आदि के अवसरों पर नाटक खेलते रहे हैं। सीमित साधन, समय के अभाव और मंच की सीमाओं को दृष्टि में रख कर नाटक प्रायः छोटे अथवा एकांकी ही खेले जाते रहे हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि उस नाटक मे स्त्री-पात्र न हों ।८ यदि हों भी, तो एक से अधिक न हो।

विभिन्न विश्वविद्यालयो के छात्रो की नाट्य-सस्थाएँ दिल्ली मे प्रति वर्ष होने वाले युवक समारोह मे भाग ली हैं। इस प्रतिस्पर्धा से उनमे नया उत्साह जागृत होता है और वे अभिनय, रंगसज्जा, रूप-सज्जा, वेश-भूषा दि में अपेक्षाकृत अधिक सुधार करने का प्रयत्न करती हैं। इससे अच्छे नाटक लिखने और खेलने की प्रेरणा भी त होती है।

विश्वविद्यालयो और उनसे सम्बद्ध शिक्षा-सस्थाओ की रंगमंच के प्रति इस प्रवृत्ति एवं उत्साह को पूर्णत्व स्थायित्व प्रदान करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय मे नाट्य विभाग खोले जायें, जहाँ रंगमच नाट्य-कला की व्यावहारिक शिक्षा केवल पुस्तको के द्वारा नहीं, विविध अभिनय-पद्धतियो एव विविधयुगीन ो के प्रयोग द्वारा दी जानी चाहिये। यह रंगमंच उस अव्यावसायिक (शौकिया) मंच से पृथक् होगा, जिसका ।४ मुख्यत लोक-रंजन या लोक-शिक्षण होता है। शैक्षणिक रंगमच से ऐसे रंगमच का विकास होता है, जो क-रंजन आदि के साथ नये प्रयोग और नव-सृजन भी करे।[११] शिक्षा-संस्थाओ मे न केवल किसी भी प्रयोग को सर्व- रूप मे प्रस्तुत करने की ओर ध्यान दिया जा सकता है, नये-नये नाटक भी सफलता के साथ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अमेरिका आदि देशो मे विश्वविद्यालयों और कालेजों मे नाट्यकला के व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिये स्नातक पाठ्यक्रमो की व्यवस्था है। वहाँ सन् १९२९ के बाद से अब तक एतदर्थ विश्वविद्यालयो और कालेजो में लगभग पचास रंगशालाएँ भी बनाई जा चुकी है।[१२] विगत दो दशकों में इग्लैण्ड मे भी विश्वविद्यालय रंगमच का श्रीगणेश हो चुका है। भारत के, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र के विश्वविद्यालयो को इससे प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिये।

देश मे अभी तक केवल तीन ही ऐसे विश्वविद्यालय हैं, जहाँ नाटको और / या अभिनय की सर्जनात्मक शिक्षा दी जाती है—महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कलकत्ता तथा आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर म० स० विश्वविद्यालय के अन्तर्गत नाट्य-शिक्षण के लिए भारतीय सगीत, नृत्य एव नाट्य महाविद्यालय मे एक नाट्य विभाग की व्यवस्था है, जहाँ चार वर्ष के डिग्री एव तीन वर्ष के डिप्लोमा पाठ्यक्रम चलते है। यहाँ चतुर्विध अभिनय के साथ नाट्य-शास्त्र, नाटक और रंगमच के इतिहास, नाटकोपस्थापन आदि की विधिवत् शिक्षा दी जाती है। महाविद्यालय मे नाट्य-प्रयोग के लिए एक नाट्यगृह भी है। रवीन्द्र भारती मे तीन वर्ष के वरिष्ठ डिप्लोमा, तीन वर्ष के बी० ए० (आनर्स) तथा एक वर्ष के स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम की व्यवस्था है। आंध्र विश्वविद्यालय मे नाट्य-लेखन, निर्देशन तथा अभिनय की शिक्षा के लिए पृथक्-पृथक् दो-दो वर्ष के पाठ्यक्रम रखे गये हैं।

हिन्दी-क्षेत्रो मे अभी तक इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। केवल दिल्ली, पटना तथा राँची के विश्व-विद्यालयो मे अभी कुछ वर्ष पूर्व एम० ए० की कक्षाओ मे नाटक और रंगमच पर एक पृथक् प्रश्न-पत्र प्रारम्भ किया गया है, जिसके द्वारा नाटक के रंगमंचीय पक्ष के अध्ययन की ओर भी छात्रो मे प्रवृत्ति जागृत हो सकेगी।[१३] नाटक और रंगमंच के व्यावहारिक शिक्षण की दिशा मे इसे एक शुभ प्रयास, एक सही लक्षण कहा जा सकता है, किन्तु विश्वविद्यालय रंगमच के विकास के लिए अभी लम्बे डग भरना आवश्यक है। निश्चय ही यह एक व्यय-साध्य योजना है, किन्तु छात्रो मे नाट्य-कला और उसकी दीर्घ परम्परा एवं व्यवहारो (धर्मिताओं) के प्रति अभि-रुचि जागृत करने तथा उनके मानसिक क्षितिज को सांस्कृतिक चेतना से आलोकित करने के महत् कार्य और उसकी आवश्यकता को देखते हुए यह व्यय भविष्य की पूँजी सिद्ध होगा। प्रत्येक विश्वविद्यालय मे एक रंगशाला, रंग-

सज्जा के उपकरण एवं रंगोपकरण, परिधान एवं रूप-सज्जा के साधन सुलभ होने चाहिए। नाटक के पाठ, अभिनय, पूर्वाभ्यास एवं प्रदर्शन की भी पूरी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे छात्रों का नाटकों का सैद्धांतिक ज्ञान केवल किताबी और सतही (सुपरफीशियल) बन कर न रह जाय। नाटकाध्ययन के माध्यम से उनकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति को विकसित कर एक दिशा दी जा सकती है, जिससे वे एक नाट्य-दल के अनुशासन में रह कर अधिक मर्यादित एवं उत्तरदायी बन सकेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी का अव्यावसायिक रंगमंच अपनी स्वतन्त्र सत्ता लेकर उदित हुआ और अनेक संघर्षों के बीच से निकल कर अब वह एक आन्दोलन का रूप ले चुका है। अब कोई नगर या बड़ा कस्बा ऐसा नहीं है, जहाँ हिन्दी के नाटक वर्ष में कम से कम दो-एक बार न होते हों। कस्बे अभी बेताब युग से आगे नहीं बढ़े हैं, जब कि नगर प्रसाद युग को पार कर आधुनिक युग में प्रवेश कर चुके हैं और रंगमंच में विज्ञान की उपलब्धियों से लाभ उठा कर अनेक नये प्रयोग करने में सफलता प्राप्त की है।

(४) हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमंच : आदान-प्रदान, योगदान और एकीकरण के सूत्र

हिन्दी और अहिन्दीभाषी भारतीय-भाषाओं—बँगला, मराठी और गुजराती के रंगमंचों में परस्पर किसी न किसी रूप में सदैव आदान-प्रदान होता रहा है। उन्नीसवीं शती में एक भाषा के मंच और नाटककारों ने दूसरी भाषा, विशेषकर हिन्दी के रंगमंच के विकास और श्रीसंवर्द्धन में अद्भुत योगदान दिया है। भाषा और रंगमंच के एकीकरण में योगदान देने वाली इन भाषाओं में मराठी और गुजराती का स्थान सर्वोपरि है। गुजराती का रंगमंच और उसके नाटककार २० वीं शती में भी हिन्दी नाटक की श्रीवृद्धि करते रहे हैं। रंगमंच और नाटक में शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, अतः किन्हीं दो या अधिक भाषाओं के रंगमंचों के बीच आदान-प्रदान, योगदान और एकीकरण के सूत्र को समझने के लिए कई दृष्टिकोणों से विचार करना आवश्यक होगा (एक) एक भाषा के नाटककार द्वारा अन्य भाषा या भाषाओं के नाटकों का लेखन, (दो) एक भाषा के रंगमंच पर दूसरी भाषा या भाषाओं के नाटकों का उपस्थापन, (तीन) एक मंडली के बहुभाषी कलाकारों द्वारा विभिन्न-भाषी नाट्य-प्रयोग, और (चार) नाट्य-पद्धति या रंग-शिल्प का अनुकरण।

(क) एक नाटककार, अनेक-भाषी नाटक

भारतीय रंगमंच के अभ्युदय काल में अनेक भाषाओं, विशेषकर मराठी और गुजराती की नाट्य मंडलियों के समक्ष जब यह प्रश्न आया कि वे अपने-अपने क्षेत्र से निकल कर समस्त भारत अथवा भारत के एक बड़े भू-भाग को अपना कार्यक्षेत्र बनायें, तो उनकी दृष्टि हिन्दी की ओर गई। उस युग के हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के नाटककार भी हिन्दी के इस अन्तर्राज्यीय या राष्ट्रीय महत्त्व को समझते थे और बिना किसी ननुनच, संकोच या पूर्वाग्रह के उन्होंने न केवल अपनी भाषाओं के नाटकों में कुछ पात्रों के मुख से हिन्दी के संवाद बुलवाए, वरन् स्वयं दो कदम आगे बढ़ कर हिन्दी के कुछ नाटक भी लिखे। हिन्दी के प्रति उनकी यह निष्ठा राष्ट्र के भावनात्मक एवं सांस्कृतिक एकीकरण के लिए अत्यन्त स्पृहणीय रही है।

यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि मराठी, पारसी-गुजराती और गुजराती मंडलियों के या उनसे सम्बद्ध अनेक नाटककारों ने तो उन मंडलियों को अपने-अपने प्रान्तों (अब राज्यों) के बाहर लोकप्रिय बनाने के लिये हिन्दी में नाटक लिखे, किन्तु किसी बँगला नाटककार द्वारा हिन्दी नाटक लिखने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। भैरवचन्द्र हालदार के 'विद्यासुन्दर' यात्रा-नाटक (१८२३ ई०) के अन्त में हिन्दी में लिखित 'भिशितर पाला', राजकृष्ण राय के पूर्णतः ब्रजभाषा में लिखित 'दुष्टि मनचोरा' और ब्रजभाषा के कुछ पदों से समन्वित 'चतुराली'

(१८९० ई०) केवल अपवाद के रूप मे ही देखने मे आते हैं। इसके विपरीत आगा 'हश्र' ने अपने हिन्दी-उर्दू मिश्रित नाटक 'यहूदी की लडकी' का बँगला मे 'मिशर कुमारी' के नाम से अनुवाद किया था।

मराठी में विष्णुदास भावे ने 'गोपीचन्दाख्यान' (१८५३ ई०), दातारशास्त्री ने 'गोपीचन्दाख्यान' और 'मत्स्येन्द्राख्यान' और बलवन्त मराठे ने 'सुभद्रा-परिणय', 'बाणासुर-चरित्र', 'गोपीचन्द आख्यान' आदि ३२ नाटक हिन्दी में लिखे। इसके अतिरिक्त अण्णा इनामदार ने भी 'गोपीचन्द नाटक' (१८६९ ई०) हिन्दी मे लिखा। हिन्दी नाटको के लेखन के अतिरिक्त मराठी मे ऐसे भी कुछ नाटक लिखे गये, जिनमे पात्र हिन्दी मे सम्वाद बोलते हैं। *उन्नीसवी शती के बाद मराठी नाटककारो द्वारा हिन्दी नाटक-लेखन की यह परम्परा देखने में नही आई।*

मराठी के लोकनाट्यो मे से विशेषकर ललित और तमाशे मे भी हिन्दी का व्यवहार होता है। ललित-नाटको मे तो हिन्दी के सम्वाद भी रहते हैं। बीसवी शती के परिष्कृत तमाशे मे हिन्दी के गीत भी गाये जाते हैं।

पारसी-गुजराती रगमच से सम्बद्ध नसरवानजी खानसाहेब 'आराम' ने 'गोपीचन्द,' 'पदमावत,' 'शकुन्तला,' 'चन्द्रावली,' 'छैलबटाऊ-मोहनारानी आदि, शिवराकर गोविन्दराम ने 'हुस्नबानू' और शायरजग' (१८८७ ई०), गुजराती रगमच से सम्बद्ध मु० मिर्जा ने 'मदनमजरी' (१९०१ ई०) और मु० अब्बासअली ने 'सती मजरी' या 'श्रीमती मजरी' (१९२२ ई०, नृ० स०) नाटक हिन्दी मे लिखे।

गुजराती रगमच के प्रसिद्ध नाटककार मणिलाल 'पागल' ने कई नाटक हिन्दी मे लिखे, जिनमे 'माया-मच्छिन्द्र'[१५], 'सती प्रभाव'[१६] (१९३४ ई०) आदि प्रमुख हैं। इसी 'माया-मच्छिन्द्र' के आधार पर वी० शान्ताराम ने प्रभात फिल्म के ध्वज के अन्तर्गत इसी नाम का चलचित्र भी बनाया था। प्रसिद्ध नाट्यशास्त्री नथूराम सुन्दरजी शुक्ल ने अपने गुजराती नाटक 'विल्वमगल उर्फ सूरदास' का 'सूरदास' नाम से हिन्दी में अनुवाद भी किया था, जिसे राधेश्याम कथावाचक ने सूर विजय नाटक समाज के आग्रह पर बाद मे सशोधित किया था। इसी के आधार पर बाद में आगा 'हश्र' ने अपना 'भक्त सूरदास' लिखा था। इसके अतिरिक्त 'पागल' तथा अन्य गुजराती नाटककारो के नाटको मे हिन्दी के एकाध गीत प्राय रखे जाते थे। गुजराती के लोकनाट्य भवाई मे यत्र-तत्र हिन्दी के सम्वाद, पदो एव दोहों का समावेश प्राय रहता है।

कुछ गुजराती नाटककारों ने मराठी नाटक और कुछ मराठी नाटककारों ने गुजराती मे भी नाटक लिखे। गुजराती नाटककार 'पागल,' ने मराठी नाटक मडलियो के लिये भी नाटक लिखे[१८]। इसी प्रकार प्रसिद्ध मराठी नाटककार मोरेर (या शंकर ? बापूजी त्रिलोकेकर का प्रारम्भ मे सम्बन्ध बम्बई की नाटक उत्तेजक मडली (१८७४ ई०) मे रहा है और उसके लिये गुजराती मे उन्होने कुछ नाटक भी लिखे थे।[१९]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की आलोच्य भाषाओ के क्षेत्र मे भी हिन्दी अन्त-र्राज्यीय भाषा के रूप मे उन्नीसवी शती में विशेष रूप से नाटको की स्वीकृत भाषा रही है, किन्तु उत्तरोत्तर अपने-अपने प्रदेश की भाषा के प्रति मोह और निष्ठा बढती चली गई। गुजराती-क्षेत्र में बीसवी शती मे भी हिन्दी नाटक लिखे जाते रहे।

(दो) एक मंच, अनेकभाषी उपस्थापन

बँगला के रगमच पर, आधुनिक युग की नाट्य-सस्थाओ और मिनर्वा आदि कुछ रंगशालाओ को छोड़ कर, जिन्हें हिन्दी की नाटक मडलियाँ या सस्थाएँ किराये पर लेकर अपने हिन्दी नाटक खेलती रही हैं, हिन्दी अथवा अन्य किसी भाषा के नाटक खेले जाने का कोई दृष्टान्त नही मिलता, किन्तु मराठी और गुजराती की नाटक मंडलियाँ क्रमशः मराठी और गुजराती के नाटको के अतिरिक्त हिन्दी के नाटक भी खेलती रही हैं। पारसी-गुजराती रगमंच से ही आगे चल कर पारसी-हिन्दी रंगमंच का विकास हुआ, यह एक निर्विवाद तथ्य है, जिसे हमने इसी अध्याय के प्रारम्भ और तीसरे अध्याय मे सिद्ध किया है।

मराठी और गुजराती नाटक मंडलियाँ व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ थी तथा उन्हें बम्बई के बाहर उत्तर भारत की यात्रा के दौरान हिन्दी-भाषी सामाजिकों के बीच अपने नाटक दिखलाने पड़ते थे, अतः उन्हें हिन्दी के नाटकों को जगह-जगह मंचस्थ करना पड़ता था।

सर्वप्रथम विष्णुदास भावे की नाटक मंडली ने हिन्दी 'गोपीचन्दाख्यान' का प्रयोग बम्बई में २६ नवम्बर, १८५३ को किया था।[१६०] दातार शास्त्री के 'गोपीचन्दाख्यान' और 'मत्स्येन्द्रकथा' (१८७४ ई०) को इचलकरंजीकर नाटक मंडली ने अभिनीत किया। दातारशास्त्री के 'गोपीचन्द' की भाषा मराठी-हिन्दी मिश्रित है, किन्तु पुष्कल भाग हिन्दी का है।[१६१] बलवन्त मराठे के सभी हिन्दी नाटक नूतन साँगलीकर नाटक मंडली ने खेले, जिसका स्वत्व पूर्णत बलवन्त के हाथ मे आ जाने के बाद उन्होंने उसका नाम बदल कर 'साँगलीकर संगीत हिन्दी नाटक मंडली' कर दिया था। इस मंडली ने समस्त भारत के दौरे किये थे। दक्षिणी भारत की यात्राओं में जहाँ लोग हिन्दी नही समझते थे, वहाँ आंगिक अभिनय और आकर्षक साज-सज्जा का विशेष प्रश्रय लिया जाता था।[१६२]

कहते हैं कि किर्लोस्कर संगीत नाटक मंडली भी उत्तरी भारत का दौरा किया करती थी और हिन्दी के नाटक दिखलाया करती थी। एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार किर्लोस्कर नाटक मंडली ने कानपुर में अपना हिन्दी नाटक 'महात्मा तिलक' चारयारी बाग (लाटूश रोड) में दिखलाया था।[१६३]

अलनेकर हिन्दू नाटक मंडली बम्बई के बाहर जब अपनी दक्षिण-यात्रा पर निकलती थी, तो वह हिन्दी के नाटक भी खेलती थी। इस मंडली ने राजमहेन्द्री (आन्ध्र प्रदेश) में सन् १८८०-८१ में 'पुत्रकामेष्ठि' नामक हिन्दी नाटक खेला था और उसे तथा मंडली के अन्य नाटकों को देख और प्रेरणा लेकर तेलुगु रंगमंच की स्थापना हुई थी। अलनेकर मंडली के पास १८-१९ हिन्दी नाटक थे।[१६४]

सन् १८७९ के लगभग कुछ मराठी मंडलियों की आर्थिक स्थिति गिरने लगी और वे पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों द्वारा खरीद ली गई। पारसी-गुजराती मंडलियों के अधीन रह कर मराठी मंडलियाँ मराठी के नाटक खेलने लगीं। अलनेकर नाटक मंडली की अधीनता की एक मंडली पहले पुणेकर हिन्दू नाटक मंडली में सम्मिलित हुई और यह सम्मिलित मंडली बाद में दादा भाई सोराबजी पटेल की ओरिजिनल विक्टोरिया नाटक मंडली की अधीनता में आ गई। ओरिजिनल विक्टोरिया की अधीनता में पुणेकर मंडली ने २२ मार्च, १८७९ को 'चक्रव्यूह' एवं 'कचदेवयानी आख्यान' नामक दो मराठी नाटक आनन्दोद्भव थियेटर, पूना में प्रस्तुत किये थे।[१६५]

पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों में से जिन मंडलियों ने हिन्दी के नाटक खेले, उनमें प्रमुख थीं—विक्टोरिया नाटक मंडली, अल्फ्रेड नाटक मंडली, जो आगे चल कर पारसी अल्फ्रेड और न्यू अल्फ्रेड नामक दो पृथक् मंडलियों के रूप में बँट गई थी, एल्फिन्स्टन नाटक मंडली, मादन थियेटर्स आदि। आगे चल कर काठियावाड की गुजराती नाटक मंडली—सूर्यविजय नाटक समाज ने भी पूर्णत हिन्दी नाटक मंडली के रूप में परिणत होकर दिल्ली और उत्तरी भारत के अन्य नगरों के दौरे किये। इसका विस्तृत विवरण इसी अध्याय में पहले दिया जा चुका है। इस प्रकार पारसी-गुजराती और गुजराती नाटक मंडलियों ने पारसी-हिन्दी रंगमंच के उत्थान और विकास में अपूर्व योगदान दिया।

इसके अतिरिक्त गुजरात और महाराष्ट्र की प्रमुख गुजराती मंडलियों—देशी नाटक समाज और आर्यनैतिक नाटक समाज ने भी यदा-कदा हिन्दी नाटक खेल कर स्पृहणीय सेवा की है। देशी नाटक ने मुंशी मिर्जा का 'मदनमंजरी' (१९०१ ई०) और 'पागल' का 'सतीप्रभाव' (१९३४ ई०) नाटक हिन्दी में खेला। आर्यनैतिक ने मुन्शी अब्बास अली का 'सती मंजरी' या 'श्रीमती मंजरी' सन् १९२२ के पूर्व खेला।

आधुनिक काल में कुछ ऐसी नाट्य-संस्थाएँ भी बनी है, जो मराठी, गुजराती और हिन्दी, तीनों भाषाओं के नाटक खेलती हैं, यथा इप्टा (इंडियन पीपुल्स थियेट्रिकल एसोसियेशन), इंडियन नेशनल थियेटर और भारतीय

कलाकेन्द्र, बंबई आदि और कुछ ऐसी नाट्य-सस्थाएँ हैं, जो केवल गुजराती और हिन्दी के ही नाटक खेलती हैं, यथा थियेटर ग्रुप, बंबई । बवई के नाट्य निकेतन ने मराठी और हिन्दी के नाटक खेले हैं। इप्टा के अखिल भारतीय संस्था होने के कारण उसकी बँगला शाखा द्वारा बँगला के नाटक भी खेले गये । हिन्दी के मादन थियेटर्स (कलकत्ता) ने सन् १९२१ मे प्रयोग के रूप मे एक बँगला नाट्य मंडली–बगाली थियेट्रिकल कपनी की स्थापना की थी, किन्तु यह प्रयोग चिरस्थायी न हो सका और कुछ नाटको के बाद ही यह मडली बद हो गई । अनेक बंगाली मंडलियाँ हिन्दी के अल्फ्रेड थियेटर, कोरथियन थियेटर आदि किराये पर लेकर नाटक खेला करती थी ।

इस प्रकार एक मच के बहुभाषी नाटको के प्रयोग का केन्द्रस्थल बन जाने के कारण उनमे परस्पर आदान-प्रदान के लिये सभावनाएँ बढ गई है ।

(तीन) एक मंडली. बहुभाषी कलाकार

बबई भारत का अन्तर्प्रांतीय महानगर रहा है, जिसके कारण यहाँ के नागरिको में विभिन्न प्रातो, जातियों एव धर्मो के लोग सम्मिलित हैं । यही कारण है कि यहां के अनेक-भाषी नाटको के प्रयोगो मे बहुभाषी कलाकार बराबर योगदान देते रहे। रगमच के इतिहास की दृष्टि से इन नाट्य-प्रयोगो को तीन प्रमुख वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है–मराठी नाट्य-प्रयोग, पारसी नाट्य-प्रयोग, जिसके द्वारा क्रमशः गुजराती, उर्दू और हिन्दी के रगमच का विकास हुआ तथा गुजराती नाट्य-प्रयोग ।

मराठी नाटक और रंगमच के प्रवर्तक विष्णुदास भावे की सांगलीकर नाटक मडली मे मुख्य रूप से मराठी ब्राह्मण एवं अन्य हिन्दू कलाकार प्रमुख थे, जिसके फलस्वरूप उसे तत्कालीन समाचार-पत्रो मे 'हिन्दू ड्रामेटिक कोर' के नाम से भी अभिहित किया गया । इसी मडली ने आगे चल कर इन्ही मराठे कलाकारो के सहयोग से हिन्दी का 'गोपीचंदाख्यान' (१८५३ ई०) नाटक प्रस्तुत किया। यह मडली प्राय महाराष्ट्र के बाहर जाकर अपने मराठी नाटको के हिन्दी रूपातर प्रस्तुत किया करती थी। मडली के कलाकार मराठी के अतिरिक्त हिन्दी भी साधिकार ढग मे बोलना जानते थे। दोनो भाषाओ की लिपि एक होने से उनके लिये हिन्दी बोलना-समझना कठिन न था ।

सास्कृतिक और भाषायी एकीकरण की दृष्टि से पारसी मंडलियो का योगदान सर्वोपरि है, क्योंकि इन मडलियो के मच पर विभिन्न प्रात, जाति एव धर्म के कलाकारो की त्रिवेणी प्रवहमान रहती थी । मडली उनकी पहिचान, बहुभाषा-ज्ञान उनकी सास्कृतिक विरासत और अभिनय ही उनका एकमात्र धर्म था । प्रात, भाषा या धर्म की दीवार ने उनके बीच कभी अलगाव नही पैदा किया । मुस्लिम (संभवत पारसी-मुस्लिम ?) कन्या, अभिनेत्री मिस मुन्नीबाई (पूर्व नाम नेक बानू) को बालीवाला विक्टोरिया नाटक मंडली के स्वामी खुरशेदजी मेहरवानजी बालीवाला ने अपनी दत्तक पुत्री स्वीकार कर लिया । अल्फ्रेड नाटक मडली के स्वामी कावसजी खटाऊ ने अँग्रेज महिला अभिनेत्री मेरी फैन्टन से विवाह कर लिया । मेरी फैंटन खटाऊ के कॉमिक अभिनय पर सौ जान से निसार थी । सोहराब मोदी ने मुसलमान अभिनेत्री मेहताब के रूप-गुण पर मुग्ध होकर उसे अपनी परिणीता बना लिया । मा० फिदा हुसैन नरसी भक्त की भूमिका मे इतने रमे कि प्रेमशकर 'नरसी' बन कर रह गये ।

पारसी मडलियों के मंच पर सर्वप्रथम पारसी कलाकारो का अविर्भाव हुआ, जो अपने नाटक गुजराती मे प्रस्तुत करते थे, किन्तु शीघ्र ही उन्हें इस सत्य का बोध हुआ कि उन्हें बबई की बहुभाषी जनता के लिये उर्दू या हिन्दी को भी प्रश्रय देना होगा। फलतः उर्दू-हिन्दी नाटको के मचन के लिये पारसी कलाकारों के अतिरिक्त उक्त भाषाओ को जानने वाले कलाकारों के योग की आवश्यकता अनुभूत हुई । क्रमशः नायक, भोजक (गुजराती-भाषी), मीर और अन्य मुसलमान (उर्दू-भाषी), मारवाडी (राजस्थानी-भाषी), हिन्दू (हिन्दी-भाषी)

आदि जातियों के कलाकारों का इस मंच पर प्रवेश हुआ। पारसी तथा गुजराती कलाकारों की सुविधा के लिये हिन्दी नाटक को प्रायः 'गुजराती हरफे' लिखा जाता था। कुछ अंग्रेज स्त्रियाँ भी मंच पर आईं, जिन्होंने हिन्दी-उर्दू सीख कर अपने भारत-प्रेम का परिचय दिया।

पारसी कलाकारों में प्रमुख हैं काबसजी खटाऊ, खुरशेदजी बालीवाला, फरामजी दादाभाई अप्पू, धनजीभाई घडियाल, पेस्टनजी फरामजी मादन, होरमसजी मोदी, दाराशाह सोहराबजी तारपोरवाला, धनजीभाई केरेवाला, पेस्टनजी धनजी भाई मास्टर, दादाभाई रतनजी ठूँठी, जहाँगीरजी पेस्टनजी खमाता, फरामजी गुस्तादजी दलाल, पेस्टनजी नसरवानजी वाडिया, खुरशेदजी बहरामजी हाथीराम ('इंदरसभा' में राजा इन्दर), मा० शिवबख्श रुस्तम जी, सोराबजी ओग्रा, खुरशेदजी बिलमोरिया, दादाभाई सरकारी, कैको अदा जानिया, नसरवानजी सरकारी, दोराबजी सचीनवाला, सोराबजी ठूँठी, सोहराब मोदी, सोराबजी केरेवाला आदि। इनमें खुरशेदजी बालीवाला, पेस्टनजी फरामजी मादन, मा० रुस्तम जी, नसरवानजी सरकारी तथा दोराबजी सचीनवाला स्त्री-भूमिकाएँ किया करते थे।

गुजराती कलाकारों में अमृत केशव नायक, वल्लभ केशव नायक, रामलाल वल्लभ, परसोत्तम नायक, नर्मदाशंकर, मगनलाल, अम्मूलाल, मा० भोगीलाल, मा० मोहन आदि, मुसलमान कलाकारों में महबूब, मु० इस्मत अली, अता मुहम्मद खाँ, सैयद हसन चटा, मुहम्मद हुसैन, बाबू गुलाम कादिर, हाफीज मुहम्मद अब्दुल्ला, फिदा हुसैन, मा० निसार, अब्दुल रहमान काबुली, गुलाब हुसैन, मु० रियाज, शाकिर भाई आदि, मारवाड़ी कलाकारों में पुरुषोत्तम मारवाड़ी, फूलचंद मारवाड़ी, माणिकलाल मारवाड़ी, मा० सूरजराम, मा० सीताराम आदि, हिन्दू कलाकारों में रामकृष्ण चौबे, नंदकिशोर, गंगा प्रसाद शर्मा, जगन्नाथ, गोवर्धनदास, त्रिलोचन झा, कमल मिश्र, मा० मनोहरलाल, भँवरलाल वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ईसाई कलाकारों में जोसेफ डेविड, बेंजमिन आदि के नाम रंगमंच के साथ जुड़े हुए हैं।

इन कलाकारों में वल्लभ केशव नायक, रामलाल वल्लभ, मा० मोहन, परसोत्तम नायक, नर्मदाशंकर, भोगीलाल, फिदा हुसैन, मा० निसार, फूलचंद मारवाड़ी, जगन्नाथ आदि प्रारंभ में मुख्यतः स्त्री-भूमिकाएँ करने के लिये प्रसिद्ध रहे हैं।

क्रमशः पारसी मंच पर महिला-कलाकारों ने पदार्पण कर उसे सौंदर्य, गरिमा और अर्थवत्ता प्रदान की। ये अभिनेत्रियाँ भी समाज के विभिन्न अंगों, जातियों, धर्मों और भाषा-क्षेत्रों या प्रांतों से आई थीं, किन्तु सभी ने हिन्दी सीख कर पारसी-हिन्दी रंगमंच के स्वरूप को निखारा। इन अभिनेत्रियों में मेरी फैन्टन (अंग्रेज), पेशेंस कूपर (अंग्रेज या क्रिश्चियन), मिस बिजली, मिस मुन्नीबाई, मिस गुलाब, मिस पुतली, मिस गौहर (बालीवाला विक्टोरिया वाली), मिस गुलनार, जोहरा, लैला, हीरा, मिस शरीफा, रहमूजान, मोती जान, मिस जहाँ आरा कज्जन, सरस्वती बाई, सीता देवी (बंगालिन), लता बोस (बंगालिन), रानी उर्वशी आदि उल्लेखनीय हैं।

गुजराती नाट्य-प्रयोगों में मुख्यतः गुजराती कलाकारों ने ही भाग लिया, यद्यपि इतर प्रांतीय कुछ मुसलमान एवं हिन्दू (विशेषकर मराठे) कलाकार भी उसके संवर्धन में पीछे नहीं रहे। गुजराती मंच के कलाकारों ने हिन्दी के नाटक भी सफलतापूर्वक प्रस्तुत किये, जैसाकि पहले इंगित किया जा चुका है।

राष्ट्रीय संगम, सांस्कृतिक समागम और भाषागत एकता का ऐसा अद्भुत दृश्य यदि कहीं देखना हो, तो पारसी-हिन्दी, मराठी तथा गुजराती रंगमंच के इतिहास के पन्ने पलटने होंगे। हिन्दी रंगमंच की यह परंपरा आधुनिक युग, विशेषकर स्वातंत्र्योत्तर काल में और भी विकसित एवं पल्लवित हुई है।

(चार) नाट्य-पद्धति या रंग-शिल्प का अनुकरण

१९ वीं शती के उत्तरार्द्ध के पूर्व हिन्दी, मराठी और गुजराती के लोक-नाट्यों तथा हिन्दी के मैथिली

और व्रजभाषा नाटकों की नाट्य-पद्धति में अद्भुत समानता मिलती है और वह यह है कि इनमें कथा-सूत्रों को जोड़ने और कथा को आगे बढ़ाने वाला सूत्रधार, नायक, कवि, रंगा या रँगला सदैव रंगमंच पर ही वर्तमान रहता है और वह अपने पात्रों की ओर से स्वयं भी पदों या गीतों में उनके मन की बात कह देता है और पात्र केवल आंगिक अथवा सात्विक अभिनय द्वारा उन बातों या कार्यों का संकेत दे देते हैं। बँगला के यात्रागानों में भी इसी पद्धति के अनुरूप यात्रावाला या कवि कथासूत्रों को गा-गाकर जोड़ा करता था। यात्रा-गानों के परिष्कृत रूप यात्रा-नाटकों में भी इस पद्धति को अपनाया गया है। भैरवचन्द्र हालदार के 'विद्यासुन्दर' यात्रा-नाटक में इसी अभिप्राय के लिये 'अवतरणिका' का उपयोग किया गया है।"[३]

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में सारे देश में अँग्रेजी शासन के जम जाने से सभी भाषाओं के नाटककारों का ध्यान अँग्रेजी रंगमंच और पाश्चात्य नाटकों की ओर गया, तो दूसरी ओर उन्होंने संस्कृत नाट्य-पद्धति को उत्तराधिकार के रूप में स्वीकार किया। कुछ ने केवल पाश्चात्य नाट्य-पद्धति को, कुछ ने केवल संस्कृत नाट्य-पद्धति को, किन्तु अधिकांश ने इन दोनों पद्धतियों का उनका समन्वय कर अपने नाटकों में अपनाया। केवल भावे युग के मराठी नाटकों में दक्षिण की लोकनाट्य-पद्धति कुछ परिमार्जित होकर सन् १८८० तक चलती रही। इसके बाद किर्लोस्कर ने भारतीय एवं पाश्चात्य, दोनों पद्धतियों का समन्वय कर अपने संगीत नाटक लिखे, किन्तु शीघ्र ही श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर संस्कृत-पद्धति का परित्याग कर पाश्चात्य पद्धति के अनुसरण में लग गये। हिन्दी और गुजराती के नाटक प्रायः भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-पद्धतियों के मिले-जुले रूप को लेकर बीसवीं शती के प्रथम दो दशक तक चलते रहे, जब कि बँगला के नाटक संस्कृत नाट्य-पद्धति का पल्ला छोड़कर उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही पाश्चात्य नाट्यपद्धति का अनुसरण करने लगे। ताराचरण सिकदार का 'भद्रार्जुन' (१८५२ ई०) बँगला का प्रथम नाटक है, जो संस्कृत नाट्य-पद्धति से मुक्त है और जिसमें पाश्चात्य नाट्य-पद्धति को अपनाया गया है।

इस प्रकार यद्यपि हिन्दी और सभी हिन्दीतर भाषाओं पर पाश्चात्य नाट्य-विधान का रंग गहरा होता चला गया, किन्तु सभी भाषाओं ने, अपने-अपने क्षेत्र की विशिष्टताओं के अनुसार ही, उस रंग को कुछ कम या अधिक रूप में, कहीं शीघ्र और कहीं कुछ विलम्ब से ग्रहण किया। बँगला के नाटक प्रायः पाँच अंकों के, मराठी के तीन से पाँच अंकों तक के, किन्तु हिन्दी और गुजराती के नाटक प्रायः तीन ही अंकों के होते रहे हैं। आधुनिक काल में दो अंकों के नाटकों को प्रायः सभी भाषाओं में प्राथमिकता दी जाती है। प्रायः सभी नाटक अँग्रेजी पद्धति के अनुसार सीन, दृश्य या प्रवेश में बँटे रहते हैं। पारसी-गुजराती और पारसी-हिन्दी नाटकों में तीन अंकों के रूढ़ होने का कारण सम्भवतः यह रहा है कि दोनों के ही मूल स्रोत एक रहे हैं, जहाँ से दोनों को एक-सी प्रेरणा, एक-से विचार प्राप्त हुए। यही कारण है कि गुजराती और हिन्दी के नाटकों में 'कॉमिक' बीच-बीच में गुँथा-सा रहता है, जबकि बँगला और मराठी के नाटकों के अन्त में 'फार्स' या प्रहसन खेलने की परम्परा रही है। बाद में प्रहसन सभी भाषाओं में स्वतन्त्र रूप से लिखे और खेले जाने लगे।

रंगशिल्प का जहाँ तक प्रश्न है, यह सभी भाषाओं के रंगमंचों ने पाश्चात्य रंगमंच से ही ग्रहण किया है। आधुनिक रंगशिल्प के सम्बन्ध में प्रथम अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है। इस रंगशिल्प को अपनाने की दिशा में बँगला रंगमंच अग्रणी रहा है। बिजली की चमक, बादल आदि के दृश्य सर्वप्रथम श्यामबाजार थियेटर द्वारा भारतचन्द्रराय 'गुणाकर' के 'विद्यासुन्दर' के प्रदर्शन के समय सन् १८३५ में दिखलाये गये थे।"[४]

(५) निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी और अध्ययनगत भाषाओं—बँगला, मराठी

और गुजराती के रंगमंचो के अभ्युदय-काल मे संस्कृत नाट्यशास्त्र द्वारा प्रवर्तित नाट्य-परम्पराओ के साथ लोकमंच के दीर्घकाल से चलने वाले विविध प्रयोगो ने अद्भुत योग दिया । सत्रहवी शती मे अँग्रेजो के आगमन और क्रमश भारत मे उनके पैर जमा लेने के बाद अँग्रेजी रंगमंच और उसके रंगशिल्प, नाट्य-विधान और अभिनय-पद्धति ने देश के रंगमंच को प्रभावित किया और उस प्रभाव को हिन्दी तथा सभी हिन्दीतर भारतीय भाषाओ के रंगमंचो ने तेजी से ग्रहण किया । आधुनिक रंगमंच के तीनो उपादानो–रंगशाला, नाटक और अभिनय पर पश्चिम का प्रभाव स्पष्ट है ।

अठारहवी और उन्नीसवी शतियो मे अँग्रेजी रंगमंच की स्थापना कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि कई प्रमुख नगरो मे हुई, जिसका बँगला, मराठी, गुजराती और हिन्दी के रंगमंचो पर यथेष्ट प्रभाव पडा । बँगला और हिन्दी भाषा के केन्द्र–कलकत्ते–मे और मराठी, गुजराती और हिन्दी नाटको के केन्द्र–बम्बई–मे उसके अनुकरण पर अनेक स्थायी रंगशालाएँ बनी, किन्तु अनेक प्रदेशो मे अस्थायी रंगशालायें ही बनाई गईं । इनमे परदो, रंगसज्जा, रंग-दीपन, ध्वनि-संकेत आदि के लिए पाश्चात्य शैली को अपनाया जाता था । नाटक भी अँग्रेजी नाटको के छायानुवाद होते या उन्ही के अनुकरण पर लिखे जाते थे । संस्कृत के कुछ नाटको के अँग्रेजी, हिन्दी अथवा आलोच्य भाषाओ मे किये गये अनुवाद भी खेले गये ।

बँगला और गुजराती के नाटक पाश्चात्य प्रभाव और लोकनाट्यो की प्रतिक्रिया-स्वरूप लिखे गये । प्रारम्भ मे इनमे संस्कृत की नाट्य-पद्धति का अनुसरण किया गया, किन्तु उत्तरोत्तर वे पश्चिमी नाट्य-पद्धति से प्रभावित होते चले गये । मराठी के नाटको पर संस्कृत और भागवतार आदि लोकनाट्यो का प्रभाव पडा, किन्तु वहाँ भी अतीत के इन सभी प्रभावो का त्याग किया जा चुका है । हिन्दी की उप-भाषाओ–मैथिली और ब्रज के नाटको पर लोक-नाट्यो की शैली का प्रभाव है, किन्तु भारतेन्दु-युग के नाटकों पर संस्कृत और अँग्रेजी के नाटको का प्रभाव विशेष रूप से बँगला नाटकों के माध्यम से ग्रहण किया गया । बेताब युग के नाटको पर अँग्रेजी, मराठी, गुजराती और उर्दू के नाटको की छाप देखी जा सकती है । पारसी-हिन्दी नाटको मे लोक-नाट्य एव मराठी के संगीतको का गीति-तत्त्व एव रागबद्ध संगीत, संस्कृत के मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि, अँग्रेजी के ढंग का अंक-दृश्य-विभाजन और गद्य-संवाद, पारसी-गुजराती का 'कोरस', 'कॉमिक' या हास्य-उपकथा और कथानक, संवाद आदि की कृत्रिम पद्धति और उर्दू की शब्दावली वर्तमान है । बेताब युग मे अँग्रेजी का विशेष प्रभाव गुजराती के माध्यम से हिन्दी में आया । मराठी और हिन्दी के आधुनिक नाटक अब पाश्चात्य नाट्य-पद्धति के अनुसार ही लिखे जा रहे हैं ।

बीसवी शती के चौथे दशक मे चलचित्रो के आविर्भाव के कारण हिन्दी, मराठी तथा गुजराती भाषाओ की व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ प्राय समाप्त-सी हो गईं । अव्यावसायिक (अवेतन) रंगभूमि ने नये-नये नाटक खेलकर न केवल रंगमंच को गतिशील बनाया, वरन् नये नाटककार भी पैदा किये, जिससे सभी भाषाओ का नाट्य-साहित्य समृद्ध हुआ । रंगमंच के अभाव मे पाठ्य नाटक अथवा रंग-निरपेक्ष नाटक अधिक लिखे जाने लगे ।

भारतीय भाषाओ, विशेषकर मराठी और गुजराती के नाटककारो ने अपनी भाषाओ के अतिरिक्त हिन्दी तथा अन्य भाषाओं मे भी नाटक लिखे । बँगला के नाटककारों ने इस दिशा मे विशेष उत्साह नही दिखलाया । बम्बई की मराठी-गुजराती नाटक मंडलियो ने हिन्दी के भी नाटक खेले । कलकत्ते के मादन थियेटर्स की एक शाखा ने कुछ बँगला नाटक खेले, किन्तु किसी बँगला मंडली द्वारा हिन्दी के नाटक नही खेले गये ।

व्यावसायिक रंगशालाएँ अब केवल बँगला, गुजराती और हिन्दी मे हैं, जो आज भी जीवित हैं, किन्तु उन्हें चलचित्रों से गहरी प्रतिस्पर्धा करनी पडती है । गुजराती का देशी नाटक समाज बम्बई मे है और हिन्दी का मूनलाइट थियेटर हिन्दी-प्रदेश मे न होकर कलकत्ते मे सन् १९६९ के प्रारम्भ तक रहा है । बँगला की रंगशालाएँ मुख्यतः कलकत्ते में ही हैं ।

हिन्दी में अव्यावसायिक रंगमंच का विकास उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध मे व्यावसायिक मंच की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु अन्य भाषाओं मे इसकी विधिवत् प्रतिक्रिया बीसवी शती के तीसरे दशक में प्रारम्भ हुई। लगभग इसी समय, बल्कि कुछ समय पूर्व ही हिन्दी नाट्य-क्षेत्र मे जयशकर प्रसाद का अभ्युदय हुआ। प्रसाद युग मे हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच-आन्दोलन का एक नया दौर प्रारम्भ हुआ, जो अनेक चढाव-उतार के बाद अब एक सर्वांगपूर्ण नव-नाट्य आन्दोलन का रूप धारण कर चुका है। इस आन्दोलन का प्रभाव-क्षेत्र उत्तर प्रदेश के प्रमुख नगरो के अतिरिक्त कलकत्ते से बम्बई तक समस्त उत्तरी भारत मे फैला हुआ है।

रंग-सज्जा, रंगदीपन, ध्वनि-संकेत आदि के आधुनिकीकरण के साथ नाटकों की आधुनिक अभिनय-पद्धति मे भी बड़ा सुधार हुआ है। रूप-सज्जा, वेष-भूषा और अलकरण मे भी अब सुरुचि और वस्तुवाद को प्रश्रय दिया जाता है।

संदर्भ

२. भारतीय रंगमंच की पृष्ठभूमि और विकास

१. डॉ० नगेन्द्र (प्र० सं०) तथा अन्य, हिन्दी-नाट्यदर्पण (मू० ले० रामचन्द्र-गुणचन्द्र), भूमिका, दिल्ली, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६१, पृ० २०।
२. वही, सूत्र २२३–२२९, पृ० ३१५–३६०।
३. डॉ० भोलाशंकर व्यास, व्या०, दशरूपकम् (मू० ले० धनजय), दो शब्द, बनारस, चौखंभा विद्याभवन, १९५५, पृ० ११।
४. शिवप्रसाद सिंह, सस्कृत नाट्यशास्त्र : आरम्भ और विकास (आलोचना, नाटक विशेषांक, जुलाई, १९५६, पृ० १९)।
५. वही, पृ० ३०।
६. मैक्समूलर, डाइ सेजेन्ट्स आफ दि ऋग्वेद, पृ० २७।
७. वाल्मीकि, रामायण, २/६५/१-४।
८. वही, १/५/१२।
९. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, अध्यक्ष प्रचार अधिकरण, अध्याय २७।
१०. वात्स्यायन, कामसूत्र, १/४/२५ (वाराणसी, चौखभा संस्कृत सीरीज आफिस, १९६४, पृ० १३९)।
११. मनमोहन घोष, स०, दि नाट्यशास्त्र, भाग २, ३५/१०६, कलकत्ता, रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १९५०।
१२. १–वत्, सूत्र २९९ (८), पृ० ४०६।
१३. १०–वत्, नागरकवृत्त प्रकरण, १५।
१४. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोष, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
१५. सर एम० मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
१६. ११–वत्, ३६/८३।

१७. डॉ० ए० बी० कीथ, दि संस्कृत ड्रामा, आक्सफोर्ड, क्लैरेण्डन प्रेस, १९२४, पृ० ३४८।
१८. डॉ० हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, भारतीय नाट्यमंच, द्वितीय भाग, पृ० २५।
१९. (क) वही, पृ० २६, तथा
(ख) श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, पृ० २७२।
२०–२१. १८-वत्, पृ० २६।
२२. वही, पृ० २७। २३. वही, पृ० २८।
२४. (क) बापूराव नायक, ओरिजिन आफ मराठी थियेटर, नई दिल्ली, महाराष्ट्र इन्फार्मेशन सेंटर, १९६४, पृ० ७४, तथा।
(ख) डॉ० डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, बम्बई से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर।
२५ डॉ० विद्यावती लक्ष्मणराव नम्र, हिन्दी रंगमंच और पं० नारायण प्रसाद 'बेताब', वाराणसी, विश्व-विद्यालय प्रकाशन, १९७२, पृ० ८९–९०।
२६ श्रीनिवास नारायण बनहट्टी, मराठी रंगभूमीचा इतिहास, १८४३–७९, खण्ड पहिला, पूना, वीनस प्रकाशन, १९५७, पृ० ११०।
२७. सुन्दरलाल त्रिपाठी, बंगला साहित्य के नाट्य तथा रंगमंच (आलोचना, नाटक विशेषांक, जुलाई, १९५६, पृ० २०३)।
२८. (क) वही, तथा
(ख) ब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय, बंगीय नाट्यशालार इतिहास, १७९५–१८७६, कलकत्ता, बंगीय साहित्य परिषद्, च० सं०, १९६१, पृ० १२–१३।
२९. भैरवचन्द्र हालदार, विद्यासुन्दर, भूमिका (प्रकाशक), कलकत्ता, भूपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, १९१३, पृ० ३।
३०. डॉ० हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, दि इंडियन स्टेज, द्वितीय भाग, कलकत्ता, मुनीन्द्रकुमार दासगुप्त, द्वि० सं०, १९४६, पृ० ५६।
३१. वही, पृ० ६५। ३२. वही, पृ० ६०।
३३. वही, पृ० ८४। ३४. वही, पृ० ८१।
३५. वही, पृ० ८७-८८। ३६. वही, पृ० ८९।
३७. वही, पृ० १२४-१२६। ३८. वही, पृ० १०३।
३९. वही, पृ० ११९।
४०. १९ (ख)-वत्, पृ० ३०५।
४१. ३०-वत्, पृ० १३५।
४२ भारत संस्कारण, कलकत्ता, ७ नवम्बर, १८७३।
४३. महादेव साहा, अनु०, नीलदर्पण (मू० ले० दीनबन्धु मित्र), परिशिष्ट १, इलाहाबाद, मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, १९६४, पृ० १४२-१४३।
४४. वही, पृ० १४१-१४२।
४५. ३०-वत्, पृ० २२२।
४६. वही, पृ० २२२-२२३। ४७. वही, पृ० २४२।
४८. वही, पृ० २४५। ४९. वही, पृ० २५०-२५१।
५०. १९ (ख)-वत्, पृ० ३२५।
५१. १८-वत्, पृ० १३०।

५२. श्री० ना० बनहट्टी, मराठी रंगभूमीचा इतिहास, पृ० १७३ ।
५३ वही, पृ० ११० ।
५४. (क) डॉ० डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, बम्बई, से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर, तथा
(ख) डॉ० धनजीभाई पटेल, पारसी तख्तानी तवारीख, १९३१, पृ० २ ।
५५. रतिलाल त्रिवेदी, आपणा केटलाक नाट्यकारो (गुजराती नाट्य-शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रन्थ, बम्बई, १९५२, पृ० ८३) ।
५६-५७ एवं ५८ ५४ (क)—वत् ।
५९. (क) वही, तथा
(ख) रमणिक श्रीपतराय देसाई, गुजराती नाटक कम्पनीओनी सूचि (गु० ना० श० म० स्मा० ग्रन्थ, पृ० १०२) ।
६०. (क) काशिनाथ त्रिवेदी, अनु० आत्मकथा (मू० ले० मोहनदास कर्मचन्द गांधी), अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, १९५७, पृ० ४-५, तथा ।
(ख) ५४ (क)-वत् ।
६१, ६२, ६३ एवं ६४ ५४ (क)—वत् ।
६५ (क) वही तथा
(ख) राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटक-काल, बरेली, राधेश्याम पुस्तकालय, १९५७, पृ० २१ ।
६६. ५४ (क)-वत् ।
६७. (क) वही, तथा
(ख) नारायण प्रसाद 'बेताब', बेताब-चरित्र, मंज़िल २० (ब्रह्मभट्ट कवि सरोज, पृ० ३९९) ।
६८. ५४ (क)—वत् ।
६९. ६५ (ख)-वत्, पृ० १७ ।
७०. वही, पृ० १८ ।
७१. वही, पृ० २१-२२ ।
७२. वही, पृ० १२ ।
७३. वही, पृ० १३ ।
७४. वही, पृ० २६-२९ ।
७५. वही, पृ० ३०-३१ ।
७६. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, भाग २५, संख्या ९–१२, १९०३ ।
७७. मशीकुज्जमाँ, इंदरसभाएँ : एक अध्ययन (अप्रकाशित, १९६५) ।
७८. सैयद बादशाह हुसैन हैदराबादी, उर्दू में ड्रामानिगारी, हैदराबाद (दक्षिण), शमसुल मतावे, मशीन प्रेस, १९३५, पृ० ७६ ।
७९. डॉ० अब्दुल नामी, उर्दू थियेटर, उर्दू रोड, कराची (पाकिस्तान), अंजुमन तरक्किये उर्दू, १९६२, पृ० २३१ ।
८०. ७७-वत् ।
८१. सैयद मसूद हसन रिजवी 'अदीब', लखनऊ का अवामी स्टेज, किताबनगर, दीनदयाल रोड, लखनऊ, द्वि० सं०, १९६८, पृ० २०६ ।
८२. वही, पृ० ६३ की पाद-टिप्पणी ।
८३. ७७–वत् ।

८४. डॉ० रणवीर उपाध्याय, हिन्दी और गुजराती नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६६, पृ० ३०१।

८५ वही, पृ० ३०५।

८६. डॉ० डी० जी० व्यास, कला समीक्षक, बम्बई, से एक साक्षात्कार(जून, १९६५)के आधार पर।

८७. ८४ वत्, तथा

(ख) श्रीकृष्णदास, इदरसभा और रहस (नया पथ, नाटक विशेषांक, मई, १९५६, पृ० ४७६)।

८८. डॉ० गोपीनाथ तिवारी, भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, इलाहाबाद, हिन्दी भवन, १९५९, पृ० ११८-११९।

८९. ८७-(ख) वत्, पृ० ४७९।

९०. ८८ वत्, पृ० ११७।

९१. गिरिजा राजेन्द्रन, वे स्वर जिनकी सूरत याद है(माधुरी, स्वरहस विशेषांक, बम्बई, ८ जनवरी, १९७१), पृ० ११।

९२. (क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नाटक (भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय भाग, सं० व्रजरत्नदास, इलाहाबाद, रामनारायण लाल, १९३६, पृ० ४८३), तथा।

(ख) ९३-(ख) वत्, पृ० ६९।

९३. (क) रामदीन सिंह, चरित्राष्टक, प्रथम भाग की पाद-टिप्पणी,(अनु० प० प्रतापनारायण मिश्र), प्र० सं०, १८९४ ई०, पृ० २१, तथा

(ख) शीतलाप्रसाद त्रिपाठी, भूमिका, जानकीमंगल नाटक, ज्ञानमार्तण्ड यन्त्रालय, प्रयाग, वि० सं० १९३३ तथा नाटक (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्पूर्णानन्द स्मृति अक, वर्ष ७३, अंक १-४, सं० २०२५, पृ० ७१–७२)।

९४. (क) धीरेन्द्रनाथ सिंह, हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक : जानकीमंगल (ना० प्र० पत्रिका, सम्पूर्णानन्द स्मृति अक, वर्ष ७३, अक १-४, स० २०२५, पृ० ५८-५९, तथा

(ख) प० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, सं० १९९९, पृष्ठ ४९७।

९५. (क) ९३ (ख)–वत्, पृ० ५९, तथा

(ख) ९४ (क)–वत्, पृ० ५९।

९६. ९४ (ख)-वत्।

९७. (क) ९२ (क) वत्, तथा

(ख) ९४ (क) वत्, पृ० ६६।

९८. ९३ (ख) वत्, आवरण-पृष्ठ, पृष्ठ ६७।

९९. (क) मन में मजु मनोरथ होरी।-(तुलसीदास, गीतावली, पद स० १०२)

(ख) लेहु री लोचननि को लाहु। (वही, पद स० ९५)।

१००. शिवनन्दन सहाय, भारतेन्दु चरित्।

१०१. वही, पृ० १७१, १९३, १९५ एवं १९८।

१०२. गोपालराम गहमरी, दैनिक आज, काशी, २८ अप्रैल, १९२७।

१०३. कुँवर जी अग्रवाल, काशी का रंग-परिवेश और भारतेन्दु जी (नटरंग, नई दिल्ली, जनवरी-मार्च, १९६९, पृ० ४३) ।
१०४. गोपालराम सहमरी, दैनिक आज, काशी, २८ अप्रैल, १९२७ ।
१०५. धीरेन्द्रनाथ सिंह, कुछ भारतेन्दुयुगीन अभिनीत नाटक (नटरंग, नई दिल्ली, जनवरी-मार्च, १९६९, पृ० ४९ ।
१०६. डॉ० गोपीनाथ तिवारी, भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, इलाहाबाद, हिन्दी भवन, १९५९, पृ० ३८९ ।
१०७. डॉ० हे० दासगुप्त, भारतीय नाट्य-मंच, द्वितीय भाग, पृ० १३० ।
१०८. वही, पृ० २७१ ।
१०९. वही, पृ० २७२ ।
११०. वही, पृ० २७५ ।
१११ वही, पृ० २७७ ।
११२. वही, पृ० २७७–२७८ ।
११३. वही, पृ० २८० ।
११४ उमा वासुदेव, इंटरव्यू विद थियेटर कपुल शभु मित्र एण्ड तृप्ति मित्र (नाट्य, टैगोर सेन्टिनरी नम्बर, पृ० ३३) ।
११५. (क) के० नारायण काले, थियेटर इन महाराष्ट्र, नई दिल्ली, महाराष्ट्र इन्फार्मेशन सेंटर, १९६३, पृ० ५, तथा
(ख) श्री० ना० बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि नाट्यवाङ्मय, पूना, पुणे विद्यापीठ, १९५९, पृ० १४७ ।
११६. (क) मराठी स्टेज (ए सोवनीर), मराठी नाट्य परिषद्, १९६१, पृ० २०, तथा
(ख) श्री० ना० बनहट्टी, मराठी नाट्य और रंगभूमि (साहित्य-संदेश, अन्तःप्रांतीय नाटक विशेषांक, आगरा, जुलाई-अगस्त, १९५५, पृ० ७१) ।
११७. ११५ (क)—वत्, पृ० ७ ।
११८. वही, पृ० ६-७ ।
११९. मोतीराम गजानन रांगणेकर, माडेल हाउस, प्रॉक्टर रोड, बम्बई से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर ।
१२०. ११५ (ख)—वत्, पृ० १०६ ।
१२१. वही, पृ० १४६ ।
१२२. ११५ (क)—वत्, पृ० ५ ।
१२३. वसंत शांताराम देसाई, ग्लिम्प्सेज आफ मराठी स्टेज (मराठी स्टेज, मराठी नाट्य परिषद्, १९६१, पृ० २४) ।
१२४. ११९—वत् ।
१२५. ११५ (क)—वत्, पृ० १४ ।
१२६. वही, पृ० १३-१४ ।
१२७. ११९-वत् ।
१२८. रमणिक श्रीपतराय देसाई, गुजराती नाटक कम्पनीओनि सूचि, पृ० १०१-१२२ ।
१२९. रतिलाल त्रिवेदी, आपणा केटलाक नाट्यकारो, पृ० ८६-८७ ।
१३०-१३१. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरण-मंजरी, बम्बई, एन० एम० त्रिपाठी लि०, १९५५, पृ० २१ ।
१३२. १२९-वत्, पृ० ८६ ।

१३३. डॉ० डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, बम्बई से एक साक्षात्कार (जून, १९६५ के आधार पर)

१३४. (क) वही, तथा

(ख) जयंतिलाल आर० त्रिवेदी, स०, इतिहासनी दृष्टिए श्री मुम्बई गुजराती नाटक मंडली (गुजराती नाट्य, जनवरी-फरवरी, १९५८, पृ० ८८)।

१३५. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरण-मजरी, बम्बई, एन० एम० त्रिपाठी लि०, १९५५, पृ० ९।

१३६-१३७. वही, पृ० ४४। १३८. वही, पृ० ५५।

१३९ वही, पृ० ६३। १४०. वही, पृ० ९२।

१४१ धनसुखलाल मेहता, गुजरातनो विनधधादारी रंगभूमिनो इतिहास, बडोदा, भारतीय सगीत-नृत्य-नाटक महाविद्यालय, १९५६, पृ० ३३-३४।

१४२. राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटक-काल, पृ० २३।

१४३. १३३-वत्।

१४४. डॉ० विद्यावती लक्ष्मणराव 'नम्र', हिन्दी रंगमंच और पं० नारायण प्रसाद 'बेताब', पृ० ९२।

१४५. १४२-वत्, पृ० ९०।

१४६. १४१-वत्, पृ० २१।

१४७ रमणिक श्रीपतराय देसाई, गुजराती नाटक कम्पनीओनी सूचि, पृ० ११९।

१४८. धनजीभाई न० पटेल, पारसी तख्तानी तवारीख, १९३१, पृ० १२३।

१४९ वही, पृ० १४७-१४८।

१५०. डॉ० चन्द्रलाल दुबे, हिन्दी रंगमच का इतिहास, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, १९७४, पृ० ६७।

१५१. (क) १३३-वत्, तथा

(ख) चन्द्रवदन मेहता, ए हड्रेड इयर्स आफ गुजराती स्टेज (मोवनीर, बडौदा, कालेज आफ इंडियन म्यूजिक, डान्स एण्ड ड्रामेटिक्स, १९५६, पृ० ९४-९५, तथा

(ग) डॉ० रणधीर उपाध्याय, हिन्दी और गुजराती नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ३०७।

१५२, १५३, १५४ तथा १५५—युगलकिशोर 'पुष्प', नेकबानु डी० खरास उर्फ मुन्नीबाई बेटी खुरशेद बालीवाला (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, २ अगस्त, १९७०), पृ० २७।

१५६. १४७-वत्, पृ० १२०।

१५७. (क)-१५० वत्, पृ० ७६-७७, तथा

(ख) १४४-वत्, पृ० ५५-५६।

१५८. (क) १५०-वत्, पृ० ९६-९८, तथा (ख) १४४-वत्, पृ० ५७-५८।

१५९. (क) १५०-वत्, पृ० ९९-१०४, तथा (ख) १४४-वत्, पृ० ६० तथा ७४-७५।

१६०. १३३—वत्।

१६१. १४२-वत्, पृ० २४।

१६२. वही, पृ० २००। १६३. वही, पृ० २०२।

१६४. वही, पृ० २०३।

१६५. (क) १४७ वत्, पृ० ११९, तथा

(ख) १४२-वत्, पृ० १०८।

१६६. १४२-वत्, पृ० ११३।

१६७ रा० कथावाचक, मेरा नाटक-काल, पृ० २१२ ।
१६८. प्रेमशंकर 'नरसी', निर्देशक, मूनलाइट थियेटर, कलकत्ता से एक साक्षात्कार (दिसम्बर, १९६५) के आधार पर ।
१६९. डॉ० विद्यावती ल० नम्र, हिन्दी रंगमंच और पं० नारायण प्रसाद 'बेताब', पृ० ८१ ।
१७०. (क) रमणिक श्रीपतराय देसाई, गुजराती नाटक कम्पनीओनी सूचि, पृ० १२१, तथा ।
(ख) हे० दासगुप्त, दि इंडियन स्टेज, चतुर्थ भाग, पृ० २२२ ।
१७१. १७० (क)-वत्, पृ० १२० ।
१७२. १६७-वत्, पृ० १८० ।
१७३. १७०-वत्, पृ० १२१ ।
१७४. बलवन्त गार्गी, थियेटर इन इण्डिया, न्यूयार्क-१४, थियेटर आर्ट्स बुक्स, पृ० १६१ ।
१७५. श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, पृ० ६०६-७ ।
१७६. (क) ब्रजरत्नदास, हिन्दी-नाट्य-साहित्य, बनारस, हिन्दी साहित्य कुटीर, चतुर्थ संस्करण, १९४९, पृ० २१५,
(ख) डॉ० सोमनाथ गुप्त, हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद, हिन्दी भवन, चौ० सं०, १९५८, पृ० १००,
(ग) डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, दिल्ली, राजपाल एण्ड संस, तृ० सं०, १९६१, पृ० २८९,
(घ) १७५-वत्, पृ० ६०३,
(ङ) डॉ० वेदपाल खन्ना, हिन्दी नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, शिमला, १९५८, पृ० ३३०,
(च) डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल, भारतेन्दु का नाटक-साहित्य, पृ० ४०,
(छ) प्रो० लक्ष्मीनारायण दुबे, हिन्दी रंगमंच · स्वरूप एवं विकास (पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रंथ, इलाहाबाद, किशलय-मंच, १९६२-६३, पृ० २१८), तथा
(ज) शशिप्रभा शास्त्री, हिन्दी रंगमंच (पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २३३) ।
१७७ नारायण प्रसाद 'बेताब', बेताब-चरित्र, मंजिल ३१, पृ० ४११ ।
१७८. १६७-वत्, पृ० २२१ ।
१७९. बच्चन श्रीवास्तव, भारतीय फिल्मों की कहानी, हिन्दी पाकेट बुक्स प्रा० लि०, शाहदरा, दिल्ली, पृ० ४३ ।
१८०. १६७-वत्, पृ० २२२-२३० ।
१८१-१८२. १७९-वत्, पृ० ४८ ।
१८३. ललितकुमार सिंह 'नटवर', निर्देशक, हिन्दी नाट्य परिषद्, कलकत्ता से एक साक्षात्कार (२२ दिसम्बर, १९६५) के आधार पर ।
१८४. (क) १६७-वत्, पृ० ८२, तथा
(ख) डॉ० डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, बम्बई, से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर ।
१८५. १६७-वत्, पृ० ८८ ।
१८६. शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', हिन्दी रंगमंच को काशी की देन (श्री नागरी नाटक मंडली, वाराणसी : स्वर्ण जयंती समारोह स्मारक ग्रन्थ, १९५८, पृ० १८) ।
१८७. प्रेमशंकर 'नरसी', कलकत्ता के अनुसार यह पेंशन ५००) रु० मासिक थी ।—लेखक ।

१८८. डॉ० डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, बम्बई से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर।

१८९, १९० तथा १९१. रामेश्वर प्रसाद शुक्ल तथा कन्हैयालाल दुबे, रामहाल नाटक मंडली, कानपुर से एक साक्षात्कार (१५ अगस्त, १९६५) के आधार पर।

१९२. 'मुझे देखो' के एक 'नाट्य-निमंत्रण' के आधार पर।

१९३ प्रेमशंकर 'नरसी', निर्देशक, मूनलाइट थियेटर, कलकत्ता से एक साक्षात्कार (दिसम्बर, ६४) के आधार पर।

१९४. रामेश्वर प्रसाद शुक्ल, संगीत-निर्देशक, रामहाल नाटक मंडली, कानपुर से एक साक्षात्कार (१५ अगस्त, १९६५) के आधार पर।

१९५. धीरेन्द्रनाथ सिंह, हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक जानकीमंगल (ना० प्र० पत्रिका, सं० स्मृ० अंक, वर्ष ७३, अंक १-४, सं० २०२५), पृ० १०।

१९६. वही, पृ० १०-११।

१९७ वही, पृ० ११।

१९८ वही, पृ० ११-१२।

१९९ वही, पृ० १२-१३ तथा १७।

२००. शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', हिन्दी रंगमंच को काशी की देन (श्री नागरी नाटक मंडली, वाराणसी : स्वर्ण-जयंती समारोह स्मारक ग्रन्थ, १९५८, पृ० १८)।

२०१. (क) वही, तथा
(ख) सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, लखनऊ, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र०, पृ० ५२८।

२०२-२०३ नारायण प्रसाद अरोड़ा एवं लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, सह-लेखक, प्रतापनारायण मिश्र, कानपुर, भीष्म एण्ड ब्रदर्स, १९४७, पृ० ३९।

२०४. प्रतापनारायण मिश्र, कानपुर और नाटक (ब्राह्मण, भाग ५, संख्या १, १५ अगस्त, १८८८, पृ० ३४)।

२०५. (क) प्रतापनारायण मिश्र, 'भारत दुर्दशा' की दुर्दशा (ब्राह्मण, १५ अक्टूबर, १८८५), तथा
(ख) नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, साहित्यिक प्रगति (अभिनन्दन-भेंट : श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा, चतुर्थ खण्ड, कानपुर, १९५१, पृ० ४३)।

२०६. २०४-वत्, पृ० ३४।

२०७. २०२-२०३-वत्, पृ० ४३।

२०८. २०४-वत्।

२०९. कविवर हृदयनारायण पाडेय 'हृदयेश', रामबाग, कानपुर से एक साक्षात्कार के आधार पर।

२१०. २०५ (ख)-वत्, पृ० ४४।

२११. २०९-वत्।

२१२ २०५ (ख)-वत्, पृ० ४४।

२१३. २०९-वत्।

२१४-२१५. प्रो० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, भूतपूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग, क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर की एक सूचना के आधार पर।

२१६, २१७ एवं २१८. अज्ञात, एम० ए०, लोकनाट्य की विलुप्त परम्परा नौटंकी (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिल्ली, १८ फरवरी, १९६८, पृ० २२)।

२१९-२२३. ललित मोहन अवस्थी, राममोहन का हाता, कानपुर से एक साक्षात्कार (जनवरी, १९६८) के आधार पर ।

२२४. शरद नागर, लखनऊ (हिन्दी केन्द्रों का रंगमंच, नटरंग, हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी अंक, वर्ष ३, अंक ९, जनवरी-मार्च, ६९), पृष्ठ ६२ ।

२२५ एवं २२७ आर० के० भटनागर, पत्रकार, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश से एक साक्षात्कार (२० जनवरी, १९७१) के आधार पर ।

२२६. प्रेमशंकर 'नरसी', कलकत्ता से एक साक्षात्कार (१७ दिसम्बर, १९६५) के आधार पर ।

२२८. मा० यूसुफ (हाजी चुन्नशाह वारसी), मौलवीगंज, लखनऊ से एक साक्षात्कार (२० मार्च, १९७१) के आधार पर ।

२२९. अमृतलाल नागर, पारसी रंगमंच (पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ), पृष्ठ २९१ ।

२३०, २३१ एवं २३२. डॉ० जगतनारायण कपूरिया, ११, खुनखुनजी रोड, लखनऊ से २१ सितम्बर, १९६९ को हुई वार्ता के आधार पर ।

२३३ कालिदास कपूर, लखनऊ का शौकिया रंगमंच, नवजीवन, ३१ मार्च, १९६८ (साप्ताहिक परिशिष्टांक, पृ० २) ।

२३४. २२४-वत्, पृ० ६३-६४ ।

२३५. धीरेन्द्रनाथ सिंह, हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक जानकीमंगल (ना० प्र० पत्रिका, स० स्मृति अंक, पृ० ३१-३२।

२३६. वही, पृ० ३२-३३ ।

२३७. बालकृष्ण भट्ट, प्रयाग की रामलीला नाटक मंडली (हिन्दी प्रदीप, जनवरी-फरवरी, १९०५) ।

२३८-२३९. शरद नागर, आगरा २२४-वत्, पृ० ७७ ।

२४०-२४१. वही, पृ० ७८ ।

२४२. २३५-वत्, पृ ४३-४४ ।

२४३. वही, पृ० ४४-४५ ।

२४४. वही, पृ० ४५ ।

२४५. धीरेन्द्रनाथ सिंह, कुछ भारतेन्दुयुगीन अभिनीत नाटक (नटरंग, जनवरी-मार्च, १९६९), पृ० ४९ ।

२४६. निहालचन्द्र वर्मा, हिन्दी रंगमंच और कलकत्ता (श्री नागरी नाटक मंडली : स्वर्ण-जयंती समारोह स्मारक ग्रन्थ, वाराणसी, १९५८, पृ० १९-२१) ।

२४७. वही, पृ० २२ ।

२४८, २४९ एवं २५०. ललितकुमार सिंह 'नटवर', निर्देशक, हिन्दी नाट्य परिषद्, कलकत्ता से एक साक्षात्कार (२२ दिसम्बर, १९६५) के आधार पर ।

२५१. २२६-वत् ।

२५२. कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, हिन्दी नाट्य-साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, प्रथम खण्ड, दिल्ली, भारती ग्रन्थ भण्डार, १९६४, पृ० ३६७ ।

२५३. वही, पृ० ३६८ ।

२५४-२५५. वही, पृ० ३६९ ।

२५६ वही, पृ० ३७० ।

२५७. वही, पृ० ३७१ ।

२५८. वही, पृ० ३७२ ।

२५९. भगवतीचरण वर्मा से एक साक्षात्कार (५ जनवरी, १९७१) के आधार पर ।

२६०. गोपालकृष्ण कौल, रंगमंच और अश्क (नाटककार अश्क, सं० कौशल्या अश्क, इलाहाबाद, नीलाभ प्रकाशन, प्र० सं०, १९५४), पृ० ५३-५४।

२६१ डॉ० रामकुमार वर्मा से एक साक्षात्कार (२१ फरवरी, १९७१) के आधार पर।

२६२. कैलाशनाथ मेहरोत्रा, डॉ० रामकुमार वर्मा की नाट्य-कला (रामकुमार वर्मा : कृतित्व और व्यक्तित्व, सह-सं० डॉ० विद्यानाथ मिश्र एवं अन्य), पृ० ६१।

२६३ नोरा रिचर्ड्स, भारतीय रंगमंच के कुछ पहलू (पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २११)।

२६४. वही, पृ० २१४ (११४ नहीं, जैसाकि मुद्रित है)।

२६५ डॉ० सुरेश अवस्थी, विश्वविद्यालय रंगमंच सदर्भ और दिशा (नटरंग, नई दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर, १९६५), पृ० १०९।

२६६. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरण-मंजरी, बम्बई, एन० एम० त्रिपाठी लि०, १९५५, पृ० ८६।

२६७. सस्थाना नाटको (श्री देशी नाटक समाज : अमृत महोत्सव (स्मृति ग्रन्थ), १८८९-१९६४, बम्बई, १९६४)।

२६८, २६९ एवं २७०. डॉ० डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, बम्बई से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर।

२७१. श्री० ना० बनहट्टी, मराठी रंगभूमीचा इतिहास, खं० प०, पृ० १५४।

२७२. वही, पृ० १८९-१९०।

२७३. कविवर हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश', रामबाग, कानपुर से एक साक्षात्कार के आधार पर।

२७४ २७१-वत्, पृ० २४५-२४६। २७५. वही, पृ० २२८-२३०।

२७६. भैरवचन्द्र हालदार, विद्यासुन्दर, कलकत्ता, भू० मुखोपाध्याय, १९१३, पृ० ३-४ (प्रथम पाला), पृ० ८३-८४ (द्वितीय पाला) तथा पृ० १३७ (तृतीय पाला)।

२७७. (क) डॉ० हे० दासगुप्त, भारतीय नाट्यमंच, द्वितीय भाग, पृ० ३१, तथा
(ख) व्रजेन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय, बंगीय नाट्यशालार इतिहास, १७९५-१८७६, पृ० १२-१३।

३

बेताब युग

(सन् १८८६ से १९१५ तक)

बेताब युग (सन् १८८६ से १९१५ तक) | ३

(१) हिन्दी रंगमंच : काल–विभाजन में बेताब युग एक भूली हुई कड़ी

हिन्दी रगमच का इतिहास लगभग साढे चार सौ वर्ष पुराना है और इस दृष्टि से वह हमारे अध्ययन की सभी भारतीय भाषाओं–बँगला, मराठी और गुजराती की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। प्रस्तुत अध्ययन की अवधि यद्यपि सन् १९०० से प्रारम्भ होकर सन् १९७० तक चलती है, तथापि काल-विभाजन की सुविधा के लिए हिन्दी रगमच के सम्पूर्ण इतिहास को दृष्टि मे रखना समीचीन होगा, जिसमे उसकी सुमबद्ध शृखला में भूली हुई कड़ियों का अनुसंधान किया जा सके। बेताब युग इस शृखला की एक ऐसी ही भूली हुई कडी है।

पूर्ववर्ती काल-विभाजन – अभी तक काल-विभाजन एक रूढ परम्परा के अनुसार किया जाता रहा है। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९२९ ई०) मे नाटक-साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को आधुनिक काल (१८४३-१९२७ ई०) के अन्तर्गत रख कर उसे तीन उत्थानो मे बाँटा है : प्रथम उत्थान (१८६८-१८९३ ई०), द्वितीय उत्थान (१८९३-१९१८ ई०) और तृतीय उत्थान (१९१८ ई० से)।[1] किन्तु यह काल-विभाजन अपूर्ण और अवैज्ञानिक है।*

व्रजरत्नदास ने अपने 'हिन्दी नाट्य-साहित्य' (१९३८ ई०) मे नाटक-साहित्य के इतिहास के तीन काल-विभाग किये हैं, जो शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक हैं, किन्तु वे भी सदोष एवं अपूर्ण हैं। उनके अनुसार ये तीन काल हैं : पूर्व भारतेन्दु काल (--१८४३ ई०), भारतेंदु काल (१८४४-१८९३ ई०) तथा वर्तमान काल (१८९३ ई० --)।[2] पूर्व-भारतेन्दु काल के अन्तर्गत व्रजरत्नदास ने सत्रहवी-अठारहवी शती के व्रजभाषा-नाटकों के साथ सोलहवी शती के मध्य में प्रारम्भ हुए मैथिली नाटकों का सक्षिप्त विवरण भी दिया है, किन्तु व्रजभाषा के नाटकों का कोई उल्लेख नही किया है। पुनश्च, जो भी विवरण दिया गया है, वह काल-क्रमानुसार क्रमबद्ध नही है। पूर्व-भारतेन्दु काल का अन्त सन् १८४३ में दिखाया गया है, किन्तु न तो उक्त वर्ष भारतेंदु के जन्मकाल (१८५० ई०) का है और न उनके प्रथम नाटक का रचना-काल (१८६८ ई०)। इससे आगे के कालों का काल-निर्धारण भी सदोष है। व्रजरत्नदास ने बेताब युग के नाटको की कोई कडी भारतेंदु काल और वर्तमान काल के बीच न मान कर उसका अलग से नवम प्रकरण (उपसंहार) मे विवेचन किया है। वर्तमान काल अर्थात् आधुनिक युग का आरम्भ सन् १८९३ से दिखाने का भी कोई औचित्य नही है। प्रसाद युग का इसमें कोई उल्लेख नही है।

---

*. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रत्येक उत्थान को २५-२५ वर्ष का माना है, जिसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है। द्वितीय उत्थान के अन्तर्गत 'बेताब युग' का कोई उल्लेख न कर हिन्दी के अनूदित एवं कुछ मौलिक नाटकों की ही चर्चा की गई है।–लेखक

डॉ० सोमनाथ गुप्त ने 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' (१६४३ ई०) को हिन्दी का पहला नाटक मान कर सन् १९४० तक के इतिहास को अपने प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' (१९४८ ई०) में मुख्यतः पाँच भागों में बाँटा है हिन्दी नाटक-साहित्य का प्रारम्भ (१६४३-१८६६ ई०), हिन्दी नाटक-साहित्य का विकास और भारतेंदु के सम-कालीनों का उस विकास में भाग (१८६७-१९०४ ई०), सन्धि काल (१९०५-१९१५ ई०), प्रसाद का आगमन (१९१५-१९३३ ई०) और प्रसादोत्तर नाटक-साहित्य का विकास (१९३३-१९४२ ई०)। इसके अतिरिक्त रंगमंच और रंगमंचीय नाटकों (१८६२-१९२३ ई०) का डॉ० गुप्त ने एक अन्य पृथक् काल माना है, जो भारतेन्दु काल से लेकर प्रसाद काल तक बहुत दूर तक समानान्तर चलता है। कहना न होगा कि डॉ० गुप्त का यह काल-विभाजन भी पर्याप्त तथ्यों के अभाव एवं प्रस्तुत तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण की उपेक्षा के कारण दोषपूर्ण है। हिन्दी नाटक का प्रारम्भ एक शती में आगे खिसका कर दिखलाया गया है। सन्धिकाल में विस्तारित भारतेन्दु युग को समेट कर रंगमंचीय नाटकों की कड़ी को हिन्दी नाट्य-साहित्य की नियमित काल-धारा से पृथक् कर दिया गया है। पुनश्च, हिन्दी रंगमंच, विशेषकर अव्यावसायिक रंगमंच का प्रारम्भ सन् १८६२ से न होकर सन् १८६८ में 'जानकी मंगल' के अभिनय से हुआ, किन्तु रंगमंचीय (व्यावसायिक) नाटकों का प्रारम्भ सन् १८७२ और १८८५ ई० के बीच किसी समय हुआ, जिसे काल-विभाजन की सुविधा के लिये हमने १८८६ ई० माना है। दूसरे, इस काल का दूसरा छोर सन् १९२३ भी नहीं है, क्योंकि विस्तारित बेताब युग प्रसाद युग के समानान्तर लगभग सन् १९३५ तक चलता है। प्रसाद युग का अन्त सन् १९३३ में दिखाना भी उचित नहीं है, क्योंकि उनका काल उनके अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३ ई०) के साथ ही नहीं समाप्त हो जाता।

परवर्ती विद्वानों में प्रो० तारकनाथ बाली ने अवधि-निर्धारण के बिना नाटक के सम्पूर्ण इतिहास को चार कालों में बाँटा है भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल, प्रसाद काल और प्रसादोत्तर काल।[1] डॉ० प्रेमशंकर ने भी लगभग इसी विभाजन को माना है, यद्यपि प्रसादोत्तर काल का उन्होंने अलग से कोई उल्लेख नहीं किया।[2] 'काल' की जगह उन्होंने 'युग' शब्द का प्रयोग किया है। इस विभाजन में यह दोष है कि इसमें पूर्व-भारतेन्दु काल का कोई उल्लेख नहीं है। दूसरे, द्विवेदी काल को आचार्य शुक्ल के द्वितीय उत्थान अथवा डॉ० सोमनाथ के सन्धि काल की जगह रख कर रंगमंचीय नाटकों की परम्परा के अस्तित्व को ही नकार दिया गया है। डॉ० प्रेमशंकर ने द्विवेदी युग में केवल राधेश्याम कथावाचक, आगा 'हश्र' और हरिकृष्ण 'जौहर' का उल्लेख मात्र करके उनके प्रति हिन्दी-जगत की अवहेलना और रंगमंचीय नाटकों को हेय दृष्टि से देखने की एकांगी भावना का ही परिचय दिया है, जो न्यायसंगत और तर्कसम्मत नहीं है। इतना ही नहीं, इसे प्रकारान्तर से 'अन्धकार युग' भी कह डाला है। तथ्य इसके विपरीत है, जैसा कि इसी अध्याय में आगे देखा जा सकता है। पारसी-हिन्दी रंगमंच सन् १८७२ के उपरान्त विकसित हुआ और उसने हिन्दी रंगमंच के विकास तथा सम्वर्द्धन में अपूर्व योगदान दिया।

नया काल-विभाजन – उपर्युक्त सभी काल-विभाजन हिन्दी के उस समय तक ज्ञात एवं उपलब्ध नाटक-साहित्य के इतिहास के आधार पर किये गये हैं। नाटक का रंगमंच से जीवात्मा और देह का सम्बन्ध है, अतः दोनों के एक-दूसरे से अभिन्न होने के कारण उक्त काल-विभाजन रंगमंच के इतिहास पर भी लागू है। अतः अब तक उपलब्ध सभी तथ्यों के आधार पर हिन्दी रंगमंच का जो काल-विभाजन प्रस्तुत किया जा रहा है, वह एकांगी न रहे, इस दृष्टि से बँगला, मराठी और गुजराती के समानान्तर काल-विभाजन भी साथ में दिये जा रहे हैं।

इस काल-विभाजन में, विशेषकर हिन्दी रंगमंच के काल-विभाजन में यह बात ध्यान देने की है कि कोई भी युग अपने में वातानुकूल (एयरटाइट) विभाजन नहीं है। परवर्ती युग पूर्ववर्ती युग का कुछ सीमा तक समवर्ती भी है और दूसरी ओर उसके प्रभावों को लेकर एक नये विकास-क्रम की सूचना भी देता है। इस दृष्टि से यह काल-विभाजन इस प्रकार है –

हिन्दी	बँगला	मराठी	गुजराती
१ पूर्व-भारतेन्दु युग (१८४९ ई० से पूर्व)	—	पूर्व-भावे युग	—
२ भारतेन्दु युग (१८५०-१८८५ ई०)	पूर्व-गिरीश युग	भावे युग	रणछोड युग
३. विस्तारित भारतेन्दु युग (१८८६-१९१५ ई०)			
४ बेताब युग ,, ,,	गिरीश युग	कोल्हटकर युग	डाह्याभाई युग
५. विस्तारित बेताब युग (१९१६-१९३७ ई०)			
६. प्रसाद युग ,, ,,	रवीन्द्र युग	वरेरकर युग	मेहता-मुन्शी युग
७. आधुनिक युग (१९३८-१९७० ई०)	आधुनिक युग	आधुनिक युग	आधुनिक युग

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रारम्भ यद्यपि बेताब युग से ही किया गया है, तथापि हिन्दी तथा इतर भारतीय भाषाओ के रगमचो के समग्र इतिहास को दृष्टि मे रख कर उसके पूर्ववर्ती युगों का संक्षिप्त विवरण द्वितीय अध्याय मे दे दिया गया है।

बेताब युग के समकालीन विस्तारित भारतेन्दु युग के अधिकाश नाटक रंग-निरपेक्ष एवं अनभिनेय हैं, अतः रगमचीय अध्ययन की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्त्व नही है। इस युग के अभिनेय नाटको मे राधाकृष्णदास-कृत 'महाराणा प्रतापसिंह,' प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'हठी हमीर' और 'गोसकट नाटक', श्रीनिवासदास-कृत 'रण-धीर-प्रेममोहिनी' और 'लावण्यवती-सुदर्शन,' शालिग्राम-कृत 'माधवानल-कामकंदला', आदि कुछ नाटक ही उल्ले-नीय हैं, जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

(२) बेताब युग : नामकरण की सार्थकता

साहित्य में किसी भी युग का नामकरण उस काल के युगद्रष्टा एवं दिशा-प्रवर्तक कवि या लेखक के नाम पर किया जाता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि उसने अपने साहित्य अथवा भाषा द्वारा किसी नई दिशा की सूचना दी हो और दूसरे समकालीन एवं परवर्ती नाटककारों का मार्ग-दर्शन कर जाज्वल्यमान दीप-स्तम्भ का कार्य किया हो। इसके पूर्व कि इस मानदन्ड को लेकर इस युग के नेता नारायण प्रसाद 'बेताब' के सम्बन्ध में विचार किया जाय, हिन्दी-क्षेत्र मे फैली हुई कुछ भ्रातियों का निराकरण आवश्यक है।

सर्वप्रथम भ्रांति है—बम्बई और कलकत्ते में विकसित हुए हिन्दी रगमंच को 'पारसी रगमंच' कहकर उसकी सामान्यतः अवहेलना करना और उससे सम्बन्धित नाटककारों को हिन्दी का नाटककार न मानना। कुछ नाटककारो एवं विद्वान समीक्षकों को पारसी रंगमंच से यह शिकायत है कि यह 'शिष्ट-जन का नाटक-समाज' नही है,' *'हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नही है,' क्योंकि पारसी-हिन्दी रंगमच 'पारसी स्टेज' से अधिक कुछ नही है,* और वह 'उर्दू छोड हिन्दी नाटक खेलने को तैयार' नही है' आदि, तो दूसरी ओर पारसी रगमंच के हिन्दी नाटककारों की रचनाओं का न तो उचित मूल्यांकन किया गया है और न उन्हें हिन्दी के मंचीय ज्ञान से रिक्त साधारणतम नाटककार के समकक्ष रख कर ही देखने की चेष्टा की गई है। फलस्वरूप उन्हें 'सस्ती नैतिकता के बल पर समाज-सुधार, धर्म, राष्ट्रीयता आदि का उपदेश' देने वाले 'सस्ते नाटकों' की कोटि में रख दिया गया है।' साथ ही, उन्हें 'साहित्यिक सुरुचि से अछूते', 'चरित्र-वैशिष्ट्यहीन', 'केवल कथाओं के जमघट-मात्र' कह कर उनके समस्त उज्ज्वल पक्ष पर काली कूँची फेर दी गई है।" एक विद्वान ने तो स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि इन नाटकों मे 'चरित्र-चित्रण' को कोई स्थान न था।" इन नाटकों पर अश्लीलता, सनसनीखेज एवं कौतूहलपूर्ण कथानको के उपयोग, अस्वाभाविक कार्य-व्यापार एवं देश-काल दोष के आरोप भी लगाये गये हैं।"

इन शिकायतों और आरोपों के पीछे कुछ अपूर्ण तथ्य हो सकते हैं, परन्तु यदि हम उनका सूक्ष्मता से अध्ययन करेंगे तो इन शिकायतों का निराकरण स्वत हो जायेगा और अधिकांश आरोप भी निराधार प्रतीत होंगे। हम इन पर एक-एक कर विचार करेंगे।

पारसी रंगमंच 'शिष्ट-जन का नाटक-समाज' था, अशिष्ट जनों का नहीं, यह इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि प्रथम पारसी नाटक मंडली (१८५२ ई०)[१] के आदि-संस्थापक थे—देश के प्रमुख राजनेता दादाभाई नवरोजी और उसके सदस्य थे—बम्बई कालेज के प्रथम स्नातक डॉ० भाऊदाजी लाड, स्टाक एक्सचेंज के फरेदुन दलाल (विलशाता) और स्कूल-शिक्षक पेस्टनजी मास्टर। इसके बाद के १७-१८ वर्षों के बीच जितनी भी नाटक-मंडलियाँ बनी, वे प्रारम्भ में अव्यावसायिक ढंग की थी और प्राय. शिक्षित युवकों द्वारा ही 'क्लबों' के रूप में प्रारम्भ की गई थी। इन नाटकों के सामाजिक भी प्राय कालेजों के शिक्षित, सुरुचि-सम्पन्न और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रबुद्ध युवक *अथवा व्यक्ति होते थे। इसी प्रकार प्रारम्भ में पारसी तथा बाद में हिन्दू* कलाकारों को भी पर्याप्त पूर्वाभ्यास के अनन्तर ही मंच पर उतरने की अनुमति दी जाती थी। पारसी कलाकार अँग्रेजी, गुजराती और उर्दू-हिन्दी में तथा हिन्दू कलाकार गुजराती, उर्दू और हिन्दी में नाटकाभिनय करने में एक-सी क्षमता रखते थे।

यह सही है कि पारसी रंगमंच के इतिहास के प्रारम्भिक एक दशक में पारसी मंडलियों के संस्थापक, कलाकार एवं नाटककार प्रायः सभी पारसी ही थे, अतः उसे 'पारसी स्टेज' या पारसी रंगमंच कहा जाना स्वाभाविक है, परन्तु क्रमश यही स्टेज गुजराती, उर्दू और हिन्दी रंगमंच के रूप में परिवर्तित होता चला गया। *इतिहास के दूसरे दशक में मुख्य रूप से गुजराती रंगमंच का विकास हुआ, यद्यपि उसकी स्थापना १८४७-४८ ई०* में 'द्रौपदी वस्त्रहरण' के अभिनय द्वारा ही हो चुकी थी। सन् १८७१ ई० में उर्दू रंगमंच की स्थापना गुजराती नाटक 'सोनना मूलनी खुरशेद' के उर्दू-अनुवाद 'ज़रखरीद खुरशीद' से हुई। यह अनुवाद बहेरामजी फरदूनजी मर्ज़बान नामक पारसी सज्जन ने *किया था।*[२] *यह नाटक 'हिन्दुस्तानी ज़बान गुजराती हरफ' में लिखा गया था।* डॉ० (अब स्व०) डी० जी० व्यास के अनुसार इस नाटक का अभिनय विक्टोरिया नाटक मंडली ने किया था। इसी मंडली के उर्दू रंगमंच से क्रमश हिन्दी रंगमंच का विकास हुआ। बम्बई में सर्वप्रथम हिन्दी नाटक 'गोपीचन्दा-ख्यान' (१८५३ ई०) के अभिनय का श्रेय जिस प्रकार मराठी नाटककार विष्णुदास भावे को है, उसी प्रकार पारसी शैली के प्रथम हिन्दी संगीतक 'गोपीचन्द' (१८७४ ई०) को लिखने का श्रेय पारसी नाटककार नसरवानजी खानसाहेब 'आराम' को है। यह नाटक बालीवाला विक्टोरिया नाटक मंडली द्वारा दिल्ली में सर्वप्रथम सन् १८७४ में खेला गया था। इस नाटक की हिन्दी का नमूना देखें :—

'मोहन, तोरा मुखड़ा बिराजै चन्द समान।
सोलह सौ रानियाँ तो पे देत जान ॥'[३]

'आराम' के बाद विनायक प्रसाद 'तालिब', बनारसी ने भी उर्दू के कुछ नाटकों के साथ हिन्दी के भी नाटक लिखे—'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८८४ ई०), 'गोपीचन्द', 'रामायण', 'विक्रम-विलास'[४] और 'कनकतारा'।[५] बालीवाला विक्टोरिया द्वारा अभिनीत 'सत्य हरिश्चन्द्र' बहुत लोकप्रिय हुआ और इसका अभिनय डॉ० डी० जी० *व्यास के अनुसार सहस्र रात्रियों तक चला। कहते हैं कि विक्टोरिया नाटक मंडली 'हरिश्चन्द्र' को लेकर* सन् १८८५ ई० में बर्मा और इंग्लैंड भी गई। बर्मा के राजा थिबो ने प्रसन्न होकर मंडली को हीरे-मोती उपहार में दिये।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि उन्नीसवीं शती के आठवें दशक में ही किसी समय हिन्दी रंगमंच (पारसी शैली) का विकास हो चुका था, अत. उसे भी 'पारसी स्टेज' कहना अथवा उस पर यह आरोप लगाना कि उसने हिन्दी के नाटक खेलने की ओर प्रवृत्ति ही नहीं दिखाई, सत्य के प्रति आँखें मूँदना होगा। दूसरे उत्थान

मे खटाऊ की अल्फ्रेड नाटक मडली ने तो हिन्दी नाटको को खेलने की दिशा मे अग्रणी का कार्य किया । नारायण प्रसाद 'बेताब' इसके प्रमुख नाटककार थे, जिन्होने अपने 'महाभारत', 'रामायण', 'गणेश-जन्म' आदि हिन्दी नाटकों से रगमच पर धूम मचा दी । पारसी रंगमंच के सस्थापक, उपस्थापक एव निर्देशक खुरशेद जी मेहरबानजी बालीवाला एव कावसजी पालनजी खटाऊ तथा निर्देशक सोराबजी ओग्रा एव अमृत केशव नायक ने हिन्दी रंगमच की स्थापना, उन्नयन और विकास के लिये जो अभूतपूर्व कार्य किया, उसके ऋण को स्वीकार न करना हमारा अपनी विरासत को ही स्वीकार करने से मुँह मोडना होगा । 'आराम', 'तालिब', 'बेताब', 'हश्र', राधेश्याम कथावाचक आदि के नाटकों पर किस हिन्दी वाले को गर्व न होगा । उन्होने किन प्रतिकूल परिस्थितियो में हिन्दी के झडे को ऊपर उठाया और उसे ऊँचे, और ऊँचे उडाने के लिये कितनी अटूट साधना की, इसका सही मूल्याकन होना अभी शेष है ।[१८]

कुछ विद्वानो ने उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करते हुए अब यह कहना प्रारम्भ कर दिया है कि भले ही शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इन मडलियो के नाटक 'निम्नकोटि' के रहे हो, परन्तु इनके कारण हिन्दी-क्षेत्रो में भी किसी-न-किसी प्रकार का रगमच बना रहा ।[१९] यह रगमंच पारसी शैली का हिन्दी रगमच था, जिसे स्वीकार करने मे हिन्दी के विद्वानो का सकोच किसी ठोस भूमि पर आधारित नही है ।

अब रही पारसी शैली के हिन्दी नाटको पर विविध आरोपो की बात । इन नाटको को 'सस्ती नैतिकता' पर आधारित समाज-सुधार, धर्म और राष्ट्रीयता का उपदेश देने वाले 'सस्ते नाटक' कहा जाता है । उन पर अश्लीलता का आरोप भी किया गया है । इस भ्रम का कारण सभवतः यह हो सकता है कि समय-समय पर नैतिकता के स्तर बदलते रहते हैं, क्योंकि वह काल-सापेक्ष्य है । जो किसी युग अथवा समाज मे नैतिक एव श्लील समझा जाता है, वही किसी परवर्ती युग या अन्य समाज मे अनैतिकता और अश्लीलता की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाता है । गोलोकवासी कृष्ण और राधा के पृथ्वी पर जन्म लेने के बाद कृष्ण जब राधा से मिलते हैं, तो राधा कृष्ण का चबाया हुआ पान खाती और उनके मुखारविंद-मकरद का पान करती है ।[२०] 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के इसी प्रसंग के आधार पर हिन्दी मे रासलीला नाटक लिखने वाले नाटककारो ने भी मुख से प्रिय का जूठा पान खाने, अधर-चुबन, परिरंभण आदि का वर्णन किया है ।[२१] नाट्यशास्त्र द्वारा इस प्रकार के दृश्य वर्जित किये गये हैं, किन्तु नाट्यशास्त्र द्वारा अनुमोदित कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं, जिन्हें शिष्ट जनो का समर्थन प्राप्त था और साहित्य में उक्त प्रसगो को बडी रुचि एव तत्परता के साथ समाविष्ट किया गया है और वे प्रसग है—नायिका-भेद और रति-वर्णन । व्रजभाषा-नाटकों[२२] और भारतेन्दु-युगोपरांत हिन्दी-नाटकों[२३] में यह रति-वर्णन बडा रस लेकर किया गया है, किन्तु आज के युग में ये दृश्य अथवा उनका काव्यात्मक वर्णन सुरुचि के परिचायक नही कहे जा सकते और न रगमच पर इन प्रसगों की अवतारणा ही सभव है । पारसी नाटको को मराठी के हिन्दी नाटकों के अलावा अँग्रेजी नाटकों एव रंगमच की एक दीर्घ परम्परा प्राप्त हुई थी, अत उनकी प्रतिस्पर्धा अथवा अनुकरण पर प्रारम्भ के कुछ प्रेम-नाटकों मे इस प्रकार के दृश्य, जिनमे चुम्बन-परिरभण के दृश्य दिखाये गये है, यदि आ गये हो, तो यह कोई असभाव्य बात न थी । पाश्चात्य समाज मे चुम्बन-परिरभण का प्रदर्शन अवांछनीय अथवा हेय नही समझा जाता ।

पुनश्च, यहाँ यह बताना अप्रासगिक न होगा कि शेक्सपियर के मूल नाटकों मे एलिजाबेथ युग की अश्लीलता-प्रिय रुचि की तुष्टि के लिए अनेक अश्लील दृश्य एवं सवाद रखे गये थे, जो अब सशोधित संस्करणो से पृथक् कर दिये गये हैं । समय के साथ श्लीलता और अश्लीलता के मानदंड बदलते रहते हैं । सभव है, आज जिसे हम अश्लील कहते हैं, एलिजाबेथ युगीन नाटकों में वह श्लील एवं शिष्ट समझा जाता रहा हो ।

अधिकाश प्रारम्भिक पारसी नाटक या तो अँग्रेजी नाटको के अनुवाद या छायानुवाद थे अथवा उनकी

नाट्य-पद्धति से प्रभावित थे। परन्तु रंगमंच पर हिन्दी के प्रवेश के समय तक यह रुचि बहुत-कुछ परिमार्जित हो चली थी, जैसा कि 'तालिब', 'बेताब' आदि के नाटको से स्पष्ट हो जायगा। अतः सस्ती नैतिकता और अश्लीलता के आरोप प्रमाणित नही होते।

इस आरोप के दूसरे अंश में नाटकों की सोद्देश्यता—समाज-सुधार, धर्म और राष्ट्रीयता के उपदेश को लेकर इन नाटको को 'सस्ते नाटक' ठहराया गया है। यदि सस्ते नाटक का मानदंड यही है कि उन्हें सोद्देश्य नही होना चाहिये, तो भारतेन्दु और उनके समकालीन सभी नाटककारो को भी सस्ते नाटको की कोटि में ही रखना होगा। हिन्दी ही नही, प्रत्येक हिन्दीतर भारतीय भाषा के आदि काल मे प्राय इसी कोटि के नाटक लिखे गये हैं, जिनका उद्देश्य हिन्दू-समाज का सुधार, हिन्दू-जाति मे धर्म के प्रति आस्था और विश्वास उत्पन्न कर उसके पुनरुद्धार तथा मुस्लिम एवं अँग्रेज शासकों के अत्याचारो के प्रति रोष प्रकट कर राष्ट्रीय चेतना का उन्नयन रहा है। यदि वास्तव मे देखा जाय, तो नाटक धार्मिक एवं राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण और समाज-सुधार के आन्दोलन का प्रमुख वाहन रहा है। इन भव्य उद्देश्यो से प्रेरित होकर यदि कथित पारसी रंगमंच ने भी इन्ही विषयों को अपने नाटको के लिये चुना, तो उसने कौन-सा गुनाह कर दिया ? भाषा, चरित्र-चित्रण, रस आदि की दृष्टि से भी वे हिन्दी के अन्य प्रारंभिक नाटको की तुलना मे किसी प्रकार अपुष्ट नही ठहरते। नाट्य-पद्धति की दृष्टि से भी पारसी रंगमंच पर कई प्रकार के प्रयोग हुए हैं और इस प्रकार के अनेक प्रयोग कर उसने भी विकास की ओर अपने चरण बढाए है। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से पारसी शैली के हिन्दी नाटको मे कही से सस्तापन दृष्टिगोचर नही होता। इस सस्तेपन का एक ही आधार हो सकता है और वह है—इन नाटको के 'कॉमिकों' में प्रयुक्त सस्ता एवं भोंडा हास्य, परन्तु हमे यह नही भूल जाना चाहिए कि इस प्रकार का हास्य उक्त नाटकों की आधिकारिक कथा का अंग न होकर अलग से ही रखा गया है। हास्य के इस निम्न स्तर की स्थिति उस काल के प्रायः सभी हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के नाटको मे पाई जाती है, क्योंकि उसका उद्देश्य सामाजिक को रस-स्थिति मे ले जाना उतना नही, जितना कुछ देर के लिए हँसना-हँसाना या मनोरंजन करना रहा है। यह हास्य प्रायः निरुद्देश्य रहा है।

'तालिब', 'बेताब' आदि के नाटको मे इस प्रकार के पृथक् 'कॉमिक' की व्यवस्था न रख कर आधिकारिक कथा के अंग मे ही हास्य की उद्भावना की गई है। 'तालिब'-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे विश्वामित्र के शिष्य नक्षत्र द्वारा और 'हश्र'-कृत 'भीष्म-प्रतिज्ञा' मे शाल्व के सभासदों द्वारा हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। 'बेताब' के 'रामायण' और 'महाभारत' नाटको मे हास्य के केवल वे ही प्रसंग चुने गये हैं, जो मूल ग्रन्थो मे आये हैं। इस प्रकार यह नियम के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता कि पारसी-हिन्दी नाटको का हास्य भी सर्वत्र बहुत सस्ता और भोंडा है।

एक अन्य आरोप मे इन नाटको को 'साहित्यिक सुरुचि से अछूता', 'चरित्र-वैशिष्ट्यहीन' और 'केवल कथाओं के जमघट-मात्र' बताया गया है। 'साहित्यिक सुरुचि' का अर्थ यदि भाषा-सौष्ठव अथवा काव्यपूर्ण भाषा है, तो ये नाटक रंगमंच के लिये लिखे गये नाटक है, जिनका लक्ष्य भाषा-सौष्ठव अथवा काव्यत्व दिखलाना न होकर घटनाओं के घात-प्रतिघात को सरल, सुलझी हुई और प्रवाह-युक्त भाषा मे संवाद के माध्यम से व्यक्त करना रहा है और जहाँ कही आंतरिक भाव अथवा द्वन्द्व का चित्रण करने का अवसर आया है, पारसी शैली के पद्यो के अतिरिक्त काव्य-भाषा मे कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय और कुंडलिया जैसे वर्णिक एवं मात्रिक छन्दो का भी उपयोग किया गया है। 'बेताब'-कृत 'रामायण' और 'महाभारत' मे इस प्रकार के काव्य-छन्दो और अलंकृत भाषा का प्रयोग अनेक स्थलो पर हुआ है। राम जानकी के मुक्ता-ग्रथित अलकों की शोभा का कितना सुन्दर काव्यात्मक वर्णन करते है :—

"झलक रहे मोती अलक अति हि समीप-समीप।
कालन्दी मे हैं मनो दीपमाल की दीप ॥"'"

'तालिब', 'हश्र', 'ज़ेवा' आदि के सवादो में अनेक स्थल मार्मिकता और काव्यत्व से पूर्ण मिलते हैं।

इस आरोप के दूसरे अश मे कहा गया है कि ये नाटक 'घटनाओ के जमघट-मात्र' और 'चरित्र-वैशिष्ट्य-हीन' हैं। इसमें कोई सदेह नही कि रगमचीय नाटक प्राय घटनाबहुल होते हैं, क्योंकि कार्य-व्यापार की हानि करके सामाजिक के औत्सुक्य को जागृत नही रखा जा सकता। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इनमे चरित्र-चित्रण का सर्वथा अभाव है। 'तालिब' के 'सत्य हरिश्चन्द्र' के हरिश्चन्द्र और रानी तारा के चरित्र हमारे हृदय को उसी प्रकार स्पर्श करते हैं, जैसे भारतेन्दु-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' के हरिश्चद्र और रानी शैव्या के चरित्र। शैव्या के दु ख का अन्त वही हो जाता है, जब वह रोहिताश्व का कफन फाडना चाहती है, क्योकि पृथ्वी के हिलने, तीव्र गर्जन और आलोक के साथ भगवान नारायण प्रकट हो जाते हैं, परन्तु तारा की अग्नि-परीक्षा तब भी शेष रह जाती है और अन्त मे कम-से-कम एक पैसा, थोडा वस्त्र और घी लेने को श्मशान में जाने के लिए वह विवश होती है, किन्तु उसे हत्या एव चोरी के अपराध मे पुन हरिश्चन्द्र के हाथो मृत्यु-दड पाने के लिए श्मशान लौटना पडता है। हरिश्चन्द्र उसे बेगुनाह जान कर भी जब मारने को उद्यत होते हैं, तो भगवान शिव के प्रकट होने पर उसे और रोहित को प्राणदान मिलता है। हरिश्चन्द्र अपनी सत्य-निष्ठा, धैर्य, दृढता, कर्त्तव्यपरायणता और साहस से परीक्षा मे उत्तीर्ण होते हैं, तो दूसरी ओर तारा स्त्रियोचित दुर्बलता और करुणा, ममता और पुत्र-वत्सलता, त्याग और पति-परायणता, कष्ट-सहिष्णुता और धैर्य की प्रतिमूर्ति-सी जान पडती है। नाटक की प्रत्येक घटना पात्रों के चरित्र-चित्रण में योग देती है, अतः घटना-बाहुल्य को चरित्र-चित्रण के अभाव का पर्याय नहीं माना जा सकता।

अन्तिम आरोप है सनसनीखेज और कौतूहलजनक कथानकों के उपयोग, अस्वाभाविक कार्य-व्यापार और देश-काल दोष का। यदि पारसी-हिन्दी नाटको की कथावस्तु का विवेचन किया जाय, तो हम देखेंगे कि वे मुख्यतः पौराणिक है, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय अथवा सामाजिक आख्यानों को लेकर बहुत कम नाटक लिखे गये। प्रायः हिन्दी और सभी प्रश्नगत भाषाओं के प्रारम्भिक पौराणिक नाटकों मे अलौकिक कार्य-व्यापार एवं दिव्यत्व का चित्रण किया गया है, किन्तु परवर्ती हिन्दी और बँगला नाटककारों ने अलौकिक एवं दैवीगुण-सम्पन्न पात्रों को भी मानवीय रूप मे चित्रित करने का प्रयास अवश्य किया है। उनके माध्यम से आधुनिक सामाजिक सघर्ष एवं राष्ट्रीय चेतना को भी यत्र-तत्र प्रतिबिम्बित किया गया है। यह स्वीकार कर लेने में कोई हानि नही कि कौतूहल और चमत्कारिक घटना-प्रसंग पारसी रगमच का प्राण रहा है, जो मंचस्थ होने पर और भी तीव्रता से उभर कर सामाजिक की आँखों के आगे प्रत्यक्ष हो जाता है। परन्तु इसी के साथ यह बताना भी आवश्यक है कि इन घटना-प्रसगों का सम्बन्ध हत्या, डाका, चोरी जैसे जघन्य अपराधो से न होने के कारण रोमाचकारी अथवा सनसनीखेज नही कहा जा सकता। कौतूहल से रोमाच या सनसनी नही पैदा होती, केवल औत्सुक्य और जिज्ञासा की भावना जागृत होती है। यह सहज-सिद्ध है कि अलौकिक और कौतूहलजनक कार्य-व्यापार कभी स्वाभाविक नही होंगे, अतः इस प्रकार के अस्वाभाविक कार्य-व्यापारों का समावेश उस काल में रूढ और पारम्परिक बन गया था। नाटककार इनसे अपने को मुक्त नही कर पाते थे। पति की मृत्यु पर पत्नी का गायन-जैसे प्रसंग अवश्य चिन्तनीय हैं, परन्तु इस प्रकार के अस्वाभाविक कार्य-व्यापार अधिक नही हैं। इस दोष का कारण संवाद के साथ पद्य एवं गीतो की बहुलता में निहित है। बहुत सम्भव है कि पारसी-हिन्दी रगमच पर यह प्रभाव अंग्रेजी सगीतक से आया हो, जिसमे पति या पत्नी की मृत्यु पर पत्नी या पति गाकर ही अपने शोक को व्यक्त करती/करता है। पात्र अपनी मृत्यु के पूर्व गाकर ही अपने हृदय की पीडा और भार को हलका करता है।

पारसी-हिन्दी नाटको मे देश-काल दोष प्राय मिल जाते है, परन्तु केवल इस दोष के कारण ही इन नाटकों का साहित्यिक मूल्य समाप्त नही हो जाता।

हिन्दी के एक विद्वान ने पारसी कपनी के एक बडे नाटककार के कथन—"ये कपनी वाले कहते हैं—हम यहाँ रुपया पैदा करने आए हैं, कुछ साहित्य-भडार भरने नही। देशोद्धार और समाज-सुधार का हमने ठेका नही ले रखा है। हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा, वही करेंगे।" को उद्धृत कर जहाँ यह धारणा व्यक्त की है कि इन कपनियो का ध्येय रुपया पैदा करना है, ये कपनी वाले हिन्दी के उतने ही शत्रु हैं, जितने उर्दू के ...वे 'विदेशी' हैं, अत उनका 'जनताके साथ कुछ भी अनुराग' नही है, और तभी वे जनता की सुरुचि की ओर ध्यान नही देते, तो दूसरी ओर रामगणेश गडकरी के मराठी नाटक 'एकच प्याला' के हिन्दी रूपातर 'आँख का नशा' को देखकर वे उसके भावपूर्ण सवादो तथा 'सुललित और अलकृत' तथा 'व्यग्योक्तियो मे परिपूर्ण' भाषा की प्रशसा करते नही अघाते। वे एक ओर इस नाटक के रूपातरकार आगा 'हश्र' को 'हिन्दी नाट्य-सम्राट्' की उपाधि देने को प्रस्तुत हो जाते हैं, तो दूसरी ओर कोरथियन थियेटर, कलकत्ता में उसे मचित करने वाली कपनी के मालिक (जे० एफ० मादन) से 'ऐसे ही ऐसे नाटक बनवाकर' खेलने का अनुरोध करते हैं।[¹⁵] उक्त विद्वान का उत्तर कथन ही पूर्वाक्षेपो का उत्तर है। पारसी-हिन्दी मडलियाँ न तो उर्दू-हिन्दी की शत्रु थी और न जनता की सुरुचि को बढाने के ही प्रतिकूल थी। 'आँख का नशा' मे वेश्या-जीवन के घृणित स्वरूप एव मद्य-पान के दुष्परिणाम को अकित कर अंत मे भारतीय पत्नी के सतीत्व और पातिव्रतधर्म की विजय प्रदर्शित की गई है। इन मडलियो के मालिक या सचालक 'विदेशी' नही, इसी देश की धरती पर उत्पन्न हुये थे और प्रारभ के विदेशी / पारसी कथानको को छोडकर वे भारतीय इतिहास, पुराण एव समाज से अपने नाटको के आख्यान एव चरित्र चुनने लगे थे। धनोपार्जन उनकी दुर्बलता थी, किन्तु रगमच की साज-सज्जा और शृगार, श्रीवृद्धि और सवर्धन के प्रति उनकी निष्ठा और त्याग बेजोड था।

काश हिन्दी रंगमच को आज भी कुछ ऐसे निष्ठावान और त्यागव्रती प्रयोक्ता सचालक मिल पाते!

पारसी-हिन्दी नाटको के सम्बन्ध मे फैली हुई अधिकाश भ्रातियो एव आक्षेपो का निवारण हो जाने के बाद यह स्थापना स्वत हो जाती है कि पारसी रगमच अनिवार्यत उर्दू या किसी एक भाषा का मच नहीं है, वरन् वह एक साथ गुजराती, उर्दू और हिन्दी रंगमचो का मूल स्रोत रहा है। पारसी रगमच नाटक और अभिनय की एक विशिष्ट पद्धति है, जो उक्त सभी भाषाओ के प्रारभिक नाटको और रगमच को समान रूप से विरासत में मिली। अत यह भी निश्चित हो जाता है कि पारसी-हिन्दी नाटको की भी अपनी एक निश्चित नाट्य-पद्धति रही है।

अंधकार युग या स्वर्ण युग?—अब प्रश्न उठता है कि इस युग का नायक कौन था— नारायणप्रसाद 'बेताब' अथवा महावीर प्रसाद द्विवेदी?[¹⁶] इसी से सलग्न दूसरा प्रश्न है कि क्या यह युग इतना निष्क्रिय एव प्रभावहीन था कि उसका कोई नायक नही था और 'शिथिलता और जडता का अंधकार' छा जाने के कारण उसे 'अंधकार युग'[¹⁷] के नाम से पुकारा जाना चाहिए? अधकार युग का लक्षण यह बताया गया है कि उसमे केवल पिछली बातो की पुनरावृत्ति होती है और उसका कारण यह है कि उस समय 'कोई महान व्यक्तित्व साहित्य-क्षेत्र मे कार्य करता नही दिखाई पड़ता'। प्राय· 'अनुवादो और टीकाओ' से काम चला लिया जाता है। इस दृष्टि से द्विवेदी युग 'लगभग शून्य-सा' है अर्थात् वह नाटक-साहित्य के इतिहास का 'अंधकार युग' है।[¹⁸]

तो क्या यह युग (१८८६ से १९१५ ई०) वास्तव मे अधकार युग है? इस युग को 'अधकार युग' मानने वालो की दृष्टि सभवत उत्तरी भारत के हिन्दी-क्षेत्र, विशेषकर उत्तर प्रदेश तक ही सीमित रही है। उन्होंने हिन्दीतर क्षेत्र मे हिन्दी रगमच एव नाट्य-क्षेत्र मे होने वाली क्रान्ति को नाट्य-आन्दोलन के अग-रूप मे नही

पहिचाना और न उसके साथ वे पूरा न्याय ही कर सके । इसीलिये नाट्य-साहित्य के इतिहास में भी 'द्विवेदी युग' की प्रतिष्ठा कर दी गई। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं नाटककार न थे, अतः जो व्यक्ति स्वय नाटक-रचना नही करता, वह किस प्रकार किसी युग-विशेष का प्रवर्तक, अधिष्ठाता अथवा नायक हो सकता है ! हाँ, तत्कालीन कविता, निबंध, समीक्षा आदि की दृष्टि से आचार्य द्विवेदी ने उस युग का अवश्य मार्ग-दर्शन किया, जिसे भुलाया नही जा सकता। रगमच की दृष्टि से इस युग का कार्य-क्षेत्र प्रमुख रूप से बबई और दिल्ली रहा है। इस दृष्टि से उत्तर प्रदेश का स्थान कुछ गौण है। यों इस काल मे और इसके बाद भी लगभग दो दशक तक बंबई की पारसी-हिन्दी नाटक मडलियो ने उत्तरी भारत मे घूम-घूम कर अपने नाटक दिखलाए। इन मडलियो के मुख्य पडाव दिल्ली, बरेली, कानपुर, लखनऊ, काशी आदि प्रमुख नगर थे।

इस युग मे 'तालिब', 'अहसन', 'हश्र', 'बेताब' और राधेश्याम कथावाचक जैसे अनेक मौलिक नाटककार हुए, जिन्होंने पौराणिक एव सामाजिक विषयों को लेकर अनेक मौलिक नाटक लिखे, अत 'पिछली बातों की पुनरावृत्ति' वाली बात इस युग पर लागू नहीं होती। एक ही आख्यान को लेकर कई-कई नाटक अवश्य लिखे गये। यह सभी कालो मे होता आया है। यह इस बात का द्योतक है कि वह आख्यान-विशेष उस काल मे बहुत लोकप्रिय रहा है, क्योंकि उसमे हृदय को स्पर्श करने अथवा मर्म-भेदकता की शक्ति बहुत अधिक है। अनुवाद की प्रवृत्ति पारसी-गुजराती और पारसी-उर्दू नाटको मे बहुत अधिक रही है। पारसी-हिन्दी नाटको मे अनुवादो की सख्या बहुत अधिक नही है। हाँ, उत्तरी भारत मे सस्कृत, बँगला और अँग्रेजी के नाटको के अनुवाद इस काल में कुछ अधिक परिमाण मे अवश्य किये गये। इन अनुवादो से एक ओर जहाँ नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि हुई, वहीं हिन्दी के मौलिक नाटककारों को नये नाटक लिखने और विभिन्न भाषाओं की नाट्य-पद्धतियों को आत्मसात् कर हिन्दी रगमच के उपयुक्त अपनी एक नवीन नाट्य-पद्धति की अवतारणा करने की सहज प्रेरणा भी प्राप्त हुई। इस प्रकार अनुवादो का भी अपना महत्त्व होता है, अत 'अन्धकार युग' का कोई भी लक्षण इस युग पर घटित नही होता। इसके विपरीत इसे हिन्दी रगमच का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

पारसी-हिन्दी रगमच को जिन नाटककारो ने दिशा-निर्देश दिया, उनमें नारायण प्रसाद 'बेताब' का नाम प्रकाश-स्तभ की भाँति सबसे ऊँचा, सबको दूर से ही स्पष्टतः दृष्टव्य है। 'बेताब' के व्यक्तित्व और कृतित्व को हिन्दी में अब स्वीकार किया जाने लगा है। डॉ० दशरथ ओझा ने रगमचीय नाटको मे हिन्दी को स्थान दिलाने, नाटक की भाषा और कथा-वस्तु में सुधार करने का श्रेय बेताब को दिया है।[१] श्रीकृष्णदास के अनुसार लोकप्रियता की दृष्टि से बेताब किसी भी प्रकार अन्य समकालीन नाटककारो से कम नही थे।[२] प्रो० जयनाथ 'नलिन' के मत से बेताब ने 'रगमंचीय नाटक लिखने मे पर्याप्त ख्याति प्राप्त की' थी।[३] यद्यपि रंगमंच पर हिन्दी का प्रवेश 'बेताब' के पहले ही हो चुका था, परन्तु उन्होने सर्वप्रथम रगमचीय हिन्दी का स्वरूप स्थिर किया। न वे 'ठेठ हिन्दी' के पक्षपाती थे और न 'खालिस उर्दू' के। रगमच के लिए मिली-जुली भाषा ही उनका आदर्श था।[४] उन्हें इस बात का सतोष था कि उन्होंने 'हिन्दी में' साहित्य-सृजन कर 'कोई काम' अवश्य किया है।[५] नाटकों मे हिन्दी गानों को 'बेताब' ने लोकप्रिय बनाया[६] और छंदबद्ध पद्यो के उपयोग की शैली प्रवर्तित की। अपने नाटको के लिये तत्कालीन दृष्टि से नये कथानक चुने। यह कार्य कोई युग-प्रवर्तक ही कर सकता है और 'बेताब' ऐसे ही एक युग-प्रवर्तक थे, अत. यह समीचीन होगा कि इस युग का 'बेताब युग' के नाम से अभिषेक किया जाय।

रगमंचीय नाटकों के इतिहास मे 'बेताब' को वही स्थान प्राप्त है, जो भारतेन्दु युग मे भारतेन्दु को। 'बेताब' की सफलता ने अनेक मुसलमान 'मुन्शियो' को भी हिन्दी मे नाटक लिखने की प्रेरणा प्रदान की। कई हिन्दू 'मुन्शी' भी उनकी भाषा के आदर्श और नाट्य-पद्धति को लेकर चले।

यहाँ यह बता देना अप्रासगिक न होगा कि प्रारम्भ के अनेक पारसी-हिन्दी नाटक अप्रकाशित हैं और जो

प्रकाशित भी हैं, उनसे इनके रचना-अथवा-अभिनय-काल का बोध नही होता, अतः इस युगका काल-निर्णय सही ढग से करना कठिन है। विक्टोरिया नाटक मडली ही सर्वप्रथम पारसी नाटक मडली है, जिसने क्रमश गुजराती और उर्दू के नाटको के अतिरिक्त सर्वप्रथम हिन्दी के नाटक भी खेले, जिससे पारसी-हिन्दी रगमच का अभ्युत्थान हुआ। विक्टोरिया नाटक मडली की व्यावसायिक मंडली के रूप में स्थापना सन् १८७० में हुई थी। सन् १८७१ मे पहला उर्दू नाटक खेला गया, अत हिन्दी के नाटक उसी वर्ष अथवा उसके कुछ वर्षों के उपरान्त ही मचस्थ हुए। श्रीलाल उपाध्याय-कृत 'बिल्वमगल या सूरदास' (१८६९ ई०) नामक उर्दू से हिन्दी मे अनूदित नाटक का उल्लेख अवश्य मिलता है,[1] परन्तु उसके मचस्थ होने का कोई विवरण उपलब्ध नही है। पारसी शैली के किसी मौलिक नाटक के सन् १८७१ के पूर्व लिखे जाने का कोई उल्लेख अथवा सूचना उपलब्ध न होने से लेखक की इस स्थापना मे कोई अन्तर नही पैदा होता कि हिन्दी के नाटक सन् १८७२ और सन् १८८५ के बीच किसी भी समय मचस्थ होने लगे थे, किन्तु काल-विभाजन की सुविधा को दृष्टि मे रखकर 'बेताब युग' का प्रारम्भ सन् १८८६ से माना गया है। 'बेताब' जी सन् १९१५ के अनन्तर भी लगभग ३० वर्ष तक जीवित रहे और पारसी-हिन्दी रंगमंच भी सन् १९३१ मे सवाक् चलचित्रों के प्रारंभ होने तक किसी-न-किसी रूप मे जीवित बना रहा, परन्तु काल-विभाजन की सुविधा की दृष्टि से बेताब युग की अन्तिम सीमा सन् १९१५ निर्धारित की गई है, क्योकि सन् १९१५ में ही हिन्दी के समर्थ नाटककार जयशकर प्रसाद अपने 'राज्यश्री' नाटक को लेकर अपनी प्रतिभा का परिचय दे चुके थे, जो एक नये युग, नाट्य-साहित्य के इतिहास मे एक नये अध्याय का परिचायक था। यह वर्ष बेताब युग और प्रसाद युग के स्वर्णिम सन्धि-स्थल के रूप मे उल्लेखनीय है। सन् १९१६ से सन् १९३७ तक की अवधि विस्तारित बेताब युग के अन्तर्गत रखी गई है।

(३) हिन्दीतर भारतीय रगमंच : स्थिति तथा समकालीन युग

पारसी-हिन्दी रगमच का अर्थ न केवल नाटक है और न केवल रगमच या नाट्यशाला। बेताब युग मे दोनों एक-दूसरे से अभिन्न-से रहे हैं। एक के बिना दूसरे के मर्म को नही समझा जा सकता। ठीक यही स्थिति हिन्दीतर भारतीय भाषाओ—बँगला, मराठी और गुजराती नाटक और रगमच की थी।

बँगला के आधुनिक रगमच का विकास यद्यपि भारतेन्दु युग के पहले ही हो चुका था, तथापि वह भारतेन्दु युग मे किशोरावस्था को प्राप्त हुआ और बेताब युग मे उसमे तारुण्य के लक्षण प्रकट हुए। बँगला मे इस युग के प्रवर्तक थे—गिरीशचन्द्र घोष, जिन्हें 'बँगला रगमच का जनक' कहा जाता है।[1] उन्हें 'बगाल का गैरिक' और बगाल का शेक्सपियर' कह कर भी उनकी वंदना की गई है।[2] गिरीश एक साथ ही नाटककार, अभिनेता, निर्देशक और परिचालक थे, अत उन्हें उचित ही 'नाट्याचार्य' की संज्ञा दी गई है। गिरीश और उनकी शिष्य-मंडली ने, जिसमे परिचालक, निर्देशक, अभिनेता और नाटककार सभी थे, बँगला रंगमंच को प्रौढता के शिखर पर पहुँचाया। अतः इस युग को बँगला मे 'गिरीश युग' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। गिरीश अपने युग मे सूर्य की भाँति तपे और उनके शिष्यगण अपने को उनसे प्रकाश ग्रहण करने वाले चन्द्र मान कर गौरव का अनुभव करते थे।[3] उन्होने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से नेशनल थियेटर, स्टार थियेटर, मिनर्वा थियेटर, क्लासिक थियेटर और कोहिनूर थियेटर का निर्माण एव पुनर्निर्माण किया और उत्थान-पतन की अनेक तूफानी लहरो से निकाल कर मिनर्वा थियेटर को रगमच के प्रकाश-स्तम्भ की भाँति आलोकित कर दिया।

मराठी मे यह युग मुख्यतः सगीत नाटकों का युग था, जिसका श्रीगणेश अण्णा साहब किर्लोस्कर ने भारतेन्दु युग के अन्त मे (१८८० ई०) किया था, किन्तु बेताब युग मे सगीत नाटको को श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने नये सामाजिक कथानक, शिष्ट हास्य एवं चुस्त संवाद देकर पाश्चात्य शैली के स्वच्छन्दताधर्मी सुखान्त अथवा

हास्य-नाटकों की सृष्टि की और इस प्रकार एक नये युग का सूत्रपात किया। [1] हास्य रस की सृष्टि के लिये आधिकारिक कथा के साथ उपकथा जोड़ दी जाती थी, किन्तु यह जोड़ मुख्य कथानक की गति को अग्रसर करने में सहायक होता था, अवरोधक नही। कोल्हटकर के शिष्य रामगणेश गडकरी ने इस परम्परा के नाटको का अभूत-पूर्व विकास किया। [2] कोल्हटकर के सगीत नाटको ने उस काल के रगमच को आच्छादित कर लिया। उनके नाटक किर्लोस्कर सगीत मडली, ललितकलादर्श, भारत नाटक मडली, गधर्व नाटक मडली आदि द्वारा अभिनीत किये गये।

कोल्हटकर द्वारा एक नवीन प्रकार के सगीत नाटको का प्रवर्तन होने के कारण इस युग को मराठी रगमच के इतिहास मे 'कोल्हटकर युग' के नाम से पुकारा जा सकता है।

गुजराती मे हिन्दी की भांति रगमच और नाटक की दो धाराएँ साथ-साथ चलती रही—पारसी-गुजराती नाटको की धारा, जिसे पारसी-गुजराती रगमच सहज सुलभ था और गुजराती नाटकों की धारा, जो अभिनेय हो-कर भी अपने शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि मे उल्लेखनीय है। दूसरी धारा के नाटक इस काल मे गिने-चुने ही है, जबकि पारसी-गुजराती नाटको की धारा ने प्राचीन गुजराती रगभूमि को सीच कर हरा-भरा बना दिया। यद्यपि आलोच्य काल से लगभग चार दशक पूर्व ही पारसी-गुजराती नाटको का लेखन और अभिनय प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु शुद्ध गुजराती रगभूमि का विकास बेताब युग मे हुआ, जिसे रणछोड युग (१८५०-१८८५ ई०) के नाटकों एव रगमच से सबल प्राप्त हुआ। इस युग के समर्थ नाटककार थे—कवि-माक्षर डाह्याभाई घोलशाजी झवेरी। उनके द्वारा सस्थापित देशी नाटक समाज आज भी कीर्ति-स्तंभ की भाँति जीवन्त खड़ा है।

इस युग को 'डाह्याभाई युग' के नाम से स्मरण किया जा सकता है। यह युग गुजराती रगभूमि का 'स्वर्ण युग' रहा है। [3] इस काल के अन्त तक लगभग ३०० या अधिक नाटक मंडलियो का आविर्भाव हो चुका था, जिनमें से अधिकाश अल्पकाल मे ही काल-कवलित हो गई। [4]

(क) बँगला : गिरीश युग और उसकी उपलब्धियाँ

बँगला रगमच को राजाओ और धन कुबेरो की कोठियो से खीच कर जन-साधारण के लिये सुलभ बनाने का श्रेय गिरीशचन्द्र घोष को है। सन् १८६७ ई० मे आभिजात्य रंगमच के टिकट पाने की कठिनाई की एक सामान्य घटना ने युवक गिरीशचन्द्र को, जो उस समय जॉन एटकिन्सन एण्ड कम्पनी मे एक सामान्य बाबू थे, द्रवी-भूत कर दिया और उन्होंने सकल्प कर लिया कि रगमच का द्वार जन-साधारण के लिये उन्मुक्त करना होगा। [5] फलत. उसी वर्ष माइकेल के 'शर्मिष्ठा' का यात्रा-शैली पर अभिनय प्रस्तुत किया गया, जिसकी सफलता से उत्साहित होकर उन्होंने अपने कुछ मित्रो की सहायता से बागबाजार एमेच्यर थियेटर की स्थापना सन् १८६८ ई० मे की। दीनबन्धु-कृत 'सधवार एकादशी' का अभिनय उसी वर्ष दुर्गा-पूजा के अवसर पर किया गया। गिरीश ने इसमे अव-सर के अनुकूल कुछ गीत लिखे और सूत्रधार-नटी की प्रस्तावना लिख कर जोडी और नीमचन्द की प्रमुख भूमिका मे स्वय उतरे। इसी मे वे एक सशक्त निर्देशक के रूप मे भी सामने आये। अमृतलाल वसु के शब्दो मे नीमचन्द के रूप मे 'बगाल ने पहली बार अपने प्रथम रगमच के जनक को देखा'। [6]

इस प्रकार कवि, नाटककार, कलाकार और नाट्य-निर्देशक के रूप मे गिरीश का अभ्युदय पूर्व-गिरीश युग मे ही हो चुका था।

नेशनल थियेटर—सन् १८७१ ई० मे गिरीश और धर्मदास सूर के प्रयास से बा० राजेन्द्रचन्द्र पाल की श्याम बाजार-स्थित बाडी में बने स्थायी रंगमच के रूप मे 'नेशनल थियेटर' का जन्म हुआ। [7] इस थियेटर का उद्घाटन दीनबन्धु-कृत 'लीलावती' से हुआ, जिसमे गिरीश ने नायक ललित का अभिनय किया। यह चार रात्रियो तक खेला

गया ।[8] 'लीलावती' की लोकप्रियता से नेशनल थियेटर को काफी ख्याति मिली । फलस्वरूप टिकट से नाटक खेलने का निश्चय किया गया, परन्तु गिरीश अगले नाटक 'नीलदर्पण' के प्रयोग के समय टिकट के प्रश्न पर मतभेद हो जाने के कारण उससे अलग हो गये । 'नीलदर्पण' जोडासाको मे मधुसूदन सान्याल की वाड़ी (घडीवाला बाडी, ३३७, अपर चितपुर रोड) मे रात को आठ बजे से खेला गया[9] और नाटक की आय मंच के विकास-कार्य मे लगा दी गई ।

इन्ही दिनो भुवनमोहन नियोगी गिरीश के सम्पर्क मे आये, जिन्होने गंगातटवर्ती अपनी कोठी जनवरी, १८७२ से 'नीलदर्पण' के रिहर्सल के लिये दे दी थी । इन्ही भुवनमोहन के ग्रेट नेशनल थियेटर के साथ नेशनल थियेटर का (जिसके नेशनल और हिन्दू नेशनल के नाम से मार्च-अप्रैल, १८७३ मे दो पृथक् दल बन गये थे) फरवरी, १८७४ में विलय हो गया ।[10] ग्रेट नेशनल के पास अपनी स्थायी रंगशाला थी ।[11]

शीघ्र ही 'कृष्णकुमारी' का अभिनय किया गया और पुन गिरीश, नेशनल की आत्मा और मार्ग-दर्शक बन कर, अपने शिष्यो के आमन्त्रण पर उसमे सम्मिलित हो गये ।

इसके अनन्तर सन् १८७३ ई० मे नेशनल थियेटर ने दो नई परम्पराओ की स्थापना की–(१) अभी तक नाटक केवल शनिवार को खेले जाते थे, किन्तु १५ जनवरी, १८७३ से पहली बार बुधवार को भी नाटक किये जाने प्रारम्भ हो गये और (२) नाटक या प्रहसन के साथ कुछ स्वांग या मूकाभिनय करने की प्रथा भी प्रारम्भ हो गई । १५ जनवरी, १८७३ को अभिनीत 'बिये पगला बूडो' के साथ चार स्वांग-'हुचवैंग', 'मुस्तफी साहब का पक्का तमाशा', 'परिस्तान' और 'नेशनल सिविल सर्विस' भी खेले गये थे,[12] यद्यपि इस प्रकार के स्वांग या कॉमिक का चलन भैरवचन्द्र हाल्दार-कृत 'विद्यासुन्दर' के साथ अभिनीत 'भिस्तिर पाला' के रूप मे १८२३ ई० में ही प्रारम्भ हो चुका था ।

ग्रेट नेशनल थियेटर – बाद मे ग्रेट नेशनल थियेटर द्वारा सन् १८७९ ई० मे शनिवार और बुधवार के साथ ही रविवार की सध्या को भी नाटकाभिनय प्रारम्भ हो गये ।[13]

ग्रेट नेशनल थियेटर के विकास मे भी गिरीश ने पूरा योगदान दिया । इसका स्वामित्व भुवनमोहन से प्रताप जौहरी नामक मारवाडी सेठ के हाथ मे आ जाने पर गिरीश उसके प्रबन्धक नियुक्त हुए । इस पद पर रह कर गिरीश ने 'दोल-लीला' (१८७६ ई०) और 'शिवेर विवाह' नामक दो संगीतक (ऑपेरा) और 'मायातरु' (१८८१ ई०) नामक एक गीतिनाट्य लिखा । 'मायातरु' के गीत बहुत लोकप्रिय हुए । उसका 'हासो रे यामिनी, हासो प्राणेर हासि रे' तो लोगो की जबान पर चढ गया था ।[14] इसके बाद उन्होने 'मोहिनी प्रतिमा' (१८८१ ई०), 'अलादीन वा आश्चर्य-प्रदीप' (अभिनीत १८८१ ई०), 'आनन्द रहो' (१८८१ ई०), 'रावणवध' (१८८१ ई०) और 'पाण्डवेर अज्ञातवास' (१८८३ ई०) नाटक लिखे । ये सभी ग्रेट नेशनल द्वारा खेले गये ।

अन्तिम नाटक के खेले जाने के कुछ दिन बाद ही गिरीश ग्रेट नेशनल से पृथक् हो गये । उनके साथ उनकी शिष्य मडली भी थियेटर छोड कर चली गई । सन् १८८६ मे या इसके आस-पास स्टार-परिचालिको ने ग्रेट नेशनल की बाडी खरीद ली ।[15]

स्टार थियेटर – गिरीश की प्रेरणा से उनकी शिष्या अभिनेत्री विनोदिनी ने अपने सिक्ख-प्रेमी गुरमुखराय के साथ मिल कर सन् १८८३ मे स्टार थियेटर की स्थापना की, किन्तु गुरमुखराय ने 'नल-दमयती' (दिसम्बर, १८८३) के अभिनय के बाद स्टार थियेटर को अमृत मित्र, अमृत वसु, हरिप्रसाद वसु और दासू नियोगी के हाथ बेच दिया । नये प्रबन्ध मे स्टार ने कुछ अन्य नाटको के साथ मुख्य रूप से गिरीश के नाटक अभिनीत किये और उनके 'चैतन्य लीला' (१८८६ ई०) ने तो एक 'युगान्तर उपस्थित' कर दिया ।[16] नाट्याचार्य अमृत वसु ने 'चैतन्य लीला' की लोकप्रियता के सम्बन्ध मे अपने 'प्राणेर दरद' मे लिखा है कि रंगमच पर 'हरि बोल' और 'सिंगा' और

'खोल' की ध्वनि गूँजने से नाट्यशाला 'तीर्थ-स्थल' और थियेटर 'भक्त-मेला' बन गया।[५] इस नाटक का समाज-व्यापी प्रभाव यह हुआ कि नगर-नगर, गाँव-गाँव मे कीर्तन मंडल स्थापित हो गये और इंग्लैंड से लौटे बँगाली भी अपने को 'हिन्दू' कह कर गर्व का अनुभव करने लगे। इसी समय से बँगला रंगमंच का 'नवीन श्रेष्ठ युग' प्रारम्भ हुआ,[६] जिसके सूत्रधार थे गिरीशचन्द्र घोष।

इस प्रकार गिरीश युग का बीजारोपण पूर्व-गिरीश युग मे ही हो चुका था, जो आगे चल कर अंकुरित और पल्लवित हुआ।

स्टार द्वारा गिरीश के 'प्रह्लाद चरित्र' (१८८४ ई०), 'प्रभास यज्ञ' (१८८५ ई०), 'बुद्धदेवचरित्' (१८८७ ई०), 'वेल्लिक बाजार' (१८८७ ई०), 'विल्वमगल ठाकुर' (१८८८ ई०) और 'रूपसनातन' (१८८८ ई०), अमृतलाल वसु का 'विवाह-विभ्राट्' (१८८४ ई०), शिशिर कुमार घोष का 'निमाई सन्यास' आदि नाटक बडी सफलता के साथ अभिनीत किये गये।

एमरेल्ड थियेटर – 'रूपसनातन' के अभिनय के बाद ही कलकत्ते के धन-कुबेर गोपाललाल शील ने स्टार थियेटर खरीद लिया, किन्तु उसका 'गुडविल' न मिलने से उसे 'एमरेल्ड थियेटर' के नाम से पुनः चालू किया। गिरीश बाबू बीस हजार रुपये के बोनस और ३५० रु० मासिक पर एमरेल्ड के प्रबन्धक हो गये। अमृतलाल वसु ने हाथीबागान मे बाडी खरीद कर नये सिरे से स्टार थियेटर की स्थापना की।[७]

गिरीश ने एमरेल्ड के लिये 'पूर्णचन्द्र' (१८८८ ई०) और 'विषाद' (१८८९ ई०) और नूतन स्टार के लिये छद्म नाम से 'नसीराम' (प्रकाशन १८९६ ई०) नाटक लिखा।

एमरेल्ड का उद्घाटन केदार चौधरी के 'पाण्डव-निर्वासन' और नूतन स्टार का गिरीश के 'नसीराम' (१८८८ ई०) से हुआ। एमरेल्ड मे 'विषाद' के अभिनय के बाद गिरीश पुन स्टार में चले गये। स्टार मे रह कर गिरीश ने 'प्रफुल्ल' (१८८९ ई०), 'हारानिधि' (१८९० ई०), 'चन्ड' (१८९० ई०), 'मलिना विकास' (१८९१ ई०) और 'महापूजा' (१८९१ ई०) नाटको की रचना की। उसके बाद गिरीश पारिवारिक झझटों के कारण नियमित रूप से थियेटर नही जा सके। फलतः उन्हें नौकरी से पृथक् कर दिया गया। गिरीश के प्रति सवेदना रखने वाले अनेक कलाकारो ने, जिनमे नीलमाधव चक्रवर्ती और दानी बाबू भी थे, स्टार छोड दिया।

सन् १८९० मे एमरेल्ड का प्रबन्ध महेन्द्र वसु के हाथ मे आ गया। अन्य नाटको के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'चित्रागदा', बकिम के 'कृष्णकान्तेर विल' का नाट्यरूपान्तर (१८९० ई०), अतुल कृष्ण मित्र का 'आमोद-प्रमोद' (१८९३ ई०) और रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यास 'वग-विजेता' का नाट्य-रूपान्तर (१८९६ ई०) अभिनीत किये गये। 'वंग-विजेता' के बाद एमरेल्ड बन्द हो गया।

सिटी थियेटर – नीलमाधव चक्रवर्ती ने बीणा रगालय को किराये पर लेकर 'सिटी थियेटर' की स्थापना की और गिरीश के 'सीतार वनवास,' 'विल्वमगल' और 'वेल्लिक बाजार' के अलावा स्टार द्वारा अभिनीत अन्य नाटक, यथा 'सरला' (सामाजिक उपन्यास 'स्वर्णलता' का नाट्य-रूपान्तर), 'ध्रुव' आदि भी खेले। फलत स्टार थियेटर ने सिटी थियेटर और गिरीश बाबू के ऊपर मुकदमा चला दिया। न्यायाधीश विल्सन ने निर्णय दिया कि प्रकाशित नाटक का किसी भी मंच पर अभिनय हो सकता है।[८]

स्टार ने अपनी भूल का अनुभव कर पुनः गिरीश को नाटककार के रूप मे अपने यहाँ बुला लिया।[९] यहाँ पर यह बताना अप्रासगिक न होगा कि सन् १८८९ मे 'प्रफुल्ल' के अभिनीत होने के पूर्व 'सरला' का अभिनय स्टार ने बराबर एक वर्ष तक अबाध गति से करके एक 'रिकार्ड' स्थापित किया था।[१०] अभी तक बँगला का कोई भी नाटक निरन्तर एक वर्ष तक अभिनीत नही हुआ था। इस नाटक की सफलता से प्रभावित स्टार-परिचालकों के अनुरोध पर ही गिरीश ने 'प्रफुल्ल' नामक सामाजिक नाटक लिखा था।

मिनर्वा थियेटर – इस बीच जहाँ भुवनमोहन का ग्रेट नेशनल थियेटर था, वहीं पर नागेन्द्रभूषण मुखोपाध्याय ने मिनर्वा थियेटर की स्थापना सन् १८९३ में की[१], जो आज भी बीडन स्ट्रीट पर अवस्थित है। मिनर्वा का उद्घाटन शेक्सपियर के नाटक 'मैकबेथ' के गिरीश-कृत बँगला-रूपान्तर से हुआ। अनुवाद में शेक्सपियर के भावों की रक्षा की गई थी और अनुवाद की भाषा भी सशक्त और प्रांजल थी। 'मैकबेथ' का अभिनय दस रात्रियों तक चलता रहा।[२]

गिरीश ने मिनर्वा के लिए 'मुकुल मंजरा' (१८९३ ई०), 'आबू हुसेन' (या 'अबू हसन', १८९३ ई०), 'सप्तमीते विसर्जन' (१८९३ ई०), 'जना' (१८९४ ई०), 'बड़दिनेर बख्शीश' (१८९४ ई०), 'स्वप्नेर फूल' (१८९४ ई०), 'सभ्यतार पाण्डा' (१८९४ ई०), 'करमेति बाग' (१८९५ ई०), 'फणीर मणि' (१८९६ ई०) और 'पाँच कने' (१८९६ई०) नाटक लिखे।[३] मिनर्वा ने इन्हें खेल कर पर्याप्त यश और धन अर्जित किया। सन् १८९६ में नागेन्द्रभूषण से मनोमालिन्य हो जाने के कारण गिरीश मिनर्वा से पृथक् हो गये। स्टार वालों ने तत्काल उन्हें नाट्याचार्य के रूप में पुनः रख लिया।

स्टार में पुनः आकर गिरीश ने 'काला पहाड़' (१८९६ ई०) और 'मायावसान' (१८९८ ई०) नामक नाटक लिखे।[४] नाटक उच्च कोटि के होते हुए भी स्टार के लिये कामधेनु न बन सके। इस बीच कलकत्ते में प्लेग फैल जाने के कारण गिरीश ने स्टार छोड़ दिया और स्टार भी कुछ समय के लिये बन्द रहा। पुनः खुलने पर स्टार में पुराने नाटक होते रहे।

मिनर्वा से गिरीश के चले जाने के लगभग एक वर्ष बाद उसकी आर्थिक दशा गिरने लगी और अन्त में उसका स्वत्वाधिकार श्रीपुर के जमींदार नरेन्द्र सरकार के हाथ में आया, जिन्होंने उसे नागेन्द्रभूषण से खरीद लिया। कुछ काल बाद नरेन्द्र सरकार के परामर्शदाता महेन्द्र कुमार मित्र के कहने पर, जो कलकत्ता उच्च न्यायालय के वकील थे, गिरीश मिनर्वा के प्रबन्धक नियुक्त हुये। गिरीश ने बंकिमचन्द्र के सामाजिक उपन्यास 'सीताराम' का नाट्य-रूपान्तर सन् १९०० में या उसके कुछ पूर्व किया। क्रमशः मिनर्वा की आर्थिक दशा बिगड़ते जाने से सन् १९०२ में नरेन्द्र सरकार ने दिवाला निकाल दिया। रिसीवर नियुक्त हो जाने पर पुनः कई भाड़ैतों के पास जाने के बाद मिनर्वा को अमरेन्द्र नाथ ने सन् १९०३ में भाड़े पर ले लिया। भाड़ा सात सौ रुपये मासिक निश्चित हुआ।[५] अमरेन्द्र के परिचालन में मिनर्वा में क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद का 'रघुवीर' (१९०३ ई०) खेला गया।

चुन्नी बाबू के मिनर्वा को भाड़े पर ले लेने पर गिरीश पुनः प्रबन्धक नियुक्त हुए। नव प्रबन्ध में गिरीश का 'नल-दमयन्ती', रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'राजा-ओ-रानी' और मनमोहन गोस्वामी का 'संसार (१९०४ ई०) नाटक खेले गये।[६]

सन् १९०४ में अमरेन्द्र नाथ ने अपने अर्थाभाव के कारण विवश होकर मिनर्वा मनमोहन पाँड़े को भाड़े पर दे दिया और मनमोहन पाँड़े ने उसे पुनः 'सब-लीज' पर चुन्नी बाबू को दे दिया। इस बार मिनर्वा को चलाने के लिये चुन्नी बाबू ने एक नई योजना निकाली—नाटक के साथ प्रत्येक सामाजिक को पुस्तकोपहार देने की और उनकी इस प्रतिस्पर्धा में क्लासिक थियेटर के परिचालक अमरेन्द्र नाथ को भी मात खानी पड़ी और वे ऋणग्रस्त हो गये। चुन्नी बाबू ने सर्वप्रथम २३ अगस्त, १९०४ को अभिनीत 'नन्दविदाय' (अतुलकृष्ण मित्र), 'लक्ष्मण-वर्जन' (गिरीशचन्द्र घोष) और 'कुंज-ओ-दरजी' नाटक के अभिनय के साथ पुस्तकोपहार सभी सामाजिकों को दिया।[७] फलतः उस दिन (बुधवार को) १८०० रु० के टिकट बिके। जिन्हें बुधवार के टिकट नहीं मिल सके, उन्होंने बृहस्पतिवार के टिकट खरीद लिये।[८]

इस प्रकार सन् १९०४ या इसके कुछ पूर्व बृहस्पतिवार को भी नाटकाभिनय प्रारम्भ हो चुका था।

मिनर्वा में 'प्रतापादित्य' के सफल अभिनय-काल के मध्य चुन्नी बाबू गिरीश को नाट्याचार्य के रूप में

वापस ले आये। गिरीश ने इस अवधि में 'हरगौरी' (१९०५ ई०), 'बलिदान' (१९०५ ई०), 'सिराजुद्दौला' (१९०६ ई०), 'मीरकासिम' (१९०६ ई०), 'जैसा का तैसा' (१९०६ ई०) और 'छत्रपति शिवाजी' (१९०७ ई०) नाटक लिखे। इसी काल में गिरीश ने बंकिमचंद्र के उपन्यास 'दुर्गेशनंदिनी' का नाट्य-रूपान्तर भी किया।

इनमें 'बलिदान', 'सिराजुद्दौला' और 'मीरकासिम' के अभिनय ने बँगला रंगमंच के इतिहास में एक नयी दिशा की सूचना दी। बंगाल की पन प्रथा पर लिखित सामाजिक नाटकों में 'बलिदान' का अपना एक स्थान है इसकी लोकप्रियता से सामाजिकों की भीड़ बराबर बनी रहने लगी। फलस्वरूप मिनर्वा ने पुरस्कोपहार बंद कर दिया।[१] 'सिराजुद्दौला' और 'मीर कासिम' के अभिनयों ने इतिहास की ओट में बंग-भंग (१९०५ ई०) के कारण उद्वेलित राष्ट्रीयता की भूख को उग्र बनाया। ये नाटक राष्ट्रोद्धार के दिशा-निर्देशक बन गये। सन् १९४२ से लगभग ३६ वर्ष पूर्व गिरीश ने मीर कासिम' के द्वारा नर्वदमन 'भारत छोड़ो' का उद्घोष किया था।[२]

छत्रपति शिवाजी' के प्रयोग के समय गिरीश कुछ समय के लिये कोहिनूर थियेटर में चले गये और वहाँ भी 'छत्रपति शिवाजी' का अभिनय किया गया। 'बंगवासी' ने गिरीश द्वारा औरंगजेब की भूमिका की प्रशंसा करते हुए लिखा था – पृथ्वीतल पर वे स्वयं ही अपनी तुलना के योग्य हैं'।[३]

इसके बाद गिरीश पुनः मिनर्वा में आ गये और वहाँ रह कर कई नाटकों की रचना की, जिनमें प्रमुख हैं– 'शान्ति कि शान्ति' (१९०८ ई०), 'शंकराचार्य' (१९१० ई०), 'अशोक' (१९११ ई०) और 'तपोबल' (१९११ ई०)। 'तपोबल' में वशिष्ठ के चरित्र में गाँधी जी के सत्य और अहिंसा का समन्वय प्रदर्शित किया गया है। 'तपोबल' में अस्पृश्यता-निवारण पर भी जोर दिया गया है।

९ फरवरी, १९१२ को गिरीश के यशस्वी नाट्य-जीवन की परिसमाप्ति हुई। उसी वर्ष सितम्बर में गिरीश-कृत 'गृहलक्ष्मी' मिनर्वा में खेला गया। मिनर्वा ने न केवल गिरीश के, वरन् बँगला के अन्य प्रसिद्ध नाटककारों–द्विजेन्द्रलाल राय और क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के भी कई नाटक खेले, जिनमें द्विजेन्द्र के 'राणा प्रताप सिंह' (१९०५ ई०), 'मेवाड़-पतन' (१९०८ ई०), 'शाहजहाँ' (१९०९ ई०), 'चन्द्रगुप्त' (१९११ ई०) और 'पुनर्जन्म' (१९११ ई०) और क्षीरोद के 'भीष्म' (१९१३ ई०), 'नियति' (१९१४ ई०) और 'आहेरिया' (१९१५ ई०) प्रमुख हैं। क्षीरोद के उक्त नाटक सन् १९१२ और १९१३ के बीच खेले गये।

गिरीश युग थियेटरों की स्थापना का युग था। इस युग में जिन अन्य नाट्यशालाओं अथवा थियेटरों की स्थापना हुई, उनमें प्रमुख हैं–क्लासिक थियेटर, कोहिनूर थियेटर और वीणा थियेटर।

क्लासिक थियेटर– क्लासिक थियेटर के साथ बँगला के एक अन्य नाटककार एवं प्रसिद्ध परिचालक अमरेन्द्रनाथ दत्त का नाम गुँथा हुआ है। सर्वप्रथम उन्होंने चुन्नी बाबू और दानी बाबू के सहयोग से 'इंडियन ड्रामेटिक क्लब' की स्थापना की और बाद में गोपाललाल शील से एमरेल्ड को २५० रु० मासिक भाड़े पर लेकर सन् १८९७ में व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की, जिसका नाम था 'क्लासिक थियेटर'।[४] १६ अप्रैल, १८९७ को गिरीश के 'नल-दमयंती' और 'बेल्लिक बाजार' के साथ क्लासिक का उद्घाटन हुआ, और दूसरी तथा तीसरी रात्रियों को क्रमशः 'पलासीर युद्ध' (नवीनचन्द्र सेन) और 'लक्ष्मण वर्जन', 'दक्ष-यज्ञ' और 'बेल्लिक बाजार' खेले गये। इसी वर्ष गिरीश-कृत 'हारानिधि', अतुलकृष्ण मित्र-कृत नाट्य-रूपान्तर 'देवी चौधरानी' और नरेन्द्र चौधरी-कृत 'हरिराज' नाटक अभिनीत किये गये। 'देवी चौधरानी' में सामाजिकों की उपस्थिति अत्यल्प होने के कारण बिना टिकट लोगों को बाहर से बुला-बुला कर नाटक दिखलाया गया।[५] लगभग इसी समय स्टार ने भी 'हारानिधि' का अभिनय किया। इस काल में इस प्रकार की प्रतियोगिताएँ प्रायः हुआ करती थीं।

सन् १८९७ में क्लासिक द्वारा अभिनीत क्षीरोदप्रसाद-कृत 'अलीबाबा' से अमरेन्द्र का भाग्योदय हुआ। इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि १२०० रु० से १८०० रु० के बीच प्रति रात्रि टिकट बिकने लगे।[६] अमरेन्द्र ने

नायक का कार्य किया और उनके शरीर-सौष्ठव एवं कंठ-माधुर्य ने सामाजिकों का हृदय जीत लिया। 'अलीबाबा' की सफलता ने क्लासिक के चार चाँद लगा दिये। मिनर्वा, बंगाल और स्टार थियेटर उसके आगे फीके पड़ चले।

इसके अनन्तर सन् १८९८ ई० में गिरीशचन्द्र क्लासिक में नाट्याचार्य के रूप में आ गये। यह गीतिनाट्यों का युग था, अतः गिरीश ने 'दिलदार' (१८९९ ई०) नामक एक रूपक गीति-नाट्य और १९०० ई० में 'पांडव-गौरव' नामक एक पूर्णांग नाटक की रचना की।

सन् १९०० में गिरीश कुछ काल के लिये मिनर्वा में चले गये और इसके अनंतर अमरेन्द्र ने विज्ञापन, कार्टून और नाटक द्वारा गिरीश के विरुद्ध कुत्सित प्रचार-युद्ध छेड़ा, किन्तु पराजित होकर अमरेन्द्र गिरीश को मना कर पुनः क्लासिक में ले आये, जहाँ वे सन् १९०४ के अन्त तक बने रहे। इस अवधि में गिरीश ने 'अश्रुधारा' (१९०१ ई०), 'मनेर मतन' (१९०१ ई०), 'कपालकुंडला' (बंकिम के उपन्यास का नाट्य-रूपान्तर, १९०१ ई०), 'भ्रान्ति' (१९०२ ई०), 'आयना' (१९०२ ई०) आदि नाटकों की रचना की। इस समय तक अमरेन्द्र की आर्थिक दशा खराब हो गई और उन्होंने सन् १९०४ में क्लासिक को भाड़े पर मनमोहन पांडे को दे दिया। गिरीश सन् १९०४ में पुनः मिनर्वा में चले गये।

नये प्रबन्ध के पूर्व अप्रैल, १९०४ में क्लासिक ने गिरीश का 'सतनाम' नाटक खेला, जिसके कारण मिनर्वा में 'सम्मार' की आय डेढ़ सौ रुपये से घट कर ७०)रु० पर आ गई। मुसलमानों के विरोध के कारण 'सतनाम' का प्रयोग बंद कर देना पड़ा,[*] जिसका क्लासिक की आर्थिक स्थिति पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। मिनर्वा की प्रतियोगिता में सामाजिकों को पुस्तकोपहार उसे और भी महँगा पड़ा। फलतः क्लासिक दुरवस्था में पड़ गया और सन् १९०५ में क्लासिक में 'रिसीवर' नियुक्त हो गया।

रिसीवर के प्रयास से ५०० रुपये मासिक वेतन पर गिरीश पुनः क्लासिक में आ गये। इसी समय थियेटर पुनः अमरेन्द्र के हाथ में आया और मनमोहन गोस्वामी का 'पृथ्वीराज' (१९०५ ई०) २१ अक्तूबर को खेला गया। इसके बाद अमरेन्द्र-कृत 'प्रणय ना विष' (योगेन चट्टोपाध्याय के उपन्यास 'प्रणय-परिणाम' का नाट्य-रूपान्तर) अभिनीत हुआ। सन् १९०६ में 'सिराजुद्दौला' का अभिनय हुआ।

इसके बाद अमरेन्द्र ने उसी वर्ष 'न्यू क्लासिक' की स्थापना की और दो नाटक खेल कर अस्वस्थ हो गये। स्वस्थ होने पर अर्थाभाव के कारण वे पहले स्टार में और बाद में मिनर्वा में प्रबंधक हो गये।

कोहिनूर थियेटर— शरत्कुमार राय ने सन् १९०७ में एमरेल्ड थियेटर को एक लाख आठ हजार में खरीद कर 'कोहिनूर थियेटर' की स्थापना की।[*] इसकी स्थापना के साथ ही उसे गिरीश और उनकी शिष्य-मंडली का सहयोग प्राप्त हुआ। क्षीरोद-कृत 'चाँदबीबी' (१९०७ ई०) से कोहिनूर का उद्घाटन हुआ, और इसी वर्ष गिरीश के 'छत्रपति शिवाजी', 'प्रफुल्ल', 'सिराजुद्दौला', 'मीरकासिम' आदि नाटक भी खेले गये, परन्तु वर्ष के अंत में ही संस्थापक शरद्राय का निधन हो गया। शरद् के भाई शिशिर राय से खटपट हो जाने के कारण गिरीश कोहिनूर को छोड़ कर मिनर्वा में चले गये।

'चाँदबीबी' की प्रथम रात्रि की टिकट-बिक्री (२६०० रुपये) ने[*] अभी तक की टिकट-बिक्री के सारे रिकार्ड तोड़ दिये। चाँदबीबी की भूमिका में तारासुन्दरी, जोशीबीबी की भूमिका में तिनकड़ी दासी, रघुवीर की भूमिका में मन्मथनाथ पाल और इब्राहीम की भूमिका में क्षेत्रमोहन मित्र के अभिनय सर्वोपरि रहे। गिरीश और शरद् बाबू के अस्वस्थ हो जाने पर क्षीरोद-कृत 'दादा-ओ-दीदी' (१९०७ ई०) के अभिनय में अपार जन-समूह टूट पड़ा।

गिरीश के कोहिनूर में चले जाने के बाद क्षीरोद के 'राजा अशोक', 'वासंती', 'वरुणा', 'दौलते दुनिया', 'भूतेर बेगार' आदि नाटक सन् १९०८ में खेले गये। इस वर्ष के अन्त में (१८ दिसम्बर) हरनाथ वसु का

गुरुगोविन्द सिंह से संबंधित 'पजाब गौरव' नाटक सफलता के साथ अभिनीत हुआ, किन्तु सिक्खो के विरोध के कारण उसका ३० जनवरी, १९०९ से 'वीरपूजा' नाम से अभिनय होने लगा।[४] इसके बाद हरनाथ के 'मयूर सिंहासन', 'प्रतिफल' और 'सोनार ससार' नाटकों का उसी वर्ष (१९०९ ई०) अभिनय हुआ। २९ दिसम्बर, १९०९ को हरिपद मुखोपाध्याय का 'दुर्गावती' खेला गया, जो काफी सफल रहा।

सन् १९११ मे अभिनीत हरिश्चन्द्र सान्याल-कृत 'विश्वामित्र' और अतुलकृष्ण मित्र के 'जेनोविया' मे भी सामाजिको का अच्छा जमघट रहा। 'जेनोविया' मे रानी जेनोविया की भूमिका मे कुसुमकुमारी का अभिनय विशेष आकर्षक रहा। सन् १९१२ मे क्षीरोद-कृत 'खाँजहाँ' खेल कर कोहिनूर बद हो गया। इसे मनमोहन पाण्डे ने एक लाख दस हजार मे खरीद लिया।[५]

शरत्-कोहिनूर ने बद होने के पूर्व गिरीश की स्मृति मे उनके 'वलिदान' और 'पाण्डव-गौरव' नाटको का विशेष अभिनय कर ३६३६ रुपये एकत्र किये।[६] इस अनुष्ठान में चुन्नी बाबू के ग्रैण्ड नेशनल को छोड कलकत्ते के शेष सभी थियेटरो ने योग दिया।

वीणा थियेटर– बगाल थियेटर मे अपने 'प्रह्लाद चरित्र' की लोकप्रियता से उत्साहित होकर वँगला के एक अन्य नाटककार राजकृष्ण राय ने वीणा थियेटर की स्थापना की। उन्होंने अपने 'चन्द्रहास' नाटक से सन् १८७७ मे वीणा का उद्घाटन किया।[७] इसके अनन्तर 'प्रह्लाद चरित्र', 'हरधनुर्भंग' (१८८१ ई०), 'हरिदास ठाकुर' (१८८८ ई०, प्रकाशन) आदि नाटक खेले गये। इन सभी के लेखक थे स्वय राजकृष्ण राय।

इस समय तक वीणा थियेटर मे लडके ही स्त्रियो का अभिनय करते रहे, किन्तु सन् १८८९ मे राय-कृत 'मीराबाई' के प्रयोग मे पहली बार अभिनेत्रियो ने भूमिकाएँ की। तिनकडी दासी मीराबाई की भूमिका मे अवतरित हुई।[८] यहाँ यह बताना अप्रासगिक न होगा कि इसके पूर्व सन् १८७३ के प्रारम्भ मे सर्वप्रथम बाबू रामचन्द्र मुखर्जी की ऑपेरा पार्टी मे स्त्रियों ने अभिनय एव गायन का कार्य किया था। इसके अनन्तर ७ फरवरी, १८७३ से नेशनल लीसियम मे, १५ फरवरी, १८७३ से हावडा के ओरिएंटल थियेटर मे और ७ मई, १८७३ से ग्रेट इडिया थियेटर मे 'विद्यासुन्दर' नाटक मे स्त्रियों की भूमिकाएँ स्त्रियो ने ही की थी। १६ अगस्त, १८७३ को शरद् घोष के बंगाल थियेटर में भी अलकेशी, जगततारिणी, श्यामासुन्दरी और गोलप, ये चार अभिनेत्रियाँ मंच पर उतरी।[९] इस प्रकार प्राय सभी रगमचो पर स्त्रियो के आ चुकने के बाद भी वीणा थियेटर ने अपने जन्म से ही स्त्री-रहित मंच की परपरा स्थापित की थी, यद्यपि यह दूर तक न चल सकी।

इसी बीच वीणा थियेटर को भाड़े पर लेकर 'सुरेन्द्र-विनोदनी' के लेखक उपेन्द्रनाथ दास ने अपना 'दादा-ओ-आमि' (१८८८ ई० प्रकाशन) नाटक खेला। इसके उत्तर में एमरेल्ड ने अतुलकृष्ण मित्र का 'गाधा-ओ-तुमि' (१८८९ ई०, प्रकाशन) नाटक खेला।[१०] इस नाटक द्वारा उपेन्द्रनाथ दास पर प्रहार किया गया था–'गाधा-ओ-तुमि' अर्थात् 'यू ऐण्ड ऐस' = यू० एन० दास = उपेन्द्रनाथ दास।

इसके बाद दो-एक नाटको के उपरांत वीणा बन्द हो गया और उसे सिटी थियेटर ने भाडे पर ले लिया। सन् १८९१ में राजकृष्ण राय स्टार के नाटककार होकर चले गये।

नूतन स्टार– यहाँ पर नूतन स्टार का सक्षेप मे उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना गिरीश युग की उपलब्धियो का विवरण अपूर्ण रहेगा। नूतन स्टार मे राजकृष्ण राय ने आकर 'नरमेघयज्ञ' (१८९१ ई०), 'लैला-मजनू' (१८९१ ई०), 'बनवीर' (१८९२ ई०), 'बेनज़ीर-बदरेमुनीर' (१८९३ ई०) आदि नाटक लिखे। ५ मार्च, १८९४ को राय ने पार्थिव शरीर का परित्याग कर दिया।

स्टार के दूसरे नाटककार थे अमृतलाल वसु, जो स्टार के परिचालको में एक रहे हैं। उनके 'राजा बहादुर' (१८९१ ई०), काला पानी' (१८९३ ई०), 'बाबू' (१८९४ ई०) आदि प्रहसनो के भी इस बीच अभिनय

होते रहे।

राजकृष्ण राय की मृत्यु के उपरांत अमृत बसु ने बंकिम के 'चन्द्रशेखर' उपन्यास का नाट्य-रूपान्तर करके उसे मंचस्थ किया। सामाजिकों की भीड़ उमड़ पड़ी। अमृत के 'राजसिंह' ने भी अच्छा रंग जमाया। इन्हीं दिनों गिरीश पुनः स्टार के नाट्याचार्य होकर आ गये और उनके 'काला पहाड़' तथा 'मायावसान' नाटक खेले गये, परन्तु कुछ काल बाद ही वे क्लासिक में चले गये। इसके अनन्तर स्टार में ३-४ वर्ष तक कुछ नये-पुराने नाटकों की आवृत्ति होती रही। इनमें सन् १९०६ में क्षीरोद-कृत 'पलाशीर प्रायश्चित्त' तथा सन् १९०७ में हुए 'चन्द्रशेखर' और 'प्रफुल्ल' के प्रयोग प्रमुख हैं। मार्च, १९०८ में स्टार के परिचालक अमृत मित्र का निधन हो गया।[८]

कुछ काल बाद अमरेन्द्रनाथ दत्त ने पहले स्टार में नौकरी की और बाद में उसे भाड़े पर ले लिया। सन् १९१२ में 'श्वसुरवाड़ी-यात्रा' (हरिनाथ), 'जीवन-संग्राम', 'खास-दखल' (अमृतलाल बसु), 'परपारे' (द्विजेन्द्रलाल राय) आदि नाटक खेले गये। अमरेन्द्र ने इस काल में एक नई परिपाटी को जन्म दिया और वह थी—एक ही रात में, रात को एक बजे के बाद नाटक न खेलने के नगरपालिका के निषेध के बावजूद अर्थदंड देकर भी, दो या तीन तक नाटकों का रात भर खेला जाना और खेलते-खेलते सवेरा कर देना। इसका कारण यह था कि नाटक रात को ८-९ बजे प्रारंभ होकर बारह-एक बजे तक समाप्त होता था, किन्तु इससे सामाजिकों को घर लौटने में कष्ट होता था। अमरेन्द्र ने उनके इस कष्ट को समझा और नाटक रात भर खेल कर उन्हें रात भर वहीं रोके रख कर प्रातः लौटने की सुविधा प्रदान कर दी।[९]

इन नाटकों में 'खास दखल' बहुत लोकप्रिय हुआ। यह हास्य रस का एक पूर्णांग शिक्षाप्रद नाटक है। इसके बाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'चिरकुमार सभा' (प्रकाशन १९०४ ई०) खेला गया। इसी वर्ष (१९१२ ई०) द्विजेन्द्र-कृत 'आनंद विदाय' का प्रयोग हुआ। सन् १९१५ के अंत में 'सौदागर' (शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का भूपेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय-कृत बँगला अनुवाद) खेला गया, जिसमें अमरेन्द्र ने कुलीरक (शाइलाक) का अभिनय कर सामाजिकों को मुग्ध कर दिया, किन्तु ११ दिसंबर को ज्वराक्रान्त हो रक्तवमन करने के कारण वे अपनी भूमिका में न उतर सके। १२ दिसंबर को 'शाहजहाँ' के औरंगज़ेब की भूमिका करते हुए वे पुनः अस्वस्थ हो गये और अंत में ६ जनवरी, १९१६ को उनके यशस्वी नाट्य-जीवन का अवसान हो गया।[१०]

अमृत मित्र और अमरेन्द्र के महाप्रस्थान से स्टार के दो आधार-स्तंभ टूट गये।

इस व्यावसायिक रंगमंच से दूर रह कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अनेक नाटक लिखे, जिनका विस्तृत उल्लेख अगले अध्याय में किया गया है। रवीन्द्र के नाटकों के वट-वृक्ष का बीज भारतेन्दु युग (बँगला में पूर्व-गिरीश युग) में अंकुरित हुआ, बेताब युग (बँगला में गिरीश युग) में पल्लवित हुआ और प्रसाद युग (बँगला में रवीन्द्र युग) में वह पूरा वृक्ष बन गया।

गिरीश युग में रवीन्द्र ने 'मायार खेला' (१८८८ ई०), 'राजा-ओ-रानी' (१८८९ ई०), 'विसर्जन (प्रकाशन, १८९० ई०)'[११], 'चित्रांगदा' (१८९२ ई०), 'गोड़ाय गलद' (१८९२ ई०), 'वैकुंठेर खाता' (१८९७ ई०), 'चिरकुमार सभा' (१९०४ ई०), 'शारदोत्सव' (१९०८ ई०), 'प्रायश्चित्त' (१९०९ ई०), 'राजा' (१९१० ई०), 'डाकघर' (१९१२ ई०), 'मालिनी' (१९१२ ई०), 'विदाय अभिशाप' (१९१२ ई०) और 'अचलायतन' (१९१२ ई०) नाटक लिखे, जो प्रायः अधिकांश में अव्यावसायिक मंच द्वारा खेले गये। बाद में कुछ नाटक व्यावसायिक थियेटरों द्वारा भी अभिनीत किये गये।

रवीन्द्र के बड़े भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने 'हिते विपरीत' (१८९६ ई०), 'पुनर्वसन्त' (१८९९ ई०), 'अलीक बाबू' (१९०० ई०) जैसे कुछ मौलिक नाटकों के अतिरिक्त सन् १८९९ और १९०४ ई० के बीच अनेक संस्कृत नाटकों का बँगला में अनुवाद किया, यथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' (१८९९ ई०), 'रत्नावली' (१९०० ई०),

'मालती माधव' (१९०० ई०), 'मृच्छकटिक' (१९०१ ई०), 'मुद्राराक्षस' (१९०१ ई०), 'विक्रमोर्वशी' (१९०१ ई०), 'चंडकौशिक' (१९०१ ई०), 'वेणीसंहार' (१९०१ ई०), 'प्रबोध चन्द्रोदय' (१९०२ ई०), 'धनजय-विजय' (१९०४ ई०), 'कपूर मंजरी' (१९०४ ई०) आदि। ज्योतिरिन्द्र ने अंग्रेजी से 'रजत गिरि' (१९०३ ई०) और 'जूलियस सीजर' (१९०७ ई०) अनूदित किये।

गिरीश युग की सामान्य प्रवृत्तियां : गिरीश युग के नाटकों मे पाश्चात्य नाट्य-पद्धति के प्रभाव के कारण मगलाचरण, प्रस्तावना, सूत्रधार-नटी आदि का सर्वथा अभाव पाया जाता है। क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के कुछ नाटकों मे प्रारम्भ मे प्रस्तावना-दृश्य या मगलाचरण भी है, किन्तु वे वस्तु-प्रवेश के रूप में मूल कथावस्तु मे सहायक या अगभूत होकर आये हैं। कुछ नाटकों के प्रारम्भ या अंत मे 'गीतों' का उपयोग भी किया गया है। नाटक सुखांत और दुखांत दोनों प्रकार के हैं।

कथा-वस्तु अंक, गर्भांक, क्रोड अंक अथवा दृश्य मे विभाजित है। इस काल के बंगला नाटक प्रायः पांच अंकों के हैं। कुछ छोटे नाटक दो, तीन या चार अंकों के भी हैं। गिरीश के 'प्रफुल्ल' और 'विल्वमंगल ठाकुर' पांच अंकों के, 'हरगौरी' दो अंक का, 'कमले कामिनी' तीन अंक का और 'नल-दमयन्ती' चार अंक का नाटक है। प्रत्येक अंक मे कई गर्भांक, क्रोड अंक अथवा दृश्य होते हैं। गिरीश के मौलिक नाटकों मे अंक गर्भांकों मे अथवा गर्भांकों और क्रोड अंकों मे विभाजित हैं और अंग्रेजी से अनूदित नाटक 'मैकबेथ' में गर्भांक की जगह 'दृश्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। गिरीश के 'कमले कामिनी' के दूसरे और तीसरे अंकों मे दो गर्भांकों के बीच में अथवा एक साथ क्रोड अंक रखा गया है। दूसरे अंक मे ३ क्रोड अंक और तीसरे मे केवल १ क्रोड अंक है। क्रोड अंक मे कथांशों की सूचना दी गई है। गिरीश की अंक-गर्भांक पद्धति का अनुकरण मणिलाल बन्द्योपाध्याय, सिसिरकुमार घोष, क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद आदि कई समकालीन नाटककारों ने किया है। क्षीरोद ने अपने कुछ नाटकों में 'गर्भांक' की जगह 'दृश्य' शब्द का भी प्रयोग किया है। प्रायः अन्य नाटककारों ने 'दृश्य' शब्द ही प्रयुक्त किया है।

प्रत्येक अंक में दो से लेकर बारह तक गर्भांक या दृश्य रहते हैं। सर्वाधिक दृश्य अर्थात् १२ गिरीश-कृत 'सिराजुद्दौला' के प्रथम अंक में और न्यूनतम गर्भांक अर्थात् २ गिरीश-कृत 'विल्वमंगल ठाकुर' के पांचवें अंक में हैं। अंकों और दृश्यों की बहुलता इस बात की द्योतक है कि ये नाटक मंच पर सामान्यतः ४-५ घंटे तक चलते रहे हैं।

गिरीश-युग में पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे गये। ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से ही देश-प्रेम और राष्ट्रीय भावना को जगाने का प्रयास किया गया है। बंग-विच्छेद को लेकर कुछ शुद्ध राष्ट्रीय नाटक भी लिखे गये। बंगला नाटककारों की राष्ट्रीयता प्रायः जातीयतामूलक रही है: 'बांगलाय बंगवासी हइबे नवाब, किन्तु सावधान ! नाहि दिओ फिरिगिरे सूच्यग्र स्थान।' (गिरीशचन्द्र घोष, 'सिराजुद्दौला', पृष्ठ ३१)।

इस काल में गद्य-नाटकों के साथ कुछ गीति-नाट्य भी लिखे गये। गद्य-नाटकों की भाषा प्रौढ़, प्रांजल और ओज-युक्त है। संवाद प्रायः गद्य मे ही हैं, यद्यपि किसी-किसी गर्भांक या दृश्य मे छन्दों या गीतों का भी प्रयोग किया गया है। क्षीरोद-कृत 'भीष्म' और गिरीश-कृत 'सिराजुद्दौला' मे तो पूरे के पूरे दृश्य छन्दबद्ध पद्य में हैं। गिरीश के 'विल्वमगल ठाकुर', 'सिराजुद्दौला' आदि मे गीतों का भी प्रयोग हुआ है। कुछ गीत राग-बद्ध भी हैं और प्रायः वागेश्री (मिश्र), धमार, पहाड़ी काफी, भैरवी, परज जोगिया एकताला, काफी, गौरी आदि का प्रयोग किया गया है।

गीति-नाट्य प्रायः छन्दप्रधान हैं। बीच-बीच में रागबद्ध गीतों का भी समावेश हुआ है। सावनबहार एकताला मे गिरीश-कृत 'नल-दमयंती' गीति-नाट्य का यह गीत बहुत भावपूर्ण बन पड़ा है :—

'कोन गगने छिलो रे ए टूटी चाँद ?
एलो धरातले,
चाँदे मिले,देखो कत खेले,
आध हासे रे चाँद, आध भासे रे चाँद,
भासे नयन-जले ।
कथा चाँदे-चाँदे, कथा कत छाँदे,
कथा नयने नीरेर रे,
पिये सुधा, प्राण दोले ।'

(गिरीशचद्र घोष, नल दमयन्ती, गिरीश ग्रथावली, तृतीय भाग, पृ०९६-९७)

उपलब्धियाँ – गिरीश युग मे राजाओ-महाराजाओ और सम्भ्रान्त जनो की कोठियो से निकल कर रगमच ने राहत की साँस ली और प्रथम बार जन-साधारण के रगमच की स्थापना हुई । इस रगमच ने एक नवीन दिशा, एक नवीन परम्परा और युगबोध का परिचय दिया । सक्षेप मे, इस युग की रगोपलब्धियाँ इस प्रकार थी :

१ बंगला के नाटककार प्राय वेतन-भोगी होते थे, किन्तु अनेक नाटककारो ने अपनी निजी रगशालायें भी स्थापित की अथवा उनकी स्थापना मे सक्रिय योगदान दिया । गिरीशचन्द्र घोष ने अनेक रगशालाओ की स्थापना मे योगदान दिया, किन्तु स्वय वेतन-भोगी 'नाट्याचार्य' अथवा 'प्रबधक' के रूप मे ही बने रहे । उन्होने प्रताप जौहरी के नेशनल थियेटर मे १००)रु० मासिक वेतन पर प्रबन्धक का कार्य प्रारम्भ किया" और मिनर्वा मे अन्तिम बार जाने के पूर्व सन् १९०७ मे कोहिनूर की स्थापना होने पर प्रबन्धक के रुप में उन्हें ५००) रु० से अधिक वेतन मिलने लगा था । साथ ही १०,०००) रु० का बोनस भी उन्हें दिया गया ।" क्लासिक मे इसके पूर्व उन्हें ४००) रु० मासिक वेतन मिलता था ।

रगशालाओ की स्थापना करने वाले प्रमुख नाटककार थे– अमृतलाल वसु (स्टार थियेटर), अमरेन्द्र-नाथ दत्त (क्लासिक, न्यू क्लासिक, ग्रैंड थियेटर एव ग्रेट नेशनल थियेटर) और राजकृष्ण राय (वीणा थियेटर) । अमरेन्द्र ने मिनर्वा और स्टार को किराये पर लेकर के भी चलाया ।

२ रगशालाएँ प्राय स्थायी रूप से पक्की बनाई जाती थी । स्टार, मिनर्वा, वीणा आदि स्थायी रगशालाएँ थी । इनमे प्रथम दो आज भी जीवित हैं । वीणा मे आजकल चलचित्र दिखलाये जाते हैं ।

नाट्य-शिक्षा और रिहर्सल पर पूरा ज़ोर दिया जाता था । गिरीशचद्र घोष और अमृत मित्र इस युग के उच्च कोटि के नाट्य-शिक्षक (निर्देशक) थे । रगसज्जा एव दृश्यावली पर काफी व्यय किया जाता था ।

३. नाटक प्राय बुधवार, बृहस्पतिवार, शनिवार और रविवार की सध्या को दिखाये जाते थे । अभिनय रात को ८-९ बजे से प्रारम्भ होकर १२-१ बजे तक चलता था, जिससे सामाजिको को घर लौटने मे कष्ट होता था, अत अमरेन्द्र ने स्टार मे सन् १९१२ मे रात भर नाटक खेलने की परिपाटी प्रारम्भ की, यद्यपि आगे चल कर यह मान्य नही हुई ।

४. सभी कलाकार वेतन-भोगी होते थे । सन् १८७३ से स्त्रियो ने मच पर आना प्रारम्भ कर दिया था, यद्यपि वे सम्भ्रान्त कुल की नही होती थी । गिरीश युग मे वीणा थियेटर को छोड कर शेष सभी थियेटरों में स्त्रियाँ काम करने लगी थी । स्त्री-कलाकारो मे विनोदिनी, तिनकडी दासी, सुशीलाबाला, नरी सुन्दरी, तारासुन्दरी आदि प्रमुख थी ।

पुरुष-कलाकारो मे गिरीशचद्र, अमरेन्द्र, दानी बाबू, तारक पालित, अर्द्धेन्दुशेखर, क्षेत्रमोहन मित्र,

मन्मथनाथ पाल (हाँदू बाबू), नीलमाधव, मंटू बाबू आदि उल्लेखनीय हैं ।

कलाकारो को मासिक वेतन के अलावा एकमुश्त बोनस भी दिया जाता था, जो नौकरी मे आने पर सम्भवत पहले ही, नौकरी की एक शर्त के रूप मे, तय हो जाता था ।

(ख) मराठी : कोल्हटकर युग और उसकी उपलब्धियाँ

किर्लोस्कर संगीत नाटक मंडली – कोल्हटकर युग एक नये प्रकार के सगीत नाटकों का युग था, जिसकी नींव भारतेन्दु युग के अन्त में ही रखी जा चुकी थी । सन् १८८० ई० मे किर्लोस्कर संगीत नाटक मडली की स्थापना कर अण्णासाहब किर्लोस्कर एक 'नवीन मराठी रगभूमि के अस्तित्व' की सूचना दे चुके थे ।[1]

यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि मराठी मे नये प्रकार के संगीत नाटक किर्लोस्कर से पहले सोकर बापू जी त्रिलोकेकर ने लिखे थे । उनके 'नलदमयंती' (१८७९ ई०) और 'हरिश्चन्द्र' (१८८० ई०) में सर्वप्रथम भावे-शैली के सूत्रधार को तिलाजलि देकर पात्रो द्वारा अपने-अपने पद कहलाये गये थे ।

किर्लोस्कर ने कन्नड की श्रुतिमधुर धुनों को मराठी मे अपना कर इस नाट्य-पद्धति को न केवल आगे बढा कर प्रौढ बनाया, उसे फलवती भी बना दिया ।[2] किर्लोस्कर की नाट्य-पद्धति की विशेषता रही है–मराठी में प्रचलित अथवा अँग्रेजी एव सस्कृत नाट्य-पद्धतियो मे प्राप्त परम्पराओं का सतुलित समन्वय । भावे के पौराणिक नाटकों के अनुकरण पर किर्लोस्कर ने अपने नाटको के लिये पौराणिक विषय चुने, मराठी मे प्रचलित 'फार्स' के अनुकरण पर 'अल्लाउद्दीनाची चितुरहाडावर स्वारी' नामक फार्स की रचना की, अँग्रेजी के गद्य नाटकों के आदर्श पर 'शकर दिग्विजय' नामक गद्य नाटक भी लिखा और इसके अनन्तर अपने संगीत नाटको मे सस्कृत एव अँग्रेजी नाट्य-पद्धतियों का अनुसरण कर एक ओर सूत्रधार-नटी और विदूषक का प्रयोग किया, तो दूसरी ओर वस्तु-विन्यास मे केवल अकों का प्रयोग करते हुए भी कथा-सघटन मे सुघडता एव कार्य-व्यापार मे एकसूत्रता का समावेश किया । संगीत नाटक उनके विभिन्न प्रयोगों की अन्तिम कड़ी है, जिनमे से 'संगीत सौभद्र' मे उनकी परिणति की सम्पूर्ण विशिष्टताएँ वर्तमान हैं । 'सगीत सौभद्र' का कथानक पौराणिक है, किन्तु वह भावे के नाटको की भाँति प्रसंगो का समूह न होकर सुसम्बद्ध होकर आया है, जिससे उसमें एकसूत्रता के कलात्मक दर्शन होते हैं । घटोत्कच, नारद, बलराम और कृष्ण जैसे मानवेतर पात्रो के होते हुए भी सुभद्रा, कृष्ण, बलराम आदि के चरित्र पूर्णत लौकिक एव प्राणवान प्रतीत होते हैं सम्वाद सुन्दर, चुस्त एव मधुर विनोद से पूर्ण हैं ।

कुछ विद्वानो के अनुसार किर्लोस्कर के सगीत-नाटकों की मूल प्रेरणा अमानत की 'इन्दरसभा'-जैसी पारसी-गुजराती सगीतिकाओं (ऑपेराओ) से प्राप्त हुई[3], किन्तु किर्लोस्कर के संगीत नाटक पाश्चात्य सगीतिकाओं से इस दृष्टि से पृथक् हैं कि इनमे पद्य एव गायन के साथ गद्य और नाट्य के तत्त्व भी वर्तमान हैं । सगीतिका मुख्यतः पद्य-एव-गान–प्रधान होती है और उसमें नाट्य का स्थान नृत्य को प्राप्त रहता है। पाश्चात्य 'ऑपेरा' के अनुकरण पर पारसी-गुजराती रंगभूमि पर जिस नाट्य-पद्धति का विकास हुआ था, उसमे पद्य एवं गायन के साथ गद्य और नाट्याभिनय का भी समावेश किया गया था । यही बात मराठी के संगीत नाटको मे पाई जाती है । इसके विपरीत 'इदरसभा' पूर्णतः संगीतिका या 'ऑपेरा' है, जिसके बम्बई पहुँचने (१८७१-७२ ई०) के पूर्व ही पारसी-गुजराती रंगमच पर संगीत नाटक का अभ्युदय हो चुका था । डॉ० (अब स्व०) डी० जी० व्यास के अनुसार केखुशरू काबराजी का 'बेजन अने मनीजेह (१८६८ ई०) सर्वप्रथम गुजराती नाटक था, जिसमें गद्य के साथ पद्य एव गानों का उपयोग किया गया था । इसके बाद ऐसे सगीत नाटक लिखे जाने लगे, जिनमे पद्य एवं गायन का अश बढ़ने लगा । इस प्रकार 'ऑपेरा' से पृथक् संगीत नाटक पारसियों की देन है । इन्ही संगीत नाटकों की प्रेरणा से मराठी सगीत नाटक का अभ्युदय हुआ । इसे स्वीकार करते हुए के० नारायण काले ने यह मत व्यक्त किया है कि किर्लो–

शंकर के नाटकों में गेय पदों का प्रयोग करने की प्रथा 'पारसी, गुजराती एवं कन्नड रंगभूमि से ली गई है'।[१४] किर्लोस्कर ने मराठी एवं कन्नड धुनों के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी भजनों की धुनें भी अपनाई थीं।[१५] क्रमशः गायन, विशेषकर रागदारी गायन मराठी संगीत नाटकों का एक विशिष्ट अंग बन गया।

आर्योद्धारक नाटक मंडली – किर्लोस्कर संगीत नाटक मंडली की स्थापना के साथ ही, कुछ अन्तर से, सन् १८७९ में गोविन्द बल्लाल देवल और शंकर आत्माराम पाटकर के प्रयास से पूना में आर्योद्धारक नाटक मंडली की स्थापना हुई। आर्योद्धारक ने अपने अनूदित गद्य नाटकों के अभिनय द्वारा वस्तुवादी रंगभूमि की परम्परा को और आगे बढ़ाया। यह स्मरणीय है कि इचलकरंजीकर नाटक मंडली द्वारा सन् १८६७ ई० में महादेव शास्त्री कोल्हटकर का 'अथेल्लो' और सन् १८७७ ई० में विष्णु मोरेश्वर महाजनी का 'तारा' और रामचन्द्र प्रधान का 'आनिरुद्ध चमत्कार' खेले जा चुके थे। 'आर्योद्धारक' ने सर्वप्रथम भट्टनारायण-कृत 'वेणीसंहार' (संस्कृत) के मराठी अनुवाद का १८७९ ई० में और म० कोल्हटकर के 'अथेल्लो' और महाजनी के 'तारा' (क्रमशः शेक्सपियर के 'ऑथेलो' और 'सिंबेलाइन' के मराठी अनुवाद) का सन् १८८१ ई० में अभिनय किया। बाद में देवल ने उक्त 'अथेल्लो' की रंगावृत्ति 'झुंजारराव' के नाम से तैयार की, जिसे आर्योद्धारक ने सर्वप्रथम २० अक्टूबर, १८९० को खेला। कुछ काल बाद देवल और पाटकर में मतभेद हो जाने के कारण आर्योद्धारक नाटक मंडली विघटित हो गई।[१६]

देवल का प्रदेय – देवल किर्लोस्कर के छात्र रह चुके थे, अतः उनके अभिनय-कौशल ने किर्लोस्कर का ध्यान आकृष्ट किया और वे सन् १८८४ ई० में किर्लोस्कर-कृत 'रामराज्यवियोग' के रिहर्सल के समय पात्रों के नाट्य-शिक्षण के लिये बुला लिये गये।[१७] देवल अपने नाट्यगुरु किर्लोस्कर की मृत्यु के बाद स्थायी रूप से किर्लोस्कर संगीत नाटक मंडली के नाट्याचार्य बन गये। बालगंधर्व और गणपतराव बोडस जैसे अनेक कुशल नट एवं गायक देवल का शिष्यत्व स्वीकार कर कीर्ति-अर्जन कर चुके हैं। इस मंडली में रह कर देवल ने किर्लोस्कर की संगीत नाट्य-पद्धति को आगे बढ़ाया और उसका संस्कार करके शुद्ध उच्चारण पर ज़ोर देकर और पात्र की अवस्था, पद और प्रतिष्ठा के अनुकूल कलाकारों को भूमिकाएँ प्रदान कर अभिनय को नैसर्गिकता और वस्तुवादी भूमि प्रदान की।

देवल के सात नाटकों में केवल 'सं० शारदा' (१८९९ ई० प्रकाशन) सामाजिक मौलिक नाटक है और शेष अनुवाद या रूपान्तर। 'सं० मृच्छकटिक' (१८८९ ई०, प्र०) और 'सं० विक्रमोर्वशीय' (१८८९ ई०, प्र०) क्रमशः शूद्रक और कालिदास के संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं और 'सं० शापसंभ्रम' (प्र० १८९३ ई०) बाण-कृत 'कादम्बरी' उपन्यास का नाट्य-रूपान्तर है। अँग्रेजी से अनूदित नाटक हैं–'दुर्गा' ('इज़ाबेला', प्र० १८८६ ई०), 'झुंजारराव' ('ऑथेलो', प्र० १८९० ई०) और 'सं० संशयकल्लोल' ('आल इन दि रॉंग', प्र० १९१६ ई०)। इनमें से 'दुर्गा' का अभिनय इचलकरंजीकर नाटक मंडली ने सन् १८८५ में कोल्हापुर में, 'मृच्छकटिक' का ललित-कलितोत्सव नाटक मंडली ने सन् १८८७ में पूना में, 'विक्रमोर्वशीय,' 'शापसंभ्रम' और 'शारदा' का अभिनय किर्लोस्कर संगीत नाटक मंडली ने क्रमशः सन् १८८९ (पंढरपुर), १८९३ (पूना) और १८९९ (इन्दौर) में, 'झुंजारराव' का आर्योद्धारक नाटक मंडली ने सन् १८९० में पूना में और 'संशयकल्लोल' का (गद्य रूप में) अभिनय शाहूनगरवासी नाटक मंडली ने सन् १८९४ में पूना में किया।

इस प्रकार देवल ने गद्य और संगीत, दोनों प्रकार के नाटकों की रचना की। अधिकांश के अनुवाद होने के कारण उनकी नाट्य-प्रतिभा और लेखन-शक्ति का अनुमान 'शारदा' और 'शापसंभ्रम' से ही लगाया जा सकता है। सुसंबद्ध कथानक, वस्तुवादी चरित्र-चित्रण, स्वाभाविक संवाद और मधुर हास्य–यही देवल की नाट्य-पद्धति की विशेषता रही है। 'शारदा' में देवल की ये सभी विशेषताएँ समाहित हैं। बाला-वृद्ध विवाह की समस्या पर लिखित नाटकों

मे 'शारदा' एक क्रान्तिकारी समाधान प्रस्तुत करता है। यह मंच पर बहुत लोकप्रिय हुआ।

'शापसभ्रम' एक स्वच्छन्दतावर्मी संगीत-नाटक है, जिसमे पुण्डरीक-महाश्वेता और चन्द्रापीड-कादम्बरी की प्रेम-कथा वर्णित है। सस्कृत से 'मृच्छकटिकम्' और 'विक्रमोर्वशीय' नाटको के अनुवाद करके देवल ने संगीत नाटकों की धारा को आगे बढाया।

पाटणकर की नाटक मडली – किर्लोस्कर सगीत नाटक मडली के नाटको का प्रसार मुख्यतया शिक्षित एवं मध्यवर्ग के लोगो के बीच हुआ, परन्तु माधवनारायण पाटणकर ने सगीत नाटको को जन-साधारण के बीच लोक-प्रिय बनाया। पाटणकर ने सन् १८८४ मे अपनी नाटक मडली बनाकर किर्लोस्कर के नाटक खेलने प्रारम्भ कर दिये, किन्तु सन् १८८८ मे उन्होने अपना प्रथम नाटक 'विक्रमशशिकला' लिखा और उसका अभिनय शोलापुर, नागपुर और बम्बई मे घूम-घूम कर किया।[१९] इसके अनन्तर उन्होने 'सीमतिनी', 'स०सत्यविजय' (१८९२ ई०), 'स० वसन्तचद्रिका' (प्र० १९०५ ई०), 'स० युवती विजय' (प्र० १९१४ ई०) आदि कई नाटक लिखे और खेले।

पाटणकर के नाटक जन-साधारण के लिये लिखे गये थे, अत उनमे शृगार रस की प्रधानता है। कहीं-कही अश्लीलता के भी दर्शन होते है। साहित्यिक दृष्टि से पाटणकर के नाटको का अधिक महत्त्व न होते हुए भी रगमचीय दृष्टि मे उन्होंने जन समाज के बीच अनेक सामाजिक उत्पन्न किये। पाटणकर के 'विक्रमशशिकला', 'सत्य-विजय' आदि स्वच्छन्दतावर्मी सगीत नाटक हैं, जिनमे से 'विक्रमशशिकला' ने अपने पारसी-शैली के गानों के कारण काफी लोकप्रियता प्राप्त की। 'वसतचन्द्रिका' मे पहली बार वेश्याजीवन और वेश्योद्धार की समस्या पर विचार किया गया है। इस पर शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' की छाप है।[२०]

किर्लोस्कर, देवल और पाटणकर ने मराठी सगीत रगभूमि को गढा और उसे एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। कथानक, नाट्य-पद्धति, सवाद और सगीत, इन सभी दृष्टियों से यह सन्धि-काल था, जिसमे भावे की अलौकिकतापूर्ण पौराणिक सामग्री, अविकसित एव अवास्तविक नाट्य-पद्धति, विद्रूप हास्य और अशास्त्रीय संगीत से पृथक् हट कर रगभूमि को यथार्थ भावभूमि, नवीन आख्यान और शास्त्रीय सगीत प्रदान किया गया। सामाजिक समस्याओ की ओर भी देवल और पाटणकर का ध्यान आकृष्ट हुआ, परन्तु शीघ्र ही इस सन्धिकालीन यथार्थ-वादिता से जन-समाज ऊब गया। पाटणकर के नाटक शिष्ट एवं शिक्षित जन-समुदाय को अपनी ओर आकृष्ट न कर सके थे, अत. एक ओर सामाजिक पुन. कुछ अद्भुत और नवीन के दर्शन के लिये व्यग्र हो उठे, तो दूसरी ओर वे नाटको के स्तर मे कुछ साहित्यिक परिमार्जन भी देखना चाहते थे। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने उनकी इस आकाक्षा की पूर्ति अपने नये प्रकार के स्वच्छन्दतावर्मी नाटको से की। कोल्हटकर ने पाटणकर की भाँति नये रहस्यमय, वैचित्र्यपूर्ण और काल्पनिक आख्यान गढे, सम्वाद और पदों को श्लेष-युक्त और विनोदपूर्ण बनाया और साथ ही नाटकों मे ही हास्यपूर्ण उपकथानकों की भी सृष्टि की। इस प्रकार उनके नाटक ने सामाजिको की परिष्कृत और नये नाटको की भूख मिटाई।

यह स्मरणीय है कि सन् १८९६ मे महाराष्ट्र के एक बड़े भू-भाग मे पडे अकाल और प्लेग के आगमन तथा सन् १८९७ मे लोकमान्य बालगगाधर तिलक के ऊपर राजद्रोह के मुकदमे ने तत्कालीन जन-समाज को बुरी तरह झकझोर दिया था।[२१] उसकी जेब और हृदय का रस सूख गया और उसकी विचार-शक्ति कुछ काल के लिये कुंठित हो गई। कोल्हटकर के स्वच्छन्दतावर्मी नाटको ने अवतरित होकर जन-समाज का इस स्थिति से त्राण किया और वह उनकी कल्पना के ताने-बाने और कृत्रिमता के चमत्कारो मे खो गया।

अन्य मंडलियां और कोल्हटकर – कोल्हटकर का सर्वप्रथम नाटक 'वीरतनय' (प्र० १८९६ ई०) श्री करुणेश प्रासादिक नाट्यकला-प्रवर्तक सगीत नाटक मडली द्वारा मई, १८९६ मे अभिनीत किया गया।[२२] इस मडली के

नाट्यशिक्षक थे शंकरराव पाटकर और प्रसिद्ध कलाकार गोपालराव मराठे स्त्री-भूमिकाएँ किया करते थे। नाट्य-कला-प्रवर्तक ने अपने अभिनयों द्वारा, विशेषकर शेक्सपियर के नाटकों के संगीत-रूपान्तरों द्वारा काफी यश-धन अर्जित किया, जिसके फलस्वरूप शेक्सपियर के गद्य नाटक खेलने वाली शाहूनगरवासी नाटक मंडली को बहुत धक्का लगा। सामाजिक गद्य नाटकों को छोड कर संगीत नाटक देखने के लिये टूटने लगे।

'वीरतनय' के उपरान्त कोल्हटकर ने ११ नाटक और लिखे —'मूकनायक' (प्र० १९०१ ई०), 'गुप्तमजूष' (प्र० १९०३ ई०), 'मतिविकार' (१९०७ ई०), 'प्रेम-शोधन' (१९११ ई०), 'जन्म-रहस्य' (प्र० १९१८ ई०), 'सहचारिणी' (प्र० १९१८ ई०), 'परिवर्तन' (प्र० १९२३ ई०), 'शिवपाविव्य' (प्रकाशन १९२४ ई०), 'वधूपरीक्षा' (प्र० १९३१ ई०), 'माया विवाह' (प्र० १९४६ ई०) और 'श्रमसाफल्य'। इनमें से 'माया विवाह' और 'शिवपाविव्य' गद्य नाटक हैं और शेष संगीत नाटक। 'वीरतनय' (१८९६ ई०), 'मूकनायक' (१९०१ ई०), 'गुप्तमजूष' (१९०१ ई०), 'मतिविकार' (१९०६ ई०), तथा 'प्रेमशोधन' (जून, १९१०) किर्लोस्कर संगीत नाटक मंडली द्वारा और 'जन्म-रहस्य' (१९१८ ई०) बलवन्त संगीत मंडली, 'सहचारिणी' (१९१८ ई०) गंधर्व नाटक मंडली तथा 'वधूपरीक्षा' भारत नाटक मंडली और ललितकलादर्श द्वारा खेले गये। 'मायाविवाह' को मुम्बई मराठी साहित्य संघ नाट्यशाला ने १७ अप्रैल, १९३८ को मंचस्थ किया। परिवर्तन' और 'शिवपाविव्य' के प्रयोग नहीं हुए।

कोल्हटकर के नाटक मुख्यत: स्वच्छन्दतावादी और सामाजिक हैं। 'शिवपाविव्य' उनका ऐतिहासिक नाटक है। सामाजिक नाटकों में पुनर्विवाह, प्रतिलोम विवाह और स्त्री-शिक्षा का समर्थन और मद्यपान के दुष्परिणामों का चित्रण किया गया है। इस प्रकार कोल्हटकर ने मराठी रंगभूमि को न केवल वैविध्य और नवीन कथानक प्रदान किये, नाट्य-पद्धति में भी आमूल परिवर्तन किया। हास्य को प्रखर करने के लिये जीवनान्तर्गत विसंगति और शब्द-श्लेषों का प्रयोग कर उसे एक कोमल, सुरुचिपूर्ण एवं सात्विक भूमि प्रदान की। कहीं यह हास्य नाटक का अंग बन कर आया और कहीं उपकथानक के रूप में। इस प्रकार का एक उपकथानक 'मूकनायक' में मदिरा का दुष्परिणाम दिखलाने के लिये जोड़ा गया है। सम्भवतः उपकथानकों का गठन गुजराती एवं पारसी-हिन्दी नाटकों के अनुकरण पर किया गया है। दूसरी ओर मंगलाचरण, सूत्रधार और विदूषक का बहिष्कार कर[1] कोल्ह-टकर ने मराठी रंगभूमि पर पाश्चात्य नाट्य-पद्धति की सम्पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा की। हास्य को नाटक का अंग बनाने के लिये विदूषक का परित्याग आवश्यक था। इसी प्रकार संगीत के क्षेत्र में भी उन्होंने साकी, दिंडी, अञ्जनी गीत जैसे गेय वृत्तों को तो अपनाया ही, शास्त्रीय संगीत को भी प्रश्रय दिया। पारसी रंगमंच की लोकप्रिय हिन्दी-उर्दू धुनों पर भी कुछ पदों की रचना की।[2] प्राय: ये पद गद्यांश से असम्बद्ध होते थे और केवल 'गायकी के विस्तार' के लिये ही रखे जाते थे।[3] कोल्हटकर के विशिष्ट काल्पनिक कथानकों के अनुरूप ही पारसी ढंग की मखमल और साटन की बेल-बूटे से युक्त वस्त्र-सज्जा को भी अपनाया गया। यह अनुकरण इस सीमा तक बढ़ा कि प्रत्येक लोकप्रिय नाटक के लिये पृथक्-पृथक् वस्त्र तैयार किये जाने लगे।[4]

भावुकता, काव्यात्मकता और विनोद की दृष्टि से कोल्हटकर ने अपने नाटकों को शेक्सपियरीय साँचे में ढाला है। चरित्र भी शेक्सपियर की भाँति सम्भ्रान्त वर्ग से लिये गये हैं। वेशान्तर, कौतूहल और चमत्कृति की दृष्टि से भी शेक्सपियर और कोल्हटकर में अद्भुत साम्य है।

कोल्हटकर युग के दो अन्य नक्षत्र — कोल्हटकर युग के दो अन्य उज्ज्वल नक्षत्र थे—कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर और रामगणेश गडकरी। यद्यपि उनका कृतित्व सन् १९१५ के उपरान्त भी देखने में आया, तथापि उनकी कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ इसी युग में सामने आ चुकी थीं।

खाडिलकर का कृतित्व — खाडिलकर समान रूप से समर्थ गद्य-संगीत नाटककार थे। उन्होंने 'बायकांचे बंड'

भावे युग के सूत्रधार एवं पारिपार्श्वक

किर्लोस्कर संगीत नाटक मंडली द्वारा सन् १९११ मे अभिनीत खाडिलकर–'मानापमान' (संगीत नाटक) का एक दृश्य : नायक धैर्यधर (नाना साहब जोगलेकर) तथा नायिका भामिनी (बालगंधर्व)

(के० टी० देशमुख, नयी दिल्ली के सौजन्य से)
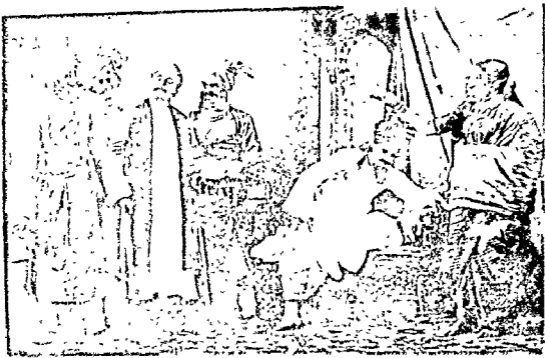
ऊपर महाराष्ट्र नाटक मंडली द्वारा सन् १९०९ ई० में अभिनीत खाडिलकर–'भाऊबंदकी'
(गद्य नाटक) का एक दृश्य तथा
नीचे सन् १९१४ में मंचस्थ खाडिलकर–'सत्त्व परीक्षा' (गद्य नाटक) का
एक दृश्य : राजा हरिश्चन्द्र (केशवराव दाते), तारामती (भट)
तथा विश्वामित्र (दातार)

(के० टी० देशमुख, नयी दिल्ली के सौजन्य से)

(प्र० १९०७ ई०), 'मानापमान' (प्र० १९११ ई०), 'विद्याहरण' (प्र० १९१३ ई०), 'स्वयंवर' (प्र०१९१६ ई०), 'द्रौपदी' (प्र० १९२० ई०), 'मेनका' (प्र० १९२६ ई०), 'सावित्री' (प्र० १९३३ ई०) और 'त्रिदंडी सन्यास' (प्र० १९५३ ई०) संगीत नाटक तथा 'काचनगडची मोहना' (प्र० १८९८ ई०), 'सवाई माधवराव याचा मृत्यु' (प्र० १९०६ ई०), 'कीचकवध' (प्र० १९०७ ई०), 'भाऊबदकी' (प्र० १९०९ ई०), 'प्रेमध्वज' (प्र० १९११ ई०), 'सत्वपरीक्षा' (प्र० १९१५ ई०) और 'सवतीमत्सर' (प्र० १९२७ ई०) गद्य नाटक लिखे।

खाडिलकर के नाटक मुख्यत. पौराणिक, ऐतिहासिक एव स्वच्छन्दताधर्मी हैं। उनके पौराणिक नाटक 'कीचकवध' मे तत्कालीन युग की राष्ट्रीय एव राजनैतिक चेतना के सजीव चित्र मिलते हैं। एक विद्वान के अनुसार राजा विराट् संसदीय राज्यसत्ता, कीचक नौकरशाहीके प्रतिनिधि लार्ड कर्जन, अनुकीचक नौकरशाही, सैरन्ध्री राष्ट्रीय महासभा अथवा भारतीय जनता के, ककभट्ट (युधिष्ठिर) नरमदल के और भीम गर्म दल या उग्रपक्ष के प्रतीक है।[८८] इस प्रकार ककभट्ट भारत के राजनैतिक क्षितिज पर गाँधी के अभ्युदय के लगभग डेढ़ दशक पूर्व ही गाँधीवादी सत्य-अहिंसा की नीति को मूर्त रूप देने के लिये पूर्वपीठिका प्रस्तुत करते हैं। यह खाडिलकर की क्रान्तिकारी दूरदर्शी दृष्टि का परिचायक है। 'भारत दुर्दशा' लिख कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और 'मीरकासिम' लिख कर गिरीशचन्द्र घोष ने भारत के राजनेताओं के चिन्तन एव मनन के लिये इसी प्रकार क्रान्तिदर्शी वैचारिक भूमिकाएँ प्रदान की थी। नाट्य-जगत की यह त्रिमूर्ति इस सत्य का उद्घोष करती है कि वास्तविक क्रान्ति का स्रष्टा राजनेता नही, साहित्यकार है, जो सुदूर भविष्य के पृष्ठो को अपनी अमर कृतियो मे भँजो कर रख देता है। राजनेता केवल उसको मूर्त रूप देता है। कोल्हटकर ने अपने 'त्रिदंडी सन्यास' मे भी गाँधीवादी विचार-पद्धति के अनुसार बलराम के हृदय-परिवर्तन द्वारा अर्जुन और सुभद्रा का विवाह सम्पन्न कराया है।

'काचनगडची मोहना' (१८९८ ई०) का प्रथम प्रयोग सोशल क्लब ने, 'सवाई माधवराव यांचा मृत्यु' (१९०६ ई०), 'कीचकवध' (१९०७ ई०), 'स० बायकाच बड' (१९०७ ई०), 'भाऊबदकी' (१९०९ ई०), 'प्रेमध्वज' (१९१० ई०), 'सत्वपरीक्षा' (१९१४ ई०) और 'सवतीमत्सर' (१९२७ ई०) के प्रथम प्रयोग महाराष्ट्र नाटक मडली ने, 'स० मानापमान' (१९११ ई०) और 'सं० विद्याहरण' (१९१३ ई०) के किर्लोस्कर मंगीत नाटक मडली ने, 'स० स्वयबर' (१९१६ ई०), 'स० द्रौपदी' (१९२० ई०), 'सं० मेनका' (१९२६ ई०) और 'स० सावित्री' (१९३३ ई०) के गधर्व नाटक मडली ने और 'त्रिदंडी सन्यास' (१९३६ ई०) का प्रयोग सुलोचना सगीत मडली ने किया।

'भाऊबदकी' के रामशास्त्री की उक्तियो पर लोकमान्य तिलक के उग्र विचारो की छाप होने के कारण उसके प्रदर्शन पर रोक लगा दी गई, किन्तु अन्त मे यह आश्वासन देने पर कि रामशास्त्री के चरित्र से तिलक के विचारों का बिम्ब हटा दिया जायगा, नाटक पुनः खेलने की अनुमति मिल गई।[८९]

खाडिलकर भी कोल्हटकर की भाँति कृत्रिमतावादी थे। उनकी कल्पना और सवाद मे तो कृत्रिमता का आभास मिलता ही है, उनके नाटकों की कृत्रिम शैली के अनुरूप ही उनके प्रयोग की पद्धति भी कृत्रिमतापूर्ण रही है। कृत्रिम अभिनय-पद्धति का अभिप्राय अस्वाभाविक अभिनय नही, वरन् एक भाव अथवा घटना की अभिव्यक्ति के विविध रूपो मे से सर्वोत्तम का चयन और प्रदर्शन है।[९०] महाराष्ट्र नाटक मडली द्वारा अभिनीत खाड़िलकर के नाटको मे इसी कृत्रिम अभिनय-पद्धति का पुरस्करण किया गया था। 'कीचकवध' की लोकप्रियता से भयभीत होकर कर्जन की सरकार ने इसके अभिनय पर रोक लगा दी थी। 'स्वयवर', 'मानापमान', 'काचनगडची मोहना' आदि उनके अन्य सफल अभिनीत नाटक हैं। 'मानापमान' से संगीत नाटको में रागदारी ख्यालों और शास्त्रीय सगीत का युग पूर्ण रूप से प्रारम्भ हो गया। गानो का समावेश इस दृष्टि से किया जाने लगा कि श्रोतृवर्ग संतुष्ट हो सके। इन गानों के लिये यह आवश्यक न था कि उनका कथानक से भी कोई लगाव हो। यह भास्कर बुवा बाखले

और रामकृष्ण बुवा जैसे गायनाचार्यों और बालगन्धर्व जैसे गायक नटों का युग था और प्राय: रंगमंच 'गानों की महफिल' के रूप में परिणत हो जाते थे।[१११]

खाडिलकर के नाटकों में प्रसंगनिष्ठ अथवा कथानक में सबद्ध हास्य को पर्याप्त स्थान मिला है। प्रत्येक नाटक में हास्य उत्पन्न करने के लिये कई-कई पात्र रखे गये हैं और कहीं-कहीं तो प्रवेश हास्य-संवादों से परिपूर्ण हैं। 'कीचकवध' के द्वितीय अंक का तीसरा प्रवेश और चतुर्थ अंक का प्रथम प्रवेश इसी प्रकार के हास्य-दृश्य हैं। इसके अतिरिक्त भी इस नाटक के कई दृश्यों में मधुर, कोमल एवं शिष्ट हास्य बिखरा पड़ा है।

संगीत नाटकों के क्रमिक विकास की यह विशेषता रही है कि उनमें पदों की संख्या क्रमशः कम होती चली गई, किन्तु गानों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। एक विद्वान के अनुसार किर्लोस्कर के संगीत नाटक में इस प्रकार के पदों की संख्या डेढ़-दो सौ तक और कोल्हटकर में ६० से ७५ तक रहती थी, जो खाडिलकर में घट कर २०-२५ तक आ गई।[११२]

इसके विपरीत संगीत नाटकों में गानों का प्रचलन इस हद तक बढ़ा कि गाने मात्र गाने के लिये लिखे एवं गाये जाने लगे। खाडिलकर के संगीत नाटकों से शास्त्रीय संगीत का प्रसार प्रारम्भ हुआ। इससे यद्यपि नाट्य-तत्त्व की कुछ हानि अवश्य हुई, किन्तु बालगंधर्व (स्त्री-भूमिकाओं में) और केशव विट्ठल भोसले (स्त्री एवं पुरुष-भूमिकाओं में) की जोड़ी ने संगीत नाटकों को उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँचा दिया।

गडकरी का कृतित्व— रामगणेश गडकरी इस युग की अंतिम कड़ी थे। वे कोल्हटकर के शिष्य थे, किन्तु उन्होंने खाडिलकर के प्रभाव को भी स्वीकार किया है। कोल्हटकर की भाँति गडकरी के कथानक रहस्यपूर्ण और संवाद श्लेषयुक्त एवं विनोदपूर्ण है, तो खाडिलकर की भाँति उग्र घटनाएँ और उग्र संवाद भी उनके नाटकों में हैं। वि० स० खाडकर के अनुसार गडकरी के प्रथम दो नाटकों—'प्रेम-सन्यास' (प्र० १९१३ ई०) और 'पुण्यप्रभाव' (प्र० १९१७ ई०) पर कोल्हटकर एवं खाडिलकर दोनों की नाट्य-पद्धतियों का प्रभाव है।[११३] गडकरी की भाषा अलङ्कृत, कवित्वपूर्ण एवं ललित शब्दावली से युक्त होने के कारण पीछे के नाटककार उनकी इस शैली का अनुकरण न कर सके।

गडकरी के अन्य संगीत नाटक हैं—'एकच प्याला' (प्र० १९१९ ई०), 'भाव-बन्धन' (प्र० १९१९ ई०), *'राज सन्यास' (प्र० १९१९ ई०)* **और** *'वेड्यान्चा बाजार' (प्र० १९२३ ई०)।*

'पुण्य प्रभाव' और 'भावबंधन', दोनों में कोल्हटकर की भाँति छद्म वेश का उपयोग किया गया है। विनोद *स्वाभाविक और प्रासंगिक है। 'भावबंधन' के भुलक्कड़ वृद्ध धुन्डिराज का चरित्र हास्य और करुणा का अजीब* मिश्रण प्रस्तुत करता है। हृदय से कोमल और धर्मभीरु होते हुए भी स्वभावगत असंगति के कारण वह हास्यभाजन बन जाता है, यद्यपि यह हँसी मर्म के किसी कोने को, हृत्तन्त्री के स्वर को करुण झंकार से भी भर देती है।[११४] कहीं-कहीं हास्य के लिये शब्द-श्लेषों का भी प्रयोग किया गया है। 'वेड्याच बाजार' एक उच्च कोटि का प्रहसन है, परन्तु यह अपूर्ण है। इसे चिन्तामणराव कोल्हटकर ने पूरा किया, परन्तु इससे प्रहसन का सौन्दर्य नष्ट नहीं हुआ है।[११५]

'एकच प्याला' गडकरी का मद्य-निषेध पर एक सशक्त दुःखान्त नाटक है। यद्यपि इस विषय पर कोल्हटकर अपना 'मूकनायक' और खाडिलकर अपना 'विद्याहरण' कई वर्ष पूर्व लिख चुके थे, तथापि 'एकच प्याला' इन दोनों से इस दृष्टि से पृथक् है कि 'मूकनायक' में केवल अलग से मद्यपान के दुष्परिणाम पर एक उपकथानक जोड़ा गया है, तो 'विद्याहरण' में यह केवल प्रसंगवश ही आया है, जबकि मद्यपान की बुराइयों का उन्मूलन 'एकच प्याला' का प्रमुख वर्ण्य विषय एवं कार्य है। 'राजसन्यास' छत्रपति संभाजी के जीवन पर आधारित एक ऐतिहासिक नाटक है। खाडिलकर और गडकरी के नाटक मराठी रंगमंच की स्थायी निधि हैं और उनका अभिनय आज भी यदा-कदा होता रहता है।[११६]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कोल्हटकर युग मुख्य रूप से संगीत नाटको का युग रहा है, यद्यपि इस काल मे गद्य नाटक भी लिखे गये और कई गद्य नाटक मडलियाँ भी बनी। आर्योद्धारक और शाहूनगरवासी नाटक मंडलियो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आर्योद्धारक नाटक मडली द्वारा प्रवर्तित कार्य को शाहूनगरवासी मडली ने आगे बढाया। आर्योद्धारक अपने जन्म के कुछ वर्षों के भीतर ही समाप्त हो गई, किन्तु शाहूनगरवासी २० वी शती के प्रारम्भ तक उत्थान-पतन के अनेक झोको को झेलते हुए कार्यरत बनी रही। प्रसिद्ध नट-युगल गणपतराव जोशी (पुरुष-भूमिकाओ मे) और बालाभाऊ जोग (स्त्री-भूमिकाओ मे) इस मडली के प्रमुख अभिनेता थे। सन् १८९१ मे मडली पूना आई, और वहाँ के प्रोफेसर वासुदेव बालकृष्ण केलकर के सहयोग से मडली की डगमगाती नौका स्थिर हो गई। यहाँ आने के पूर्व तक मडली गोविन्द वासुदेव कानिटकर के त्रिअकी 'राजपुत्र वीरसेन' ('हैमलेट' का मराठी अनुवाद) को मचस्थ किया करती थी। प्रोफेसर केलकर ने इसके पहले के आगरकर के 'हैमलेट' के अनुवाद 'विकारविलसित' मे कुछ मचोपयोगी सशोधन कर उसे पचाकी बना दिया। इसका प्रयोग काफी सफल रहा। केलकर-कृत शेक्सपियर के 'टेमिंग आफ दि श्यू' के मराठी अनुवाद से तो मडली का भाग्योदय हो गया।[११०] इसी वर्ष देवल का 'झुजारराव' और महाजनी का 'तारा' मचस्थ किया गया।

सन् १८९२ मे वासुदेव रगनाथ शिवरलकर के मौलिक नाटक 'राणा भीमदेव' का अभिनय हुआ। वीर रस का यह नाटक अपने कथानक की सामयिकता और तत्कालीन राजनैतिक चेतना के कारण रगभूमि पर बहुत लोकप्रिय हुआ। शिरवलकर का 'पानपतचा मुकाबला' सन् १८९३ मे और 'पन्नारत्न' सन् १९१२ मे खेला गया। शिरवलकर ने मराठी सतो को लेकर भी कुछ नाटक लिखे, जिनमें से 'श्रीतुकाराम' (१९०१ ई०) और 'श्रीनामदेव' (१९०४ ई०) भी शाहूनगरवासी द्वारा अभिनीत किये गये।

इन्ही दिनो प्रसिद्ध नाटककार नारायण बापूजी कानिटकर अपने ऐतिहासिक एव सामाजिक सगीत नाटको को लेकर अवतरित हुए। उनका गद्य नाटक 'तरुणी शिक्षण नाटिका' (प्र० १८८६ ई०) पराजपे नाटक मडली के रगमच पर ४-५ वर्ष तक बहुत लोकप्रिय बना रहा।[११८] इस नाटक मे स्त्री-शिक्षा का विरोध किया गया है। ना० बा० कानिटकर के ऐतिहासिक नाटको मे 'सगीत बाजीराव आणि मस्तानी' (प्र० १८९२ ई०) का भी सफलतापूर्वक अभिनय किया जा चुका है।

इन गद्य नाटको मे स्वाभाविकता और बोधगम्य सवादो की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। सवादो मे सहज एव प्रकृत बोलचाल की भाषा का उपयोग किया गया है। नाटक मंडलियो द्वारा भी अभिनय की स्वाभाविकता पर विशेष जोर दिया जाता था। अभिनय को जीवन का सच्चा अनुकरण बनाने के लिये नटो द्वारा सतत् अभ्यास किया जाता था। जहां यह सम्भव न होता, वहाँ कल्पना द्वारा स्वाभाविक अभिव्यक्ति की चेष्टा की जाती थी।

शाहूनगरवासी नाटक मडली ने गद्य रगभूमि को एक निश्चित स्वरूप, एक निश्चित अभिनय-पद्धति दी, जिसका मूलमत्र था—सहजता और स्वाभाविकता, किन्तु कोल्हटकर और खाडिलकर के नाटको की कृत्रिम शैली ने रंगभूमि की इस स्वाभाविकता को कृत्रिम अभिनय-पद्धति के लिये स्थान खाली करने के लिये विवश कर दिया। खाडिलकर के गद्य नाटक 'काचनगडची मोहना' को महाराष्ट्र नाटक मडली ने अपने हाथ मे लेकर अपने कृत्रिम अभिनय द्वारा उसे सफलता प्रदान की।[१११] दूसरी मडलियाँ पहले इसे खेल कर असफल हो चुकी थी। कृत्रिमतावादी नट गणपतराव भागवत इस मडली के प्रमुख अभिनेता थे। मडली ने खाडिलकर के नाटको के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को जगाने मे बडा योगदान दिया।

इसी काल मे महाराष्ट्र के सतो के जीवन पर आधारित नाटक खेल कर बाबाजीराव राणे की राजापुरकर नाटक मडली ने जन-साधारण मे अच्छी ख्याति अर्जित की। इसी मडली ने सर्वप्रथम 'सत तुकाराम' नाटक खेला था।

इसी की देखादेखी शाहूनगरवासी ने भी शिरवलकर-कृत 'श्रीतुकाराम' और 'श्रीनामदेव' नाटक खेले।

कोल्हटकर युग की सामान्य प्रवृत्तियाँ – उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कोल्हटकर युग का प्रारम्भ भावे-पद्धति के सूत्रधार के परित्याग के साथ हुआ, किन्तु संस्कृत-पद्धति के सूत्रधार-नटी और विदूषक के प्रयोग को कुछ समय के लिये अपनाकर बाद में इस पद्धति का भी त्याग कर दिया गया। कोल्हटकर ने संस्कृत-पद्धति को छोड़ कर सर्वप्रथम पूर्ण रूप से पाश्चात्य नाट्य-पद्धति को अपनाया। कोल्हटकर ने पारसी शैली के 'कोरस' का नाटक के प्रारम्भ में प्रयोग किया है (देखें 'गुप्तमजूष')। खाडिलकर के गद्य नाटकों में 'कोरस' का भी बहिष्कार कर दिया गया है। मराठी नाटक सुखान्त और दुःखान्त, दोनों प्रकार के हैं।

कथा-वस्तु का विभाजन अंकों और प्रवेशों में किया गया है। इस युग के मराठी नाटक प्रायः तीन से पाँच अंकों तक के हैं। 'सं० शाकुंतल' (अण्णा साहेब किर्लोस्कर) में सात अंक हैं, किन्तु कोई प्रवेश नहीं है। कुछ नाटक चार अंकों के भी हैं, यथा कोल्हटकर का 'सं० सहचारिणी', खाडिलकर का 'सत्वपरीक्षा' आदि। प्रत्येक अंक में एक से लेकर आठ तक प्रवेश आये हैं। सर्वाधिक कम प्रवेश अर्थात् एक देवल के 'शापसम्भ्रम' और 'शारदा' के प्रथम अंकों में और सर्वाधिक अर्थात् आठ प्रवेश कोल्हटकर के 'मूकनायक' और 'वधूपरीक्षा' के दूसरे अंकों में हैं।

इस युग में भी पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे गये। कुछ पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से राजनैतिक चेतना और राष्ट्रीयता को जगाने का उत्कट प्रयास किया गया है। मराठी में बँगला की भाँति शुद्ध राष्ट्रीय नाटक नहीं लिखे गये, यद्यपि शिरवलकर के 'राणा भीमदेव' को कुछ हद तक इस कोटि के नाटकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अधिकांश सामाजिक नाटक स्वच्छन्दताधर्मी हैं, जिनमें से कुछ में बाला-वृद्ध विवाह, पुनर्विवाह, वेश्योद्धार, मद्य-निषेध आदि की सामाजिक समस्याओं को उठाया गया है, यद्यपि प्रारम्भ के कुछ सामाजिक नाटक समाज-सुधार के विरोधी और प्रतिक्रियावादी रहे हैं।

यह युग संगीत नाटकों का युग था, अतः मुख्य रूप से संगीत नाटक लिखे गये। कुछ गद्य नाटक भी लिखे और खेले गये। प्रारम्भ में ये गद्य नाटक प्रायः अँग्रेजी नाटकों, विशेषकर शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद होते थे। बाद में मौलिक गद्य नाटक भी लिखे जाने लगे। प्रायः सभी संगीत नाटककारों ने गद्य नाटक भी लिखे हैं, यद्यपि उनके संगीत नाटक ही उनके वास्तविक कीर्ति-स्तंभ हैं। खाडिलकर के संगीत और गद्य, दोनों प्रकार के नाटक यशस्वी हुए। मराठी के संगीत नाटक बँगला के गीति-नाट्य और पाश्चात्य संगीतकों (ऑपेराज) से पृथक् हैं। इन पर पारसी संगीतकों का प्रभाव है। इनमें गद्य-संवादों के साथ गेय पदों और गानों का भरपूर प्रयोग हुआ है। पदों में मुक्तक साकी, दिंडी और अंजनीगीत जैसे छन्दों का प्रयोग किया गया है। इन पदों का प्रयोग उत्तरोत्तर घटता गया और रागदारी गानों, पारसी और हिन्दुस्तानी शैली के गानों का प्रचलन क्रमशः बढ़ता चला गया।

कोल्हटकर युग में मराठी रंगभूमि ने दृढ़ता के साथ कदम आगे बढ़ाये। इस काल में न केवल संगीत और गद्य नाटकों को एक निश्चित दिशा एवं नाट्य-पद्धति प्राप्त हुई, वरन् देवल, गणपतराव जोशी तथा गणपतराव भागवत ने अभिनय की दो पृथक् पद्धतियों को भी जन्म दिया—प्रथम दो ने स्वाभाविक अभिनय-पद्धति को और गणपतराव भागवत ने कृत्रिम अभिनय-पद्धति को। भागवत की केशव शास्त्री (खाडिलकर–'सवाई माधवराव याचा मृत्यु') और कीचक (खाडिलकर–'कीचकवध') की भूमिकाएँ सर्वोत्तम हैं। केशव शास्त्री के अभिनय में सामाजिकों ने उत्तेजित होकर भागवत पर जूते फेंके, जो आज भी 'ट्राफी' की भाँति सुरक्षित हैं।[१९]

उपलब्धियाँ – संक्षेप में, मराठी रंगभूमि की उपलब्धियों पर विचार करने पर निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं :–

१. मराठी के कुछ नाटककारो ने अपनी नाटक मडलियाँ बनाईं, जिनमें से कुछ एक ही स्थान पर और कुछ घूम-घूम कर महाराष्ट्र के प्रमुख नगरो मे अपने नाटक दिखलाया करती थीं। इनमे किर्लोस्कर, देवल (आर्योद्धारक) और पाटणकर प्रमुख हैं। किर्लोस्कर सगीत नाटक मडली ने पूना, धारवाड, निपाणी, वार्शी आदि नगरो मे अपने नाटक दिखाये। कुछ अन्य गृहस्थो ने भी नाटक मडलियाँ स्थापित कीं। अन्य मंडलियों के नाटककार प्राय: वेतनभोगी हुआ करते थे।

२. किसी भी मराठी नाटक मडली ने इस काल मे कोई स्थायी रंगशाला नही बनाई। ये मडलियाँ या तो किराये की रगशालाएँ लेकर अथवा अस्थायी रगशालाएँ बना कर नाटक खेला करती थी।

३. हिन्दी और बँगला की भाँति मराठी में भी नाट्य-शिक्षा पर बहुत जोर दिया जाता था, जिसके लिये प्रत्येक मडली मे नाट्याचार्य अथवा नाट्यशिक्षक हुआ करते थे। प्रारम्भ के नाट्यशिक्षण मे स्वाभाविकता लाने का पूरा प्रयास किया जाता था, किन्तु बाद मे स्वाभाविकता लाने का यह मोह इस हद तक बढा कि उसमें कृत्रिमता की गन्ध आने लगी। कृत्रिम अभिनय–पद्धति में इस बात पर विशेष बल दिया जाता था कि उसी मुद्रा या कार्य-व्यापार को मच पर दिखलाया जाय जो सर्वोत्तम हो। देवल और गणपतराव जोशी स्वाभाविक नाट्य-पद्धति के और गणपतराव भागवत कृत्रिम शैली के अध्वर्यु थे।[११] कृत्रिमता की वृद्धि के साथ मंच पर दृश्यावली और वेश-सज्जा मे भी चमक-दमक की वृद्धि हुई।

४. कलाकार प्राय: वेतनभोगी हुआ करते थे, क्योंकि मडलियाँ मूलत: व्यावसायिक दृष्टि से बनाई जाती थी। इस युग मे स्त्रियो का अभिनय भी प्राय: सुकठ और सुन्दर पुरुष ही करते थे। स्त्री-भूमिकाएँ करने वालों में बालाभाऊ जोग, गोपालराव मराठे, बालगधर्व आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

(ग) गुजराती : डाह्याभाई युग और उसकी उपलब्धियाँ

गुजराती मे डाह्याभाई युग रगभूमीय नाटको की दृष्टि से 'स्वर्ण युग' रहा है। रणछोडभाई उदयराम और नर्मद गुजराती नाटक और रगभूमि के जिस बीज का वपन कर चुके थे, उसका विकास डाह्याभाई युग मे हुआ। इस युग मे गुजराती रगभूमि का नेतृत्व प्राय गुजराती मंडलियो के सस्थापको के हाथ मे आ गया और पारसियो द्वारा सचालित मडलियाँ गुजराती नाटको के साथ क्रमश उर्दू और हिन्दी के नाटक खेलने और बम्बई छोड़ कर समस्त उत्तरी भारत मे भ्रमण करने लगीं।

डाह्याभाई धोलशाजी झवेरी, छोटालाल रखदेव शर्मा, मूलशंकर हरिशकर मूलाणी, वाघजीभाई आशाराम ओझा, नथुराम सुन्दरजी शुक्ल, फूलचन्द मास्टर आदि इस युग के समर्थ नाटककार थे, जिन्होंने अपने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों से गुजराती रगभूमि को पल्लवित किया।

इस काल के अन्त तक यद्यपि छोटी-बडी मडलियाँ मिला कर लगभग तीन सौ नाटक मडलियाँ विकसित हुईं, जिनमे से अधिकाश कुछ ही काल बाद घाटा उठा कर अथवा आपसी फूट का रण स्वत बन्द हो गईं, तथापि कुछ ऐसी मडलियाँ भी बनीं, जिन्होंने न केवल दीर्घजीवन-लाभ किया, अपितु उत्थान-पतन के अनेक झकोरों के बीच भी अपने को सुदृढ चट्टान की भाँति स्थिर बनाये रखा और पर्याप्त यश और धन भी अर्जित किया। इनमें से प्रमुख हैं–मुम्बई गुजराती नाटक मडली, मोरबी आर्यसुबोध नाटक मंडली, वांकानेर आर्यहितवर्धक नाटक मडली, देशी नाटक समाज आदि।

डाह्याभाई का कृतित्व और देशी नाटक समाज – अधिकाश गुजराती नाटक मंडलियाँ अस्थायी रूप से मँड़वा बना कर अथवा किराये की रंगशालाएँ लेकर अपने नाटको का प्रदर्शन करती थी। देशी नाटक समाज के सस्थापक साक्षरश्री डाह्याभाई धोलशाजी झवेरी ने सर्वप्रथम पक्की रंगशाला अहमदाबाद मे 'आनन्दभुवन

थियेटर' के नाम से सन् १८९३ में स्थापित की।[२१] आजकल इसे नावेल्टी सिनेमा कहते हैं। इससे अनन्तर अहमदाबाद के प्रसिद्ध मिल-मालिक लल्लूभाई रायजी के सहयोग से सन् १८९८ में डाह्याभाई ने एक अन्य स्थायी रंगशाला स्थापित की, जिसका नाम था–शान्तिभुवन थियेटर।[२२] बम्बई में सन् १९०१ में वर्तमान इम्पायर थियेटर के पार्श्व की भूमि लेकर डाह्याभाई ने 'देशी नाटकशाला' अथवा 'झवेरी थियेटर' नामक अस्थायी रंगशाला की स्थापना की।[२३] डॉ० डी० जी० व्यास के अनुसार सन् १९१७ में बम्बई देशी नाटक समाज का स्थायी केन्द्र बनी और अब यह कालबादेवी रोड पर प्रिमेम (भांगवाडी) थियेटर में स्थायी रूप में अपने नाटक प्रदर्शित करता है। यह एक प्रकार का 'रिपर्टरी थियेटर' है, जिसके पास अपने नाटक, अपने लेखक, कलाकार एवं शिल्पी हैं। समाज के सभी कलाकार, शिल्पी आदि प्राय थियेटर के ही आवासों में रहते और प्राय थियेटर की ही रसोई में खाना खाते हैं। कुल मिला कर इस समय लगभग एक सौ कर्मचारी हैं, जिन पर लगभग पचीस हजार रुपये मासिक व्यय होते हैं। दृश्यबन्ध बनाने के लिये उसके पास अपना 'वर्कशाप' भी है।

डाह्याभाई ने घर वालो के विरोध और सामाजिक व्यंग्य-विद्रूप के बावजूद न केवल एक दीर्घजीवी नाटक मंडली को जन्म दिया, अपितु वे एक कुशल नाटककार, कवि, संगीतकार, नाट्यशिक्षक और उपस्थापक भी थे। उन्होंने सन् १८९१ से १९०४ ई० के बीच अठारह नाटक लिखे –'सती संयुक्ता' (१८९१ ई०), 'सुभद्रा हरण' (१८९२ ई०), 'भोजराज (१८९२ ई०), 'उर्वशी अप्सरा' (१८९२ ई०),' भगतराज' (१८९२ ई०), 'वीर विक्रमादित्य' (१८९३ ई०), 'केसरकिशोर' (१८९३ ई०), 'रामराज्यवियोग' (१८९३ ई०), 'सती पार्वती' (१८९४ ई०), 'म्युनिसिपल इलेक्शन' (१८९५ ई०), 'अश्रुमती' (१८९५ ई०), 'सरदार बा' (१८९७ ई०), 'उमादेवडी' (१८९८ ई०), 'वीणावेली' (१८९९ ई०), 'विजयाविजय' (१९०० ई०), 'उदयभाण' (१९०१ ई०), 'मोहिनीचन्द्र' (१९०२ ई०) और 'विजयकमला' (१९०४ ई०)।

'विजयकमला' अपूर्ण रह गया था, अत इसके शेष दो अंक छोटालाल रुखदेव शर्मा ने पूरे किये थे। डाह्याभाई ने अपने दो नाटकों में कुछ संशोधन कर उन्हें नये रूपों में भी प्रस्तुत किया– 'भोजराज' को 'तरुण भोज' (१८९८ ई०) और 'भोजकुमार' (१८९८ ई०) के रूप में और 'रामराज्य वियोग' को 'रामवियोग' (१८९७ ई०) के रूप में।

डाह्याभाई अपने नाटको के गीत स्वयं लिखते थे, जो गुजराती जन-समाज में बड़े लोकप्रिय हुए।[२४] उनके गीत गली-गली में प्रत्येक तरुण के कंठ में गूंजा करते थे। इन गीतों की धुनें डाह्याभाई स्वयं बनाते और कलाकारों को सिखाते थे। 'उमादेवडी' के 'हुँ मस्तान प्रेमनी मने कोई ना छेडो रे', 'अश्रुमती' के 'रे शुं नटवर वमत थै-थै नाची रह्यो, नाची रह्यो, जग नचावी रह्यो' आदि गीत वर्षों तक घरों में गाये जाते रहे। 'अश्रुमती' में अश्रुमती और शाहजादा सलीम के प्रेम-कांड के कारण उसका विरोध होने के फलस्वरूप उसे बन्द कर देना पडा था।

डाह्याभाई ने रणछोडभाई की ही भांति संस्कृत नाट्य-पद्धति का अनुसरण कर मंगलाचरण, सूत्रधार-नटी आदि का समावेश किया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उनके नाटक पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के हैं। 'सुभद्राहरण', 'उर्वशी अप्सरा', 'रामराज्यवियोग', 'सती पार्वती' आदि पौराणिक तथा 'अश्रुमती', 'उमादेवडी', 'वीर विक्रमादित्य', 'विजयकमला' आदि ऐतिहासिक नाटक हैं। 'म्युनिसिपल इलेक्शन' एक सामाजिक नाटक है, जो म्युनिसिपल चुनाव की अनियमितताओं को आधार बना कर लिखा गया है। 'भोजराज' आदि नाटक दन्तकथाओं पर आधारित हैं।

'उमादेवडी' का गुजराती रंगमंच के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि सर्वप्रथम इसी नाटक में बरसात और बिजली चमकने के दृश्य दिखलाकर आधुनिक रंग-शिल्प को स्वीकृति प्रदान की गई थी।

दूसरे, इसका सर्वप्रथम अभिनय नये बने शान्तिभुवन थियेटर के उद्घाटन के अवसर पर सन् १८९८ मे किया गया था। इसके पूर्व अहमदाबाद का आनन्दभुवन थियेटर बन चुका था, जिसका उद्घाटन सन् १८९३ मे डाह्याभाई के 'केसरकिशोर' नाटक से हुआ था। ३० अप्रैल, १९०२ को डाह्याभाई धोलशाजी का निधन हो गया।

देशी नाटक समाज के आदि-लेखक थे—केशवलाल शिवराम अध्यापक, जो अपने गीति-नाट्य 'संगीत लीलावती' को समाज की स्थापना के पूर्व भी विसनगर, वडनगर, पाटण और अहमदाबाद मे मचस्थ कर चुके थे। अहमदाबाद मे 'सगीत लीलावती' का अभिनय वहाँ के नगरसेठ के अहाते मे अस्थायी मँडवा बनाकर, दो-एक परदों, बाँस और ताड के पत्तो से बने 'विंग', चालीस के दिये, माँगे गये वस्त्रो और सारगी-तबले की सहायता से किया गया था। इन्ही दिनो डाह्याभाई केशवलाल के भागीदार बन गये और इस प्रकार सन् १८८९ ई० मे देशी नाटक समाज की स्थापना हुई। समाज का पहला नाटक था—'सगीत लीलावती', जिसे कुछ परिवर्तित कर नई सज-धज के साथ खेला गया था। इसी नाटक को कुछ फेर-फार कर 'पवित्र लीलावती' के रूप मे सन् १८९३ ई० मे खेला गया। इस नाटक में पहली बार प्रणय-त्रिकोण को आधार बना कर नायक, नायिका (गृहिणी) और सामान्या का चित्रण किया गया था।[१३९]

इस युग मे समाज के अन्य लेखक थे—निर्भयशकर मछाराम व्यास, मुन्शी मिर्ज़ा, मणिशकर भट्ट, झवेरी चन्दूलाल दलसुखराम धोलशाजी, भीमजी वमनजी भट्ट और छोटालाल रुखदेव शर्मा। निर्भयशकर का 'सुन्दरमाधव' सन् १८९३ ई० मे, मु० मिर्ज़ा का हिन्दी नाटक 'मदनमजरी' सन् १९०१ ई० मे, मणिशकर का 'ज़ालीम टुलिया' सन् १९०९ ई० मे, चन्दूलाल का 'सती पद्मिनी' सन् १९११ ई० मे[१४०] और भीमजी का 'कबीर साव' सन् १९१२ ई० मे अभिनीत हुए। 'सती पद्मिनी' तीन अक का ऐतिहासिक नाटक है, जिसका प्रारम्भ मगलाचरण तथा सूत्रधार-नटी के सम्वाद से होना है। इसमे कई हिन्दी गीत, यथा 'रुमझुम साहेली सलोनी पियारी', 'दुखिया तो गम अपना जाने', 'मोरे बाँके सिपइया न मारो रे कटरियाँ' आदि, उर्दू-हिन्दी-मिश्रित सम्वाद, हिन्दी के शेर और उर्दू के गाने भी आये हैं। बादशाह अलाउद्दीन, बेगम, उसकी सहेलियो आदि के सभी सम्वाद प्राय. उर्दू-हिन्दी मिश्रित भाषा मे हैं। पारसी शैली की तुकबन्दी इन सवादो मे हैं। प्रथम अक के पहले दो प्रवेशो मे इसी प्रकार के सम्वाद हैं। गुजराती का प्रयोग शेष पात्रो लखमसिंह, भीमसिंह, अजीतसिंह, पद्मिनी आदि के सम्वादों में किया गया है। इन पात्रों के साथ वार्ता मे बादशाह भी गुजराती मे ही बोलता है। गुजराती गीत काफी सख्या मे हैं।

डाह्याभाई के अवसान के बाद छोटालाल रुखदेव शर्मा देशी नाटक समाज के नाटककार हुए। वे सस्कृत साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। आलोच्य काल मे उनके जो नाटक अभिनीत किये गये, वे हैं—'सती सीता' (१९०५), 'भगवद्गीता' (१९०६), 'गीता सुन्दरी' (१९०६), 'सती द्रौपदी' (१९०८), 'सन्यासी' (१९१२), 'कुलीन नायिका' (१९१२), 'अजीतसिंह' (१९१३), 'सती सुलोचना' (१९१४), 'सती दमयन्ती' (१९१५) और 'अशोक' (१९१६ ई०)। इनमे 'सती सीता', 'भगवद्गीता,' 'सती द्रौपदी', 'सती सुलोचना' और 'सती दमयन्ती' पौराणिक नाटक हैं। 'अजीतसिंह' स्वच्छन्दतावादी और 'अशोक' ऐतिहासिक नाटक है।

छोटालाल के नाटको मे भी संस्कृत नाट्य-पद्धति के अनुसार मगलाचरण और सूत्रधार-नटी का प्रयोग किया गया है। नाटक प्रायः तीन अंक के हैं। नाटको मे प्रायः हिन्दी मे 'साखी' या 'शेर' तथा गुजराती गानो के अतिरिक्त हिन्दी के भी कुछ गाने रहते है। 'अजीतसिंह' के हिन्दी 'शेर' (दोहा) की भाषा और मार्मिक ऊहा देखिये :—

'कजरा दऊँ तो करकरे, सुरमा दियो न जाय।
जिन नैनन मे पियु बसे, दूजो ना समाय॥'[१४१]

पारसी शैली के कॉमिक या हास्य-उपकथाएँ भी नाटको मे रहती है । 'अजीतसिंह' मे गोटाशा और उसकी फैशनेबुल नव-परिणीता नवी की कथा इसी प्रकार के हास्य के सृजन के लिये अलग से जोडी गई है ।

मूलाणी और उनसे सम्बद्ध नाटक मडलियाँ – गुजराती के लोकप्रिय नट एव नाटककार मूलशंकर हरिशकर मूलाणी मुख्यत मुम्बई गुजराती नाटक मडली, काठियावाड़ी नाटक मडली (सस्था० १९०५ ई०) और रायल नाटक मडली (सस्था० १९२० ई०) से नाटककार के रूप मे सम्बद्ध रहे हैं । मुम्बई गुजराती ने मूलाणी के 'अजबकुमारी' (१८९५ ई० मे पूर्व), 'कामलता', 'नन्दबत्रीसी', 'सौभाग्यसुन्दरी', 'देवकन्या', 'कृष्णचरित्र' और 'जुगलजुगारी', काठियावाडी ने 'देवकन्या' एव 'श्रीकृष्णचरित्र' (१९०५ ई०) और रायल ने 'एक ज भूल' और 'भाग्योदय' नाटक खेले । मूलाणी के नाटको के सवाद प्राय बहुत मधुर और आकर्षक तथा वस्तु-गठन कलापूर्ण और सुश्रृखल है । अधिकाश नाटक प्राय सुखान्त हैं, परन्तु मूलाणी का 'अजबकुमारी' दुखान्त सामाजिक नाटक है । यह नाटक रगभूमि और साहित्य, दोनो की दृष्टियो से एक उल्लेखनीय कृति है ।

मूलाणी का 'सौभाग्यसुन्दरी' एक लोकप्रिय नाटक है, जिसमे सौभाग्यसुन्दरी के अभिनय एव गीतो के कारण गुजराती रंगभूमि के अभिनेता जयशंकर 'सुन्दरी' के नाम से विख्यात हो गये । जयशकर कुशल नट एव उपस्थापक (दिग्दर्शक) भी है । स्त्री-पात्रो की भूमिकाओ मे गुजराती रगभूमि पर 'सुन्दरी' को वही स्थान प्राप्त है, जो स्थान 'बालगधर्व' को मराठी रंगभूमि पर प्राप्त है । कहते है कि सुन्दरी की वेशभूषा आदि का अनुकरण तत्कालीन समाज के सम्भ्रान्त घरो में हुआ करता था । इतनी आकर्षक होती थी उनकी वेश-सज्जा ।[१६]

मोरबी आर्य सुबोध नाटक मडली – मोरबी आर्य सुबोध नाटक मडली के सस्थापक वाघजीभाई आशाराम ओझा न केवल कुशल नट एव उपस्थापक थे, वरन् एक सफल नाटककार भी रहे हैं । वाघजी ने लगभग पच्चीस नाटक लिखे, जिनमे प्रमुख हैं - 'चाँपराज हाडो' (१८८७ ई०, द्वि० स०), 'त्रिविक्रम' (१८९७), 'त्रियाराज' (१८९७), 'चन्द्रहास' (१९०३), 'जयदेव परमार' (१९१०), 'भर्तृहरि', 'राजतरग,' 'विबुध-विजय', 'राणकदेवी', 'रमारणजित,' 'मदालसा' और 'वीरमनी' ।

वाघजी भाई का 'भर्तृहरि' अपने समय का अत्यन्त सशक्त और लोकप्रिय नाटक रहा है । कहते हैं कि नाटक देख कर अनेक तरुणो ने योगी बन कर घरो का परित्याग कर दिया।[१७] 'भर्तृहरि' के अनुकरण पर गुजराती मे अनेक नाटक लिखे गये ।[१८] 'भर्तृहरि' और 'चन्द्रहास' जैसे उनके नाटक आज भी मचस्थ होते रहते हैं ।[१९] वाघजी के नाटको मे हास्य-उपकथाओं अर्थात् 'कॉमिकों' का भी समावेश रहता है । डॉ० डी० जी० व्यास के अनुसार वाघजी का 'त्रिविक्रम' निरन्तर पाँच वर्ष तक चला ।

शुक्ल और उनसे सबद्ध मडलियाँ – गुजराती मे भरत नाट्यशास्त्र के अनुवादक नथुराम सुन्दरजी शुक्ल उच्चकोटि के नाटककार भी थे । उन्होने अपने नाटकों के अभिनयार्थ वाँकानेर विद्यावर्धक नाटक मडली की स्थापना सन् १८९५ ई० मे की । इस मडली द्वारा उनके 'कवीरविजय' (१९०६ ई०) और 'लालखाँनी लुच्चाई' नामक नाटक मचस्थ हुए । इसके अतिरिक्त वाँकानेर आर्य-हितवर्धक नाटक मडली (सस्था० १८८९ ई०) द्वारा उनके 'नरसिंह महेतो', 'मीराबाई', 'शैलबाला' और 'शूरवीर शिवाजी', वाँकानेरस रयशोधक नाटक मडली द्वारा 'तुकाराम', श्री वाँकानेर नृसिंह गौतम नाटक समाज (सस्था० १९०९ ई०) और सूरविजय नाटक समाज (सस्था० १९१४ ई०) द्वारा 'बिल्वमगल उर्फ सूरदास' नाटक खेले गये । उनके अन्य नाटक हैं–'भक्त कवि जयदेव', 'राजयोगी', 'माधवकामकुन्डला', 'गाडो गुमानसिंह' आदि । 'भक्तकवि जयदेव' का अभिनय आर्य नैतिक नाटक समाज ने बालीवाला थियेटर (बम्बई) मे किया था ।[२०]

अन्य नाटककार – डाह्याभाई युग के नाटककार फूलचन्द मास्टर डाह्याभाई की ही भाँति बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे । वे कवि, नाटककार और सगीतज्ञ होने के साथ चित्रकार भी थे । उनके नाटको को कई नाटक

मंडलियो ने खेला, जिनमें प्रमुख थी–(१) मोरबी आर्यसुबोध नाटक मंडली ('सती अनुसूया', १९११ ई०) और 'सुकन्या सावित्री' (१९१७ ई०. प्र०), (२) बीकानेर नृसिंह गौतम नाटक समाज (स्था० १९०९ ई०, 'महाश्वेता कादम्बरी') और विद्याविनोद नाटक समाज (स० १९१३ ई०, 'मालती माधव', १९१३ ई०, 'मुद्राप्रताप' एवं 'शुकदेवजी')। ये सभी नाटक संस्कृत नाट्य-पद्धति पर लिखे गये हैं।

मोरबी आर्यसुबोध के अन्य नाटककारों मे हरिशकर माधवजी भट्ट का नाम उल्लेखनीय है। 'अम्बरीष' (१९१५ ई०) और 'कसवध' उनके दो प्रसिद्ध नाटक हैं। उनके नाटको के गीत बहुत कर्णप्रिय और मिठास-युक्त होते थे। उनका गीत 'कानुडा, तारी कामण करनारी व्रजमां वासलडी वागी ('कन्सवध') आज भी भक्तो को रस-सिक्त और आत्मविभोर कर देता है।

पारसी-गुजराती नाटककार – गुजराती की इन नाटक मडलियों और उनके नाटककारो ने गुजरात में भक्ति, शृगार और हास्य की धारा बहा कर सामाजिकों को कई दशको तक रस-प्लावित बनाये रखा। इसी रस-धारा के साथ युग के पारसी-गुजराती नाटककार अंग्रेजी नाट्य-पद्धति का अनुसरण कर और पाश्चात्य नाटको का अनुवाद अथवा उपन्यासो का गुजराती नाट्य-रूपान्तर कर शृगार और हास्य की एक पृथक् धारा बहा रहे थे। उन्होंने कुछ आख्यान फारसी काव्य 'शाहनामा' से लिये और कुछ नाटको मे पारसियो के सामाजिक जीवन अथवा गुज-राती जीवन का चित्रण भी किया गया है। इस युग के अन्तर्गत पारसी नाटककारों की सख्या लगभग चालीस तक पहुँच गई थी, जिनमें से अधिकाश का अभ्युदय रणछोड युग (१८५०-१८८५ ई०) मे हो चुका था। इनके नाटक प्रायः पारसी-गुजराती नाटक मंडलियों द्वारा खेले जाते रहे और तत्कालीन जन-समाज का मनोरंजन करते रहे। इन नाटककारो मे से कुछ प्रमुख नाटककारों के नाम और उनकी कृतियो की सूची यहाँ दी जा रही है :—

१. एदलजी खोरी –लेडी आफ लीओन, कमरलजमां, रुस्तम-सोहराब, जालमजोर, जहाँगीर-नूरजहाँ, खुदाबक्ष, हजमवाद अने ठगणनाथ (१८७१ ई०), सोनाना मूलनी खोरशेद (१८७१ ई०), अबुलहसन और आलमगीर।

२. नानाभाई रुस्तमजी राणीना – काला मेहा, होजालो हाउ, नाजां शीरीन, बहेमांयेली जर, सावित्री (१८८३ ई०), करणी तेवी पार उतरणी और कामेडी आफ एरर्स।

३ केखुशरू काबराजी (१८४२-१९०४ ई०) – सुडी बच्चे सोपारी, निन्दाखानु, भोली जान अथवा धनानु धान, काका-पालन, हरिश्चन्द्र, नन्द बत्रीसी, सीताहरण, लवकुश, भोलानाथ, दुखी गुल, जमशेद फरीदुन और बेजन-मनीजेह (१८६८ ई०)।"

४.बमनजी काबराजी (१८६०-१९२५ ई०) – भोली गुल, गामरेनी गोरी, कलजुग, बागेबहश्त, दोरंगी दुनिया, बापना शाप, भुलो पडेलो भीमभाई, नूर नेकी, झबनेझर शीरीन, फरामरोज एवं वफादार जफा।

५ कुंवरजी नाजर – कडक कन्या ने खीमेला परण्या और करणघेलो।

६. जहाँगीर खम्भाता (१८५६-१९१६ ई०) – *मैड हाउस, जुद्दीन झगडो, माको भील, कोहिनार कन्फ्यूजन,* धरती कम्प और टीट पर टाट।

७. रतनजी शेठना – पाकजाद परीन, कमानी लोही, खोदा पर सबर, रोशन चिराग़, दीनदार दीना, गुल खुशरो, रमता पची और भूल थाय।

८. जहाँगीर पटेल 'गुलफाम' (१८६१-१९३६ ई०) – टाप्सी टर्वी, कांटानु कटेशर, पातालपाणी, फाकडो फितूरी, मस्तान मनीजेह, सासूजी, सुखलो जामास्प, घेरनो गवंडर, भमतो भूत, कुंवारे मंडल, धनधन घोरी (१९२६ ई०), बाजतो घुंघरो, मारो माटी तथा मघरातनो परोणो।

९. पिरोजशा जहाँगीर मर्जबान 'पिजाम' (१८७६-१९३३ ई०) – अफलातून, माझनदरान, मस्खई मोहरो,

सुखला जामास्प, हैंडसम ब्लैकगार्ड, मासीनो मार्को (१९१०) तथा मेडम टीचकु (१९२५ ई०)।

१०. अदी मर्ज़बान–लगननी गाँठ, काकाजी ओ काकाजी तथा आफतमां अकुरी।

११. दोराब आर० महेता–गरीबी तारो गुनाह तथा चिराग।

१२. बहराम ईरानी–बलिदान ।

उपर्युक्त पारसी नाटककारों ने गुजराती रंगभूमि पर अनेक प्रयोग किये थे और ये प्रयोग नाट्य-पद्धति, वस्तु-चयन और रस की दृष्टि से किये गये थे। पारसी-गुजराती रंगमंच के प्रादुर्भाव का मूल स्रोत मुख्यतः अंग्रेजी नाटक थे। यही कारण है कि प्रारम्भ में गद्य-प्रधान नाटक लिखे गये अथवा अनूदित किये गये। अनूदित नाटकों में से कुछ में मूल नाटकों के ही नाम अपनाये गये, यथा 'लेडी आफ लीओन' (एदलजी खोरी), 'कामेडी आफ एरर्स' (राणीना), 'मेंड हाउस' (खम्भाता) आदि और कुछ में परिवर्तित भारतीय नाम, यथा 'आलमगीर' (शेक्सपियर के 'सिम्बेलीन' का एदलजी खोरी-कृत अनुवाद), 'बागे बहश्त' (शेक्सपियर के 'सिम्बेलीन' का बमनजी काबराजी-कृत अनुवाद) आदि। खोरी के 'सोनाना मूलनी खोरशेद' में शेक्सपियर के 'किंग लियर' और गुजराती कथा 'कामावती' का मिश्रण है।[17] बमनजी काबराजी का 'भोली गुल' हेनरी उड के 'ईस्ट लीन' उपन्यास का गुजराती नाट्य-रूपान्तर है।

शिक्षित पारसियों की दृष्टि नये विषयों की खोज में 'शाहनामा' पर पड़ी, फलतः 'रुस्तम-सोहराब' (एदलजी खोरी), 'बेजन-मनीजेह' (केखुशरू काबराजी) और 'जमशेद फरीदुन' (केखुशरू काबराजी) की रचना हुई। विक्टोरिया नाटक मंडली ने 'बेजन-मनीजेह' (१८६९ ई०) और 'जमशेद फरीदुन' को मंचस्थ किया था। 'बेजन-मनीजेह' में ही सर्वप्रथम गानों का प्रयोग प्रारम्भ किया गया था।[18] इसके पहले तक रंगभूमि पर गद्य नाटकों की प्रधानता रही।

पारसी जीवन से संबन्धित नाटकों में 'गुलफाम' के 'फाकडो फितूरी' और 'मस्तान मनीजेह', बमनजी काबराजी के 'दोरंगी दुनिया' आदि प्रमुख हैं। कुँअरजी नाजर का 'करणघेलो' पूर्णतः गुजराती जीवन से सम्बन्धित है।

रस की दृष्टि से शृंगार और हास्य की प्रधानता है। हास्य की सृष्टि के लिये तीन मार्ग अपनाये गये थे–गम्भीर नाटकों के साथ पृथक् 'फार्स' (प्रहसन) की रचना, नाटक के साथ 'कॉमिक' या हास्य-उपकथा का प्रत्येक अंक के बीच-बीच में समावेश और तीसरे सम्पूर्णतः हास्य-नाटक या प्रहसन की रचना। 'पिजाम' के 'अफलातून' जैसे गम्भीर नाटक के साथ 'तेहमुरस्प-तेमुलजी' नामक फार्स की रचना की गई थी।[19] 'गुलफाम' का 'फाकडो फितूरी' और जहाँगीर खम्भाता का 'भरतीकेम्प' हास्य-प्रधान नाटक हैं, जो तीसरी कोटि में आते हैं।[20] अंकों के बीच-बीच में प्रवेश वाले 'कॉमिक' प्रायः अधिकांश नाटकों में मिलते हैं।

गुजराती के कुछ और नाटककार– उपर्युक्त दोनों धाराओं के अतिरिक्त तीसरी धारा थी–ऐसे अभिनेय गुजराती नाटकों की, जो नाट्य-तत्त्वों के साथ ही साहित्य-शास्त्र की कसौटी पर भी पूरे उतरते थे। इस प्रकार के नाटक लिखने वालों में प्रमुख थे–रमणभाई महीपतराम नीलकन्ठ तथा नानालाल दलपतराम कवि।

रमणभाई का एकमात्र सामाजिक नाटक है–'राईनो पर्वत' (प्र० १९१३ ई०)। सामन्ती वातावरण में आधुनिक समाज-सुधार की भावना का सन्निवेश कर रमणभाई ने एक प्रगतिशील विचारधारा प्रस्तुत की है। इसमें सात अंक और ३६ दृश्य है और प्रायः संस्कृत-पद्धति का अनुसरण किया गया है।

नानालाल ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' (कालिदास) के गुजराती अनुवाद के अतिरिक्त कई मौलिक नाटक लिखे हैं। 'जया-जयन्त' (१९१४ ई०), 'जहाँगीर-नूरजहाँ' (१९३० ई०), 'शाहनशाह अकबरशाह' (१९३० ई०), 'संघमित्रा', 'इन्दुकुमार', 'प्रेमकुञ्ज', 'गोपिका', 'पुण्यकथा', 'जगत प्रेरणा', 'राजर्षि भरत' और 'विश्व गीता'। 'जया-जयंत', 'इन्दुकुमार', 'गोपिका', 'प्रेमकुंज' आदि स्वच्छन्दतावादी नाटक हैं। 'जहाँगीर-नूरजहाँ', 'शाहा-

नशाह अकबरशाह' और 'संघमित्रा' ऐतिहासिक और 'राजर्षि भरत' तथा 'विश्वगीता' पौराणिक नाटक हैं। स्वच्छन्दताधर्मी नाटकों में 'जया-जयत' उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है। सामतवादी पात्रो को लेकर, कलि और द्वापर की पृष्ठभूमि पर, प्रेम की चरम परिणति विवाह मे नही, लोकसेवा-व्रत में दिखलाई है। इसका अभिनय आवश्यक काट-छाँट के बाद अहमदाबाद रूपक सघ ने सन् १९४७ में किया था।[11] 'जया-जयंत' त्रिअंकी नाटक है, किन्तु पात्रो की संख्या अधिक है।

डाह्याभाई युग की सामान्य प्रवृत्तियाँ—डाह्याभाई युग के नाटको मे हिन्दी नाटकों की भाँति संस्कृत-पद्धति पर मगलाचरण, सूत्रधार-नटी आदि का समावेश तो किया गया है, किन्तु अन्त मे भरतवाक्य प्राय. नही मिलता। अधिकाश नाटक सुखान्त हैं।

हिन्दी की भाँति गुजराती नाटक भी प्राय तीन अक के ही होते थे। प्रत्येक अक पश्चिमी नाट्य-पद्धति के अनुकरण पर प्रवेशों (दृश्यों) मे विभक्त रहता था। प्रत्येक अक मे ५ से लेकर ११ तक प्रवेश होते हैं। सबसे कम प्रवेश (अर्थात् पाँच) प्राय तीसरे अको मे और सर्वाधिक प्रवेश (अर्थात् ग्यारह) प्रायः दूसरे अको मे मिलते हैं। पाँच-प्रवेशी तृतीयाकी नाटक हैं—नथुराम सुन्दरजी शुक्ल-कृत 'कबीर विजय', फूलचद मास्टर-कृत 'सुकन्या-सावित्री', आदि और ग्यारह प्रवेश वाले नाटक हैं—छोटालाल रूपदेव शर्मा-कृत 'अजीतसिंह', फूलचन्द मास्टर-कृत 'सुकन्या-सावित्री' आदि। ये नाटक प्रायः ६-७ घटे तक चला करते थे। वस्तु की दृष्टि से गुजराती मे भी पौराणिक, ऐतिहासिक और स्वच्छन्दताधर्मी (सामाजिक) नाटक विशेष रूप से लिखे गये। सामाजिक नाटकों की रचना भी हुई, किन्तु कम। स्वछन्दताधर्मी नाटको मे ही विधवा-विवाह आदि की समस्याएँ भी उठाई गई हैं। नाटको के अन्तर्भूत कॉमिक्रो, फार्स आदि मे अँग्रेजी शिक्षा और सस्कृत, विशेषकर आधुनिक फैशन पर कटाक्ष किया गया है। इस काल मे देश-प्रेम एव राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर पृथक् से कोई नाटक नहीं लिखा गया।

नाटकों के अन्तर्गत कॉमिक का समावेश गुजराती नाटक की अपनी विशेषता रही है। पारसी-हिन्दी नाटकों मे कॉमिक गुजराती नाटकों के अनुकरण पर ही आया।

गुजराती के इस काल के नाटक प्राय. पारसी शैली के गद्य-पद्य मिश्रित हैं। इनको प्रायः 'ऑपेरा' के नाम से पुकारा जाता था, परन्तु इनमे नृत्य की अपेक्षा नाट्य-तत्त्व अधिक होने, गद्य का प्रयोग होने के कारण ये मराठी सगीत नाटको के समकक्ष रखे जा सकते हैं। प्रत्येक नाटक मे प्राय. २०-२१ से लेकर ३०-३१ तक गाने होते थे। कुछ सगीत नाटक भी लिखे गये, जो पूर्णत. सगीतक (ऑपेरा) के ढग के थे। 'स० लीलावती' में १०६ गाने हैं। गीताधिक्य वाले नाटक ही इस काल मे अधिक लोकप्रिय होते थे। अनेक नाट्य-गीत कर्णप्रिय और मर्मस्पर्शी होने के कारण लोकगीत बन गये थे। डाह्याभाई के नाटक सगीत-प्रधान थे। कुछ नाटकों मे गुजराती गानों के साथ प्रायः हिन्दी गीत और उर्दू गजलें भी हुआ करती थी। 'सौभाग्य सुन्दरी' मे जयशकर द्वारा गाये गये जिस गीत के कारण उन्हें 'सुन्दरी' की उपाधि मिली थी, वह था—'धीमा-धीमा चालोने मारा प्राण, पग नाजुक तमारा मचकाई जाशे'।[12] 'सौभाग्य सुन्दरी' के गानों की लोकप्रियता के कारण पहली पक्ति की टिकट सौ-सौ रुपये तक मे बिकती थी।[13]

ये गीत प्राय युद्ध, मृत्यु, प्रणय अथवा चितारोहण, किसी भी दशा मे गाये जा सकते थे और सामाजिक उन्हें सुन कर 'वन्स मोर' कह उठता था और गायक-पात्र को कई-कई बार तक गाने पुनः सुनाने पड़ते थे। गीत प्रायः रागबद्ध होते थे, जिनके स्वरकार 'उस्ताद' नियुक्त किये जाते थे। अर्द्ध-रात्रि के पूर्व (प्रारम्भ के दो अकों तक) प्रायः देस सारंग, माढ, वसन्त, पूर्वी, हिन्डोल, मालकोस आदि और अर्द्ध-रात्रि के पश्चात् (प्रायः तीसरे अंक मे) टोडी, मालश्री, भैरवी, खम्भावती, आशावरी, जोगिया कलिगड़ा आदि राग-रागिनियाँ गाई जाती थी।[14] लोकधुनें भी अपनाई जाती थी।

नाटकों मे दो-गानो और समूह-गानों, यथा गरबा आदि का भी प्रयोग होता था। 'सुकन्या-सावित्री' में

सुकन्या-च्यवन, सावित्री-सत्यवान, यम-सावित्री आदि के दोगाने हैं। समूह-गान या वृन्द-गान प्रायः 'सहेलियों' या 'सखियों' द्वारा राज-सभा, उपवन, प्रासाद आदि में किया जाता था। इस प्रकार के गीत प्रायः सभी ऐतिहासिक नाटकों में पाये जाते हैं। हास्य-प्रधान गीतों की धुनें हल्की किस्म की होती थीं, किन्तु ताल-लय द्रुत होती थी। शब्द हल्के-फुल्के और विनोदोपयोगी होते थे। भावप्रधान अथवा करुण रस के गीतों की भाषा कवित्वपूर्ण एवं लय मधुर अथवा विलंबित होती थी।

छंदों में दोहा, साखी, शेर आदि का प्रयोग किया जाता था। गद्य-संवादों की भाषा सरल, प्रवाह-युक्त और प्रांजल है। प्रायः छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग हुआ है। भावावेश में पारसी-शैली की तुकबंदी एवं पुनरुक्ति भी दृष्टिगोचर होती है

'लखमसिंह—नहीं, नहीं, हूं तने कोई रीते विदाय करी शकवानो नथी, हु तारो लायक पिता तो नथी, पण मारु हैयु तद्दन वज्र थयेलु नथी। रणवीर, आ निर्दय काममा मारो मन नथी, मारी रजा पण नथी। मारु राज्य भले जाय, यवनोनो जय भले थाय, देवनानु अपमान भले ममजाय पण कमला, मारी पुत्री कमला, तारं बलिदान कदापि आपनार नथी ते नथी ज।' (ड० द० झवेरी, सती पद्मिनी, अंक २, प्रवेश ८, पृ० १००)

पात्रानुसार भाषा के प्रयोग के सिद्धान्तानुसार नाटकों में गुजराती-इतर व्यक्तियों, यथा मुसलमानों आदि *के लिये उर्दू-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। परस्पर वार्ता में वे खड़ी बोली (उर्दू) में, किन्तु गुजराती-भाषी पात्रों के साथ गुजराती में वार्ता करते हैं।*

उपलब्धियाँ— डाह्याभाई युग में गुजराती रंगभूमि ने जो विस्तार, व्यापकता और समृद्धि प्राप्त की, वह अभूतपूर्व थी। इस काल की उपलब्धियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं —

१. गुजराती में डाह्याभाई युग के अंत तक लगभग तीन सौ नाटक मंडलियाँ बनीं, जिनमें से कुछेक तो गुजराती के नाटककारों ने बनाईं। ऐसे नाटककारों में प्रमुख हैं: वाघजी आशाराम ओझा (मोरबी आर्यसुबोध नाटक मंडली), डाह्याभाई धोलशाजी झवेरी (देशी नाटक समाज) और नथुराम सुन्दरजी शुक्ल (बीकानेर विद्यावर्धक नाटक मंडली)। अन्य मंडलियों में नाटककार वेतनभोगी होकर रहते थे। नाटककारों को वेतन बहुत थोड़ा मिलता था। देशी नाटक समाज के छोटालाल रुखदेव शर्मा को केवल ४५) रु० मासिक वेतन मिलता था।[११]

प्रारम्भ में अनेक ऐसे नाटककारों के नाटक मूल रूप में प्रकाशित नहीं किये जाते थे, केवल उनके 'गायनो अने टुकमार' प्रकाशित होते थे, जिन पर कभी-कभी उनके नाम भी छापे जाते थे, परन्तु अनेक टुकसारों (कथा-संक्षेपों) पर तो लेखक का नाम न रह कर केवल प्रकाशक (प्रसिद्ध-करनार) ना नाम ही छापा जाता था, अतः अनेक ऐसे नाटकों के लेखकों का आज पता लगाना भी कठिन है। इस प्रकार के दो नाटकों के टुंकसार लेखक *को खोज में प्राप्त हुए थे—आर्यनैतिक नाटक समाज द्वारा अभिनीत 'परशुराम' (१९१९ ई०, दसवाँ संस्करण) और मोरबी आर्यसुबोध नाटक मंडली द्वारा अभिनीत 'बलिराजा' (१९२२ ई०, छठा संस्करण)।* इन नाटकों के लेखक कौन थे, यह निर्णय करना किसी अन्तर्बहिर्साक्ष्य के बिना सम्भव नहीं है।

२. देशी नाटक समाज ने अहमदाबाद में दो स्थायी रंगशालाएँ और बम्बई में एक अस्थायी रंगशाला बनवाई। बम्बई की रंगशाला के जल जाने के बाद अब वह किराये के प्रिंसेस थियेटर में है। डॉ० डी० जी० व्यास के अनुसार मुंबई गुजराती नाटक मंडली ने बोरीबन्दर स्टेशन के सामने 'गेयटी थियेटर' (अब 'कैपिटल') की स्थापना की थी।[१२] इसमें मोरबी आर्यसुबोध नाटक मंडली भी अपने नाटक खेला करती थी। अधिकांश गुजराती मंडलियाँ अपने नाटक किराये की रंगशालाओं में किया करती थीं।

देशी नाटक ने सूरत में इस काल के अन्त में 'श्री सुन्दर विलास नाटक समाज' खरीदा और इस प्रकार वहाँ के सूर्यप्रकाश थियेटर में भी अपनी एक शाखा स्थापित की।[१०] देशी नाटक ने स्वदेशी नाटक समाज (भूतपूर्व आर्य नाटक समाज) को भी खरीदा था। इस प्रकार देशी नाटक समाज ने हिन्दी मैडन थियेटर्स की भाँति कई रंगशालाओं और मंडलियों की शृंखला स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी।

३. रंगसज्जा में परदों, पार्श्व और झालर का उपयोग होता था। चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखाने के लिये 'कुआँ' (ट्रैप), ट्रान्सफर सीन, टेबलो आदि का प्रयोग किया जाता था। रंगदीपन के लिये मशाल, चालीस की बत्ती आदि के उपरांत क्रमश: पेट्रोमैक्स और कारबाइड, पगदीवा (फुटलाइट) आदि का उपयोग होने लगा था। नाट्य-शिक्षण एवं पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) पर बहुत जोर दिया जाता था। रंगशालाओं में माइक और/या श्रुतिसिद्धता (एकास्टिक्स)की कोई व्यवस्था न होने के कारण कलाकार'सिंहनादी स्वर' में सवाद बोलने थे।[११]

४ कलाकार वेतनभोगी होते थे और प्राय अपनी मंडलियों के साथ ही रहते थे। वे मंडली की रसोई में भोजन भी किया करते थे। कलाकारों को, विशेष कौटुम्बिक प्रसंग उपस्थित होने पर, एक रात्रि के नाट्य-प्रयोग की समूची आय अथवा उसका बहुलांश मालिक द्वारा देकर उनकी आर्थिक सहायता की जाती थी। ये कलाकार पारसी, गुजराती या मारवाड़ी होते थे। गुजरात के नायक, भोजक और मीर तथा जोधपुर के पास के मारवाड़ी आदि विशेष रूप से मंडलियों में सम्मिलित होते थे। कुछ महाराष्ट्री नट भी आने लगे थे।

प्राय अल्पवयस्क सुन्दर-सुकुमार पुरुष ही स्त्रियों की भूमिकाएँ करते थे।[१२] बम्बई में पारसी-गुजराती रंगभूमि पर सर्वप्रथम महिला मिस मेरी फैंटन सन् १८७५ के पूर्व उतरी थीं। वे यूरोपियन थीं। इसके उपरांत मिस गौहर, मोतीजान, आगाजान, गुलाब आदि भारतीय स्त्रियाँ पारसी-उर्दू एवं पारसी-हिन्दी नाटकों में तो अवतरित होने लगीं, किन्तु डाह्याभाई युग में गुजराती मंच पर स्त्रियों का अवतरण नहीं हुआ। जयशंकर 'सुन्दरी', प्रभाशंकर, मास्टर त्रिकम आदि स्त्री-भूमिकाएँ किया करते थे।[१३]

५. नाटक प्रायः सप्ताह में चार दिन होते थे – बुधवार, वृहस्पति, शनि एवं रविवार। रविवार को नाटक ३ ॥ बजे से और शेष दिनों में रात्रि को ८ ॥ बजे से होते रहे हैं। नाटक प्रायः ६-७ घंटे या कुछ अधिक समय के होते थे। शनिवार और रविवार को नये नाटक खेले जाते थे, जबकि बुधवार और वृहस्पतिवार को प्रायः पुराने नाटक ही होते थे।

(४) हिन्दी का व्यावसायिक मंच : परम्पराएँ और उपलब्धियाँ

पारसी-हिन्दी रंगमंच के जन्म और विकास के संबन्ध में द्वितीय अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है और इसी अध्याय में पहले यह भी बताया जा चुका है कि पारसी-गुजराती रंगमंच से ही पहले उर्दू रंगमंच का और फिर बाद में हिन्दी रंगमंच का अभ्युदय हुआ। परन्तु आश्चर्य का विषय है कि मराठी नाटककार विष्णुदास भावे के हिन्दी 'गोपीचन्दाख्यान' को देख कर जिस पारसी-गुजराती रंगमंच के प्रादुर्भाव को प्रेरणा प्राप्त हुई थी, उस पर पहले हिन्दी रंगमंच का अभ्युदय न होकर उर्दू रंगमंच का आविर्भाव कैसे संभव हो सका। इसके दो मुख्य कारण थे :

(१)उस समय तक हिन्दी में मराठी नाट्य-शैली के कुछ नाटकों और उत्तरी भारत के मैथिली, ब्रज एवं रास-नाटकों के अतिरिक्त अन्य कोई नाटक नहीं थे। भारतेन्दु ने अपना सर्वप्रथम नाटक 'विद्यासुन्दर' सन् १८६८ में लिखा, जो मात्र छायानुवाद था। उनका सर्वप्रथम मौलिक पूर्णांग नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'

सन् १८७३ में लिखा गया था, किन्तु यह एक प्रहसन-मात्र था। इस प्रकार के किसी भी नाटक को पारसी-शैली के रंगमंच पर खेलना सम्भव न था।[४९] मैथिली नाटक अवश्य ऐसे थे, जो अभिनेय थे और उनमें से कुछ को पारसी नाट्य-पद्धति के अन्तर्गत ढाला भी जा सकता था, परन्तु मैथिली भाषा सर्व-साधारण के लिये बोधगम्य न थी और दूसरे, मैथिली नाटक सुदूर नेपाल में पनपा और अभिनीत हुआ था। नेपाल से पारसी-समाज का सम्पर्क उस काल में नहीं के बराबर रहा, अतः उन्हें इस विशाल नाट्य-भंडार की जानकारी नहीं रही होगी। स्वयं हिन्दी-क्षेत्र के लोग भी बीसवीं शती में ही अपने इस नाट्य-भंडार से परिचित हो सके।

(२) एक हिन्दू अथवा हिन्दी-क्षेत्र के नाटककार उस समय के पारसी नाट्य-क्षेत्र में उपलब्ध नहीं थे, जो पारसी-शैली को दृष्टि में रख कर नाटक लिख कर देते। यही कारण है कि पारसी नाटककार नसरवानजी खान-साहेब 'आराम' को स्वयं हिन्दी नाटक लिखने की ओर प्रवृत्त होना पड़ा।

पं० राधेश्याम कथावाचक ने पारसी नाटक मंडलियों के हिन्दी नाटक न खेलने का यह भी एक कारण बताया है कि 'शुद्ध हिन्दी के नाटक खेलने का रिवाज ही उस समय की पेशेवर नाटक कम्पनियों में नहीं था। ऐसे (हिन्दी के) नाटकों को 'क्लबों' की चीज़ समझा जाता था'।[५०] यद्यपि इस कथन में इतनी सत्यता तो है कि उत्तरी भारत में हिन्दी नाटक प्रायः अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं अथवा क्लबों द्वारा ही खेले जाते थे, परन्तु भावे युग (१८५०-१८८५ ई०) में हिन्दी नाटक मराठी नाटक मंडलियों द्वारा प्रायः खेले जाया करते थे और महाराष्ट्र के बाहर तो उन्हें अनिवार्यतः हिन्दी के ही नाटक दिखाने पड़ते थे।

पारसी नाटक मंडलियों को जब उनकी भारत के दौरे पर निकलने अथवा बम्बई में भी बहुसंख्यक हिन्दी-भाषी सामाजिकों को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता अनुभूत हुई, तो उन्होंने भी हिन्दी नाटक लिख कर खेलने प्रारंभ कर दिये। ये नाटक एक विशिष्ट शैली के थे। सुविधा के लिये इसे 'पारसी शैली' कहा जा सकता है।

बेताब युग की सामान्य प्रवृत्तियाँ – बेताब युग में जो भी नाटक लिखे गये और जिनके प्रयोग हुए, उनके प्रारम्भ में संस्कृत नाट्य-पद्धति पर मंगलाचरण और प्रस्तावना का समावेश रहता था। 'बेताब' ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में सूत्रधार, नटी और पारिपार्श्विक की वार्ता द्वारा नाटक आदि का परिचय दिया है। इस परम्परा का निर्वाह परवर्ती अनेक नाटककारों ने किया है। कुछ नाटककारों ने सूत्रधार-नटी वाली प्रस्तावना की जगह नेकी-बदी अथवा इन्द्र-सभा या स्वर्गधाम की वार्ता वाली प्रस्तावनाएँ रखी हैं। मंगलाचरण सर्वत्र है, यद्यपि कहीं-कहीं यह कथा का अंगभूत होकर भी आया है। यह मंगलाचरण कुछ नाटकों में 'कोरस' अथवा 'हम्देबारी' (विशेषकर उर्दू नाटकों में) के रूप में भी आया है।

नाटकों में भरतवाक्य का भी यत्र-तत्र उपयोग किया गया है, नियम रूप में नहीं, अपवाद रूप में। 'बेताब' के 'महाभारत' और 'रामायण' में कोई भरतवाक्य नहीं है, जबकि यह उनके 'कृष्ण-सुदामा' में है :

'खूब मालामाल हूँ, था मस्त अपनी खाल में।
भक्ति ऐसी दो कि फिर उलझूँ न माया-जाल में।।'[५१]

इस भरतवाक्य की जगह कुछ नाटकों में प्रसंग के अनुसार आशीर्वादात्मक, बधाईमूलक अथवा प्रार्थनात्मक 'गानों' ने ले ली है। तालिब'-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' में यह गान बधाईमूलक है, 'हश्र' के 'खूबसूरत बला' में आशीर्वादात्मक और 'भक्त सूरदास' में प्रार्थनामूलक।

नाटक प्रायः सुखान्त होते थे, जिनमें असत् पर सत् की विजय दिखलाई जाती थी।

नाटक की वस्तु भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार अंक, प्रवेशक अथवा विष्कंभक के रूप में विभाजित न होकर अंक, ड्राप अथवा 'बाब' तथा प्रवेश, दृश्य अथवा 'सीन' में विभाजित रहती थी। पारसी-हिन्दी नाटक प्रायः तीन अंकों के हैं। तीन अंकों के नाटकों का अभिनय प्रायः रूढ़ हो गया था, क्योंकि इस प्रकार पाँच, छः या सात घण्टे

के नाटकों के बीच सामाजिकों को दो अन्तराल या मध्यातर (इंटरवल) देना सम्भव हो जाता था। इससे बडे नाटकों को पसन्द नही किया जाता था। यही कारण है कि राधेश्याम-कृत 'वीर अभिमन्यु' (१९१५ ई०) को, जो मूलतः चार अको का था, काट कर तीन अको का बना दिया गया था।

प्रत्येक अक प्रवेश, दृश्य अथवा 'सीन' मे तथा प्रत्येक 'ड्राप' और बाब 'सीन' मे विभाजित है। 'अक' और 'ड्राप' शब्दों का प्रयोग हिन्दी नाटको में और 'बाब' का उर्दू-शैली के नाटको मे हुआ है। 'तालिब', 'अहसन' लखनवी और राधेश्याम के नाटको मे अक 'सीन' मे, 'बेताब' के नाटको मे प्रवेश मे और 'हश्र' के हिन्दी नाटको मे अंक या ड्राप 'सीन' मे विभाजित हैं। 'अहसन' और 'हश्र' के कुछ हिन्दी नाटकों मे अक को दृश्य मे भी विभाजित किया गया है, यथा 'अहसन' के 'चलता पुर्जा' और 'हश्र' के 'सीता वनवास' मे। 'हश्र' ने अक के लिये 'ड्राप' शब्द का प्रयोग 'भीष्म-प्रतिज्ञा' मे किया है। प्रत्येक अक, 'ड्राप' या बाब मे ३ मे १३ तक 'सीन', प्रवेश या दृश्य हैं। प्रायः सर्वाधिक दृश्य अर्थात् ११ से लेकर १३ तक दूसरे अक ('महाभारत', 'रामायण' और 'खूबसूरत बला') मे हैं और न्यूनतम दृश्य अर्थात् ३ अन्तिम अक ('सीता-वनवास') में हैं। कोई-कोई दृश्य महज किसी एक कार्य-व्यापार के द्योतक होते हैं और एक ही पृष्ठ पर वह दृश्य समाप्त होकर दूसरा दृश्य प्रारम्भ हो जाता है अथवा किसी दृश्य के अन्त मे किसी एक घटना या कार्य-व्यापार की सूचना देने के लिये रखा जाता है, यथा 'हश्र'-कृत 'ख्वाबे-हस्ती' के पहले बाब के चौथे 'सीन' में यह सूचना दी गई है कि हुस्न अफरोज सोये हुए नवाब आजमखाँ की तिजोरी मे असली वसीयतनामा उडा ले जाती है (पृ० ३१) और 'बेताब-कृत' 'रामायण' के तीसरे अक के अन्तिम (सातवें) प्रवेश मे अयोध्या मे राम-राज्याभिषेकोत्सव का दृश्य मात्र दिखलाने का सकेत दिया गया है (पृष्ठ २३९)। सम्भवत इस प्रकार की दृश्यावली 'टेबला' के ढग पर ही दिखाई जाती थी।

दृश्य-विभाजन की यह पद्धति पारसी-हिन्दी नाटको को उन अँग्रेजी नाटको और उनके गुजराती-उर्दू अनुवादों से विरासत मे प्राप्त हुई थी, जो या तो इगलैंड से आने वाली नाटक मडलियो अथवा सन् १८५२ से प्रारम्भ हुए पारसी नाटक क्लबो अथवा मडलियो द्वारा बम्बई मे खेले जाते थे।

अधिकाश नाटकों की कथावस्तु 'रामायण', 'महाभारत' अथवा अन्य पौराणिक आख्यानो को लेकर गठित हुई है। दूसरे क्रम पर वे काल्पनिक कथाओ अथवा लोककथाओ पर आश्रित नाटक आते हैं, जिन्हें स्वच्छन्दतावर्मी नाटकों की श्रेणी मे रखा जा सकता है। वेश्या-वृत्ति, मद्य-पान, जुआ, अपहरण, सपत्नी-द्वेष, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह दस्यु-निरोध, अस्पृश्यता-निवारण, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि की समस्याओ को लेकर कुछ सामाजिक नाटक भी लिखे गये, किन्तु इस काल मे लिखित ऐतिहासिक नाटको की सख्या अधिक नही है।

पौराणिक नाटको के नायक राम, कृष्ण, अर्जुन, भीष्म, अभिमन्यु, हरिश्चन्द्र, गोपीचन्द आदि और नायिकाएँ सीता, द्रौपदी, अम्बा, तारा आदि हैं। वस्तु-गठन का आधार चमत्कार, अलौकिकता अथवा कौतूहल-प्रदर्शन होने के कारण पात्रो को प्रायः अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न दिखाया गया है। हरिश्चन्द्र-जैसे पात्रो को अवश्य मानवीय गुणो से युक्त करके चित्रित किया गया है।

सवाद प्राय. गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। गद्य की भाषा शुद्ध खडी बोली है, जिसमे प्रारम्भ मे उर्दू-फारसी शब्दो का मिश्रण रहता था, परन्तु बाद में शुद्ध हिन्दी का प्रयोग होने लगा। गद्य-सम्वाद तुकान्त-युक्त होते थे और एक ही वाक्य मे कई-कई तुकान्त पद आ जाते थे और कभी-कभी कई पात्रो के सम्वादो के अन्त मे भी तुकान्त पद रखे जाते थे।

पद्य और 'गानो' की भाषा प्रारम्भ मे खडी बोली और ब्रज दोनो रही, परन्तु उत्तरोतर ब्रजभाषा का परित्याग होता चला गया। पद्यो और गानो मे भी यत्र-तत्र उर्दू के शब्द मिलते हैं। जिन नाटकों की भाषा में उर्दू गद्य-पद्य का प्राधान्य है, उनमे भी कुछ गाने हिन्दी के मिल जाते हैं। 'खूबसूरत बला' में तस्नीम द्वारा गाये

गये दादरा की कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :–

'हाँ रे, कोई बाँको सिपहिया लुभाय गयो रे।
हाँ रे, मोरे पिया जिया मे समाय गयो रे॥ बाँको०।
तन – मन वारा जोबन, प्यारी फबन वारू जियरवाँ।
सैयाँ दिवानी बनाय के, सुहाय के रिझाय गयो रे॥'

('हश्र', 'खूबसूरत बला', पृ० ९८)

'गुलरूजरीना'[15] का दादरा इस प्रकार है –

'प्रीत लगा के मोहन - संग सजनी, ख्वार भई।
सुध-बुध बिसरी ब्याकुल भई,
अगिन बिरहा की लागी री मोरी सजनी, ख्वार भई॥ प्रीत०।
सुध-बुध बिसरी ब्याकुल भई,
जतन बताओ मोहें री सजनी, ख्वार भई॥ प्रीत०।'

(औलाद अली, 'गुलरूजरीना')

पारसी-हिन्दी नाटक के गाने प्राय रागबद्ध होते थे, जिनमे दिल्लीवासी अभिनेता मास्टर निसार के अनुसार मुख्यत भोपाली, कामोद, दरबारी, भीमपलासी, यमन कल्याण, भैरवी, जौनपुरी, टोडी, देश आदि पक्के राग हुआ करते थे,। इसके अतिरिक्त दादरा, कहरवा, तिताला, दीपचन्दी, लावनी, ध्रुपद, गजल आदि का भी प्रयोग होता था। कहीं-कहीं अँग्रेजी धुनो का भी प्रयोग किया जाता था। लोक-गीतो की तर्जें भी अपनायी गयी।

प्राय हर नाटक मे गानो को प्रचुर परिमाण मे रखा जाता था, जिमसे सामाजिक बहुत प्रभावित होते थे और अनेक गीत एव धुने आजकल के सिने-गीतो की भाँति ही लोकप्रियता प्राप्त कर गली-गली मे गूँजने लगती थी।

पारसी नाटको की एक विशेषता यह रही है कि प्रत्येक नाटक मे आधिकारिक कथा के साथ हास्य रस की एक समानान्तर उपकथा भी रहती है, जिसे 'कॉमिक' कहते है। इस कॉमिक का मूल कथा से प्राय. कोई सम्बन्ध नही रहता। कॉमिक के दृश्य प्राय मूल नाटक के दो दृश्यो के बीच मे रखे जाते थे। इसके पीछे दो उद्देश्य थे – मूल नाटक के करुण आदि गम्भीर रस के प्रभाव मे कुछ समय के लिये सामाजिक की मुक्ति अथवा रसान्तरण और दूसरे, अगले दृश्य की सेटिंग के लिये रग-शिल्पियो को अवसर देना।[16] अँग्रेजी के नाटको के अभिनय मे दो दृश्यो के बीच मे गाने या बैंड-वादन की व्यवस्था रहा करती थी, जिसकी नकल पर सन् १८६८ मे सगीत का सर्वप्रथम प्रयोग केखुशरू काबरा जी के गुजराती नाटक 'बेजन अने मनीजेह' मे अगभूत होकर हुआ। सन् १८७१ मे नाटक के भीतर उपनाटक अथवा 'फार्स' (कॉमिक) का अभ्युदय हुआ। सर्वप्रथम यह प्रयोग भी गुजराती प्रहसन 'मिथ्याभिमान' मे हुआ, जिसमे मूल कथानक के बीच-बीच मे वाघजी और कुतुबनियाँ का फार्स दिया गया है। इसके विपरीत मराठी और बंगला के नाटको के अन्त मे फार्स देने की प्रथा थी। पारसी-उर्दू एवं पारसी-हिन्दी नाटको को नाटक के बीच मे फार्स या 'कॉमिक' देने की प्रथा गुजराती परम्परा मे प्राप्त हुई।

इन उपनाटको या कॉमिको मे क्रमश अश्लीलता आ जाने से विद्वानों मे उनके प्रति अरुचि उत्पन्न हुई, अत उनका सस्कार [illegible] तालिब' और बेताब' ने प्रहसन अथवा हास्य को नाटक का अंगभूत बना दिया, परन्तु पारसी मडलियो के [illegible]क दृष्टिकोण के कारण पृथक् कॉमिक का सर्वथा बहिष्कार नही किया जा सका। अनेक नाटककार बाद मे [illegible] पृथक् 'कॉमिक' का उपयोग करते रहे।

इन कॉमिको मे जिन गानो का उपयोग होता है, उनकी तर्जें हल्की-फुलकी होती हैं। तर्जें चाहे लोक-धुनो

पर आधारित हो चाहे शास्त्रीय संगीत पर, उनकी लय और ताल तीव्र गति के होते हैं। गानों में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, वे हास्योत्पादक होते हैं। 'तालिब'-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' में विश्वामित्र के शिष्य नक्षत्र का यह हास्य-गान आज भी हमारी स्मृतियों में ताजा है :—

'मन मैल मिटे, तन-तेज बढ़े, दे रंग-भंग का लोटा।
सौ रोग टलें, सौ सोग टलें, करे भंग अंग को मोटा॥'

('तालिब', 'सत्य हरिश्चन्द्र,' पृ० ८)

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि पारसी-हिन्दी रंगमंच के नाटकों की अपनी एक परम्परा, अपनी एक विशिष्ट नाट्य-पद्धति रही है, जिसे देख कर इस छाप के नाटकों को दूर से ही पहिचाना जा सकता है। ये नाटक बहुत बड़ी संख्या में लिखे गये, किन्तु अधिकांश नाट्य-साहित्य अप्रकाशित है। यदि समय के भीतर इसका प्रकाशन न हुआ, तो भय है कि हिन्दी का यह विशाल साहित्य कहीं लुप्त न हो जाय। प्रकाशित हुए बिना इस साहित्य का अध्ययन और सही मूल्यांकन करना सम्भव न हो सकेगा।

इस काल में मंडलियों के सभी नाटककार प्रायः 'मुन्शी' कहलाते थे और उनके उपनाम उर्दू के हुआ करते थे, भले ही नाटककार मुसलमान हो अथवा हिन्दू, यथा मुं० विनायक प्रसाद 'तालिब', मुं० नारायण प्रसाद 'बेताब', मुंशी आग़ा मुहम्मदशाह 'हश्र', मुं० मेंहदीहसन 'अहसन', मुं० जनेश्वर प्रसाद 'मायल' आदि। बाद में हिन्दी के नाटककारों को 'पंडित' के नाम से पुकारा जाने लगा।[१४] राधेश्याम कथावाचक इस प्रकार के प्रथम 'पंडित' नाटककार थे।

ये नाटककार प्रायः कम्पनी या मंडली के वेतनभोगी नौकर हुआ करते थे। 'बेताब' ने नाटककार का जीवन ५०) रु० मासिक से प्रारम्भ किया[१५] और अन्त में ७५०) रु० मासिक तक प्राप्त करने लगे थे।[१६] फिल्म कम्पनी में उनका वेतन बढ़ कर ५०००) रु० मासिक तक पहुँच गया था।[१७]

नाटककारों की भाँति कलाकार भी वेतनभोगी हुआ करते थे। प्रमुख भूमिकाएँ करने वाले कलाकारों को ५००) रु० से लेकर १५००) रु० प्रतिमाह तक वेतन मिला करता था। सामान्य कलाकारों अथवा नव-शिशिक्षुओं को ३०) रु० से ४०) रु० प्रति माह तक दिया जाता था।[१८] सन् १९१२ में १४-वर्षीया मिस मुन्नी बाई को बालीवाला विक्टोरिया में १५०)रु० मासिक वेतन मिलता था, किन्तु जमशेदजी एफ० मादन द्वारा पारसी अल्फ्रेड के खरीद लिये जाने पर वे मुन्नी बाई को १५००) रु० मासिक वेतन पर कलकत्ते ले आये, जहाँ उन्हें ५००) रु० प्रति माह घर-खर्च के लिए पृथक् से मिला करता था। अन्त में अपनी प्रसिद्धि और लोकप्रियता के बल पर अल्फ्रेड (मादन-प्रबन्ध के अन्तर्गत) की आय के २५ प्रतिशत की भागीदार बन गईं।[१९]

प्रत्येक कलाकार को अभिनय के साथ नृत्य, गायन-वादन आदि का ज्ञान होना आवश्यक था। अभिनेता के लिये शरीर-सौष्ठव और गोरा होना भी उसकी एक विशेषता समझी जाती थी। प्रायः अल्पवयस्क युवक ही स्त्री-भूमिकाएँ किया करते थे। मास्टर निसार, भोगीलाल, फिदा हुसेन आदि ने स्त्री-भूमिकाओं के लिये काफी ख्याति अर्जित की थी। सुन्दरी शरीफा, मिस गौहर, मिस मुन्नीबाई, मिस जहाँआरा कज्जन, मिस पुतली आदि स्त्रियों ने पारसी रंगमंच के अभिनय को नैसर्गिक बनाने की दिशा में महत् योगदान दिया। मास्टर निसार की उत्तरा, सीता और द्रौपदी, मिस गौहर की द्रौपदी और चिन्तामणि, भोगीलाल के कृष्ण, सोराब जी ओग्रा की खैरसल्लाह और राजा बहादुर, रहीम बख्श की फजीता की भूमिकाएँ बहुत प्रसिद्ध रही हैं। युवक-अभिनेत्री (ब्वाय—ऐक्ट्रेस) को, कृत्रिम बालों का चलन न होने के कारण, स्त्रियों-जैसे लम्बे केश रखने पड़ते थे।[२०] ये युवक-अभिनेत्रियाँ सहेलियों, नर्तकियों आदि के कार्य भी किया करती थीं। कुछ स्त्रियाँ पुरुष-भूमिकाओं के लिये भी विख्यात हैं, यथा 'हश्र' 'असीरे हिर्स' में शरीफा की पुरुष-भूमिका[२१] अथवा रायल थियेट्रिकल कं०, बम्बई की रहमू जान की 'महाभारत'

मे दुर्योधन की भूमिका । कुछ मंडलियों में गोरी मेमें भी काम करती थी ।

प्रमुख भूमिकाओ के लिये स्थानापन्न कलाकार रखे जाते थे, जिसमे दर्पवश तारक-अभिनेता (स्टार ऐक्टर) मडली को धोखा न दे सकें और मडली का उन पर पूरा नियत्रण बना रहे ।[१३]

कलाकारो के शिक्षण पर, विशेषकर शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण, बुलद आवाज, संवाद को कठस्थ करने, स्वर के उतार-चढाव आदि की शिक्षा पर बहुत जोर दिया जाता था । माइक न होने से जोर से बोलना और स्पष्ट उच्चारण तथा प्राम्प्टिग की व्यवस्था न रहने के कारण सवादो को कठस्थ करना आवश्यक होता था । इसीलिये पूर्वाभ्यास मे 'बडी कडाई' बरती जाती थी । किसी की भी भूमिका हो, सभी कलाकारो को उसकी ओर दृष्टि रख कर काम समझना पडता था । पूर्वाभ्यास के समय पान-सिगरेट का उपयोग और समाचार-पत्र या उपन्यास पढना निषिद्ध था ।[१३] प्रात ८ ॥ बजते ही पहली घटी बजती थी और ८ ।॥ बजे तक कलाकार को पूर्वाभ्यास-कक्ष मे पहुँच जाना पडता था । तीसरी घटी ९ बजे लगती थी, जबकि स्वय निर्देशक आता था । विलब मे आने वाले को माफी मांगनी पडती थी । पूर्वाभ्यास प्राय दो बजे तक चला करता था और देर तक पूर्वाभ्यास चलने पर दस मिनट का बीच मे अवकाश ('छुट्टी') दे दिया जाता था ।[१४]

सोराबजी ओग्रा, अमृत केशव नायक, राधेश्याम कथावाचक आदि उच्च कोटि के निर्देशक एव नाट्य-शिक्षक थे ।

प्रत्येक मडली मे स्थापना-कर्मचारियो, द्वारपालको (गेटकीपर्स) और नेपथ्य के रग-शिल्पियो के अतिरिक्त सौ से डेढ सौ तक सदस्य हुआ करते थे ।[१५] मडली के पास अपनी सीन-सीनरी, वस्त्राभरण, वृन्द-वादको आदि की पूर्ण व्यवस्था रहती थी । मच पर सभी श्रेणियो के सामाजिको को आकृष्ट करने के लिये और ट्रिको और ट्रान्सफर सीनो, टेबला, कुएँ (ट्रैप) आदि को प्रमुखता दी जाती थी । दिनशाजी ईरानी, वासुदेव दिवाकर आदि पारसी रगमच पर ट्रिक-सीनो के निर्माता के रूप मे प्रसिद्ध रहे हैं । 'कृष्ण-सुदामा' नाटक मे सुदामा की आँखो मे कुछ लग जाने पर पवन देवता आते और उसे कुएँ के तख्त (ट्रैप) पर बिठा कर नीचे ले जाते और अजन लगा कर आँखें ठीक कर देते हैं । 'गणेश-जन्म' मे दिनशा द्वारा निर्मित यन्त्रचालित नांदी, काम के भस्म होने तथा गणेश के शिरच्छेद, 'वीर अभिमन्यु' मे अभिमन्यु-जयद्रथ के खड्ग-युद्ध मे चिनगारियाँ निकलने, 'श्रवणकुमार' मे श्रवणकुमार के शरीर मे तीर घुसने आदि की ट्रिकों से सामाजिक चमत्कृत हो उठते थे । भडकीली और कृत्रिम पोशाको पर ये मडलियाँ प्रभूत धन व्यय करती थी । 'टेबला' अर्थात् झाँकी का प्रयोग चित्र-दृश्य दिखाने के लिये किया जाता था ।

रगदीपन के लिये प्रारम्भ मे मशाल, चालीस की बत्ती, किरासिन लाइट, कछुवा आदि का उपयोग किया जाता था ।[१६] किसी पात्र-विशेष की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये पार्श्व से गैस के हडे का प्रकाश डाला जाता था । महल को प्रकाशित करने के लिये परदे के पीछे से प्रकाश फेंका जाता था ।

कृत्रिम साधनो या यत्रो का उपयोग कर मेघ-गर्जन, जल-वृष्टि, विद्युत् चमकने आदि के ध्वनि-सकेत भी उत्पन्न किये जाते थे ।[१७] इन कृत्रिम साधनो या ध्वनि-यन्त्रो का वर्णन प्रथम अध्याय मे किया जा चुका है ।

पारसी रगमच ने सामाजिको को सस्ता मनोरजन प्रदान किया । नाटक की टिकट दरें कम रख कर मडलियो ने हिन्दी नाटको को जन-साधारण के बीच पहुँचाया और उन्हें असाधारण लोकप्रियता प्रदान की । टिकट की दरें प्राय. चार आने से लेकर तीन रुपये तक की रखी जाती थी,[१८] जो जन-साधारण की पहुँच के भीतर थी ।

अपनी लोकप्रियता के कारण अनेक मडलियाँ बेताब-युग के उपरात सन् १९३२-३३ या इसके अनन्तर

भी जीवित बनी रही, यद्यपि चलचित्रों के प्रादुर्भाव और विकास ने अन्ततः उनकी रीढ तोड दी ।

उपलब्धियाँ –संक्षेप में, पारसी-हिन्दी रगमच की उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं :–

१ पारसी-हिन्दी रगमच ने हिन्दी को अनेक नाटककार दिये और हिन्दी नाटको की सफलता देख कर उर्दू के नाटककार भी हिन्दी के नाटक लिखने लगे। ये सभी नाटककार प्रारम्भ मे 'मुंशी' और बाद मे 'पडित कहे जाने लगे ।

ये नाटककार मडलियो के वेतनभोगी नौकर हुआ करते थे। इनमें राधेश्याम कथावाचक योग्य निर्देशक और नाट्य-शिक्षक भी थे। 'वेताब' को रग-नाटककार के रूप मे ७५०) रु० मासिक वेतन मिलने लगा था। कथा-वाचक को भी ७५०) रु० मासिक वेतन मिलता था ।

२ नाटक मडलियो के मालिक उर्दू के सस्ते और कुरुचिपूर्ण नाटको को छोड कर हिन्दी नाटक खेलने लगे और उनमे उन्हे व्यावसायिक सफलता प्राप्त हुई । उत्तरोत्तर अधिकाधिक मडलियाँ हिन्दी के नाटक खेलने की ओर प्रवृत्त हुईं ।

३. पारसी-हिन्दी रंगमच ने हिन्दी को सर्वाधिक आदर्शवादी और सुखात नाटक दिये तथा बदी पर नेकी की तथा असत् पर सत् की जय सदैव इसी आदर्शवाद की स्थापना के लिये दिखलाई जाती रही है । यह आदर्श-वादिता धार्मिक आस्था और परम्परागत नैतिकता पर अधिक टिकी हुई है, व्यावहारिक यथार्थ और सामाजिक प्रगतिवादिता पर कम । इन नाटको मे स्त्री-शिक्षा और आधुनिक सभ्यता की खिल्ली प्राय उडाई गई है ।

४ पारसी मडलियो ने कुछ स्थायी रगशालाएँ बम्बई, कलकत्ता और अहमदाबाद मे बनाई, किन्तु प्रायः दौरे पर रहने के कारण वे जहाँ जाती, अस्थायी मँडवे बना कर अपना काम चला लेती थी। राधेश्याम कथावाचक के अनुसार न्यू अल्फ्रेड ने सन् १९२८ मे दिल्ली मे अपनी अस्थायी रंगशाला टीन डलवा कर उस स्थान पर बनवाई थी, जहाँ आजकल लाजपतराय मार्केट है। इसके रगमच (स्टेज) की चौडाई और लंबाई क्रमशः ७० फुट और ६० फुट रखी गई थी और नेपथ्य (ड्रेस रूम) के लिये अलग जगह की व्यवस्था थी। प्रेक्षागार (हाउस) ११५ फुट लम्बा और ६० फुट चौडा था। रगमंच के बीच में एक कुएँ का प्रबन्ध भी किया गया था।[११]

५. इन मंडलियों ने कृत्रिम अभिनय और नाट्य-शिक्षा की एक विशिष्ट पद्धति को जन्म दिया, जिसमे शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण, उच्च स्वर से सभाषण, व्यवहार-वैचित्र्य (मैनरिज्म) और संवादो को कठस्थ करना आवश्यक होता था ।

६. विस्तारित वेताब युग मे रगमच एव नाट्य-विषयक कुछ पत्र-पत्रिकाएँ भी निकली, जिनमे 'वेताब' की 'शेक्सपियर' पत्रिका और नरोत्तम व्यास का 'रगमच' साप्ताहिक उल्लेखनीय हैं। दोनो कलकत्ते से ही निकले थे ।

७. नये नाटक प्राय शनिवार को प्रारम्भ होते थे और रविवार को भी खेले जाते थे। बाद मे और विशेष रूप से सन् १९२५ से नाटक निरन्तर कई-कई रात्रियों तक खेले जाने लगे । 'तालिब' का 'सत्य हरिश्चन्द्र' एक हजार रात्रियो तक खेला गया। राधेश्याम-'वीर अभिमन्यु' की व्यापक लोकप्रियता को देखते हुए उसकी प्रदर्शन-रात्रियो की सख्या कई हजार मे कूती जा सकती है। नाटक प्रायः रात को ९॥-१० बजे से प्रारम्भ होकर २ बजे तक चला करते थे।[१०]

८. कुछ मडलियो, यथा रामहाल आदि को छोड़ कर, जहाँ दैनिक वेतन मिलता था, अधिकाश मंडलियों के कलाकारो को मासिक वेतन मिलता था, जो ३०) रु० से लेकर ७००) रु० तक हुआ करता था। स्त्री-भूमिकाएँ प्रायः पुरुषों, यथा मास्टर निसार, भोगीलाल, फिदा हुसेन, पुरुषोत्तम नायक, नैनूराम मारवाड़ी,

वल्लभ केशव नायक, मा० मोहन, नर्मदाशंकर, दोराबजी सचीनवाला, नसरवानजी सरकारी, मा० दीनानाथ मंगेशकर, पेस्टनजी मादन आदि द्वारा ही की जाती थी, किन्तु क्रमश. वेश्यायें, अंग्रेज अथवा अधगोरी स्त्रियाँ इनमे काम करने लगी। स्त्री-कलाकारो में मिस मेरी फेंटन,मिस गौहर, मिस शरीफा, मिस मुन्नी बाई, मिस जहाँ आरा कज्जन, पेशेंस कूपर, मिस पुतली[१४], मिस बिजली,[१५] मिस जरीना[१६], रहमू जान आदि प्रमुख थी। शरीफा और रहमू जान ने पुरुष-भूमिकाएँ भी की। यह पारसी-हिन्दी रंगमच की एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य भारतीय भाषाओं-बंगला, मराठी और गुजराती के रंगमचो पर दृष्टिगोचर नही होती।

पुरुष-कलाकारो मे कावसजी पालनजी खटाऊ, अमृतकेशव नायक, महबूब, मु० इस्मत अली, दादाभाई सरकारी, खुरशेदजी मेहरवानजी बालीवाला, भोगीलाल, अम्मूलाल, अब्दुल रहमान काबुली, नसरवानजी फरामजी मादन, जहाँगीर खमाता, सोराबजी ओग्रा, सोराबजी ठूँठी, सोराबजी केरेवाला, माणिकलाल मारवाड़ी, बेंजमिन, कैकी अदा जानिया, पूरनचन्द, खुरशेद जी बिलमोरिया आदि प्रमुख हैं। ये कलाकार प्राय नायक, भोजक, मीर, पारसी अथवा मारवाडी हुआ करते थे।

प्रत्येक मडली मे एक निदेशक हुआ करता था, जो या तो मडली का मालिक या फिर भागीदार, नाटककार अथवा कलाकार हुआ करता था। पारसी-हिन्दी रंगमच के निर्देशको मे प्रमुख हैं—पेस्टनजी घनजी भाई मास्टर, हीरजी भाई खमाता, दादाभाई रतनजी ठूँठी, दादाभाई पटेल, जमशेदजी मादन, कावसजी पालनजी खटाऊ, खुरशेदजी बालीवाला, जहाँगीर खमाता, सोराबजी ओग्रा, अमृतकेशव नायक, भोगीलाल, राधेश्याम कथावाचक, सोराबजी केरेवाला, प्रेमशंकर 'नरसी', त्रिलोचन झा आदि। इनमे से कुछ संगीत, नृत्य आदि कलाओ मे भी पारंगत थे। फलत इन निर्देशको ने नाट्य-निर्देशन का एक निश्चित मानदंड स्थापित किया, जिसने पारसी-हिन्दी रंगमच को देश-विदेश मे सर्वत्र लोकप्रियता, समृद्धि और ख्याति प्रदान की।

(५) बेताब युग तथा विस्तारित बेताब युग के नाटककार और उनका कृतित्व (१८८६ १९३७ ई० तक)

पारसी रंगमच, जो मूलत. पारसियो द्वारा संचालित गुजराती रंगमच रहा है, एक साथ गुजराती, उर्दू और हिन्दी रंगमचो का जनक रहा है। प्रारम्भ मे पारसी नाट्य क्लबो अथवा मडलियो के मालिक और कलाकार पारसी रहे हैं। इन मडलियो के लेखक भी पारसी शिक्षित सज्जन थे, जिन्होने एक ओर फारसी ग्रन्थो, यथा 'शाहनामा', 'आरब्य सहस्र रजनी' आदि की कथाओ के आधार पर और दूसरी ओर भारत मे पारसियो के जीवन को लेकर कुछ मौलिक नाटक गुजराती मे लिखे और तीसरी ओर शेक्सपियर आदि अंग्रेजी के नाटककारो के नाटको के गुजराती मे अनुवाद किये।

इसके बाद पारसी रंगमच के विकास की दूसरी अवस्था प्रारम्भ हुई। सन् १८६७ के लगभग गुजराती नाटककारो ने इस क्षेत्र मे प्रवेश किया और अपनी नाटक मडलियाँ भी बनानी प्रारम्भ कर दी। सन् १८७८ और इसके बाद से गुजराती के कलाकार भी जो नायक, भोजक, मीर, मारवाड़ी (राजस्थानी) आदि जातियो के थे, मडलियो मे आने लगे। इस प्रकार पूर्णत गुजराती मडलियो के अभ्युदय के कारण पारसी नाटक मडलियो का ध्यान उर्दू और हिन्दी के नाटको की ओर गया। गुजराती मडलियो के नाटको मे भी पारसी नाट्य-पद्धति को ही मुख्य रूप से अपनाया गया। ये मडलियाँ कभी-कभी उर्दू-हिन्दी के नाटक भी खेला करती थी।

पारसी रंगमच के विकास के तीसरे और चौथे चरण हैं—क्रमशः उर्दू और हिन्दी रंगमचो का आविर्भाव। गुजराती का क्षेत्र सीमित था और दूसरे, गुजराती मडलियाँ भी प्रतिस्पर्धा मे खड़ी हो चली। फलस्वरूप पारसी मडलियो के संचालको का ध्यान उन मराठी नाट्य-मडलियो की ओर गया, जो महाराष्ट्र के बाहर हिन्दी नाटक

मेल कर धन और यश का अर्जन कर रही थी। इधर अमानत की 'इन्दरसभा' भी उत्तरी भारत मे सफलता और लोकप्रियता प्राप्त कर उन्नीसवी शती के आठवें दशक मे बम्बई पहुँच चुकी थी और गुजराती मे अनूदित होकर खेली जा चुकी थी। अत ऐसे नाटककारो की खोज प्रारम्भ हुई, जो उर्दू या हिन्दी मे अथवा दोनो भाषाओं में नाटक लिख सकें।

पारसी नाटककार 'आराम'—प्रारम्भ मे, किसी उपयुक्त नाटककार के न मिलने पर नसरवानजी खान साहेब 'आराम' नामक एक पारसी नाटककार ने स्वय हिन्दी मे नाटक लिखने का उपक्रम किया और भारतीय कथानको को लेकर 'गोपीचंद', 'शाकुन्तल', 'पदमावत', 'छैलबटाऊ-मोहनारानी', 'चन्द्रावली' आदि तथा पारसी अथवा मुसलमानी कथाओ को लेकर 'लैला-मजनूं', 'गुलबा-सनोवर', 'लालो-गौहर', 'जहाँगीरशाह-गौहर', 'हातमताई', 'बेनज़ीर-बदरेमुनीर' आदि सगीतक लिखे।[१५] 'गोपीचद' आदि भारतीय कथानको पर लिखे सगीतकों की भाषा हिन्दी है। 'गोपीचद' के एक दोहे को इसी अध्याय के प्रारम्भ मे उद्धृत कर इस बात की पुष्टि भी की जा चुकी है। इसके विपरीत 'लैला-मजनूं' आदि पारसी-मुसलमानी कथानकों पर अवलबित नाटको की भाषा मे उर्दू के शब्द अधिक आये हैं। अधिकाश नाटको मे सरल और व्यावहारिक हिन्दी का प्रयोग हुआ है। अन्तिम कुछ नाटक उर्दू-प्रधान हैं। सगीतक होने के नाते इनमे पद्य और गीतो की बहुलता है।

अनुमान है कि 'आराम' ने अपने अधिकाश नाटक उन्नीसवी शती के आठवें दशक में लिखे। कुछ विद्वानों के अनुसार उनके 'गोपीचद'[१६] और 'शाकुन्तल'[१७] का अभिनय क्रमश: सन् १८७४ तथा १८७७ में विक्टोरिया नाटक मडली द्वारा किया गया था। इससे भी उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

मुस्लिम-हिन्दू नाटककार—उन्नीसवी शती के अन्तिम दो दशको मे उर्दू रगमच ने जोर पकडा और इस बीच एकाध हिन्दू लेखक को छोड कर मुसलमान नाटककार ही, जिन्हें 'मु शी' कहा जाता था, मुख्य रूप से सामने आये। इन मुसलमान नाटककारों में प्रमुख थे . मु० मुहम्मद मियाँ 'रौनक', बनारसी, मु० हुसैन मियाँ 'जरीफ़', मु० मुरादअली 'मुराद', लखनवी, मु० नज़ीर बेग 'नज़ीर', सैयद अब्बास अली, मु० मेहदीहसन 'अहसन', लखनवी और मु० आगा मुहम्मदशाह 'हश्र', काश्मीरी। केवल मु० विनायक प्रसाद 'तालिब' ही इस अवधि के प्रमुख हिन्दू नाटककार थे।

'रौनक' ने 'इन्साफे-महमूदशाह' (१८८२ ई० या पूर्व) उर्दू मे लिखा, जो बहुत लोकप्रिय हुआ। उन्होने 'आराम' के 'गोपीचद' का भी उर्दू मे अनुवाद किया, यद्यपि 'रौनक' ने मूल लेखक का कोई उल्लेख नहीं किया है।[१८]

'ज़रीफ़' ने लगभग ढाई दर्जन नाटक उर्दू मे लिखे, जिनमे प्रमुख है-'चाँदबीबी', 'बुलबुले बीमार', 'शीरी-फरहाद', 'लैला-मजनूं', 'छैलबटाऊ', 'चतुरा बकावली', 'अलीबाबा', 'नौरगे इश्क', 'बदरे-मुनीर', 'इशरतसभा', 'खुदादाद', 'खुदादोस्त', 'हातिमताई', 'लाल-गौहर', 'नासिर-हुमायूँ' आदि।

'मुराद' ने 'खुरशीदे ज़रनिगार',[१९] 'अलादीन', 'हार-जीत', 'धूपछाँह', 'काली नागिन', 'अलीबाबा चालीस चोर', 'नक्श सुलेमानी', 'अख्तरे हिन्द', रोहिणी', 'लाल-गौहर', 'कल्प चिराग', 'बुलबुले बीमार' आदि १६ नाटकों, नज़ीर ने 'सत्य हरिश्चन्द्र अथवा तमाशा गर्दिशे तकदीर' (१८९०-९१ ई०), 'नई चद्रावली लासानी अथवा गुलशन पाकदामनी' (१८९६ ई०), 'माहीगीर', 'बुलबुल', 'इंदरसभा', 'शकुन्तला'[२०] (१८९९ ई० या पूर्व) और औलाद-अली ने 'गुलरुज़रीना'[२१] नाटको का प्रणयन किया।

'तालिब', 'हश्र' और 'अहसन' में से प्रथम दो नाटककारों ने उर्दू-हिन्दी, दोनों भाषाओं में नाटक लिखे, जबकि 'अहसन' के नाटको की भाषा उर्दू-बहुल होते हुए भी इस अनुमान में कोई सन्देह नही दीखता कि उनकी बाह्य रूपरेखा हिन्दी-नाटकों की है। 'तालिब' मुख्य रूप से हिन्दी के नाटककार थे और युग की आवश्यकता की पूर्ति के लिये उर्दू के भी नाटक लिखे, जबकि इसके विपरीत 'हश्र' मूलतः उर्दू नाटककार थे और युग के साथ

चलने की आकांक्षा को लेकर हिन्दी के नाटक लिखने में हाथ लगाया तथा हिन्दी के भी नाटककार बन गये। उनकी लेखनी में ओज, प्रवाह और माधुर्य है, जिसके द्वारा 'हश्र' ने अपने विचारों, कल्पनाओं तथा नवीन उद्भावनाओं को नाटक का जामा पहनाने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। 'बेताब' भी 'हश्र' और 'अहसन' को 'स्टेज के दो काबिल नाटकनवीस' मानते थे।[८९] आगा 'हश्र' ने 'बेताब' के प्रथम लिखित नाटक 'हुस्नेफरंग' (१९०२ ई०, प्र०) पर अपनी सम्मति भी लिख कर दी थी।[९०]

नाटक के क्षेत्र में 'अहसन' आगा 'हश्र' से ज्येष्ठ थे और 'हश्र' उनका बहुत अदब करते थे।

(१) मुं० विनायक प्रसाद 'तालिब' (१८५५-१९१९ ई०)–विक्टोरिया नाटक मंडली, बम्बई के नाटककार मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' वाराणसी के रहने वाले थे और राजस्थान के भू० पू० राज्यपाल डॉ० सम्पूर्णानन्द के निकट सम्बन्धी थे।

उनका जन्म बनारस के कानूनगो मुं० रौनक लाल के यहां सन् १८५५ ई० में हुआ था। सन् १८६९ में उनकी स्कूली शिक्षा समाप्त हो गई। सन् १८८१ में मुख्तारी की परीक्षा उत्तीर्ण की, किन्तु बाद में उन्होंने कलकत्ते में डाकघर में नौकरी कर ली। वहीं उन्हें नाटक लिखने की प्रेरणा मिली और वे नाटक लिखने लगे। सन् १८८४ में विक्टोरिया नाटक मंडली द्वारा उनका नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेला गया। तभी से वे इस मंडली के विधिवत् नाटककार बन गये और सन् १९११ तक वहीं बने रहे। वे मंडली के साथ बर्मा, सिंगापुर और जावा तक गये थे। सन् १९११ में वे बनारस लौट आए, जहाँ १० नवम्बर, १९१९ को उनकी मृत्यु हो गई।[९१] 'तालिब' ने संगीतकों (ऑपेराओं)-सहित प्रायः १० नाटक लिखे।

उनके हिन्दी के मौलिक नाटक हैं-'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८८४ ई०), 'नल-दमन उर्फ नल-दमयन्ती' (१८८४ ई०), 'गोपीचन्द', 'रामायण', 'विक्रम-विलास' और 'कनकतारा'।

सत्य हरिश्चन्द्र रचना-काल की दृष्टि से 'तालिब' का 'सत्य हरिश्चन्द्र' रणछोड़भाई उदयराम के 'हरिश्चन्द्र नाटक' (१८७० ई०), मनमोहन वसु के 'हरिश्चन्द्र' (१८७४ ई०) तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'सत्य हरिश्चंद्र' (१८७५ ई०) की अपेक्षा एक परवर्ती रचना है। रणछोड़भाई का 'हरिश्चन्द्र नाटक' मूल तमिल नाटक के अंग्रेजी अनुवाद का गुजराती अनुवाद है। मनमोहन वसु और भारतेन्दु के नाटकों के कथानकों और पात्रों के नामकरण में बहुत कुछ साम्य है, किन्तु 'तालिब' ने मूल कथानक में कुछ परिवर्तन किये हैं, यथा विश्वामित्र की प्रेरणा से इन्द्र-सभा की अप्सरा का वेश्या बन कर हरिश्चन्द्र की राजसभा में आकर नृत्य कर प्रणय-निवेदन करना तथा राजछत्र और सिंहासन माँगना, विश्वामित्र के शिष्य नक्षत्र का आविर्भाव कर हास्य का विधान, जंगली जानवरों का उत्पात और हरिश्चन्द्र द्वारा उनका वध किये जाने पर विश्वामित्र द्वारा फटकार, रानी तारामती के ऊपर चोरी और हत्या के अभियोग में हरिश्चन्द्र को उसके वध की आज्ञा और शिव का आकर हरिश्चन्द्र को कुल्हाड़ी चलाने से रोकना आदि। नाटक में हरिश्चन्द्र की रानी का नाम तारामती बताया गया है, जो मनमोहन और भारतेन्दु के नाटकों में शैव्या बन कर आई है। नाटक के अन्त में शिव, इन्द्र, वशिष्ठ और विश्वामित्र आते हैं, तथा शिव मृत रोहित और राजकुमार दोनों को पुनर्जीवित कर हरिश्चन्द्र को मुकुट पहिनाते हैं, जबकि भारतेन्दु के नाटक में नारायण रोहित को जीवनदान देते और ब्रह्मलोक की प्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं। दोनों नाटकों में विश्वामित्र हरिश्चन्द्र को उनका राज्य लौटा देते हैं।

पारसी नाट्य-विधान के अनुसार 'सत्य हरिश्चन्द्र' तीन अंक का नाटक है और प्रत्येक अंक में क्रमशः पाँच, चार तथा सात 'सीन' हैं। प्रारम्भ में कोई पृथक् मंगलाचरण अथवा सूत्रधार-नटी का संवाद न होकर नाटक के अंग-रूप में इन्द्र-सभा का विधान किया गया है, जिसमें सभी देवता और अप्सराएँ इन्द्र की स्तुति गाती हैं। यह 'कोरस' के ढंग का 'गाना' है। इन्द्रसभा के इस दृश्य का विधान भारतेन्दु के एतद्विषयक दृश्य के समान ही

निरर्थक है, क्योंकि सामाजिक के यह जान लेने पर कि हरिश्चन्द्र और तारामती की परीक्षा पूर्वायोजित है, उसका औत्सुक्य कम हो जाता है। 'तालिब' भी भारतेन्दु की भाँति तत्कालीन काशी नगरी के साथ गंगा का सम्बन्ध जोड़ कर काल-दोष के भागी बने हैं। हरिश्चन्द्र के समय मे गंगा का अवतरण ही नहीं हुआ था।

नाटक की भाषा हिन्दी है, किन्तु उर्दू के चमन, दौलते दुनियाँ, रोशन, दरबार, गुलजार, गुलशन, आज-माइश, रूबरू, बेअदब, फरियाद जैसे बोलचाल के उर्दू के शब्दों का खुला प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है। पात्रानुसार भाषा के सिद्धान्त के अनुसार ग्रामीणों से देहाती बोली तथा गुजराती बनिये, मरहठे और बँगाली द्वारा क्रमशः गुजराती, मराठी तथा बँगला बुलवाई गई है।[१८] संवाद प्रायः तुकान्त हैं। गानों के अतिरिक्त संवादों में यत्र-तत्र पद्य का प्रयोग हुआ है जो साधारण स्तर का है। कुछ स्थलों पर कवित्त के रूप में छन्दबद्ध पद्य भी आये हैं[१९], जो वास्तव मे कवित्वपूर्ण हैं। गद्य-संवाद भी कहीं-कहीं बहुत सुन्दर, अर्थपूर्ण एव ओजयुक्त हैं।[२०] कॉमिक नाटक का अंग होकर ही आया है और सम्भवतः इसी के लिये विश्वामित्र के शिष्य नक्षत्र और विदूषक मगल मिश्र की अवतारणा की गई है। नक्षत्र द्वारा गाया गया हास्य-गीत 'मन मैल मिटे तन तेज बड़े, दे रंग भंग का लोटा' बहुत लोकप्रिय हुआ।

'सत्य हरिश्चन्द्र' में होरमसजी ताँनरा ने हरिश्चन्द्र की तथा मेरवानजी मेहता (प्रारम्भ में अमृतसर की मिस बुदाँ) ने तारामती की भूमिका की। ताँनरा के हरिश्चन्द्र को देख कर सामाजिकों की आँखें भीग उठती थीं। प्रारम्भ में रोहित की भूमिका मा० मोहन ने की, जिसे बाद में रुस्तम सचीनवाला करते रहे। नक्षत्र के रूप में स्वयं बालीवाला मच पर अवतरित होते थे।[२१]

उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त 'तालिब' ने कुछ उर्दू के नाटक भी लिखे हैं, यथा दिलेर-दिल शेर', 'लैलो-निहार', 'खानदाने हामान', 'ताईदे अजदानी', 'निगाहे गफ़लत', 'अबुलहसन-हारुनरशीद' (१८८४ ई०), 'फतहजंग', 'रंगीन बकावली' आदि। इसके अतिरिक्त 'तालिब' ने 'फसाना अजायब' (१८८४ ई० के पूर्व), 'जौर सामाँ' (१८८४ ई० के पूर्व), 'सगीत बकावली' आदि सगीतक (ऑपेरा) भी लिखे।

(२) मुंशी मेंहदीहसन 'अहसन', लखनवी—न्यू अल्फ्रेड के नाटककार मु० मेंहदीहसन 'अहसन' लखनऊ के निवासी थे। वयोवृद्ध और कुशल नाटककार होने के नाते 'हश्र' और 'बेताब' उनका बहुत सम्मान करते थे। पारसी रंगमंच पर उनकी कलम की धाक थी। 'अहसन' ने आठ मौलिक नाटक लिखे—'चलतापुर्जा' (१९३५ ई०, प्र०), 'भूल भुलैयाँ' (१९३५ ई०, प्र०), 'शरीफ बदमाश', 'चन्द्रावली' (१८९५ ई० या पूर्व), 'दस्तावेज़े मुहब्बत' (१८९५ ई०), 'बकावली', 'जहरे इश्क' और 'मुहब्बत का फल'। 'अहसन' का 'दिलफरोश' (१९०० ई०) शेक्सपियर-'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का, 'खूने नाहक उर्फ मारे आस्तीं' (१८९८ ई०) 'हैमलेट' का तथा 'बज़्मे फ़ानी उर्फ फीरोज-गुलनार' (१८९८ ई०) 'रोमियो-जूलियट' का छायानुवाद है।

चलता पुर्जा . नाटक मगलाचरण और प्रस्तावना से प्रारम्भ होता है, जो मूल नाटक से पृथक् है। मंगला-चरण के अन्तर्गत फरिश्ते हिन्दी में ईश्वर की प्रार्थना करते हैं—'तूही दीनानाथ, निरंजन, दुःख-भंजन, निराकार सब संसार में' और बाद मे दो फ़रिश्ते-फ़रिश्तए-अक्ल और फ़रिश्तए-अमल नाटक की विषय-वस्तु और कथानक पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार बाह्यतः सस्कृत नाट्य-पद्धति का अनुसरण किया गया है, किन्तु अंक-विभाजन पाश्चात्य नाट्य-पद्धति के अनुसार दृश्यों में किया गया है। नाटक मे तीन अंक हैं और प्रथम अंक में सात, द्वितीय अंक में ग्यारह तथा तृतीय अंक में चार दृश्य हैं।

नाटक के संवादों में गद्य अधिक, पद्य कम हैं। नाटक के पात्र प्रायः सभी मुसलमान हैं, अतः उनकी संस्कृति और भाषा को दृष्टि में रख कर उर्दू के शब्दों का बहुतायत से प्रयोग हुआ है, किन्तु नाटक की भाषा कुछेक स्थलों को छोड़ सर्वत्र प्रायः सरल हिन्दी या सरल उर्दू कही जा सकती है। अनेक गीत हिन्दी में ही हैं, यथा प्रस्तावना

के अन्त का गाना (पृ० ५), प्रथम अक के तीसरे दृश्य मे नजमा का गाना (पृ० २२), और पांचवें दृश्य मे शुगूफ़ा की सहेलियो का गाना (पृ० ३६), दूसरे अक के चौथे दृश्य के प्रारम्भ मे मनीजा का गाना (पृ० ८१) और अन्त में मनीज़ा तथा उसकी सहेलियो का गाना (पृ० ८३) आदि । द्वितीय अक के छठे दृश्य के प्रारम्भ में एक गीत पजाबी मे भी दिया गया है ।

कॉमिक नाटक का अगभूत होकर आया है । सिकन्दर खाँ की पत्नी अछूती के दूसरे पति और नाजिम की पत्नी शुगूफ़ा के विवाह को लेकर हास्य की सृष्टि की गई है । नाटक सुखात है ।

'चलता पुर्जा' मे तत्कालीन अनेक नाटककारो, यथा हुसैन मियाँ जरीफ़, आगा 'हश्र', नारायण प्रसाद 'बेताब', 'आरज़ू' आदि के लगभग दो दर्जन नाटको के नामो का श्लेषात्मक प्रयोग किया है।[66] अपने भी कई नाटकों का उल्लेख उसमे किया है । 'जरीफ़' के 'अलीबाबा' और 'खुदादाद' का, 'हश्र' के 'खूबसूरत बला', 'ख्वाबे हस्ती', 'अछूता दामन', 'असीरे हिर्स' तथा 'शहीदे नाज' का, 'बेताब' के 'कसौटी' (जो गुजराती के 'दुरगी दुनिया' का अनुवाद है), 'अमृत', 'मीठा जहर' और 'जहरी साँप' का, और मु० 'आरज़ू' के 'खूने नाहक' का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि उपर्युक्त सभी नाटक 'चलता पुर्जा' के लेखन के पूर्व ही लिखे और खेले जा चुके थे । 'अहसन' ने इसी क्रम मे अपने 'चलता पुर्जा' के अतिरिक्त जिन अन्य नाटको का उल्लेख किया है, वे हैं : 'चन्द्रावली', 'दिल-फरोश', 'भूल भुलैया', 'शरीफ बदमाश' और 'बकावली' । इससे यह सिद्ध होता है कि 'चलता पुर्जा' 'चन्द्रावली' आदि पूर्वोक्त नाटको से बाद की रचना है । इसके अतिरिक्त दो गुजराती नाटको के नाम भी आये हैं-'बागे-बहिश्त' और 'दुरगी दुनिया', जिनके लेखक थे पारसी नाटककार बमनजी काबराजी ।

कहते हैं कि यह किसी गुजराती उपन्यास से लिये गये कथानक का नाट्य-रूपान्तर है।[67]

भूल-भूलैया 'चलता पुर्जा' के विपरीत इस नाटक का मगलाचरण नाटक की नायिका दिलारा द्वारा ईश्वर-प्रार्थना के रूप मे नाटक का अगभूत बनाकर रखा गया है-'प्यारा नाम निरजन, रख तू पत सुल्तान जगत-कर्तार, सकल राजन बरनत धन-धन ।' कोई प्रस्तावना नही है और नाटक प्रार्थना के बाद तत्काल प्रारम्भ हो जाता है । यह चार अको का नाटक है और प्रत्येक अक मे क्रमश पांच, सात, बारह तथा तीन 'सीन' हैं । प्रथम अक का पाँचवाँ 'सीन' केवल मात्र एक दृश्य-विधान है, जिसमें दरिया के पुल पर से वृष्टि और घन-गर्जन के बीच गुजरने वाली रेल गाड़ी, बिजली गिरने से पुल के टूटने पर, नदी मे गिरती दिखाई गई है । यही रेल-दुर्घटना 'भूलभुलैया' की नायिका दिलारा और उसके भाई जाफर को एक-दूसरे से अलग कर, भ्रातियो और भूलभुलैया की सृष्टि करती है । फलत दिलारा हकीम जफ़र के रूप मे रह कर नवाब जमील के साथ और जाफर, हकीम जफ़र के मुख-साम्य के कारण, शाहज़ादी जमीला के साथ दाम्पत्य-सूत्र मे बँध जाते हैं और अन्त मे दिलारा तथा जाफर भी एक-दूसरे को पा जाते हैं । इस पर 'शेक्सपियर' के 'कॉमेडी आफ एरर्स' नाटक का प्रभाव है, किन्तु बहुत क्षीण । 'अहसन' ने इस प्रभाव को अपने ढग से ग्रहण कर अपनी कल्पना से चार चाँद लगा दिये हैं ।

'चलता पुर्जा' के विपरीत 'भूलभुलैया' मे गद्य-पद्य दोनो काफी मात्रा मे हैं और दिलारा तथा नवाबजमील के सवाद प्राय पद्य मे हैं । यह पद्य-सवाद स्थल-विशेषो पर काव्यपूर्ण, चुटीला तथा हाजिर-जवाबी से भरा हुआ है, यथा—

"दिलारा—मगर हुज़ूर !
इश्क वह शोला है, जो दिल को जला देता है ।
न० जमील—हुस्न वह शब है, जो जलते को बुझा देता है ।।
दिलारा—इश्क बीमार का आज़ार बढा देता है ।
न० जमील—हुस्न बीमारे-मुहब्बत को दवा देता है ।।" (पृ० ५३)

पात्रानुसार भाषा के सिद्धान्त के अनुसार रेलवे गार्ड और मारवाड़ी के सम्वाद में आधुनिक शिक्षितों और गोरों की साहबी बोली का प्रयोग किया गया है। अँग्रेज द्वारा अँग्रेजी बुलवाई गई है। कुली मराठी का गीत गाता है (पृ० ११)। सामान्यतः मुसलमान पात्रों की भाषा उर्दू है, किन्तु वे यदा-कदा उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी में भी गाने गाते हैं।[१५] चौथे अंक के तीसरे सीन में भाट-वेशी जमील के मुसाहिब अब्दुल करीम द्वारा हिन्दी कवित्त और सवैये भी कहे गये हैं।[१६] तुकान्त सम्वाद की भरमार है। अब्दुल करीम और उनकी बदचलन पत्नी वफादार के संवादों द्वारा विनोद और वाक्-चातुर्य का सृजन किया गया है। कॉमिक को कथानक का अंगभूत बना कर रखा गया है। नाटक सुखान्त है।

'भूलभुलैंया' का अभिनय न्यू अल्फ्रेड द्वारा किया गया, जो डॉ० विद्यावती नम्र के अनुसार तीन वर्ष तक चलता रहा। इसके दो प्रमुख आकर्षण थे। पहला आकर्षण था– मंच पर पटरी पर चलती छोटी ट्रेन का प्रदर्शन तथा दूसरा आकर्षण था–सोराबजी ओग्रा द्वारा अब्दुल करीम की भूमिका।[१७]

शरीफ बदमाश 'शरीफ बदमाश' में 'अहसन' ने एक नया प्रयोग किया है और 'हम्देवारी' को भी हिन्दी गाने के रूप में ही रखा गया है तथा प्रस्तावना 'प्रोलोक' ('प्रोलॉग') द्वारा पद्य में प्रस्तुत की गई है। हम्देवारी का गाना– 'लाज-शरम रख ले प्रभु जी मोरी' रामिश्गरान द्वारा गाया जाता है और 'प्रोलोक' के गाने में राधेश्यामी 'रामायण' के छन्दों और तर्जों का प्रयोग किया गया है। प्रोलोक अपने गाने में नाटक की कथा पर प्रकाश डालते हुए दुष्कृत्यों के प्रतिफलन तथा दंड की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए कहता है—'इस खेत में बीज जो बोयेगा, वैसा ही वह फल पायेगा' (पृ० ३)। दुष्कर्म पर सत्कर्म और सत्य की विजय के साथ पार्वीना और नौशाद के निक़ाह के साथ नाटक को सुखान्त बना दिया गया है।

तीन 'बाबों' (अंकों) के इस नाटक में प्रत्येक 'बाब' में क्रमशः बारह, पाँच तथा एक 'सीन' है।

'शरीफ बादमाश' के सम्वादों की भाषा सरल हिन्दी या उर्दू है। इसमें लम्बे स्वगत भी आये हैं, यथा फौलाद का आत्म-चिंतन एवं पश्चात्ताप (बाब पहला, सीन पाँचवाँ, पृ० १६ से १८ तक पूरा सीन) एवं शरारतबेग की हुस्नपरस्ती और बुढ़ापे में किसी सुन्दरी से विवाह की लालसा (बाब दूसरा, सीन दूसरा, पृ० ७९-८०, पूरा दृश्य)। सम्वाद गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। हिन्दी गानों की बहुलता है। दूसरे बाब के चौथे सीन में रामिश्गरान द्वारा एक पंजाबी गीत भी गवाया गया है। एकाध स्थल पर, विशेषकर कॉमिक दृश्य के बीच 'बोसे' और 'गले मिलने' की व्यवस्था से नाटक में अश्लीलता को कुछ प्रश्रय मिला है (पृ० १०१-१०२)। कॉमिक नाटक का अंगभूत होकर ही आया है।

(३) मुन्शी मुहम्मदशाह आगा 'हश्र', काश्मीरी (१८७९-१९३५ ई०)–उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी तथा अँग्रेजी जानने वाले बहुभाषाविद् मुहम्मदशाह आगा 'हश्र' का जन्म ४ अप्रैल, १८७९ को बनारस में हुआ था। उनके पिता ग़नीशाह आग़ा सन् १८६८ में शाल-दुशालों का अपना धन्धा लेकर काश्मीर से बनारस में आ बसे थे। 'हश्र' को बचपन से ही शायरी करने, नाटक देखने और लिखने का शौक लग गया। सन् १८९७ में उन्होंने अपना प्रथम नाटक 'आफताबे मुहब्बत' 'अहसन' के 'चन्द्रावली' नाटक के अनुकरण पर लिखा था।[१८] सन् १८९९ में आग़ा 'हश्र' ने बम्बई जाकर पारसी अल्फ्रेड नाटक मंडली में तीस रुपये मासिक पर नाटककार की नौकरी कर ली। पारसी अल्फ्रेड ने उनका प्रथम नाटक 'मुरीदे शक' (१८९९ ई०) प्रस्तुत किया[१९] और 'असीरे हिर्स' (१९०५ ई०) और 'खूबसूरत बला' (१९०७ ई०) तक आते-आते 'हश्र' नाटककार के रूप में लोकप्रिय हो गये 'हश्र' के भानजे अब्दुल कुद्दूस 'नैरंग' ने 'असीरे हिर्स' का मंचन-काल १९०३ ई० या पूर्व बताया है।

कलकत्ते में मादन थियेटर्स की स्थापना (१९१७ ई०) के कुछ काल बाद आगा 'हश्र' भी कलकत्ते आ गये और उनका वेतन बढते-बढते १०००) रु० मासिक तक पहुँच गया। उन्होंने मादन थियेटर्स के लिये 'दिल की प्यास,' 'धर्मी बालक या गरीब की दुनिया', 'मधुर मुरली', 'वनदेवी' आदि नाटक लिखे। 'मधुर मुरली' लिखने के बाद 'हश्र' कांग्रेस में सम्मिलित हो गये और उसके बाद 'भारतीय बालक' की रचना की थी, जिसमे राष्ट्रीयता के स्वर मुखरित हुए हैं। कांग्रेस में आकर (१९२१ ई०) वे चूडीदार पायजामा, खद्दर का कुर्ता और गांधी टोपी पहनने लगे थे।

'हश्र' ने लाहौर में शेक्सपियर नाटक मडली सन् १९१३ में बनाई, जो कई नगरो की यात्रा के बाद अमृत-सर में १९१८ ई० में टूट गई। इसके पूर्व 'हश्र' ने ग्रेट अल्फ्रेड नाटक मडली की स्थापना की थी, किन्तु इस कार्य में भी उन्हें सफलता न मिली। फलत उन्होंने नाटककार ही बने रहने का निश्चय किया।[155] प० राधेश्याम कथा-वाचक के अनुसार वे बडे मनमौजी और खर्चीले थे, अत उन्होंने आजीवन विवाह नहीं किया।[156] 'नैरंग' का कथन है कि 'हश्र' की धर्मपत्नी थी, जिनका सन् १९१८ मे देहान्त हो गया था। यद्यपि उनकी एकमात्र सन्तान नादिरशाह की शैशव में ही मृत्यु हो गई थी, किन्तु पत्नी की मृत्यु के बाद 'हश्र' ने दूसरा विवाह नहीं किया।

'हश्र' ने अपने अन्तिम समय में फिल्मों के लिये भी कुछ गिने-नाटक लिखे। उन्होंने हश्र पिक्चर्स के नाम से अपनी एक फिल्म कम्पनी भी बनाई थी, जिसके लिये उन्होंने 'भीष्म प्रतिज्ञा' नाटक लिखा था, किन्तु सन् १९३५ में मृत्यु हो जाने से 'हश्र' उसकी शूटिंग पूरी न कर सके।[157]

'अहसन' के नाटकों का बाह्य रूप हिन्दी नाटकों-जैसा है, किन्तु आगा 'हश्र' ने पूर्ण-रूपेण कई हिन्दी नाटक लिखे। उनके मौलिक हिन्दी नाटक हैं – 'सीता वनवास' (पूर्वार्ध, १९२८ ई०), 'दिल की प्यास' (१९२८ ई०), 'धर्मी बालक या गरीब की दुनिया' (१९२९ ई०), 'भारतीय बालक' (१९२९ ई०), 'भीष्म – प्रतिज्ञा', 'मधुर-मुरली,' 'गगावतरण', 'वनदेवी' तथा 'श्रवणकुमार'। 'हश्र' का एक और हिन्दी नाटक है – 'भक्त सूरदास', जो उनकी मौलिक कृति नहीं है।

सीता-वनवास (पूर्वार्ध) · 'सीता वनवास' के सह-लेखक हैं – आगा 'हश्र' तथा 'बेताब'। आगा 'हश्र' ने नाटक का पूर्वार्ध और 'बेताब' ने उसका उत्तरार्ध लिखा है। 'हश्र' ने इसका पूर्वार्ध महाराजा चरखारी के यहाँ रह कर लिखा था। दोनो भागो को इस खूबी के साथ जोडा गया है कि जोड का कही पता नही चलता।

नाटक किसी मगलाचरण अथवा प्रस्तावना के बिना ही प्रारम्भ हो जाता है, जो विकास की दृष्टि से पारसी-हिन्दी नाट्य-कला मे एक मोड उपस्थित करता है। यह सन् १९२८-२९ या इसके बाद की रचना है। नाटक तीन अंक का है और प्रत्येक अक में क्रमश सात, छ और तीन दृश्य हैं।

'सीता वनवास' की भाषा शुद्ध हिन्दी है और सम्वाद गद्य-पद्य मिश्रित हैं, किन्तु पद्य अपेक्षाकृत कम है। कहीं-कहीं पद्य बहुत भावपूर्ण एव सरस बन पडा है।[158] गद्य सम्वाद भी इतने सरस, भावपूर्ण और कल्पना-प्रवण हैं कि उन्हें गद्य मे कविता कहा जा सकता है।[159] सम्भवत इसी बात को दृष्टि मे रख कर प्रेमशकर 'नरसी' ने यह मत व्यक्त किया था कि यदि 'मजामीरी' के लिये किसी नाटक को पढना हो, तो 'सीता वनवास' को पढना चाहिए।[160] 'सीता-वनवास' का अन्त द्विजेन्द्र-'सीता' के अन्त की भाँति प्रभावोत्पादक नहीं हो पाया है, जिसका कारण है–वैचित्र्य-प्रदर्शन की भावना। सीता के विलीन होने पर राम पृथ्वी से सीता की भीख माँगते रह जाते हैं, किन्तु *अन्त मे वाल्मीकि की कृपा से सीता दूसरे लोक मे धरती की गोद मे दिखाई पडती है।*[161] नाटक दु:खान्त है। इस नाटक मे कोई कॉमिक नहीं।

दिल की प्यास[162] मद्य-पान और स्त्री-स्वातत्र्य के दुष्परिणामो को चित्रित करने वाला यह त्रिअकी नाटक 'हश्र' का एक सशक्त नाटक है। प्रत्येक अक मे क्रमश सात, नौ और छ दृश्य हैं। नाटक की भाषा साफ-सुथरी,

मँजी हुई शुद्ध हिन्दी है और सम्वाद स्थल-स्थल पर अत्यन्त भावुकतापूर्ण एवं अलकृत हो उठे हैं। हृदय के रोष और क्षोभ को व्यक्त करने के लिये छोटे-छोटे वाक्यों और अर्थपूर्ण, सबल तथा उद्वेगवाहक शब्दों का प्रयोग किया गया है। तीसरे अङ्क के प्रथम दृश्य मे नायिका कृष्णा द्वारा अपने पुत्र की मृत्यु पर डॉ० गणेश की भर्त्सना उसके परितप्त और पीड़ित हृदय को खोल कर रख देती है। नाटक की कहानी का निचोड़ कृष्णा की दासी शकरी के उन शब्दो मे आ जाता है, जो वह कृष्णा की सपत्नी मनोरमा को अपने मालिक मदनमोहन के आदेशों का पालन कर घर से बाहर निकालते हुए कहती है :

शकरी –सुनो, इस घर मे तीन प्यासे थे– तुम्हें इनकी दौलत की प्यास थी, इन्हें फैशन की और इस देवी को पति-भक्ति की। तीनो के दिल की प्यास आज बुझ गई –– तुम्हारी प्यास धिक्कार के घूँट से, इनकी प्यास पछतावे के आँसुओ से और इस देवी के दिल की प्यास पति-मिलन के अमृत से। जाओ, निकलो ...'

'दिल की प्यास' मे कॉमिक एक स्वतन्त्र उप-कथा के रूप में आया है और उसमे शिक्षिता युवती कमला के साथ छल द्वारा नायक राजालाल का विवाह करा कर शिक्षा का उपहास कर कमला का मान-मर्दन किया गया है।

इस नाटक की जहांगीरजी मादन और सोराबजी केरेवाला के निर्देशन मे भारत लक्ष्मी प्रोडक्शन्स ने फिल्म भी बनाई थी, जिसमे सोराबजी ने नायक की भूमिका तथा नायिका और खलनायिका की भूमिकाएँ क्रमश कु० कज्जन और कु० पेशेन्स कूपर ने की थी।[२०]

धर्मी बालक या गरीब की दुनिया तथा भारतीय बालक : इस काल मे कई 'बालक' नाम के नाटक लिखे गये, जो एक ही नाटककार द्वारा लिखित न होने पर भी एक ही शृखला मे लिखे गये प्रतीत होते हैं। इस शृखला के प्रथम दो नाटक थे —मुन्शी 'नस्र' द्वारा लिखित 'वीर बालक' (१९३१ ई०) और 'प्रेमी बालक' तथा आगा 'हश्र' के 'धर्मी बालक' तथा 'भारतीय बालक'।[२१] मुन्शी 'दिल' को 'विद्यार्थी बालक' लिखने को दिया गया, किन्तु इसी बीच इन नाटको को खेलने वाली कोरथियन नाटक मंडली सन् १९३५ ई० में बन्द हो गई। 'धर्मी बालक' के लिये मडली ने अमेरिका से सीन मँगाये थे। 'वीर बालक' के लिये अमेरिका से विद्युत्-चालित परिक्रामी रगमंच भी मँगवाया गया था।[२२]

इन नाटकों का नामकरण सम्भवत· सेवा समिति के दो सदस्य-बालको–सोना और रूपा के कर्त्तव्य-ज्ञान, सेवा-परायणता और परदु:खकातरता के आधार पर ही रखा गया है, यद्यपि मुख्य कथा भूचाल और श्यामलाल नामक दो बदमाशो के विविध कारनामो के चारो ओर घूमती है। 'धर्मी बालक' मे श्यामलाल पकडा जाता है और उसे जेल हो जाती है, किन्तु 'भारतीय बालक' में श्यामलाल को जेल से छूटने पर पुन· नई घटनाएँ भूचाल के साहचर्य और परामर्श से घटने लगती हैं, किन्तु उक्त बालको के प्रयास से इस बार श्यामलाल और भूचाल दोनो पकड लिये जाते हैं। इस प्रकार 'भारतीय बालक' 'धर्मी बालक' का पूरक अथवा उत्तरार्द्ध बन जाता है।

दोनो नाटको मे कोई पद्य नही है। हाँ, कुछ गीत अवश्य हैं। सम्वाद भावावेग, ओज और अलकरण से युक्त हैं। 'भारतीय बालक' के दूसरे अक मे सेठ रूपचन्द्र और वेश्या फूलकुमारी का सम्वाद पठनीय है .

रूपचन्द्र–सुन्दरी, साँप फन से, बिच्छू डक से, सिपाही तलवार से, शायर कलम से, फरेबी छल से, जुआरी दाँव से फतेह पाता है, लेकिन मैं तुम्हारे वालेखान[२३] से अपनी कोठी तक रुपयो की सड़क बनवा दूँगा, उसी पर से ले जाऊँगा। अब तो चलोगी ?

फूलकुमारी–(मुस्करा कर) महाशय, वेश्या सिर की चोटी से पाँव की एँडी तक एक धोखा है। बेवकूफ, धोखे को धोखा देने आया है।'[२४]

दोनों नाटको मे कॉमिक अलग से आया है। 'भारतीय बालक' मे देश-प्रेम के स्वर भी सुनाई पडते हैं :

'भारत ही वह डाली है, जिस डाली में तुम फूले ।
कली से जिसने फूल किया, उस भारत को क्यों भूले ॥'

भीष्म-प्रतिज्ञा 'भीष्म-प्रतिज्ञा' आगा 'हश्र' का अन्तिम नाटक है । यह उनकी मृत्यु से कुछ ही पहले लिखा गया था । 'नैरंग' के अनुसार यह नाटक सन् १९२५ में लिखा गया था । नाटक की भाषा शुद्ध हिन्दी है, किन्तु कई स्थलों पर भाषा में व्याकरण-दोष भी पाया जाता है, यथा 'तुम्हारी हठ के जय हो' (पृ० ५), 'देवताओं के जीवन-पुस्तक में' (पृ० ५) आदि । एक स्थल पर हिन्दी शब्द का उर्दू बहुवचन बनाया गया है, यथा असत्य के लिये 'असत्यान' (पृ० ४) । इसके अतिरिक्त हिन्दी प्रतिलिपिकार की असावधानी से हिन्दी शब्दोंके उर्दू में अशुद्ध उच्चारण ज्यों के त्यों आ गये हैं, यथा श्राप के लिये 'शराप' (पृ० ६), पापाणी के लिये 'पाशानी' (पृ० १०), प्रतिज्ञाबद्ध के लिये 'प्रतिज्ञा-बध' (पृ० १३), विसर्जन के लिये 'विसरजन' (पृ० १४), महामहोपाध्याय के लिये 'महा महु उपादया' (पृ० २४) आदि । कुल मिला कर सम्वादों में चुस्ती, भावावेग, सरसता, विनोद और काव्यत्व 'हश्र' के अन्य नाटकों की अपेक्षा इसमें अधिक है । कुछ सम्वादों को तो प्रमाद के सम्वादों की टक्कर में रखा जा सकता है ।[२०८] यत्र-तत्र स्वागत का भी प्रयोग हुआ है । शान्तनु के विदूषक शिवदत्त द्वारा हास्य-विनोद के प्रसंग भी उपस्थित किये गये हैं ।

हिन्दी के इस नाटक में अंक को 'ड्राप' और दृश्य को 'सीन' कहा गया है । दूसरे सीन के बाद तीनों 'ड्रापों' में उसके पर्याय 'दृश्य' का ही प्रयोग हुआ है । अन्यान्य पारसी-हिन्दी नाटकों की भाँति यह भी त्रिअंकी है और प्रथम ड्राप में सात, द्वितीय में छ तथा तृतीय में पाँच सीन या दृश्य हैं । प्रारम्भ 'कोरस' से होता है किन्तु कोई प्रस्तावना नहीं है ।

'मधुर मुरली', 'गंगावतरण' और 'श्रवणकुमार' पौराणिक नाटक हैं । 'वनदेवी' एक स्वच्छन्दताधर्मी नाटक है, जिसमें ऋषिकन्या वनदेवी और राजकुमार के प्रेम और विवाह, राजकुमार की दूसरी पत्नी के षड्यन्त्र से वनदेवी के निष्कासन, किन्तु अन्त में रहस्य खुलने पर वनदेवी को वापस बुला कर अपनाने की कथा वर्णित है ।

'हश्र' के अन्य दो हिन्दी नाटक हैं—'बिल्वमंगल उर्फ भक्त सूरदास' (१९१५ ई०) और 'आँख का नशा' (१९२४ ई०), किन्तु पहला एक गुजराती नाटक और दूसरा एक मराठी नाटक 'एकच का प्याला' का अनुवाद है ।

'आँख का नशा' का प्रयोग धर्मतल्ला-स्थित कोरथियन थियेटर में हुआ था, जिसमें मुहम्मद ईशाक तथा दादाभाई सरकारी ने क्रमशः वेनीप्रसाद तथा युगल की भूमिकाएँ अपने चरित्रों में डूब कर कीं । मिस शरीफा ने वेश्या कामलता के चरित्र में प्राण फूंक दिये । हिन्दी-समीक्षक जनार्दन भट्ट ने मुहम्मद ईशाक के 'उत्तम और स्वाभाविक पार्ट' तथा मिस शरीफा की 'नाट्य-कला में प्रवीणता' तथा 'अत्युत्तम नाट्यकला-द्योतक पार्ट' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है ।[२०९] युगल की पत्नी सरोजनी की भूमिका प्रसिद्ध अभिनेता नर्मदाशंकर ने और माधव की भूमिका सुप्रसिद्ध कलाकार मा० मोहन ने की । मा० मोहन की भूमिका 'निकृष्ट और अस्वाभाविक' रही ।[२१०] इस नाटक को देखकर जनार्दन भट्ट ने कहा था - 'नाटक क्या है, जादू है, मनुष्य के चरित्र का जीता-जागता उदाहरण है । उसका अभिनय देखकर निश्चय ही मेरी आँखों में नशा छा गया ।'[२११]

'हश्र' ने उर्दू में भी अनेक मौलिक-अनूदित नाटक लिखे हैं । उर्दू के प्रमुख मौलिक नाटक हैं - 'खूबसूरत बला' (१९०७ ई०) 'यहूदी की लड़की' (१९१३ ई०, लें०), 'रुस्तम सोहराब' (१९२९ ई०), 'अछूता दामन' (१९३१ ई०), 'हिन्दुस्तान'[२१२] (१९३१ ई०), 'ख्वाबे हस्ती' (१९१६, ई० प्र०), 'तुर्की हूर' आदि और अनूदित नाटकों में प्रमुख हैं - 'मुरीदे शक' (१८९९ ई०),'असीरे हिर्स' (१९०५ ई०),'सैदे हवस' (१९०६ ई०), 'शहीदे नाज़' (१९०६ ई०), 'सफेद खून' (१९०६ ई०) आदि । ये सभी अँग्रेजी के क्रमशः शेक्सपियर-'ए विंटर्स टेल' शेरिडन-पिजारो,'

शेक्सपियर–'किंग जॉन', 'मेजर फार मेजर' तथा 'किंग लियर' के अनुवाद या रूपान्तर हैं।

'यहूदी की लड़की' के आधार पर एक चलचित्र भी बन चुका है, जिसमें नवाब, कुन्दनलाल सहगल तथा रतनबाई ने मुख्य भूमिकाएँ की थी। सहगल द्वारा गाई गई 'नुक्ताचीं है ग़मे दिल' शीर्षक 'ग़ालिब'-कृत ग़ज़ल तथा रतनबाई द्वारा गाया गया 'अपने मौला की मैं जोगन बनूंगी' शीर्षक गीत बहुत लोकप्रिय हुए।[११]

'हश्र' के उर्दू-नाटकों के सम्बन्ध में भी 'अहसन' के उर्दू-नाटकों के विषय में व्यक्त किये गये विचार चरितार्थ होते हैं। इन नाटकों मे भी स्वतन्त्र रूप से अथवा प्रस्तावना या नाटक की मुख्य कथा के अंग के रूप में मंगलाचरण–हम्देबारी प्रार्थना या गायन हिन्दी मे रखा गया है और कुछ नाटकों में प्रस्तावना भी रखी गई है। नाटक के बीच-बीच में हिन्दी के गाने भी दिये गये हैं, परन्तु इस प्रकार के कुछ गानों के बीच उर्दू के एक-दो शेर भी घुसेड दिये गये हैं।[१२] पात्रानुसार भाषा के सिद्धान्त के अनुसार इन नाटकों के पात्रों के प्रायः मुसलमान होने के कारण उनकी भाषा उर्दू-बहुल है।

उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिये 'हश्र' के मौलिक कथित उर्दू-नाटकों में से प्रथम तीन का संक्षिप्त मूल्यांकन प्रस्तुत है।

ख़ूबसूरत बला : यह उस काल के रंगमंच का लोकप्रिय नाटक रहा है।[१३] इसे देख कर राधेश्याम कथावाचक को नाटक लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई।[१४] इस त्रिअंकी नाटक में पहले, दूसरे और तीसरे अंकों में क्रमशः आठ, तेरह और चार 'सीन' हैं। कॉमिक अलग होते हुए भी मुख्य कथानक में सलग्न-सा है। ख़ैरसल्लाह और माशाअल्ला के सम्वादों द्वारा हास्य और विनोद की सृष्टि की गई है, किन्तु यह विनोद बड़ा चुटीला और सटीक है -

'सहेली नं० १ – और छाती कैसी धड़-धड़ हो रही है।

माशाअल्ला – हां, आज मुझे मालूम हुआ कि औरतों के सीने में दिल की जगह टाइमपीस हुआ करता है।'
(पृ० ४९)

+ + +

'डाक्टर – ग़लत, बिलकुल ग़लत। आदमी का दिल सीने में बाईं तरफ रहता है।

ख़ैरसल्लाह – अजी, वह अगले जमाने में रहा करता था। मगर जब लार्ड कर्जन की हुकूमत से घबरा गया, तो दिल बाईं तरफ़ से खिसक कर दाहिनी तरफ़ को आ गया।' (पृ० ५९)

न्यू अल्फ्रेड के निर्देशक सोराबजी ओग्रा स्वयं ख़ैरसल्लाह की भूमिका किया करते थे, जो सदैव अद्वितीय मानी जाती रही है।[१५]

'हश्र' के सम्वादों के सभी गुण 'ख़ूबसूरत बला' के सम्वादों मे भी पाये जाते हैं – चुस्ती, हाज़िरजवाबी, विनोद, व्यंग्य, कवित्व एवं अलंकरण, ओज और भावोद्वेग। पन्नादाई के आदर्श पर ताहेरा का चरित्र बलिदान, त्याग, स्वामिनिष्ठा, करुणा, ममता और स्नेह का प्रतीक बन गया है। इसमें कठोर, स्वार्थ को सर्वोपरि स्थान देने वाली, कुचक्रों में लिप्त, राज्य-लिप्सा से जर्जर सुन्दरी शम्मा को नाटककार ने 'ख़ूबसूरत बला' कहा है।

नाटक के प्रारम्भ में नेकी का 'गायन' ही मंगलाचरण है और नेकी तथा बदी के सम्वादों द्वारा प्रस्तावना का कार्य लिया गया है, जो नाटक से पृथक् रूप में रखी गई है। गायन हिन्दी में है और साथ ही नाटक के अन्य कई गाने भी हिन्दी में ही हैं। भाषा सरल उर्दू है, यद्यपि स्थल-विशेषों पर मुसाफ़हा, मातमकदे, मक़दहत आदि जैसे क्लिष्ट शब्द जबरन आये हैं।

'ख़ूबसूरत बला' 'बाह्य प्रमाणों और अन्तःसूत्र के अनुसार १९०७ ई० के लगभग लिखा और खेला गया प्रतीत होता है। बाह्य प्रमाणों के अनुसार न्यू अल्फ्रेड नाटक मंडली ने बरेली में ही सर्वप्रथम अपना नया नाटक

'खूबसूरत बला' प्रस्तुत किया था और उस समय राधेश्याम कथावाचक अपनी कथाएं कहने के सिलसिले में जयपुर गये हुए थे।[३८] राधेश्याम सम्भवतः लखनऊ-प्रवास (१९०६-७ ई०) के अनन्तर ही जयपुर गये होंगे। इस प्रकार नाटक का प्रथम अभिनय १९०७ ई० के अंत में अथवा १९०८ ई० के प्रारम्भ में किया गया होगा। अन्त सूत्र की दृष्टि से नाटक में लार्ड कर्जन के दिल्ली-दरबार[३९] और निरंकुश शासन[४०] का उल्लेख आया है। लार्ड कर्जन का शासन-काल (१८९९-१९०५ ई०) बंग-भंग और राष्ट्रीय भावना के दमन के लिये प्रसिद्ध रहा है। सन् १९०३ में दिल्ली दरबार भी हुआ था।[४१] इससे भी हमारे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। 'नैरंग' ने इसका मंचन १९०९ ई० में हुआ बताया है।

ख्वाबे हस्ती नाटक में हम्देदारी हिन्दी-उर्दू-मिश्रित गाने से प्रारम्भ होती है, जो नाटक का ही एक अंग है। इसमें उर्दू का एक शेर हिन्दी की अन्तिम पंक्ति के पूर्व आया है। इस पद्धति पर नाटक में अन्यत्र भी कई गाने आये हैं।[४२] हिन्दी के तो अनेक गाने है और कुछ दोहे भी हिन्दी के है, जो बहुत कवित्वपूर्ण हैं, यथा—

> 'रजिया— पँखना हो तो उड सकूँ और बेपख उडा न जाय।
> विधना ऐसी बात कर कि पँखने देय लगाय॥' (पृ० ८५)

दूसरे 'बाब' के ग्यारहवें 'सीन' में हिन्दी के कई गानों के साथ हिन्दी के कई संवाद भी आये हैं। शेष नाटक की भाषा सरल चलती उर्दू है। संवाद में तुकांत मिलाने की ओर प्रवृत्ति अधिक है।[४३]

तीन 'बाबों' के इस नाटक में पहले बाब में सात, दूसरे में ग्यारह और तीसरे में सात सीन हैं। पहले बाब का चौथा सीन केवल मात्र एक मूक घटना का मूक क्रियान्वयन प्रदर्शित करता है।

सौलत खाँ की प्रेमिका अब्बासी के स्वप्न-दर्शन[४४] और निद्रा-भ्रमण[४५] द्वारा उससे अन्तर्द्वन्द्व और पश्चात्ताप द्वारा उसके अन्तर्मन की अच्छी झाँकी दिखाई गई है। अंत में वह आत्महत्या कर लेती है। नाटक में गुनाहों और बदी पर नेकी की विजय प्रदर्शित की गई है। कॉमिक में फजीहता, उसकी पत्नी मरियम और नौकर मुन्नू को लेकर हास्योत्पादन की चेष्टा की गई है।

अछूता दामन नाटक पृथक् मंगलाचरण से प्रारम्भ होता है, जो सहेलियों द्वारा 'प्रार्थना' के रूप में हिन्दी में गाया जाता है। 'अछूता दामन' में भी कई हिन्दी के गीत हैं, किन्तु अन्य नाटकों की अपेक्षा कम। एक गीत फारसी का भी है।[४६] कामिक नाटक के अंग के रूप में आया है।

'अछूता दामन' में भी अन्य नाटकों की ही भाँति असत् पर सत् की विजय अंकित की गई है। अपराधी अमद दूसरे अंक के अन्त में ही पुलिस द्वारा उस समय गिरफ्तार कर लिया जाता है, जबकि वह अनवरी को पिस्तौल मारना ही चाहता है।

नाटक में सिनेमा और नाटक के द्वन्द्व[४७] के उल्लेख से ऐसा अनुमान है कि यह सन् १९३०-३१ के लगभग लिखा गया होगा, क्योंकि इस समय तक सवाक् चित्र नाटक की प्रतियोगिता में आ खड़ा हुआ था और अधिकांश प्रमुख नाटक मंडलियाँ विघटन और पतन के कगार पर पहुँच चुकी थी। 'अछूता दामन न्यू अल्फ्रेड द्वारा खेला गया था, जो सन् १९३२ ई० में बंद हुई थी, अतः यह निश्चित है कि यह नाटक मंडली के बन्द होने के पूर्व ही लिखा गया होगा। 'अहमन' के 'चलता पुर्जा (१९३५ ई०, प्र०) में 'हश्र' के अन्य नाटकों के साथ 'अछूता दामन' का भी उल्लेख आया है।[४८] इससे भी यह सिद्ध होता है कि उक्त नाटक सन् १९३५ ई० के पूर्व ही लिखा जा चुका था और इससे भी हमारे उक्त मत की पुष्टि होती है। 'नैरंग' ने इस नाटक का रचना-काल १९१० ई० बताया है, जो उक्त अन्तर्साक्ष्य से प्रमाणित और पुष्ट नहीं होता। उनके अनुसार ग्रेट अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी द्वारा 'सिल्वर किंग' के रूप में यह नाटक मंचस्थ हुआ था। यदि यह मान भी लिया जाय, तो न्यू अल्फ्रेड द्वारा खेले जाने के समय इसमें उक्त द्वन्द्व-विषयक परिवर्तन अवश्य किये गये होंगे 'अछूता दामन' की बुनावट को देख कर यही प्रतीत

होता है।

(४) मु० नारायण प्रसाद 'बेताब' (१८७२-१९४५ ई०)—खटाऊ अल्फ्रेड के प्रमुख नाटककार मुन्शी नारायण प्रसाद 'बेताव' का जन्म औरगाबाद (जिला बुलन्दशहर) मे मार्गशीर्ष, कृष्ण १, संवत् १९२९ (१७ नवबर, १८७२ ई०) में ब्रह्मभट्ट-परिवार मे हुआ था।[३२] कुछ विद्वानो ने उन्हें काश्मीरी ब्राह्मण बताया है, जो नितात भ्रामक है।[३३] उनके पिता का नाम महाराज दुन्लाराय था, जो हलवाई का काम करते थे। शैशव मे ही माँ की मृत्यु पर 'विमाता की आँखो के काँटा' बन जाने के कारण होश सँभालते ही नारायण प्रसाद घर से भाग कर हापुड, हापुड से मेरठ, मेरठ से भट्याने और भट्याने से दिल्ली पहुँचे। दिल्ली के कैसरे-हिन्दी प्रेस मे काम करने लगे। कुछ ही समय बाद उनका विवाह हो गया।

दिल्ली के गमा थियेटर मे जमादार की नाटक मडली के आने पर 'बेताव' ने मडली के नाटककार की अनुपस्थिति मे एक गीत लिखा। इसके बाद न्यू अल्फ्रेड दिल्ली आई। 'बेताव' को नाटको ने इस तीव्रता के साथ आकृष्ट किया कि वे नाटककार बन गये। उन्होने 'हुस्ने फरग' और 'कत्ले नज़ीर' नामक दो नाटक लिख डाले। नाटक लिखने के इस शौक ने 'बेताव' को प्रेस से जमादार की मडली मे पहुँचा दिया। मडली ने लाहौर पहुँच कर 'बेताव' का 'कत्ले नज़ीर' खेलने का निश्चय किया, किन्तु परदा उठने के पूर्व ही पुलिस ने उसे बन्द करा दिया। मडली पर मुकदमा चला, किन्तु नौ पेशियों के बाद खेलने की अनुमति मिल गई। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि निरन्तर ११ रात्रियों तक खेला जाता रहा।[३४]

इसके बाद मडली ने क्रमश 'हुस्ने फरग' (१९०२ ई०), 'कृष्ण जन्म' (१९०२ ई०) और 'मयूरध्वज' (१९०२ ई०) नाटक खेले। मंडली के इलाहाबाद आने तक उसकी आर्थिक दशा बिगड गई और 'बेताव' पत्नी की झाँझनें बेंच कर बबई पहुँचे और पारसी नाटक मडली (भागीदारो की कम्पनी) मे नौकरी कर ली। इसके मालिक चार भागीदार थे— सेठ फरामजी अप्पू, सेठ रतनलाल अप्पू, सेठ दादाभाई मिस्त्री तथा सेठ वजा। सन् १९०३ मे उनका अनूदित नाटक 'कसौटी' लाहौर के ब्रेडला हाल मे खेला गया, किन्तु 'कसौटी' की सफलता से जल कर एक प्रतिद्वन्द्वी नाटक मडली ने पारसी मडली के बाडे मे आग लगा दी।[३५] मडली सब कुछ खोकर बबई लौट आई और फिर नये साज-सामान के साथ 'कसौटी' खेला, जिससे पर्याप्त धन मिला। फिर तो 'मीठा ज़हर', 'ज़हरी साँप' आदि कई नाटक एक-एक कर खेले गये और 'बेताब' मडली के प्रमुख नाटककार बन गये। उन्हें १२५) रु० मासिक वेतन मिलने लगा, किन्तु अपनी अपर्याप्त 'तरक्की' से असन्तुष्ट होकर 'बेताब' ने नौकरी छोड़ दी। इसके कुछ दिन बाद सेठ कावसजी पालनजी खटाऊ ने उन्हें अपनी पारसी अल्फ्रेड मे १७५) रु० मासिक पर रख लिया।

इस बीच सन् १९०३ मे बेताव' की पत्नी का देहान्त हो गया और उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया।

२९ जनवरी, १९१३ को पारसी अल्फ्रेड द्वारा 'बेताब' का हिन्दी नाटक 'महाभारत' दिल्ली के सगम थियेटर मे खेला गया, जो लगातार तीन-चार दिन हुआ। नगर मे धूम मच गई। इसकी बहुत प्रशसा हुई और प्रशंसको ने 'बेताव' को एक स्वर्णपदक दिया।[३६] पारसी अल्फ्रेड का यह प्रयोग तत्कालीन नाट्य-जगत मे एक क्रान्तिकारी कदम था। इसके अनतर 'रामायण' और 'पत्नी-प्रताप' नाटक खेले गये।

इसके उपरात मादन थियेटर्स ने ७५०) रु० मासिक वेतन देकर 'बेताब' को अपने यहाँ बुला लिया। सन् १९२८ मे उसके प्रबन्ध की पारसी अल्फ्रेड के लिये 'बेताब' ने 'गणेशजन्म' लिखा। १९२८-२९ के लगभग 'बेताब' ने 'सीता वनवास' का उत्तरार्द्ध लिखा, जो 'हश्र'-कृत 'सीता वनवास पूर्वार्द्ध' के साथ मिला कर मादन-प्रबन्ध में पारसी अल्फ्रेड द्वारा खेला गया। ये दोनो नाटक बहुत सफल हुए और लोकप्रिय होकर वर्षों खेले गये। 'गणेश-जन्म' मे हिन्दी-गुजराती रंगमच की प्रसिद्ध अभिनेत्री मुन्नीबाई ने पार्वती की और 'सीता-वनवास' मे सीता की सजीव भूमि-

कार्य करके अभिनय मे विशेष कला-दाक्षिण्य प्रदर्शित किया। मीना के रूप मे तो उनका अभिनय निरुपम था। सन् १९२९ मे इस मडली मे पृथक् होकर वे बम्बई चली गई।

'वेताब' ने कलकत्ते से 'शेक्सपियर' नामक एक पत्रिका उर्दू मे निकाली थी, जिसमे शेक्सपियर के 'किंग रिचर्ड' आदि कुछ नाटको के अनुवाद भी छपे थे।

इसके अनन्तर 'वेताब' बम्बई की रणजीत फिल्म कम्पनी मे चले गये और उसके लिये सिने-नाटक लिखते रहे।

रणजीत मूवीटोन ने 'वेताब' के लिए माटुगा (बम्बई) मे 'भानु भवन' बनवा दिया था और अत मे आजीवन १०००) रु० मासिक पेंशन की व्यवस्था कर दी थी। सन् १९३३ मे 'वेताब' को लकवा मार गया था, जिससे वे अत तक पीडित बने रहे। इस दशा में भी उन्होने कुल तीस सिने-नाटक लिखे। सन् १९४५ मे उनकी मृत्यु हुई।

'वेताब' हिन्दी-उर्दू के अच्छे विद्वान थे। उन्होने कुल छब्बीस नाटको / एकाकियो की रचना की, जिसमे तेईस मौलिक हैं। इनमें से हिन्दी के एकाकी-सहित तेरह नाटक हैं—'कृष्ण-जन्म' (१९०२ ई०), 'मयूरध्वज' (१९०२ ई०), 'महाभारत' (१९१३ ई०), 'रामायण' (१९१५ ई०), 'पत्नी-प्रताप' (१९१८-१९ ई०), 'कृष्ण-सुदामा' (१९२० ई०), 'शख की शरारत' (१९२० ई०), 'गणेश-जन्म' (१९२८ ई०), 'मदर इन्डिया या कुमारी किन्नरी' (१९२८ ई०), 'समाज' (१९२९ ई०), 'सीता' (सीता-वनवास उत्तरार्ध, १९२९ ई०), 'हमारी भूल' (१९३७ ई०) और 'शकुन्तला' (१९४५ ई०)। उनके अन्य नाटक उर्दू मे हैं, जो इस प्रकार हैं—'कत्ले नजीर' (१९०१ ई०), 'हुस्ने फरग' (१९०२ ई०), 'कसौटी' (१९०३ ई०), 'जहरी साँप' (१९०६ ई०), 'फरेबे नजर' (१९०७ ई०), 'वहम का पुतला' (१९०७-८ ई०), 'अमृत' (१९०८ ई०), 'फूट का फल' (१९०८ ई०), 'अलीबाबा' और 'तोबा शिकन'। 'वेताब' के 'मीठा जहर' (१९०५ ई०), 'जो आप पसद करें' (१९०६ ई०) तथा 'गोरख-धंधा (१९१२ ई०) शेक्सपियर के क्रमश 'सिम्बेलिन' 'ऐज यू लाइक इट' तथा 'कॉमेडी आफ एरर्स' नाटकों के अनुवाद हैं।

इसके अतिरिक्त 'वेताब' ने लगभग अट्ठाइस मौलिक सिने-नाटक लिखे, जिनमे से 'देवी देवयानी', 'राधा-रानी', 'सती सावित्री', 'शैलवाला', 'विश्वमोहिनी', 'मिस १९३३', 'अम्बरीष', 'शाह बहराम', 'सितमगर', 'नादिरा' आदि प्रमुख हैं। इन सभी सिने-नाटको के आधार पर चलचित्र बन चुके हैं। दो सिने-नाटक गुजराती से अनूदित हैं।

'वेताब' के कुछ नाटको को छोड कर अधिकाश नाटक अप्राप्य एव अप्रकाशित हैं। हिन्दी के मौलिक नाटको मे केवल 'महाभारत', 'रामायण', 'पत्नी-प्रताप', 'कृष्ण-सुदामा', 'सीता-वनवास' और 'शंख की शरारत' तथा अनूदित नाटको मे 'गोरखधधा' (१९१६ ई०) एव 'मीठा जहर' (१९२७ ई०) ही प्रकाशित हैं।

'कृष्ण-जन्म' की कथा कृष्ण के जन्म से सम्बन्धि है। कॉमिक पृथक् से दिया गया था, जो एक गौराग-वाला और काले पति के सम्बन्ध में था। यह नाटक जमादार की नाटक मडली द्वारा कराची मे खेला गया था, किन्तु असफल रहा।[२३४] इसके बाद मडली ने 'मयूरध्वज' नाटक खेला, किन्तु वह 'कृष्णजन्म' से भी 'गया-गुजरा' निकला।[२३५] 'शख की शरारत' और 'गणेश-जन्म' एकाकी हैं,[२३६] जो कलकत्ते के मादन थियेटर्स के प्रबन्धान्तर्गत पारसी अल्फ्रेड द्वारा क्रमश. सन् १९२० तथा १९२८ में मचस्थ हुए। इसमे गणेश-जन्म की कथा के साथ नारद-मोह-हरण की कथा भी दी गई है। माया-कन्या के रूप का 'वेताब' ने अत्यन्त कवित्वपूर्ण वर्णन किया है।[२३७] 'हमारी भूल' एक सामाजिक नाटक है, जिसे कलकत्ते की पारसी कारोनेशन नाटक मंडली ने सन् १९३७ में तथा माणिकलाल मारवाडी की शाहजहाँ नाटक मंडली ने सन् १९३८ मे खेला था।[२३८] 'मदर इन्डिया उर्फ कुमारी किन्नरी' को कलकत्ता कांग्रेस (१९२८ ई०) के समय अल्फ्रेड थियेटर में खेला गया था।[२३९] 'शकुतला' पृथ्वी थियेटर्स द्वारा रायल ऑपेरा हाउस, बम्बई में सन् १९४५ मे मंचित हुआ। 'वेताब' के कुछ उपलब्ध हिन्दी-नाटकों का संक्षिप्त अध्ययन

नीचे प्रस्तुत है :–

महाभारत : 'कृष्णजन्म' और 'मयूरध्वज' के बाद 'महाभारत' 'बेताब' का पहला सफल और सशक्त हिन्दी नाटक है।[illegible] इसी नाटक में सर्वप्रथम केवल स्त्रियों के लिए प्रति सप्ताह एक रात निर्धारित की गई थी।[illegible] इसी नाटक की प्रस्तावना में (जिसे 'परिचयार्थ प्रारम्भिक प्रवेश' कहा गया है) 'बेताब' ने अपने नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है :

> 'न ठेठ हिन्दी, न खालिस उर्दू, जबान गोया मिली-जुली हो।
> अलग रहे दूध से न मिश्री डली-डली दूध में घुली हो॥'[illegible]

इस मत को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि 'मुख्य उद्देश्य तो मतलब समझाना है न कि भाषा का गौरव दिखाना'। यह भाषा 'श्रोता-समाज के अनुकूल होनी चाहिये'।[illegible] इसी सिद्धान्त का अनुसरण कर कृष्ण, द्रोणाचार्य, दुर्योधन, रुक्मिणी, द्रौपदी आदि सभी पात्रों से हिन्दी के साथ यत्र-तत्र उर्दू भी बोलवाई गई है। प्राधान्य हिन्दी का ही है।

'महाभारत' में मंगलाचरण और प्रस्तावना नाटक से पृथक् है। नाटक तीन अंक का है और प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अंकों में क्रमशः चार, ग्यारह तथा आठ प्रवेश हैं। इसमें कोई 'कॉमिक' न होकर पहले 'चेता चमार' की उपकथा रखी गई थी, किन्तु बाद में कुछ रूढ़िग्रस्त सामाजिकों की आपत्ति पर उसकी जगह 'सती गोपी' की उपकथा जोड़ दी गई। 'सती गोपी' की उपकथा कृष्ण-भक्ति और सतीत्व से सम्बन्धित है और 'चेता चमार' की कृष्ण-भक्ति तथा अस्पृश्यता की समस्या से। उस युग में, जबकि शूद्रों के लिये वेद-मंत्रों का उच्चारण वर्जित था, सवर्णों के कुएँ से पानी भरना निषिद्ध था, ईश्वर की पूजा उनके लिये अपराध था, चेता चमार की उपकथा 'बेताब' के क्रान्तिकारी विचारों से निःसृत हुई थी। तभी रक्षणशील हिन्दू समाज ने इस उपकथा को लेकर तूफान खड़ा कर दिया था और 'बेताब' को पारसी अल्फ्रेड नाटक मंडली में 'व्यापारिक उद्देश्य' की पूर्ति और विरोधी आलोचकों की 'इच्छापूर्ति' के लिये उसकी जगह 'सती गोपी' की उपकथा रखनी पड़ी थी।

संवादों में भावानुसार क्रोध, प्रतिहिंसा, भर्त्सना, ईर्ष्या, भक्ति आदि की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है, परन्तु उनमें आगा 'हश्र' की वक्रता, चंचलता, विदग्धता, और कवित्व कहीं दिखलाई नहीं पड़ता। संवाद के पद्य, विशेष-कर कवित्त, सवैया आदि सरस बन पड़े हैं। रुक्मिणी और सत्यभामा के पद्य-संवाद (अंक १, प्रवेश १, पृ० १५) में सपत्नी-ईर्ष्या के साथ शृंगारिकता की गंध आती है। एकाध स्थलों पर काल-दोष भी पाया जाता है, यथा कृष्ण के द्वारा बेतार के तार का उल्लेख।[illegible] 'महाभारत' की समस्त कथा का समावेश होने के कारण नाटक में किसी रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया है। द्रौपदी, भीम, दुर्योधन आदि का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है।

कहना न होगा कि 'महाभारत' पारसी-हिन्दी रंगमंच की बँधी हुई परिपाटी के बीच एक नवीन प्रयोग था। यही कारण है कि इसको 'नव-युग-प्रवर्तक, क्रान्तिकारक, हिन्दू-इतिहास-प्रदर्शक' आदि[illegible] कह कर इसका अभिनन्दन किया गया था। 'महाभारत' की लोकप्रियता के आगे 'इन्दरसभा', 'बकावली' आदि जैसे नाटक फीके पड़ गये और 'हश्र'-जैसे उर्दू के नाटककार भी हिन्दी में नाटक लिखने का प्रलोभन न रोक सके।[illegible] नाटक से अश्लीलता को विदा करने में इससे बड़ा संबल प्राप्त हुआ, जिससे नाट्य-दर्शन के प्रति सामाजिकों की निष्ठा बढ़ी।[illegible] 'महाभारत' की सफलता ने पहली बार उस पारसी-हिन्दी रंगमंच को सुदृढ़ नींव पर स्थापित किया, जिसकी नींव 'आराम' और 'तालिब' ने अपने हिन्दी नाटकों से भरी थी।

रामायण : भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार मंगलाचरण के बाद सूत्रधार, पारिपार्श्विक और नटी के संवाद द्वारा नाटक की प्रस्तावना में तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की अपेक्षा वाल्मीकि की 'रामायण' को ऊँचा स्थान देते हुए रावण को एक सिर वाला तथा हनुमान को वानर जाति का विद्वान पुरुष सिद्ध किया गया है। स्वयं नाटक के

सम्बन्ध मे नामोल्लेख के अतिरिक्त और कुछ भी नही कहा गया है।

इस त्रिअकी नाटक मे क्रमश नौ, बारह और सात प्रवेश आते हैं। इस नाटक का सबसे छोटा प्रवेश है—तीसरे अक का सातवाँ और अन्तिम प्रवेश, जिसमे अयोध्या मे राम के राज्याभिषेक का दृश्य-मात्र दिखलाया गया है। प्रथम अक का पहला प्रवेश राम-जन्म के लिये भूमिका मात्र है और वास्तविक कथा दूसरे प्रवेश से प्रारम्भ होती है। नाटक मे पृथक् से कोई 'कॉमिक' नही है।

गद्य-पद्य–मिश्रित सम्वादो की भाषा हिन्दी है, किन्तु सद्दे-राह, गिर्दाब, पा-अन्दाज, मुमकिन, गुनाहगार, इल्म, रोशनी, जोबन, जिनहार, जमाना, आईनये-रुखसार, अजाब, शबाब जैसे उर्दू शब्दो का प्रयोग यत्र-तत्र-सर्वत्र हुआ है। पद्य लय-बद्ध होने के साथ प्राय छन्दबद्ध भी हैं और कवित्त, सवैया, दोहा तथा कुडलिया छन्दो का अच्छी मात्रा मे प्रयोग हुआ है। कवित्त और दोहे सरस अलकारयुक्त तथा भावपूर्ण हैं। यत्र-तत्र मुहावरो का भी प्रयोग हुआ है। गद्य-सम्वाद रसानुकूल विनोद, हास्य, क्रोध, करुणा और वीरत्व से युक्त हैं।

'महाभारत' की भाँति 'रामायण' मे भी काल-दोष है — हनुमान द्वारा अपने को 'तोप' और सीता को 'बारूद' बताया गया है।[५६] यह सर्वविदित तथ्य है कि राम के युग मे तोप और बारूद का आविष्कार नही हुआ था।

पत्नी-प्रताप 'पत्नी-प्रताप' सती अनुसूया के पातिव्रत्य की परीक्षा से सम्बन्धित पौराणिक नाटक है। नाटक का मगलाचरण और प्रस्तावना मुख्य कथा से पृथक् है। मगलाचरण मे सूत्रधार-नटी द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेष, सावित्री, गिरिजा और लक्ष्मी की एक साथ वन्दना की गई है।[५७] इसमे यह प्रार्थना की गई है कि सामाजिक इस खेल को देख कर न इसकी व्याख्या माँगें और न उसकी टीका-टिप्पणी करें।[५८] 'कत्ले नजीर' और 'महाभारत' की सारहीन तथा दिग्भ्रान्त व्याख्याओ एव टीकाओ से 'बेताब' का हृदय भर चुका था और 'पत्नी-प्रताप' की रचना करते समय सम्भवत उनकी आकाक्षा एक ऐसी कृति देने की रही, जो इस प्रकार की आलोचनाओ से सर्वथा मुक्त हो। इसी से प्रस्तावना मे 'अश्लील' और 'वीभत्स रस से भरपूर' नाटको की प्रतिक्रिया-स्वरूप 'स्त्रियो के दिखाने योग्य' नाटक की रचना का दावा किया गया।[५९] 'महाभारत' और 'रामायण' की भाँति ही 'पत्नी-प्रताप' भी उर्दू के कुछ सस्ते नाटको से पृथक् एक नये मार्ग का प्रवर्तक रहा है।

नाटक गद्य-पद्य सम्वादो से युक्त है। एक दोहे मे ऋषि अत्रि को बदरिकाश्रम जाने के लिये विदाई देते समय अनुसूया की विरह-पीडा बडे मार्मिक ढग से व्यक्त हुई है ·

'आग लगी चित के भवन, जरो जात हिय-देस।
सरन लेत चित चरन की कर अँसुवन को भेस॥' (पृ० २२)

'पत्नी-प्रताप' मे 'कॉमिक' अलग से आया है। यह तीन अको का है और प्रत्येक अक मे क्रमश आठ, आठ और छ प्रवेश हैं।

इस नाटक का प्रथम प्रयोग जहाँगीरजी खटाऊ ने सन् १९१९ ई० मे कलकत्ते मे किया।

कृष्ण-सुदामा : 'कृष्ण-सुदामा' को 'प्रगतिशील नाटक' कहा गया है, परन्तु यह आधुनिक अर्थो मे नही, दरिद्र और सम्पन्न व्यक्तियो की मैत्री की दृष्टि से अवश्य प्रगतिशील कहा जा सकता है, अन्यथा कथा के पौराणिक कलेवर मे प्रगतिशीलता के अन्य कोई लक्षण नही हैं। भाषा की दृष्टि से भी 'मिली-जुली' भाषा का ही प्रयोग किया गया है, यद्यपि गद्य सवादो की मात्रा अपेक्षाकृत अवश्य कुछ अधिक बढी है। पद्य प्राय. साधारण कोटि का है और उसमे कही-कही व्रज भाषा का भी प्रयोग हुआ है, विशेषकर खडी बोली के साथ व्रज के क्रियापदो का प्रयोग पैबन्द की तरह लगता है। काल-दोष से यह नाटक भी मुक्त नही है। कृष्ण और सुदामा के युग मे थानेदार और तहसीलदार की तरह के कोई-न-कोई अधिकारी तो अवश्य होते रहे होगे, किन्तु उस युग मे उनकी उन्ही पदनामो

के साथ अवस्थिति स्वीकार नही की जा सकती ।

अन्य नाटकों की भाँति यह नाटक भी त्रिअंकी है और प्रत्येक अंक मे क्रमशः आठ, नौ और पाँच प्रवेश है। प्रारम्भ मे सूत्रधार द्वारा मगलाचरण तो गाया जाता है, किन्तु प्रस्तावना नही रखी गई है। नाटक सब मिला कर सामान्य कोटि का है।

इस नाटक को पारसी अल्फ्रेड ने प्रथम बार सन् १९२० मे कलकत्ते मे मंचस्थ किया था।

मदर इन्डिया या कुमारी किन्नरी : देश की सामाजिक एव आर्थिक समस्याओ से सम्बन्धित होने के बावजूद यह राष्ट्रीय नाटको की कोटि मे रखा जा सकता है।[१५२] इस नाटक की कुमारी किन्नरी इंग्लैंड की मिस मेयो है, जिसने भारत के सामाजिक रीति-रिवाजो, वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि को लेकर अपनी 'मदर इण्डिया' द्वारा काफी विष-वमन किया था। कु० किन्नरी भी स्वर्ग से पृथ्वी पर आकर आर्यावर्त्त की दशा पर लगभग उसी प्रकार की पुस्तक लिखती है, जिसका नाम है–'देश-दशा'। देश मे 'मदर इडिया' का प्रत्याख्यान लाला लाजपतराय ने 'फ़ादर इंडिया' नामक पुस्तक लिख कर किया था और नाटक मे किन्नरी का प्रत्याख्यान धरादेवी और अन्य लोग करते हैं।[१५३]

नाटक चार अको का है, किन्तु प्रथम अंक को प्रस्तावना के रूप मे रखा गया है और इस प्रकार मुख्य नाटक त्रिअकी ही रह जाता है। प्रत्येक अक मे क्रमश पाँच, छ, छ और सात दृश्य है। दूसरे अक का प्रथम दृश्य (भारत मे किन्नरी का धरादेवी द्वारा सत्कार) और चौथे अंक का तीसरा दृश्य (दस्यु भीमसिह के शव का गगा-प्रवाह) फिल्म द्वारा दिखलाया जाता था।[१५४]

नाटक में धरादेवी, पाप, पुण्य जैसे कुछ प्रतीक पात्रो का उपयोग हुआ है। प्रारम्भ मे नांदी है। धरादेवी द्वारा कु० किन्नरी की सदोष-दृष्टि पर कितना सुन्दर व्यग्य किया गया है :

'शिवालय और मस्जिद के खुले हैं गो कि दरवाजे,
कुमारी किन्नरी लेकिन वहाँ जाते सिसकती है।' (द्वितीय अंक)

नाटक मे पृथक् से कोई कॉमिक नही है। कथानक के विविध प्रसगों द्वारा ही हास्य का निर्माण किया गया है।[१५५] यह अप्रकाशित है।

'सीता-वनवास' का उत्तरार्ध 'बेताब' ने लिखा था और पूर्वार्ध 'हश्र' ने। इस नाटक के सम्बन्ध मे इसी अध्याय मे पहले हम लिख चुके हैं।

'शंख की शरारत' एक प्रहसन है और सामान्य कोटि की रचना है।

'समाज' और 'हमारी भूल', ये दोनों त्रिअकी सामाजिक नाटक हैं। 'समाज' का दूसरे अंक का रेस-कोर्स से सम्बन्धित छठा दृश्य फिल्म द्वारा दिखलाया जाता था।

'बेताब' के सिने-नाटको मे 'देवी देवयानी', 'राधारानी', [१५६] 'सती सावित्री' और 'शैलबाला' के चलचित्र बम्बई की रणजीत फिल्म कम्पनी ने बनाये थे। इन सिने-नाटको को पूरे सम्वादो और गीतो के साथ प्रकाशित भी किया गया था।[१५७] इसके अतिरिक्त रणजीत मूवीटोन ने 'बेताब' के 'सितमगर', 'नादिरा', 'बैरिस्टर की बीबी' और 'कालेजकन्या' को भी फिलमाया था। अन्तिम दोनों गुजराती के लेखक तथा रणजीत फिल्म कम्पनी के सस्थापक चन्दूलाल शाह के उन्ही नामों के गुजराती नाटकों के हिन्दी अनुवाद थे।[१५८]

'अम्बरीप' किसी अन्य फिल्म कम्पनी द्वारा बनाया गया था।

'बेताब' के अधिकाश मौलिक सिने-नाटक और नाटक अप्रकाशित हैं, अतः उनके सही मूल्याकन और उन्हें पाठकों की भावी पीढ़ी के लिये सुलभ बनाने की दृष्टि से उनके समस्त उपलब्ध नाट्य-साहित्य के तत्काल प्रकाशन की आवश्यकता है[१५९]। यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'बेताब' ने रंगमंच और रजत-पट पर हिन्दी को सम्मान-

नीय स्थान दिलाने की दिशा मे उल्लेखनीय कार्य किया है। तभी वे परम विनय एवं आत्म-सतोष के साथ कहते हैं

'मैने हिन्दी, तेरे साहित्य को बदनाम किया।
फिर भी कुछ सोच के खुश हूँ कि कोई काम किया ।।'

उनके उत्तरकालीन नाटकों की भाषा मे हिन्दी का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग हुआ है। अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग घटा एव शेरो-शायरी कम आई है, जबकि गद्य अधिक बढा है।

(५) प० राधेश्याम कथावाचक (१८९०-१९६३ई०) . 'बेताब' ने हिन्दी रगमच की कुर्सी स्थापित की, तो प० राधेश्याम कथावाचक ने इस कुर्सी पर रगमच की दीवारो को ऊपर उठाया। उन्हें पारसी-हिन्दी रगमच पर इतना सम्मान प्राप्त हुआ कि 'मुन्शी' की जगह नाटककार 'पण्डित' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा[२६०] और उत्तरोत्तर समस्त नाटक मडलियो द्वारा हिन्दी के नाटक खेले जाने लगे, नई-नई नाटक मडलियाँ केवल हिन्दी के ही नाटक खेलने के लिये स्थापित होने लगी और अनेक 'मु शी' अपने स्थानो को सुरक्षित बनाये रखने के लिये 'पडित' बनने लगे तथा हिन्दी के नाटक लिखने लगे। कुछ हिन्दी लेखक भी इस ओर प्रवृत्त हुए।[२६१]

राधेश्याम कथावाचक का जन्म बरेली मे २५ नवम्बर, १८९० को हुआ था। उनके पिता का नाम प० बाँकेलाल था, जो गाने के शौकीन थे। सन् १८९८ मे बरेली मे न्यू अल्फ्रेड के 'चन्द्रावली', 'अलाउद्दीन' और 'अलीबाबा' नाटक देख कर बालक राधेश्याम मे इन नाटको की तर्जो पर गाने लिखने और नाटककार बनने की उत्कट आकाक्षा जाग उठी।[२६२] फलत समाचार-पत्र और हिन्दी-उर्दू का साहित्य पढ कर नाटककार बनने की तैयारी शुरु कर दी। सन् १९०७ मे किसी मडली द्वारा अभिनीत 'हूर' —'खूबसूरत बला' को देख कर राधेश्याम ने नाटककार बनने और हिन्दी में नाटक लिखने का सकल्प कर लिया।[२६३] मानकचन्द खत्री की न्यू अल्बर्ट के आग्रह पर राधेश्याम ने उनके 'रामायण' नाटक का न केवल सशोधन किया, उसके गाने भी ठीक किये और मच पर निर्देशन भी किया। नाटक बरेली मे खेला गया और बहुत लोकप्रिय हुआ। इसी नाटक मे मा० निसार ने सीता की भूमिका की थी।

सन् १९११ से १९१५ के बीच के वर्षो मे राधेश्याम ने 'वीर अभिमन्यु' नाटक लिखा, जो न्यू अल्फ्रेड द्वारा ४फरवरी, १९१६ को दिल्ली के सगम थियेटर मे खेला गया। इसे अद्भुत सफलता मिली। इसके अनन्तर राधेश्याम ने 'श्रवणकुमार', 'परमभक्त प्रह्लाद', 'परिवर्तन' आदि कई पौराणिक-सामाजिक नाटक लिखे। 'परिवर्तन' (मार्च, १९२५) निरंतर ९ दिन तक खेला गया। इसके पूर्व नाटक सप्ताह मे केवल दो बार—शनिवार और रविवार को खेले जाते थे।[२६४] 'परिवर्तन' की लोकप्रियता के बाद १ अप्रैल, १९२५ से राधेश्याम का वेतन ३००)रु० से बढ कर ५००)रु० मासिक हो गया और वे न्यू अल्फ्रेड के विधिवत् निर्देशक हो गये।[२६५] राधेश्याम के निर्देशन मे 'परिवर्तन' के अतिरिक्त उनके 'मशरिकी हूर', 'श्रीकृष्णावतार', 'रुक्मिणी-मगल' आदि छ. नाटक मचस्थ हुए। ३१ फरवरी, १९३० को अस्वस्थ हो जाने पर राधेश्याम ने न्यू अल्फ्रेड की नौकरी छोड़ दी।[२६६] इस समय उन्हें ७५०)रु० मासिक मिल रहे थे।

सन् १९३१ मे स्वास्थ्य ठीक होने पर राधेश्याम कलकत्ता गये और मादन थियेटर्स के लिये 'शकु तला' सिने नाटक लिखा और स्वयं उसका निर्देशन किया।[२६७] इसमे मिस कज्जन ने शकुतला की और मा० निसार ने दुष्यन्त की भूमिका की। इस फिल्म के गाने भी राधेश्याम ने ही लिखे थे। बाद मे 'शकु तला' को नाटक के रूप मे कोरिंथियन मे खेला गया, यद्यपि नाटक के रूप मे यह सफल न हो सका। नाटक मे भरत और चीते की कुश्ती भी दिखाई गई थी।[२६८]

इसके अनन्तर राधेश्याम ने 'महर्षि वाल्मीकि' और 'सती पार्वती' नाटक लिखे। 'सती पार्वती' माणिकलाल

मारवाड़ी की शाहजहाँ थियेट्रिकल कम्पनी द्वारा सन् १९४४ में दिल्ली में खेला गया, जो सफल रहा।[135]

राधेश्याम ने दिल्ली के दैनिक 'विश्वमित्र' के 'जयंती अंक' में 'हिन्दी नाट्य-साहित्य की प्रगति (सन् १९१५ से १९४० तक का इतिहास)' शीर्षक एक लेख लिखा था, जिसे बाद में 'वेंकटेश्वर समाचार' ने भी उद्धृत किया था।[136] रंगमंच से निकट का सम्बन्ध होने के कारण उनका यह लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है। सन् १९४७ में 'रामजन्म' पर वह एक फिल्म बनाना चाहते थे, किन्तु कई कारणों से यह योजना पूरी न हो सकी।

२७ अगस्त, १९६३ को इस यशस्वी नाटककार, नट एवं निर्देशक की इहलीला समाप्त हो गई।

राधेश्याम ने कुल मिला कर अठारह नाटक लिखे, जिनमें सत्रह हिन्दी के हैं: 'वीर अभिमन्यु (१९१५ ई०), 'श्रवणकुमार' (१९१६ ई०), 'परमभक्त प्रह्लाद' (१९१७ ई०), 'परिवर्तन' (१९१७ ई०), 'उषा-अनिरुद्ध' (१९२४ ई०), 'श्रीकृष्ण-अवतार' (१९२६ ई०), 'रुक्मिणी-मंगल' (१९२७ ई०), 'ईश्वरभक्ति' (१९२९ ई०), 'द्रौपदी-स्वयंवर' (१९२९ ई०), 'महर्षि वाल्मीकि' (१९३२ ई०), 'सती पार्वती' (१९३९ ई०), 'देवर्षि नारद' (१९६१ ई०), 'कृष्ण-सुदामा' (एकाकी), 'धटापथ' (एकाकी), 'शान्ति के दूत भगवान श्रीकृष्ण' (एकाकी), 'सेवक के रूप में भगवान कृष्ण' (एकाकी) और 'भारत माता' (एकाकी)। प्रयोग के रूप में प० राधेश्याम कथावाचक ने एक उर्दू नाटक भी लिखा है – 'मशरिकी हूर' (१९२६ ई०)। सभी नाटक मौलिक हैं।

वीर अभिमन्यु 'वीर अभिमन्यु' राधेश्याम कथावाचक का प्रथम नाटक है, जो ४ फरवरी, १९१६ को न्यू अल्फ्रेड नाटक मंडली द्वारा दिल्ली के संगम थियेटर में पहली बार खेला गया।[137]

कहना न होगा कि 'वीर अभिमन्यु' ने अच्छी सफलता तथा ख्याति प्राप्त की। नाटक पहले चार अंकों का था, परन्तु लम्बा हो जाने के कारण काट कर उसे बाद में तीन अंकों का बना दिया गया। कई गाने भी काटे गये और अभिनय की दृष्टि से वर्तमान रूप में नाटक चार घण्टे का रह गया है। वर्तमान त्रिअंकी नाटक में क्रमशः सात, सात और पाँच सीन हैं तथा अन्त में एक 'विशेष दृश्य' में परीक्षित का राज्याभिषेक दिखलाया गया है। सम्भवतः यह दृश्य नाटक को नाट्यशास्त्र के अनुसार सुखांत बनाने के दृष्टिकोण से ही रखा गया है। यों यह 'विशेष दृश्य' नाटक की मुख्य कथावस्तु की दृष्टि से आवश्यक नहीं है।

नाटक की आधिकारिक कथा प्रायः हिन्दी में है, किन्तु राजाबहादुर और सुन्दरी से सम्बन्धित 'कॉमिक' उर्दू में है। उर्दू में कॉमिक उस काल के हिन्दी का अल्प ज्ञान रखने वाले सामाजिकों की तुष्टि के लिये लिखा गया था,[138] जिससे वे भी नाटक देख कर हिन्दी-प्रेमी बनें। 'कॉमिक' के कथानक पर बँगला के प्रहसनकार सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय के 'टाइटेल ना भिक्षार झूलि' (१८८९ ई०) और अमृतलाल वसु के 'राजाबहादुर' (१८९१ ई०) का यत्किंचित् प्रभाव परिलक्षित होता है। राधेश्याम ने सुंदरी और राजाबहादुर की मृत्यु के सम्वाद तथा भूत होने के प्रकरण जोड़कर मौलिकता पैदा कर दी है। कॉमिक में कोई अश्लीलता नहीं आने पाई है।

प्रथम अंक के पाँचवें दृश्य में उत्तरा और अभिमन्यु के सम्वाद गद्य और पद्य, दोनों में बड़े सरस और काव्यपूर्ण बन पड़े हैं।

'वीर अभिमन्यु' को मंगलाचरण, प्रस्तावना और अन्त के विशेष सुखांत दृश्य की योजना द्वारा भारतीय नाट्यशास्त्र का जामा पहनाने की चेष्टा अवश्य की गई है, किन्तु नाटककार को इसमें सफलता नहीं प्राप्त हुई है। 'वीर अभिमन्यु' में कार्य-कारण सम्बंध को लेकर अभिमन्यु-वध और जयद्रथ-वध की दो कथाओं को एक साथ जोड़ दिया गया है। वस्तु-गठन में फलागम के सिद्धांत का त्याग कर पाश्चात्य विरोध और संघर्ष की पद्धति को अपनाया गया है और इस संघर्ष में, अनेक आशाओं-निराशाओं के बीच, असत् शक्तियाँ सत् पर विजय प्राप्त करती हैं और अभिमन्यु मारा जाता है। पाश्चात्य नाट्य-पद्धति के अनुसार भी कथा नायक के अवसान के आगे खींच कर नहीं ले जाई जा सकती। वास्तव में नाटक का नामकरण भ्रामक है और उसकी संपूर्ण सामग्री से एक नहीं, दो

पृथक् नाटको की रचना की जानी चाहिये थी। 'वीर अभिमन्यु' के दो नायक हैं– प्रथम अक मे अभिमन्यु और दूसरे-तीसरे अको मे अर्जुन, जो किसी भी नाट्य-विधान के अनुकूल नही है। इस त्रुटि के कारण नाटक के अभिनय से कोई समन्वित प्रभाव नही उत्पन्न हो पाता।

फिर भी 'वीर अभिमन्यु' प० राधेश्याम कथावाचक का सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक है। इसकी प्राय एक लाख से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी है। कुछ समय तक यह पजाब विश्वविद्यालय के एफ० ए० के पाठ्यक्रम मे भी रहा।[१७]

श्रवणकुमार अन्तर्साक्ष्य और अन्य सूत्रो से यह सिद्ध होता है कि 'श्रवणकुमार' राधेश्याम कथावाचक का क्रम मे दूसरा नाटक है, जो उन्होने सूरविजय समाज के लिये उसके सस्थापक दुर्लभरामजी रावल के दिये हुए कथानक पर उनके विशेष आग्रह पर १७-१८ दिन के भीतर ही लिख कर पूरा किया था।[१८] उस समय सूरविजय दिल्ली के सगम थियेटर मे अपना 'सूरदास' (हिन्दी) खेल रहा था और उसी के सामने दूसरी सडक पर कृष्णा थियेटर मे न्यू अल्फ्रेड ने आकर 'वीर अभिमन्यु' (१९१६ ई०) खेलना प्रारम्भ कर दिया था।

सूर-विजय नाटक समाज की स्थापना सन् १९१४ ई० मे हुई थी और उसका पहला नाटक था– चद्रूलाल मेहता का 'शुक्र-जयती उर्फ इद्रगर्व-खडन' तथा दूसरा नाटक था– नथुराम सुदरजी शुक्ल का 'सूरदास'। ये दोनो गुजराती मे थे। 'सूरदास' का हिन्दी अनुवाद लेकर सूरविजय नाटक समाज इदौर, पजाब आदि की यात्रा करके दिल्ली आया। 'श्रवणकुमार' समाज का तीसरा नाटक था। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष एक नया नाटक तैयार करने के क्रम से दिल्ली मे 'श्रवणकुमार' का उपस्थापन अनुमानत १९१६ ई० मे ही होना चाहिये।

उपर्युक्त तथ्यो को देखते हुए 'श्रवणकुमार' मे नाटककार ने अपने सक्षिप्त निवेदन की जो तिथि दी है (वसत-पचमी, १९१६ वि०), वह विक्रमी सवत् की न होकर ईस्वी सन् की प्रतीत होती है।

प० राधेश्याम कथावाचक ने 'श्रवणकुमार' के कथा-सघटन मे अधिक कौशल का परिचय दिया है। आधिकारिक कथा के माहात्म्य को बढाने के लिये चम्पकलाल और चमेली की प्रासगिक कथा जोड दी गई है। नाटक मे कोई 'कॉमिक' पृथक् से नही है। प्रासगिक कथा मे ही विनोद और व्यग्य-प्रहार की व्यवस्था की गई है। नाटक का नायक श्रवणकुमार यद्यपि प्यासे माता-पिता के लिये पानी भरते हुए राजा दशरथ के शब्दवेधी बाण से मारा जाता है, तथापि अन्त मे उसके माता-पिता के साथ जीवित होने, सशरीर स्वर्ग-प्राप्ति तथा माता-पिता को पुन. नेत्र-ज्योति की प्राप्ति, भगवान विष्णु के दर्शन तथा स्वर्ग मे पत्नी विद्या के दर्शन का चमत्कारिक वृत्तात जोड कर नाटक को सुखान्त बनाने का प्रयास किया गया है।

सवाद गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। गद्य अपेक्षाकृत अधिक है और सवादो मे तुकात की ओर प्रवृत्ति कम है या नही के बराबर है। भाषा मँजी हुई शुद्ध हिन्दी, प्रवाहपूर्ण, अलकृत और स्थल-विशेषो पर काव्यत्व अथवा दार्शनिक विवेचन के भार से दबी हुई है। पद्य प्राय साधारण कोटि के है। 'अगर इस खाल के जूते बनें, तो खाल हाजिर है' और 'कांधे पर मात-पिता की कॉवर उठाई' गाने बडे लोकप्रिय हुए।

नाटक तीन अंक का है और प्रत्येक अक मे क्रमश सात, आठ और चार 'सीन' हैं। प्रारम्भ मे मगलाचरण और प्रस्तावना अलग से है।

परिवर्तन · स्वय लेखक के अनुसार 'परिवर्तन' १९१६-१७ ई० मे लिखा गया था[१९] और 'परमभक्त प्रह्लाद' का लेखन १९१७ ई० मे प्रारम्भ हुआ था।[२०] इस प्रकार 'परिवर्तन' लेखन-क्रम मे प० राधेश्याम कथावाचक की तृतीय कृति है और 'परमभक्त प्रह्लाद' उसके बाद की रचना है। अत 'परिवर्तन' की भूमिका मे विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' का यह मत भ्रात है कि 'परिवर्तन' सन् १९१४ ई० मे लिखा जा चुका था।[२१] यह प० राधेश्याम कथावाचक का एकमात्र हिन्दी का पूर्णाग सामाजिक नाटक है, जो न्यू अल्फ्रेड के निर्देशक सोराबजी ओग्रा

की प्रेरणा से लिखा गया था।[२४८]

नाटक में समाज-सुधार के साथ देश-प्रेम का स्वर भी ऊँचा उठाया गया है और वेश्या चंदा का यह कल्याणकारी रूप बडा भव्य बन गया है

'गाऊँगी अब तो वैठ के भारत के राग मैं।
समझूँगी अब तो देश को अपना सुहाग मैं॥' (पृ० १५१)

देश-भक्ति का यह स्वरूप स्त्री-शिक्षा और चर्खे के आगे नहीं बढ़ सका है, परन्तु यह वह पृष्ठभूमि है, जिसके गर्भ से आगे चल कर 'परमभक्त प्रह्लाद' की अहिंसक क्राति ने जन्म ग्रहण किया।

लक्ष्मी नाटक की नायिका है, जो अपनी पति-सेवा, सूझ-बूझ, सच्चरित्रता, कौशल, धैर्य तथा सहिष्णुता द्वारा न केवल अपने पति को सही मार्ग पर ले आती है, वरन् चन्दा का भी उद्धार करती है और इस प्रकार अपने पति श्यामलाल तथा अपनी खोई हुई बहन सरस्वती (चंदा) को पुन: प्राप्त कर लेती है। चंदा की रिहाई के प्रश्न को लेकर लक्ष्मी (वियोगी) के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व भी अच्छा दिखाया गया है।

सवाद सहज, सुन्दर, अलकृत, उद्वेगपूर्ण तथा प्रवाहयुक्त हैं। नाटक तीन अक का है और पहले, दूसरे तथा तीसरे अको मे क्रमश दस, ग्यारह और दो सीन हैं। इस नाटक मे कोई मगलाचरण और प्रस्तावना नही है। नाटक सुखात है।

परमभक्त प्रह्लाद 'परमभक्त प्रह्लाद' प० राधेश्याम कथावाचक का एक प्रौढ एवं सशक्त नाटक है, जिसमें निरकुश शासन के विरुद्ध प्रजा-विद्रोह के रूप में राष्ट्रीयता को स्वर दिया गया है। शासक हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद ही इस विद्रोह का नेता है और उसकी माता एव राजमहिषी श्यामलता न केवल माँ होने के नाते, वरन् पीडितो का शरणस्थल होने के कारण उत्पीड़न और अनिचारो से द्रवित होकर उनका अन्त देखना चाहती है, किन्तु अपने पति को अप्रसन्न करके नही, समझा-बुझा कर, पीड़ित की प्राण-भिक्षा माँग कर, दया - प्रार्थना कर।

भारत के राजनैतिक क्षितिज पर गांधी के अभ्युदय के साथ ही प्रह्लाद के रूप मे एक अहिंसक क्रान्तिकारी का सृजन कर प० राधेश्याम कथावाचक ने नवयुग का सदेश दिया है। इस क्रान्ति के अस्त्र हैं–निर्भयता, विश्व-प्रेम, भगवत्-विश्वास, सत्य और अहिंसा। कहना न होगा कि गाँधी जी की अहिंसक क्रान्ति मे भी इन्ही अस्त्रो को अपनाया गया है। इस अहिंसक क्रान्ति से हिरण्यकशिपु-जैसा निरकुश और अहकारी दैत्य भी विचलित हो उठता है और उसका हृदय पुत्र-प्रेम के विरुद्ध चलने वाले तूफान से डगमगा उठता है, किन्तु तब भी उसका अपना निर्णय अटल रहता है।[२४९] इसके आगे लक्ष्य की प्राप्ति के साधन अलग हो जाते हैं– प्रह्लाद की लक्ष्य-प्राप्ति के लिये दैवी हस्तक्षेप आवश्यक है, जबकि गांधी के लिये विरोधी का हृदय-परिवर्तन ही पर्याप्त है। यही दोनो की विचार-धाराओ मे मौलिक अतर है।

देश की तत्कालीन आर्थिक स्थिति का कितना सच्चा चित्रण किसान की उस उक्ति मे मिलता है, जो वह हिरण्यकशिपु से निर्भयता के साथ कहता है: 'तेरे अन्याय की सच्ची तस्वीरें? गरीब किसानो की सूखी हड्डियाँ! तू यदि जगदीश है, तो देश मे अकाल क्यो है? तू यदि लक्ष्मीपति है, तो देश आज कगाल क्यो है? तू यदि न्यायकारी परमात्मा है, तो प्रजा अन्याय से बेहाल क्यो है? झूठे जगदीश का दावा करने वाले राजा, शर्म कर और हम बेकसो की मुरझाई हुई हालत को देख। जिस कौम की कमाई हुई दौलत से तू जगदीश होने का दावा करता है, उसी किसान-कौम की मुर्दा सूरतो को देख।' (पृ० ३०)। किसान ही नही, स्त्रियाँ भी अधर्म और असत्य के विरुद्ध सत्य का झडा ऊँचा उठाती हैं।[२५०] पराधीनता और दासता के विरुद्ध भी आवाज़ बुलन्द की गई है।[२५१]

सवादो मे ओज, प्रवाह, भावावेश एवं काव्यत्व के साथ दार्शनिक विचारों की भी अभिव्यक्ति हुई है।

इस त्रिअकी नाटक में क्रमश: सात, छ और छ 'सीन' हैं। प्रारम्भ मे मगलाचरण और प्रस्तावना अलग

से है। नाटक के भीतर यत्र-तत्र हास्य प्रमोद की उक्तियो मे भरा पडा है, किन्तु 'कॉमिक' अलग से नही है।

ऊषा-अनिरुद्ध : यह नाटक भी सन् १९२४ ई० मे सूरविजय नाटक समाज के बरेली आने पर लवजी के आग्रह पर बीस दिन के भीतर लिखा गया था। इसमे ऊषा-अनिरुद्ध के प्रणय और विवाह की कथा के साथ शैवो और वैष्णवो की मैत्री का भी प्रतिपादन किया गया है। दृढ सकल्प वाली ऊषा इस नाटक की नायिका है और पिता बाणासुर का भय भी उसे उसके प्रण से डिगा नही पाता। प्रेयसी के रूप मे अपने पति अनिरुद्ध को बचाने के लिये स्वय खड्ग का वार सहने को तैयार हो जाती है। बाणासुर अपने इष्टदेव शिव के समझाने पर अपनी पुत्री का विवाह वैष्णव राजकुमार अनिरुद्ध से कर देता है।

पाखडी और अनपढ साधुओ एव महतो के छल-कपट और अज्ञान को लेकर हास्य का सृजन किया गया है। एतदर्थ 'कॉमिक' को मुख्य कथानक से अलग रखा गया है। इस कॉमिक के पात्र है – वे वैष्णव और शैव, जो अपने अपने धर्मो का ककहरा भी नही जानते, किन्तु धर्म प्रचार और एक-दूसरे को नीचा दिखाने मे सबसे आगे दिखाई पडते हैं।

अन्य नाटको की भाँति 'ऊषा-अनिरुद्ध' भी तीन अको का नाटक है और प्रत्येक अक मे क्रमश. सात, आठ और तीन 'सीन' हैं। प्रारम्भ मे मगलाचरण और प्रस्तावना अलग से है।

श्रीकृष्ण-अवतार 'श्रीकृष्ण-अवतार' भी 'परमभक्त प्रह्लाद' की भाँति एक सशक्त समानधर्मी रचना है। इसमे भी कस की निरकुशता और अत्याचार के विरुद्ध जन-आन्दोलन और क्रान्ति का आवाहन किया गया है, किन्तु यह क्रान्ति अहिंसक क्राति नही, रक्त-क्रान्ति है, जिसमे असत् शक्तियो का सहार होता और वदिनी सत् शक्ति को मुक्ति प्राप्त होती है। अक्रूर उस जन-आन्दोलन के नेता हैं, जिसे कृष्ण और उनके ग्वाल-दल से शक्ति और सबल प्राप्त होता है। वे कस के आमत्रण को लेकर नन्दगाँव जाते हैं और कृष्ण को साथ लाकर उनके द्वारा कंस-वध कराते तथा इस प्रकार मथुरा के निरकुश शासन का अत कराते है। कृष्ण-चरित्र के माध्यम से देश की मुक्ति के लिये तत्कालीन विदेशी शासन के विरुद्ध क्रान्ति का मार्ग प्रदर्शित किया गया है। प० राधेश्याम कथावाचक सभवत इस समय तक अहिंसक क्रान्ति के बजाय रक्त-क्रान्ति मे विश्वास करने लगे थे। नाटक मे तत्कालीन भारत की दशा का चित्र देख कर जनता इस पर मुग्ध हो गई और यही कारण है कि इस नाटक का सर्वत्र भव्य स्वागत हुआ।

सवाद सशक्त, चुस्त, प्रत्युत्पन्नमतित्व-युक्त और स्थल-विशेष पर अलकारिक एव काव्यपूर्ण हैं। एकाध स्थलो पर तथ्यो के प्रस्तुत करने मे भ्रान्ति हुई है, यथा राधा का गोलोक से साथ आना न बता कर क्षीरसागर से साथ आना बताया गया है।[१८२] व्याकरण-दोष भी हैं।[१८३] नाटक त्रिअकी है और प्रत्येक अक में क्रमश आठ, आठ और तीन 'सीन' है। मगलाचरण और प्रस्तावना अलग से है। नाटक मे कोई 'कॉमिक' नही है।

रुक्मिणी मगल - 'श्रीकृष्ण अवतार' कृष्णचरित्र का पहला भाग अथवा पूर्वाश है, तो 'रुक्मिणी मगल' उसका दूसरा भाग अथवा मध्याश। इसका मूल नाम 'रुक्मिणी-कृष्ण' है। इस शृखला का तीसरा भाग अथवा उत्तराश 'द्रौपदी-स्वयवर' है।

'रुक्मिणी-मगल' मे कस-वधोपरात यवन देश के राजा और मगध-नरेश जरासध के मित्र एव सहायक काल-यवन के भस्म होने, रुक्मिणी-हरण और प्रद्युम्न-मायावती-मिलन और प्रद्युम्न के द्वारका लौटने की कथा वर्णित है। इस नाटक के नायक कृष्ण हैं, किन्तु अतिम अक मे उनका चरित्र कुछ गौण-सा हो जाता है, क्योकि उसमे मुख्य रूप से प्रद्युम्न-मायावती-प्रणय की कथा वर्णित है।

इस त्रिअकी नाटक मे क्रमश. आठ, सात और तीन 'सीन' हैं। प्रारम्भ मे मगलाचरण और प्रस्तावना तो है, किन्तु कोई 'कॉमिक' अलग से नही है। कृष्ण, नारद आदि की उक्तियो मे हास्य की झलक मिल जाती है।

नाटक की भाषा शुद्ध हिन्दी है। उर्दू के प्राय: बोलचाल के काम आने वाले शब्दों, यथा मतलब, तलवार, ज़्यादा, मालूम आदि का ही प्रयोग हुआ है।

ईश्वर-भक्ति : 'ईश्वरभक्ति' का उद्घाटन सन् १९२८ में कांग्रेस (कलकत्ता अधिवेशन) के तत्कालीन राष्ट्रपति पं० मोतीलाल नेहरू ने किया था और निरन्तर पांच घण्टे तक उसे देख कर यह कहा था—'मैंने इससे अच्छा नाटक नहीं देखा'।[१८८] अम्बरीष की निर्मल और पावन भक्ति से प्रभावित होकर उनका छोटा भाई मणिकान्त और उसकी पत्नी, दोनों सन्यासी हो जाते हैं। इस नाटक मे भी 'घंटा पथ' के घंटाकरण की अनुकृति के सेठ घटाकरण को हास्य के सृजन के लिये रखा गया है, जो कलदार को ही सर्वस्व और भगवान मानता है। 'कॉमिक' नाटक का अगभूत होकर आया है।

तीन अक के इस नाटक मे क्रमश आठ, छ और छ सीन हैं। अत मे एक विशेष दृश्य में है नाटक का उप-सहार-दुर्वासा के ब्रह्मलोक, शिवलोक और विष्णुलोक जाने और अन्त मे अम्बरीष से क्षमा-याचना कर सुदर्शन चक्र से छुटकारा पाने की कथा। मगलाचरण और प्रस्तावना अलग से दी गई है।

द्रौपदी-स्वयवर . यह कृष्णचरित्र का तीसरा और अन्तिम भाग है। इसमे एक ओर द्वारका मे रह कर सूर्य द्वारा प्रदत्त सत्राजित् की स्यमन्तक मणि का पता लगाने और जाम्बुवती तथा सत्यभामा से विवाह और दूसरी ओर हस्तिनापुर और पाचाल देश की राजनीति मे प्रवेश कर पाडवो की सहायता और पाचाली से पाडवो के विवाह के बाद युधिष्ठिर को खाडव-प्रस्थ (हस्तिनापुर) का राजा बनाने मे योगदान देने की कथा वर्णित है। नाटक के अन्तिम अक मे भौमासुर-वध की कथा भी दी गई है। ये तीनो कथाएँ कृष्ण के राजनैतिक चरित्र मे जुडी हुई होने के बावजूद एक-दूसरे से असबद्ध हैं, अत कुल मिला कर कोई समन्वित प्रभाव नही उत्पन्न कर पाती। नाटक की नायिका द्रौपदी न होकर कृष्ण उसके नायक प्रतीत होते हैं, अत. इस नाटक का 'द्रौपदी-स्वयंवर' नाम भ्रामक है।

इस नाटक मे भी तीन अक है। प्रारम्भ मे अन्य नाटको की ही भाँति मगलाचरण और प्रस्तावना है। नाटक मे कोई 'कॉमिक' नही है।

महर्षि वाल्मीकि : 'महर्षि वाल्मीकि' मे एक नये टेकनीक का प्रयोग किया गया है। यह नाटक मुख्यत· गद्य नाटक है और कुछ 'गानो' और अन्तिम अक मे केवल कवि वाल्मीकि की पद्योक्तियों को छोड कर अन्यत्र कही भी पद्य का प्रयोग नही किया गया है। कवि वाल्मीकि का कविता मे बोलना अस्वाभाविक नही प्रतीत होता। सम्वाद रसानुकूल, ओज और प्रवाह से युक्त, भावावेग-वाहक और स्थल-विशेषो पर कवित्वपूर्ण हैं।

नाटक मे एक ही व्यक्ति के तीन विविध रूपों का चित्रण करने मे नाटककार ने अच्छी सफलता प्राप्त की है—किसान क्षेत्रपाल ही दस्यु रत्नाकर बनता और अन्त मे क्रौंच पक्षी के वध को देख कर करुणोद्रेक से महाकवि बन जाता है। इसमे छन्द, भाव, अलंकार, कल्पना और रागिनी को भी मानवीय पात्रो के रूप में मंच पर लाया गया है, यद्यपि उनके मुखो में कोई उक्ति नही दी गई है।

नाटक तीन अक का है। मगलाचरण के साथ प्रस्तावना भी है, जिसके अन्तर्गत सरस्वती-नारद की वार्ता के साथ कविता, कल्पना, रागिनी, छन्द, भाव और अलकार भी रूप-धारण कर मंच पर आते हैं। नाटक में कोई पृथक् 'कॉमिक' नही है।

सती पार्वती . इस नाटक का लेखन यद्यपि सन् १९१६ ई० में ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उसे पूरा होने में लगभग बीस वर्ष लग गये। इसका प्रकाशन सन् १९३६ ई० में हुआ। प० राधेश्याम कथावाचक ने इस नाटक के सम्वादो को बडे प्रेम और पूर्णता के साथ गढा है। दूसरे अक के पाँचवें सीन में शंकर और सती के सम्वाद बहुत सुन्दर, काव्यत्वपूर्ण, तीखे और मर्मस्पर्शी बन पडे है। दक्ष के दरबारी कवि कविराय द्वारा आयोजित 'कवि-सम्मेलन' के माध्यम से हास्य को भी उच्च स्तर पर प्रस्थापित किया गया है।

कथा की दृष्टि से, जैसा कि नाटक के नामकरण से भी स्पष्ट है, इसमें शंकर-पत्नी के दोनो रूपो—सती और पार्वती के जीवन की कथा एक ही नाटक मे कही गई है। कालगत एकता की दृष्टि से यह त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि सती

के जन्म और दाह तथा पार्वती के जन्म और विवाह तक की कथा लम्बे समय को समेटती है, जो सामाजिक के रस-प्रवाह को क्षुण्ण कर देता है।

पारसी रंगमंच के टेकनीक की दृष्टि से इसमें अनेक 'ट्रिक सीनों' का प्रयोग किया गया है, जो सामाजिक के कौतूहल को आदि से अन्त तक बनाये रखते हैं।

नाटक तीन अंक का है। प्रारम्भ में मंगलाचरण और प्रस्तावना का विधान किया गया है। कॉमिक उच्च स्तर का है, जो नाटक का अंगभूत होकर आया है, यद्यपि कविराय द्वारा आयोजित कवि-सम्मेलन में आधुनिकता की छाप मिलती है।

देवर्षि नारद पं० राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की शृंखला में 'देवर्षि नारद' उनका अन्तिम पूर्णांग नाटक है, जिसमें स्वतन्त्र भारत की दयनीय दशा का अच्छा चित्रण हुआ है। पं० राधेश्याम कथावाचक की माया-नगरी आधुनिक भारत का प्रतिरूप है, जिसको रूप, रुपया और बिजली की चमकती शक्ति द्वारा संचालित किया जाता है और जहाँ आधुनिक फैशन, आधुनिक समाज तथा आधुनिक सभ्यता का बोलबाला है। इस मायानगरी में 'गुण्डम' और 'नौकरशाही' की तूती बोलती है और अंधेरनगरी की ही भाँति ही टके सेर भाजी और टके सेर खाजा मिलता है। 'चोरबाजारी' भी जोरों पर है। स्वतन्त्र भारत की प्रगति पर यह एक चुटीला व्यंग्य है। नाटक के द्वारा तपस्या, विवाह, सुन्दरता और भोजन में से पुन तपस्या की प्रतिष्ठा कर तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति में समन्वय की आवश्यकता पर ज़ोर देकर देश के उद्धार का मार्ग भी प्रदर्शित किया गया है, जिसके बिना देश और समाज की भौतिकवादी दौड़ 'नारद-मोह' की ही भाँति ही निरर्थक और सारहीन सिद्ध होगी।

पूर्ववर्ती नाटकों की भाँति यह नाटक भी, आधुनिक काल की रचना होने के बावजूद, तीन अंकों का ही है और प्रत्येक में क्रमश चार, पाँच और एक सीन हैं। 'कॉमिक' नाटक का अंगभूत होकर आया है। प्रारम्भ में मंगला-चरण और प्रस्तावना भी रखी गई है। मराठी के भावे युग के नाटकों की भाँति गणेश-मूर्ति की भी मंच पर स्था-पना की गई है। अन्तर केवल यह है कि भावे के गणेश जीवित होते थे और राधेश्याम के गणेश केवल-मात्र मूर्ति-स्वरूप हैं।

इस नाटक का अभिनय बरेली के राधेश्याम नाटक समाज ने किया था।

एकांकी नाटक राधेश्याम के एकांकियों में 'घण्टापथ' सर्वश्रेष्ठ है। यह एक सामाजिक प्रहसन है, जिसमें धन, ज्ञान और भगदान में अन्तिम को ही बड़ा सिद्ध किया गया है। इसका नायक घंटाकरण है, जिसका चरित्र 'ईश्वर-भक्ति' के घंटाकरण से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, परन्तु दोनों में कुछ अन्तर भी है। दोनों के घंटाकरण धन या कलदार को ही सबसे बड़ा मानते हैं और भगवान का नाम कान में न पड़े, इसलिये 'घंटापथ' का घंटाकरण कानों पर घंटे लटकाता है और घण्टापथ का प्रचार करता है, जबकि 'ईश्वरभक्ति' का घंटाकरण कलदार की थैली की झनकार से अपने कानों और अन्त करण को पवित्र करता है और भक्त अम्बरीष के विरुद्ध उनके छोटे भाई मणि-कान्त के लिये कलदार की सहायता से 'जन-मत' खरीदने की चेष्टा करता है।

एकांकी में तीन 'सीन' हैं और गानों के अतिरिक्त पद्य-सभाषण भी हैं, किन्तु कुछ कम।

'कृष्णसुदामा' में पाँच सीन हैं और इसमें गद्य-पद्य-संवादों का उपयोग किया गया है। इस एकांकी में गरीबी-अमीरी के निदर्शन के साथ जन्मभूमि की महिमा और प्रेम का बखान किया गया है।[२८५] इसमें सपत्ति के ट्रस्टीशिप के सिद्धांत का भी प्रतिपादन किया गया है और इस प्रकार राधेश्याम का सुदामा 'बेताब' के 'सुदामा' की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील बन गया है।

'सेवक के रूप में भगवान श्रीकृष्ण' और 'शांति के दूत भगवान श्रीकृष्ण' दोनों पौराणिक एकांकी हैं, जिनमें क्रमश चार और पाँच दृश्य हैं। 'भारत माता' पं० राधेश्याम का सामाजिक-राष्ट्रीय एकांकी है, जिसमें स्त्री-शिक्षा की समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

(६) ला० किशनचन्द 'ज़ेबा' – विक्टोरिया और न्यू अल्फ्रेड के बाद जिस नाटक मंडली ने सर्वाधिक हिन्दी रगमंच की अभिवृद्धि मे योगदान दिया, वह थी–काठियावाड का 'सूर विजय-नाटक समाज'। गुजराती नाटककार नथुराम सुन्दरजी शुक्ल और प० राधेश्याम कथावाचक के अतिरिक्त किशनचन्द 'ज़ेबा' सूर विजय के एक अन्य यशस्वी लेखक थे। उन्होंने कई नाटक लिखे– 'ज़ख्मी पजाब' (१९२१ ई०), 'देशदीपक' (१९२२ ई०), 'नवीन भारत' (१९२२ ई०), 'भारत-उद्धार' (१९२२ ई०), 'भारत दर्पण या कौमी तलवार' (१९२२ ई०), 'गरीब हिन्दुस्तान' (१९२२ ई०), 'पद्मिनी' (१९२३ ई०), 'ज़ख्मी हिन्द' (१९२५ ई०), 'शहीद सन्यासी' (१९२७ ई०), 'कबीर', 'महाराणा प्रताप' आदि।[२५]

'देशदीपक' उर्दू नाटक 'चिरागे वतन' का हिन्दी अनुवाद है। नाटक 'तुम दाता तारनहार, दुख-दर्द-निवारनहार' प्रार्थना के बाद, बिना किसी सूत्रधार-नटी की प्रस्तावना के, तत्काल प्रारम्भ हो जाता है। इसमे कुल तीन अक है, जिनमे से प्रत्येक मे क्रमश छ, पाँच तथा पाँच दृश्य हैं।

यह एक राष्ट्रीय नाटक है, जिसकी पृष्ठभूमि मे देश के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन की झलक, विदेशी के त्याग और खद्दर के व्यवहार की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। इसमे 'स्वदेशी भोजन, भाषा और भेष के त्रिवर्ग को जातीय मंच' बना तथा 'जातीय (राष्ट्रीय) आन्दोलन मे पूर्णतया भाग लेकर' पतित भारत को ऊपर उठाने का सकल्प व्यक्त किया गया है। नाटक का गीत 'नारी का सच्चा गहना है काम-काज मे रहना। चर्खा कातो री बहना'' स्वदेशी-चेतना से परिपूर्ण है।

नाटक की भाषा सरल, ओजपूर्ण और मुहावरेदार है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है

मुसलमान के दो–बिना हाथ के वह हाथ दिखाता है, वहीं उसके हाथ की सफाई है। तुम जिसको बेहाथ समझते हो, वह तुम्हारे हाथ की शक्ति उसी के हाथ की है, जिसका तुम दुर्प्रयोग कर रहे हो। (अक ३, दृश्य ५, पृ० ८१)

'भारत दर्पण या कौमी तलवार' मे 'ज़ेबा' द्वारा प्रथम महायुद्ध की पृष्ठभूमि मे खिलाफत-आन्दोलन, पजाब के रक्तकाड और असहयोग आन्दोलन के चित्र उरेहे गये हैं। अन्त मे भारत की नौका दासता और दमन के भँवर से निकल कर 'स्वराज्य मदिर' के तट पर पहुँच जाती है और ब्रिटिश पार्लमेंट गाँधी जी को 'स्वराज्य का झण्डा' दे देती है।

इस नाटक मे एक ओर गाँधी, लाजपतराय, मौ० मुहम्मद अली, मौ० शौकत अली आदि जीवित पात्र दिखलाये गये है, तो दूसरी ओर चडी, भारत माता, भूमि, स्वतन्त्रता देवी आदि को मानवी रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

इस नाटक मे भी कुल तीन अक है और प्रत्येक अक मे क्रमश छ., सात तथा तीन दृश्य है। सम्वादो की भाषा पात्रानुसार हिन्दी या उर्दू है। हिन्दी सम्वादो की भाषा शुद्ध हिन्दी है। गद्य-वार्ता के साथ पद्यो का प्रयोग किया गया है। मगलाचरण मे सूत्रधार-नटी द्वारा देश-गान 'देवभूमि नमस्कार' गवाया गया है।

'गरीब हिन्दुस्तान' बहुसमस्यावादी एक साधारण नाटक है। इसमे एक साथ अस्पृश्यता-निवारण, हिन्दू-मुस्लिम-एकता, गो-वध-निषेध, आधुनिक शिक्षा, ऋणग्रस्तता, बढती हुई महँगाई और दरिद्रता आदि कई वर्तमान समस्याएँ उठाई गई हैं। भाषा उर्दू-हिन्दी मिश्रित है और सम्वाद भी सामान्य स्तर के हैं। 'कॉमिक' यद्यपि नाटक का अग बन कर आया है, किन्तु 'वोमे' आदि की चर्चा के कारण उसका स्तर गिर गया है।

शेष नाटकों मे 'कबीर' पौराणिक, 'पद्मिनी' और 'महाराणा प्रताप' ऐतिहासिक तथा शेष नाटक राष्ट्रीय एवं राजनैतिक समस्याओ को लेकर लिखे गये हैं। ज़ेबा की भाषा में उर्दूपन अधिक है।

(७) ला० बिश्वंभरसहाय 'व्याकुल' (··· १९२५ ई० मृत्यु) – व्याकुल भारत नाटक मडली के सस्थापक ला०

विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' का नाटक 'बुद्धदेव अथवा मूर्तिमान त्याग' (१९१७ ई०) सर्वप्रथम दिल्ली के कृष्णा थियेटर (अब 'मोती टाकीज') में खेला गया था, जिसका उद्घाटन हकीम अजमलखाँ ने किया था।[१८७]

नाटक की भाषा शुद्ध हिन्दी है, जो सहज प्रवाहयुक्त, सुबोध, सरस और परिष्कृत है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'अपने वर्ग का यह पहला नाटक है, जिसकी भाषा वर्तमान साहित्य की भाषा के मेल में आई है'।[१८८] डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इसे 'भाषा, भाव, रस, वस्तु, अभिनयशीलता तथा चरित्रचित्रण आदि के विचार से हिन्दी साहित्य में अद्वितीय' कृति माना है।[१८९] सम्वाद गद्य-पद्य मिश्रित हैं, किन्तु गद्य अधिक है, पद्य कम हैं। गद्य भी यत्र-तत्र तुकांत और अनुप्रास-युक्त है। पद्य खड़ी बोली में हैं और प्रसाद गुण से परिपूर्ण हैं। पद्य में कहीं-कहीं उर्दू छन्दों का भी उपयोग किया गया है।

नाटक की कथा सुगठित है और वस्तु-विन्यास में सभी मार्मिक स्थलों पर विशेष रूप से दृष्टि रखी गई है, किन्तु नाटक में बौद्धकालीन संस्कृति का वास्तविक चित्रण न हो पाने के कारण [१९०] काल-दोष आ गया है। कई स्थलों पर चमत्कारपूर्ण दृश्यों का आयोजन किया गया है। काम द्वारा परीक्षा के समय वसंत का छाना, विकराल मूर्तियों के मुखों से अग्नि और सर्प का निकलना, बोधिसत्त्व का पृथ्वी से ऊपर उठना आदि इसी प्रकार के दृश्य हैं।

प्रस्तावना में नटी-सूत्रधार की जगह धर्म, पाखंड, दया, हिंसा और शांति की परस्पर वार्ता के मध्य प्रकट हो शिव द्वारा बोधिसत्त्व के अवतार की घोषणा की जाती है। 'कॉमिक' का भी विधान है, जिसमें स्वार्थ, पाखंड और हिंसा क्रमशः पुजारी, साधु और साधुनी बन कर धनपति को ठगते हैं। नाटक तीन अंक का है। प्रत्येक अंक में क्रमशः दस, पाँच और पाँच दृश्य हैं।

सम्वाद सरस, सुन्दर और सशक्त है।

(८) मु० जनेश्वर प्रसाद 'मायल' – व्याकुल भारत के दूसरे नाटककार थे–जनेश्वर प्रसाद 'मायल'। 'मायल' ने चार नाटक लिखे–'सम्राट् चन्द्रगुप्त', 'तेगे सितम', 'झाँसी की रानी' तथा 'जवानी का नशा'। 'सम्राट् चन्द्रगुप्त' की भाषा हिन्दी-उर्दू मिश्रित है, जबकि 'तेगे सितम' अँग्रेजी के 'साइन आव दि क्रास' का उर्दू अनुवाद है। 'सम्राट् चन्द्रगुप्त' द्विजेन्द्रलाल राय के 'चन्द्रगुप्त' का छायानुवाद है।

(९) तुलसीदत्त 'शैदा' – तुलसीदत्त 'शैदा' मादन थियेटर्स के प्रबन्ध के अन्तर्गत आने वाली कोरन्थियन नाटक मंडली[१९१] तथा पारसी अल्फ्रेड नाटक मंडली [१९२] के नाटककार रहे हैं। 'शैदा' ने हिन्दी में कई नाटकों की रचना की, जिनमें प्रमुख हैं–'नल-दमयंती', 'भक्त सूरदास अर्थात् बिल्वमंगल' (१९२३ ई०), 'जनकनन्दिनी' (१९२५ ई०), 'नारी-हृदय' (१९२७ ई०) तथा 'लज्जा'। 'शैदा' ने कुछ राष्ट्रीय एकांकी भी लिखे हैं, यथा 'जीवन का अन्तिम दृश्य' (१९२३ ई०), 'प्रायश्चित्त का फल' (१९२४ ई०) आदि।

(१०) हरिकृष्ण 'जौहर' – हरिकृष्ण 'जौहर' भी मादन थियेटर्स के प्रबन्ध की कोरन्थियन और पारसी अल्फ्रेड (खटाऊ वाली) के दूसरे हिन्दी नाटककार थे। इनके प्रमुख नाटक हैं – 'पतिभक्ति', 'कन्या-विक्रय'[१९३] और 'वीर भारत'।

'पतिभक्ति' एक सामाजिक नाटक है, जो कलकत्ते में लगभग पन्द्रह वर्ष तक चला।[१९४] इसी से इस नाटक की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इनके अन्य नाटक हैं–'चन्द्रहास', 'उषा-हरण', 'शालिवाहन', 'भारत सपूत' आदि।

'जौहर' ने राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु' के राजाबहादुर-सुन्दरी वाले कॉमिक के आधार पर 'देश का लाल' नामक नाटक भी लिखा था।[१९५]

(११) श्रीकृष्ण 'हसरत' – श्रीकृष्ण 'हसरत' ने हिन्दी-उर्दू-मिश्रित कई नाटक लिखे, जिनमें प्रमुख

है-'नाटक सावित्री-सत्यवान' (१९२० ई०), महात्मा कबीर' (१९२२ ई०), 'रामायण' और 'श्रीगंगावतरण नाटक'।

(१२) मुंशी 'दिल'–मुंशी 'दिल' का उर्दू-बहुल भाषा में लिखित नाटक है–'लैला-मजनू'। नाटक का 'हम्दे-खुदा' (ईश्वर-प्रार्थना) हिन्दी मे है [११] और इसमें 'देवता', 'मिलन' आदि जैसे हिन्दी शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इस त्रिअकी नाटक को दि पारसी मिनर्वा थियेट्रिकल क० आफ बम्बई ने खेला था।

(१३) मुंशी अनवर हुसेन 'आरज़ू'–मुंशी अनवर हुसेन 'आरज़ू' पारसी-हिन्दी रंगमच के सशक्त नाटककार रहे हैं। 'आरज़ू' ने हिन्दी मे कई मौलिक नाटक लिखे, जिनमे 'हिन्दू स्त्री' (१९२४ ई०), 'अजामिल-उद्धार' (१९२४ ई०), 'सती सारधा', 'दुःखी भारत' (१९२५ ई०), 'मदिरा देवी' (१९२५ ई०), 'झाँसी की रानी' (१९२७ ई०), 'सुरीली बाँसुरी' (१९३९ ई०), 'यहूदी की लडकी', 'खूने नाहक' आदि प्रमुख हैं।

'खूने नाहक' अँग्रेजी के नाटककार शेक्सपियर के 'हैमलेट' का अनुवाद है।

सती सारधा व मातृ-भक्ति इस औरगजेबकालीन नाटक मे विदेशी शासन और दासता के विरुद्ध देशात्मबोधक विचार व्यक्त किये गये हैं, जिन पर तत्कालीन राष्ट्रीय विचारधारा की छाप है। महोबा-नरेश चपतराय की कचुकीराय को फटकार उसकी देशभक्ति और स्वातंत्र्यप्रियता की परिचायक है

'चपतराय–इस नदन-कानन को नर्क बनाने वाले, देश की उन्नति को नष्ट करने वाले, उसकी शान्ति को अशान्त करने वाले, विदेशियो की सहायता करके अपने घर का नाश करने वाले, अपनी आँखों के सामने अपनी माता की सम्पत्ति लुटवाने वाले डाकू हम नही, तू है। मुगल-सम्राट् और उसके ये सरदार डाकू हैं, जो इस देश को, जिस पर उन्हें कोई अधिकार नही, न वो उसकी मिट्टी से बने हैं और न यहाँ के अन्न से पले हैं, फिर भी उसको नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। बोलो, उत्तर दो, विदेशियो को हम पर क्या अधिकार है? ये तुम-जैसे खुशामदियों ने, मान के लालची कुत्तो ने विदेशियों को देश सौंप दिया।'[२७]

सवादो मे भावावेग, ओज, स्फूर्ति और मर्म को छूने की शक्ति है। भाषा प्राजल, बोधगम्य और प्रवाह-युक्त है।

नाटक तीन अक का है और प्रत्येक अंक मे क्रमशः छ, पाँच और तीन दृश्यों का समावेश हुआ है।

'दुःखी भारत' राष्ट्रीय, 'झांसी की रानी' ऐतिहासिक, 'मदिरा देवी' तथा 'हिन्दू स्त्री' सामाजिक एवं 'अजामिल उद्धार' पौराणिक नाटक है। 'यहूदी की लडकी' चार अक का नाटक है। नाटक की नायिका हन्ना का अतिम दर्द-भरा गीत 'अपने मौला की मैं जोगन बनूँगी' बहुत लोकप्रिय हुआ।

'आरज़ू' की भाषा साफ-सुथरी और प्राजल है।

(१४) पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८९२–१९४५ ई०)–हिन्दी के उपन्यासकार पं० विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने नाटक लिखने की आजमाइश की, जिसका परिणाम था–'भीष्म' (१९१८ ई०), 'अत्याचार का परिणाम' (१९२१ ई०), 'अहिल्योद्धार' (१९२४ ई०) तथा 'हिन्दू विधवा' (१९३० ई०)।

'कौशिक' जी के 'भीष्म' नाटक मे तीन अक हैं, जिनमे कुल मिलाकर अट्ठाइस दृश्य हैं। इसमे भी पारसी शैली पर पद्य-संवादों, गीतो और स्वगत का प्रयोग किया गया है। इसका मचन भारतेन्दु नाटक मडली ने किया, जिसमे केशवराम टडन ने भीष्म की भूमिका की।[२८]

'अहिल्योद्धार' का कथानक द्विजेन्द्रलाल राय के बँगला नाटक 'पाषाणी' से लिया गया था। अहिल्या के पापपूर्ण चरित्र के कारण यह नाटक न्यू अल्फ्रेड मे नही खेला जा सका।

'हिन्दू-विधवा' नाटक 'कौशिक' जी ने न्यू अल्फ्रेड के मुसलमान कलाकार की एक 'लचर कहानी' के आधार पर लिखा था।[२९] नाटक के सवाद सजीव, कुछ स्थलो पर काव्यपूर्ण, सचोट और मर्मस्पर्शी हैं, किन्तु वस्तु-गठन वस्तुगत एकता के जिन सूत्रो को लेकर किया गया है, वे अत्यन्त क्षीण हैं। नायक मणिधरराय के चरित्र के द्वारा ही

तीन विधवाओं की पृथक्-पृथक् कथाओं को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया गया है ।

इस नाटक के प्रगतिशील विचारों का तत्कालीन रूढ़िग्रस्त सनातनधर्मी जनता ने कड़ा विरोध किया, जिसके फलस्वरूप नाटक दो-एक दिन बंद रहा । बाद में कुछ संशोधित रूप में 'सुघरा जमाना' नाम से उसे नौचंडी (मेरठ) के मेले में (होली के उपरांत सन् १९३१ ई० में) खेला गया ।[1]

नाटक तीन अंक का है और प्रत्येक अंक में क्रमशः आठ, नौ और चार सीन हैं । प्रारम्भ में मंगलाचरण और प्रस्तावना अलग से है । दौलतराम और कोकिला को लेकर हास्य की सृष्टि की गई है और हँसी–हँसी में स्त्री-अधिकार, फैशन, स्वदेशी-आंदोलन आदि की चर्चा भी हो गई है ।

(१५) पं० माधव शुक्ल (१८८१-१९४२ ई०)-पारसी-हिन्दी (अथवा पारसी-उर्दू) रंगमंच की प्रतिक्रिया-स्वरूप भारतेन्दु और उनके मंडल के सदस्यों ने काशी और कानपुर में अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की और उसके लिये नाटक लिखे और खेले । यह प्रतिक्रिया बेताब-युग का अंत होते-होते अवरुद्ध होकर रह गई । प्रतिक्रिया का दूसरा सूत्र पकड़ कर इलाहाबाद के पं० माधव शुक्ल ने सन् १८९८ ई० में 'सीय स्वयंवर' प्रकाशित कराया और 'श्रीरामलीला नाटक मंडली' संगठित कर उसी वर्ष रामलीला के अवसर पर उसे अभिनीत किया । पौराणिक कथानक लेकर इसमें ब्रिटिश कूटनीति और राष्ट्रीय नेताओं की नरमदलीय नीति पर प्रहार किया गया था । इस प्रतिक्रिया को जम्मू में पारसी अल्फ्रेड नाटक मंडली द्वारा अभिनीत 'महाभारत' को देखकर बल मिला ।[2] पं० माधव शुक्ल ने उसी की जोड़ का 'महाभारत पूर्वार्द्ध' सन् १९१६ में प्रकाशित कराया । इसका अभिनय सन् १९१५ ई० में प्रयाग की हिन्दी नाट्य समिति द्वारा किया गया, जिसकी स्थापना शुक्ल जी ने सन् १९०८ में पुरानी नाटक मंडली को पुनर्गठित करके की थी ।[3] इस नाटक पर भी पारसी-हिन्दी रंगमंच की नाट्य-शैली का प्रभाव है, जिससे शुक्ल जी अपने को मुक्त नहीं कर सके ।

शुक्ल जी के अन्य नाटक हैं-'नारी संकल्प' (१९४० ई०), 'प्रायश्चित्त' (१९४० ई० के लगभग) और 'नारी-जागरण' (१९४० ई०) । इन नाटकों में केवल 'महाभारत पूर्वार्द्ध' और 'नारी-संकल्प' ही इस समय उपलब्ध है ।[4] कुछ विद्वानों ने 'भामाशाह की राजभक्ति' नाम के उनके एक अन्य नाटक की भी सूचना दी है,[5] किन्तु वास्तव में यह राधाकृष्णदास-कृत 'महाराणा प्रताप' नाटक का छद्मनाम है, जो उक्त नाटक के जब्त हो जाने के कारण माधव शुक्ल द्वारा दिया गया था । यही नाटक 'भामाशाह की राजभक्ति' के नाम से कलकत्ते में हिन्दी नाट्य परिषद् द्वारा सर्वप्रथम खेला गया था ।[6]

महाभारत पूर्वार्द्ध पारसी नाटकों की भाँति ही इसमें भी तीन अंक है, किन्तु प्रत्येक अंक 'सीन', 'प्रवेश' अथवा 'दृश्य' में विभाजित न होकर 'गर्भांक' में विभाजित है । प्रत्येक अंक में क्रमशः आठ, पाँच और तीन गर्भांक है । पृथक् प्रस्तावना में नटी-सूत्रधार वार्ता के अंत में सरस्वती प्रकट होकर माधव शुक्ल-कृत 'महाभारत' पुस्तक सूत्रधार को देकर उसे खेलने का आदेश देती है । प्रारम्भ में नटी द्वारा कुंडलिया छंद में दर्शकों का स्वागत किया जाता है, जो ब्रजभाषा में है । शेष छंद खड़ी बोली में हैं । इसी प्रस्तावना में पारिपार्श्वक द्वारा 'कठिन है हिन्दी का उद्धार' गीत भी गवाया जाता है, जो उस समय हिन्दी-प्रचार की कठिनाइयों का द्योतक है । नाटक के संवाद भी गद्य-पद्य-युक्त हैं । पद्यों की भाषा कहीं ब्रज और कहीं खड़ी बोली है । गद्य-संवाद खड़ी बोली में प्रायः मुहावरेदार भाषा में हैं, जिनमें एकाध व्यावहारिक उर्दू शब्द भी आये हैं । पद्य गद्य की अपेक्षा कम नहीं हैं, यद्यपि गायन कम हैं । जो गाने है भी, वे प्रायः नेपथ्य से या कुछ पात्रों के मुख से गवाये गये हैं । ये गाने रागबद्ध हैं, जिनमें पीलू, सोहनी, भूपाली, सोहर, भैरवी, दादरा आदि रागों का प्रयोग हुआ है । पात्रानुसार भाषा का भी प्रयोग हुआ है ।

वीर और हास्य रस प्रमुखता से आये हैं । ब्राह्मण-ब्राह्मणी की वार्ता द्वारा 'कॉमिक' का भी विधान किया

गया है। शृंगार रस भी इसमे आया है। इस नाटक के द्वारा 'सामयिकता' लाने का प्रयास तो किया ही गया है, साथ ही राष्ट्र को जागने और सबल होने का सदेश भी दिया गया है।

नारी-सकल्प . यह शुक्ल जी का परदा-प्रथा विरोधी एक छोटा सामाजिक नाटक है। यह नाटक दो अंकों का है। प्रथम और दूसरे, दोनो अंकों मे ही छः-छः दृश्य है। इसकी नायिका शाता समाज से परदा-प्रथा को उठवाने में बहुत-कुछ सफल होती है। भाषा और भाव की दृष्टि से यह एक प्रौढ़ रचना है। 'मन का घूँघट खोल सुहागिन, मन का घूँघट खोल', 'जागो माँ नारी मन-मदिर' आदि गीत अच्छे और प्रेरणादायक बन पड़े हैं।

इस नाटक का अभिनय मारवाड़ी बालिका विद्यालय, कलकत्ता की छात्राओ द्वारा सन् १९४० ई० में किया जा चुका है।[३०५]

अन्य नाटककार–इसके अतिरिक्त न्यादरसिंह 'बेचैन', देहलवी ने 'ईश्वर-भक्ति', 'शाही लकड़हारा', 'रक्षा-बन्धन' आदि, प० हरिशंकर उपाध्याय ने 'श्रवणकुमार' (१९२८ ई०) आदि, राजबहादुर सक्सेना ने 'बिजनौर का शेर यानी सुल्ताना डाकू', आर० एल० गुप्त 'मायल' ने 'सत्यवान-सावित्री', वेणीराम त्रिपाठी 'श्रीमाली' ने 'गणेशजन्म', 'भक्त मोरध्वज' (१९३९ ई०), 'रामलीला' आदि, प० हरिनाथ व्यास ने 'कृष्ण-सुदामा' (१९३२ ई०), त्रिवेदी घनश्याम शर्मा ने 'श्रीकृष्णार्जुन युद्ध' (१९६३ ई०), चद्रभान 'चद्र' ने 'श्रवणकुमार', 'मुरारी लाल 'कमल', झज्झरी ने 'महाराजा भर्तृहरि' तथा परिपूर्णानन्द वर्मा ने 'वीर अभिमन्यु' (१९२५ ई०) नाटकों की रचना की।

'ईश्वर-भक्ति' और 'शाही लकड़हारा' सामान्य कोटि के नाटक हैं, किन्तु 'बेचैन' का 'रक्षा-बधन' एक सुदर नाटक है, जिसमें राष्ट्रीय भावना को स्वर तो दिया ही गया है, उसकी प्रस्तावना मे हिन्दी के सम्बन्ध में भारत सरकार की हिन्दी-नीति की भी टीका की गई है। मगलाचरण मे प्रभु से भारतवर्ष की रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। भाषा भी सजीव और वीर रस के अनुकूल है।

प० हरिशंकर उपाध्याय का 'श्रवणकुमार' राधेश्याम के 'श्रवणकुमार' के अनुकरण पर ही लिखा गया है और आधिकारिक कथा के पात्रों को छोड शेष सभी पात्रों के नाम बदल दिये गये हैं। कथा-सूत्र दोनो मे एक-सा ही है, किन्तु उपाध्याय के नाटक मे अश्लीलता आ गई है, जिससे नाटक का स्तर गिर गया है। भाषा-दोष भी कई स्थलो पर हैं। नाटक के भीतरी मुखपृष्ठ पर इसे सूर विजय नाटक समाज द्वारा अभिनीत बताया गया है, परन्तु लेखक का यह दावा किस आधार पर है, कुछ कहा नही जा सकता। प० राधेश्याम कथावाचक का 'श्रवणकुमार' अवश्य सूर विजय द्वारा खेला गया था।

चद्रभान 'चद्र' का 'श्रवणकुमार' एक स्वतत्र नाटक-सा प्रतीत होता है, यद्यपि उसमें भी कोई नवीनता नही है। अधिकाश पात्रो के नाम बदले हुए हैं, जैसे श्रवण की पत्नी का नाम 'विद्या' न होकर 'शीला' और उसकी माता का नाम 'ज्ञानवती' न होकर 'भाग्यवती' रखा गया है, आदि। नाटक साधारण है।

'सुल्ताना डाकू' और 'सत्यवान-सावित्री' सामान्य कोटि के नाटक हैं। 'सुल्ताना डाकू' दस्यु-समस्या से और 'सत्यवान-सावित्री' पातिव्रत्य की विजय से सबधित है। इनमें प्रथम चार अक का है और दूसरा त्रिअंकी।

'श्रीमाली' के सभी नाटक पौराणिक हैं और उनमे कोई उल्लेखनीय विशेषता नही है। प० हरिनाथ व्यास ने अपना 'कृष्ण-सुदामा' 'बेताब' के 'कृष्ण-सुदामा' के अनुकरण पर लिखा है। त्रिवेदी घनश्याम शर्मा का 'श्रीकृष्णार्जुन-युद्ध' पारसी शैली का एक साधारण नाटक है। भाषा शुद्ध हिन्दी है। कहीं-कहीं उर्दू शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

'कमल' का 'महाराजा भर्तृहरि' और परिपूर्णानन्द वर्मा का 'वीर अभिमन्यु' (१९२५ ई०) पारसी शैली के अच्छे नाटक हैं। 'वीर अभिमन्यु' मे पं० राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु' की भाँति ही जयद्रथ-वध भी दिखाया गया है, किन्तु प० राधेश्याम कथावाचक ने उत्तरा को सती होने से रोकने का प्रकरण जयद्रथ-वध के

पहले दिखाया है, जबकि परिपूर्णानन्द वर्मा ने उसके बाद और नाटक के अंत में।

संवाद लम्बे हैं और दीर्घकाय स्वगतों का भी प्रयोग हुआ है। तुकांत संवादों की शैली भी कहीं-कहीं अपनाई गई है। गद्य के साथ पद्यों की भरमार है, किन्तु पद्य अत्यन्त साधारण कोटि के हैं—तुकबंदी-मात्र। अग्निहोत्री और उसकी पत्नी रंभा की उपकथा द्वारा पृथक् 'कॉमिक' का भी विधान किया गया है।

'श्रीमाली', 'कमल' और परिपूर्णानन्द वर्मा को छोड़ कर शेष उपर्युक्त नाटककारों के नाटक किसी न किसी पारसी नाटक मंडली द्वारा खेले जा चुके हैं, यद्यपि किस मंडली ने उस नाटक को खेला है, इसका स्पष्ट उल्लेख 'शाही लकड़हारा' को छोड़कर किसी भी अन्य नाटक के भीतरी मुखपृष्ठ पर नहीं किया गया है। 'शाही लकड़हारा' तथा प्यादेसिंह 'बेचैन' के अन्य कई नाटक बंबई की यूनियन रोज नाटक मंडली द्वारा खेले जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त बीसवीं शती के छठे-सातवें दशकों में जगदीश शर्मा ने भी 'एक रात', 'गुमराह', 'चाँदी का जूता', 'इन्कलाब', 'डेढ़ रोटी', 'दहेज' आदि लगभग चालीस नाटक लिखे हैं, जो पारसी शैली के हैं। इनके खेले जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

(६) अनुवाद

बेताब युग में संस्कृत और हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के नाटक हिन्दी में अनूदित होकर बहुत कम संख्या में आये, जबकि अँग्रेजी के नाटकों के अनुवाद बहुलता के साथ किये गये। अंग्रेजी नाटकों के अनुवादों की भाषा प्रायः उर्दू-बहुल है।

(क) संस्कृत से

प्रायः सभी पारसी-हिन्दी नाटककारों की दृष्टि भारतीय नाट्यशास्त्र की ओर रही और उसका अनुसरण कर एक ओर मंगलाचरण, सूत्रधार-नटी की वार्ता द्वारा प्रस्तावना के आयोजन की व्यवस्था की गई है, वहीं कार्यावस्थाओं में फलागम के सिद्धांत को अपना कर प्रायः नाटक को सुखांत बनाने की चेष्टा की गई है। गद्य के साथ पद्य का अबाध प्रयोग भी संस्कृत नाट्य-साहित्य की देन है, यद्यपि वह छंद-बद्ध होकर कम, रागबद्ध अथवा तालबद्ध होकर अधिक आया है, जो पारसी-हिन्दी रंगमंच को पारसी-गुजराती अथवा पारसी-उर्दू रंगमंच की विरासत के रूप में प्राप्त हुआ है, किन्तु इतना सब होते हुए भी पारसी-हिन्दी नाटककारों की दृष्टि संस्कृत के विशाल नाट्य-साहित्य के अनुवाद की ओर नहीं गई।

इस काल में केवल कालिदास-कृत 'अभिज्ञान-शाकुंतलम्' ही एक ऐसा नाटक है, जिसने पारसी-हिन्दी नाटककारों का ध्यान अपनी ओर खींचा। 'आराम' का 'शाकुंतल', पं० राधेश्याम कथावाचक की 'शकुंतला' (१९३१ और १९३२ ई०) और 'बेताब' की 'शकुंतला' (१९४५ ई०) कालिदास के छायानुवाद हैं। 'आराम' का 'शाकुंतल' और राधेश्याम की 'शकुंतला' संगीतक हैं, जबकि 'बेताब' की कृति गद्य-पद्य मिश्रित नाटक है। ये सभी 'शकुंतला' नाटक अप्रकाशित हैं।

राधेश्याम की 'शकुंतला' के आधार पर पहले चलचित्र सन् १९३१ में बना और बाद में संशोधित रूप में कोरन्थियन के रंगमंच पर 'शकुंतला' नाटक खेला गया। चलचित्र के गाने और पद्य बहुत सुंदर एवं काव्यमय और स्वर की दृष्टि से बहुत 'मनमोहक एवं मधुर' रहे हैं।[""] गद्य-संवाद भी बहुत सरस रहे हैं। अश्लीलता का कोई समावेश नहीं हुआ है।[""] 'शकुंतला' नाटक इसी चलचित्र की पाण्डुलिपि में मंचोपयोगी परिवर्तन करके तैयार किया गया था।

'बेताब' की 'शकुंतला' सम्भवतः उनकी अंतिम कृति है, जिसे पृथ्वी थियेटर्स द्वारा खेला जा चुका है।

(ख) हिन्दीतर भारतीय भाषाओं से

इस युग में सर्वाधिक नाटको के अनुवाद गुजराती से किये गये अथवा उनकी छाया लेकर लिखे गये। बंगला और मराठी से केवल एक-एक नाटक का ही अनुवाद किया गया।

(१) गुजराती से – 'बेताब' का नाटक 'कसौटी' (१९०३ ई०) और सिने-नाटक 'बैरिस्टर की बीवी' और 'कालेजकन्या' क्रमश: डमनजी कावराजी के 'दुरंगी दुनिया' का और चंदूलाल शाह के उन्ही नामो के नाटकों के हिन्दी अनुवाद हैं। 'कसौटी' की भाषा उर्दू-प्रधान है।

गुजराती नाटककार नथुराम सुन्दर जी शुक्ल ने अपने गुजराती नाटक 'विल्वमंगल उर्फ सूरदास' का हिन्दी अनुवाद 'सूरदास' के नाम से किया। उक्त गुजराती नाटक के अनुकरण पर ही आगा 'हश्र' ने अपना 'विल्वमंगल उर्फ भक्त सूरदास' नाटक लिखा था।

(२) बंगला से – मुशी जनेश्वर प्रसाद 'मायल' का 'सम्राट् चद्रगुप्त' द्विजेन्द्रलाल राय के 'चंद्रगुप्त' (१९११ ई०) का छायानुवाद है। द्विजेन्द्र के अनेक सवादो को 'मायल' ने ज्यो का त्यों ले लिया है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा –

द्विजेन्द्र – 'चन्द्रगुप्त'

छाया – भारत सम्राट् और भारत-सम्राज्ञी की जय हो।

चन्द्रगुप्त – अरे यह तो छाया है! आओ छाया! इस म्रियमाण उत्सव को अपने स्नेह-हास्य से संजीवित करो।

छाया – सम्राट्, मैं भारत-सम्राज्ञी को एक छोटा-सा कौतुक उपहार देने आई हूँ। यदि आज्ञा हो, तो मैं अपने हाथों से यह हार सम्राज्ञी के गले मे पहना कर चली जाऊँ।

चन्द्रगुप्त – (आश्चर्य-सहित) चली कहाँ जाओगी छाया?

छाया – (म्लान हँसी हँस कर) इस विपुल ब्रह्माण्ड में क्या सन्यासिनी छाया के लिये थोड़ा-सा भी स्थान नही मिलेगा?'[१]

मायल – 'सम्राट् चन्द्रगुप्त':

'छाया – भारत-सम्राट् और भारत सम्राज्ञी की जय हो।

चन्द्रगुप्त – कौन? छाया, आओ छाया, आओ और इस व्यथित हृदय को अपनी प्रेममयी हँसी से आनन्दित बनाओ।

छाया – सम्राट, भारत की सम्राज्ञी को मैं एक छोटा-सा हार उपहार मे लायी हूँ। यदि आज्ञा हो, तो यह हार अपने हाथ से पहनाकर चली जाऊँ।

चन्द्रगुप्त – कहाँ जाओगी छाया?

छाया – क्या इतने विस्तारित संसार मे प्रेमी सन्यासिनी छाया को दो गज जगह नही मिलेगी महाराज?'[११०]

अनुवाद की भाषा हिन्दी-उर्दू-मिश्रित है। सवाद सजीव, सरस और ओजपूर्ण हैं। पारसी शैली का नाटक बनाने के लिये पद्य-सवाद और पृथक् कॉमिक जोड दिया गया है। इसके अतिरिक्त आगा 'हश्र' के एक हिन्दी नाटक का सत्येन दे ने 'अपराधी के?' नाम से बंगला मे अनुवाद किया था, जिसे मादन थियेटर्स द्वारा स्थापित बंगाली थियेट्रिकल कम्पनी ने १४ मई, १९२१ को खेला था।[१११]

(३) मराठी से – मराठी के नाटककार रामगणेश गडकरी के 'स० एकच प्याला' (१९१९ ई०) का अनुवाद आगा 'हश्र' ने 'आँख का नशा' नाम से किया है।[११२] रंगमच पर यह नाटक बहुत लोकप्रिय रहा है। वेश्या

और मदिरा के विषय पर यह नाटक 'लाजवाब' है।[१] इसका अभिनय कलकत्ते के मादन थियेटर्स ने किया था।[१]

(ग) अँग्रेजी से

पारसी रंगमंच को प्रारम्भ से ही मुख्य प्रेरणा अँग्रेजी के रंगमंच और नाटक से प्राप्त हुई थी, जिसके फलस्वरूप गुजराती और उर्दू-हिन्दी में अँग्रेजी नाटकों के अनुवाद किये गये और उन्हें देशी शिक्षित जनता के मनोरंजनार्थ रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। भारतीय भाषाओं में अनुवाद करते समय नाटकों और पात्रों के नामकरण इस ढंग से किये गये कि उनसे विदेशीपन निकल जाय और भारतीयता का आवरण चढ़ जाय। परन्तु इस भारतीय जामे में से पाश्चात्य समाज और संस्कृति की आत्मा झाँकती दृष्टिगोचर होती है, यह इन सभी अनुवादों को पढ़ने में स्पष्ट हो जाता है। 'अहसन' का 'दिलफरोश' शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद है, किन्तु नाटक के नाम के भारतीयकरण के बावजूद यहूदी साहूकार शायलाक अपनी जगह मौजूद है। शीरीं से विवाह के पूर्व नायक कासिम और उसके प्रतिद्वन्द्वियों को सोने, चाँदी और लोहे की सूदकों में से एक को छाँट कर अपने भाग्य की आजमाइश करनी पड़ती है, ऋण न चुका पाने पर आधा सेर मांस काटने की अमानुषिक शर्त को उसी रूप में रखा गया है, आदि। ये सभी बातें पाश्चात्य समाज और उसके विचित्र विधि-विधानों की ओर इंगित करती हैं। 'तेगे सितम' में, जो 'लाइन आफ दि ग्रास' का मु० जनेश्वर प्रसाद 'मायल'-कृत उर्दू-अनुवाद है, पात्रों के मूल नाम, यथा सीजर, मारकस, मसिया आदि अपना लिये गये हैं। कुछ नाटकों के नाम अँग्रेजी में ही ज्यों का त्यों रख लिये गये हैं, यथा 'अहसन' का 'हैमलेट' और 'बेताब' का 'ऐज यू लाइक इट'।

इस काल में अनूदित अथवा रूपान्तरित नाटक इस प्रकार हैं – 'अहसन'-कृत 'दिल-फरोश' (१९०० ई०) और 'हैमलेट' (१८९८ ई०), *जिसे बाद में 'खूने नाहक' के नाम से खटाऊ-अल्फ्रेड द्वारा खेला गया।*[१] 'बेताब'-कृत 'मीठा जहर' (शेक्सपियर-कृत 'सिंबेलीन', १९०५ ई०), 'जो आप पसंद करें' (शेक्सपियर-'ऐज यू लाइक इट', १९०६ ई०) और 'गोरखधंधा' (शेक्सपियर-कृत 'कॉमेडी आफ एरर्स', १९१० ई०), 'हश्र'-कृत 'मुरीदे शक' (शेक्सपियर-'ए विन्टर्स टेल'), 'सैदे हवस' (शेक्सपियर-कृत 'किंग जॉन'), 'शहीदे नाज' (शेक्सपियर-कृत 'मेजर फार मेजर', १९०६ ई०), 'सुर्फेद खून' (शेक्सपियर-कृत 'किंग लियर', १९०९ ई०) और 'असीरे हिर्स' (शेरिडन-कृत 'पिजारो'), श्रीकृष्ण हसरत-कृत 'एक औरत की वकालत या किस्सा दिल-फरोश' (१९०८ ई०, 'मर्चेन्ट आफ वेनिस') तथा 'मायल'-कृत 'तेगे सितम'।

इन नाटकों की भाषा प्रायः उर्दू है। यत्र-तत्र कुछ नाटकों में हिन्दी-गीत अवश्य आ गये हैं।

प्राय ये सभी नाटक अभिनीत हो चुके हैं। 'बेताब'-'गोरखधंधा' पारसी अल्फ्रेड द्वारा सर्वप्रथम क्वेटा (बिलोचिस्तान) में ३१ जुलाई, १९१२ को खेला गया था।[१]

(७) हिन्दी और हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के रंगमंच : आदान-प्रदान, योगदान और एकसूत्रता

भारतेन्दु युग में हिन्दी नाट्य-शास्त्र ने गुजराती नाट्य-शास्त्र को प्रभावित किया, किन्तु बेताब युग में पारसी-गुजराती नाट्य-विधान से ही पारसी-हिन्दी नाट्य-विधान ने अपना रूप ग्रहण किया। इस नाट्य-विधान पर *संस्कृत और पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र दोनों का समान प्रभाव परिलक्षित होता है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनु*सार प्रत्येक नाटक के प्रारम्भ में मंगलाचरण, प्रस्तावना, सूत्रधार-नटी आदि का समावेश किया गया है, किन्तु अन्त में भरत-वाक्य का प्रयोग बहुत कम अथवा नहीं के बराबर हुआ है। अंक-विधान पाश्चात्य नाट्य-विधान के अनुसार किया गया है। गुजराती की ही भाँति हिन्दी का भी प्राय प्रत्येक नाटक तीन अंकों का है और प्रत्येक अंक प्रवेश (गुजराती और हिन्दी), दृश्य अथवा 'सीन' (हिन्दी) में विभाजित है।

आगे चल कर सूत्रधार-नटी द्वारा गाये जाने वाला मंगलाचरण 'कोरस' (समूह-गान) के रूप में गाया जाने लगा, जिसे सहेलियाँ, बालिकाएँ, रामिश्गरां अथवा नाटक के सभी स्त्री-पुरुष पात्र मिल कर गाते थे। अन्त में भी समूह-गानों की व्यवस्था की जाने लगी।

इसके विपरीत मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि की संस्कृत नाट्य-पद्धति से बँगला और मराठी के नाटक प्रायः मुक्त-से रहे। बँगला में क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के कुछ नाटक इस नियम के अपवाद हैं और उनमें मंगलाचरणादि का समावेश हुआ है। कुछ नाटककारों ने प्रारम्भ में सामूहिक 'गीतों' का आयोजन किया है। मराठी में श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने पारसी शैली के 'कोरस' का उपयोग किया है, किन्तु इस पद्धति को अन्य नाटककारों ने नहीं अपनाया।

इस काल का हिन्दी और गुजराती रंगमंच पूर्णतः पारसी शैली से प्रभावित रहा है, किन्तु हिन्दी को यह प्रभाव गुजराती के माध्यम से प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि हिन्दी के नाटकों की रंग-प्रति (रंगावृत्ति) गुजराती में तैयार की जाती थी। वास्तव में सभी पारसी नाट्य-मंडलियों के कलाकार पारसी या गुजराती हुआ करते थे, जिन्हें गुजराती लिपि में लिखी अपनी भूमिकाओं को पढ़ने और याद करने में सुविधा होती थी। पारसी शैली के नाटकों की दूसरी विशेषता थी – उनका संगीत, जो रागबद्ध होता था, और इसके साथ ही यत्र-तत्र पाश्चात्य शैली की हल्की-फुल्की धुनें भी अपनाई जाती थीं। संगीत के साथ पद्य-संवादों की बहुलता के कारण ये नाटक प्रायः संगीतक के ढंग के होते थे, जिनमें गद्य-संवाद भी प्रचुर मात्रा में रहा करते थे। गुजराती और हिन्दी, दोनों में ही इस प्रकार के संगीतकों का प्राधान्य है। इस युग के मराठी संगीत नाटकों पर भी पारसी शैली के संगीतकों का प्रभाव पड़ा है। मराठी संगीत नाटकों ने रागदारी गानों के अतिरिक्त पारसी और हिन्दुस्तानी संगीत को भी उत्तरोत्तर अपनाया और मराठी रंगभूमि को समृद्ध बनाया। बँगला नाटक भी गीतप्रिय बने रहे और गीतों के लिये राग-रागिनियों को अपनाया गया। यह गीतप्रियता इतनी बढ़ी कि कुछ स्वतन्त्र गीति-नाट्य भी लिखे और खेले गये।

पारसी नाटकों की तीसरी विशेषता थी—उसकी कृत्रिमता, जो कथानक, संवाद, रंग-सज्जा और वेश-भूषा, सभी में दृष्टिगोचर होती है। गुजराती और हिन्दी, दोनों ही के नाटककारों ने अपने कथानक या तो पौराणिक आख्यानों से चुने अथवा जनश्रुत लोक-कथाओं या काल्पनिक कथाओं को लेकर नाटक लिखे, जिनमें अलौकिक कार्य-व्यापार, चमत्कार, कौतूहल आदि की अधिक गुंजाइश रहती थी। कौतूहल और औत्सुक्य को बनाये रखने के लिये यान्त्रिक दृश्य-विधान, कुएँ (ग्रेव) और 'ट्रिकों' का प्रयोग किया जाता था और इस प्रकार मंच पर यान्त्रिक नंदी के बैठने, काम के भस्म होने, गणेश का सिर काटने, मीराबाई के विष-पान, भगवान के अन्तर्धान या प्रकट होने आदि के चमत्कारी दृश्य दिखाना संभव बन गया था।

नाटकों में तुकांत संवाद अथवा पद्य-संवाद के प्रयोग से भी कृत्रिमता बढ़ी। मंचसज्जा में भी कृत्रिमता का विकास हुआ। रंगीन परदों के साथ फ्लैटों (फ्लाटों), ट्रांसफ़र सीनों और सीनरी का प्रयोग भी होने लगा, जिसके फलस्वरूप एक चालू दृश्य के भीतर दूसरा दृश्य, यथा स्वर्ग, वैकुंठलोक अथवा अन्य कोई भी दृश्य दिखलाना सम्भव हो गया। दृश्य के अन्त में 'टेबलो' का चित्र-विधान भी इसी कृत्रिमता का अंग था।

इस युग में कृत्रिमता इस हद तक बढ़ी कि कोई भी पात्र अपनी स्वाभाविक वेश-भूषा में मंच पर नहीं आ सकता था। प्रत्येक पात्र के लिये मखमल और साटन के बेल-बूटेदार कल्पनारम्य वस्त्र तैयार कराए जाने लगे। मराठी में कोल्हटकर के कृत्रिमतावादी नाटकों ने इस कृत्रिम वेश-भूषा को पारसी रंगमंच से अपनाया और इस प्रकार उनके नाटकों ने भी मराठी रंगभूमि पर अद्भुत सफलता प्राप्त की। कौतूहल और चमत्कार भी उनके नाटकों में पाया जाता है।

बँगला का रंगमंच भी पारसी शैली की कृत्रिमता मे अछूता नही रह सका। वहाँ भी यथार्थ का कृत्रिम भ्रम उत्पन्न करने के लिये रंग-सज्जा एवं दृश्यावली-निर्माण पर पुष्कल व्यय किया जाता था। हाँ, बँगला नाटक इस कृत्रिमता से बचे रह कर अवश्य सुरुचि एवं परिष्कार के द्योतक बने रहे।

बेताब युग मे अधिकांशत. अंग्रेजी के शेक्सपियर, शेरिडन आदि और फ्रांस के मोलियर आदि के नाटको के अनुवाद प्राय सभी भाषाओ मे कम-बेश हुए, लेकिन हिन्दी तथा गुजराती, हिन्दी और बँगला को छोड कर अन्य भारतीय भाषाओ के नाटको मे अनुवाद के रूप मे बहुत कम आदान-प्रदान हुआ। 'बेताब' और 'हश्र' ने क्रमशः 'कसौटी' (१९०३ ई०) तथा 'बिल्वमंगल उर्फ भक्त सूरदास'[११६] (१९१४ ई० या पूर्व) नामक नाटक गुजराती के क्रमश बमनजी काबराजी के 'दुरंगी दुनिया' तथा नथुराम सुन्दरजी शुक्ल के 'बिल्वमंगल उर्फ सूरदास' नाटक के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किये। हिन्दी के संगीतक (ऑपेरा) 'नाटक छैलबटाऊ-रानी मोहना का' (१८५४ ई०) का गुजराती मे अनुवाद 'आराम' ने 'छैलबटाऊ-मोहनारानी' के नाम से किया।[११७] मुहम्मद मियाँ 'रौनक', बनारसी का 'इन्साफ-ए-महमूदशाह' (१८८२ ई०) का गुजराती मे अनुवाद हुआ था।[११८]

बँगला के द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्र के नाटको ने हिन्दी वालो को अपनी ओर आकृष्ट किया और द्विजेन्द्र के प्राय सभी और रवीन्द्र के भी कई नाटको के हिन्दी अनुवाद विस्तारित बेताब युग अथवा परवर्तीकाल मे किये गये।

बँगला के नाटककार क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के 'खाँजहाँ' का भी हिन्दी मे अनुवाद हो चुका है। आगा 'हश्र' ने अपने 'यहूदी की लडकी' का बँगला मे 'मिशर कुमारी' के नाम से न केवल अनुवाद किया, अपने निर्देशन मे कलकत्ते मे उसे उपस्थापित भी किया। बँगला का राजकृष्ण-कृत 'बेनज़ीर-बदरेमुनीर' ही एकमात्र ऐसा नाटक है, जो हिन्दी के नसरवानजी खानसाहेब 'आराम' के इसी नाम के नाटक के अनुकरण पर लिखा गया प्रतीत होता है।

बँगला के कुछ नाटक गुजराती मे भी अनूदित हुए। गिरीश युग के ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर के 'अश्रुमती' का अनुवाद नारायण हेमचंद्र ने सन् १८८७ ई० मे और द्विजेन्द्रलाल राय के 'प्रतापसिंह' का एक अनुवाद 'राणा प्रतापसिंह' के नाम से सन् १९२३ ई० में और दूसरा अनुवाद 'राणा प्रताप' के नाम से सन् १९२९ मे हुआ। दूसरे के अनुवादक थे– झवेरचंद मेघाणी।

मराठी के रामगणेश गडकरी के 'एकच प्याला' को छोड कर, जिसका उर्दू-बहुल अनुवाद आगा 'हश्र' ने *'आँख का नशा' के नाम मे किया था,[११९] अन्य किसी नाटक का अनुवाद बेताब युग के अन्तर्गत हिन्दी अथवा अन्य* किसी हिन्दीतर भारतीय भाषा मे नही हुआ। मराठी नाटककारो द्वारा मूल नाटक हिन्दी मे लिखने की जो परंपरा भावे युग मे प्रारम्भ हुई थी, वह भी कोल्हटकर युग मे आकर बिल्कुल लुप्त हो गई। 'हश्र' के 'खूबसूरत बला' का मराठी मे अनुवाद हो चुका है।[१२०]

गुजराती के कुछ नाटककारो ने अवश्य हिन्दी मे नाटक लिखे, जिनमे 'आराम', शिवशंकर गोविन्दराम और मुंशी मिर्जा के नाम उल्लेखनीय हैं। 'आराम' के हिन्दी नाटको का इसी अध्याय मे अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है। शिवशंकर गोविन्दराम ने हिन्दी मे 'हुस्नबानू और शायरजंग' (१८८७ ई०) और मुंशी मिर्जा ने 'मदनमंजरी' (१९०१ ई०) नाटक लिखे।

(८) निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बेताब-युग मे दो धाराएँ समानातर रूप से चलती रही–विस्तारित *भारतेन्दु युग की नाट्य-धारा और स्वयं बेताब युग के नाटक।*

विस्तारित भारतेन्दु युग के कुछ मौलिक नाटक अव्यावसायिक रंगमंच पर अभिनीत अवश्य किये गये,

किन्तु अधिकांश पठन-पाठन की ही वस्तु बने रहे। इस धारा के किसी अनूदित नाटक के खेलने का उल्लेख नहीं मिलता।

इसके विपरीत बेताब युग के प्रायः सभी मौलिक एवं अनूदित नाटक व्यावसायिक दृष्टि से मंचस्थ किये गये। इसका श्रेय बम्बई और कलकत्ते की पारसी-हिन्दी नाटक मंडलियों अथवा उनके अनुकरण पर बनी गुजरात, उत्तर प्रदेश और पंजाब की नाटक मंडलियों को है, जिन्होंने अपने मुख्यालयों के अतिरिक्त समस्त उत्तरी भारत में घूम-घूम कर हिन्दी नाटक दिखलाये। इन मंडलियों के अपने नाटककार होते थे जो उनकी मांग या आवश्यकता के अनुकूल नाटक लिखते थे, जो पौराणिक या स्वच्छन्दताधर्मी हुआ करते थे। सामाजिक, ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीय नाटक बहुत कम लिखे गये। इन नाटकों के लेखन की अपनी शैली थी, जिसे 'पारसी शैली' कहा जा सकता है। इसमें संस्कृत के मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि, मराठी के गीत-तत्त्व और रागबद्धता, गुजराती के 'कॉमिक' या समानान्तर उपकथा, तुकांत संवाद और 'कोरस' और अँग्रेजी के अंक-विधान एवं दुःखान्तकों के तत्त्वों का अद्भुत मिश्रण है।

बेताब-युग की नाट्य-शैली के विपरीत बँगला और मराठी के नाटक मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि की संस्कृत-पद्धति से प्रायः मुक्त-से रहे। बँगला के नाटकों के प्रारम्भ में 'गान' का समावेश उसकी अपनी विशेषता है, जबकि मराठी में 'कोरस' का उपयोग पारसी शैली के अनुकरण पर किया गया है। बँगला के संवादों में जहाँ काव्यत्व और भावप्रवणता के साथ व्यावहारिकता एवं वस्तुवादिता का सन्निवेश है, वहाँ मराठी, गुजराती और हिन्दी के संवादों में कृत्रिमता और वाग्जाल अधिक रहा है। यह कृत्रिमता गुजराती और हिन्दी नाटकों की रंग-सज्जा और वस्त्राभरण में भी मिलती है, जिसका प्रभाव आगे चल कर मराठी रंगमंच पर भी पड़ा। उस युग का बँगला का रंगमंच भी इस कृत्रिमता से नहीं बच सका।

पारसी-हिन्दी मंडलियों ने भारतेन्दु युग अथवा विस्तारित भारतेन्दु युग का कोई नाटक नहीं खेला। हाँ, पारसी अल्फ्रेड के निर्देशक अमृत केशव नायक ने बनारस की नागरी नाट्यकला-प्रवर्तन मंडली को अवश्य भारतेन्दु के एक नाटक को खेलने में अपने निर्देशन का लाभ दिया था।

अधिकांश मंडलियाँ अस्थायी रंगशालाओं में नाटक खेलती थीं, यद्यपि बम्बई, कलकत्ता और अहमदाबाद में कुछ स्थायी रंगशालाएँ भी बनवाई गई थीं। रंगशिल्प में चमत्कारपूर्ण 'ट्रिकों', कुएँ (ग्रेव या ट्रैप), रंगीन परदों, फ्लाटों, ट्रांसफर सीनों एवं दृश्यावली का उपयोग होता था। वस्त्रों की तड़क-भड़क आहार्य अभिनय की विशेषता थी। बिजली के आगमन के पूर्व मशाल आदि से रंगदीपन का काम लिया जाता था।

पारसी-हिन्दी नाट्य-विधान ने जयशंकर प्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों को बहुत दूर तक प्रभावित किया और तत्कालीन अव्यावसायिक रंगमंच द्वारा भी पारसी-हिन्दी रंगमंच के अनुकरण की चेष्टा की गई, यद्यपि साधनहीनता के कारण यह अनुकरण आगे न चल सका और वह नये एवं सस्ते प्रयोग करने के लिये बाध्य हुआ।

हिन्दी की भाँति सभी हिन्दीतर भारतीय भाषाओं (बँगला, मराठी और गुजराती) में व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ काम करती रहीं, जिनमें मराठी को छोड़ शेष दोनों की अपनी स्थायी रंगशालाएँ भी थीं। मराठी मंडलियों ने प्रायः अस्थायी रंगशालाएँ बना कर अथवा किराये की रंगशालाएँ लेकर नाटक खेले। सभी भाषाओं के नाटक प्रायः रंगीन परदों, दृश्यावली आदि के साथ ही किये जाते थे। इस युग में रंगदीपन की स्थिति प्रायः सर्वत्र पारसी-हिन्दी रंगमंच के अनुरूप ही रही। मंच पर बिजली का उपयोग विस्तारित बेताब युग में हुआ।

पारसी-हिन्दी रंगमंच हिन्दी रंगमंच के इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है जिसके महत्त्व को हिन्दी के विद्वानों द्वारा अब स्वीकार किया जाने लगा है । यह भारतेन्दु युग और प्रसाद युग के मध्य की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है ।

संदर्भ

बेताब युग

१. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९१-६१९ ।

२ व्रजरत्नदास, हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० ५६ ।

३. डॉ० सोमनाथ गुप्त, हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, पृ० ४ ।

४ प्रो० तारकनाथ बाली, द्विवेदीकालीन नाट्य-साहित्य (साहित्य-संदेश, नाटक परिशिष्टाक, सितम्बर, १९५५, पृ० ११२) ।

५. डॉ० प्रेमशंकर, आधुनिक हिन्दी नाटक (आलोचना, नाटक विशेषाक, जुलाई, १९५६, पृ० ६१-७१) ।

६ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नाटक (भारतेन्दु नाटकावली, द्वितीय भाग, सं० व्रजरत्नदास, इलाहाबाद, १९३६, पृ० ४८३) ।

७. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, इलाहाबाद, भारती भण्डार, प्र० सं०, १९३९, पृ० ११४ ।

८. १-वत्, पृ० ४९६-४९७ ।

९-१०. डॉ० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, आगरा, साहित्य रत्न भण्डार, ष० सं०, १९६०, पृ० ३ ।

११. डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २९२ ।

१२ डॉ० गोपीनाथ तिवारी, भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, पृ० २५२ ।

१३. चन्द्रवदन मेहता, नक्कर हकीकतोनो टुंकसार (गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रन्थ, बम्बई, १९५२, पृ० १४) ।

१४. वही, पृ० १७ ।

१५. डॉ० डी० जी० व्यास, बम्बई के सौजन्य से ।

१६. ११-वत्, पृ० २९० ।

१७. श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, पृ० ६०४ ।

१८-१९. वही, पृ० ६०५ ।

२०. कल्याण, संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त पुराणांक, वर्ष ३७, संख्या १, अध्याय १५, पृ० ३८३ ।

२१. राजा खड्गबहादुर मल्ल, महारास, १८८५, ३/१ ।

२२. धोकल मिश्र, शकुन्तला, अंक ३, १७९९ ।

२३. पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, कुन्दकली, अंक ७, १९२८ ।

२४. नारायण प्रसाद 'बेताब', रामायण, अंक २, प्रवेश १, दिल्ली, बेताब पुस्तकालय, द्वि० सं०, पृ० ९० ।

२५. जनार्दन भट्ट, एम० ए०, पारसी रंगमंच और हिन्दी नाटक ('माधुरी', लखनऊ, वर्ष ७, खंड १, सं० ४ दिसम्बर, १९२८ ई०), पृ० ७२७-७३४)।

२६. (क) तारकनाथ बाली, द्विवेदीकालीन नाट्य-साहित्य (साहित्य-सदेश, नाटक परिशिष्टांक, सितम्बर, १९५५, पृ० ११२), तथा

(ख) डॉ० प्रेमशंकर, आधुनिक हिन्दी नाटक (आलोचना, नाटक विशेषांक, जुलाई, १९५६, पृ० ६२)।

२७-२८. (क) २६ (ख)-वत्, तथा

(ख) प्रो० जयनाथ 'नलिन', हिन्दी नाटककार, दिल्ली, आत्माराम एण्ड सस, द्वि० सं०, १९६१, पृ० ५६।

२९. डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक . उद्भव और विकास, पृ० २९०।

३०. श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, पृ० ६२२।

३१. २७-२८ (ख)-वत्, पृ० २४६।

३२. ना० प्र० 'बेताब', महाभारत, दिल्ली, बेताब पुस्तकालय, तृ० स०, १९६१, पृ० १०।

३३. वही, भूमिका, पृ० ज।

३४. २९-वत्।

३५ डॉ० गोपीनाथ तिवारी, भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, पृ० २५१।

३६. डॉ० हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, दि इडियन स्टेज, द्वितीय भाग, पृ० २२५ और २९२।

३७. डॉ० हे० दासगुप्त, भारतीय नाट्यमच, द्वितीय भाग, पृ० २१२।

३८. ३६-वत्, पृ० २२५।

३९. डॉ० चारुशीला गुप्ते, हास्यकारण आणि मराठी सुखांतिका, १८४३-१९५७, बम्बई, इंदिरा प्रकाशन, १९६२, पृ० १२५।

४०. वही, पृ० १४७।

४१. धनसुखलाल मेहता, गुजराती विनधंधादारी रगभूमिनो इतिहास, पृ० २५।

४२. चन्द्रवदन मेहता, ए हन्ड्रेड इयर्स आफ गुजराती स्टेज (सोवनीर, बड़ौदा, भा० सं० नृ० ना० महाविद्यालय, १९५६, पृ० ९६)।

४३. ३६-वत्, पृ० १५२।

४४. वही, पृ० २२५। ४५. वही, पृ० १७०।

४६. वही, पृ० १७४। ४७. वही, पृ० १७९।

४८. वही, पृ० २४२।

४९. वही, पृ० २२४ तथा २४१। ५०. वही, पृ० १९६।

५१. ३७-वत्, पृ० १०५।

५२. वही, पृ० ११०। ५३. वही, पृ० १२१।

५४. वही, पृ० १२४। ५५. वही, पृ० १२५।

५६. वही, पृ० १२६। ५७. वही, पृ० १३०।

५८. वही, पृ० १३१-१३२। ५९. वही, पृ० १३३।

६०. वही, पृ० १४३। ६१. वही, पृ० १३७।

६२. वही, पृ० १४०। ६३. वही, पृ० १४०-१४१।

६४. वही, पृ० १४९-१५०।

६५. डॉ० हे० दासगुप्त, भारतीय नाट्यमच, द्वितीय भाग, पृ० १७० । (टि०-पृ० १६९ पर भाड़ा ७२०) रु० बताया गया है, जो परवर्ती प्रसग को देखते 'मिस प्रिंट' जान पडता है ।)
६६. वही, पृ० १७०-१७१ ।
६७-६८. वही, पृ० १७३ ।
६९. वही, पृ० १७७ ।
७०. वही, पृ० १८९ ।
७१. वही, पृ० १९५ ।
७२. वही, पृ० १५६ ।
७३. वही, पृ० १५७ ।
७४. वही, पृ० १६० ।
७५. वही, पृ० १७१ ।
७६. वही, पृ० २१८ तथा २९५ ।
७७ वही, पृ० २३५ ।
७८ वही, पृ० २३७ ।
७९ वही, पृ० २०९ ।
८०. वही, पृ० २३८ ।
८१ वही, पृ० १५२ ।
८२. वही, पृ० १५२ ।
८३. डॉ० हे० दासगुप्त, दि इंडियन स्टेज, द्वि भा०, कलकत्ता, १९४६, पृ० २२८-२२९ ।
८४. ६५-वत्, पृ० १५३ ।
८६ वही, पृ० २२६ ।
८५. वही, पृ० २११ ।
८७. वही, पृ० २२९ ।
८८. डॉ० हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार 'विसर्जन' का अभिनय सन् १८८० में जोडासाको भवन में हुआ था (देखें नाट्य, टैगोर सेन्टिनरी नम्बर, पृ० ५७) । इस प्रकार यह रवीन्द्र का सर्वप्रथम अभिनीत नाटक है ।—लेखक
८९. (क) क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद, भीष्म (क्षीरोद ग्रन्थावली, द्वितीय भाग, कलकत्ता, वसुमती साहित्य मदिर, पृ० २), तथा
(ख) क्षी० प्र० विद्याविनोद, भूतेर बेगार (क्षीरोद ग्रथावली, द्वि० भा०, पृ० २) ।
९०. (क) द्विजेन्द्रलाल राय, नूरजहां, कलकत्ता, गुरुदास चट्टोपाध्याय एण्ड सस, स० स०, पृ० १,
(ख) गिरीशचन्द्र घोष, सिराजुद्दौला, कलकत्ता, गु० च० एण्ड स०, च० स०, पृ० २०२, तथा
(ग) मणिलाल वन्द्योपाध्याय, अहिल्याबाई, कलकत्ता, पूर्णचन्द्र कुडू, द्वि० स०, पृ० १९७ ।
९१ ६५-वत्, पृ० १०७-१०८ ।
९२. वही, पृ० २३५ ।
९३. के० नारायण काले, नाट्य-विमर्श, बम्बई, पापुलर बुकडिपो, १९६१, पृ० ७ ।
९४. डॉ० चारुशीला गुप्ते, हास्यकारण आणि मराठी सुखातिका, पृ० ११८।
९५. ९३-वत्, पृ० १४४।
९६. वही, पृ० ९-१० ।
९७. श्रीनिवास नारायण बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि नाट्य-वाङ्मय, पृ० १०० ।
९८. वही, पृ० १०१ ।
९९. वही, पृ० १०३ ।
१००. वही, पृ० १२१ ।
१०१. ९४-वत् ।
१०२. ९७-वत्, पृ० १२९ ।
१०३. वही, पृ० १२५ ।

१०४. डॉ० चारुशीला गुप्ते, हास्यकारण आणि मराठी सुखात्तिका, पृ० १२६ ।
१०५. के० टी० देशमुख, अध्येता एवं नाट्य-विवेचक, बम्बई से दिल्ली में एक साक्षात्कार (२० नवम्बर, १९६७) के आधार पर ।
१०६. के० नारायण काले, नाट्य-विमर्श, बम्बई, पापुलर बुकडिपो, १९६१, पृ० १४ ।
१०७. श्रीनिवास नारायण बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि नाट्य-वाड्मय, पृ० १३४-१३५ ।
१०८. वही, पृ० १४२ ।
१०९. १०५-वत् ।
११०. १०७-वत्, पृ० १४६-१४७ ।
१११. वही, पृ० १५४ । ११२. वही, पृ० १५३ ।
११३. साहित्य (मराठी), नाट्यमहोत्सव अंक, दिसम्बर, १९४८, पृ० ५४ ।
११४. १०४-वत्, पृ० ७३-७४ तथा १६१ ।
११५. वही, पृ० १६१ ।
११६ १०५-वत् ।
११७. श्री० ना० बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि नाट्य-वाड्मय, पृ० १०५ ।
११८. वही, पृ० १०९ । ११९ वही, पृ० १४७ ।
१२०. ११६-वत् ।
१२१. ११७-वत्, पृ० १४६ ।
१२२, १२३ एव १२४. जयतिलाल र० त्रिवेदी, इतिहासनी दृष्टिए (श्री देशी नाटक समाज : अमृत महोत्सव (स्मृति-ग्रन्थ), १८८९-१९६४, बम्बई, १९६४) ।
१२५. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, *रंगभूमि अने संगीत (गु० ना० श० म० स्मा० ग्रन्थ, बम्बई, १९५२)*, पृ० ४१-४२ ।
१२६. रतिलाल त्रिवेदी, आपणा केटलाक नाट्यकारो (गु० ना० श० म० स्मा० ग्रन्थ, बम्बई, १९५२, पृ० ८८)।
१२७. श्री देशी नाटक समाज : अमृत महोत्सव स्मृति-ग्रन्थ में 'संस्थाना नाटको' के अन्तर्गत 'सती पद्मिनी' का लेखक डाह्याभाई घोलशाजी झवेरी को बताया गया है, जो भ्रामक प्रतीत होता है, क्योंकि सन् १९१४ में (प्रथम आवृत्ति) प्रकाशित नाटक की एक प्रति लेखक को प्राप्त हुई है, जिसके लेखक हैं–झवेरी चंदूलाल दलसुखराम घोलशाजी, जो सन् १९०३ से १९२३ तक देशी नाटक समाज के मालिक थे ।–लेखक
१२८. छोटालाल रुखदेव शर्मा, अजीतसिंह नाटकना गायनो तथा टुंकसार, पृ० १७ ।
१२९. जामन, जूनी गुजराती रंगभूमि अने तेनू भावि (गु० ना० श० म० स्मा० ग्रन्थ, बम्बई, १९५२, पृ० ५२)।
१३०. वही, पृ० ५१ ।
१३१-१३२ १२६-वत्, पृ० ८७ ।
१३३. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरण मंजरी, बम्बई, एन० एम० त्रिपाठी लि०, १९५५, पृ० ५४ ।
१३४. चन्द्रवदन मेहता के अनुसार 'बेजन-मनीजेह' की रचना सन् १८६९ में हुई (देखें 'ए हंड्रेड इयर्स आफ गुजराती स्टेज', सोवनीर, बडोदा, भा० स० नृ० ना० म०, १९५६, पृ० ९२) ।
१३५-१३६. डॉ० डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, बम्बई से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर ।
१३७. धनसुखलाल मेहता, गुजराती बिनधन्धादारी रंगभूमिनो इतिहास, पृ० ३१ ।
१३८. वही, पृ० ३२ ।
१३९. डॉ० धीरुभाई ठाकर, अभिनेय नाटको, बड़ोदा, भा० स० नृ० ना० म०, १९५८, पृ० ७० ।

१४०. र० ब्रह्मभट्ट रगभूमि अने सगीत (गु० ना० श० म० स्मा० ग्रन्थ, बम्बई, १९५२, पृ० ४२) ।

१४१. धनसुखलाल मेहता, गुजराती बिनधधादारी रगभूमिनो इतिहास, पृ० २५ ।

१४२. १४०-वत्, पृ० ४८ ।

१४३ होरमझदियार दलाल, गुजरातनी रगभूमि जीवशे, पण (गु० ना० श० म० स्मा० ग्रन्थ, बम्बई, १९५२, पृ० ६३) ।

१४४. डॉ० डी० जी० व्यास, बम्बई से एक भेंट (जून, १९६५) के आधार पर ।

१४५ जयतिलाल र० त्रिवेदी, इतिहासनी दृष्टिए श्री देशी नाटक समाज (श्री देशी नाटक समाज . अमृत महोत्सव (स्मृति-ग्रन्थ,) बम्बई, १९६४) ।

१४६. १४१-वत्, पृ० २५ ।

१४७-१४८. जामन, जूनी गुजराती रगभूमि अने तेनु भावि, (गु० ना० श० म० स्मा० ग्रन्थ, बम्बई, १९५२, पृ० ५२) ।

१४९-१५०. राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटक-काल, बरेली, रा० पु०, १९५७, पृ० २२ ।

१५१. ना० प्र० 'बेताब', कृष्ण-सुधमा, दिल्ली । वे० पु०, तृ० स०, १९६१, पृ० १२७ ।

१५२ मा० बच्चेलाल, सक०, सगीत थियेटर, काशी, उपन्यास बहार आफिस, छ० स०, १९२३, पृ० ३० ।

१५३. श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, पृ० ६१४ ।

१५४. १४९-वत्, पृ० १०४ ।

१५५. ना० प्र० 'बेताब', बेताब-चरित्र, मजिल १९ (ब्रह्मभट्ट कवि सरोज, पृ० ३९८-९९) ।

१५६. वही, म० ३१, पृ० ४११ ।

१५७ बीरदेव, प० नारायण प्रसाद 'बेताब' जी की जीवन-झाँकी (बालसखा, नवम्बर, १९५५) ।

१५८ एव १६०. बलवन्त गार्गी, थियेटर इन इडिया, न्यूयार्क, थियेटर आर्टस् बुक्स, पृ० १५९ ।

१५९. युगलकिशोर मस्करा 'पुष्प', नेक बानु डी० खरास उर्फ मुन्नीबाई बेटी खुरशेद बालीवाला (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, २ अगस्त, १९७०, पृ० २७ ।

१६१. १४९-१५०-वत्, पृ० १०१-१०२ ।

१६२. १५८ एव १६०-वत् पृ० १६० ।

१६३. १४९-१५०-वत्, पृ० १८७ ।

१६४ वही, पृ० १८८-१८९ ।

१६५. १५८ एवं १६०-वत्, पृ० १६० ।

१६६. प्रेमशकर 'नरसी', निर्देशक, मूनलाइट थियेटर, कलकत्ता से एक साक्षात्कार (दिसम्बर, १९६५) के आधार पर ।

१६७ मा० निसार, दिल्ली से बम्बई मे एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर ।

१६८. रा० कथावाचक, मेरा नाटक-काल, पृ० ३ ।

१६९ वही, पृ० १५६ । १७० वही, पृ० ६७ ।

१७१, १७२ एव १७३. अमृतलाल नागर, पारसी रगमच (पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, इलाहाबाद, किशलय-मच, १९६३, पृ० २९१-२९३) ।

१७४. 'आराम' के शेष सभी नाटको की सूची गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रन्थ मे प्रकाशित रतिलाल त्रिवेदी के लेख 'आपणा केटलाक नाट्यकारो', में पृ० ८५ पर दी हुई है । डॉ० डी० जी व्यास ने भी इन नाटको को 'आराम'-कृत माना है ।—लेखक ।

१७५. धनजीभाई न० पटेल, पारसी तख्तानी तवारीख, १९३१, पृ० १४७-१४८ ।

१७६-१७७. डॉ० डी० जी० व्यास, बम्बई से एक भेंट (जून, १९६५) के आधार पर ।

१७८. ना० प्र० 'बेताब', बेताब-चरित्र, मंजिल १२ (ब्रह्मभट्ट कवि सरोज, पृ० ३९०-३९२) ।

१७९. रा० कथावाचक, मेरा नाटक-काल पृ० १२ ।

१८०. वही, पृ० १३ ।

१८१. १७८-वत्, मंज़िल २०, पृ० ४०० ।

१८२ वही, मंजिल १३, पृ० ३९२-३९३ ।

१८३. अब्दुल कुद्दूस नैरंग-कृत 'आग़ा 'हश्र' और नाटक' (अप्रकाशित) के आधार पर ।

१८४ विनायक प्रसाद 'तालिब', सत्य हरिश्चन्द्र, बनारस सिटी, बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर, १९६१, पृ १७-१८ तथा ६३ ।

१८५. वही, पृ० ५ (वशिष्ठ द्वारा सत्य की महत्ता का प्रतिपादन) तथा पृ० ४४ (विश्वामित्र द्वारा दानवीर और साहसी के गुणों का वर्णन) ।

१८६. वही, पृ० ६२-६३ (हरिश्चन्द्र-विश्वामित्र संवाद) तथा पृ० ८३-८४ (तारा को मारने के लिये प्रस्तुत हरिश्चन्द्र का सवाद) ।

१८७. डॉ० विद्यावती लक्ष्मणराव 'नम्र', हिन्दी रंगमंच और प० नारायण प्रसाद 'बेताब', वाराणसी, विश्व-विद्यालय प्रकाशन, १९७२, पृ० १२६-१२७ ।

१८८. मु० मेंहदीहसन 'अहसन', चलता पुर्जा, बरेली, रा० पु०, १९३५, पृ० ९४-९६ ।

१८९. १७९-वत् पृ० ८६-८७ ।

१९०. मु० मे० 'अहसन', भूलभुलैया, बरेली, रा० पु०, १९३५, पृ० ७, ३३-३४, ६८-६९, ७२, ७७, ८४, १०९ आदि ।

१९१. वही, पृ० १३८-१४० ।

१९२. १८७-वत्, पृ० ८० ।

१९३-१९४. कृष्णाचार्य, 'आफताबे मुहब्बत' से 'भीष्म-पितामह' तक · मुहम्मदशाह आग़ा 'हश्र', काश्मीरी (धर्मयुग, २७ नवम्बर, १९६६, पृ० १८) ।

१९५-१९६. रा० कथावाचक, मेरा नाटक-काल, पृ० २१६ ।

१९७. १९३-१९४-वत् ।

१९८. हश्र-बेताब, सह-लेखक, सीता-वनवास, दिल्ली, देहाती पुस्तक भण्डार, अंक १, छठा दृश्य, पृ० २५ ।

१९९. देखें वही, पृ० २१ (सीता-श्रुतिकीर्ति-संवाद), पृ० २३ (लक्ष्मण-राम-संवाद), पृ० ४१ (सीता-कुश-संवाद), पृ० ६७ (लव-सीता-सवाद), पृ० ७४-७५ (राम-सीता-संवाद) आदि ।

२०० प्रे० 'नरसी', कलकत्ता से एक साक्षात्कार (दिसंबर, १९६५) के आधार पर ।

२०१. १९८-वत्, पृ० ७६ ।

२०२. इस नाटक की मूल पाडुलिपि की एक हस्तलिखित प्रति श्री प्रेमशंकर 'नरसी' के सौजन्य से देखने को प्राप्त हुई थी । प्रतिलिपिकार हैं : एम० एन० गुजराती (१६-७-६०) ।—लेखक ।

२०३. २००-वत् ।

२०४. १९५-१९६-वत्, पृ० १४० ।

२०५. २००-वत् ।

२०६. कोठा ।

२०७. श्री प्रेमशंकर 'नरसी', कलकत्ता के सौजन्य से ।

२०८. आगा 'हश्र', भीष्म प्रतिज्ञा, ड्राप दूसरा, दृश्य छठा, दिल्ली, दे० पु०, भ० पृ०७४-७५ ७६ (भीष्म-अम्बा-संवाद), ड्राप तीसरा, दृश्य पहला एवं दूसरा, पृ० ८२-८३ (युधिष्ठिर की उक्ति), पृ० ८४ (कृष्ण की उक्ति), पृ० ८६ (कृष्ण की उक्ति) आदि ।

२०९, २१० तथा २११. जनार्दन भट्ट, एम० ए०, पारसी रंगमंच और हिन्दी नाटक ('माधुरी', लखनऊ, वर्ष ७, खण्ड १, सं० ४ दिसम्बर, १९२८ ई०), पृ० ७३४)।

२१२. रा० कथावाचक, मेरा नाटक-काल, पृ० ४० ।

२१३ बच्चन श्रीवास्तव, भारतीय फिल्मों की कहानी, हिन्दी पाकेट बुक्स प्रा० लि०, शाहदरा, दिल्ली, पृ० ४९-५० ।

२१४. आगा 'हश्र', खूबसूरत बला, पहला अंक, चौथा सीन, बरेली, रा० पु०, १९३५, पृ० २६ (ताहेरा द्वारा प्रभु-प्रार्थना), दूसरा अंक, दूसरा सीन, पृ० ८७ (सहेलियों का गाना) ।

२१५. २१२-वत्, पृ० २२-२४ ।

२१६-२१७. वही, पृ० २४ । २१८. वही, पृ० २२ ।

२१९. २१४-वत्, पृ० १४६ ।

२२०. वही, पृ० ५९ ।

२२१. विन्सेंट ए० स्मिथ, दि आक्सफोर्ड हिस्टरी आफ इण्डिया, लन्दन, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, तृ० सं०, १९५८, पृ० ७५८ ।

२२२. आगा 'हश्र', ख्वाबे हस्ती, बरेली, रा० पु०, १९३६, पृ० ८-९ ।

२२३. वही, पृ० २-३, ६१-६२ आदि । २२४. वही, पृ० ६५-६६ ।

२२५. वही, पृ० ८७-९१ ।

२२६. आगा 'हश्र', अछूता दामन, बरेली, रा० पु०, द्वि० सं०, १९६३, पृ० ७४ ।

२२७. वही, पृ० २९ ।

२२८. अहसन, चलता पुर्जा, बरेली, रा० पु०, १९३५, पृ० ९५ ।

२२९. बेताब, बेताब-चरित्र, मंजिल १, पृ० ३८४ ।

२३०. (क) ब्रजरत्नदास, हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० २५२, तथा
(ख) श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, पृ० ६२१ ।

२३१. २२९-वत्, मंजिल १६, पृ० ३९४-३९६ ।

२३२. वही, मंजिल २०, पृ० ३९९-४०० । २३३. वही, मंजिल २९, पृ० ४०६-४१० ।

२३४-२३५. वही, मंजिल १७, पृ० ३९६ ।

२३६. डॉ० डी० जी० व्यास, बम्बई से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर ।

२३७. २२९-वत्, मंजिल ३४, पृ० ४१३-४१६ ।

२३८. श्रीमती विद्यावती नम्र, आत्मजा, ना० प्र० बेताब, पेरूबाग, गोरेगांव (पूर्व), बम्बई से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर ।

२३९. श्रीमती वि० नम्र के ९-८-६५ तथा २८-११-६६ के दो पत्रों के आधार पर ।

२४०-२४१. ना० प्र० 'बेताब', महाभारत, भूमिका, दिल्ली, दे० पु०, तृ० सं०, १९६१, पृ० घ ।

२४२-२४३. ना० प्र० 'बेताब', महाभारत, प्रस्तावना, दिल्ली, बे० पु०, तृ० सं०, १९६१, पृ० १०।
२४४. वही, अंक २, प्रवेश ५, पृ० ७७।
२४५. ना० प्र० 'बेताब', बेताब-चरित्र, मंजिल २९, पृ० ४०६-४०७।
२४६-२४७. वही, पृ० ४०८-४०९।
२४८. ना० प्र० 'बेताब', रामायण, दिल्ली, बे० पु०, द्वि० सं०, पृ० १८६।
२४९-२५०. „ „ पत्नी-प्रताप, मंगलाचरण, दिल्ली, बेताब प्रिंटिंग प्रेस, १९२२, पृ० १।
२५१. वही, प्रस्तावना, पृ० ३-४।
२५२-२५५. श्रीमती वि० नम्र, बम्बई के पत्र, दिनांक २८ नवम्बर, ६६ के आधार पर।
२५६. बच्चन श्रीवास्तव, भारतीय फिल्मों की कहानी, पृ० ३३।
२५७-२५८. श्रीमती विद्यावती नम्र, बम्बई से एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर।
२५९. श्रीमती विद्यावती नम्र का शोध ग्रन्थ 'हिन्दी रंगमंच और पं० नारायण प्रसाद' सन् १९७२ में प्रकाशित हो चुका है, किन्तु 'बेताब' के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य के प्रकाशन की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है।—लेखक
२६०. रा० कथावाचक, मेरा नाटक-काल, पृ० १०४।
२६१. वही, पृ० ७४।
२६२. वही, पृ० १२।
२६३. वही, पृ० २४।
२६४. वही, पृ० १२३।
२६५. वही, पृ० १२४-१२५।
२६६. वही, पृ० २००।
२६७. वही, पृ० २२१-२२७।
२६८. वही, पृ० २३३।
२६९. वही, पृ० २७१-२७३।
२७०. वही, पृ० २७४।
२७१. वही, पृ० ५८।
२७२. वही, पृ० ५८-५९।
२७३. वही, पृ० ६८-६९।
२७४. (क) रा० कथावाचक, श्रवणकुमार, मेरा संक्षिप्त निवेदन, बरेली, रा० पु०, तेरहवाँ संस्करण, १९६३, पृ० २, तथा
(ख) २६०-वत्, पृ० ८३-८४।
२७५. २६०-वत्, पृ० २०२।
२७६. वही, पृ० ९३।
२७७. रा० कथावाचक, परिवर्तन, भूमिका (मू० ले० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'), बरेली, रा० पु०, पं० सं०, १९५५, पृ० फ।
२७८. २६०-वत्, पृ० ८५-८६।
२७९. रा० कथावाचक, परमभक्त प्रह्लाद, बरेली, रा० पु०, स० सं०, १९६०, पृ० १८६।
२८०. वही, पृ० ६५-६९।
२८१. वही, पृ० ११५-११६।
२८२. रा० कथावाचक, श्रीकृष्ण-अवतार, बरेली, रा० पु०, ष० सं०, १९६२, पृ० १४५।
२८३. 'तेरे माता को—' २८२-वत्, पृ० १९०)।
२८४. (क) रा० कथावाचक, ईश्वर-भक्ति, समर्पण, बरेली, रा० पु०, ष० सं०, १९५७, तथा
(ख) २६०-वत्, पृ० २०३।
२८५. रा० कथावाचक, कृष्ण-सुदामा, बरेली, रा० पु०, ष० सं०, १९५९, पृ० १७।

२८६. (क) रा० कथावाचक, मेरा नाटक-काल, पृ० २५०,
(ख) श्यामसुन्दरदास एव पीताबरदत्त बडथ्वाल, सह-लेखक, रूपक-रहस्य, प्रयाग, इडियन प्रेस लि०, द्वि० स०, १९४०, पृ० ४४, तथा
(ग) कृष्णाचार्य, हिन्दी नाट्य-साहित्य, १८६३-१९६५, कलकत्ता, अनामिका, १९६६, पृ० २१-२२ ।

२८७. २८६ (क)-वत्, पृ० ७६ ।

२८८ विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल', परिचय (ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल), इलाहाबाद, लीडर प्रस, १९३५, पृ० २-३ ।

२८९. २८६ (ख)-वत् पृ० ४३ ।

२९०. २८८-वत्, पृ० २-३ ।

२९१. २८६ (क)-वत्, पृ० २१५ ।

२९२ वही, पृ० १४८।

२९३. शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', हिन्दी रगमच को काशी की देन (श्री ना० ना० मडली, वाराणसी . स्व० ज० स० स्मा० ग्रन्थ, १९५८, पृ० १८) ।

२९४. प्रेमशकर 'नरसी', निर्देशक, मूनलाइट थियेटर, कलकत्ता से एक साक्षात्कार (दिसबर, १९६५) के आधार पर ।

२९५. (क)-२८६-वत्, पृ० ६९ ।

२९६. मु० दिल, लैला-मजनूँ, अक १, दृश्य १, दिल्ली, शकरदास साँवलदास, बुकसेलर, प्र० स० ।

२९७. मु० आरजू, सती सारधा वा मातृ-भक्ति, अक १, दृश्य ३, बनारस, उपन्यास बहार आफिस, पृ० १६ ।

२९८- डॉ० चन्द्रलाल दुबे, हिन्दी रगमच का इतिहास, मथुरा, जवाहर पुस्तकालय, प्र० स०, १९७४, पृ० १९५ ।

२९९. २८६ (क)-वत्, पृ० २१० । ३०० वही, पृ० २११ ।

३०१. (क) प्रो० रामप्रीत उपाध्याय, राष्ट्रकवि प० माधव शुक्ल (जनभारती, वर्ष १३, अक १, सं० २०२२, पृ० ४५, तथा
(ख) प० माधव शुक्ल, महाभारत पूर्वार्द्ध, भूमिका, प्रयाग, प्र० स०, १९१६, पृ० २ ।

३०२ श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, पृ० ६२६-६२७ ।

३०३-३०४. ३०१ (क)-वत्, पृ० ४४ ।

३०५. राधाकृष्ण नेवटिया एव अन्य, सं०, श्री जमुनाप्रसाद पाडे अभिनन्दन-वीथी, कलकत्ता, १९६०, पृ० ४५ ।

३०६. ३०१ (क)-वत्, पृ० ५७ ।

३०७-३०८. २८६ (क)-वत्, पृ० २२९ ।

३०९ सूर्यनारायण दीक्षित एव शिवनारायण शुक्ल, सह-अनु०, द्विजेन्द्र-'चन्द्रगुप्त', बम्बई, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, १९६०, पृ० ११९ ।

३१०. जनेश्वर प्रसाद 'मायल', सम्राट् चन्द्रगुप्त, बरेली, रा० पु०, द्वि० सं०, १९५१, पृ० १४२ ।

३११. डॉ० हे० दासगुप्त, भारतीय नाट्यमच, द्वि० भा०, पृ० २५०-२५१ ।

३१२. मास्टर निसार, दिल्ली से बम्बई मे एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर ।

३१३-३१४ २८६ (क)-वत्, पृ० १२४ ।

३१५. डॉ० डी० जी० व्यास, बम्बई के अनुसार इस नाटक को खटाऊ की पारसी अल्फ्रेड ने सन् १८९८ ई० मे बम्बई मे खेला था, जिसे भारतीय एव यूरोपीय सामाजिकों के बीच एक-सी लोकप्रियता प्राप्त हुई ।

विदेशी आलोचक रैनसम ने सन् १९०१ में इस नाटक की प्रशंसा करते हुए लिखा था—'यह भारतीय 'हैमलेट' अत्यन्त रोचक है।'—लेखक

३१६. कृष्णाचार्य, हिन्दी नाट्य-साहित्य, १८६३-१९६५, पृ० ६७।

३१७. रा० कथावाचक, मेरा नाटक-काल, पृ० ३४-३५।

३१८. डॉ० रणधीर उपाध्याय, हिन्दी और गुजराती नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, दिल्ली, ने० प० हा०, १९६६, पृ० ३०१।

३१९. श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, पृ० ६०३।

३२०-३२१. मास्टर निसार, दिल्ली से बम्बई में एक साक्षात्कार (जून, १९६५) के आधार पर।

—

४

प्रसाद युग

(सन् १९१६ से १९३७ तक)

प्रसाद युग (सन् १६१६ से १६३७ तक) | ४

(१) प्रसाद युग : हिन्दी रंगमंच की गतिविधि

प्रसाद युग की रगमचीय गतिविधियो का मूल्याकन करने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसके प्रारंभ होने के पूर्व हिन्दी रगमन की स्थिति और सातत्य पर पुनः एक विहगम दृष्टि डालते चलें, क्योकि इस सबंध में विद्वानो और समीक्षकों ने जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया है, वह न केवल अपर्याप्त और अधूरा है, वरन् कुछ सीमा तक भ्रामक भी है। हिन्दी रगमंच की धारा अजस्र रूप से सदैव प्रवाहित होती रही है और किसी भी युग मे वह विच्छिन्न नही हुई। जैसा कि अध्याय ३ मे बताया जा चुका है, धारा की यह विच्छृखलता बेताब युग की स्वर्ण-धारा को दृष्टि से तिरोहित मान लेने के कारण ही उत्पन्न हुई है। वास्तव में देखा जाय, तो पारसी-हिन्दी रंगमच विस्तारित बेताब युग (१६१६ से १६३७ ई० तक) के अन्त तक तथा आधुनिक युग मे भी दूर तक चलता रहा है और इस प्रकार अध्ययन-काल के प्राय: अन्त तक निरतर यह रगमच जीवित बना रहा। बबई से लेकर कलकत्ते तक समस्त उत्तरी भारत उसका कार्यक्षेत्र रहा है, अतः यह कथन भ्रामक है कि 'प्रसाद के समय मे रंगमंच का विकास बहुत कम हुआ था' अथवा 'पारसी थियेटरो का युग प्राय: समाप्त हो गया था।' स्वय जयशंकर 'प्रसाद' का यह भी मत रहा है कि हिन्दी का अपना कोई रगमंच नही है, जो वस्तु-स्थिति के मेल में नही है। रंगमंच के संबंध मे भारतेन्दु की ही भाँति प्रसाद की भी अपनी एक कल्पना थी। सभव है कि उस कल्पना के अनुरूप उन्हें हिन्दी के मुख्य प्रदेश उत्तर प्रदेश (तब सयुक्त प्रान्त) मे अपने नाटको के प्रयोग के लिये उपयुक्त रंगमंच न मिला हो, अन्यथा उनका नाट्य-विधान भी तत्कालीन रगमच की आवश्यकताओ के अनुकूल मँज कर सामने आया होता।

प्रसाद दूरद्रष्टा थे, अत. यह सभव है कि उनकी दृष्टि विज्ञान की नित्य नई उपलब्धियो और चमत्कारो को देख कर इस निष्कर्ष पर पहुँची हो कि विज्ञान की सहायता से आगे चल कर मच को ही उनके नाटकों के उपयुक्त बनाया जा सकेगा। आज के परिक्रामी अथवा शकट रंगमच पर उनके नाटको के सफल प्रयोग किये जा सकते हैं। प्रसाद युग को परिक्रामी और शकट रंगमच की सुविधा प्राप्त न थी और न उत्तर प्रदेश, दिल्ली और उत्तर भारत के अन्य प्रातो (राज्यो) की यात्रा करने वाली पारसी-हिन्दी अथवा अन्य मडलियो के संचालको ने प्रसाद के शुद्ध हिन्दी-नाटको की ओर दृष्टि डाली, क्योंकि वे प्राय: एक विशिष्ट शैली के ही नाटक खेलना पसद करती थी, जिन्हें उनके अपने नाटककार लिखा करते थे और उनका दृष्टिकोण जन-मन-रजन, आदर्श की आराधना और समाज-सुधार के साथ अर्थोपार्जन तक ही सीमित रहता था। फिर भी कहना न होगा कि इन मडलियो ने हिन्दी-नाटकों को व्यावसायिक सफलता दिला कर हिन्दी नाट्य-जगत् की अपूर्व सेवा की है।

फलस्वरूप प्रसाद की दृष्टि उन अव्यावसायिक नाटक मंडलियों की ओर गई, जो बनारस, कानपुर, प्रयाग, कलकत्ता आदि नगरो में भारतेन्दु, राधाकृष्णदास आदि भारतेन्दु-कालीन और 'बेताब', राधेश्याम कथावाचक,

'हश्र' आदि बेताब-कालीन नाटककारो, माधव शुक्ल आदि के नाटक खेला करती थी। इन मडलियों मे से भी एकाध को छोडकर अधिकाश ने प्रसाद के नाटको के हाथ नही लगाये। इनमे कुछ मडलियाँ अथवा संस्थाएँ ऐसी भी थी, जो केवल अपने वार्षिकोत्सवो के अवसर पर ही नाटक खेला करती थी, और इनमे स्कूल-कालेजो के छात्रो की नाट्य-परिषदें ही प्रमुख रूप से नये प्रयोग करने का प्रयास किया करती थी। यदा-कदा इन मडलियो अथवा नाट्य-परिषदो ने प्रसाद के नाटको के भी प्रयोग किये। इस प्रकार प्रसाद के नाटक शिक्षित समुदाय की ही मन-स्तुष्टि और रजन के विषय बन कर रह गये और प्रसाद को भी तत्कालीन मच के अनुकूल अपने नाटको के परिष्कार का अवसर नही मिला। तत्कालीन मंच या पारसी-हिन्दी रगमच अथवा उसका अनुवर्ती अव्यावसायिक रग-मच, जो पर्यंत साधन-सम्पन्न न होने के कारण पारसी-हिन्दी रगमच की स्पर्धा नही कर सकता था। तत्कालीन मच पर परदो, पार्श्वों (विंगो), फ्लाटो, सीन-सीनरियों, कुओं, (ट्रैंपो), ट्रिक सीनो आदि का बोलबाला था। 'टेबला' अथवा सीन ट्रासफर के द्वारा मच पर कलापूर्ण चित्रोपम दृश्यो, मुद्राओं एव व्यापारो के अतिरिक्त पश्चात्-दर्शन (फ्लेशबैक) अथवा दृश्यातर्गत दृश्य-प्रदर्शन का विधान भी रहता था। नृत्य, गान आदि के साथ हास्य की भी पर्याप्त व्यवस्था रहती थी, जिससे नाटक के बीच-बीच मे सामाजिको का मनोरजन किया जा सके।

सन् १९१६ से १९३७ तक की अवधि मे भारत-व्यापी व्यावसायिक रगमच का सबध विशेषत: विस्तारित बेताब युग से था, जबकि अव्यावसायिक रगमच प्रसाद युग से सबद्ध था। सुधारवादी विचारधारा और शिष्ट-जनो के उपयुक्त नाटको के प्रणयन और उपस्थापन की दृष्टि से इस पर क्रमश. भारतेन्दु युग और बेताब युग की छाप थी। प्रसाद और उनकी विचार-धारा के अनुवर्ती नाटककारो की कृतियो का उपस्थापन इस युग मे एक नवीन प्रयोग–साहसिक प्रयोग समझा जाता था। इस युग के अव्यावसायिक मच की स्थिति और प्रगति के सिंहावलोकन से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

स्कूल-कालेजो तथा विश्वविद्यालयो के मच अर्थात् छात्रो की नाट्य-परिषदो को छोड़ दिया जाय, जो प्राय: उन दिनो सभी प्रमुख केन्द्रों मे नवीन प्रयोग के रूप में चला करती थी, तो प्रसाद युग का अव्यावसायिक रगमच मुख्यत. पूर्ववत् बनारस, कानपुर, लखनऊ, प्रयाग, आगरा, छपरा, दरभगा और कलकत्ते मे ही केन्द्रित रहा, अत: इन्ही नगरो की नाट्य-विषयक गतिविधियों से उस युग के रंगमच की स्थिति और प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है।

बनारस : प्रसाद युग के प्रारभ होने के समय बनारस मे मुख्यत दो नाटक मंडलियाँ विद्यमान थी–एक थी भारतेन्दु नाटक मडली और दूसरी थी नागरी नाटक मडली। एक तीसरी मडली थी-जैन नाटक मडली, जो पारसी-शैली के नाटक खेलने के लिये सन् १९०३ मे बनी थी। जैन नाटक मडली के कार्यों का उल्लेख अध्याय २ मे किया जा चुका है।

भारतेन्दु नाटक मडली के कर्णधार बाबू कृष्णदास साह के निधन (१९१८ ई०) के बाद वह निस्तेज हो गई, किन्तु कुछ काल बाद ही उसके पुनरुद्धार के प्रयास प्रारभ हो गये। कई प्रयासों के बाद समय-समय पर गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर-कृत 'हर-हर महादेव' (१९१८ ई०) तथा 'सुभद्रा-हरण', माधव शुक्ल–कृत 'महाभारत' उत्तरार्द्ध', राधेश्याम-कृत 'वीर अभिमन्यु', 'प्रह्लाद' तथा 'परिवर्तन', द्विजेन्द्रलाल राय-कृत 'मेवाड़पतन', 'शाहजहाँ' तथा 'चद्रगुप्त', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'-कृत 'भीष्म' आदि कई नाटक खेले गये।[१]

इसी मडली ने सर्वप्रथम जयशकर 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त', 'स्कदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक अभिनीत किये।[१] 'ध्रुवस्वामिनी' बनारस के पुराने टाउन हाल मे सन् १९१४ मे निरन्तर दो रातो तक खेला गया, जिसे देखकर प्रसाद जी ने बडा सतोष व्यक्त किया था। इसमे हिन्दी नाट्य परिषद्, कलकत्ता के देवदत्त मिश्र ने अमात्य शिखरस्वामी की भूमिका की थी। 'स्कदगुप्त' द्विवेदी-मेला पर दो रात खेला गया, जिसमे पहली रात केशवराम

टंडन ने और दूसरी रात देवदत्त मिश्र ने शर्वनाग की भूमिकाएँ की थी।[१]

उपर्युक्त गतिविधियों से यह अनुमान होता है कि भारतेन्दु नाटक मंडली 'ध्रुवस्वामिनी' के लेखन या प्रकाशन (१९३३ ई०) के वर्ष तक किसी-न-किसी रूप में सक्रिय बनी रही। कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह के मतानुसार 'ध्रुवस्वामिनी' का अभिनय उसके प्रकाशन के पूर्व किया गया था।[२] जो भी हो, प्रसाद के नाटकों के प्रयोग कर इस मंडली ने अपने युग में अत्यंत साहसिक कार्य किया था और इस प्रकार प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता पर रंगमंच की मोहर लगा दी थी।

भारतेन्दु नाटक मंडली ने सन् १९४० में द्विजेन्द्र-'दुर्गादास' तथा १९५० में भारतेन्दु-जन्मशती के अवसर पर व्रजरत्नदास, सांवलजी नागर तथा डॉ० भानुशंकर मेहता-कृत 'भारतेन्दु नाट्य रूपक' प्रस्तुत कर अपने जीवित रहने का प्रमाण प्रस्तुत किया, किन्तु सन् १९५० के बाद से यह मंडली प्रायः निष्क्रिय हो गई।

इस मंडली के प्रमुख कलाकार थे—गोविन्दशास्त्री दुग्वेकर, केशवराम टंडन, डॉ० वीरेन्द्रनाथ दास, कुँवर कृष्ण कौल, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', बेनी प्रसाद गुप्त, वीरेश्वर बनर्जी, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, रायकृष्णदास, महेन्द्रलाल मड़, पुरुषोत्तम पड्या, राजाराम मेहरोत्रा, हरिनाथ व्यास तथा द्वारकादास। अंतिम तीन कलाकार स्त्री-भूमिकाएँ किया करते थे।

इन मंडलियों में नागरी नाटक मंडली के कार्यों का इतिहास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—नवीन प्रयोगों की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि प्रयोगों की संख्या और नाटकों के नियमित उपस्थापन की दृष्टि से भी। इसके अतिरिक्त शिक्षा-संस्थाओं के सहायतार्थ और राष्ट्रीय विपत्तियों के अवसर पर आर्थिक सहायता की पुकार पर भी इस मंडली ने अनेक नाट्य-प्रयोग कर एक नई परंपरा स्थापित की—कम से कम हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच के क्षेत्र में, जहाँ इस प्रकार की पहले कोई विस्तृत परंपरा नहीं रही है।

प्रसाद युग के प्रवेश करते ही इस मंडली ने सन् १९१६ में हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर नारायण प्रसाद 'बेताब' का 'महाभारत' मंचस्थ किया। नाटक का निर्देशन नाटककार आनंद प्रसाद कपूर ने किया। इसमें जगमोहनदास साह ने श्रीकृष्ण की, शिवप्रसाद, गोवर्द्धनदास खत्री और रघुनाथसिंह ने क्रमशः युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम की, बनारसीदास खन्ना और आनंदप्रसाद कपूर ने क्रमशः दुर्योधन और विकर्ण की तथा दुर्गाप्रसाद खत्री ने द्रौपदी की भूमिका की थी। संगीत केवल बाबू का और रंग-सज्जा सरजूप्रसाद बर्फ वाले की थी। रंगदीपन के लिये गैस और कारबाइड का प्रयोग किया गया था।[३]

नाटक देखकर इस अवसर पर आये हुए राजे-महाराजे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने धर्मदत्त शास्त्री की राष्ट्रीय हिन्दी-रंगमंच की स्थापना की अपील पर रंगमंच के निर्माणार्थ २२,८०० रु० दान दिये जाने की घोषणा की।[४] हिन्दी के राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना की दिशा में यह पहला सफल प्रयास था, क्योंकि आगे चल कर सन् १९३५ में इसी धनराशि द्वारा मुरारीलाल मेहता प्रेक्षागृह के लिये बनारस में भूमि खरीदी गई और रंगमंच का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इसका विस्तृत विवरण अध्याय १ में दिया गया है। सन् १९१७ में मंडली का रजिस्ट्रेशन हुआ। इसी वर्ष तीन नाटक खेले गये—बेताब-'महाभारत' और शेक्सपियर के 'किंग लियर' का आनंदप्रसाद कपूर द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद 'कलियुग' और उनका मौलिक नाटक 'भक्त सूरदास' (जो 'बिल्वमंगल' के नाम से प्रकाशित हुआ था)। प्रथम दो नाटकों की आय ७००) रु० 'अवर डे फंड' में दे दी गई।[५]

१८ और १९ जनवरी, १९१८ को पुनः क्रमशः 'भक्त सूरदास' और 'महाभारत' खेले गये। इस वर्ष तक मंडली के पास कलाकारों का अच्छा जमघट हो गया था और परदों, वस्त्राभरण आदि का भी एक अच्छा संग्रह मंडली के पास हो गया था। फलतः 'कलियुग', 'संसार-स्वप्न' (आग़ा 'हश्र' के 'ख्वाबे हस्ती' का आनंदप्रसाद कपूर द्वारा अनुवाद) आदि नाटक खेले गये।

सन् १९२२ के प्रारम्भ मे मडली ने राधेश्याम कथावाचक-कृत 'वीर अभिमन्यु' खेलकर एक नया प्रतिमान स्थापित किया । विदेशी वस्त्रो की जगह सभी पात्रो को स्वदेशी वस्त्रो में मच पर प्रस्तुत किया गया, जिसे बहुत सराहा गया । ६ फरवरी, १९२२ के अक मे 'भारत जीवन' ने लिखा 'एक विशेषता और थी कि जितने पात्र स्टेज पर आये, सब स्वदेशी वस्त्रो में थे । किसी के शरीर पर विदेशी वस्त्र नही था । अर्जुन के रूप मे आनदप्रसाद कपूर की भूमिका की बहुत प्रशसा हुई ।'

सन् १९२३ मे द्विजेन्द्र-'भीष्म पितामह', सन् १९२५ मे आनदप्रसाद कपूर-कृत 'अत्याचार' और जमुनादास मेहरा-कृत 'पाप-परिणाम' तथा सन् १९२७ मे कन्हैयालाल 'तसौवर'-कृत 'सम्राट् अशोक' नाटक अभिनीत हुए । 'अत्याचार' कई रात्रियो तक चला ।' इस नाटक के ९ जनवरी, १९२५ के प्रदर्शन पर टिकट लगाकर सयुक्त प्रात (अब उत्तर प्रदेश) के बाढ-पीडितो के लिये ४२०) रु० अर्पित किये गये । 'पाप-परिणाम' भी ५ और ७ दिसबर, १९२५ को दो दिन खेला गया ।'

दिसबर, १९३० मे निरतर आठ दिन तक कई नाटक खेल कर मडली ने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया । इस अवसर पर 'जीवन-आशा', हरिदास माणिक-कृत 'भक्त प्रह्लाद', 'दमन', 'ससार', आनदप्रसाद कपूर-कृत 'परीक्षित' और मराठी नाटककार रामगणेश गडकरी के प्रसिद्ध नाटक 'एकच प्याला' का शिवरामदास गुप्त-कृत हिन्दी अनुवाद 'दूज का चाँद' खेले गये । अतिम नाटक अखिल-एशियाई शिक्षा महासम्मेलन मे बनारस आये प्रतिनिधियो के सम्मानार्थ किया गया था ।'

सन् १९३१ मे बनारस के दगा-पीडितो के सहायतार्थ दो नाटक खेले गये—'दूज का चाँद' और शिवरामदास गुप्त-कृत 'गरीब की दुनिया' ।' सन् १९३३ मे 'प्रेम रहस्य' और शिवरामदास गुप्त-कृत 'पहली भूल' अभिनीत हुए । सन् १९३४ मे विहार के भूकप-पीडितो के सहायतार्थ पुन' 'प्रेम-रहस्य' खेला गया और १५५) रु० एकत्र किये गये ।

इस बीच मडली के सभापति राजा मोतीचद का निधन हो गया, जिससे मडली का एक स्तभ टूट गया । आनन्द प्रसाद कपूर बबई जा चुके थे और प्रायः वही रहने लगे थे । फलत. सन् १९३४ से १९४० तक कोई विशेष कार्यक्रम न हो सके ।

इस मडली द्वारा अभिनीत नाटको पर दृष्टि डालने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विस्तारित भारतेन्दु युग के 'महाराणा प्रतापसिंह' को छोड बेताब युग और प्रसाद युग के केवल उन्ही नाटककारो के नाटक खेले गये, जिनका प्रत्यक्ष सबध रगमच से रहा है । प्रसाद और उनकी अनुवर्ती विचार-धारा के किसी भी नाटककार के नाटक इस मडली द्वारा प्रसाद युग मे नही खेले गये । अभिनय-पद्धति मुख्यत' पारसी ढग की ही रही, यद्यपि मडली के कलाकारो का अभिनय उच्च कोटि का होता था । रग-सज्जा और रग-दीपन की दिशा मे मडली ने युगानुरूप उपकरणो का प्रयोग कर कदम सदैव आगे की ओर बढाए ।

इन मडलियो के अतिरिक्त प्रसाद युग की एक अन्य मंडली का भी उल्लेख आवश्यक है, और वह थी-रत्नाकर रसिक मडल, जिसने १४-१५ दिसंबर, १९३३ को नगर की अन्य नाट्य-संस्थाओ के चुने हुये कलाकारो को लेकर रामेश्वर थियेटर हाल (जहाँ इस समय गणेश टाकीज है) मे प्रसाद-'चद्रगुप्त' मचस्थ किया था ।' अभिनय काफी सफल रहा । इसमे मगलीप्रसाद अवस्थी (ना० ना० मडली), केशवराम टडन (भा० ना० मंडली) तथा गणेशदत्त आचार्य (हिन्दी नाट्य समिति) ने क्रमश. चद्रगुप्त, चाणक्य तथा सिकदर की भूमिकाएँ की थी । अन्य महत्त्वपूर्ण भूमिकाओ मे सीताराम चतुर्वेदी (राक्षस), बल्ली बाबू (दाड्यायन), चद्रदेव दीक्षित (पर्वतेश्वर), शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' (आभीक), सर्वदानन्द वर्मा (शकटार) के पाठ उल्लेखनीय थे । नाटक में पुरुषों ने ही स्त्री-भूमिकाएँ की थी । ये पुरुष-अभिनेत्रियाँ थी-बदरीलाल गोस्वामी (अलका), गणेशराम नागर (कल्याणी), जनार्दन

मिश्र (सुवासिनी) तथा गिरिजाप्रसाद (मालविका)। सीताराम चतुर्वेदी के राक्षस, सर्वदानंद वर्मा के शकटार तथा बदरीलाल गोस्वामी की अलका की भूमिकाएँ सर्वोत्कृष्ट रहीं। चन्द्रगुप्त की भूमिका में मंगलीप्रसाद अवस्थी का अभिनय शिथिल एवं सदोष रहा।

अभिनय के लिए नाटक की रंगावृत्ति (स्टेज स्क्रिप्ट) स्वयं प्रसाद जी ने ही तैयार की थी। नाटक के केवल तीन अंक ही प्रस्तुत किये गये थे। प्रेक्षकों में स्वयं प्रसाद जी तथा डॉ० सम्पूर्णानन्द भी उपस्थित थे।

मंडल के 'चन्द्रगुप्त' के अतिरिक्त किसी अन्य नाटक के खेले जाने का उल्लेख नहीं मिलता।

कानपुर : प्रसाद युग के प्रवेश के समय कानपुर में एकमात्र अव्यावसायिक नाट्य-संस्था थी–विजय नाट्य समिति, जिसकी स्थापना कानपुर की क्रांतिकारी चेतना के प्रतीक एवं कांग्रेसकर्मी नारायणप्रसाद अरोड़ा ने सन् १९१५ में की थी। सन् १९१६ में अरोड़ा जी की प्रेरणा से विक्रम क्लब की नाट्य-शाखा के रूप में विक्रम नाट्य समिति की स्थापना हुई।" इसके संस्थापकों में प्रमुख थे–नारायण प्रसाद अरोड़ा, गोवर्द्धनदास खन्ना और बाबूराम जैन। विक्रम नाट्य समिति ने बेताब-'महाभारत' और 'हश्र'-'अछूता दामन' नाटक खेले। इस प्रकार पहले इन संस्थाओं ने पृथक्-पृथक् नाट्य-प्रयोग किये, किंतु बाद में दोनों मिलकर एक हो गईं और उन्होंने अपने संयुक्त ध्वज 'विक्रम-विजय नाट्य समिति' के अन्तर्गत 'सन्मित्र' नामक नाटक खेला।" इस समिति का उद्देश्य सामाजिक नाटक खेल कर नगर में नवचेतना उत्पन्न करना था।

इन्हीं दिनों कैलाश मंदिर में रामलीला के अवसर पर नाटक खेलने के लिये सन् १९१८ में कानपुर के पुराने रईस रायसाहब गंगाप्रसाद वाजपेयी ने हास्य-अभिनेता ओंकारनाथ वाजपेयी और चरित्र-अभिनेता रमाशंकर अग्निहोत्री के सहयोग से कैलाश क्लब की स्थापना की। तबसे प्रत्येक वर्ष इस संस्था द्वारा कैलाश मंदिर के प्रांगण में अस्थायी रंगमंच बनाकर आश्विन शुक्ल सप्तमी, अष्टमी और नवमी को हिन्दी नाटक खेले जाते हैं। विषय-वस्तु, अभिनय-पद्धति और रंग-शिल्प की दृष्टि से नाटकों पर पारसी-हिंदी रंगमंच की शैली का व्यापक प्रभाव रहा है। यहाँ प्रायः पुरुष ही स्त्रियों की भूमिकाएँ करते हैं। स्त्री-भूमिका करने वाले कलाकारों में प्रमुख हैं–हरिशंकर, नौरोजी (पारसी), राजकिशोर मिश्र, शिवकुमार वाजपेयी, शैलेन्द्रनाथ दत्त आदि।

क्लब का प्रथम नाटक नारायण प्रसाद 'बेताब' का 'ज़हरी साँप' था, जिसमें स्वयं गंगाप्रसाद वाजपेयी ने नायक नाहरसिंह और हरिशंकर ने नायिका खुरशीद की भूमिकाएँ की थीं। इसमें पारसी-शैली के परदों और फ्लाटों के साथ रंगदीपन के लिये फुटलाइट एवं हेडलाइट का उपयोग किया गया था और 'फोकस' के लिये कार-बाइड प्रकाश का। सन् १९१९ में राधेश्याम कथावाचक का 'वीर अभिमन्यु', सन् १९२० में 'वीर अभिमन्यु' के साथ आग़ा 'हश्र' का 'ख्वाबे हस्ती' और १९२१ में 'अहसन' के 'शरीफ़ बदमाश' के साथ एक पुराना नाटक खेला गया।"

रायसाहब के बड़े पुत्र शिवप्रसाद और पत्नी का निधन हो जाने के कारण नाटकाभिनय सन् १९२२ से सन् १९२८ तक बंद रहा, यद्यपि इस बीच रामलीला पूर्ववत् होती रही।

सन् १९२९ में पुनः नाटक प्रारम्भ हुए और इस वर्ष तुलसीदत्त 'शैदा'-कृत 'जनकनंदिनी' और राधेश्याम-कृत 'कृष्णावतार' खेले गये। प्रथम नाटक में गंगाप्रसाद वाजपेयी ने राम, उनके पुत्र रुद्रप्रसाद ने लव और नौरोजी नामक एक पारसी सज्जन ने सीता की भूमिका की। 'कृष्णावतार' में गंगाप्रसाद ने वासुदेव, रुद्रप्रसाद ने कृष्ण और नौरोजी ने देवकी के रूप में सफल अभिनय किया।"

प्रत्येक वर्ष क्लब द्वारा दो नाटक–एक नया और एक पुराना खेले जाते रहे। सन् १९३० से १९३७ तक नवीन अभिनीत नाटक हैं–'भक्त प्रह्लाद' (१९३० ई०), 'रुक्मिणी मंगल' (१९३१ ई०), 'परिवर्तन', 'उषा-अनिरुद्ध', 'चलता पुर्जा', 'मशरिकी हूर', 'ईश्वर-भक्ति' आदि।

इन नाटकों में हास्य-भूमिकाएँ करने वाले ओंकारनाथ वाजपेयी का सन् १९३६ में और नायक की भूमिकायें करने वाले गंगाप्रसाद वाजपेयी का सन् १९३७ में निधन हो जाने से एक बार पुनः नाटकाभिनय का कार्यक्रम आगामी कुछ वर्षों के लिये अवरुद्ध हो गया और फिर सन् १९४८ तक कोई नाटक मंचस्थ न हो सका ।[1]

नाटकों का निर्देशन स्वयं गंगाप्रसाद वाजपेयी किया करते थे ।

क्लब के पास परदों, फ्लाटों और जाली के परदों के अतिरिक्त कट-सीन, वस्त्राभरण, रंग-दीपन के उपकरणों, आँधी और वृष्टि के प्रदर्शन आदि की अपनी पर्याप्त व्यवस्था है । यह संस्था एक अर्द्ध-शताब्दी लाँघ कर आज भी जीवित है । कानपुर के रंगमंच के इतिहास में इस संस्था का अपना एक उल्लेखनीय स्थान है ।

अव्यावसायिक रंगमंच के क्षेत्र में इस युग में कानपुर का तीसरा प्रयोग है-दयानंद नाट्य परिषद् । इस परिषद् की स्थापना वैदिक आश्रम, परमट द्वारा सन् १९२७ में कविवर पं० हृदयनारायण 'हृदयेश' की अध्यक्षता में हुई थी, जिसने अक्टूबर, १९२७ को राधाकृष्णदास-कृत 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक प्रो० रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' के निर्देशन में खेला, जिसमें 'हृदयेश' (शक्तिसिंह) के अतिरिक्त देशदीपक त्रिवेदी (परिषद् के मंत्री और बाद में हरदोई के जिलाधीश), जगन्नाथ प्रसाद मिश्र (महाराणा प्रताप) आदि ने भाग लिया ।[1] परिषद् ने सन् १९२८ में कालिदास–कृत 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का मंचन किया, जिसका निर्देशन डॉ० हरदत्त शर्मा ने किया । 'हृदयेश' और हरस्वरूप माथुर ने क्रमशः दुष्यंत और शकुंतला की भूमिकाएँ कीं ।[1]

उक्त संस्थाओं के अतिरिक्त छात्रों एवं नाट्य-प्रेमी शिक्षितों एवं साहित्यकारों की संस्थाएँ भी समय-समय पर राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु', भक्त प्रह्लाद', 'श्रवणकुमार' आदि, बद्रीनाथ भट्ट का 'दुर्गावती', माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुनयुद्ध' तथा द्विजेन्द्रलाल राय के बँगला नाटकों–'शाहजहाँ', 'चंद्रगुप्त', 'मेवाड़-पतन', 'उस पार' आदि के हिन्दी-अनुवादों का अभिनय समय-समय पर प्रस्तुत करती रही हैं ।[1] इस बीच दुर्गा-पूजा के अवसर पर बँगला नाटकों के साथ हिन्दी के नाटक भी, विशेषकर द्विजेन्द्र और अन्य बँगला नाटककारों के नाटकों के हिन्दी-अनुवाद खेले जाते रहे । बँगालियों द्वारा इस परंपरा का श्रीगणेश सन् १८८५ में भारतेन्दु-'भारत-दुर्दशा' खेल कर किया गया था । इस प्रकार कानपुर के अव्यावसायिक रंगमंच की परंपरा सम्पूर्ण प्रसाद युग में अक्षुण्ण बनी रही, यद्यपि प्रसाद युग की माँग के अनुरूप यहाँ उसे कोई विशेष प्रतिष्ठान न मिल सका । फिर भी यह कुछ कम नहीं कि व्यावसायिक नाटक मंडलियों के उद्भव-केन्द्र एवं बाहर से आने वाली मंडलियों के प्रदर्शन के 'स्टेशन' होने के कारण कानपुर में व्यावसायिक रंगमंच के साथ अव्यावसायिक रंगमंच का सह-अस्तित्व बना रहा ।

लखनऊ प्रसाद युग के प्रारंभ में हिन्दू यूनियन क्लब एक सक्रिय नाट्य-संस्था के रूप में थी, जिसका विवरण अध्याय २ में दिया जा चुका है । इस युग की अन्य प्रमुख नाट्य-संस्थाएँ थीं–इंडियन हीरोज़ एसोसिएशन, रस्तोगी क्लब, योगेशदादा का क्लब, यंगमेन्स म्यूजिकल सोसाइटी तथा इंडियन रेलवे इंस्टीट्यूट क्लब ।[1]

इंडियन हीरोज एसोसिएशन की स्थापना प्रस्तुत शती के तीसरे दशक में नगर के प्रमुख वकीलों के प्रयास से नादानमहल रोड पर हुई थी । एसोसिएशन ने मराठी नाटककार रामगणेश गडकरी के 'एकच प्याला' के हिन्दी रूपांतर 'एक प्याला' का मंचन गोलागंज थियेटर में किया, जिसमें डॉ० जगतनारायण कपूरिया ने मद्यप युगल (नायक) तथा परमात्मा सक्सेना ने निर्मला (नायिका) की भूमिका की थी । शिवशंकरलाल श्रीवास्तव नौकर रमजानी की भूमिका में अवतीर्ण हुए ।[1]

इसके अनंतर एसोसिएशन ने राधेश्याम कथावाचक-कृत 'परिवर्तन', आग़ा 'हश्र'-कृत 'खूबसूरत बला', 'दर्दे जिगर' आदि कई नाटक मंचस्थ किये । ये सभी नाटक प्रायः गोलागंज थियेटर में ही हुए । 'परिवर्तन' में डॉ० कपूरिया ने बिहारी, मुरारीलाल वकील ने ज्ञानचंद, ज्ञानचंद्र सक्सेना ने विद्या तथा परमात्मा सक्सेना ने चंदर का पाठ

(पार्ट) किया।[७]

इस संस्था का अंतिम नाटक था द्विजेन्द्र-'चन्द्रगुप्त', जिसमे डॉ० कपूरिया, मुरारीलाल वकील तथा परमात्मा सक्सेना क्रमश सेल्यूकस, चद्रगुप्त तथा हेलेन की भूमिकाओ मे अवतीर्ण हुए।[८]

नगर के रस्तोगी-समाज के रंगप्रेमी युवकों ने राजा का बाजार में (मेडिकल कालिज के सामने) रस्तोगी क्लब की स्थापना की। इस क्लब ने नारायणप्रसाद 'बेताब'–कृत 'महाभारत' नाटक अभिमंचित किया। इसमे इन्द्रप्रसाद रस्तोगी ने दुर्योधन, डॉ० कपूरिया ने कर्ण तथा तेजस्वरूप शुक्ल ने द्रौपदी की भूमिकाएँ की थी।[९]

क्लब ने अन्य कई नाटक समय-समय पर मचस्थ किये।

लखनऊ के रग-निर्देशक योगेश दादा ने एक क्लब की स्थापना कर 'सम्राट् अशोक' नाटक खेला। इसमे पी० एन० श्रीवास्तव (लल्लन) ने अशोक की तथा कु० टडन ने रानी तिष्यरक्षिता की भूमिकाएँ ग्रहण की। निर्देशन योगेश दादा ने किया, जो बहुत सफल रहा।[८]

यगमेन्स म्यूजिकल सोसाइटी की स्थापना प्रस्तुत शती के तीसरे दशक मे तुलसीराम वैश्य के प्रयास से हुई, जो सन् १९३५-३६ तक सक्रिय बनी रही। प्रारम्भ मे इसका कार्यालय तुलसीराम वैश्य के मकान (मॉडेल हाउस) मे था, जो बाद मे उठ कर नजीराबाद में (चटर्जी शू कम्पनी के ऊपर वाले कमरे मे) आ गया।[९]

सोसाइटी ने 'चन्द्रगुप्त' (१९२५ ई०), 'बिल्वमगल' (१९३२ ई०), 'हश्र'-कृत 'सैदे हवस' और 'असीरे हिर्स', जनेश्वर प्रसाद 'मायल'-कृत 'तेगे सितम', विश्वभर सहाय व्याकुल-कृत 'बुद्धदेव' आदि कई नाटक अभिनीत किये। इस सस्था के प्रमुख कलाकार थे–राधेबिहारीलाल, पी० एन० श्रीवास्तव, तुलसी राम वैश्य, बालकराम वैश्य, अवतारकृष्ण गंजूर, बी० एन० सिन्हा, भगवतीचरण श्रीवास्तव आदि। योगेन्द्र प्रसाद सक्सेना सोसायटी के नाट्य-निर्देशक थे और संगीत-निर्देशक थे–अलीकादर (बब्बन साहब), जो फिल्म सगीत-निर्देशक नौशाद के गुरु हैं। नौशाद इस सोसाइटी के नाटको में बाजा (हारमोनियम) बजाया करते थे।[१०]

'तेगे सितम' के अभिनय के मध्य सोसाइटी के कलाकारो मे कुछ मतभेद उत्पन्न हो गया, जिसके फलस्वरूप कुछ कलाकारो ने इंडियन रेलवे इस्टीट्यूट क्लब के ध्वज के अन्तर्गत पृथक् नाटक खेलने प्रारंभ कर दिये। इस क्लब ने 'बेताब'-'ज़हरा सांप', 'बिल्वमगल', 'हश्र'-कृत खूबसूरत बला' आदि नाटक खेले, जो हज़रतगज-स्थित कार्यालय में मचस्थ किये गये थे।[११]

रेलवे इस्टीट्यूट हाल (स्टेशन रोड) के बन कर तैयार हो जाने पर उसका उद्घाटन जनेश्वर प्रसाद 'मायल'-कृत 'चद्रगुप्त' से हुआ। इस अवसर पर 'हश्र'-'खूबसूरत बला' भी खेला गया। बाद में 'हश्र'-'यहूदी की लड़की' मचस्थ किया गया।[१२]

प्रसाद युग के अंतिम दशक मे चलचित्रो के अभ्युदय और लखनऊ में आकाशवाणी की स्थापना से कलाकार कलात्मक अभिव्यक्ति के इन नये माध्यमों की ओर झुक गये और नगर का हिन्दी रंगमच कुछ काल के लिए शिथिल पड़ गया।

प्रयाग : प्रयाग और कलकत्ते मे हिन्दी-रगमंच के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना के जागरण के लिये माधव शुक्ल ने, मराठी के अधिकांश पत्रकारो एव साहित्यकारो की भाँति, नाटक लिखे और उन्हें खेलने के लिये प्रयाग मे हिन्दी नाट्य समिति और कलकत्ते मे हिन्दी नाट्य परिषद् को जन्म दिया।

प्रयाग की हिन्दी नाट्य समिति एकमात्र नाट्य-सस्था थी, जिसने प्रसाद युग में अव्यावसायिक रगमंच को जगाये रखा। सन् १९१५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जब छठा अधिवेशन डॉ० श्यामसुन्दर दास की अध्यक्षता में हुआ, तो इस अवसर पर समिति ने हार्डिज थियेटर हाल में माधवशुक्ल-कृत 'महाभारत पूर्वार्द्ध' खेला। इसमे प्रमथनाथ भट्टाचार्य ने युधिष्ठिर, माधव शुक्ल ने भीम, पुरुषोत्तमनारायण चड्ढा ने अर्जुन, महादेव भट्ट ने

धृतराष्ट्र, रासबिहारी शुक्ल ने दुर्योधन, वेणी शुक्ल ने विदुर और देवेन्द्रनाथ बनर्जी ने द्रौपदी की भूमिकाएँ की थी । वा० शिवपूजन सहाय ने नाटक देख कर माधव शुक्ल, रासबिहारी शुक्ल और महादेव भट्ट के प्रभावशाली अभिनय की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।"

लखनऊ मे हुए पचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन (१९१४ ई०) के अवसर पर समिति ने भारतेन्दु-'सत्य हरिश्चंद्र' का अभिनय किया, जिसे देख कर 'हिंदू पंच' के संपादक ईश्वरीप्रसाद शर्मा इतने प्रभावित हुये कि उन्होने *आरा मे 'मनोरंजन नाटक मंडली' की स्थापना की।" कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के अनुसार माधव शुक्ल ने* जौनपुर, लखनऊ आदि नगरो में जाकर हिन्दी नाटक मंडलियो की स्थापना की थी।"

समिति अपने राष्ट्रीय विचार वाले नाटकों के कारण तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की कोप-भाजन बनी और माधव शुक्ल का 'महाभारत पूर्वार्द्ध' जब्त कर लिया गया।" दूसरी ओर, माधव शुक्ल को इलाहाबाद बैंक की नौकरी छोडकर प्रयाग से कलकत्ते चले जाना पडा। उनके कलकत्ते चले जाने पर समिति का कार्य ढीला पड गया।

सके अनंतर संपूर्ण प्रसाद युग मे छुट-पुट प्रयासो को छोड, विशेषकर प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा हिन्दी रंगमंच की स्थापना और उन्नयन के लिये किये गये कुछ कार्यो के अतिरिक्त यहाँ का रंगमंच प्रायः सूना-सा ही बना रहा।

आगरा प्रसाद युग के आविर्भाव के समय आगरे में दो नाट्य-संस्थाएँ विद्यमान थी–आगरा नागरी प्रचारिणी सभा तथा आगरा कृष्ण नाटक मंडली। इन नाट्य-संस्थाओं का विवरण अध्याय २ मे पहले दिया जा चुका है।

सन् १९३५ मे आगरा कृष्ण नाटक मंडली के कार्यों मे गतिरोध आ जाने के कारण मंडली के संस्थापक *मा० हरनारायण वर्मा केवल राम के राजतिलक के अवसर पर नाटक प्रसाद युग के उपरांत भी सन् १९५० तक* खेलते रहे।

छपरा : बिहार में संभवतः छपरा ही एक ऐसा नगर है, जिसने प्रसाद युग मे नाटकीय सक्रियता प्रदर्शित की। इस युग मे केवल तीन नाट्य-संस्थाओ ने रंगकार्य मे रुचि दिखलाई–छपरा क्लब, श्रीशारदा नाट्य समिति तथा एमेच्यर ड्रामेटिक एसोसिएशन। इन सभी संस्थाओ का विवरण अध्याय २ में पहले दिया जा चुका है।

दरभंगा ✝ प्रो०नरनारायण राय के अनुसार शेरपुर, जिला दरभंगा के उमाकांत मिश्र ने सन् १८९६मे मिथिला नाटक कंपनी की स्थापना की थी, जिसके एक नाटक 'सत्य हरिश्चंद्र' को देखकर दरभंगा के महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह ने उसका नाम बदल कर 'बिहार हिन्दी मैथिल नाटक समाज', दरभंगा रख दिया। यह समाज सन् १९२५ तक दरभंगा के राज–दरबार मे प्रारम्भ मे २५ रु० और बाद मे ५० रु० प्रतिदिन पर अपने नाट्य-प्रदर्शन करता रहा। समाज के नाटक थे–'शिव विवाह', 'नारद मोह', 'सत्य हरिश्चंद्र' और 'भक्त प्रह्लाद'। इसके अनंतर मु० रघुनंदनदास द्वारा संस्कृत से अनुवादित 'शाकुंतल', 'वसंततिलकम्', 'नल-दमयंती', 'मुद्राराक्षस' आदि नाटक भी प्रदर्शित किये गये। प्रसाद युग मे इस कंपनी ने घूम-घूम कर टिकट पर नाटक दिखाने प्रारंभ कर दिये। सन् १९२७ मे पंजाब के मा० घुलीराम कंपनी के निर्देशक नियुक्त हुये और कंपनी का नाम पारसी शैली पर पुनः बदल कर 'दि बिहार उमाकांत थियेट्रिकल कम्पनी' रख दिया गया। सन् १९३० मे कमलाबाई, जहूरीबाई, मीरा शील, अनुशील आदि अभिनेत्रियो के इस कंपनी में आगमन से उसे यथेष्ट लोकप्रियता और धन की उपलब्धि हुई।

✝ यह समस्त वर्णन प्रो० नरनारायण राय, गढबनैली (पूर्णिया) के 'नाट्यवार्ता', कलकत्ता, मई तथा जून, १९७७ के *अंको मे प्रकाशित लेख 'मिथिला नाटक कम्पनी'* पर आधारित है।–लेखक।

यह कंपनी बिहार के विभिन्न नगरों में प्रदर्शन करती हुई सन् १९३० में नेपाल भी गई थी। सन् १९४३ तक यह सक्रिय बनी रही। सन् १९४७ में उमाकांत मिश्र की मृत्यु के बाद कंपनी बिखर गई।

सन् १९४९ में कंपनी का पुनर्गठन हुआ और आधुनिक युग में भी सन् १९६५-६६ तक यह नियमित प्रदर्शन करती रही।

कलकत्ता · कलकत्ते की हिन्दी नाट्य समिति द्वारा अभिनीत भारतेन्दु-'नीलदेवी' (१९१६ ई०) देखने के लिये आमंत्रित, किंतु अभिनय-स्थल का ज्ञान न होने के कारण उसे न देख पाने वाले माधव शुक्ल ने 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक के प्रणेता पद्मराज जैन, राधामोहन गोकुल और भोलानाथ बर्मन के सहयोग से सन् १९१८ में हिन्दी नाट्य परिषद् की स्थापना की, जिसका तत्कालीन कार्यालय ८३, लोअर चितपुर रोड पर था, किन्तु उसका वर्तमान कार्यालय ४०२, रवीन्द्र सरणि (अपर चितपुर रोड) पर है। पद्मराज जैन उसके प्रथम अध्यक्ष, राधामोहन गोकुल उसके उपाध्यक्ष और भोलानाथ बर्मन उसके मंत्री बने।[१७] यह 'नाट्य परिषद् विशुद्ध नाटक-परिषद् न थी,' वरन् 'गुप्त रूप से नाटक की आड़ में राजनीतिक उग्रवाद की प्रचारक थी।'[१८] परिषद् के 'परखे हुए, स्वप्नशील, सच्चरित्र' सदस्य, तारुण्य-प्रेरित क्रान्ति की ज्वाला लिये कुछ कर गुजरना चाहते थे। उन्होंने संकल्प किया कि केवल वे ही नाटक खेले जायें, जो राष्ट्रीय हों, और सरकार द्वारा जब्त हों।

माधव शुक्ल के स्थायी रूप से कलकत्ते में जम जाने से परिषद् ने जोर पकड़ा। अभिनय के लिये क्रमशः तीन जब्त नाटक चुने और खेले गये—राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप', माधव शुक्ल का 'महाभारत पूर्वार्द्ध' और द्विजेन्द्र-'मेवाड़-पतन'। 'महाराणा प्रताप' परिषद् का पहला नाटक था, जो 'भामाशाह की राजभक्ति' के नाम से सन् १९१८ में बीडन स्ट्रीट के मनमोहन थियेटर में खेला गया।[१९] माधव शुक्ल राणा प्रताप बने और भोलानाथ बर्मन, चरणदास और परमेष्ठीदास जैन ने क्रमशः भामाशाह, दूती और छैला की भूमिकाएँ कीं। माधव शुक्ल तो राणा प्रताप के साक्षात् अवतार ही लगा करते थे।[२०]

'महाभारत पूर्वार्द्ध' और 'मेवाड़-पतन' के नाम बदल कर क्रमशः 'कौरव-कलंक' और 'विश्व-प्रेम' रखे गये।[२१] ये नाटक क्रमशः सन् १९१८ और १९१९ में खेले गये।[२२] इन नाटकों का निर्देशन स्वयं नाट्याचार्य माधव शुक्ल किया करते थे। परिषद् के पास अभिनेताओं, कलाकारों एवं रंग-शिल्पियों का बहुत बड़ा दल था, जिनमें माधव शुक्ल, ताराचंद शुक्ल, ईश्वरी प्रसाद भाटिया, भोलानाथ बर्मन, चरणदास, अर्जुनसिंह शर्मा, पिनकीराम आदि पुरुष-पात्रों का और श्रीकृष्ण पांडेय, विश्वनाथ शर्मा, केशव प्रसाद खत्री, रूपनारायण खत्री, अम्बा शंकर, परमेष्ठीदास जैन, मिश्रीलाल अग्रवाल, हरि अग्रवाल, प्रसिद्ध नर्तक जमुनाप्रसाद पांडे आदि स्त्री-पात्रों का अभिनय किया करते थे। विश्वनाथ शर्मा की जहाँआरा की भूमिका प्रसिद्ध थी। केशव प्रसाद खत्री की स्त्री-भूमिकाएँ सर्वश्रेष्ठ होती थीं। परमेष्ठीदास कॉमिक में स्त्री का काम करते थे। शेष युवक नर्तकियों और सखियों का काम करते थे।[२३] ये युवक स्त्री-भूमिकाएँ इतनी दक्षता से करते थे कि 'महिलायें भी उन्हें स्त्री के रूप में देख कर दाँतों-तले अँगुली दबा लिया करती थीं।'[२४]

परिषद् में सभी स्त्री-भूमिकाएँ पुरुषों द्वारा ही की जाती थीं, क्योंकि शुक्ल जी पारसी रंगमंच पर भी वेश्याओं द्वारा किसी सती के अभिनय के बहुत विरुद्ध थे और उन्होंने आन्दोलन चला कर सतियों का अभिनय वेश्याओं द्वारा कराया जाना बन्द करा दिया था।[२५]

परिषद् के स्थायी संगीत-शिक्षक खादिमहुसैन खाँ और मानिकलाल बोस (कौड़ी मास्टर) नृत्य-शिक्षक थे।

परिषद् अपने नाटक अपने सदस्यों के लिये ही किया करती थी, किन्तु समाज-सेवा एवं राष्ट्र-सेवा के लक्ष्य की पूर्ति के लिये वह टिकट लगाकर 'धर्मार्थ-प्रदर्शन' (चैरिटी शो) भी किया करती थी। सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये परिषद् ने इस प्रकार के अनेक धर्मार्थ प्रदर्शन किये। टिकट दस रु० से लेकर सौ रुपये तक हुआ

करती थी और कोई अधिक देना चाहे तो दे सकता था ।

सन् १९२० में असहयोग आन्दोलन और उसके अनंतर स्वदेशी आन्दोलन के प्रारंभ हो जाने पर माधव शुक्ल, देवदत्त मिश्र, जमुनाप्रसाद पांडे तथा परिषद् के अन्य सदस्य इस आन्दोलन में कूद पड़े और सन् १९३० में नमक सत्याग्रह तक लगभग १० वर्ष तक अस्थिरता और राजनैतिक उथल-पुथल की इस स्थिति में भी, उस समय को छोड़ कर जब परिषद् के सदस्य आन्दोलन में सक्रिय भाग लेते या जेल में होते, परिषद वर्ष में प्रायः दो-एक नाटक अवश्य कर लिया करती थी । सन् १९२५ में देवदत्त मिश्र परिषद् के मंत्री बने, किन्तु बजरंग परिषद् द्वारा उसका नाट्य-संबंधी सामान रख लिये जाने के कारण उसका क्रम बिगड़ गया और सन् १९२८ में उसका पुनर्गठन किया गया । इसी वर्ष मु० जनेश्वरप्रसाद 'मायल' का 'सम्राट् चंद्रगुप्त' खेला गया, जिसमें देवदत्त मिश्र ने चंद्रगुप्त, माधव शुक्ल ने अलेक्जेंडर और ईश्वरीप्रसाद भाटिया ने चाणक्य की भूमिकाएँ कीं ।[५] भाटिया की चाणक्य की भूमिका अद्वितीय होती थी ।

इस बीच पारस्परिक विवाद के कारण परिषद् दो हिन्दी नाट्य-परिषदों के रूप में विभक्त हो गई—एक के मंत्री थे देवदत्त मिश्र और दूसरी के थे माधव शुक्ल के ज्येष्ठ पुत्र विजयकृष्ण शुक्ल, किन्तु शीघ्र ही दोनों परिषदों में समझौता हो गया और सन् १९२९ में पुनः 'सम्राट् चंद्रगुप्त' खेलने की तैयारी प्रारम्भ हुई । चंद्रगुप्त की भूमिका करने के प्रश्न पर दोनों गुटों में विवाद खड़ा हो गया और ईश्वरी प्रसाद भाटिया को छोड़ पुराने सभी कलाकार प्रायः अलग हो गये । फलतः भारतेन्दु नाटक मंडली के चरित्र-अभिनेता केशवराम टंडन बनारस से बुलाये गये, जिन्होंने चंद्रगुप्त और मिश्र जी ने सेल्यूकस की भूमिकाएँ कीं ।[६]

सन् १९३० में नमक-सत्याग्रह के कारण परिषद् के सदस्यों के सत्याग्रह-आन्दोलन में जुट जाने से इस वर्ष कुछ न हो सका । इस बीच समय-समय पर 'झाँसी की रानी', द्विजेन्द्र-'बंग-नारी' के हिंदी रूपान्तर 'भारत-रमणी' आदि कई नाटक मंचस्थ हुए ।

सन् १९३१ में कलकत्ते में तीसरी बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन होने के अवसर पर परिषद् ने पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' अल्फ्रेड थियेटर में सफलता के साथ अभिनीत किया । निर्देशन माधव शुक्ल ने किया । भोलानाथ वर्मन ने ईसा की और देवदत्त मिश्र ने क्रूर सेनापति शावेल की भूमिकाएँ कीं ।

इस अवसर पर 'महात्मा ईसा' से एक दिन पूर्व कलकत्ते की बजरंग परिषद् ने भी मिनर्वा थियेटर में राधेश्याम-कृत 'ईश्वर-भक्ति' का 'भक्त अंबरीष' के नाम से प्रदर्शन करने का आयोजन किया था, किन्तु 'पास' के प्रश्न पर वानर-सेना (स्वयंसेवकों का एक संगठन) से झगड़ा हो जाने से नाटक नहीं हो सका ।[७]

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में पुनर्गठित नाट्य उपसमिति की व्यावहारिक शाखा के रूप में हिन्दी रंगमंच समिति का गठन हुआ, जिसके संयोजक थे माधव शुक्ल और नरोत्तम व्यास । इस समिति ने सन् १९३२ में गिरीशचंद्र घोष के बँगला नाटक 'बलिदान' के नरोत्तम व्यास-कृत हिन्दी-अनुवाद 'बलिदान' का प्रदर्शन किया, जो बहुत सफल रहा, किन्तु इस समिति के अधिकांश सदस्यों के बिखर जाने के कारण यह प्रयास भी आगे न बढ़ सका ।[८] ४ जनवरी, १९३२ को परिषद् के उपाध्यक्ष देवेन्द्रनाथ शुक्ल और मंत्री देवदत्त मिश्र तारासुंदरी पार्क में सरकार के विरुद्ध भाषण देने और राजद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर लिये गये और परिषद् अवैध घोषित कर दी गई ।[९] जेल से छूटने पर परिषद् के कार्यकर्ताओं ने द्विजेन्द्र-'शाहजहाँ' मंचस्थ किया । केशवराम टंडन ने शाहजहाँ और देवदत्त मिश्र ने औरंगजेब के काम किये । केशवराम की शाहजहाँ की भूमिका बड़ी यथार्थ होती थी । इसके अनंतर जी० पी० श्रीवास्तव-कृत 'भूल-चूक', द्विजेन्द्र-'पर-पारे' का रूपनारायण पांडेय-कृत अनुवाद 'उस पार' (१९३३ ई०) आदि नाटक किये गये ।[१०]

सन् १९३४ में बिहार के भूकंप के समय परिषद् की टोलियों ने घूम-घूम कर लगभग ५०००) रुपये और

नये-पुराने कपडे एकत्र कर भूकप-पीड़ितों के लिये भेजे । सन् १९३५ मे देवदत्त मिश्र परिषद् के सभापति चुने गये, किन्तु कुछ रंगारंग कार्यक्रमों के अतिरिक्त प्रसाद युग के अन्त तक कुछ न हो सका। परिषद् अपने नाटक सामान्यतः मिनर्वा, अल्फ्रेड तथा नाट्यमंदिर के रंगालयों में प्रदर्शित किया करती थी और रग-सज्जा, रंगदीपन आदि के सभी तत्कालीन साधनो का उपयोग किया करती थी । सभी वस्त्राभरण, रंगोपकरण बी० दास एण्ड कं० से किराये पर मँगाए जाते थे ।

परिषद् ने पारसी-हिन्दी रंगमच के नाटकों और नाट्य-पद्धति से विद्रोह कर एक साफ-सुथरा, परिष्कृत, कलापूर्ण एव राष्ट्रीय हिन्दी रगमच खडा करने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु अपनी परिसीमाओ के भीतर आबद्ध होने के कारण 'महात्मा ईसा' जैसे गंभीर नाटक को छोडकर उसने इस युग की प्रसाद-धारा के अन्य नाटको को नही अपनाया । अभिनय की कृत्रिमता दूर करने, मच पर पारसी रगमच की अनावश्यक तडक-भडक से यथासंभव दूर रहकर सादगी और वस्तुवादिता लाने और रंगमंच को राष्ट्रोत्थान के पुरस्करणार्थ प्रस्तुत करने मे परिषद् का योगदान अविस्मरणीय है ।

कलकत्ते की बजरंग परिषद् से पृथक् होकर कुछ कलाकारों ने सन् १९१९-२० मे श्रीकृष्ण परिषद् की स्थापना की । इस सस्था ने कुछ नाटक नाटककार कन्हैयाल 'कातिल' के निर्देशन में प्रस्तुत किये और हिन्दी नाट्य परिषद् की भाँति अपनी आय का बहुत बडा अंश राष्ट्र-हित में लगाया । यह परिषद् अब विशेष सक्रिय नही है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी के इस *अव्यावसायिक रंगमच पर, एकाध अपवादो को छोड़ कर, रंग-सज्जा के लिये अधिकाशत रँगे हुए परदो, फ्लाटो आदि से ही काम चला लिया जाता था और पारसी मच के अन्य बाह्याडंबरो का प्रदर्शन उनकी आर्थिक क्षमता के बाहर की बात हुआ करती थी* । इस रगमच का लक्ष्य रंगसज्जा, वेश-भूषा आदि की तडक-भडक दिखलाना न होकर प्रायः नये प्रयोग करना, अभिनय की कृत्रिमता को दूर करना और रंग-शिल्प को वस्तुवादी, सरल तथा अल्प-व्यय-साध्य बनाना था । फिर भी कानपुर की कैलाश क्लब जैसी कुछ नाट्य-सस्थाएँ इस युग मे भी नये प्रयोगों से दूर बनी रही । कुल मिला कर प्रसाद युग का रंगमंच भारतेन्दु युग और बेताब युग की रूढियो और परम्पराओ से आगे न बढ सका । यह मंच प्रसाद के विशिष्ट शैली के नाटको की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये अपर्याप्त एवं अक्षम था । फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि व्यावसायिक एव अव्यावसायिक, दोनों प्रकार के मचो ने प्रसाद की नाट्य-चेतना को बहुत दूर तक प्रभावित किया और वे अनेक प्रयोगो के बाद ही अपनी नाट्य-पद्धति और रंग-शिल्प को एक निश्चित रूप दे सके ।

(२) हिन्दीतर भारतीय रंगमंच : स्थिति तथा समकालीन युग

प्रसाद युग में हिन्दी की ही भाँति बँगला और गुजराती मे भी कुछ सीमा तक प्रयोगनिष्ठ नाटक रगमंच से दूर जा पडा, किन्तु फिर भी सभी आलोच्य हिन्दीतर भारतीय भाषाओं मे नाटकों और उनके लेखकों का संबंध किसी-न-किसी रूप मे व्यावसायिक नाटक मडलियों के साथ बना रहा । मराठी को छोड, जिसमे नाटक व्यावसायिक रगमंच के साथ एकप्राण बना रहा, शेष सभी भाषाओ मे, उनके युगद्रष्टा जिन नाटककारो ने इस युग का नेतृत्व किया, उनकी कृतियो से अव्यावसायिक रगमंच को प्रेरणा मिली, क्योकि व्यावसायिक मच की परपरागत आवश्यकताओ की पूर्ति न कर पाने, रगमच पर नई परम्पराओं एवं कला-विधान की स्थापना करने, भाषा के संस्कार एव अलकृति के कारण उनके प्रयोगो के लिये एक ऐसे मंच की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो *व्यवसाय-दृष्टि को दूर रख कर कुछ दूर तक चल सके । यह प्रयोगनिष्ठ अव्यावसायिक मंच हिन्दी, बँगला और गुजराती मे व्यावसायिक मच के साथ-साथ एक-दूसरे का पूरक और कही एक-दूसरे का प्रतिस्पर्धी बन कर चलता रहा ।*

सन् १९१२ ई० मे नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र घोष और मिनर्वा के परिचालक महेन्द्र मित्र के निधन और

सन् १९१६ मे स्टार के परिचालक, नट एव नाटककार अमरेन्द्रनाथ दत्त के महाप्रयाण से बँगला के दो प्रमुख रगालयो–मिनर्वा और स्टार की गति कुछ काल के लिये कुठिन हो गई । कुछ कलाकारो के अवकाश-ग्रहण या वय-वृद्धि के साथ उनकी कला के अस्तगत होने के कारण बँगला रंगमच पर कुशल कलाकारों का दैन्य उपस्थित हो गया । गिरीश बाबू के सुपुत्र सुरेन्द्रनाथ घोष (दानी बाबू) इस दैन्य को दूर करने के लिये अपनी अद्भुत क्षमता एव कला-दाक्षिण्य का परिचय देते रहे, तभी सन् १९२१ मे कलकत्ता के विश्वविद्यालय सस्थान मे चाणक्य की भूमिका कर (१९१२ ई०) प्रसिद्धि पाने वाले प्राध्यापक शिशिरकुमार भादुडी ने अध्यापकी छोडकर व्याव-सायिक मच-जगत् मे प्रवेश किया और अपने अध्यवसाय और नाट्य-कौशल के बल पर बँगला रगमच को एक नवीन दिशा दी । उन्होने सर्वप्रथम बँगला मच पर पाश्चात्य भावाभिनय-पद्धति की अवतारणा की, किन्तु वे गिरीश की भाँति सर्वागतः तप कर अपने युग का नेतृत्व न कर सके । यह नये प्रयोगो का युग था, जिसकी सूचना *कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने नवीन शैली के नाटको–'शारदोत्सव' (१९०८ ई०), 'राजा' (१९१० ई०) और* 'डाकघर' (१९१२ ई०) द्वारा दे चुके थे । प्राकृतिक अथवा मानवीय प्रतीको को लेकर जिन लौकिक एवं पार-लौकिक तत्त्वो की अवतारणा की गई है, वे हैं सत्य और आनद की उपलब्धि, आत्मा का अज्ञान के घोर तम को भेद कर परमात्मा से सान्निध्य अथवा उसमे विलय । रवीन्द्र के नाटको मे निहित प्रसगनिष्ठ तत्त्व-निरूपण सामान्य सामाजिक के लिये ग्राह्य नहीं है, अत उनके नाटको के लिये सर्वसाधारण के मच की ही नही, असाधारण तत्त्व–ज्ञान सम्पन्न सामाजिकों के मच की आवश्यकता थी, जिसकी स्थापना के लिये रवीन्द्र को स्वय प्रयत्नशील होना पडा । शान्तिनिकेतन की बालक-बालिकाओ को लेकर रवीन्द्र ने अपने इन नवीन नाटको के सफल प्रयोग कर इस नवीन मच की स्थापना की । बाद मे उनके कुछ लोकप्रिय नाटक अथवा नाट्यरूपान्तर व्यावसायिक रगमच द्वारा भी प्रस्तुत किये गये । आर्ट थियेटर द्वारा रवीन्द्र के 'चिरकुमार सभा', नाट्य–मदिर द्वारा उनके 'विसर्जन', 'शेषरक्षा' और 'तपती', नवनाट्य मदिर द्वारा 'योगायोग' (रवीन्द्र के उसी नाम के उपन्यास का नाट्य–रूपातर) अभिनीत किये गये ।

रवीन्द्र न केवल नाटककार थे, वरन् वे एक कुशल नट एव प्रयोक्ता भी थे । शातिनिकेतन द्वारा अभिनीत नाटको मे वे स्वय भी भूमिकाएँ करते थे और नाट्य-शिक्षा का कार्य भी करते थे । रवीन्द्र ने नाट्याचार्य शिशिर *के साथ भी अनेक भूमिकाएँ की थी । शिशिर केवल नट, नाट्य-शिक्षक एवं परिचालक थे, जबकि रवीन्द्र इसके* अतिरिक्त नाटककार एव कवि भी थे, अत. प्रसाद के समकालीन होने के कारण बँगला मे इस युग को 'रवीन्द्र युग' के नाम से अभिषिक्त करना समीचीन होगा ।

रवीन्द्र युग अनिवार्यत विशिष्ट अव्यावसायिक मच का युग होते हुए भी व्यावसायिक दृष्टि से गिरीश युग मे किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं । इस युग मे कोहिनूर, स्टार और मिनर्वा जैसे पुराने रगालय किसी-न-किसी प्रकार अपने अस्तित्व का परिचय देते रहे, तो दूसरी ओर मनमोहन थियेटर, आर्ट थियेटर, नाट्य मदिर, नव-नाट्य मदिर, श्रीरगम्, नाट्य-निकेतन, कलकत्ता थियेटर लि०, रगमहल आदि कई नये रगालयो अथवा नाट्य-सस्थाओं की स्थापना हुई । इनमे से नाट्य मंदिर आदि कई सस्थाओ की स्थापना के पीछे शिशिर-कुमार भादुडी के गत्यात्मक व्यक्तित्व का हाथ रहा है ।

मराठी मे यह युग रगभूमि का उत्कर्ष-काल रहा है,[१२] क्योकि सन् १९१४ मे प्रथम महायुद्ध के प्रारभ हो जाने के कारण प्राय. सभी मराठी नाटक मडलियो ने भरपूर धनोपार्जन किया, और युद्धोत्तर-काल मे रगभूमि का अपकर्ष आसन्न दिखाई पडने लगने पर मामा वरेरकर नवीन शैली के अपने नाटको को लेकर सामने आये और एक नये युग का सूत्रपात किया । यद्यपि मामा का कृतित्व उनके महत्त्वाकांक्षी दावो और नाटको की सामयिकता एव प्रचारात्मकता के कारण विवाद का विषय बन गया है, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि उन्होने नाटकों के

लिये नवीन विषय, नई नाट्य-पद्धति, मच के लिये नूतन वस्तुवादी सज्जा प्रदान की। उनके प्राय: सभी नाटक स्वदेशहितचिंतक नाटक मडली, ललितकलादर्श, गणेश नाटक मडली, समर्थ नाटक मंडली आदि द्वारा खेले गये।

मामा वरेरकर ने समाज के छल और ढोग पर जो तीव्र किन्तु विनोदपूर्ण प्रहार किया है, उस प्रहार का अस्त्र है–स्त्री, वह स्त्री जो मामा की विशिष्ट मानस-पुत्री है और जिस पर मामा के निजी सांचे की छाप है। वह सतत् वाचाल और शाश्वत विद्रोहिणी है, यद्यपि अन्त में वह पुरुष के साथ किसी-न-किसी प्रकार का समझौता कर लेती है। मामा का हास्य प्रसगनिष्ठ एवं स्वभावनिष्ठ है, जिसे मुख्य कथानक से पृथक् नही किया जा सकता। यह पारसी अथवा कोल्हटकर-पद्धति के उस हास्य या कॉमिक से पृथक् है, जिसकी योजना के लिये मुख्य कथा के साथ एक उपकथा अलग से जोड़नी पड़ती है।

इस प्रकार एक नए प्रकार के वस्तुवादी नाटको के प्रवर्तक होने के कारण इस युग को मामा वरेरकर के नाम से ही 'वरेरकर युग' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। यह युग मुख्य रूप से, हिन्दी और बँगला के प्रयोगनिष्ठ अव्यावसायिक मच के प्रतिकूल, व्यावसायिक नाट्य मडलियो का युग रहा है, जिनमे प्रमुख थी–ललितकलादर्श, गधर्व नाटक मडली, बलवंत सगीत मडली, नाट्यकला प्रसारक, गणेश नाटक मंडली, समर्थ नाटक मडली आदि।

गुजराती मे नये युग का प्रारभ कुछ विलब से अर्थात् सन् १९२४ ई० से हुआ, जबकि पारसी-शैली की गुजराती रंगभूमि (रगमच) और उसकी नाट्य-पद्धति के विरोध मे एक नये प्रकार के नाटकों का सृजन प्रारंभ हुआ, जो विषय, वस्तु-गठन, भाषा और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्राचीन रगभूमि के नाटको की अपेक्षा अधिक परिमार्जित थे और उसके अनुकूल न होने के कारण उसके लिये अग्राह्य थे। फलस्वरूप चन्द्रवदन मेहता तथा अन्य सहकर्मियो ने उस पुरातन रगभूमि के विरुद्ध एक मोर्चा-सा खडा कर दिया।" अभिनय की कृत्रिमता और चमत्कारप्रियता, मच पर सिंहनादी सवाद, प्रकाश की रूढ़ पद्धति, प्राचीन रग-सज्जा और पारसी नाट्य-विधा असह्य हो उठी। चद्रवदन ने 'अखो' (१९२७ ई०) और 'आगगाडी' (१९३० ई०) लिख कर और कन्हैयालाल मुंशी ने 'पुरंदर-विजय' (१९२४ ई०), 'अविभक्त आत्मा' (१९२४ ई०), 'पीडाग्रस्त प्रोफेसर' ('स्नेह–सभ्रम'), 'तर्पण' (१९२६ ई०) 'काकानी शशी' (१९२९ ई०), 'ध्रुवस्वामिनी देवी' (१९२९ ई०) आदि नाटक लिख कर नई दिशा की सूचना दी। इन नाटको के प्रयोग के लिये एक नई रगभूमि की आवश्यकता थी, जो अव्यावसायिक रगभूमि के रूप मे अभ्युदित हुई। यद्यपि इसका बीजारोपण सन् १९१५ मे ही बड़ौदा मे 'संयुक्ता' और 'नंद-निकंदन' के अभिनय से हो चुका था," परन्तु इस प्रयास को आदोलन का रूप सन् १९२४-२५ में ही प्राप्त हो सका। फलस्वरूप भूलाभाई देसाई की अध्यक्षता मे 'कला समाज' की स्थापना हुई और सन् १९२७ में चंद्रवदन मेहता-कृत 'अखो' नामक नाटक मचस्थ किया गया। यह प्राचीन रगभूमि के विरुद्ध विद्रोह का प्रथम संकेत था।

दूसरी ओर पुरातन रगभूमि भी करवट बदल कर पुन: जाग उठी और अनेक नई-पुरानी नाट्य-मंडलियों को लेकर अपनी जययात्रा पर चल पडी। इन मंडलियो मे प्रमुख थी–'मोरबी आर्य सुबोध नाटक मंडली, देशी नाटक समाज, मुंबई गुजराती नाटक मडली आदि। इन मडलियो के प्रमुख नाटककार थे–प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी, रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, मणिलाल 'पागल', वैराटी, विभाकर, शयदा, हरिहर दीवाना, जामन आदि। इन नाटककारो मे मणिलाल 'पागल', हरिहर दीवाना, शयदा, विभाकर आदि नाटककार यद्यपि प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी की अपेक्षा वरिष्ठ रहे हैं, तथापि द्विवेदी सन् १९१६ मे एक प्रतिभाशाली सह-लेखक के रूप में अपने जीवन का प्रारम्भ कर क्रमश: सपूर्ण गुजराती रगभूमि पर छा गये और प्राय: सभी नाटक-मडलियों में उन्हें अपने यहाँ खीच ले जाने की होड-सी लग गई। देशी नाटक समाज द्वारा सन् १९२८ मे अपने यहाँ ले लिये जाने पर द्विवेदी समाज के स्थायी नाटककार बन गये और तब से सन् १९६० और उसके बाद तक निरंतर गुजराती रगभूमि की सेवा

करते रहे । प्र० द० द्विवेदी इस युग के प्रमुख नाटककार होते हुए भी किसी नवीन परंपरा का, नई नाट्य-विधा का प्रवर्तन नही कर सके, अत गुजराती रगभूमि को एक नई दिशा देने वाले चन्द्रवदन मेहता और कन्हैयालाल मु शी के नाम पर इस युग को 'मेहता-मु शी युग' के नाम से पुकारा जा सकता है ।

मेहता और मु शी के नाटक अव्यावसायिक रगमच पर अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं ।

(क) बँगला रवीन्द्र युग मे रगमच की गतिविधि, उपलब्धियाँ एव परिसीमाएँ

जोडासांको नाट्यशाला एवं शाति निकेतन–ठाकुर-परिवार से सबद्ध होने के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर का संबध प्रारभ से ही जोडासाको नाट्यशाला के साथ रहा है, जहाँ वस्तुवादी दृश्यसज्जा के लिये पाश्चात्य पद्धति पर प्रकृत दृश्यो को प्रस्तुत करने पर जोर दिया जाता था । रवीन्द्र–कृत 'वाल्मीकि–प्रतिभा' मे वास्तविकता के अनुकरण के लिये वन के दृश्य मे जहाँ पृष्ठ-पट पर झाडी मे छिपे शूकर को चित्रित किया गया था, वही बरगद के वृक्ष की कुछ शाखाएँ दिखा कर उस वृक्ष पर रुई के बने सारस का जोडा बैठाया गया था और एक कोने पर भूसा-भरा एक मृत मृग खडा किया गया था । इसी नाटक के एक अन्य दृश्य मे सचमुच का घोडा और एक टिन की पनाली मे छेद कर जलवृष्टि भी प्रदर्शित की गई थी । इसी प्रकार रवीन्द्र के 'डाकघर' मे निम्न मध्य वर्ग के ग्रामीण के मकान का दृश्यबध (सेट) दिखलाया गया था, जिस पर छप्पर छाया गया था । परन्तु दृश्य–सज्जा, परदो, अभिनय आदि के सबध मे क्रमश रवीन्द्र के विचार बदलते गये, जिन पर उन्होने स्वय 'रगमंच' नामक निबध (१९०२ ई०) मे प्रकाश डाला है । इस निबध मे उन्होने वस्तुवादी रग-सज्जा को अनावश्यक बतलाया है ।[५] पाश्चात्य अनुकरण की रगसज्जा के प्रतिकूल वे मच पर सादगी और नूतनता के पक्षधर थे और इस सबध मे 'तपती' की भूमिका मे अपने विचार प्रस्तुत करते हुए अभिनय की सजीवता और वस्तुवादिता पर रवीन्द्र ने अधिक जोर दिया है । उनके मत से अभिनय कुछ ऐसा होना चाहिये, जो सामाजिक को स्पर्श करे, जीवत और गतिशील हो । इसके विपरीत वे दृश्यावली को मूक, निष्प्राण और गतिहीन मानते थे, जो सामाजिक की कल्पना को बाँधकर सकीर्ण बना देती है । जल्दी-जल्दी दृश्यातर अथवा पट-परिवर्तन को उपहासास्पद मानते थे, क्योकि इसमे आतरिक सत्य की अभिव्यक्ति मे व्याघात पडता है ।[५]

शातिनिकेतन के मंच को लेकर रवीन्द्र ने रग-सज्जा, वेश-भूषा, रगदीपन, वाद्य-सगीत आदि के क्षेत्र मे कई प्रयोग किये । शातिनिकेतन के छात्र प्रमथनाथ बिशी ने इस सबध मे विस्तार से लिखते हुए बताया है कि शान्तिनिकेतन मे बाजार से खरीदे नये वस्त्रो की जगह स्थानिक शिल्पियो द्वारा परिकल्पित पोशाक, वही के पेंटरो द्वारा बनाये गये पृष्ठपटो एव यवनिका तथा हारमोनियम की जगह वीणा, वशी और इसराज का प्रयोग होने लगा था। आडवरपूर्ण वस्त्राभरण की जगह रगदीपन के निपुणतापूर्ण प्रयोग पर अधिक जोर दिया जाने लगा था ।[५]

रवीन्द्र रगमच और सामाजिक के बीच घेरावद व्यवधान के भी विरोधी थे । इसीलिये वे यात्रा की नाट्य-पद्धति को बहुत पसद करते थे, क्योकि उसमे कलाकार और सामाजिक के बीच व्यवधान नही रहता । वे नाटक को, काव्य को उस फुहारे की तरह मानते थे, जिसके रस-कण अभिनय के द्वारा बिखर कर सामाजिक के प्रफुल्ल हृदय को रस–सिक्त कर देते है ।[५] यह अभिनय ऐसा हो, जो नाटक (काव्य) का तो पदानुसरण करे, परन्तु अन्य कलाओ, चित्रकला आदि का चरणसेवी न हो । अन्य कलाओ का आश्रय उतना ही लिया जाना चाहिये, जो उसकी अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक हो । वे चाहते थे कि चित्राकित पटो एव दृश्यावली की जगह सामाजिक स्वय अपनी कल्पना-प्रवणता से काम ले ।[५] वे अभिनय की सप्रेषणीयता द्वारा सामाजिक के मन मे रस-सचार करना, उसके हृदय का साधारणीकरण करना ही नाट्याभिनय का लक्ष्य मानते थे । इस रस-सचार के लिये वाह्य मचोपकरण को वे बाधक समझते थे ।

रवीन्द्र के रगमच और अभिनय से सबधित इन विचारो को यद्यपि व्यावसायिक रगमंच ने मान्यता नही

दी,[५०] तथापि उन्होने स्वय, एक कुशल उपस्थापक (प्रोड्यूसर) की भाँति अपने नाटको को मचस्थ कर मूर्त रूप दिया । इसके लिये उन्होने एक नया कलाकार-दल खडा किया, जिसे वे बडी लगन के साथ नाट्य-शिक्षा देते थे । रवीन्द्र न केवल कुशल उपस्थापक थे, वरन् एक उच्चकोटि के अभिनेता भी थे । अपने नाटकों मे वे प्रायः मच पर उतरा करते थे । 'वाल्मीकि-प्रतिभा' मे रवीन्द्र ने वाल्मीकि, 'राजा' और 'डाकघर' में ठाकुरदा, तथा 'फाल्गुनि' मे युवा कवि और वृद्ध अधे की दोहरी भूमिकाओ मे अवतीर्ण होकर स्वाभाविक अभिनय के नये मानदड स्थिर किये । रवीन्द्र अपने प्रारम्भिक जीवन मे नाट्याचार्य शिशिरकुमार भादुडी के साथ कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रांगण मे भी अभिनय कर 'सुकठ अभिनेता' के रूप मे पर्याप्त कीर्ति अर्जित कर चुके थे ।[५१]

इस काल मे रवीन्द्र के नाटको मे और भी प्रौढता आई, क्योकि ये उनके उत्तर जीवन के नाटक थे, जिन पर उनके नाट्य-विषयक विचारों की तो स्पष्ट छाप है ही, उनका जीवन-चिन्तन भी मुखर हो उठा है, जो एक ओर समाज की यात्रिक निर्भरता, कृत्रिमता और आधुनिकता के प्रति विद्रोह करता है, तो दूसरी ओर अध्यात्म या दर्शन की ऊँचाइयो को छूने का प्रयास करता है । इस युग के उनके प्रमुख नाटक है–'फाल्गुनि' (१९१६ ई०), 'मुक्तधारा' (१९२२ ई०), 'वसत' (१९२३ ई०), 'गृह-प्रवेश' (१९२५ ई०), 'शोध-बोध', 'नटीरपूजा', 'रक्त करबी' और ऋतु-उत्सव' (१९२६ ई०), 'ऋतुरग' (१९२७ ई०), 'तपती' (१९२९ ई०), 'नवीन' और 'शाप-मोचन' (१९३१ ई०), 'कालेर यात्रा' (१९३२ ई०), 'चडालिका', 'तासेर देश' और 'बाँसरी' (१९३३ ई०), 'श्रावण-गाथा' (१९३४ ई०), 'चित्रागदा' 'नृत्य-नाट्य' (१९३६ ई०), 'श्यामा' (१९३९ ई०) और 'मुक्तिर उपाय' ।

उपर्युक्त नाटको में से अधिकाश के जोडासाको और शान्तिनिकेतन के मच पर खेले जाने के अतिरिक्त, इनमे से कुछ तथा कुछ अन्य पूर्वकृत नाटक इस काल मे व्यावसायिक रगालयो अथवा सस्थाओ द्वारा खेले गये । १९२५ ई० मे आर्ट थियेटर द्वारा 'चिरकुमार सभा' और 'गृह-प्रवेश',[५२] शिशिर के नाट्य मदिर द्वारा 'विसर्जन' ।[५३] सन् १९२८ मे 'शेष रक्षा'[५४] और १९२९ ई० में 'तपती',[५५] मनमोहन थियेटर द्वारा सन् १९३० में 'मुक्तिर उपाय'[५६] और शिशिर के नवनाट्य मदिर द्वारा सन् १९३६ मे रवीन्द्र का 'योगायोग'[५७] खेला गया । इसके अतिरिक्त रवीन्द्र ने स्वयं मादन थियेटर के रगमच पर अपना 'शारदोत्सव' सन् १९२२ ई०[५८] और कलकत्ते के इम्पायर थियेटर में 'विसर्जन' सन् १९२३ ई०[५९] में अभिनीत किया । इन नाटको का अभिनय शान्तिनिकेतन के लिये धनसग्रहार्थ किया गया था, जिनमें उन्होने क्रमश सन्यासी और जयसिह की भूमिकाएँ की थी ।

चिर-मानव के शाश्वत सुख-दुःख, जय-पराजय, आशा-निराशा का चित्रण करने के कारण रवीन्द्र के नाटक बँगला ही नही, शाश्वत विश्व-साहित्य की वस्तु बन गये है । रवीन्द्र के नाटक हिन्दी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त विश्व की सभी समुन्नत भाषाओ मे अनूदित हो चुके हैं । रवीन्द्र ने प्रायः दो प्रकार के नाटक लिखे हैं–पौराणिक और सामाजिक । 'चित्रागदा' उनका पौराणिक नाटक है, यद्यपि उसमे शाश्वत नारी का चित्र अकित किया गया है, जिसमे वह भी पौराणिक की अपेक्षा सामाजिक अधिक प्रतीत होता है । रवीन्द्र के सामाजिक नाटक दो प्रकार के हैं–स्वच्छदतावर्मी और समस्यामूलक । स्वच्छदतावर्मी नाटको के अन्तर्गत प्रायः उनके सभी गीतिनाट्य, ऋतुनाट्य और सकेतनाटक आ जाते हैं, जबकि समस्यामूलक नाटकों के अन्तर्गत उनके प्रहसन और गभीर नाटक आते हैं । इन समस्यामूलक नाटको मे यान्त्रिक सभ्यता, वर्गभेद और पूँजीवाद के विरोध के साथ गांधीवादी असहयोग का भी चित्रण किया गया है । रवीन्द्र के 'मुक्तधारा' और 'रक्तकरबी' इसी प्रकार के नाटक हैं । 'कालेर यात्रा' और 'चडालिका' मे अस्पृश्यता की समस्या को स्पर्श किया गया है । 'बाँसरी' मे आधुनिक सभ्यता और साहित्य के आवरण मे चलने वाले सामाजिक दभ और दशो का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है ।

रवीन्द्र के अधिकाश नाटक गीति-बहुल हैं और उनमे सगीत और काव्य का आग्रह अधिक पाया जाता है,

नाट्य-क्रिया का क्रम। उनके सकेत नाटक उनके जीवन-दर्शन से बोझिल हो उठे हैं और यही कारण है कि उनके कथानक भी शिथिल हैं। बगाल अथवा भारत के समाज-जीवन से प्रत्यक्ष सम्पर्क न होने के कारण रवीन्द्र के सामाजिक नाटको मे समाज की प्रकृत समस्याओ का अभाव पाया जाता है। रवीन्द्र वस्तुत: नाटककार की अपेक्षा कवि अधिक थे। रवीन्द्र के सम्बन्ध मे एक विद्वान ने तो यह मत व्यक्त किया है कि उनमे 'प्रकृत नाट्यकार की *प्रतिभा' नही थी,*[1] *किन्तु यह कथन अशत ही सत्य है, क्योकि 'रक्तकरबी', 'मुक्तधारा', 'बाँसरी'* आदि सशक्त नाटक हैं, जिनमे कौशलपूर्ण वस्तु-गठन, द्रुत कार्य-व्यापार, विदग्धतापूर्ण, अलकृत, ओजस्वी, चुस्त, लघु और व्यजनात्मक सवाद, चरित्रो का उभरा हुआ रेखाकन, सभी कुछ पाया जा सकता है। उक्त धारणा के पीछे संभवत: वे गीतिनाट्य एव नाट्य-काव्य हैं, जिनमे कल्पना और भावुकता के झीने-रगीन धागों से वस्तु-जाल को बुना गया है। उनके साकेतिक एवं प्रतीक नाटक भी, जिनमे उनके जीवन-दर्शन अथवा तत्त्व-निरूपण ने नाटक का सूक्ष्म रूप धारण किया है, इस धारणा मे सहायक हुए हैं। इसमे कोई सदेह नही कि उनके नाटको का सामान्य धरातल, उनके उन नाटको की अपेक्षा, *जिनमे नूतन समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिये आधुनिक कृत्रिम, यात्रिक और* पूँजी-प्रधान समाज की भर्त्सना कर उसे धराशायी किया गया है, कही ऊँचा है, जिसकी स्थापना शाश्वत मानवीय भावभूमि पर अथवा कल्पना के वायवीय पखो पर की गई है।

इस दृष्टि से वे हिन्दी के जयशकर प्रसाद के बहुत निकट हैं, जिनका कवि उनके नाटककार की अपेक्षा अधिक प्रबल है, यद्यपि उन्होंने शाश्वत मानवीय मूल्यो के चित्रण एव कल्पना की मुक्त उडान के लिए रवीन्द्र की भाँति काल्पनिक वृत्त को आधार न बनाकर ऐतिहासिक वृत्त को ही अधिक अपनाया है। दोनो *मानवता और आनदवाद के पुजारी हैं और इस आनन्द की उपलब्धि को ही उन्होने मानव-जीवन का लक्ष्य* माना है।

बँगला का व्यावसायिक रगमच : रवीन्द्र ने व्यावसायिक रगमच पर खेले जाने वाले नाटको से पृथक् एक प्रकार के नये ढग के नाटको की रचना की, तथापि उनकी नाट्यधारा का बँगला मे अनुसरण नही हुआ और उनके नाटको को देखने वाला सामाजिक-वर्ग भी सीमित ही बना रहा।[1] सामान्य सामाजिक प्रायः व्यावसायिक रगभूमि के ही चारो ओर शलभवत् घूमते रहे। रवीन्द्र युग मे कोहिनूर, मिनर्वा और स्टार थियेटरो ने *प्राचीन रगभूमि का सपोषण और सवर्धन किया, तो दूसरी ओर सन् १९२१ मे व्यावसायिक क्षेत्र मे प्रवेश कर* शिशिरकुमार भादुड़ी ने नूतन रगभूमि की स्थापना की। इसके अतिरिक्त मनमोहन पाण्डेय ने मनमोहन थियेटर की सन् १९१५ मे और अपरेशचन्द्र मुखोपाध्याय ने आर्ट थियेटर की सन् १९२३ मे स्थापना कर बँगला रगभूमि मे नये प्राण फूँके।

कोहिनूर थियेटर—सन् १९१२ मे कोहिनूर थियेटर को खरीद कर मनमोहन पाण्डे ने उसकी आवश्यक *मरम्मत कराई और उसी मे मिनर्वा के ध्वज के अन्तर्गत सन् १९१५ मे गिरीशचन्द्र घोष-कृत 'काला पहाड'* मंचस्थ किया। मिनर्वा के नाम का उपयोग करने के कारण मिनर्वा के एक अन्य स्वत्वाधिकारी उपेन्द्र बाबू निषेधाज्ञा (इजक्शन) ले आये, जिसके फलस्वरूप उसी वर्ष से वे उसे मनमोहन थियेटर के नाम से चलाने लगे।[2]

मनमोहन थियेटर—'काला पहाड' की सफलता के बाद स्टार से चुन्नी बाबू और वसतकुमारी तथा थेस्पियन टेम्पुल से तिनकडि दासी मनमोहन मे आ गईं। सन् १९१६ मे मनमोहन द्वारा निशिकान्त वसुराय का 'बाप्पाराव', निर्मलशिव बन्द्योपाध्याय का 'बहादुर' ('चोर या बहादुर') *तथा हरनाथ वसु का 'भक्त कबीर' अभिनीत* किये गये। इसी वर्ष सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय-कृत ऐतिहासिक नाटक 'मोगल-पाठान' भी खेला गया, जो निरतर १५० रात्रियो तक चलता रहा।[1] इस नाटक मे दानी बाबू ने शेरशाह की, चुन्नी बाबू ने हुमायूँ की, शशीमुखी

ने सोफिया की और वसंतकुमारी ने चाँद की भूमिकाएँ सफलता के साथ की। इसके अनंतर गिरीश बाबू के 'गृहलक्ष्मी', 'बलिदान' आदि कुछ पुराने नाटक खेले गये।

सन् १९१७ मे बंकिमचन्द्र के 'चन्द्रशेखर' पर से निषेधाज्ञा हट जाने पर उसे सफलता के साथ मंचस्थ किया गया। इसी वर्ष ६ अक्टूबर को सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय का ऐतिहासिक नाटक 'पानीपत' खेला गया। इसमें दानी बाबू ने बाबर की भूमिका की। सन् १९१८ मे अभिनीत निशिकान्त वसुराय के 'देवला देवी' में दानी बाबू की खिजिरखाँ की भूमिका बहुत प्रभावशाली रही। मतिया के रूप में आश्चर्यमयी, देवला देवी के रूप मे रानी सुंदरी और अलाउद्दीन के रूप मे चुन्नी बाबू के अभिनय उल्लेखनीय रहे।[93] सन् १९२० में सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय का 'हिन्दू वीर' खेला गया। इसी वर्ष 'विषवृक्ष' और 'मेघनाद-वध' नाटक खेले गये, जिनमे कुछ दृश्यों को चलचित्र द्वारा दिखाया गया था। बँगला रंगमंच पर दृश्यों को चलचित्र द्वारा दिखाने की प्रथा दीर्घस्थायी न हो सकी।[94]

सन् १९२१ मे गिरीश-'हारानिधि' एवं क्षीरोद-'आलमगीर' और तदनन्तर निशिकान्त-'वंगे वर्गी' (१९२२ ई०) नाटक अभिनीत हुये। 'वंगे वर्गी' ५०० रात्रियों तक चला और उसकी स्वर्णजयंती मनाई गई।[95] बँगला रंगभूमि के इतिहास मे यह पहला नाटक था, जिसे स्वर्णजयंती पहली बार मनाने का अवसर मिला। अगस्त, १९२३ मे सुरेन्द्रनाथ-'अलेक्जाडर' खेला गया, किन्तु यह सामाजिकों को पसन्द नहीं आया। सन् १९२४ मे अभिनीत निशिकान्त-'ललितादित्य' मे दानी बाबू के उच्च कोटि के अभिनय के बावजूद उसकी सराहना न हो सकी।

सन् १९२१ मे शिशिरकुमार भादुड़ी द्वारा प्रारम्भ किये गये नूतन अभियान के आगे दानी बाबू और उनका अभिनेता-दल श्रीहत-सा हो चला। दूरदर्शी मनमोहन बाबू ने नियति के संकेत को पढकर अपना थियेटर लीज़ पर दे दिया। नये प्रबन्ध के अन्तर्गत वसंतकुमार चट्टोपाध्याय-कृत 'मीराबाई' (१९२८ ई०) और निशिकान्त वसु-कृत सामाजिक नाटक 'पथेर शेषे' मंचस्थ किया गया। इसी बीच मनमोहन और शिशिरकुमार भादुड़ी के नाट्यमन्दिर ने मिलकर गिरीश-'प्रफुल्ल' का सम्मिलित अभिनय किया।[96] इसमे दानी बाबू ने योगेश की और शिशिर ने रमेश की भूमिकाएँ कर पुरातन और नवीन का अपूर्व संगम उपस्थित किया।

सन् १९२९ ई० में वरदाप्रसन्न दासगुप्त का 'कर्मवीर', जलधर चट्टोपाध्याय का 'प्राणेर दावी' शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त का 'रक्तकमल' और सुधीन्द्रनाथ राहा का 'समुद्रगुप्त' मंचस्थ किया गया। इसके अन्तर्गत मणिलाल वन्द्योपाध्याय का 'जहाँगीर' (१९२९ ई०) और मन्मथ राय का 'महुया' (१९३० ई०), रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'मुक्तिर उपाय' (१९३० ई०) और शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त का 'गैरिकपताका' अभिनीत हुआ। 'गैरिक पताका' शिवा जी के जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक नाटक है, जिसकी सफलता से मनमोहन को विशेष अर्थ लाभ हुआ।[97] यह नाटक भी कई रात्रियो तक चलता रहा।

मनमोहन का अन्तिम नाटक था—मन्मथ राय का श्रीकृष्ण-जन्म से सम्बन्धित पौराणिक नाटक 'कारागार', जो २६ रात्रियो तक चला। तदनन्तर उसे 'उत्तेजक' घोषित कर सरकार ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। फलस्वरूप सन् १९३१ ई० के प्रारम्भ में ही मनमोहन थियेटर बन्द हो गया।

मिनर्वा थियेटर—मनमोहन पाण्डेय के बाद सन् १९१५ ई० मे उपेन्द्रकुमार मित्र मिनर्वा के स्वत्वाधिकारी ('लेज़ी') बने और सर्वप्रथम द्विजेन्द्रलाल राय-कृत 'सिंहल विजय' नाटक खेला गया। अपरेशचन्द्र मुखोपाध्याय मिनर्वा के प्रबन्धक नियुक्त हुये। उपेन्द्र बाबू के परिचालन मे मिनर्वा सन् १९३८ ई० तक चलता रहा, जिसके बाद उसका प्रबन्ध कई बार बदला और आज भी अनेक उत्थान-पतन के बाद यह सन् १९५९ ई० से लिटिल थियेटर ग्रुप के तत्वावधान मे चल रहा है।

उपेन्द्र बाबू के परिचालन-काल में मिनर्वा मे जो नाटक खेले गये, उनमें प्रमुख हैं—क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद

का गीतिनाट्य 'किन्नरी' (१९१८ ई०), वरदाप्रसन्न दासगुप्त का 'मिशरकुमारी' (१९१९ ई०), रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'वशीकरण' (१९२२ ई०) और द्विजेन्द्र-'चन्द्रगुप्त' (१९२२ ई०)। १८ अक्टूबर, १९२२ को 'शकुन्तला' के पूर्वाभ्यास के दौरान मिनर्वा मे आग लग गई, जिसके फलस्वरूप वह ध्वस्त हो गया।[७९] नवनिर्मित मिनर्वा मे महातापचन्द्र घोष के 'आत्मदर्शन' का ८ अगस्त, १९२५ ई० को उद्घाटन हुआ।[८०] सन् १९२२ से १९२५ के बीच उपेन्द्र बाबू ने अल्फ्रेड थियेटर को लेकर 'डालिम', 'जीवन-युद्ध', 'क्रतातेर बगदर्शन' आदि कई नाटक खेले, जिनमे दृश्यो को वास्तविक रूप मे प्रस्तुत किया गया।

सन् १९२५ मे नवनिर्मित मिनर्वा मे 'आत्मदर्शन' के उपरात भूपेन्द्र वन्द्योपाध्याय का 'बाङ्गाली', अमृत बसु के 'व्यापिका विदाय' और 'याज्ञसेनी' (१९२७ ई०) नाटक अभिनीत हुए। सन् १९२७ मे दानी बाबू मिनर्वा के प्रबधक होकर आये और कुछ काल बाद उनके चले जाने पर अहीन्द्र चौधरी प्रबन्धक नियुक्त हुए। अहीन्द्र के समय मे 'गगा राखी', 'चन्द्रनाथ', 'वासुकी', 'देवयानी' आदि नाटक मचस्थ हुए। ये सभी नाटक प्राय पचाकी थे। अहीन्द्र के चले जाने पर परिचालक उपेन्द्र बाबू ने त्रिअकी नाटक करने प्रारम्भ कर दिये। वे मच पर लबे नाटको के पक्षपाती न थे। फलत उन्होंने तीन घटे के ही नाटक खेलने का निश्चय किया।[८१] टिकट की दरें भी घटा दी गई। गैलरी की टिकट आठ आने के बजाय चार आने कर दी गई। मिनर्वा द्वारा किये गये इस परिवर्तन का सर्वत्र स्वागत हुआ और अन्य रगालयो ने भी उसका अनुकरण प्रारम्भ कर दिया। सभी जगह तीन घटे के त्रिअकी नाटक खेले जाने लगे, यद्यपि कुछ रगालयो ने टिकट की दरें बढा दी।[८२]

इस नए परिवर्तन के अन्तर्गत सर्वप्रथम सन् १९३३ मे मिनर्वा मे 'आंधारे आलोते' अभिनीत हुआ। इसके अनन्तर 'शक्तिर मत्र', 'बामनावतार', 'मराठा-मोगल', पाचकडि चट्टोपाध्याय का 'शिवशक्ति', 'गयातीर्थ' आदि कई नाटक खेले गये।

इसके उपरात उपेन्द्र बाबू ने मिनर्वा को छोडकर स्टार का स्वत्व प्राप्त कर लिया।

स्टार थियेटर—६ जनवरी, १९१६ को स्टार के स्वत्वाधिकारी अमरेन्द्रनाथ दत्त के निधन के उपरात स्टार मे हारान रक्षित के 'जड़ भरत', मणि वन्द्योपाध्याय के 'वाराणसी' आदि नाटको के बाद स्वत्व बदलता रहा और अन्त मे गिरिमोहन मल्लिक के सन् १९१८ मे स्वत्वाधिकारी होने पर कुछ स्थिरता आई। सर्वप्रथम शरद्चद्र चट्टोपाध्याय के 'विराज बहू' का नाट्य-रूपान्तर खेला गया, जिसमे प्रत्येक रात्रि तेरह-चौदह सौ रुपये की आय हुई।[८३] तदनन्तर अपरेशचन्द्र मुखोपाध्याय स्टार के प्रबन्धक नियुक्त हुये। अपरेश ने क्षीरोद-'किन्नरी' को उठाया, किन्तु मिनर्वा के निषेधाज्ञा ले आने पर उन्हे 'किन्नरी' बद कर देना पडा। सन् १९१९ ई० मे अपरेश ने स्वलिखित 'उर्वशी' और 'दुमुखे साप' नाटक खेले। कुछ काल बाद अपरेश स्टार को छोडकर चले गये। गिरिबाबू के थियेटर न चलाने के निश्चय के फलस्वरूप अपरेश ने प्रबोध बाबू की सहायता से उसका स्वत्व ले लिया और अपने 'राखीबधन' (१९२० ई०) से उसका उद्घाटन किया। सन् १९२१ ई० मे उनके 'अयोध्यार बेगम' को अच्छी सफलता मिली। इसी नाटक मे रविवार का अभिनय सध्या के बजाय अपराह्न अर्थात् 'मैटनी शो' से होने लगा।[८४] नाटक की दृश्यसज्जा अत्यन्त मनोरम थी।

इसके अनन्तर निर्मल शिव वन्द्योपाध्याय का 'नवाबी आमल' और अपरेश के नाटक 'अप्सरा' तथा 'सुदामा' (१९२२ ई०) मंचस्थ किये गये।

सन् १९२३ ई० मे अपरेश ने अपना स्वत्व छोड दिया, जिसे आर्ट थियेटर लि० नाम की एक कम्पनी ने ग्रहण कर लिया। इस कम्पनी के सचिव हुए प्रबोधचन्द्र गुह और प्रबन्धक एव नाट्यशिक्षक स्वय अपरेश बने।[८५]

आर्ट थियेटर—अपरेश के 'कर्णार्जुन' को लेकर आर्ट थियेटर का श्रीगणेश ३० जून, १९३३ को हुआ। इसमे तिनकड़ि चक्रवर्ती, अहीन्द्र चौधरी, दुर्गादास वन्द्योपाध्याय आदि कई नूतन कलाकारो ने भाग लेकर अच्छा

यशार्जन किया। तिनकडि की कर्ण और अहीन्द्र की अर्जुन की भूमिकाएँ उल्लेखनीय रही। 'कर्णार्जुन' तीन सौ रात्रियो तक चला।[१] २९ अगस्त, १९२३ मे आर्ट थियेटर मे बुधवार से नाटक किया जाना प्रारम्भ हो गया। इसी दिन रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'राजा-ओ-रानी' मचस्थ किया गया।[२]

इमी बीच अपरेश सुरेन्द्रमोहन घोष (दानी बाबू) को मनमोहन थियेटर से फोडकर १०००) रु० मासिक वेतन देकर आर्ट थियेटर मे ले आए।[३] २४ जुलाई, १९२४ से द्विजेन्द्र-'चन्द्रगुप्त' का प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ, जिसमे दानी बाबू ने चाणक्य का अभिनय कर चार चाँद लगा दिये। पहली रात को ही दो हजार से कुछ कम की टिकटे बिकी और कभी-कभी तेईस सौ रुपए की टिकटें बिक जाती थी।

इसके अनन्तर गिरीशचन्द्र घोष का 'जना', रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रहसन 'चिरकुमार सभा', 'गृहप्रवेश' एवं 'शोध-बोध' और बकिम का 'चन्द्रशेखर' १९२५ ई० मे मचस्थ किया गया। सन् १९२६ ई० मे अपरेश के 'श्रीकृष्ण' और 'चडीदास', सौरीन्द्रमोहन मुखोपाध्याय का 'लाख टाका' आदि नाटक खेले गये।

सन् १९२७ ई० मे आर्ट थियेटर के कर्तृपक्ष ने मनमोहन का स्वत्व ग्रहण कर लिया और इस प्रकार आर्ट थियेटर की दो शाखाएँ हो गई—एक स्टार मे और दूसरी मनमोहन मे। स्टार-स्थित आर्ट थियेटर ने क्षीरोद-'अशोक', रवीन्द्र-'प्रायश्चित्त' और अनुरूपा देवी के उपन्यास 'मत्रशक्ति' का अपरेश-कृत नाट्यरूपातर (१९३० ई०) अभिनीत किया और मनमोहन-स्थित आर्ट थियेटर की शाखा ने अपरेश-'श्रीरामचन्द्र' (१९२७ ई०) और गिरीश-'शकराचार्य' मचस्थ किये। 'मत्रशक्ति' बहुत लोकप्रिय हुआ।

स्टार मे सन् १९३१ ई० मे अपरेश का 'श्रीगौराग' खेला गया, जिसमे दानी बाबू ने चपल गोपाल की मूर्ख तात्रिक और प्रच्छन्न भक्त के रूप मे दोहरी भूमिकाएँ कर अभिनय-दाक्षिण्य प्रदर्शित किया। इसके अनन्तर अनुरूपा देवी के 'पोष्यपुत्र' उपन्यास के अपरेश-कृत नाट्य-रूपान्तर को सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि प्रत्येक रात्रि दो हजार से लेकर सत्ताइस सौ रुपये तक की टिकटें बिक जाती थी।[४] श्याम-कान्त की भूमिका मे दानी बाबू ने अच्छा यशार्जन किया। २७ रात्रियों तक अभिनय कर चुकने के बाद दानी बाबू अस्वस्थ हो गए और २८ नवम्बर, १९३२ को उनका स्वर्गवास हो गया। सन् १९३३ मे आर्ट की अभिनेत्री कृष्णभामिनी का और सन् १९३४ मे अपरेशचन्द्र का निधन हो गया। अपरेश के निधन के बाद आर्ट थियेटर बंद हो गया।[५]

दानी बाबू और अपरेश बाबू के निधन के कारण गिरीश युग के अतिम स्तभ टूट गये, किन्तु इसके पहले कि बँगला रगभूमि का प्रासाद अररा कर गिरे कि सन् १९२१ मे शिशिरकुमार भादुडी ने विश्वविद्यालय सस्थान का परित्याग कर एक नये युग के आगमन की सूचना दी। उमी वर्ष उन्होंने मादन थियेटर्स द्वारा स्थापित बगाली थियेट्रिकल कम्पनी के क्षीरोद-'आलमगीर' मे आलमगीर की कठिन भूमिका मे अपना अभिनय-कौशल प्रदर्शित किया। इसी प्रकार उन्होंने क्षीरोद-'रघुवीर' मे रघुवीर का और द्विजेन्द्र-'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य का अभिनय कर प्रतिष्ठा प्राप्त की।[१] क्षीरोद-'रत्नेश्वरेर मदिर' के उपस्थापन के बाद बगाल थियेट्रिकल कम्पनी सन् १९२३ मे बन्द हो गई।[२]

नाट्य मन्दिर— मार्च, १९२४ मे अल्फ्रेड थियेटर किराए पर लेकर शिशिर ने गीति-नाट्य 'वसतलीला' और तदनन्तर 'आलमगीर' नाटक प्रस्तुत किया, परन्तु वे इतने से ही सतुष्ट नही हुए। अप्रैल, १९२४ मे शिशिर ने मनमोहन थियेटर को तीन हजार रुपये मासिक किराये पर ले लिया और ६ अगस्त, १९२४ को योगेश चौधरी के गीति-नाट्य 'सीता' को लेकर अपने नाट्यमन्दिर का उद्घाटन किया।[३] पहले दिन देशबन्धु चित्तरजन दास इस नाटक को देखने आये थे। 'सीता' कई रात्रियो तक चला।

'सीता' के अनतर 'भीष्म' (क्षीरोदप्रसाद), 'पाषाणी' (द्विजेन्द्रलाल), 'जना' (गिरीशचन्द्र) और

'पुंडरीक' (धीरा वसु) मंचस्थ कर शिशिर ने मनमोहन थियेटर छोड़ दिया और कार्नवालिस थियेटर किराये पर लेकर 'नाट्यमंदिर लि०' के नये ध्वज के अन्तर्गत सन् १९२६ ई० में योगेश-'सीता' और रवीन्द्र-'विसर्जन' नाटकों को प्रस्तुत किया। इसके बाद गिरीश-'पाण्डवेर अज्ञातवास' एवं 'प्रफुल्ल' और शरद्चन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा अपने ही उपन्यास 'देनापावना' का किया गया नाट्यरूपांतर 'षोडशी' सन् १९२७ ई० में प्रस्तुत किया गया। 'षोडशी के साथ रवीन्द्र-'शेषरक्षा' का भी प्रायः अभिनय किया जाता था।"[4] इसी वर्ष से प्रत्येक बृहस्पतिवार को भी नाट्यमंदिर में नाटक खेला जाने लगा।

३ अक्तूबर, १९२८ को गिरीश-स्मृति समिति के प्रयत्न से नाट्यमंदिर में मनमोहन थियेटर के कलाकारों के साथ मिलकर गिरीश-'प्रफुल्ल' अभिनीत किया गया। इस विशेष रात्रि की आय गिरीश की संगमर्मर की प्रतिमा की स्थापना के लिये दे दी गई।[5]

सन् १९२९ में रवीन्द्र-'तपती' खेला गया, किन्तु सफल न हो सका। इसी वर्ष शरद्-'रमा' खेला गया। सन् १९३० ई० में नाट्यमंदिर बंद हो गया और शिशिर बाबू आर्ट थियेटर में चले गये, जहाँ उन्होंने 'चिरकुमार सभा', 'मंत्र-शक्ति', 'चन्द्रगुप्त', 'शाहजहाँ' आदि नाटकों में प्रमुख भूमिकाएँ कीं।

कुछ काल बाद सितम्बर, १९३० में योगेश-'सीता' को लेकर वे सदल न्यूयार्क (अमेरिका) गये, किन्तु उन्हें अर्थहानि उठाकर लौट आना पड़ा। भारत लौट कर शिशिर ने दिल्ली में वायसराय भवन में भी 'सीता' का प्रदर्शन किया। अमेरिका में शिशिर ने छः रात्रियों तक नाटक प्रदर्शित किया।

नवनाट्य मन्दिर—अमेरिका से लौट कर शिशिर ने नव-स्थापित रंगमहल के साथ योगदान कर योगेशचंद्र चौधरी का 'श्रीविष्णुप्रिया' सन् १९३१ ई० में और नाट्य निकेतन के साथ सम्मिलित होकर उसी वर्ष सत्येन्द्र-कृष्ण गुप्त का 'महाप्रस्थान' नाटक अभिनीत किया।

स्टार छोड़ कर आर्ट थियेटर में चले जाने के बाद उसे शिशिर ने किराये पर ले लिया और नवनाट्य मंदिर की स्थापना की। इसी वर्ष (सन् १९३४) शरद्चन्द्र चटर्जी के 'विराज बहू' और 'विजया', सन् १९३५ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'श्यामा' और १९३६ में रवीन्द्र-'योगायोग' मंचस्थ हुये। सन् १९३६ ई० में[6] (और इंद्र मित्र के अनुसार सन् १९३७ के मध्य में)[7] नवनाट्य मंदिर बंद हो गया।

रंगमहल—रवीन्द्रमोहन राय द्वारा रंगमहल की स्थापना (मई, १९३१) होने पर शिशिर बाबू ने अपने निर्देशन में योगेश-'विष्णुप्रिया' का अभिनय ८ अगस्त, १९३१ को किया, किन्तु शीघ्र ही वे रंगमहल से अलग हो गये। सन् १९३२ में 'देवदासी', 'राज्यश्री' आदि कुछ नाटक खेलने के उपरांत रंगमहल की आर्थिक दशा खराब हो गयी। तभी शिशिर मल्लिक रंगमहल के नये परिचालक हुए और १७ अप्रैल, १९३३ को बँगला रंगभूमि के इतिहास में पहली बार परिक्रामी रंगमंच पर अनुरूपा देवी के 'महानिशा' (नाट्यरूपांतरकार योगेश चौधरी) का उद्घाटन हुआ। नाटक का निर्देशन सतूसेन ने किया, जिनकी चेष्टा से परिक्रामी रंगमंच की व्यवस्था हुई थी।[8] 'महानिशा' की सफलता से रंगमहल को अक्षय कीर्ति और स्थायित्व प्राप्त हुआ। अभिनय-विधि, रंग-सज्जा, रंगदीपन आदि के प्रयोग में भी नूतनत्व के दर्शन हुए। 'महानिशा' अनेक रात्रियों तक चलता रहा।

सन् १९३४ में मन्मथराय का 'अशोक', योगेशचंद्र चौधरी का 'पतिव्रता' और शैलेन राय का 'काजरी' अभिनीत हुआ। सन् १९३६ में अशोक का 'पथेर साथी' खेला गया, जिसके बाद शिशिर मल्लिक ने थियेटर छोड़ दिया।

नाट्य निकेतन—आर्ट थियेटर के भूतपूर्व परिचालक प्रबोधचन्द्र गुह ने १४ मार्च, सन् १९३१ ई० को २/१, राजा राजकिशन स्ट्रीट पर नाट्यनिकेतन की स्थापना की, जिसका प्रथम उद्घाटन हेमेन्द्रकुमार

राय के 'ध्रुवतारा' से हुआ, जिसके अनन्तर उसी वर्ष मन्मथ राय-कृत 'सावित्री' और शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त-कृत 'झाड़ेर राते' नाटक अभिनीत किये गये। 'झाड़ेर राते में पहली बार जन-सामान्य के रंगमंच पर विद्युत्, वृष्टि-स्वर आदि आलोक एवं ध्वनि-संकेतों का सफल प्रयोग किया गया।'' इन नवीन प्रयोगों के कारण 'झाड़ेर राते' बहुत लोकप्रिय हुआ। नाट्य-प्रयोजक सतू सेन थे। इसके अनन्तर नजरुल इस्लाम का 'आलेया' (१९३१ ई०) और शिशिर बाबू के सहयोग से सत्येन्द्र-'महाप्रस्थान' (१९३१ ई०) खेला गया।

सन् १९३२ में जलधर चट्टोपाध्याय के 'आँधारे आलो', शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त के 'सतीतीर्थ' आदि और सन् १९३३ में शचीन्द्र-'जननी' और अनुरूपा-'मा' (नाट्यरूपांतरकार अपरेशचन्द्र) का मंचन हुआ। 'जननी' नाटक में सर्वप्रथम शकट मंच (वैगन स्टेज) का प्रयोग किया गया।''' २३ नवम्बर, १९३३ को मनोरंजन भट्टाचार्य का 'चक्रव्यूह' खेला गया।

सन् १९३४ में योगेश-'पूर्णिमा-मिलन' और शिवप्रसाद कर के 'स्वर्णलंका' तथा सन् १९३५ में मनोरंजन भट्टाचार्य के 'व्रतचारिणी', मन्मथराय के 'खना', प्रसाद भट्टाचार्य के 'मानमयी ग्वायेज स्कूल' और शचीन सेनगुप्त के 'नरदेवता' का अभिनय हुआ। 'नरदेवता के अभिनय पर बंगाल सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया।'''

अव्यावसायिक रंगमंच : उपर्युक्त रंगालयों एवं नाट्य-संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाएँ भी रवीन्द्र युग में कार्यरत रहीं, जिनमें से प्रमुख हैं—विश्वविद्यालय संस्थान, ओल्ड क्लब, इवनिंग क्लब, विचित्रा आदि। विश्वविद्यालय संस्थान (१८९१ ई०) कलकत्ता विश्वविद्यालय के छात्रों की नाट्य एवं सांस्कृतिक संस्था थी, जिसमें शिशिरकुमार भादुड़ी सन् १९०८ से संबद्ध रहे। ओल्ड क्लब में भी शिशिर उसके प्रमुख कार्यकर्ता रहे। प्रमथनाथ भट्टाचार्य इवनिंग क्लब के परिचालक एवं नाट्य-शिक्षक थे और नाट्यकार द्विजेन्द्रलाल राय उससे विशेष रूप से संबद्ध रहे। जोड़ासांको ठाकुरवाड़ी से संबंधित विचित्रा सभा के प्रमुख संचालक थे—रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

उपलब्धियाँ एवं परिसीमाएँ : रवीन्द्र युग की प्रमुख उपलब्धियाँ एवं परिसीमाएँ इस प्रकार हैं :

१. रवीन्द्र के नाटक उनके व्यक्तित्व और आत्मपरक साधना के प्रभाव तथा सौन्दर्य-बोध, गीतात्मकता एवं सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति की प्रधानता के कारण अभिनय के उपयुक्त होते हुए भी पाठ्य अधिक हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा प्रवर्तित नाट्य-धारा एवं अभिनय-कला का रवीन्द्र युग या उसके आगे अनुसरण नहीं हो सका। जन-साधारण के मंच पर उनके नाटक कभी विशेष सफल नहीं हुए और उनके प्रेक्षकों का वर्ग सीमित होकर ही रह गया।

२. रवीन्द्र युग में अनेक पुरानी नाट्यशालाएँ प्रायः बदलते प्रबन्धों के अन्तर्गत चलती रहीं, यथा कोहिनूर, मिनर्वा एवं स्टार, जिनमें से मिनर्वा और स्टार अनेक उत्थान-पतन के थपेड़े खाकर आज भी चल रही हैं, जबकि नई नाट्य-शालाओं और नाट्य-संस्थाओं में केवल रंगमहल ही आज तक जीवित है। इनमें से रंगमहल में सर्वप्रथम परिक्रामी रंगमंच की स्थापना सन् १९३३ में हुई। इसी वर्ष नाट्यनिकेतन ने शकट मंच (वैगन स्टेज) का उपयोग किया।

इस प्रकार रवीन्द्र और शिशिर द्वारा प्रवर्तित अव्यावसायिक रंगमंच के साथ व्यावसायिक मंच, अपेक्षाकृत अधिक सफलता के साथ चलता रहा, जो बंगाल के दैनिक जीवन का एक आवश्यक अङ्ग-सा बन गया है। सन् १९२२ में मनमोहन थियेटर ने निशिकांत वसु राय का 'बंगे बर्गी' ५०० रात्रियों तक खेल कर बंगला रंगभूमि के इतिहास में पहली बार स्वर्ण-जयंती मनायी।

३. इस काल में हिन्दी के मादन थियेटर्स ने सन् १९२१ में प्रयोग के रूप में बंगाली थियेट्रिकल कम्पनी की स्थापना की, किन्तु कुछ नाट्य-प्रयोगों के बाद वह सन् १९२३ में बन्द हो गयी।

— — — —

४. रवीन्द्र युग मे ही प्रत्येक रविवार के दिन सध्या को नाटक खेलने अर्थात् 'मैटिनी शो' दिखाये जाने की परम्परा स्थापित हुयी। पहला 'मैटिनी' अपरेशचद्र मुखोपाध्याय के 'अयोध्यार बेगम' से प्रारम्भ हुआ, जो स्टार मे सन् १९२१ मे मचस्थ किया गया था। 'मैटिनी' का आयोजन कर स्टार ने पहली बार एक नई परम्परा की स्थापना की।

५ बगाल मे दुर्गा-पूजा और बसन्तोत्सव पर नाटकादि खेलने का प्रचलन है, किन्तु प्रत्येक ऋतु के आगमन पर उसके स्वागतार्थ अथवा विदाई के लिए ऋतु-नाट्यो के लेखन एव अभिनय की परम्परा रवीन्द्र ने स्थापित की, जो शान्तिनिकेतन के सास्कृतिक जीवन का एक आवश्यक कार्यक्रम बन गया है। विभिन्न ऋतुओ से सबधित रवीन्द्र के नाटक है—'फाल्गुनि' (१९१६ ई०), 'ऋण-शोध' (१९२१ ई०), 'बसत' (१९२३ ई०), 'शेष-वर्षण', 'ऋतुरग' (१९२७ ई०) और 'श्रावण-गाथा' (१९३४ ई०) आदि, किन्तु इन नाटकों मे प्राय ऋतु-उत्सव का उल्लास कम, तत्त्व-कथन, वैराग्य अथवा आनन्द की साधना अधिक है। इनमे 'श्रावण-गाथा' शुद्ध रस-प्रधान रचना है और उसमे तत्त्व-कथन का अभाव है।

६ साधारण अर्थात् व्यावसायिक रगमच पर भी विद्युत्-आलोक एव ध्वनि-सकेतो का सफल प्रयोग कर बिजली चमकने, घन-गर्जन और जल-वृष्टि के स्वर आदि की व्यवस्था की गई। सन् १९३१ मे पहली बार नाट्य निकेतन द्वारा प्रस्तुत 'आंडेर राते' मे बिजली चमकने, वृष्टि-स्वर आदि का विधान किया गया था। रगमहल मे परिक्रामी रगमच की स्थापना के साथ रगदीपन, ध्वनि-सकेतो आदि की वैज्ञानिक व्यवस्था के अतिरिक्त रग-शिल्प मे भी विकास हुआ।

७. रवीन्द्र युग मे, गिरीश युग के विपरीत, नाट्यशालाओ अथवा नाट्य-सस्थाओ की स्थापना स्वय नाटककारो ने न कर प्राय नाट्याचार्यो अथवा इतर नाट्यप्रेमी परिचालको ने की। अपरेशचन्द्र मुखोपाध्याय को छोडकर, जिन्होने स्वय नाटककार, नाट्य-शिक्षक, परिचालक एव प्रबधक के विभिन्न पदो पर रहकर स्टार थियेटर का प्रबध एव परिचालन किया और अपने मित्रो के सहयोग से आर्ट थियेटर की स्थापना की, किसी अन्य नाटककार ने इस दिशा मे पहल-कदमी नही की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर मुख्यत शान्ति-निकेतन और विचित्रा सभा के अव्यावसायिक रगमच की स्थापना से ही सबद्ध रहे, नाट्याचार्य शिशिरकुमार भादुडी कई नाट्य-सस्थाओ एव रगालयों की स्थापना से सबद्ध रहे, किन्तु वे नाटककार नही थे। इस प्रकार इस युग के अधिकाश रगालय नाट्य-प्रेमी परिचालको के हाथ मे ही रहे, जिन्होने नाटको के परिष्कार की अपेक्षा रग-सज्जा, रगदीपन, ध्वनि-सकेतो के विकास की ओर अधिक ध्यान देकर रग-शिल्प को अधिक समृद्ध बनाया।

८ इस युग मे रवीन्द्र, शरद्, बकिम और अनुरूपा देवी के उपन्यासो के नाट्यरूपातर प्रस्तुत किए गये, जिनमे शरद्-'षोडशी' और अनुरूपा के 'मत्रशक्ति' और 'पोष्यपुत्र' बहुत लोकप्रिय हुये। रवीन्द्र ने अपनी कुछ पुरानी कहानियों एव उपन्यासो और शरद् ने अपने उपन्यासो के नाट्य-रूपातर स्वय भी किये।

९ रवीन्द्र के नवीन शैली के एकाकप्रवेशी नाटको के बावजूद व्यावसायिक रगमच पर प्राचीन शैली के नाटको का ही प्राधान्य बना रहा।

(ख) मराठी वरेरकर युग मे रगमच की गतिविधि, उपलब्धियाँ एव परिसीमाएँ

वरेरकर का प्रदेय भार्गवराम विट्ठल वरेरकर (मामा वरेरकर) को यद्यपि श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर की अतिरजना, हास्य के द्वारा, विशेषकर तीक्ष्ण व्यग्य या उपहास द्वारा सामाजिक दोषो पर प्रहार और बौद्धिक पृष्ठभूमि पर वस्तु-गठन की क्षमता प्राप्त रही है,[1] तथापि वे कोल्हटकर युग की कृत्रिमता, भावुकता और काव्यात्मकता से मुक्त रहे। कोल्हटकर की समानातर उपकथा के माध्यम से प्रासगिक हास्य-पद्धति का परित्याग कर मामा वरेरकर ने हास्य को वस्तुनिष्ठ और तीखा बनाया, जिससे समस्याओ को उभार कर रखा जा सके और

जिस पर प्रहार किया जाय, वह कुछ क्षणो के लिए तिलमिला उठे । उनका हास्य सहेतुक है ।

वरेरकर ने न केवल पश्चिम की आधुनिक नाट्य-पद्धति और वस्तुवादिता को अपने नाटको मे स्थान दिया, वरन् वस्तु की दृष्टि से भी मराठी रगभूमि को विविधता और नूतनता प्रदान की । उनके नाटकों में समाज और राजनैतिक क्षेत्र की तत्कालीन प्राय सभी समस्याएँ प्रतिबिंबित हुई हैं । इस अर्थ मे वे अपने युग के प्रतिनिधि नाटककार कहे जा सकते हैं ।

रगशिल्प की दृष्टि से भी मामा वरेरकर ने अनेक नये प्रयोग किये । महाराष्ट्र की प्रमुख नाटक मडली—ललितकलादर्श ने उन्हें अपने इन नये प्रयोगों के लिए अपना रगमच प्रदान किया, और अनेक झकोरे तथा झटके खा करके भी यह मडली नए-नए प्रयोगो के लिए सदैव सन्नद्ध बनी रही । वरेरकर ने कोल्हटकर युग के कृत्रिम अभिनय और पारसी शैली की रग-सज्जा के विरोध में स्वाभाविक अभिनय और त्रिभुजीय दृश्यबंध तथा रंगदीपन की आधुनिक पद्धति को अपनाने पर जोर दिया किन्तु अन्य नाट्यमडलियाँ उनके इस प्रयोग के प्रति सदैव शकालु बनी रही, क्योंकि स्वय ललितकलादर्श को भी वरेरकर के कारण अनेक बार आर्थिक क्षति उठानी पडी ।[१०३] रंगमच पर मामा वरेरकर के ये सुधारवादी प्रयास ललितकलादर्श तक ही सीमित होकर रह गये । शेष मराठी रगभूमि उनके अनुकरण का साहस न कर सकी ।

मामा वरेरकर की मच-विषयक धारणाओं की भाँति ही अपने नाटकों के विषय मे उनके उद्गार भी विवाद के विषय बन गये । एक विद्वान वरेरकर को फ्रांसीसी हास्य-नाटककार *'मोलियर के सम्प्रदाय'* का मानते हैं ।[१०४] स्वय वरेरकर ने भी अपने को *'मोलियर और इब्सन के सप्रदाय'* से सम्बद्ध बताया है[१०५] और यह कहा है कि उक्त संप्रदाय के अनुसार नाटक लिखने की प्रथा उन्होंने *'हाच मुलाचा बाप'* से प्रारम्भ की । उन्होंने यह भी दावा किया है कि भारत में सर्वप्रथम मराठी रगभूमि पर इब्सन की नाट्य-पद्धति का प्रयोग उन्होंने ही किया और इस प्रकार वे ही *नवयुग* के सूत्रधार हैं ।[१०६] इस मतवाद के विपरीत एक अन्य विद्वान का मत है कि मोलियर मराठी के लिए कोई नवीन नही है, क्योंकि मोलियर की हास्य-पद्धति पर शंकर मोरो रानडे, नारायण बापूजी कानिटकर आदि नाटककार मामा वरेरकर के पहले ही अपने प्रहसन या नाटक लिख चुके हैं, अतः वरेरकर का यह दावा कि उन्होंने मोलियर-नाट्यपद्धति का अनुसरण कर कोई अभूतपूर्व कार्य किया है, वस्तुस्थिति से परे है ।[१०७] इसी प्रकार उक्त विद्वान वरेरकर के दूसरे दावे को अस्वीकार करते हुए कहता है कि वरेरकर के सन् १९३४ के पहले के लिखे हुए नाटकों में कही भी इब्सन की नाट्य-पद्धति का पता नही चलता, क्योंकि इब्सन नाट्य-पद्धति के अनुसार उन्होने कोई भी 'एकाकप्रवेशी' नाटक नही लिखा । इब्सन-पद्धति का प्रभाव उनके १९४० ई० के बाद के नाटको पर अवश्य दिखाई पडता है ।[१०८] एक और विद्वान के अनुसार उन्होंने इब्सन मे काव्यत्व और प्रतीकवाद को नहीं, समाज-सुधार के अदम्य उत्साह को ग्रहण किया और अक से दृश्यों के बहिष्कार की इब्सन-पद्धति को वरेरकर ने अपने नाट्य-जीवन के यौवन-काल में मराठी रगभूमि पर स्थापित किया ।[१०९]

उपर्युक्त दावों और विद्वानों के मतों पर विचार करने के बाद यह तथ्य निर्विवाद है कि अन्तिम मत (अर्थात् ज्ञानेश्वर नाडकर्णी का मत) तथ्य के अधिक निकट है, क्योंकि वरेरकर ने 'तुरुगाच्या दारात' (१९२३ ई०) से ही इब्सन-पद्धति पर एकाकप्रवेशी नाटक लिखने प्रारम्भ कर दिए थे, जो उनके यौवन-काल की रचना है । इस नाटक में हृदय-परिवर्तन द्वारा अछूतोद्धार का उत्साह और तात्कालिक समस्याओं के समाधान के प्रति उत्कट आस्था दिखलाई पड़ती है । श्रीनिवास नारायण बनहट्टी का यह मत है कि इब्सन-पद्धति का प्रभाव वरेरकर की सन् १९४० के बाद की रचनाओ पर परिलक्षित होता है, भ्रामक प्रतीत होता है । हाँ, यह अवश्य है कि बीच-बीच में वे बहु-प्रवेशी नाटक भी लिखते रहे ।

मामा वरेरकर ने सन् १९०८ से ही नाटक लिखने प्रारम्भ कर दिये थे। सन् १९१६ के पूर्व उन्होंने केवल दो पौराणिक नाटक लिखे थे—'सं० कुंजविहारी' (१९०८ ई०) और 'सं० सजीवनी' (१९१० ई०) और दोनों स्वदेशहितचिन्तक नाटक मंडली द्वारा क्रमश: खामगांव और इन्दौर में उन्हीं वर्षों में खेले जा चुके थे। 'कुंजविहारी' राधाकृष्ण की कथा पर आधारित है और 'सजीवनी' का सम्बन्ध है कच-देवयानी के असफल प्रेम की कथा से। ये दोनों बहु-प्रवेशी नाटक हैं। सन् १९१६ में वरेरकर ने 'सं० हाच मुलाचा बाप' लिखा। इसी नाटक को लेकर वरेरकर ने गर्वोक्तियाँ की हैं, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, किन्तु ये गर्वोक्तियाँ केवल अंशत: ही सत्य हैं। विषयगत नवीनता के अभाव के साथ नाट्य-विधि की दृष्टि से भी यह नाटक बहु-प्रवेशी है, जो इब्सन-पद्धति के प्रतिकूल है।

इस काल के वरेरकर के अन्य नाटक हैं—'सं० सन्याशाचा संसार' (१९२० ई०), 'सं० सत्तेचे गुलाम' (१९२२ ई०), 'सं० लयाचा लय' (१९२३ ई०)', 'सं० तुरुंगाच्या दारात' (१९२३ ई०), 'सं० नवा खेल' (१९२४ ई०), 'सं० करग्रहण' (१९२७ ई०), 'करीन ती पूर्व' (१९२७ ई०), 'सं० पापी पुण्य' (१९३१ ई०), 'सं० सोन्याचा कलस' (१९३२ ई०), 'संसार' (१९३२ ई०), 'सं० जागती ज्योत' (१९३४ ई०), 'सं० स्वयंसेवक' (१९३४ ई०) और 'समोरासमोर' (१९३७ ई०)। इसके उपरान्त वरेरकर ने अनेक नाटक आधुनिक युग में भी लिखे हैं।

इस प्रकार वरेरकर भी रवीन्द्र की भाँति अपनी कृतियों से तीन युगों का स्पर्श करते हैं—उनका बीजारोपण कोल्हटकर युग में हुआ और उन्होंने अंकुरित होकर वरेरकर युग में चारों ओर फैलने तथा लता बन कर आधुनिक युग के वृक्ष पर भी चढ़ने का प्रयास किया। वरेरकर की नाट्य-पद्धति वरेरकर युग में ही प्रस्फुटित हुई। रंग-शिल्प भी इसी युग में बदला।

वरेरकर के उपर्युक्त नाटकों में 'लयाचा लय' शिव-पार्वती के विवाह से सम्बन्धित पौराणिक और 'करीन ती पूर्व' ऐतिहासिक नाटक हैं, तथा 'सं० करग्रहण' और 'नवा खेल' को छोड़ कर, जो स्वच्छन्दताधर्मी नाटक हैं, शेष सभी नाटक सामाजिक हैं। इनमें से 'हाच मुलाचा बाप' गद्य रूप में लोकमान्य नाटक मंडली द्वारा सन् १९१६ में और संगीत रूप में ललितकलादर्श द्वारा सन् १९१८ में, 'लयाच लय' गद्य रूप में गणेश नाटक मंडली द्वारा 'नरकेसरी' नाम से सन् १९१९ में और संगीत रूप में यशवन्त संगीत मंडली द्वारा सन् १९२० में, 'नवा खेल' नाट्यकलाप्रवर्तक संगीत मंडली द्वारा सन् १९२४ में, 'करीन ती पूर्व' समर्थ नाटक मंडली द्वारा सन् १९२७ में, 'पापी पुण्य' भारत नाट्य मंडल द्वारा सन् १९३० में, 'संसार' मुंबई संगीत मंडली द्वारा सन् १९३२ में, 'जागती ज्योत' नूतन संगीत विद्यालय नाट्यशाला द्वारा सन् १९३३ में, समोरासमोर' प्रभात संगीत नाटक मंडली द्वारा सन् १९३७ में और शेष सभी नाटक ललितकलादर्श द्वारा सन् १९१९ से १९३४ के बीच खेले गये। वरेरकर ललितकलादर्श के प्रमुख नाटककार थे। उनके वस्तुवादी होने और जार्ज बर्नार्ड शा की भाँति नारी का एकांगी, अतिरंजित और संघर्षशील चरित्र अंकित करने के कारण वे मराठी रंगभूमि पर अधिक लोकप्रिय न बन सके और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाँति ही उनके प्रेक्षक भी सीमित बने रहे।[११]

मराठी की व्यावसायिक रंगभूमि · वरेरकर युग मराठी में व्यावसायिक रंगभूमि के उत्कर्ष और अवसान का युग रहा है। प्रथम महायुद्ध-काल की कृत्रिम आर्थिक समृद्धि के कारण सन् १९१६ से १९२६ तक का दशक मराठी रंगभूमि के लिये सोना बरसाने लगा।[११] किन्तु सन् १९२७ के बाद उसकी स्थिति गड़बड़ाने लगी, सन् १९३० तक उसकी स्थिति विषम हो गई और कुछ नाटक मंडलियाँ बन्द होने लगीं तथा सन् १९३५ तक अधिकांश प्रसिद्ध मंडलियाँ काल-कवलित हो गईं।[१२]

मराठी नाटक मंडलियों के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि *अधिकांश नई मंडलियाँ पुरानी मडलियों* के कलाकारो के परस्पर मतभेद एव पृथक्करण के कारण उत्पन्न हुई। इस युग की प्रमुख मडलियों मे नाट्यकला प्रवर्तक मंडली की स्थापना वासिमकर मंडली से पृथक् हुए कलाकारो ने सन् १८९६ ई० और ललितकलादर्श की स्थापना स्वदेशहितचिंतक मडली से पृथक् हुए कलाकारों ने सन् १९०८ ई० मे की।"[1] वरेरकर युग की अधिकांश नाटक मडलियो की स्थापना कोल्हटकर युग में ही किसी-न-किसी मडली से फूट कर अलग हुए कलाकारों द्वारा हो चुकी थी। इस प्रकार *प्राचीन रगभूमि का संपोषण करने वाली इस युग की प्रमुख नाटक मंडलियाँ हैं–नाट्य*-कला प्रवर्तक मडली (१८९६ ई०), महाराष्ट्र नाटक मडली (१९०४-५ ई०), ललितकलादर्श (१९०८ ई०), भारत नाटक मडली (१९१२ ई०), गन्धर्व नाटक मडली (१९१३ ई०), नाट्यकला प्रसारक सगीत मडली (१९१४ ई०) आदि। वरेरकर युग मे स्थापित व्यावसायिक नाटक मडलियो मे प्रमुख हैं–बलवन्त सगीत नाटक मडली (१९१८ ई०), गणेश नाटक मडली (१९१९ ई०), यशवन्त नाटक मडली, आनन्द विलास सगीत नाटक मडली, *समर्थ नाटक मडली (१९२७ ई०), नूतन महाराष्ट्र नाटक मडली आदि।*

नाट्यकला प्रवर्तक संगीत मडली (१८९६ ई०)–*यह मडली लगभग ४३ वर्ष तक* मराठी रगभूमि की सेवा करती रही। कोल्हटकर युग मे दामोदर विश्वनाथ नेवालकर द्वारा अँग्रेजी से अनूदित नाटक 'स० विकल्प-विमोचन' (१८९७ ई०), 'स० समान शासन' (१८९७ ई०) और 'स० प्रेमगुफा' तथा हरिनारायण आपटे के पौराणिक नाटक 'स० मन्त सखूबाई' (१९११ ई०) का मचन किया गया। नेवालकर के उक्त नाटक शेक्सपियर के क्रमशः *'विंटर्स टेल', 'मेजर फार मेजर' और 'ऐज यू लाइक इट' के अनुवाद हैं।*

इसके अनन्तर मडली ने आपटे-कृत एक अन्य पौराणिक नाटक 'स० सती पिंगला' सन् १९२१ या इसके पूर्व खेला। वरेरकर युग मे मडली द्वारा अभिनीत अन्य नाटक हैं–कृष्णाजी हरि दीक्षित-कृत 'स० यक्षिणीची काडी' (१९२० ई० या पूर्व) तथा 'स० औदार्याचा डका' (१९२२ ई० या पूर्व), वरेरकर-'नवा खेल' (१९२४ ई०), माधवनारायण जोशी-कृत 'स० पुनर्जन्म' (सावित्री, १९३१ ई०), गणेश दिनकर आठवले-कृत 'सं० *म्हातारपणचे डोहाळे' (१९३८ ई०), प्रह्लाद केशव अत्रे-कृत 'पराचा कावळा'* (१९३८ ई०) और शकर परशुराम जोशी-कृत 'सं० तो आणि ती' (१९३९ ई०)।

महाराष्ट्र नाटक मडली (१९०४-५ ई०)–लगभग २८ वर्ष के अपने जीवन-काल मे महाराष्ट्र नाटक मडली ने कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर, रामगणेश गडकरी, वासुदेवशास्त्री वामनशास्त्री खरे, शंकर परशुराम जोशी आदि के गद्य नाटक खेल कर कृत्रिमतावादी अभिनय को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

कोल्हटकर युग मे खाडिलकर के नाटको के अतिरिक्त, *जिनका उल्लेख तृतीय अध्याय मे हो चुका है*, मंडली ने यशवन्तराय टिपणीस का 'कमला' (१९११ ई०), रामगणेश गडकरी का 'स० प्रेमसन्यास' (१९१२ ई०) और वासुदेवशास्त्री वामनशास्त्री खरे का 'तारामडल' (१९१४ ई०) अभिनीत किया।

आलोच्य युग मे शंकर परशुराम जोशी के 'विचित्र लीला' (१९१६ ई०), 'मायेचा पूत' (१९२१ ई०) और 'खडाष्टक' (१९२७ ई०), वा० वा० खरे का 'शिवसम्भव' (१९१९ ई०), वासुदेव वामन भोले का 'अरुणोदय' (१९२२ ई०), 'दिवाकर' का 'स० कारकून' (१९२३ ई०), विष्णुहरि औंधकर का 'बेबन्दशाही' (१९२४ ई०), त्र्यंबक सीताराम कारखानीस का 'राजाचे बड' (१९२४ ई०), शिवराम महादेव परांजपे का 'पहिला पाडव' (१९३० ई०) और विष्णुगणेश देशपाडे का 'त्याग सम्राट्' (१९३२ ई०) नाटक मचस्थ किये गये। सन् १९३३ ई० में मंडली बन्द हो गई।

ललितकलादर्श (१९०८ ई०)– मराठी सगीत रगभूमि पर नये-नये प्रयोग करने के लिये प्रसिद्ध ललित-कलादर्श एक ऐसी समर्थ नाट्य मंडली रही है, जिसे अर्ध-शताब्दी से अधिक का जीवन-काल प्राप्त हुआ। इसकी

स्थापना केशवराव भोसले ने जनवरी, १९०८ में की थी,[११४] जो स्वयं एक उच्च कोटि के सुकंठ अभिनेता थे। भोसले ने अपना जीवन स्त्री-भूमिकाओं से प्रारम्भ किया, किन्तु बाद में वे केवल पुरुष-भूमिकाएँ ही करने लगे थे। वरेरकर के 'हाच मुलाचा बाप' और 'सन्यासाचा संसार' तथा खाडिलकर के 'मानापमान' में नायक-भूमिकाओं में उतर कर भोसले ने अच्छा यश अर्जित किया।

वरेरकर युग के पूर्व अभिनीत नाटकों में वामन गोपाल (वीर वामनराव) जोशी का 'सं० राक्षसी महत्त्वाकांक्षा' (१९१३ ई०) उल्लेखनीय है। आलोच्य युग में वरेरकर के 'सं० हाच मुलाचा बाप' (१९१८ ई०), 'सं० सन्यासाचा संसार' (१९१९ ई०), 'सं० सत्तेचे गुलाम' (१९२२ ई०), 'सं० तुरुंगाच्या दारात' (१९२३ ई०), 'सं० करग्रहण' (१९२७ ई०), 'सं० सोन्याचा कलस' (१९३२ ई०) और 'स्वयंसेवक' (१९३४ ई०) नाटक अभिनीत किये गये। इसके अतिरिक्त यशवन्त नारायण टिपणीस के 'सं० शहा शिवाजी' (१९२१ ई०), 'सं० शिक्का कट्यार' (१९२७ ई०) और 'सं० नेकजात मराठा' (१९३१ ई०), कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर का 'मानापमान' (१९२१ ई०), नरहर गणेश कमतनूरकर के 'सं० श्री' (१९२६ ई०) और 'सं० सज्जन' (१९३१ ई०) तथा श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के 'सं० वधूपरीक्षा' (१९२८ ई०) और 'सं० प्रेमशोधन' (१९३४ ई०) प्रस्तुत किये गये। 'सं० करग्रहण' बंबई प्रान्त में सन् १९२३ में लगाये गये मनोरंजन कर की पृष्ठभूमि पर लिखा गया था, किन्तु इसे पुलिस ने खेलने की अनुमति नहीं दी। अन्ततः सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी के आर० आर० बाखले के प्रयास से नाटक का अन्तिम पैरा काट देने के बाद उसे खेलने का परवाना मिला।[११५]

'मानापमान' ८ जुलाई, १९२१ को ललितकलादर्श और गंधर्व नाटक मंडली के संयुक्त तत्त्वावधान में अभिनीत किया गया था, जिसमें दोनों मंडलियों के चुने हुए कलाकारों ने भाग लिया था। केशवराव भोसले और बालगंधर्व ने क्रमशः नायक धैर्यधर और नायिका भामिनी की भूमिकाएँ की थीं। इसी के अनन्तर ४ अक्टूबर, १९२१ को भोसले का निधन हो जाने से ललितकलादर्श की पतवार टूट गई।[११६] भोसले के बाद एस० एन० चाफेकर और वी० बी० पेंढारकर इस मंडली के परिचालक हुए, जिन्होंने अपने नाटककार मामा वरेरकर को लेकर नये प्रयोग प्रारम्भ किये। यशवन्तनारायण टिपणीस के 'सं० शहा शिवाजी' (१९२१ ई०) और बाद में वरेरकर के 'सत्तेचे गुलाम' (१९२२ ई०) में सर्वप्रथम मराठी रंगभूमि पर आधुनिक संदूकी दृश्यबन्ध (बाक्स-सेट) और नवीन रंगदीपन-व्यवस्था का उपयोग किया गया था।[११७] दोनों नाटक बहुत सफल रहे।

पेंढारकर के चलचित्र-निर्माण में लग जाने से मंडली को घोर आर्थिक क्षति उठानी पड़ी और सन् १९३७ में उसका कार्य प्रायः अवरुद्ध हो गया।

भारत नाटक मंडली (१९१२ ई०)—महाराष्ट्र नाटक मंडली से पृथक् होकर नट, नाटककार एवं उपस्थापक यशवन्तराव टिपणीस ने सन् १९१२ में भारत नाटक मंडली की स्थापना की।[११८] किर्लोस्कर नाटक मंडली के उपस्थापक चिन्तामण राव कोल्हटकर कुछ काल तक भारत नाटक मंडली में भी रहे, किन्तु शीघ्र ही अपनी पूर्व मंडली में वापस चले गये। भारत नाटक मंडली अधिक दिन तक न चल सकी। मंडली ने टिपणीस के 'मत्स्यगंधा' (१९१२ ई०) और 'राधामाधव' (१९१४ ई०), नरसिंह चिन्तामण केलकर का 'तोतयाचें बंड' (१९१२ ई०), श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर का 'सं० वधू-परीक्षा' आदि नाटक खेले।

गंधर्व नाटक मंडली (१९१३ ई०)—प्रसिद्ध सुकंठ नट नारायण राव राजहंस उर्फ बालगंधर्व ने सन् १९१३ में गंधर्व नाटक मंडली की स्थापना गोविन्दराव टेंबे और गणपतराव बोडस की सहायता से की। बड़ौदा के महाराजा ने इसे अपना संरक्षण प्रदान किया। मंडली का उद्घाटन ३ सितम्बर, १९१३ को कोल्हटकर के 'मूकनायक' से हुआ।[११९] मंडली ने किर्लोस्कर नाटक मंडली के 'शाकुंतल', 'सौभद्र' आदि नाटक भी खेले।

वरेरकर युग में कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर के 'सं० स्वयंवर' (१९१६ ई०), 'सं० द्रौपदी' (१९२० ई०),

'सं० मेनका' (१९२६ ई०) और 'स० सावित्री' (१९३३ ई०), देवल के 'संशयकल्लोल' ('फाल्गुनराव', १९१६ ई०) और श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के 'सं० सहचारिणी' (१९१८ ई०) का मचन हुआ। इसके अनन्तर गडकरी के 'एकच प्याला' (१९१९ ई०), यशवन्तराव नारायण टिपणीस के 'स० आशा-निराशा' (१९२३ ई०) और विट्ठल सीताराम गुर्जर के 'स० नन्दकुमार' (१९२५ ई०) को मचस्थ किया गया।

मंडली द्वारा वसन शालाराम देसाई के 'स० विधिलिखित' (१९२८ ई०) और 'स० अमृतसिद्धि' (१९३३ ई०), नारायण विनायक कुलकर्णी का 'स० सत कान्होपात्रा' (१९३१ ई०) आदि नाटक खेले गये।

मडली लगभग ३१ वर्ष तक चलती रही। सन् १९३४ मे यह बन्द हो गई।[१२०]

नाट्यकला प्रसारक संगीत मडली (१९१४ ई०)—नाट्यकला प्रवर्तक सगीत मंडली से निकल कर कुछ कलाकारो ने सन् १९१४ मे नाट्यकला प्रसारक सगीत मडली की स्थापना की।[१२१]

आलोच्य काल मे मडली द्वारा कृष्णाजी हरि दीक्षित के 'स० सुदर्शन' (१९१७ ई०), 'पेशवाई' (१९१८ ई०) और 'स० सुन्दरमठ' (१९२१ ई०), दत्तात्रय गणेश सारोलकर के 'स० जनता जनार्दन' (१९२३ ई० या पूर्व) और 'पेशवाचा पेशवा' (१९२४ ई०), विनायक दामोदर सावरकर का 'स० उःशाप' (१९२७ ई०), विष्णु सखाराम खाडेकर का 'स० रकाचें राज्य' (१९२८ ई०) और वीर वामनराव जोशी का 'स० धर्मसिंहासन' (१९२९ ई०) मचस्थ किया गया।

शिवराज संगीत मडली (१९१५ ई०)—गधर्व नाटक मडली के गोविन्दराव टेंबे ने पृथक् होकर सन् १९१५ मे शिवराज सगीत मडली की स्थापना की।[१२२] इस मडली ने वासुदेवशास्त्री वामनशास्त्री खरे के 'स० चित्रवचना' (१९१७ ई०) और 'स० कृष्ण काचन' (१९१७ ई०) नाटक खेले।

आर्यावर्त्त नाटक मंडली—भारत नाटक मडली के समाप्त हो जाने के बाद यशवन्तराय ना० टिपणीस ने आर्यावर्त्त नाटक मडली स्थापित की। मडली द्वारा टिपणीस के 'स० नेकजात मराठा' (१९१७ ई०) और 'स० शिक्का कट्यार' (१९१८ ई०) तथा विश्वनाथ गोपाल शेट्ये-कृत 'लोकशासन' नाटक खेले गये।

बलवन्त संगीत नाटक मंडली (१९१८ ई०)—गधर्व नाटक मंडली से पृथक् होकर चिन्तामणराव कोल्हटकर ने कुछ अन्य कलाकारो के सहयोग से सन् १९१८ मे बलवन्त सगीत नाटक मडली की स्थापना की।

मडली ने श्री० कृ० कोल्हटकर के 'स० जन्मरहस्य' (१९१८ ई०) और 'स० सहचारिणी' (१९१८ ई०) तथा रा० ग० गडकरी के 'स० भावबन्धन' (१९१९ ई०), 'सं० राजसन्यास' (१९२२ ई०) और 'स० वेडयांचा बाजार' (१९२३ ई०) खेले।

इसके अतिरिक्त नरसिंह चिन्तामण केलकर का 'स० वीर विडम्बन' (१९१९ ई०), विट्ठल सीताराम गुर्जर का 'स० राजलक्ष्मी' (१९२१ ई०), वा० वा० खरे के 'स० उग्रमगल' (१९२२ ई०) और 'सं० देशकटक' (१९३० ई०), वासुदेव बालकृष्ण केलकर का 'स० त्राटिका' (१९२४ ई०), वीर वामनराव जोशी का 'स० रण-दुन्दभी' (१९२७ ई०), विनायक दामोदर सावरकर का 'स० सन्यस्त खड्ग' (१९३१ ई०), नारायण आत्माराम (मोतीराम) वैद्य का 'स० गैर-समज' (१९३२ ई०) और विश्वनाथ चिन्तामण (विश्राम) बेडेकर का 'स० ब्रह्म-कुमारी' (१९३३ ई०) नाटक प्रस्तुत किया गया।

सन् १९३३ में मडली का अवसान हो गया।[१२३]

गणेश नाटक मडली (१९१९ ई०)—गणेश नाटक मडली द्वारा विश्वनाथ गोपाल शेट्ये के 'स० रक्षा-बन्धन' (१९३० ई०) को छोड कर जो अन्य नाटक खेले गये, वे प्राय: गद्य नाटक थे। मडली द्वारा अभिनीत थे—शाताराम गोपाल गुप्ते के 'हिरा हरपला' (१९२० ई०) और 'रणरागिणी' (१९२३ ई०), विश्वनाथ गोपाल शेट्ये का 'जुगारी जग' (१९२१ ई०) और केशव महादेव सोनालकर का 'प्रेमयोग या अम्बा-

हरण' (१९२४ ई० या पूर्व)।

यशवन्त नाटक मंडली—यशवन्त नाटक मंडली ने संगीत नाटक खेल कर मराठी रंगभूमि का पुरस्करण किया। मंडली द्वारा अभिनीत नाटक हैं—वरेरकर का 'सं० लयाचा लय' (१९१९ ई०), अनन्तहरि गद्रे का 'सं० भवानी तलवार' (१९२१ ई०), दिनकर चिमणजी देशपांडे का 'सं० देवी अहिल्या' (१९२३ ई०), गोविन्द सदाशिव टेंबे के 'सं० पट-वर्धन' (१९२४ ई०) और 'सं० मत तुलसीदास' (१९२८ ई०) तथा सदाशिव अनन्त शुक्ल के 'सं० सौभाग्यलक्ष्मी' (१९२५ ई०) और 'सं० सत्याग्रही' (१९३३ ई०)।

यह मंडली सन् १९३४ में बन्द हो गई।[११५]

आनन्द विलास संगीत नाटक मंडली—यह मंडली भी प्रमुखत: संगीत मंडली थी। माधवनारायण जोशी इसके प्रमुख नाटककार थे। मंडली ने जोशी के 'सं० आनन्द' (१९२३ ई०), 'सं० म्युनिसिपालिटी' (१९२५ ई०), 'सं० हास्य-तरंग' (१९२७ ई०), 'सं० वहाड़चा पाटील' (१९२८ ई०), 'सं० विश्व-वैचित्र्य' (१९३२ ई०), 'सं० वशीकरण' (१९३२ ई०) और 'सं० प्रो० शहाणे' (१९३६ ई०) नाटक अभिनीत किये। इसके अतिरिक्त वासुदेव नीलकंठ आपटे का 'सं० स्त्री-साम्राज्य' (१९२४ ई० या पूर्व) नाटक भी खेला गया।

समर्थ नाटक मंडली (१९२७ ई०)—महाराष्ट्र नाटक मंडली से पृथक् हुए कुछ अन्य कलाकारों ने सन् १९२७ में समर्थ नाटक मंडली स्थापित की।[११६] मंडली ने गद्य नाटकों का पुरस्करण किया।

मंडली द्वारा वरेरकर-'करीन ती पूर्व' (अगस्त, १९२७ ई०), कृष्णाजी बाजीराव भोसले का 'रक्त-रंगण' (नवम्बर, १९२७), विनायक लक्ष्मण बरवे का 'लग्न-मंडप' (दिस०, १९२७ ई०), विनायक रामचन्द्र चोगुले का 'सिंहासन' (१९२८ ई०), विष्णु हरि औंधकर के 'आगर्‍याहून सुटका' (१९३० ई०) और 'महारथी कर्ण' (१९३४ ई०), वासुदेव वामन भोले का 'सरला देवी' (१९३१ ई०), गोविन्द सदाशिव टेंबे का 'गम्भीर घटना' (१९३२ ई०) प्रस्तुत किया गया।

नूतन महाराष्ट्र नाटक मंडली—यह मंडली भी मुख्यत: गद्य नाटकों के अभिनय से ही सम्बन्धित रही है। इसके द्वारा अभिनीत नाटक हैं—शान्ताराम गोपाल गुप्ते का 'सन्धि-संग्राम' (जनवरी, १९३२), विष्णु बापूजी आंबेकर का 'कुटाल कपट' (मार्च, १९३२), विष्णु गणेश देशपांडे का 'उमाजी नाईक' (१९३३ ई०) और माधव नारायण जोशी का 'सं० पैसा च पैसा' (१९३५ ई०)।

अव्यावसायिक रंगमंच वरेरकर युग के अवसान के कुछ पूर्व ही अधिकांश नाटक मंडलियों का पर्यवसान हो जाने अथवा इनके तेजहीन हो जाने के कारण मराठी की व्यावसायिक रंगभूमि हिन्दी के व्यावसायिक रंगमंच की भाँति ही निष्प्राण हो गई। अनेक कारणों में इसके दो मुख्य कारण थे—प्रथम महायुद्ध के बाद सन् १९३० की विश्वव्यापी मंदी और दूसरे, अगले दशक में सवाक् चलचित्रों का भारत में निर्माण। चलचित्रों के प्रसार और लोकप्रियता के कारण अधिकांश रंगशालाएँ सिनेमा-गृहों में परिवर्तित हो गईं और इस प्रकार रंगशालाएँ उपलब्ध न होने से मराठी रंगभूमि के पाये हिल गये।[११७] मराठी रंगभूमि के अधिकांश प्रमुख कलाकार और लेखक भी चलचित्र उद्योग में चले गये। व्यावसायिक मंडलियों की पारस्परिक ईर्ष्या और फूट तथा अच्छे कलाकारों के पृथक् हो जाने के कारण भी मराठी रंगभूमि की शक्ति कुछ क्षीण हुई। इसके अतिरिक्त अनेक मंडलियों पर अशिक्षित कलाकारों का नियंत्रण रहने से वे उनका व्यावसायिक दृष्टि से संचालन करने में तो असमर्थ थे ही, विविध शिल्पिक विकास का ज्ञान न होने के कारण उनका विकास भी न कर सके। पुनश्च, नयी-नयी मंडलियों के बन जाने और उपस्थापन की लागत बढ़ते जाने के कारण उनकी आय भी उत्तरोत्तर घटने लगी और उनके लिये मंडलियों को आगे चलाते रहना लाभप्रद नहीं रह गया।[११८] इस काल में लिखे गये नाटक भी, वरेरकर आदि कुछ नाटककारों के नाटकों को छोड़ कर प्राय: पुराने ढर्रे के ही रहे, जो नवयुग की रुचि और माँग को

सृष्ट न कर सके। फलस्वरूप वरेरकर युग के अन्तिम चरण मे अव्यावसायिक रंगमंच का अभ्युदय हुआ। इस रंगमंच का उद्देश्य था—नवनाट्य के साथ नवयुग का, आधुनिक युग का प्रादुर्भाव।

इस नवनाट्य आन्दोलन के दो अंग थे—नाट्य-विधान में परिवर्तन और मंचसज्जा एवं अभिनय-पद्धति मे वस्तुवादिता का समावेश। वरेरकर ने यद्यपि अपने कुछ नाटकों के द्वारा नूतन नाट्य-विधान की सूचना दी, किन्तु वे अपने युग को उसके साथ न ले चल सके। फलस्वरूप अव्यावसायिक रंगमंच ने इस कार्य को अपने ऊपर उठाया। नूतन नाट्य-विधान की विशेषताएँ थीं—एकाकप्रवेशी नाटक, स्वगत का परित्याग और सादे और सरल संवादों का प्रयोग। दूसरी ओर वस्तुवादी रंग-सज्जा के लिये फ्लैटों द्वारा दृश्य-रचना की पद्धति अपनाई गई। अभी तक रंगमंच पर परदों का ही प्रायः प्रयोग होता आया था। इसी के साथ पुरुषों द्वारा स्त्री-भूमिकाएँ करने की अप्राकृतिक पद्धति का भी बहिष्कार किया गया।

प्रायः इन सभी विशेषताओं को लेकर रेडियो स्टार्स ने श्रीपाद नरसिंह बेंडे का 'वेडी' १९ नवम्बर, १९३२ को खेला।[१८८] 'वेडी' का उपस्थापन पार्श्वनाथ बी० अलतेकर ने किया। इस एकाकप्रवेशी नाटक मे स्त्रियों ने ही स्त्रियों की भूमिकाएँ कीं। रस-परिपाक के लिये पार्श्व संगीत का भी आयोजन किया गया था। इसके अनन्तर वरेरकर के दो नाटक—'नामानिराला' और 'सदा बंदिवान' तथा केशव सीताराम ठाकरे का 'सं० खरा ब्राह्मण' सन् १९३३ मे प्रस्तुत किया गया, जिसके अनन्तर यह संस्था भंग हो गई।

रेडियो स्टार्स द्वारा प्रवर्तित क्रान्ति को अग्रसरित किया नाट्यमन्वंतर लि० ने। इस संस्था की मुख्य चेतना थे—श्रीधर विनायक वर्तक और उनके नाटक—'मं० आंधल्याची शाळा' (१ जुलाई, १९३३), 'सं लपंडाव' (२३ सितम्बर, १९२३) और 'सं० तक्षशिला' (२ दिसम्बर, १९३३)। 'आंधल्याची शाळा' ब्यर्नसन के 'गाटलेट' का अनुवाद है और 'सं० तक्षशिला' इब्सन के 'होअरमोइंडीन या हेल्जलैंड' का। इनमें प्रथम नाटक अपने वस्तुवादी दृश्यबन्ध (सेट), सुन्दर भाव-गीत एवं पार्श्वसंगीत, आदर्श अभिनय आदि के कारण बहुत सफल रहा, किन्तु शेष नाटक लोकप्रिय न हो सके। संस्था को भारी क्षति उठानी पड़ी।

नाट्यमन्वंतर ने सन् १९३४ मे श्रीपाद नरसिंह बेंडे का 'सं० बुवा' प्रस्तुत किया। संस्था दो वर्ष की अल्पावधि में ही बन्द हो गई।[१८९] इस प्रकार कुछ काल के लिये क्रान्ति का पथ अवरुद्ध हो गया।

इस क्रान्ति का तीसरा चरण था—पूना की बालमोहन नाटक मंडली, जिसने १० मई, १९३३ को प्रह्लाद केशव अत्रे का एकाकप्रवेशी नाटक 'सं० साष्टांग नमस्कार' खेल कर क्रान्ति के चरण को अपने ढंग से आगे बढ़ाया। यह बहुत सफल रहा, जिससे उत्साहित होकर मंडली ने अत्रे के 'सं० घरा बाहेर' (१९३४ ई०), 'सं० भ्रमाचा भोपला' (१९३५ ई०), 'सं० उद्याचा संसार' (१९३६ ई०), 'सं० लग्नाची बेडी' (१९३६ ई०), 'सं० वन्देमातरम्' (१९३७ ई०) आदि कई नाटक खेले। अत्रे के सभी नाटक बहुत लोकप्रिय हुए और लेखक तथा मंडली, दोनों के लिये कामधेनु सिद्ध हुए। नाट्य-विधान की दृष्टि से अत्रे ने एकाकप्रवेशी एवं बहु-प्रवेशी नाटक लिख कर पुरातन और नूतन मे समन्वय स्थापित किया है।

उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ : संक्षेप मे वरेरकर युग की उपलब्धियों और परिसीमाओं की गणना इस प्रकार की जा सकती है :

(१) एकाकप्रवेशी नाटक लिख कर मामा वरेरकर ने मराठी रंगभूमि पर सन् १९२३ मे नवयुग का प्रवर्तन किया, जिसमे नवनाट्य के साथ अभिनव वस्तुवादी रंगसज्जा को भी अग्रसरित किया गया, किन्तु व्यावसायिक रंगभूमि पर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों की ही भाँति, वरेरकर का अनुकरण न हो सका। व्यावसायिक रंगभूमि पर स्वयं वरेरकर के नाटक अधिक सफल नहीं हुए और उनके नाटकों के सामाजिक सीमित बने रहे।

(२) वरेरकर युग में भी नाट्यकला प्रवर्तक संगीत मंडली, महाराष्ट्र नाटक मंडली, ललितकलादर्श और गंधर्व नाटक

मंडली जैसी पुरानी व्यावसायिक मंडलियाँ मराठी की संगीत एवं गद्य रंगभूमियों की सेवा करती रहीं। इस युग में बनी नई मंडलियाँ उनकी तुलना में अधिक लोकप्रिय एवं दीर्घजीवी न हो सकीं। प्रायः अधिकांश प्रमुख मंडलियाँ सन् १९३५ तक बन्द हो गई।

इनमें से किसी भी मंडली ने अपनी स्थायी रंगशाला नहीं बनाई। वे प्रायः किराये की रंगशालाओं अथवा अस्थायी रूप से निर्मित रंगमंचों पर अपने नाटक प्रदर्शित करती रहीं।

(३) सन् १९३२ में पहली बार अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना हुई, जिसने नवनाट्य आन्दोलन को आगे बढ़ाया, यद्यपि इसमें उसे स्थायी सफलता नहीं मिली। वेंडे, वर्तक और अत्रे रंगमंच के प्रमुख लेखक एवं पुरस्कर्ता थे।

(४) व्यावसायिक रंगभूमि पर सर्वप्रथम सन्दूकी दृश्यबंध (बाक्स-सेट) और आधुनिक रंगदीपन-व्यवस्था का उपयोग पहली बार ललितकलादर्श ने टिपणीस-'स० शहा शिवाजी' १९२१ ई० में सफलता के साथ किया।[९७] अव्यावसायिक रंगमंच का अभ्युदय ही इस नवीन रंगशिल्प के साथ हुआ।

(५) व्यावसायिक मंडलियों में स्त्रियों की भूमिकाएँ पुरुष ही करते थे, जो न केवल सुन्दर एवं सौष्ठव-युक्त होते थे, प्रायः सुन्दर गायक भी हुआ करते थे। इस काल में स्त्रियों का अभिनय करने वाले प्रमुख व्यक्ति थे—केशवराव भोसले, बापूराव पेंढारकर, विट्ठल गुरव और नारायणराव राजहंस उर्फ बालगंधर्व। अव्यावसायिक रंगमंच पर स्त्रियों ने ही पहली बार स्त्रियों का काम किया। श्रीमती सुधा आपटे और श्रीमती ज्योत्स्ना भोले इस काल की प्रमुख स्त्री-कलाकार थीं।

(६) भारत नाटक मंडली और आर्यावर्त्त नाटक मंडली के संस्थापक यशवंत ना० टिपणीस और शिवराज संगीत मंडली के संस्थापक गोविंदराव टेंबे को छोड़कर, जो स्वयं नाटककार भी थे, प्रायः सभी व्यावसायिक मंड-लियों के परिचालक नट एवं नाट्य-शिक्षक थे। परिचालकों में ललितकलादर्श के पेंढारकर और चाफेकर ने रंग-भूमि को नवीन रंग-शिल्प से मंडित कर उसे समृद्ध बनाया।

(७) वरेरकर और अत्रे के नवीन वस्तुवादी नाटकों के बावजूद मराठी रंगभूमि पर संगीत नाटकों की प्रधानता बनी रही। प्राचीन शैली के गद्य नाटक भी लिखे और खेले गये।

(ग) गुजराती : मेहता-मुंशी युग में रंगमंच की गतिविधि, उपलब्धियाँ एवं परिसीमाएँ

सामान्य प्रवृत्तियाँ—मेहता-मुंशी युग नई और पुरानी रंगभूमियों (रंगमंचों) का संगम-स्थल रहा है। नवीन के प्रति सामाजिक सदैव आकृष्ट होते हैं, किन्तु गुजराती सामाजिकों की यह विशेषता रही है कि वे नवीन (नवी) रंगभूमि की ही भाँति पुरानी (जूनी) पारसी शैली की रंगभूमि के प्रति भी श्रद्धालु हैं। यही कारण है कि आज भी, जबकि नवीन शैली के नाटकों की ओर रुझान बढ़ता जा रहा है, गुजराती की पुरानी रंगभूमि बम्बई के देशी नाटक समाज के रूप में जीवित है। पुरानी रंगभूमि के प्रेमी उसकी साधारणीकरण की अद्भुत शक्ति अर्थात् संप्रेषणीयता, लालित्य, नाट्य-शिक्षा, अनुशासन, भावाभिनय आदि पर आज भी मुग्ध हैं।[९८] उसके मधुर, कर्ण-प्रिय एवं सुरुचिपूर्ण शास्त्रीय संगीत के प्रति आज भी उनके कर्ण-रंध्र आकुल हो उठते हैं। आज के सिने-गीतों की भाँति ही पुरानी रंगभूमि के गीत वर्षों तक घर-घर, गली-गली में गाये जाते थे।[९९] नाट्य-शिक्षा की ही भाँति संगीताभ्यास पर भी पूरा जोर दिया जाता था, परन्तु क्रमशः आंगिक एवं सात्त्विक अभिनय पर से दृष्टि हट कर आहार्य अभिनय पर जा टिकी और वेश-भूषा, रंग-सज्जा आदि अंग प्रमुख हो उठे। नाटक मंडलियों में वेश-सज्जा और रंग-सज्जा को लेकर होड़-सी लग गई और यह होड़ यहाँ तक बढ़ी कि न केवल वह अप्रासंगिक हो उठी, वरन् कठिन व्यय-साध्य भी बन गई। एक-एक नाटक की वेश-भूषा और रंग-सज्जा पर पचहत्त[illegible] [illegible] व्यय किये जाने लगे।[१००] संक्षेप में, गुजराती रंगभूमि पर बाह्याडंबर की वृद्धि होने लगी और उसकी आत्मा इस बाह्

साज-शृंगार से म्लान हो चली।

इसी बीच एक और प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई और वह थी—निर्देशक अथवा मंडली के अधिपति-निर्देशक का लेखक को अपनी सूझ, अपनी दृष्टि के अनुसार हांकने और सह-लेखन के लिये विवश करने का प्रयास। इससे स्वतंत्र लेखन और लेखक के आत्म-सम्मान को तो ठेस पहुँचती ही थी, किसी एक लेखक को नाटक के लेखन का श्रेय भी नही प्राप्त हो पाता था। प्राय नये लेखकों का नाम नाटक के 'ऑपेरा' (नाटक के साराश (टुकसार) एवं गीतो की पुस्तक) के मुखपृष्ठ पर भी नही दिया जाता था। यश और श्रेय मालिक और निर्देशक को मिलता था और नाटककार का स्थान गौण हो जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि कोई भी स्वाभिमानी लेखक किसी एक मडली के साथ अधिक समय तक बँध कर नही रह पाता था। नाट्य मडलियाँ भी प्राय. किसी एक लेखक के दो-तीन से अधिक नाटक खेलना पसद नही करती थी। बहुत थोड़े ही लेखक इस नियम के अपवाद होते थे, जिनके कई-कई नाटक नाट्य-मडलियो द्वारा निरन्तर एक के बाद एक खेले जाते थे। ऐसे लेखको मे प्रमुख थे—रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, मणिलाल 'पागल', वैराटी और प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी। ब्रह्मभट्ट मोरबी आर्य सुबोध नाटक मंडली, मणिलाल 'पागल' आर्य नैतिक नाटक समाज और लक्ष्मीकात नाटक समाज, वैराटी देशी नाटक समाज और प्र० द० द्विवेदी लक्ष्मीकात और देशी नाटक के स्थायी लेखक बहुत दिनों तक बने रहे।

पुरानी रगभूमि प्राय व्यावसायिक रगभूमि रही है। इस रगभूमि का सपोषण जिन पुरातन नाटक मडलियो ने किया, उनमे प्रमुख थी—मोरबी आर्य सुबोध नाटक मडली और देशी नाटक समाज। नई नाटक मडलियो मे से यद्यपि कुछ का जन्म डाह्याभाई युग के अत मे हुआ, तथापि उनका प्रमुख कार्यकाल था—मेहता-मुशी युग, जिसके अन्तर्गत उन्होंने गुजराती रगभूमि की पारपरिक विशिष्टताओ और सजीवता को बनाये रख कर डाह्याभाई युग की शृखला को आगे बढाया। ये नई मडलियाँ थी—आर्यनैतिक नाटक समाज, आर्य नाट्य समाज, सरस्वती नाटक समाज, लक्ष्मीकात नाटक समाज आदि।

मोरबी आर्य सुबोध नाटक मंडली (स्था० १८७८ ई०)—मोरबी आर्य सुबोध नाटक मडली के संस्थापक वाघजी भाई आशाराम ओझा के निधन के बाद मडली की बागडोर सन् १८८७ ई० में उनके अनुज मूलजीभाई ओझा के हाथ मे आई। मूलजी भाई के संचालकत्व मे मडली ने समय-समय पर सचस्थ होने वाले वाघजीभाई के नाटकों के अतिरिक्त रसकवि रघुनाथ ब्रह्मभट्ट के 'बुद्धदेव' (१९१३ ई०), 'शृगी ऋषि' (१९१४ ई०), 'जयद्रथवध'* तथा 'भावि-प्राबल्य' (१९१६ ई०)और सन् १९१८ मे मूलजीभाई के निधन के बाद उनके पुत्र प्रेमीलाल मूलजीभाई ओझा के संचालकत्व मे ब्रह्मभट्ट का 'उषाकुमारी' (दिसबर, १९२०) अभिनीत किया। सन् १९१५ और १९२४ मे मडली ने हरिशकर माधवजी भट्ट का 'भक्तराज अंबरीष' नाटक खेला।

मोरबी आर्य सुबोध सामान्यत: बबई मे तीन महीने ही रहा करती थी और उसके बाद वह दौरे पर निकल पडती थी। नया नाटक प्राय: बबई में ही खेला जाता था। 'उषाकुमारी' अपनी आकर्षक दृश्यावली और 'ट्रिक सीनो' के कारण पूरा एक वर्ष चला।[११] मडली बबई से सूरत, बडौदा और अहमदाबाद जाया करती थी, जहाँ प्रत्येक नगर में वह तीन-तीन माह का प्रवास किया करती थी।[१२]

मोरबी नाटक मंडली अपने समय की अग्रगण्य नाट्य-सस्था समझी जाती थी। सन् १९१४ मे जब मोहनदास कर्मचन्द गांधी अफ्रीका से लौट कर भारत आये, तो मोरबी ने उन्हे अपने यहाँ आमंत्रित कर एक थैली भेंट की थी। जाते समय गांधी जी ने विचार व्यक्त किये थे, उससे पता चलता है कि वे नाट्य-व्यवसाय को 'अधम धन्धा' मानते थे।[१३]

---

* इस नाटक के अन्य सह-लेखक थे . मूलजी भाई और प्र० द० द्विवेदी। —लेखक।

मुंबई गुजराती नाटक मंडली (स्था० १८८९ ई०)—सन् १९१४ में मुंबई गुजराती नाटक मंडली का स्वत्व छोटालाल मूलचन्द के हाथ में आने के बाद उन्होंने नृसिंह विभाकर के मंचोपयुक्त किन्तु साहित्यिक नाटकों को खेल कर गुजराती रंगभूमि पर नवयुग का श्रीगणेश किया। मंडली द्वारा विभाकर के 'स्नेह-सरिता' (१९१४ ई०), 'सुधाचंद्र' (१९१६ ई०), 'मधुबमरी' और 'मेघ मालिनी' (सन् १९२१ के पूर्व) मंचस्थ किये गये। 'स्नेह सरिता' में नारी के अधिकारों की चर्चा की गई है, जबकि शेष तीनों नाटकों में राष्ट्रोद्धार एवं स्वातंत्र्य-प्रेम की भावनाओं का पुरस्करण किया गया है।[१११] गुजराती रंगभूमि को नये उद्बोधक विषय देकर विभाकर ने नाट्य-साहित्य की दरिद्रता को दूर करने का सराहनीय प्रयास किया।

सन् १९२१ में मंडली का प्रबंध बदला और बापूलालभाई वी० नायक इसके नवीन संचालक हुए। आलोच्य युग के अन्त के बाद भी सन् १९३९ ई० तक मंडली उन्हीं के हाथ में बनी रही। इस बीच मंडली ने विभाकर के उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त रणछोडभाई उदयराम के 'हरिश्चन्द्र,' 'ललितादुःखदर्शक' और 'नल-दमयंती', फूलचंद मास्टर का 'सुकन्या-सावित्री', मूलशंकर मूलाणी के 'देवकन्या', 'कृष्णचरित्र', 'सौभाग्य सुन्दरी', 'अजबकुमारी',[११८] 'जुगलजुगारी' आदि, मणिलाल नभुभाई द्विवेदी के कुलीन कांता' और 'नृसिंहावतार', रमणभाई महीपतराम नीलकंठ का 'राईनो पर्वत', शयदा का 'कुमली कली' आदि अनेक नाटक अभिनीत किये।

देशी नाटक समाज (१८८९ ई०)—डाह्याभाई द्वारा संस्थापित देशी नाटक समाज उनके उत्तराधिकारी चंदूलाल दलसुखराम घोलशाजी झवेरी के कुशल संचालन में सन् १९१३ ई० में उनके अवसान तक चलता रहा। चंदूलाल ने डाह्याभाई की परम्परा को जारी रखा। उनके कार्य-काल में छोटालाल रुखदेव शर्मा का 'अशोक' (१९१६ ई०), महाराणीशंकर अंबाशंकर शर्मा का 'रुक्मिणी-हरण' (१९१९ ई०), मोहनलाल माईशंकर भट्ट का 'देशभक्ति' (१९२१ ई०), नानालाल बलदेवजी ब्रह्मभट्ट का 'मीनलमुं जाल' (१९२२ ई०) और मणिलाल त्रिवेदी 'पागल' का 'दीवान' (१९२३ ई०) मंचस्थ किया गया। 'मीनल मुं जाल' और 'दीवान' बहुत लोकप्रिय हुए।

चंदूलाल के निधन के बाद उच्च न्यायालय ने समाज में रिसीवर बैठा दिया। १४ मई, १९२४ को 'पागल' का 'राज-संसार' मंचस्थ हुआ। अक्टूबर, १९२४ में समाज को नीलाम कर दिया गया, जिसे आर्य नाटक मंडली के हरगोविन्ददास जेठाभाई शाह ने खरीद लिया।[११९] शाह ने समाज के भूतपूर्व व्यवस्थापक पोपटलाल केसरीसिंह शेठ को अपना व्यवस्थापक और विख्यात कलाकार चुन्नीलाल लक्ष्मीराम नायक को निर्देशक नियुक्त किया। नये प्रबन्ध के अन्तर्गत १८ अक्टूबर, १९२४ को पुनः 'दीवान' खेला गया।

इसके अनंतर जी० ए० वैराटी के 'वीरपूजन' (१९२५ ई०), 'समाज सेवा' (१९२५ ई०), 'वल्लभीपति' (१९२७ ई०), 'देश-दीपक' (१९२७ ई०), 'विधिना खेल' (१९३५ ई०), 'साचो सज्जन' (१९३७ ई०) और 'उगतो भानु' (१९३७ ई०), वैराटी और 'पागल' के संयुक्त लेखन का 'वीर रमणी' (१९२६ ई०), अंबाशंकर हरिशंकर का 'देवी होथल' (अगस्त, १९२६), वल्लभदास वाघजीभाई पटेल का 'विजयध्वज' (दिसम्बर, १९२६), शयदा का 'वसंत वीणा' (अक्टूबर, १९२७), प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी के 'सत्तानो मद' (१९२८ ई०), 'कीर्तिस्तंभ' (१९२९ ई०), 'मालव-विजय' (१९२९ ई०), 'अजयधारा' (१९३० ई०), 'चेतन युग' (१९३० ई०), 'अंशावतार' (१९३१ ई०), 'वीर भूषण' (१९३१ ई०) और 'साभरराज' (१९३२ ई०), मणिलाल त्रिवेदी 'पागल' के 'सोरठी सिंह' (फरवरी, १९३३), 'आर्य अबला' (सितम्बर, १९३३), 'सती प्रभाव' (जुलाई, १९३४) और 'रणसंग्राम' (नवंबर, १९३४) तथा किशोरदानजी का 'आत्म-निर्णय' (१९३६ ई०) नाटक खेले गये।

'पागल' का 'सती-प्रभाव' हिन्दी में खेला गया। यह गुरु गोरखनाथ और मछंदरनाथ की कथा पर आधारित है।

अभी तक पुरुष ही स्त्री-भूमिकाएँ भी किया करते थे, किन्तु स्त्री-सुलभ भावों की अभिव्यक्ति और स्वाभाविकता को दृष्टि मे रख कर सन् १९३३ में मराठी अभिनेत्री श्यामाबाई को 'सोरठीसिंह' की शारदा की भूमिका में प्रस्तुत किया गया। इसके बाद 'आर्य अबला' मे मोहिनीबाई नामक एक नयी अभिनेत्री ने अभिनय किया।[१०]

बीच-बीच मे डाह्याभाई के पुराने नाटको की पुनरावृत्ति भी होती रही। अप्रैल, १९३८ मे हरगोविन्ददास का स्वर्गवास हो गया।

आर्यनैतिक नाटक समाज (१९१२ई०)—नकुभाई कालूभाई शाह ने मोतीराम बहेचर नन्दवाणा और अब्दुल कयूम पित्तलवाला के सहयोग से सन् १९१२ में आर्यनीतिदर्शक नाटक समाज की स्थापना की।[११] समाज ने सन् १९१२ मे 'सरस्वतीचन्द्र', सन् १९१३ में हरिहर दीवाना का 'बोलतो कागल' और सन् १९१४ मे पुनः 'सरस्वतीचन्द्र' मचस्थ किया। इसी अवधि मे 'इन्द्रावनी' और 'परशुराम' भी खेले गये।

सन् १९१५ मे नकुभाई स्वयं इस मडली के अधिपति हो गये और उन्होने इसका नाम बदल कर रखा—'आर्य नैतिक नाटक समाज'। नकुभाई मे पृथक् होकर मोतीराम बहेचर नन्दवाणा ने उसी वर्ष आर्य नाट्य समाज की स्थापना की। सन् १९३१ से १९३३ की मध्यवर्ती अवधि को छोड कर, जबकि आर्यनैतिक का आधिपत्य अमृतलाल लक्ष्मीचन्द्र खोरवाणी के हाथ मे आया, यह सस्था सन् १९४५ तक नकुभाई के नेतृत्व मे ही चलती रही।

नये-पुराने अनेक नाटको मे मुख्य रूप से नथुराम सुदरजी शुक्ल के 'बिल्वमगल सूरदास' और 'महाकवि जयदेव', रघुनाथ ब्रह्मभट्ट के 'सूर्यकुमारी'[१२] (१९१६ ई०) और 'छत्र-विजय'[१३] (१९१९ ई०), मनहर का 'स्वदेश सेवा' (१९१७ ई०), मणिलाल त्रिवेदी 'पागल' के 'रा' माडलिक', 'ससारलीला' (१९२० ई०), 'सभाजी'[१४] (१९२४ ई०), 'श्रीमत बाजीराव'[१५] और 'सलगतो संसार' (१९३४ ई०), रामनारायण पाठक का 'नागमती', मुंशी अब्बास अली का 'सती मंजरी' (१९२१ ई०, हिन्दी), हरिहर दीवाना के 'पुडलीक' और 'सती अजना', वैराटी का 'रा' कवाट', प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी का 'एक अबला' (१९२७ ई०), नारायण ठक्कुर का 'गर्व-खडन' (१९२८ ई०), परमानन्द मणिशंकर भापजकर के 'रण-गर्जना', 'समरहाक' (१९३४ ई० या इसके पूर्व) और 'सुखी के दु:खी' नाटक अभिनीत हुये। सन् १९३७ मे जामन का 'प्रवासी' खेला गया।

आर्यनैतिक को अपने नाटको से अच्छी आय होने के बावजूद उसने अपनी कोई रगशाला नही बनवाई।[१६] 'सूर्यकुमारी', 'रा' माडलिक' और 'छत्र-विजय' द्रव्यार्जन की दृष्टि से उसके अत्यन्त सफल नाटक सिद्ध हुए।

दिल्ली के मा० निसार, मा० छोटू, मा० छन्नालाल, मा० फकीरा, मा० कृष्ण, मा० गोरधन आदि आर्यनैतिक मे स्त्री-भूमिकाएँ किया करते थे। सन् १९२७ मे पहली बार प्र० द० द्विवेदी के 'एक अबला' मे अभिनेत्री मुन्नीबाई ने नायिका की भूमिका की।[१७] युगलकिशोर मस्करा 'पुष्प' के अनुसार मुन्नीबाई ने इसके पूर्व सन् १९२५ मे 'बापना श्राप' तथा 'ससार-लीला' (१९२५-२६ ई०) मे भी अभिनय किया था।[१८]

आर्य नाट्य समाज (१९१५ ई०)—आर्य नीतिदर्शक नाटक समाज के भागीदार मोतीराम बहेचर नदवाणा ने नकुभाई से पृथक् होकर सन् १९१५ में आर्य नाट्य समाज की नीव रखी। नाट्य समाज ने मणिशंकर रत्नजी भट्ट का 'जालिम टुलिया', विभाकर का 'सिद्धार्थ बुद्ध', मूलाणी का 'कामलता' आदि कई नाटक खेले, किन्तु मंडली का प्रबध सन् १९१७ मे दो बार बदला और सन् १९१८ में मडली जब भरूच मे थी, तो आर्थिक क्षति उठाकर बन्द हो गई।[१९]

सरस्वती नाटक समाज (१९१४ ई०)—सरस्वती नाटक समाज की स्थापना वाडीलाल हरगोविन्ददास शाह ने सन् १९१४ ई० मे की। यह मंडली लगभग चार वर्ष तक इसी नाम के अन्तर्गत 'जेसल तोरल', 'सरस्वतीचंद्र', 'तुलसीदास', 'अभिमन्युनो चक्रावो', 'मयूरध्वज', 'ओखा-हरण' आदि नाटक खेलती रही, किन्तु सितम्बर, १९१८

में बाडीलाल ने इसका नाम बदल कर लक्ष्मीकांत नाटक समाज कर दिया।[५०] लक्ष्मीकांत का उद्घाटन प्लेहाउस (बम्बई) के विक्टोरिया थियेटर में 'पागल' के 'राँ' माँडलिक से हुआ। उसके दो दिन बाद प्र० द० द्विवेदी का 'शंकराचार्य' खेला गया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली।

लक्ष्मीकांत नाटक समाज – सन् १९१९ में लक्ष्मीकांत का स्वत्वाधिकार चंदूलाल हरगोविन्द शाह के हाथ में आया, जो सन् १९३० तक बना रहा। सन् १९३० से १९३८ तक बाडीलाल के पुत्र ईश्वरलाल लक्ष्मीकांत के अधिपति बने। इस बीच प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी के 'वीर कुणाल', 'पृथ्वीपुत्र' (१९१९ ई०), 'अरुणोदय' (१९२० ई०), 'वीर घटोत्कच', 'सत्य प्रकाश', 'मालवपति' (१९२४ ई०), 'पृथ्वीराज' (१९२४ ई०), 'सिराजुद्दौला', 'संसार-सागर', 'शालिवाहन' (१९२७ ई० के पूर्व), 'मायाना रंग' (१९२८ ई०), 'समुद्रगुप्त' (१९३२ के पूर्व), 'मोह प्रताप' (१९३४ ई०), 'युग प्रभाव' (१९३५ ई०) और 'अक्षयराज' (१९३८ ई०), 'पागल' के 'राजा भगवन्तसिंह', 'देव कुमारी' (हिन्दी 'सती अहल्या' का गुजराती रूपांतर), 'प्रेम-विजय' (१९२८ ई०) और 'अमर आशा' (१९३० ई०), रघुनाथ ब्रह्मभट्ट के 'शकुन्तला' और 'अजातशत्रु' (१९३० ई०) विभाकर का 'अऊोना बधन' (१९२२ ई०), वैराटी का 'रा' नवघण' आदि नाटक अभिनीत किए गये। 'पागल' और रघुनाथ ब्रह्मभट्ट के सह-लेखन का 'वीरना वेर' सन् १९२९ ई० में मंचस्थ हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'अमर आशा' के प्रथम अङ्क में महात्मा गाँधी की दाँडी-यात्रा पर लाक्षणिक नृत्य एवं देशभक्तिपूर्ण गीतों द्वारा अँग्रेजों को भारत छोड़ने का संकेत दिया गया था–काँग्रेस के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन (१९४२ ई०) से १२ वर्ष पूर्व। फलत. बड़ौदा में लक्ष्मीकांत का लाइसेंस रद्द हो गया, जो इस शर्त पर पुन. मिला कि उक्त नाटक फिर नहीं खेला जायगा।[५१] इसके बाद ब्रह्मभट्ट का 'अजातशत्रु' खेला गया और उसे भी देशभक्ति के स्वर के कारण कड़े 'सेंसर' का सामना करना पड़ा, फिर भी यह काफी सफल रहा।[५२]

मेहता-मुंशी युग की तीन प्रमुख मंडलियों–देशी नाटक समाज, आर्यनैतिक नाटक समाज और लक्ष्मीकांत नाटक समाज में से अन्तिम मंडली का स्थान गुजराती रंगभूमि के इतिहास में इस दृष्टि से स्मरणीय रहेगा कि देशी नाटक की भाँति इस मंडली ने भी दो रंगशालाएँ बनवाईं–एक सूरत में[५३] और दूसरी बड़ौदा में।[५४] जयशंकर 'सुन्दरी', मा० त्रिकम, रतिलाल पटेल जैसे चोटी के कलाकारों ने लक्ष्मीकांत के नाटकों में स्त्री-भूमिकाएँ करके चार चाँद लगा दिये। लक्ष्मीकांत ने आर्यनैतिक और देशी नाटक समाज से स्पर्धा की और गुजराती रंगभूमि पर अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक नाटक प्रस्तुत किये। द्विवेदी का 'अक्षयराज' लक्ष्मीकांत नाटक समाज का अन्तिम नाटक था, जिसकी असफलता के बाद वह दौरे पर निकल पड़ा और सन् १९३८ में उसका नडियाद में अवसान हो गया।[५५]

अन्य : उपर्युक्त मंडलियों के अतिरिक्त इस युग में कुछ अन्य मंडलियाँ भी बनीं, किन्तु अधिकांश दीर्घजीवी न हो सकीं। प्राय. एकाध नाटक खेल कर ही वे बन्द हो गईं।

हरगोविन्ददास जेठाभाई शाह ने सन् १९२२ में आर्य नाट्य मंडली की स्थापना की, जिसका उद्घाटन दुबास थियेटर (अब कृष्ण सिनेमा) में 'पागल' के 'महादजी सिंधिया' से उसी वर्ष हुआ। इस नाटक के गीत रघुनाथ ब्रह्मभट्ट ने लिखे थे। इसके अनन्तर 'पागल'-कृत 'सौराष्ट्र वीर' (१९२४ ई०) और 'मनोरमा' खेले गये। 'मनोरमा' में नायिका मनोरमा की भूमिका गुजराती रंगभूमि के बालगंधर्व मा० हिम्मत ने सफलतापूर्वक की।[५६] नाटक उच्चकोटि का था, किन्तु वह मंच पर लोकप्रिय न बन सका। सन् १९२४ में हरगोविन्ददास ने जब देशी नाटक समाज को खरीद लिया, तो उन्होंने इस मंडली का स्वामित्व चुन्नीलाल मास्टर को सौंप दिया। मंडली 'सन्यासी' (१९२६ ई०) खेल कर कुछ काल बाद बन्द हो गई और दुबास थियेटर कृष्ण सिनेमा बन गया।

अन्य मंडलियों में बचुभाई की नाटक मंडली ने सन् १९२४ ई० में 'भक्त दामाजी', प्राणसुख हरिचन्द नायक

की मंडली ने राम प्रसाद का 'शाह के चोर', प्रफुल्ल देसाई की स्पेशल पार्टी ने प्रफुल्ल देसाई-कृत 'ज्वलन्त ज्वाला' (१९२८ ई०) और नवीन सरोज नाटक समाज ने लालशंकर हरजीवनदास मेहता का 'तारणहार' (ऐतिहासिक) नाटक मचस्थ किया। नवीन सरोज नाटक समाज के सस्थापक थे—देशी नाटक समाज के तत्कालीन व्यवस्थापक पोपटलाल केसरीसिंह।[१५] नवीन सरोज ने 'बोलता हस', 'डोलती दुनिया', 'अनगपद्मा', 'लाखो फुलाणी' आदि कई नाटक अभिनीत किये। इन मडलियो के सचालको को स्वतन्त्र सचालन का अनुभव न होने के कारण ये अपना अस्तित्व अधिक समय तक बनाये न रख सकी और प्राय सभी कुछ ही काल के बाद बन्द हो गई।

इसके अतिरिक्त रायल नाटक मडली (१९२०-१९२५ ई०) ने मूलशंकर मूलाणी का 'एक ज भूल' (१९२१ ई०) और जमनादास मोरारजी 'जामन' का 'भूलनो भोग' (१९२१ ई०) तथा 'सोनेरी जाल' नाटक खेले। स्वयं जामन ने कई नाटक मडलियाँ स्थापित की, जिनके नाम हैं—सौराष्ट्र नाट्य कला मन्दिर (१९३४ ई०), सौराष्ट्र नाट्य कला समाज (१९३४-३५ ई०), कमलाकांत नाटक समाज और गुजरात कला मन्दिर। इनमे से प्रथम दो और अन्तिम मडली द्वारा 'जामन' का 'नवु ने जूनु' नाटक खेला गया। इसके अतिरिक्त इन मडलियो ने कुछ अन्य नाटक भी खेले।

व्यावसायिक मडलियो के नाटक प्रायः त्रिअंकी होते थे और उनमे 'कॉमिक' या हास्य-विभाग पृथक् से रहा करता था। नाटको मे प्रायः १५ से लेकर ३०-४० तक गीत हुआ करते थे। उत्तरकालीन नाटको में गीतों की सख्या घट कर १०-११ तक रह गई। नाटको के लम्बे होने और गीताधिक्य के कारण नाटक प्रायः ६-७ घटे या कभी-कभी रात भर भी चला करते थे।

नाटक प्रायः बुधवार, वृहस्पतिवार, शनिवार और रविवार को हुआ करते थे। नये नाटक प्रायः शनिवार और रविवार को ही खेले जाते थे। थियेटरों को किराये पर लेने वाली मडलियाँ इन दिनो के अलावा मंगल और शुक्रवार को भी नाटक किया करती थी। बम्बई के प्ले हाउस के तीन थियेटरो—वालीवाला, विक्टोरिया और कारोनेशन, भाँगवाडी थियेटर, गेइटी, मोरबी के त्रिपोली थियेटर, दुबाश थियेटर आदि मे ही ये मंडलियाँ प्राय. अपने नाटक खेला करती थी। बम्बई मे केवल मोरबी आर्य सुबोध और देशी नाटक ने अपनी रगशालाएँ बनवाईं। दैवयोग से ये रगशालाएँ इन मंडलियो के पास नही बनी रह सकी। देशी नाटक आज भी किराये के भाँगवाड़ी थियेटर मे अपने नाटक प्रदर्शित कर रहा है।

सफल नाटक प्रायः ६ माह से लेकर एक वर्ष तक निरन्तर चला करते थे। प्र० द० द्विवेदी का 'अरुणोदय' *लगभग एक वर्ष तक चलता रहा।[१६] नाटक की सफलता के लिये नाट्य-शिक्षा, स्पष्ट शब्दोच्चारण, उच्चाभिनय,* सुकठ गायन, *व्यय-साध्य रग-सज्जा और वस्त्र-भूषा पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। इस युग के प्रारम्भ होने के* पूर्व तक रंगदीपन के लिये मशाल, गैस बत्ती, चालीस की बत्ती, कारबाइड आदि का प्रयोग होता था, किन्तु भारत मे बिजली के प्रारम्भ से रगमंच का भी कायापलट हो गया और वह भी क्रमशः विद्युत्-प्रकाश से जगमगाने और अनोखी छटा दिखाने लगा।

अव्यावसायिक रंगभूमि : बँगला और मराठी की भाँति गुजराती की पुरातन रंगभूमि—व्यावसायिक रगभूमि के प्रति विरोध या प्रतिक्रियास्वरूप गुजराती मे भी अव्यावसायिक रगमंच का अभ्युदय हुआ। बँगला मे इस मंच का नेतृत्व रवीन्द्र ने, मराठी मे मामा वरेरकरने और गुजराती में चन्द्रवदन मेहता और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने किया। यह विरोध दो रूपो में प्रकट हुआ—विचारात्मक और आन्दोलनात्मक। विचारात्मक विरोध व्यावसायिक रंगभूमि से असहयोग तक ही सीमित रहा। इस वर्ग के विरोधी थे—नानालाल, रमणभाई नीलकण्ठ और बलवन्तराय ठाकोर, जो अपने नाटकों का व्यावसायिक रंगभूमि पर खेला जाना या तरगाला[१७] युवकों द्वारा *अभिनीत किया जाना पसन्द नही करते थे। नानालाल अपने 'जया-जयंत'* को तीन सौ वर्ष आगे की वस्तु समझते

थे।[११] वे नहीं चाहते थे कि नरगाला-युवक जया और जयंत की भूमिकाओं में उतरें। रमणभाई ('राईनो पर्वत' के लेखक) को व्यावसायिक नाटक अच्छे ही नहीं लगते थे।[११] ठाकोर तरगाला-युवकों का स्त्री बनना नहीं पसन्द करते थे,[११] इसीलिये वे नाटक देखने भी नहीं जाते थे।

आंदोलनात्मक वर्ग के लोगों में प्रमुख थे–नृसिंह विभाकर, चन्द्रवदन मेहता और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी। विभाकर रंगशाला को विलास-भवन न मानकर शिक्षण-केन्द्र मानते थे और चाहते थे कि नाटक में साहित्यिकता और अभिनेयता का समन्वय हो, जिससे गुजराती रंगभूमि का उत्कर्ष हो सके। इस लक्ष्य को दृष्टि में रख कर विभाकर ने 'सिद्धार्थ बुद्ध', 'स्नेह-सरिता', 'सुधाचन्द्र' आदि अनेक नाटक लिखे, जो व्यावसायिक नाटक मंडलियों द्वारा सफलता के साथ खेले गये। उन्होंने नाट्यान्दोलन के विकास के लिये सन् १९२३ में 'रंगभूमि' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका भी निकाली थी।[११] विभाकर की मृत्यु अल्प वय में हो जाने के कारण रंगभूमि के उद्धार का अधूरा कार्य चन्द्रवदन मेहता और क० मा० मुंशी ने पूरा किया, किन्तु व्यावसायिक रंगभूमि के माध्यम से नहीं, उससे दूर रह, अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना करके।[११] यह अव्यावसायिक रंगमंच नये विषयों पर लिखे गये नये गद्य नाटकों, स्वाभाविक अभिनय-पद्धति, आधुनिक रंगदीपन-योजना और रंग-सज्जा तथा स्त्री-कलाकारों के प्रवेश के साथ अवतरित हुआ और इस प्रकार गुजराती में नयी रंगभूमि की स्थापना हुई।

चन्द्रवदन और मुंशी के नाटक गद्य-प्रधान होते हुए भी उनमें मुख्य अन्तर यह है कि चन्द्रवदन के नाटक मुख्यत अभिनेय है और उनमें मंच, वस्तु, चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से अनेक नये प्रयोग किये गये हैं, जबकि मुंशी के नाटक अभिनेय होने के साथ ही अपने भाषा-सौष्ठव और नव्य विचार-शैली के कारण साहित्यिक भी है। मुंशी ने नाट्य-लेखन में इब्सन-पद्धति का अनुसरण कर केवल अंकों में ही कथानक को विभक्त किया है और किसी अंक में कोई प्रवेश नहीं रखा। गीतों का पूर्णतः बहिष्कार किया गया है। मुंशी के वस्तु-गठन का आधार है–संघर्ष या विरोध, जो उन्हें पाश्चात्य नाट्य-पद्धति के अधिक निकट ले जाता है।

चन्द्रवदन के इस काल के नाटक हैं– 'आँखो' (१९२७ ई०), 'आगगाडी' (१९३० ई०), 'प्रेमनुं मोती अने बीजा नाटको' (१९३५ ई०), 'मूंगी स्त्री' (१९३७ ई०), 'नर्मद' (१९३७ ई०), 'नागा बावा' (१९३७ ई०), 'सताकूकड़ी' (१९३७ ई०) और इस काल के उपरान्त के अन्य नाटक हैं–'सीता' (१९४३ ई०), 'धरागुर्जरी' (१९४४ ई०), 'पाजरापोल' (१९४७ ई०), 'रंग-भंडार' (१९५३ ई०), 'रमकडानी दुकान', 'माझम रात', 'मेना पोपट', 'होहोलिका' आदि। मुंशी जी के इस काल के नाटक हैं–'पुरन्दर-विजय' (१९२४ ई०), 'अविभक्त-आत्मा' (१९२४ ई०), 'पीडाग्रस्त प्रोफेसर' (१९२४ ई०), 'तर्पण' (१९२६ ई०), 'काकानी शशी' (१९२९ ई०), 'ध्रुवस्वामिनी देवी' (१९२९ ई०), 'पुत्र समोवडी' (१९३० ई०) तथा 'ब्रह्मचर्याश्रम' (१९३१ ई०) और इस काल के बाद के नाटक हैं– 'छीओ ते ज ठीक' (१९४६ ई०), 'सामाजिक नाटको' (१९४९ के पूर्व), 'बाबा शेठनुं स्वातंत्र्य', 'बे खराब जण' और 'आज्ञांकित'।

मेहता और मुंशी के अधिकांश नाटक अव्यावसायिक मंच पर अभिनीत हो चुके हैं। सन् १९२४ में मेहता का 'मूंगी स्त्री' (अनातोले फ्रान्स के 'डम्ब वाइफ' का गुजराती रूपान्तर) सर्वप्रथम एल्फिन्स्टन कालेज के छात्रों द्वारा खेला गया और यह इतना लोकप्रिय हुआ कि बाद में इसे अनेक कालेजों तथा बम्बई के बाहर सूरत, बडोदा, अहमदाबाद आदि कई नगरों में खेला गया।[११] उसी वर्ष उनका 'प्रेमनुं मोती' भी मंचस्थ हुआ।

मेहता ने न केवल नये प्रकार के नाटक लिख कर नवीन दिशा-निर्देश दिया, वरन् अपने भाषणों द्वारा पुरातन रंगभूमि के दोषों पर गहरा प्रहार किया, जिससे नवयुवकों में नव्य नाटक लिखने की प्रेरणा जागृत हुई। सन् १९२४-२५ में पुरातन रंगभूमि पर अभिनीत 'कालेजनी कन्या' के विरुद्ध 'जिहाद' बोल दिया। चन्द्रवदन ने भी उसके विरुद्ध जिन्ना हाल में एक सभा की, जिसमें उनके अलावा हंसा मेहता, उर्मिला मेहता आदि के भी भाषण

हुए। फलस्वरूप अवेतन रंगभूमि की स्थापना 'कला समाज' के ध्वज के अन्तर्गत हुई और सन् १९२७ मे उनका 'अखो' नाटक खेला गया। इसमे अभिनेत्री सरला बनर्जी ने स्त्री-भूमिका की थी।[११] सन् १९३६ मे मेहता का 'आगगाडी' खेला गया। इसमे धनसुखलाल मेहता ने नायक की भूमिका की थी।[१५] सन् १९३६ मे ही इस नाटक पर गुजरात साहित्य सभा द्वारा रणजितराम स्वर्णपदक दिया गया।[१६]

चन्द्रवदन के नाटको ने सन् १९२५ से १९३७ के बीच धूम मचा दी। वे न केवल नाटककार थे, वरन् वे स्वय एक कुशल अभिनेता एवं निर्देशक भी थे। उन्होने रगमच पर वास्तविकता लाने और नाटको की भाषा को अकृत्रिम एव व्यावहारिक बनाने का अथक प्रयास किया। बाद में वे व्यावसायिक रगभूमि के प्रति कुछ उदार बनते चले गये। उनके इन प्रयासों तथा समय के साथ व्यावसायिक (धधादारी) रगभूमि के प्रति उनके उत्तरोत्तर नरम रुख का आभास उनकी जीवनीपरक पुस्तक 'बाँध गठरिया' में मिलता है। इसमें सन् १९२५ से १९५० तक की गुजराती रगभूमि का इतिहास संकलित है।

मुशी के नाटको मे एक ऐसा सुरुचिपूर्ण संस्कार, भाषा-सौष्ठव और आदर्शवादिता पाई जाती है, जो पुरातन रगभूमि के नाटको से उन्हें पृथक् कर देती है। फलस्वरूप पुरातन रगभूमि पर उनके नाटक नही खेले जा सके। इसके विपरीत नये प्रयोगो के बीच वे अवेतन रगभूमि के कठहार बन गये। सन् १९२९ मे सर्वप्रथम उनका 'काकानी शशी' रायल ऑपेरा हाउस में दो बार खेला गया।[११] इस नाटकाभिनय मे सर्वप्रथम 'फ्लैटो' का उपयोग कर आधुनिक दृश्य-सज्जा की गई। पुरुषोत्तमदास त्रिकमदास और शातिला देसाई ने क्रमश· नायक और नायिका की भूमिकाएँ की। स्वयं मुंशी जी ने नाटक का निर्देशन किया। ज्योतीन्द्र दवे ने हास्याभिनय किया। नाटक बहुत लोकप्रिय और सफल रहा। कुछ काल बाद 'काकानी शशी' के कलाकारों के बिखर जाने से अवेतन रगभूमि का कार्य वही रुक गया। बाद में अहमदाबाद के धनजय ठाकर ने मुंशी के 'काकानी शशी' के अतिरिक्त मुंशी के 'तर्पण', 'पुत्र समोवडी', 'अविभक्त आत्मा', 'ध्रुवस्वामिनी देवी' आदि कई नाटक अभिनीत किये।

इसके अतिरिक्त जयति दलाल ने मेहता और मुशी के अनेक नाटक मंचस्थ किये। जयति स्वयं एक कुशल अभिनेता, शिल्पी, उपस्थापक एवं नाटककार हैं। उन्होने अनेक एकाकी नये टेकनीक पर लिखे हैं।

सन् १९३२ मे गुजराती नाटककार नर्मद की शताब्दी मुशी, चन्द्रवदन, शयदा, धनसुखलाल मेहता आदि के प्रयास से मनाई गई। इस अवसर पर अलिखित 'तापीदासनु फारस', रवीन्द्र का 'डाकघर' और चन्द्रवदन का 'रमकडानी दुकान' नाटक खेले गये।[१८]

उपलब्धियाँ एवं परिसीमाएँ : मेहता-मुशी युग की उपलब्धियो पर यदि हम एक विहगम दृष्टि डालें, तो हम देखेंगे कि अपनी परिसीमाओ के भीतर यह युग पुरातन और नव्य दोनो प्रकार की रगभूमियो के विकास और समृद्धि का युग रहा है। संक्षेप में, ये उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ इस प्रकार हैं.

(१) गुजराती में नवीन रगभूमि अर्थात् अव्यावसायिक (बिन-धधादारी) रगभूमि के अभ्युदय का श्रेय रवीन्द्र अथवा वरेरकर की भाँति किसी एक व्यक्ति को नही, चन्द्रवदन मेहता और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी दोनो को है। मेहता और मुंशी के नाटक इस काल में एक सीमित सामाजिक-वर्ग-शिक्षित एवं अभिजात वर्ग के ही मनोरजन के साधन बने रहे। व्यावसायिक मडलियो ने इनके नाटक नही अपनाये। मुशी ने अपने नाटको मे विशेष रूप से इब्सन नाट्य-पद्धति का अनुसरण किया है।

(२) मेहता–मुंशी युग में मोरबी आर्य सुबोध, मुम्बई गुजराती और देशी नाटक जैसी प्राचीन नाटक मंडलियाँ बदलते हुऐ प्रबन्ध के अन्तर्गत चलती रही और इनमें से देशी नाटक समाज आज भी जीवित है। इनमे से मोरबी ने बम्बई मे त्रिपोली थियेटर और देशी नाटक ने अहमदाबाद मे आनन्द भुवन थियेटर तथा शातिभुवन थियेटर और बम्बई में अस्थायी देशी नाटकशाला या झवेरी थियेटर की स्थापना की। इसके अतिरिक्त देशी नाटक

ने सूरत में अपनी दो शाखाएँ भी खोली।

नवीन नाटक मंडलियों में लक्ष्मीकांत नाटक समाज ने सूरत और बड़ौदा में लक्ष्मीकांत थियेटर स्थापित किया।

कुछ छोटी नवीन मंडलियों को और प्रमुख मंडलियों में मोरवी आर्य सुबोध को, जो इस युग के प्रारम्भ में एक दशक के भीतर बन्द हो गई और लक्ष्मीकांत नाटक समाज को, जो सन् १९३८ में बंद हुआ, छोड़कर अधिकांश प्रमुख मंडलियाँ इस युग के अनन्तर भी चलती रहीं।

(३) गुजराती में नवीन रंगभूमि सन् १९२४ में प्रारम्भ हुई और उस वर्ष अभिनीत 'मूगी स्त्री' में पहली बार धन की भूमिका सोली बाटलीवाला ने की। व्यावसायिक क्षेत्र में पहली अभिनेत्री थी–मुन्नीबाई, जिसने आर्यनैतिक के प्रांगण में 'एक अबला' में पहली बार नायिका की भूमिका की। इसके पूर्व तक पुरुष-कलाकार ही स्त्रियों की भूमिकाएं किया करते थे। इनमें प्रमुख थे–जयशंकर 'सुन्दरी', मा० त्रिकम, मा० हिम्मत, मा० निसार आदि। ये पुरुष-कलाकार प्रायः अच्छे गायक भी हुआ करते थे।

(४) व्यावसायिक मंच पर रंग-सज्जा के लिए 'सीन-सीनरी' और तड़क-भड़क के लिये वस्त्राभरण[१७] पर लंबा व्यय किया जाता था। आर्यनैतिक के निर्देशक मूलचन्द मामा ने रंग-सज्जा के लिये अपनी बहन के आभूषण गिरवी रख कर तीन हजार रुपये एकत्र किये थे।[१८] व्यावसायिक मंडलियाँ नाटक-लेखन पर भी पुष्कल व्यय करती थीं। 'जयदेव' लिखने के लिये नथुराम सुन्दर जी शुक्ल पर दस हजार[१९] और 'छत्रसाल' (जो 'छत्रविजय' के नाम से खेला गया था) के ग्यारह लेखकों पर १७–१८ हजार रुपये व्यय किये गये थे।[२०] प्रायः एक नाटक के एकाधिक लेखक हुआ करते थे।

इसके विपरीत अव्यावसायिक रंगभूमि पर सादगी के साथ आधुनिक दृश्यबंधों का उपयोग सन् १९२९ में क० मा० मुंशी के 'काकानी शशी' में किया गया।

(५) पुरातन रंगभूमि के नाटकों पर पारसी शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है और नाटक प्रायः बहुप्रवेशी त्रिअंकी हैं। उनमें कॉमिक भी प्रसंगनिष्ठ कम, पृथक् होकर अधिक आया है। साथ ही गीतों की भरमार रहती थी। गीत प्रायः १५ से लेकर ३०-४० तक हुआ करते थे। उत्तरकाल में यह संख्या घट कर १०-११ तक रह गई।

दूसरी ओर नवीन रंगभूमि पूर्णतः गद्य-प्रधान बनी रही। उसके नाटकों में गीतों का अभाव रहता था। ये नाटक प्रायः एकांकप्रवेशी हैं।

(६) नाटक प्रायः बुध, बृहस्पति, शनि और रवि को हुआ करते थे, किन्तु किराये पर थियेटर लेने वाली कुछ मंडलियाँ मंगल और शुक्र को भी नाटक किया करती थीं। नाटक प्रायः ६-७ घंटे से लेकर रात-रात भर हुआ करते थे। इसके विपरीत नवीन रंगभूमि के नाटक चार-साढ़े चार घंटे के ही हुआ करते थे।

(७) इस युग की अधिकांश नाटक मंडलियों के संस्थापक प्रायः नाट्यप्रेमी परिचालक अथवा भूतपूर्व नाट्य-व्यवस्थापक थे। जामन, प्रफुल्ल देसाई आदि नाटककारों द्वारा मंडलियों के संचालन के प्रयास प्रायः असफल रहे। मेहता, मुंशी आदि नाटककार अवैतन रंगभूमि के संगठन से ही संबद्ध रहे।

(३) प्रसाद के नये प्रयोग तथा हिन्दी रंगमंच की उपलब्धियाँ और सीमाएँ

प्रसाद के नये प्रयोग और युगीन नाट्य-धाराएँ प्रसाद के अवतरण के समय तक हिन्दी का नाट्य-भंडार भारतेन्दु और बेताब युगों के अनेक मौलिक नाटकों से समृद्ध हो चुका था और अनेक नाटककार उस समय भी मौलिक कृतियों की रचना कर उस भंडार के संवर्धन में लगे हुए थे, जिनमें पारसी-हिन्दी रंगमंच के नाटककारों, विशेषकर 'अहसन', 'हश्र', 'बेताब', राधेश्याम कथावाचक आदि के अतिरिक्त माधव शुक्ल, बद्रीनाथ भट्ट, हरि-

दास माणिक, श्यामबिहारी मिश्र, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण गुप्त, जी० पी० श्रीवास्तव, प्रेमचद, गोविन्दवल्लभ पत आदि प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त सस्कृत और बँगला से भी कुछ नाटक अनूदित होकर हिन्दी में आये, किन्तु इनकी सख्या इतनी अधिक न थी कि यह कहा जा सके कि 'बँगला नाटकों के अनुवाद का साम्राज्य' हिन्दी मे स्थापित हो गया था।[७५] मौलिक नाटको की सख्या अनुवादो की अपेक्षा कही अधिक थी, अत. मौलिक नाटकों की विरलता की बात[७६] भी किसी तथ्य पर आधारित नही प्रतीत होती। अँग्रेजी से भी कुछ नाटक हिन्दी मे अनुवादित हुए। इन मौलिक तथा अनुवादित नाटको की विविध नाट्य-पद्धतियों ने प्रसाद और उनके युग के अन्य नाटककारो पर भी अपनी छाप डाली है, किन्तु अधिकाश नाटककारो ने भारतीय रस-सिद्धात और पश्चिमी व्यक्ति-वैचित्र्य को समन्वित रूप मे रखने का प्रयास किया है और इस प्रयास मे यद्यपि नवीन हिन्दी नाट्य-पद्धति का विकास हुआ और उसे स्थिरता प्राप्त हुयी, तथापि इस युग के अधिकाश नाटक मच से दूर जा पडे। उन्हें मचस्थ होने का पूरा अवसर न मिल पाने के कारण उनका कलापक्ष अर्थात् रगशिल्प एव नाट्यशिल्प अपूर्ण ही नही रहा, सदोष भी रह गया। यही कारण है कि इस युग के अधिकाश नाटको को, पारसी शैली के हिन्दी नाटको और लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा उनकी नाट्य-पद्धति पर लिये गये कुछ नाटको को छोडकर, बिना पर्याप्त काँट-छाँट के प्रस्तुत करना कठिन है।

प्रसाद ने भारतेन्दु की ही भाँति चित्राकित परदो वाले रगमच को दृष्टि मे रख कर अपने नाटको द्वारा विविध प्रयोग किये थे, जिनमे एक ओर सस्कृत और पारसी-पद्धति के नाँदी, प्रस्तावना और भरतवाक्य से युक्त एकाकी एव पूर्णाङ्ग नाटक हैं, तो दूसरी ओर अँग्रेजी नाट्य-पद्धति से प्रभावित नाटक भी रहे हैं, जिनमे से कुछ को परदो और प्रतीक-सज्जा के साथ तथा 'ध्रुवस्वामिनी' को आधुनिक दृश्यबध-पद्धति पर खेला जा सकता है। प्रसाद ने अपना प्रथम एकाकी नाटक 'सज्जन' (१९१०-११ ई०) प्राचीन नाट्य-पद्धति के अनुसार लिखकर भारतेन्दु नाट्य-विधान को अपनाया है, जिसमे नाँदी-पाठ, प्रस्तावना और भरतवाक्य का समावेश कर गद्य-सवाद खड़ी बोली मे, किन्तु पद्य व्रजभाषा मे रखे गये हैं। इसमे एक ओर संस्कृत नाटको के विदूषक को स्थान दिया गया है, तो दूसरी ओर पारसी शैली पर पद्य-सवादो की भी भरमार है। 'सज्जन' की नाट्य-पद्धति 'कल्याणी-परिणय' (१९१२ ई०) और 'राज्यश्री' (१९१५ ई०) के प्रथम संस्करण मे भी अपनाई गई थी। 'राज्यश्री' के प्रथम सस्करण मे नाँदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य और पद्य-संवाद रखे गये हैं। इसके बाद के सस्करणो मे यद्यपि नाँदी, प्रस्तावना एव पद्य-सवाद हटा दिये गये हैं, किन्तु फिर भी पारसी शैली पर गानो की प्रचुरता है और अन्त मे भारतेन्दु या सस्कृत नाट्य-पद्धति पर भरत-वाक्य का भी समावेश है।

प्रसाद के दूसरे प्रयोग की धारा के अन्तर्गत आते हैं—'करुणालय' (१९१२ ई०) और 'प्रायश्चित्त' (१९१४ ई०)। इनमे प्रथम हिन्दी का सर्वप्रथम पद्य-नाटक या गीति-नाट्य है, जो माइकेल मधुसूदन दत्त के 'पद्मावती' (१८६० ई०) की भाँति भिन्नतुकात छन्द मे लिखा गया है। 'पद्मावती' मे भिन्नतुकात अमित्राक्षर छंद का प्रयोग कुछ स्थलो पर ही किया गया था, जिसे बाद में गिरीश ने अपने पद्य-या-गीति-नाट्यों के लिये अपना लिया था और वह 'गैरिश छद' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था।[७७] इसी के अनुकरण पर प्रसाद ने भी अमित्राक्षर अरिल्ल छन्द का प्रयोग[७८] कर 'करुणालय' को सम्पूर्णतः पद्यबद्ध रूप मे लिखा है। इसके विपरीत 'प्रायश्चित्त' पूर्णत: गद्य मे लिखा गया है। इन दोनो ही एकाकियों मे नाँदी और प्रस्तावना नहीं है। 'करुणालय' के अन्त मे भरत-वाक्य है, किन्तु 'प्रायश्चित्त' दु:खान्त है और उसके अन्त में भरत-वाक्य भी नहीं है। नवीनता की दृष्टि से ये दोनो एकाकी हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय है।

निरंतर प्रयोग मे सलग्न प्रसाद के नाट्य-शिल्प ने सर्वप्रथम 'अजातशत्रु' (१९२२ ई०, प्रथम संस्करण)

के परवर्ती सस्करण मे स्थिरता प्राप्त की । यद्यपि वसतक के रूप मे शास्त्रानुसार विदूषक इसमे विद्यमान है, तथापि पूर्वरंग से मुक्त इस नाटक के वस्तु-गठन मे पाश्चात्य ढग के विरोध और उसके शमन को ही आधार बनाया गया है । अन्तर्द्वंद्व और व्यक्ति-वैचित्र्य को प्रधानता दी गई है । नाटक दुखात-सुखान्तकी अथवा प्रसादांत है । इस त्रिअकी नाटक मे अको का विभाजन दृश्यो मे किया गया है, किन्तु सभवत' प्रसाद इस प्रयोग से भी सतुष्ट नही हुए और उन्होने 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' के माध्यम मे एक अन्य साहसपूर्ण प्रयोग किया । इन दोनो नाटको मे रस-परिपाक और फलागम की भारतीय पद्धति का अनुसरण कर प्रसाद ने पहली बार सम्पूर्ण रीति से पूर्णाङ्ग नाटक की रचना करने मे सफलता प्राप्त की, यद्यपि 'स्कन्दगुप्त' का पाँचवें अक का अन्तिम (छठा) दृश्य[१९] और 'चन्द्रगुप्त' का चतुर्थ अक अनावश्यक है । एक विद्वान के मत से 'चन्द्रगुप्त' की कथा-वस्तु इतनी विस्तृत है कि उससे दो अच्छे नाटक बन सकते हैं ।[१००] वास्तव मे कुछ साधारण परिवर्तन करके 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम तीन अङ्को को ही पूर्णाङ्ग नाटक के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है ।

उपर्युक्त नाटको की दृश्य-बहुलता, पात्राधिक्य, वस्तु की जटिलता आदि उन्हें रगोपयोगी बनाने में बाधक रही है, अत' प्रसाद ने अपने अन्तिम प्रयोग–'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३ ई०)मे इन कठिनाइयो का समाधान करने की चेष्टा की है । तीन अङ्को के इस नाटक मे कोई दृश्य-विभाजन नही है, पात्रों की सख्या भी कम है, और स्थानान्विति की ओर सचेष्ट होने के कारण वस्तु-विन्यास भी चुस्त और उत्तरोत्तर गतिशील हो गया है । यह सभी दृष्टियो से मचोपयोगी है । 'ध्रुवस्वामिनी' के माध्यम से प्रसाद ने अपने नाट्य-शिल्प एव रंग-शिल्प का आदर्श प्रस्तुत किया है ।

प्रसाद के नाटको मे कुछ एसी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें दूसरे नाटककारो से पृथक् कर देती हैं । ये हैं–प्रसाद की भावुकता और कल्पनाशीलता, दार्शनिकता और सास्कृतिक चेतना, जो उनके नाटको की भाषा को काव्यपूर्ण, आलकारिक, वाग्वैदग्ध्यान्वित और कृत्रिम बना देती है । यह एक साथ ही उनका गुण और दोष है–गुण इसलिये कि उनके नाटक पाठ्य-साहित्य की अक्षय निधि बन गये हैं और इस दृष्टि से हिन्दी मे उनका वही स्थान है, जो सस्कृत मे भवभूति का और बँगला मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर का है तथा दोष इसलिये कि यह भाषा रगमच पर रस-परिपाक एव सप्रेषणीयता की दृष्टि से बोझिल अतएव सदोष है ।फि र भी प्रसाद के अनुकरण पर हिन्दी मे नाटक लिखने की होड-सी मच गई, जिनमे प्रसाद की भावुकता, कल्पना एव काव्यत्व, दार्शनिक चिंतन एव सास्कृतिक समन्वय की भावना को प्रश्रय तो दिया ही गया है, उनके नाट्य-शिल्प का पदानुसरण भी किया गया है । इस प्रकार के नाटककारो मे पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र', गोविन्दवल्लभ पत, हरिकृष्ण 'प्रेमी', उदयशकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, चद्रगुप्त विद्यालकार आदि प्रमुख हैं । 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' (१९२२ ई०), गोविन्द वल्लभपत के 'वरमाला' (१९२५ ई०) और 'राजमुकुट' (१९३५ ई०), 'प्रेमी' के 'रक्षा-बधन' (१९३४ ई०) और 'शिवा-साधना' (१९३७ ई०), उदयशकर भट्ट का 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन' (१९३४ ई०), सेठ गोविन्ददास का 'हर्ष' (१९३५ ई०) और चद्रगुप्त विद्यालकार का 'रेवा' भाषा और नाट्य-शिल्प की दृष्टि से प्रसाद युग की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं, जिन पर प्रसाद की छाप है, किसी पर कुछ कम और किसी पर कुछ अधिक ।

गोविन्दवल्लभ पंत ने प्रसाद की बोझिल और दुरूह भाषा के विरुद्ध सवादों को सक्षिप्त, गतिशील और सरल बनाने का प्रयास किया है । पात्रों की सख्या भी कम रखी है । 'प्रेमी' ने अपने नाटको मे कार्य-व्यापार को तीव्र, आरोह-अवरोह से युक्त कर गतिशील बनाने का प्रयास किया है, स्वगत भी कम है, किन्तु गीतों की बहुलता और सदोष दृश्य-विधान से मुक्त नही हो पाये हैं ।

उदयशकर भट्ट के नाटको मे दीर्घकाय स्वगतों, पद्यों और गीतो की प्रचुरता और भाषा मे शब्दाडंबर अधिक है, यद्यपि उत्तरोत्तर उनकी भाषा भी मँजी और नाटकोचित बनी । संवादों की दीर्घता में भी कमी आयी

है। सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटकों में विस्तृत रंग-संकेत दिये हैं और कार्य-व्यापार भी पर्याप्त गतिशील होकर आया है, किन्तु दीर्घ स्वगत, लम्बे संवाद और बड़े एवं अधिक गानों के दोष से वे भरे पड़े हैं।

प्रसाद द्वारा प्रवर्तित मुख्य नाट्यधारा के अतिरिक्त दो सह-धाराएँ और एक प्रति-धारा भी चलती रही है। सह-धाराओं में प्रथम धारा उन नाटककारों की है, जो विस्तारित बेताब युग के साहित्यिक ध्वंसावशेष कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनकी कृतियों को, उनका रंगमंचीय मूल्य न होने के कारण, पाठ्य-साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यथा देवी प्रसाद 'पूर्ण', बद्रीनाथ भट्ट, श्यामविहारी मिश्र (मिश्रबन्धु), मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', वियोगी हरि आदि और दूसरी धारा में वे नाटककार आते हैं, जो पारसी रंगमंच से किसी-न-किसी प्रकार संबद्ध रहे या उससे प्रभावित होकर स्वयं-संचालित अथवा किन्हीं अन्य अव्यावसायिक संस्थाओं से संलग्न रहे, यथा हरिदास माणिक, जमनादास मेहरा, दुर्गाप्रसाद गुप्त, शिवराम दास गुप्त, आनंदप्रसाद खत्री और माधव शुक्ल। तीसरी धारा प्रसाद युग की प्रति-धारा थी, जिसका नेतृत्व लक्ष्मीनारायण मिश्र ने किया। उन्होंने सर्वप्रथम प्रसाद की भावुकता, काल्पनिकता और दार्शनिकता का मोह त्याग कर जीवन की वर्तमान समस्याओं, विशेषकर व्यक्ति की काम-वासना के बौद्धिक समाधान प्रस्तुत किये। रंग-शिल्प और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वे पश्चिम के यथार्थवादी नाटककार इब्सन के अनुयायी हैं। मिश्र जी के नाटक प्रायः दृश्य-विहीन त्रिअंकी हैं। यदि किसी अंक में दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता होती है, तो रंग-संकेत द्वारा ही इस परिवर्तन की सूचना दे दी जाती है। इस प्रतिधारा के अन्य नाटककार हैं—पृथ्वीनाथ शर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि, जो प्रमुखतः आधुनिक युग के नाटककार हैं। इस प्रतिधारा के नाटककारों ने प्रसाद के विरोध में जिस नवीन रंग-शिल्प को जन्म दिया, उसके बीज प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' में मिलते हैं, किन्तु उसका पूर्ण प्रतिफलन लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिन्दूर की होली' (१९३४ ई०) नाटक से प्रारम्भ हुआ। ये सभी नाटक पूर्णतः अभिनेय थे, किन्तु प्रसाद युग में यह धारा अपनी शैशवावस्था में रही।

वस्तु की दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि प्रसाद युग के नाटकों का 'कैनवेस' भारतेन्दु युग अथवा बेताब युग की अपेक्षा अधिक विस्तृत रहा है और पौराणिक नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक, राष्ट्रीय और सामाजिक नाटक लिखने की ओर प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। इन ऐतिहासिक नाटकों में मूलतः दो विरोधी धर्मों एवं संस्कृतियों में एकता स्थापित कर आपद्धर्म एवं राष्ट्र-धर्म की व्याख्या की गई है। साथ ही राष्ट्रगत एकता की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। सामाजिक नाटक प्रायः व्यक्तिगत समस्या अर्थात् काम और आहार की समस्या और समाजगत समस्याओं, यथा मद्य-पान, सतीत्व और विवाह, आर्थिक शोषण एवं विषमता, वेश्यावृत्ति, भ्रष्टाचार एवं घूसखोरी आदि को लेकर लिखे गये हैं।

यह हम पहले बता चुके हैं और इसे स्वीकार कर लेने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिये कि प्रसाद युग में विस्तारित बेताब युग के व्यावसायिक मंच और नवशिक्षितों की नाट्य-संस्थाओं और मंडलियों अथवा स्कूल-कालेजों के प्रयोगनिष्ठ अव्यावसायिक मंच के अतिरिक्त हिन्दी का अपना कोई अन्य रंगमंच न था। स्वयं जयशंकर 'प्रसाद' अथवा प्रसाद युग के अन्य नाटककारों ने अपने नाटकों के अभिनय का कोई प्रयास भारतेन्दु और उनकी मंडली के नाटककारों की भाँति नहीं किया, किन्तु फिर भी उनके नाटकों से अव्यावसायिक रंगमंच को नाटक खेलने की प्रेरणा मिली और उसके द्वारा समय-समय पर प्रसाद, गोविन्दवल्लभ पंत, हरिकृष्ण 'प्रेमी', गोविन्ददास सेठ आदि के अनेक नाटक अभिनीत हो चुके हैं।

प्रसाद युग में अव्यावसायिक मंच के साधन-सम्पन्न न होने और उनकी अपनी परिसीमाओं के कारण नाटकों में आवश्यक कतर-ब्योंत करनी पड़ती थी, जिससे उनके साथ पूरा न्याय नहीं हो पाता था। इस कतर-ब्योंत के कई कारण हैं—सदोष दृश्य-विधान अर्थात् लगातार दो ऐसे बड़े दृश्यों का आयोजन, जिनकी सज्जा को

कुछ ही क्षणों के भीतर लगाना और हटाना संभव नहीं है, दृश्य-बहुलता, नाटक का अनावश्यक एवं अप्रासंगिक विस्तार, पात्र-बहुलता, दीर्घसूत्री और काव्यात्मक संवाद, जी उबा देने वाले स्वगतों और अप्रासंगिक गीतों की भरमार आदि। इनमें से एक, दो या अधिक कारणों से नाटकों के अभिनय में कठिनाई उत्पन्न होती है। दृश्य-विधान के दोषों का परिहार अब आधुनिक सांकेतिक या प्रतीक शैली के रंगमंच, बहुकक्षीय, बहुधरातलीय,[८८] परिक्रामी या शकट रंगमंच के द्वारा किया जा सकता है। उस समय के पारसी-हिन्दी रंगमंच पर भी ये सुविधायें उपलब्ध न थीं, अतः यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि प्रसाद और उनके युग के नाटक अपने युग से आगे की वस्तु थे, किन्तु दूसरी ओर यदि वस्तुवादी रंग-सज्जा के मोह का परित्याग कर दिया जाय, तो तत्कालीन नवीन रंगमंच की परिसीमाओं को दृष्टि में रखकर, इन नाटकों को सादे नीले या काले पृष्ठपट अथवा रँगे हुए परदों पर भी खेला जा सकता है।

इस युग के नाटककारों का मंच से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के कारण नाटकों में रंग-संकेत प्रारम्भ में अत्यन्त संक्षिप्त रहते थे, किन्तु इस युग के परवर्ती नाटकों में रंग-संकेत बड़ी सूक्ष्मता के साथ दिये जाने लगे। सेठ गोविन्ददास आदि कुछ नाटककारों ने अपने नाटकों में विस्तृत रंग-संकेत दिये हैं।

उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ इस युग की उपलब्धियाँ परिमाण की दृष्टि से यद्यपि बहुत अधिक नहीं है, फिर भी कुछ परिसीमाओं के भीतर वे इतनी नगण्य भी नहीं हैं कि उनकी उपेक्षा की जा सके। संक्षेप में, ये उपलब्धियाँ और परिसीमायें इस प्रकार हैं :

(१) प्रसाद ने पारसी रंगमंच की वस्तुवादी एवं कृत्रिम रंग-सज्जा के विपरीत दृश्यों की सादगी एवं अल्पव्ययी प्रतीक मंच-स्थापत्य को प्रश्रय दिया, जिसके फलस्वरूप अव्यावसायिक रंगमंच को प्रेरणा मिली। इसमें एक लाभ यह भी हुआ कि उनके दृष्टिकोण के अनुसार नाटक के अनुरूप मंच को ढालने में सुविधा उपलब्ध हुई। नव्य हिन्दी-रंगमंच की तत्कालीन परिसीमाओं को देखते हुए कुछ सादे या रँगे हुए परदे, कुछ प्रतीक रंगोपकरण प्रसाद युग के नाटकों की दृश्य-सज्जा और वातावरण-निर्माण के लिए काफी थे। इस प्रकार की रंगसज्जा में सामाजिक का मनोयोग—मानसिक रंगमंच की स्थापना अथवा मानसिक साक्षात्कार की क्षमता आवश्यक है, जिससे वह रंगमंच के दृश्य का अपने मनोजगत में प्रत्यक्षीकरण कर सके।

(२) रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाँति प्रसाद और इस युग के अधिकांश नाटककारों की कृतियाँ रोमानी कल्पना, सौन्दर्य-बोध, भावुकता और गीत-बहुलता के कारण रंग-सापेक्ष्य होते हुए भी पाठ्य अधिक हैं, अतः जब कभी भी इन नाटकों का अभिनय हुआ, उनके सामाजिक केवल उच्च शिक्षित-वर्ग तक ही सीमित रहे। जन-साधारण इनसे कोई लाभ न उठा सका।

(३) रंगमंच पर समय की सीमा को दृष्टि में रखकर नाटक से पूर्वरंग अर्थात् नांदी, त्रिगत (प्रस्तावना) और प्ररोचना, भरतवाक्य और पद्य-संभाषण का बहिष्कार किया गया। साथ ही अंक-संख्या को सीमित कर प्रायः तीन तक रखने की चेष्टा की गई, यद्यपि कुछ नाटक चार और पाँच अंकों के भी लिखे गये। इसका उद्देश्य यह था कि नाटक इतना बड़ा हो कि उसे तीन से चार घंटे के भीतर खेला जा सके। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर बिना दृश्यों के भी कुछ नाटक लिखे गये, यथा 'ध्रुवस्वामिनी'। प्रसाद-युग के उत्तरार्ध में एकांकदृश्यीय नाटक लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी। एकांकदृश्यीय नाटक से अभिप्राय है, ऐसा नाटक, जिसके प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य हो।

(४) इस युग में 'कॉमिक' को रस-विरोधी मानकर सामान्यतः उसका परित्याग कर दिया गया।[८९] प्रारम्भ के कुछ नाटकों में विदूषक का हास्य के लिए प्रयोग हुआ है, किन्तु हास्य के सम्बन्ध में युगबोध को दृष्टि में रखकर उसका भी बहिष्कार कर दिया गया। अधिकांश नाटकों में विनोदप्रिय पात्रों के द्वारा प्रसंगनिष्ठ हास्य

का ही सृजन हुआ है।

(५) नाटक प्राय शनिवार और रविवार या किसी पर्व अथवा अवकाश के दिन या नाट्य-मडली, सस्था अथवा परिषद् के वार्षिक समारोह के अवसर पर ही खेले गये। वर्ष मे प्राय एक, दो या तीन से अधिक नाटक नही खेले जाते थे। बँगला, मराठी और गुजराती के इस युग के नाटको की भाँति इन नाटकों के किसी एक सस्था द्वारा एकाधिक बार खेलने की परम्परा तो मिलती है, किन्तु वह दूर तक विकसित नही हो सकी।

(६) प्रसाद युग के पूर्वार्ध मे मच पर गैस और कारबाइड द्वारा, किन्तु उत्तरार्ध मे विद्युत् द्वारा रग-दीपन का श्रीगणेश हुआ, किन्तु हिन्दी का यह नव्य मच फुटलाइट आदि के प्रयोग से आगे न बढ सका। 'फोकस' एवं रगीन आलोक के लिए कारबाइड या मैजिक लैण्टर्न का उपयोग किया जाने लगा।

(७) इस युग मे नागरी नाटक मडली, वाराणसी को छोड किसी अन्य सस्था द्वारा हिन्दी-क्षेत्र मे स्थायी रगशाला बनाने की कोई चेष्टा नही की गई। प्राय. स्कूल-कालेजो के हाल या टाउन हाल मे अथवा खुले मैदान मे *बाँस-बल्ली, तख्तो, कनात और शामियाने के द्वारा अस्थायी रगशालाएँ बना ली जाती थी।*

खेद है कि हिन्दी का यह नवीन रगमंच भी युग की आवश्यकताओ के अनुरूप विकसित न हो सका, अतः इस युग मे विविध नाट्य-पद्धतियो के नाटक लिखे जाते रहे, उनका कोई एक सर्वमान्य रूप विकसित न हो सका। *प्रसाद ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी' के रूप मे एकाकदृश्यीय नाटक लिख कर अवश्य एक आदर्श प्रस्तुत किया और* इस आदर्श को लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने 'सिन्दूर की होली' (१९३४ ई०) से और आगे बढाया। इन नये प्रकार के नाटको से हिन्दी के नवीन रगमच का मार्ग, जो बहुदृश्यीय-अनेकाकी नाटको के कारण अवरुद्ध-सा था, प्रशस्त हो गया।

(४) प्रसाद युग के नाटककार और उनका कृतित्व : संक्षिप्त रंगमंचीय मूल्यांकन

अभिनेय नाटक के तत्त्व : प्रसाद युग के नाटककारो के कृतित्व का रगमचीय मूल्याकन करने के पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि हिन्दी का नवीन रगशिल्प क्या है, जिसकी कसौटी पर खरा उतरने पर किसी *भी नाटक को अभिनेय माना जाय। अभिनव-भरत सीताराम चतुर्वेदी ने 'कुछ लोगो' के 'मत' के आधार पर यह* माना है कि 'अभिनेय नाटक वह है, जो नट-सिद्ध (ऐक्टर-प्रूफ) हो अर्थात् वह चाहे जैसे अभिनेताओं को दे दिया जाय, वह सफल हो,'[६०] परन्तु यह मत एकागी है, क्योकि अभिनय एक सापेक्षिक वस्तु है और वह मुख्यत. दो प्रकार का हो सकता है—स्वाभाविक एव कृत्रिम। एक ही नाटक का अभिनेताओ द्वारा पहले स्वाभाविक अभिनय किया जाय और फिर उसी नाटक का कृत्रिम शैली मे अभिनय एव उपस्थापन किया जाय, तो उस नाटक की सफलता और असफलता पर दोनो अभिनय-शैलियो का पृथक्-पृथक् प्रभाव पडेगा। मराठी नाटककार कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर-कृत 'काचनगडची मोहना' नामक गद्य नाटक को स्वाभाविक अभिनय-शैली से मंचस्थ किया गया, तो वह असफल हो गया, क्योकि खाडिलकर स्वयं कृत्रिमतावादी थे, किन्तु जब इसी नाटक का अभिनय महाराष्ट्र नाटक मंडली ने अपनी कृत्रिम शैली से किया, तो नाटक ने न केवल सफलता प्राप्त की, स्वय मडली के हिलते हुए पाये भी सुदृढ हो गये।[६१] अत अभिनेय नाटक का सबसे अनिवार्य तत्त्व है, नाटक की अभिनय-शैली, किन्तु दुर्भाग्यवश प्रसाद युग के नाटको का पृथक् सुसगठित एवं विकसित रगमच न होने के कारण इन नाटको की इस दृष्टि से व्यावहारिक परीक्षा सभव नही है। ऐसी दशा मे जिन अन्य तत्त्वों पर इस परीक्षा के लिए विचार करना आवश्यक है, वे एक विदुषी के अनुसार ये हैं[६२] :

(१) नाटक के दृश्य-विधान की मंचोपयोगिता,

(२) दृश्यों का क्रम,

(३) नाटक का सीमित कलेवर,

(४) संक्षिप्त, सरल, सजीव, पात्रानुकूल और स्वाभाविक संवाद, जिसमें स्वगतादिवय का निषेध हो,
(५) रंग-संकेतों का उपयुक्त प्रयोग,
(६) पात्रानुकूल भाषा,
(७) संगीत एवं काव्य-तत्त्व का यथास्थान प्रयोग,
(८) दार्शनिक विवेचन की न्यूनता,
(९) वस्तु-विन्यास में संग्रह और त्याग-वृत्ति का पालन, और
(१०) संकलन-त्रय का निर्वाह।

उपर्युक्त तत्त्वों पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय, तो अभिनेय नाटक के मूल तत्त्व दस न होकर छ ही ठहरते हैं। दूसरा तत्त्व दृश्यों का क्रम प्रथम तत्त्व के अन्तर्गत ही आ जाता है, क्योंकि मंचोपयोगी दृश्य-विधान में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है– एक तो अतिमानवीय, अति-प्राकृतिक अथवा शास्त्र-वर्जित दृश्यों को मंच पर न दिखाया जाय और दूसरे प्रत्येक दृश्य का क्रम इस प्रकार रखा जाय कि उसकी वस्तुवादी सज्जा भी संभव हो सके। इसी प्रकार तीसरे तत्त्व– नाटक के सीमित कलेवर के अन्तर्गत नवाँ तत्त्व स्वतः आ जाता है, क्योंकि प्रत्येक नाटककार को अपनी कृति को अभिनेय बनाने के लिए इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि मंच की काल-सीमा (अर्थात् प्रसाद युग के लिए तीन से चार घंटे तक) को दृष्टि में रखकर उसका कलेवर निश्चित किया जाय, जिसके लिए उसे घटनाओं के संग्रह-और-त्याग के सिद्धान्त से भली-भाँति परिचित होना आवश्यक है। नाटक लिखते समय केवल नाट्योपयोगी अर्थात् नाट्य-स्थिति का सृजन करने वाली तीखी, क्षिप्र एवं मर्मस्पर्शी घटनाओं का ही चयन किया जाना चाहिए, जिससे प्रयोक्ता या निर्देशक मंच पर उन्हें सप्राण एवं स्फूर्तिदायक बना सके, अभिनेताओं की स्थिति, गति, मुद्राओं आदि के द्वारा उन्हें मूर्त रूप दे सके।

चौथे और छठे तत्त्वों पर एक साथ विचार किया जा सकता है, क्योंकि पात्रानुकूल संवाद में पात्रोचित मर्यादा की रक्षा के लिए पात्रानुकूल भाषा का होना आवश्यक है, जिसके बिना संवाद में सजीवता, स्वाभाविकता आदि के गुण नहीं आ सकते। पुनश्च, संवाद में स्वगत की भरमार नहीं होनी चाहिए।

दार्शनिक विवेचन अथवा तत्त्व-निरूपण किसी भी नाटक या उसके अभिनय का अनिवार्य अंग नहीं है, अतः उसे अभिनेयता के तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रसाद और उनके समकालीन हिन्दी नाटककारों की कृतियों में दार्शनिक चिन्तन अभिनय में बाधक होकर आया है, अतः जिस नाटक में यह चिन्तन जितना कम हो, उसे उतना ही अधिक अभिनेय समझना चाहिए।

संकलन-त्रय का सिद्धान्त नाटक के लिए एक आदर्श है, किन्तु प्रसाद युग के पूर्वार्द्ध के नाटकों में इस आदर्श का पालन नहीं किया गया है। युग के उत्तरार्द्ध में प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' जैसा एकाकदृश्यीय नाटक लिखकर स्वयं और बाद में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'सिंदूर की होली' आदि नाटक लिखकर इस आदर्श पर चलने की चेष्टा की है। संकलन-त्रय के अनुपालन से अभिनेता का मार्ग प्रशस्त होता है, रंग-सज्जा का कार्य भी सरल हो जाता है।

इस प्रकार अभिनेय नाटक के मूल तत्त्व छ: ही ठहरते हैं: (१) नाटक के दृश्य-विधान की मंचोपयोगिता, (२) नाटक का संक्षिप्त एवं संतुलित कलेवर, (३) संक्षिप्त, सरल, सजीव, स्वाभाविक एवं पात्रानुकूल संवाद, (४) रंग-संकेतों का उपयुक्त प्रयोग, (५) संगीत एवं काव्यतत्त्व का संतुलित प्रयोग और (६) संकलन-त्रय का निर्वाह। इसके अतिरिक्त नाटक की अभिनेयता को बढ़ाने के लिए सातवाँ तत्त्व–पात्रों की संख्या का परिसीमन भी अत्यन्त आवश्यक है।

उपर्युक्त तत्त्वों में से दृश्य-विधान की मंचोपयोगिता, रंग-संकेतों के उपयुक्त प्रयोग, संगीत एवं काव्यतत्त्व

के सतुलित प्रयोग और पात्रो की सख्या के परिसीमन के सम्बन्ध मे थोडा विस्तार से विचार करना उपयोगी होगा। शेष के सम्बन्ध मे पहले ही पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

नाटक मे केवल मंचोपयोगी दृश्य अथवा दृश्यार्थ का ही नियोजन किया जाना चाहिए। अतिमानवीय, अतिप्राकृतिक अथवा शास्त्र-वर्जित दृश्यो को नही दिखाया जाना चाहिए। इस सदर्भ मे इटली के नाट्याचार्य होरेस (ई० पू० ६५-६८) ने यह व्यवस्था दी है कि बिना किसी कठिनाई के उपस्थित हुए देवताओं की मच पर अवतारणा अनुचित है। इसी प्रकार माता द्वारा पुत्र की हत्या अथवा किसी मच-बाह्य क्रूर या अतिप्राकृतिक कार्य को निषिद्ध ठहराया गया है।[१०७] भारत के नाट्याचार्य भरत ने यह नियम निर्धारित किया था कि किसी अक मे मच पर क्रोध-व्यापार, अनुग्रह, शोक, शाप-दान, पलायन, विवाह, चमत्कार, युद्ध, राज्यहानि मृत्यु और नगर-घेरा नही दिखाना चाहिए।[१०८] आचार्य विश्वनाथ ने भी न दिखाने योग्य कार्य-व्यापारो की लम्बी सूची मे दूराह्वान, वध, युद्ध, विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मृत्यु, रति, स्नान आदि का निषेध किया है।[१०९] इस प्रकार भरत और विश्वनाथ ने निषिद्ध कार्य-व्यापारों की सूचियों द्वारा रामचन्द्र-गुणचन्द्र के 'दृश्यार्थ' को और भी स्पष्ट बना दिया है, किन्तु भरत ने सूची के कुछ कार्य-व्यापारो यथा युद्ध, मृत्यु, नगर-घेरा आदि को प्रवेशक मे दिखलाने की अनुमति दे दी है।[११०] प्रवेशक मे विशेष पद्यात्मक वर्णनो द्वारा नायक के पलायन, सधि या बदी होने का उल्लेख भी किया जा सकता है।[१११] हाँ, नाटक या प्रकरण के अक या प्रवेशक मे नायक का वध दिखाने का अवश्य निषेध किया गया है[११२], क्योकि भारत में फलागम-पद्धति के कारण दुःखान्त नाटक लिखने की प्रथा नही रही है। भरत ने रंगमच पर सैन्य-दल दिखाने और सेना की हलचल के चित्रण का विधान भी किया है[११३] और पुस्त (माडेल वर्क) द्वारा अश्व, हाथी, सवारी, शस्त्र आदि की व्यवस्था[११४] के साथ उनके बनाने की विधि[११५] भी बताई गई है, किन्तु इन विधि-निषेधों का उल्लंघन कर कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' मे गांधर्व-विवाह, शाप आदि का समावेश किया है। प्रसाद ने युद्ध, वध, मृत्यु, आत्मघात आदि के दृश्य खुल कर अपने नाटको मे दिखलाये हैं। पश्चिम के नाटकों मे चुंबन, आलिगन आदि के दृश्य मंच पर दिखलाना गर्हित नही समझा जाता, जबकि ये कार्य-व्यापार भारतीय सस्कृति के विरुद्ध माने जाते हैं। फिर भी रति, स्नान, अप्राकृतिक हत्या, मनुष्य के पशुवत् आचरण, दैवी अवतारणा आदि कुछ ऐसे कार्य-व्यापार हैं, जिन्हें रगमच पर दिखलाना निषिद्ध माना जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी इन्हें मच पर दिखलाना युगानुकूल नही है।

प्रसाद युग के नाटको मे रग-सकेत बहुत सूक्ष्म रीति से आये हैं। विस्तृत रग-सकेत पश्चिम के इब्सन, बर्नार्ड शा आदि वस्तुवादी नाटककारो की देन है। विस्तृत रंग-सकेत से निर्देशक की न केवल मार्ग-रेखा खिच जाती है, उसकी सीमाएँ भी बन जाती हैं, जिनके भीतर बँध कर निर्देशक को नाटक का उपस्थापन करना पडता है। निर्देशक को इन सीमाओ के भीतर अपनी स्वतन्त्र सूझ-बूझ या कल्पना के लिए गुआइश नही रहती। इस प्रकार विस्तृत रंग-संकेत नाटक के गुण और दोष एक साथ बन जाते हैं। सक्षिप्त रग-सकेत के साथ निर्देशक अपनी सीमाओं का, नाटक की कथावस्तु की सीमाओ तक, विस्तार कर सकता है। इस प्रकार संक्षिप्त रंग-सकेत प्रसाद युग के पूर्वार्ध के नाटको के लिए वरदान बन कर आये है। यह भारतीय नाट्य-पद्धति के अनुरूप भी है, क्योकि उसमें भी सूक्ष्म रंग-सकेत पर्याप्त समझे गये हैं। 'प्रसाद' ने आगे चल कर 'ध्रुवस्वामिनी' मे इब्सन के ढग पर विस्तृत रंग-सकेत की प्रणाली अपनाई है।

आज के नाटक मे सगीत और काव्य-तत्त्व का पूर्णत. बहिष्कार कर दिया गया है, किन्तु प्रसाद युग मे यह नाटक का एक अनिवार्य अंग था। पद्य, रागबद्ध गीतों अथवा काव्यत्वपूर्ण सवादो से इस युग के नाटक भरे पड़े हैं। इस तत्त्व का सतुलित उपयोग अभिनय की दृष्टि से आवश्यक है। अभिनेय नाटक में पद्य-संवाद अथवा काव्यत्वपूर्ण संवादो को कम से कम रखा जाना चाहिए। सत्य तो यह है कि नाटक को अभिनेय बनाने के लिए

इनका निषेध आवश्यक है। गीत भी दो-तीन से अधिक नहीं होने चाहिये।

किसी भी रंगोपयोगी नाटक में पात्रों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए, क्योंकि किसी भी अव्यावसायिक संस्था के लिए अधिक संख्या में कलाकारों को, विशेषकर स्त्री-कलाकारों को जुटाना संभव नहीं होता। कलाकारों का मिथ्याभिमान, रागद्वेष, तुनकमिजाजी, बहानेबाजी आदि इस प्रकार की नाट्यसंस्था के परिचालक के लिए सदैव सिर-दर्द के विषय रहते हैं, फिर हिन्दी-क्षेत्र में अपेक्षित संख्या में स्त्री-कलाकारों को मंच पर लाना सदैव एक टेढ़ी खीर रहा है। ऐसी दशा में पात्रों की संख्या दस-बारह से अधिक नहीं होनी चाहिए, जिनमें स्त्री-पात्र दो या तीन से अधिक न हों। प्रसाद युग के नाटकों में प्रायः तीस से लेकर पचास तक पात्र आते रहे हैं, जिनमें स्त्री-पात्रों की संख्या भी प्रायः ८-१० से ऊपर रहती थी। निश्चय ही इतनी बड़ी संख्या में कलाकारों को एकत्र कर नाटक खेलना प्रत्येक नाट्य-संस्था के वश की बात नहीं है।

इस सप्त-सूत्री कसौटी के प्रथम पाँच तत्वों और अन्तिम तत्व के आधार पर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त मौर्य' तक के समस्त नाटकों और शेक्सपियर से प्रभावित उनकी इस बहुदृश्यीय नाट्य-पद्धति पर लिखे गये इस युग के अन्य नाटकों को सरलता से कसा जा सकता है, किन्तु छठा तत्व उनके 'ध्रुवस्वामिनी' और इसी वर्ग के लक्ष्मी-नारायण मिश्र आदि के नाटकों पर ही घटित होता है। प्रसाद अपने जीवन के अन्तिम काल में इब्सन के प्रभ-विष्णु 'नाटकीय यथार्थवाद' से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं[११] और साथ ही उनकी विशिष्ट नाट्य-पद्धति से भी।[१२] यह नाट्य-पद्धति नाटक के बाह्य रूप – 'फार्म' से सम्बन्धित थी, जिसमें एक ओर विस्तृत प्रतीकवादी रंग-संकेत और दूसरी ओर एक अंक में एक दृश्य के विधान की व्यवस्था थी। एकाकदृश्यीय नाटक में स्थान-काल और कार्य का संकलन सरलता से हो जाता है। इब्सन का 'नाटकीय यथार्थवाद' जीवन की किसी भी समस्या के बौद्धिक विश्लेषण एवं बौद्धिक समाधान पर आधारित था। प्रसाद ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में बाह्य रूप एवं विषय, दोनों दृष्टियों से इब्सन का अनुकरण किया है। वाह्यतः प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में एक अंक में एक ही दृश्य रखा है और प्रतीकात्मक रंग-संकेतों द्वारा ध्रुवस्वामिनी के तद्वत् भावों का उद्रेक दिखलाया गया है। इब्सन की नाट्यकला की अन्तरंग विशेषताओं को ग्रहण कर वस्तु-विन्यास की प्रत्यावर्तन-पद्धति (फ्लैश बैक मेथड) पर कार्य की चरमसीमा से कथा प्रारम्भ करने और विवाह तथा मोक्ष की समस्या पर विवाद कर बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।[१३] अनेक प्रयोगों के बाद 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद की नाट्य-कला और रंगमंच-सम्बन्धी उनके विचारों की चरम परिणति देखी जा सकती है। अपने पूर्ववर्ती नाटकों की भाँति इसमें भी प्रसाद ने भारतीय फलागम की पद्धति और रस-सिद्धान्त का निर्वाह करने का सफल प्रयास किया है।[१४]

प्रसाद मुख्यतः भारतीय उपकरणों से ही बने थे और उनके नाटकों पर इसी भारतीयता की छाप है। भरत के रस-सिद्धान्त, भारतेन्दु के ओज, व्यंग्य और माधुर्य, द्विजेन्द्र की स्वच्छन्दधर्मिता एवं भावुकता और रवीन्द्र के काव्यत्व, प्रतीकवाद और तत्त्व-दर्शन का प्रसाद पर गहरा प्रभाव पड़ा है। नाट्य-विधान और रंगमंचीय आव-श्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रसाद ने भरत नाट्य-विधान तथा पश्चिम से शेक्सपियर और इब्सन के नाट्य-विधानों को लेकर[१५] अनेक प्रयोग किए और यथासंभव समन्वय की भी चेष्टा की है। इब्सन का एकांकप्रवेशी नाट्य-विधान पश्चिम के लिए नवीन प्रयोग है, किन्तु भारत के लिए यह भी कोई नवीन वस्तु नहीं है, क्योंकि भरत के नाट्य-विधान में केवल अंकों की ही व्यवस्था है, दृश्यों की नहीं। हाँ, प्रवेशक या विष्कम्भक द्वारा पूर्ववर्ती या अन्तर्वर्ती कथा कहने अथवा अगले अंक के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने का काम अवश्य लिया गया है, जिन्हें दृश्य कहना उचित न होगा, क्योंकि उनकी सत्ता अंकों से पृथक् अनुभूत की जा सकती है, यद्यपि वे स्वयं अंक के समान महत्त्वपूर्ण नहीं होते।

प्रसाद की रंग-परिकल्पना · प्रसाद के रग-विधान को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके नाटको की रंग-सज्जा पर विचार कर लिया जाय। घटनाओ के आरोह-अवरोह, तीव्र कार्य-व्यापार, कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, रस आदि की दृष्टि से 'स्कदगुप्त' प्रसाद का एक उत्कृष्ट नाटक माना जाता है, किन्तु इसका दृश्य-विधान मचोपयुक्त है या नही, यह एक विवाद का विषय है। किन्तु यह विवाद इसलिए है कि समीक्षक या निर्देशक नाटक की रग-सज्जा के सम्बन्ध मे अपनी, विशेष कर वस्तुवादी रग-कल्पना का आरोप करना चाहते है। यदि हम प्रसाद के इस अभिमत को सदैव दृष्टि में रखें कि नाटको के लिए रगमच की रचना होनी चाहिए, न कि रगमच के लिए नाटक लिखे जाने चाहिए,[३१] तो हम प्रसाद के नाटको की रग-कल्पना के निकट पहुँच सकते हैं। प्रसाद के सामने पारसी-हिन्दी रगमच अपने चित्रांकित परदो, फ्लैटो, सीन-सीनरी, रग-सामग्री, ट्रिक-सीनो आदि के व्यय-साध्य साधनों के साथ वर्तमान था, किन्तु इसमे कृत्रिमता, कौतूहल और चमत्कार की भावना अधिक, यथार्थवाद की मात्रा कम थी। दूसरी ओर इब्सन युग (उन्नीसवी शती का अत और अनतर) की वस्तुवादी रग-सज्जा भी पारसी-हिन्दी रगमच की अपेक्षा कम व्यय-साध्य नही थी। तीसरी ओर बँगला रगमच पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर वस्तुवादी रगसज्जा का निरस्कार कर सादगी और नवीनता, अभिनय की स्वाभाविकता और सजीवता पर अधिक जोर दे रहे थे। प्रसाद के रग-विधान को देख कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे भी रवीन्द्र की भाँति वस्तुवादी रंग-सज्जा की जगह सादी अथवा प्रतीक-सज्जा के पक्षधर थे। यही कारण है कि उन्होने अपने नाटको की घटनाओ का रूप-विधान इस ढग से किया है कि कथा की गति किसी एक साँचे मे फँस कर अवरुद्ध न हो, उसका प्रवाह घटना के आरोह-अवरोह के साथ निर्बाध गति से चलता रहे। उनके प्रत्येक दृश्य को पृष्ठभूमि मे केवल एक काला या नीला पृष्ठ-पट या यवनिका का उपयोग कर अथवा चित्रांकित परदों को दृश्यानुसार बदल कर अथवा यदि कही प्रतीक-सज्जा अभिप्रेत हो, तो सादे पृष्ठ-पट के साथ स्कधावार, दुर्ग, प्रासाद, प्रकोष्ठ आदि के प्लाईवुड के तदनुसार चित्रित लघु प्रतीको को खडा कर सामाजिक की रग-कल्पना को जागृत किया जा सकता है। आधुनिक रगदीपन-योजना, विशेषकर आलोक-चित्रो के उपयोग से अनेक दृश्यो को व्यावहारिक रूप मे दिखाया जा सकता है। प्रसाद की वस्तुवादी सज्जा के लिए परिक्रामी या शकट (वैगन) रगमच की आवश्यकता होगी, जो हिन्दी-प्रदेश मे जबलपुर बम्बई[३२] और कलकत्ता के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नही है।

उपर्युक्त रग-विधान को दृष्टि में रखकर 'स्कन्दगुप्त' ही नही, प्रसाद का प्रत्येक नाटक अभिनीत किया जा सकता है। उनके अभिनय के मार्ग मे जो कठिनाइयाँ हैं, वे उनके नाट्य-शिल्प के कारण हैं, दृश्य-विधान अथवा रंग-शिल्प के कारण नही। संक्षेप मे, वे कठिनाइयाँ हैं—नाटकीय कथावस्तु की दीर्घसूत्रता, लम्बे संवाद और स्वगत, भाषा की दुरूहता एव अपरिवर्तनशीलता, गीतों की अधिकता और शेक्सपियर के नाटको की भाँति पात्रो का बाहुल्य। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (२१४ पृष्ठ), 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' (१६५ पृष्ठ) और 'अजातशत्रु' (१३५ पृष्ठ) लम्बे नाटक हैं, किन्तु शेष नाटक छोटे हैं और उन्हे तीन घटे के भीतर खेला जा सकता है। इन बड़े नाटको को भी अनावश्यक दृश्य हटा, लम्बे संवादो और स्वगत को कम कर, गीतो की सख्या घटा और अनावश्यक पात्रो को निकाल कर छोटा और रगोपयोगी बनाया जा सकता है। इससे घटनाओ मे एकसूत्रता आ जायगी और अनावश्यक वस्तु-विस्तार का भय जाता रहेगा। अभी कुछ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध रगकर्त्री एव निर्देशिका शान्ता गाँधी ने 'स्कन्दगुप्त' के कुछ पात्रो, गीतो एव पद्य को कम कर, कुछ दृश्य काट और कुछ नये दृश्य जोड़कर उसकी एक सुन्दर रगावृत्ति तैयार की है।[३३] उसमें कुछ रंग-निर्देश भी उपस्थापन की सुविधा के लिए जोड़ दिए गये हैं। किन्तु नाटक में कतर-ब्योत का यह विचार मराठी रंगमच की उस भावना के प्रतिकूल है, जिसमें वहाँ की नाट्य-कृतियो को यथारूप प्रस्तुत करने मे निर्देशक गौरव का अनुभव करता है। यह इसलिए सम्भव है कि मराठी में रगमंच की एक दीर्घ परम्परा रही है, जबकि प्रसाद युग में आकर हिन्दी का नवीन नाट्यमच प्रयोगा-

वस्था से आगे न बढ़ सका, अतः हिन्दी रंगमंच के विकास और प्रसाद युग के नाटकों के उपस्थापन के लिए उनमें कुछ काट-छाँट आवश्यक है।

'अजातशत्रु' में लम्बे संवाद, स्वगत और गीत अधिक हैं। स्वगत एक पृष्ठ या अधिक तक के हैं। इसमें १४ गीत और ८ पद्य हैं। 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में स्वगत छोटे हो गये हैं, जो प्रायः आधे या पौन पृष्ठ तक के हैं। गीतों की संख्या भी उत्तरोत्तर घटी है। 'स्कन्दगुप्त' में १५ गीत और २ पद्य हैं, जबकि 'चन्द्रगुप्त मौर्य' में केवल १२ गीत हैं, पद्य एक भी नहीं। इन तीनों नाटकों में पात्र-संख्या अधिक है, इसीलिए पात्रों को कम करने के लिए उनका वध या आत्मघात कराना पड़ा है। पात्रों की बहुलता के कारण कथा का विकास भी शिथिल और जटिल हो जाता है और अभिनय की एकसूत्रता और समरस प्रभाव में व्याघात पैदा होता है, अतः कथानक और अभिनय को प्रभावशाली बनाने के लिए अप्रासंगिक पात्रों को हटाया जा सकता है।

प्रसाद की भाषा को दुरूह, अपरिवर्तनशील और अभिनयोपयोगी-चापल्यहीन बताया गया है। अरबी-फ़ारसी-लदी उर्दू यदि रंगमंच के लिए दुरूह, जड़ अथवा अगतिशील नहीं है, तो शुद्ध हिन्दी रंगमंच के लिए उपयुक्त क्यों नहीं हो सकती, उसमें प्रवाह, ओज, विनोद और चापल्य क्यों नहीं हो सकता और ये सभी गुण प्रसाद की भाषा में है। उसमें इसके अतिरिक्त रस और माधुर्य भी है। वाक्-वैचित्र्य और संवादोचित वक्रता भी है। स्वयं प्रसाद भी इस बात को मानते रहे हैं कि यदि पारसी मंच पर उर्दू के संवादों पर, अपरिचय के बावजूद, प्रेक्षक दस बार तालियाँ पीटते हैं, तो फिर संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को वे क्यों नहीं समझ सकते? वे यह भी मानते थे कि भाषा की सरलता अथवा दुरूहता भावों और विचारों पर आधारित है।[१०४] पात्रानुकूल भाषा का आदर्श भी उन्हें मान्य न था, फलतः उनके सभी पात्र—छोटे हों या बड़े, स्त्री हों या पुरुष, कवि हों या विदूषक, एक-सी ही समरस भाषा बोलते हैं। प्रसाद की नाटकीय अनुभूति इतनी विशद और गहरी थी, जिसे सामान्य शब्द अथवा बोलचाल की सरल भाषा में सम्भवतः व्यक्त नहीं किया जा सकता था। इससे भाषा की सुबोधता और व्यावहारिकता का बोध भले ही न हो, किन्तु यह भाषा नाट्य-कथा के युग की महनीयता और गाम्भीर्य, अर्थवत्ता और संस्कारों का बोध भलीभाँति करा सकने में सक्षम प्रतीत होती है। प्रसाद की भाषा बोझिल और जटिल केवल वहीं होती है, जहाँ काव्य या भावुकता और दर्शन या तत्त्व-चिन्तन का आग्रह है। फिर शब्द तो केवल शरीर है, उसकी आत्मा तो वह भाव या कार्य है, जिसे अभिनय सजीव रूप में सामने प्रस्तुत करता है, अतः शब्द की दुरूहता को भी उपस्थापन के लिए बाधक नहीं माना जा सकता। प्रसाद के अधिकांश संवाद सरल और बोधगम्य हैं, किन्तु अपनी उक्ति की वक्रता से एक चमत्कार, एक छलावा अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

प्रसाद अपने युग के प्रतिनिधि नाटककार हैं और उन्होंने अपने नाटकों द्वारा नाटक और रंगमंच को एक नयी दिशा देने की चेष्टा की, यद्यपि रंगमंच के क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता न मिल सकी। नाटक के क्षेत्र में उनका अनुकरण कुछ दूर तक अवश्य हुआ, किन्तु प्रसाद के जीवन-काल में ही उनके नाटकों की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई, जिसका नेतृत्व लक्ष्मीनारायण मिश्र ने किया। यह प्रसाद के विषय, भाषा, भावुकता, दार्शनिकता एवं आदर्शवाद के विरुद्ध विद्रोह था, जो सामान्य किन्तु सशक्त भाषा में बौद्धिक यथार्थवाद को लेकर खड़ा हुआ। इन दो धाराओं के बीच प्रसाद-धारा की दो सह-धाराओं का संगम भी होता है, जिसका उल्लेख इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है। इनमें प्रथम सह-धारा के देवीप्रसाद 'पूर्ण', मिश्रबन्धु आदि नाटककारों की कृतियाँ रंगमंच की दृष्टि से अधिक महत्त्व की नहीं हैं, अतः यहाँ हम केवल उन्हीं नाटककारों और उनकी उन्हीं कृतियों का मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे, जिनका या तो अभिनय हो चुका है अथवा जो हिन्दी के नवीन रंग-शिल्प के अनुसार अभिनेय हैं।

प्रसाद और युगीन नाटकों का रंगमंचीय मूल्यांकन

(१) जयशंकर प्रसाद (१८८८–१९३७ ई०)– बहुमुखी प्रतिभा के धनी नाटककार जयशंकर 'प्रसाद' ने 'राज्यश्री' (१९१५ ई०) के अतिरिक्त सात पूर्णाङ्ग नाटक लिखे हैं – 'विशाख' (१९२१ ई०), 'अजातशत्रु' (१९२२ ई०), 'कामना' (१९२३-२४ ई०), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२६ ई०), 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' (१९२८ ई०), 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१९३१ ई०) और 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३ ई०) ।

राज्यश्री : यह प्रसाद का प्रथम ऐतिहासिक लघु नाटक है, जिसके कई सस्करण निकल चुके हैं। अपने परिवर्तित और परिवर्धित रूप मे नाटक के रग-विघान और वस्तु-विन्यास मे यह प्रकट होने लगता है कि प्रसाद का नाटककार प्रौढता की सीढी पर कदम रख रहा है।"' भाषा भी अधिक परिमार्जित, अभिव्यजनापूर्ण, सरस और वक्रतापूर्ण बन गई है ।

६५ पृष्ठ के इस परिवर्धित नाटक मे पहले के तीन अकों की जगह अब चार अक हैं और प्रत्येक अक में क्रमश: सात, सात, पाँच और चार दृश्य हैं, जो सख्या द्वारा सूचित किये गये हैं। प्रत्येक दृश्य पात्र या पात्रों के प्रस्थान पर अथवा मच पर अन्धकार होने अथवा अंक के अन्त मे यवनिका डालने पर समाप्त होता है। दृश्य छोटे-छोटे हैं और कुछ तो एक, डेढ या दो पृष्ठों से अधिक के नही हैं। यह नाटक सादे परदो पर प्रतीक-सज्जा के साथ अथवा परिक्रामी रंगमंच पर दो घंटे मे खेला जा सकता है। इसमें सात गीत हैं, जो नाटक की लघुता को देखते हुए अधिक हैं। परवर्ती सस्करण आकाशभाषित तथा पद्य-संवादो से नितान्त मुक्त हैं, जिससे यह बेताबयुगीन नाटकों की धारा से पृथक् हो जाता है।

विशाख : 'विशाख' प्रसाद का दूसरा ऐतिहासिक नाटक है। 'राज्यश्री' की भाँति ८० पृष्ठ के इस नाटक के भी कई संस्करण निकल चुके हैं। नाटक की भाषा मँजी हुई और प्रौढ़ है, किन्तु संवादों मे पारसी-हिन्दी नाटको के ढग पर कहीं-कहीं तुक मिलाने की चेष्टा की गई है और सर्वत्र उच्च स्तर के नहीं हैं। पद्य-संवाद भी हैं। विविध ऐतिहासिक कथा-सूत्रों को अपनी प्रगल्भ कल्पना से एक सूत्र मे पिरो दिया गया है, यद्यपि उसमें विशेष उतार-चढाव की गुंजाइश नहीं है। प्रसाद ने प्रणय की एकनिष्ठा, राजकोप एवं राज्यक्रान्ति द्वारा समाज, धर्म और राष्ट्र की विकृति को दूर करने का प्रयास किया है।

तत्कालीन नव्य रंगमच पर राजभवन में अग्नि लगने आदि के दृश्य दिखाना यद्यपि सम्भव न था, किन्तु अब आधुनिक वस्तुवादी रंगमंच पर यह सभी कुछ रंगदीपन द्वारा दिखलाया जा सकता है, अतः तत्कालीन दृष्टि से अनभिनेय होते हुए भी इसका अभिनय कुछ आवश्यक परिवर्तनो के साथ सम्भव है। इसे काशी के थियो-सोफिकल गर्ल्स स्कूल की बालिकाओं द्वारा सन् १९३२ या पूर्व खेला जा चुका है।

अजातशत्रु : १३५ पृष्ठ के इस नाटक में केवल तीन अंक हैं और प्रत्येक अंक मे क्रमशः नौ, दस और नौ दृश्य हैं। दृश्य बदलने मे 'पट-परिवर्तन' अथवा 'पटाक्षेप' की पद्धति के साथ पात्रों के प्रस्थान की पद्धति भी अप-नाई गई है। प्रत्येक अक के अन्त में यवनिका गिरती है। प्रारम्भ एक आकस्मिक घटना से होता है, जिससे औत्सुक्य-वर्धन के साथ नायक अजात के अधिकार-मद, क्रोध और क्रूरता का भी आभास मिलता है, किन्तु अन्त में समस्त विकारो का शमन हो जाता है और उसका पिता बिम्बसार अजात और उसकी कुचक्री माता छलना, दोनो को क्षमा कर देता है। अन्त मे आलोक के बीच गौतम बुद्ध का प्रकट हो आशीर्वाद देने का दृश्य 'टेबला' के ढंग पर दिखलाया गया है। प्रथम अक के अन्त में 'टेबला' के साथ मागधी के महल मे अग्नि लगने का दृश्य रग-दीपन की विशिष्ट पद्धति से प्रदर्शित करना होगा। यह दृश्य तत्कालीन रगमंच पर दिखाना सम्भव न था।

नाटक में लम्बे सम्वाद, लंबे स्वगत, पद्य और गीत बड़ी संख्या में आये हैं। स्वगत का प्रयोग प्रायः पात्रों

के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने के लिए किया गया है। तीसरे अंक में मागंधी और बिम्बसार के स्वगत (पृ० १४९ और १५४-५५) इसी प्रकार के हैं। पात्रों की संख्या बहुत अधिक है। स्त्री-पुरुष कुल मिलाकर ३३ से अधिक पात्र हैं। एकाध स्थल पर भाषा में बनारसीपन है, यथा 'कालिख लग गया' (पृष्ठ १११)। कुल मिलाकर संवाद अत्यन्त पुष्ट, ओज और माधुर्य गुण से युक्त, सरस और भावानुकूल हैं। यथोचित दो-चार शब्दों को लेकर उन पर जटिलता या दुरूहता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। गीतों की भाषा छायावादी होने के कारण अवश्य जटिल है, अतएव उसे नाटकोचित नहीं कहा जा सकता। ऐसे सभी गीतों को निकाल देना आवश्यक है।

इस नाटक का अव्यावसायिक रंगमंच द्वारा कई बार अभिनय किया जा चुका है।

कामना 'कामना' 'प्रसाद' का सामाजिक प्रतीक नाटक या रूपक है। 'अजातशत्रु' की भाँति इसमें भी तीन ही अंक हैं, जिनमें से प्रत्येक में क्रमशः छ, आठ और आठ दृश्य हैं। दृश्य-परिवर्तन के लिए 'अजातशत्रु' की प्रणाली का ही अनुसरण किया गया है। फूलों के द्वीप के तट पर प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में विलास को लेकर नौका के आने और अन्तिम अंक के अन्तिम दृश्य में उस नौका के प्रस्थान के लिए विशेष दृश्यों का आयोजन पुस्त और विशिष्ट रंग-दीपन द्वारा करना होगा, जो कुशल रंग-शिल्पी के लिए कठिन नहीं है।

कुछ स्थलों को छोड़ कर जहाँ संवादों की भाषा कविता के आग्रह अथवा भावाक्रान्त होने के कारण कुछ काव्यपूर्ण अथवा बोझिल है, अन्यत्र भाषा सरल और प्रसंगानुकूल है। स्वगतों के अतिरिक्त, जो प्रायः बड़े या पौन या एक पृष्ठ तक के हैं, शेष स्थलों पर संवाद छोटे और अर्थपूर्ण हैं। एक गीत[¹¹] के अतिरिक्त अन्य गीतों की भाषा भी सरल, चंचल और भावपूर्ण है। 'छिपाओगी कैसे, आँखें कहेंगी', 'सघन वन-वल्लरियों के नीचे' आदि गीत अत्यन्त सरस बन पड़े हैं। नाटक में कुल नौ गीत हैं, जिनमें अन्तिम गीत पारसी-शैली की कोरस-प्रार्थना है – 'खेल लो नाथ, विश्व का खेल।'

जनमेजय का नागयज्ञ . यह प्रसाद का एकमात्र पूर्णाङ्ग पौराणिक नाटक है, जिसमें नांदी, प्रस्तावना आदि का समावेश तो नहीं है, किन्तु अन्त में गद्य में भरत-वाक्य और 'कामना' की ही भाँति पारसी ढंग का गान है – 'जय हो उसकी, जिसने अपना विश्वरूप विस्तार किया'। इस त्रिअंकी नाटक में क्रमशः सात, आठ और आठ दृश्य हैं, जिनमें कुछ दृश्य बहुत छोटे, कोई-कोई सवा पृष्ठ तक के हैं।[¹²] ९७ पृष्ठ के इस नाटक में कुल दस गीत हैं, जिनमें दो नेपथ्य-गान हैं। सरमा कुल तीन गीत गाती है।

प्रसाद के इस नाटक में सर्वप्रथम पश्चात्-दर्शन (फ्लैश बैक) - पद्धति पर प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ऋषि जरत्कारु की पत्नी मनसा द्वारा खाडव वन के जलने के पूर्व अर्जुन और श्रीकृष्ण की वार्ता दिखलाई गई है, जिसे 'ट्रांसफर मीन' द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। इस नाटक की दूसरी विशेषता है – स्त्री द्वारा पुरुष-वेशान्तर। तीसरे अंक के छठे दृश्य में मणिमाला पुरुष-योद्धा के छद्मवेश में अवतीर्ण होती है। यह प्रसाद पर स्वच्छन्दतावादी नाटक का प्रभाव है। नाटक में स्वगत की भरमार है।

वेदव्यास की भविष्यवाणी[¹³] और पुरोहित सोमश्रवा की वाग्दत्ता पत्नी शीला द्वारा मणिमाला के साम्राज्ञी होने के सम्बन्ध में हँसी-हँसी में संकेत[¹⁴] से सामान्यतः सामाजिक के औत्सुक्य में व्याघात पड़ता है। कुल मिलाकर नाटक अभिनेय है।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य : १६७ पृष्ठ के इस पंचांकी नाटक के विस्तार का जो भी कारण हो, रंगमंचीय दृष्टि से कथावस्तु बड़ी और पात्र-संख्या अधिक है। उपस्थापन के लिए कतर-ब्योंत करना आवश्यक है और इस प्रकार की कतर-ब्योंत के बाद इसका कई बार अभिनय किया जा चुका है। पाँचवें अंक के छठे दृश्य, मालव की अवान्तर कथा तथा शर्वनाग, धातुसेन, चक्रपालित, रामा, मातृगुप्त आदि के छोटे-छोटे प्रसंगों को हटा या कम कर

एक सुश्रृंखलित नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से इस नाटक की शांता गाँधी द्वारा प्रस्तुत रंगावृत्ति का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस नाटक में अंकों को दृश्यों में नहीं बाँटा गया है और पात्रों के प्रस्थान, पट-परिवर्तन और स्थान-संकेत से दृश्यों का आभास मिल जाता है और इस प्रकार प्रत्येक अंक में क्रमशः सात, सात, छः, सात और छः दृश्य हैं। प्रत्येक अंक के अन्त में पटाक्षेप होता या यवनिका गिरती है और तीसरे अंक के अन्त में स्कंद और उसके सैनिक कुभा के बढ़ते हुए जल में बहते दिखाई पड़ते हैं और फिर अन्धकार हो जाता है। रंगदीपन की आधुनिक प्रविधि द्वारा इसे सरलता से दिखाया जा सकता है।

'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' की भाषा रसानुकूल उतार-चढ़ाव से युक्त है। कुछ भावपूर्ण अथवा काव्याग्रह-युक्त स्थलों को छोड़ कर संवादों में नाटकीय गत्यात्मकता सहज रूप में मिलती है। स्वगत और गीतों का बाहुल्य कथा-प्रवाह में कुछ अवरोध अवश्य पैदा करता है, किन्तु अनावश्यक स्वगतों और गीतों को हटा या कम करके नाटकीय सौन्दर्य की अभिवृद्धि की जा सकती है। उक्त रंगावृत्ति में कई गीत एवं नृत्य हटा दिये गये हैं।

नाटक में पारसी-पद्धति के 'टेबला' (झाँकी) का भी कुछ दृश्यों के अन्त में प्रयोग हुआ है। तृतीय अंक के दूसरे दृश्य, चतुर्थ अंक के दूसरे दृश्य और पाँचवें अंक के छठे दृश्य के अंत में इसी प्रकार की चित्रोपम झाँकी प्रस्तुत की गई है।

चन्द्रगुप्त मौर्य . यह प्रसाद का सबसे बड़ा नाटक है, किन्तु 'स्कन्दगुप्त' के विपरीत इसमें केवल चार ही अंक हैं। प्रत्येक अंक में क्रमशः ११, १०, ९ और १४ दृश्य हैं, जो केवल संख्या द्वारा इंगित किये गये हैं। दृश्य बदलने के लिये पात्रों के प्रस्थान के साथ पट-परिवर्तन की योजना भी समाहित है, क्योंकि कुछ स्थलों पर पात्र मंच पर ही बने रहते हैं, जबकि उनका कार्य समाप्त हो चुका रहता है, अतः परदा बदल कर ही उन्हें मंच से हटाया जा सकता है, यद्यपि नाटक में सर्वत्र पट-परिवर्तन का संकेत नहीं दिया गया है। अंक के अन्त में 'पटाक्षेप' या 'यवनिका' का प्रयोग किया गया है।

नाटक में काल-विस्तार के कारण कथा का अनावश्यक विस्तार हो गया है। इसमें लगभग २५ वर्ष की घटनाओं को एक सूत्र में पिरोने की चेष्टा की गई है, जो नाटकीय दृष्टि से उचित नहीं है।

तत्त्व-निरूपण अथवा भावावेश के स्थलों को छोड़ कर, जहाँ भाषा कुछ अव्यक्त, दुरूह अथवा काव्यात्मक हो उठी है, अन्यत्र संवाद छोटे, संतुलित और बोधगम्य हैं। स्वगत इसमें अपेक्षाकृत कुछ छोटे हैं और गीतों की संख्या भी घटी है। अधिकांश गीत छायावादी शैली के होने के कारण अत्यन्त भावपूर्ण और उच्च कोटि के है, किन्तु मंचोपयोगी नहीं हैं।

अन्य पूर्ववर्ती नाटकों की भाँति प्रसाद ने इस नाटक में भी दृश्यांत में कुछ चित्रोपम झाँकियाँ (टेबला) सँजोयी है, यथा प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य, तृतीय अंक के तीसरे दृश्य और चतुर्थ अंक के पहले, बारहवें और चौदहवें दृश्यों के अन्त में, किन्तु प्रस्थान अथवा चलने का संकेत देकर कुछ दृश्यों को निमिष मात्र में हिला भी दिया गया है, जिससे वे चित्र ही बन कर न रह जायें। तृतीय अंक के तीसरे दृश्य और चतुर्थ अंक के बारहवें दृश्यों के अन्त के चित्र इसी कोटि के हैं।

'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' की भाँति 'चन्द्रगुप्त मौर्य' भी कई बार मंचस्थ किया जा चुका है। एक बार इसका अभिनय हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस में भी हुआ था।[३१८]

'ध्रुवस्वामिनी' : इस लघु नाटक में तीन अंक हैं और कोई दृश्य-विभाजन नहीं है। प्रसाद ने इब्सन शैली के प्रयोग के रूप में यह नाटक लिखा है, क्योंकि यह उनका अन्तिम और उस काल का नाटक है, जब लक्ष्मीनारायण मिश्र इब्सन के अनुकरण पर समस्या-नाटक लेकर अवतीर्ण हो चुके थे। यह उनका सर्वोत्तम रंगमंचीय नाटक है, जिसमें अभिनय की आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखा गया है। केवल दो परदों या दृश्यबन्धों पर नाटक खेला जा

सकता है, जिनमें एक पार्वत्य पृष्ठभूमि में युद्ध-शिविर, दूसरा शकराज के दुर्ग के दालान और या प्रकोष्ठ का होना चाहिये। नाटक में स्थान, काल और वस्तु की एकता के कारण संकलन-त्रय का अच्छा निर्वाह हुआ है।

विवाह और मोक्ष की समस्या का प्रसाद ने शास्त्र-सम्मत समाधान प्रस्तुत किया है, जो इसे समस्या-नाटकों की कोटि में ले आता है। इसी के साथ दुर्बल और अयोग्य शासक की समस्या भी उठाई गई है, जिसके लिये प्रसाद का मत है कि उसे सिंहासन-च्युत कर देना चाहिये।

'ध्रुवस्वामिनी' कई बार मंचस्थ हो चुका है। इसमें स्वगत कम हैं और भावोद्वेग या अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने के लिये ही आये हैं। भाषा अधिक संयत और मंचोपयोगी और संवादों में काव्यात्मकता से पीछा छुड़ाने में प्रसाद बहुत-कुछ सफल हो सके हैं। अधिकांश संवाद भावावेश, वक्रता और नाटकीय व्यंजना से भरे पड़े हैं। गीत है, किन्तु कम, कुल चार।

नाट्य में रंगसज्जा तथा वेश-भूषा के विवरण, रंग-संकेत आदि पूर्ववर्ती सभी नाटकों की अपेक्षा विस्तार से दिये गये हैं।

(२) मैथिलीशरण गुप्त (१८८६-१९६४ ई०) – मैथिलीशरण गुप्त मूलतः कवि हैं, किन्तु उन्होंने कुछ नाटक लिखे और अनूदित भी किये हैं, जिनमें 'अनघ' (१९२८ ई०) एक बड़ा गीति-नाट्य है, जो रंग-शिल्प की दृष्टि से विचारणीय है

'अनघ' प्रसाद-कृत 'करुणालय' (१९१२ ई०) की गीति-नाट्य शैली के क्रम में दूसरा नाटक है, जो कई दृश्यों में है। इसमें अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य संघर्ष का युगपत चित्रण बड़े कौशल के साथ किया गया है। नाटक का काव्य कुछ स्थलों को छोड़ कर प्रायः सामान्य स्तर का है। दृश्यों का नामकरण कर स्थान या कार्य-स्थल का संकेत भी दिया गया है, यथा अरण्य, चौपाल, उद्यान, मघ का घर, मधुवन, कारागार, राजधानी, न्याय-सभा आदि।

कार्य-व्यापार की अधिकता के कारण वस्तु-विन्यास विशृंखल नहीं होने पाया है। इसका अभिनय किया जा सकता है।

(३) शिवरामदास गुप्त – उपन्यास बहार आफिस, काशी के संस्थापक शिवरामदास गुप्त ने कई रंगमंचीय नाटक लिखे और अपनी संस्था से अपने तथा अन्य अनेक नाटककारों के नाटक प्रकाशित किये। संगीत, अभिनय आदि सभी कार्यों में उन्हें दक्षता प्राप्त रही है। उनके नाटकों पर आगा 'हश्र' और बंगला नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव है।[११] शिवरामदास के प्रमुख मौलिक नाटक हैं–'समाज का शिकार' (१९१३ ई०), 'चिराग़े चीन और अलाउद्दीन' (१९२५ ई०), 'हिन्दू ललना' (१९२६ ई०), 'आजकल', 'परिवर्तन या दुरंगी दुनिया' (१९-३१ ई०), 'पहली भूल' (१९३२ ई०), 'दौलत की दुनिया' (१९३३ ई०), 'जवानी की भूल' (१९३३ ई०), 'स्वार्थी संसार' (१९३४ ई०), 'ग़रीब की दुनिया' (१९३६ ई०), 'धर्मात्मा', 'बलिदान', 'हिन्दू महिला', 'रामलीला' और 'देश का दुर्दिन'।

इन नाटकों में 'हिन्दू ललना' मुंशी आरज़ू के सह-लेखन और 'आजकल' और 'परिवर्तन या दुरंगी दुनिया' नाटक किसी 'गुप्त' नामक लेखक के सह-लेखन में लिखे गये।[१२] इसके अतिरिक्त दो अन्य नाटक-'टीपू सुल्तान' और 'नई रोशनी' शिवदत्त मिश्र के सह-लेखन में लिखे गये।[१३]

शिवरामदास गुप्त ने कुछ नाटक हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के नाटकों के आधार पर भी लिखे। बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय के एक नाटक के आधार पर 'मेरी आशा' (१९२८ ई०) और मराठी-नाटककार रामगणेश गडकरी के 'एकच प्याला' के आधार पर 'ब्रज का चाँद' (१९३० ई०) की रचना की।[१४] उनका 'पशुबलि' (१९४० ई०) प्रभात के प्रसिद्ध चित्र 'अमृत-मंथन' पर आधारित है और 'धरती माता' (१९४२ ई०) प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास 'रंगभूमि' का नाट्य-रूपांतर है।[१५]

नागरी नाटक मडली द्वारा गुप्त जी के 'ग़रीब की दुनिया', 'पहली भूल', 'दूज का चाँद' आदि नाटक खेले जा चुके हैं।

(४) **हरिदास माणिक** –हरिदास माणिक शिवरामदास गुप्त की भाँति ही काशी-निवासी थे और सगीत, अभिनय आदि कलाओं में पारगत थे। वे नागरी नाटक मडली के मूल सस्थापकों में से एक थे। कहते हैं कि उनके अभिनय को देख कर सामाजिक उन पर गिन्नियों तक की बौछारें किया करते थे।[२११] उन्होंने कई मौलिक नाटको की रचना सस्कृत नाट्य-पद्धति पर की है–'सयोगिता-हरण अथवा पृथ्वीराज नाटक' (१९१५ ई०), 'पाडव प्रताप अथवा सम्राट् युधिष्ठिर नाटक' (१९१७ ई०), 'श्रवणकुमार' (१९२० ई०), 'सम्राट् युधिष्ठिर दिग्विजय' (१९२३ ई०), 'भक्त ध्रुव' (१९२५ ई०) और 'भक्त प्रह्लाद'। 'पाडव-प्रताप' का ७ जून, १९१२ को नागरी नाटक मडली, काशी द्वारा सफल अभिनय किया जा चुका है।[२१७]

इन नाटको मे नाँदीपाठ, भरतवाक्य आदि का प्रयोग किया गया है। प्राय सभी नाटक रगमच की आवश्यकताओ को दृष्टि मे रख कर लिखे गये हैं। सवाद भावानुकूल और सशक्त है। पारसी-शैली के अनावश्यक चमत्कार-विधान से बचने की चेष्टा की गई है। गीत सामान्य स्तर के हैं।

(५) **आनन्द प्रसाद कपूर** – आनन्द प्रसाद कपूर (खत्री) सिनेमा-भवन की व्यवस्थापकी से रगमच और नाटक-लेखन के क्षेत्र मे आये। हरिदास माणिक की भाँति वे भी कुशल अभिनेता और काशी-निवासी थे। अभिनेता के रूप मे वे नागरी नाटक मडली से सबद्ध थे। 'वीर अभिमन्यु' मे उनकी अर्जुन की भूमिका उत्तम और मुग्धकारिणी ही नहीं, बेजोड़ थी। उनके नाटको पर पारसी शैली के प्रभाव के कारण चमत्कारप्रियता, संवादो मे तुकातप्रियता आदि के दोष हैं, किन्तु भाषा परिमार्जित और नाटकोपयोगी है।

आनन्दप्रसाद कपूर ने 'सुनहला विष' (१९१९ ई०), 'विल्वमगल' (१९२१ ई०), 'भक्त सुदामा' (१९२३ ई०), 'अज्ञातवास नाटक' (१९२३ ई०), 'वेटिंग रूम' (१९२५ ई०), 'अत्याचार नाटक' (१९२६ ई०), 'ध्रुव-लीला' (१९२६ ई०), *'कृष्णलीला', 'परीक्षित' और 'सोडे की बोतल मूर्खानन्द'* मौलिक नाटक लिखे। उनका 'कलियुग' (१९१२ ई०) शेक्सपियर के 'किंग लियर' का और 'ससार-स्वप्न' (१९१३ ई०) आग़ा 'हश्र' के 'ख्वाबे-हस्ती' का अनुवाद है तथा 'गौतम बुद्ध' (१९२२ ई०) गुजराती के नृसिंह विभाकर के 'सिद्धार्थकुमार' और जगमोहन वर्मा के 'बुद्धदेव' के आधार पर लिखा गया है।

(६) **जी० पी० श्रीवास्तव (जन्म १८९१ ई०)** – हास्य-सम्राट् गगाप्रसाद श्रीवास्तव (जो जी० पी० श्रीवास्तव के नाम से प्रसिद्ध हैं) जब वकालत पढ रहे थे, तभी वे सन् १९१३ मे 'लम्बी दाढ़ी' लिख कर प्रसिद्ध हो गये। उनका प्रथम प्रहसन 'उलट-फेर' सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ। उन्होंने यद्यपि नाटक, उपन्यास, कहानी, लेख आदि सभी कुछ लिखे हैं, किन्तु हास्य-नाटककार के रूप में विशेष ख्याति अर्जित की है।

जी० पी० ने पश्चिम के नाट्याचार्यों के हास्य एव रगमंच-सम्बन्धी विचारो, शेक्सपियर तथा मोलियर के नाट्यादर्शों को ग्रहण कर अपनी नाट्य-कला का निर्माण किया। वे हास्य का रहस्य *या मूलाधार मानते हैं–व्यक्ति* का पतन, बेतुकापन तथा कठपुतलीपन और आज्ञा तथा अवसर की प्रतिकूलता।[२१८] वे नाटक मे पश्चिम के सघर्ष *तथा संकलन-त्रय के सिद्धात को आवश्यक मानते हैं।*

पाश्चात्य प्रभाव के बावजूद जी० पी० का हास्य बहुत उच्च कोटि का नही है। उनका हास्य पात्रों के विनोदपूर्ण नामकरण, शब्दों की तोड-मरोड़ एवं तुकबन्दी तथा भ्रान्तिकृत एवं अतिनाटकीय परिस्थितियों, विनोद-पूर्ण हास्य-पात्रों के सृजन तक ही सीमित है, यद्यपि इसी प्रकार के हास्य को सब कुछ मान कर उस समय उनके नाटकों एवं अन्य कृतियो की धूम मच गई। उनके कई प्रहसन खेले जा चुके हैं।

'उलटफेर' के अतिरिक्त उनके अन्य पूर्णांग नाटक हैं–'नोक-झोक' (१९१८ ई०), 'मर्दानी औरत' (१९२० ई०), 'नाक में दम' और 'जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियाँ की जूती मियाँ के सर' (१९२६ ई०), 'भूलचूक' (१९२८ ई०), 'जैसी करनी वैसी भरनी' (१९२८ ई०), 'लालबुझक्कड़' (१९३० ई०), 'चाल बेढब' (१९३४ ई०), 'साहित्य का सपूत' (१९३४ ई०), 'स्वामी चौखटानन्द' (१९३६ ई०), 'पतन या पैराडाइज लास्ट' (१९३७ ई०), 'लोक-परलोक' (१९५० ई०), 'भक्तिन' (१९५६ ई०) और 'लकड़भग्गा' (१९५७ ई०)।

जी० पी० श्रीवास्तव मोलियर को अपना नाट्य-गुरु मानते हैं[३४९] और उन्होंने मोलियर के नाटकों के आधार या अनुकरण पर मोलियर के हास्य और सामाजिक व्यंग्य को भारतीय पात्रों के माध्यम से, भारतीय वातावरण को अपना कर हिन्दी में लाने की चेष्टा की है। जी० पी० के गुरु सी० जे० ब्राउन के शब्दों में 'श्रीवास्तव ने जीवन को देखने का एक नया दृष्टिकोण दिया है, जो कम से कम भारत के लिए तो नया ही है, तथा उनके मोलियर के अध्ययन ने उन्हें हास्य को एक नया आयाम देने में समर्थ बनाया है। फिर भी कथ्य बहुत-कुछ भारतीय है। श्रीवास्तव गहरे पर्यवेक्षक हैं और उनमें सजीव संवाद लिखने की वास्तविक प्रतिभा है।'[३५०]

जी० पी० ने मोलियर के तीन नाटकों 'ल मेडिसा माल्गर लुई,' 'लअ मूर मेडिसा' तथा 'ल मेडिसा वोला' के क्रमश: 'मार-मार कर हकीम', 'आँखों में धूल' और 'हवाई डाक्टर' (१९१७ ई०) के नाम से अनुवाद किये। इसके अतिरिक्त मोलियर के 'ल मारिस फोर्स', 'जार्ज दादा', 'ल बुर्जआ जेन्टिलाम' तथा 'ले टूर्डो', (१६५५ ई०) नाटक क्रमश: 'नाक में दम' (१९२६ ई०), 'जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियाँ की जूती मियाँ के सर' (१९२६ ई०), 'साहब बहादुर' (१९२५ ई०) और 'लाल बुझक्कड़' (१९३० ई०) के नाम से अनूदित किये। इन छायानुवादों में मूल कृतियों के 'नाट्य-कौशल को सजीवता के साथ' व्यक्त किया गया है।[३५१] 'चाल बेढब' भी मोलियर का रूपान्तर है।

'जैसी करनी वैसी भरनी' में गरीबों का शोषण करने वाले बेईमान सूदखोर महाजन सूदीमल के हृदय-परिवर्तन की कथा कही गई है।

'लाल बुझक्कड़' के आधार पर सन् १९३९ में फिल्म भी बनाई जा चुकी है।[३५२] 'उलटफेर', 'नोक-झोक', 'मर्दानी औरत', 'भूलचूक', 'साहित्य का सपूत' आदि मौलिक नाटक हैं। 'उलटफेर' में मंगल-गान और प्रस्तावना का समावेश है, किन्तु विषय और संवाद-योजना पर मोलियर का प्रभाव है। इसमें ग्रामीण मुअक्किलों, वकीलों और आधुनिक न्यायालय को लेकर शिष्ट हास्य का सृजन किया गया है। नाटक के संवादों की भाषा उर्दू-फारसी के शब्दों की बहुलता से बोझिल बन गई है। नौकरों, अशिक्षितों, ग्रामीणों आदि के संवाद पूर्वी भाषा और अवधी में हैं।[३५३] संवाद हल्के हैं। 'आँखों में धूल' में प्रेमी एक ऐसे पिता (गोबरचन्द्र) की पुत्री से, पिता (भावी श्वसुर) को झाँसा देकर, विवाह कर लेता है, जो अपनी तरुण पुत्री का विवाह इसलिए नहीं करना चाहता कि वह शादी में रुपये भी दे और लड़की से भी हाथ धोये। 'भूलचूक' में विधवा-विवाह के औचित्य, 'साहित्य का सपूत' में साहित्यकार की दयनीय स्थिति तथा 'लकड़भग्गा' में ऋण की समस्या पर विचार किया गया है।

सामान्यत. उनके प्रहसनों में पूर्ण सुरुचि का अभाव है। उनकी कृतियों का ध्येय शिष्ट समाज की जगह प्राय: जन-साधारण का मनोरंजन करना है।

(७) सुदर्शन (१८९६-१९६७ ई०)–कथाकार सुदर्शन ने कुछ नाटक और सिनेमा नाटक भी लिखे हैं। इस युग में केवल सुदर्शन, प्रेमचन्द और सेठ गोविन्ददास ही ऐसे नाटककार हुए हैं, जिन्हें रंगमंच के साथ सिने-क्षेत्र में भी लोकप्रियता प्राप्त हुई है। सुदर्शन ने 'दयानन्द नाटक' (१९१७ ई०),'अन्जना' (१९२३ ई०) और 'भाग्यचक्र' (१९३७ ई०) नाटकों की रचना की। सुदर्शन के 'भाग्यचक्र' के आधार पर 'धूपछाँव' (१९३६ ई०) और सिकन्दर के आक्रमण की कथा पर 'सिकन्दर' (१९४१ ई०)[३५४] नामक फिल्में बन चुकी हैं। नाटक रूप में 'सिकन्दर' सन्

१९४७ में प्रकाशित हुआ। 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (१९२६ ई०) उनका एक सुन्दर प्रहसन (एकांकी) है, जिसमें केवल पाँच दृश्य हैं। इसमें खुशामद के आधार पर बने दो अवैतनिक न्यायाधीशों की मूर्खता का उपहास किया गया है। 'छाया' सुदर्शन का एक अन्य ऐतिहासिक एकांकी है।

फिल्म-जगत में सुदर्शन ने अच्छा नाम कमाया। 'धूपछाँव' और 'सिकन्दर' के पूर्व उनके कथा-संवाद के आधार पर भारतलक्ष्मी प्रोडक्शन्स द्वारा 'रामायण' (१९३४ ई०) का निर्माण किया जा चुका था।[१३५]

सुदर्शन की कहानी 'परख' के आधार पर सन् १९४४ में सोहराब मोदी ने 'परख' फिल्म का निर्माण किया, जिसमें वेश्या माँ की कष्ट-गाथा कही गई है।[१३६]

(८) **माखनलाल चतुर्वेदी (१८८९-१९६८ ई०)**—कुशल कवि, निबन्धकार एवं पत्रकार माखनलाल चतुर्वेदी ने प्रयोग के रूप में एक नाटक भी लिखा है—'कृष्णार्जुन-युद्ध' (१९१८ ई०)। प्रांजल, ओजपूर्ण एवं परिष्कृत भाषा में लिखित इस नाटक में रंगमंच की आवश्यकताओं पर पूरी दृष्टि रखी गई है। यही कारण है कि यह नाटक कई बार मंचस्थ किया जा चुका है। सर्वप्रथम यह नाटक मध्यप्रदेशीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के खंडवा अधिवेशन के समय सन् १९१९ में सफलतापूर्वक आरंगित किया गया। गालव के शिष्यों—शशि और शंख के माध्यम से हास्य का सृजन भी किया गया है।

(९) **जमनादास मेहरा**—जमनादास मेहरा ने हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच के लिये अनेक नाटक लिखे हैं। इनमें प्रमुख हैं—'मोरध्वज' (१९१९ ई०), 'आदर्श बधू या पाप-परिणाम' (१९२० ई०), 'सती चिंता' (१९२० ई०), 'कृष्ण-सुदामा' (१९२१ ई०), 'भक्त चन्द्रहास' (१९२१ ई०), 'विश्वामित्र' (१९२१ ई०), 'देवयानी' (१९२२ ई०), 'हिन्द नाटक' (१९२२ ई०), 'कन्या-विक्रय' (१९२३ ई०), 'विपद्-कसौटी' (१९२३ ई०), 'पंजाब केसरी' (१९२८ ई०), 'भारतपुत्र उर्फ भक्त कबीर' (१९३१ ई०), 'जवानी की भूल' (१९३२ ई०), 'हिन्दू कन्या' (१९३२ ई०) तथा 'वसंतप्रभा उर्फ एक पैसा' (१९३४ ई०)। इनमें 'मोरध्वज', 'सती चिंता', 'कृष्ण-सुदामा', 'भक्त चन्द्रहास', 'विश्वामित्र', 'देवयानी', 'विपद्-कसौटी' और 'भारतपुत्र उर्फ भक्त कबीर' पौराणिक नाटक हैं, 'पंजाब-केसरी' ऐतिहासिक और शेष सामाजिक नाटक हैं।

मेहरा की नाट्य-कला पारसी शैली के हिन्दी-नाटकों के प्रभाव को ग्रहण करके विकसित हुई है। प्रायः सभी नाटकों में आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक अथवा समानांतर हास्य-कथा भी दी गई है। ये एक प्रकार के 'कॉमिक' हैं, जिनमें जुए, घुड़दौड़ आदि की बुराइयों पर विनोदपूर्ण प्रहार किया गया है। यह 'कॉमिक' साधारण स्तर का है। गद्य-संवादों के साथ पद्य और विशेषकर गीतों (ग़ज़लों) की बहुलता है।

(१०) **दुर्गाप्रसाद गुप्त**—हरिदास माणिक की भाँति दुर्गाप्रसाद गुप्त भी अभिनेता से नाटककार बने। क्रमशः उन्हें अव्यावसायिक रंगमंच से बम्बई की व्यावसायिक नाटक मंडली में भी प्रवेश मिला, जहाँ उनका ऐतिहासिक नाटक 'हम्मीर-हठ' सफलतापूर्वक खेला गया।

मेहरा जी की भाँति ही उन्होंने अनेक विषयों पर नाटक लिखे हैं, जिनमें प्रमुख हैं—'नाटक मीराबाई' (१९२० ई०), 'गौतम-अहिल्या' (१९२१ ई०), 'विश्वामित्र नाटक' (१९२१ ई०), 'अभिमन्यु-वध नाटक' (१९२२ ई०), 'विल्वमंगल वा भक्त सूरदास नाटक' (१९२२ ई०), 'श्री गांधी-दर्शन नाटक' (१९२२ ई०), 'श्रीमती मंजरी नाटक' (१९२२ ई०), 'गरीब किसान नाटक' (१९२३ ई०), 'भारत रमणी' (१९२३ ई०), 'भारतवर्ष' (१९२३ ई०), 'नल-दमयन्ती नाटक' (१९२४ ई०), 'महामाया' (१९२४ ई०), 'आँख का नशा' (१९३१ ई०), 'नकाबपोश उर्फ मौत का फरिश्ता' (१९३२ ई०), 'हम्मीर-हठ' (१९३२ ई०), 'वीर अभिमन्यु नाटक' (१९३४ ई०), 'रामलीला नाटक' (१९३९ ई०), 'थियेटर बहार', 'दुर्गावती', 'भक्त तुलसीदास', 'देशोद्धार या राणा प्रताप नाटक', 'दोधारी तलवार' आदि।

इन नाटकों में *'नाटक मीराबाई', 'गौतम-अहिल्या', 'विश्वामित्र नाटक', 'अभिमन्यु-वध नाटक', 'बिल्वमंगल वा भक्त सूरदास नाटक', 'नल-दमयन्ती नाटक', 'बालकृष्ण वा कृष्ण-चरित्र नाटक'* आदि पौराणिक, 'महामाया', 'हम्मीर-हठ' 'दुर्गावती' और *'देशोद्धार वा राणा प्रताप नाटक'* ऐतिहासिक, *'श्री गांधी-दर्शन नाटक'* एवं 'भारतवर्ष' राष्ट्रीय, 'नकाबपोश उर्फ मौत का फरिश्ता' जासूसी और शेष प्रायः सामाजिक नाटक हैं।

सामाजिक नाटकों में 'श्रीमती मंजरी' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह मुंशी अब्बास अली के 'सती मंजरी' (१९२१ ई०, हिन्दी) के अनुकरण पर ही लिखा गया प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों नाटकों की मूल कथा और हास्य-उपकथा में अद्भुत साम्य है।

(११) प्रेमचन्द (१८८०-१९३६ ई०)–प्रेमचन्द सुदर्शन की भाँति प्रमुख रूप से कथाकार थे, किन्तु 'संग्राम' (१९२२ ई०) और 'कर्बला' (१९२४ ई०) लिखकर उन्होंने भी नाट्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने गाल्सवर्दी के 'सिल्वर बाक्स' (१९०६ ई०), स्ट्राइफ' (१९०९ ई०) और 'जस्टिस' (१९१० ई०) का क्रमशः 'चाँदी की डिबिया' (१९३० ई०), 'हड़ताल' (१९३० ई०) और 'न्याय' नाम से और बर्नार्ड शा के 'बैक टु मेथुसेलाह' (१९१९-२१ ई०) का 'सृष्टि का आरम्भ' (१९३८ ई०) नाम से हिन्दी-रूपान्तर किया। सृष्टि के आरम्भ' में सभ्यता के जन्म और विकास की कहानी कही गई है। इन अनुवादों में मौलिक नाटकों का-सा आनन्द आता है। इन अनुवादों के माध्यम से प्रेमचन्द ने अँग्रेजी के दो यशस्वी नाटककारों–जॉन गाल्सवर्दी और जार्ज बर्नार्ड शा का परिचय सर्वप्रथम हिन्दी-जगत् से कराया।

मौलिक नाटकों में प्रेमचन्द का 'संग्राम' सामाजिक तथा 'कर्बला' ऐतिहासिक नाटक है, किन्तु आवश्यक वस्तु-विस्तार, अस्वाभाविक घटना-क्रम, अपर्याप्त एवं सदोष रंग-संकेत और पात्रों की अधिकता के कारण ये अभिनेय न होकर पाठ्य अधिक हैं।

'प्रेम की वेदी' उनकी एक व्यंग्य-नाटिका है, जिसमें प्रेम तथा धर्मेतर विवाह का समर्थन किया गया है। इसमें सात दृश्य हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' और 'गोदान' तथा कहानी 'दो बैलों की कथा' के आधार पर क्रमशः 'रंगभूमि' (१९४६ ई०), 'गोदान' (१९६३ ई०) और 'हीरा-मोती' (१९५९ ई०) नामक चलचित्र बन चुके हैं। इनका निर्देशन क्रमशः मोहन भवनानी, त्रिलोक जेटली और कृष्ण चोपड़ा ने किया। प्रेमचन्द ने स्वयं अपने जीवन-काल में ही सन् १९३४ में *फिल्म-जगत् में प्रवेश किया था, किन्तु शीघ्र ही कुछ फिल्म-संवाद लिख और एकाध फिल्मों में* काम करने के बाद[२२७] शीघ्र ही वहाँ के वातावरण से ऊब कर वापस लौट आये थे। उनके जीवन-काल के चित्र हैं– *'मिल का मजदूर' (१९३४ ई०), जिसे सरकार का कोप-भाजन बनने के बाद काट-छाँट कर 'गरीब परवर या* दया की देवी' के नाम से प्रदर्शित किया गया और 'नवजीवन'। इसके अनन्तर उनके उपन्यास 'सेवासदन' के आधार पर एक फिल्म बनी।

(१२) गोविन्दवल्लभ पंत (जन्म १८९९ ई०)–गोविन्दवल्लभ पंत प्रसाद युग के एक प्रतिभाशाली नाटककार हैं, जिनके नाटक साहित्य और रंगमंच, दोनों ही दृष्टियों से खरे उतरे हैं। उन्होंने अपने नाटकों के विषय समाज, पुराण और इतिहास सभी क्षेत्रों से चुने और इस विविध सामग्री को लेकर उन्होंने अपना नाट्य-कौशल प्रदर्शित किया है। नाट्य-शिल्प की दृष्टि से वे संस्कृत और पारसी शैली के उत्तरकालीन नाटकों का प्रारम्भ में अनुसरण कर पश्चिमी नाट्य-विधान के क्रोड में पहुँच गये। संस्कृत नाटकों की भाँति प्रायः अधिकांश नाटक मंगलाचरण से प्रारम्भ होते हैं। 'राजमुकुट' के अन्त में आशीर्वादपरक भरतवाक्य भी है। रंग-सज्जा और शिल्प का भी उन्हें अच्छा ज्ञान है। 'वरमाला' में दृश्य के भीतर दृश्यों का सृजन, मूकाभिनय आदि के प्रयोग किये गये हैं, जिन्हें आधुनिक नाट्य-शिल्प के अन्तर्गत भी प्रस्तुत किया जा सकता है। क्रमशः उन्होंने अपने नाट्य-शिल्प एवं

मंच-परिज्ञान को माँजा और विकसित किया है, जिसकी पूर्णता उनके उत्तरकालीन नाटकों में देखी जा सकती है।

प्रसाद युग में लिखे गये उनके नाटक हैं–'कंजूस की खोपडी' (१९२३ ई०), 'वरमाला' (१९२५ ई०), 'राजमुकुट' (१९३५ ई०), और 'अंगूर की बेटी' (१९३७ ई०)।

'कंजूस की खोपडी' एक सामान्य कोटि का सामाजिक प्रहसन है, जो पंत जी की पहली नाट्यकृति है। 'वरमाला' उनकी एक प्रौढ कृति है, जो एक पौराणिक नाटक है। तीन अंको के इस लघु नाटक मे क्रमश: चार, दो और तीन दृश्य हैं। कुछ गीत भी है, किन्तु सवाद गद्य मे ही हैं। सवाद की भाषा प्राजल, ओजपूर्ण और भावुकता से ओत-प्रोत है, जिससे नाटक के कुछ स्थलो को पढने और सुनने मे गद्यगीत का-सा आनन्द आता है। एक विद्वान ने 'वरमाला' की इसी गीतप्रवणता, घटना की अपेक्षा भावावेग की बहुलता और सरसता, शृंगार रस और नारी-चरित्र की प्रधानता के कारण उसे 'भाव-नाट्य' की कोटि मे रखा है।[३२८] पात्रो की भीड-भाड बहुत कम है। कुल एक स्त्री और तीन पुरुष पात्र हैं। नाटक मे स्वगत अधिक हैं। कुल मिला कर यह अभिनेय है और सन् १९४० में इसे खेला भी जा चुका है।

'राजमुकुट' पत जी का एक लोकप्रिय ऐतिहासिक नाटक है, जिसका कई बार अभिनय हो चुका है। राजस्थान की वीरागना पन्ना दाई के अपूर्व बलिदान पर आधारित इस त्रिअकी नाटक के सन् १९५४ तक १९ संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। इसमे कुल मिला कर बारह पात्र हैं–चार स्त्रियाँ और शेष पुरुष।

'राजमुकुट' में स्वगत की मात्रा 'वरमाला' की अपेक्षा कम है, किन्तु जहाँ भी उसका प्रयोग हुआ है, वह अस्वाभाविक-सा ही लगता है। पारसी-शैली के प्रभाव के कारण नाटक मे गीतों की भरमार है। कुल मिला कर बारह गीत दिये गये हैं, जो साभिप्राय एवं सुन्दर होते हुए भी किसी भी आधुनिक नाटक के लिए अधिक एव अप्राकृतिक हैं। बच्चे का शव लिये हुये पन्ना दाई का गाना ('तुम जागो लाल, निशा बीती') ऐसा ही एक प्रसंग-विरोधी गीत है।

'अगूर की बेटी' का हिन्दी मे वही स्थान है, जो मराठी मे गडकरी के 'एकच प्याला' का। दोनों ही मद्यपान के दोषो का सटीक चित्रण करते है और मद्यपान की समस्या पर बेजोड नाटक हैं। पत जी ने सुधारवादी दृष्टिकोण से इस समस्या पर विचार किया है और अन्त मे वे नायक मोहनदास को सन्मार्ग पर लाने मे सफल भी हुए हैं। यह एक सुन्दर समस्या-नाटक है, किन्तु एक विद्वान के अनुसार यह एक 'सामाजिक प्रहसन-कॉमेडी' की श्रेणी का नाटक है और 'समस्या-नाटक जैसे गम्भीर शीर्षक का भार वहन नहीं कर सकता'।[३२९] यदि समस्या नाटक को केवल काम-समस्या अथवा कथित नैतिक मानदण्डो एवं रूढियो के ध्वस अथवा अनिर्णीत परिसमाप्ति की स्थिति तक ही सीमित कर दिया जाय, तो निश्चय ही समस्या-नाटक का क्षेत्र अत्यत सकुचित होकर रह जायगा। 'समस्या-नाटक' शब्दो का इस सकुचित अर्थ मे प्रयोग उचित नही प्रतीत होता।

'अगूर की बेटी' भी पत के अन्य नाटको की भाँति त्रिअकी है। अधिकाश दृश्य नीले पृष्ठपट के साथ कुछ कुर्सियो, मेज, काउंटर, गमलो आदि की सहायता से प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किन्तु दूसरे अक के सातवें दृश्य को सामान्य अव्यावसायिक मच पर दिखाना सभव नही है। नदी के ऊपर टूटे पुल और उस पर माधव और प्रतिमा को लेकर आने वाली कार का पुल के नीचे नदी मे गिरना फिल्म के अतिरिक्त अन्यत्र नही दिखाया जा सकता। इस प्रकार के दृश्यो को मच पर न प्रदर्शित कर उसे सूच्य सामग्री के अन्तर्गत रखा जाना चाहिये। इस दृश्य को छोड़ नाटक मे अभिनयोपयोगी घटनाओं एव तीव्र कार्य-व्यापार का आयोजन किया गया है।

'वरमाला' और 'राजमुकुट' की तुलना में इस नाटक मे स्वगत की कमी हुई है और इसका दो-एक स्थलों पर ही उपयोग हुआ है। पात्रों की कुल संख्या ९-१० से अधिक नही है। इसमें स्वच्छंदतावर्मी नाटको की भाँति

भ्रान्ति और छद्म वेश का भी उपयोग किया गया है । कामिनी की जल कर हुई मृत्यु की भ्रांति बहुत दूर तक चलती है और वह पुरुष-छद्मवेश मे होटल की मैनेजर विनोदचद्र बन कर अपने पति को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा मे रत बनी रहती है । अत मे रहस्य के उद्घाटन से अद्भुत रस का सृजन होता और भ्रान्ति मिट जाती है । सवाद छोटे, चुस्त, साभिप्राय एवं व्यञ्जनात्मक हैं । भाषा सरल, भावपूर्ण एवं रसानुवर्तिनी है ।

भावपूर्ण सवाद-लेखन की दृष्टि से गोविन्दवल्लभ पत प्रसाद युग के प्रतिनिधि नाटककार हैं। वस्तु-गठन मे नाटकीयता और गति, क्षिप्र कार्य-व्यापार, रहस्य-ग्रंथि का सृजन और उद्घाटन, मचोपयोगी दृश्य-विघान यह पत जी की कुछ ऐसी विशेषताएँ है, जो किसी भी नाटककार के लिये रगमच पर सफल होने के लिए आवश्यक हैं ।

(१३) पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र' (१९००-१९६७ ई०)—प्रसाद की भाँति पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की प्रतिभा बहुमुखी थी और लेखनी अत्यत सशक्त और तीखी । उनके व्यग्य बर्नार्ड शा के समान पैने और चोटीले हैं, किन्तु यह वाक्-प्रहार 'उग्र' मे नग्न एव कुत्सित चित्रण के लिये सभवत. अधिक, सामाजिक सस्कार के लिए कम है । एक युग था, जब उनके साहित्य को 'घासलेटी' (अश्लील) कह कर एक प्रकार का आन्दोलन-सा खडा कर दिया गया था, किन्तु उनके निधन के उपरात उनके साहित्य का ठढे दिल से पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ हो गया है। स्वय इस आन्दोलन के प्रवर्तक अब आधुनिक अश्लील साहित्य के मुकाबले मे 'उग्र'-साहित्य को 'पूर्ण ब्रह्मचर्य' मानने लगे हैं ।[३०]

'उग्र' के कथा-साहित्य की तुलना मे उनका नाट्य-साहित्य तो वास्तव मे अत्यत संयत और सोद्देश्य है । 'महात्मा ईसा' (१९२२ ई०) उनकी ऐसी ही ऐतिहासिक नाट्य-कृति हैं, जिसमें ईसा के अतिमानवीय किन्तु धीरप्रशात चरित्र का अकन किया गया है । सम्भवत. इसी कारण नाटक के घटना-क्रम मे वक्रता अथवा तीव्र आरोह-अवरोह, चरित्र-चित्रण मे व्यक्ति-वैचित्र्य और अन्तर्द्वंद्व और संवादो मे चटुलता का अभाव है । तत्त्व-निरूपण और उपदेश के कारण सवाद कुछ शिथिल हो गये हैं, किन्तु अन्यत्र वे बड़े सप्राण हैं । स्वगत का व्यवहार कम हुआ है । पारसी-हिन्दी नाटको के प्रभाव के कारण कुछ गीत भी इसमें रखे गये हैं । 'स्वाधीन हमारी माता है' एक राष्ट्रपरक गीत है ।

'महात्मा ईसा' के अतिरिक्त 'उग्र' के अन्य नाटक हैं – 'चुंबन' (१९३७ ई०), 'डिक्टेटर' (१९३७ ई०), 'गगा का बेटा' (१९४० ई०), 'आवारा' (१९४२ ई०) और 'अन्नदाता' (१९४३ ई०) ।

'महात्मा ईसा' की गभीर और बोझिल शैली के विपरीत 'चुबन' एक हल्का-फुलका व्यग्य नाटक है, जिसमे महाजनी लेन-देन के हथकण्डो के साथ भगवद्भक्ति के खोखलेपन और दारिद्र्य पर चुभती हुयी टीका भी की गयी है । सवादो मे कहीं-कहीं अश्लीलता के छीटे भी मिलते हैं । 'उग्र' जी की भाषा इस नाटक मे भी उनकी शैली के अनुरूप है—उर्दू-फारसी के शब्दो से लदी, किन्तु व्यग्य-प्रवण और व्यजनापूर्ण ।

'डिक्टेटर', 'आवारा' और 'अन्नदाता' भी इसी प्रकार के व्यग्य-नाटक हैं । 'गगा का बेटा' 'उग्र' का पौराणिक नाटक है, जो भीष्म-प्रतिज्ञा की कथा पर आधारित है ।

स्वयं नाटककार के मत से उनके 'महात्मा ईसा', 'गगा का बेटा' और 'अन्नदाता' कुछ हेर-फेर के साथ अभिनीत किये जा सकते हैं । इनमे से प्रथम कलकत्ता, पटना और बनारस के अव्यावसायिक मंच पर खेला भी जा चुका है ।[३१]

(१४) जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी (१८७५-१९३९ ई०)—हास्यरसाचार्य जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने केवल दो नाटक लिखे हैं–'मधुर मिलन' (१९२३ ई०) और 'तुलसीदास नाटक' (१९३४ ई०) । 'मधुर मिलन' मे प्राचीन पद्धति के अनुसार प्रस्तावना दी गयी है । यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन (१९२० ई०) के समय खेला भी जा चुका है । इसमे अनमोल विवाह, अपहरण, अँग्रेजी भाषा की दुरूहता, समाज-सुधार के पीछे छिपे

दुष्कृत्यों आदि पर विचार प्रकट किये गये हैं। हास्य भी थोड़ा-बहुत है। नाटक प्रायः सामान्य स्तर का है।

'तुलसीदास नाटक' को भी रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। पद्यों में सर्वत्र तुलसीदास के ही पद दिये गये हैं।

(१५) रामनरेश त्रिपाठी (१८८९-१९६२ ई०)– कवि के रूप मे प्रसिद्ध रामनरेश त्रिपाठी नाटक के क्षेत्र में बहुत बाद में आये। उनका पहला नाटक था–'सुभद्रा' (१९२४ ई०), जिसके दस वर्ष बाद उनके कई नाटक प्रकाशित हुए। आलोच्य काल में लिखे गए उनके प्रमुख नाटक हैं–'जयत' (१९३४ ई०), 'प्रेमलोक' (१९३४ ई०) और 'वफाती चाचा' (१९३५-३६ ई०)।

'जयत' त्रिअकी है और 'प्रेमलोक' मे पांच अंक हैं। प्रत्येक नाटक दृश्यो मे विभाजित है। नाटकों की भाषा प्रौढ एवं प्राजल है, *यद्यपि उर्दू-शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। त्रिपाठी जी भाषा-क्षेत्र मे प्रायः हिन्दुस्तानी* के समर्थक रहे हैं। 'वफाती चाचा' त्रिपाठी जी की इसी नाम की कहानी का नाट्य-रूपान्तर है, जो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की एक सच्ची घटना पर आधारित है। इसका मराठी और अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है। गांधी जी के निजी सचिव महादेव भाई द्वारा कृत अंग्रेजी अनुवाद 'हरिजन' में छपा था।[११२]

'प्रेमलोक' कई नगरो में मंचस्थ हो चुका है।[११३]

(१६) *लक्ष्मीनारायण मिश्र (जन्म १९०३ ई०)–प्रत्येक नाटककार की प्रथम कृति पर उसकी पूर्ववर्ती* अथवा समकालीन नाट्य-पद्धति एव रगशिल्प का प्रभाव पडे बिना नही रहता। मिश्र जी का प्रथम नाटक 'अशोक' (१९२६ ई०) उक्त नियम का अपवाद नही है। एक विद्वान के अनुसार उस पर हिन्दी में द्विजेन्द्र के अनुवादो के माध्यम से आई शेक्सपियर की भावुकता और स्वच्छदधर्मिता का प्रभाव है, जिसे मिश्र जी स्वय 'प्रसाद का फल' मानते हैं।[११४]

'अशोक' मिश्र जी के विद्यार्थी-जीवन की रचना है,[११५] *जिसमे अशोक के शस्त्रजीवी एव महत्त्वाकाक्षी* राजकुमार से सम्राट् बनने तक की आधिकारिक कथा के साथ यूनानी राजकुमारी डायना के निर्धन युवक (डायना का शिक्षक और बाद में अशोक का सेनापति) एण्टीपेटर के साथ प्रणय की अवातर कथा वर्णित है। इसमे कूट-नीतिज्ञ, सेनापति और अशोक के शुभ-चिंतक धर्मनाथ की कूटनीति और छल को कलिंग-युद्ध का कारण बताया गया है, जिसके कारण लाखो व्यक्ति मारे जाते हैं, अशोक का उसमें कोई कृतित्व और आकांक्षा नही दिखाई पडती। अत मे अशोक को प्रशांत नायक की भांति क्षमाशील, विरक्त, आत्मग्लानि और पश्चात्ताप से दग्ध होते दिखाया गया है।[११६] अशोक की पत्नी देवी का चरित्र एक कामुक नारी का चरित्र है, जो राजमहिषी के उपयुक्त नही है। बहुदृश्यीय यह नाटक सादे या चित्रित परदो अथवा परिक्रामी मच पर ही दिखाया जा सकता है। अश्व, नाव आदि के पुस्त (मॉडेल) या प्रतीक बनाये जा सक्ते हैं। संवाद लम्बे हैं, जिनमे काट-छांट आवश्यक *होगी*।

इस प्रयोग के बाद मिश्र जी ने 'गड़े मुर्दे' न उखाड़ कर समाज के जीवन चरित्रो और पात्रो को लेकर, उन्हें अपनी बौद्धिकता का जामा पहनाया और उनकी व्यक्तिगत समस्याओं–काम अर्थात् स्त्री-पुरुष-संबंध और *नैतिकता तथा व्यक्ति बनाम समाज की समस्याओं*, विशेषकर समाज के विरुद्ध व्यक्ति की, नारी की विजय को सामाजिकों के 'फोरम' के आगे ला रखा। इन समस्याओ के समाधान भी प्रस्तुत किये, कहीं तर्क-सगत और बौद्धिक, कही तर्क एवं व्यावहारिकता से भी परे केवल भावावेग के वशीभूत हो कर शुद्धतया काल्पनिक, एक समझौते के रूप मे। इस समाधान के पीछे कोई नैतिकता नही, समाज के नियमों के प्रति कोई आस्था नही, क्योंकि ये वे समाधान हैं, जो व्यक्ति के चारो ओर के समाज की और जीवन के चारो ओर फैले व्यक्ति की चहारदीवारी तोड कर ही नवीन नैतिकता, नई आस्था, नई मान्यता और नये नियमो को जन्म देना चाहते हैं।

इन्ही कुछ समस्याओं और उनके बौद्धिक समाधान को लेकर मिश्र जी ने हिन्दी को सर्वप्रथम कुछ समस्या-नाटक दिए, जो अपने सकीर्ण अर्थ मे स्त्री-पुरुष की समस्याओ-काम और विवाह तक ही सीमित रहे। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल मे भी मिश्र जी ने काम-भावना को ही रखा है, जो परितृप्ति के अभाव मे अपनी दमित वृत्ति को देश-सेवा आदि के रूप मे अभिव्यक्त करती है और प्राय इस प्रकार परितृप्ति के साधन जुटा लेती है। 'सन्यासी' का 'पूर्वीय ससार' का सम्पादक मुरलीधर इसी प्रकार का प्राणी है, जो अवसर पाकर किरणमयी का कौमार्य भग करने मे भी सकोच नही करता, किन्तु विवाहिता होने के बावजूद उसके अंतर मे मुरलीधर के प्रति आसक्ति का, मोह का अश शेष बचा रहता है, सभवत इसलिए कि वह चिरतन नारी है और प्रत्येक पुरुष उसके लिए चिरतन पुरुष।

मिश्र जी के समस्या-नाटक हैं–'सन्यासी' (१९३० ई०), 'राक्षस का मन्दिर' (१९३१ ई०), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२ ई०), 'राजयोग' (१९३३ ई०), 'सिन्दूर की होली' (१९३४ ई०) और 'आधी रात' (१९३४ ई०)।

'आधी रात' को छोड़ प्राय सभी नाटक त्रिअकी हैं और इनमे इब्सन नाट्य-पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अक मे वाह्यत कोई दृश्य-विभाजन नही रखा गया है, यद्यपि दृश्य-परिवर्तन की सूचना यत्र-तत्र अवश्य दे दी है। 'आधी रात' मे केवल दो ही अक हैं।

इन सभी नाटकों में सामान्यत काम, प्रेम और विवाह अथवा आत्मिक सबध की समस्यो के अतिरिक्त सह-शिक्षा, राष्ट्रोद्धार, वेश्या-सुधार आदि की समस्यो को लेकर मिश्र जी ने तीखे व्यग्य किए है। 'सन्यासी' मे एक ओर सह-शिक्षा के दुष्परिणाम एव ईर्ष्या-जन्य दुरभिसन्धि का, तो दूसरी ओर आत्मिक प्रेम की नीव पर खडे एशिया-प्रेम और उत्सर्ग का चित्रण किया गया है। मालती और प्रो० रमाशकर तथा किरणमयी और वृद्ध प्रो० दीनानाथ के विवाह-सबध पारस्परिक समझौते-मात्र हैं, जहाँ शारीरिक सुख का भोग तो है, किन्तु वह भी क्षणिक ही है। 'राक्षस का मन्दिर' के रामलाल और मुनीश्वर के जीवन के दो पक्ष हैं–काले भी, उजले भी, वे देवता भी हैं और राक्षस भी। नाटककार ने यो मुनीश्वर को ही मुख्य रूप से राक्षस माना और सिद्ध किया है, यद्यपि अन्त मे उसका भी देवता जाग जाता है और वह अपनी प्रेयसी अश्करी के आगे आने पर मातृ-मदिर को छोड देता है, जिससे वह राक्षस का मदिर बनने से बच जाता है। इस नाटक की केन्द्र-विन्दु नायिका अश्करी एक साथ 'रामलाल की धन-सम्पत्ति, मुनीश्वर की वासना और रघुनाथ (रामलाल का पुत्र) की कोमल भावुकता, तीनो का भोग करती है।'[१०३] 'मुक्ति का रहस्य' की नायिका आशादेवी के चरित्र के द्वारा पश्चिम के मुक्त भोग का तिरस्कार कर एकपतित्व के भारतीय आदर्श का प्रतिपादन किया गया है। फलत आशा उसे पतित बनाने वाले डाक्टर त्रिभुवननाथ की पत्नी बन जाती है और उसका देवता-प्रेमी उमाशकर अपनी पत्नी से उत्पन्न पुत्र मनोहर की ममता सँजो कर अपनी मुक्ति का रहस्य प्राप्त कर लेता है। इसी के साथ आसन्न समाजवाद और स्वायत्त-संस्थाओ के चुनाव मे शिक्षको के योगदान के दोषो की ओर भी नाटक मे सकेत दिए गए हैं।

'राजयोग' सह-शिक्षा, बहु-विवाह, अनैतिक सबध और नारी-विद्रोह की बहुमुखी समस्याओ पर आधारित है। नाटक के सभी पात्र किसी-न-किसी आन्तरिक व्यथा से पीडित हैं और इसी प्रकार की व्यथा से पीडित नरेन्द्र इन समस्याओ का निदान और समाधान प्रस्तुत करता है। इसमे राजा के अधिकार और अधिकारी की समस्या पर भी विचार किया गया है।

'सिन्दूर की होली' मिश्र जी के उपर्युक्त सभी नाटको से कुछ पृथक् है–समस्या की दृष्टि से और नाट्य-पद्धति की दृष्टि से भी। नाट्य-पद्धति की दृष्टि से इसमें इब्सन की दृश्य-विहीन अक-प्रणाली को अपनाया गया है, तो उसका नायक मनोजशकर भी इब्सन-कृत 'घोस्ट्स' के नायक ओस्वाल्ड की भाँति मनोव्यथा से पीड़ित है।

पिता मुरारीलाल के पापों का दंड उसकी अभागी पुत्री चंद्रकला को भुगतना पड़ता है—उस रजनीकांत की विधवा बन कर, जिसे उसके पिता की साँठ-गाँठ से मारा गया है। इस नाटक में आधुनिक न्याय-व्यवस्था के खोखलेपन को भी उभार कर रखा गया है। मिश्र जी ने मनोरमा और चंद्रकला के माध्यम से भारतीय वैधव्य के आदर्श को उजागर किया है, जिसमें कामचलाऊ समझौता भी अन्ततः नारी के पतन का कारण बन सकता है।

'आधी रात' में पश्चिम की नारी-सम्यता और मुक्त भोग के विपरीत भारतीय नारी के आदर्श और अगले जन्म में सुधार की आशा को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है, किन्तु भारतीय विवाह को इसमें भी एक प्रकार का समझौता ही माना है, जिसमें पुरुष और स्त्री एक साथ तो रह सकते हैं, परन्तु एक-दूसरे के लिए अभोग्य रह कर। कुल मिलाकर यह एक सामान्य कृति है, जिसमें प्रेतात्मा-जैसे अतिमानवीय तत्त्वों का भी उपयोग किया गया है।

हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र का वही स्थान है, जो मराठी में मामा वरेरकर का। दोनों पर इब्सन की नाट्य-पद्धति, वर्ण्यविषय आदि का प्रभाव है और दोनों ने रंगमंच की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर नाटक लिखे। मिश्र जी की अपेक्षा वरेरकर के एकांकप्रवेशी नाटक अधिक परिष्कृत हैं, जबकि मिश्र जी के नाटकों में प्रत्यक्ष दृश्य-विभाजन न होने हुए भी जल्दी-जल्दी दृश्य बदलते हैं, जिनके लिए अंक के बीच-बीच में वे (कोष्ठकों में) रंग-संकेत देते चलते हैं। 'सन्यासी' में यह दोष अपनी चरम सीमा पर है। इसके विपरीत 'सिंदूर की होली' में इब्सन-पद्धति का पूर्णतः पालन हुआ है। तीन अंक के इस नाटक में कोई भी दृश्य नहीं है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से दोनों ने प्रमुख रूप से नारी-चरित्र के उस अङ्ग को लिया है, जिसमें वह तर्क, वाक्-प्रहार और कृत्य द्वारा पुरुष पर विजय प्राप्त करने, किन्तु अंत में एक काम-चलाऊ समझौते में बँध जाने का प्रयास करती है। इस कामचलाऊ समझौते में उनका भारतीय दृष्टिकोण निहित है।

मिश्र जी और वरेरकर अपनी मंच-विषयक धारणाओं और नाट्य-विषयक उद्गारों के कारण विवाद के विषय रहे हैं। वरेरकर के संबंध में हम इसी अध्याय में अन्यत्र विस्तार से लिख चुके हैं। मिश्र जी ने अपने नाटकों की लंबी भूमिकाओं में शेक्सपियर, बर्नार्ड शा, द्विजेन्द्र और प्रसाद जैसे मूर्धन्य नाटककारों को भी उछालने और अपने आप 'अपना यशःस्तम्भ खड़ा करने' की चेष्टा की है,[१८] जो स्पृहणीय नहीं कही जा सकती।

मिश्र जी पर इब्सन का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है, जिससे प्रभावित होकर उनके दो नाटकों—'पिलर्स आफ सोसाइटी' (सैम्फ्र्डेट्स स्टोटर, १८७७ ई०) तथा 'ए डॉल्स हाउस' (एट डुकेजेम, १८७९ ई०) का क्रमशः 'समाज के स्तम्भ' (१९३८ ई०) और 'गुड़िया का घर' (१९३८ ई०) नाम से अनुवाद किया है। उनके 'सिंदूर की होली' के मनोजशंकर पर इब्सन के 'घोस्ट्स' (१८८१ ई०) के ओस्वाल्ड एल्विंग का प्रभाव स्पष्ट है। ओस्वाल्ड अपने पिता के गुप्त रोग को उत्तराधिकार में पाने के कारण प्रायः शिथिल-उत्साह बना रहता है, तो मनोजशंकर अपने पिता के कथित 'आत्मघाती' होने के कारण अस्वस्थ-सा बना रहता है। इस प्रकार दोनों के मन पर प्रायः एक-सा ही बोझ, उत्साहहीनता और अकर्मण्यता बनी रहती है।

भाषा पर मिश्र जी का पूरा अधिकार होने हुए भी वह कहीं-कहीं सदोष है। लिंग और व्याकरण की त्रुटि के साथ अभिव्यक्ति भी अस्पष्ट अथवा त्रुटिपूर्ण है।

मिश्र जी के प्रायः सभी नाटक एकांकदृश्यीय होने, स्वगत के बहिष्कार, गीतों की कमी अथवा सर्वथा बहिष्कार, पात्र-संख्या के परिसीमन, संकलन-त्रय के निर्वाह, पात्रानुकूल, सरल और सशक्त भाषा के उपयोग के कारण अभिनेय हैं। कहीं-कहीं आये दीर्घ संवाद अवश्य खटकते हैं।

लगभग एक दशक के मौन के उपरान्त लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्या-नाटकों की धारा से हट कर कुछ प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक नाटक लिखे, जिनमें भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रति उनकी गहन जिज्ञासा

और आस्था, मौलिक एवं सतुलित विचारणा और तर्कसगत धारणा के दर्शन होते हैं। इस काल के उनके नाटक हैं -- 'गरुडध्वज' (१९४६ ई०), 'नारद की वीणा' (१९४६ ई०), 'वत्सराज (१९५० ई०), 'दशाश्वमेध' (१९५० ई०), 'वितस्ता की लहरें' (१९५३ ई०), 'चक्रव्यूह' (१९५३ ई०), 'वैशाली में वसन्त' (१९५४ ई०) आदि। इसके अतिरिक्त 'कवि भारतेन्दु' (१९५५ ई०), 'जगद्गुरु' (१९५८ ई०) तथा 'मृत्युजय' (१९५८ ई०) जीवनीपरक तथा 'अपराजित' (१९६० ई०) मिश्र जी का पौराणिक नाटक है।

समस्या-नाटको के विपरीत इन नाटको की पात्र-सख्या कुछ अधिक प्राय बारह-तेरह से लेकर बीस तक है। सवाद प्राय छोटे और भावपूर्ण हैं, कही-कही पूर्णत सरस एव काव्यमय हो गये हैं। तर्क, व्यग्य-विनोद और परिहास भी उनमें है। भाषा प्रसाद की भाँति जटिल नही है, किन्तु नाटकोपयुक्त आवश्यक वक्रता और प्रवाह प्रसाद की भाँति ही है। अधिकाश नाटक त्रिअकी है। नाटक विविध प्रकार के मंचो पर खेले जा सकते हैं, किन्तु उन्हे विश्वविद्यालयो में पाठ्य-पुस्तक के रूप मे लगा कर 'पाठ्य' बना कर छोड दिया गया है। यह हिन्दी के नाटककार के साथ घोर विडम्बना है।

मिश्र जी ने पर्णाङ्ग नाटको के अतिरिक्त पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक विषयो पर कई सुन्दर एकाकी भी लिखे हैं। 'प्रलय के पख पर' एकाकी-सग्रह के छ सामाजिक एकाकियो को छोड कर, जिनमें नारी-समस्या, भूमि या परिवार की समस्याओ का चित्रण हुआ है, शेष सभी एकाकी पौराणिक या ऐतिहासिक हैं।

(१७) जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' (१९०७ ई० ···) – कवि जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' ने एक सामाजिक और कई ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। प्रसाद युग मे उनका केवल एक ऐतिहासिक नाटक प्रकाशित हुआ – 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (१९२९ ई०)। अपनी लोकप्रियता और अभिनेयता के कारण अब तक यह अनेक शिक्षा-सस्थाओं द्वारा मचस्थ किया जा चुका है। इस त्रिअकी नाटक में इतिहास की अपेक्षा कल्पना का आधार अधिक लिया गया है। वस्तु-विन्यास सुगठित होते हुए भी कार्य-व्यापार की कमी है। अधिकाश घटनाओ की सूचना-मात्र दे दी गई है। सवाद साधारणत रसानुसार हैं, यद्यपि भाषा में प्रादेशिकता का कुछ सम्मिश्रण पाया जाता है।

(१८) उदयशकर भट्ट (१८९८-१९६-ई०) – कवि, कथाकार, निबन्धकार एवं नाटककार उदयशकर भट्ट को बचपन में अभिनय करने और रासलीला, नौटकी, रामलीला आदि देखने के शौक और विभिन्न विषयो की खोज के लिए किए गये भ्रमणो से नाटक लिखने की प्रेरणा मिली।[२३९]

प्रसाद युग के नाटककारों में उदयशंकर भट्ट का एक विशेष स्थान है। उन्होने इस युग मे यद्यपि ऐतिहासिक और पौराणिक विषयो को लेकर ही नाटक लिखे, तथापि आगे चल कर उन्होने कुछ सामाजिक नाटक भी लिखे। इसके अतिरिक्त भट्ट जी ने कुछ गीति-नाट्यो और एकाकी नाटको की भी रचना की। इस युग के उनके नाटक हैं – 'विक्रमादित्य' (१९२९ ई०), 'सगर विजय' (१९३२ ई०), 'दाहर अथवा सिध-पतन' (१९३३ ई०), 'विद्रोहिणी अबा' (१९३५ ई०) तथा 'कमला' (१९३५ ई०, ले०)। इनमें 'विक्रमादित्य' और 'दाहर अथवा सिंध-पतन' ऐतिहासिक तथा 'कमला' सामाजिक नाटक है और शेष पौराणिक।

'विक्रमादित्य' भट्ट जी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें दो स्त्री और दस पुरुष-पात्र हैं। इसमें पाँच अक हैं। भाषा प्रसाद की भाँति प्राजल, मँजी हुई, रसानुकूल और काव्यपूर्ण है।

स्वच्छन्दतापर्भी नाटकों की भाँति चन्द्रलेखा और अनगमुद्रा पुरुषो के छद्म वेश मे सामने आती हैं और चन्द्रलेखा अन्त मे अपने प्राणेश्वर विक्रमादित्य की प्राणरक्षा करते हुए पति के शत्रु और अग्रज सोमेश्वर को घायल कर देती है, किन्तु इस अपराध मे विक्रमादित्य द्वारा उसे मृत्युदण्ड दिया जाता है। नाटक में सस्कृत-पद्धति के अनुसार प्रस्तावना और दीर्घ स्वगत तथा पारसी-हिन्दी एवं प्रसाद के नाटको की भाँति पद्य और गीतो का भी

बहुलता से प्रयोग किया गया है। वस्तुवादी सज्जा के विचार से नाटक अनभिनेय है,[60] किन्तु सादे अथवा प्रतीक मंच पर इसे सरलता से खेला जा सकता है।

'दाहर अथवा सिंध-पतन' मे अधिकांशत: इतिहास-विहित घटनाओं का समावेश है, यद्यपि दाहर की रानी लाडी को नाटक से परे रख कर ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना की गई है।[61] 'विक्रमादित्य' की भाँति इसमें भी पाँच अंक हैं। 'दाहर' मे लम्बे स्वगत, गद्य-पद्य-संवादो तथा गीतों की भरमार है। काल-ज्ञान के अभाव मे दाहर के पात्रो के मुख से कवि वेनी और भारतेन्दु के पद्य भी कहलाये गये हैं। भरती के संवाद अधिक है, जिन्हे काट-छाँट कर अलग किया जा सकता है। भाषा संस्कृत शब्दो से बोझिल है और भावाभिव्यक्ति कहीं-कही बौद्धिक शब्द-जाल मे उलझ-सी जाती है। वस्तु-गठन मे आकस्मिकता एवं कार्य-व्यापार का अभाव है, फिर भी दृश्य-विधान सहज और मंचोपयुक्त होने के कारण नाटक का अभिनय किया जा सकता है।

'सगर-विजय' भट्ट जी का प्रथम पौराणिक नाटक है, जिसमें बहि और विशालाक्षी के सपत्नी-द्वेष और बहि के प्रतिशोध, क्रोध और घृणा का उत्तेजक चित्रण हुआ है। इस नाटक मे भी स्वगत की भरमार है। अनेक दृश्य लम्बे स्वगत से ही प्रारम्भ होते है। गीतो की संख्या इसमें चार तक ही सीमित है। ये गीत दृश्य के आरम्भ या अन्त मे दिए गये है। 'सगर विजय' की भाषा संस्कृत-बहुल होते हुए भी ओजपूर्ण, सशक्त एवं रसानुकूल है। मंच पर शव-यात्रा और चिता-दाह जैसे अप्रयोजनीय दृश्यो को छोड़ शेष दृश्य-विधान सरल और बहुकक्षीय अथवा बहुधरातलीय मंच पर प्रस्तुत किए जाने योग्य है। इससे दृश्य-बहुलता की कठिनाई को विजित किया जा सकता है। यह कई बार खेला जा चुका है।

'विद्रोहिणी अंबा' (अथवा 'अंबा') में अंबा के जागृत नारीत्व और अन्ध प्रतिशोध की उग्रता प्रदर्शित की गई है। इसमें अंबा को लेकर चार स्त्री-पात्र और तेरह पुरुष-पात्र है। नाटक के अन्त मे अंबा के लिए भीष्म के हृदय में जो पश्चात्ताप प्रदर्शित किया गया है, उसमे भीष्म का पौराणिक की अपेक्षा मानवीय चरित्र अधिक स्वाभाविक होकर उभरा है। नाटक दुःखांत है। संवाद काफी सशक्त हैं। इसमे संस्कृत-नाटकों की भाँति विदूषक का भी उपयोग हुआ है।

नाटक मे तीन अंक हैं। दृश्य-क्रम की सरलता, संवादो के ओज, प्रवाह और सजीवता आदि के कारण नाटक अभिनेय है। यह कई बार मंचस्थ हो चुका है।

'कमला' भट्ट जी का समस्या-प्रधान सामाजिक नाटक है, जिसमे डॉ० नगेन्द्र के अनुसार भट्ट जी के अन्य नाटको की भाँति 'चिरन्तन नारीत्व का आख्यान' किया गया है।[62] अनमेल विवाह के भार एवं संदेह से पीड़ित नाटक की नायिका कमला अन्ततः आत्महत्या कर लेती है। आत्महत्या का मूल कारण है – उसके पति देवनारायण के ज्येष्ठ पुत्र यज्ञनारायण का पर-स्त्री से अनैतिक सम्बन्ध, जिससे उत्पन्न पुत्र शशिकुमार को अनाथालय से घर में लाकर कमला पति के संदेह एवं तिरस्कार की पात्र बनती है। प्रसाद की भाँति नाटक में आत्महत्या को अपना कर भट्ट जी ने शेक्सपियरीय नाट्य-प्रभाव को स्वीकार किया है। नाटक के पात्रों की संख्या कम है और संवाद भी उनके अन्य नाटकों की अपेक्षा छोटे, चुस्त और प्रवाहपूर्ण हैं।

प्रसाद युग के अनन्तर भी भट्ट जी ने अनेक पूर्णाङ्ग नाटक लिखे, जिनमें प्रमुख हैं – 'अन्तहीन अन्त' (१९३८ ई०), 'मुक्तिदूत' (पूर्वनाम 'मुक्ति-पथ', १९४४ ई०), 'शक-विजय' (१९४८ ई०), 'क्रान्तिकारी' (१९५३ ई०), 'नया समाज' (१९५५ ई०) तथा 'पार्वती' (१९५८ ई०)। इनमें 'अन्तहीन अन्त', 'नया समाज' तथा 'पार्वती' सामाजिक, 'मुक्तिदूत' तथा 'शक-विजय' ऐतिहासिक तथा 'क्रान्तिकारी' राजनैतिक नाटक हैं।

विषय की दृष्टि से बहुदृश्यीय एकांकी 'क्रान्तिकारी' भट्ट जी की एक विशिष्ट नाट्य-कृति है, जिसका उपजीव्य है– असहयोग और क्रांति, जिसका नेतृत्व करता है – दिवाकर, जो पुलिस अधिकारी मनोहर का सहपाठी है। मनोहर की पत्नी वीणा दिवाकर के दल के आदेश पर अपने पति की हत्या कर देती है। वीणा के दल

द्वारा दिवाकर को दिया गया प्राणदण्ड वापस ले लिया जाता है। इस नाटक को पूर्णांङ्ग नाटक की कोटि में रखा जाता है, यद्यपि उसे वृहत् एकाकी ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। नाटक में पात्र-सख्या अधिक नहीं है। रग-सकेत भी हैं। सवादो में व्यग्य, वाग्वैदग्ध्य तथा वक्रता के दर्शन होते है।

'कमला' तथा 'क्रान्तिकारी' को कई बार सफलता के साथ मचस्थ किया जा चुका है।[१०७]

भट्ट जी के नाटको की अपेक्षा उनके भावनाट्य एव गीति-नाट्य विशेष चर्चा के विषय रहे हैं, जिनमें 'बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा हृदय-तत्त्व की प्रधानता है।'[१०८] इनमे वृत्त कम, रूप, यौवन, प्रेम और वासना, सामाजिक चेतना, विवेक और अहकार के अन्तर्द्वन्द्वो का चित्रण अधिक है। 'मत्स्यगधा' (१९३७ ई०) और 'राधा' (१९४१ ई०) भट्ट जी के 'भाव-नाट्य' कहे गये हैं तथा 'विश्वामित्र' (१९३८ ई०), 'अशोकवन-वदिनी' (१९५९ ई०), 'सत तुलसीदास' (१९५९ ई०), 'गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण' (१९५९ ई०), 'अश्वत्थामा' (१९५९ ई०) आदि उनके सुन्दर और सरस गीति-नाट्य हैं। यद्यपि दोनो प्रकार के नाटको के लिए गीति-तत्त्व, वैयक्तिकता और भावातिरेक अनिवार्य हे, तथापि रग-दृष्टि से यदि दोनो मे कोई विभाजक रेखा खीची जा सकती है, तो यही कि गीति-नाट्य मे गीत और उनके शब्द ही प्रमुख है, तो भाव-नाट्य मे भावाभिनय प्रधान है और गीत गौण अर्थात् भावनाट्य के गीत नेपथ्य या पार्श्व मे गाये जाकर पात्रो के नृत्य एवं मुद्राभिनय के लिए शाब्दिक आधार भर प्रस्तुत करते है। इस दृष्टि से 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' को भी गीति-नाट्य की ही कोटि मे रखना उचित होगा। इन नाटकों का काव्य लय-गति-यति-युक्त होते हुए भी भिन्न तुकान्त छन्दो में है, जो पार्श्व-सगीत के उपयुक्त नही है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि ये सभी गीति-नाट्य भाषा-सौष्ठव, अर्थ-सौकर्य, भाव-गाभीर्य एव रसात्मकता की दृष्टि से तो अन्यतम है ही, नाट्य-तत्त्व भी उनमें पर्याप्त मात्रा मे है।

हिन्दी रगमच पर गीति-नाटकों की परम्परा का अभी विकास नहीं हो सका है, यद्यपि भाव-नाट्य, जिन्हे नृत्य-नाट्य का एक अग कहा जा सकता है, उसके लिए कोई अनजान वस्तु नहीं रहे। रंग-दृष्टि से भाव-नाट्य और नृत्य-नाट्य मे कोई अन्तर नही हैं, क्योंकि भावो की सहज और सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति नृत्य के माध्यम से ही सम्भव है।

(१९) हरिकृष्ण 'प्रेमी' (१९०८ ई०[१०९]) — प्रसाद युग के अधिकाश नाटककारो की भाँति हरिकृष्ण 'प्रेमी' भी कवि रहे हैं। युग के तकाजो, देशोद्धार के स्वप्न की पूर्ति मे उठने वाले अवरोधो और अर्थ-सकट ने उन्हें कवि के कल्पना क्षेत्र से उठा कर नाटक के अधिक ठोस एव क्रान्तिकारी भूमि पर ला उतारा। उन्होंने अपने नाटको की सामग्री राजपूत एव मुगल-इतिहास से चुनकर अपने स्वप्न को साकार किया। प्रत्येक नाटक मे चारण-चारणी, गुरु या फकीर के रूप में देश की एकता, स्वतन्त्रता एव उद्धार के लिए वे अलख जगाते घूमते हुए देखे जा सकते हैं। लेकिन इसके पहले कि तत्कालीन विदेशी शासन के विरुद्ध देशोद्धार के स्वर को आवरण के भीतर से बुलन्द करने के लिए वे माध्यम की खोज करें, उन्होंने सीधे एक काल्पनिक कथा को लेकर गांधी की अहिंसा, प्रेम और सत्य के सिद्धान्तो को गीति-नाट्य के रूप मे प्रस्तुत किया और यह गीति-नाट्य था — 'स्वर्ण-विहान' (१९३० ई०)। प्रसाद के 'करुणालय' और मैथिलीशरण गुप्त के 'अनघ' के बाद 'स्वर्ण-विहान' प्रसाद युग का तीसरा गीति-नाट्य है, जिसमे कवि की शृंगार-भावना के पुट के साथ देशात्मबोध की साधना को सामाजिक जीवन के भीतर चरितार्थ किया गया है। कविता कही-कही अत्यन्त रसपूर्ण, मधुर और मर्मस्पर्शी बन पड़ी है, परन्तु नाट्य-तत्त्व पूर्णतः विकसित नही हो सका है।

इस युग मे लिखे गये 'प्रेमी' के अन्य नाटक है—'रक्षा-बधन' (१९३४ ई०), 'पाताल-विजय' (१९३६ ई०), 'शिवा-साधना' (१९३७ ई०) और 'प्रतिशोध' (१९३७ ई०)। इनमे 'पाताल-विजय' पौराणिक और शेष सभी ऐतिहासिक नाटक हैं।

ऐतिहासिक नाटको मे भी 'प्रेमी' ने गांधीवादी राष्ट्रीय आदर्श – हिन्दू-मुस्लिम-एकता, देशोद्धार और आत्मोत्सर्ग की भावनाओ को मूर्त किया है। भारतेन्दु और प्रसाद की हिन्दू राष्ट्रीयता 'प्रेमी' मे मध्य-युग की हिन्दू-मुस्लिम-एकता के आवरण में उपस्थित हुई है। 'प्रेमी' ने इतिहास के साथ जनश्रुतियों और लोक-गीतों के आधार पर अपने नाटको की कथा का गठन किया है, जिसमे उनका निजी अध्ययन और कल्पना भी समाहित है। यथासंभव ऐतिहासिक मर्यादा और सत्य की रक्षा की गई है। 'रक्षा-बन्धन' 'प्रेमी' का अत्यन्त लोकप्रिय नाटक है, जिसके अब तक २६ संस्करण निकल चुके हैं। इस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से मानसिह पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। कर्मवती का हुमायूँ की धर्म-निरपेक्षता, सहिष्णुता, विशाल-हृदयता और शक्ति पर अटूट विश्वास हिन्दू और मुसलमानो को राखी के पवित्र प्रेम-सूत्र में बाँध देता है। ऐक्य की यही स्थापना 'रक्षा-बन्धन' का मूल उद्देश्य है।

'प्रेमी' का यह नाटक सस्कृत के प्रभाव से मुक्त आधुनिक शैली का नाटक है। इसमे प्रयुक्त स्वगत-भाषणों की संख्या अत्यल्प है, जिनका उपयोग चारित्रिक विशेषताओ की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। कार्य-व्यापार विपुल मात्रा में है। पात्रो मे ५ स्त्रियाँ और १६ पुरुष हैं। संवादो मे पात्रानुसार भाषा का प्रयोग किया गया है। कवि होने के कारण नाटक मे गीतो की बहुलता है। कई दृश्य तो गीतो से ही प्रारम्भ होते हैं। धनदास के माध्यम से हास्य का भी सृजन किया गया है।

'रक्षाबंधन' त्रिअकी है और इसका दृश्य-विधान मंचानुकूल होने के कारण परदो, दृश्यावली (सीनरी) तथा अन्य आवश्यक मंचीय उपकरणों का उपयोग कर उसे सरलता से खेला जा सकता है। नाटक का अन्त अत्यन्त प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शी है।

'शिवा-साधना' 'प्रेमी' का पचाकी ऐतिहासिक नाटक है। शिवाजी और औरंगजेब के सघर्ष से सम्बन्धित यह नाटक कई बार मंचस्थ किया जा चुका है। सन् १९५२ तक उसके पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। इसमे 'रक्षा-बंधन' की ही भाँति स्वगत कम हैं और कार्य-व्यापार तीव्र, किन्तु पात्रो की सख्या बहुत अधिक है। इसमे ९ स्त्रियाँ और ३४ पुरुष है। नाटक के कई दृश्य गीतों से ही प्रारम्भ होते हैं। नाटक काफी लम्बा है और दृश्य-विधान त्रुटिपूर्ण है। चतुर्थ अक का पंचम दृश्य सूच्य सामग्री से भरा पड़ा है। नाटक की कथा कई नगरो की घटनाओं से सम्बन्धित हैं, अत इसे बहुकक्षीय अथवा बहुधरातलीय मच पर 'स्पाट लाइट' की सहायता से अभिनीत किया जा सकता है।

'प्रतिशोध' छत्रसाल और औरगजेब के संघर्ष से सम्बन्धित है। इस नाटक का दृश्य-विधान सरल है, स्वगत और पात्र-सख्या कम है, अतः इसे सरलता से सादे या रँगे परदो पर खेला जा सकता है।

'पाताल-विजय' 'प्रेमी' का प्रथम पौराणिक नाटक है। यह मदालसा उपाख्यान पर आधारित है।

'प्रेमी' जी के नाटक अपने चुस्त, सक्षिप्त, सरस, मर्मस्पर्शी और व्यंजनापूर्ण सवादों के लिए प्रसिद्ध हैं। इससे नाटक की अभिनेयता और प्रभविष्णुता बढ जाती है।

'प्रेमी' जी की लेखनी आधुनिक युग मे भी अविश्रात गति से चलती रही। इस युग मे भी उन्होंने डेढ़ दर्जन से अधिक नाटको तथा एकांकियों की रचना की। कालक्रमानुसार उनके नाटक हैं – 'स्वप्नभग' (१९४० ई०), 'आहुति' (१९४० ई०), 'छाया' (१९४१ ई०), 'बंधन' (१९४१ ई०), 'मित्र' (१९४८ ई०), 'विषपान' (१९४९ ई०), 'उद्धार' (१९४९ ई०), 'शपथ' (१९५१ ई०), 'प्रकाश-स्तम्भ' (१९५४ ई०), 'कीर्ति-स्तम्भ' (१९५५ ई०), 'शतरंज के खिलाड़ी' (१९५५ ई०), 'डेढ़ अरब' (१९५७ ई०), 'ममता' (१९५८ ई०), 'विदा' (१९५८ ई०), 'संरक्षक' (१९५८ ई०), 'संवत् प्रवर्तन' (१९५९ ई०), 'साँपो की सृष्टि' (१९५९ ई०), 'आन का मान' (१९६२ ई०) तथा 'अमर-आन' (१९६४ ई०)।

इनमें 'छाया', 'बंधन' तथा 'डेढ़ अरब' समस्या-प्रधान नाटक हैं और शेष सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक नाटकों की भाषा परिमार्जित, प्रवाहपूर्ण एवं ओजपूर्ण है, किन्तु कहीं-कहीं विचारों तथा भावोच्छ्‌वास से बोझिल है। संवादों में वाग्वैदग्ध्य, ओज, काव्यत्व एवं अलंकारिकता, चुस्ती, व्यंग्य तथा विनोद का पुट है। ये नाटक प्रायः तीन अंक के हैं, किन्तु प्रत्येक में कई-कई दृश्य रहते हैं।

'प्रेमी' जी के एकांकी प्रायः सामाजिक, राजनैतिक तथा ऐतिहासिक विषयों को लेकर लिखे गये हैं, जिनमें 'राजनीति, समाज-नीति और मानवता' से सम्बन्धित कुछ 'संघर्षों के चित्र' उरेहे गये हैं।[११] 'प्रेमी' जी के कुछ एकांकी सफलतापूर्वक खेले जा चुके हैं।[१२] 'मंदिर एकांकी-संग्रह के अन्तर्गत उन्होंने सेवा, मातृ, राष्ट्र, मान, न्याय, वाणी तथा गृह के सात पृथक्-पृथक् मन्दिर खड़े किये हैं। 'प्रेम अंधा है', 'रूपशिला' तथा 'यह मेरी जन्मभूमि' 'प्रेमी' जी के सुन्दर एकांकी हैं।

(२०) **सियारामशरण गुप्त (१८९५-१९६३ ई०)** — सियारामशरण गुप्त मुख्यतः कवि हैं, अतः उन्होंने अपने अग्रज मैथिलीशरण गुप्त के 'अनघ' की नाट्य-शैली का अनुसरण कर 'उन्मुक्त' नामक गीति-नाट्य की रचना की। इसमें स्थल-परिवर्तन के साथ ही दृश्य-परिवर्तन होता है और रंग-संकेत भी दिये गये हैं। गीति-नाट्य सामान्यतः अच्छा बन पड़ा है। यह अभिनेय है।

इस गीति-नाट्य के अतिरिक्त गुप्त जी ने एक गद्य-नाटक भी लिखा है — 'पुण्य पर्व' (१९३३ ई०)। इसमें बोधिसत्व सुतसोम और नरखादक ब्रह्मदत्त के माध्यम से क्रमशः सत् और असत् शक्तियों का संघर्ष चित्रित किया गया है। भाषा संस्कृतनिष्ठता और तत्व-निरूपण की अधिकता के कारण दुरूह एवं बोझिल बन गई है। लेखक का नाट्य-क्षेत्र में यह प्रयोग सफल नहीं कहा जा सकता।

(२१) **सुमित्रानन्दन पंत (जन्म १९०० ई०)** — प्रसाद युग के अनेक कवियों की भाँति सुमित्रानन्दन पंत ने भी नाट्य-क्षेत्र में अपना कौशल दिखलाने के लिए 'ज्योत्स्ना' (१९३४ ई०) नामक नाट्यरूपक की रचना की। इसमें वे एक साथ कवि और दार्शनिक के रूप में प्रकट हुए हैं और पाँच अंकों के इस रूपक में उन्होंने अपनी नवीन समाज-व्यवस्था की कल्पना को रूप प्रदान किया है। इसकी दृश्य-परिकल्पना अत्यन्त सहज, सूक्ष्म और सप्राण है, जिसे यवनिका, प्रतीक-सज्जा, प्रतीकात्मक वेश-भूषा, रंगदीपन और आधुनिक ध्वनि-संकेतों के साथ बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से प्रदर्शित किया जा सकता है। कवि होने के नाते इसमें पवन, छाया, ताराओं, झींगुर, जुगनू आदि के गीत माधुर्य और स्वप्निल आनन्द का विस्तार करते हैं, तो दूसरी ओर प्रलय-गीत की भयंकरता हमारी स्नायुओं को जकड़ लेती है। विभिन्न राग-रागिनियों के समन्वित उपयोग से विविध रसों को मुखरित किया जा सकता है।

प्रसाद की 'कामना' की शृंखला में 'ज्योत्स्ना' एक मनोरम, भावपूर्ण और विचारोत्तेजक रूपक है। इसके अतिरिक्त पंत ने 'सौवर्ण' तथा 'स्वप्न और सत्य' नामक दो काव्य-रूपक भी लिखे हैं।

(२२) **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (जन्म १९०६ ई०)**—ऐतिहासिक नाटककारों की परम्परा में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का अपना स्थान है। उनके नाटकों में भारतीय संस्कृति के चित्रों के अतिरिक्त जीवन की रंगीनियों के चित्र भी प्रचुरता से मिलते हैं। विद्यालंकार ने ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त पौराणिक एवं सामाजिक नाटक भी लिखे हैं। आलोच्य युग में उन्होंने केवल दो नाटक लिखे — 'अशोक' (१९३५ ई०) और 'रेवा' (१९३८ ई०)।

'अशोक' पाँच अंकों का एक बड़ा नाटक है, जिसमें चार स्त्रियाँ और दस पुरुष पात्र हैं। इस नाटक की यह विशेषता है कि प्रत्येक अंक में सात-सात दृश्य हैं। सभी अंकों में बराबर दृश्य रखने की भावना के कारण ही नाटक में कुछ निरर्थक दृश्य आ गये हैं — यथा चौथे अंक के कुछ दृश्य, तथापि अन्यत्र दृश्य-विधान बहुत प्रभावोत्पादक बन पड़ा है।

लेखक स्वयं इसे 'पाठ्य नाटक' मान कर इस बात से संतुष्ट है कि इस नाटक की लगभग २७ वर्षों में एक लाख प्रतियाँ बिक चुकी हैं।[१३५] वह उस पाठ्य-नाटक को सफल रचना मानता है, जिसका पाठक मानसिक साक्षात्कार कर सके,[१३६] किन्तु यह नाटक पाठ्य-नाटक होने के साथ ही अपने सरल दृश्य-विधान, सरल, संक्षिप्त और अर्थपूर्ण संवाद, पात्रों की कमी आदि के कारण सादे या रंगे परदों पर, प्रतीक मंच-उपकरणों के साथ, खेला जा सकता है। इसके लिये निरर्थक दृश्यों, लम्बे स्वगत और भाषणों को कम करना आवश्यक होगा।

'रेवा' में आशाद्वीप की राजकुमारी रेवा और कम्बोज के राजकुमार यशोवर्मा द्वारा दो विरोधी संस्कृतियों के प्रचार-प्रसार का संघर्ष चित्रित है।

विद्यालंकार के नाटकों में दृश्य के भीतर दृश्य दिखाने की, पश्चात्वर्तन (फ्लैश बैक) की व्यवस्था रहती है। पर्याप्त रंग-संकेत देकर रंगमंचीय ज्ञान का अच्छा परिचय दिया गया है। भाषा में उर्दू शब्दों के प्रयोग से वह बेमेल बन गई है।

(२३) सेठ गोविन्ददास (१८९६-१९७ ई०) – साहित्य और राजनीति में एक-सी गति रखने वाले, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल समर्थक, प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार सेठ गोविन्ददास वैभव और विलास की गोद में खेल कर भी हिन्दी और अंग्रेजी-साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप नाटक-रचना की ओर प्रवृत्त हुए और सन् १९१७ में उन्होंने प्रथम नाटक 'विश्वप्रेम' लिखा, जो बाद में खेला भी गया।[१३७] बचपन में देखी गई रामलीला तथा देश-प्रेम के पुरस्कार-स्वरूप प्राप्त जेल जीवन ने भी सेठ जी को नाट्य-विषयक अध्ययन करने एवं नाटक लिखने की प्रेरणा प्रदान की।

सन् १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन में सेठ जी जेल गये और वहाँ उन्होंने 'कर्त्तव्य', 'प्रकाश' और 'नवरस' नामक तीन नाटक लिखे।[१३८] सन् १९३२ में पुन: जेल होने पर सेठ जी ने 'हर्ष', 'कुलीनता', 'विश्वासघात' और 'स्पर्धा' नामक चार नाटक लिखे।[१३९] 'विकास' भी इसी दूसरी जेल-यात्रा (नागपुर) के मध्य लिखा गया। सन् १९३३ में तीसरी बार बन्दी होने पर एक वर्ष के भीतर चार नाटक लिखे–'दलित-कुसुम', 'बड़ा पापी कौन ?', 'सिद्धान्त, 'स्वातन्त्र्य' और 'ईर्ष्या'।[१४०] इसके अतिरिक्त सेठ जी ने गीति-नाटक 'स्नेह या स्वर्ग', १९४६ ई०), एकाकी तथा एकपात्रीय नाटक भी लिखे हैं। इस प्रकार सेठ जी कालक्रम से नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हो गये, यद्यपि उन्होंने उपन्यास, आत्म-कथा, जीवनी, कविता, यात्रा-संस्मरण, निबन्ध आदि की भी रचना की है।

सेठ जी ने भारत तथा पश्चिम के नाट्याचार्यों एवं आधुनिक नाटककारों के विचारों का अच्छा अध्ययन किया था। फलत: उन्होंने अपनी नाट्य-कृतियों में भारतीय रस-सिद्धान्त और सुखात-भावना तथा पश्चिमी नाटककारों में शेक्सपियर के संघर्ष-तत्त्व और जीवन के व्यापक चित्रण, इब्सन की बौद्धिकता और विस्तृत रंग-संकेत ओनील के ढंग के स्वगत या आत्मकथन तथा स्ट्रिंडबर्ग की स्वप्न चित्रण शैली का समन्वय किया है। उन्होंने यद्यपि 'बड़ा पापी कौन?', 'दु:ख क्यों', 'हिंसा या अहिंसा', 'प्रेम या पाप', 'सिंहलद्वीप' आदि नाटकों में इब्सन की एकाकदृश्यीय पद्धति को अपनाया है, किन्तु उनके अधिकांश नाटक शेक्सपियर की बहुदृश्यीय पद्धति पर लिखे गये हैं। सेठ जी ने पूर्णांग नाटकों में सामान्यत: संकलन-त्रय के सिद्धांत की उपेक्षा की है।

सेठ जी नाटककार ही नहीं, नाट्याचार्य भी थे। उन्होंने अपनी नाटक-सम्बन्धी सैद्धान्तिक मान्यताओं का अपने ग्रन्थ 'नाट्य-कला मीमांसा' द्वारा प्रतिपादन किया है। उज्जैन के विक्रम विश्वविद्यालय में उन्होंने नाटक तथा रंगमंच पर चार सारगर्भित भाषण दिये थे, जो पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

सन् १९५६ में गोविन्ददास हीरक जयंती समारोह समिति द्वारा नई दिल्ली में सेठ जी के बहुमुखी व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सम्मान करने के लिए, सेठ जी की हीरक जयन्ती के अवसर पर, उनका सार्वजनिक अभिनंदन किया था और इस अवसर पर उन्हें (सेठ) गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ' भी भेंट किया गया था। ९९५ पृष्ठ के इस

विशद ग्रथ मे उनके बहुमुखी कृतित्व और विशेषकर उनके नाट्य-साहित्य का मूल्याकन करते हुए नाट्य-सिद्धांत और हिन्दी नाट्य-साहित्य तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओ के नाट्य-साहित्य का भी विवेचन किया गया है।

सेठ गोविन्ददास प्रसाद युग के एक ऐसे सशक्त और प्रौढ नाटककार थे, जिन्होंने इस युग के उत्तरार्द्ध मे नाट्य-लेखन प्रारम्भ किया और समस्त आधुनिक युग को भी परिव्याप्त कर लिया। उन्होने पूर्णा ग एव एकांकी मिला कर सौ से अधिक नाटक लिखे हैं। उनका अधिकाश कृतित्व आधुनिक युग की देन है, अत. यहाँ केवल उनकी उन्ही रचनाओ का उल्लेख किया जायगा, जो प्रसाद युग मे प्रकाशित हुई अथवा लिखी गई। इस युग के उनके प्रमुख प्रकाशित नाटक हैं–'हर्ष' (१९३५ ई०), 'प्रकाश' (१९३५ ई०), 'कर्त्तव्य पूर्वार्द्ध' (१९३५ ई०) और 'कर्त्तव्य उत्तरार्ध (१९३५ ई०)।

'हर्ष' सेठ जी का ऐतिहासिक नाटक है। घटनाओ को यथातथ्य, किन्तु स्वाभाविक एव सुगठित रूप मे उपस्थित करने के लिये युगधर्मानुकूल मौलिक परिवर्तन करने मे सेठ जी कुशल है, जिससे ऐतिहासिकता एवं नाट्य-धर्म, दोनों की रक्षा हुई है। नाटककार ने इतिहास के अनुसार हर्ष को अविवाहित और उसकी पुत्री जयमाला को उसकी पालित कन्या बताया है, किन्तु उसकी विधवा बहन राज्यश्री का राज्याभिषेक कराकर उसे साम्राज्ञी-पद पर प्रतिष्ठित कर सामाजिक रूढियो को नया मूल्य दिया और कथा-सौदर्य मे अभिवृद्धि की है। इसी प्रकार शिव, सूर्य और बुद्ध के सह-पूजन तथा सर्वस्व-दान के प्रसग क्रमश कान्यकुब्ज और प्रयाग से सम्बन्धित न दिखाए जा कर केवल प्रयाग से ही, नाटकीय सौन्दर्य के लिए, सम्बद्ध कर दिये गये हैं। इस प्रकार के परिवर्तन कही भी अटपटे नही लगते 'हर्ष' के द्वारा सेठ जी ने विविध धर्मो, भाषाओ और समाज-व्यवस्थाओ की परस्पर-सहिष्णुता एव सह-अस्तित्व को युद्धावरोध के लिए आवश्यक बताया है।[२५३] प्रसाद' की 'राज्यश्री' की अपेक्षा 'हर्ष' एक प्रौढ कृति है। उसी के समान इसमे चार अक हैं। नाटक मे शेक्सपियर की भाँति अनेक दृश्यों की योजना की गई है, किन्तु पात्र-सख्या कम है। कुल चार स्त्रियाँ और ९ पुरुष पात्र हैं। सवादों की भाषा सस्कृत-निष्ठ होकर भी दुरूह नही है। वे सरस, सरल और प्रवाह-युक्त हैं। यह एक सुन्दर अभिनेय नाटक है,[२५४] जिसमे विस्तृत रग-सकेत दिये गये हैं। नाटक का अत सम्भावित अग्निदाह के पूर्व कर रगमंचीय सुविधा का पूरा ध्यान रखा गया है। 'हर्ष' अभिनीत हो चुका है। मद्रास मे यह तीन-चार दिन खेला गया और किसी कोष के निमित्त १६०००)रु० एकत्र किये गये।[२५५]

'प्रकाश' एक 'सामाजिक-राजनीतिक नाटक' होते हुए भी मूलत' समस्या-प्रधान नाटक है, जो काफी दीर्घकाय है। इस नाटक मे समाज मे प्रचलित भेद-भाव तथा सामाजिक कुरीतियो को दूर करने के लिए कानून बनाने की अपेक्षा उनके विरुद्ध जनमत तैयार करने, सपत्ति के समरस विभाजन की जगह न्यायपूर्ण बँटवारे, साम्यवाद की जगह गांधीवाद और सर्वोदय द्वारा देश की समस्याओ के समाधान मे नाटककार द्वारा विश्वास प्रकट किया गया है। नाटक मे अनेक सामाजिक-राजनैतिक समस्याओ के प्रति सेठ जी 'आग्रही ही अधिक हैं,' किसी एक मूल 'समस्या की प्रस्तुति के प्रति सतर्क कम'।[२५६]

'प्रकाश' के पात्रो मे स्त्री-पात्रो की सख्या सात है, जिससे किसी भी अव्यावसायिक संस्था को इसे प्रस्तुत करने मे कठिनाई उपस्थित हो सकती है। इब्सन के 'दि लीग आफ यूथ' की भाँति इसमे आधुनिक सभ्यता और राजनीति के बाहरी दिखावे, छल-छद्म और असतोष को व्यक्त किया गया है। प्राचीन यूनानी नाटक के ढग पर उपक्रम (प्रोलाग) और उपसहार (एपीलाग) की पद्धति पर इस नाटक का अन्त एक प्रतीक घटना द्वारा किया गया है, जिसमे चीनी के बरतनो की दूकान मे साँड के घुसने और पकडे जाने का उल्लेख कर प्रकारान्तर से नायक प्रकाश के पकडे जाने का सकेत किया गया है।

नाटक मे कोई पद्य नही है। भाषा सुसंस्कृत और सुलझी हुई है, किन्तु अँग्रेजी शब्दो के अधिक प्रयोग खट-

कने वाले हैं । इस नाटक का अभिनय हो चुका है ।[५७]

'कर्त्तव्य' पौराणिक नाटक है, जो दो भागो मे है । उसके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनो मे पाँच-पाँच अंक हैं । प्रथम मे २५ दृश्य हैं, जबकि उत्तरार्द्ध मे २३ दृश्य । पूर्वार्द्ध मे विविध क्षेत्रो मे राम के और उत्तरार्ध में कृष्ण के अपने-अपने कर्त्तव्यों का चित्रण किया गया है । दोनों महापुरुषों के प्राय: सम्पूर्ण जीवन को अत्यन्त संक्षिप्त, किन्तु सुगठित रूप मे रखने का प्रयास किया गया है, जिसके कारण नाटक घटना-बहुल हो गया है । राम और कृष्ण को लौकिक परिस्थितियो मे रख कर उन्हे मानवीय भावनाओ से आन्दोलित होते और अन्त मे उनका मरण भी दिखलाया गया है । इसमें प्राचीन कवियो के गीत रखे गये हैं । दृश्याशो की अपेक्षा सूच्य सामग्री का अधिक उपयोग किया गया है, जिससे कार्य-व्यापार की हानि हुई है । यह बहुदृश्यीय नाटक है, किन्तु अभिनेय है । 'हर्ष' और 'प्रकाश' की भाँति यह भी अभिनीत हो चुका है ।[५८]

प्रसाद युग मे सेठ जी ने जिन अन्य नाटको की रचना की, उनमे 'नवरस' (१९३० ई०) प्रतीकात्मक, 'कुलीनता' (१९३२ ई०, ले०) तथा 'विश्वासघात' (१९३२ ई०) ऐतिहासिक, 'विकास' (१९३२ ई०, ले०) दार्शनिक, 'दलित कुसुम' (१९३३ ई०, ले०), 'बड़ा पापी कौन' (१९३३ ई०, ले०) तथा 'ईर्ष्या' (१९३३ ई० ले०) सामाजिक तथा सिद्धात-स्वातन्त्र्य' (१९३३ ई०) राजनैतिक नाटक है ।

'नवरस' मे भारतीय रस-सिद्धान्त से प्रेरणा लेकर नव (अथवा दस ?) रसो को पात्रो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है । वीरसिंह, रुद्रसेन, ग्लानिदत्त, मधु, अद्भुतचन्द्र तथा भीम क्रमश वीर, रौद्र, वीभत्स, वात्सल्य, अद्भुत तथा भयानक रस के प्रतीक पुरुष-पात्र हैं तथा प्रेमलता, करुणा, लीला तथा शाता क्रमश शृंगार, करुण, हास्य तथा शान्त रसो की प्रतीक स्त्री-पात्र हैं । प्रत्येक पात्र अपने पीठासीन रस के अनुसार कार्य करता है । नाटक में गांधीवादी-विचार-धारा के अनुसार युद्ध पर अहिंसात्मक सत्याग्रह की विजय का प्रदर्शन किया गया है । पात्र-सख्या अधिक न होने के कारण इस नाटक को रसानुकूल रंग के परिधान के साथ खेला जा सकता है ।

'कुलीनता' मे महाभारत के इस आदर्श को चरितार्थ किया गया है—'देवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम्' । जन्म से गोंड यदुराय सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर, असिचारी तथा छुरिका-युद्धवीर होने पर भी अस्पृश्य तथा राष्ट्र-सेवा के लिये अयोग्य समझा जाकर राज्य से निर्वासित कर दिया जाता है, किन्तु अन्तत: अपने पुरुषार्थ से त्रिपुरी राज्य का शासक बनकर राजगोंड वश का प्रवर्तन करता है । सेठ जी ने कुलीनता की कसौटी जन्म को नहीं, कर्म को माना है । इस नाटक के आधार पर सेठ जी द्वारा सचालित आदर्श फिल्म कम्पनी, बम्बई ने 'धुआँधार' (१९३५ ई०) नामक चलचित्र बनाया था,[५९] जिसका निर्देशन चिरगाँव (झाँसी) के कवि एवं नाटककार मुंशी अजमेरी ने किया था । बम्बई टाकीज की प्रसिद्ध अभिनेत्री लीला चिटनिस ने सर्वप्रथम इसी चित्र के माध्यम से रजतपट पर प्रवेश किया था ।[६०] यह नाटक रंगमच की अपेक्षा रजतपट के ही अधिक उपयुक्त है, फिर भी, केवल दो स्त्री तथा छ: पुरुष पात्र होने के कारण मच पर भी प्रस्तुत किया जा सकता है ।

'विकास' सेठ जी का स्वप्न-नाटक है, जिसे स्वय नाटककार ने 'नाटक' न कह कर 'एक नाटकीय संवाद' कहा है । नाटककार का विश्वास है कि 'पश्चिम रगमचों के सदृश' भारत मे रंगमच बन जाने के उपरान्त 'विकास' मेटरलिंक के 'ब्लू बर्ड' की भाँति ही मंच पर सफलतापूर्वक खेला जा सकता है ।[६१] सवादों में परिवर्तन के उपरान्त इसका चलचित्र भी बनाया जा सकता है ।[६२] स्वप्न मे एक युवक उठ कर आकाश और एक युवती पृथ्वी बन जाती है और इस प्रश्न पर दोनो मैं चर्चा छिड़ जाती है कि सृष्टि विकास के पथ पर जा रही है या चक्रवत् घूम कर पतन की ओर । आकाश सृष्टि के विकास का और पृथ्वी उसके पतन का पक्ष-समर्थन करती है । इस पक्ष-समर्थन के मध्य आकाश द्वारा राजकुमार सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) से लेकर सम्राट् अशोक, महात्मा ईसा, सम्राट् कान्स्टेन्टाइन, सत लूथर,प्रथम विश्व महायुद्ध तथा महात्मा गांधी तक की कथा कही और प्रदर्शित की गई है । दोनों अपने-अपने मत पर

अडे रह कर सृष्टि के उत्थान-पतन को एक अनिवार्य नियति-चक्र मानते हैं। सवाद के मध्य वर्णित कथा-प्रसगो को चलचित्रो द्वारा ही दिखाया जा सकता है। कुछ विशेष तैयारी के साथ परिक्रामी अथवा शकट मच पर भी इसे नाटक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस नाटक मे किसी अक या दृश्य-विधान का सकेत नही है। बाह्यत: अधिक से अधिक इसे एकाकदृश्यीय नाटक कहा जा सकता है, किन्तु इसके आतरिक गठन को देखने से यह प्रत्यक्ष है कि इसमे अनेक कथाओ की पृष्ठ-भूमि तथा सवाद द्वारा विविध दृश्यो की योजना की गई है और मंच पर अन्धकार और प्रकाश द्वारा भी नये-नये दृश्यो की अवतारणा की गई है।

'दलित कुसुम' मे बाल-विवाह और वैधव्य तथा उसके दुष्परिणामो को बाल-विधवा कुसुम के चरित्र द्वारा उभारा गया है। महत, बाल-सखा कुज, रसिकलाल सभी उसका सतीत्व लूटने की चेष्टा करते हैं, जिससे पीडित होकर वह आत्मघात करने चलती है, किन्तु पुलिस द्वारा पकड ली जाती है। उस पर अभियोग चलता है, किन्तु अपनी दर्द-भरी कहानी कहते-कहते न्यायालय मे ही उसके प्राण-पखेरू उड जाते हैं। 'कुलीनता' की भाँति इस नाटक का भी इसी नाम से चलचित्र बन चुका है, जिसका निर्माण सेठ जी की आदर्श फिल्म कम्पनी ने ही किया था।

'बडा पापी कौन ?' चार अको का सामाजिक नाटक है, जिसमे दो पापियो त्रिलोकीनाथ और रमाकान्त के विरोधी चरित्रो का प्रदर्शन कर यह प्रश्न उठाया गया है कि इन दोनो मे बडा पापी कौन है ? त्रिलोकीनाथ मद्यप और वेश्यागामी है, किन्तु उसकी आर्थिक दशा गिर चुकी है। रमाकात अब सम्पन्न, किन्तु चरित्र-भ्रष्ट और दोहरे व्यक्तित्व का आदमी है, जो येन-केन-प्रकारेण अपने प्रतिद्वन्द्वी त्रिलोकीनाथ को अपने मार्ग से हटाता, सती नारियो को पथभ्रष्ट करता और अपनी मिल के मजदूरो का शोषण करता है किन्तु स्कूल, अस्पताल आदि खोल तथा चुनाव जीत कर सामाजिक सम्मान भी प्राप्त करता है। लेखक ने त्रिलोकीनाथ की अपेक्षा रमाकांत को अधिक बडा पापी मान कर पूँजीवाद की बढती हुई शक्ति और उसके दुष्प्रभाव की ओर सकेत तो किया है, किन्तु उसे सघर्ष के बीच उपस्थित कर समस्या को वह जीवन्त रूप मे नही प्रस्तुत कर सका है।

'ईर्ष्या' मे ईर्ष्या के कारण एक सुखी परिवार के सम्पूर्ण सुख का नष्ट होना प्रदर्शित किया गया है। यह एक सामान्य कोटि का नाटक है।

'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' एक राजनैनिक नाटक है, जिसमे केवल दो अक हैं। डॉ॰ विनय कुमार ने इसे 'सामाजिक-राजनैतिक समस्या नाटक' माना है,[११] किन्तु वस्तुत इसमे किसी सामाजिक समस्या को गहराई से नही छुआ गया है। प्रथम अक मे १९०५ के बग-भग आन्दोलन और दूसरे मे १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन की पृष्ठभूमि मे तीन पीढियो की कथा कही गई है। त्रिभुवनदास युवक के रूप मे स्वयं बंग-भग आन्दोलन मे भाग लेता है और सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य के आधार पर अपने पिता राजा चतुर्भुजदास को अपने आगे झुका लेता है, किन्तु २५ वर्ष बाद स्वयं 'सर' की उपाधि से अलकृत हो और युक्तप्रान्त के गृह-सदस्य बन कर इसी सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य के आधार पर अपने पुत्र मनोहरदास को घर से निष्कासित कर देता है। मनोहरदास को पिकेटिंग मे पुलिस की गोली लग जाती है और उसकी मृत्यु चतुर्भुदास तथा त्रिभुवनदास, दोनो को पुनर्विचार करने के लिये बाध्य कर देती है। दादा फिर झुक कर गांधीवादी बन जाता है, किन्तु पिता अपनी जगह अडिग रह कर सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य की बात ही बघारता रह जाता है।

यह एक सुन्दर अभिनेय नाटक है, जिसमे मुख्य कथा को ही मच पर घटित होते दिखाया गया है। सेठ जी ने प्रासगिक कथा को सूच्य सामग्री के रूप मे प्रस्तुत कर नाटक की रगमचीय प्रस्तुति सुकर बना दी है। इस नाटक में स्थान-एव-कालगत अन्विति न होकर केवल कार्यैक्य के सहारे वस्तु-गठन किया गया है। इसमे एक स्त्री और पाँच

पुरुष पात्र हैं।

आधुनिक युग में रचित सेठ जी के प्रमुख नाटक हैं - 'सेवापथ' (१९४० ई०), 'हिंसा या अहिंसा' (१९४२ ई०), 'शशिगुप्त' (१९४२ ई०), 'त्याग या ग्रहण' (१९४३ ई०), 'सतोष कहाँ' (१९४५ ई०), 'कर्ण' (१९४६ ई०), 'दु ख क्यो' (१९४६ ई०), 'पाकिस्तान नाटक' (१९४६ ई०), 'प्रेम या पाप' (१९४६ ई०), 'गरीबी या अमीरी' (१९४७ ई०), 'शेरशाह', 'राम से गांधी' (पूर्वार्द्ध एव उत्तरार्द्ध, १९४९ ई०), 'सुख किसमे ?' (१९६९ ई०), 'भूदान-यज्ञ' (१९५४ ई०), 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (१९५५ ई०), 'महाप्रभु वल्लभाचार्य' (१९५७ ई०), 'भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु' (१९५७ ई०), 'अशोक' (१९५७ ई०), 'महात्मा गांधी', (१९५९ ई०) 'विजय-वेलि' (१९६३ ई०) आदि।

सेठ जी ने एकाकी नाटक भी बहुत बडी सख्या मे लिखे हैं, किन्तु वे अपने एक-पात्रीय नाटकों के लिये विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर', 'सच्चा जीवन' तथा 'षट्दर्शन' उनके एकपात्री एकाकी नाटक है। 'सच्चा जीवन' सस्कृत भाण की 'क्या कहा ?' पद्धति पर आधारित है। उसे छोड़-कर शेष एकपात्रियो मे एक ही पात्र आदि से अन्त तक बोलता है और उसके साथ एक दूसरा पात्र, भले ही वह चेतन प्राणी हो या अचेतन, मूक बने रह कर, प्रधान पात्र के लिये आलम्बन या उद्दीपन का काम देता है। इसमे 'शाप और वर' को छोड़ कर अन्य किसी भी एकपात्री नाटक मे सश्लिष्ट कथानक नही है।

(२४) उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (जन्म १९१०ई०) : उपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी प्रसाद युग की उपज है, जो प्रारम्भ मे उसकी नियमित धारा मे बह कर शीघ्र उसकी उस प्रतिधारा मे जा पहुँचे,जिसका नयन लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्या-नाटक लिखकर किया था। 'अश्क' को बचपन में देखी हुई रामलीला और रगमचीय नाटकों तथा समय-समय पर उनमे की गई भूमिकाओं ने अपनी ओर आकृष्ट किया और वे आगा हश्र, राधेश्याम तथा द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों से लेकर इब्सन, मेटरलिंक, प्रीस्टले, गालसवर्दी, स्ट्रिंडबर्ग, चेखब, ओनील, आदि के अध्ययन में डूब गये। भारत मे पश्चिमी ढंग के समस्या-नाटकों के प्रसार और अव्यावसायिक रंगमच के उपयुक्त छोटे नाटकों की युगीन माँग ने उनकी लेखनी को नाटक की ओर मोड दिया और यह एक ऐसा मोड था, जो उनकी प्रथम पत्नी शीला के निधन के उपरात रिक्त जीवन को भरने के लिये आवश्यक था।[१६४] 'अश्क' का यह मत रहा है कि 'रगमच को स्फूर्ति प्रदान करने' के लिये 'सुगमता से खेले जा' सकने योग्य 'नाटक अधिक सख्या मे' लिखे जाने चाहिए।[१६५]

उनके प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'जय-पराजय' (१९३७ ई० या पूर्व) में 'बेताब' और 'प्रसाद' के अनुकरण पर संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमो का कुछ दूर तक पालन किया गया है और उनके प्रथम सामाजिक नाटक 'स्वर्ग की झलक' (१९३८ ई०, ले०) में प्रेम और विवाह की समस्या को भारतीय दृष्टिकोण से अंकित किया गया है। संकलन-त्रय के पाश्चात्य सिद्धात के अनुसार इसमे केवल एक दिन के बारह घण्टो की घटनाओ का चित्रण है, जो नाट्य-शिल्प की दृष्टि से एक सुन्दर प्रयोग है।

'अश्क' ने अपने नाट्य-लेखन तथा नाट्य-शिल्प-सम्बन्धी विचारों तथा अनुभूतियों को अपने निबन्धों-'मैं नाटक कैसे लिखता हूँ' तथा 'नौटंकी से पृथ्वी थियेटर्स तक' में व्यक्त किया है। उन्होंने पूर्णांग नाटको के अतिरिक्त एकाकी, कविता, कहानी और उपन्यास भी लिखे हैं।

प्रसाद युग मे लिखे उनके नाटक हैं – 'जय-पराजय' (१९३७ ई०) तथा 'स्वर्ग की झलक' (१९३८ ई०, ले०)।

'जय-पराजय' मे युवराज चंड की ऐतिहासिक कथा कही गई है, जिसमें रणमल की बहन हंसा, जिसका विवाह पहले चंड के साथ होने वाला था, उसके पिता लक्ष्मणसिंह राघव से ब्याह करके चंड की विमाता बन जाती है। इसमे हंसा का अन्तर्द्वन्द्व बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है। पाँच अंको में विभाजित इस वीर रस-प्रधान नाटक

मे प्रारम्भ और अन्त मे गीत रख कर क्रमश मगलाचरण और भरतवाक्य के उद्देश्य की सिद्धि की गई है। रसाश्रित होते हुए भी इसमे फलागम का अभाव है। यह पचांकी नाटक बहुदृश्यीय है, जिसे चित्रित या सादे परदो पर, कुछ सक्षिप्त करके, खेला जा सकता है।

'स्वर्ग की झलक' का नायक विधुर रघु अपने मित्रो की शिक्षिता पत्नियो के कृत्रिम, दिखावटी और बोझिल स्वर्ग को देख कर अपनी कम पढी साली रक्षा से विवाह कर लेता है, जिसे कभी वह गले मे पड़ा 'चक्की का पाट' समझा करता था। इसका मूल स्वर है–आधुनिकाएँ बाहरी आरम-प्रदर्शन की भूख का परित्याग कर घर की ओर लौटें, घर के मोर्चे को सँभालें और इस प्रकार पति के जीवन-सघर्ष की सच्ची सगिनी बनें।

'अश्क' के इस 'व्यग्य नाटक' मे चार अक हैं, जो काल-सकलन के सूत्र से परस्पर दृढ़ता से आबद्ध हैं। इसमे गा आदि नाटककारो की भाँति विस्तृत रग-सकेत भी दिये गये हैं। नाटक मे पात्र अधिक है। केवल स्त्री-पात्रों की सख्या ही सात है, जिसके कारण अल्प साधन वाले अव्यावसायिक रगमच पर उसका अभिनय कठिन है। हाँ, साधन-सम्पन्न सस्थाओं द्वारा इसे मचित किया जा सकता है।

'अश्क' के अन्य नाटक आधुनिक युग की देन है, जिनमे प्रमुख हैं – 'छठा बेटा' (१९४० ई०), 'कैद', 'उड़ान' तथा 'आदि मार्ग' (१९५० ई०), 'पैतरे' (१९५२ ई०), 'अलग-अलग रास्ते' (१९५४ ई०) तथा 'अजो दीदी' (१९५६ ई०)। इनमे 'छठा बेटा', 'अलग-अलग रास्ते' तथा 'अजो दीदी' अभिनीत हो चुके हैं।

'छठा बेटा' अश्क जी का एकाकदृश्यीय नाटक है, जिसमें एक ही अक और एक ही दृश्यबन्ध है। इसकी कथा मद्यप और अवकाश-प्राप्त बसतलाल के अपने पाँच बेटो द्वारा तिरस्कृत होने पर अन्तत' उसके छठे बेटे दयाल चन्द की छायामूर्ति के पितृ-सेवा के आश्वासन पर आधारित है। दयालचन्द बचपन मे ही घर से भाग गया था। इस नाटक का इलाहाबाद विश्वविद्यालय के म्योर हॉस्टल मे सन् १९५१ में प्रदर्शन हो चुका है।

तीन दृश्यो के एक-दृश्यबन्धीय नाटक 'अलग-अलग रास्ते' मे दो बहनो–रानी और राज के असफल दाम्पत्य जीवन के परस्पर-विरोधी कटु अनुभवो की कथा कही गई है। इसमे विवाह-सस्था को 'अँधेरे मे तीर मारने के बराबर' कहा गया है। यह नाटक नीटा (नार्थ इडियन थियेट्रिकल एसोसिएशन), प्रयाग द्वारा १८ दिसम्बर, १९-५३ को पैलेस थियेटर के रगमच पर मचस्थ किया गया था। सन् १९५४ मे कानपुर की नाट्य-सस्था चेतना ने भी इसे दो बार खेला।

'अजो दीदी' एक दृश्य-बन्ध का द्विअकी नाटक है, जिसकी नायिका अजो दीदी अर्थात् अजली अपने नाना के अलोचशील यत्रवत् नियमो से प्रभावित होने के कारण अपने पति और बच्चो को भी उन्ही मे दृढता से बाँध कर रखना चाहती है, किन्तु अजो का भाई श्रीपत उसके घर आकर चलती हुई गाडी में 'ब्रेक' लगा देता है। अजो के मरने के बाद उसकी पुत्र-वधू ओमी अजो के नियमो पर गाडी चलाना प्रारम्भ कर देती है। बीस वर्ष बाद श्रीपत फिर इस घर मे आकर उसके यत्रवत् जीवन के जादू को भग करता है। यह नाटक बंबई (१९५४ ई०), कानपुर (१९५४ ई०) आदि कई नगरो मे खेला जा चुका है। बम्बई मे सेंट जेवियर्स और कानपुर मे लिटिल थियेटर ने इसे मंचस्थ किया।

'कैद' और 'उडान' भी एक दृश्यबन्ध पर खेले जा सकने योग्य सुन्दर नाटक है।

'अश्क' जी ने तीन दर्जन से अधिक एकाकी लिखे हैं, जिनमे अधिकाश लाहौर, बम्बई, दिल्ली, इलाहाबाद आदि देश के अनेक नगरो मे खेले जा चुके हैं। स्वय नाटककार ने अपने एकाकियो का 'एकाकी प्रदर्शन राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब आदि राज्यो के विभिन्न नगरो में किया है।'[111] इस प्रकार का एक प्रदर्शन ('पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' का स्वय नाटककार द्वारा साभिनय, वाणी के उतार-चढ़ाव के साथ, वाचन) एक बार इन पक्तियो के लेखक को कानपुर में देखने को मिला है। वास्तव मे, इस प्रकार के एकपात्रीय अभिनय मे

'अश्क' को कमाल हासिल है। दिसम्बर, १९५१ (अथवा १९५२ ई०) में जब पृथ्वीराज कपूर अपने थियेटर के साथ इलाहाबाद आये, तो 'अश्क' ने इस एकांकी का प्रदर्शन कर उन्हें और उनके कलाकारों को खिलखिला कर हँसने के लिये विवश कर दिया।[२६४]

'अश्क' न केवल नाटककार हैं, बल्कि कुशल अभिनेता और निर्देशक भी हैं।

अन्य नाटककार–प्रसाद युग के अन्य नाटककारों ने जहाँ सामाजिक दूषणों एवं कुरीतियों को लेकर व्यंग्य-विनोदपूर्ण कृतियाँ दी हैं, वहीं कुछ नाटककारों ने ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा कल्पित सामग्री लेकर देशोद्धार, गुरुता एवं राष्ट्रीय चेतना को जगाने का बीड़ा भी उठाया है, यद्यपि उनकी सभी कृतियों में प्रसाद का गाम्भीर्य, नाट्य-सौष्ठव एवं संस्कार उपलब्ध नहीं हैं। इन नाटककारों के अधिकांश नाटक रंगोपयोगी न होकर पाठ्य हैं, अत. उनका रंगमंचीय मूल्यांकन वांछनीय न होगा। इस युग के अन्य नाटककारों में बदरीनाथ भट्ट, चतुरसेन शास्त्री, चन्द्रराज भंडारी, परिपूर्णानन्द वर्मा, लक्ष्मीधर वाजपेयी, कृष्णकुमार मुखोपाध्याय, 'कुमार हृदय', कैलाशनाथ भटनागर, श्यामकांत पाठक, द्वारकाप्रसाद मौर्य, भगवतीप्रसाद पाथरी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और सत्येन्द्र उल्लेखनीय हैं।

(५) हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमंच : तुलनात्मक स्थिति, आदान-प्रदान, योगदान और एकसूत्रता

बेताब युग में हिन्दी नाट्य-विधान पारसी-गुजराती नाट्य-विधान से प्रभावित हुआ, किन्तु प्रसाद युग नये प्रयोगों का युग था। यद्यपि गुजराती रंगमंच के व्यावसायिक नाटकों की नाट्य-पद्धति प्राय वही बनी रही, किन्तु वहाँ अव्यावसायिक रंगमंच के विकास के साथ इब्सन की नाट्य-पद्धति का अनुसरण प्रारम्भ हो गया। इब्सन, शा, गाल्सवर्दी, मोलियर आदि पश्चिमी नाटककारों ने इस युग में गुजराती के अतिरिक्त हिन्दी, मराठी और बँगला सभी भाषाओं को कुछ न कुछ अंशों में प्रभावित किया। बँगला में रवीन्द्र ने अपनी एक नई प्रतीक नाट्य-पद्धति को जन्म दिया, जिसमें तत्त्व-निरूपण के लिए कुछ प्रतीकों का सहारा लिया गया है। तत्त्व-चिंतन के साथ जगह-जगह काव्य का समावेश भी हुआ है। हिन्दी में प्रसाद और गुजराती में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने भी अपने विचारों और आदर्शों का उद्घाटन करने के लिये काव्यात्मकता का सहारा तो लिया है, किन्तु रवीन्द्र की भाँति प्रतीकों का नहीं। प्रसाद का 'कामना' नाटक इस पर्यवेक्षण का अपवाद है। मराठी ने यद्यपि इब्सन और मोलियर के प्रभाव को इस युग के पूर्वार्द्ध में ग्रहण किया, तथापि गुजराती, हिन्दी और बँगला में उनका प्रभाव युग के उत्तरार्द्ध में ही स्वीकृत हो सका। इन भाषाओं के व्यावसायिक रंगमंच प्राय. पुराने ढर्रे के ही नाटक खेलते रहे।

रंग-अभियांत्रिकी की दृष्टि से मराठी, गुजराती और बंगला के रंगमंचों ने तेजी से कदम आगे बढ़ाये और इनमें बंगला रंगमंच संभवत: परिक्रामी और शकट मंचों के प्रयोग के कारण प्राय सभी से आगे रहा। इसके विपरीत हिन्दी का अव्यावसायिक रंगमंच तो साधनहीन ही बना रहा, उसका व्यावसायिक रंगमंच भी परिक्रामी रंगमंच के प्रयोग के बावजूद पतन की ओर उन्मुख हो चला। प्रसाद युग के अन्त तक हिन्दी का व्यावसायिक रंगमंच पतनोन्मुख होकर क्षीण हो चला। हिन्दी रंगमंच के इतिहास में यह एक दुःखद दुर्घटना है, किन्तु यह दुर्घटना सवाक् चित्रपट के अभ्युदय के साथ गुजराती और मराठी रंगमंचों पर भी घटित हुई। बँगला का व्यावसायिक रंगमंच भी कुछ समय के लिये हतप्रभ हुआ, किन्तु सभी भाषाओं के रंगमंच अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर आधुनिक युग में पुनः जाग उठे। यद्यपि हिन्दी के व्यावसायिक रंगमंच ने भी करवट बदली, किन्तु वह मुख्यतः कलकत्ते को ही केन्द्र बना कर उत्तरी भारत में सीमित होकर रह गया। दक्षिण भारत, विशेषकर बम्बई से उसके पैर उखड़ गये।

हिन्दी, गुजराती और मराठी रगमचो के क्षेत्र में परस्पर आदान-प्रदान तीन रूपों में देखने को मिलता है— (१) एक भाषा के कलाकारो का दूसरी भाषा के रगमच पर अभिनय करना, (२) एक भाषा के रंगमच द्वारा दूसरी भाषा के नाटक खेलना, तथा (३) एक भाषा के नाटककार द्वारा दूसरी भाषा के नाटक लिखना और उसे तीसरी भाषा के रगमच पर खिलवाना।

बहुभाषी कलाकार

दिल्ली के मास्टर निसार ने गुजराती और हिन्दी, दोनो ही भाषाओ के रगमच पर काम किया है। हिन्दी की न्यू अलवर्ट (१९१० से १९१५ ई० तक), एलेक्जेण्ड्रा थियेट्रिकल क० (१९१५ से १९१७ ई० तक), अल्फ्रेड (१९१७ ई० से १९२१ ई० तक) और न्यू अल्फ्रेड (१९२१ से १९२७ ई० तक) में उन्होने अनेक स्त्री-पुरुष भूमिकाएँ की।[१९८] इसी बीच गुजराती के आर्यनैतिक नाटक समाज द्वारा अभिनीत मणिलाल 'पागल'-कृत 'ससार-लीला' (१९२० ई०) में भी मा० निसार ने अभिनेत्री की भूमिका की।[१९९]

वालीवाला विक्टोरिया की कला-अभिनेत्री एव नायिका मुन्नीबाई ने आर्यनैतिक नाटक समाज के गुजराती नाटको—'धापना थाप' (१९२५ ई०), 'ससार-लीला' (१९२५-२६ ई०), 'एक अबला' (१९२७ ई०) आदि नाटको मे प्रमुख भूमिकाएं करके यश उपार्जित किया।

आर्यनैतिक नाटक समाज और देशी नाटक समाज के गुजराती-भाषी कलाकारो ने क्रमश: मु० अब्बास अली का 'सती मजरी' (१९२१ ई०) और 'पागल' का 'सती-प्रभाव' (१९३४ ई०) हिन्दी मे अभिनीत किये। इसी प्रकार सन् १९१७ के बाद गोविन्दराव टेंबे की शिवराज संगीत मण्डली ने हिन्दी के नाटक खेलने प्रारम्भ किये।[२००] इस मण्डली के लिये गुजराती नाटककार 'पागल' ने गुरु मच्छिन्द्रनाथ की रहस्य-कथा को लेकर 'सिद्ध-ससार' नामक नाटक लिखा, जो सन् १९१८ मे खेला गया। यह गुजराती नाटककार बाघजी आशाराम ओझा के 'त्रियाराज' का हिन्दी-रूपान्तर है।[२०१] इसी नाटक के आधार पर वी० शांताराम ने प्रभात फिल्म कं० के ध्वज के अन्तर्गत 'माया मच्छिन्द्र' नामक हिन्दी चलचित्र बनाया था।

गुजराती और मराठी कलाकारो तथा नाटककारो का यह हिन्दी-प्रेम और उनकी हिन्दी रगमच की सेवा सदैव स्मरणीय रहेगी।

मराठी कलाकारो का इसी युग मे गुजराती रगमंच पर प्रवेश प्रारम्भ हुआ और उन्होने अनेक गुजराती नाटको मे सफलता के साथ भूमिकाएँ की। देशी नाटक समाज में आज भी अनेक मराठी कलाकार काम करते है।

चन्द्रवदन मेहता के 'अखो' नाटक मे सरला बनर्जी नामक एक बगाली अभिनेत्री ने स्त्री-भूमिका की थी।

बहुभाषी नाटककार

गुजराती नाटककार प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी ने अनेक गुजराती नाटकों एवं फिल्मो के संवाद अथवा सिने-नाटक लिखने के अतिरिक्त हिन्दी में भी 'अहल्याबाई', 'तुलसीदास', 'आयना', 'विक्रमादित्य', 'शरबती आँखें', 'माँ-बाप की लाज', 'देवर', 'गृहस्थी' आदि अनेक चित्रो के सिने-नाटक लिखे है। मु० अब्बास के हिन्दी नाटक 'सती मंजरी' तथा 'पागल' के 'सती-प्रभाव' और 'सिद्ध ससार' का ऊपर उल्लेख हो ही चुका है।

बंगभाषी रगमच

हिन्दी रगमच द्वारा बंगला रगमंच की स्थापना और उसकी सेवा मे योगदान देने के दृष्टांत तो मिलते हैं, किन्तु बंगला रगमंच द्वारा हिन्दी रगमच की सेवा का कोई दृष्टांत उपलब्ध नही होता। हां, बगाली कलाकारो

का कुछ हद तक हिन्दी रंगमंच को सहयोग सदैव प्राप्त रहा है। इस दिशा में हिन्दी के मादन थियेटर्स द्वारा सन् १९२१ में बंगाली थियेट्रिकल कं० की स्थापना और कुछ बँगला नाटकों के उपस्थापन का कार्य सराहनीय है। इस कम्पनी द्वारा आगा 'हश्र' के हिन्दी नाटक के बँगला-रूपान्तर 'अपराधी के ?' (अनु० सत्येन दे), क्षीरोद-'आलमगीर' और 'रघुवीर', द्विजेन्द्र-'चन्द्रगुप्त' और क्षीरोद-'रत्नेश्वरेर मंदिर' नाटक खेले गये और सन् १९२३ में यह बन्द हो गई।

नाटकों का लेन-देन

नाटक-क्षेत्र में यद्यपि हिन्दी और समीक्ष्य भारतीय भाषाओं में परस्पर आदान-प्रदान अथवा एकपक्षीय योगदान हुआ है, तथापि सभी समीक्ष्य भाषाओं में बँगला के नाटककारों—माइकेल मधुसूदनदत्त, गिरीशचन्द्र घोष, मनमोहन गोस्वामी, द्विजेन्द्रलाल राय, क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक सर्वाधिक मात्रा में हिन्दी में अनुवादित हुए।

माइकेल के 'कृष्णकुमारी' (१८६० ई०) और 'शर्मिष्ठा' (१८५९ ई०) का हिन्दी में अनुवाद क्रमशः रूपनारायण पाडेय ने सन् १९२० ई० में 'कृष्णकुमारी' और रामलोचन शर्मा 'कटक' ने 'कसौटी' (१९२६ ई०) के नाम से किया।

गिरीश के 'प्रफुल्ल' (१८८९ ई०) और 'बुद्धदेवचरित्र' (१८८७ ई०) का रूपनारायण पाडेय ने क्रमशः 'प्रफुल्ल' (१९१७ ई०) और 'बुद्धचरित्र' (१९२४ ई०), 'शास्ति कि शान्ति' (१९०८ ई०) और 'बलिदान' (१९०५ ई०) का रामचन्द्र वर्मा ने क्रमशः 'वैधव्य कठोर दण्ड है या शान्ति ?' (१९१८ ई०) और 'बलिदान' (१९२० ई०) तथा 'गृहलक्ष्मी' (१९१२ ई०) का वासुदेव मिश्र ने 'गृहलक्ष्मी' (१९२३ ई०) के नाम से ही अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त रूपनारायण पाण्डेय ने गिरीश के अन्य दो नाटकों के अनुवाद 'झखमारी' (१९२१ ई०) और 'पतिव्रता' (१९२८ ई०) के नाम से किये।

मनमोहन गोस्वामी के 'पृथ्वीराज' (१९०५ ई०) का रूपनारायण पाण्डेय ने उसी नाम से अनुवाद सन १९१८ ई० में किया।

द्विजेन्द्र के नाटकों के हिन्दी अनुवाद रूपनारायण पाण्डेय, रामचन्द्र वर्मा, शिवरामदास गुप्त, सूर्यनारायण दीक्षित एवं शिवनारायण शुक्ल, गिरिधर शर्मा, मुंशी अजमेरी आदि कई हिन्दी-लेखकों ने किये। रूपनारायण पाण्डेय ने उनके 'दुर्गादास' (१९०६ ई०), 'पर-पारे' (१९१२ ई०), 'शाहजहाँ' (१९०९ ई०), 'ताराबाई' (१९०३ ई०), 'भीष्म' (१९१३ ई०), 'सीता' (१९०८ ई०), 'नूरजहाँ' (१९०८ ई०), 'बंग-नारी' (१९१६ ई०), 'पाषाणी' (१९०० ई०), 'प्रतापसिंह' (१९०५ ई०), 'पुनर्जन्म' (१९११ ई०) और 'चन्द्रगुप्त' (१९११ ई०) का क्रमशः 'दुर्गादास' (१९१६ ई०), 'उस पार' (१९१७ ई०), 'शाहजहाँ (१९१७ ई०), 'ताराबाई' (१९१८ ई०), 'भीष्म' (१९१८ ई०), 'सीता' (१९१८ ई०), 'नूरजहाँ' (१९१९ ई०), 'भारत-रमणी' (१९१९ ई०), 'पाषाणी' (१९२० ई०), 'राणा प्रतापसिंह', 'खून के बदले खून' (१९५४ ई०, प० स०) और 'चन्द्रगुप्त' (१९५७ ई०, नृ० सं०) के नाम से अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने द्विजेन्द्र के एक प्रहसन का 'मूर्खमंडली' (१९१८ ई०) नाम से अनुवाद प्रस्तुत किया। द्विजेन्द्र-'मेवाड़-पतन' (१९०८ ई०), 'सिंहल-विजय' (१९१५ ई०) और 'प्रताप सिंह' के रामचन्द्र वर्मा-कृत क्रमिक अनुवाद हैं—'मेवाड-पतन' (१९१७ ई०), 'सिंहल-विजय' (१९२० ई०) और 'राणा प्रतापसिंह' (१९२१ ई०)।

नाटककार शिवरामदास गुप्त ने द्विजेन्द्र के एक नाटक का अनुवाद 'मेरी आशा' (१९२८ ई०) नाम से किया। सूर्यनारायण दीक्षित एवं शिवनारायण शुक्ल ने 'चन्द्रगुप्त' (१९१८ ई०), गिरिधर शर्मा ने 'भीष्म-प्रतिज्ञा' और मुंशी अजमेरी ने 'सुहराब-रुस्तम' (१९२५ ई०) नाटक अनूदित किया। इसके अतिरिक्त द्वारिकानाथ मैत्र

ने 'दुर्गादास' का सन् १९२९ ई० मे अनुवाद किया।

क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के 'सप्तम प्रतिमा' (१९०२ ई०), 'खाँजहाँ' (१९१२ ई०), 'चाँदबीबी' (१९०७ ई०) और 'अशोक' (१९०८ ई०) मे से प्रथम का अनुवाद व्रजनन्दन सहाय (१९०६ ई०) ने, दूसरे और चौथे का क्रमश 'खांजहाँ' (१९१८ ई०) और 'सम्राट् अशोक' (१९३९ ई०) के नाम से रूपनारायण पाडेय ने और तीसरे का रामचन्द्र वर्मा (१९२० ई०) ने प्रस्तुत किया।

प्रसाद युग मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भी कई नाटको के हिन्दी अनुवाद किये गये। रवीन्द्र के 'चित्रागदा' (१८९२ ई०) के इस काल मे दो अनुवाद हुए–एक तो किसी अज्ञात अनुवादक द्वारा १९१९ ई० मे और दूसरा गिरिधर शर्मा द्वारा सन् १९२४ ई० मे। रूपनारायण पाडेय ने उनके 'अचलायतन' (१९१२ ई०) और 'राजा ओ रानी' (१८८९ ई०) के अनुवाद क्रमश 'अचलायतन' (१९२४ ई०) और 'राजा-रानी' (१९३३ ई०) के नाम से प्रस्तुत किये। मुरारीदास अग्रवाल का अनुवाद 'राजारानी' १९२६ ई० मे इससे पूर्व ही निकल चुका था। रवीन्द्र-'मुक्तधारा' (१९२२ ई०) के सन १९२५ ई० मे दो अनुवाद हुए – एक धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री द्वारा और दूसरा रमाचरण द्वारा। रामचन्द्र और प्रभामचन्द्र नन्दी ने उनके 'डाकघर' (१९१२ ई०) का अनुवाद (१९२६ ई०) किया। रामचन्द्र वर्मा ने रवीन्द्र-'चडालिका' (१९३३ ई०) का अनुवाद 'चडालिनी' नाम से प्रस्तुत किया।

रवीन्द्र-'विसर्जन' (१८८९ ई०) को मुरारीदास अग्रवाल ने सन् १९३१ मे अनूदित किया। धन्यकुमार जैन ने रवीन्द्र के 'विसर्जन', 'मुक्तधारा', 'कालेरयात्रा' (१९३२ ई०) और 'बासरी' (१९३३ ई०) के अनुवाद क्रमश 'माँ', 'प्रकृति का प्रतिशोध – मुक्तधारा', 'कालयात्रा' और 'बांसुरी' नाम से किये।

इसके अतिरिक्त राजकृष्णराय-कृत 'बनबीर' (१८९३ ई०) का गोपालराम गहमरी ने उसी नाम से, हरनाथ बसु के एक नाटक का रूपनारायण पाण्डेय ने 'वीरपूजा' (१९१९ ई०) के नाम से और मणिलाल वद्योपाध्याय के 'बाजीराव' (१९१० ई०) का परमेष्ठीदास जैन ने उसी नाम से (१९१९ ई०) अनुवाद किया।

गुजराती मे भी बँगला से कई नाटक अनूदित हुए, जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'चित्रागदा' और 'डाकघर' के अनुवाद क्रमश महादेव देसाई एव नरहरि पारिख (१९१५ ई०) तथा मजुलाल ज० दवे (१९१६ ई०) ने किये। द्विजेन्द्र के 'प्रतापसिंह' के दो अनुवाद क्रमश सन् १९२३ और १९२९ (अनु० झवेरचन्द मेघाणी) मे प्रकाशित हुए। बचुभाई शुक्ल ने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'बूडो सालिकेर घाडे रौं' और 'एकेइ कि बले सभ्यता ?' को गुजराती मे 'बुड्ढी घोडी लाल लगाम' और 'आने ज शु सभ्यता कहे छे ?' के नाम से अनुवादित किया।

बँगला से मराठी मे अथवा मराठी या गुजराती से कोई नाटक बँगला मे अनुवादित नही किया गया। हाँ, हिन्दी से आगा 'हश्र' के दो नाटको के बँगला अनुवाद का अवश्य उल्लेख मिलता है, जिनमे से एक का उल्लेख पहले किया जा चुका है और दूसरा था उनका 'यहूदी की लडकी', जिसका अनुवाद 'मिशरकुमारी' के नाम से हुआ था।[२०१]

मराठी मे वरेरकर युग मे मामा वरेरकर, अत्रे आदि के कई नाटको के अनुवाद हिन्दी मे आलोच्य युग के अनन्तर हुए। इस युग मे मराठी से अनुवादित प्रमुख नाटक हैं – लल्लीप्रसाद पाण्डेय-कृत 'ठोक पीटकर वैद्यराज' (१९१२ ई०) (मूल लेखक हरिनारायण आपटे-कृत 'मारून मुटकून वैद्यबोवा', १८९० ई०), लक्ष्मीधर वाजपेयी-कृत 'स्वामी विवेकानन्द' (१९१७ ई०) (मू० ले० अच्युत बलवन्त कोल्हटकर) और गणेशराम मिश्र-कृत 'अग्नि परीक्षा या पन्हलगढ का किलेदार' (१९२२ ई०) (मू० ले० कृष्णाजी लक्ष्मण सोमण 'किरात')। शिवरामदास गुप्त ने रामगणेश गडकरी के मराठी नाटक 'एकच प्याला' का हिन्दी अनुवाद 'दूज का चाँद' (१९३० ई०) के

नाम से प्रस्तुत किया ।

हिन्दी से रामनरेश त्रिपाठी के 'वफाती चाचा' का मराठी में अनुवाद हुआ। गुजराती से आलोच्य युग में गिरिधर शर्मा द्वारा तीन नाटक हिन्दी में अनूदित किये गये – 'जया-जयन्त', १९१९ ई० (मू० ले० नानालाल दलपतराय कवि, १९१४ ई०), 'राई का पर्वत', १९२१ ई० (मूल लेखक रमणभाई महीपतराम नीलकंठ-कृत 'राईनो पर्वत', १९१३ ई०) और 'प्रेमकुञ्ज', १९२८ ई० (मू० ले० नानालाल द० कवि) । विभाकर के 'सिद्धार्थ-कुमार' आदि के आधार पर आनन्दप्रसाद कपूर ने 'गौतम बुद्ध' (१९२२ ई०) लिखा ।[**] मेहता-मुन्शी युग के क० मा० मुन्शी, कृष्णलाल श्रीधराणी आदि के नाटकों के अनुवाद आधुनिक काल में हुए ।

'प्रसाद' के प्रसिद्ध नाटक 'स्कन्दगुप्त' (१९२८ ई०) की कथा का आधार लेकर गुजराती नाटककार लालशंकर मेहता ने अपना 'तारणहार' (१९३० ई०) लिखा ।[**]

(६) निष्कर्ष

प्रसाद युग नवीन और पुरातन के बीच एक कड़ी के समान रहा है – रंग-शिल्प और नाट्य-शिल्प, दोनों ही दृष्टियों से । हिन्दी तथा अन्य सभी भारतीय भाषाओं (बँगला, मराठी और गुजराती) के समकालीन युगों के अन्त तक व्यावसायिक रंगमंच न केवल हतप्रभ हुआ हिन्दी और मराठी में तो वह प्रायः क्षीण ही हो गया। अधिकांश रंगशालाएँ छविगृहों (सिनेमाघरों) के रूप में परिणत हो गईं । किन्तु आधुनिक युग में किसी-न-किसी रूप में सभी भाषाओं के व्यावसायिक रंगमंच सचेतन हो उठे। हिन्दी का व्यावसायिक मंच कलकत्ते को ही केन्द्र बनाकर उत्तरी भारत में ही सीमित होकर रह गया। व्यावसायिक मंच की प्रगति में यह अल्पकालीन अवरोध देश में चलचित्रों के अभ्युत्थान के कारण आया ।

दूसरी ओर इस व्यावसायिक मंच की प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दी तथा इतर सभी भारतीय भाषाओं में अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना हुई, जिसने नवीन शैली पर लिखे गये नाटकों के प्रयोग किये । हिन्दी में अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना यों अमानत और भारतेन्दु द्वारा उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में ही हो चुकी थी । भारतेन्दु युग और विस्तारित भारतेन्दु युग में यह रंगमंच बनारस, कानपुर, इलाहाबाद, कलकत्ता आदि नगरों तक ही सीमित रहा, किन्तु प्रसाद युग में हिन्दी-क्षेत्रों के सभी प्रमुख नगरों की शिक्षा-संस्थाओं अथवा शौकिया नाट्य-संस्थाओं तक उसका विस्तार हो गया, यद्यपि इस अनुमानित विस्तार का पूर्ण मूल्यांकन होना अभी शेष है।

रंग-शिल्प की दृष्टि से बँगला और हिन्दी के व्यावसायिक रंगमंच अपने परिक्रामी मंच के प्रयोग के कारण सबसे आगे रहे। इस युग में बँगला रंगमंच पर शकट मंच का भी उपयोग हुआ । आधुनिक रंग-सज्जा और रंग-दीपन की दृष्टि से व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक दोनों प्रकार के मंचों पर नये-नये प्रयोग किये गये। बँगला रंगमंच पर स्त्रियों का अवतरण तो गिरीश युग में ही हो चुका था, किन्तु मराठी और गुजराती के रंगमंचों पर उस समय तक प्रायः पुरुष ही स्त्रियों की भूमिकाएँ किया करते थे, किन्तु उक्त दोनों भाषाओं के अव्यावसायिक रंगमंच ने इस अप्राकृतिक पद्धति को समाप्त कर प्रसाद युग में ही सर्वप्रथम स्त्री-भूमिकाओं में स्त्रियों का उपयोग किया। हिन्दी के व्यावसायिक मंच पर भी इसी काल में स्त्रियाँ मंच पर उतरीं, किन्तु अव्यावसायिक मंच पर स्त्रियों का आगमन सम्भव न हो सका, जो उस समय हिन्दी-क्षेत्र के सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ेपन का द्योतक था ।

प्रसाद युग के आरम्भ में रंगमंच पर तड़क-भड़क, अलौकिकता, चमत्कार और कृत्रिमता का बोलबाला था, किन्तु इब्सन, शा, गाल्सवर्दी और मोलियर की नाट्य-पद्धति के अनुकरण के साथ वस्तुवादी रंग-सज्जा और जीवन के यथार्थ को प्रोत्साहन मिला । अभिनय में भी स्वाभाविकता आई । इब्सन, मोलियर आदि के प्रभाव को मराठी रंगमंच ने इस युग के पूर्वार्द्ध में और गुजराती और बँगला ने इस युग के उत्तरार्द्ध में ग्रहण किया । हिन्दी

में गाल्सवर्दी और मोलियर प्रसाद युग के पूर्वार्द्ध में और इब्सन तथा शा उसके उत्तरार्द्ध में आये। सभी भाषाओं के नाट्य-शिल्प में भी परिवर्तन आया। प्रायः सभी भाषाओं में एकांकप्रवेशी नाटक लिखे जाने लगे। मराठी में इस नाट्य-पद्धति को प्रवर्तित करने का श्रेय सर्वप्रथम मामा वरेरकर को, गुजराती में चन्द्रवदन मेहता और कन्हैयालाल मुंशी को, बँगला में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को और हिन्दी में जयशंकर प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र को है। किन्तु लक्ष्मीनारायण मिश्र ने जिस नाट्य-धारा का प्रवर्तन किया, वह प्रसाद युग की मूलधारा न होकर प्रतिधारा थी, जिसका अभ्युदय प्रसाद युग के अन्त में हुआ। मूलधारा के प्रवर्तक जयशंकर 'प्रसाद' थे।

यह संयोग की बात है कि बँगला के रवीन्द्र और हिन्दी के प्रसाद दो महान समकालीन तत्व-चिंतक थे, जिन्होंने अपने विचारों और सामाजिक आदर्श को नाटकों के द्वारा सामाजिकों तक पहुँचाने की चेष्टा की। अपने इन विचारों आदि की अभिव्यक्ति के लिए रहस्यवादी होने के कारण रवीन्द्र ने प्रतीकों का सहारा लिया, जब कि प्रसाद ने प्रतीकों का सहारा न लेकर काव्यत्व और तत्वकथन की शैली का उपयोग किया है। 'प्रसाद' का 'कामना' इसका अपवाद माना जा सकता है, जिसमें प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। गुजराती के क० मा० मुंशी ने भी अपने नाटकों में प्रसाद के ढंग पर ही काव्यत्व और तार्किक उहापोह की पद्धति अपनाई है।

वरेरकर के नाटकों को छोड़ कर अन्य किसी भी युग-प्रवर्तक – मेहता-मुंशी या प्रसाद के नाटक को किसी भी व्यावसायिक मंडली ने नहीं खेला। रवीन्द्र के कुछ नाटक अपवादस्वरूप कुछ व्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं या थियेटरों द्वारा अवश्य अभिनीत हुए। मेहता-मुंशी और रवीन्द्र ने अधिकांश में अपने नाटकों के प्रयोग के लिए प्रायः स्वयं ही प्रयास किये। प्रसाद ने अपने जीवन-काल में इस दिशा में कोई स्मरणीय प्रयास स्वयं नहीं किया। यही कारण है कि उनके नाटकों में 'ध्रुवस्वामिनी' को छोड़ अन्य नाटकों का रंगशिल्प त्रुटिपूर्ण और अपरिपक्व है। उन्हें पाठ्य नाटक कह कर प्रायः टाल दिया जाता है, फिर भी जहाँ कहीं भी प्रसाद के नाटक आवश्यक कतर-ब्योंत द्वारा नई रंगावृत्ति तैयार कर अथवा विशिष्ट रंगमंच या नवीन रंगशिल्प का उपयोग कर खेले जाते हैं, सामाजिक-वर्ग, शिक्षितों और कुछ नाट्यानुरागियों तक ही सीमित होने पर भी, उनके रंगमंचीय सौष्ठव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता और इसका कारण है – प्रसाद द्वारा नाटकीय स्थितियों का चयन, कार्य-व्यापार की सघनता और आकस्मिकता का सन्निवेश, दृश्यों और अंकों के अन्त में चित्रोपम झाँकी (टेबलो) तथा संवादों का चुटीलापन और मर्मस्पर्शिता।

प्रसाद के कुछ नाटकों के अतिरिक्त इस युग के जी० पी० श्रीवास्तव, माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी', सेठ गोविन्ददास आदि के नाटक खेले जा चुके हैं, यद्यपि वे कब, कहाँ, किस शिक्षा-संस्था अथवा नाट्य-संस्था द्वारा खेले गये, हिन्दी में इसका कोई क्रमबद्ध लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं है। अन्य भाषाओं के समीक्षक इस दिशा में अधिक सजग रहे हैं। इस युग के शिवरामदास गुप्त, हरिदास माणिक और आनन्दप्रसाद कपूर ने अपने रंग-नाटकों को लेकर बनारस में अलख जगाये रखा।

अव्यावसायिक रंगमंच के संगठित न होने के कारण इस युग के अधिकांश हिन्दी नाटक अनभिनीत रहे। इनके अनभिनीत रहने का एक कारण यह भी था कि नाटककारों का रंगमंच से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था, अतः अधिकतर पाठ्य-नाटक ही लिखे गये, जो रंग-निरपेक्ष होने के कारण नहीं खेले जा सकते थे। दीर्घ संवाद, लम्बे स्वगत, गानबहुलता, बहुपात्रता, विशेषकर स्त्री-पात्रों की अधिकता, कार्य-व्यापार और रंग-संकेतों का अभाव इन नाटकों के रंग-सापेक्ष बनने में मुख्य रूप से बाधक रहा है। इस युग की मूलधारा के प्रायः सभी नाटककारों में यह दोष एक बड़ी मात्रा में वर्तमान रहा है, फलतः इस युग के अधिकांश नाटकों की रंग-सापेक्ष्यता अपरीक्षित रह गई। प्रसाद और प्रसाद-युगीन नाटकों की रंग परीक्षा के लिये हिन्दी को कुशल उपस्थापकों और निर्देशकों की आवश्यकता होगी।

———

सन्दर्भ

४. प्रसाद युग

१. श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परम्परा, प्रयाग, सा० सं०, १९५६, पृ० ५७१ ।

२-३. कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, हिन्दी नाट्य-साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, प्रथम खंड, दिल्ली, भारतीय ग्रन्थ भंडार, १९६४, पृ० ३६३-३६८ ।

४. देवदत्त मिश्र, संपादक, दैनिक विश्वमित्र, कानपुर से एक भेंट (१० दिसम्बर, १९६७) के आधार पर ।

५. २-३-वत्, पृ० ३६४ ।

६. श्री नागरी नाटक मंडली, वाराणसी : स्वर्णजयन्ती समारोह, १९५८ . संक्षिप्त इतिहास, पृ० १-२ ।

७-८. राजकुमार, मंत्री, नागरी नाटक मंडली, वाराणसी से एक भेंट (दिसम्बर, १९६५) के आधार पर ।

९. दैनिक आज, बनारस, दिनांक २ फरवरी, १९२२ ।

१०-११. श्री नागरी नाटक मंडली, वाराणसी का नौवाँ वार्षिक विवरण, पृ० ३ ।

१२-१३. ६-वत्, पृ० ३ ।

१४. शिवप्रसाद मिश्र, हिन्दी रंगमंच को काशी की देन (श्री नागरी नाटक मंडली, वाराणसी : स्वर्ण जयन्ती समारोह स्मारक ग्रन्थ, १९५८, पृ० १८) ।

१५. गोवर्द्धनदास खन्ना, साहस की मूर्ति अरोड़ा जी (अभिनन्दन-भेंट . श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा, कानपुर, १९५१, पृ० १०) ।

१६. नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, साहित्यिक प्रगति (अभिनन्दन-भेंट : श्री ना० प्र० अरोड़ा, गत अर्द्ध-शताब्दी में कानपुर की प्रगति, कानपुर, १९५१, पृ० ४४) ।

१७, १८ एवं १९ रुद्रप्रसाद वाजपेयी, कैलाश क्लब, कैलाश मन्दिर, कानपुर से एक भेंट (११ दिसम्बर, १९६७) के आधार पर ।

२०. दैनिक प्रताप, कानपुर, ६ नवम्बर, १९२७ ।

२१. दैनिक वर्तमान, कानपुर, १५ नवम्बर, १९२८ ।

२२. विनोद रस्तोगी, कानपुर : अविच्छिन्न परम्परा (अनामिका : हिन्दी नाट्य महोत्सव, १९६४, पृ० ५५) ।

२३-२८. डॉ० (अब स्व०) जगतनारायण कपूरिया, ११ सुनखुनजी रोड, लखनऊ से २१ सितम्बर, १९६९ को हुई भेंट-वार्ता के आधार पर ।

२९. शरद नागर, लखनऊ (हिन्दी केन्द्रों का रंगमंच, 'नटरंग', हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी अंक, वर्ष ३, अंक ९, जनवरी-मार्च, १९६९), पृ० ६४-६५ ।

३०, ३१ तथा ३२. वही, पृ० ६५ ।

३३. माधुरी, लखनऊ, वर्ष ८, खंड १, पृ० ८५३ ।

३४. २-३-वत्, प्रथम खंड, पृ० ३५५ ।

३५. वही, पृ० ३५४ ।

३६. राधाकृष्ण नेवटिया एवं अन्य, सं०, श्री जमुना प्रसाद पाण्डे अभिनन्दन-वीथी, कलकत्ता, १९६०, पृ० ४५ ।

३७. वही, पृ० ३०-३२, ३४ और ३७ ।

३८. वही, पृ० ३३ ।

३९. देवदत्त मिश्र, स०, दैनिक विश्वमित्र, कानपुर से एक भेंट (१० दिसंबर, ६७) के आधार पर।
४०. राधाकृष्ण नेवटिया एवं अन्य, स०, श्री जमुना प्रसाद पाण्डे अभिनन्दन-वीथी, कलकत्ता, १९६०, पृ० ४३।
४१. वही पृ० ४५।
४२ ३९-वत्।
४३. ४०-वत्, पृ० ४१।
४४ वही, पृ० ४३।
४५. वही, पृ० ४०।
४६. ४७ एवं ४८. ३९-वत्।
४९ (क) ललित कुमार सिंह 'नटवर', कलकत्ता से एक भेंट (दिसम्बर, १९६५) के आधार पर; तथा (ख) ४०-वत्, पृ० ५४।
५०-५१. ३९-वत्।
५२. श्रीनिवास नारायण बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि मराठी नाट्य वाङ्मय, पृ० १५७।
५३. धनसुखलाल मेहता, गुजराती बिनर्धधादारी रंगभूमिनो इतिहास, बड़ोदा, पृ० ४८-४९।
५४. वही, पृ० ४२।
५५. डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य, बांगला नाट्य-साहित्येर इतिहास, द्वितीय खंड, पृ० २१।
५६ रवीन्द्रनाथ ठाकुर, तपती, भूमिका, कलकत्ता, विश्वभारती ग्रंथालय, १९४९।
५७. प्रमथनाथ बिशी, रवीन्द्रनाथ ओ शांतिनिकेतन, पृ० १२।
५८. बंगदर्शन, पौष, १३०९ बंगीय संवत् (सन् १९०२ ई०)।
५९. किरणमय राहा, टैगोर आन थियेटर (नाट्य, टैगोर सेन्टिनरी नम्बर, १९६२, पृ० ६)।
६०. ५५-वत्, पृ० २१-२२।
६१. डॉ० हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, भारतीय नाट्यमंच, द्वितीय भाग, पृ० २५२।
६२. वही, पृ० २६२-२६३।
६३. वही, पृ० २७५।
६४. वही, पृ० २७६।
६५. वही, पृ०, २७७।
६६ वही, पृ० २४७।
६७. वही, पृ० २८०।
६८-६९. ५५-वत्, पृ० १७।
७०. वही, पृ० २६।
७१ वही, पृ० २२८।
७२. ६१-वत्, पृ० २०९ एवं २३९।
७३. वही, पृ० २४०।
७४. वही, पृ० २४१।
७५. ६१-वत्, पृ० २४२।
७६. वही, पृ० २४२-२४३।
७७ वही, पृ० २४५।
७८. वही, पृ० २४७।
७९. ५५-वत्, पृ० ५६४ और ५७१।
८०. वही, पृ० ५७१।
८१. शचीन सेनगुप्त, बांगलार नाटक ओ आलोचना, कलकत्ता, गुरुदास चट्टोपाध्याय एण्ड सन्स, १९५७, पृ० १४९।
८२. ६१-वत्, पृ० ३०६।

८३. डॉ० हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, भारतीय नाट्यमंच, द्वितीय भाग, पृ० २३१ ।
८४. वही, पृ० २३३ ।
८५. (क) वही, पृ० २५३, तथा
(ख) डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य, बांगला नाट्यसाहित्येर इतिहास, द्वि० खं०, पृ० ५६९ ।
८६. (क) ८३-वत्, पृ० २५८; तथा (ख) ८५ (ख)-वत्, पृ० ५७० ।
८७. ८५ (ख)-वत्, पृ० ५७० ।
८८. ८३-वत्, पृ० २५९ ।
८९. वही, पृ० २६८ ।
९०. (क) वही, पृ० २७०; तथा (ख) ८५ (ख)-वत्, पृ० ५७७ ।
९१. ८३-वत्, पृ० २५१ ।
९२. वही, पृ० २५२ ।
९३. (क) वही, पृ० २७१-२७२; तथा (ख) ८५ (ख)-वत्, पृ० ५७० ।
९४. (क) ८३-वत्, पृ० २७६; तथा (ख) ८५ (ख)-वत्, पृ० ५७२-५७३ ।
९५. (क) ८३-वत्, पृ० २७६-२७७, तथा (ख) ८५ (ख)-वत्, पृ० ५७३ ।
९६. ८३-वत्, पृ० २८०-२८१ ।
९७. इन्द्र मित्र, साजघर, कलकत्ता, त्रिवेणी प्रकाशन प्रा० लि०, द्वि० सं०, १९६४, पृ० ३८७ ।
९८. (क) ८३-वत्, पृ० २९०; तथा
(ख) ८५ (ख)-वत्, पृ० ५७८-५७९ ।
९९. ८३-वत्, पृ० २८४ ।
१००. ८५ (ख)-वत्, पृ० ५७९ ।
१०१. ८३-वत्, पृ० २८५-२८६ ।
१०२. डॉ० चारुशीला गुप्ते, हास्यकारण आणि मराठी सुखांतिका, १८४३-१९५७, पृ० १६५ ।
१०३. श्री० ना० बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि नाट्यवाङ्मय, पृ० १७० ।
१०४. द० रा० गोमकाले, वरेरकर आणि मराठी रंगभूमि, १९५८, पृ० ७० ।
१०५, १०६ एवं १०७. १०३-वत्, पृ० १७२ ।
१०८. वही, पृ० १७३ ।
१०९. ज्ञानेश्वर नाडकर्णी, न्यू डाइरेक्शन्स इन दि मराठी थियेटर, नई दिल्ली, महाराष्ट्र इन्फार्मेशन सेंटर, १९६४, पृ० १६ ।
११० १०२-वत्, पृ० १६४ ।
१११. १०३-वत्, पृ० १६६ ।
११२. (क) वही, पृ० १६०; तथा
(ख) के० नारायण काले, थियेटर इन महाराष्ट्र, नई दिल्ली, म० इ० सें०, १९६४, पृ० १४ ।
११३. १०३-वत्, पृ० १६१-१६२ ।
११४. मराठी स्टेज (ए सोवनीर), मराठी नाट्य परिषद् : फार्टी-थर्ड एनुवल कन्वेंशन, नई दिल्ली, १९६१, पृ० २४ ।
११५. मामा वरेरकर, माझा नाटकी संसार, भाग ४, बम्बई, सागर साहित्य प्रकाशन, १९६२, पृ० १४४ ।

११६. के० नारायण काले, थियेटर इन महाराष्ट्र, नई दिल्ली, म० इ० सें०, १९६४, पृ० ७।

११७. (क) वही, पृ० ८-९, तथा

(ख) मोतीराम गजानन रागणेकर, माडेल हाउस, प्राक्टर रोड, बम्बई-४ से एक भेंट (जून, १९६५) के आधार पर।

११८. (क) श्री० ना० बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि नाट्यवाङ्मय, पृ० १६२; तथा

(ख) *मराठी स्टेज (ए सोवनीर), मराठी नाट्य परिषद् : फार्टी-थर्ड एनुवल कन्वेंशन*, पृ० २१।

११९. वही, पृ० २०।

१२०. ११८ (क)-वत्, पृ० १७७।

१२१. वही, पृ० १६२।

१२२. ११८ (ख)-वत्, पृ० २०।

१२३-१२४. ११८ (क)-वत्, पृ० १७७।

१२५. (क) वही, पृ० १६२, तथा

(ख) ११६-वत्, पृ० १०।

१२६. वही, पृ० ११।

१२७. दि मराठी थियेटर–१८४३ टु १९६०, बम्बई, पापुलर बुकडिपो, पृ० ५७-५८।

१२८. (क) ११६-वत्, पृ० १२; तथा (ख) ११८ (क)-वत्, पृ० १९२।

१२९. (क) ११६-वत्, पृ० १३; तथा (ख) ११८ (क)-वत्, पृ० १९३।

१३०. ११८ (क)-वत्, पृ० १७४।

१३१. जामन, जूनी गुजराती रंगभूमि अने तेनुं भावि (गुजराती नाट्य-शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रन्थ, पृ० ५१)।

१३२. वही, पृ० ५२-५३।

१३३. वही, पृ० ५३।

१३४. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरणमंजरी, पृ० ११३।

१३५. वही, पृ० ३३।

१३६. वही, पृ० २१।

१३७. डॉ० धीरुभाई ठाकर, अभिनेय नाटको, प्रास्ताविक, बड़ौदा, भा० सं० नृ० ना० म०, १९५८, पृ० १५।

१३८. *इस नाटक के प्रथम दो अङ्क म० न० द्विवेदी ने और तीसरा अंक मूलचन्द मूलाणी ने लिखा है।*

–लेखक

१३९-१४०. जयन्तिलाल र० त्रिवेदी, इतिहासनी दृष्टिये : श्री देशी नाटक समाज (श्री देशी नाटक समाज : अमृत महोत्सव (स्मारिका), १८८९-१९६४)।

१४१. (क) १३४-वत्, पृ० १०; तथा

(ख) रमणिक श्रीपतराय देसाई, गुजराती नाटक कम्पनीओनी सूचि (गु० ना० श० म० स्मा० ग्रं०, पृ० १०९)।

१४२-१४३. सह-लेखक 'पागल' और मू० मूलाणी।

१४४. सह-लेखक प्र० द० द्विवेदी।

१४५. सह-लेखक रघुनाथ ब्रह्मभट्ट।

१४६. १३४-वत्, पृ० १०४।

१४७. वही, पृ० २०९।

१४८. युगलकिशोर मस्करा 'पुष्प', नेक वानु डो० खरास उर्फ मुन्नीबाई बेटी खुरशेद बालीवाला (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, २ अगस्त, १९७०), पृ० २७ ।

१४९. गु० ना० श० म० स्मा० ग्रंथ, बम्बई, १९५२, पृ० ५६ ।

१५०. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरणमजरी, पृ० ९१ ।

१५१. वही, पृ० २३०-२३१ । १५२. वही, पृ० २३३-२३५ ।

१५३. वही, पृ० १३६ । १५४. वही, पृ० १९० ।

१५५. वही, पृ० २७०-२७१ । १५६. वही, पृ० १६१ ।

१५७. वही, पृ० २३८ । १५८. वही, पृ० १३३ ।

१५९. गुजरात की एक विशिष्ट अभिनय-कुशल जाति । — लेखक

१६०. १५०-वत्, पृ० २४ ।

१६१-१६२. वही, पृ० ११२ ।

१६३-१६४. डॉ० धीरुभाई ठाकर, अभिनेय नाटको, प्रास्ताविक, पृ० १६ ।

१६५. धनसुखलाल मेहता, गुजराती बिनधंधादारी रंगभूमिनो इतिहास, वडोदा, भा० स० नृ० ना० म०, १९५६, पृ० ४७ ।

१६६. वही, पृ० ४९ । १६७. वही, पृ० ६१ ।

१६८. वही, पृ० ५० और ६१ । १६९. वही, पृ० ५३ ।

१७०. वही, पृ० ६०-६१ ।

१७१. १५०-वत्, पृ० १०३ ।

१७२. वही, पृ० ६३ । १७३. वही, पृ० ५४ ।

१७४. वही, पृ० ९९ ।

१७५-१७६. डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २१३ ।

१७७. डॉ० आ० भट्टाचार्य, बांगला नाट्यसाहित्येर इतिहास, प्रथम खंड, पृ० १७२-१७३ ।

१७८. १७५-१७६-वत्, पृ० २१५ ।

१७९. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, बनारस, सरस्वती मदिर, १९४३, पृ० १३६ ।

१८०. ब्रजरत्नदास, हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० १७३ ।

१८१. १७९-वत्, पृ० १५५ ।

१८२. शांता गांधी, स्कन्दगुप्त : एक प्रदर्शन-सम्बन्धी टिप्पणी (नटरंग, दिल्ली, वर्ष १, अङ्क ३, पृ० ३) ।

१८३. जयशंकर प्रसाद, विशाख, भूमिका, बनारस, हिन्दी ग्रन्थ भडार, प्र० सं०, १९२१, पृ० १०-११ ।

१८४. सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, लखनऊ, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र०, १९६४, पृ० ४१ ।

१८५. श्री० ना० बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि नाट्यवाङ्मय, पृ० १४७ ।

१८६. मनोरमा शर्मा, नाटककार उदयशंकर भट्ट, दिल्ली, आत्माराम एण्ड संस, १९६३, पृ० १०४ ।

१८७. प्रयाग नारायण त्रिपाठी, अनु० होरेस–'आर्स पोयतिका' (पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, प्र० सं०, डॉ० नगेन्द्र, दिल्ली, हि० वि०, दि० वि, द्वि० सं०, १९६६ पृ० ६७) ।

१८८. मनमोहन घोष, सं०, दि नाट्यशास्त्र, भाग १, २०/१९-२० ।

१८९. डॉ० सत्यव्रत सिंह, सं०, हिन्दी साहित्यदर्पण (मू० ले० विश्वनाथ), ६/१६-१९, वाराणसी, चौ०वि०, १९६३, पृ० ३६६ ।
१९०. मनमोहन घोष, स०, दि नाट्यशास्त्र, भाग १, २०/१९-२० ।
१९१. वही, २०/२२ । १९२. वही, २०/२१ ।
१९३. वही, २०/४४ । १९४. वही, २०/४२ ।
१९५. वही, २३/५-७ ।
१९६. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, इलाहाबाद, भारती भंडार, प्र० सं०, १९३९, पृ० ११३ ।
१९७. डॉ० विश्वनाथ मिश्र, हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, १९६६, पृ० २६३ ।
१९८. वही, पृ० २५८-२५९ ।
१९९. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १९९-२०१ तथा २१७-२१८ ।
२००. १९७-वत्, पृ० २६५-२६६ ।
२०१. १९६-वत्, पृ० ११९-२० ।
२०२. बम्बई के बिड़ला मातुश्री सभागार में परिक्रामी रंगमंच की व्यवस्था है और यहाँ हिन्दी के नाटकों के साथ अन्य भाषाओं के नाटक भी खेले जाते हैं । —लेखक
२०३. 'स्कंदगुप्त' की यह रंगावृत्ति 'नटरंग', दिल्ली के जनवरी-मार्च, १९६६ अङ्क में (पृ० ४९-६४) प्रकाशित हुई है । —लेखक
२०४. २०१-वत्, पृ० ११९ ।
२०५. १९९-वत्, पृ० २५ ।
२०६. जयशंकर प्रसाद, कामना, अङ्क ३, दृश्य ४, इलाहाबाद, भारती भंडार, द्वि० सं०, १९३५, पृ० ९४ ।
२०७. जयशंकर प्रसाद, जनमेजय का नागयज्ञ, अङ्क १-दृश्य ७, अंक २-दृश्य ७, तथा अंक ३-दृश्य ५, इलाहाबाद, भा० भं०, अष्टम संस्करण, १९६० ।
२०८. वही, अंक ३, दृश्य १, पृ० ६७-६८ ।
२०९. वही, अंक २, दृश्य १, पृ० ४७ ।
२१०. मुकुन्दलाल गुप्त (जयशंकर प्रसाद के निकट-सम्बन्धी), कलकत्ता से एक भेंट (२० दिसम्बर, १९६५) के आधार पर ।
२११. प्रो० जयनाथ 'नलिन', हिन्दी नाटककार, दिल्ली, आ० एंड सं०, द्वि० सं०, १९६१, पृ० २५१ ।
२१२. कृष्णाचार्य, हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० १२८-१२९ ।
२१३. वही, पृ० १२९ । २१४. वही, पृ० १२८ एवं २६५ ।
२१५. वही, पृ० १२८ ।
२१६. २११-वत्, पृ० २४६-२४७ ।
२१७. श्रीकृष्ण दास, हमारी नाट्य-परम्परा, पृ० ६३८ ।
२१८. जी० पी० श्रीवास्तव, हास्यरस, पृ० १९-२३ ।
२१९. जी० पी० श्रीवास्तव, लाल बुझक्कड़, निवेदन, इलाहाबाद, चन्द्रलोक, १९३०, पृ० १ ।
२२०. सी० जे० ब्राउन, फौरवर्ड, मार-मार कर हकीम (अनु० जी० पी० श्रीवास्तव), पृ ६-७ ।

२२१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र, हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ० १८१।
२२२. के० एम० एस० श्रीवास्तव, हास्य-सम्राट् जी० पी० श्रीवास्तव (नवभारत टाइम्स, दिल्ली, २५ अप्रैल, १९६७)।
२२३. व्रजरत्नदास, हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० २२४।
२२४. 'सिकन्दर' फिल्म सोहराब मोदी ने 'पुकार' की सफलता के बाद सन् १९४१ में बनाई थी। इसमें कई हजार एक्स्ट्राओं ने काम किया था और युद्ध के बड़े सजीव एवं यथार्थ दृश्य दिखाये गये थे। —लेखक
२२५. प्रेमशंकर 'नरसी', निर्देशक, मूनलाइट थियेटर, कलकत्ता से एक भेंट(दिसम्बर, १९६५)के आधार पर।
२२६. बच्चन श्रीवास्तव, भारतीय फिल्मों की कहानी, शाहदरा, हिन्द पाकेट बुक्स, पृ० ८०।
२२७. ललितकुमार सिंह 'नटवर', कलकत्ता के अनुसार प्रेमचन्द ने 'मिल मजदूर' में सरपंच का अभिनय किया था साक्षात्कार, २२ दिसम्बर, १९६५)।
२२८. डॉ० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, आगरा, साहित्य रत्न भंडार, प० सं०, १९६०, पृ० ११७।
२२९. वही, पृ० ७२।
२३०. बनारसीदास चतुर्वेदी, स्वर्गीय उग्र जी. श्रद्धांजलि (साप्ताहिक रामराज्य, २४ अप्रैल, १९६७,(पृ० ४)।
२३१. हिन्दी के नाटककार और उनके नाटक : उनकी अपनी कलम से, पाडेय, बेचन शर्मा 'उग्र' (साहित्य-संदेश, जुलाई-अगस्त, १९५५, पृ० ९७)।
२३२-२३३. वही, रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १००।
२३४. डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ३१५।
२३५. उमेशचन्द्र मिश्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक, इलाहाबाद, साहित्य भवन प्रा० लि०, प्र० सं० १९५९, पृ० ६३।
२३६. लक्ष्मीनारायण मिश्र, अशोक, लहेरियासराय, हिन्दी पुस्तक भंडार, १९२६, पृ० १६५।
२३७. डॉ० विनय कुमार, हिन्दी के समस्या नाटक, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९६८, पृ० १५८।
२३८. २२३-वत्, पृ० २९३।
२३९. मनोरमा शर्मा, नाटककार उदयशंकर भट्ट, दिल्ली, आत्माराम एंड संस, १९६३, पृ० ११।
२४०. वही, पृ० १०५।
२४१. प्रो० जयनाथ 'नलिन', हिन्दी नाटककार, पृ० १६४।
२४२. डॉ० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ६२।
२४३. २३९-वत्, पृ० १०८।
२४४. वही, पृ० २२६।
२४५-२४६. हरिकृष्ण 'प्रेमी', बादलों के पार, दो शब्द, दिल्ली, आत्माराम एंड संस, द्वि० सं०, १९६१।
२४७-२४८. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अशोक, भूमिका, दिल्ली, राजपाल एंड संस, पृ० ३।
२४९. डॉ. सावित्री शुक्ल, नाटककार सेठ गोविन्ददास, लखनऊ, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९५८, पृ. १४३-१४४।
२५०-२५१. वही, पृ० १४८। २५२. वही, पृ० १४९।
२५३. सेठ गोविन्ददास, हर्ष (तीन नाटक), पृ० ३०३।
२५४. डॉ० रामचरण महेन्द्र, सेठ गोविन्ददास : नाट्य-कला तथा कृतियाँ, दिल्ली, भारती साहित्य भंडार, १९५६, पृ० १०१।

२५५. सेठ गोविन्ददास (अब स्व०) से दिल्ली में एक भेंट (१७ नवम्बर, १९६७) के आधार पर।

२५६. डॉ० विनय कुमार, हिन्दी के समस्या-नाटक, पृ० २११।

२५७-२५८. २५५-वत्।

२५९. २५६-वत्, पृ० २३८।

२६०. बच्चन श्रीवास्तव, भारतीय फिल्मों की कहानी, हिन्द पाकेट बुक्स प्रा०लि० शाहदरा, दिल्ली, पृ० ५८।

२६१. सेठ गोविन्ददास, निवेदन, 'विकास', प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, शकाब्द १८८६, पृ० ७।

२६२. (क) वही, तथा
(ख) डॉ० शांतिगोपाल पुरोहित, हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन, साहित्य सदन, देहरादून, प्र० स०, १९६४, पृ० २५५।

२६३. २५६-वत्, पृ० २१३।

२६४. (क) जगदीशचन्द्र माथुर, नाटककार अश्क (नाटककार अश्क, संकलनकर्त्री कौशल्या अश्क, इलाहाबाद, नीलाभ प्रकाशन, प्र० सं०, १९५४), पृ० १३, तथा
(ख) पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व—हल्के-गहरे रंग (वही), पृ० २२०।

२६५. (क) उपेन्द्रनाथ 'अश्क', स्वर्ग की झलक, भूमिका, लाहौर, मोतीलाल बनारसीदास, १९३९; तथा
(ख) उपेन्द्रनाथ 'अश्क', एक पत्र और उसका उत्तर (नाटककार अश्क), पृ० ४५५।

२६६. गोपालकृष्ण कौल, रंगमंच और अश्क (वही), पृ० ५३।

२६७. गोपालकृष्ण कौल, अश्क के प्रहसन (वही), पृ० १४१-२।

२६८. मा० निसार, दिल्ली से बम्बई में एक भेंट (जून, १९६५) के आधार पर।

२६९. र० ब्रह्मभट्ट, स्मरण-मंजरी, पृ० १३३।

२७०. मामा वरेरकर, माझा नाटकी संसार, भाग ४, बम्बई, सागर साहित्य प्रकाशन, १९६२, पृ० ३९।

२७१. २६९-वत्, पृ० ८६।

२७२. डॉ० हे० दासगुप्त, भारतीय नाट्यमंच, द्वि० भा०, पृ० २५१-२५२।

२७३. कृष्णाचार्य, 'आफताबे मुहब्बत' से 'भीष्म पितामह' तक . मुहम्मदशाह आगा 'हश्र', काश्मीरी (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २७ नवम्बर, १९६६, पृ० १८)।

२७४. कृष्णाचार्य, हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० ९।

२७५. २६९-वत्, पृ० २४०।

———

५

आधुनिक युग

(सन् १९३८ से १९७० तक)

(१) आधुनिक युग में हिन्दी रंगमंच की स्थिति

हिन्दी-रगमच ने आधुनिक युग में अपनी जय-यात्रा नयी समावनाओं, नयी मान्यताओं और नये रग-शिल्प के साथ प्रारम्भ की, किन्तु इसी के साथ इसका सम्बन्ध विस्तारित बेताब युग और प्रसाद युग के व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक, दोनो प्रकार के रंगमचो के साथ बना रहा। यह कहना सत्य और वस्तु-स्थिति से परे होगा कि व्यावसायिक रगमच की अजस्र धारा विस्तारित बेताब युग के अन्त मे सवाक् चित्रो के निर्माण और प्रसार के कारण अवरुद्ध अथवा तिरोहित हो गई। विज्ञान के एक नवीन चमत्कार के आगे कुछ काल के लिए वह क्षीण, हतप्रभ अथवा गतिहीन अवश्य हुई, क्योकि मादन थियेटर्स-जैसी सशक्त एव सम्पन्न नाटक मंडली, जिसने बम्बई की अधिकांश नाटक मंडलियों को उनके कमज़ोर पड़ने अथवा बन्द होने पर खरीद लिया था, नाटक के अतिरिक्त चलचित्र व्यवसाय के क्षेत्र में उतर आई और नयी-नयी फिल्म कम्पनियो का अभ्युदय प्रारम्भ हो गया, जिसके फलस्वरूप पारसी-हिन्दी रगमच के प्राय: अधिकांश कलाकार और नाटककार फिल्म उद्योग मे चले गये और रगशालाएँ क्रमश: छविगृहों के रूप में परिणत हो गईं। अवशिष्ट कलाकारों ने बम्बई, कलकत्ता, कानपुर और दिल्ली मे नई मंडलिय खोल कर व्यावसायिक रगमच को आगे बढ़ाया।

दूसरी ओर प्रसाद युग की अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाएँ बनारस, कानपुर, कलकत्ता आदि नगरों मे किसी-न-किसी प्रकार सक्रिय बनी रही। इनके अनुकरण पर कुछ अन्य संस्थाएँ भी बनी, किन्तु वह दीर्घजीवी न हो सकी।

उपर्युक्त दोनो प्रकार की मडलियाँ रंगशिल्प की दृष्टि से पारसी-हिन्दी रगमंच की कृत्रिमतावादी अभिनय-पद्धति के बहुत निकट थी, किन्तु पारसी-हिन्दी मडलियाँ जहाँ बेताब युग के नाटको का ही अभिनय करती थी, वहाँ अव्यावसायिक नाटक मडलियाँ प्रसाद युग के हिन्दी नाटककारों के नाटको अथवा नाट्य-रूपान्तरो को भी प्रयोग के रूप मे खेलती थी। रगमच से आबद्ध न रहने अथवा रंगशिल्प के बढते हुए चरण के साथ न चल पाने वाले अधिकाश नाटककारो के नाटक रंग-निरपेक्ष होने के कारण किसी भी मंडली के अभिनय के उपयुक्त नही होते थे। इन मंडलियो मे बनारस की नागरी नाटक मडली को छोड अन्य किसी भी मडली ने रगशाला बनवाने की ओर ध्यान नही दिया।

नवनाट्य आन्दोलन के विविध स्वरूप : परन्तु हिन्दी-रंगमंच, जो अपने देश और ससार की हलचलों और उत्क्रान्तियो से अनजान रह कर मथर गति से चल रहा था, कब तक इसी गति से चलता। जर्मनी मे हर हिटलर के राजनैतिक क्षितिज पर एक अधिनायक के रूप मे अभ्युदय ने न केवल राष्ट्रों की चहारदीवारियो को, वरन् विश्व के मानचित्र को ही बदलने की चेष्टा की, फासिज़्म एव नाज़ीवाद के प्रचार-प्रसार के द्वारा न केवल विश्व के जनमत की अवहेलना की, लोकतन्त्र को भी खतरे में डाल दिया। भारत मे कांग्रेस ने इस सर्वग्राही फासिज़्म के

विरुद्ध आवाज उठाई, किन्तु विदेशी शासकों से यह स्पष्ट कह दिया गया कि भारत लोकतांत्रिक स्वतन्त्रता के लिये लड़े जाने वाले ऐसे किसी भी युद्ध में उस समय तक भाग नहीं ले सकता, जब तक वह स्वतन्त्रता स्वयं उसे न प्राप्त हो।[1] दूसरी ओर देश की कम्यूनिस्ट पार्टी ने इस युद्ध में भारत के योगदान को उचित ठहराया और उसे 'जनयुद्ध' का नाम देकर उसका अभिनन्दन प्रारम्भ कर दिया। देश में विचारों के इस संघर्ष-काल में बम्बई के कुछ कलाकारों ने युद्ध-विरोधी अभियान को रंगमंच से स्वर और सम्बल देने के लिये जनरल एस० एम० सोखे की अध्यक्षता में बम्बई में एक नाटक मंडली की स्थापना की, जिसका उद्घाटन १ मई, १९४२ को परेल (बम्बई) के दामोदर हाल में हुआ। इस अवसर पर दो नाटक खेले गये—सरवालकर का 'दादा' और जाफरी का 'यह किसका खून है'।[2] इन नाटकों ने जनता में युद्ध-विरोधी भावनाएँ जागृत की। सन् १९४३ में विभिन्न प्रान्तों के इन विचारों के समर्थक कलाकारों का बम्बई में एक सम्मेलन हुआ और अखिल भारतीय जन-नाट्य संघ की स्थापना की गई। इस संस्था का उद्देश्य भारतवर्ष में जनवादी रंगमंच' का विकास करना था।[3] संघ ने हिन्दी, बँगला, मराठी और गुजराती के अतिरिक्त देश की अधिकांश भाषाओं की रंगमंचीय चेतना को न केवल एकसूत्र में पिरोया, वरन् विभिन्न प्रान्तों में अपनी शाखाएँ-प्रशाखाएँ खोल कर हिन्दी तथा सभी इतर भारतीय भाषाओं की रंग-चेतना को एक निश्चित रूप देकर उसके समक्ष नयी सम्भावनाओं, नयी मान्यताओं, नये रंग शिल्प के द्वार भी उन्मुक्त कर दिये। संघ प्रायः आधुनिक युग के अधिकांश भाग में सक्रिय रह कर हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के नव नाट्य-आन्दोलनों को गति प्रदान करता रहा है।

इसी के समानान्तर बम्बई की एक नाट्य-संस्था—पृथ्वी थियेटर्स ने राष्ट्रीय विचारों एवं भारतीय संस्कृति के पोषण के उद्देश्य को लेकर हिन्दी-रंगमंच की अपने जन्म (१९४४ ई०) से लेकर इस युग के उत्तरार्द्ध तक निष्ठा और एकाग्रता के साथ सेवा की। पृथ्वी थियेटर्स ने समस्त उत्तरी भारत में अपने नाटक घूम-घूम कर दिखाए और इस प्रकार नयी नाट्य-संस्थाओं और नये नाटककारों के लिये प्रेरणा-स्रोत बन कर हिन्दी के नव नाट्यआन्दोलन को सबल प्रदान किया।

इस नवनाट्य आन्दोलन के विकास में इन दो संस्थागत एवं मंडलीगत प्रयासों के अतिरिक्त इसका तीसरा स्तम्भ है—भारत सरकार द्वारा जनवरी, १९५३ में दिल्ली में संगीत नाटक अकादमी तथा सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के अन्तर्गत गीत एवं नाटक प्रभाग की स्थापना। अकादमी का उद्देश्य नृत्य, नाटक और संगीत कलाओं के प्रोत्साहन, नाट्यकेन्द्रों की स्थापना, नाट्य कला के प्रशिक्षण को प्रोत्साहन, नाट्य-लेखन एवं उपस्थापन के लिये पुरस्कार आदि के द्वारा भारत की सांस्कृतिक एकता का पोषण करना है। दूसरी ओर, गीत एवं नाटक प्रभाग ने पंचवर्षीय आयोजना के प्रचार-प्रसार के लिये गीत, नृत्य एवं नाटक के सम्प्रेषणीय माध्यम को चुना। प्रभाग ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनेक नाटक लिखे-लिखाए, नाट्य-समारोह आयोजित किये तथा अनेक नाट्य-संस्थाओं को सबद्ध कर उनको नाट्याभिनय के लिये प्रोत्साहित किया।

संगीत नाटक अकादमी के अनुकरण पर प्रायः प्रत्येक राज्य में संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हो चुकी है। हिन्दी-क्षेत्र में राजस्थान मध्य प्रदेश, बिहार और उत्तर प्रदेश में प्रान्तीय अकादमियाँ स्थापित हो चुकी हैं, जो अपने-अपने क्षेत्रों में हिन्दी नाट्य-संस्थाओं का पृष्ठपोषण कर रही है।

हिन्दी-रंगमंच की प्रगति का अध्ययन करने के लिये उक्त सभी मंडलियों, संस्थाओं तथा नाट्य-विषयक शासकीय प्रयासों का विस्तृत सिंहावलोकन आवश्यक है। इस सिंहावलोकन के पूर्व बँगला, मराठी और गुजराती के रंगमंचों की स्थिति, प्रगति, उपलब्धियों और परिसीमाओं का अध्ययन उपयोगी होगा, जिससे उसके परिप्रेक्ष्य में हिन्दी रंगमंच की उपलब्धियों और परिसीमाओं का मूल्यांकन किया जा सके।

(२) भारतीय रंगमंच की स्थिति और विकास

विकास की बहुमुखी दिशाएँ आधुनिक युग मे हिन्दी की ही भाँति बँगला, मराठी या गुजराती रगमच का कोई एक युग-प्रवर्तक नेता नही दिखाई पडता, फलतः इस युग में रंगमच के विकास की गति एकोन्मुखी न होकर बहुमुखी हो चली है। बीज अकुरित होकर एक निश्चित दिशा मे बढता है, किन्तु जब वह वृक्ष का रूप धारण करने लगता है, तो उसकी शाखाओं-प्रशाखाओं के कारण उसका प्रसार ऊर्ध्वमुख न होकर अनेक दिशाओ मे होने लगता है। इस प्रसार को किसी निश्चित नियम या मर्यादा मे बाँधना सम्भव नही होता। आज यही स्थिति भारतीय भाषाओ के मच की है। यह अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त होकर प्रसार कर रहा है, कहीं उसके अंग सबल हैं, कहीं दुर्बल, किसी शाखा का विकास सुडौल और व्यवस्थित है, तो किसी का बेडौल, बेढगा और निर्जीव। किसी भी वृक्ष की अभिवृद्धि और विकास मे उस प्रदेश का जलवायु भी बहुत सहायक होता है, उसी प्रकार बँगला, मराठी या गुजराती रगमच के पोषण, विकास और समृद्धि पर प्रत्येक भाषा-क्षेत्र की कलात्मक सुरुचि, संस्कृति, इतिहास और साहित्य का भी बहुत प्रभाव पडा है। बँगला और गुजराती मे नृत्य-नाट्यो की प्रयोग बहुलता के विपरीत हिन्दी और मराठी मे गद्य-नाटको का बाहुल्य रहा है। मराठी मे सगीत नाटको के प्रयोग आधुनिक युग मे भी चलते रहे हैं, यद्यपि सगीत का अश उनमें उत्तरोत्तर कम होता चला जा रहा है। अन्य भाषाओं की तुलना मे बँगला मे गीति-नाटक अधिक लिखे और खेले गये। हिन्दी मे भी इस प्रकार के गीति-नाट्यो के प्रयोग हुए, किन्तु बहुत कम। बँगला और हिन्दी के ढग के गीति-नाट्य मराठी रगमच पर नही दिखाई पडते। मराठी के सगीत नाटक प्रायः गद्य-प्रधान हैं, उनमे अधिकाश हिन्दी गद्य-नाटकों की भाँति कुछ गीतो के समावेश के कारण उन्हें गद्य-नाटक से पृथक् 'सगीत नाटक' कहा जाता है, जबकि हिन्दी मे ऐसे नाटक गद्य-नाटक ही माने जाते हैं। सभी भाषाओ में मूल प्रवृत्ति गद्य-नाटको की ओर बढने की है, क्योंकि अव्यावसायिक रंगमच पर ऐसे नाटकों की माँग अधिक बढ़ती जा रही है, जिनमे नृत्य-गीत का झमेला न हो। सम्भवतः इसके दो कारण हैं—पाश्चात्य रंगमच का अधानुसरण कर कथित प्रगति के ढोल पीटने की आत्मश्लाघा और दूसरे असंगठित और अधकचरी सस्थाओ की परिसीमाओं के बन्धन, जिन्हें तोड कर बाहर निकलना उनके लिये सम्भव नहीं है। भारतीय रंगमंच की आत्मा केवल गद्य-सवाद से न बन कर नृत्य और गीत के कलात्मक एवं झीने स्वर्णिम तारों से बनी हुई है, जिसे खोकर वह जीवित नहीं रह सकता।

आधुनिक युग बहुमुखी प्रसार का युग है, अतः हिन्दी की ही भाँति बँगला, मराठी और गुजराती के रगमंचो ने भी विविध दिशाओ मे प्रसार किया। आधुनिक युग के प्रारम्भ होने के पूर्व इस प्रसार के लिये, भारत मे चलचित्रों के अभ्युदय के कारण, कुछ समय के लिये दिशावरोध पैदा हुआ, उपल-वृष्टि भी हुई, किन्तु शीघ्र ही यह कुहासा, यह तूफान शान्त हुआ और सभी भाषाओ के रगमचो की जय-यात्रा प्रारम्भ हुई। बँगला और गुजराती की व्यावसायिक नाटक मडलियो मे से कुछ ने इस कुहासे और तूफान की चिन्ता किये बिना अपनी गति को, सक्राति से निकल कर, जारी रखा, कुछ नयी मडलियाँ बनी और आधुनिक युग के अन्त तक (इस अध्ययन की काल-सीमा को दृष्टि मे रख कर, यद्यपि यह युग आज भी चल रहा है) उनमे से कुछ चलती भी रहीं। बँगला के स्टार, मिनर्वा, विश्वरूपा और रगमहल तथा गुजराती का देशी नाटक समाज आज भी व्यावसायिक स्तर पर सक्रिय है। मराठी मे यद्यपि कुछ व्यावसायिक मडलियाँ आधुनिक युग मे सक्रिय रही, किन्तु व्यावसायिक सफलता न मिलने के कारण उनका ह्रास हो गया। मिनर्वा का संचालन एक अर्द्धव्यवसायी या सहकारी संस्था—लिटिल थियेटर ग्रुप के हाथ मे होने से उसके मच पर कुछ नये प्रयोग अवश्य देखने मे आते हैं, किन्तु नये प्रयोगों के लिये आधुनिक युग इन सभी भाषाओं में अपने अव्यावसायिक रगमच का ऋणी है। ये प्रयोग गद्य-नाटको के अतिरिक्त नृत्य-नाट्य,

गीति-नाट्य अथवा संगीतक सभी दिशाओं में हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त इन तीनों भाषाओं में लोकनाट्य-यात्रा, तमाशा और भवाई को भी नया रूप देने और उसके पुनरुज्जीवन की चेष्टा की जा रही है।

इस युग में रंगशिल्प भी परिमार्जित हुआ और उसमें प्रौढ़ता आई। रंग-सज्जा, रंगों के मिश्रण और रंग दीपन, तथा ध्वनि-संकेतों के निक्षेप में भी सुरुचि और वैज्ञानिकता के दर्शन हुए, किन्तु रंगशिल्प के व्ययसाध्य होने के कारण सादे और प्रतीक दृश्यों का उपयोग भी हुआ। असंगठित और छोटे नगरों की अर्थ-पीड़ित नाट्य-संस्थाओं के लिये इस रंगशिल्प का उपयोग सम्भव न हो सका और उन्होंने पुरातनवादी संस्थाओं के रंगीन और चित्रित परदों की जगह सादे काले या नीले परदों और कट-सीनों से ही काम चलाया।

बँगला में रंगशालाओं की दीर्घ शृंखला होने के कारण आधुनिक युग में नई रंगशालाएँ बनाने की ओर ध्यान न देकर वर्तमान रंगशालाओं के जीर्णोद्धार, पुनर्गठन और नवीनीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस युग में कलकत्ते के कालिका थियेटर ने परिक्रामी रंगमंच की स्थापना अवश्य की और मुक्तांगन-जैसे खुले रंग-मंच भी बने, किन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है। मराठी-क्षेत्र में रंगशालाओं की अपनी परम्परा न होने के कारण इस दिशा में कुछ विशेष प्रयास किये गये और बम्बई, पूना और नागपुर में रंगशालाएँ बनाई गईं। गुजराती-क्षेत्र में इस युग में नई रंगशाला बनाने का कोई प्रयास दृष्टिगोचर नहीं हुआ। बम्बई आदि नगरों में बनी अन्य नई-पुरानी सर्वमार्गी नाट्यशालाओं से ही काम चलाने का प्रयास किया गया।

इस युग की एक और विशेषता रही है और वह थी—रंगमंच के लिये उच्च कोटि के मौलिक नाटकों के सृजन का अभाव, जिसकी पूर्ति के लिये विदेशी एवं हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के नाटकों के अनुवादों के साथ उनकी कथाओं और उपन्यासों के आधार पर बड़े पैमाने पर नाट्य-रूपान्तर भी तैयार किये गये। बँगला, मराठी और गुजराती के रंगमंचों के अध्येताओं से यह बात छिपी नहीं है, किन्तु इस प्रवृत्ति से मौलिक नाटककारों को रंगोपयोगी नाटक लिखने की प्रेरणा न मिल सकी और फलतः मराठी को छोड़ (जिसमें नाटक सदैव मंच के लिये ही लिखा जाता रहा है) बँगला और गुजराती में रंग-निरपेक्ष या पाठ्य नाटकों की वृद्धि हुई। रंगमंच से उनका सम्बन्ध टूट गया।

आधुनिक युग में पूर्णांग नाटकों के साथ कुछ एकांकी नाटक भी खेले गये, किन्तु अधिकांश एकांकी रंगोप-योगिता को किनारे रख केवल एक नवीन विधा के पोषण, वैचित्र्य-प्रदर्शन अथवा लघु कथा की भाँति पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से पठन-पाठन और मनोरंजन के लिये लिखे गये। इनमें से अधिकांश में कोई सुगठित कथानक नहीं होता, जिससे उनमें रस-निष्पत्ति एवं सम्प्रेषणीयता की शक्ति नहीं होती, जिसके बिना उन्हें रंगमंच पर सफलतापूर्वक नहीं उतारा जा सकता। दूसरे प्रकार के एकांकी या लघु नाटक ध्वनि-माध्यम अर्थात् आकाशवाणी के लिये लिखे गये, जिनमें से कुछ को छोड़ शेष को मंच पर उसी सफलता के साथ नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। कुछ ध्वनि-नाटक अवश्य ही सुन्दर रंग-एकांकी भी होते हैं, किन्तु ऐसे नाटक थोड़े ही होते हैं। इसीलिये मराठी और गुजराती में ध्वनि-नाटक के रूप में अधिक नाटक नहीं खेले गये और प्रायः रंग-एकांकियों को ही आकाशवाणी से प्रसारित किया जाता है। इसके विपरीत हिन्दी-क्षेत्र की व्यापकता के कारण हिन्दी में आकाशवाणी के लिये लिखने वाले नाटककारों का एक वर्ग ही अलग बन चुका है, जो अपने ध्वनि-नाटकों के प्रसारित होने के उपरांत कुछ रंग-संकेत जोड़ कर उन्हें रंग-एकांकी की भाँति प्रकाशित कर देते हैं। बँगला में रंग-एकांकी ही लिखने का चलन अधिक है।

जो भी हो, इन रंग-एकांकियों ने एकांकी नाट्य-प्रतियोगिताओं के लिये विस्तृत पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। स्कूल-कालेजों के वार्षिकोत्सवों पर भी प्रायः एकांकी खेले जाने लगे हैं, क्योंकि छात्रों के लिये पूर्णांग नाटकों के प्रयोग कठिन नहीं, तो श्रम-एवं-व्यय-साध्य अवश्य हैं।

संक्षेप में, इन विविध दिशाओं में फैलने वाले तीनों भाषाओं के रंगमंचों पर व्यवस्था, दिशा-शोध और स्थि-

रता की आवश्यकता है, जिसके लिये यह युग अभी अपने दिशा-प्रवर्तक की प्रतीक्षा मे है।

(क) बँगला रंगमंच : प्रगति, उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ

आधुनिक युग मे रवीन्द्र युग के दो स्तंभ ढह गये—नट एव नाटककार रवीन्द्रनाथ ठाकुर सन् १९४१ म और नट एवं नाट्याचार्य शिशिरकुमार भादुड़ी ३० जून, १९३९ को दिवगत हो गये। रवीन्द्र की नाट्य-पद्धति का इस युग मे यद्यपि अनुकरण नही हुआ, फिर भी उनके नाटकों की युग-सापेक्ष्य व्याख्या करके उन्हें रंगोपयोगी सिद्ध करने का प्रयास शंभु मित्र और उनके नाट्य-दल बहुरूपी द्वारा किया गया, जिसकी सर्वत्र प्रशसा हुई। रवीन्द्र के नाटक न केवल इस देश में, वरन् इंग्लैण्ड, अमेरिका, रूस आदि देशो मे भी बड़े चाव से खेले गये शिशिरकुमार ने भी रवीन्द्र युग मे ही उनके कई नाटक व्यावसायिक रगमच पर खेले, यद्यपि उन्हें अधिक सफलता न मिल सकी। इसका कारण था—तत्कालीन 'पिक्चर-फ्रेम' मच की सीमाओ के भीतर उनका उपस्थापन। स्वय शिशिर इस प्रकार के मच के पक्षपाती न थे। इसकी अपेक्षा वे बँगला यात्रा नाटक के रगमच को प्रश्रय देकर 'जातीय नाट्यशाला' की स्थापना श्रेयस्कर समझते थे। वे जागते-सोते इसी एक स्वप्न को देखते थे—जातीय नाट्यशाला का स्वप्न। काश उनके जीवन मे ही यह स्वप्न साकार हो सका होता! आज भी यह स्वप्न एक स्वप्न ही है, क्योकि आज के कुछ कथित खुले रंगमंच भी 'पिक्चर-फ्रेम' वाले मच को लेकर ही बने हैं। आधुनिक युग मे भी शिशिर बाबू जीवन के अन्तिम वर्षों तक अपने श्रीरंगम् को लेकर सक्रिय बने रहे। यह उनके 'नटजीवन का शेष कीर्तिस्तंभ' था।[१]

रवीन्द्र युग के एक अन्य अप्रतिम कलाकार अहीन्द्र चौधरी ने अपने स्वाभाविक एव प्रभावशाली अभिनय से आधुनिक युग में बँगला रगमच मे जीवन-सचार किया। सन् १९४२ मे वे नाट्याचार्य होकर रगमहल मे आये और उन्होंने अपनी अभिनय-कला और सुयोग्य नाट्य-शिक्षा द्वारा रगमहल के नाटको को चमका दिया। महेन्द्र गुप्त का 'माइकेल' उनके निर्देशन मे शत रात्रियों तक और अयस्कांत बख्शी का 'भोला मास्टर' दो सौ रात्रियों मे अधिक चला।[२] अहीन्द्र ने आधुनिक युग के पूर्वार्ध में वही लोकप्रियता प्राप्त की, जो गिरीशचन्द्र घोष या दानी बाबू ने उनसे पूर्व प्राप्त की थी।

शिशिरकुमार, अहीन्द्र चौधरी और उनके समकालीन कलाकारों ने सामाजिक अप्रतिष्ठा के पात्र बन कर भी अपनी अहर्निश साधना और त्याग के बल पर बँगला रंगमच की धारा को सातत्य प्रदान किया, उसका क्रम चलचित्रो के आगमन और प्रसार के कारण कहीं टूट न सका। समय-समय पर होने वाले प्रबन्ध-परिवर्तन, कलाकारो के पलायन, अवकाश-ग्रहण अथवा निधन, सरकारी एवं दैवी प्रकोप के बावजूद बंगला रंगमच सदैव जीवित बना रहा। इसका श्रेय उस कला-भूमि बगाल को है, जहाँ एक के बाद एक नट एवं नाट्याचार्य जन्म लेते रहते हैं।

व्यावसायिक रंगमंच : पुरानी नाट्यशालाओं का भी इस दिशा में योगदान अविस्मरणीय है। इनमे से प्रमुख हैं—स्टार, मिनर्वा, रगमहल, और नाट्यनिकेतन, जो आज भी बँगला रगमच की अप्रतिहत गति से सेवा कर रहे हैं।

स्टार थियेटर – जून, १९३६ मे स्टार-स्थित नवनाट्य मदिर के बन्द हो जाने पर स्टार का प्रबन्ध पहले विमल पाल और फिर १९३७ ई० में उपेन्द्रकुमार मित्र के हाथ में आया। स्टार का श्रीगणेश 'धर्मद्वन्द्व' के अभिनय से हुआ। इसके अनन्तर महेन्द्र गुप्त-कृत 'चक्रधारी', सुधीर बाबू-कृत 'बांगलार बौमा' और मणि वन्द्योपाध्याय-कृत 'वासुदेव' खेले गये।[३] सन् १९३९ में 'सोनार बांगला', 'जननी जन्मभूमि' आदि तथा सन् १९४० मे 'तुलसी,' महेन्द्र गुप्त-कृत 'उत्तरा', 'रणजीतसिंह' आदि नाटक खेले गये।

इसके बाद महेन्द्रगुप्त के 'महाराजा नदकुमार', 'टीपू सुल्तान' आदि कई ऐतिहासिक नाटक उपेन्द्र बाबू के निर्देशन में मंचस्थ हुए। 'टीपू सुल्तान' इन नाटकों मे सर्वश्रेष्ठ रहा और उसका अभिनय भी उच्च कोटि का हुआ।[४]

इसमे रवि राय और शेफालिका 'पुतुल' ने क्रमश हैदरअली और रूनी बेगम की भूमिकाएँ की थी। आगे चल कर स्टार मे 'स्वर्ग हतेबड', 'पार्थ सारथि' और दिलीपदास गुप्त का '२२ से शनिवार' अभिनीत हुआ।

प्राय १९४६-४७ तक राष्ट्रीय विचारोत्तेजक नाटक खेल कर स्टार बगाल के जन-जीवन मे स्फूर्ति भरता रहा। १५ अगस्त, १९४७ को देश के स्वतन्त्र होने और बगाल के विभाजन के फलस्वरूप सम्पूर्ण बगाल का जन-जीवन अस्थिर और उद्वेलित हो उठा। दो-तीन वर्षों तक बगाल अपनी शरणार्थी-समस्या को लेकर उलझा रहा। बँगला रगमच के लिये ये दिन बडे अर्थ-सकट के रहे। स्टार ही नही, मिनर्वा, रगमहल और श्रीरगम् सभी की आर्थिक स्थिति डाँवाँडोल हो उठी।

सन् १९५२ मे स्टार के परिक्रामी रगमच पर निरुपमा देवी के उपन्यास के देवनारायण गुप्त-कृत नाट्य-रूपातर 'श्यामली' को मचस्थ किया गया, जिसके सन् १९५५ तक ४८४ प्रयोग हुए।" बँगला रगमच पर यह पहला प्रयोग था, जो इतनी रातो तक चला। इसमे जहर गागुली, सावित्री चट्टोपाध्याय, उत्तमकुमार, मिहिर भट्टाचार्य आदि ने मुख्य भूमिकाएँ की थी। यह नाटक इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके ६-७ सस्करण अब तक निकल चुके हैं।

सन् १९५५ मे शरद्-'परिणीता' हुआ, जो १३५ रात्रियो तक चला। इस नाटक के बाद स्टार का नवीनीकरण कर उसके हाल को वातानुकूलित (एयर-कन्डीशन्ड) बनाया गया। इसके अनन्तर शरद् के उपन्यास 'श्रीकान्त' के प्रथम-द्वितीय भागो और तृतीय-चतुर्थ भागो के पृथक्-पृथक् नाट्य-रूपान्तर (रूपातरकार देवनारायण गुप्त) सन् १९५९ के प्रारम्भ तक खेले गये। प्रथम-द्वितीय भाग के ५०० और तृतीय-चतुर्थ भाग के लगभग २०० प्रयोग हुए।

१२ मार्च, १९५९ को मनोज वसु के उपन्यास 'वृष्टि-वृष्टि' का देवनारायण गुप्त द्वारा नाट्यरूपातरित एव निर्देशित 'डाक बँगला' मचस्थ हुआ, जिसमे छवि विश्वास, अपर्णादेवी, अजित बनर्जी, साधना राय-चौधरी आदि ने प्रमुख भूमिकाएँ की थी। नाटक त्रिअकी था और प्रथम अक मे पाँच और शेष दोनों अको मे ६-६ दृश्य थे। रग-सज्जा और रग-दीपन अनिल वसु का था।

सन् १९६० मे दो नाटक खेले गये—देवनारायण गुप्त-कृत 'परमाराध्य श्री श्रीरामकृष्ण' और सुबोध घोष के उपन्यास का दे० ना० गुप्त-कृत नाट्यरूपान्तर 'श्रेयसी'। प्रथम के १०० और दूसरे के ३८७ प्रयोग हुए। निर्देशन दे० ना० गुप्त का था।

सन् १९६१ मे शक्तिपद राजगुरु के उपन्यास 'शेषनाग' के देवनारायण गुप्त-कृत नाट्य-रूपान्तर 'शेषाग्नि' का अभिमचन हुआ। यह १५० रात्रियो तक खेला गया। इसके अनन्तर नीहाररजन गुप्त के उपन्यास 'निरिपच' का देवनारायण गुप्त-कृत नाट्य-रूपान्तर 'तापसी' का प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ। इसके ४५८ प्रयोग हुए। इसकी लोकप्रियता के कारण इसी नाटक के आधार पर बँगला मे 'तापसी' फिल्म भी बनाई गई। ध्रुव गुप्त ने 'तापसी' को 'निकृष्ट स्तर' का 'मेलोड्रामा' कहा है, जिसमे मानव-जीवन की किसी गभीर समस्या का अकन नही हुआ है।" जो भी हो, व्यावसायिक दृष्टि से यह एक सफल नाटक कहा जा सकता है।

१८ फरवरी, १९६४ से विमल मित्र के उपन्यास 'एकक-दशक-शतक' के देवनारायण गुप्त-कृत नाट्य-रूपातर का प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ, जो सन् १९६५ के अन्त तक चलता रहा। २४ दिसम्बर, ६५ को इन पक्तियो के लेखक ने इस नाटक के प्रदर्शन को देखा था। परिक्रामी मच पर नाटक के विविध दृश्यबन्ध बहुत भव्य और आकर्षक थे। इस नाटक मे गरीबो के ऊपर धनिको के अत्याचार, उनके नैतिक पतन आदि की कथा वर्णित है।

सन् १९६१ मे रवीन्द्र शताब्दी के अवसर पर स्टार ने 'शेषाग्नि' का प्रदर्शन किया।

सन् १९६२ मे स्टार ने भारत पर चीनी आक्रमण के समय नेफा पर चीनी आक्रमण से सम्बन्धित 'स्वर्ण-

कीट' तथा 'कारागार' (कृष्ण-जन्म से सम्बन्धित) नाटक मंचस्थ किये ।

स्टार के सभी कलाकार एवं शिल्पी वेतनभोगी है । पुरुष कलाकारों को १२५) रु० से २५००) रु० और स्त्री-कलाकारों को १५०) रु० से २५००) रु० प्रति माह तक वेतन दिया जाता है । नायक-नायिका को २५००) रु० प्रतिमाह वेतन मिलता है । 'डाक बँगला' से 'श्रेयसी' तक छवि विश्वास स्टार के नायक रहे । अपर्णादेवी सन १९६० और उसके बाद तक नायिका की भूमिकाएँ करती रही हैं । स्टार में कुल १२० कर्मचारी हैं, जिनमे लगभग ९० कलाकार एवं शिल्पी हैं । प्रतिमाह सोलह हजार का 'पे बिल' बनता है । पूजा बोनस अलग से दो माह के वेतन के बराबर दिया जाता है । कलाकारों आदि के लिए स्टार की अपनी भविष्य निधि की भी व्यवस्था है ।[1]

कलाकारों को प्रयोग (शो) के दिनों (वृहस्पति, शनिवार और रविवार) और बैंकों के अवकाश के दिनों मे काम करना पडता है । रविवार को 'मैटिनी शो' भी होता है । इस प्रकार उस दिन दो 'शो' होते हैं । औसतन प्रत्येक माह उन्हें बीस प्रयोगों मे उतरना पड़ता है । एक स्टार कलाकार का रंग-जीवन दस से बारह वर्ष तक का होता है । पूर्वाभ्यास और नाट्यप्रशिक्षण पर पूरा जोर दिया जाता है । नये नाटक का पूर्वाभ्यास ढाई-तीन माह पूर्व प्रारम्भ हो जाता है, जो रात को ६ बजे से १० बजे तक चलता है । पूर्वाभ्यास के मध्य न तो कोई नाटक होता है और न हाल किराये पर ही दिया जाता है । हाल केवल खेल चालू रहने के दिनों मे ही किराये पर दिया जाता है । स्टार का एक दिन का किराया ८००) रु० है ।

स्टार थियेटर कलकत्ते का एकमात्र वातानुकूलित थियेटर है । इसमें परिक्रामी रंगमंच की व्यवस्था है, जिस पर तीन सेट एक बार ही लगाये जा सकते हैं । सेट के प्रत्येक 'फ्लैट' की ऊँचाई १७ फुट होती है और चौड़ाई आवश्यकतानुसार दो से लेकर दस-बारह फुट तक होती है । मंच के एक पार्श्व में पुरुषों एवं स्त्रियों के लिये पृथक् नेपथ्य कक्षों ('ड्रेसिंग रूम्स') की व्यवस्था है । बाल्कनी-सहित इसमें ९२० सीटें हैं । प्राय. प्रत्येक प्रयोग में हाल खचाखच भर जाता है और टिकट की अग्रिम बिक्री पहले से ही हो जाती है, जिसके लिये 'एडवांस बुकिंग' का प्रबन्ध रहता है । भूमिखण्ड की सीटों की टिकट की दरें १) रु० से लेकर ७) रु० तक और 'बाल्कनी' के लिये १.५० रु० से लेकर ५.०० रु० तक हैं ।

स्टार के उपर्युक्त विशिष्ट अध्ययन से उसकी और सामान्यतः बँगला रंगमंच की लोकप्रियता और उपलब्धियों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है ।

मिनर्वा—सन् १९३७ में उपेन्द्रकुमार मित्र के मिनर्वा छोड़ कर चले जाने पर हेमेन मजूमदार स्वत्वाधिकारी हुए और उन्होंने उत्पल सेन-कृत 'पार्थ सारथि' तथा कुछ पुराने नाटक खेले । सितम्बर, १९३९ में प्रबन्ध पुनः बदला और नये प्रबन्ध के अन्तर्गत महेन्द्र गुप्त का 'अभियान', 'अन्नपूर्णार मंदिर', जलधर चट्टोपाध्याय के 'कवि कालिदास' और 'हाउस फुल', 'ब्लैक आउट', शचीन सेन का 'सुप्रियार कीर्ति' और गौतम सेन का 'डाक्टर' अभिनीत हुए ।[11]

सन् १९४२ के मध्य में मिनर्वा एक लिमिटेड कम्पनी के प्रबन्धक के अन्तर्गत चला गया और दिलावर हुसैन, चंडी बंद्योपाध्याय, नरेशचन्द्र गुप्त और धीरेन मुकर्जी उसके संचालक नियुक्त हुए । २२ जून, १९४३ को मिनर्वा के एक सुयोग्य एवं प्रियदर्शन कलाकार दुर्गादास बन्द्योपाध्याय का निधन हो जाने से मिनर्वा की बड़ी क्षति हुई, किन्तु अगले वर्ष नाट्यभारती के बन्द होने पर सरयूबाला, रंगमहल से रतीन बन्द्योपाध्याय और रानीबाला आदि कई कलाकार आ गये । छवि विश्वास (प्रसिद्ध रंग-एवं-फिल्म अभिनेता) भी मिनर्वा में आ गये । फलतः निर्मलेन्दु बाबू के निर्देशन में 'देवदास' (मार्च, १९४४) का प्रयोग बहुत सफल रहा । इसके अनन्तर 'पुरोहित', शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त के 'राष्ट्रविप्लव' और 'धात्री पान्ना' (१९४५ ई०), 'मिशर कुमारी', 'चन्द्रशेखर', ताराशंकर बन्द्योपाध्याय

का 'दुइ पुरुष' मंचस्थ हुए। सन् १९४६ मे बंकिमचन्द्र के उपन्यास का गिरीश-कृत नाट्यरूपांतर 'सीताराम' खेला जाकर बहुत लोकप्रिय हुआ, किन्तु १६ अगस्त, ४६ के साम्प्रदायिक दंगे से मिनर्वा को बहुत क्षति हुई।[११] २८ फरवरी, १९४७ से शरद् की एक कहानी का देवनारायण गुप्त-कृत नाट्य-रूपांतर 'काशीनाथ' का अभिनय प्रारम्भ हुआ, जो दंगों के बीच जब-तब चलता रहा।

इसके अतिरिक्त गत कुछ वर्षों मे बँगला के प्रसिद्ध नाटककार, नट एवं नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र घोष की जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य में क्षेत्रमोहन मित्र, क्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती और किरणचन्द्र दत्त द्वारा सन् १९४३ मे स्थापित 'गिरीश परिषद्' द्वारा प्रस्तुत सभी नाटक मिनर्वा मे ही खेले गये।[१२] परिषद् क्षेत्रमोहन मित्र की मृत्यु (सन् १९४४) के कुछ काल बाद प्राय शिथिल हो गई।

इसी बीच मिनर्वा थियेटर मे हिन्दी-रंगमच (१९४५ ई०) और हिन्दुस्तान थियेटर्स की स्थापना (९ जनवरी १९४६ ई०) हुई, जिनका विवरण आगे दिया गया है। सन् १९४८ तक मिनर्वा में प्रमुख रूप से हिन्दी के नाटक खेले जाते रहे। इसके अनन्तर बँगला के नाटकों के साथ मिनर्वा में हिन्दी के नाटक भी यदा-कदा होते रहे। २७-२८ दिसम्बर, १९५८ को रामचन्द्र 'आंसू' का 'देश की लाज' नाटक शेखरराय और 'आंसू' के सह-निर्देशन में मंचस्थ हुआ। इस प्रकार मिनर्वा का बँगला तथा हिन्दी रंगमच के इतिहास मे दोनों के संगम-स्थल के रूप मे स्थान अक्षुण्ण है।

१० जून, १९५९ को कलकत्ते के लिटिल थियेटर ग्रुप नामक शौकीन (अव्यावसायिक) नाट्य-दल ने मिनर्वा का परिचालन-भार ग्रहण किया और उत्पल दत्त-कृत 'छायानट' का ३० अगस्त, ५९ तक प्रदर्शन किया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इसके कई माह पूर्व दिसम्बर, १९५८ मे ही ग्रुप ने इस नाटक का प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया था। ३१ दिसम्बर, १९५९ को ग्रुप का सर्वश्रेष्ठ और लोकप्रिय नाटक 'अंगार' (लेखक-उत्पल दत्त) प्रारम्भ हुआ, जो लगभग ५०० रात्रियो तक चला। इसके परिचालक (निर्देशक) थे—उत्पल दत्त, संगीत-निर्देशक प्रसिद्ध सितार-वादक रविशंकर और रंग-सज्जाकार निर्मल गुह राय। रंगशिल्प—दृश्यबन्ध,-रंगदीपन एवं ध्वनि-संकेत की दृष्टि से यह बँगला रंगमच का क्रान्तिकारी सीमाचिन्ह रहा है। इसमे रंगदीपन के आधुनिक साधनों का उपयोग कर कोयले की खान को बाढ के पानी से भरते और घिरे हुए खनिकों को डूबते हुए दिखलाया गया है।[१३]

मई, १९६० में दो एकांकी भी खेले गये—'उमानाथ भट्टाचार्य-कृत 'छोटो लोक' और अजीत गांगुली-कृत 'नवदूर्वादल श्याम'।

मिनर्वा ने अप्रैल, १९६१ मे रवीन्द्र-'तपती' तथा अगले माह उत्पल दत्त-कृत 'फरारी फौज' प्रारम्भ किया। 'फरारी फौज' नितांत मौलिक नाटक न होकर उस पर क्लिफोर्ड आडेट के 'टिल दि डे आइ डाइ' नाटक की छाप है।[१४] जनवरी, १९६३ मे चेखव -'बाजी' (सत्य बनर्जी-कृत चेखव की कहानी का नाट्य-रूपान्तर) का प्रयोग प्रारंभ हुआ। इसी वर्ष मार्च में मल्लवन-कृत उपन्यास 'तिताश, एकटि नदीर नाम' का उसी नाम का उत्पल दत्त-कृत नाट्य-रूपान्तर मचस्थ किया गया। इस नाटक से व्यावसायिकता की गध आती है। मिनर्वा के अन्य नाटकों की भाँति इसमे समूहन एवं भीड-संरचना का अच्छा उपयोग हुआ है।

सन् १९६४ मे मिनर्वा ने शेक्सपियर-'जूलियस सीज़र' (बँगला) प्रदर्शित किया। इसी वर्ष फ्रेड्रिक वुल्फ़ के नात्सी-विरोधी नाटक 'प्रोफेसर मामलाक' (बँगला) का प्रयोग किया गया। नाटक का निर्देशन उसके नायक उत्पल दत्त ने किया, किन्तु उनके स्वर में माधुर्य का अभाव था। रंगदीपन के लिए श्वेत और लाल प्रकाश का सुन्दर प्रयोग किया गया था।

२८ मार्च, १९६५ से प्रदर्शित उत्पल दत्त-कृत 'कल्लोल' कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से मिनर्वा की अद्भुत कृति है। इसकी कथा १९४६ के नौसैनिक-विद्रोह से सम्बन्धित है। एक जलयान पर नाविकों के विद्रोह, युद्ध और

अन्त मे उनके प्रताड़न के दृश्य बडे प्राणवान और गत्यात्मक हैं । प्रथम दो अंकों मे समुद्रस्थ जलयान का पार्श्वभाग सामाजिकों के सामने रहता है, किन्तु अंतिम अंक मे उसका मुखभाग सामने हो जाता है । जलयान के भीतर के भी कुछ दृश्य दिखाये जाते है । आलोकचित्र-प्रक्षेपक के द्वारा प्रदर्शित समुद्र की लहरें जलयान की स्थिति को यथार्थ परिप्रेक्ष्य में साकारत्व प्रदान करती हैं ।

उत्पल दत्त, शेखर चट्टोपाध्याय तथा शोभा सेन की भूमिकाएँ यथार्थ के बहुत निकट रही हैं । इन पंक्तियो के लेखक ने जिन दिनो इस नाटक को देखा, उत्पल दत्त भारत प्रतिरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत उन दिनो गिरफ्तार थे । फिर भी 'कल्लोल' अबाध गति से चलता रहा और सामाजिको को क्रान्ति की प्रेरणा देता रहा । शासन ने उस पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया । नाटक के ३०० से अधिक प्रयोग हुए । सन १९६६ मे मिनर्वा ने अपना नया नाटक 'अजेय वियतनाम' प्रस्तुत किया, जो वियतनाम मे अमेरिका के युद्ध से सम्बन्धित है ।

लिटिल थियेटर ग्रुप अपनी दीर्घ परम्परा के अनुसार उदात्त, गम्भीर अथवा विचारोत्तेजक नाटक प्रस्तुत करता रहा है । ग्रुप द्वारा मिनर्वा का संचालन सहकारी आधार पर किया जा रहा है, जो इस दिशा मे अपने ढग का एक अभिनव प्रयोग है ।

यह ग्रुप अब तक ५३ से ऊपर नाटक मचस्थ कर चुका है ।

रगमहल – योगेशचन्द्र के 'नन्दरानीर ससार' (१९३६ ई०) के अनन्तर रगमहल का परिचालन यामिनी मित्र, रघुनाथ मल्लिक और कृष्णचन्द्र दे के हाथ मे आया और १५ मई, १९३७ को 'अभिषेक' अभिनीत हुआ । शचीन सेनगुप्त के 'स्वामी-स्त्री' (१९३७ ई०) मे नायक ललित की भूमिका मे दुर्गादास वन्द्योपाध्याय और नायिका लिली के अभिनय मे रानीबाला ने अच्छी लोकप्रियता अर्जित की । जुलाई, १९३८ मे दुर्गादास के चले जाने पर अहीन्द्र चौधरी रंगमहल मे आ गये ।[18] इसी वर्ष शचीन-'तटनीर विचार' खेला गया, जिसमे अहीन्द्र की डाक्टर बोस की भूमिका अन्यतम रही । तटिनी के रूप मे रानीबाला का अभिनय बहुत प्रभावशाली रहा ।

रगमहल का प्रबन्ध बदला और अमर घोष उसके स्वत्वाधिकारी हुए । इस काल मे योगेशचन्द्र चौधरी का 'माकडसार जाल', अयस्कात बख्शी का 'डॉ० मिस कुमुद' और विधायक भट्टाचार्य के 'माहिर घर' और 'बिश बछर आगे' खेले गये । सन् १९४० मे विधायक-कृत 'मालाराय' और 'रत्नद्वीप' नाटक मंचस्थ हुए ।

सन् १९४१ मे यामिनी मित्र ने पुन: रगमहल को लेकर अतुलकृष्ण मित्र के नाट्य-रूपातर 'कपालकुडला', विधायक भट्टाचार्य के 'रक्तेर डाक' और 'तुमि आर आमि' आदि कई नाटक प्रस्तुत किये और फिर रगमहल को छोड दिया ।

सन् १९४२ मे अभिनेता शरद्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने रंगमहल किराये पर लेकर अहीन्द्र चौधरी को निर्देशक के पद पर नियुक्त किया । अहीन्द्र के निर्देशन मे 'माइकेल' और 'भोला मास्टर' को आशातिक्त लोकप्रियता प्राप्त हुई । इनमे प्रथम के सौ और दूसरे के दो सौ से अधिक प्रयोग हुए ।

सन् १९४३ से १९४५ तक कई नाटक खेले गये, जिनमे वंकिमचन्द्र-'आनन्दमठ' के वाणीकुमार एवं अशोकनाथ शास्त्री द्वारा किये गये नाट्यरूपातर 'सतान' (१९४५ ई०) को बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई । इसके अनन्तर रगमहल मे 'राजपथ' (१९४६ ई०, उपेन्द्र नाथ गगोपाध्याय के उपन्यास 'राजपथ' का देवनारायण गुप्त-कृत नाट्य-रूपातर), नीहाररजन गुप्त-कृत 'उल्का' (१९५५ ई०), तरुण राय-कृत 'एक प्याला काफी' (१९५९ ई०), विमल मित्र के उपन्यास 'साहब-बीबी-गुलाम' का नाट्यरूपांतर (१९६० ई०) आदि कई नाटक सफलता के साथ अभिनीत हुए । 'उल्का' मे जन्म से परित्यक्त एक कुरूप बालक की जननी के प्रति दुर्निवार उत्कठा और उसके अतिम समय मे सुन्दरी माँ के वात्सल्य की अनूठी कथा निहित है । 'एक प्याला काफी' रहस्य-रोमांच से युक्त एक जासूसी नाटक है, जिसकी कथा एक प्याला काफी पीकर फिल्म-निर्देशक अरुण गुप्त की हुई मृत्यु को केन्द्रित

कर उसके चारों ओर घूमती है । इस नाटक के १५० प्रयोग हो चुके हैं ।

दिसम्बर, १९६५ में अपनी कलकत्ता-यात्रा के समय इन पंक्तियों के लेखक ने रंगमहल में 'टाकार रंग काला' नाटक देखा, जिसमें पैसे के दोषों का हास्य के माध्यम से निरूपण किया गया है । नाटक सामान्य कोटि का होते हुए भी यह सामाजिकों की अच्छी भीड़ आकर्षित करता रहा है । इसके पूर्व, संभवतः १९६४ में 'नाम-विभ्राट्' (आस्कर वाइल्ड के 'इम्पार्टेन्स आफ बीइंग अर्नेस्ट' का रूपान्तर) मंचस्थ हुआ था, जो एक सामान्य सुखांत नाटक था ।

आजकल रंगमहल का स्वत्व जितेन्द्र बोस तथा बी० एल० बंसल के पास है । रंगमहल कलकत्ते के उन तीन व्यावसायिक रंगालयों में से एक है, जहाँ परिक्रामी रंगमंच की व्यवस्था के साथ रंग-शिल्प के आधुनिक सभी साधन वर्तमान हैं । रंगमहल के कलाकारों का अपना एक दल है, जिसका नाम है—रंगमहल शिल्पी गोष्ठी । इसी गोष्ठी के द्वारा आजकल रंगमहल के नाटक मंचस्थ होते हैं ।

नाट्य-निकेतन—कलकत्ते का चौथा सशक्त रंगमंच था—नाट्यनिकेतन, जो रवीन्द्र युग में अपनी स्थापना से लेकर अब तक बराबर सक्रिय बना हुआ था । सन् १९३७ में निर्देशक यशोदा घोष के कलकत्ता थियेटर्स लि० को लेकर रंगमहल चले जाने के बाद[1] प्रबोधचन्द्र गुह ने पुनः अपने नाट्य-निकेतन को जागृत किया और शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त का *'सिराजुद्दौला' उपस्थापित किया, जिसमें उन्हें यथेष्ट सफलता मिली ।* प्रबोध बाबू ने टिकट की दरें बढ़ा दीं ।

इसके अनन्तर ज्योति वाचस्पति-कृत 'समाज' (१९३८ ई०), मन्मथराय-कृत 'मीर कासिम' (१९३८ ई०) और शरद-'पथेर दाबी' (१९३९ ई०) अभिनीत हुए । 'समाज' तथा 'मीर कासिम' में अभिनेता छवि विश्वास ने क्रमशः जमींदार तथा नायक मीर कासिम की और 'पथेर दाबी' में अहीन्द्र ने सव्यसाची की यशस्वी भूमिकाएँ कीं । 'पथेर दाबी' पर तत्कालीन सरकार ने रोक लगा दी ।

कुछ अन्य नाटकों के अतिरिक्त योगेश चौधरी का 'महामायार चर', शचीन-'भारतवर्ष' (१९४१ ई०), ताराशंकर बंद्योपाध्याय का 'कालिन्दी' (१९४१ ई०) तथा 'महाशक्ति' खेल कर नाट्य-निकेतन अक्तूबर, १९४१ में बन्द हो गया ।[2]

इन रंगालयों के अतिरिक्त कुछ नवीन व्यावसायिक नाट्य-संस्थाएँ स्थापित हुईं, जिनमें उल्लेखनीय हैं—कलकत्ता थियेटर्स लि०, नाट्य-भारती, श्रीरंगम् और कालिका थियेटर । इनमें से श्रीरंगम् विश्वरूपा के रूप में आज भी जीवित है, जबकि अन्य संस्थाएँ कुछ वर्ष चल कर बन्द हो गईं ।

कलकत्ता थियेटर्स लि०—नाट्य-निकेतन में शचीन सेनगुप्त के 'नरदेवता' पर प्रतिबन्ध लग जाने तथा अन्य कई प्रतिकूल कारणों से उसके संस्थापक प्रबोधचन्द्र गुह ने सन् १९३६ में कलकत्ता थियेटर्स लि० की स्थापना की । इस संस्था ने इस वर्ष 'केदार राय' और रवीन्द्र - 'गोरा' तथा अगले वर्ष (१९३७ ई०) 'सती', 'मोगल मसनद' और 'बभ्रुवाहन' नाटक प्रस्तुत किये । निर्देशक यशोदा घोष का प्रबोध बाबू के साथ मतभेद हो जाने के कारण वे कलकत्ता थियेटर्स को लेकर चितपुर रोड पर स्थित रंगमहल में चले गये, जहाँ कुछ समय तक यह संस्था सक्रिय बनी रही ।

नाट्यभारती—कलकत्ते के प्रसिद्ध अल्फ्रेड थियेटर में रघुनाथ मल्लिक ने रंगमहल को छोड़कर नाट्यभारती की स्थापना की और ५ अगस्त १९३९ को शचीन-'तटिनीर विचार' खेलकर संस्था का उद्घाटन किया ।[3] इसके बाद शचीन के 'संग्राम ओ शांति' तथा 'नर्सिंग होम' (१९४० ई०) मंचस्थ हुए । सन् ४१ में दो नाटक हुए—मनोज वसु का 'प्लावन' और महेन्द्र गुप्त का 'कंकावतीर घाट' । 'तटिनीर विचार' को छोड़ सभी नाटकों में अहीन्द्र चौधरी ने प्रमुख भूमिकाएँ कीं ।

सन् १९४२ में नाट्यभारती का स्वत्व मुरलीधर चटर्जी ने प्राप्त कर लिया । इसी वर्ष ताराशंकर वंद्योपाध्याय का 'दुइ पुरुष' और अगले वर्ष 'पथेर डाक' खेला गया ।

इसके अनन्तर 'देवदास' और 'धात्री पान्ना' के अभिनय के बाद जनवरी, १९४४ में नाट्यभारती को अल्फ्रेड थियेटर छोड़ देना पड़ा । इतस्ततः कुछ अन्य प्रयोग करके यह संस्था अन्ततः भग हो गई ।

श्रीरंगम् (विश्वरूपा)–सन् १९४२ में शिशिरकुमार भादुडी ने श्रीरंगम् की स्थापना की, जिसका उद्घाटन १० जनवरी को ताराकुमार मुखोपाध्याय के 'जीवनरग' के प्रयोग से हुआ ।[१] इसके बाद वनफूल का 'माइकेल', 'विन्दूर छेले', तुलसी लाहिडी का 'दु.खीर ईमान' (१२ दिसम्बर, १९४७), 'स्वप्न', 'विप्रदास', 'तख्तताऊस' आदि कई नाटक मचस्थ हुए । 'विप्रदास' के अभिनय के समय शिशिर ने श्रीरगम् का भार अपने अनुज विश्वनाथ भादुडी को सौंप दिया । तत्कालीन व्यावसायिक रगमंच पर सन् १९४३ के अकाल से पीडित एक कृषक-परिवार के दु ख-दैन्य के बीच मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा करने वाले 'दु.खीर ईमान' जैसे सोद्देश्य नाटक का अवतरण एक घटना थी ।

श्रीरगम् का अन्तिम उल्लेखनीय प्रयोग था–'आलमगीर' का १० दिसम्बर, १९५१ को पुन: अभिनय । इस तिथि को शिशिर के रग-जीवन के ३० वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में उनके मित्रो एव अनुरागियो ने उन्हें अभिनय के द्वारा मूक अर्घ्य प्रदान किया । स्वयं शिशिर ने वार्धक्य के बावजूद आलमगीर की भूमिका में सजीव अभिनय किया ।[२]

२७ जनवरी, १९५६ को शिशिर ने श्रीरगम् को छोड दिया । इसके पूर्व २२ जनवरी को 'मिशरकुमारी', २३ जनवरी को 'चन्द्रगुप्त' और 'प्रफुल्ल' खेले गये ।

श्रीरंगम के ध्वस पर विश्वरूपा की नीव रखी गई और वह 'आरोग्य-निकेतन' के साथ अवतीर्ण हुआ । नये कलाकारों को लेकर नयी कथा, नयी रग-सज्जा और वस्तुवादी अभिनय के साथ विधायक भट्टाचार्य-कृत 'क्षुधा' और 'सेतु' (१९५९ ई०) मंचस्थ किये गये, जो यशस्वी और लोकप्रिय हुए ।

'क्षुधा' के ५१३ और 'सेतु' के २० अगस्त, १९६० तक २०० प्रयोग हुए ।[३]

विश्वरूपा ने न केवल नाट्याभिनय से वरन् अपनी बहुमुखी योजनाओं से भी बँगला रगमच और नाटक के उन्नयन का मार्ग प्रशस्त किया है । कुछ प्रमुख योजनाएँ हैं–(१) शिशु नाट्य शाखा की स्थापना, (२) गिरीश ग्रन्थागार की स्थापना, (३) गिरीश नाट्य-प्रतियोगिता तथा (४) गिरीश थियेटर की स्थापना ।[४]

११ जनवरी, १९५९ को पश्चिमी बंगाल के तत्कालीन मुख्य मंत्री डॉ० विधानचन्द्र राय ने विश्वरूपा की शिशु नाट्य शाखा का उद्घाटन किया । इस शाखा के परिचालक हैं विमल घोष । शिशु-कलाकारो को पारिश्रमिक देने, उनके नि.शुल्क उपचार आदि की व्यवस्था भी की गई । इस अवसर पर विमल घोष का 'माया मुकुर' उन्ही के निर्देशन मे खेला गया ।[५]

विश्वरूपा में सन् १९५८ मे गिरीश ग्रन्थागार की स्थापना हुई, जिसमे गिरीशचन्द्र घोष, बँगला के अन्य नाटककारो तथा बँगला एव अन्य भाषाओ के नाट्य-सम्बन्धी ग्रथो का सग्रह है । नाट्य-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ भी आती हैं । अभी यह ग्रंथागार अपने सीमित साधनो के कारण अपूर्ण है और उसे सर्वांगपूर्ण बनाने की आवश्यकता है ।

योजनानुसार गिरीश नाट्य-प्रतियोगिता भी प्रारम्भ की जा चुकी है, जिसमे प्रथम एवं द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाली नाट्य-संस्थाओ, श्रेष्ठ नाटककार, श्रेष्ठ निर्देशक, श्रेष्ठ रगदीपन-शिल्पी, श्रेष्ठ अभिनेता आदि को पुरस्कार दिये जाते हैं ।

विश्वरूपा की चतुर्थ योजना के अनुसार २९ जुलाई, १९६० को विश्वरूपा के परिचालकत्व मे ही गिरीश

थियेटर की स्थापना हुई और उसके तत्वावधान में ३१ जुलाई, १९६० को सलिल सेन का 'डाउन ट्रेन' उसकी प्रथम पुष्पांजलि थी। इसका निर्देशन विधायक भट्टाचार्य ने किया।

विश्वरूपा ने कोरे व्यावसायिक दृष्टिकोण से हटकर इन नवीन योजनाओं के रूप में जो ये स्वस्थ परम्पराएँ स्थापित की हैं, वे अभिनन्दनीय है। स्टार और रंगमहल की भाँति विश्वरूपा में भी परिक्रामी रंगमंच की व्यवस्था है।

सन् १९६४ में विश्वरूपा ने विधायक भट्टाचार्य का 'लग्न' प्रस्तुत किया, जिसमें बहुधरातलीय मंच का प्रयोग किया गया था, जिसे संचालकों द्वारा 'थियेटरस्कोप' कहा गया था। यह सामान्य स्तर का अतिनाटक था, जो अधिक दिन तक न चल सका।

सन् १९६५ में दक्षिणेश्वर सरकार की कहानी पर आधारित एवं उनके द्वारा निर्देशित 'हासि' नामक सामाजिक नाटक मंचस्थ किया गया, जिसमें बंगाल की प्रसिद्ध अभिनेत्री तृप्ति मित्र (शंभु मित्र की पत्नी), काली बनर्जी, बिजन भट्टाचार्य ('नबान्न' के लेखक), कनिका मजूमदार, रेवा रायचौधरी तथा अरुण मुखर्जी ने प्रमुख भूमिकाएँ कीं। इसमें नायिका (तृप्ति मित्र) अपने इच्छित प्रेमी को न पाकर दूसरे के साथ ब्याह दी जाती है, फलतः वह गुमसुम रहती और अन्ततः पागल हो जाती है। पगली के रूप में तृप्ति का हास और करुण अभिनय बड़ा प्रभावी बन पड़ा है। नायिका इहलोक के उपरान्त पुनः अपने प्रेमी से मिलकर सुख का अनुभव करती है। इस पारलौकिक मिलन को 'सिलहौटी' में बड़े सुन्दर ढंग से दिखाया गया था। परिक्रामी मंच पर रंग-सज्जा वस्तुपरक और सुन्दर थी।

कालिका थियेटर—राम चौधरी ने डॉ० शैलेन्द्रनाथ सिंह की सहायता से कालीघाट में सन् १९४३ में कालिका थियेटर की स्थापना की।[१०] १५ दिसम्बर, ४३ को उसमें अभिनीत शरद्-'बैकुंठेर विल' का डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने उद्‌घाटन किया। नाट्य-रूपान्तरकार थे विधायक भट्टाचार्य।

इसके अनन्तर धीरेन्द्रनारायण राय का 'अचल प्रेम', विधायक-'२६ से जनवरी' और 'खेलाघर' (१९४६ ई०), शरद्-'मेज दीदी' (नाट्यरूपान्तरित), अपरेशचन्द्र का 'चन्डीदास', 'रामप्रसाद' (१९४६ ई०) आदि कई नाटक खेले गये। १५ अगस्त, १९४६ से प्रारम्भ हुई सीधी कार्यवाही से थियेटर को बहुत हानि उठानी पड़ी। २० जून, १९४७ से 'विश्वकर्मा' का प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ।

कुछ काल बाद यह थियेटर बन्द हो गया। इसमें भी परिक्रामी रंगमंच की व्यवस्था थी।[१८]

अव्यावसायिक रंगमंच—बंगला रंगमंच के उन्नयन और विस्तार में अव्यावसायिक रंगमंच का महत्त्व व्यावसायिक मंच की तुलना में किसी भी प्रकार कम नहीं है। आज कलकत्ते के हर प्रमुख मुहल्ले में एक या अधिक शौकिया मंडली मिल जायगी। एक अनुमान के अनुसार व्यावसायिक रंगमंचों के वर्ष में लगभग १५०० प्रदर्शनों के अतिरिक्त लगभग इतने ही या कुछ अधिक प्रदर्शन एक वर्ष में शौकिया मंडलियों के हो जाते हैं।[१९] यही कारण है कि कलकत्ते को 'नाट्यपुरी' या 'रंगमंच की राजधानी' कह कर पुकारते हैं। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है, है भी कुछ ऐसा ही। अभिनय और नाट्य-प्रेम यहाँ के जन-जीवन में बहुत गहरे पैठ चुका है।

किन्तु आधुनिक युग में इस चतुर्दिक् प्रसार का मूल श्रेय एक ओर व्यावसायिक रंगमंच को है, तो दूसरी ओर बंगाल की उस सांस्कृतिक नवचेतना और युगबोध को, जिसे आज हम 'भारतीय जन-नाट्य संघ' के रूप में जानते हैं। सन् १९४३ में बम्बई में अखिल भारतीय स्तर पर इसकी विधिवत् स्थापना के पूर्व ही बंगाल ने इस आन्दोलन को देशव्यापी बनाने में नेतृत्व प्रदान किया—'फाँसी-विरोधी लेखक ओ शिल्पी संघ' के रूप में। नाटककार मनोरंजन भट्टाचार्य और कवि हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के प्रयास से इस संघ के भीतर से एक कलाकार-दल का निर्माण हुआ, जिसे सन् १९४२-४३ के बंगाल के अकाल में नवीन विषय, नयी वाणी, नया विश्वास और नयी कर्म-शक्ति

प्रदान की। अकाल की इस वीभत्स और कराल छाया के नीचे इस नाट्य-दल ने श्रीरंगम् में हरीन्द्र-'वधू' (एकाकी) और 'दहीवालार गान' (गीत) तथ विजन भट्टाचार्य-कृत 'आगुन' (एकांकी) प्रस्तुत कर नवनाट्य आन्दोलन का सूत्रपात किया। इसके अनन्तर मनोरजन - 'होमियोपैथी', विनय घोष--कृत 'लेबोरेटरी', विजन-'जवानवदी' और दिगिन्द्र वन्द्योपाध्याय-कृत 'अभियान' (बाद में 'दीपशिखा') एकांकी प्रस्तुत किये गये। 'लेबोरेटरी' में ही शंभु मित्र ने सर्वप्रथम भूमिका कर प्रशंसा प्राप्त की।[10] 'जवानवदी' और 'दीपशिखा' के बंगाल मे अनेक प्रदर्शन हुए।

दूसरी ओर विनय राय के नेतृत्व में एक अन्य नाट्य-दल--'मैं भूखा हूँ स्क्वाड' बंगाल के बाहर अकाल-पीडितों के सहायतार्थ धन-संग्रह के लिए निकला और उसने लाहौर तक की यात्रा की, जिसका विवरण इसी अध्याय में आगे दिया गया है।

अकाल के बाद सन् १९४६ में हुए व्यापक साम्प्रदायिक दंगे और भारत-विभाजन (१९४७ ई०) के फलस्वरूप बंगाल के जननाट्य संघ को पुन: एक नयी स्फूर्ति प्राप्त हुयी और हिन्दू-मुस्लिम दंगो एवं विभाजन के दुष्परिणामो को प्रस्तुत करने के लिए क्रमश: दो नाटक लिखे एवं प्रदर्शित किये गये--'शहीदेर डाक' (छाया नाट्य) और दिगिन्द्र वन्द्योपाध्याय--'वास्तुभिटा' (१९४७ ई०)। दोनों प्रदर्शन बहुत सफल हुए।

इसके अनन्तर कई नाटक खेले गये, जिनमे ऋत्विक घटक का 'दलिल' तथा वीरू मुखोपाध्याय के 'राहुमुक्त' (यात्रा-नाटक) और 'सक्रान्ति' उल्लेखनीय हैं। 'दलिल' को जननाट्य संघ की बंबई में हुई अखिल भारतीय नाट्य-प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। इसमें देश-विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न शरणार्थी-समस्या और माँगें लेकर प्रधान मंत्री के पास जाने वाले जुलूस पर गोली-वर्षा की दर्दनाक कथा कही गई है। इसे एक सादे मंच पर न्यूनतम मंचोपकरणों के साथ खेला गया था। 'राहुमुक्त' सैंकड़ों बार अभिनीत होकर बहुत लोकप्रिय हुआ[11] और इसे संघ के दिल्ली अधिवेशन (१९५७-५८) में भी प्रस्तुत किया जा चुका है। 'संक्रान्ति' को गिरीश नाट्य-प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार मिल चुका है।[12]

क्रमश: भारतीय जननाट्य संघ की विशिष्ट विचार-धारा से अपने को सहमत न कर पाने अथवा देश की स्वतन्त्रता के उपरांत संघ के लक्ष्य-भ्रष्ट होकर शिथिल हो जाने पर उसके कुछ विशिष्ट नाट्यकर्मी उससे शीघ्र ही अलग हो गए, जिनमें उत्पल दत्त, शंभु मित्र, दिगिन्द्रचन्द्र वन्द्योपाध्याय और विजन भट्टाचार्य प्रमुख थे। उत्पल दत्त ने अगस्त, १९४७ में लिटिल थियेटर ग्रुप, शंभु मित्र ने १९५० में बहुरूपी, दिगिन्द्र चन्द्र वन्द्योपाध्याय ने पूर्ववर्ती वर्ष में नाट्यचक्र और विजन भट्टाचार्य ने लगभग इन्हीं दिनों कलकत्ता थियेटर की स्थापना की। दिगिन्द्रचन्द्र और मुमताज अहमद खाँ ने बाद में एक अन्य नाट्य-संस्था भी स्थापित की, जिसका नाम था--अशनिचक्र। जननाट्य संघ की 'शौभनिक' नामक दक्षिण कलकत्ते की एक शाखा कुछ वर्षों के अनन्तर उससे पृथक् हो गई। इनमें से लिटिल थियेटर ग्रुप, बहुरूपी, शौभनिक और कलकत्ता थियेटर ने बँगला के अव्यावसायिक रंगमंच के उत्थान एवं विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया और नवनाट्य आन्दोलन को दृढ़ भित्ति पर स्थापित किया।

लिटिल थियेटर ग्रुप--अपनी स्थापना से लेकर सन् १९५३ तक लिटिल थियेटर ग्रुप ने मुख्यत: शेक्सपियर और बर्नार्ड शा के नाटक अँग्रेजी में खेले और इब्सन के 'घोस्ट्स' और 'ए डॉल्स हाउस' के बँगला रूपान्तर भी प्रस्तुत किये। जुलाई, १९५३ में सर्वप्रथम रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'अचलायतन' अभिनीत हुआ।

इसके अनन्तर गोर्की के 'मदर' एवं 'लोअर डेप्थ्स' के क्रमशः रहमतअली-कृत नाट्य-रूपान्तर 'मई दिवस' (दिसम्बर, १९५५) और उपेन्द्रनाथ भट्टाचार्य-कृत नाट्य-रूपान्तर 'नीचेर महल' (जुलाई, १९५७) तथा शेक्सपियर-'जूलियस सीज़र' और 'ऑथेलो' के क्रमशः यतीन्द्रनाथ ठाकुर-कृत अनुवाद (फरवरी, ५७) और

रहमतअली-कृत अनुवाद (दिसम्बर, १९५८) को छोड शेष प्राय. सभी नाटक मूल बँगला के ही खेले गये। इनमें प्रमुख हैं–सुनीना चटर्जी का 'केरानी' (जुलाई, १९५३), रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'कालेर यात्रा' (मई, १९५५), 'गुरु-वाक्य' (मार्च, १९५६), 'तपती' (मई, १९५७ और अप्रैल, १९५९) और 'सुधबुध' (मई, १९५८), माइकेल मधुसूदनदत्त के 'बूडो शालिकेर घाडे रौ' (मार्च, १९५६) और 'एइ कि बोले सभ्यता' (मार्च, १९५९), वनफूल का एकाकी 'नव-सस्करण' (मार्च, १९५६), गिरीश-'सिराजुद्दौला' (अप्रैल, १९५७) और ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर का 'अलीक बाबू' (मार्च, १९५८)।[13]

जून, १९५९ में लिटिल थियेटर ग्रुप के मिनर्वा के स्वत्वाधिकारी हो जाने के बाद उसके आगे के कार्यों का उल्लेख मिनर्वा थियेटर के प्रसग मे किया जा चुका है।

ग्रुप ने 'पाद प्रदीप' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित की, किन्तु उसके तीन ही अक निकल कर रह गये।[14]

ग्रुप आज भी सक्रिय रह कर मच पर शिल्प-सम्बन्धी नवीन प्रयोग प्रस्तुत करता रहता है। मिनर्वा में परिक्रामी मच की व्यवस्था न होने पर भी रग-शिल्प की दृष्टि से ग्रुप के प्राय. सभी प्रयोग दर्शनीय होते हैं।

बहुरूपी–लिटिल थियेटर ग्रुप की भाँति पाश्चात्य रगमच एव नाट्य-वस्तु से प्रेरणा न लेकर बहुरूपी ने बँगला नाटकों द्वारा सीधे जनसमाज की समस्याओं का सस्पर्श किया और एतदर्थ अपने रगीन शिल्प और वस्तुवादी अभिनय-कला का नियोजन किया। सादी या प्रतीक-सज्जा, सुरुचिपूर्ण आधुनिक रगदीपन और ध्वनि-सकेत इस नवीन रग-शिल्प के प्रमुख अग रहे हैं। नवीन वस्तु-विषय और उपस्थापन के नवीन मानदण्डों को अपना कर बहुरूपी ने न केवल रंगमच पर नवीन मूल्यों की स्थापना की, वरन् प्रचलित अभिनय-शैली में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। शभु मित्र द्वारा प्रस्तुत तुलसी लाहिडी-कृत 'पथिक' (१६ अक्तूबर, १९४९) के अनन्तर बहुरूपी द्वारा उपस्थापित तुलसी-'छेंडा तार' (१७ दिसम्बर, १९५०), रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'चार अध्याय' (२१ अगस्त, १९५१) और 'रक्तकरबी' (१० मई, १९५४), मन्मथ राय का 'धर्मघट' (९ दिसम्बर, १९५३) इसी प्रकार के स्मरणीय नाटक हैं, जिनमे भारत के जन-जीवन, उसकी आत्मा को स्पर्श करने की क्षमता है। इस क्षमता को साकार रूप दिया बहुरूपी ने अपने उपस्थापन से। इन नाटकों का निर्देशन किया शंभु मित्र ने,[15] जो शब्दों के माध्यम से नाटक की आत्मा तक पहुँचने और उसे सामाजिक के लिए सप्रेषणीय बनाने की चेष्टा करते है।

'पथिक' में एक राजपथ पर स्थित चाय की दूकान को केन्द्रित कर कोयला खान के श्रमिकों की समस्या को उरेहा गया है, तो 'छेंडा तार' मे निरक्षर मुसलमान कृषक-वर्ग के जीवन का सच्चा चित्र अकित किया गया है। इसकी रचना प्रसिद्ध बँगाल-अकाल की पृष्ठभूमि पर हुई है। 'छेंडा तार' मे प्रमुख भूमिकाएँ करके शभु मित्र और उनकी पत्नी तृप्ति मित्र को काफी ख्याति मिली।[16]

बहुरूपी ने फरवरी, १९६५ मे उत्तर कलकत्ता के एक पार्क मे हुए नाट्य-समारोह में 'छेंडा तार' को यथार्थवादी रग-सज्जा तथा आवेगपूर्ण अभिनय-शैली मे पुन प्रस्तुत किया। इस प्रदर्शन में गगापद वसु, तृप्ति मित्र तथा देवतोष घोष ने प्रमुख भूमिकाओ मे प्रभावी और विश्वसनीय अभिनय किया।

'चार अध्याय' अग्नियुग से सम्बन्धित नाटक है, जो बाद मे कई जगह खेला गया। 'रक्तकरबी' की शभुमित्र ने एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की, जिससे भारत के तत्कालीन वैज्ञानिक अनुसंधान और सास्कृतिक विषयों के भूतपूर्व मत्री प्रो० हुमायूँ कबीर भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। 'रक्तकरबी' को कुछ लोग ब्रिटिश सरकार, तो कुछ लोग नेहरू-सरकार के विरुद्ध मानते रहे हैं, किन्तु स्वय लेखक ने एक सम्पूर्ण समाज का चित्रण

किया है, जो अनेक संघर्षों और मतभेदों के बावजूद अन्ततः एक ही समाज है।[8] शंभु मित्र ने लेखक के इसी दृष्टिकोण की व्याख्या प्रस्तुत की। इस व्याख्या से बँगला के नवनाट्य आन्दोलन को एक रचनात्मक दिशा प्राप्त हुई। इस नाटक पर दिल्ली में श्रेष्ठ उपस्थापन का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।[9]

'धर्मघट' में श्रमिक-मालिक-संघर्ष के बीच, मालिक के घृणित षड्यत्र से धर्मघट के फूटने किन्तु अन्त में श्रमिकों के प्रयास से इस षड्यत्र के विफल होने पर उसके अवतरण की कथा कही गई है।

बहुरूपी के अन्य उल्लेखनीय उपस्थापन हैं – इब्सन-'दि एनिमी आफ दि पीपुल' का शांति वसु द्वारा अनुवाद 'दशचक्र' (१ जून, १९५२), शंभु मित्र द्वारा ओ' नील और इब्सन के नाटकों के अनुवाद क्रमशः 'स्वप्न' (१८ अप्रैल, १९५३) और 'पुतुल खेला', रवीन्द्रनाथ के 'डाकघर' और 'मुक्तधारा' आदि।

जून, १९६४ में बहुरूपी ने अपने पहले के कई तथा दो नये नाटकों को लेकर एक नाट्य-समारोह का आयोजन किया। ये दो नये नाटक थे–रवीन्द्र-'राजा' तथा सोफोक्लीज-कृत 'राजा ईडिपस'। 'राजा' की नायिका रानी सुदर्शना (तृप्ति मित्र) अन्धकार के बीच राजा का–अपने प्रियतम का संधान करने में सफल होती है और जैसे उसे ज्ञान का प्रकाश मिल जाता है। शंभु मित्र ने धुँधलके के बीच मानवीय संवेदनाओं को उभारा और जीवन के वास्तविक अर्थ की खोज, उसकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। तृप्ति मित्र की सुदर्शना इस अर्थ की खोज को, व्याख्या को अपने अभिनय द्वारा साकार रूप देती है। कुमार राय (ठाकुर दा) तथा अमर गांगुली (काचीराम) की भूमिकाएँ भी सुन्दर रहीं। अरूप मुखर्जी का नकली राजा सुवर्ण अपने रीतिबद्ध अभिनय के कारण विशेष अर्थ-व्यंजना कर सका।

'राजा ईडिपस' एक दुःखान्तिकी है, जिसका शंभु मित्र ने काव्य-बद्ध अनुवाद किया है, जो मूल के अनुरूप ही है। कोरस में बिना संगीत के सस्वर काव्य-पाठ की शैली को अपनाया गया था। ईडिपस के रूप में शंभु मित्र का अभिनय तथा योकास्ता के रूप में तृप्ति मित्र की माँ और पत्नी की दोहरी भावना की अभिव्यक्ति बहुत सजीव बन पड़ी है।

बहुरूपी के पास अपना कोई स्थायी मंच न होते हुए भी उसे शंभुमित्र जैसे कुशल निर्देशक, तृप्ति मित्र जैसी अभिनेत्री, तापस सेन जैसे दीपन-शिल्पी और खालिद चौधरी जैसे रंग-सज्जाकार का सहयोग प्राप्त है, जो उसके लिये गौरव की वस्तु है।[10] इस संस्था की अपनी एक नियमित पत्रिका भी है, जिसका नाम है–'बहुरूपी' आजकल यह मासिक रूप में निकल रही है।

शौभनिक–शौभनिक ने प्राचीन यात्रा-शैली पर सामुदायिक अभिनय और खुले रंगमंच की एक नवीन परम्परा स्थापित की। यात्रा-नाटक 'राहुमुक्त' और गोर्की-'माँ' के उपरान्त शौभनिक ने अपनी योजना के अनुसार प्रथम बार सन् १९५८ में डेढ़ रुपये में तीन नाटक डी० एन० मित्र स्क्वायर के मुक्त रंगालय में दिखलाए–'माँ', सुबोध घोष-कृत 'माँ हिंसी' और इब्सन-'दि घोस्ट्स'।[11] इस प्रयोग की सफलता से उत्साहित होकर २७ नवम्बर, १९६० को रासबिहारी एवेन्यू और सदर्न एवेन्यू के संगम पर मुक्तांगन रंगमंच की स्थापना हुई।[12]

इस रंगमंच पर अब नियमित प्रदर्शन होते हैं। शौभनिक के अतिरिक्त नांदीकर आदि कई नाट्य-दल इससे सम्बद्ध हैं। प्रदर्शन रात्रि को नौ बजे से प्रारम्भ होते हैं।

सन् १९६४ में शौभनिक ने शेक्सपियर-'ओथेलो' (बँगला) मुक्तांगन रंगमंच पर प्रदर्शित किया। यह एक सुन्दर प्रयोग था। सामाजिकों को बांधे रखने के लिए इस नाट्य-दल को भी सामान्य स्तर के प्रहसनों पर उतरना पड़ा। रवीन्द्र-'शेष रक्षा' इसी प्रकार का एक लोकप्रिय प्रहसन है।

सन् १९६५ में बादल सरकार-कृत 'एवं इंद्रजित' तथा रवीन्द्र-'घरे-बाहरे' (अजित गंगोपाध्याय-कृत नाट्य-रूपान्तर) अभिमंचित किये गये। 'एवं इंद्रजित' में कुछ काव्यात्मक संवाद आदि जोड़कर नाटककार के

मंतव्य को वांछित रूप में व्यक्त नहीं किया जा सका। अभिनय का स्तर भी बहुत ऊँचा न था। इसी प्रकार 'घरे-बाहरे' को एक दृश्यबन्ध पर प्रस्तुत करने के प्रयास में रूपान्तरकार अजित रवीन्द्र के उपन्यास के साथ न्याय नहीं कर सके। इसका अभिनय भी सामान्य कोटि का रहा।

शौभनिक द्वारा एक नाट्य-विद्यालय भी चलाया जा रहा है।

कलकत्ता थियेटर—अपने 'नवान्न' नाटक द्वारा भारतीय जन-नाट्य संघ को नवचेतना प्रदान करने वाले विजन भट्टाचार्य ने संघ से पृथक् होकर कलकत्ता थियेटर की स्थापना की। बँगाल की प्रसिद्ध अभिनेत्री प्रभादेवी के सहयोग से विजन ने अपने दो नाटक—'कलंक' और 'मरा चाँद' खेले, किन्तु इसके बाद प्रभा देवी के निधन और विजन के अस्वस्थ होकर बाहर चले जाने से कुछ काल तक कोई नये प्रयोग नहीं हो सके। सन् १९५९ में विजन पुनः अपना 'गोत्रांतर' लेकर रंगमंच पर उपस्थित हुए और इसके बाद पुनः 'मरा चाँद' प्रस्तुत किया। 'मरा चाँद' में निर्देशक के अतिरिक्त एक कलाकार के रूप में भी विजन ने अपने अभिनय-कौशल का प्रदर्शन किया।

'कलंक' में एक गोरे सैनिक की वासना की शिकार एक संथाल-वधू के गौरवर्ण पुत्र के कलंकपूर्ण जन्म और 'मरा चाँद' में छब्बीस परगने के अंधे दरिद्र गायक की प्रिय पत्नी के उसे छोड़ कर घर से चले जाने की हृदयवेधी कथा कही गई है। 'गोत्रांतर' की कथा पूर्वी बंगाल से आये एक शरणार्थी परिवार की कन्या के एक श्रमिक-पुत्र के साथ विवाह और उसी रात को जमींदार द्वारा बस्ती के अग्निदाह एवं तज्जन्य जन-हाहाकार पर आधारित है।

इन क्रान्तिकारी सामाजिक नाटकों को प्रस्तुत कर कलकत्ता थियेटर ने रंगमंच को नवीन विषय तो दिए ही, अभिनय और रंग-शिल्प के क्षेत्र में भी सुन्दर प्रयोग किये।[१२]

अन्य नाट्य-संस्थाएँ.-इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नाट्य-संस्थाओं ने भी बँगला-रंगमंच की श्रीवृद्धि में योगदान दिया, जिनमें कलकत्ते के थियेटर सेंटर, अचलायतन और शिशुरंगमहल (चिल्ड्रेन्स लिटिल थियेटर) प्रमुख हैं।

थियेटर सेंटर की स्थापना सन् १९५५ में विभिन्न नाट्य-संस्थाओं के सहयोग, सौ सीटों वाले लघु प्रेक्षागृह और नाट्य-संबंधी पुस्तकालय की स्थापना, नाट्य-विषयक व्याख्यानों आदि की व्यवस्था के उद्देश्य से की गई थी। इसी वर्ष से उसने वार्षिक नाट्य-प्रतियोगिताएँ प्रारम्भ की, जिनसे देश के रंगमंच को प्रोत्साहन मिला। सन् १९५६ की प्रतियोगिता में बँगला, हिन्दी, गुजराती आदि देश की अनेक भाषाओं के नाटक एक ही मंच पर अभिनीत हुए।[१३] इसके अतिरिक्त एकांकी नाट्य-प्रतियोगिताएँ भी सेंटर द्वारा आयोजित की जाती हैं। द्वितीय एकांकी प्रतियोगिता में देश के ४४ नाट्यदलों ने भाग लिया, जिन्होंने ३७ बँगला एकांकियों के अतिरिक्त हिन्दी, गुजराती और तेलुगु के दो-दो और मलयालम् का एक एकांकी प्रस्तुत किया।[१४] इसी में कलकत्ते की अनामिका को श्रेष्ठ अभिनीत हिन्दी नाटक का पुरस्कार मिला।

सेंटर ने अपने निजी लघु रंगमंच का निर्माण पूरा कर लिया है और अब नाटक प्रायः वहीं खेले जाते हैं। ये नाटक केवल सेंटर के सदस्यों के लिए ही होते रहे हैं, किन्तु १५ दिसम्बर, १९६० से जन-साधारण के लिए भी नियमित रूप से नाटक होने लगे हैं। इसके पूर्व तक थियेटर सेंटर द्वारा स्फुट रूप में ही नाटक किये जाते थे, किन्तु सेंटर ने डॉ० प्रतापचन्द्र 'चन्द्र'-कृत 'लैवेडेफ', 'रंगिणी' (धनंजय वैरागी (मूल नाम तरुण राय)-कृत महाकाव्यात्मक नाट्य-शैली पर नाट्य-रूपान्तर) मंचस्थ कर अपने नाटकों के नियमित प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिये। इसे चतुष्क-मंच (प्लेटफार्म स्टेज) पर बिना किसी रंगमुख के प्रस्तुत किया गया था। ऊँचे चबूतरे के पीछे एक (बालकनी) और उसके पीछे एक सादा परदा था, जिस पर आलोक-चित्र प्रक्षेपित किये जा सकते थे। दृश्य-

परिवर्तन के लिये अन्धकार और प्रकाश का प्रयोग किया गया था। यह नाटक कई दृश्यों में विभाजित था।

इस नाटक में रूसी वादक लेवेडेफ् द्वारा अंग्रेजों के नाट्य-प्रेम के साथ प्रतिद्वन्द्विता तथा बँगला रंगमंच की स्थापना के उद्देश्य को *सुन्दर ढग से व्यक्त किया गया है। यह स्मरणीय है कि लेवेडेफ् के ही प्रयास से सन् १७९५* में प्रथम बार अंग्रेजी के 'दि डिसगाइज' का बँगला अनुवाद कलकत्ते मे मंचस्थ हुआ था। लेवेडेफ् तथा गोलोक की भूमिकाओ में तरुण राय और अनुकूल दत्त के अभिनय सराहनीय थे।

वैरागी अब तक १८-२० नाटक प्रस्तुत कर चुके हैं, जिनमें 'मुखोश' (मुखौटा) तथा 'रजनीगधा' प्रमुख हैं। 'रजनीगधा' तीन अंकों का सामाजिक नाटक है, जिसके द्वितीय अंक मे दो तथा शेष अंकों में एक ही एक दृश्य है। संवाद सादे और बोधगम्य हैं। व्यग्य चुटीले हैं। नाटक की नायिका—परित्यक्ता पत्नी और बाद में फिल्म *अभिनेत्री आशा चौधरी की कहानी घुटन-भरे उसके जीवन से प्रारम्भ होती है, जिसका अंत उसके विषाक्त ह्विस्की*-पान से होता है।

सन् १९६४ मे दुर्भाग्यवश एक दुर्घटना के कारण सेंटर का रगमंच जल गया। मच की मरम्मत कर 'पुडेओ पुडेना' नाटक प्रस्तुन किया गया, जो सन् १९६५ में चलता रहा। थियेटर सेंटर अपना एक नाट्य-विद्यालय भी चला रहा है, जहाँ युवक-युवतियों को नाट्य-विषयक शिक्षा दी जाती है।

सन् १९५६ मे स्थापित अचलायतन द्वारा रवीन्द्र और शरद् के नाटको के अतिरिक्त 'नीलदर्पण', 'नवान्न', 'लक्ष्मीप्रियार ससार' (तुलसी लाहिडी) और 'कुलीनकुल सर्वस्व' (रामनारायण तर्करत्न ६ जनवरी, १९६१) के सफल प्रदर्शन किये गये।

कलकत्ते में कुछ अन्य अव्यावसायिक नाट्य-दल भी हैं, जो रंगमंच पर नये प्रयोगों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें प्रमुख हैं—नांदीकर, रूपकार, चलाचल, चतुरग, चतुर्मुख तथा शिशुरंगमहल।

रग-अभिनेता एव निर्देशक अजितेश बनर्जी नांदीकर से सम्बद्ध हैं, जो उत्पल दत्त की भाँति ही राजनीतिक विचार-धारा की दृष्टि से 'कम्यूनिस्ट' हैं। अजितेश के नाट्य-प्रदर्शनों में 'चिंतन और परिश्रम, दोनों की छाप है।' इस दल द्वारा प्रदर्शित नाटक हैं—पिराडेलो-कृत 'सिक्स कैरेक्टर्स इन सर्च आफ एन आथर' (बँगला रूपातर), 'आम्र मजरी' (चेखव-कृत 'चेरी आर्चर्ड' का बँगला रूपांतर, १९६४-६५) आदि।

नांदीकर बीच-बीच में कई-एक एकांकी भी एक साथ मंचस्थ करता रहता है। सन् १९६५ में प्रथम बार उसने तीन एकाकी प्रस्तुत किये—चेखव-'प्रस्ताव' ('प्रोपोजल' का बँगला रूपान्तर), 'नाना रगेर दिन' (चेखव की 'स्वान सांग' कथा का अजितेश-कृत नाट्य-रूपांतर) तथा अजित गागुली-कृत 'नवस्वयवर'। इनमे 'नाना रगेर दिन' एक सुन्दर मर्मस्पर्शी कृति है, जिसमें एक 'अभिनेता की जीवन-सध्या के कुछ क्षणों' का सहज चित्रण किया गया है। अभिनेता की भूमिका अजितेश ने कुशलतापूर्वक की।

रूपकार ने सन् १९६२ मे अमृतलाल वसु-कृत प्रहसन 'व्यापिका विदाय' का प्रारम्भ किया, जो बहुत लोकप्रिय रहा और सन् १९६४-६५ तक चलता रहा। इसके अनन्तर उसने रवीन्द्र-'अचलायतन' प्रदर्शित किया।

चलाचल नाट्य-दल ने 'विधि ओ व्यतिक्रम' (१९६५ ई०, ब्रेस्ट-कृत 'एक्सेप्शन' एन्ड दि रूल' का बँगला रूपांतर) मचस्थ किया। इसका निर्देशन हास्य-अभिनेता रवि घोष ने किया। रवि घोष ने लोभी बनिये की और मोला दत्त ने मुख्य न्यायाधीश की भूमिकाएँ की। श्रमिक-पुत्र की मृत्यु पर शोक-संतप्त माँ के रूप में अनूभा गुप्त ने सुन्दर भावाभिव्यक्ति की। न्यायालय का दृश्य रीति-बद्ध शैली में प्रस्तुत किया गया था। इसके पूर्व इस दल ने 'ठस' (सार्त्र के 'नेकासॅव' पर आधारित) का प्रदर्शन सफलता के साथ किया था।

चतुरंग ने शिशिर मंच पर अमृतलाल वसु-कृत प्रहसन 'बाबू' (१९६५ ई०) मंचस्थ किया। चतुर्मुख ने

आर्थर मिलर के दु खान्तकी 'डेथ आफ ए सेल्समैन' का बँगला रूपान्तर प्रस्तुत किया ।

शिशुरगमहल छोटे बच्चो की अपने ढग की एक अपूर्व नाट्य-सस्था है, जिसे देश-विदेश मे काफी ख्याति प्राप्त हुई है । इसकी स्थापना समर चट्टोपाध्याय ने सन् १९५१ मे की थी। सन् १९५७ के अन्त मे हुए तेरह-दिवसीय समारोह मे जापान, ब्रिटेन, अमेरिका आदि कई देशो के बच्चो ने भाग लिया था । इसमे तत्कालीन प्रधान मत्री प० जवाहरलाल नेहरू ने भी उपस्थित होकर बाल-कलाकारो का उत्साह-वर्धन किया था ।

सस्था द्वारा छोटे बच्चो को नृत्य-गान, अभिनय आदि की शिक्षा के अतिरिक्त कठपुतली बनाने और नचाने की कला भी सिखाई जाती है । सस्था के बाल-कलाकार बम्बई आदि नगरो का दौरा कर अपने नाट्य-प्रदर्शन कर चुके है । सस्था मे एक शिक्षक-शिक्षा केन्द्र भी है, जिसकी स्थापना सन् १९५८ मे डॉ० जूलियस हक्सले के सयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक, वैज्ञानिक एव सास्कृतिक सघ (यूनेस्को) के एक प्रस्ताव के अनुसार केन्द्रीय सगीत नाटक अकादमी की सहायता से हुई ।" इस सस्था की अपनी एक पत्रिका भी है-'शिशुरगमहल' ।

शिशुरगमहल के प्रमुख नाटकोपस्थापन हैं-'अवन पटुआ', 'सात भाई चपा', 'जिजो' (१९५९ ई०), 'मिठुआ', 'झागडाटि पड़ुआ' (१९६० ई०) आदि ।

इसके अतिरिक्त अनुशीलन, दशरूपक, इगित आदि अन्य नाट्य-दल भी है, जो समय-समय पर अपने नाट्य-प्रदर्शन करते रहते हैं । अधिकाश नाटक प्रयोगपरक होते हैं ।

बँगला रगमच की बहुमुखी गतिविधियो को देखने से जहाँ उसके गत्यात्मक होने की सूचना मिलती है, वही यह देख कर निराशा होती है कि अधिकाश नाटक यूनानी, अँग्रेजी, फ्रेंच या रूसी भाषा के नाटकों के बंगला अनुवाद या छायानुवाद है अथवा विदेशी उपन्यासो अथवा बँगला उपन्यासो के नाट्य-रूपान्तर । मौलिक लेखन और वह भी स्तरीय लेखन, जो किसी गहन अर्थवत्ता अथवा नाट्यानुभूति से प्रेरित हो, बहुत कम हो पाया है ।

बगला मे रगमच, रग-कार्य तथा नाटक से सम्बन्धित कई पत्रिकाएँ निकलती हैं, जिनमे 'बहुरूपी', 'गन्धर्व', 'रगमच', 'नाटक' आदि उल्लेखनीय हैं ।

उपलब्धियां और परिसीमाएँ : उपर्युक्त विवरण से बँगला रंगमच की चतुर्मुखी उपलब्धियो और परिसीमाओ का सहज अनुमान लगाया जा सकता है । सक्षेप मे, ये उपलब्धियां और परिसीमायें ये हैं.-

(१) बँगला मे व्यावसायिक (पेशादार) और अव्यावसायिक (शौकिया) रगमचो का सह-अस्तित्व हिन्दी की ही भांति है, किन्तु नये प्रयोगो की पहल अव्यावसायिक मच द्वारा की गई । इसके अतिरिक्त लिटिल थियेटर ग्रुप सहकारी आधार पर चल रहा है ।

(२) दोनो क्षेत्रो के पास यद्यपि अपनी-अपनी रगशालाएँ हैं, किन्तु अनेक अव्यावसायिक नाट्य-सस्थाएँ ऐसी हैं, जिन्हें ऊँचे किराये पर रगशालाओ को लेकर काम चलाना पडता है । अधिकाश जीवित व्यावसायिक रग-शालाओ मे स्थायी परिक्रामी रगमच हैं, जबकि कुछ प्रयोगवादी अव्यावसायिक सस्थाएं सादे या खुले रगमच का उपयोग करना अधिक पसन्द करती है ।

(३) इस युग के उत्तरार्ध मे मुख्य रूप से तीन घटे के त्रिअकी गद्य-नाटको के प्रयोग हुए । ये नाटक प्राय: बहुदृश्यीय होते है । छायानाट्य, गीति-नाट्य एव नृत्य-नाट्य मुख्यत अव्यावसायिक रगमच पर ही खेले गये, किन्तु बहुत कम ।

(४) रग-सज्जा, दीपन एव ध्वनि-सकेत की दृष्टि से बँगला रंगमच बहुत समृद्ध है और वह विश्व के किसी भी देश के रगशिल्प से पीछे नही कहा जा सकता । बँगला रंगमच पर वृष्टि, बाढ या जल-प्लावन और अग्निकाड के अतिरिक्त ट्रेन के गुजरने, जलयान और सामुद्रिक युद्ध आदि के दृश्य भी दिखाए जा सकते हैं ।

(५) इस युग मे बँगला रगमच पर कई सशक्त नाटककारो, नाट्य-निर्देशको और कलाकारों का उदय हुआ।

नाटककारों मे शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त, महेन्द्र गुप्त, जलधर चट्टोपाध्याय, मणिलाल वद्योपाध्याय, विधायक भट्टाचार्य, विजन भट्टाचार्य, मन्मथराय, तुलसी लाहिड़ी, उत्पल दत्त, नीहाररंजन गुप्त, ऋत्विक घटक, तरुणराय (धनंजय वैरागी), ताराशंकर वंद्योपाध्याय, बादल सरकार आदि प्रमुख हैं।

नाट्य-निर्देशको में शिशिर कुमार भादुड़ी, अहीन्द्र चौधरी, देवनारायण गुप्त, उत्पल दत्त, शंभु मित्र, विजन भट्टाचार्य आदि उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने बँगला-रगमंच को दिशा-निर्देश दिया।

कलाकारों मे उपर्युक्त निर्देशकों के अतिरिक्त प्रमुख हैं–दुर्गादास सरयूबाला, तृप्ति मित्र, प्रभादेवी, जहर गांगुलि, छवि विश्वास, अपर्णादेवी, रानीबाला आदि। सभी स्त्री-भूमिकाएँ स्त्री-कलाकारों द्वारा ही की गईं।

(६) प्रत्येक रगशाला या नाट्य-संस्था ने अपने विशिष्ट नाटककारों, नाटककार-संस्थापको अथवा नाटक-कार-निर्देशको के नाटक खेले। रग-निरपेक्ष नाटको का सृजन होने लगने से बँगला मे भी हिन्दी की ही भाँति रग-नाटको का अभाव अनुभूत हुआ[1], अतः गिरीश, रवीन्द्र आदि पुराने नाटककारो की नाट्यकृतियो के अतिरिक्त विदेशी उपन्यासो के नाट्य-रूपान्तर और नाटकों के अनुवाद तथा बँगला उपन्यासों के नाट्यरूपान्तर भी बड़े पैमाने पर प्रस्तुत किये गये।

(७) नाट्य-सम्बन्धी अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं और नाट्य-शिक्षण के लिये कुछ प्रयास भी हुए। पत्रिकाओं मे 'बहुरूपी', 'गन्धर्व', 'शिशुरंगमहल' आदि प्रमुख हैं।

(८) हिन्दी-नाटकों की टिकट-बिक्री आज भी व्यक्तिगत प्रयास से होती है, किन्तु इसके विपरीत बँगला नाटको की टिकटें सिनेमा की तरह खिड़की पर ही बिकती हैं, जिससे वहाँ के सामाजिकों की जागरूकता, संरक्षकता और नाट्यप्रियता का आभास मिलता है। वहाँ कुछ रंगालयों में नाटक देखने के लिये अग्रिम टिकटें पहले जाकर खरीदनी पड़ती हैं।

(ख) मराठी रंगमंच : प्रगति, उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ

ज्ञानेश्वर नाडकर्णी मराठी नाटक का आधुनिक युग पु० ल० देशपाण्डे के 'तुझे आहे तुजपाशी' (१९५७ ई०) से मानते हैं इसलिये नहीं कि देशपांडे ने अपने इस नाटक में उसके बहिरंग (शिल्प) में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, बल्कि इसलिये कि उन्होंने अपना कथानक हमारे चारों ओर के वातावरण से चुना है और उसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत के मूल्यों के संघर्ष का चित्रण है।[1] निश्चय ही बहिरंग अर्थात् नाट्य-शिल्प की दृष्टि से देशपांडे ने कुछ विशिष्ट प्रयोग किये हैं, किन्तु यह हम देख चुके हैं कि मामा वरेरकर और आचार्य अत्रे अपनी नवीन नाट्य-पद्धति और नवीन विषयो के चयन द्वारा नवयुग की सूचना देशपांडे के अभ्युदय से डेढ़-दो दशक पूर्व ही दे चुके थे। इसका विकास और विस्तार सन् १९३८ के बाद हुआ, अतः आधुनिक युग, विशेषकर मराठी रंगमंच के आधुनिक युग का प्रारम्भ इस वर्ष के बाद से ही माना जाना चाहिये।

आधुनिक युग को मो० ग० रांगणेकर, अनन्त काणेकर, वि० वा० शिरवाडकर, पु० ल० देशपाण्डे, वसन्त कानेटकर, विजय तेंडुलकर आदि नाटककारों ने न केवल नये नाटक, नया रंगशिल्प और नये विषय प्रदान किये, वरन् मराठी रंगमंच को स्थैर्य, नये मूल्य और नयी संभावनाएँ, नयी परम्पराएँ और नयी मान्यताएँ भी दीं। शिल्प और विषय-बहिरंग और अन्तरंग की दृष्टि से देशपाण्डे और तेंडुलकर के नाटक अत्याधुनिक (अल्ट्रा माडर्न) हैं।

व्यावसायिक रंगमंच का ह्रास : आधुनिक युग के प्रवेश के समय मराठी का व्यावसायिक रंगमंच प्रायः निःशेष हो गया था। व्यावसायिक मंच के ह्रास के कारणों पर हम चतुर्थ अध्याय में विचार कर चुके हैं। ज्ञानेश्वर नाडकर्णी ने इसके ह्रास का एक कारण और बताया है–नाटकत्व, अभिनय अथवा उपस्थापन के मूल्य की अपेक्षा मराठी रंगभूमि (रंगमंच) पर संगीत की व्यापकता, जिसके कारण नाटक का उपस्थापन-मूल्य बढ जाता

था, प्रयोग की अवधि का विस्तार हो जाता था और गायक के 'मूड' पर नाटक की सफलता-असफलता निर्भर हो जाती थी।[1] यद्यपि मराठी के संगीत नाटकों में रागबद्ध गीतों की संख्या वरेरकर युग में उत्तरोत्तर कम हो चली थी, किन्तु तब भी उनकी संख्या इतनी होती थी कि उनका उपस्थापन एक समस्या बन गया था। तत्कालीन परिस्थितियों में संगीत नाटक ने मराठी रंगमंच के ह्रास के चरण और तीव्र कर दिये।

आनन्द संगीत मंडली—किन्तु ह्रास के इस युग में भी आनन्द संगीत मंडली नामक एक ऐसी नाटक मंडली थी, जो सन् १९५४ तक जीवित बनी रही। वरेरकर युग में स्थापित यह मंडली सदाशिव अनन्त शुक्ल का 'सं० सिंहाचा छावा' (१९२७ ई०), गो० स० टेंबे का 'सं० वत्सलाहरण' (१९२९ ई०), अनंत भास्कर अलतेकर का 'सं० मोग्याची द्वारका' (१९३० ई०) तथा गोविन्द रामचन्द्र शिरगोपीकर का 'सं० गोकुलचा चोर' (१९३३ ई०) जैसे नाटक प्रस्तुत कर चुकी थी। किन्तु चलचित्र की प्रतियोगिता में इस मंडली ने अपनी रंग-सज्जा, दीपन-योजना और ध्वनि-क्षेपण के आधुनिक साधनों का उपयोग कर अपने उपस्थापनों को सामाजिकों के बीच लोकप्रिय बना लिया। फलतः प्रत्येक नगर में, जहाँ यह मंडली अपने नाटक लेकर जाती, उनके ४०-५० तक प्रयोग हो जाते, फिर भी लोगों को टिकटें न मिलतीं और उन्हें निराश लौटना पड़ता। चलचित्रों के लगे होने पर भी लोग नाटक देखने जाते।[2] शिरगोपीकर ने अपने नाटकों द्वारा चलचित्रों में सफल प्रतिस्पर्धा करके मराठी के रंगमंच को सन् १९४२-४३ तक जीवित बनाये रखा, जो इस मंडली की एक विशेष उपलब्धि थी।

मंडली के अन्य नाटक थे—वि० रा० हवर्डे-कृत 'सं० सन् १८५७' (१९३८ ई०), शिरगोपीकर के 'बाल शिवाजी' (१९६२ ई०) और 'सं० गोव्याचा राणा' (१९५४ ई०) ये तीनों ऐतिहासिक नाटक हैं।

'सं० सन् १८५७' झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के स्वातन्त्र्य-युद्ध और मृत्यु, 'सं० बाल शिवाजी' में शिवाजी के बचपन की घटनाओं और 'सं० गोव्याचा राणा' में १८५० ई० स्वतन्त्रता के लिये जूझने वाले क्रान्तिवीर दिपाजी राणा के जीवन के कतिपय प्रसंगों का अंकन है। तीनों त्रिअंकी हैं।

युद्ध-काल में चलचित्र उद्योग के कुछ शिथिल पड़ जाने के कारण इस मंडली के नाटकों के लिये सन् १९४२-४३ तक बहुत बड़ी संख्या में सामाजिक मिलते रहे, किन्तु क्रमशः उसके नाटकों में नाट्य-तत्त्व की दुर्बलता और युद्धोत्तर-काल में चलचित्र की बढ़ती हुई प्रतियोगिता के कारण यह मंडली न ठहर सकी।

इस मंडली के अतिरिक्त व्यावसायिक क्षेत्र में एक नवीन मंडली का अभ्युदय सन् १९४१ में हुआ। इस मंडली का नाम था—नाट्य-निकेतन, जिसके संस्थापक हैं मोतीराम गजानन रांगणेकर। निकेतन ने शंभु मित्र के बहुरूपी की ही भाँति महाराष्ट्र के मध्यवर्ग के जीवन को, उसके स्पंदनों एवं संवेदनाओं को रूप और वाणी देकर मराठी रंगमंच को एक नूतन दिशा प्रदान की।

नाट्य-निकेतन—मो० ग० रांगणेकर का पहला सामाजिक नाटक 'सं० आशीर्वाद' ३० नवम्बर, १९४१ को नाट्य-निकेतन द्वारा खेला गया, जिसमें विष्णुपन्त औंधकर, ज्योत्स्ना भोले, गजानन जागीरदार, नलिनी नागपूरकर, उषा मराठे (जो अब उषा किरण के नाम से फिल्म-जगत में विख्यात हैं) आदि ने भाग लिया। फरवरी, ४२ तक इसके २५ प्रयोग हुए और बाद में यह नाटक प्रभात थियेटर, पूना में हुआ।

रांगणेकर का दूसरा नाटक 'सं० कुलवधू' २२ अगस्त, १९४२ को मंचस्थ हुआ। बाद में यह नाटक पूना में भी खेला गया, जो वर्ष भर चला। जिस दिन 'कुलवधू' होता था, उस दिन बरसात में भी पानी नहीं बरसता था, अतः पूना के लोग मजाक में कहा करते थे—'आज 'कुलवधू' आहे, आज छत्री न्यायला नको'।[3] इसके लगभग १२०० प्रयोग हो चुके हैं।[4] नाटक के पाँच संस्करण निकल चुके हैं। यह बम्बई विश्वविद्यालय के एम० ए० के पाठ्यक्रम में भी रह चुका है। इस पर महाराष्ट्र सरकार से १९५०-५१ में १५००) रु० का पुरस्कार भी मिल चुका है।[5]

इसके अनतर रागणेकर के 'स० नदनवन' (२२ नवम्बर, १९४२), 'स० अलकार' (२३ जनवरी, १९४४), 'सं० माझे घर' (३१ अगस्त, १९४५) और 'स० वहिनी' (२४ दिसम्बर, १९४५) खेले गये। 'माझे घर' विनोदपूर्ण होने के कारण सामाजिको को विशेष पसन्द आया। 'कुलवधू' के बाद इसी नाटक से सस्था को विशेष लाभ हुआ। 'वहिनी' मे अन्य कलाकारों के साथ नाटककार पु० ल० देशपाडे और प्रसिद्ध अभिनेत्री इंदुमती विवलकर ने भी भाग लिया था। 'वहिनी' के लिये भव्य दृश्यबंध तैयार किये गये थे। यह रागणेकर का सर्वोत्तम नाटक है।

प्रयोग के रूप में सन् १९४७ मे रागणेकर के तीन एकांकी– तुझं माझ जमेना', 'सतरा वर्षे' और 'फरारी' खेले गये। इसके अनन्तर सन् १९५० मे पूना मे तीन नयी नाटिकाएँ खेली गईं–दो रागणेकर की और एक वरेरकर की। ये दोनों प्रयोग आर्थिक दृष्टि से सामान्य ही रहे।

रागणेकर का 'एक होता म्हातारा' ५ सितम्बर, १९४८ को पूना मे अभिनीत हुआ। इसमे ज्योत्स्ना भोले की पहले अक में अल्हड लडकी और दूसरे अक मे परिणीता स्त्री की भूमिकाएँ बहुत पसन्द की गई। गीतों की धुनें मा० कृष्णराव ने बनाई थी, जो बहुत लोकप्रिय हुई। इस नाटक के आधार पर 'शारदा' नामक चलचित्र बन चुका है।

इसके अनन्तर उनके 'स० कोणे एके काली' (१४ जनवरी, १९५०), 'स० माहेर' (८ सितम्बर, १९५१ ई०), 'स० रभा' (१९५२ ई०), 'स० जयजयकार' (१९५३ ई०), 'सं० लिलाव' (१९५५ ई०), 'स० भटाला दिली ओसरी' (२५ अगस्त, १९५६), 'सं० धाकटी आई' (१८ नवम्बर, १९५६), 'स० भाग्योदय' (२२ अगस्त, १९५७) और 'स० अमृत' (१९५८ ई०) खेले गये।

रंग-शिल्प और विषय-वस्तु अर्थात् बहिरग और अतरग, दोनो ही दृष्टि से रागणेकर के सामाजिक नाटक एक विशिष्ट प्रकार के हैं। बाह्यतः वे सभी इब्सन की नाट्यपद्धति के अनुरूप एकाकप्रवेशी हैं और 'धाकटी आई' तथा 'अमृत' को छोड़ कर, जो प्रत्येक चार अक के हैं, रागणेकर के शेष सभी नाटक तीन अंक के हैं। इन नाटकों के कथानक, कुछ प्रारंभिक नाटको को छोड़ कर समाज के विकृत एवं असत् पक्ष से न चुने जाकर उसके व्यावहारिक एव रचनात्मक क्षेत्र से चुने गये हैं, इसीलिये उनके नाटकों को देख कर सामाजिक के मन में विक्षोभ और अशाति के भाव न पैदा होकर सर्जनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है। 'एक होता म्हातारा' जैसे एकाध नाटक में खलनायक अवश्य है, किन्तु अधिकाश नाटकों मे सज्जन और दुर्जन की जोड़ी नही अकित की गई है।[५७] सामान्यतः मर्यादा के भीतर रह कर मध्यवर्ग के परिवारो के हर्षोल्लास, आशा-निराशा, उलझनो और संघर्षों का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से किया गया है। रागणेकर के नाटको मे मानवीय दुर्बलताओ पर हल्के-फुलके व्यंग्य एव हास्य की फुलझड़ियाँ तो हैं ही, उनके उपस्थापन में भी द्रुत कार्य-व्यापार और सरल-सतत् प्रवाह बना रहता है।[५८]

निकेतन ने रागणेकर के नाटकों के अतिरिक्त मोरेश्वर दत्तात्रय ब्रह्मे का 'सगीत आश्रित' (१९४८ ई०), अनंत वामन वर्टी का 'स० राणीचा बाग' (१९४९ ई०), मामा वरेरकर के 'स० अ-पूर्व बंगाल' (१९५३ ई०) और 'सं० भूमिकन्या सीता' (१९५८ ई०), गोपाल नीलकंठ दाडेकर के 'स० राधामाई' (१९५४ ई०) और 'सं० देवाघरची माणसें' (१९५५ ई०), लक्ष्मण नारायण भावे का 'स० पट्ठे बापूराव' (१९५९ ई०) आदि भी मंचस्थ किये।

इनमे डॉ० वर्टी का 'राणीचा बाग' अर्थ की दृष्टि से सफल रहा। इसके सौ से ऊपर प्रयोग हो चुके है। इसमे अघी नायिका की भूमिका फिल्म-तारिका स्नेहप्रभा प्रधान ने की थी।[५९] 'अपूर्व बंगाल' बगाल मे सन् १९४६ मे हुए साम्प्रदायिक दंगे के समय एक हिन्दू-परिवार की कसमकस से सम्बन्धित है। इसमे पात्रों की बंगाली वेश-भूषा और बगाली रीति-रिवाज के साथ बगाल के वातावरण का निर्माण किया गया था। नाटक के लिये दृश्यबंध भी बड़ा आकर्षक बना था।[६०]

१. सन्-१९५२ से नाट्य निकेतन एक लिमिटेड प्रतिष्ठान बन गया है। इसके सभी कलाकारो को वेतन दिया जाता है। इस समय (सन् १९६५ में) यह सस्था कुछ निष्क्रिय हो गई है। निकेतन ने अपने अकृत्रिम अभिनय, कुशल उपस्थापन और आधुनिक रग-एव-नाट्य-शिल्प के द्वारा मराठी के व्यावसायिक रगमंच को नवजीवन प्रदान किया।

ललितकलादर्श–सन् १९३७ मे ललितकलादर्श का काम बन्द होने के लगभग दो दशक बाद यह संस्था भालचन्द्र पेंढारकर (भूतपूर्व परिचालक बापूराव पेंढारकर के सुपुत्र) के प्रयास से पुनः जागी और कई नाटक उसने प्रस्तुत किये, जिनमे पुरुषोत्तम भास्कर भावे के 'स० स्वामिनी' (१९५६ ई०) और 'स० पडछाया' (१५ मार्च, १९६०), बाल कोल्हटकर का 'दुरिताचे तिमिर जावो' तथा विद्याधर सभाजीराव गोखले का 'स० पंडितराज जगन्नाथ' (१ अक्टूबर, १९६०) उल्लेखनीय हैं। 'स० पडितराज जगन्नाथ' शाहजहाँ के आश्रित कवि प० जगन्नाथ के प्रणय-प्रसग पर आधारित ऐतिहासिक नाटक है।

ललितकलादर्श अपने नाटको को लेकर बँगलौर, दिल्ली, कलकत्ता आदि भारत के कई नगरो का दौरा कर चुका है। उसके नाट्य-प्रदर्शनो ने सर्वत्र एक-सी लोकप्रियता प्राप्त की।

मराठी की व्यावसायिक (धधेवाईक) मडलियो के पिछले एक शताब्दी से ऊपर के इतिहास को देखने से उसकी कुछ उन मान्यताओ पर दृष्टि जाती है, जिनके कारण उसे सभी उच्च कोटि के नाटककारों एव कलाकारों का हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ। ये मडलियाँ इस बात को मानती थी कि नाटक का एक साहित्यिक प्रतिरूप है, अत वे न केवल नाटककारो का उचित सम्मान करती थी, वरन् उनके नाटको के मूल पाठ को भी पवित्र मानती थी। मूल पाडुलिपि मे कोई भी व्यावसायिक अथवा प्रहसनात्मक सामग्री भरने की कभी चेष्टा नही की गई। यही कारण है कि उच्च कोटि के नाटक सदैव उपलब्ध रहे और उनके उपस्थापन का स्तर भी सदैव ऊँचा और सयत बना रहा। निम्नतम सुखात नाटक मे भी विदूषकत्व के उस स्तर तक मराठी रगमंच कभी नही उतरा, जो गुजराती-उर्दू मंच के गम्भीर नाटकों मे भी उपलब्ध है।" मराठी रगमंच का यह दावा भले ही शत-प्रतिशत सही न हो, किन्तु इतना तो मानना ही पडेगा कि वह अपनी नाट्य-कृतियो का पूरा सम्मान करता रहा है और उसका हास्य भी सामान्यत. प्रसगनिष्ठ और श्लेषनिष्ठ होने के कारण अपेक्षाकृत उच्च स्तर का है।

अव्यावसायिक (अधेतन) रंगमंच : वरेरकर युग मे जिस नवनाट्य आन्दोलन की नीव पडी थी, उसका पूरा विकास आधुनिक युग मे मराठी के अव्यावसायिक रगमच पर हुआ। मराठी नव-नाट्य आन्दोलन का नेतृत्व हिन्दी और बँगला की भाँति भारतीय जननाट्य सघ के हाथ मे न जाकर उन नयी-पुरानी नाट्य-सस्थाओ के हाथ मे रहा, जो इस दिशा मे पहले से अग्रसर थी, अथवा इस युग मे जन्म लेकर जिन्होने नवीन प्रयोगो के लिये रग-साधना के मार्ग को अपनाया। यही कारण है कि मराठी मे न तो जन-नाट्य सघ का क्षेत्र-विस्तार हो सका और न उसकी विचार-धारा का ही प्रसार हुआ। इस सघ के तत्त्वावधान मे बम्बई ग्रुप द्वारा प्रदर्शित मामा वरेरकर-कृत 'सिगापुरातून' (१९४४ ई०) और माधव कृष्णाजी शिंदे-कृत 'स० आन्दोलन' उसके उल्लेखनीय नाटक हैं। 'सिगापुरातून' मे देश की स्वतत्रता के लिये जापान की सहायता को फितूर समझने वाले युवक की कहानी कही गई है, जबकि 'स० आन्दोलन' मे सन् १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेने वाले उन क्रान्तिकारियो की कथा निहित है, जो पुलिस अधिकारियो के घर में रह कर भूमिगत बने रहते रहे हैं। दोनो नाटक एकाकप्रवेशी त्रिअकी हैं।

२. पुरानी नाट्य-संस्थाओ मे बालमोहन नाटक मंडली ही ऐसी प्रमुख सस्था है, जिसने आधुनिक युग में भी अपने कृतित्व से नवनाट्य आन्दोलन को संबल प्रदान किया।

बालमोहन नाटक मण्डली–अभी तक पूना की बालमोहन नाटक मण्डली प्रह्लाद केशव अत्रे के ही नाटक

खेलती आ रही थी, किन्तु आधुनिक युग में अत्रे के नाटकों के अतिरिक्त उसने अन्य नाटककारों के नाटक भी खेले। मण्डली द्वारा अभिनीत नाटक हैं—अत्रे-कृत 'सं० मी उभा आहे' (१९३९ ई०), 'सं० जग काय म्हणेल' (२३ मार्च, १९४६) और 'सं० पाणिग्रहण' (११ अक्टूबर, १९४६), भालचन्द्रगोपाल उर्फ मालजी पेंढारकर-कृत 'अजिंक्य तारा' (१९४२ ई०), नारायण धोंडो ताम्हनकर-कृत एक अंग्रेजी प्रहसन 'मैरिड वूमन' का रूपांतर 'सं० बच्चा नवरा' (१९४३ ई०) और मधुकर विनायक राव-कृत 'सं० लक्षाधीश' (१९४७ ई०)। ये सभी त्रिअंकी हैं, किन्तु 'सं० बच्चा नवरा', 'सं० लक्षाधीश' और 'सं० जगकाय म्हणेल' के अतिरिक्त अन्य सभी नाटक बहुप्रवेशी हैं। इस प्रकार इस मण्डली ने पुरानी पद्धति के नाटक खेलने के साथ ही इस बात के प्रयास सदैव किये कि अधिक से अधिक एकांकप्रवेशी नाटक खेले जायें।

'सं० अजिंक्य तारा' कोल्हापुर की स्वतंत्र सत्ता की स्थापिका ताराबाई के जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक नाटक है। 'सं० मी उभा आहे' और 'सं० लक्षाधीश' सुन्दर व्यंग्य-नाटक हैं। इनमे से प्रथम मे नगरपालिका के चुनाव में होने वाली धांधलेबाजी और जोड-तोड तथा दूसरे मे ब्लैक मार्केट करने वाले देश-सेवकों पर तीखे व्यंग्य किये गये हैं।

मराठी का अव्यावसायिक रगमच बम्बई और महाराष्ट्र की सीमाओ के भीतर ही संकुचित न रह कर मध्य प्रदेश तक और देश मे जहाँ-जहाँ महाराष्ट्रीय लोग रहते है, वहाँ-वहाँ तक फैला हुआ है। मुख्यतः इस रंगमंच के केन्द्र हैं—बम्बई, पूना, कोल्हापुर, नागपर, अमरावती, हैदराबाद, इन्दौर और ग्वालियर। इन केन्द्रो की प्रमुख नाट्य-संस्थाओं के योगदान और कार्यों का मूल्यांकन आगे के अनुच्छेदो मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

मुम्बई मराठी साहित्य संघ नाट्य-शाखा, बम्बई—मुम्बई मराठी साहित्य संघ अव्यावसायिक रंगमंच के पुरस्करण में अग्रणी रहा है। सर्वप्रथम उसने सन् १९३८ मे महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन के २२ वें अधिवेशन में श्रीपादकृष्ण कोल्हटकर का 'माया विवाह' नाटक खेला। सन् १९४१ के सम्मेलन में दो नाटक खेले गये—'घरंकुल' (इब्सन के 'ए डॉल्स हाउस' का अनन्त काणेकर-कृत रूपातर) और 'उड़ती पाखरें' (वरेरकर)। इसके अतिरिक्त 'कांचनगडची मोहना' और 'राजसन्यास' के कुछ दृश्य भी प्रदर्शित किये गये।

सन् १९४३ मे संघ और उसके सचिव डॉ० अमृतनारायण भालेराव के प्रयास से मराठी रगमच की शताब्दी मनाई गई, जिसका प्रधान उत्सव मराठी नाटक की जन्मभूमि सांगली में और बाद मे बम्बई तथा मराठी-क्षेत्र के प्रत्येक बड़े नगर मे मनाया गया। इससे न केवल मराठी नाटककारो और कलाकारों को प्रेरणा मिली, मराठी रगमच का भी पुनर्जागरण हुआ और बम्बई तथा अनेक नगरो में नई नाट्य-संस्थाएँ खुलने लगी। लोगों के मन मे मराठी नाटककारो, उनके नाटको और रंग-अभिनेताओं के प्रति पुनः आकर्षण जागा और सामाजिको का एक जागरूक वर्ग खडा हो गया।[१२]

सांगली के नाट्य शताब्दी महोत्सव में संघ ने देवल-'शारदा' (१९४३ ई०) अभिनीत किया, जिसमें बालगंधर्व, गणपतराव बोडस, चिंतुबुवा दिवेकर, केशवराव दाते, चिंतामणराव कोल्हटकर, गुरव आदि दिग्गज कलाकारों ने भाग लिया था।[१३] बाल-गधर्व अपनी स्त्री-भूमिकाओं और सुमधुर गायन के लिये प्रसिद्ध हैं। केशवराव दाते भी प्रारम्भ में स्त्री-भूमिकाएँ करते रहे हैं।

सन् १९४४ मे सघ द्वारा अत्रे-'उद्याचा संसार', किर्लोस्कर-'सौभद्र', देवल-'शारदा', खाडिलकर-'भाऊबंदकी', गडकरी-'वेड्यांचा बाजार', प्र० ग० गुप्ते की संगीतिका 'शकुन्तला-स्वप्न', व्यकटेश वकील का 'जन्माचे सोबती', वरेरकर के 'सारस्वत' और 'सत्तेचे गुलाम' आदि कई नाटक खेले गये।

सन् ४७ में संघ द्वारा दो नये प्रयोग किये गये—एक था बच्चो का नाटक—शैलजादेवी पंत-कृत 'योगायोग' और दूसरा था श्री० वा० रानडे का छायानाट्य 'कुंपणावरून'।

सन् १९४९ में सतत् रूप से नाटक करने के उद्देश्य से संघ ने अपने यहाँ एक नाट्यशाखा की स्थापना की।" सन् १९५० तक यह शाखा मैरिन लाइन्स के मैदान में खुले मंच पर नाटक खेलती रही, फलतः एक रंगशाला बनवाने के उद्देश्य से उसी वर्ष संघ ने केलेवाडी (गिरगाँव) में अपनी भूमि खरीद ली और उस पर साहित्य संघ मंदिर का निर्माण प्रारम्भ करा दिया। सन् १९६४ में यह मन्दिर पूर्णतया बन कर तैयार हो गया, जिसका उद्घाटन ६ अप्रैल को भारत के प्रतिरक्षा मंत्री यशवन्तराव चह्वाण ने किया। मन्दिर के नाट्यगृह का नाम डॉ० भालेराव (जिनकी मृत्यु २५ अगस्त, १९५५ को हुई थी) की पुण्य स्मृति में 'डॉ० अमृतनारायण भालेराव नाट्यगृह' रखा गया। इस नाट्यगृह में रंगमंच और उसके नीचे स्थित भूगर्भगृह के अतिरिक्त ८०० से १२०० व्यक्तियों के बैठने का प्रबन्ध है।" इस ध्वनिसिद्ध रंगशाला में रंग-दीपन की आधुनिक व्यवस्था वर्तमान है। पृष्ठ भाग में 'साइक्लोरामा' और मंच एवं प्रेक्षागृह के बीच में वृन्दवादकों के स्थान (पिट) की व्यवस्था है।

सन् १९५० से संघ के कलाकार-दल ने महाराष्ट्र के बाहर जाकर अपने नाट्य-प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिये। उस वर्ष इस दल ने दिल्ली और ग्वालियर में 'भाऊबंदकी' और 'संशयकल्लोल' प्रदर्शित किये। दिसम्बर, १९५४ में दिल्ली में संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित प्रथम राष्ट्रीय नाट्य समारोह में संघ द्वारा प्रस्तुत 'भाऊ-बंदकी' को प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ।" इसमें नाना साहेब फाटक और फिल्म-तारिका दुर्गा खोटे ने भूमिकाएँ की थीं।

इसी वर्ष बम्बई सरकार का प्रथम नाट्य-महोत्सव मंदिर के प्रांगण में हुआ और इसी वर्ष से राज्य सरकार ने मन्दिर के लिए वार्षिक अनुदान स्वीकृत किया। इस महोत्सव में संघ ने चिं० य० मराठे का 'सं० होनाजी बाला', वि० वा० शिरवाडकर का 'राजमुकुट' और अनन्त काणेकर का 'झुंज' प्रस्तुत किया। 'होनाजी बाला' को मराठी-पद्धति के संगीत नाटक के रूप में विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। 'राजमुकुट' शेक्सपियर-'मैकबेथ' का अनुवाद है, जिसके लिए विशेष रूप से शेक्सपियरीय पद्धति की रंग-सज्जा प्रस्तुत की गई थी। 'झुंज' गाल्सवर्दी के 'स्ट्राइफ' का अनुवाद है, जिसमें मजदूर-मालिक-संघर्ष चित्रित किया गया है।

सन् १९६० तक संघ द्वारा सवा सौ के लगभग नाटक खेले जा चुके थे। प्रारम्भ में संघ पुराने नाटक ही खेलता रहा है, किन्तु सन् १९४६ से उसने नये प्रकार के प्रयोग प्रारम्भ कर दिये। नवीन प्रयोगों में वि० वा० शिरवाडकर के 'दूरचे दिवे' (१९४६ ई०, आस्कर वाइल्ड के 'आइडियल हसबैंड' का रूपांतर), 'दूसरा पेशवा' (१९४७ ई०) और 'वैजयन्ती' (१९५० ई०, मेटरलिंक के 'मोना व्हॅना' का रूपान्तर), सुधा साठे का 'एकच गाँठ' (१९४९ ई०), अत्रे-'वंदेमातरम्' (१९५० ई०), 'लग्नाची बेडी' (१९५१ ई०), 'कवडी चुम्बक' (२१ जून, १९५१, मोलियर के 'दि माइज़र' का अनुवाद) और 'घराबाहेर' (१९५४ ई०), अनन्त काणेकर के 'पतगाची दोरी' (१९५१ ई०) और 'निशिकांताचा नवरी' (१९५८ ई०), पु० ल० देशपांडे के 'अमलदार' (१९५२ ई०, एन० वी० गोगोल के 'इन्स्पेक्टर जनरल' का रूपान्तर), 'भाग्यवान' (१९५३ ई०, सॉमरसेट मॉम के 'शेपी' का रूपान्तर), 'तुझे आहे तुजपाशी' (१९५७ ई०) और 'सुन्दर मी होणार' (१९५७ ई०), रांगणेकर - 'कोणे एके काली' (१९५४ ई०), शं० गो० साठे का 'छापील संसार' (१९५६ ई०) और बाल कोल्हटकर का 'दुरिताचे तिमिर जावो' (१९५७ ई०) विशेष उल्लेखनीय हैं।

नाट्य शाखा के अन्तर्गत बाल रंगभूमि विभाग की स्थापना हुई, जिसने सर्वप्रथम २ जनवरी, १९५९ को रत्नाकर मतकरी का बाल नाटक 'मधुमंजरी' खेला।"

संघ के अधिकांश नाटक प्रायः ४ घंटे के त्रिअंकी होते हैं, जो रात को ८॥ बजे से प्रारम्भ होकर १२॥ बजे समाप्त होते हैं।

संघ को मराठी के कुशल कलाकारों और नाट्य-निर्देशकों (दिग्दर्शकों) का सहयोग सदैव प्राप्त रहा है। यही कारण है कि उसके उपस्थापन सदैव बड़े उच्च स्तर के होते रहे हैं। गणपतराव बोडस, केशवराव दाते,

चिंतामणराव कोल्हटकर, के० नारायण काले, पार्श्वनाथ अलतेकर, आचार्य अत्रे, मास्टर दत्ताराम, दामू केंकरे, पु० ल० देशपाण्डे, सौ० सुधा करमकर, हर्बर्ट मार्शल आदि संघ के यशस्वी निर्देशक रहे हैं, जिन्होंने मराठी रंगमंच को सदैव दिशा-निर्देश दिया है।

लिटिल थियेटर, बम्बई – निर्देशक पार्श्वनाथ अलतेकर ने सन् १९४१ में लिटिल थियेटर की स्थापना की। इसी के अन्तर्गत उन्होंने अभिनय अकादमी की भी स्थापना की, जहाँ अभिनयादि का प्रशिक्षण दिया जाता रहा है। थियेटर ने मामा वरेरकर के 'उड़ती पाखरें,' 'स० माट्या कलेसाठी', 'सं० सारस्वत' और 'सिंगापुरातून' नाटक प्रस्तुत किये। 'स० सारस्वत' को छोड़ कर अन्य किसी भी नाटक में आर्थिक सफलता न मिलने के कारण यह संस्था बन्द हो गई।

इण्डियन नेशनल थियेटर, बम्बई – इण्डियन नेशनल थियेटर बम्बई की एक विशिष्ट नाट्य-संस्था है, जो अपने बहुभाषी एवं बहुरूपी प्रयोगों, नवीनतम रंगशिल्प के उपयोग और कलापूर्ण उपस्थापन के लिए प्रसिद्ध है। थियेटर के मराठी नाट्य-दल ने माधव मनोहर का 'सशाची शिंगें' (ब्लेटिन कटव के 'स्क्वेयरिंग दि सर्किल' का रूपान्तर), अनन्त आत्माराम काणेकर का 'फांस' (७ अप्रैल, १९४९, डब्ल्यू० ओ० सोमिन के 'अटेंशन' का रूपान्तर), वीर वामनराव जोशी का 'स० रणदुन्दुभी', 'काचेची खेलणी', 'जपलेले नाग', बबन प्रभू के प्रहसन 'झोंपी गेलेला जागा झाला' (२२ नवम्बर, १९५८) और 'दिनूच्या सासूबाई राधाबाई' (१८ सितम्बर, १९६०), विश्राम बेडेकर का 'नरो वा कुञ्जरो वा' (३ फरवरी, १९६१), गोविंद केशव भट का 'सं० माते, तुला काय हवंय् ?' (१९६१ ई०, रवीन्द्रनाथ के 'सैक्रिफाइस' का रूपान्तर) आदि कुछ उल्लेखनीय नाटक खेले।

'फांस' में केवल दो पात्र हैं, जिनकी भूमिकाएँ लीला चिटणीस और प्रो० के० नारायण काले ने की थीं। निर्देशन प्रो० काले ने ही किया था। नायिका अपने प्रति पाप-भावना रखने वाले पुरुष की हत्या कर देती है। मनोविकारों को प्रस्फुटित करने और औत्सुक्य-वृद्धि के लिए इसमें रंग-दीपन और ध्वनि-योजना का अच्छा उपयोग किया गया है।[८]

'रणदुन्दुभी' जैसे स्वच्छन्दताधर्मी नाटक के उपस्थापन में परम्परागत शैली को जग ह ा व ादी शैली का उपयोग (फार्मेलिस्टिक ट्रीटमेंट) किया गया है। मंच के विविध धरातलों और रंगीन दृश्यपटों से ही युद्ध-क्षेत्र, दुर्ग, उपवन और राजपथ के दृश्य दिखलाये गये हैं।[९]

'काचेची खेलणी' में प्रतीक एवं प्रभाववादी शैली का उपयोग कर घर के भीतरी और बाहरी दृश्यों को एक साथ प्रदर्शित किया गया है। इस नाटक पर बम्बई के राज्य नाट्य महोत्सव में पुरस्कार भी मिल चुका है।

'स० माते, तुला काय हवंय् ?' में परिक्रामी मंच का उपयोग किया गया है।[१०]

प्रहसन (फार्स) 'झोपी गेलेला जागा झाला' के सौ प्रयोग हो चुके हैं, जो उसकी लोकप्रियता के सूचक हैं।

थियेटर ने ३ से १७ फरवरी, १९६१ तक एक पक्ष-व्यापी नाट्य-समारोह आयोजित किया था, जिसका नाम था – 'आजचें मराठी नाटक महोत्सव'। इसका उद्घाटन ३ फरवरी को महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्य मन्त्री (बाद में भारत के गृह मन्त्री) यशवन्तराव चह्वाण ने किया था। इस महोत्सव में १९ नाट्य-संस्थाओं ने भाग लिया था। थियेटर ने इसमें तीन नाटक प्रदर्शित किये थे–'नरो वा कुञ्जरो वा' (३ फरवरी), 'दिनूच्या सासूबाई राधाबाई' (४ फरवरी) और 'अभिरूप न्यायसभा' (१४ फरवरी)। 'नरो वा कुञ्जरो वा' फाँसी के प्रश्न को लेकर *लिखा गया* पहला नाटक है, जो सिने-शिल्प पर आधारित है।

थियेटर आज भी अपने नवीन प्रयोगों और नाट्य-महोत्सवों के द्वारा मराठी रंगमंच की सेवा कर रहा है।

थियेटर ने कुछ बच्चों के भी नाटक खेले हैं।

बम्बई की अन्य नाट्य-संस्थाएँ बम्बई की अन्य नाट्य-संस्थाओं में महाराष्ट्र सरकार द्वारा संरक्षित सर्वोदय कला मन्दिर ने वरेरकर के दो नाटक 'सं० जिवा-शिवाची भेट' (१ जनवरी, १९५०) और 'दौलतजादा' (१८ मार्च, १९५०), कलाकार ने जे० बी० प्रीस्टले के 'दि इंस्पेक्टर काल्स' के व्यंकटेश शंकर वकील-कृत रूपांतर 'सारेच सज्जन' (१९५३ ई०), माधव मनोहर का 'आई' (१९५३ ई०, करेल कपेक के 'मदर' का रूपान्तर) और श्रीमती तारा बनारसे का 'कक्षा' (१९५५ ई०), मराठी रंगभूमि ने रतनलाल डोंगरचन्द शहा का 'सं० अमरकीर्ति', १९५४ ई०) और विनायक रामचन्द्र हुबर्डे का 'सं० बाजीराव-मस्तानी' (१९५५ ई०), ललित कला केन्द्र ने विजय धोंडो तेंडुलकर का 'माणूस नावाचें बेट' (१९५६ ई०), नाना जोग का त्रिअंकी 'हेमलेट' (१९५७ ई०, शेक्सपियर-'हैमलेट' का अनुवाद) और अच्युत महादेव बर्वे का 'लावेचे मणी' (१९५८ ई०), रंगमंच ने तेंडुलकर-'चिमणीच घर होत मेणाच' (१९५९ ई०), कला मंदिर ने हणमंत रामचन्द्र महाजनी का 'संगीत शकुन्तला' (१९५९ ई०) और विद्याधर गोखले का 'सं० सुवर्णतुला' (१९६० ई०) तथा वी० शांताराम द्वारा सन् १९५८ में स्थापित रंगमन्दिर ने वासुदेव शास्त्री वामन शास्त्री खरे का 'शिवसम्भव' जनवरी, १९५९ में[३१] प्रस्तुत किया।

इसके अतिरिक्त भारतीय विद्याभवन के कलाकेन्द्र ने कुछ मराठी के नाटक भी खेले, जिनमें प्रभाकर वसंत तामणे का 'अशीच एक रात्र येते' (१९५५ ई०), तेंडुलकर-'श्रीमंत' (१९५५ ई०) और श्रीमती सरिता पदकी का 'बाधा' उल्लेखनीय है। कला केन्द्र की अन्तर-महाविद्यालय नाटक प्रतियोगिता में अन्य भाषाओं के एकांकियों के अतिरिक्त मराठी के एकांकी भी प्रस्तुत किये जाते है। सन् १९६० में १९ मराठी एकांकी प्रदर्शित हुए, जबकि सन् १९५१ में केवल ५ मराठी एकांकी मंचस्थ हुए थे।[३२] विजयी नाट्य-दल को विद्याभवन की ओर से 'ट्राफी' दिया जाता है।

बम्बई की अधिकांश नाट्य-संस्थाओं के निर्माण में पुराने व्यावसायिक कलाकारों ने भी 'नाइट बेसिस' पर काम करके योगदान दिया है,[३३] किन्तु इस प्रकार के नाट्य-प्रदर्शनों में पूर्वाभ्यास के अभाव के कारण अपरिपक्वता रह जाती है, जो आज के मराठी रंगमंच की एक अपनी परिसीमा और विडंबना है।

ललितकला कुंज, पूना– ललितकला कुंज द्वारा प्रस्तुत नाटकों में प्रमुख हैं– विष्णु विनायक बोकील का 'सं० मीना-नीना' (१९४३ ई०) और गजानन दिगम्बर माडगूलकर का 'युद्धाच्या सावल्या' (१९४४ ई०)। दोनों नाटक एकाकप्रवेशी त्रिअंकी हैं।

स्पेशल क्लब, पूना– यह पूना की एक पुरानी नाट्य-संस्था है, जो कोल्हटकर युग से ही पूना में नाटक खेलती रही। आधुनिक युग में इसने विनायक चितामण देवरुखकर का नयी पद्धति का नाटक 'डॉ० कैलास' (१९५१ ई०) अभिनीत किया।

प्रोग्रेसिव ड्रामेटिक असोसिएशन, पूना– पूना का प्रोग्रेसिव ड्रामेटिक असोसिएशन एक नयी संस्था है, जिसने सन् १९५६ से १९६१ के भीतर कई नाटक प्रस्तुत किये। ये हैं– गोपाल नीलकंठ दांडेकर के 'जगन्नाथाचा रथ' (१९५६ ई०) और 'पवनाकाठचा धोंडी' (१९६० ई०), वसंत शंकर कानेटकर के 'वेड्याच घर उन्हात' (१९५७ ई०), 'देवाचे मनोराज्य' (१९५८ ई०) और 'प्रेमा तुझा रंग कसा ?' (१९६१ ई०) तथा व्यं० दि० माडगूलकर का 'जाणार कुठे ?' (१९६० ई०)। 'जाणार कुठे ?' माडगूलकर की एक कथा का नाट्यरूपांतर है।

पूना की अन्य नाट्य-संस्थाएँ : पूना की अन्य नाट्य-संस्थाओं में महाराष्ट्रीय कलोपासक ने शंकर गोविन्द साठे का 'स्वप्नीचें हें धन' (१९५७ ई०) और श्रीकृष्ण रामचन्द्र बिवलकर का 'सं० वैदेही' (१९६० ई०), श्री स्टार्म ने बाल कोल्हटकर का 'वेगळं व्हायचंय मला' (८ फरवरी, १९६१) आदि सामाजिक नाटक प्रदर्शित किये।

पूना मे अभिनय, उपस्थापन आदि की शिक्षा, विचार-गोष्ठियो, अनुसधान और कार्य-शिविरो द्वारा रंगमंच के उन्नयन आदि के उद्देश्य से प्रभाकर के० गुप्ते ने 'थियेटर आर्ट्स अकादमी' की सन् १९५५ मे स्थापना की। यह शिक्षण पाठ्यक्रम तीन वर्ष का है। यह मराठी नाट्य परिषद् के सम्मेलनों में भी भाग लेती है। परिषद् महाराष्ट्र के नाट्यानुरागियों का केन्द्रीय सगठन है, जो प्रत्येक वर्ष अपना सम्मेलन आयोजित करती है। इसकी स्थापना सन् १९०५ मे बम्बई मे हुई थी।[55] अकादमी का नाट्य-दल नगरो और ग्राम्य क्षेत्रो मे नाट्य-प्रदर्शन भी करता है। इसकी शाखायें दादर (बम्बई), कल्याण, भोर और लुनावाला मे हैं।[56]

विदर्भ साहित्य सघ, नागपुर मुम्बई मराठी साहित्य सघ, बम्बई की भाँति विदर्भ साहित्य संघ के भवन मे अपनी एक रगशाला-धनवटे रगमन्दिर भी है, जिसके प्रमुख कार्यकर्ता हैं–नाटककार नाना जोग। जोग के 'हैमलेट' के अतिरिक्त अन्य मौलिक नाटक है–'चित्रशाला' (१९४८ ई०), 'सोन्याचे देव' (१९४९ ई०) और 'भारती' (१९५२ ई०), जिनमे से प्रथम रजन कलामदिर, नागपुर द्वारा सन् १९५९ मे और शेष दोनो नागपुर नाट्य मडल द्वारा क्रमशः सन् १९५१ और १९५२ मे अभिनीत हो चुके हैं। विदर्भ साहित्य सघ की नाट्य समिति भी समय-समय पर नाटक खेलती तथा स्कूल-कालेजो के छात्रो की नाट्य-प्रतियोगिताएँ आयोजित करती रहती है। ये प्रतियोगिताएँ प्रत्येक वर्ष नवम्बर से जनवरी तक होती हैं। सघ को महाराष्ट्र सरकार से अनुदान भी प्राप्त है।

धनवटे रगमन्दिर मे प्रत्येक वर्ष पद्माकर डावरे एकाकी स्पर्धा (प्रतियोगिता) जनवरी मे होती है, जिसमें मराठी के सभी अव्यावसायिक नाट्य-दल भाग ले सकते हैं। २३ जनवरी को मराठी के प्रसिद्ध नाटककार राम-गणेश गडकरी की जयती मनाई जाती है। इस अवसर पर एकाकी एवं एकपात्रीय नाटक आरगित किये जाते हैं तथा वाद-विवाद की भी आयोजना होती है।[57]

१ मई को रगमदिर के प्रमुख सस्थापक नाना साहब जोग की जयती मनाई जाती है। इस अवसर पर पूर्णांग और एकाकी नाटक मंचस्थ होते हैं।[58]

सहकारी सस्था, नागपुर–सहकारी सस्था की स्थापना यद्यपि सन् १९१७ मे हुई थी, किन्तु इसका रजि-स्ट्रेशन सन् १९४५ मे हुआ। इसके द्वारा मचस्थ नाटको मे प्रमुख हैं–'हाच मुलाचा बाप', 'एकच प्याला', 'सत्त्व परीक्षा', 'कीचक वध', 'सावकार', 'तोतयाचें बड', 'खडाष्टक', 'आम्ग्राहून सुटका' आदि। इस सस्था ने नाटको के माध्यम से विविध शिक्षा-सस्थाओ को २६००० रु० की आर्थिक सहायता दी।

सन् १९५८ मे अमरावती मे हुए बम्बई राज्य विभागीय नाट्य महोत्सव मे संस्था ने 'खडाष्टक' नाटक प्रस्तुत किया, जिस पर उसे द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ।[59]

नागपुर नाट्य मडल, नागपुर—सन् १९४७ मे अपनी स्थापना से लेकर अब तक नागपुर नाट्य मंडल नाना जोग के नाटकों के अतिरिक्त कई नये-पुराने नाटक खेल चुका है। इसके अन्य नाटक हैं–पु० ल० देशपाडे के 'अमलदार' (१९५२ ई०, एन० वी० गोगोल के 'इसपेक्टर-जनरल' का रूपान्तर) और 'तुझें आहे तुजपाशी' तथा वासुदेव वामन भोले का 'कृष्णाकुमारी'। मडल द्वारा मचस्थ कुछ अन्य नाटक हैं–'उद्याचा-ससार', 'उसना नवरा', 'आधल्याची शाला', 'भावबधन', 'दूरचे दिवे', 'बेबदशाही' आदि।

रजन कला मदिर, नागपुर–रजन कला मदिर (या मडल ?) की स्थापना सन् १९५८ में नागपुर मे हुई थी, किन्तु तीन वर्षो के भीतर ही महाराष्ट्र के राज्य नाट्य महोत्सव में पुरुषोत्तम दारव्हेकर के 'चंद्र नभीचा ढलला' (अल्बर्ट कामू के फ्रेंच नाटक 'कॅलिगुला' का रूपातर) पर प्रथम पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।[60] इसके निर्दे-शक स्वय दारव्हेकर हैं। इसमें पुरुष-भूमिकाओं में राजा पाठक ने सम्राट्, चंद्रकुमार, धनञ्जय भावे ने युवराज दीपक, अरविंद पाठक ने महामंत्री चतुरसेन और स्त्री-भूमिकाओ में नलिनी शर्मा ने सुवर्णा, आशा दातार और सौ० उषा चादोरकर ने क्रमशः राजकुमारी रोहिणी और सुगधा की भूमिकाएँ की थी।

मंदिर विदर्भ साहित्य संघ से सम्बद्ध है ।

नागपुर में इन नाट्य-संस्थाओं के अतिरिक्त भी लगभग डेढ दर्जन मराठी नाट्य-संस्थाएँ हैं, जो समय-समय पर नाटक खेलकर मराठी रंगमंच को दीर्घजीवी बना रही हैं । इनमे प्रमुख हैं—सिद्धार्थ कलापथक, लिटिल आर्ट थियेटर, राष्ट्रीय कला निकेतन, नागपुर साहित्य सभेची नाट्य-शाखा, नवचेतना कला मंदिर, भारतीय कला निकुंज, कला मंदिर, कला भारती आदि ।[४]

अन्य स्थानीय संस्थायें : इसके अतिरिक्त ग्वालियर का आर्टिस्ट कंबाइन्स (संस्था० १९३९ या इससे पूर्व), कोल्हापुर का करवीर नाट्य मंडल (संस्था० १९४४ ई०), अमरावती के विदर्भ कला मंदिर (संस्था १९४३ ई०) तथा नवल नाट्य विहार (संस्था० १९५४ ई०), इंदौर की नाट्य-भारती (संस्था० १९५५ ई०), हैदराबाद का कला मंडल आदि कुछ अन्य संस्थाएँ भी अपने-अपने क्षेत्र मे समय-समय पर नाट्य-प्रयोग करती रहती हैं ।

करवीर नाट्य मंडल के 'माणूस नावाचे बेट' नाटक पर बम्बई राज्य के छठे महोत्सव मे एक साथ सभी पुरस्कार प्राप्त हुए थे । मण्डल नाटकोपस्थापन के अतिरिक्त प्रत्येक वर्ष स्वयं कोल्हापुर मे नाट्य-महोत्सव करता है और नाट्य-विषयक ग्रन्थ पर पुरस्कार भी देता है ।[५] नाट्यभारती मराठी के नाटको के साथ हिन्दी के नाटक भी खेलती है ।[६]

उपर्युक्त मंडलियों एवं संस्थाओ के अतिरिक्त भी अनेक अन्य नयी-नयी नाट्य-संस्थाएँ मराठी रंगमंच को समृद्ध बना रही हैं । शिल्पिक परिपक्वता एवं अभिनय-कौशल के संवर्धन के लिये नाट्य-प्रशिक्षण के प्रयास भी प्रारम्भ हो गए हैं, जिसके लिये प्रभाकर गुप्ते, स्नेहप्रभा प्रधान और श्री जोगलेकर अपने-अपने प्रशिक्षण केन्द्र चला रहे हैं । महाराष्ट्र सरकार के० नारायण काले के मार्ग-दर्शन मे प्रत्येक वर्ष छ. सप्ताह के प्रशिक्षण शिविरो का आयोजन करती है, जिनमे वार्षिक नाट्य-महोत्सवो के विजेताओ को प्रशिक्षण दिया जाता है ।[७] महाराष्ट्र सरकार यह महोत्सव सन् १९५४ से नियमित रूप से प्रत्येक वर्ष करती आ रही है, जिसमे प्रथम तीन विजेता नाट्य-दलो और श्रेष्ठ कलाकारो को पुरस्कार दिये जाते हैं । इसके अतिरिक्त केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा मराठी के चोटी के कलाकारो, यथा बाल गन्धर्व, गणपतराव बोडस, चिंतामणराव कोल्हटकर आदि को अकादमी पुरस्कार प्रदान किये जा चुके हैं । नाटककार मामा वरेरकर भी नाट्य-लेखन के लिए अकादमी द्वारा पुरस्कृत हो चुके हैं ।[८] इससे नव-नाट्य आन्दोलन को बहुत प्रोत्साहन मिला है ।

मराठी नाट्य परिषद् तथा इसी प्रकार की अन्य नाट्य-संस्थाओ के प्रयास से विचार-गोष्ठियों, परिचर्चाओ और सम्मेलनो के आयोजन समय-समय पर किये जाते हैं, जिनमें नाट्यकला और नाटको के उपस्थापन आदि विषयो पर विद्वानो, कलाकारो और प्रयोक्ताओ को विचार-विनिमय करने का अवसर मिलता है । इन विचार-विनिमयों मे देश-विदेश के नाट्याचार्यों के सिद्धान्तो और विचारो का श्रवण और मनन खुले हृदय से किया जाता है ।[९]

इस युग मे मराठी के लोकनाट्य तमाशा का भी पुनरुद्धार हुआ । अमर शेख, वसंत बापट और शाहिर साबले ने अपने रचित अथवा पु० ल० देशपांडे और व्यंकटेश माडगूलकर के व्यंग्यात्मक तमाशे सफलता के साथ प्रस्तुत किये । इन परिष्कृत तमाशो ने मराठी रंगमंच पर अपना एक निश्चित स्थान बना लिया है ।[१]

उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ : मराठी रंगमंच के इन विविध प्रयोगों का सही मूल्यांकन समय के बढते हुए चरण के साथ ही हो सकेगा, फिर भी उसकी उपलब्धियो और परिसीमाओ पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयोगी होगा :—

(१) मराठी रंगमंच व्यावसायिक क्षेत्र से हटकर मूलत. अव्यावसायिक हो गया ।[२] नाट्यनिकेतन को छोड और कोई व्यावसायिक (धंदेवाईक) संस्था आधुनिक युग मे सफल न हो सकी । व्यावसायिक कलाकार भी

अब 'नाइट बेसिस' पर अव्यावसायिक रंगमंच पर काम करने लगे हैं ।

(२) बम्बई और नागपुर मे स्थायी ढग की आधुनिक रंगशालाएँ बनीं अवश्य, किन्तु उनसे मराठी रगमंच की क्षुधा न मिट सकी । अधिकाश सस्थाओ को ऊँची दरो पर दूसरी रंगशालाएँ किराये पर लेनी पड़ी, जो नयी संस्थाओं की कमर तोड़ देने के लिये काफी होता है । मराठी की किसी भी स्थायी रगशाला में परिक्रामी मंच की व्यवस्था नही है, किन्तु उनमे अस्थायी एव सचल परिक्रामी मच का उपयोग किया जा सकता है ।

(३) मराठी के अधिकाश नाटक त्रिअकी होते हैं, जो चार घण्टे तक चलते हैं। इसके विपरीत हिन्दी और बंगला के नाटक तीन घटे के ही होते हैं । मराठी में गद्य नाटक के साथ संगीत नाटक आज भी होते हैं, किन्तु ऑपेरा (सगीतक), बंगला ढग के गीति-नाट्य, छाया-नाटक या नृत्य-नाट्य की परम्परा विकसित नही हो सकी है । *सगीत नाटक के गीत राग-रागिनियो और हिन्दी-गुजराती नाटको की तर्जों पर आधारित होते थे ।*"

(४) रग-सज्जा, दीपन आदि की दृष्टि से मराठी रगमच परिपक्वता की ओर बढ रहा है, किन्तु बंगला रंगमंच की शिल्पिक प्रौढता अभी तक उसमे नही आई है । वस्तुवादी रग-सज्जा के अतिरिक्त रूपवादी और प्रतीक सज्जा के भी कुछ सुन्दर प्रयोग हुए हैं ।

(५) आधुनिक युग मे मराठी रंगमच ने अनेक नये नाटककार, निर्देशक और कलाकार उत्पन्न किये ।

मो० ग० रांगणेकर, अनत काणेकर, वि० वा० शिरवाडकर, पु० ल० देशपाडे, वसत कानेटकर, विजय तेंडुलकर, पुरुषोत्तम दारव्हेकर आदि नये नाटककारो ने अपनी कृतियो द्वारा मराठी रगमच को अनुप्राणित किया । मामा वरेरकर और आचार्य अत्रे जैसे कुछ पुराने नाटककार भी इस युग की श्रीवृद्धि करते रहे ।

निर्देशकों मे केशवराव दाते, के० नारायण काले, पार्श्वनाथ अलतेकर, आचार्य अत्रे, दामू केंकरे, मो० ग० रागणेकर, पु० ल० देशपाडे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

कलाकारो मे प्रमुख हैं—बालगंधर्व, केशवराव दाते, चितुबुवा दिवेकर, मास्टर दत्ताराम, गणपतराव बोडस, चितामणराव कोल्हटकर, नाना साहेब फाटक, दुर्गा खोटे, ज्योत्स्ना भोले, स्नेहप्रभा प्रधान, उषा किरण, विष्णुपंत औंधकर, गजानन जागीरदार, इंदुमती, कुसुम कुलकर्णी आदि । स्व० बालगधर्व और केशवराव दाते अपनी स्त्री-भूमिकाओ के लिए प्रसिद्ध रहे हैं । *बालगंधर्व मराठी रगमंच के सुकण्ठ गायक भी थे ।*

(६) अधिकाश मराठी नाटककार रंगमच मे सम्बद्ध रहे, किन्तु फिर भी शेक्सपियर, मोलियर, इब्सन, आस्कर वाइल्ड, सॉमरसेट मॉम, डब्ल्यू० ओ० सोमिन, अल्बर्ट कामू, गोगोल, जेम्स बेरी, गोल्डस्मिथ आदि के नाटक अनूदित कर खेले गये ।

(७) मराठी नाट्य परिषद् की पाक्षिक पत्रिका 'नाट्यकला' और वरेरकर युग के मासिक 'रंगभूमि' के अतिरिक्त इस युग में किसी स्वतन्त्र नयी नाट्य-विषयक पत्रिका के दर्शन नही हुए, यद्यपि 'मनोहर', 'अभिरुचि', 'मनोरंजन' आदि मासिक पत्रिकाओ में नाट्य-विषयक चर्चाएँ होती रही हैं ।

(८) मराठी रगमंच की दीर्घ व्यावसायिक परम्परा के कारण यहाँ टिकट की बिक्री बँगला रंगमंच की भाँति 'बुकिंग आफिस' से ही होती है, जो सामाजिकों की सुरुचि और सुसंस्कृति की परिचायक है ।

(ग) गुजराती रंगमंच : प्रगति, उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ

बोलपट के प्रसार ने हिन्दी, मराठी आदि अन्य भाषाओं के साथ गुजराती रंगमंच को कुछ हद तक प्रभावित किया और कुछ अलाभकर अथवा पार्श्वस्थ (मार्जिनल) मंडलियाँ बन्द भी हो गईं, किन्तु देशी नाटक समाज, मुम्बई गुजराती नाटक मंडली, आर्यनैतिक नाटक समाज, लक्ष्मीकान्त नाटक समाज जैसी शीर्षस्थ संस्थाएँ इस आघात को सहन करके भी जीवित ही *नही बनी रही, आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध मे बदलते हुए* प्रबन्धों के अन्तर्गत दूर तक चलती रही । इनमें से देशी नाटक समाज तो आज भी जीवित है और सन् १९६४ में अपनी हीरक जयंती

'अमृत महोत्सव' के नाम से मना चुका है। चलचित्रो के बावजूद बम्बई और अहमदाबाद के सामाजिक रंग-नाटक से अपना मनोरंजन प्राप्त करते रहे।[१]

इन मंडलियो को न केवल बोलपट का, वरन् मेहता-मुंशी युग मे आरोपित नव-नाट्य आंदोलन के विरोध का भी सामना करना पड़ा। सामाजिक स्वभावतः इस आन्दोलन की ओर, रंगशिल्प के नये प्रयोगो, नये नाटको को देखकर आकृष्ट हुए। पार्श्वस्थ (मार्जिनल) मण्डलियाँ इन नए प्रयोगो को अपनाने की स्थिति मे न थी। फलतः उनके सामाजिको की संख्या घटी, उनकी आय घटी और वे नयी-नयी मंडलियो और अव्यावसायिक (अवेतन) नाट्य-संस्थाओ की होड मे खड़ी न रह सकी। पुनश्च, व्यावसायिक (धंधेदारी) मंडलियो के नाटक ६-७ घंटे तक चला करते थे, जबकि बोलपट ढाई-तीन घंटे के होते थे और अवेतन मंच के नाटक भी अपेक्षाकृत छोटे हुआ करते थे। उनमे स्त्रियो की भूमिकाएँ भी स्त्रियाँ करने लगी थी, जबकि व्यावसायिक मंच पर मुख्यतः पुरुष-कलाकार ही स्त्री-भूमिकाएँ किया करते थे। यह उसके पुरानेपन का, उसकी दुर्बलता का द्योतक बन गया। आधुनिक युग की बदलती हुई हवा के साथ देशी नाटक समाज, आर्यनैतिक नाटक समाज आदि मंडलियो ने भी क्रमशः प्रयोग की अवधि घटाकर तीन घंटे कर दी और अब इन सभी मण्डलियो मे स्त्री-कलाकार काम करने लगी हैं।

व्यावसायिक रंगभूमि इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय नेताओ की धर-पकड़ के कारण होने वाली हड़तालो और हुल्लडबाजी तथा सरकार द्वारा सन् १९२३ मे लगाये गये मनोरंजन कर के कारण भी धन्धादारी मंच के अस्तित्व के लिये संकट उत्पन्न हो गया।[२]

फिर भी इन मंडलियो का आधुनिक युग मे जीवित रहना इस बात का द्योतक है कि गुजराती सामाजिक और कलाकार, प्रयोक्ता और नाटककार के मन मे पुराने रंगमंच (जूनी रंगभूमि) और उसके नाटको के प्रति आज भी मोह या आकर्षण शेष है। उन्हें पुराने नाटको मे आज भी वही रस मिलता है, जबकि नये नाटको मे उड़े हुए रस की जगह रस का आभास ही शेष दिखाई पड़ता है।[३] कुछ हद तक यह सही भी है कि विरोध या संघर्ष के आधार पर कथानक का विकास होने से उनमे रस-परिपाक पूरी तरह नही हो पाता। ऐसी स्थिति मे रस-निष्पत्ति सम्भव नही है, किन्तु नवनाट्य आंदोलन को रस-निष्पत्ति अभीष्ट न होकर पश्चिम के नये-नये प्रयोगो—बहिरंग और अन्तरंग अर्थात् रंगशिल्प और वस्तु-विन्यास, दोनो ही दृष्टियो से नवीनता अभिप्रेत रही है। गुजराती का व्यावसायिक रंगमंच आज भी इन प्रयोगो से प्रायः दूर ही रहना चाहता है।

देशी नाटक समाज — देशी नाटक समाज के प्रांगण मे पूर्ववत् कुछ पुराने सिद्धहस्त नाटककार—(स्व०) कविश्री प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी, प्रफुल्ल देसाई और जी० ए० वेराटी ही मुख्य रूप से रंग-देवता को अर्घ्य-दान करते रहे। सन् १९३८ से १९६० तक की लम्बी अवधि मे द्विवेदी सामाजिको के बीच लोकप्रिय बने रहे और उनके लगभग ३० नाटक देशी नाटक द्वारा खेले गए। उनकी इस लोकप्रियता और दीर्घकालीन नाट्यलेखन को दृष्टि मे रखकर सन् १९६१ मे उन्हें संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। ३१ जनवरी, १९६२ को द्विवेदी का स्वर्गवास हो गया।[४]

द्विवेदी के प्रसिद्ध सामाजिक नाटक *'वडीलोना वाके'* (२ अप्रैल, १९३८) के प्रदर्शन के कुछ दिनो बाद देशी नाटक के मालिक सेठ हरगोविन्ददास का निधन हो गया। फलस्वरूप सारा भार उनकी पत्नी श्रीमती उत्तम लक्ष्मी बहन पर आ गया। इसके ११० प्रयोग हुए। इसकी लोकप्रियता के आगे ३० मार्च, १९३९ से प्रस्तुत हुआ जी० ए० वेराटी का नया नाटक 'उदय प्रभात' निष्फल चला गया, तो इसे पुनः ४३ रात्रियों तक खेला गया। इसकी आय से मंडली अपने ऋण से मुक्त हो गई।[५] इसी नाटक के दौरान नवम्बर, १९३८ से नाटक रात को एक बजे से बन्द कर देने का नियम बना।[६] इसके पहले नाटक ६-७ घण्टे तक चला करते थे और रात को ढाई-तीन बजे तक समाप्त होते थे। इस नाटक को बाद मे अहमदाबाद मे भी सफलता के साथ खेला गया। आगे चल कर इस नाटक

के २५१ वें प्रयोग (२१ जनवरी, १९४२) की आय मडली की पुरानी अभिनेत्री मोतीबाई को दी गई।[1] २५ जनवरी, ४३ के प्रयोग की आय सभी कर्मचारियों के बीच बाँट दी गई। ९ सितम्बर, १९४३ को बंगाल के बाढ़-पीड़ित कोष के लिये 'वडोलोना वाके' के प्रदर्शन से १०,००१) रु० एकत्र कर भेजे गये।[2] इस नाटक की फिल्म भी उसी नाम से गुजराती मे सारस पिक्चर्स द्वारा बनाई जा चुकी है। समाज के अहमदाबाद जाने के पूर्व द्विवेदी-'विजेता' (१९३९ ई०) मचस्थ हुआ।

अहमदाबाद और बडोदा की यात्रा से लौट कर देशी नाटक ने द्विवेदी का पौराणिक नाटक 'देवी सकेल' (१९४० ई०), 'विजेता' का नवीन रूप 'गगा किनारे' (१९४० ई०) और सामाजिक नाटक 'सपत्ति माटे' (१९४१ ई०) प्रस्तुत किये। वम्बई की स्थिति ठीक न होने के कारण मडली सूरत चली गई, जहाँ 'सती दमयन्ती' और द्विवेदी का 'संपत्ति माटे' (१९४१ ई०) नाटक खेले गये। 'सती दमयन्ती' मे एक नवीन कलाकार गोरधन चुनीलाल मारवाड़ी ने दमयन्ती की भूमिका की। 'सपत्ति माटे' की ४ सितम्बर, १९४१ ई० की 'लाभरात्रि' की आय प्रभुलाल द्विवेदी को दी गई। इस नाटक का हीरक महोत्सव २२ फरवरी, १९४२ को मनाया गया। इस नाटक के १९४३ ई० तक २५६ प्रयोग हुए।[3] ८ नवम्बर, १९४५ को आजाद हिन्द फौज सहायता कोष के लिये 'सपत्ति माटे' पुन खेला गया।

२१ दिसम्बर, १९४२ को कविश्री प्रभुलाल द्विवेदी के वाणप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश का उत्सव मडली द्वारा मनाया गया, जिसमे वम्बई की अन्य नाट्य-मडलियो, यथा आर्यनैतिक नाटक समाज, खटाऊ अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी और वालीवाला ड्रामेटिक कम्पनी ने भाग लेकर द्विवेदी के नाटको के विविध प्रवेश (दृश्य) प्रस्तुत किये।[4] इसमें कासमभाई, अशरफ़खाँ, रतिलाल पटेल, मूलजी खुशाल, शिवलाल (कॉमिक), मुन्नीबाई, कमलाबाई, लताबाई, मा० वसंत, मा० गोरधन, छगन 'रोमियो', चीमनलाल मारवाडी, बालनट मोहन आदि ने भूमिकाएँ की थी। इसी प्रकार १४ मार्च, १९४४ ई० को रसकवि रघुनाथ ब्रह्मभट्ट के वाणप्रस्थ आश्रम में प्रवेश का उत्सव भी बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। इस अवसर पर देशी नाटक के अतिरिक्त लक्ष्मीकांत तथा अवेतन रगभूमि के कलाकारों ने ब्रह्मभट्ट के नाटको के कुछ दृश्य प्रस्तुत किये। इस अवसर पर ब्रह्मभट्ट को १५,०००) रु० की थैली भेंट की गई।[5]

सन् १९४३ में रघुनाथ ब्रह्मभट्ट और प्रफुल्ल देसाई के सह-लेखन का 'संसारना रग' और द्विवेदी-'संतानोना वाके' मचस्थ हुए। २४ सितम्बर, १९४४ को 'संतानोना वाके' का हीरक महोत्सव मनाया गया। इस अवसर पर कर्मचारियों को बोनस के रूप मे ५००१) रु०, द्विवेदी और कस्तूर बा स्मारक कोष मे से प्रत्येक को ५०१) रु० तथा स्व० हरगोविन्ददास जेठाभाई शाह की स्मृति मे स्वर्णपदक देने के लिये १५००) रु० देने की घोषणा मंडली की ओर से की गई।[6] इस नाटक के १६० प्रयोग हुए।

इसके अनन्तर द्विवेदी-'समय साथे' (१९४५ ई०) और जीवणलाल ब्रह्मभट्ट का 'बन्धन-मुक्ति' खेला गया। ७ अप्रैल, १९४६ को 'समय साथे' का हीरक महोत्सव मनाया गया और इस अवसर पर उत्सव के अध्यक्ष सेठ प्राणलाल देवकरण नानजी ने देशी नाटक की सौ तोले चाँदी ('लगडी') और देशी नाटक ने द्विवेदी को १५०१) रु० दिये तथा कर्मचारियों के लिये लाभरात्रि' का आयोजन किया गया।[7]

सितम्बर, १९४६ ई० मे वम्बई मे साम्प्रदायिक दगे प्रारम्भ हो जाने पर देशी नाटक के कुशल निर्देशक कासमभाई मीर तथा अन्य मुसलमान कलाकार अपने घर चले गये और बडे त्रिअंकी नाटको का खेलना असंभव-सा हो गया। सन् १९३८ ई० के बाद से नाटक ४।। घण्टे के होने लगे थे। फलतः अब ऐसे नाटकों की आवश्यकता अनुभूत हुई, जो ढाई-तीन घण्टे मे समाप्त हो सकें और तदनुसार मा० कचरालाल नायक के निर्देशन मे द्विवेदी का द्विअंकी लघु नाटक 'गाडानो बेल' (१९४६ ई०) मंचस्थ हुआ। यह प्रयोग लोकप्रिय हुआ और प्रत्येक शनिवार

को दोपहर मे और रविवार को सवेरे और दोपहर मे खेला जाने लगा । इस ढाई घटे के नाटक से एक लाभ यह हुआ कि वस्तु-विन्यास में सघनता, एकाग्रता और गति आई, और गीत भी प्रसगानुकूल रखे जाने लगे ।[१२३] प्रकारान्तर से यह साम्प्रदायिक अशान्ति गुजराती रगमच के सस्कार के लिये वरदान बन गई ।

इसके अनन्तर द्विवेदी के कई द्विअकी नाटक खेले गये–'शंभुमेलो' (१९४७ ई०), 'सामेपार' (१९४७ ई०, त्रिअकी पौराणिक नाटक 'जडभरत' का द्विअकी रूप), 'सावित्री' (१९४८ ई०) और 'स्नेह-विभूति' (१९४८ ई०, सामाजिक) ।[१२४] 'सामेपार' मे भरत की भूमिका मा० वसत ने की ।

१४ दिसम्बर, १९४८ को गुजराती के वयोवृद्ध नाटककार मूलशकर मूलाणी के सम्मान मे एक समारोह किया गया और देशी नाटक तथा लक्ष्मी नाटक ने मूलाणी के नाटको के कुछ दृश्य प्रस्तुत किये और एक थैली भेंट की गई ।

सी समय के लगभग कासमभाई पुन लौट आये और निर्देशन का भार सँभाल लिया । कासमभाई सन् १९१८ ई० मे ११ वर्ष की आयु मे बाल-कलाकार के रूप मे आये थे, किन्तु अपनी अभिनय-प्रतिभा, मुकठ और संगीत-ज्ञान के बल पर सन् १९२८ मे देशी नाटक समाज के युवा-निर्देशक बन गये । तब से अब तक उनके निर्देशन मे पचास से ऊपर नाटक खेले जा चुके हैं ।[१२५] सफल उपस्थापन एव निर्देशन के लिये २८ फरवरी, १९६१ को उन्हें सगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है । सन् १९६४ ई० मे गुजरात की सगीत नाटक अकादमी ने उनकी नाट्य-सेवाओ के लिये उन्हे ताम्रपत्रीय प्रमाण पत्र-प्रदान किया ।[१२६]

कासमभाई के आ जाने के बाद सन् १९४९ मे द्विवेदी के 'गोपीनाथ', 'सैनिक', 'गर्भश्रीमत' और 'सुरेखा' नामक द्विअकी नाटक खेले गये । इसी वर्ष मार्च से रविवार को सवेरे नाटक खेलना बन्द कर दिया गया । शनिवार को दोपहर के बदले पुन रात को नाटक खेले जाने लगे ।[१२७] इसके बाद कुछ काल के लिये कासमभाई चले गये, किन्तु सन् १९५१ मे वे पुन मडली मे आ गये । इस बीच द्विवेदी के 'सोनानो सूरज' (१९५० ई०), 'वैभवनो मोह' (१९५१ ई०) और 'गुरु-दक्षिणा' (१९५१ ई०) नाटक खेले गये ।

६ नवम्बर, १९५१ को प्रभुलाल द्विवेदी की ६० वी वर्षगाँठ के अवसर पर उनका 'विद्यावारिधि' खेला गया, जिसमे देशी नाटक के कलाकारो के साथ अव्यावसायिक मच के भानुशकर व्यास, चन्द्रवदन भट्ट, प्रो० मधुकर रादेरिया और सरोज बहेन दलाल जैसे कलाकारो ने भी भाग लिया था । इस अवसर पर मराठी नाटककार मामा वरेरकर, कला-विवेचक डॉ० डी० जी० व्यास और ज्योतीन्द्र दवे ने कविश्री द्विवेदी का अभिनन्दन किया और स्नेहियो एव प्रशसको द्वारा उन्हें ३१०००) रु० की थैली भेंट की गई ।

'विद्यावारिधि' 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के प्रणेता कवि भारवि के जीवन से सम्बन्धित द्विअकी नाटक है । प्रत्येक अक मे क्रमश. ६ और ५ दृश्य हैं । आधुनिक नाट्य-पद्धति पर लिखे इस नाटक मे कोई नांदी, प्रस्तावना या भरतवाक्य नही है । इसमे कुल सात गीत और दो पद्यो का प्रयोग हुआ है । प्रारम्भ मे भारवि-पत्नी विद्यावती द्वारा सूर्य की[१२८] और अन्त मे भारवि द्वारा 'वरदायी वीणाधारिणी' सरस्वती की[१२९] अभ्यर्थना की गयी है । संवाद छोटे, सरस, भावपूर्ण और रगोपयोगी है । नाटक के कुछ दृश्यो, यथा प्रथम अक के तृतीय दृश्य और दूसरे अंक के दूसरे तथा पाँचवें दृश्यो के अन्त मे पारसी-पद्धति के 'टेबला' का वियोजन किया गया है ।

बाद मे आल इण्डिया रेडियो द्वारा आयोजित नाट्य-सप्ताह के अन्तर्गत ११ अक्टूबर, १९५८ ई० को 'विद्यावारिधि' का अमर शिंदे-कृत हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया गया ।[१३०] १२ सितम्बर, १९६० ई० को कला-विवेचक डॉ० डी० जी० व्यास की साठवी वर्ष गाँठ के उपलक्ष्य मे अव्यावसायिक मच (नवी रगभूमि) के प्रो० मधुकर रादेरिया, भानुशकर व्यास आदि के सहयोग से 'विद्यावारिधि' (गुजराती) खेला गया ।[१३१]

इसके अतिरिक्त द्विवेदी-कृत 'उघाडी आँखें' (१९५२ ई०), 'धीचरणे' (१९५२ ई०), 'स्वाश्रय' (१९५४ ई०)

'सेवाभावी' (१९५५ ई०), 'श्रवणकुमार' (१९५७ ई०), 'विजयसिद्धि' (१९५७ ई०), 'मोटा घरनी मोहिनी' (१९५९ ई०) और 'सुखना साथी' (१९६० ई०) नाटक प्रस्तुत किये गये। 'श्रवणकुमार' के सोद्देश्य नाटक होने के कारण उसे महाराष्ट्र सरकार ने करमुक्त कर दिया। इस नाटक मे तारिका और शशीकला की भूमिकाओं में क्रमश: नयी अभिनेत्री शालिनी और हास्य-अभिनेत्री सुशीला ने सुन्दर अभिनय किया। 'विजयसिद्धि' द्विवेदी के एक पूर्ववर्ती नाटक 'वीर भूषण' (१९३१ ई०) का और 'मोटा घरनी मोहिनी' उनके 'उघाडी आँखें' के ही नये रूप हैं।

द्विवेदी की भाँति प्रफुल्ल देसाई के 'सर्वोदय' (१९५२ ई०) और 'सस्कारलक्ष्मी' (१९५८ ई०) नाटक बहुत लोकप्रिय हुए। 'सर्वोदय' पहला गुजराती नाटक था, जिसे मनोरंजन कर से सर्वप्रथम मुक्ति मिली।[१११] १९६५ ई० तक इस नाटक के ५०० से ऊपर प्रयोग हो चुके है।[११२] सन् १९५६ में गुजरात की यात्रा के दौरान केवल 'सर्वोदय' नाटक ही खेला गया, जो जनाकर्षण का केन्द्र बना रहा। केवल बडौदा मे ही ९९ प्रयोग हुए। इस यात्रा के मध्य २४ अगस्त १९५६ को हास्यनट मा० छगन 'रोमियो' का निधन हो गया।

'सस्कारलक्ष्मी' की रगसज्जा अत्यन्त चित्ताकर्षक बनाई गई थी। रंगदीपन की आधुनिक पद्धति का उपयोग कर आधुनिक युग के साथ मडली ने 'मार्च' किया। कर्कशा जेठानी यशवंती और सुसस्कृत नारी भारती की भूमिकाओ में क्रमश: सुधा ठाकुर और शालिनी ने सफलता के साथ कार्य किया। इसकी लोकप्रियता और उच्च कोटि के उपस्थापन से प्रभावित होकर सरकार ने इस नाटक को भी कर से मुक्त कर दिया। २६ फरवरी, १९५९ को 'संस्कारलक्ष्मी' के १०० वें प्रयोग के अवसर पर कलाकारो और शिल्पियो को १०,०००) रु० बोनस दिया गया और लेखक को एक 'लाभ-रात्रि' की आय। बबई की नाट्य-संस्था 'रंगभूमि' ने इस नाटक की सफलता के उपलक्ष्य मे २८ फरवरी को एक समारोह किया। ४ फरवरी, १९६० को 'सस्कारलक्ष्मी' का २००वाँ प्रयोग हुआ और इस अवसर पर कलाकारों आदि को १०,००१) रु० का बोनस और प्रफुल्ल देसाई को १००१) रु० प्रदान किये गये।[११३] ५ फरवरी को देशी नाटक के कलाकार सघ की ओर से स्वामिनी उत्तमलक्ष्मी बहेन, व्यवस्थापक मणिलाल भट्ट, नाटककार देसाई और निर्देशक कासमभाई के सम्मान मे एक समारोह किया गया।[११४]

देशी नाटक ने प्रफुल्ल देसाई के कई अन्य नाटक खेले, जिनमे 'वादविवाद' (१९५३ ई०) और 'सुवर्णयुग' (१९५५ ई०) प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त 'गुजराती नाट्य' के सपादक प्रागजीभाई ज० डोसा का 'जीवनदीप' २८ सितम्बर, १९५५ को खेला गया।

गुजराती रगमच के इतिहास मे देशी नाटक समाज का योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा। यह मडली आज भी सामाजिको के जीवन को रास-रग से भर कर नाट्य-जगत की सेवा कर रही है।

लक्ष्मीकांत नाटक समाज—सन् १९३९ में लक्ष्मीकात के भूतपूर्व व्यवस्थापक चदुलाल भगवानदास मपारा ने लक्ष्मीकात नाटक समाज को पुनर्जीवित किया और कई नये-पुराने नाटक अगले कुछ वर्षो मे खेले, जिनमे प्रभुलाल द० द्विवेदी के 'अरुणोदय', 'मालवपति', 'मायाना रंग', 'पृथ्वीराज', 'शंकराचार्य', 'राजमुगट', 'सत्यप्रकाश', 'सिराजुद्दौला', 'समुद्रगुप्त', 'शालिवाहन', 'वीर कुणाल', 'युग-प्रभाव' आदि, मणिलाल 'पागल' के 'देवकुमारी', 'राजा यशवतसिंह' और रघुनाथ ब्रह्मभट्ट के साथ लेखन का 'वीरना वेर', ब्रह्मभट्ट के 'अजातशत्रु' और 'शकुन्तला', विभाकर का 'अन्जोना बधन' और मु० शाहजहाँ 'शम्स' का उर्दू-बहुल हिन्दी नाटक 'अरब का सितारा' प्रमुख हैं।

बड़ौदा के एक सम्पन्न रईस चद्रहास मणिलाल झवेरी ने सन् १९४३ में चंदुलाल मपारा से लक्ष्मीकांत नाटक समाज को खरीद लिया और 'लक्ष्मीकांत नाट्य समाज' के ध्वज के अन्तर्गत जी० ए० वेराटो के 'नवजुवान'

और 'निशानबाज' मंचस्थ किये।[११०] 'निशानबाज' के संगीत-निर्देशन द्वारा मोहन जूनियर ने संगीत की नवीन प्रणाली–सरल संगीत का श्रीगणेश किया। इसके अतिरिक्त 'अंधारी गली', 'कीर्तिकलश', 'लवकुश याने सीता-त्याग', द्विवेदी-'सज्जन कोण', 'पागल' का 'गरीब कन्या' आदि नाटक खेले गये। निर्देशन बबलदास ने किया।

सन् १९४४ में लक्ष्मीकांत का प्रबन्ध प्राणजीवनजी गांधी के हाथ में आया और सन् १९४६ तक यह पुराने नाम से ही उनके संचालकत्व में कार्य करता रहा। इस बीच द्विवेदी के 'अरुणोदय', 'पृथ्वीराज' आदि नाटकों के साथ कुछ अन्य लेखकों के नये नाटक भी खेले गये। नये नाटकों में 'पतिने वांकें', 'बहुने वांकें', 'वगर वांकें', 'विवेकानन्द' आदि उल्लेखनीय है।

इसके अनन्तर यह मंडली फरेदुन आर० ईरानी के स्वामित्व में चली गई और अन्य नाटकों के साथ सन् १९४९ में प्रफुल्ल देसाई का 'आजनी वात' नामक सामाजिक नाटक मंचस्थ किया।[१११] ईरानी ने सन् १९५१ में उसका पुनर्गठन कर 'न्यू लक्ष्मीकांत नाटक समाज' के ध्वज के नीचे 'अमे परण्या' नामक नाटक खेला।[११२] अपने नये रूप में यह संस्था दीर्घजीवी न हो सकी।

आर्य नैतिक नाटक समाज—सन् १९३८ में लक्ष्मीकांत नाटक समाज का काम अवरुद्ध हो जाने के उपरान्त अहमदाबाद में आर्य नैतिक नाटक समाज में कुछ चैतन्यता आ गई और उसने 'पागल' का 'रूढिबंधन' मंचस्थ किया। विधवा-जीवन पर आधारित इस नाटक में मा० गोरधन ने आदर्श विधवा हेमलता की भूमिका बड़ी सफलता के साथ की। उनके 'जीवनभर छाना आंसु गाले ते हिन्दुनी बाला' गीत से आबाल-वृद्ध सभी सामाजिकों की आँखें करुणा से भीग उठती थी।[११८] मोहन जूनियर ने इसका संगीत-निर्देशन किया था, जो समय-समय पर देशी नाटक में भी गीतों की धुनें बनाते रहे हैं। इसके अनन्तर 'पागल' का 'हंसाकुमारी' अभिनीत हुआ, जिससे मंडली की मझधार में पड़ी नाव को किनारा मिला।[११९] इसमें पहली बार आर्य नैतिक के मंच पर स्त्रियों ने स्त्री-भूमिकाएँ भी की और नयी अभिनेत्री मीनाक्षी (वास्तविक नाम सुशीला) और भोगीलाल की जोड़ी ने सामाजिकों को अपने गीतों और अभिनय से मुग्ध कर लिया। बाल-अभिनेत्री दुलारी ने भी कुछ गीत गाये। इस नाटक के सरस गीत रस-कवि ब्रह्मभट्ट ने लिखे थे।

सन् १९४१ में नकुभाई के दत्तक पुत्र नन्दलाल नकुभाईशाह का 'भावना बी० ए०' भारत भुवन थियेटर (अहमदाबाद) में खेला गया।[१२०] इसका हास्य विभाग (कॉमिक) बाबूभाई कल्याणजी ओझा ने और कुछ गीत र० ब्रह्मभट्ट ने लिखे थे। उनका महात्मा गांधी को लक्ष्य कर लिखा गया गीत 'एक जोगी ऊभो छे जगत चोक मां। एनी धूणी दमे छे त्रिलोक मां।।' पर मोहन जूनियर द्वारा तैयार किया गया संगीत अत्यन्त श्रुतिमधुर था। इसमें मंडली के अन्य कलाकारों और मीनाक्षी के साथ दुलारी, राधा और चंद्रिका नामक नयी अभिनेत्रियों ने अपनी भूमिकाओं का सुन्दर निर्वाह किया।[१२१]

सन् १९४२ में आर्य नैतिक ने बंबई आकर 'हंसाकुमारी' प्रदर्शित किया, किन्तु अगस्त-आन्दोलन के कारण सफलता न प्राप्त हो सकी। इसके कुछ काल बाद चीमनलाल त्रिवेदी का 'नसीबदार' बालीवाला ग्रांड थियेटर में मंचस्थ हुआ, जिसमें पूर्वोक्त नयी अभिनेत्रियों के अतिरिक्त मा० अशरफ खाँ, मा० निसार (न्यू अल्फ्रेड वाले), भीखू, मूलजी खुशाल, शनि मास्टर और हीराबाई ने प्रमुख भूमिकाएँ कीं। संगीत न्यू थियेटर्स, कलकत्ता के अमर गायक के० सी० दे ने दिया। उनके निर्देशन में गुजराती रंगमंच पर पहली बार दो बँगला तर्ज के गीत गाये गये, जिनमें से एक था–'मुरखा का अधारू घोर ? प्रभु जागे आठे प्होर।'[१२२] नाटक की वस्तु और संवाद साधारण होते हुए भी दाकरराव दादा द्वारा प्रस्तुत दृश्यावली, विशेषकर परदे पर मेरीन ड्राइव का हूबहू चित्र और फिल्म-जगत के कलाकारों–मा० निसार ('शीरी-फरहाद' चित्र) और के० सी० दे ('विद्यापति' और 'पूरण भक्त') की उपस्थिति के कारण यह बहुत सफल रहा[१२३], किन्तु राजनैतिक उथल-पुथल, भारत पर जापानी आक्रमण के भय

आदि के कारण मडली का जमा हुआ मेला उजड गया ।

स्थिति सँभलने पर १४ अगस्त, १९४३ को मंडली ने नन्दलाल का दूसरा त्रिअकी नाटक 'सवा रुपियो' अभिनीत किया ।

इसके अतिरिक्त 'पागल' का 'गरीब कन्या' आदि कई नाटक आर्य नैतिक के प्रागण मे खेले गये । सन् १९४५ या इसके बाद यह मंडली बन्द हो गई और सन् १९५३ मे देशी नाटक समाज ने आर्य नैतिक के नाटको को खेलने का अधिकार प्राप्त कर लिया, जिन्हें वहाँ प्रायः खेला जाता रहा ।[१२४]

मुंबई गुजराती नाटक मंडली—सन् १९४४ मे मुंबई गुजराती नाटक मडली का स्वामित्व सर्वश्री शान्तिलाल एण्ड कम्पनी के हाथ मे आया और इसके साथ ही मडली के पुराने नाटक खेलने का अधिकार भी उसे प्राप्त हो गया ।[१२५] पुराने नाटको के अतिरिक्त कवि 'पागल'-कृत 'लक्ष्मीना लोभे' (जनवरी, १९४५ ई०), 'नवचेतन' के सम्पादक चापशी वि० उदेशी-कृत 'आजनी दुनिया' (जून, १९४५ ई०) आदि कई नये नाटक भी खेले गये ।

सन् १९४६ मे इसे राजनगर थियेटर्स लि० ने खरीद लिया ।[१२६] नये प्रबन्ध मे कुछ पुराने नाटकों के साथ र० ब्रह्मभट्ट का 'अजातशत्रु', 'आपणु घर' और 'लाकडवायो' प्रस्तुत किये गये । इसके अनन्तर यह मंडली बन्द हो गई प्रतीत होता है ।

इन मंडलियों के अतिरिक्त आधुनिक युग मे कुछ नयी मडलियो का भी अभ्युदय हुआ, जिनमे प्रमुख हैं—लक्ष्मीप्रताप नाटक समाज, बंबई थियेटर, दि खटाऊ अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी, प्रेमलक्ष्मी नाटक समाज, नवयुग कला मन्दिर, नटमडल आदि ।

लक्ष्मीप्रताप नाटक समाज—सर्वप्रथम इसकी स्थापना ईश्वरलाल वाडीलाल शाह ने सन् १९३० मे की और र० ब्रह्मभट्ट का 'अजातशत्रु' और कुछ अन्य नाटक खेले । सन् १९३९ मे लक्ष्मीकान्त नाटक समाज के साथ ही चन्दुलाल भगवानदास मपारा ने बडौदा के लक्ष्मीप्रताप थियेटर मे उक्त मडली पुनः प्रारम्भ की और 'ईश्वरी न्याय' तथा 'प्रेम के मोह' नामक नाटक खेले, किन्तु वह नडियाद के लक्ष्मी सिनेमा में जाकर बन्द हो गई ।[१२७] इस मंडली के निर्देशक थे मा० त्रिकम ।

बंबई थियेटर—इसी समय के लगभग प्रफुल्ल देसाई का नाटक 'प्रखर वेर' बंबई थियेटर मे खेला गया । इस नाटक को रतनशा सीनोर के निर्देशन मे अच्छी सफलता मिली ।[१२८]

दि खटाऊ अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी—हिन्दी नाटक खेलने वाली इस कम्पनी को दोरावशाह घनजीशाह खरास और फरेदुनजी आर० ईरानी ने सन् १९४४ में खरीद लिया और दो-एक हिन्दी नाटक खेलने के बाद बालीवाला ग्रान्ड थियेटर (बंबई) मे गुजराती नाटक खेलने प्रारम्भ कर दिये ।[१२९] इसका पहला नाटक था—मणिलाल पागल' और जीवणलाल ब्रह्मभट्ट के सह-लेखन का 'दिलना दान' और उसके बाद 'पागल' के 'हैयानां हेत' और 'एकज आशा' (१९ अगस्त, १९४४) खेले गये ।[१३०] इन नाटको मे प्रसिद्ध अभिनेत्री मुन्नीबाई और राणी प्रेमलना ने सफल भूमिकाएँ की थी । राणी प्रेमलता के अभिनय में जादू का-सा प्रभाव था । इसके बाद प्रफुल्ल देसाई के 'नन्दनवन' और 'अनोखी पूजा' नाटक अभिनीत हुए ।

इन नाटको का निर्देशन हिन्दी रंगमंच के प्रसिद्ध अभिनेता एव निर्देशक सोराबजी केरेवाला और गुलाम साबिर ने किया ।[१३१]

सन् १९४७ में यह मंडली एम० देवीदास के पास चली गई और पुन प्रायः सभी पुराने नाटक मंचस्थ हुए ।

प्रेमलक्ष्मी नाटक समाज—अर्जित कीर्ति के बल पर 'कलाधरित्री'[१३२] राणी प्रेमलता ने प्रेमलक्ष्मी नाटक समाज की स्थापना की और २९ मई, १९५२ को भांगवाडी प्रिन्सेस थियेटर (बम्बई) मे प्रफुल्ल देसाई का

सामाजिक नाटक 'अबोल हैया' प्रस्तुत किया। इस द्विअंकी नाटक में नारी-हृदय के मूक बलिदान की कथा कही गई है। निर्देशक थे बबलदास और संगीत दिया रेवाशंकर मारवाडी ने।[१११]

नवयुग कला मंदिर–इस संस्था की स्थापना 'भाटिया युवक' (मासिक) के साहित्य विभाग के संपादक तेरसिंह उदेशी और उनके मित्रों ने की। इसका पहला उपस्थापन था–तेरसिंह का 'मृगजल', जिसमें एक पत्नी के रहते दूसरे विवाह की कामना रखने वाले युवकों पर चोट की गई है। नाटक त्रिअंकी है। इसमें कुल १६ गीत हैं।[११२]

इसके अनन्तर 'शाहजहाँ' और 'तमाचो' मंचस्थ हुए।

नटमंडल, अहमदाबाद–गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी की शताब्दी के अवसर पर जयशंकर 'सुन्दरी' के निर्देशन में अभिनीत रमणभाई महीपतराय नीलकंठ के 'राईनो पर्वत' के उपरान्त सन् १९५० के आस-पास नाट्य विद्या मन्दिर की स्थापना हुई, जिसके अध्यक्ष रसिकभाई चुने गये। इसका उद्देश्य था--नाट्य-शिक्षण और नाट्य-शिक्षा प्राप्त कर निकले हुए ध्येयवादी स्नातक कलाकारों को लेकर व्यावसायिक आधार पर 'नटमंडल' की स्थापना। सिद्धहस्त नट एवं नाट्य-निर्देशक जयशंकर 'सुन्दरी' नाट्य विद्या मंदिर के शिक्षक एवं निर्देशक नियुक्त हुए।[११३] 'सुन्दरी' को सन् १९५६ में सफल नाट्य-निर्देशन के लिए संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।[११४]

सर्वप्रथम कवि बोधायन का 'भगवदज्जुकीयम्' और महाकवि भास का 'ऊरुभंग' नाटक खेले गये। प्रथम था शृंगार-हास्य रस से परिपूर्ण और दूसरा करुण रस-प्रधान। 'ऊरुभंग' में दुर्योधन की भूमिका शिवकुमार जोशी ने बड़ी सफलता के साथ की। नाटक के अन्त में युद्धक्षेत्र में जाँघ टूटने से मरणासन्न दुर्योधन के लिये रानी, पिता तथा राजकुटुम्ब के करुण विलाप का जो चित्र (कम्पोजीशन) जयशंकर ने अपनी सूक्ष्मानुभूति एवं कल्पना से खड़ा किया, वह न केवल विशेष सुन्दर एवं अवसरानुकूल गंभीर था, वरन् गतिशील भी था, जीवंत भी।[११५] जयशंकर ने इन संस्कृत नाटकों के अनुरूप पाठ, संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार मुद्राभिनय, आहार्य अभिनय अर्थात् वस्त्रों के स्वरूप एवं रंग, अंगरचना, पुष्पमाला एवं शस्त्र-प्रयोग आदि पर विशेष रूप से दृष्टि रख कर उनके उपस्थापन में प्राचीन किन्तु यथार्थ वातावरण का निर्माण कर चार चाँद लगा दिये। इनके लगभग दस प्रयोग हुए।

इसके अनन्तर 'सागरघेली' (इब्सन-'ए डॉल्स हाउस' का यशवंतभाई शुक्ल द्वारा अनुवाद) और 'साहब आवे छे' (गोगोल के 'दि इंस्पेक्टर जनरल' का धनंजय ठाकुर-कृत अनुवाद) प्रस्तुत किये, किन्तु वे निष्फल गये। इसके बाद नटमंडल ने जयशंकर 'सुन्दरी' के निर्देशन में कई नये-पुराने नाटक अभिनीत किये, जिनमें प्रमुख हैं--मूलशंकर मूलाणी-कृत 'जुगल-जुगारी', शरद्–'विराज वहु' (१९५२ ई०, शिवकुमार जोशी-कृत अनुवाद) और 'विजया', रसिकलाल पारिख-कृत 'मेना गुर्जरी' (१९५४ ई०), भारती साराभाई-कृत 'घरलखोटी' आदि। इन नाटकों में प्रसिद्ध अभिनेत्री दीना गाँधी ने मुख्य भूमिकाएँ कीं। एक कला-समीक्षक के अनुसार दीना के प्रचंड व्यक्तित्व का 'विराज वहु' में विकास हुआ, 'मेना-गुर्जरी' में मेना के रूप में प्रभावशाली बना और 'विजया' में नायिका विजया की भूमिका में खिल उठा।[११६] इनमें 'मेना गुर्जरी' और 'विजया' बहुत लोकप्रिय हुए। 'मेना गुर्जरी' के डेढ़ सौ प्रयोग हो चुके हैं।[११७] इसे सन् १९५४ की संगीत नाटक अकादमी की प्रथम नाट्य-प्रतियोगिता में दूसरा पुरस्कार प्राप्त हुआ था।[११८]

नटमंडल का संगठन व्यावसायिक एवं सहकारी आधार पर किया गया है, जो अपने ढंग का भारत में प्रथम प्रयोग है।[११९] लिटिल थियेटर ग्रुप द्वारा मिनर्वा थियेटर, कलकत्ता का संचालन (१९५९ ई० से) सहकारिता के क्षेत्र में इसके बाद का प्रयोग है।

अव्यावसायिक रंगमंच (बिनधंधादारी रंगभूमि)–आधुनिक युग में मेहता-मुंशी द्वारा प्रारम्भ किये गये

नवनाट्य आन्दोलन का न केवल मार्ग प्रशस्त हुआ, वरन् उसका चतुर्मुखी विस्तार भी हुआ । इस आन्दोलन के दो स्वरूप थे—एक पक्ष तो पुराने रंगमच की जड ही खोद डालना चाहता था, किन्तु दूसरा पक्ष नरमदलीय था, जो नये-पुराने की परवाह किये बिना अव्यावसायिक रगमच पर नये-नये प्रयोग करके ही आत्मतोष प्राप्त करता रहा है । इस पक्ष के प्रयोगों मे इस बात की चेष्टा रही है कि नये आयाम, नये परिवेश में भी भारतीयता की, नाटक की आत्मा की प्राणप्रतिष्ठा होती रहे, आवेश और उग्रता के बीच आन्दोलन अपने मूल लक्ष्य से दूर न चला जाय । आधुनिक युग मे दूसरे पक्ष की नाट्य-सस्थाओ की ही प्रधानता रही, क्योंकि यह पक्ष गुजराती जीवन, आचार-विचार और सस्कृति के अनुरूप पड़ता है ।

इस नवनाट्य आन्दोलन के तीन प्रमुख केन्द्र थे—बबई, बडौदा और अहमदाबाद । इन केन्द्रो की प्रमुख नाट्य-सस्थाओ के सक्षिप्त परिचय और कार्यकलाप से इस आन्दोलन की रूपरेखा का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । बबई न केवल महाराष्ट्र मे, सम्पूर्ण गुजरात मे भी गुजराती रगभूमि के क्षेत्र मे अग्रणी रहा है ।

साहित्य संसद् कला केन्द्र, बबई—साहित्य ससद् (स्थापित १९२२ ई०) के कला केन्द्र ने क० मा० मुन्शी-कृत 'स्नेह-संभ्रम' (१९३९ ई०) के कुछ वर्ष बाद मुन्शी-कृत उपन्यास 'जय सोमनाथ' पर आधारित नृत्य-नाट्य (२८ जनवरी, १९४५) तथा मुन्शी-कृत 'छीए ते ज ठीक' (१९४६ ई०), धनसुखलाल मेहता और अविनाश व्यास के सह-लेखन का 'अर्वाचीना' (१९४६ ई०), चद्रवदन मेहता-कृत 'पाजरापोल' (१९४७ ई०), भ० ही० भूखणवाला-कृत 'रजनु गज' आदि नाटक प्रस्तुत किये ।

'छीए ते ज ठीक' एक प्रहसन (फार्स) है, जिसकी कथा का आधार है—जितेन्द्र और उर्वशी का परस्पर आत्म-परिवर्तन और विवाह, जिसके कारण दोनों मे विचार-साम्य और परिवर्तित आत्मा के अनुरूप कार्य-क्षमता न होने से बड़ी अड़चनें उत्पन्न होती हैं और दोनो फिर शिवभक्त साधु की कृपा से अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर कह उठते हैं—'जो हुआ वही ठीक है' । नायक और नायिका के रूप मे चन्द्रवदन भट्ट और मजरी पंड्या ने सफल भूमिकाएँ की । यह जितेन्द्र के दीवानखाने के एक दृश्यबंध (सन्निवेश) पर बबई के सुन्दरबाई हाल में खेला गया था ।[१८]

'अर्वाचीना' एक ही दृश्यबंध (कॉमरेड स्कूल का रिहर्सल हाल) पर खेला गया त्रिअंकी नाटक है । इसमें रगभूमि-प्रेमियो की मनोरजक रगलीला का वर्णन किया गया है और अन्त मे नृत्य-गीत की भरमार है । नाटक में डालर झवेरी और मेना की भूमिकाएँ क्रमश: नन्दकुमार पाठक और वनलता मेहता ने की थी ।[१९]

'पाजरापोल' मे उत्तराधिकार मे सपत्ति प्राप्त करने वाली ज्योति और बाल-विधवा अग्रजा छाया के प्रेम और विविध विवाह-प्रसगो के बीच विवाह-पद्धति पर चोट की गई है । इस प्रकार के विवाह-प्रसंगो मे ऐसा कोई अनिवार्य कार्य-कारण सम्बन्ध नही दिखाई पड़ता, जिसके कारण नाटक मे समस्या का कोई तर्कसंगत समाधान मिल सके । यह भी एक दृश्यबंध पर अभिनीत हुआ ।

'रजनु गज' जे० बी० प्रीस्टले के 'दि डैन्जरस कार्नर' का अनुवाद है । यह समयौन-सम्बन्ध पर आधारित है, जो भारतीय परम्पराओ के अनुकूल नही है ।[२०]

ससद् ने सितम्बर, १९५० मे जन्माष्टमी के अवसर पर कुछ एकाकी भी खेले ।

इंडियन नेशनल थियेटर, बबई—इंडियन नेशनल थियेटर ने हिन्दी, मराठी और कन्नड के नाटको के साथ गुजराती नाटक, नृत्य-नाट्य, मूक-नाट्य आदि के अतिरिक्त गरबा एवं रास प्रतियोगिताओं आदि के आयोजन भी किये हैं । थियेटर ने नाट्य-कला के सभी क्षेत्रों मे अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार किया है । थियेटर का अपना एक व्यवस्थित कार्यालय, स्टूडियो एवं 'वर्कशाप' भी है, जहाँ उसके विभिन्नभाषी नाटकों, नृत्य-नाट्यो आदि के

पूर्वाभ्यास, नाटकोपयुक्त दृश्यबन्धों एवं मंचोपकरणों के निर्माण, परिधानों की सिलाई आदि का पूरा प्रबन्ध है। यहाँ से अन्य अवैतन संस्थाओं को नाममात्र के किराये पर न केवल दृश्यबन्ध, मंचोपकरण, वस्त्राभरण, आलोकयंत्र आदि दिये जाते हैं, अपितु विविध प्रकार के नाट्य-प्रयोगों के लिये तद्विषयक आवश्यक प्राविधिक मार्ग-दर्शन भी दिया जाता है, जिससे नवनाट्य आन्दोलन को बड़ा संबल प्राप्त हुआ है।

थियेटर के पास लोकरंजन के लिए अपना एक सचल रंगमंच भी है, जिस पर 'भारत की कहानी' तथा '१९५१ तक' नामक दो सोद्देश्य नृत्यनाट्य (बैले) सन् १९४७ और १९४९ में स्वतन्त्रता दिवस पर नगर के अनेक भागों में घूम-फिर कर प्रस्तुत किये गये। प्रथम का कथानक स्वातन्त्र्य-युद्ध से और दूसरा खाद्य-सम्बन्धी आत्म-निर्भरता के लिए सरकारी योजनाओं से सबद्ध था। ये कार्यक्रम बहुत पसन्द किये गये।[१४३]

थियेटर का अपना एक बाल अनुभाग भी है, जिसका उद्घाटन तत्कालीन प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया था। इस अनुभाग का मुख्य उपस्थापन है—मूकनाट्य 'बावलो', जो एक परी-कथा पर आधारित है।[१४४]

यह संस्था थियेटर सेंटर (भारत) से और उसके माध्यम से यूनेस्को के अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच संस्थान, पेरिस से सबद्ध है। इस संस्थान की कार्यकारिणी में भारत को एक स्थान प्राप्त है। इसमें भारत का प्रतिनिधित्व इस संस्था के सदस्य द्वारा किया जाता है। संस्था को महाराष्ट्र सरकार और केन्द्रीय सरकार से मान्यता प्राप्त है और समय-समय पर उनसे अनुदान भी मिलता है। सरकार के आमंत्रण पर थियेटर ने अनेक विदेशी प्रतिनिधि-मण्डलों एवं अखिल-एशियाई सम्मेलनों के समक्ष अपने नाट्य-प्रदर्शन किये हैं।[१४५]

इण्डियन नेशनल थियेटर ने अपने नाटकों के साथ रंगमंच के अनेक नवीन प्रयोग किये हैं। 'बारसदार' में द्विखंडीय मंच के साथ मद्रकिया दृश्यबंधों का उपयोग किया गया था। इन दृश्यबंधों के त्रिभुजीय आकार को पूर्णता देने के लिये चतुर्थ भुजा का भी प्रदर्शन किया गया था।[१४६] सन् १८५७ की क्रान्ति पर आधारित 'भरेलो अग्नि' में बहुवरातलीय मंच का उपयोग कर भारत की अनेक राज्यों की घटनाओं को एक साथ ही प्रदर्शित किया गया था और भारत के मानचित्र की रेखाओं को भी आलोक द्वारा उभार कर दिखलाया गया था।[१४७] 'भरेलो अग्नि' उपन्यासकार रमणलाल देसाई के इसी नाम के उपन्यास का नाट्य-रूपांतर है।

चन्द्रवदन मेहता के सामाजिक त्रिअंकी 'सोना वाटकडी' में वृत्तस्थ मंच (एरेना स्टेज) पर प्रभाववादी एवं प्रतीक मंचोपकरणों का उपयोग किया गया था।[१४८] इस नाटक में व्यावसायिक रंगभूमि के पतन के कारणों—मालिकों की सट्टेबाजी और विषयलोलुपता पर प्रकाश डाला गया है।

'लग्नोत्सव' में त्रिखंडीय मंच पर दो विवाह—नगर और ग्राम में—एक साथ सम्पन्न कर उसके रंग-राग को मुखर किया गया था।[१४९] इसके विपरीत 'गुनेगार' और 'मस्तराम' में पलट कर लगाने योग्य दृश्यबंध (रिवर्सीबुल सेट्स) लगाये गये थे। जयति पटेल-कृत 'मस्तराम' में रंगदीपन के कौशल द्वारा मानव-मन के विकारों के उद्घाटन की चेष्टा भी की गई थी।[१५०] 'मस्तराम' की कथा पद्मावेन के भाई परमसुख पारिख के काल्पनिक अदृश्य मित्र मस्तराम को लेकर उत्पन्न गड़बड़घोटाले पर आधारित है। इन नाटकों के अतिरिक्त अत्रे-'लग्नाची बेडी' का गुजराती अनुवाद 'लग्ननी बेडी', धनसुखलाल मेहता के 'स्नेहना झेर' (१९५० ई०, आल्डस हक्सले-कृत 'ज्योकोण्डाज स्माइल' का अनुवाद) और 'रंगीलो राजा' (१९५४ ई०, अनीता लूस के 'दि होल टाउन इज टाकिंग' का अनुवाद), प्रागजी डोसा का 'घरनो दीवो' (जून, १९५३), फिरोज आँटिया-कृत 'वालो झेर पाइए' (अक्टूबर, १९५३, जोसेफ केसरलिंग के 'आरसेनिक एण्ड एण्डलेस' का अनुवाद), चन्द्रवदन मेहता का 'माझम रात' (१९५५ ई०), जयति पटेल का 'नेता-अभिनेता' (६ नवम्बर, ५८) और फिरोज आँटिया का 'वाहरे बहराम' (९ नवम्बर, ५८) आदि नाटक खेले गये। इसके अतिरिक्त थियेटर ने आँटिया के कुछ एकांकी नाटक भी प्रस्तुत किये।

इनमे 'रँगीलो राजा' सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ। इसके सौ से ऊपर प्रयोग किये जा चुके हैं।[१५१] इसमें ब्रजलाल पारेख, वनलता मेहता, मधुकर रादेरिया और चारुबाला ने क्रमश. नथ्यु, हसमुखबहेन (नायिका), हीरालाल (नायक) और फाल्गुनी की सफल भूमिकाएँ की। निर्देशन किया था फिरोज आँटिया ने इसी नाटक से कलाकारों और निर्देशको को वेतन देना प्रारम्भ हुआ था।[१५२] 'माझम रात' को दिल्ली मे सगीत नाटक अकादमी की प्रथम नाट्य प्रतियोगिता (१९५४, ई०) मे सफलता के साथ प्रस्तुत किया जा चुका है।

थियेटर समय-समय पर नाट्य-सप्ताह भी आयोजित करता है। अक्टूबर, १९५५ मे मनाये गये नाट्य-सप्ताह मे 'रँगीलो राजा', 'वारसदार', 'भले पधार्या', 'माझम रात', 'चालो झेर पाइए' आदि सात नाटक खेले गये थे।[१५३]

इन नाटको के अतिरिक्त थियेटर की सबसे बडी उपलब्धि है—उसके नृत्य-नाट्य (बैले)। थियेटर की बैले यूनिट के प्रमुख नृत्य-नाट्य हैं—'भारत-दर्शन' (डिस्कवरी आफ इण्डिया, १९४६ ई०) और 'देख तेरी बंबई' (अप्रैल, १९५८), जो भारत और विदेशो मे विदेशी सामाजिको के समक्ष दिखाये जा चुके है। उसके अन्य नृत्य-नाट्य हैं—'रिच्च आफ कल्चर', 'मीराबाई' (१९४५), 'आम्रपाली' (१९४६ ई०), 'नरसिंह मेहता', 'दुष्काल', 'युग-दर्शन', 'उषा', 'राजनर्तकी', 'सर्वोदय', 'कृष्णलीला' आदि।

'भारत-दर्शन' प० नेहरू की डिस्कवरी आफ इंडिया' नाम की पुस्तक पर आधारित है और 'देख तेरी बबई' में बबई के जीवन पर गतिशील कालपुरुष के कठोर नियत्रण के बावजूद उसके हर्षोल्लास और सौन्दर्य, विराट् जल-वृष्टि के आनद, सगीत एव प्रणय-विलास तथा विक्टोरिया टर्मिनस और मैरिन ड्राइव के रग-वैचित्र्य और नित्योत्सव का रगीन चित्रण किया गया है। इन दोनों नृत्य-नाट्यो का नृत्य-निर्देशन पार्वतीकुमार ने और सगीत-निर्देशन विष्णुदास शिराली और बालाभाऊ यरकुंटवार ने किया। प्रथम नृत्य-नाट्य के दृश्यबध ए० एस० पुरोहित ने और दूसरे के गौतम जोशी और ए० एस० पुरोहित ने तैयार किये। प्रथम की नर्तकियाँ हैं—सुमित्रा मजूमदार, सुचेता भिडे, राजी सेठी, उमा स्वामी आदि और दूसरे की कलाकार हैं—पेगी स्मिथ, शीला राव, लीला भसाली, विनोदिनी शेटी, देवयानी मदकाइकर आदि।[१५४]

'मीराबाई', 'आम्रपाली', 'नरसिंह मेहता,' 'दुष्काल', 'युग-दर्शन' आदि मे नृत्य के साथ गुजराती गीतों का भी उपयोग किया गया है। 'उषा' में हिन्दी गीत रखे गये हैं, किन्तु 'भारत दर्शन', 'देख तेरी बबई', 'कृष्णलीला' आदि में केवल नृत्य एव मुद्राभिनय ही प्रदर्शित किया गया है, कोई गीत या संवाद उनमे नही आये हैं।[१५५] 'उषा' मे शुद्ध मणिपुरी नृत्य का आश्रय लिया गया है।

थियेटर एक अर्ध-व्यावसायिक सस्था है, जिसका उद्देश्य लाभार्जन नही है।[१५६] इसका लक्ष्य एक ऐसे सास्कृतिक केन्द्र की स्थापना है, जिसमे एक सुसज्जित रगशाला की व्यवस्था हो।[१५७]

भारतीय कला केन्द्र, बंबई—भारतीय कला केन्द्र भारतीय विद्याभवन, बबई से सबद्ध ललितकला एवं नाट्यकला की अकादमी है, जो हिन्दी, अंग्रेजी और मराठी नाटको के अतिरिक्त गुजराती के नाटक और नृत्यनाट्य भी प्रस्तुत करता है। प्रारम्भ मे गुजराती नाटक वित्तीय दृष्टि से असफल रहे, फलत. कुछ नृत्यनाट्य प्रस्तुत किये गये, जो बहुत सफल हुए।[१५८] 'ताना-रेरी', 'जय सोमनाथ', 'राजदुलारी', 'रामशबरी' (१९५६ ई०) और 'गीत-गोविन्द' कलाकेन्द्र के प्रमुख नृत्य-नाट्य हैं। इनमे अन्तिम दो बहुत लोकप्रिय हुए।

कलाकेन्द्र द्वारा प्रस्तुत प्रमुख गुजराती नाटक हैं—प्रागजी ज० डोसा का 'सहकारना दीवा', 'बे घड़ी मौज', प्रफुल्ल ठाकुर का 'भाड़ुती पति' (लॅरी ई जान्सन-कृत 'हर स्टेप मदर' के ना० घो० ताम्हनकर के मराठी रूपान्तर 'उसना नवरा' का गुजराती अनुवाद), गोगोल-'अमलदार' (१९५५ ई०), 'मोटा दिलना मोटा बावा' (१९५७ ई०), 'छूपो रुस्तम' (१९५८ ई०), शिरीष मेहता-कृत 'महात्मा' (१९५८ ई०, एक मराठी-नाटक का अनुवाद),

श्रीमती चद्रिका शाह द्वारा रूपातरित 'कावतरू' (मई, १९६० ई०) और मधुकर रादेरिया द्वारा रूपातरित 'एक सोनेरी सवारे' (१९६१ ई०, मूल लेखक सिगमड मिलर)। 'कावतरू' गुजरात की नव-स्थापना के अवसर पर बडौदा मे हुए नाट्य-महोत्सव मे खेला गया था। इसकी कथा एक फिल्म-तारिका रूपा के प्रेम, उत्तराधिकार और हत्या पर आधारित है।

इनमे 'भाडुती पति' बहुत लोकप्रिय हुआ, जिसके सौ से ऊपर प्रयोग हो चुके है।

कलाकेन्द्र द्वारा सन् १९५१ से सचालित अन्तर-महाविद्यालय नाट्य-प्रतियोगिता मे गुजराती एकाकी प्रत्येक वर्ष खेले जाते हैं। सन् १९५१ मे केवल पाँच एकाकी ही गुजराती मे खेले गये, जबकि सन १९६० मे २१ एकाकी अभिनीत हुए।[११] कुछ नये प्रयोगवादी एकाकी भी इस प्रतियोगिता मे प्रस्तुत किये गये, जिनमे प्रमुख हैं—'भूतखानु,' 'भग्न मदिर', 'राजाने गमे ते राणी' आदि। इनमे दृश्यबध, रगदीपन, ध्वनि-सकेत, अभिनय और निर्देशन के नये प्रयोग किये गये। प्रयोगवादी रगमच के दृष्टिकोण से कलाकेन्द्र अत्यत महत्त्वपूर्ण है। प्रवीण जोशी और भारत दवे जैसे उपस्थापक और निर्देशक, किशोर भट्ट और उपेन्द्र त्रिवेदी जैसे कलाकार गुजराती रगमच को कलाकेन्द्र की ही देन हैं।[१२]

कलाकेन्द्र के पास अपनी वातानुकूलित रगशाला भी है, जिसमे दृश्यसज्जा, आलोक, ध्वनि-विस्तार आदि की सभी आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध है।

लोकनाट्य सघ, बबई और अहमदाबाद—बबई के लोकनाट्य सघ ने कुछ गुजराती नाटक भी खेले, जिनमे चन्द्रवदन मेहता के 'नर्मद', 'आगगाडी' और 'आणलदे' (एकाकी), गुणवतराय आचार्य का ऐतिहासिक नाटक 'अल्लाबेली' (१९४६ ई०), यशवत ठाकर का 'कल्याणी' (१९४७ ई०), प्रीस्टले-'इसपेक्टर' उल्लेखनीय है।

लोकनाट्य सघ की अहमदाबाद शाखा ने भी यशवत ठाकर तथा जयशकर 'सुन्दरी' के निर्देशन मे कई नाटक प्रस्तुत किये। यशवत के निर्देशन मे 'सीता', प्राणजीवन पाठक-कृत 'ढीगलीघर' (इब्सन-'ए डॉल्स हाउस' का अनुवाद), 'अल्लाबेली', 'कल्याणी', 'नर्मद,' रवीन्द्र-'अचलायतन', शेक्सपियर-'हेमलेट' आदि नाटक मचस्थ हुए। सन् १९४८ मे यशवत लोकनाट्य सघ मे अलग हो गये।[१३] 'सुन्दरी' ने 'ढीगलीघर' के कुछ प्रयोगो के बाद अपने निर्देशन मे उसका पुनः पूर्वाभ्यास प्रारम्भ कराया और उसके बाद उसके पुन. प्रयोग प्रारम्भ हुए।[१४] इसके अतिरिक्त 'हसो' और 'नूतन हिन्द' नामक नृत्यनाटिका (सन् १९४६ मे), प्रीस्टले-'इसपेक्टर साहेब,' 'सत्यमेव जयते' (१९५२ ई०) आदि प्रस्तुत किये गये।

रगभूमि, बबई—रगभूमि की स्थापना बबई मे सन् १९४९ मे हुई थी। नट एव निर्देशक प्रताप ओझा इस सस्था के प्राण हैं। रगभूमि लगभग २५ पूर्णांग (लाबा) नाटक और ५० एकाकी मचस्थ कर चुकी है। पूर्णांग नाटको मे प्रमुख हैं—धनसुखलाल मेहता और गुलाबदास ब्रोकर के सह-लेखन का 'धूम्रसेर', गुणवतराय आचार्य के 'अल्लाबेली' और 'आपघात' (१९५२ ई०), रश्मि पचोली-कृत रूपातर '१९४२', 'दुनिया शु कहेशे', प्रफुल्ल ठाकुर का 'भाडुती पति' (दिसम्बर, १९५१), 'योगमाया' और 'राणीनो बाग' (१९६० ई०)।

नाटकाभिनय के अतिरिक्त रंगभूमि ने नाट्य-लेखन, उपस्थापन, नेपथ्य-सगठन आदि के विविध पक्षो पर विचारार्थ विचार-गोष्ठियो और व्याख्यानो के आयोजन किये हैं। दिसम्बर, १९५७ में इसकी ओर से विभिन्न नाट्य-सस्थाओ के कार्यकर्ताओ, लेखको, समीक्षको तथा नाट्यानुरागियो के एक सुव्यवस्थित सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था, जिसका नाम था—'नाट्य-मिलन'।[१५]

गुजराती नाट्य मडल, बबई—नवबर, १९५२ मे भारतीय विद्या भवन में आयोजित गुजराती नाट्यशताब्दी महोत्सव के उपरात गुजराती नाट्यमडल की स्थापना (१९५३ ई०) हुई। इसके सरक्षक क० मा० मुंशी, अध्यक्ष प्राणलाल देवकरण नानजी और मत्री नवीनचन्द्र खांडवाला चुने गये। विभिन्न गुजराती नाट्य-सस्थाएँ इससे सबद्ध हैं। यह मडल प्रत्येक वर्ष नाट्य-महोत्सव आयोजित करता है, जिसमे बबई और गुजरात की प्रमुख नाट्य-

संस्थाएँ भाग लेती है ।

सन् १९५६ मे प्राणलाल का निधन हो जाने पर उनकी स्मृति मे एक रजत-'ट्राफी'—श्री प्राणलाल देवकरण नानजी विजय-पद्म' रखी गई, जो नाट्य-महोत्सव मे प्रथम आने वाली नाट्य-संस्था को दी जाती है।[११] प्रथम बार यह विजयपद्म देशी नाटक समाज को 'सामे पार' पर मिला। इसके अतिरिक्त नाट्य-लेखन प्रतियोगिता, व्याख्यान-माला आदि के आयोजन भी किये जाते हैं। मौलिक नाटकों पर ५००)रु०, ४००)रु० और ३००) रु० के तीन पुरस्कार दिये जाते हैं।[१६] इस प्रतियोगिता मे अब तक चन्द्रवदन मेहता, शिवकुमार जोशी, वचुभाई शुक्ल, धनसुखलाल मेहता, प्रागजी डोसा, मधुकर रादेरिया आदि कई नाटककार पुरस्कृत हो चुके हैं।

मंडल ने कुछ पुराने नाटक भी प्रकाशित किये, यथा मूलशंकर हरिनंद मूलाणी के 'जुगलजुगारी', 'अजब-कुमारी' और 'प्रेम-मूर्ति राधा', प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी का 'सामे पार' आदि।[१८]

मंडल ने गुजराती रंगभूमि का शृंखलाबद्ध इतिहास तैयार करने के लिये एक समिति की स्थापना धन-सुखलाल मेहता की अध्यक्षता मे की, जो इस दिशा मे सन् १९५४ से कार्य कर रही है।[११] बाद मे इस समिति की अध्यक्षता डॉ० डी० जी० व्यास ने की।[१०]

मंडल ने अप्रैल-मई, १९५३ से 'गुजराती नाट्य' नामक एक नाट्य-विषयक मासिक पत्रिका प्रो० मधुकर रादेरिया के सम्पादकत्व मे निकाली, जो सन् १९६१ ई० मे त्रैमासिक हो गई। सन् १९६३ से निरन्तर हानि होने के कारण पत्रिका का प्रकाशन बन्द कर दिया गया।[११]

मंडल एक रजिस्टर्ड संस्था है और केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी से इसे मान्यता प्राप्त है। बंबई सरकार ने भी इसे सन् १९५३ मे अनुदान देकर प्रोत्साहन दिया।

मंडल ने ७ से १० फरवरी, १९५८ तक प्रथम गुजराती नाट्य सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमे बंबई और गुजरात की अनेक नाट्य-संस्थाओ के प्रतिनिधियो ने एकत्र होकर गुजराती नाट्य-प्रवृत्ति के विकास में बाधक प्रश्न, भावी दिशा के सूचन और नाट्य-संस्थाओ के परस्पर सहयोग के प्रश्नो पर विचार-विमर्श किया।

मंडल का एक अपना पुस्तकालय है, जिसमें विविध भाषाओ के नाट्य-ग्रंथो के अतिरिक्त लगभग १००० दुष्प्राप्य ऑपेरा पुस्तकें भी हैं।

मंडल ने प्रागजी डोसा-कृत 'समयना वहेण' (१९५५ ई०) आदि कुछ नाटक भी प्रस्तुत किये।

अन्य संस्थाएँ एवं व्यक्ति—इसके अतिरिक्त बंबई में अन्य अनेक नाट्य-संस्थाएँ नाटक और नृत्यनाट्य मंचस्थ करती रहती हैं, जिनमे रसरंग, पराप्रवासी, नाट्य-भारती, थियेटर ग्रुप, अभिनय कला समाज, रंगमंच, कलाभवन, अरुणा कला केन्द्र, रंग फोरम आदि प्रमुख हैं। कुछ स्वतन्त्र नाट्य-निर्देशक एवं नाटककार भी समय-समय पर अपने नाटक प्रस्तुत करते रहते है, जिनमे अदी मर्जबान और फिरोज आंटिया के नाम सर्वोपरि हैं।

अदी मर्जबान ने पाँच-छः घंटो के नाटको की जगह ढाई-तीन घंटे के नाटक लिखे और उपस्थापित किये। उनके गुजराती नाटको मे एक भी गीत नही रहता। उनकी भाषा भी कृत्रिम और साहित्यिक न होकर लोक-व्यवहार की भाषा होती है। इसके अतिरिक्त गुजराती रंगमंच पर सफलता के साथ एक दृश्यबंध के नाटक लाने का श्रेय भी अदी को है।[२२] मंच पर उपयुक्त दृश्यबंध और दीपन-योजना के समन्वय एवं संतुलित प्रयोग मे अदी को विशेष हस्तलाघव प्राप्त है।[२३]

अदी ने स्व-लिखित 'फमेला फीरोजशाह' (१९५० ई०) और 'शीरीन बाईनु शान्तिनिकेतन' (नवम्बर, १९५१ ई०) नामक पूर्णाङ्ग नाटक और प्रहसन 'पारकुं घर' (१९५१ ई०), 'अदेखो' (१९५१ ई०), 'परणीने सुखी केम थशो ?' (१९५२ ई०), 'टुंकु अने टच' (१९५२ ई०), 'हसता घेर वसता' (दिसम्बर, १९५२) आदि लघु नाटक प्रस्तुत किये।

अदी ने अन्य नाट्य-सस्थाओ के नाटको का निर्देशन भी किया है । अदी के शिष्य फिरोज़ आँटिया ने भी अदी के अनुकरण पर अनेक लघु नाटक लिखे और प्रस्तुत किये । फिरोज ने सन् १९५० मे स्वलिखित 'हरिश्चन्द्र बीजो' नामक पारसी शैली का एकाकी, 'फसेलो फरेस्तो', 'दु खीयारी दीनु', सन् १९५२ मे 'शान्ति मानसिक हास्पीटल', 'तानसेन', 'भूतमॉमानी पधरामणी' और 'पवित्र परीन' नामक एकाकी प्रस्तुत किये ।

अदी और फिरोज के अतिरिक्त बचुभाई शुक्ल ने कई नृत्य-नाट्य एव नाटक प्रस्तुत किये । उनके निर्देशन मे अभिनीत रवीन्द्र-'पत्तानो प्रदेश' (१९४५ ई०) और हरिदास-'हरिरथ चाले' (१९५४ ई०) उल्लेखनीय हैं । 'हरिरथ चाले' पर गुजराती नाट्य मडल ने प्रथम पुरस्कार दिया था ।[९४]

भगिनी समाज गरबा मडल की ओर से दीना गांधी के निर्देशन मे भारतीय विद्याभवन, बबई मे अभिनीत जीतुभाई-कृत 'शेणी-विजयानन्द' गीति-नाट्य (१९५८ ई०) एक स्मरणीय उपस्थापन रहा है । रास और गरबा की मधुर स्वर-लहरी और नृत्य के बीच सुन्दर दृश्य-सज्जा और समूह का चित्रोपम 'कम्पोजीशन' इसके विशेष आकर्षण रहे हैं । इसमे स्वय दीना ने शेणी की सफल भूमिका की थी ।[९५]

आलोच्य अवधि के अतिम कुछ वर्षों मे बबई के गुजराती रगमच ने कुछ स्थिरता प्राप्त की और इसका श्रेय उसके उन सामाजिको को है, जो 'बुकिंग आफिस' पर जाकर टिकट खरीदते और नये-नये प्रयोगो को सरक्षण प्रदान करते हैं । इससे नये कलाकारो, नये निर्देशको और उपस्थापको को नई-नई सस्थाएँ लेकर सामने आने की प्रेरणा मिली है । यह गुजराती रगमच के उज्ज्वल भविष्य की द्योतक है ।

भारतीय सगीत, नृत्य अने नाट्य महाविद्यालय नाट्य-विभाग, बडोदा—बड़ोदा के श्रीमत सयाजीराव गायकवाड ने सन् १८८६ मे भारतीय सगीत महाविद्यालय की स्थापना की थी । सन् १९४९ मे महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर उक्त महाविद्यालय उसका एक अग बन गया और इसका पुनर्गठन कर नृत्य और नाट्य-विभाग भी इसमे बढा दिए गये । ३० जून, १९५३ को इसका नाम बदल कर 'भारतीय सगीत, नृत्य अने नाट्य महाविद्यालय' रख दिया गया ।[९६]

महाविद्यालय के नाट्य-विभाग मे नाट्य-शिक्षण के चार वर्ष के डिग्री एव तीन वर्ष के डिप्लोमा पाठ्यक्रम की व्यवस्था है । छात्रो को स्वर और सवाद अर्थात् वाचिक अभिनय गति और अभिनय अर्थात् आगिक अभिनय, रगशिल्प एव दृश्य-सज्जा, रूप-सज्जा और वेशसज्जा अर्थात् आहार्य अभिनय और रग-दीपन-नियोजन एव ध्वनि-सकेत-सकलन की शिक्षा के साथ नाट्यशास्त्र एव नाट्य-साहित्य की उत्पत्ति और इतिहास, विशेषकर गुजराती रगभूमि के इतिहास, भारतीय तथा फ्रास, इटली, इग्लैण्ड, जापान, चीन आदि देशो के रगमच के विकास, पाश्चात्य नाटको की उपस्थापन-पद्धति आदि की भी शिक्षा दी जाती है ।[९७]

नाट्य-शिक्षण के लिये नाट्य-विभाग मे रग-दीपन, रूपसज्जा, माडेल-वर्क एव रग-सज्जा के कार्य के लिये सुसज्जित वर्कशाप, स्वर-साधना के लिये टेपरिकार्डर, माइक, रेडियोग्राम तथा अभिनय-साधना एव प्रयोग के लिये नटघर (नाट्यगृह) की व्यवस्था है । विभाग का अपना एक पुस्तकालय भी है, जिसमे नाट्य-विषयक गुजराती और अंग्रेजी के ग्रथ उपलब्ध हैं ।[९८]

नाट्य-विभाग की छात्र-छात्राओ द्वारा १९५२-५३ से लेकर सन् १९५९-६० तक २९ नाटक और एकाकी खेले गये । इनमे से कुछ उल्लेखनीय उपस्थापन हैं—चन्द्रवदन मेहता के 'अत्र लुप्ता सरस्वती' (एकाकी), 'जीवदया', 'आणलदे' (एकाकी), 'मुजफ्फरशाह' (एकाकी), 'होहोलिका' (भवाई पर आधारित), 'धरागुर्जरी', 'घु घटपट', 'माझम रात' (१९५७ ई०), 'रगलिका' (भवाई पर आधारित) और 'शकुन्तला', रवीन्द्र-'नदिनी' और 'डाकघर', प्राणजी डोसा का 'पेटा भाडुत' (एकाकी), श्रीमती हसाबेन मेहता-कृत रूपान्तर 'वेनीसनो वेपारी' (मू० ले० शेक्सपियर) एव 'तारत्युफ' (मू० ले० मोलियर) और मौलिक नाटक 'अपात्रे पूजा', कवि प्रेमानन्द का 'कु वर-

वाईनु मामेरु' (१९५७-५८), सुन्दरम् का रूपान्तर 'भगवदज्जुकीयम्' (मू० ले० बोधायन) और जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' (१९५९-६०)।

इन नाटकों का निर्देशन यशवत ठाकर, मार्कंड भट्ट, रमेश भट्ट आदि जैसे कुशल निर्देशकों ने किया।

भारतीय कला केन्द्र–इस नाट्य-सस्था की स्थापना सन् १९५६ मे हुई थी। भारतीय सगीत, नृत्य और नाट्य महाविद्यालय के अनेक स्नातक इसके सदस्य हैं। अल्पकाल के इस जीवन में केन्द्र ने कई पूर्णाङ्ग (सलग या लाबा) और एकाकी नाटक खेले। दुर्गेश शुक्ल का 'सुन्दरवन', चन्द्रवदन मेहता का 'मेना-पोपट', 'डहोलायेला पाणी', 'घु घट', 'अब्दुल्लानी चड्डी' और रवीन्द्र-'चिरकुमार सभा' केन्द्र द्वारा अभिनीत त्रिअंकी नाटक हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्र ने 'रास दुलारी', 'गौतम बुद्ध', और 'पचतत्र' नामक तीन नृत्य-नाटक भी सफलता के साथ प्रस्तुत किये। 'पंचतंत्र' बच्चो का नृत्य-नाट्य है, जिसमे ६५ बच्चों ने भाग लिया।[७९]

केन्द्र अन्य नगरो के अतिरिक्त गाँवो मे जाकर भी अपने नाटक खुले मच पर प्रस्तुत करता है। केन्द्र का अपना एक पुस्तकालय भी है।[८०]

मध्यस्थ नाट्य सघ–यह बडौदा की नाट्य-सस्थाओ का एक केन्द्रीय सगठन है। इससे वहाँ की ११ से अधिक सस्थाएँ सबद्ध हैं, जिनमे भारतीय कलाकेन्द्र, थियेटर यूनिट, सुभाष कला मदिर, नटराज कला मदिर आदि उल्लेखनीय है। इसका उद्देश्य सभी सस्थाओ के सहयोग से रगमच का विकास और सदस्य-सस्थाओ को मार्ग-दर्शन साधन-सामग्री, शिल्पिक ज्ञान आदि प्रदान करने की सुविधा प्रदान करना है। समय-समय पर सघ द्वारा विचार-गोष्ठियो, व्याख्यानो, नाट्य-महोत्सवो आदि के आयोजन किये जाते है।[८१]

गुजरात के नये राज्य की स्थापना के अवसर पर मध्यस्थ नाट्य सघ ने १५ से २४ मई, १९६० तक नाट्य-महोत्सव आयोजित किया, जिसमे बबई और गुजरात की अनेक नाट्य-सस्थाओ ने भाग लिया। इस अवसर पर स्वयं सघ ने भी चन्द्रवदन मेहता का 'धरा-गुर्जरी' प्रस्तुत किया।[८२]

अन्य सस्थाएँ-बड़ौदा की अन्य संस्थाओ मे गुजरात कला समाज ने रमणलाल व० देसाई के 'कामदहन' और 'ग्रामसेवा' (१९४१ ई०) तथा 'शक्ति-संभव', नवयुग कला निकेतन ने धनजय शाह का 'बदलो आ समाज' (१९४७ ई०), सुभाष कला मदिर ने कवि मौन का '१९४३' (१९४७ ई०) तथा प्रताप ब्रह्मभट्ट के 'वतन माटे' (१९४८ ई०) और 'विजय कोनो ?', रसमंडल ने मूलजी भाई शाह का 'रसमडल' (१९४९ ई०) और गोकलदास रायचुरा का 'जागती जुवानी' (१९४९ ई०), कल्पना थियेटर्स ने किशनचन्द शर्मा का 'लोकलाज' (१९५० ई०), गुजरात नाट्य मदिर ने श्रीधराणी का 'मोरना ईण्डा' (१९५० ई०) तथा नटराज थियेटर्स ने 'परण्या पछी' और विपिन झवेरी-कृत रूपान्तर 'वन्देमातरम्' अभिनीत किये।

रगमडल, अहमदाबाद–रगमडल अहमदाबाद की एक प्राचीन अवैतन नाट्य-सस्था है, जिसकी स्थापना सन् १९३७ मे मराठी के नाटककार मामा वरेरकर की प्रेरणा से हुई थी।[८३] सन् १९६० तक यह संस्था लगभग २२ पूर्णाङ्ग त्रिअंकी नाटक, नृत्य-नाट्य तथा २०० से अधिक एकाकी नाटक खेल चुकी है।[८४]

रगमडल द्वारा प्रमुख अभिनीत पूर्णाङ्ग नाटक हैं—'वसतसेना', 'लोपामुद्रा', 'गीतगोविन्द', रवीन्द्र-'अचलायतन' (१९४७ ई०), शिवकुमार जोशी-कृत रूपान्तर 'बिंदुनो कीको' (१९४९ ई०), 'अहमदाबादनु फेफसु' (१९४९ ई०), 'मोंघेरा मेहमान' (१९४९ ई०), प्रफुल्ल ठाकुर-कृत रूपान्तर 'पाणिग्रहण' (१९५२ ई०, मू० ले० आचार्य प्र० के० अत्रे), 'मलेला जीव' (१९५५ ई०, पन्नालाल पटेल के इसी नाम के उपन्यास का नाट्य-रूपातर), 'बाजीराव-मस्तानी' और प्रबोध जोशी-कृत 'पत्तानी जोड' (१९५६ ई०)।

'बिन्दुनो कीको', 'बाजीराव-मस्तानी' और 'पत्तानी जोड' रगमंडल के लोकप्रिय एवं सफल नाटक हैं। ये

सभी नाटक त्रिअंकी हैं। इनका निर्देशन जयन्ति दलाल, धनंजय ठाकुर, भगवती आदि जैसे कुशल निर्देशकों द्वारा किया गया। रंगमंडल ने 'नेपथ्य' नामक त्रैमासिक पत्रिका भी निकाली थी, जो कई वर्षों तक चलती रही।

अन्य संस्थाएँ—रंगमंडल के अतिरिक्त अहमदाबाद में कई अन्य नाट्य-संस्थाएँ समय-समय पर नाटक प्रस्तुत करती रहती हैं। श्री निकेतन एमेच्योर्स ने 'प्रकाश पंथे' (१९४१ ई०), संगीत नृत्य निकेतन ने 'हिन्दी हैं हम चालीस करोड़' (१९४६ ई०), रूपक संघ ने 'लोपामुद्रा' (१९४६ ई०), नानालाल दलपतराय कवि का 'जया-जयंत' (जनवरी, १९४७ ई०), आर्ट सर्किल ने 'एक दिवसनो अखतरो' (१९५२ ई०) आदि नाटक अभिनीत किये।

उपर्युक्त नगरों के अतिरिक्त सूरत, भरूच, नडियाद, नवसारी, रतलाम आदि नगरों में अनेक नाट्य-संस्थाएँ सक्रिय हैं, जो अपने कृतित्व से गुजराती के अव्यावसायिक रंगमंच को गतिशील ही नहीं, समृद्ध भी बना रही हैं।

गुजराती रंगमंच न केवल अभिनय और नवीन शिल्पिक प्रयोग की दृष्टि से प्रगति कर रहा है, वरन् नाट्य-शिक्षण और सैद्धान्तिक एवं व्यवहार-पक्ष पर विचार-विमर्श, नाट्य-प्रतियोगिताओं और नाट्य-महोत्सवों की दृष्टि से अग्रणी है। सन् १९५२ में गुजराती रंगभूमि के सौ वर्ष पूर्ण होने पर बंबई में २५ नवम्बर से १ दिसम्बर तक सप्ताह-व्यापी गुजराती नाट्यशताब्दी महोत्सव मनाया गया, जिसके अन्तर्गत नाट्य-सप्ताह, नाट्य-प्रदर्शिनी और व्याख्यानों का आयोजन किया गया। नाट्य-महोत्सव का उद्घाटन उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल कन्हैयालाल मुन्शी ने किया। इस अवसर पर भारतीय विद्याभवन के प्रांगण में कई नाट्य-प्रयोग किये गये। रंगभूमि ने 'अल्ला बेली', नाट्य भारती ने 'स्नेहना झेर', देशी नाटक समाज ने 'शंभुमेलो', युवक सम्मेलन ने 'घरनो दीवो' और भारतीय कला केन्द्र ने अन्तिम दिवस अविनाश व्यास का 'रावना रमकडां' नाटक प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त २७ नवम्बर को प्रभुलाल द्विवेदी के 'मालवपति मुंज' और मूलाणी के 'जुगलजुगारी' के कुछ दृश्य तथा रमावहेन गाँधी का 'मानवतानुं मृत्यु' और पन्नालाल पटेल का 'अेले नहिं तो बेले' एकांकी मंचस्थ हुए। २९ नवम्बर को इण्डियन नेशनल थियेटर द्वारा अदी मर्जबान के लघु नाटक 'लग्ननी गाँठ' तथा 'टुकुं ने टच' तथा फिरोज आँटिया का प्रहसन 'मासीने दे फाँसी' खेले गये।[१५]

नाट्य-प्रदर्शिनी में पुराने नाटकों की पाण्डुलिपियाँ, नये-पुराने नाटक, ऑपेरा-पुस्तकें, छविचित्र आदि प्रदर्शित किये गये थे।

इस अवसर पर गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रंथ प्रकाशित किया गया था, जिसमें गुजराती नाट्य-विषयक अमूल्य सामग्री संकलित है।

उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ—गुजराती रंगमंच की बहुमुखी उपलब्धियाँ, कुछ परिसीमाओं के साथ, इस प्रकार हैं :—

(१) हिन्दी और बंगला की भाँति गुजराती के व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक, दोनों रंगमंच सजग और सक्रिय बने रहे, किन्तु उत्तरोत्तर अव्यावसायिक रंगमंच का विस्तार होने रहने से व्यावसायिक क्षेत्र सिकुड़ता चला गया। विशेष समारोहों में दोनों क्षेत्रों के कलाकारों ने साथ-साथ काम किया।

(२) आधुनिक युग में कई नाट्य-संस्थाओं ने अपनी रंगशालाएँ बनाने का लक्ष्य सामने रखा, किन्तु गुजराती-क्षेत्र में केवल दो नयी रंगशालाएं बनीं। इनमें से किसी में भी परिक्रामी मंच की व्यवस्था नहीं है। प्रायः किराये पर ही रंगशालाएँ लेकर नाटक खेले गये। अच्छी रंगशालाओं का अभाव उनकी प्रगति में बाधक रहा।

(३) मराठी की भाँति गुजराती के अधिकांश पूर्णांग नाटक त्रिअंकी हैं और खेलने की अवधि चार घंटे न होकर केवल तीन-साढ़े तीन घंटे रहती है। व्यावसायिक मंच पर ढाई-तीन घंटे के नाटक सन् १९४६ से चालू हुए, किन्तु वे त्रिअंकी न रह कर द्विअंकी ही रह गये। त्रिअंकी नाटक प्रायः तीन-साढ़े तीन घंटे के ही होते हैं।

गीतों की संख्या घट कर अब सात-आठ तक रह गई है। कुछ नाटको से तो गीतों का बिल्कुल बहिष्कार कर दिया गया है।[८१] अभिनीत नाटकों मे सामाजिक नाटक सर्वाधिक हैं।

गुजराती में गद्य-नाटकों के साथ नृत्य-नाटिकाएँ बड़े पैमाने पर सफलता के साथ खेली गई, किन्तु हिन्दी या बँगला ढंग के गीति-नाट्यों का प्रायः अभाव है।

(४) गुजराती रगमच पर रंग-शिल्प और अभिनय की दृष्टि से कुछ नये प्रयोग अवश्य हुए, किन्तु ये नये प्रयोग कुछ थोड़ी-सी नाट्य-संस्थाओ तक ही सीमित बने रहे। प्रभावादी एव प्रतीक रगसज्जा के साथ द्विखण्डीय, त्रिखण्डीय, बहुधरातलीय अथवा वृत्तस्थ मच गुजराती रगमच की विशेष उपलब्धि हैं।

(५) आधुनिक युग में गुजराती रंगमच पर अनेक नये नाटककार, निर्देशक एव कलाकारो का अभ्युदय हुआ।

नाटककारों मे शिवकुमार जोशी, रसिकलाल परीख, प्रागजी डोसा, प्रफुल्ल देसाई, यशवत ठाकर, कृष्णलाल श्रीधराणी, गुणवन्तराय आचार्य, यशवत पड्या, नन्दकुमार पाठक, धनसुखलाल मेहता, गुलाबदास ब्रोकर, प्रो० मधुकर रादेरिया, प्रबोध जोशी, अदी मर्ज़बान और फिरोज आंटिया के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी, मणिलाल 'पागल', रमणलाल वसतलाल देसाई, कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी और चन्द्रवदन मेहता जैसे पुराने नाटककारों ने भी अव्यावसायिक रगमच को समृद्ध बनाने मे पूरा योगदान दिया।

कासिमभाई मीर, सोराबजी केरेवाला, बापुलाल बी० नायक, गुलाम साबिर, जयशकर 'सुन्दरी', यशवंत ठाकर, मा० त्रिक्रम, पार्वतीकुमार, बचुभाई शुक्ल, अविनाश व्यास, योगेन्द्र देसाई, प्रवीण जोशी, प्रताप ओझा, दीना गांधी, अदी मर्जबान और फिरोज आंटिया आदि आधुनिक युग के कुशल निर्देशक हैं।

कलाकारो मे उपर्युक्त कुछ नाट्य-निर्देशको के अतिरिक्त प्रमुख हैं—अशरफखाँ, रतिलाल पटेल, मूलजी खुशाल, शिवलाल, मुन्नीबाई, कमलाबाई, चन्द्रवदन भट्ट, प्रो० मधुकर रादेरिया, धनसुखलाल मेहता, छगन 'रोमियो', मा० गोरधन, मा० निसार, मीनाक्षी, राणी प्रेमलता, मजरी पंड्या, वनलता मेहता आदि। इनमे जयशंकर 'सुन्दरी' के अतिरिक्त मा० गोरधन और मा० निसार प्राय. स्त्री-भूमिकाएँ करते रहे हैं।

(६) रगमच से संबद्ध मौलिक नाटककारो की कृतियो के बावजूद आधुनिक युग की माँग के अनुरूप अँग्रेजी, सस्कृत, मराठी और बँगला के नाटक अनूदित कर खेले गये। रंगमंच के लिये प्राय. मौलिक नाटकों का अभाव रहा, क्योंकि इधर लिखे गये अधिकाश मौलिक नाटक रगोपयोगी न होकर पाठ्य हैं। कुछ गुजराती उपन्यासो के नाट्य-रूपान्तर भी किये गये। इनमे रमणलाल देसाई 'भरेलो अग्नि' और पन्नालाल पटेल का 'मलेलां जीव' प्रमुख हैं।

(७) इस युग मे रगमडल ने 'नेपथ्य' त्रैमासिक, यशवत ठाकर ने 'नाटक' पाक्षिक और गुजराती नाट्य मडल ने 'गुजराती नाट्य' नामक मासिक पत्रिका निकाली। इसके अतिरिक्त बड़ौदा से भी 'रगभूमि' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका अनियमित रूप से निकली।

(८) बबई और बड़ौदा में कुछ नाट्य महासंघों की स्थापना हुई, जिनके साथ उक्त क्षेत्रों की अनेक नाट्य-संस्थाएँ संबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त नाट्य-शिक्षण के लिये विद्यामदिर या महाविद्यालय की भी स्थापना हुई।

(९) गुजराती नाटको की अपनी एक विस्तृत सामाजिक-मडली है, जो गुजराती रगमच को स्वय टिकट खरीद कर संरक्षण प्रदान करती है। यही कारण है कि अब प्राय. अधिकाश नाटको के पचास या अधिक प्रयोग हो जाते हैं। कुछ नाटको के तो ५०० से भी अधिक प्रयोग हो चुके हैं।

(तीन) हिन्दी रंगमंच की प्रगति, उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ

हिन्दी-क्षेत्र के विस्तार के अनुरूप ही हिन्दी-रगमच का विस्तार बँगला, मराठी और

गुजराती की अपेक्षा कहीं अधिक है और बंबई से लेकर कलकत्ते तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत उसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है। रंग-शिल्प, अभिनय, निर्देशन और उपस्थापन की दृष्टि से भी अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं और इस दृष्टि से वह अब किसी भी अन्य भारतीय भाषा के रंगमंच से पीछे नहीं है, किन्तु अभी वह इस प्रयोगावस्था से निकल कर किसी एक निश्चित आदर्श या गंतव्य तक नहीं पहुँचा है। इसका कारण है—नाट्य-सामग्री का बासीपन, दूसरों की जूठन को उपजीव्य मान कर चलने में गर्व की अनुभूति और उस सामग्री के उपस्थापन में भारतीय नाट्यशास्त्र के शाश्वत नियमों एवं कीर्तिमानों की अवहेलना कर पाश्चात्य विधि-विधानों की आँख मूँद कर नकल। हिन्दी रंगमंच के इस दैन्य को बढ़ाने के लिये एक ओर जहाँ आज के उपस्थापक और /या निर्देशक उत्तरदायी हैं, वहीं आज के वे नाटककार भी कम दोषी नहीं, जो पाठ्यक्रम में लगाने के लिये तो नाटक लिखते हैं, रंगमंच के लिये नहीं। अधिकांश नाटककार रंगमंच से सम्बद्ध न होने के कारण उसकी परिसीमाओं, समस्याओं और कठिनाइयों को भी नहीं समझते। इस दैन्य का एक अन्य रूप भी है और वह है—रंगमंच के प्रति हिन्दी के सामाजिक की तटस्थता या उपेक्षा। इस तटस्थता या उपेक्षा के मूल में कई कारण हैं—हिन्दी-क्षेत्र की सामान्य गरीबी, अशिक्षा, संरक्षण एवं संस्कार का अभाव, मनोरंजन-कर का निरन्तर दीर्घकाल तक बने रहना, हिन्दी के गद्य-नाटकों से उत्तरोत्तर संगीत एवं नृत्य का तिरोहित होते जाना, उपस्थापन के आधुनिक साधनों की अनुपलब्धता, चलचित्रों के प्रसार के कारण रुचिविकार अर्थात् चलचित्र में जो कुछ देखने को मिलता है, उसके न मिलने पर रंगमंच के प्रति विकर्षण, आदि। डॉ० (अब स्व०)सत्यव्रत सिन्हा नाटकोपस्थापन के प्रति सामाजिक का झुकाव न होने का एक कारण यह मानते हैं कि रंगमंच पर अनेक अनियमितताएँ, यथा परदा समय से न उठने, अनुशासनहीन प्रबन्धक या अभिनेता के दृश्यबन्ध के पीछे से झाँकने, तेज प्राम्प्टिंग, अनभ्यस्त अभिनय, रंगशिल्प की कलाहीनता आदि भी उसके 'भुलावे' को नष्ट कर देती हैं।[60] इन परिसीमाओं के बावजूद हिन्दी का रंगमंच आगे बढ़ रहा है, जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट हो जायगा। हिन्दी का व्यावसायिक मंच यद्यपि होड़ में अव्यावसायिक रंगमंच से पिछड़ गया है, किन्तु यह कम गौरव की बात नहीं कि उसका व्यावसायिक रंगमंच अभी कुछ काल पूर्व तक जीवित रहा है और उसके द्वारा प्रति सप्ताह किसी भी भाषा की तुलना में सर्वाधिक प्रदर्शन (शो) किये जाते रहे हैं। यह क्रम सन् १९६९ के प्रारम्भ तक चलता रहा, जब कि हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच—कलकत्ते का मूनलाइट थियेटर—बंगाल की बढ़ती हुई अराजकता, हिन्दी-विरोध, संकीर्ण प्रान्तीयता के विकास आदि के कारण बन्द हो गया।

(क) व्यावसायिक रंगमंच

आधुनिक युग में व्यावसायिक रंगमंच के चार प्रमुख केन्द्र रहे हैं—कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और कानपुर। बंबई में यह रंगमंच दि खटाऊ अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी तथा उसके संचालकत्व में चलने वाली न्यू बालीवाला ड्रामेटिक्स के कार्यों तक ही सीमित रहा। कावस जी खटाऊ की पारसी अल्फ्रेड के मादन थियेटर्स के उदर में समाने के कई वर्ष बाद खटाऊ अल्फ्रेड नाम की एक नयी नाटक मंडली की स्थापना खटाऊ एण्ड कम्पनी ने सन् १९४२ में की थी। इस कम्पनी ने आगा हश्र के 'आँख का नशा' और 'दिल की प्यास' नाटक खेले।[66] इसी वर्ष इस कम्पनी ने न्यू बालीवाला ड्रामेटिक्स के स्वत्व प्राप्त किये, जिसने कुछ गुजराती नाटकों के साथ 'खुदा पर सबर' आदि हिन्दी नाटक भी खेले।[67] यह उल्लेखनीय है कि न्यू बालीवाला ड्रामेटिक्स की स्थापना खुर्शेदजी बालीवाला के दामाद और सुप्रसिद्ध हिन्दी-गुजराती अभिनेत्री मुन्नी बाई के पति दोराबशाह खरास ने सन् १९३९ या इसके अनतर की थी। मुन्नी बाई इस मंडली की स्वयं प्रथम महिला-निर्देशिका बनी। उनके निर्देशन में 'निर्दोष,' 'रोशन' 'ग़रीब बाप,' 'चिराग़' आदि हिन्दी के नाटक मंचस्थ हुए थे।[68] इन नाटकों में उन्होंने नायिकाओं की भूमिकाएँ स्वयं की थी। इस मंडली की आर्थिक दशा खराब हो जाने पर यह दि खटाऊ अल्फ्रेड के स्वामित्व में चली गयी।

सन् १९४४ में स्वयं खटाऊ अल्फ्रेड एफ० आर० ईरानी के स्वामित्व मे चली गई और शुद्ध गुजराती नाटक खेलने लगी।

सन् १९५६ मे पति की मृत्यु के लगभग दो वर्ष बाद मुन्नी बाई ने नये सिरे से न्यू बालीवाला ड्रामेटिक्स का संगठन किया, जिसने कुछ गुजराती नाटकों के साथ 'बेवफा', 'न्यायाधीश' आदि हिन्दी के नाटक अभिमंचित किये। सन् १९६४ में स्वास्थ्य बिगड जाने पर मुन्नीबाई रंगमच से पृथक् हो गयी। अब वे इस असार संसार मे नहीं हैं। मृत्यु के कुछ काल पूर्व गुजरात सरकार ने उन्हें रगमच की सेवाओ के लिए प्रशस्ति-पत्र, रजत-वैजयन्ती तथा १०१ रु० नकद दिये थे।"[1]

मारवाड़ी मित्र मडल—बम्बई मे पारसी-हिन्दी नाटको की ही शैली पर हिन्दी (खड़ी बोली) के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा के भी नाटक बहुत लोकप्रिय हुए। वहाँ के मारवाडी मित्र मन्डल के कुछ उत्साही कार्यकर्ताओं ने, जिनमे जमुनाप्रसाद पचेरिया, मदनलाल गोयनका आदि प्रमुख थे, सर्वप्रथम सन् १९४७-४८ मे मारवाडी भाषा के नाटक खेलने का निश्चय किया। फलस्वरूप फिल्मी लेखक एव गीतकार प० इन्द्र का राजस्थानी नाटक 'ढोला-मरवण' उसी वर्ष मचस्थ किया गया, जो बहुत लोकप्रिय रहा। इसकी सफलता से उत्साहित होकर बाद मे पं० इन्द्र-कृत 'चुनड़ी' और 'देवता' नाटक खेले गये। ये दोनों नाटक भी राजस्थानी के थे। इन नाटकों का निर्देशन पं० कन्हैयालाल पँवार ने किया।

पँवार थियेटर्स—प० कन्हैयालाल पँवार ने कुछ काल बाद पँवार थियेटर्स की स्थापना की और 'देवता' को लेकर कलकत्ते गये, जहाँ ५/१, क्लाइव रो मे स्थित आर्ट सेन्टर हाल मे २१ से २३ जनवरी तक बराबर तीन दिन यह नाटक खेला गया। नाटक का उद्घाटन २१ जनवरी (शनिवार, वसंत पचमी) को दानवीर लक्ष्मीनिवास बिड़ला ने किया। इस नाटक के लिये नयी दृश्यावली, वस्त्राभरण आदि तैयार किये गये थे और आधुनिक रगदीपन-व्यवस्था का उपयोग किया गया था। रविवार को दो 'शो' हुए—दिन मे मैटिनी ३ बजे से और रात्रि मे ८ बजे से। शनिवार और सोमवार को खेल संध्या ६।। बजे से शुरू हुए।

भारतीय नाट्य निकेतन—इधर मारवाडी मित्र मडल निरन्तर अपने प्रयोगो मे लगा रहा। कुछ काल बाद मडल ने 'भारतीय नाट्य निकेतन' नामक संस्था की स्थापना की। इस सस्था ने १ मार्च, १९५९ को कालबादेवी रोड-स्थित भांगवाड़ी थियेटर में वृद्धिचन्द्र अग्रवाल 'मधुर'-कृत राजस्थानी नाटक 'म्हारी कोंकड म्हारो झंडो' अभिनीत किया, जिसमे बम्बई और कलकत्ते के प्रसिद्ध कलाकारो ने भाग लिया। इस नाटक के निर्देशक थे शेखर पुरोहित और सगीत निर्देशक थे मा० छैला जी मारवाड़ी।

इस नाटक मे राजस्थान के बलिदान, त्याग और एकता की कहानी कही गयी है। संवाद ओजपूर्ण और चुटीले हैं।

अन्य नगरों के रंगमच और 'नरसी'—इधर कलकत्ता, दिल्ली और कानपुर के रगमंचों के पीछे एक ऐसा गतिशील किन्तु हिमालय-सा अटल व्यक्तित्व कार्य कर रहा था, जो बचपन से आज तक उसी क्षेत्र मे निष्ठा और उत्सर्ग को अस्त्र बनाकर निरन्तर साधना मे रत रहा। यह व्यक्ति था — राधेश्याम कथावाचक का शिष्य फ़िदा हुसेन, जो अब प्रेमशंकर 'नरसी' के नाम से विख्यात है।

फ़िदा हुसेन का जन्म सन् १९०१ मे मुरादाबाद के एक गरीब शेख-परिवार मे हुआ था। 'जिगर' मुरादाबादी को सुन कर याद की गयी गज़लों को गाने, नौटंकी आदि देखने तथा अभिनय के शौक के कारण उन्हें नीम के पेड से बाँध कर पीटा जाता था और वे न गाने की शर्त मान लेने पर ही मुक्त होते थे। किन्तु फिर वही रंग ! एक बार 'नूर की पुतली' नाटक देखने के लिये घर के फर्शी हुक्के का ताँबे का पेंदा बेंच दिया। तंग आकर घर वालो ने भाभी के हाथों सिंदूर खिलवा दिया। आवाज बन्द। दवा से कोई लाभ नहीं। फिर एक महात्मा के बताये

गये साधन से उनका गला खुला ।

कई बाहरी एव स्थानीय मडलियो एवं क्लबो में काम करने के बाद फ़िदा हुसेन को न्यू अल्फ्रेड मे ले लिया गया और मन् १९२१ मे उसके साथ वे दिल्ली चले गये । फिदा धीरे-धीरे राधेश्याम कथावाचक के शिक्षण मे रह कर उनके प्रिय शिष्य बन गये । राधेश्याम उन्हें पुत्रवत् स्नेह करते थे । कभी-कभी 'प्रेमशकर' कह कर पुकारा करते थे । [११२] कहते हैं कि प० मदन मोहन मालवीय ने 'वीर अभिमन्यु' मे उनका उत्तरा का अभिनय(सन्१९२३) देखकर 'प्रेमशकर' नाम रखा था । [११३] न्यू अल्फ्रेड मे मन् १९३२ तक रह कर फिदा हुसेन ने 'वीर अभिमन्यु' मे उत्तरा, 'परिवर्तन' मे विद्या, 'रुक्मिणी-मगल' और 'द्रौपदी स्वयवर' मे योगमाया [११४], 'श्रीकृष्ण-अवतार' मे पहले योगमाया और फिर देवकी तथा अन्य नाटको मे भी स्त्रियो की सफल भूमिकाएँ की ।

सन् १९३२ मे न्यू अल्फ्रेड के बन्द हो जाने पर प्रेमशकर कलकत्ते आये और वहाँ टालीगज के भारतलक्ष्मी प्रोडक्शन्स की फिल्मो मे सन् १९३४ से १९३६ तक विभिन्न भूमिकाएँ करते रहे ।

इडियन आर्टिस्ट्स एसोसिएशन– सन् १९३६ मे या इससे कुछ पूर्व मादन थियेटर्स की अभिनेत्री सुन्दरी कु० जहाँ आरा कज्जन ने इडियन आर्टिस्ट्स एसोसिएशन की स्थापना की, [११५] जिसमे प्रेमशकर नायक का कार्य करते रहे । निर्देशक थे–प्रसिद्ध रग-एव-फिल्म अभिनेता सोराबजी केरेवाला । इस मडली ने 'हीर-रांझा', डॉ० जिया निजामी-कृत 'नल-दमयनी', 'शीरी फरहाद', हश्र-'सूरदास' आदि नाटक खेले । 'शीरी-फरहाद' हैदराबाद (सिंध) मे और 'सूरदास' कराची मे सन् १९३६ मे खेले गये । इन नाटको मे प्रेमशकर ने क्रमश राझा, नल, फरहाद और सूरदास विल्वमगल की ओर कु० कज्जन ने हीर, दमयती, शीरी और चिन्तामणि की सफल भूमिकाएँ की । 'सूरदास' नाटक को सिंध के तत्कालीन गवर्नर भी देखने आये थे । [११६]

शाहजहाँ थियेट्रिकल कपनी– सन् १९३८ मे मादन थियेटर्स के कुशल अभिनेता माणिकलाल मारवाडी ने अपनी शाहजहाँ थियेट्रिकल कपनी की स्थापना ५, धर्मतल्ला स्ट्रीट पर की । [११७] इस कंपनी ने बेताब का 'हमारी भूल', 'महाराणा प्रताप', 'दुर्गादास,' 'हर हिटलर,' बी० सी० 'मधुर-कृत 'बहुत सोये' और 'अमर बलिदान', 'नरसी मेहता', 'हीर-रांझा,' 'सतिपुत्रो' आदि कई नाटक खेले । अधिकाश नाटको मे प्रेमशकर ने नायक की भूमिका की । 'नरसी मेहता' मे उनकी नरसी की भूमिका बहुत सफल रही ।

शाहजहाँ कपनी अपना 'अमर बलिदान' लेकर कानपुर गई और उसने माल रोड के प्लाजा थियेटर (अब सुन्दर टाकीज) मे २८-२९ दिसम्बर, १९४१ को उक्त नाटक खेला । नायक और नायिका की भूमिकाएँ क्रमश. प्रेमशकर तथा रग-एव-फिल्म अभिनेत्री नीना ने की । निर्देशक स्वय माणिकलाल थे । इस नाटक की टिकट-दरें सात आने से लेकर साढे चार रुपये तक थी और महिलाओ के लिये अलग प्रबध था, जिनके लिये टिकट-दर बारह आने थी । 'अमर बलिदान' के कलकत्ते मे इस समय तक १०८ प्रयोग हो चुके थे । सन् १९४१ मे प्रेमशंकर ने इस मंडली से अलग होकर कानपुर मे नरसी थियेट्रिकल कपनी की स्थापना की । इस मडली का विवरण दूसरे अध्याय मे दिया जा चुका है ।

शाहजहाँ कपनी ने दिल्ली मे राधेश्याम कथावाचक का 'सती पार्वती' सन् १९४४ मे सफलता के साथ मंचस्थ किया । इसका निर्देशन राधेश्याम के शिष्य चौबे रामकृष्ण ने किया था । पार्वती की भूमिका किसी अभिनेत्री ने की थी, जो साधारणत· 'अच्छी' रही । [११८] बाद मे कराची पहुँच कर यह कपनी बन्द हो गयी । [११९]

वेराइटी नाटक मंडली – 'भारत-छोडो' आन्दोलन के फलस्वरूप प्रेमशकर का नरसी थियेटर्स बन्द हो गया और वे दिल्ली की वेराइटी नाटक मडली मे नायक और निर्देशक के रूप मे आ गये । सन् १९४४ मे प्रेमशकर 'नरसी मेहता' मे भक्त नरसी की अपनी चिर-परिचित भूमिका मे पुन अवतरित हुए । इन्ही दिनो दिल्ली मे श्री करपात्री जी ने यज्ञ का आयोजन किया था, जिसमे आये हुए जगद्गुरु शकराचार्य प्रेमशकर की नरसी की भूमिका

देख कर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने प्रसन्न होकर प्रेमशंकर को 'नरसी' की उपाधि प्रदान की। 'नरसी मेहता' इतना लोकप्रिय हुआ कि उसे तत्कालीन वाइसराय लार्ड वावेल और उनकी कार्यकारिणी के सदस्यों, श्री करपात्री जी आदि सभी ने देखा। प्रत्येक सप्ताह तीन दिन नाटक होता, शनिवार को एक बार, रविवार को दो बार और मंगलवार को एक बार (केवल स्त्रियों के लिये)। इस प्रकार यह नाटक ३०० रात्रियों तक चला।[२००]

मोहन नाटक मंडली – सन १९४५ में प्रेमशंकर 'नरसी' ने इन्द्रगढ़ के महाराज के सहयोग से श्री मोहन नाटक मंडली की स्थापना दिल्ली में की। इस मंडली ने एक ही नाटक 'भरत-मिलाप' खेला। इसमें 'आइना' चित्र की अभिनेत्री हुस्न बानो ने सीता और प्रेमशंकर ने भरत की भूमिकाएँ की थी। 'नरसी' की महाराज से अनबन हो गयी, अत: वे तीन महीने बाद ही मंडली से पृथक् होकर कलकत्ते चले गये।

हिन्दुस्तान थियेटर्स, कलकत्ता – प्रेमशंकर के कलकत्ते पहुँचने पर उनके प्रयास और योगदान से १ जनवरी १९४६ को मिनर्वा थियेटर में हिन्दुस्तान थियेटर्स की स्थापना हुई, किन्तु वह अधिक दिनों तक न चल सका। इस थियेटर्स के प्रमुख नाटक थे–कन्हैयालाल 'कातिल'-कृत 'भक्त नरसी मेहता' (त्रिअंकी), 'रुक्मिणी-हरण' और 'श्रीकृष्ण-सुदामा'। 'नरसी मेहता' में प्रथम चार दिन तक प्रथम चार कतारों के टिकट सौ रुपये के रखे गये थे। बाद में इस थियेटर में सामान्य टिकट की दरें १५), १०), ७), ५) और ३)रु० रहा करती थी। इन्हीं दिनों उन्हें प्रसिद्ध अभिनेत्री सीतादेवी और उनके पति गौरदास बसाक का सहयोग प्राप्त हुआ, जो बाद में भी उन्हें प्राप्त रहा। कलकत्ते में साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो जाने के कारण हिन्दुस्तान थियेटर्स जब १५ अगस्त, १९४६ को बन्द हो गया, तो प्रेमशंकर कराची में सितलानी की आल-इण्डिया थियेट्रिकल क० में निर्देशक होकर चले गये किन्तु पाकिस्तान की स्थापना की सम्भावना हो जाने के बाद यह कम्पनी भी बन्द हो गयी। प्रेमशंकर पुनः कलकत्ते लौट आये। लौटकर उन्होंने हिन्दुस्तान थियेटर्स को पुनर्जीवित किया और १५ अगस्त, १९४७ को रणधीर सिंह साहित्यालंकार-कृत 'झाँसी की रानी' और सन् १९४८ में उन्हीं का लिखा 'सरदार भगतसिंह' नाटक मंचस्थ किये। 'स० भगतसिंह' में प्रेमशंकर ने भगतसिंह, मा० मंजर ने चन्द्रशेखर आजाद, सुशीलकुमार ने सुखदेव, पन्नालाल ने राजगुरु, सीतादेवी ने श्यामा और दयाकुमारी ने जयन्ती की भूमिकाएँ की।

भूदानी नेता जयप्रकाश नारायण और समाजवादी नेता डॉ० राममनोहर लोहिया 'सरदार भगतसिंह' नाटक देखने आये थे। यह नाटक देख कर जयप्रकाश जी ने कहा था–'ऐसा मालूम होता है कि मैं सचमुच भगतसिंह को देख रहा हूँ।' यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि प्रेमशंकर भगतसिंह के मित्रों में थे और सन् १९२६ में फिरोजपुर में सतलज नदी के तट पर (जहाँ उनका दाह-संस्कार हुआ था) उनसे मिले भी थे। भगतसिंह के एक निकटवर्ती आत्मीय द्वारा उनकी भूमिका कितनी सचेतन और यथार्थ हो सकती है, नरसी की भगतसिंह की भूमिका इसका प्रमाण है।

इसके अनंतर मिनर्वा थियेटर में एस० जी० चौधरी-कृत 'तुलसीदास' और 'बेताब'-कृत 'कृष्ण-सुदामा' नाटक सन् १९४८ में ही मंचस्थ किये गये। प्रेमशंकर ने क्रमशः तुलसीदास और सुदामा की भूमिकाएँ कीं। 'तुलसीदास' में सीतादेवी रत्नावली बनी। इसी समय 'मधुर'-कृत 'हमें क्या चाहिए ?' नामक सामाजिक नाटक भी खेला गया, जिसमें वेश्यावृत्ति और अस्पृश्यता-निवारण की समस्यायें उठाई गयी थी। ये सभी नाटक त्रिअंकी थे।

मूनलाइट थियेटर्स–सन् १९४९ में गोवर्धन मेहरोत्रा ने व्यावसायिक आधार पर मूनलाइट थियेटर्स को सुव्यवस्थित रूप में चालू किया। उन्होंने प्रेमशंकर को निर्देशक के रूप में अपने यहाँ बुला लिया। सीतादेवी भी आ गयी। हिन्दी का यह एकमात्र जीवित व्यावसायिक रंगमंच रहा है, जहाँ प्रत्येक सप्ताह तेरह प्रदर्शन (शो) किये जाते थे –मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि को प्रत्येक दिन दो-दो और रविवार को मैटिनी-सहित तीन प्रदर्शन। सोमवार अवकाश का दिन रहता था। हिन्दी (खड़ी बोली) के नाटक प्राय: बुध, बृहस्पति, शनि और रविवार को और राजस्थानी (मारवाड़ी) के खेल मंगल और शुक्र को होते थे। राजस्थानी खेल

अच्छा होने पर रविवार को भी खेल दिया जाता था। हिन्दी के नये खेल का बुधवार को और राजस्थानी के नये खेल का उद्घाटन मंगलवार को हुआ करता था। यह शनिवार को नया खेल प्रारम्भ करने की प्राचीन परिपाटी मे एकनया मोड था, जिसे लाने का श्रेय मूनलाइट थियेटर्स को है।

इस थियेटर की स्थापना लगभग दस वर्ष पूर्व (सन् १९३९ मे) ३०, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट पर हुई थी। इस थियेटर मे ४० मिनट के नाटक (जिसमे प्राय. नृत्य, कव्वाली आदि के कार्यक्रम भी होते रहते थे) के साथ सस्ती दर पर एक फिल्म भी दिखायी जाती थी। सन् १९४९ मे थियेटर के जीर्णोद्धार एव पुनर्गठन के बाद यह परम्परा बदल दी गयी और बेताब युग के पुराने नाटककारो की कुछ कृतियो के साथ वी० सी० 'मधुर' (वृद्धिचन्द्र अग्रवाल साप्ताहिक 'कला ससार' के सम्पादक रणधीर साहित्यालकार, रामचन्द्र 'आंसू,' प० अबालाल, कुमार सलेमपुरी, प० दलीली, त्रिलोचन झा आदि के नाटक प्रदर्शित किये गये। राजस्थानी नाटको के प्रणेताओ मे प्रमुख रहे है–प० इन्द्र, भरत व्यास, निर्भीक जोशी, मदनलाल अग्रवाल और भँवरलाल सीकरिया।

सन् १९४९ के अन्त मे और अगले वर्ष खेले गये नाटक थे—वी० सी० 'मधुर'-कृत 'पूरन भगत', 'नल-दमयती', 'शकुन्तला' और 'चन्द्रगुप्त' और चतुरसेन शास्त्री-कृत 'हिन्दू कोड बिल'। प्रेमशकर ने 'हिन्द कोड बिल' के नायक महेश का प्रभावपूर्ण अभिनय किया।

तब से लेकर सन् १९६९ मे बन्द होने तक मूनलाइट थियेटर्स उपर्युक्त लेखको के हिन्दी तथा राजस्थानी के नाटक खेलता रहा। इस बीच अभिनीत कुछ उल्लेखनीय नाटक हैं–रणधीरसिंह साहित्यालकार-कृत 'देश के लिए (१९५०ई०), 'भगवान परशुराम' (१९५१ई०), 'वीर कुँवरसिंह' (१९५२ई०), 'रानी सारधा' (१९५३ ई०) और 'पिया मिलन' (१९५४), राधेश्याम कथावाचक-कृत 'कृष्ण-लीला' (मूल नाटक 'श्रीकृष्ण-अवतार,' अगस्त, १९५३ ई०) कुमार सलेमपुरी-कृत 'भोला भगत' (१९५५ई०) और 'लाडला कन्हैया' (१९६०ई०)। 'कृष्ण-लीला' में प्रेमशकर ने माखन-चोरी के दो दृश्य जोड कर इसमे चार चाँद लगा दिये। इसमे 'मैया मैं नहिं माखन खायो' आदि पदो के साथ कुछ अन्य पद्य-सवाद भी रखे गये थे। इस नाटक मे प्रेमशकर ने नारद की भूमिका बडी सफलता के साथ की। इन सभी नाटको मे सीतादेवी ने नायिका की भूमिकाएँ की।

सन् १९४९ से १९६५ तक की अवधि में मूनलाइट थियेटर्स ने ढाई सौ से अधिक नाटक खेले।[३१] इनमें राजस्थानी नाटक भी सम्मिलित हैं। ये नाटक पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के हैं। ऐतिहासिक नाटको के लिए राजस्थान और गुजरात के इतिहास से विशेष रूप से कथानक चुने गये हैं। सामाजिक नाटको मे दहेज-प्रथा ,वेश्यावृत्ति, विधवा-विवाह, बहु-विवाह, मद्यपान, रूढिवाद के उन्मूलन, स्त्री-शिक्षा, राष्ट्र भाषा-प्रचार आदि की समस्याओ पर समाज-सुधार एवं राष्ट्र-हित के दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इस काल मे अभिनीत नाटको मे प्रमुख हैं–रणधीरसिंह साहित्यालकार-कृत 'नयी मंजिल' (१९४९ई०), 'समाज की जजीर', (१९५०ई०), 'विजयी राजसिंह' (१९५४ ई०), 'कला की पुजारिन' (१९५४ई०), 'वीरमती' (१९५७ई०) तथा काश्मीर हमारा है' (१९६५ई०), रामचन्द्र 'आंसू'-कृत 'पद्मिनी', 'हाडी रानी', 'तारा बाई', 'आल्हा-ऊदल', 'डूँग जी-, जुहार जी' (राजस्थान के दो दस्यु-भाई), 'सन्यासी' आदि, पं० अबालाल-कृत 'रा' माडलिक', 'सती अनसूया' 'मीराबाई', 'जूनागढ का शेर' (कादू मकरानी), 'हर्षवर्धन', 'समुद्रगुप्त', 'रणकेसरी', 'भगवान कहाँ हैं ?,' 'बेटी का प्यार,' 'सगाई के बाद,' 'हिन्दी बोलिए' आदि, कुमार सलेमपुरी-कृत 'महलो की रानी', 'खेतो की रानी,' 'भाई बहन,' गलियो की रानी, आदि, त्रिलोचन झा-कृत 'घूँघट में चाँद,' 'लोहे की अँगूठी' (ऐतिहासिक), 'यशोदा का लाडला' आदि तथा प दलीली-कृत 'भक्त रावण,' भक्त के भगवान' आदि।

इनमें से अबालाल के अधिकाश पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक इन्ही नामो के गुजराती नाटको के अनुसार हैं। 'जूनागढ का शेर' 'कादू मकरानी' का अनुवाद है।

'देश के लिये' ५०० रात्रियों तक खेला गया। रणधीरसिंह के 'सरदार भगतसिंह' कलकत्ता के अतिरिक्त

मूनलाइट थियेटर, कलकत्ता द्वारा मंचस्थ 'छत्रपति शिवाजी' (१९५९ ई०) में
प्रेमशंकर 'नरसी' शिवाजी की भूमिका में

(प्रेमशंकर 'नरसी' के सौजन्य से)

नागरी नाटक मंडली, वाराणसी द्वारा प्रस्तुत नीनू मजूमदार-कृत गीति-नृत्य नाट्य 'चाडियानु सपनो' (गुजराती, १९६२ ई०) के कलाकार भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, बर्मा के प्रधान मन्त्री श्री ऊ नू तथा उनकी पत्नी के साथ

(नागरी नाटक मंडली, वाराणसी के सौजन्य से)

उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब और काश्मीर मे तथा 'नयी मज़िल' पटना, जमशेदपुर, धनबाद, कानपुर, इन्दौर, बबई और काश्मीर मे खेले जा चुके हैं।[१०९] रणधीरसिंह-कृत 'काश्मीर हमारा है' (१९६५ई०) काश्मीर पर पाकिस्तानी मुजाहिदों के आक्रमण से सम्बन्धित एक सुन्दर देशभक्तिपूर्ण नाटक है, जो कई *दृश्यबधों एवं 'कटसीन'* पर *प्रदर्शित* किया गया था। इसका एक अश फिल्म द्वारा भी दिखाया गया था।

इसके अतिरिक्त राजस्थानी के अभिनीत प्रमुख नाटक हैं–पं० इन्द्र-कृत लोकप्रिय नाटक 'ढोला-मरवण', फिल्म-गीतकार भरत व्यास-कृत 'रामू-चनणा', निर्भीक जोशी-कृत 'जयजंगलघर बादशाह' (औरंगजेब-काल में बीकानेर के महाराणा से सम्बन्धित कथा, १९५४ई०) और 'सावनरी तीज' *(राजस्थान की एक स्वच्छन्दताधर्मी प्रणय-कथा,* १९५५ई०), मदनलाल अग्रवाल-कृत 'निर्मोही बालम' (१९५४ई०), 'करमाबाई को खीचडो' (पौराणिक, १९५६ई०) 'चाँद-चकोरी' (१९५८ई०), 'रुक्मिणी को ब्यावलो' (१९५८ई०) तथा 'बीस बरस को बीद, बीदनी साठ की' (१९५८ई०) और भँवरलाल सीकरिया-कृत 'सीलो-रिसालू' (प्रणय-संबन्धी एक दतकथा पर आधारित, १९५६ई०) *'नानीबाई को मायरो'* (१९५६ई०) और *'सुल्तान-मरवण को भात'* (१९५९ई०)। इन *नाटकों मे राजस्थान* के इतिहास और जन-जीवन का अत्यन्त सरस, मार्मिक और भावपूर्ण चित्रण हुआ है।

'ढोला-मरवण' मे 'नरसी' ने ढोल कुँवर और कोकिलकठी लता बोस ने मरवण की भूमिकाएँ की थी। निर्देशक स्वयं 'नरसी' ही थे। सामान्यत· अन्य मारवाडी नाटको मे हिन्दी नाटको के सहायक निर्देशक त्रिलोचन झा नायक की और लता बोस या दिलरुबा नायिका की भूमिका करती रही हैं। सीताराम पुजारी राजस्थानी नाटकों के निर्देशन मे 'नरसी' के सहायक का काम करते थे।

ये सभी नाटक प्राय बेताब युग की नाट्य-शैली के हैं, जिनमे 'कॉमिक' कही पृथक् और कही अगभूत होकर आया है। *पौराणिक नाटको की भाषा प्राय. शुद्ध हिन्दी है, जबकि अन्य हिन्दी नाटकों मे सवादों की भाषा* हिन्दी-उर्दू-मिश्रित है। राजस्थानी नाटकों के संवाद शेखावाटी की मारवाड़ी बोली में हैं, जिसमे हिन्दी-उर्दू के दैनिक उपयोग के शब्दो को भी अपनाया गया है। गीतो, पद्य-संवादों, शेर-ओ-शायरी, नृत्यो आदि का सन्निवेश इन नाटकों की लोकप्रियता का आधार रहा है।

ये गीत हिन्दी नाटक मे भी हिन्दी-मारवाडी के तो होते ही थे, प्राय अन्य कई भाषाओ के गीत भी उनमे दिये जाते थे। 'गलियों को रानी' मे हिन्दी और मारवाडी के गीतों के साथ उर्दू गजल एवं कव्वाली, बँगला, अँग्रेजी और चीनी भाषाओ के गीत भी मंच पर गवाये गये हैं। विविध-भाषी गीतो के प्रयोग का उद्देश्य कलकत्ते की बहु-भाषी जनता को आकृष्ट करना और हिन्दी-नाटक देखने के लिए प्रोत्साहित करना रहा है।

नाटको मे प्राय दो से तीन अक तथा अनेक दृश्य हुआ करते थे, जो आधुनिक दृश्यबधो (सेटो) और ध्वनि-सकेतों के साथ प्रस्तुत किये जाते थे। साइक्लोरामा, डिमर आदि का प्रबंध न होने के कारण बँगला रगमच की तुलना मे रगदीपन फीका-सा रहता था, फिर भी रगदीपन के अन्य आधुनिक साधनो का उपयोग इन दृश्यों को *सजीव बना देता रहा है। ट्रासफर सीन और ट्रिकें दृश्यों की मनोरमता एव आकर्षण मे चार चाँद लगा देती रही* हैं। हिन्दी-नाटको के सामाजिको का एक वर्ग-विशेष इन्हें देखकर प्रसन्न होता और तालियों की गडगडाहट मे हाल गुँजा देता था। कुछ दृश्य नाटक की कथा को गति देने और यथार्थ को प्रस्तुत करने की भावना से फिल्म द्वारा भी दिखलाये जाते थे। विस्तारित बेताब युग की यह रग-पद्धति अब आधुनिक रंगमच पर कही भी प्रयुक्त नही होती। मूनलाइट मे रगदीपन का कार्य दुलालदास और भट्टाचार्य करते रहे हैं।

मूनलाइट रंगमच की सामने की चौडाई ६० फुट और भीतरी गहराई ४० फुट थी, किन्तु उसका वास्तविक अभिनय-क्षेत्र था–सामने की चौडाई २६ फुट और गहराई ३५ फुट। 'ड्राप' २६ फुट चौडा था। पार्श्व (विंग) और फ्लाट की ऊँचाई १८ फुट रहती थी। सादे सीन मे दो या तीन फ्लाट काम में लाये जाते थे, जो मुख्यत·

दृश्यान्तर या ट्रांसफर सीन दिखाने के लिए प्रयुक्त हुआ करते थे। दो फ्लाटो के सीन मे फ्लाट की चौडाई १५ फुट और तीन फ्लाटो वाले सीन मे प्रत्येक फ्लाट की चौडाई १० फुट रखी जाती थी। 'वाक्स सेट' मे फ्लैट ढाई फुट से दस फुट तक की चौडाई के लगाये जाते रहे हैं। मूनलाइट का पूरा मच लकडी का बना था, जिसमे छोटे-बडे तीन 'ट्रैप' थे। कला-सज्जा अर्थात् सेटो की रँगाई, चित्रण आदि का कार्य वासुदेव दिवाकर के शिष्य कन्हैयालाल परिहार किया करते थे। मच और प्रेक्षा-गृह के बीच मे 'पिट' है, जहाँ मूनलाइट का आर्केस्ट्रा बैठता था। मा० सुभान सगीत-निर्देशक और मा० ओमप्रकाश नृत्य निर्देशक रहे हैं। मच के पृष्ठ भाग मे 'ग्रीन रूम' है।

प्रत्येक दिन नाटक के दो 'शो' हुआ करते थे–प्रथम शो साय ६ बजे से और दूसरा रात को ९। बजे से। रविवार को दिन मे मैटिनी शो पौने ग्यारह बजे से हुआ करता था। टिकट की दरें थी–सोफा–५) रु०, स्टेज वाक्स –४)५०रु०, रायल लोअर –२)५०रु० और आर्केस्ट्रा –१)५३रु०।

मूनलाइट रगमच को प्रेमशकर 'नरसी', त्रिलोचन झा, मा० नेनूराम, कमल मिश्र, मा० मनोहरलाल, भँवर-लाल वर्मा, एफ० चार्ली, जूनियर जॉनी, एन० ए० प्रेम, मा० दुर्गा प्रसाद, मा० इनायत, मा० कुरेशी, विमलकुमार, राधेकिशन जैसे अभिनेताओ और स्वरकिन्नरी नाट्य-सम्राज्ञी सीतादेवी, कोकिलकठी लता बोस, नाट्यकलाकुशल नीलम देवी, सुशीला देवी, हास्य-अभिनेत्री रानी उर्वशी, सुन्दरी अकीला बेगम, मिस हुमा, शाता देवी चदारानी, कमला गुप्ता, बेबी जुबेदा, मिस मलका, मिस दीपू आदि अनेक अभिनेत्रियो की सेवाएँ प्राप्त रही हैं। इन कलाकारो की दीर्घकालीन सेवाओ एव परिश्रम ने मूनलाइट रगमंच को 'हिन्दी का एकमात्र स्थायी रगमच' बनने का गौरव प्रदान किया। प्रारम्भ मे आठ वर्ष तक ये कलाकार बिना किसी विश्राम के सप्ताह मे १५ 'शो' दिया करते थे, किन्तु बाद मे सोमवार को अवकाश रखा जाने लगा, अत. कुल १३ 'शो' ही होते रहे। इन कलाकारो के आत्म-बल का शक्ति-स्रोत है– सस्था के परिचालको द्वारा निश्चित समय से वेतन-वितरण का अटूट नियम। प्रत्येक माह लगभग तीस हजार रु० का व्यय इस थियेटर पर आता था। सामान्यत किसी भी व्यावसायिक मंडली के पतन का कारण रहा है–वेतन-वितरण की अनियमितता। फलस्वरूप मूनलाइट के नाट्य-प्रदर्शनो का प्रवाह अजस्र रहा, अटूट बना रहा। हिन्दी नाट्याभिनय के इतिहास मे न्यू अल्फ्रेड को छोड कर ऐसी कोई भी व्यावसायिक सस्था नही, जो इतने समय तक अप्रतिहत गति से नाट्य-प्रदर्शन के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रख सकी हो और यही है मूनलाइट रगमच की अमूल्य सम्पत्ति और उपलब्धि।

मूनलाइट की सीमित आय और असीमित व्यय, उपलब्धियो और कठिनाइयो मे, व्यय और कठिनाइयो का पलडा भारी बना रहा। अत आज के युग मे जबकि चलचित्रो के प्रसार ने मनोरजन के स्तर को गिरा दिया है, सामाजिको के प्रत्येक वर्ग को आकृष्ट कर आय-व्यय का सतुलन करना आवश्यक था, जिसमे मूनलाइट को सदैव सफलता मिलती रही। आधुनिक युग मे हिन्दी-रगमंच की स्थापना और उन्नयन मे मूनलाइट थियेटर्स का योगदान एक साहसपूर्ण प्रयोग था, किन्तु मराठी के ललितकलादर्श और नाट्य-निकेतन, बँगला के विश्वरूपा थियेटर और लिटिल थियेटर ग्रुप की भाँति मूनलाइट आगे बढ कर कुछ साहसिक प्रयोग न कर सका–अभिनय, रग-शिल्प और नाट्य-विषय की दृष्टि से। अभिनय की दृष्टि से उसकी कला दो दशक पुरानी रही है। इस अभिनय मे पारसी-हिन्दी रगमच की कृत्रिमता और नाट्यधर्मिता का आग्रह रहा है। रग-शिल्प की दृष्टि से उसने यथार्थवादी दृश्य-बंध तथा आधुनिक रगदीपन को कुछ सीमा तक अपनाया, किन्तु उसमे पूर्णता न प्राप्त कर सका। मूनलाइट के नाटको मे फिल्म के माध्यम से कुछ दृश्यो का प्रदर्शन उसके रगशिल्प की अपूर्णता एव दुर्बलता का ही द्योतक है। वाछनीय तो यह होता कि रगदीपन के सभी वैज्ञानिक साधनो का उपयोग कर वस्तुवादी एव प्राकृतिक दृश्य-रचना की जाती। ध्वनि-सकेत के आधुनिक माध्यमों के उपयोग से वातावरण को सजीव बनाया जा सकता है। नाट्य-विषय की दृष्टि से मूनलाइट बेताब युग अथवा विस्तारित बेताब युग की परिधि से बाहर नही निकल सका, यद्यपि कुछ

सामयिक नाटक, यथा रणवीर-'काश्मीर हमारा है' आदि भी उसके मंच पर प्रदर्शित हुये। हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच होने के कारण उसका दायित्व था कि वह हिन्दी के चोटी के नाटककारों को, जिन्हें रंगमंच का भी अनुभव है, नाटक लिखने के लिये आमन्त्रित करता। इन नाटककारों की कृतियों के प्रयोग से मूनलाइट के गौरव की वृद्धि तो होती ही, हिन्दी के नाटककार भी व्यावसायिक मंच को अपने पीछे पाकर, अपने अहं का परित्याग कर, रगमंच के लिए सच्चे अर्थों में नाटक लिखने में प्रवृत्त होते।

मिनर्वा थियेटर—मूनलाइट थियेटर्स के अतिरिक्त कलकत्ते का प्राचीन मिनर्वा थियेटर भी सन् १९४५ से १९४८ तक हिन्दी रंगमंच का प्रमुख केन्द्र रहा। मूलतः यह थियेटर भी मादन थियेटर्स की रंगशाला-शृंखला का ही एक थियेटर था। इसमे सम्बन्धित हिन्दुस्तान थियेटर्स के कार्य-कलापो का विवरण हम पहले दे चुके हैं। इस थियेटर्स के कुछ पूर्व निर्देशक कमल मिश्र, नाटककार कुमार सलेमपुरी, सगीत-निर्देशक मा० मोहन, प्रयोजक कृष्ण कुंडू और प्रबन्धक गौरदास बसाक के स्वतन्त्र प्रयास से मिनर्वा थियेटर में हिन्दी रगमच की स्थापना हुई। इस रगमच का श्रीगणेश शुक्रवार, १८ नवम्बर, १९४५ को[41] 'उदीयमान सफल नाट्यकार' कुमार सलेमपुरी के पौराणिक नाटक 'सती बेहुला' से हुआ, जिसका उद्घाटन ईश्वरदास जालान (बाद मे पश्चिमी बंगाल सरकार के विधि-मंत्री) ने किया। यह नाटक कई रात्रियो तक चला। प्रथम सप्ताह मे यह शुक्रवार और शनिवार को रात को ८॥ बजे से और रविवार को अपराह्न ४ बजे से होने वाले मैटिनी के साथ रात को ९ बजे मे प्रदर्शित हुआ और बाद मे सप्ताह मे चार दिन प्रत्येक मगल और बुधवार को साय ६ बजे से, प्रत्येक शनिवार को रात को ९ बजे से और प्रत्येक रविवार को अपराह्न ३ बजे के मैटिनी के अतिरिक्त रात को ८ बजे से दिखाया जाने लगा। इसमें नाट्य-सम्राज्ञी सीतादेवी ने 'सती बेहुला' की भूमिका की थी। कमल मिश्र द्वारा निर्देशित इस नाटक में 'चकाचौंध पैदा करने वाली दृश्यावलियों', 'हैरत मे डालने वाले ट्रिक सीनों', प्रहसन (कॉमिक) और हिन्दी के गीतों, लावनियों आदि के साथ हरियाणा की तर्जों के मारवाड़ी गीतों की जो परम्परा पारसी-हिन्दी नाटकों की शैली पर प्रारम्भ की गई थी, उसका अनुकरण आगे चल कर हिन्दुस्तान थियेटर्स और मूनलाइट थियेटर्स ने भी किया। मारवाड़ी गीत भँवरलाल सीकरिया ने लिखे थे। दृश्य-रचना की मनोरमता को बढ़ाने के लिये रंगीन आलोक का भी उपयोग किया गया था। नाटक सफल रहा और बहुत लोकप्रिय हुआ। इसके अनन्तर मिनर्वा थियेटर में सलेमपुरी के सामाजिक नाटक 'माँग का सिंदूर' का १७ दिसम्बर को उद्घाटन हुआ, जो कई रात्रियों तक चला। इस नाटक मे मिस हंसा ने नृत्य-निर्देशन किया।

इस नाटक मे भाग लेने वाले प्रमुख कलाकार थे—कमल मिश्र, सीता देवी, मिस नीलम, मिस जुबैदा, मिस शाता, मा० एफ० चार्ली, मोहन मोदी, मा० मनोहर लाल, विमलकुमार, मा० हीरालाल, मा० बद्रीप्रसाद, मिस कनकलता, मिस हसा आदि। इन्ही कलाकारों के सहयोग से हिन्दुस्तान थियेटर्स की स्थापना हुई थी। प्रेमशंकर 'नरसी' जब हिन्दुस्तान से मूनलाइट मे निर्देशक होकर गये, तो इनमे से अधिकांश कलाकार भी वहीं चले गये। इस प्रकार मिनर्वा के हिन्दी रगमच ने मूनलाइट थियेटर्स के पुनर्गठन और विस्तार के लिये पूर्व-पीठिका बन कर एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की।

(ख) अव्यावसायिक रगमंच

आधुनिक युग के अव्यावसायिक रगमच के इतिहास को देखने से विदित होता है कि वह सर्वत्र व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना के पूर्व अथवा उसके अनन्तर, उनकी प्रतिस्पर्द्धा के रूप में, अस्तित्व में आया। यह पहले बतलाया जा चुका है कि गुजराती और हिन्दी के पारसी रंगमच की स्थापना के पूर्व बम्बई के कुछ शिक्षितजनो, कलाकारो और नाटककारो ने मिल कर कुछ नाट्य क्लब स्थापित किये, जो शौकिया किस्म के थे। व्यवसाय उनका उद्देश्य न था। व्यावसायिक पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया-स्वरूप हिन्दी-क्षेत्र में पहले प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और फलस्वरूप भारतेन्दु और उनके मित्र मडल ने 'शिष्टजनों के उपयुक्त' रगमंच की स्था-

पना की । भारतेन्दु के बाद उनके पारिवारिकों और उनके मित्रों ने मिल कर काशी में नागरी नाटक मंडली की और माधव शुक्ल ने प्रयाग के कुछ छुटपुट प्रयासों के बाद कलकत्ते में हिन्दी नाट्य-परिषद् की स्थापना की। गुजराती में मेहता-मुन्शी युग में चन्द्रवदन मेहता और कन्हैयालाल मुन्शी ने बम्बई में अव्यावसायिक रंगमंच की नींव डाली । इस प्रतिक्रिया का कारण सामान्यतः पारसी रंगमंच की कथित अश्लीलता, व्यावसायिक वृत्ति और उसके कारण हिन्दी या गुजराती के नवीन नाटकों के प्रति उपेक्षा की भावना ही रहा है । कुछ हद तक व्यावसायिक मंच के अभिनय की रूढ़िवादिता और कृत्रिमता से ऊब कर शिक्षित और उद्बुद्ध कलाकारों द्वारा नये प्रयोग करने की भावना भी इसके लिये उत्तरदायी रही है । इस प्रकार उसके परिष्कार और पूरक के रूप में अव्यावसायिक रंगमंच ने जन्म लिया । धनसुखलाल मेहता के अनुसार दोनों प्रकार के मंच 'परस्पर-विरोधी नहीं, किन्तु एक-दूसरे के सहायक हैं, पूरक हैं ।'[२०] आधुनिक युग में व्यावसायिक रंगमंच बँगला, गुजराती, मराठी और हिन्दी में है अवश्य, किन्तु यह कुछ केन्द्रों में सिकुड़ कर केन्द्रित होकर रह गया है और आज के युग को अव्यावसायिक रंगमंच ने सर्वत्र आक्रान्त कर लिया है । हिन्दी, मराठी और गुजराती के क्षेत्रों में यह तथ्य अब एक वृहत् सत्य के रूप में उभर आया है । दोनों प्रकार के रंगमंचों के संगठन, प्रयोग-विधि और प्रयोग के विषयों में बहुत बड़ा अन्तर पैदा हो गया है ।

नाट्य-समालोचक एवं उपस्थापक सी० बी० पुरहम का मत है कि व्यावसायिक और अव्यावसायिक मंचों के बीच जो अन्तर है, वह कृत्रिम है और उसे समाप्त कर देना चाहिए। अव्यावसायिकों की एक ही विशेषता है कि वे नाट्य-प्रेम के कारण ही अभिनय करते हैं, परन्तु दूसरी ओर उनकी एक दुर्बलता यह है कि वे मंच और अभिनय के बारे में जो कुछ जानते हैं, वह नगण्य-सा है ।'[२१] एक अन्य विद्वान् का कथन है कि 'अव्यावसायिक रंगमंच' शब्दावली प्रयोग-बाह्य है और उसके लिये 'सहायक रंगमंच' शब्दावली का प्रयोग सर्वाधिक उत्तम है ।[२२] उक्त दोनों मत पश्चिम की परिस्थितियों में सही हो सकते हैं, क्योंकि वहाँ यदि कोई नाटक अव्यावसायिक मंच पर सफल होता है, तो व्यावसायिक मंच उसकी ओर आकृष्ट होता और उसे या उसी कोटि के नाटकों को अपनाने की चेष्टा करता है, परन्तु भारत में ऐसा नहीं है । यहाँ का व्यावसायिक रंगमंच, विशेषकर हिन्दी-रंगमंच अपने ही रंग-शिल्प या प्रयोग-विधि, एक विशिष्ट प्रकार के नाटकों के उपस्थापन आदि तक ही सीमित है, अतः यहाँ दोनों के बीच का अन्तर कृत्रिम नहीं, वास्तविक है । दोनों के संगठन के स्वरूपों और प्रत्येक के अपने-अपने लक्ष्यों में बहुत बड़ा अन्तर है ।

व्यावसायिक नाट्य-मंडली का संचालन उसका मालिक या उसका प्रतिनिधि व्यवस्थापक या दोनों करते हैं, जबकि अव्यावसायिक संस्था के कार्यों का संचालन उसकी कार्यकारिणी, महासचिव, उपस्थापक या निर्देशक करता है । दूसरे, अव्यावसायिक संस्था के कार्यालय सचिव को छोड़ अधिकांश पदाधिकारी अवैतनिक होते हैं । लक्ष्य की दृष्टि से एक का उद्देश्य धनोपार्जन है, तो दूसरी का कला-प्रेम एवं नवीन प्रयोग, अतएव रंगमंच के प्रति निष्ठा और साधना । अव्यावसायिक मंडली प्रायः ऐसे नाटक उठाती है, जिन्हें यहाँ का व्यावसायिक मंच छूने का साहस नहीं करेगा, क्योंकि उसकी कसौटी है—नाटक की व्यावसायिक सफलता । संगठन और दृष्टिकोणों के इस अंतर को अभी या अगले कुछ दशकों तक दूर कर सकना सम्भव नहीं दीखता ।

अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति हिन्दी का अव्यावसायिक मंच एक व्यापक नाट्य-आन्दोलन के रूप में उठ खड़ा हुआ है और हिन्दी में तो उसने अब एक प्रमुख स्थान बना लिया है, अतः उसे 'सहायक मंच' की संज्ञा देना उपयुक्त न होगा । यह आन्दोलन नाटककार-उपस्थापक या निर्देशक-अभिनेता की धुरी पर चलकर अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है ।

आधुनिक युग के रंगमंच का वर्गीकरण

आधुनिक युग के रंगमंच-आन्दोलन को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(एक) प्रसाद-युग की

सक्रिय अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाएँ, (दो) अखिल भारतीय स्तर की नाट्य-संस्थाएँ, (तीन) सरकार द्वारा स्थापित केन्द्रीय एवं राज्य स्तर की संस्थाएँ एवं प्रभाग, तथा (चार) आधुनिक युग की अन्य नाट्य-संस्थाएँ।

(एक) प्रसाद-युग की सक्रिय अव्यावसायिक नाट्य-संस्थायें

प्रसाद-युग मे अनेक छोटी-बडी अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओ की स्थापना कानपुर से लेकर कलकत्ते तक हुई, किन्तु उनमे से केवल दो संस्थाएँ ही ऐसी थी, जो आधुनिक युग मे भी सक्रिय बनी रही। ये हैं—*बनारस की नागरी नाटक मडली और कलकत्ते की हिन्दी नाट्य-परिषद्।*

नागरी नाटक मडली—नागरी नाटक मडली के जन्म से लेकर सन् १९३५ तक का विस्तृत विवरण पहले दूसरे तथा चौथे अध्याय मे दिया जा चुका है। इस काल मे उसने हिन्दी रंगमच और रंग-शिल्प के उन्नयन के लिये सतत् प्रयोग कर न केवल हिन्दी नाटकों की अभिनय-पद्धति को परिष्कृत किया, वरन् नये नाटककारों को नाटक लिखने के लिए भी प्रोत्साहित किया। मडली ने अपने नाट्य-प्रदर्शनो द्वारा अनेक शिक्षा-संस्थाओ तथा कोढ, बाढ़, दगा या भूकम्प-पीडित कोषो के लिये धन-संग्रह भी किया। अब उसका ध्यान हिन्दी रंगमच को स्थायी रूप देने और अपनी एक रंगशाला बनाने की ओर गया फलत सन् १९३५ मे रंगमच-निर्माणार्थ उपलब्ध धन से उसने बनारस मे भूमि खरीद ली और रंगमचीय भाग का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। यह भाग सन् १९३९ में बन कर तैयार हो गया, जिसका विधिवत् उद्घाटन सन् १९४० मे डॉ० (अब स्व०) सम्पूर्णानन्द ने किया।

मडली के रंगमच के सामने की चौडाई ४८ फुट और भीतरी गहराई ५५ फुट है। वास्तविक अभिनय-क्षेत्र है—सामने की चौडाई ३० फुट तथा गहराई ४६ फुट और इस अभिनय-क्षेत्र के दोनों पार्श्वों और नेपथ्य की दीर्घा (गैलरी), प्रत्येक की चौड़ाई ९ फुट है। मच लकडी के तख्तो का बना है, जिसके नीचे के भूगर्भ मे सेटों, वस्त्राभरण, रंगदीपन आदि के यन्त्रो एव लाइटो आदि के रखने का प्रबन्ध है।[३७]

इस रंगशाला का प्रेक्षागृह सन् १९६४-६५ में बनना प्रारम्भ हुआ, जिसमे बालकनी-सहित ११०० व्यक्तियों के बैठने का प्रबन्ध है। इस प्रेक्षागृह का नाम प्रसिद्ध समाज-सेवी स्व० मुरारीलाल मेहता की स्मृति मे 'मुरारीलाल मेहता प्रेक्षागृह' रखा गया है, जिसका शिलान्यास ७ दिसम्बर, १९६४ को गिरिधारीलाल मेहता ने किया था।[३८] प्रेक्षागृह बन कर तैयार हो गया है, जो उत्तर प्रदेश का सबसे बडा प्रेक्षागृह है। हिन्दी के अव्यावसायिक नाट्य-आन्दोलन के इतिहास मे मंडली द्वारा मुरारीलाल मेहता प्रेक्षागृह का दो-ढाई लाख रुपये की लागत से निर्माण एक अभिनन्दनीय एव महत्त्वपूर्ण घटना है।

मडली ने सन् १९४१ से पुनः नाट्याभिनय के अपने कार्यक्रम प्रारम्भ किये। इस वर्ष बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय की रजत-जयन्ती के अवसर पर शिवरामदास गुप्त-कृत 'देश का दुर्दिन' प्रस्तुत किया गया। मडली द्वारा सन् १९४४ मे आदर्श सेवा विद्यालय के सहायतार्थ और सन् १९४५ में पूजा-सम्मिलनी, बनारस के निमन्त्रण पर शिवरामदास गुप्त-कृत 'आशा' (मूल नाम 'मेरी आशा') नाटक खेला गया।

सन् १९४५ से १९४९ तक की अवधि निष्क्रियता मे बीती।[३९] सन् १९५० में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के आमत्रण पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जन्मशती के अवसर पर मडली ने नाट्य-प्रदर्शन कर श्रद्धाजलि अर्पित की। इसके अनन्तर सन् १९५२ तक 'राणा अमरसिंह', 'शालिवाहन', 'मगरमच्छ' और 'कृष्णार्जुन युद्ध' नामक चार नाटक कई बार सफलता के साथ खेले गये। सन् १९५३ मे सारस्वत खत्री उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के लिये 'मगरमच्छ' खेल कर ११७४) रु० उक्त विद्यालय को दिए गये।[४०] इसी वर्ष नागरी प्रचारिणी सभा की हीरक-जयंती मनाई गई। इस अवसर पर मडली ने नाटक और नृत्य के कार्यक्रम प्रस्तुत किये।

सन् १९५४ मे या इसी के आस-पास पृथ्वी थियेटर्स, बंबई ने मंडली के रंगमंच पर अपने नाटक प्रदर्शित

किये और खेलो के अन्त में झोली डाल कर प्रसिद्ध नट एव नाट्याचार्य पृथ्वीराज कपूर ने मंडली के लिए धन एकत्र किया। इसी वर्ष मडली को संगीत नाटक अकादमी से मान्यता प्राप्त हुई।

इसके अनन्तर राजकुमार-कृत दो नाटक खेले गए–'सही रास्ता' (१९५६ ई०) और 'अट्ठारह सौ सत्तावन (१९५७ ई०)। 'सही रास्ता' खेल कर बगाल-पीडितो के सहायतार्थ १३००रु० दिए गए। सन् १९५७ में राजकुमार मडली के मत्री निर्वाचित हुए और सन् १९५९ मे मडली की स्वर्ण-जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गई। इस वर्ष एक साथ चार एकाकी 'अंधेरी रात का उजला तारा', 'राम के राही', 'वतन के लिये' और 'गुण्डा'[१३] तथा वसन्तकुमार सेठ-कृत पूर्णांग नाटक 'लोहे की राखी' खेला गया।

स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर सप्तदिवसीय नाट्य-समारोह मनाया गया, जिसका उद्घाटन बंगाल के तत्कालीन शिक्षा मत्री हरेन्द्रनाथ चौधरी ने किया था और समापन किया उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री डॉ० सपूर्णानन्द ने। समारोह के अध्यक्ष थे राज्य के तत्कालीन शिक्षा मत्री बाद मे मुख्य मत्री, पं० कमलापति त्रिपाठी।

इस समारोह मे वाराणसी की विभिन्न नाट्य-सस्थाओ ने हिन्दी, सस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी, पजाबी और नेपाली भाषा के बीस पूर्णांग नाटक तथा हिन्दी के इक्कीस लघु नाटक (एकाकी आदि) रंगमंच पर प्रस्तुत किये।[१४]

नागरी नाटक मडली एक अर्द्ध-शताब्दी से अधिक से पुरातन और नवीन रगभूमि के बीच एक कडी बनकर हिन्दी रंगमच की सेवा आज भी निरन्तर कर रही है। मंडली ने इधर कई साहसिक प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगो मे उल्लेखनीय हैं–राजकुमार-कृत 'गोपी-विरह' (१९५८ ई०), नीनू मजूमदार-कृत 'चाडियानु सपनो' (१९५८ तथा १९६२ ई०) और सौराष्ट्र की एक मर्मस्पर्शी प्रणय-लोककथा के आधार पर उच्छृग राय द्वारा प्रणीत 'शेणी-विजयानन्द' (१९६० तथा २७-२८ दिसम्बर, १९६२) नामक तीन गीति-नृत्य-नाट्य।

'गोपी-विरह' की कथा सूरदास, नन्ददास, पद्माकर आदि कवियो की रचनाओं से उपयुक्त पदो या छन्दो का चयन करके गूँथी गयी थी। इसमे ३६ रागिनियो का प्रयोग हुआ था। पार्श्व संगीत को कम कर अधिकाश पद्य-सवाद एव गीत गोपियो द्वारा मच पर ही प्रस्तुत किये गये थे। हिन्दी-रंगमच पर यह एक अभिनव प्रयोग था, जिस की मुक्तकठ से प्रशसा हुई थी।[१५]

'चाडियानु सपनो' मूलत- गुजराती मे ही प्रस्तुत किया गया था। इसकी कथा फसल-रक्षक उस ग्रामीण-पुतले पर आधारित थी, जो बांस और काली हँडिया द्वारा तैयार कर लिया जाता है। यह नृत्य-नाट्य मुखौटे लगा कर प्रस्तुत किया गया था। सन् १९६२ मे इसे भारत के तत्कालीन प्रधान मत्री पं० जवाहरलाल नेहरू तथा बर्मा के तत्कालीन प्रधान मत्री ऊ नू ने भी देखा था, जो पं० मदनमोहन मालवीय जन्मशती समारोह मे वाराणसी पधारे थे।

तीसरा प्रयोग 'शेणी विजयानन्द' इन सबमे सर्वोत्तम रहा। इसकी कथा की प्रशसा प्रसिद्ध साहित्यकार एवं मनीषी रोमां रोलां द्वारा भी की जा चुकी है–'मैं समझता था, भारतीय साहित्य सस्कृत भाषा मे ही है, किन्तु 'शेणी-विजयानन्द' को पढ कर मुझको लगा है कि साहित्य भारत के कोने-कोने मे बिखरा पड़ा है।'[१६] मूल गुजराती काव्य के लेखक हैं–उच्छृगराय केशवराय और हिन्दी नाट्य-रूपान्तरकार हैं–डॉ० मानुशकर मेहता। इसे देख कर काशी के सभी सामाजिक, जिनमे प्रतिष्ठित नाटककार, कवि और गायक भी थे, द्रवित हो उठे थे। गीर के वन और हिमालय के वस्तुवादी दृश्यबध (सेट) आधुनिक रंगदीपन-उपकरणो के योग से बडे ही यथार्थ एवं आकर्षक बन गए थे। अभिनय, गायन और नृत्य भी उच्च कोटि का था। कु० रत्ना दत्त ने शेणी और कु० बसरी ने विजयानन्द की सफल भूमिकाएँ की थी। 'शेणी विजयानन्द' खेल कर मडली ने नाट्याभिनय के क्षेत्र मे जो प्रतिमान स्थापित किया, वह अन्य किसी भी भाषा के गीति-नाट्य से टक्कर ले सकता है। इस गीति-नाट्य के प्रदर्शनो से ४१००)रु० एकत्र कर

राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में दिये गये । हिन्दी-रंगमंच के इतिहास में मंडली के ये प्रयोग उज्ज्वल भविष्य के सूचक हैं।

सन् १९५९ में मंडली द्वारा कई नाटक प्रस्तुत किये गये—'गुंडा' (२६ जनवरी), 'उल्का' (मू० ले० डॉ० नीहाररंजन गुप्त, हिन्दी-रूपान्तरकार विश्वनाथ मुखर्जी), डॉ० भानुशंकर मेहता-कृत 'तिकड़म क्लिनिक', 'कफ़न' (प्रेमचंद की कहानी का नाट्य-रूपान्तर), राजकुमार-कृत 'सही रास्ता' तथा 'कागज की नाव' (मिहेल सेबेस्तियन के 'स्टाप प्रेस' का हिन्दी-रूपान्तर) । 'उल्का' में बहुखंडीय मंच पर होटल का दृश्य (दुमंजिला) दिखाया गया था । 'सही रास्ता' में प्रतीक रंग-सज्जा का उपयोग किया गया था। इस नाटक की आय से पश्चिमी बंगाल के बाढ़-पीड़ितों के सहायतार्थ १३००) रु० दिये गये।

सन् १९६० में 'शेणी विजयानन्द' के अतिरिक्त राजकुमार-कृत 'विकलांग सभा' तथा 'ज्वार-भाटा', 'वेडब' बनारसी-कृत 'अभिनेता', विजयकुमार राय-कृत 'पत्थर का इमान', शिवाजी अरोड़ा-कृत 'बचाओ' तथा मुहम्मद इब्राहीम-कृत 'अक्लमंदी' नाटक मंचस्थ किये गये।

सन् १९६१ से १९६४ तक प्रत्येक वर्ष दो-दो नाटक प्रस्तुत किये गये —'ताश का देश' (१९६१ ई०, रवीन्द्र नाथ ठाकुर-कृत 'ताशेर देश' का हिन्दी अनुवाद), 'सबूत का गवाह' (१९६१ तथा १९६३ ई०, अगाथा क्रिस्टी-कृत 'विटनेस फार दि प्रासीक्यूशन' का डॉ० भानुशंकर मेहता-कृत हिन्दी-रूपान्तर), 'चाडियानु सपनो' (१९६२ तथा १९६४ई०), 'शेणी विजयानन्द' (१९६२ई०), 'गृह-प्रवेश' (१९६३ई०), 'तीन अन्धे चूहे' (१९६४ई०, अगाथा क्रिस्टी के 'माउसट्रैप' का डॉ० भानु द्वारा हिन्दी-रूपान्तर)।

सन् १९६८ में हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी के आधार पर ६ अप्रैल को भानुशंकर मेहता के निर्देशन में भारतेन्दु-'सत्य हरिश्चन्द्र' को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया। इसमें ध्वनि-विस्तारक यंत्र तथा विद्युत्-प्रकाश का प्रयोग न कर इसे सौ वर्ष प्राचीन नाट्य-शैली में गैस के प्रकाश में परदों पर प्रस्तुत किया गया था। इस अवसर पर भारत सरकार के गृह मंत्री यशवंतराव चह्वाण, रंग-अभिनेता पृथ्वीराज कपूर तथा अमृतलाल नागर आदि विशेष अतिथि के रूप में उपस्थित थे।

इसी वर्ष ७ दिसम्बर से १३ दिसम्बर तक मंडली ने अपनी हीरक जयंती और रंगमंच शताब्दी समारोह बड़ी धूम-धाम से मनाया। इसी अवसर पर ७ दिसम्बर को श्री मुरारीलाल मेहता स्मारक प्रेक्षागृह का, रंगपूजा तथा पूर्वरंग के उपरांत, पंडितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ ने उद्घाटन किया। रात्रि को भास-कृत 'मध्यम व्यायोग' तथा 'दूत घटोत्कच' नाटक हरिनाम प्रदायिनी द्वारा प्रस्तुत किये गये। संस्कृत नाटकों का उपस्थापन सामान्य कोटि का था। मंडली ने ८ दिसम्बर को प्रसाद-'ध्रुवस्वामिनी', १० दिसम्बर को भगवतीचरण वर्मा-कृत 'दो कलाकार' तथा कृष्णचन्द्र-कृत 'दरवाजे खोल दो' तथा १२ दिसम्बर को मोतीलाल कयूम-कृत 'निरावरण' (या नंगे ?) तथा अरावेल-कृत 'लडाई के मैदान में पिकनिक' (हिन्दी) नाटक मंचस्थ किये। ९, ११ तथा १३ दिसम्बर को क्रमशः नाट्य परिषद् ने ज्ञानदेव अग्निहोत्री-कृत 'टीपू सुल्तान', जोजन मित्र संघ ने 'डार्करूम' (बँगला नाटक) तथा शारदा कला परिषद् ने वसंत कानेटकर-कृत 'ढाई अक्षर प्रेम का' (हिन्दी) अभिमंचित किया।

'ध्रुवस्वामिनी' का निर्देशन भानुशंकर मेहता ने किया, किन्तु कलाकार अपने अभिनय तथा कार्य-व्यापार द्वारा प्रसाद के नाटक का प्रत्यक्षीकरण न करा सके। 'दो कलाकार' तथा 'दरवाजे खोल दो' (दोनों एकांकी) प्रस्तुति की दृष्टि से सामान्य स्तर के रहे। 'लडाई के मैदान में पिकनिक' एक असंगत नाटक है, जिसमें युद्ध के विरुद्ध मानवीय संवेदनाओं को उभारा और मुखरित किया गया है। कुँवर जी अग्रवाल के अनुसार 'शौकिया प्रस्तुति के कच्चेपन से मुक्त न होने पर भी यह नाटक पूरे समारोह का विशिष्ट आकर्षण था।'[११] 'निरावरण' के कथ्य में प्रौढता का अभाव था और उसका उपस्थापन-पक्ष भी दुर्बल रहा।

'टीपू सुल्तान' एक सामान्य ऐतिहासिक नाटक है, जिसका प्रस्तुतीकरण पारसी शैली पर किया गया था।

'ढाई आखर प्रेम का' समारोह का सर्वाधिक सफल हास्य-नाटक था, जिसने सामाजिको को उन्मुक्त भाव से हँसाया।

आधुनिक रंग-शिल्प की दृष्टि से मंडली ने काफी प्रगति की है। रंगदीपन के लिए अब आधुनिक विद्युत्-उपकरणो के उपयोग से उसकी रंग-सज्जा और पात्रो की वेष-भूषा निखर आती है। नाटको मे परदो की जगह त्रिभुजीय या सदूकिया दृश्यबन्धो का उपयोग किया जाता है। रंग-सज्जा मे निष्णात सरयू बर्फ वाले का कला-निर्देशन इन दृश्यबन्धो मे चार चांद लगा देता है।[३१६] मंडली की यह उल्लेखनीय उपलब्धि है। मंडली की उपलब्धियो से प्रभावित होकर उत्तर प्रदेश की सरकार ने उसे अनुदान भी देना प्रारम्भ कर दिया है।

हिन्दी नाट्य परिषद् – नागरी नाटक मंडली को हरिदास माणिक, आनन्द प्रसाद कपूर, शिवरामदास गुप्त, डॉ० भानु मेहता और राजकुमार जैसे कई नाटककारो का सक्रिय सहयोग प्राप्त रहा है, तो कलकत्ते की हिन्दी नाट्य-परिषद् को केवल प० माधव शुक्ल जैसे कट्टर राष्ट्रवादी एव क्रान्तिकारी कवि एव नाटककार का ही योगदान उपलब्ध था। शुक्ल जी कुशल नट और नाट्याचार्य भी थे। परिषद् द्वारा जितने भी नाटक खेले जाते थे, उनका निर्देशन वे स्वय करते थे और प्राय नायक की भूमिकाएँ भी वे ही करते थे।[३१७]

सन् १९३८-३९ मे नाट्य-निर्देशन का भार परिषद् के सभापति देवदत्त मिश्र के ऊपर आया। उनके निर्देशन मे हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'शिवा साधना' का 'स्वराज्य-साधना' के नाम से अभिनय किया गया।[३१८] यह नाटक भी परिषद् की राष्ट्रीय भावना के अनुकूल था।

सन् १९३९-४० मे नट एव नाट्याचार्य ललितकुमार सिंह 'नटवर' परिषद् के निर्देशक चुने गये। राष्ट्रीयता से पूर्ण पौराणिक-ऐतिहासिक नाटको के साथ सामाजिक नाटक भी खेले जाने लगे थे। इन सामाजिक नाटको का उद्देश्य भी समाज-सुधार के द्वारा राष्ट्रीय शक्ति एव चेतना को सुदृढ करना होता था। 'नटवर' जी के निर्देशन मे गोविन्द वल्लभ पंत-कृत 'अंगूर की बेटी' (१९४०ई०), हरिकृष्ण 'प्रेमी'-कृत सामाजिक नाटक 'छाया'(१९४१ई०) और 'राजस्थान-गौरव' (१९४४ ई०, मूल नाम 'आहुति'), अनुरूपा देवी के बँगला उपन्यास 'महानिशा' के बँगला नाट्य-रूपान्तर का हिन्दी अनुवाद 'पुनर्मिलन' (१७ अगस्त, १९४३) आदि दस-बारह नाटक मचस्थ हुए।[३१९] 'राजस्थान गौरव' मे देवदत्त मिश्र ने रणथभौर के महाराव हम्मीरसिंह, रविराज कपूर ने बडे राजकुमार जयसिंह, 'नटवर' जी ने दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन, हरिशंकर शर्मा ने सेनापति मीर यहिया, जगदीश प्रसाद बाथम ने महारानी देवल, मोहनराव बाथ ने दुर्गेश-कन्या चपला और राजेन्द्र मोहन अरोडा ने राजकुमारी की भूमिकाएँ की। प्राय पुरुष ही स्त्रियो की भूमिकाएँ किया करते थे, जो मराठी के बाल-गंधर्व और गुजराती के जयशंकर 'सुन्दरी' की तुलना मे किसी भी प्रकार हीन नही होती थी। पुरुषों की स्त्री-भूमिकाएँ ही नही, पुरुष-भूमिकाएँ भी उच्च-स्तर की होती थी। सगीत बब्बन का था और नृत्य-निर्देशक थे–जमुनाप्रसाद पाडेय।

'पुनर्मिलन' को देखकर अमेरिका के युद्ध-सूचना कार्यालय के निदेशक राबर्ट रैण्ड ने कहा था कि भारतीय नाटक श्रेष्ठता के उच्च स्तर पर पहुँच चुका है और उन्हें भाषा को छोड कर अमेरिका मे और यहाँ देखे नाटको मे कोई अन्तर नही दिखायी पडता। स्त्री-भूमिकाओ मे पुरुषों का अभिनय बहुत पूर्ण था और यह उनके लिए और अमेरिका के लिए भी एक नयी चीज़ थी[३२०]। डॉ० पट्टाभिरमैया भी इस नाटक को देखकर बहुत प्रभावित हुए थे।[३२१]

७ अप्रैल, १९४३ को नाट्य-परिषद् की आत्मा और मूल-चेतना प० माधव शुक्ल का रांची मे निधन हो गया।[३२२] उनकी मृत्यु के बाद भालचन्द्र शर्मा परिषद् के सभापति और देवदत्त मिश्र उसके एक उपसभापति चुने गये। मिश्र जी ने परिषद् के कई नाटको का निर्देशन कुशलता के साथ किया और उनमे स्वय नायक का अभिनय भी किया। सन् १९४८ मे कानपुर से दैनिक 'विश्वमित्र' का प्रकाशन प्रारम्भ होने पर मिश्र जी कानपुर चले आये और कुछ काल के लिए परिषद् का काम पुनः ठप्प हो गया।[३२३]

सन् १९५४ में परिषद् पुनः सक्रिय हुई और प्रधान मंत्री की चीन-यात्रा के उपरान्त उनके भारत लौटने के अवसर पर द्विजेन्द्र-'चन्द्रगुप्त' के हिन्दी अनुवाद का 'चाणक्य' के नाम से रंगमहल में २ नवम्बर, १९५४ को रात को ७।। बजे से प्रदर्शन किया गया। निर्देशन के साथ 'नटवर' जी ने चाणक्य की, तुलसीलाल श्रेष्ठ ने चन्द्रगुप्त, हरिकृष्ण शुक्ल ने सिकन्दर, बद्रीप्रसाद त्रिवेदी 'बादल' ने सेल्यूकस, सुश्री छन्दा देवी ने हेलेन और गीनाश्री ने छाया की भूमिकाएँ की। सभवत यह पहला अवसर था, जब स्त्रियो ने परिषद् के नाटक मे स्त्री-भूमिकाएँ की। सन् १९५६ में युगलनारायण वाजपेयी के निर्देशन में हरिकृष्ण 'प्रेमी' का 'आहुति' और प्रेमचन्द्र के उपन्यास 'गबन' का छेदीलाल गुप्त-कृत नाट्य-रूपान्तर सफलता के साथ खेले गए।[११४]

इस युग में परिषद् के नाटक प्राय. रगमहल, मिनर्वा आदि रगालयों मे अभिनीत हुए।

आज-कल यह संस्था पुन निष्क्रिय है। दीर्घावधि तक रगमंच के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना और स्वातन्त्र्य-प्रेम की लहर को अपने साथ ले चलने वाले माधव शुक्ल जैसे गतिशील व्यक्तित्व के आश्रय का असामयिक उच्छेद और उनकी-सी क्षमता वाले कर्मठ व्यक्तियों के कलकत्ते से चले जाने के कारण हिन्दी नाट्य-परिषद् जैसी तेजस्वी एव सक्रिय नाट्य-सस्था का म्रियमाण हो जाना स्वाभाविक है, किन्तु सन्तोष का विषय है कि उनका पदानुसरण कर कलकत्ते मे आज अनेक नाट्य-सस्थाएँ हिन्दी रगमच की अबाध गति से सेवा कर रही हैं।

(दो) अखिल भारतीय स्तर की नाट्य-संस्थाएँ

भारतीय जननाट्य संघ – आधुनिक युग की प्रवृत्ति विज्ञान और सभ्यता के विकास के साथ आत्मविस्तार की रही है, अत इस युग की नाट्य-चेतना कुछ नगरो मे ही केन्द्रित बनी रह कर नही रह सकती थी। दूसरे, भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ प्रान्तीयता और भाषाओ के घरौदो को तोड कर नवीन विचारों, नवीन चेतना और नवीन वैज्ञानिक उपलब्धियों को पहुँचाना आवश्यक था, इस चेतना को बदिनी बना कर रखना सभव भी न था। अतः उसे उन्मुक्त कर मुक्त वातावरण मे इस नाट्य-चेतना का पारस्परिक संपर्क, आदान-प्रदान, समन्वय एव संग्रथन अनिवार्य हो गया। इसी नवचेतना का परिणाम था – सन् १९४३ मे अखिल भारतीय स्तर पर भारतीय जननाट्य सघ (इंडियन पीपुल्स थियेटर असोसिएशन) की स्थापना। इसके प्रथम अध्यक्ष थे-प्रख्यात श्रमिक-नेता एन० एम० जोशी और मत्राणी सुश्री अनिल डि सिलवा।[११५]

भारतीय जननाट्य सघ के जन्म के पूर्व ही उसके आगमन की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। यह पृष्ठभूमि एक साथ विश्वयुद्ध और राजनैतिक विचारो के सघर्ष, राष्ट्रीय क्रान्ति और उसके प्रतिकार और प्रतिशोध के लिए दमन, अत्याचार और मानव-कृत अकाल, निम्न और मध्य वर्ग के उत्पीडन एव नैतिक पतन, ध्वस और अस्तित्व के द्वन्द्व से निर्मित है, जिसमे विकल मानवता व्यक्ति नहीं, समष्टि-अभिव्यक्ति की, प्रकाश की राह जोह रही थी। द्वितीय विश्वयुद्ध की लपटें फैली और जर्मनी का मित्र बन कर जापान भारत की पूर्वी सीमाओ पर आ खडा हुआ। भारत के साम्यवादी दल ने रूस के मित्रराष्ट्रों की ओर होने से इस युद्ध को 'जनयुद्ध' घोषित कर दिया। फलतः युद्ध-विरोधी भावना लेकर, जिसमे हिटलर, मुसोलिनी और जापानी अधिनायकवाद के विरुद्ध रोष भरा था, इस दल के कलाकारो ने रगमच से युद्ध-विरोधी नाट्य-प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिये, कई जगह विशेषकर बम्बई में। दूसरी ओर इस दल के विचारो से असहमत होकर देश की राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने सामान्यत युद्ध-प्रवृत्तियो और युद्ध-प्रयासो के विरोध मे, आत्म-मुक्ति, राष्ट्र-मुक्ति की भावना लेकर तत्कालीन विदेशी शासको के विरुद्ध एक स्वर से नारा दिया –'अंग्रेजो, भारत छोडो' और इस स्वर को गुंजित रखने के लिए राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने एक मत्र दिया–'करो या मरो'। यह मंत्र प्रत्येक देशवासी के लिए था–हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई या पारसी कोई भी हो वह। बर्मा और इम्फाल मे नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज लेकर भारत की स्वतन्त्रता का, स्वतन्त्र अस्थायी भारत सरकार का ध्वज गाड दिया। तत्कालीन विदेशी सरकार पराजय के बाद पराजय खाकर

विचलित हो उठी और उसने दमनचक्र तेज कर दिया, बुद्धि और शक्ति के असफल होने पर उसने छल का, कूट-नीति का सहारा लिया, जिसका अनिवार्य परिणाम था—बगाल की सुहरावर्दी सरकार के विरुद्ध मुस्लिम लीग की 'सीधी कार्यवाही' और मानव-कृत सर्वग्राही अकाल। युद्ध, दगे और अकाल, इन तीनो ने बंगाल की, उसके निम्न और मध्यम वर्ग की प्रजा की कमर तोड दी। लाखो व्यक्तियो ने अन्न के मुट्ठी भर दानो के लिए तरस कर दम तोड दिये, कलकत्ते के राजमार्ग और फुटपाथ उनके शवो से भर उठे और बगाल की नारी की इज्जत कौडियों मोल बिक गई। जितने मरे, उनसे अधिक की नैतिक मृत्यु हो गयी।[१११]

सन् १९४२ मे ही दुष्काल की छाया दिखाई पडने लगी। बगाल के दुख-दर्द, आशा-निराशा, भय और विश्वास को वाणी देने के लिये कलकत्ते मे बगाल कल्चरल स्क्वाड की स्थापना हुई और यह स्क्वाड बंगाल की करुण पुकार देश के कोने-कोने तक पहुँचाने के लिये, अपने दस-बारह कलाकारो के छोटे से दल को लेकर भारत-भ्रमण के लिये निकल पडा। इस दल के नेता थे—गायक-कवि विनय राय, तरुण एव स्वप्नद्रष्टा, भावी से सघर्ष के लिये सन्नद्ध। इस दल मे स्त्रियो के साथ आज के फिल्मी कलाकार प्रेम धवन भी थे। सन् १९४२ के प्रारम्भ मे यह दल आगरे पहुँचा और अपना रगारग कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसमे जन-सघर्ष और बगाल के सुख-दुख और हाहाकार का चित्रण था। आगरे मे कवि विनय राय के स्वरो मे बगाल का यह हाहाकार गूँज उठा—'सुनो हिन्द के रहने वालो, सुनो बँगला के खबरिया ना, कि बँगला देश मे मचा है हाहाकार।' इससे यहाँ के कलाकारो को प्रेरणा प्राप्त हुई। राजेन्द्र रघुवंशी और बिशन खन्ना के नेतृत्व मे उनकी एक सस्था बनी—आगरा कल्चरल स्क्वाड। १ मई, १९४२ को इस सस्था का उद्‌घाटन राजेन्द्रसिंह रघुवशी-कृत एकाकी 'आज का सवाल' के प्रदर्शन से हुआ। यह नाटक बेकर पार्क (अब सुभाष पार्क) मे खुले मच पर बिना किसी परदे के किया गया। यह निम्न मध्य वर्ग और श्रमिको की समस्याओं से सबन्धित था।[११४] नये नाटक, नये ढग की अभिनय-पद्धति और मच, सब कुछ नया।

अलीगढ मे इसी वर्ष अखिल भारतीय किसान सम्मेलन के अवसर पर आगरे के स्क्वाड द्वारा रघुवशी-कृत नृत्य-नाटिका 'लोहे की दीवार' प्रस्तुत की गयी, जिसमे स्त्रियो ने ही स्त्रियो की भूमिकाएँ की, जिनमे प्रमुख थीं—श्रीमती रेखा जैन ('नटरग'-सपादक नेमिचन्द्र जैन की पत्नी), श्रीमती आशा अग्रवाल (भारत भूषण अग्रवाल की पत्नी) आदि। पुरुष-भूमिकाओ मे प्रमुख थी—अँग्रेज (वीरपाल), नवाब (बिशन खन्ना, आगरा के प्रसिद्ध सितार-वादक अजय खन्ना के चाचा), राजा (कामता प्रसाद) तथा जनता (राजेन्द्र रघुवशी)। नाटिका का कथ्य था—साम्प्रदायिक फूट, जमीदारो के द्वारा अंग्रेजो की चाटुकारिता तथा स्वय अँग्रेजो के विरुद्ध सघर्ष के लिये जनता का एक होकर मोर्चा। इस नाटिका के लगभग ५० प्रदर्शन हुए। नृत्य-निर्देशन ए० सी० पाड्या ने किया।[११८] सन् १९-४२ तथा १९४३ मे आगरा स्क्वाड ने बगाल के दुर्भिक्ष-पीडितो के सहायतार्थ आगरा तथा पास के नगरो मे अनेक नाट्य-प्रदर्शन किये।

उक्त सोद्देश्य एव सामाजिक - राष्ट्रीय नाटको के अतिरिक्त कुछ नृत्य-नाटिकाएँ भी प्रस्तुत की गयी, जिनके कथानक पुराण और इतिहास के आख्यानो पर आधारित थे। इनमे प्रमुख हैं—'गोवर्धन लीला', 'कृष्णार्जुन-युद्ध,' 'सिद्धार्थ' आदि। 'गोवर्धन लीला' मे इद्र को आधुनिक सदर्भों मे साम्राज्यवादी शोषक के रूप मे चित्रित किया गया था। इसमे बी० डी० जोशी ने कत्थक शैली मे इद्र की तथा नर्तक डी० के० राय ने उसी शैली मे कृष्ण की भूमिका की।

विनय राय का दल दिल्ली आदि नगरो मे होता हुआ सन् १९४३ मे लाहौर पहुँचा।[११९] 'भूखा है बगाल' और 'बगाल के विभइवे ना', इन दो दर्द-भरे गीतो को सुनकर लाहौर के सामाजिको की आँखो से आँसू छलक पडे थे। बिना किसी रग-सज्जा अथवा रगोपकरण के प्रदर्शन अत्यत सफल रहा। वाई० एम० सी० ए० हाल खचाखच भरा रहता था। केवल पंजाब से इस दल को एक लाख रुपये मिले।[१२०] सभवत. यह दल बाद मे बबई

भी गया ।

इसी प्रकार के अनेक नाट्य-दल अपने नाटक, नृत्य, संगीत आदि के कार्यक्रम लेकर निकल पड़े और देश के भिन्न-भिन्न भागों में जाकर बंगाल के अकाल के प्रति लोक-चेतना जागृत की । इन प्रदर्शनों के लिये चित्र-फ्रेम वाले रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती थी । ये प्रायः खुले मंच पर किये जाते और इस प्रकार सामाजिकों और रंगमंच के बीच की दीवार भी टूट गयी ।

बंबई, कलकत्ता, उत्तर प्रदेश, पंजाब आदि अन्य प्रदेशों के सभी सांस्कृतिक दल सन् १९४३ में एकाकार हो गये और भारतीय जन नाट्य संघ का केन्द्रीय संगठन बलवान पृष्ठभूमि में शक्ति-संग्रह कर अग्रसर हो चला । प्रायः प्रत्येक प्रदेश में संघ की शाखाएँ खुल गयीं । प्रदेश और भाषाओं की दीवारें ढह गईं और एक बार समस्त प्रदेशों के कलाकारों ने रंगमंच के माध्यम से, भारत की सम्पूर्ण आत्मा के, भावात्मक एवं रागात्मक एकता के दर्शन किये । संघ के केन्द्रीय बैले दल (सेन्ट्रल बैले ट्रुप) ने देश के प्रायः सभी प्रमुख नगरों में घूम कर 'भारत की आत्मा' और 'अमर भारत' (१९४५ ई०) तथा अन्य नृत्य-नाट्यों के प्रदर्शनों द्वारा देश की इसी सम्पूर्ण आत्मा और एकता के दर्शन सामाजिकों को कराये । अमर भारत में भारत के गत दो सहस्र वर्षों का इतिहास देकर ब्रिटिश नीति का भंडाफोड़ किया गया है ।[३१] यह नेहरू की पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इंडिया' पर आधारित था । इन नृत्य-नाट्यों के निर्देशक थे प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर के सहकर्मी शान्तिवर्धन और संगीत दिया उदयशंकर (अब स्वर्गीय) के भाई और प्रसिद्ध सितार-वादक रविशंकर ने । इन नृत्य-नाट्यों के निर्माण में शास्त्रीय एवं लोकधर्मी नृत्यों दोनों का आधार लिया गया था । सन् १९४६ में नौसेना-विद्रोह के आधार पर आधारित 'नव भारत' नृत्य-नाट्य का प्रदर्शन किया, किन्तु तत्काल बंबई सरकार द्वारा प्रतिबंध लगा दिया गया । इन नृत्य-नाट्यों में प्रायः छः-सात युवतियाँ तथा दस-पन्द्रह युवक नर्तक हुआ करते थे, जो अपने को 'क्रूसेडर' मानकर कला के माध्यम से देश के पुनर्जागरण के यज्ञ में रत रहा करते थे । युवतियाँ भी ऊँचे सम्भ्रान्त घरानों की, कलानुरागिनी और चरित्रवान हुआ करती थीं, जो दिन-रात अथक श्रम कर परिधान बनाने और उन्हें रँगने, पूर्वाभ्यास करने आदि में लगी रहती थीं और कमरों में झाड़ू लगाने या खाना परोसने में भी संकोच नहीं करती थीं ।[३२] संघ का नृत्य-नाट्य विभाग अंधेरी में था, जो रविशंकर और शान्तिवर्धन के निर्देशन में काम किया करता था । संघ का नाटक विभाग सैंडहर्स्ट रोड पर था, जहाँ बलराज साहनी नाटकों का निर्देशन किया करते थे ।[३३]

सन् १९४४ में भारतीय जननाट्य संघ की बंगाल शाखा ने विजन भट्टाचार्य के 'जबानबंदी' और 'नवान्न' खेल कर एक नवीन युग का सूत्रपात किया । वस्तु-विषय और रंग-शिल्प, दोनों ही दृष्टि से 'जबानबंदी' में एक कृषक की स्वप्न में कलकत्ते के फुटपाथ या सेन में पतन खाकर मृत्यु प्रदर्शित की गयी है, तो 'नवान्न' में कृषक-जीवन की वेदना—अकाल, महामारी और पेट की मार, सबके विरुद्ध, असहाय कृषकों की प्रतिरोध भावना का सुन्दर चित्रण हुआ है । 'नवान्न' के वस्तुवादी अभिनय ने शंभु मित्र और विजन भट्टाचार्य के कुशल निर्देशन में तत्कालीन बंगला रंगमंच पर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया । व्यावसायिक मंच भी मंत्रमुग्ध होकर रह गया ।[३४] इसके प्रदर्शन में विविध फ्लैटों अथवा वस्तुवादी उपकरणों का प्रयोग न कर मंच पर सामान्य टाट के पर्दों और स्थल-सूचक कुछ प्रतीकों का प्रयोग किया गया था ।[३५] किन्तु इस नाटक की वस्तु का महत्त्व उसके रंगशिल्प से कहीं अधिक है ।[३६]

'जबानबंदी' के हिन्दी-रूपांतर 'अमर अभिलाषा' का अभिनय बंबई के दल ने प्रस्तुत कर बंगाल के अकाल-पीड़ितों के लिये धन-संग्रह किया । इसके अनन्तर इसे अहमदाबाद, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के दलों द्वारा भी प्रदर्शित किया गया । इस प्रकार देश के एक कोने से उठा हुआ स्वर प्रतिध्वनित होकर दूसरे कोने तक पहुँच गया । बंगाल का अकाल एक राष्ट्रीय समस्या बन गया, जिसे सारे देश ने मिल कर दूर करने की चेष्टा की, किन्तु एक

सीमा के भीतर ही।

सन् १९४६ मे उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के निर्देशन मे उनका 'तूफान से पहले' मंचित किया गया, जो सज्जाद ज़हीर (बन्ने भाई) के प्रखर अनुरोध पर देश मे घटित साम्प्रदायिक वैमनस्य और दंगों के विरुद्ध लिखा गया था। 'अश्क' नित्य इस कार्य के लिये मलाड से चल कर बीस मील दूर सैंडहर्स्ट रोड जाया करते थे और नये कलाकारो को (जो प्राय गुजराती या मराठी थे) पूर्वाभ्यास कराया करते थे। दो माह के श्रम के अनन्तर 'अश्क' अस्वस्थ होकर राजयक्ष्मा के रोगी बन गये।[१७] अंतिम रूप से नाटक होने पर संघ के प्रमुख कलाकारो ने ही उसमें भाग लिया और वह अत्यन्त सफल रहा, परन्तु बम्बई सरकार ने उस पर यह कह कर प्रतिबन्ध लगा दिया कि इससे सांप्रदायिक कटुता बढेगी।[१८]

सन् १९४७ मे ख्वाजा अहमद अब्बास-कृत 'मैं कौन हूँ' मंचस्थ हुआ, जो बंगला के 'नवान्न' की भांति विषय और रंगशिल्प की दृष्टि से एक नया प्रयोग था। इसमे भारत-विभाजन की पृष्ठभूमि मे एक शरणार्थी के आंतरिक संघर्ष का मार्मिक और तत्त्व-वेधक चित्रण किया गया है। इसमे विभिन्न स्थलो की सूचना के लिये मंच पर सामान्य-से प्रतीक परिवर्तन कर दिये जाते थे।[१९] यह नाटक कई बार प्रदर्शित किया गया।

सन् १९४८ मे बम्बई मे दो नाटक खेले गये—राजेन्द्रसिंह बेदी-कृत 'नकले मकानी' और बाद मे 'जादू की कुर्सी'।[२०] 'नकले मकानी' बम्बई की चालो मे श्रमिको के बीच खेला गया। इसमे ज़ोहरा सहगल तथा हबीब तनवीर ने क्रमश. नायिका और नायक का काम किया था। इसके बाद सुन्दर बाई हाल मे इसके नियमित प्रदर्शन हुए। 'जादू की कुर्सी' एक व्यंग्य नाटक है, जो मोहन सहगल के निर्देशन मे खेला गया। इसमे कुर्सीधारी सत्ताधीशो पर व्यंग्य किया गया था। इस नाटक की कोई विधिवत् पाण्डुलिपि न होकर एक कामचलाऊ ढांचा तैयार कर लिया गया था। बलराज साहनी ने इसमे सूत्रधार और हबीब तनवीर ने जज की भूमिकाएँ की थी। इसमे दीना गांधी ने भी काम किया था। यह बबई और उसके आस-पास के क्षेत्रो के अतिरिक्त इलाहाबाद, जबलपुर आदि नगरो मे भी प्रदर्शित हुआ था। इलाहाबाद मे इसके प्रदर्शन के अनन्तर सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश मे उसके अभिमंचन पर रोक लगा दी गयी।[२१]

सन् १९४९ मे प्रेमचन्द की कहानी 'शतरंज के खिलाडी' के आधार पर हबीब तनवीर-कृत 'शतरंज के मोहरे' नाट्य-रूपांतर खेला गया। यह त्रिअंकी था।[२२] इसके अनन्तर तेलगाना-संघर्ष की पृष्ठभूमि पर विश्वामित्र 'आदिल'-कृत 'दक्खन की रात' नामक प्रचारात्मक नाटक बबई मे मंचस्थ हुआ। इसके वृद्ध नायक बने थे तनवीर और निर्देशक थे-बलराज साहनी।[२३] 'दक्खन की रात' कई रात्रियो तक चला।

इन नाटको मे 'शतरंज के मोहरे' की भाषा उर्दू थी, किन्तु शेष तीनो नाटको की भाषा सरल, बोलचाल की हिन्दी।

सन् १९४७ मे देश के स्वतन्त्र हो जाने पर देश की समस्याएँ बदली और भा० ज० ना० संघ का स्वर भी बदला और उसने एक ओर भारत-विभाजन से उत्पन्न राष्ट्रीय समस्याओं—हिन्दू-मुस्लिम दंगो की असामाजिकता एवं संकीर्णता और शरणार्थियो के पुनर्संस्थापन की समस्या आदि की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया, तो दूसरी ओर ब्रिटिश रीति-नीति और उसकी जगह प्रतिष्ठित राष्ट्रीय सरकार की असफलताओं पर तीखे व्यंग्य भी कसे गये। इस बदले हुये स्वर के साथ अहमदाबाद मे अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन गुजराती के प्रसिद्ध नाटककार यशवंत ठाकर के सक्रिय प्रयास से हुआ। इस सम्मेलन मे संघ एक राष्ट्रीय रंगमंच के रूप मे सामने आया। भीष्म साहनी-कृत 'भूत गाडी' बलराज साहनी के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया, जो सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया।[२४] इसी पर बाद मे बलराज साहनी ने 'लाल बत्ती' नामक फिल्म बनाई थी। इसके कुछ पूर्व सन् १९४६ मे ख्वाजा अहमद अब्बास के निर्देशन मे १९४३ के बंगाल-अकाल की पृष्ठभूमि पर 'धरती के लाल' फिल्म बन चुकी

ऊपर : इप्टा के सक्रिय रगकर्मी एव निर्देशक बलराज साहनी तथा
नीचे : आगरा जन नाट्य संघ, आगरा द्वारा मंचस्थ साहबसिंह मेहरा-कृत 'चौपाल'
का एक दृश्य . (बाएँ से दाएँ) रघुनाथ सहाय, मदन सूदन, बाबूलाल तथा अन्य

(राजेन्द्र रघुवंशी, आगरा के सौजन्य से)

थी, जिसमें मुख्य भूमिकाएँ तृप्ति भादुड़ी (अब शंभु मित्र की पत्नी), अनवर मिर्ज़ा, बलराज साहनी और उनकी स्वर्गीया पत्नी दमयंती साहनी ने की थी। यह पहला भारतीय चित्र था, जिसे रूस और साम्यवादी देशों में दिखाया गया था।[३५]

'भूत गाड़ी' मे हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक दगों मे असामाजिक तत्त्वों की गर्हित भूमिका—शस्त्र-संग्रह और विक्रय तथा अंग्रेजो की कूटनीति तथा देश के सर्वनाश की योजना का भंडाफोड़ किया गया था।

सम्मेलन मे बबई और गुजरात के अतिरिक्त बगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान के नाट्यदलों ने भाग लिया और कलाकृतियों का परस्पर आदान-प्रदान कर एक भाषा के नाटक या गीत को सारे भारत में प्रसारित करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। बँगला के 'नीचेर महल' (गोर्की-'लोअर-डेप्थ्स' का रूपांतर) को सन् १९५६ मे हिन्दी मे 'नीचा नगर' के नाम से बबई मे खेला गया।[३६] अनुवादक थे गोविन्द माल्हा।

इसके अनन्तर अखिल भारतीय स्तर के सम्मेलन प्रयाग, लखनऊ, बंबई, दिल्ली आदि कई नगरों मे हुए। बबई के सातवें सम्मेलन (१९५३ ई०) मे पहली बार माँगो का एक स्मृतिपत्र तैयार कर यह निश्चय किया गया कि नाट्य-कला के विकास के मार्ग मे आने वाली सभी बाधाओं के विरुद्ध संघर्ष किया जाय।[३७] दिल्ली में सघ का आठवाँ अधिवेशन २३ दिसम्बर, १९५७ से १ जनवरी, १९५८ तक रामलीला मैदान मे हुआ, जहाँ वृहत् रगमंच और विशाल पडाल का निर्माण किया गया, जिसमें ६००० सामाजिको के बैठने की व्यवस्था की गयी थी। बाहर से आये एक सहस्र अतिथि कलाकारो के रहने के लिये लगाये गये शिविरो की एक नयी नगरी ही बस गई, जिसका नाम रखा गया—'नटराज नगरी'। २३ दिसम्बर, १९५७ को इस सम्मेलन का उद्घाटन उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने किया और राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने एक सन्देश भेज कर सफलता के लिये शुभकामनाएँ प्रकट की थी।[३८] डॉ० राधाकृष्णन् ने अपने उद्घाटन-भाषण में कहा कि कलाकार या कला वह है, जो सभी असंपृक्त दलों को एक में मिला दे और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा दे।

सघ द्वारा 'युगो से रंगमच की यात्रा' नामक एक प्रदर्शिनी का भी आयोजन किया गया था, जिसका उद्घाटन राजकुमारी अमृत कौर ने किया था।

इस अवसर पर अन्य भाषाओं की कृतियों के साथ हिन्दी तथा प्रस्तुत अध्ययन की सभी भाषाओं में कई सुन्दर नाटक खेले गये। हिन्दी मे बिहार ग्रुप द्वारा अभिनीत 'पीर अली' और आगरा दल-द्वारा प्रस्तुत एकांकी 'प्लानिंग'[३९] सुन्दर प्रयास थे। 'पीर अली' मे सन् १८५७ की क्रान्ति और उस काल के राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का चित्रण है, जबकि 'प्लानिंग' मे अकिल पोज़र के प्रतीक राय साहब के माध्यम से सरकार की कागज़ी योजनाओ पर करारा व्यग्य किया गया है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता-पूर्व के जागीरदारी-जीवन पर आधारित अन्नाभाऊ साठे-कृत 'इनामदार' का हिन्दी-रूपांतर बंबई ग्रुप ने प्रस्तुत किया था।[४०]

इसके अतिरिक्त बँगला में दीनबधु मित्र-कृत 'नीलदर्पण' और लोकनाट्य 'राहु-मुक्त' (यात्रा शैली), मराठी मे 'ज्वाला' तथा गुजराती मे चन्द्रवदन मेहता का 'माझम रात' उल्लेखनीय नाट्य-प्रदर्शन थे।[४१] बँगला ग्रुप द्वारा प्रस्तुत 'एक पैसार भोपू' नामक गीति-नाट्य भी भाव, अभिनय, रंग-शिल्प आदि की दृष्टि से एक सुन्दर कृति था।[४२]

संघ के इतिहास में यह सम्मेलन और नाट्य-नृत्य-संगीत समारोह अभूतपूर्व था। इस समारोह के विविध कार्यक्रमों को दस दिन तक लगभग साठ हजार व्यक्तियो ने देखा। इस अवसर पर संगीत नाटक अकादमी से संघ को मान्यता भी प्राप्त हुई, जो नाटक और कला के क्षेत्र में सघ के बहुमुखी कामों की एक स्मरणीय स्वीकृति थी।

इस प्रकार कुछ परिसीमाओ के बीच भा० ज० ना० सघ ने अखिल भारतीय रूप तो शीघ्र ही प्राप्त कर लिया, किन्तु कुछ प्रदेशो मे विशेषकर बंगाल के नाट्य-दल बहुरूपी ने संघ की राजनैतिक विचार-धारा से क्षुब्ध

होकर अपने को इस आन्दोलन से पृथक् कर लिया।[२७] संघ की इस विचार-धारा के कारण उसे 'राष्ट्रीय रंगमंच' का महत्त्व भी पूर्णतः न प्राप्त हो सका और वह एकांगी बन कर ही रह गया। सन् १९६० के अन्त तक भा० ज० ना० संघ अपनी इसी संकुचित विचारधारा के कारण शिथिल होकर समाप्तप्राय-सा हो गया, किन्तु इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि इस संघ ने हिन्दी तथा भारत के नवनाट्य आन्दोलन के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया। सातवें दशक में संघ के पुनर्गठन के प्रयास पुनः दृष्टिगोचर हुए–विशेषकर उत्तर प्रदेश में, किन्तु यह कुछ नगरों तक ही सीमित होकर रह गया।

हिन्दी के प्रमुख केन्द्र उत्तर प्रदेश और बिहार के विभिन्न नगरों में भारतीय जन नाट्य संघ की शाखाएँ खुलीं। सन् १९४६ में कानपुर में एक *प्रान्तीय सम्मेलन हुआ, जिसमें कानपुर के अतिरिक्त लखनऊ, आगरा,* बनारस, प्रयाग आदि के नाट्य-दलों ने भाग लिया। इसी में पहली बार प्रान्तीय संगठन–'उत्तर प्रदेश जन नाट्य संघ' की स्थापना हुई।[२८] प्रान्तीय संघ से ही राज्य के विभिन्न नगरों की शाखाएँ संबद्ध हैं। यह न केवल संगठन, नीति-निर्माण और कला और नाट्य-क्षेत्र की समस्याओं पर विचार-विमर्श कर महत्त्वपूर्ण निर्णय करता, अपितु नगरों और जिलों की शाखाओं का मार्ग-दर्शन कर उन्हें प्रोत्साहन भी दिया करता है। प्रान्तीय संघ समय-समय पर अपने सम्मेलन भी करता रहा है, जिनमें उपर्युक्त प्रश्नों पर विशेष रूप से विचार किया जाता था। इसका पाँचवाँ अधिवेशन अक्टूबर, १९५६ में लखनऊ में और छठा अधिवेशन २२ से २५ मई, १९५८ तक कानपुर के पी० पी० एन० इंटर कालेज में हुआ था। इसमें आसाम, मणिपुर, राजस्थान, मध्य प्रदेश, पंजाब, बम्बई और पश्चिमी बंगाल के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त अ० भा० जन नाट्य संघ के उपाध्यक्ष बलराज साहनी तथा प्रधान मंत्री निरंजन सेन भी आये थे। २५ मई के अधिवेशन में पारित मुख्य प्रस्ताव के अतिरिक्त अन्य प्रस्ताव नवनाट्य आन्दोलन को गति प्रदान करने की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण थे। मुख्य प्रस्ताव संगठनात्मक था, जिसमें प्रान्तीय संगठन को सुदृढ़ बनाने तथा प्रत्येक जिला शाखा द्वारा वर्ष में कम से कम ६ सांस्कृतिक प्रदर्शन करने (जिनमें दो प्रदर्शन नये हों), नियमित सांस्कृतिक मंडलियाँ बनाने, सांस्कृतिक प्रशिक्षण केन्द्र (जिसमें संगीत, नृत्य, नाटक आदि के शिक्षण का प्रबन्ध हो) खोलने आदि पर जोर दिया गया था।[२९]

मुख्य प्रस्ताव के अतिरिक्त पाँच प्रस्ताव पारित हुए, जिनमें प्रथम चार के महत्त्वपूर्ण होने के कारण उनका सारांश नीचे दिया जा रहा है–[३०]

(१) उत्तर प्रदेश की सरकार 'सांस्कृतिक उत्थान' और 'हिन्दी रंगमंच व नाटक के विकास' के लिए धन एवं अन्य आवश्यक साधनों की पूर्ण व्यवस्था करे तथा केन्द्रीय सरकार की भाँति यहाँ भी एक 'संगीत नाटक अकादमी' की स्थापना की जाय।

(२) सन् १८७६ के नाट्य-प्रदर्शन नियंत्रण अधिनियम को इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किया जा चुका है, अतः भारत सरकार इस अधिनियम को रद्द करे।

(३) राज्य सरकार गैर-पेशेवर सांस्कृतिक प्रदर्शनों एवं रंगमंच-प्रदर्शनों को मनोरंजन कर से मुक्त करे।

(४) करोड़ों अनपढ़ों की शिक्षा, जन-जागरण, राष्ट्र-निर्माण, एकता एवं सहयोग की भावना की अभिवृद्धि के लिए हिन्दी नाट्य आन्दोलन को व्यापक बनाया जाना चाहिये, जिसके लिए राज्य सरकार को चाहिये कि वह गाँवों और नगरों में नाट्यशालाएँ बनाये और स्थानिक संस्थाओं एवं ग्राम पंचायतों को आधुनिक एवं खुली नाट्यशालाएँ बनाने के लिये अनुदान एवं आर्थिक सहायता प्रदान करे।

इन प्रस्तावों में से प्रथम के अनुसार उत्तर प्रदेश में संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हो चुकी है, नाट्य-प्रदर्शनों को मनोरंजन कर से मुक्त किया जा चुका है (१९७०ई०), किन्तु अभी तक शेष प्रस्तावों के कार्यान्वयन की दृष्टि से कोई प्रगति नहीं हुई है। हिन्दी और अन्य भाषाओं के नवनाट्य आन्दोलन को दृढ़ भित्ति पर

स्थापित करने के लिये ये प्रस्ताव अत्यंत उपयोगी एवं अर्थपूर्ण हैं।

इस सम्मेलन में उत्तर प्रदेश जननाट्य संघ की नई कार्यकारिणी का चुनाव हुआ, जिसमें कथाकार एवं नाटककार वृन्दावनलाल वर्मा उसके अध्यक्ष और राजेन्द्रसिंह रघुवंशी प्रधान मंत्री चुने गये। नाटककार मन्नूलाल 'शील'(कानपुर) इसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

इस अवसर पर कुछ नाटक भी खेले गये, यथा कृष्णचन्द्र के 'कुत्ते की मौत' और 'सराय के बाहर' और स्थानीय शाखा द्वारा प्रस्तुत 'घर'।

उत्तर प्रदेश में आगरे का जननाट्य संघ प्रारम्भ से ही सक्रिय रहा है। यह यायावर शाखा प्रारम्भ में एकाकी छाया-नाटकों और गीति-नाट्यों का प्रदर्शन इन्दौर,उज्जैन, दोहद, रतलाम, अजमेर, मथुरा, अलीगढ़, टूंडला तथा आगरे से लेकर मुगलसराय तक दौरे करके करती रही है। इनमें डॉ० रामविलास शर्मा-कृत 'हिमालय' (१९४५ ई० के आस पास), 'कानपुर के हत्यारे' (अप्रैल १९४७ या पूर्व), १५ अगस्त, १९४७ को आगरे में अभिनीत राजेन्द्र रघुवंशी कृत 'राजा जी दिल बैठा जाय' एकांकी प्रमुख हैं 'हिमालय' द्वितीय महायुद्ध में फासिस्ट शक्तियों, विशेषकर भारत पर जापानी आक्रमण और देश में व्याप्त प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के विरुद्ध नयी चेतना उत्पन्न करने के लिये लिखा गया था। 'कानपुर के हत्यारे' में पूँजीपतियों और पुलिस के पारस्परिक गठबंधन के कारण कानपुर के तत्कालीन कोतवाल संघर्षरत श्रमिकों पर गोली-वर्षा की घटना का लोमर्षक चित्रण किया गया था। 'राजा जी दिल बैठा जाय' में (तत्कालीन राजाओं ··· ··········व्यंग्य किया गया था।) तत्कालीन राजाओं और पूँजीपतियों पर व्यंग्य किया गया था। इसके अनन्तर भारत-विभाजन के फलस्वरूप हुए सांप्रदायिक दंगों से पीड़ित शरणार्थियों के सहायतार्थ और उनकी समस्याओं तथा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के प्रश्न को लेकर अनेक एकांकी. विशेषकर छाया-नाट्य प्रस्तुत किये गये जिनमें डॉ० रामविलास शर्मा-कृत 'घायल पंजाब' (छाया नाटक, १९४७ ई०) तथा 'लपटों के बीच' (छाया नाटक, २२ नवम्बर, १९४७) प्रमुख हैं। इन्हीं के साथ 'लोहे की दीवार' का प्रदर्शन भी बड़ा प्रभावी रहा।

सन् १९४९ में अमृता प्रीतम की कथा 'जिन्दगी' का रघुवंशी-कृत नाट्य-रूपांतर 'पांच बहनें' (एकांकी) मुरारीलाल गर्ल्स कालेज, आगरा में खेला गया, जिसमें रईस, कलाकार, शरणार्थी, कोयला बिनने वाली आदि पाँच लकड़ियों के अतिरिक्त शेष पात्र प्रतीक-रूप में रखे गये थे, यथा पवन, जिंदगी, शरणार्थी आदि।[३७] अंग्रेजी की कहानी 'थ्री मेन इन ए बोट' के नाट्य-रूपान्तर 'प्लानिंग' (एकांकी, रूपान्तरकार रा० रघुवंशी) के अब तक ६० प्रदर्शन हो चुके हैं। अब यह 'गिरती दीवारें' के नाम से खेला जाता है।[३८]

इसी वर्ष पहली बार आगरा शाखा ने प्रेमचन्द जयंती के अवसर पर उनके उपन्यास 'गोदान' का रघुवंशी-कृत नाट्यरूपान्तर (पूर्णांग नाटक) आगरा कालेज के हाल में खेला। सन् १९५१ में 'गोदान' का प्रदर्शन इस शाखा द्वारा डेढ़ लाख लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया गया। इसके लिए मैदान में बीस फुट ऊँचा और साठ फुट चौड़ा मंच बनाया गया था। दृश्यसज्जा का कार्य बंगला रंग-निर्देशक एवं नाटककार उत्पल दत्त ने किया।[३९] इसके बाद 'प्रेमाश्रम', 'सेवासदन', और 'रंगभूमि' ('सूर की आँखें' के नाम से रूपान्तरित) के रघुवंशी-कृत नाट्य-रूपान्तर क्रमशः सन् १९५२, १९५४ और १९६० में खेले गये। इसी दौरान में प्रेमचन्द की 'कफन', 'ईदगाह', 'शतरंज के मोहरे', 'सवा सेर गेहूँ' आदि लगभग डेढ़ दर्जन कहानियों-पंचपरमेश्वर, कफन, सवा सेर गेहूँ, मंत्र, ईदगाह, लाटरी, आदि के नाट्य-रूपान्तर प्रस्तुत किये गये। सभी के रूपान्तरकार थे—राजेन्द्रसिंह रघुवंशी।[४०] प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' के नाट्य-रूपान्तर के प्रस्तुतीकरण पर हिमाचल थियेटर्स द्वारा सन् १९५७ में शिमला में हुई अखिल भारतीय नाटक प्रतियोगिता में आगरा शाखा को सर्वश्रेष्ठ नाटक का प्रथम पुरस्कार तथा इस नाटक के अभिनेता (स्व०) ज्ञान शर्मा को सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त ५ जून, ५५ को

महालक्ष्मी पिक्चर पैलेस के मंच पर अमृतलाल नागर-कृत 'नवाबी मसनद' का नाट्य-रूपान्तर और उदयशंकर भट्ट-कृत 'दस हजार' एकांकी अभिनीत हुआ। अमृतलाल नागर-कृत 'सेठ बाँकेमल' का नाट्य-रूपान्तर, कृष्णचन्दर का 'नीलकण्ठ', तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'डाकघर' भी मंचस्थ किये गये। संघ की आगरा शाखा द्वारा प्रदर्शित साहबसिंह मेहता का 'चौपाल' अपने गीतों के कारण बहुत लोकप्रिय हुआ। इसके लगभग ६० प्रदर्शन हो चुके हैं। शाखा द्वारा प्रस्तुत नृत्य-नाटिकाओं में 'डालर का नाच' और 'समझौता' नृत्य-नाटिकाएँ अविस्मरणीय रही हैं। इनमें क्रमशः अमेरिका की युद्ध-नीति और पाकिस्तान के साथ हुए उसके समझौते की पोल खोली गई थी। विश्वशान्ति परिषद् द्वारा ये नृत्य-नाटिकाएँ पुरस्कृत हो चुकी हैं।

गोआ आन्दोलन के समय गोआ-संघर्ष और मुक्ति की कथा पर आधारित रांगेय राघव-कृत 'आखिरी धब्बा' और तृतीय महायुद्ध की आशंका से त्रस्त हो युद्ध-विरोधी भावना लेकर लिखित रा० रघुवंशी के 'पंचशील' (१९६१ ई०) इस शाखा के उल्लेखनीय उपस्थापन रहे हैं। " 'पंचशील' में प्रथम बांडुंग सम्मेलन से लेकर जिनेवा सम्मेलन (१९५४ ई०) तक की प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को अमर (युद्ध-विरोधी), कालेशाह (युद्ध-प्रेमी), होरी सामान्य जनता) जैसे प्रतीक पात्रों के सहारे चित्रित किया गया है। नायक अमर की भूमिका में ज्ञान शर्मा और कालेशाह की भूमिका में रा० रघुवंशी अवतरित हुए। नाटक आगरा में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के ४३वें अधिवेशन के उद्‌घाटन के अवसर पर सेंट जान्स कालेज के प्रांगण में पंडाल बनाकर किया गया था, जिसे विदेशी वैज्ञानिकों ने देख कर बहुत पसंद किया था।

आगरा स्क्वाड के चारों ओर बाद में आगरा जन-नाट्य संघ के रूप में विख्यात हो गया था, विभिन्न कलाकारों का एक समर्पित दल एकत्र हो गया था, जिनमें बिशन खन्ना, राजेन्द्र रघुवंशी, बीरपालसिंह, ज्ञान शर्मा, मदन सूदन, कुमार जसूजा, स्वदेश जसूजा, शरद नागर, युक्तिभद्र दीक्षित (कवि 'पटीश' जी के पुत्र), निरंजन सिंह, राधेलाल, अरुणा, रघुवंशी, आशा अग्रवाल, रेखा जैन, शोभा सूद, कु० रमा, कु० उमा आदि कलाकार, बी० डी० जोशी तथा डी० के० राय आदि नर्तक, उद्धवकुमार जैसे गीतिकार कामताप्रसाद जैसे लोकगीतकार, ए० सी० पाड्या, आर-एम० तलेगाँवकर, एन० एम० पुजारी तथा अजय खन्ना जैसे गायक एवं संगीतकार उल्लेखनीय हैं।

ये सभी कलाकार मिल कर गड्ढे खोदते, बाँस काटते, तख्त ढोकर लाने-पहुँचाने से लेकर मंच बाँधने तक का समस्त कार्य करते थे। नाटक के लिए केवल दो ही पर्दों का उपयोग किया जाता था—एक का पृष्ठपट के रूप में दूसरे का यवनिका के रूप में। पर्दे का आकार २५ × १२ फुट होता था। पीछे का पर्दा सफेद होता था, जिससे छाया-नाटक (शैडो-प्ले) दिखाया जा सके। यवनिका पर नगाड़ा बजाते वादक का प्रतीक बना रहता था। यह नेवी ब्लू रंग की होती थी। कलाकारों के परिधान भी अपने हुआ करते थे, जिन्हें एक बड़े संदूक में रख कर ले जाया जाता था।

संघ ने ध्वनि-संकेत और रंगदीपन के लिये भी अपनी एक पद्धति विकसित की थी। मेघ-गर्जन के लिए टीन खड़का दी जाती थी। बंदूक की गोली के लिए चाभी के छेद में बारूद भर कर धमाका किया जाता था। छाया-नाटक में एक हैंडिलदार डिब्बे में बिजली का बल्ब फिट करके अथवा आर्कलैम्प द्वारा परदे पर पीछे से यथावश्यक प्रकाश डाला जाता था। डिब्बे का मुख चौकोर रखा जाता था। नये कनस्टर काट कर रिफ्लेक्टर बना कर पार्श्व-दीपन किया जाता था। इसके अतिरिक्त पाद-प्रकाश और शीर्ष-प्रकाश का भी उपयोग किया जाता था छोटे कस्बे या गाँव में गैस लाइट का प्रयोग होता था। छाया-नाटक के लिए मोमबत्ती की सहायता ली जाती थी।

आगरा जन-नाट्य संघ सन् १९६२ तक सक्रिय बना रहा, किन्तु इस वर्ष के आस-पास संघ के कुछ युवा-कलाकारों के आगरा से चले जाने, सन् १९६४ में ज्ञान शर्मा के निधन आदि के कारण संघ की आधार-शिला टूट गई और वह कुछ काल के लिए शिथिल हो गया।

सन् १९६५ में संघ ने आगरा स्टेडियम के मेले मे चिरंजीत-कृत 'रोल की पोल' (रेडियो सूठिस्थान' ?) मंचस्थ कर अपने जीवन्त होने का परिचय दिया।

सन् १९६८ के आस-पास आगरा जन-नाट्य मघ के मूल-संस्थापक राजेन्द्र रघुवंशी ने कुछ नये-पुराने कलाकारों को जोड़ कर उसका पुनर्गठन किया और ७ जुलाई, १९६८ को भारतीय जन-नाट्य मघ की रजत जयन्ती के अवसर पर नृत्य-गीत के बहुरंगी कार्यक्रमों के साथ रघुवंशी-कृत गीति-नाट्य 'अजेय वीतनाम' तथा एकांकी 'आगंतुक' प्रस्तुत किया गया।

सन् १९६९ मे उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित गांधी शताब्दी नाटक समारोह मे प्रेमचन्द-'रंगभूमि' का नाट्य-रूपान्तर 'सूरे की आँखें' लखनऊ के रवीन्द्रालय मे मंचस्थ किया गया। इसका निर्देशन राजेन्द्र रघुवंशी ने किया, जिन्होंने ताडी-विक्रेता भैरों की भी जीवंत भूमिका की। २६ नवम्बर, १९७० को रघुवंशी-कृत 'मुसीबत है' का मंचन आगरे मे और फिर सन् १९७१ मे शिकोहाबाद के मेले में किया गया। सन् १९७१ में ही पूर्वी पाकिस्तान मे भारत की युद्ध मे विजय तथा बंगला देश के अभ्युदय के उपलक्ष्य में रघुवंशी-कृत 'विजय पर्व' आगरा कालेज के गंगाधर शास्त्री भवन मे आरंगित किया गया।

आगरा जन नाट्य संघ आज भी प्रतिबद्ध 'क्रूसेडर' की भाँति हिन्दी रंगमंच की सेवा मे रत है।

आगरे की शाखा की भाँति कानपुर, लखनऊ, प्रयाग आदि की शाखाएँ भी अपने-अपने क्षेत्रों मे समय-समय पर नाट्य-प्रदर्शन करती रही हैं।

उत्तर प्रदेश की भाँति बिहार का प्रांतीय संगठन बिहार जन नाट्य संघ भी सक्रिय रह कर हिन्दी-रंगमंच की सेवा करता रहा है। सन् १९५६ से यह बिहार संगीत नाटक अकादमी से सम्बद्ध है।[१६१] उक्त वर्ष बिहार संघ ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विचार-गोष्ठी (सेमिनार) के अवसर पर उमाकांत वर्मा और सतीश्वर सहाय वर्मा के सह-लेखन का 'भोजपुरी सभ्यता का विकास' गीति-नाट्य[१६२] तथा बिहार संगीत-नृत्य-नाट्य कला परिषद् के तत्वावधान मे १ जून, १९५६ मे आयोजित प्रथम नाट्यकला विचार-गोष्ठी के अवसर पर रामेश्वरसिंह कश्यप द्वारा लिखित एवं निर्देशित एकांकी 'रोबट' का प्रदर्शन किया।[१६४]

इसके अतिरिक्त पटना के स्थानीय जननाट्य संघ ने तिलक-सम्बन्धी कुरीतियों पर आधारित सर्वश्री लक्ष्मीनारायण एवं मनोरंजन घोष-कृत 'ब्लैंक चेक' मई, १९५६ मे खेला। देवघर की शाखा ने प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' का नाट्य-रूपान्तर इसी वर्ष खेला, जिसके १५ प्रदर्शन हुए।

उपर्युक्त विवरणों से भा० ज० ना० संघ के विस्तृत और बहुमुखी कार्यों तथा हिन्दी रंगमंच को उसके प्रदेय का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। संघ ने हिन्दी में नये नाटककारों-ख्वाजा अहमद अब्बास, राजेन्द्रसिंह बेदी, हबीब तनवीर, भीष्म साहनी, राजेन्द्रसिंह रघुवंशी, डॉ० रामविलास शर्मा आदि को जन्म दिया और इनमे से अधिकांश ने या तो नाट्य-निर्देशन किया और / अथवा स्वयं नाटकाभिनय में भाग भी लिया। कुछ पूर्णांग नाटकों के अतिरिक्त ऐसे एकांकी नाटक बड़ी संख्या में लिखे गये, जिन्हें थोड़े पात्रों और अल्प साधनों से सरलता से मंचित किया जा सकता था। इस संस्था अथवा नवनाट्य आन्दोलन ने कुछ सुन्दर गीति-एवं-नृत्य-नाट्य भी प्रस्तुत किये। नाटक, गीति-नाट्य, नृत्य-नाट्य आदि के अतिरिक्त संघ ने छाया-नाटकों को पुनर्जीवित किया। दिल्ली, आगरे और कलकत्ते की शाखाओं ने इसे विकसित कर इसको पूर्णता प्रदान की। आगरे की शाखा ने 'हमारा देश' नामक छाया-नाटय तैयार किया था, जिसे आगरे मे आर्क-लैम्प की सहायता से और गाँवों में मोमबत्ती के प्रकाश द्वारा दिखलाया जाता था। गोआ की समस्या को लेकर डॉ० रांगेय राघव-कृत 'आखिरी धब्बा' में भी छाया-नाट्य पद्धति को अपनाया गया था।

इस नवनाट्य आन्दोलन के कारण हिन्दी तथा इतर भारतीय भाषाओं मे अनेक कलाकार एवं रंग-निर्देशक

सामने आये, जिन्होंने रंगमंच-जगत को नये आयाम, नई दिशाएँ दी हैं। इन कलाकारों एवं रंग-निर्देशकों में प्रमुख हैं—बलराज साहनी, हबीब तनवीर, शीला भाटिया, दुर्गा खोटे, जोहरा सहगल, राजेन्द्रसिंह रघुवंशी, शान्तिवर्द्धन, गुलवर्द्धन, उत्पल दत्त, शंभु मित्र, तृप्ति मित्र, यशवन्त ठाकुर तथा दीना गांधी।

संघ का कार्यक्षेत्र न केवल नगर, वरन् गाँव भी रहे हैं, जहाँ मैदानों में खुले रंगमंच पर नाट्-प्रदर्शन किये जाते रहे हैं। इसके अतिरिक्त इन मंचों पर उसने वहाँ के लोकनाट्य, लोकनृत्य एवं लोक-गीत को नये ढंग से प्रस्तुत किया, जो ग्रामीण सामाजिकों के लिये काफी आकर्षण रखते थे। संघ की यह एक ऐसी उपलब्धि थी, जिसने उसे व्यापक लोकप्रियता प्रदान की।

नगरों में संघ ने पारम्परिक कृत्रिमतावादी मंच की अपेक्षा सादे वस्तुवादी और प्रतीकवादी सेटों पर, आधुनिक रंग-दीपन-पद्धति का उपयोग कर नागरिक सामाजिकों को चमत्कृत कर दिया।

रंग-शिल्प के इन नये प्रयोगों के अतिरिक्त संघ ने अपने प्रगतिशील प्रस्तावों और माँगों के द्वारा नवनाट्य आन्दोलन को एक दिशा प्रदान की, जिससे वह लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग पर निष्कंटक होकर चल सके।

पृथ्वी थियेटर्स—बम्बई का पृथ्वी थियेटर्स भारतीय जननाट्य संघ की भाँति उपस्थापक एवं संगठक संस्था न होकर एक उपस्थापक संस्था मात्र रहा है, फिर भी वह केवल बम्बई का ही न होकर सम्पूर्ण उत्तरी भारत, विशेष कर समस्त हिन्दी-क्षेत्र की थाती रहा है। पृथ्वी थियेटर्स अपने राष्ट्रीय विचारों के नाटकों, अपने वस्तुवादी रंग-शिल्प, स्वाभाविक अभिनय तथा फिल्म-जगत में उसके संस्थापक पृथ्वीराज कपूर को प्राप्त लोकप्रियता के कारण सभी सामाजिकों का प्रिय पात्र रहा है। बलवंत गार्गी के शब्दों में पृथ्वीराज का यह 'थियेटर किसी एक प्रदेश का नहीं था, बल्कि यह एक अखिल भारतीय थियेटर था।'[२६५] 'शील' जी ने इसे 'राष्ट्रीय हिन्दी रंगमंच' की संज्ञा दी है।[२६६]

गार्गी जहाँ पृथ्वी थियेटर्स को 'अखिल भारतीय थियेटर' मानते हैं, वहीं वे इसे 'हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच' भी मानते हैं,[२६७] किन्तु उनका यह मत भ्रांतिमूलक है। उनके इस कथन में दो बातें विचारणीय हैं—एक तो यह कि क्या यह हिन्दी का व्यावसायिक रंगमंच है और दूसरे यह कि क्या यह एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच है?

पृथ्वी थियेटर्स का संगठन अवश्य एक व्यावसायिक मंडली का-सा था, किन्तु यह व्यावसायिक से अधिक एक पारिवारिक मंडली थी, जिसके अधिकांश कलाकारों एवं प्रबन्धक कार्यकर्ताओं को केवल प्रतीक वेतन मिलता था। संस्था के व्यय की पूर्ति के लिये पृथ्वीराज कपूर को प्रायः फिल्म-जगत का आश्रय लेना पड़ता था और वे अपनी समस्त आय पृथ्वी थियेटर्स में लगा देते थे। इसके पीछे था—एक मिशन, एक आदर्श, एक स्वप्न, जिसकी पूर्ति हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिये अपेक्षित थी। पुनश्च, इन प्रदर्शनों का लक्ष्य व्यावसायिक लाभ न होकर बम्बई में एक स्थायी रंग-शाला का निर्माण था, जिसके पीछे एक जीवन्त नाट्य-संस्था खड़ी रहे, किन्तु पृथ्वीराज अपने अथक परिश्रम के बावजूद इस लक्ष्य की पूर्ति न कर सके। तीसरे 'बेताब'-'शकुन्तला' को छोड़ अन्य कोई भी नाटक पारसी रंगमंच की पारम्परिक शैली का न था। 'दीवार', 'पठान', 'गद्दार', 'आहुति' आदि नाटक नवीन विषयों, नवीन रंग-शिल्प को लेकर लिखे गये थे, जो उस युग के एक नवीन प्रयोग थे—किन्तु भा० ज० ना० संघ के खुले एवं प्रतीकवादी मंच-शैली के नहीं, प्राचीन चित्रफ्रेम वाले रंगमंच-शैली के। आधुनिक युग में प्रायः पृथ्वी थियेटर्स की रंग-शैली को ही अपनाया गया है, यद्यपि भारतीय जन-नाट्य संघ के खुले रंगमंच को भी अब प्रश्रय मिलने लगा है और इसके उज्ज्वल भविष्य की संभावनाएँ व्यक्त की जाने लगी हैं। व्यावसायिक मंच पर नये प्रयोगात्मक नाटकों को कोई प्रश्रय नहीं मिलता, अतः पृथ्वी थियेटर्स को अव्यावसायिक और अधिक से अधिक एक अर्द्ध-व्यावसायिक संस्था माना जा सकता है।

हिन्दी-क्षेत्र की एकमात्र जीवित व्यावसायिक संस्था है-कलकत्ते का मूनलाइट थियेटर, अतः पृथ्वी थियेटर्स के व्यावसायिक संस्था न होने और यदि थोड़ी देर के लिये उसे व्यावसायिक संस्था मान भी लिया जाय, तो मूनलाइट के रहते उसे 'एकमात्र व्यावसायिक रंगमच' नही माना जा सकता। रंग-एवं-फिल्म-कलाकार बलराज साहनी के अनुसार यह एक 'प्रोफेसनल' संस्था थी, किन्तु यह 'प्रोफेसनल कम्पनियो की तरह पैसा बटोरने के सवाल से नही बनाई गई'।[२९८] वस्तुतः यह 'एक संस्था' भी रहा है और 'एक परिवार' भी,[२९९] जिसे पृथ्वीराज के गतिशील व्यक्तित्व, पितृ-तुल्य स्नेह, संवेदना और विशालहृदयता ने लगभग १६ वर्ष तक एक सूत्र मे बांधे रखा। यह परिवार इसलिए भी था कि इसमे इतर कलाकारो के अतिरिक्त अनेक ऐसे कलाकार एवं प्रबन्धक भी थे, जो पृथ्वीराज के परिवार के ही सदस्य थे। इस प्रकार पृथ्वी थियेटर्स एक ऐसी पारिवारिक नाट्य-संस्था थी, जिसने, व्यावसायिक लाभ को एक ओर रख कर, नवीन प्रयोगो का मार्ग प्रशस्त कर नवनाट्य आन्दोलन को आगे बढाया। नरोत्तम व्यास के शब्दों मे थियेटर पृथ्वीराज जी का पेशा नही, शौक था।[३००] इसमे हिन्दी के अव्यावसायिक रगमच को एक नया दिशाबोध, एक नई प्रेरणा प्राप्त हुई।

विचारों के सघर्ष की जिस पृष्ठभूमि मे एक विशिष्ट विचार-सरणि को पकड़ कर जिन राजनैतिक, सामाजिक एव आर्थिक सकट की परिस्थितियो मे भारतीय जन-नाट्य सघ ने जन्म लिया, लगभग उन्ही परिस्थितियों मे दो वर्ष बाद अर्थात् सन् १९४४ मे राष्ट्रवादी विचारो को लेकर फिल्म-अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने अपने परिवार के सदस्यों और अपने प्रशंसक किन्तु अनुष्ठानवादी इतर कलाकारो के सहयोग से बम्बई मे पृथ्वी थियेटर्स की स्थापना की।[३०१] अन्तर था दोनों की दृष्टि मे—एक का केवल शरीर भारतीय था, किन्तु आत्मा विदेशी थी, जबकि दूसरे की आत्मा और शरीर, दोनो भारतीय थे। पृथ्वी थियेटर्स के सामने दो लक्ष्य थे—हिन्दी के राष्ट्रीय रगमच की स्थापना और इस मंच के द्वारा राष्ट्र-चेतना का उद्बोधन।

फलतः पृथ्वी थियेटर्स का श्रीगणेश भारत की आत्मा और सस्कृति के प्रतीक-स्वरूप बेताब-'शकुन्तला' के उपस्थापन से हुआ। इसमें स्वय पृथ्वीराज ने दुष्यन्त और अजरा मुमताज ने शकुन्तला की भूमिकाएं कीं। अशुद्ध उच्चारण आदि के कारण अज़रा शकुन्तला की भूमिका के साथ न्याय न कर सकी। वस्तुवादी रंग-सज्जा के लिये राजप्रासाद के अलंकृत स्तम्भ, छत्रधारी राजसिंहासन, भित्ति-चित्रों से सुशोभित दीवालें, वन के दृश्य में वास्तविक एवं प्लाईवुड के चित्रित वृक्ष, आदि दिखलाये गये थे।[३०२] रग-दीपन के क्षेत्र में भी कुछ नये प्रयोग किये गये थे। दो विन्दु प्रकाशों (स्पाट लाइटों) के द्वारा शकुन्तला-दुष्यन्त के गुप्त प्रणय से कण्व को अवगत हुआ दिखलाया गया था—एक विन्दु (स्पाट) कण्व पर केन्द्रित कर और दूसरा दुष्यन्त तथा शकुन्तला पर।[३०३] इन तमाम नवीनताओं के बावजूद 'शकुन्तला' को सफलता नही मिली। 'शकुन्तला' के उपन्यास मे 'कालिदास की स्पिरिट प्रायः गायब' होने से भी यह बम्बई में लोकप्रिय न हो सका।[३०४] नाटक की कथावस्तु तो कालिदास से ली गई है, किन्तु वस्तु-विन्यास कालिदास के अनुरूप नही है।[३०५] सवाद भी, कालिदास की भाँति सरस न होने के कारण 'प्राचीनता के वातावरण' की रक्षा करने में सहायक न हो सके, फलतः सामाजिकों का प्रबुद्ध वर्ग उससे संतुष्ट न हो सका।[३०६]

पृथ्वी थियेटर्स का दूसरा नाटक था 'दीवार', '९ अगस्त, १९४५' जिसमें एक गोरी मेम के आ जाने पर दो दो भाइयो—सुरेश और रमेश के संघर्ष और अनुज द्वारा बँटवारे की मांग और उसके दुष्परिणाम की कथा द्वारा भारत-विभाजन से बहुत पूर्व ही विभाजन की भर्त्सना की गई थी। दोनों भाई महात्मा गांधी और मुहम्मद अली जिन्ना के प्रतीक थे।[३०७] अन्त में दोनों भाइयो के बीच की दीवार टूट जाती है, किन्तु दो देशों—भारत और पाकिस्तान के बीच की दीवार······? यह अपने इसी प्रतीकत्व तथा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के आधार पर विदेशियो के निष्कासन की ओर पूर्व सकेत के कारण पृथ्वी थियेटर्स का एक लोकप्रिय नाटक रहा है, जिसका टिकट लेने के लिये बम्बई के सामाजिको को लम्बे 'क्यू' लगाने पडते थे। सन् १९५२ के मध्य तक इस नाटक के ५५० से अधिक और सन् १९६०

तक इसके सहस्राधिक प्रदर्शन हो चुके थे।[१४८]

'दीवार' एक दृश्यबन्ध का त्रिअंकी नाटक है, जिसमें पहले, दूसरे तथा तीसरे 'ऐक्ट' (अंक) में क्रमशः दो, तीन तथा एक 'सीन' (दृश्य) है। दृश्यबंध जागीरदार सुरेश के मकान का है, जिसकी सजावट दूसरे अंक में बदल कर 'विलायती ढंग' की हो जाती है और अंतिम अंक में इस मकान के बीच में दीवार खड़ी कर बँटवारे का भाव प्रदर्शित किया जाता है। अन्त में सुरेश और रमेश, दोनों कुदाल लेकर 'इतिहास के मत्थे पर काला दाग'–स्वरूप उस दीवार को तोड़कर पारस्परिक ऐक्य, भ्रातृ-प्रेम और सौहार्द का परिचय देते हैं।

जहाँगीर मिस्त्री द्वारा मकान का द्विखंडीय दृश्यबन्ध भव्य एवं प्रभावशाली ढंग से निर्मित किया गया था। विल्ला जोशी और उनके सहयोगियों ने वृष्टि, घन-गर्जन एवं चपला-नर्तन के दीप्ति-प्रभाव सजीव एवं यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किये। कुल मिला कर 'दीवार' में रंगदीपन बहुत प्रभविष्णु रहा।

नाटक के संवाद सरल, मुहाविरेदार, किन्तु अधिकांशतः सामान्य कोटि के उर्दू-हिन्दी मिश्रित हैं, किन्तु अनेक संवाद अँग्रेजी में हैं। कुछ स्थलों पर संवाद अत्यंत भावपूर्ण एवं काव्यमय हैं। उनमें ओज और प्रवाह भी है।

नौकर रामू और उसकी वाग्दत्ता पत्नी लक्ष्मी की उप-कथा द्वारा पारसी नाट्य-शैली पर हास्य-सृजन किया गया है। जगह-जगह पर अँग्रेजी शब्दों की तोड़-मोड़ द्वारा भी हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा की गयी है।

पृथ्वीराज ने नायक सुरेश की, सज्जन ने रमेश की तथा उजरा बेगम और पुष्पा (या इन्दुमती) ने सुरेश तथा रमेश की पत्नियों क्रमशः रमा और शीला की भूमिकाएँ कीं। विदेशी औरत के रूप में जोहरा सहगल खूब फबती रहीं। रामू के रूप में राजकपूर, प्रेमनाथ या शम्मीकपूर हास्य-भूमिका प्रस्तुत करते रहे।

सुरेश के रूप में पृथ्वीराज ने उसके तिहरे व्यक्तित्व का-अशिक्षित एवं शरणागतपालक जमीदार, शिक्षित होकर उदार बने मद्यपायी और अन्त में विदेशी रमणी के प्रभाव से मुक्त मानव के रूप में अच्छा निर्वाह किया है।

इस नाटक के सह-लेखक हैं–इन्द्रराज आनन्द, पृथ्वीराज कपूर और रमेश सहगल। 'अपनी व्यथा सुनाने आये हैं', दाता तेरे द्वारे' तथा 'इस अँधेरी रात में, आँसुओं की बरसात में, कौन है मेरा ?' 'दीवार' के दो अत्यन्त मार्मिक गीत रहे हैं।

लालचंद 'बिस्मिल'-कृत 'पठान' (१९४७ ई०) पृथ्वी थियेटर्स की तीसरी कृति थी। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य से ओत-प्रोत यह त्रिअंकी नाटक हिन्दू-मित्र के पुत्र की प्राण-रक्षा के लिये एक पठान (शेरखाँ) द्वारा अपने पुत्र के बलिदान की अमरगाथा पर आधारित है। भारतीय शौर्य, न्याय तथा सत्य निष्ठा के लिये आत्मोत्सर्ग की त्रिवेणी इसमें प्रवाहित है। एक ही दृश्यबन्ध पर अभिनीत इस नाटक में स्थल और कार्य का अच्छा संकलन हुआ है। शेरखाँ के रूप में पृथ्वीराज की भूमिका बड़ी प्रभावशाली होती रही है।

बम्बई में ये नाटक रायल ऑपेरा हाउस में खेले जाते थे–सप्ताह में केवल तीन-चार बार, किन्तु प्रातःकाल प्रायः ९ बजे से ही, जिनमें सामाजिकों की अच्छी भीड़ होती थी। सन् १९५८ में पृथ्वीराज अपने ये तीन नाटक लेकर कानपुर आये और ब्रजेन्द्रस्वरूप पार्क में हुई प्रदर्शिनी में एक विशालकाय पंडाल बनवा कर लगभग तीन सप्ताह तक निरंतर प्रदर्शन किये। कानपुर में पृथ्वीराज को बम्बई की-सी सफलता नहीं प्राप्त हुई और वे स्वयं तथा उनके पंडाल की निर्माता गुप्ता एण्ड कं० भी लम्बे घाटे में आ गई। यहाँ से पृथ्वीराज लखनऊ गये और वहाँ उन्होंने इन तीन नाटकों के साथ एक नये नाटक इंद्रराज आनन्द-कृत 'गद्दार' का भी प्रदर्शन किया।

'गद्दार' भारत के एक ऐसे देशभक्त मुसलमान की कहानी है, जो मुस्लिम लीगी मित्रों के बहकावे में आकर दल-परिवर्तन करता और दिग्भ्रमित हो जाता है, किन्तु शीघ्र ही उसकी आँखों का परदा उठ जाता है और वह सत्य के दर्शन कर साम्प्रदायिक संकीर्णता, घृणा एवं बर्बरता की नग्न वेदी पर आत्माहुति दे देता है। उसका उत्सर्ग इस बात का द्योतक है कि सच्चा देश-प्रेम साम्प्रदायिक घेरे बन्दी से बहुत ऊपर है।

रीगल सिनेमा, नयी दिल्ली मे पृथ्वी थियेटर्स, बंबई द्वारा २२ अप्रैल, १९४८ को प्रस्तुत 'पठान' का एक दृश्य

(छविचित्र प्रभाग, सूचना एव प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार के सौजन्य से)

'पठान' का एक अन्य भावपर्ण दृश्य

ऊपर : पृथ्वी थियेटर्स द्वारा नयी दिल्ली में प्रस्तुत 'गद्दार' का
एक भाव-तरल दृश्य

नीचे : नयी दिल्ली में हुई अल्पव्यय आवास-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी
(फरवरी, १९५४) के अवसर पर फाइन आर्ट्स थियेटर, नयी
दिल्ली में शांति निकेतन के नाट्य-दल द्वारा मंचित रवीन्द्र-'ताशेर देश'

(छविचित्र प्रभाग, सू० एवं प्र० मंत्रालय, भारत सरकार के सौजन्य से)

इस नाटक मे किसी प्रकार के नृत्य-गान का समावेश न होते हुए भी यह एक सशक्त राष्ट्रीय नाटक है।

इसके अनन्तर वे इलाहाबाद आदि नगरों मे होते हुए बम्बई वापस लौट गये। पृथ्वी थियेटर्स के इस दल में लगभग ८० कलाकार, रंग-शिल्पी एवं प्रबन्धक-कर्मचारी थे। इन नाटको मे पृथ्वीराज स्वयं नायक की और भा० ज० ना० संघ की जोहरा सहगल, अजरा या इन्दुमती नायिका की या प्रमुख स्त्री-भूमिकाएँ किया करती थीं। अन्य कलाकारो मे प्रमुख थे–राजकपूर, प्रेमनाथ, सज्जन, सुदर्शन सेठी, श्रीराम, शम्मी कपूर आदि।

साम्प्रदायिक दंगों से सम्बन्धित 'बिस्मिल' का 'आहुति' (३० सितम्बर, १९४९ ई०) पृथ्वी थियेटर्स का एक सशक्त सामाजिक नाटक रहा है, जिसमें रावलपिण्डी की अपहृता शरणार्थी तरुणी जानकी का अपने मनोनीत पति राम से विवाह न हो पाने के कारण वह आत्मघात कर लेती है। सामाजिक रूढियाँ और झूठी मर्यादाएँ जो आज की उदार चेतना को सहन करने मे असमर्थ हैं, उसके आडे आईं और राम भी इन रूढियो की आग में झुलस कर जानकी की डोली लेकर वहाँ चला जाता है, जहाँ रूढियाँ और मर्यादाएँ दोनो के चिर-मिलन को फिर कभी नही रोक सकती। सामाजिक के धैर्य का बाँध टूट जाता है और उसकी आँखें बेबस होकर बरसने लगती हैं। ऐसा प्रभविष्णु एव मर्मस्पर्शी है यह नाटक। 'पठान' के शेरखाँ की भांति 'आहुति' के रामकृष्ण की भूमिका में पृथ्वीराज सामाजिकों के अन्तस् को हिला देते हैं और उनके भीतर दुबक कर सोया मानव झकझोरा जाकर जाग उठता है, फिर कभी न सोने के लिए, सत्य के दर्शन, उसकी स्वीकृति के लिए।

नाटक की कथा पृथ्वीराज की मुँहबोली माँ कौशल्या देवी द्वारा वर्णित आँखो-देखी घटनाओ पर आधारित है।[१७९] इसका नामकरण पृथ्वीराज की धर्मपत्नी रामादेवी ने किया था।[१८०]

नाटक मे शरणार्थियो के पुनस्सस्थापन मे सरकार की तत्कालीन सीमाओ और असफलताओं की कटु आलोचना भी की गई है। शील जी ने इसे 'युगीन परिस्थितियो का साहित्यिक स्मृतिपत्र'[१८१] कहा है।

इस त्रिअंकी नाटक की पृष्ठभूमि मे तीन प्रान्त हैं–सीमा प्रान्त, पजाब और बम्बई और तदनुसार तीन पृथक्-पृथक् दृश्यबन्धों पर इस नाटक का प्रदर्शन किया गया। पहला दृश्यबन्ध रावलपिण्डी (सीमाप्रांत) में रायसाहब के घर का, दूसरा उत्तर पश्चिमी पंजाब में एक 'रिलीफ कैम्प' का और तीसरा बम्बई में 'रिफ्यूजी कैम्प' का है। 'आहुति'-जैसे बहु-दृश्यबन्धीय नाटक को खेल कर पृथ्वी थियेटर्स ने एक साहसिक प्रयोग किया था। स्थान और काल के वैविध्य के होते हुए भी नाटक में कार्यगत एकता है।

नाटक के संवाद अन्य पूर्ववर्ती नाटको की अपेक्षा कही अधिक भावपूर्ण, मर्मस्पर्शी सटीक एवं सशक्त हैं। बीच-बीच मे अँग्रेजी शब्दो, वाक्यांशो अथवा वाक्यों के प्रयोग खटकते हैं।

जानकी के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व बडा मर्मवेधी है, जिसे पुष्पा ने अपने अभिनय द्वारा बडी मार्मिकता के साथ व्यक्त किया।

पंजाबी के लोकगीत एवं भजन के साथ सूर, कबीर और मीरा के पद बडे सारगर्भित हैं, जिनमें लहना सिंह-जैसे सभी दंगा-पीड़ित शरणार्थियो के हृदय की वेदना भी मुखर हो उठती है। 'उड के लंघ जाणा' (पंजाबी लोक-गीत) का 'थीम साग' के रूप में सुन्दर एवं प्रभावशाली प्रयोग किया गया है।

'आहुति' कुछ काल तक पंजाब विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम मे भी रहा है।

पृथ्वी थियेटर्स के अन्य नाटक हैं–रामानन्द सागर और पृथ्वीराज कपूर के सहलेखन का 'कलाकार', (८ सितम्बर, १९५१ ई०) 'बिस्मिल' का 'पैसा' (सन् १९५३ ई०) और मन्नूलाल 'शील' का 'किसान'।

दो दृश्यबन्धों पर अभिनीत 'कलाकार' में लेखक-द्वय ने 'कला कला के लिये' सिद्धान्त पर आधुनिक नारी को 'मॉडल' या 'सोसाइटी गर्ल' बनाने वाली कला की भर्त्सना कर सोद्देश्य एव जीवनोपयोगी कला को ही श्रेयस्कर माना है। 'पैसा' में दो दृश्यबन्ध हैं, जिसमें पैसे की भूख के जागने पर नायक शान्तिलाल के शान्त जीवन मे उठने

वाले ज्वार और अन्तर्द्वन्द्व की कथा कही गई है ।

पैसा शान्तिलाल को नर-पिशाच बना देता है और वह अपनी 'अन्तरात्मा की आवाज' की उपेक्षा कर अपनी एकमात्र पुत्री इन्द्रा को उसकी इच्छा और विहारी के साथ हुई मंगनी के बावजूद एक वृद्ध सेठ के गले बांध-कर विधवा बनाता, पुत्र मोहन को सम्पत्ति से वंचित कर घर से निकालना और अपने मित्र एवं शुभचिन्तक कालिदास को घोर आर्थिक क्षति पहुँचा कर, शराब के नशे मे, मोटर दुर्घटना का शिकार बनने को विवश करता है। *स्वय भी मानसिक अशाति, रोग और उनिद्रा से ग्रस्त होकर अतत अपने कृत्य पर पश्चाताप करता और सदा-*चारी मित्र किशोर (विहारी के पिता) के दिखाए सात्विक मार्ग को स्वीकार कर पुनः मानव बन जाता है। नाटक के अन्त मे पृथ्वीराज ने दीप्ति प्रभावो तथा ध्वनि-सकेतो के सहारे अपने प्रभावी अभिनय द्वारा शान्तिलाल के अपराधी मन के द्वन्द्व को जिस कौशल के साथ व्यक्त किया, वह भुलाया नही जा सकता।[२८२]

'पैसा' एक सुन्दर एव प्रभविष्णु मनोवैज्ञानिक नाटक है—सोद्देश्य और शिक्षाप्रद। नरोत्तम व्यास ने इसे 'वक्त की जरूरत' और 'लाइलाज बीमार के लिए आबेहयात' कहा है।[२८३]

सर्वप्रथम 'पैसा' अहमदाबाद मे सेन्ट्रल टाकीज के मच पर ४ अक्टूबर १९५३ को खेला गया था। १७ अक्टूबर, ५३ को बम्बई मे रायल ऑपेरा हाउस मे इस नाटक का उद्घाटन बम्बई के तत्कालीन मुख्य मंत्री (और अब प्रधान मन्त्री) मुरारजी देसाई ने किया था। इसमे पृथ्वीराज कपूर का शान्तिलाल अविस्मरणीय है। उनके अभिनय मे 'गरीबी-अमीरी, प्रेम-घृणा, उन्माद-दर्प, मित्रता-शत्रुता, रोना-हँसना, आस्तिकता-नास्तिकता, लालच-उदारता, ममता-त्याग, कलह-शान्ति, सारल्य-हठ', सभी दशाओं तथा मनोविकारो के बहुरगी चित्र एक ही जगह देखने को मिलते हैं।[२८४] 'पैसा' में उजरा मुमताज ने सुशीला (शान्तिलाल की पत्नी) की, कुमुदिनी ने इन्द्रा की, रवीन्द्र कपूर ने मोहन की, श्रीराम ने किशोर की, विश्व मेहरा ने कालिदास की तथा स्वदेश धवन ने विहारी की सुन्दर भूमिकाएँ की।

पृथ्वी थियेटर्स के अन्य नाटको के विपरीत यह चार अको का नाटक है, जिसमे कोई दृश्य नही है। प्रथम अक मे शान्तिलाल के छोटे से फ्लैट तथा दूसरे, तीसरे और चौथे अंको मे समुद्रतटवर्ती उसके बडे शानदार फ्लैट के केवल दो दृश्यबन्धो पर ही यह सम्पूर्ण नाटक प्रदर्शित किया गया था।

संवाद अपेक्षाकृत छोटे, चुस्त, मुहावरेदार, ओजपूर्ण एव सजीव हैं। अंग्रेजी के शब्दो एवं वाक्यो का प्रयोग इस नाटक मे भी हुआ है, किन्तु अपेक्षाकृत कुछ कम। 'कान्ता ने गहना खरीदना था' (पृ० २०), 'कस्यविद्धनम्' के लिए 'कस्यस्विद्धनम्' (पृ० २२ तथा अन्यत्र), 'पैर की जूते' (पृ० २३), ससुराल के लिए 'पीहर' (पृ०१०२) आदि के प्रयोग व्याकरण एव अर्थवत्ता की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण हैं।

'पैसा' के आधार पर इसी नाम की फिल्म भी बन चुकी है, किन्तु यह अधिक सफल नही हुई।

'किसान' मे भारतीय कृषक के जीवन की समस्याओं और सघर्ष, उनके मनोबल और आत्मविश्वास के चित्रण के साथ सत् की विजय प्रदर्शित की गई है। 'किसान' पर उत्तर प्रदेश सरकार से पुरस्कार भी मिल चुका है।[२८५] इस नाटक को हिन्दी मे ही लेनिनग्राद और मास्को मे प्रदर्शित किया जा चुका है।[२८६]

पृथ्वी थियेटर्स के नाटक मराठी-नमूने पर प्रायः चार घटे के होते थे। अभिनय मे पृथ्वीराज के बोलने का ढग, आवाज की बुलदी और स्वाभाविकता नाटकों मे प्राण फूंक देती है। उनकी स्वर-साधना के पीछे उनके दृढ़ चरित्र, नैतिक व्यायाम-जन्य स्वास्थ्य और आत्मिक मनोबल का बहुत बडा संबल रहा है। प्रायः सभी नाटको के नायकों के चरित्र पृथ्वीराज के मनोनुकूल होने के कारण उन पर बहुत फबते रहे हैं। उनकी भूमिकाएँ इतनी प्रभावपूर्ण हुआ करती थी कि अन्य कलाकार उनके व्यक्तित्व के आगे दब-से जाया करते थे।[२८७]

पृथ्वीराज कला के प्रति पूरी ईमानदारी और सच्चाई बरतते थे, जिसे वे अपने कठोर परिश्रम, पात्र की

भूमिका के प्रति अनवरत जिज्ञासा और उसे आत्मसात करने की भावना से अनुप्राणित होकर सजीव एवं गत्यात्मक बना दिया करते थे। उनकी कला केवल कला के प्रति नहीं, राष्ट्र के प्रति समर्पित रही है, क्योंकि उनका व्यक्तित्व राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्र की भावनात्मक एकता के झीने, किन्तु सुदृढ़ तन्तुओ से गुँथा हुआ है। पृथ्वी थियेटर्स के राष्ट्रीय नाटकों मे उनके इस व्यक्तित्व की झलक मिलती है, जिसे पृथ्वीराज ने अपनी प्रमुख भूमिकाओ के द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति दी। उनके सामाजिक नाटक भी प्रेम, करुणा, ममता, उत्सर्ग, सत्य, न्याय, आत्म-विश्वास, सह-अस्तित्व एवं सह-कार्य के उदात्त भावों से अनुप्राणित हैं।

इन नाटकों मे निर्देशन प्रायः पृथ्वीराज का ही रहा है। 'शकुन्तला' और 'दीवार' को छोड शेष नाटकों मे सहायक निर्देशन का काम माणिक कपूर ने किया - संगीत-निर्देशन राम गांगोली ने और नृत्य-निर्देशन सत्यनारायण ने किया।

नाटक प्रायः आधुनिक त्रिभुजीय दृश्यबन्धों (सेटों) पर खेले जाते थे, जो रंगदीपन की आधुनिक पद्धति तथा ध्वनि संकेतों के उपयोग से बहुत प्रभावशाली बन जाते थे। गीत और नृत्य, प्रायः लोक-नृत्य दृश्यो की मधुरता और नाटक की सम्प्रेषणीयता बढा देते थे। दूरी और गहराई, रात्रि और दिन रगों और प्रकाश के समुचित सम्मिश्रण से यथार्थ बन उठते थे। दृश्यबन्ध-निर्माण जहाँगीर मिस्त्री, रंग-दीपन बिल्ला जोशी और नैयर तथा ध्वनि-संकेत का कार्य धनजीशाह करते रहे हैं।

पृथ्वी थियेटर्स पर ढाई लाख से चार लाख रुपये तक वार्षिक व्यय होता था, जिसमे से लगभग एक लाख रु० कर के रूप मे सरकार को देना पड़ता था, फलत. इस व्यय की पूर्ति के लिए उसे देश मे निरन्तर घूमते रहना पड़ता था। वर्ष मे कम से कम चार महीने के लिये पृथ्वी थियेटर्स अपने नाट्य-दल तथा रंग-सज्जा एवं रंगोपकरणों के साथ उत्तर अथवा दक्षिण भारत का भ्रमण किया करता था।[२८८] उसने उत्तरी भारत मे पंजाब के फिरोजपुर, लुधियाना, जालन्धर, और अमृतसर, काश्मीर के श्रीनगर तथा जम्मू, दिल्ली, उत्तर प्रदेश के कानपुर, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, मेरठ, वाराणसी, मुरादाबाद, मथुरा, आदि, बिहार के पटना, भागलपुर, मुजफ्फरपुर आदि, मध्य प्रदेश के जबलपुर, ग्वालियर आदि तथा बंगाल के कलकत्ते से होकर दक्षिणी भारत में औरंगाबाद, हैदराबाद, विजयवाडा, मद्रास, त्रिचनापल्ली, मदुरा तथा रामेश्वरम् तथा आसेतु-हिमालय दीर्घ यात्राएँ की। अर्थोपार्जन के लिये की गई इन यात्राओं के अतिरिक्त पृथ्वीराज को कभी-कभी फिल्मो मे काम करके अपने थियेटर का संपोषण करना पड़ता था, तो कभी थियेटर का सभी सामान—पर्दे पोशाकें, दृश्यावली आदि गिरवी रखकर ऋण भी लेना पडता था। अनेक सकट झेल कर वर्षों तक उसने रंगमंच के प्रदीप को जलाये रखा, किन्तु अन्तत. ३० अप्रैल, १९६० को अर्थ-सङ्कट तथा पृथ्वीराज की व्यक्तिगत अस्वस्थता के कारण वह बन्द हो गया।[२८९] हिन्दी रंगमंच के इतिहास मे यह एक दुःखद घटना थी। अपने सोलह वर्ष के जीवन मे पृथ्वी थियेटर्स ने बम्बई तथा देश के अन्य अनेक नगरों में नाटको के लगभग २५०० प्रदर्शन किये।[२९०] इन नाटकों मे कुछेक ५०० रात्रियो तक या अधिक भी चले। नव्य हिन्दी-रंगमंच के लिए यह एक विशिष्ट उपलब्धि थी।

(तीन) सरकार द्वारा स्थापित केन्द्रीय एवं राज्य संस्थाएँ एवं प्रभाग

आधुनिक युग मे स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार और विभिन्न राज्यों की सरकारो का ध्यान कला, संस्कृति और साहित्य के समुचित विकास की ओर गया। अभी तक इन्हें कोई राज्य-संरक्षण अथवा प्रोत्साहन प्राप्त न था। रंगमंच राज्य-संरक्षण अथवा समाज द्वारा उचित प्रोत्साहन के अभाव में किसी प्रकार चलता तो अवश्य रहा, किन्तु उसके स्थायित्व के लिये कोई मार्ग प्रशस्त न हो सका था। इस क्षेत्र मे जो कुछ कार्य हो रहा था, वह कलाकारों, निर्देशकों और नाटककारों की अनवरत व्यक्तिगत साधना और परिश्रम का ही परिणाम था।

सरकार की ओर से प्रोत्साहन और सरक्षण स्वतन्त्रता के उपरान्त भी कई वर्ष बाद प्रारम्भ हो सका। एतदर्थ केन्द्रीय स्तर पर भारत सरकार ने दो कदम उठाये–संगीत नाटक अकादमी और संगीत-नाटक प्रभाग की स्थापना। सरकार द्वारा ये कदम यद्यपि कुछ बिलम्ब से उठाए गये थे, फिर भी ये सही दिशा में उठाये गये आवश्यक कदम थे, जिनका सर्वत्र स्वागत हुआ। राजकीय सरक्षण का सभी क्षेत्रो पर अच्छा प्रभाव पडा है।

सगीत नाटक अकादमी–भारत सरकार के शिक्षा मत्रालय ने भारतीय नृत्य, नाटक और सगीत के क्षेत्रो मे अनुसधान, उनके शिल्पों के उन्नयन और तत्सम्बन्धी विचार-विमर्श और दूसरे देशो के साथ इन क्षेत्रो मे सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिये जनवरी, १९५३ मे सगीत नाटक अकादमी की स्थापना की।[११] इसका उद्देश्य मानवीय सवेदन एवं सास्कृतिक सम्पर्क के इस सुसस्कृत माध्यम द्वारा भारत मे सास्कृतिक एकता एव विदेशों से सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करना है। अकादमी के विविध कार्यों एव अधिकारो पर दृष्टिपात करने से उसके महत्त्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अकादमी के प्रमुख कार्य और अधिकार ये हैं[१२] :—

(१) प्रादेशिक अथवा राज्य की अकादमियो के कार्यों का समायोजन,

(२) भारतीय नृत्य, नाटक एव सगीत के क्षेत्रो मे शोध-कार्य को प्रोत्साहन और तदर्थ एक पुस्तकालय एवं संग्रहालय (म्यूज़ियम) की स्थापना,

(३) नृत्य, नाटक और सगीत कलाओ के सम्बन्ध मे विविध प्रदेशो के विचारो का आदान-प्रदान और उनके शिल्पो को समुन्नत बनाने के लिये प्रोत्साहन,

(४) हिन्दी तथा इतर भारतीय भाषाओ के नाट्य-केन्द्रो की स्थापना और विविध नाट्य-केन्द्रो मे सहयोग को प्रोत्साहन,

(५) नाट्य-कला का प्रशिक्षण (जिसमें अभिनय का प्रशिक्षण भी सम्मिलित है), रग-शिल्प के अध्ययन और नाटको के उपस्थापन की शिक्षा देने वाली सस्थाओ की स्थापना प्रोत्साहन,

(६) पुरस्कार और विशेष प्रमाण-पत्र देकर नये नाटको के उपस्थापन को प्रोत्साहन,

(७) भारतीय नृत्य, नाटक और सगीत-विषयक साहित्य (जिसमें संदर्भ ग्रंथ, यथा सचित्र शब्द-कोष या प्राविधिक शब्दो की पुस्तिका सम्मिलित है) का प्रकाशन,

(८) अव्यावसायिक रगमच, बच्चो के रंगमच, खुले मंच तथा अपने विविध रूपो में ग्राम्य मच के विकास को प्रोत्साहन,

(९) देश के विविध प्रदेशो के लोक-नृत्य और लोक-संगीत का पुनरुद्धार और संरक्षण तथा सामूहिक सगीत, सैनिक सगीत आदि को प्रोत्साहन,

(१०) अखिल भारतीय आधार पर नृत्य, नाटक और सगीत समारोहो का आयोजन और प्रादेशिक समारोहो को प्रोत्साहन,

(११) नृत्य, नाटक और सगीत के क्षेत्रो मे उल्लेखनीय कार्य करने वाले कलाकारो को पुरस्कार एवं विशेष प्रमाण-पत्र देकर मान्यता प्रदान करना, और

(१२) नृत्य, नाटक और सगीत-सम्बन्धी दलो का दूसरे देशो के तत्सम्बन्धी दलो के साथ आदान-प्रदान।

इसमे सदेह नही कि उपर्युक्त कार्यो की सूची पर दृष्टि डाल कर यह कहा जा सकता है कि रगमच-आन्दोलन और अन्य कलाओ के विकास के लिये संगीत नाटक अकादमी ने जो कार्यक्रम एव लक्ष्य स्थिर किये हैं, वे अत्यन्त महत्वाकाक्षी होते हुए भी चिर-स्पृहणीय हैं। अकादमी ने अपने इन कार्यक्रमो की पूर्ति के लिये कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाए हैं, जिनमें उल्लेखनीय हैं–राज्यो मे प्रादेशिक अकादमियो की स्थापना, नाट्य-समारोहो एव

केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित प्रथम नाट्य-समारोह:
ऊपर : इण्डियन नेशनल थियेटर, बम्बई द्वारा प्रस्तुत चन्द्रवदन
मेहता-कृत 'मासम रात' (गुजराती, ४ दिसम्बर, १९५४ तथा
नीचे : मुम्बई मराठी साहित्य संघ, बम्बई द्वारा मंचस्थ कृ. प्र. खाडिलकर-
कृत 'भाऊबंदकी' (मराठी, ५ दिसम्बर, १९५४) के दृश्य

(छविचित्र प्रभाग, सू. एवं प्र. मंत्रालय, भारत
सरकार के सौजन्य से)

केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित प्रथम नाट्य समारोह :
ऊपर : बहुरूपी, कलकत्ता द्वारा प्रस्तुत रवीन्द्र-'रक्तकरबी' (बंगला,
२१ दिसम्बर, १९५४) तथा
नीचे : तुलसी लाहिड़ी-कृत 'छेंडा तार' (बंगला, २३ दिसम्बर, १९५४) के दृश्य

(छविचित्र प्रभाग, सू. एवं प्र. मंत्रालय, भारत सरकार के सौजन्य से)
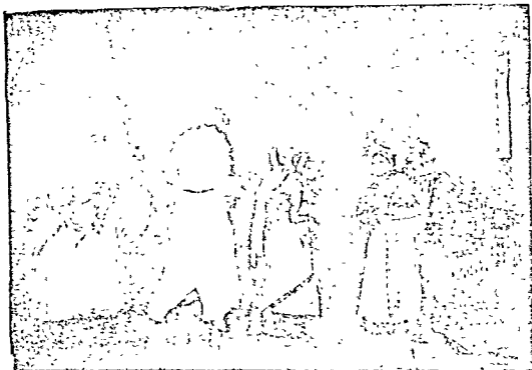
संगीत नाटक अकादमी द्वारा सप्रू हाउस, नयी दिल्ली मे आयोजित
नाट्य समारोह मे बिहार कला केन्द्र, पटना द्वारा १९ दिसम्बर, १९५४
को प्रस्तुत रामवृक्ष बेनीपुरी-कृत 'अम्बपाली' का एक दृश्य

(छविचित्र प्रभाग, सू० एवं प्र० मंत्रालय, भारत सरकार के सौजन्य से)

द्वितीय ग्रीष्म नाट्य समारोह मे तालकटोरा गार्डेन, नयी दिल्ली के खुले मंच
पर २९ मई, १९५७ को प्रस्तुत भास-'चारुदत्त' के सीताराम चतुर्वेदी-कृत
नाट्य-रूपांतर का एक दृश्य

प्रतियोगिताओं का आयोजन, नृत्य, नाटक आदि के लिये अकादमी पुरस्कारों की व्यवस्था, नाट्याभिनय-शिक्षण एवं शोध के लिये नेशनल स्कूल आफ ड्रामा एण्ड एशियन थियेटर इंस्टीट्यूट की स्थापना, विविध नाट्य-रूपों के सर्वेक्षण के लिये मान्यता प्राप्त संस्थाओं को सहायता, मंचोपकरण खरीदने के लिए नाट्य-संस्थाओं को अनुदान तथा शोध-छात्रों के अध्ययन के लिये एक पुस्तकालय एवं संग्रहालय की स्थापना। इसके अतिरिक्त प्राचीन एवं *दुर्लभ पाडुलिपियों के प्रकाशन के लिए विभिन्न संस्थाओं और नाटकों के प्रकाशन के लिए विद्वानों को भी आर्थिक* सहायता दी जाती है।

संगीत नाटक अकादमी अपनी एक छमाही पत्रिका 'संगीत नाटक जर्नल' (अंग्रेजी) सन् १९६५ से निकाल रही है, जिसमें भारत तथा शेष विश्व के नाटकों एवं रंगमंच के सम्बन्ध में ज्ञानवर्धक लेख प्रकाशित होते हैं। इसके अतिरिक्त अकादमी प्रति वर्ष अपनी वार्षिक रिपोर्ट (अंग्रेजी) भी प्रकाशित करती है, जिसमें उसके प्रत्येक वर्ष के विविध कार्य-कलापों तथा उपलब्धियों का ब्यौरा दिया जाता है। अकादमी नाट्य-विषयक विविध समाचारों के प्रकाशन के लिए द्विमासिक समाचार-पत्रिका ('न्यूज बलेटिन', अंग्रेजी) भी निकालती है।

भारत के रंग कर्मियों का जीवन-परिचय संकलित कर अकादमी शीघ्र ही 'हूज हू इन थियेटर' नामक एक वृहत् ग्रंथ निकालने जा रही है।

यह खेद का विषय है कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा स्वीकृत हो जाने के बाद भी अकादमी की पत्रिकाएँ तथा अन्य प्रकाशन हिन्दी में न निकल कर अंग्रेजी में ही प्रकाशित हो रहे हैं।

राज्यों की अकादमियाँ—कई राज्यों में प्रादेशिक संगीत नाटक अकादमियाँ स्थापित की जा चुकी हैं। सन् १९५६ तक अन्य राज्यों के साथ हमारे अध्ययन के भाषा-क्षेत्रों में से सौराष्ट्र, राजस्थान, मध्यभारत, भोपाल (मध्य भारत और भोपाल अब नये राज्य मध्य प्रदेश के अंग हैं) और बिहार में प्रादेशिक अकादमियाँ स्थापित हो चुकी थीं।[३१] उत्तर प्रदेश में 'उत्तर प्रदेश संगीत-नाट्य भारती' नाम से प्रादेशिक अकादमी की स्थापना सन् १९६३ में हुई। अब यह अपने परिवर्तित नाम 'उत्तर प्रदेश संगीत नाटक, अकादमी' के नाम से ही कार्यरत है। पश्चिमी बंगाल में भी प्रादेशिक अकादमी बन चुकी है।

नाट्य-समारोह, प्रतियोगितायें एवं पुरस्कार—केन्द्रीय अकादमी द्वारा प्रत्येक वर्ष नाट्य-समारोह एवं प्रति-*योगिताएँ आयोजित की जाती हैं, जिनमें संस्कृत-सहित सभी भारतीय भाषाओं के नाटक खेले जाते हैं।* इनमें सर्वश्रेष्ठ नाटक, नाटककार एवं अभिनेता, सर्वोत्तम नाटकोपस्थापन 'प्ले प्रोडक्शन' और निर्देशन के लिए पुरस्कार अथवा प्रमाण पत्र दिये जाते हैं। ये पुरस्कारादि प्रतिवर्ष एक समारोह में राष्ट्रपति द्वारा दिये जाते हैं। सामान्यतः इस प्रकार के पुरस्कार में एक शाल, स्वर्ण-कंगन, स्वर्ण-कंठी अथवा स्वर्ण-कमल और 'सनद' या प्रमाणपत्र होता है।

सन् १९५५ में सर्वोत्तम अभिनेता का पुरस्कार मराठी के यशस्वी अभिनेता नारायणराव राजहंस (बाल-गंधर्व) को तथा सन् १९५९ में सर्वोत्तम नाटक का पुरस्कार 'आषाढ़ का एक दिन' पर उसके लेखक मोहन राकेश को और सर्वोत्तम उपस्थापित नाटक का पुरस्कार विनोद रस्तोगी के 'नये हाथ' पर कलकत्ते की नाट्य-संस्था *अनामिका को प्रदान किया गया।*

सन् १९६० में गुजराती के नाटककार प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी को नाट्य-लेखन के लिये और गुजराती रंगमंच के सर्वश्रेष्ठ नाट्य-निर्देशक कासमभाई नथुभाई मीर को निर्देशन के लिये संगीत नाटक अकादमी के पुरस्कार प्राप्त हुए। गुजरात राज्य की संगीत नाटक अकादमी ने कासमभाई को सन् १९६४ में ताम्रपत्र दिया था।[३२]

इसके अतिरिक्त सर्वोत्कृष्ट अभिनय के लिये गणपतराव बोडस एवं स्व० चिन्तामण राव कोल्हटकर (मराठी), अहीन्द्र चौधरी (बंगला), श्रीमती तृप्ति मित्र (बंगला) और श्रीमती जोहरा सहगल (हिन्दी) को,

उपस्थापन एवं निर्देशन के लिए पृथ्वीराज कपूर (हिन्दी), जयशंकर 'सुन्दरी' (गुजराती), शंभु मित्र (बँगला) तथा इब्राहीम अल्काज़ी (हिन्दी-अग्रेजी) को, नाट्य-लेखन के लिये शिवकुमार जोशी (गुजराती), भार्गवराम विट्ठल (मामा) वरेरकर और वसत कानेटकर (मराठी) तथा उत्पल दत्त (बँगला) को और नाटकोपस्थान के लिये रूपकार, कलकत्ता (बँगला) को भी अकादमी पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।"[1]

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय एवं एशियाई नाट्य सस्थान—वस्तुतः ये दो सस्थाएँ हैं, जो एक मे विलीन होकर काम कर रही हैं। एशियाई नाट्य सस्थान (एशियन थियेटर इन्स्टीट्यूट) की स्थापना जनवरी, १९५८ मे नाट्य सघ, दिल्ली द्वारा हुई थी, जिसे यूनेस्को (सयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, सामाजिक एव सास्कृतिक सघ) और सगीत नाटक अकादमी द्वारा वित्तीय सहायता मिलती थी। अकादमी ने इस सस्थान को जुलाई, १९५८ मे ले लिया और अप्रैल, १९५९ मे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना होने पर उसे इस विद्यालय मे विलीनीकृत कर दिया गया। सस्थान का लक्ष्य है—भारत-सहित एशिया के विविध नाट्य-रूपो का अनुसधान तथा एशियाई देशो के कलाकारों और विद्वानो को अनुसधान के लिये सुविधा देना। विद्यालय के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है—नाट्यकला का प्रशिक्षण, जिसमे नाटक-साहित्य का इतिहास, उपस्थापन, रग-सज्जा, परिधान-रचना, रंगदीपन, रूप-सज्जा आदि सम्मिलित हैं। यह प्रशिक्षण—पाठ्यक्रम तीन वर्ष का है। प्रथम वर्ष सभी छात्रो के लिये एक-सा ही पाठ्यक्रम रहता है। जिसमे पूर्वी और पश्चिमी नाटक-साहित्य, अभिनय, योगाभ्यास, निर्देशन, दृश्याकन एव रग-स्थापत्य, परिधान-रचना, रूप-सज्जा, रगदीपन आदि के सिद्धान्त और व्यवहार की शिक्षा दी जाती है। दूसरे तथा तीसरे वर्ष अभिनय, उपस्थापन, सामुदायिक नाटक अर्थात् ग्राम-रगमच, शिक्षामूलक नाट्यकला अर्थात् स्कूली बालको को नाट्यकला सिखाने और शिक्षा के माध्यम के रूप मे नाट्य-कला की उपयोग विधि तथा रगशिल्प को प्रशिक्षण में से किसी एक विषय मे विशेषज्ञता प्राप्त करनी होती है।

पाठ्यक्रम की इस अवधि मे प्रत्येक छात्र को प्राय. ६—७ सस्कृत नाटक और भारतीय तथा विदेशी भाषाओ के लगभग बीस-बीस नाटक पढने पडते हैं, जिससे उसकी दृष्टि का विस्तार होता है और उसमे 'रगमच की झूठी तडक-भडक, तथा घटियापन को पहिचान कर भारतीय परम्परा के भीतर ही प्रामाणिक नाट्यानुभूति' को परखने-समझने की क्षमता आ जाती है।"[1] शिक्षण का माध्यम और नाटकोपस्थापन का माध्यम हिन्दी और अँग्रेजी है। प्रत्येक वर्ष नया सत्र १५ जुलाई को प्रारम्भ होता है। प्रवेश के समय प्रत्येक छात्र को प्रवेश-शुल्क, ट्यूशन फीस आदि सहित १२५) रु० देने पडते हैं। योग्य छात्रो को २००) रु० से बढाकर अब ३००) रु० प्रतिमाह की कुछ छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं, जिससे वे आर्थिक चिन्ताओ से मुक्त होकर प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक वर्ष लगभग २५ नये विद्यार्थियो को प्रवेश दिया जाता है। कक्षाएँ प्रातः नौ से अपराह्न साढे चार बजे तक लगती हैं, जिसके बीच चाय एव 'लच' के लिये अवकाश मिलता है। आवश्यक होने पर पूर्वाभ्यास और अन्य व्यावहारिक कार्य सध्या समय किये जाते हैं। छात्रावास की पहले कोई सुविधा नही थी, किन्तु अब छात्रावास की भी व्यवस्था हो गई है। नाटकोपस्थापन के लिये पहले दूसरी रंगशालाएँ किराये पर ले ली जाती थी अथवा खुले मैदानो मे अस्थायी रगशालाएँ बना ली जाती थी, लेकिन अब एक छोटे-से खुले रगमच की व्यवस्था विद्यालय के निकट ही हो गई है। एक स्टूडियो थियेटर भी है। इस प्रकार के उपस्थापन में विद्यालय की छात्र-छात्राएँ अपने अभिनय-कौशल एव क्षमता का प्रदर्शन करती हैं। प्रत्येक वर्ष तीन-चार नाटक विद्यालय की ओर से और कुछ छोटे-बडे नाटक इस विद्यालय की छात्र-छात्राओं द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। विद्यालय की स्थापना से दो-तीन वर्ष के भीतर हिन्दी मे 'भगवदज्जुकीयम्' (बोधायन के सस्कृत प्रहसन का अनुवाद, १९५९-६०), 'पाप और प्रकाश' (मू० ले० टालसटाय), जगदीशचन्द्र माथुर-कृत 'शारदीया', 'गुडियाघर' (इब्सन—'ए डाल्स हाउस' का अनुवाद) आदि नाटक खेले गये।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली द्वारा आरगित दो नाटक :
ऊपर : धर्मवीर भारती-कृत 'अंधा युग' में चिंतामग्न धृतराष्ट्र तथा
नीचे : मोहन राकेश-कृत आषाढ़ का एक दिन' में महाकवि
कालिदास, उसकी प्रेयसी मल्लिका तथा विलोम

(राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली के सौजन्य से)

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली द्वारा खुले रंगमंच पर प्रदर्शित 'होरी' के दो दृश्य :
ऊपर - पीपल के वृक्ष के नीचे ग्राम्य झोपड़ियों के रूप में नाटक का दृश्यबंध तथा
नीचे : नाटक के नायक होरी तथा नायिका धनिया (१९६८ई०)

(राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली के सौजन्य से)

प्रस्तुत शती के सातवें दशक में विद्यालय ने सोफोक्लीज–'एँटिगनी', 'बिच्छू' (मोलियर-कृत 'फोरबेरीज डि स्कापी' का हिन्दी-रूपान्तर, ६-७ अप्रैल, १९६३), धर्मवीर भारती-कृत काव्य-नाटक 'अन्धा युग' (१० से १७ अक्टूबर, १९६३), सोफोक्लीज-कृत 'ईडिपस रेक्स' (अनु० जितेन्द्र कौशल, २९ फरवरी, १९६४, ६ से ८ तथा १३ से १५ मार्च, ६४ तथा १० से १२ सितम्बर, १९६४), 'सपने' (अल्बर्ट कामू के 'क्रास परपज' का सत्यदेव दुबे कृत हिन्दी-रूपान्तर, २० से २२ मार्च, ६४), स्ट्रिंडबर्ग-कृत 'दि फादर' (३ से ५ सितम्बर, ६४), शेक्सपियर-'किंग लियर' (उर्दू-रूपान्तर, १० से १२ तथा १४ से १७ दिसम्बर, १९६४) आदि कई नाटक अभिमंचित किये ।

विद्यालय ने 'अन्धा युग' का प्रदर्शन बम्बई में ८ फरवरी, १९६४ को तथा 'ईडिपस रेक्स' का प्रदर्शन कलकत्ते में २६ दिसम्बर, १९६४ को किया । 'किंग लियर' का मंचन अखिल भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलन के अवसर पर हैदराबाद में ३१ जनवरी, १९६५ को किया गया ।

शेक्सपियर चतुश्शती के अवसर पर संगीत नाटक अकादमी तथा साहित्य अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में 'शेक्सपियर की बहुमुखी प्रतिभा के विविध पक्ष तथा उनका व्यक्ति पर प्रभाव' विषय पर ४ से ८ दिसम्बर, १९६४ तक रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली में एक विचार-गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसका उद्घाटन ४ दिसम्बर को सायंकाल तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने किया । इस अवसर पर दूसरे दिन से रात्रि को न्यू शेक्सपियर कम्पनी, लंदन ने शेक्सपियर-कृत 'दि टेमिंग आफ दि श्रयू' (अँग्रेजी) तथा 'दि टेम्पेस्ट' (अँग्रेजी) फाइन आर्ट्स हाल, नई दिल्ली में क्रमशः ५ तथा ७ दिसम्बर को, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने शेक्सपियर–'किंग लियर' (उर्दू) विद्यालय के रंगमंच पर ६ दिसम्बर को तथा लिटिल थियेटर ग्रुप, कलकत्ता ने शेक्सपियर–'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' (बँगला में 'मध्य ग्रीष्मे रात्रेर स्वप्न') इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन के प्रेक्षागृह में ८ दिसम्बर को प्रदर्शित किया ।

गोष्ठी में ५ दिसम्बर से जिन विषयों पर प्रवेश निबन्ध (पेपर्स) पढ़े गये और विचार-विनिमय हुआ, वे थे: शेक्सपियर का मेरा अध्ययन, शेक्सपियर के नाटकों का अध्यापन, शेक्सपियर के नाटकों का प्रदर्शन तथा शेक्सपियर और भारतीय भाषाओं का नाटक-साहित्य ।

प्रथम विषय पर गोष्ठी का यह मत रहा कि 'शेक्सपियर का नाटक-साहित्य इतना विविध और व्यापक है कि कोई भी व्यक्ति उसमें कोई भी विचार-धारा और जीवन-दर्शन खोज सकता है ।'[९७]

द्वितीय विषय पर यह तय पाया गया कि 'शेक्सपियर के समीक्षा-साहित्य' के साथ ही छात्रों का उनकी नाट्य-कृतियों से 'और अधिक सीधा और जीवन्त साक्षात्कार' कराया जाना चाहिये ।'[९८] इस मंतव्य का आशय यह था कि छात्रों को शेक्सपियर के नाटकों के प्रदर्शन दिखाये जायें और उन्हें उनके प्रदर्शनों में भी सक्रिय रूप से संबद्ध किया जाय ।

तृतीय विषय पर ई० अल्काज़ी, उत्पल दत्त, हबीब तनवीर, मृणालिनी साराभाई, डगलस ब्लैयेट तथा डेविड विलियम (न्यू शेक्सपियर कम्पनी के निर्देशक) ने अपने-अपने विचार प्रकट किये । जो निष्कर्ष निकला, वह यह था कि शेक्सपियर के नाटकों को भारतीय संदर्भ में प्रस्तुत कर उन्हें एक विशिष्ट रूप दिया जा सकता है । साथ ही प्रत्येक पीढ़ी के लिए पुराने नाटकों के नये अनुवादों और उनके प्रयोगों की वांछनीयता पर भी जोर दिया गया ।

अन्तिम विषय पर विचारोपरान्त यह मंतव्य रहा कि भारत की सभी भाषाओं पर शेक्सपियर का प्रभाव समान रूप से पड़ा और उनमें ऐतिहासिक नाटक-लेखन की प्रेरणा और उसका रूप-विधान-त्रासदी का जन्म, वस्तु-विन्यास में संघर्ष-तत्व का प्रवेश, संवादों की उदात्त, भावुकतापूर्ण तथा ओजमयी भाषा आदि शेक्सपियर से आया

और भारतीय तथा एलिजावेथकालीन नाट्य-परम्परा की अनेक रूढ़ियों, तत्वों आदि में समानता के कारण शेक्सपियर की नाट्य-कला यहाँ की नाट्य-परम्परा के साथ सहज भाव से समेकित हो गयी।"[११]

विद्यालय ने गत दशक में जो अन्य नाट्य-प्रयोग किये, उनमें प्रमुख हैं–मोलियर–'कंजूस' (१९६५ ई०), आद्य रंगाचार्य-कृत 'सुनो जनमेजय' (हिन्दी में, १९६५ ई०), गिरीश कारनाड के 'तुग़लक' तथा 'आटे का कुक्कुट' (कन्नड से हिन्दी-रूपान्तर), शेक्सपियर–'ऑथेलो', 'हीरो' (१९६७ ई० प्रेमचन्द-'गोदान' का विष्णु प्रभाकर-कृत नाट्य-रूपान्तर), ब्रेख्ट–'खड़िया का घेरा', मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' (१९६७ ई०), इब्सन–'प्रेत', 'ऐंटिगनी' आदि।

इनमें से अधिकांश नाटक विद्यालय के खुले रंगमंच पर ही प्रस्तुत किये गये। सीमित सुरुचिपूर्ण सामाजिकों के बीच प्रस्तुत इन नाटकों का अभिनय, रंगशिल्प और निर्देशन उच्च स्तर का रहा है। इन प्रयोगों के लिए प्रायः वे ही श्रेष्ठ नाटक चुने जाते हैं, जो रंग-एवं-नाट्य-शिल्प के कारण हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता प्राप्त कर चुके हैं। अधिकांश नाटक अनूदित होते हैं। इनमें हिन्दी के मौलिक नाटकों की संख्या कम रहती है।

सन् १९७० में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने ग्रीष्म नाट्य समारोह (१७ से २५ मई तक) का आयोजन किया, जिसमें दिशांतर ने मोहन राकेश-कृत 'आधे अधूरे' (१७ मई, दो प्रयोग), कन्नड भारती ने आद्य रंगाचार्य-कृत 'रंग भारत' (१८ मई, कन्नड में), तथा संकेत, जयपुर ने ज्ञानदेव-'शुतुरमुर्ग' (२४ मई) प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त विद्यालय के छात्र-निर्देशकों द्वारा कुछ नाटक (१९ मई) तथा विद्यालय के छात्रों द्वारा मराठी तमाशा–'कुणाचा मेल नाही' (२० मई), गुजराती भवाई (२१ मई), ब्रेख्ट के नाटकों के कुछ दृश्य (२३ मई), एडवर्ड एल्बी के 'दि ज़ू स्टोरी' का मराठी-रूपान्तर (२४ तथा २५ मई) तथा ब्रेख्ट का 'खड़िया का घेरा' (२५ मई) प्रदर्शित किया गया। २२ मई को विद्यालय के छात्रों ने अपने मौलिक अनुरचित नाट्यांश गति, संगीत तथा चेहरों के सहारे प्रस्तुत किये।

ये नाट्य-प्रदर्शन टिकट से किये गये, जिनके लिये २) रु० तथा ३) रु० के टिकट रखे गये थे।

इसके अतिरिक्त छात्रों के विविध कलाओं के ज्ञान के संवर्धन के लिए विद्यालय द्वारा समय-समय पर प्रदर्शिनियों, चलचित्र-प्रदर्शन, रंगमंच के विविध पहलुओं पर व्याख्यानों एवं विचार-गोष्ठियों तथा संग्रहालयों, कला-दीर्घाओं और ऐतिहासिक भवनों को देखने का भी प्रबन्ध किया जाता है। छात्र-कलाकारों तथा छात्र-उपस्थापकों के व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए विद्यालय ने २२ अगस्त, १९६४ से एक रिपर्टरी नाटक मंडली, प्रयोग के रूप में, प्रारम्भ कर दी है। इसमें विद्यालय से निर्देशन, अभिनय तथा रंगशिल्प में डिप्लोमा-प्राप्त छात्र ही रखे जाते हैं।

अभिनय तथा रंगशिल्प में विशेष दक्षता-प्राप्त छात्रों को प्रोत्साहन देने के लिये विद्यालय ने सन् १९६४ से चार पुरस्कार देने की परम्परा प्रारम्भ की है–भरत पुरस्कार (सर्वोत्तम बहुमुखी छात्र के लिये), कालिदास पुरस्कार (विशेष रूप से विशिष्ट छात्र के लिए), किर्लोस्कर पुरस्कार (सर्वोत्तम छात्र-अभिनेता के लिये) तथा गिरीश घोष पुरस्कार (सर्वोत्तम छात्र-रंगशिल्पी के लिये)। ये पुरस्कार प्रत्येक वर्ष विद्यालय के विशिष्ट, दक्ष एवं मेधावी छात्र-छात्राओं को दिये जाते हैं।

विद्यालय में दृश्यबन्धों के 'मॉडल' बनाने, मंचोपकरण एवं दृश्यावली आदि तैयार करने के लिये काष्ठ-कला अर्थात् बढ़ईगिरी तथा दृश्यांकन (सीनिक डिजाइनिंग) की कक्षाओं की भी व्यवस्था है।

सहायता और अनुदान–अकादमी हिन्दी तथा देश की सभी भाषाओं की संस्थाओं की सर्वेक्षण एवं अनुसंधान तथा अधिकांश नाट्य-संस्थाओं को विद्युत् एवं ध्वनि-यन्त्रों, मंचोपकरण, परिधान आदि खरीदने, नाटकोपस्थापन,

नाट्य-शिक्षण रंगमंच-निर्माण तथा नाट्य-ग्रन्थो के प्रकाशन, नाट्य-पुस्तकालय खोलने आदि विविध कार्यों के लिए वित्तीय सहायता एवं अनुदान देती है, जो एक हजार रुपये से लेकर पचास हजार रुपये तक का हो सकता है। इस प्रकार की सहायता और अनुदानों से हिन्दी तथा अन्य भाषा-क्षेत्रो की नाट्य-संस्थाओ को अपनी रग-व्यवस्था को पूर्ण बनाने तथा सुस्थिर रूप से खडे होने का अधिकार मिल गया है, जो रगमंच आन्दोलन की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

अकादमी-पुस्तकालय एवं संग्रहालय—अकादमी ने नृत्य, नाटक एवं संगीत कलाओ के अध्ययन एवं अनुसंधान के लिए एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना की है, जिसमें हिन्दी तथा इतर भारतीय भाषाओं के नाटक एवं नाट्यशास्त्र-विषयक अमूल्य ग्रन्थ, पत्र-पत्रिकाएँ आदि सग्रहीत हैं। इस पुस्तकालय ने नाट्य-विषयक पुस्तकालय के अभाव को दूर करने मे एक स्पृहणीय भूमिका ग्रहण की है। अकादमी को देश-विदेश के अनेक लेखकों एवं सस्थाओ से ग्रन्थोपहार भी प्राप्त होते रहते हैं।

अकादमी के सग्रहालय में सगीत, नृत्य, नाटकाभिनय आदि के सम्बन्ध मे छवि-चित्रों, माइक्रो-फिल्मों, रिकार्डों, टेप-रिकार्डों, राज्य-विशेषो के लोक-संगीत के वाद्य-यन्त्रो आदि का मूल्यवान संग्रह है।

अकादमी का वर्तमान कार्यालय, पुस्तकालय एव राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रवीन्द्र भवन, फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली मे है। डॉ० सुरेश अवस्थी इसके सचिव और ई० अल्काज़ी विद्यालय के निदेशक हैं।

सूचना मंत्रालय का गीत एव नाटक-प्रभाग—नाटक, कठपुतली, कवि-सम्मेलन, कव्वाली, हरिकथा आदि के कलात्मक माध्यम से पचवर्षीय आयोजनाओं के देशव्यापी प्रचार के लिये भारत सरकार ने सूचना एवं प्रसारण मत्रालय के अन्तर्गत गीत एव नाटक प्रभाग की स्थापना सन् १९५४ मे की। पचवर्षीय आयोजनाओं अथवा उनके मूलभूत विचारों एवं कार्यक्रमो को आधार बना कर प्रभाग द्वारा हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में अनेक नाटक लिखे-लिखाये गये। किसी भी नाटककार को अपनी पाण्डुलिपि स्वीकृत कराने के लिये प्रभाग द्वारा प्रसारित एक प्रश्नावली का उत्तर भर कर पाण्डुलिपि के साथ भेजना पड़ता है और स्वीकृत हो जाने पर लेखक को पुरस्कृत किया जाता है।

इन नाटको को खेलने के लिये प्रभाग ने अपने कुछ केन्द्रीय नाट्य-दल तैयार किये और प्रभाग द्वारा स्वीकृत नाटकों को खेलने की अनुमति अन्य संस्थाओ को भी प्रदान की। यह अनुमति बाहरी संस्थाओं को नि.शुल्क अथवा धर्मार्थ प्रदर्शन के लिये ही दी जाती है, किन्तु अन्यथा लेखक से अनुमति लेना आवश्यक होता है। प्रभाग अब तक विविध भाषाओ के लगभग सत्तर नाटक खेल चुका है। वह वर्ष मे हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के नाटकों के कुल मिला कर चार सौ से पाँच सौ तक प्रदर्शन कर लेता है।

बाहर की जो नाट्य-सस्थाएँ प्रभाग से उसके स्वीकृत नाटक खेलने के लिये संबद्ध हो जाती हैं, उन्हें प्रति प्रदर्शन पर कुछ पारिश्रमिक भी मिलता है, जिससे वे अपने प्रदर्शन नियमित और सुचारु रीति से दे सकें।

प्रभाग के केन्द्रीय नाट्य-दल द्वारा प्रस्तुत हिन्दी नाटकों मे उल्लेखनीय है : रमेश मेहता-कृत 'हमारा गाँव (१९५४ ई०), प्रभाग के उप निदेशक वीरेन्द्रनारायण-कृत 'धर्मशाला' (१९५७ ई०) और 'चौराहे पर', मामा वरेरकर के मराठी नाटक 'जिवा-शिवाची भेट' का र० श० केलकर-कृत अनुवाद 'और भगवान देखता रहा' (१९५७ ई०), लेखक-त्रय रामसोकर-सवनीस-माडगूलकर के मराठी नाटक 'हेहि दिवस जातील' के गोविन्दवल्लभ पंत-कृत नाट्य-रूपातर 'आराम हराम है' आदि।

'हमारा गाव' एकाकदृश्यीय ढाई घटे का त्रिअंकी नाटक है, जिसमे भारतीय गाँव की दुर्दशा, अशिक्षा, अज्ञान आदि का चित्रण कर गाँव के पुनर्निर्माण पर ज़ोर दिया गया है। 'धर्मशाला' मे कई भाषा-भाषियों को एक

साथ एकत्र कर राष्ट्र की भावनात्मक एकता पर ज़ोर दिया गया है ।

ये दोनों नाटक एक ही दृश्यबंध (सेट) पर खेले जाते हैं, किन्तु 'चौराहे पर' में कोई दृश्यबंध नहीं है। शिल्प की दृष्टि से यह एक विशिष्ट प्रकार का नाटक है, जिसमें सात पात्र—दो दम्पति, एक भिखारी, एक वृद्ध बाप और एक चाय वाला-मंच पर आकर अपनी-अपनी भूमिका बताते, मेक-अप करते और अभिनय प्रारम्भ कर देते हैं।'[१]

'और भगवान देखता रहा' में गाँव के मिटते हुए धन्धे, बेकारी, ऊँच-नीच, अस्पृश्यता और गिरती हुई मनुष्यता, साहूकारों के अनाचार आदि का मार्मिक अंकन हुआ है। इस त्रिअंकी नाटक में अनेक दृश्य हैं, जिसे प्रतीक रंग-सज्जा द्वारा दिखाया जा सकता है।

पंत का 'आराम हराम है' एक ही दृश्यबंध पर प्रयोक्तव्य नाटक है, जिसमें एक करोड़पति परिवार के नौकरों के हड़ताल कर देने पर परिवार के सदस्यों के द्वारा श्रम के महत्त्व की अनुभूति का वर्णन किया गया है।

इन नाटकों के निर्देशक हैं—प्रभाग के निदेशक ले० कर्नल एच० वी० गुप्ते। रंग-दीपन प्रायः धर्मपाल शर्मा और ध्वनि-संकेत देने का काम लेनिन पंत करते रहे हैं।

प्रभाग द्वारा प्रायः प्रत्येक वर्ष नाट्य-समारोह भी आयोजित किये जाते हैं, जिनमें संस्कृत, हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के नाटक प्रदर्शित किये जाते हैं। सन् १९६० के अन्त तक प्रभाग द्वारा पाँच समारोह आयोजित किये जा चुके थे। ये समारोह अब प्रभाग की रंगशाला-रंगमंच-में ही प्रायः फरवरी-मार्च में होते हैं। इसमें ७५० व्यक्तियों के बैठने के लिये स्थान है।

इसके अतिरिक्त प्रभाग द्वारा राष्ट्र की भावात्मक एकता की अभिवृद्धि के लिये देश के एक राज्य के नाट्य दल को दूसरे राज्य में भेजा जाता है, जिससे कला के माध्यम से सौहार्द, पारस्परिक आदान-प्रदान और समन्वय की भावना जागृत हो सके।

केन्द्रीय गीत-नाटक प्रभाग की भाँति उत्तर प्रदेश तथा अन्य भाषा-भाषी राज्यों में भी गीत-नाटक अनुभाग इस दिशा में कार्यरत हैं। उत्तर प्रदेश की गीत-नाटक शाखा सूचना विभाग के अन्तर्गत वर्तमान शती के छठे दशक के अन्त में खुली थी। इस शाखा द्वारा प्रत्येक वर्ष केन्द्रीय प्रभाग की भाँति ही नाट्य-समारोह आयोजित किये जाते रहे हैं। सन् १९५९ में इस समारोह में लखनऊ की नाट्य-संस्था 'रंगमंच', एटा की 'कला-भारती' और वाराणसी की 'श्रीनाट्यम्' ने क्रमशः 'आषाढ़ का एक दिन' (ले० मोहन राकेश), 'आदमी' (ले० ब्रजवल्लभ मिश्र) और 'ये भी इन्सान हैं' नामक नाटक प्रस्तुत किये। इसमें सर्वश्रेष्ठ अभिनीत नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', सर्वश्रेष्ठ नाटककार ब्रजवल्लभ मिश्र, सर्वश्रेष्ठ अभिनेता के रूप में अवधबिहारीलाल ('ये भी इंसान हैं' में वगू दासू के सफल अभिनय के लिये) तथा सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री के रूप में धीरा बनर्जी ('आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका) को 'शाकुंतल पुरस्कार' दिये गये।

उत्तर प्रदेश की गीत-नाटक शाखा कई वर्ष तक (राज्य की मुख्य मंत्री श्रीमती सुचेता कृपलानी के युग तक) कार्य-रत बनी रही और प्रत्येक वर्ष नाट्य-समारोह का आयोजन करके सर्वश्रेष्ठ अभिनीत नाटक, सर्वश्रेष्ठ नाटककार, अभिनेता एवं अभिनेत्री को पुरस्कार दिये जाते रहे हैं, किन्तु सन् १९६७ में जब इस प्रदेश में चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व में सर्वप्रथम संविद सरकार बनी, तो उसने अन्य मितव्ययिताओं के साथ गीत-नाटक शाखा को भी समाप्त कर दिया। अमृतलाल नागर के कथनानुसार महोत्सव के कार्यक्रमों में बड़ी भीड़ जुड़ी 'रहा' हुआ करता था।'[२] इस समारोह में हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा के भी नाटक हुआ करते थे।

इन नाट्य-समारोहों और पुरस्कारों से अव्यावसायिक रंगमंच को बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

(चार) आधुनिक युग की अन्य नाट्य-संस्थायें

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के गौरव के अनुरूप अहिन्दी-क्षेत्रो में–विशेषकर महाराष्ट्र से लेकर बंगाल तक–हिन्दी को समानाधिकार प्राप्त रहा है और यह सत्य रंगमंच के क्षेत्र मे और भी तीव्र रूप से उभर कर सामने आ जाता है। दिल्ली महानगरी जितनी हिन्दी की है, उतनी ही वह बंगला, मराठी, पजाबी, गुजराती आदि भाषाओ की भी है। इस प्रकार बम्बई जितनी मराठी या गुजराती की या कलकत्ता जितना बंगला का है, उतना ही ये दोनों महानगर हिन्दी के भी हैं। ये अन्तर्प्रान्तीय महानगर हैं, जिन्हे किसी एक भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित कर नही रखा जा सकता। रंगमंच के क्षेत्र मे बबई ने वेताब-युग मे और कलकत्ते ने प्रसाद-युग मे नेतृत्व किया और आधुनिक युग में यह 'कमान' दिल्ली के हाथो मे आ गई है। दिल्ली न केवल अन्तर्प्रान्तीय, वल्कि अब अन्तर्राष्ट्रीय महानगरी बन चुकी है।

दिल्ली-रगमंच–कुछ विद्वानो का मत है कि दिल्ली की अपनी कोई 'पुरानी रंग-परम्परा' नही रही है[१२] अथवा उसकी अपनी कोई जड अथवा आधार-भूमि नही रही है, जिसे उलट कर देखा जा सके।[१३] यह हम देख चुके हैं कि दिल्ली बालीवाला विक्टोरिया, न्यू अल्फ्रेड, नूर विजय, शाहजहाँ, वैराइटी आदि अनेक पारसी-हिन्दी नाटक मडलियो का प्रमुख 'मुकाम' रही है। इसके अतिरिक्त इन्द्रगढ के महाराज की श्री मोहन नाटक मंडली सन् १९४५ मे यही पर बनी थी। अतः सारे हिन्दी-प्रदेशो मे और उनके बाहर भी सम्पूर्ण उत्तर भारत की एक रग-परम्परा रही है और वह थी पारसी-हिन्दी रग-परम्परा, जो इन व्यावसायिक नाटक-मडलियो के कारण दीर्घकाल से अविच्छिन्न बनी रही। यही कारण है कि इस परम्परा के प्रकाशित नाटको मे राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु' की एक लाख से अधिक प्रतियाँ अब तक बिक चुकी हैं। हिन्दी को अपने इस अमूल्य दाय को स्वीकार करने मे सकोच नही करना चाहिये। इसके अतिरिक्त कालेज-छात्रो द्वारा भी समय-समय पर नाटक अभिनीत होते रहे हैं।

देश के स्वतंत्र होने के बाद से दिल्ली हिन्दी रगमच का केन्द्र बन गई है, अनेक नये शिल्प प्रयोग हो रहे हैं, अनेक नाट्य-संस्थाओ ने जन्म लेकर उसे समृद्ध बनाया है, किन्तु कुछ ऐसा लगता है कि इस रगमच की आत्मा मे भारतीयता का–समाज और राष्ट्र के जीवन, सस्कृति और युगबोध का प्रतिबिम्ब नहीं है, जैसे वह विदेशी अथवा माँगनी के प्राणों को लेकर जी रहा हो–एक सतही जीवन, एक कृत्रिम जीवन। कही-कहीं मौलिक कृतियों मे भारत की इस आत्मा के दर्शन अवश्य होते हैं, किन्तु उनकी संख्या अधिक नही है। दिल्ली-रंगमंच के *सतही जीवन का कारण है–पंजाब के उन कलाकारो एवं नाट्यानुरागियों का दिल्ली-आगमन, जो भारत–विभाजन* के कारण विस्थापित हो गये थे। दूसरा कारण है–स्वतत्र भारत की राजधानी मे विदेशी दूतावासो की स्थापना और उनके अपने कर्मचारियों, देशवासियों आदि के लिये मनोरजनार्थ नाट्य-क्लबो की स्थापना। इन आगंतुको ने दिल्ली के आधुनिक रंगमच की नींव डाली और नई दीवारें खड़ी की, आकर्षक किन्तु विदेशी प्लास्टर लिये हुए। विदेशी दूतावासों के नाटक क्लबो द्वारा अँग्रेजी अथवा उनके देशों की भाषाओं के नाटक या संगीतक अथवा उनके अँग्रेजी अनुवाद खेले गए। देश-विदेश की विविध नाट्य-मडलियों ने यहाँ आकर दिल्ली के इरतही नाट्य-जीवन को एक नई दिशा दी, और क्रमशः वह विभिन्न रग-एवं-नाट्य-पद्धतियों के नाट्य-प्रयोग की केन्द्र बन गई।

पंजाब से आने वाले कलाकार एवं रंगकर्मी अपने साथ दो नाट्य-सस्थाएँ लाये–थ्रीआर्ट्स क्लब और लिटिल थियेटर ग्रुप, जिनमें से प्रथम शिमला मे सन् १९४३ में आर० एम० कौल, ओम् शर्मा और देवी चांद द्वारा संस्थापित हुई थी और दूसरी लाहौर में इंग्लैंड के लघु रगमच आन्दोलन (लिटिल थियेटर मूवमेंट) से प्रेरणा ग्रहण कर सन् १९४६ मे इंदरदास और उनके साथियों द्वारा। थ्रीआर्ट्स क्लब ने शिमला मे हरिकृष्ण

'प्रेमी' का 'पतवार' (१९४३), सुदर्शन का 'औरत' (१९४४), हकीम त्रिलोकनाथ आज़म का 'समाज की भेंट', द्विजेन्द्र-'सीता' का हिन्दी-रूपातर तथा कुछ अन्य नाटक मचस्थ किये । इधर लिटिल थियेटर ने लाहौर मे इंदरदास और हरकिशनलाल के सह-लेखन का 'सोसाइटी के ठेकेदार' नामक नाटक, विभाजन-पूर्व के दंगों के हुड़दग और नारेबाजी के बीच, अप्रैल, १९४७ मे लारेंस गार्डेन के खुले रगमंच पर खेला ।

थ्री आर्ट्स क्लब—इसके अनन्तर दोनो सस्थाओ के अधिकाश कलाकार दिल्ली चले आये । संभवत. थ्री आर्ट्स क्लब के सदस्य दिल्ली कुछ पहले ही आ गये और उन्होंने अपने एक कलाकार-सदस्य ओ० पी० शर्मा-कृत 'भाई' (जो पृथ्वी थियेटर्स के 'दीवार' के अनुकरण पर लिखा गया था) सन् १९४८ मे खेला । इसके बाद हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार रमेश मेहता-कृत 'इडिया टुडे' (१९४९ ई०), 'दहेज' (१९५० ई०) और 'दस्तूरी' (१९५० ई०) म चस्थ हुए । 'इडिया टुडे' अंग्रेजी नाम का हिन्दी नाटक था, जो 'वाई० एम० सी० ए० हाल मे चार रात तक चला । 'दहेज' के पाँच प्रदर्शन हुए । ये दोनो नाटक दु खान्तकी थे । 'दस्तूरी' (अब 'दामाद' नाम से प्रकाशित) 'फार्स' के ढग का सुखान्तकी है, जो नौ रात्रियो तक चला । यह दिल्ली कालेज, गृह मंत्रालय के नाट्य-क्लब आदि अन्य संस्थाओं द्वारा भी अभिनीत हो चुका है ।[३-४]

इसके अनन्तर थ्री आर्ट्स क्लब ने रमेश मेहता के अन्य नाटक खेले—'फैसला' (१९५१-५२ ई०), 'ज़माना' (१९५२ ई०), 'हमारा गाँव' (१९५४ ई०), 'पागल' (१९५५ ई०), 'उलझन' (१९५५-५६ ई०), 'ढोग' (१९५६-५७ ई०), 'अडर सेक्रेटरी' (१९५६ ई०), तथा 'रोटी और बेटी' (१९६९ ई०) । इनमे 'उलझन' 'हमारा गाँव', 'ढोग', 'अडर सेक्रेटरी' आदि बहुत लोकप्रिय हुए । मेहता का 'उलझन' सेना के पश्चिमी कमान के मुख्यालय के अधिकारी क्लब द्वारा सन् १९५० मे पाँच रात्रियो तक, 'अपराधी कौन ?' उक्त क्लब द्वारा सन् १९५१ मे, 'हमारा गाँव' प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के निवास-स्थान पर १३ नवम्बर, १९५४ को और बाद मे राष्ट्रीय नाट्य समारोह के पुरस्कार वितरणोत्सव पर सन् १९५५ मे राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के समक्ष, 'ढोग' कलकत्ते के सगीत कला मंदिर द्वारा सन् १९६५ ई० मे तथा 'अडर सेक्रेटरी' देश के विभिन्न भागों मे विभिन्न सस्थाओं द्वारा खेला जा चुका है । 'उलझन' (१९५० ई०) मे रमेश मेहता के साथ फिल्म अभिनेत्री पुष्पा हंस ने भी काम किया था ।

त्रिअकी 'अडर सेक्रेटरी' परिस्थितियो के व्यग्य और अप्रत्याशित मोड़ो पर आधारित एक लोकप्रिय व्यंग्य नाटक है, जिसके नायक चाँदनारायण भटनागर] को, अपनी पत्नी सरोज की अपने आर्थिक स्तर से अधिक के प्रदर्शन की झूठी होड के कारण, पहले बाबू से अडर सेक्रेटरी और बाद मे घर का नौकर बूराराम बनने के लिये बाध्य होना पडा । सरोज की सहेलियों-पुष्पा और काता के आगे उसका भडाफोड होने पर आघात को सहन करने के लिये उसे मूर्छा की शरण लेनी पडती है । पुष्पा के पति और काता के मनोनीत पति के भेद खुलने पर उन्हें भी लज्जित होना पडता है । इस नाटक के अप्रत्याशित नाटकी कार्य-व्यापार के कारण अनेक स्थलो पर हँसते-हँसते सामाजिक के पेट मे बल पड जाते है । चाँदनारायण और बाबूराम के रूप मे रमेश मेहता की दोहरी भूमिका हास्य और सामाजिक की सवेदना जागृत करने मे समर्थ है । सरोज की भूमिका मे उमा सहाय का अभिनय जीवत है ।

'रोटी और बेटी' हरिजनो की समस्या पर आधारित है, जो, हरिजनों को कानून मे बराबरी का अधिकार प्राप्त होते हुए भी, उस समय तक नही सुलझ सकती, जब तक कि उच्च वर्ग के लोग उनके साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित नही करते । इस नाटक के द्वारा मेहता जी ने गाँधीवादी विचारधारा को अग्रसर करने की दिशा मे एक स्तुत्य कदम उठाया है । रविदास चमार तथा उसकी पत्नी गगो के रूप मे क्रमश रमेश मेहता और श्रीमती उमा सहाय की भूमिकाएँ अन्यतम हैं । उमा जी माँ, आदर्श गृहणी और अपने अभिमान के प्रति जागरूक वृद्धा (गगो) के रूप मे बड़ी सहज, संतुलित एव व्यवहार-कुशल दीखती हैं ।

श्री आर्ट्स क्लब, नयी दिल्ली द्वारा प्रदर्शित दो नाटक :
(ऊपर) सप्रू हाउस, नयी दिल्ली मे प्रस्तुत रमेश मेहता-कृत 'अण्डर सेक्रेटरी'
(१९५६ ई०) मे सरोज तथा चांद नारायण (मध्य) तथा
(नीचे) रमेश मेहता-कृत 'पैसा बोलता है' में तारा (उमा सहाय) तथा
पाँचू (रमेश मेहता)

(श्री आर्ट्स क्लब, नयी दिल्ली के सौजन्से)

श्री आर्ट्स क्लब नयी दिल्ली द्वारा अभिनीत दो बाल-नाटक :
(ऊपर) रमेश मेहता-कृत 'मूर्ख बिल्लियाँ' (१९६१ ई०) तथा
(नीचे) रमेश मेहता-कृत 'अँधेरा और उजाला' (१९६१ ई०) के दृश्य

(श्री आर्ट्स क्लब, नयी दिल्ली के सौजन्य से)

थ्री आर्ट्स क्लब ने अपने २७ वर्ष के दीर्घ जीवन मे शिमला तथा दिल्ली के अतिरिक्त उत्तरी भारत के विभिन्न नगरों यथा मेरठ, क्लटरबकगज (बरेली), अजमेर, पठान कोट, जम्मू, श्रीनगर, अमृतसर, कानपुर, लखनऊ-कलकत्ता आदि के दौरे कर अपने नाटक प्रदर्शित किये और लोकप्रियता प्राप्त की। प्रतिरक्षा अधिकारियो के आमत्रण पर क्लब ने सन् १९५१ तथा १९५५ मे अपने नाटक जम्मू-कश्मीर के विभिन्न नगरो–पठानकोट,साम्बा, जम्मू, श्रीनगर, उरी, पट्टन, राजौरी आदि मे मचस्थ किये। सन् १९५२ मे सैनिक अधिकारियो के आग्रह पर क्लब ने मेरठ मे 'ज़माना' मंचित किया।

सेना के अतिरिक्त देश की राष्ट्रीय सस्था कॉंग्रेस ने भी क्लब को आमत्रित किया, जिसे स्वीकार कर क्लब ने अजमेर और अमृतसर के कॉंग्रेस अधिवेशनो मे क्रमशः सन् १९५४ तथा १९५५ मे 'हमारा गांव' का प्रदर्शन किया।

सन् १९५७ मे सन् १८५७ की क्रांति की शताब्दी देश भर मे मनाई गई। इस अवसर पर क्लब मे मामा वरेरकर के मराठी नाटक 'शिवा-शिवाची भेंट' के हिन्दी रूपांतर 'और भगवान देखता रहा' (अनुवादक र० श० केलकर) का अभिमचन फाइन आर्ट थियेटर मे सितम्बर, १९५७ मे किया, जिसे राष्ट्रपति तथा प्रधान मत्री पं० नेहरू ने देखा था।

८ मई, १९६० को कश्मीर भवन-निर्माण कोष के लिये अस्पृश्यता-निवारण एव वर्ण-मैत्री की समस्या पर आधारित 'रोटी और बेटी' खेला गया। दिल्ली राज्य सरकार के तत्वावधान मे सूचना मंत्रालय द्वारा आयोजित ग्रीष्म नाट्य समारोह (१९६१ ई०) मे भी यही नाटक प्रस्तुत किया गया। २५ मई, १९६१ को इंडियन टर्पेन्टाइन एण्ड रोजिन कम्पनी लि०, क्लटरबकगज (बरेली) में, १४-१५ जुलाई, १९६२ को बी० जी० एम० एस०, पटियाला के सहायतार्थ पटियाला मे तथा बाद में 'अनामिका' कलकत्ता द्वारा आयोजित नाट्य-समारोह में सन् १९६४ मे 'अडर सेक्रेटरी' मचस्थ किया गया। 'अडर सेक्रेटरी' को हिन्दी, सिन्धी, तमिल, बँगला, गुजराती, पजाबी तथा मलयालम मे क्रमशः १, २, ३, ९, ११, १६ और २३ फरवरी तथा मार्च, १९६४ को सफलतापूर्वक मचित करा कर क्लब ने एक नया साहसिक, प्रयोग किया, जो इस बात का द्योतक है कि रगमच के माध्यम से राष्ट्रीय एकता के स्वप्न को चरितार्थ किया जा सकता है।

२५ जनवरी, १९६३ को हिन्दुस्तान लीवर लि०, नई दिल्ली के तत्वावधान मे क्लब ने सप्रू हाउस मे त्रिशंकी 'पैसा बोलता है' (शभु मित्र तथा अमित मैत्र के सह-लेखन के बँगला नाटक 'काचनरंग' का रमेश मेहता कृत हिन्दी-रूपान्तर) का प्रस्तुतीकरण राष्ट्रीय प्रतिरक्षा कोष के निमित्त किया। इसकी कथा 'सर्वे गुणाः काचनामाश्रयन्ति' की लोकोक्ति पर आधारित घरेलू नौकर अनपढ़ पाँचू की लाटरी निकलने से उत्पन्न मनोस्थिति तथा स्वामी के परिवार द्वारा पैसे हड़पने के षड्यत्र के फलस्वरूप परिवार की स्वामिनी अपनी पुत्री सुषमा का विवाह भी पाँचू से करने को प्रस्तुत हो जाती है। इस नाटक मे भी रमेश मेहता (पाँचू) तथा उमा सहाय (नौकरानी तारा) की जोड़ी अभिनय, संवाद, रूप सज्जा और परिधान की दृष्टि से बहुत सफल रही है।

अक्टूबर, १९६६ से जनवरी, १९६७ तक के अपने शीतकालीन कार्यक्रम के अन्तर्गत क्लब ने रमेश मेहता-कृत अन्य पांच नाटकों के साथ उनका नया नाटक 'बड़े आदमी' भी प्रदर्शित किया। 'बड़े आदमी' की कहानी रमेश मेहता के 'अंडर सेक्रेटरी' के कथ्य के ही समानान्तर है। दोनो मे अन्तर केवल यह है कि 'अंडर सेक्रेटरी' मे पत्नी बड़ा आदमी बनने के दिखावे के कारण पति को घर का नौकर बनाना पड़ता है, तो 'बड़े आदमी' में बच्चों की खुशी और उज्ज्वल भविष्य के लिये पति के आदेश और आग्रह पर पत्नी को घर की आया बनना पड़ता है। 'बड़े आदमी' का प्रसगनिष्ठ हास्य उच्च कोटि का है, जो मानव-मन को गुदगुदा देता है और वह मुक्त होकर हँस पड़ता है। परिस्थितियो के व्यंग्य पर आधारित यह एक सुखातिका है।

नाटकों की इस शृंखला में रमेश मेहता का अंतिम नाटक है–'खुली बात' (१९६९ ई०), जिसकी कथा ग्रामों में परिवार-नियोजन की समस्या को लेकर लिखी गई है। यह नाटक भी क्लब द्वारा मंचस्थ हो चुका है।

रमेश मेहता के 'जमाना' और 'हमारा गांव' का निर्देशन ले० कर्नल एच० वी० गुप्त ने किया, किन्तु सन् १९५५ से रमेश मेहता स्वयं अपने नाटकों का निर्देशन करते आ रहे हैं। मेहता स्वयं एक अच्छे अभिनेता भी हैं और उन्होंने चरित्र-नायक से लेकर या चपरासी तक की भूमिकाएँ बड़ी कुशलता के साथ प्रस्तुत की हैं। श्रीमती उमा सहाय क्लब की एक मजी हुई चरित्र-नायिका हैं। रमेश मेहता के नाटक प्रायः दो तीन अंक तक के होते हैं, जो एक ही दृश्य-बन्ध पर खेले जा सकते हैं।

'उलझन' के अब तक कुल मिला कर १५००, 'हमारा गांव' के लगभग ३५०० और 'अंडर सेक्रेटरी' के लगभग २००० प्रदर्शन हो चुके हैं।[१] 'हमारा गांव' और 'अंडर सेक्रेटरी' बंगला, गुजराती आदि कई भाषाओं में अनूदित होकर खेले जा चुके हैं। इन नाटकों की लोकप्रियता के मुख्य कारण हैं–नाटकों के लिये कृषक, निम्न एवं मध्य-वर्ग के जीवन के सुख-दुःख, हीनता एवं पराजय, प्रेम के ढोंग एवं छलावे और परिस्थितियों के व्यंग्य-वैषम्य से हार न मानने वाले पात्रों का चयन, जो भारत की मिट्टी से उपजे और गढ़े गये हैं, सरल, संक्षिप्त एवं व्यंग्यात्मक संवाद, स्वाभाविक अभिनय एवं कुशल निर्देशन। फलस्वरूप सर्वत्र, विशेषतः दिल्ली में रमेश मेहता के नाटकों को एक निश्चित प्रेक्षक-वर्ग प्राप्त है, जो स्वयं 'बुकिंग आफिस' पर जाकर टिकट खरीदते हैं। प्रदर्शन प्रायः शनिवार रविवार और सोमवार को सप्रू हाउस अथवा फाइन आर्ट्स थियेटर में होते हैं। नया नाटक प्रारम्भ में शनिवार, से निरन्तर मंगलवार तक किया जाता है। क्लब के अधिकांश नाटक प्राय. एक ही दृश्यबंध पर आधुनिक रंगशिल्प के साथ प्रस्तुत किये जाते हैं।

क्लब ने सन् १९५६-५७ में अपना प्रथम नाट्य-समारोह ८ दिसम्बर, १९५६ से ६ जनवरी, १९५७ तक सप्रू हाउस में आयोजित किया था, जिसमें 'जमाना', 'ढोंग,' 'फैसला', 'उलझन', और 'हमारा गांव' प्रस्तुत किये गये थे। इसके लिये राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और उपराष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शुभ कामना सदेश प्राप्त हुए थे। इसके अनन्तर और भी कई नाट्य-समारोह क्लब द्वारा सम्पन्न हो चुके हैं।

सन् १९६८ में थ्री आर्ट्स क्लब के २५ वर्ष पूर्ण हो गये, जिसके उपलक्ष्य में क्लब ने रजत जयंती समारोह ९ फरवरी, १९६८ से २१ अप्रैल, १९६८ तक बड़ी धूमधाम से मनाया। ९ फरवरी को 'रोटी और बेटी' के प्रदर्शन से समारोह का प्रारम्भ हुआ, जिसका उद्‌घाटन तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन ने किया। १० और ११ फरवरी को 'रोटी बेटी' के तीन प्रयोग किये गये–१० फरवरी को एक तथा ११ फरवरी को दो।

२४ तथा २५ फरवरी को रंग-एवं-फिल्म कलाकार सज्जन ने एकाकी प्रदर्शन किया। एक प्रयोग में गीत एवं नाट्य के कुल नौ कार्यक्रम। २५ फरवरी को दो प्रयोग हुए।

इसके अनन्तर क्लब ने 'उलझन' (२-३ मार्च), 'पैसा बोलता है' (९-१० मार्च), 'अंडर सेक्रेटरी' (१६-१७ मार्च), 'जमाना' (३०-३१ मार्च), 'बड़े आदमी' (६-७अप्रैल), तथा 'ढोंग' (२०–२१ अप्रैल) नाटक मंचस्थ किये। प्रत्येक नाटक के दूसरे दिन दो प्रयोग किये गये–प्रथम ३ ॥ बजे अपराह्न से और द्वितीय रात्रि को ६ ॥। बजे से।

इस अवसर पर क्रिएटिव यूनिट, बम्बई ने 'मकड़ी का जाल' (२३ मार्च) तथा 'उसके बाद' (२४ मार्च, दो प्रयोग) तथा अनामिका कला संगम, कलकत्ता ने 'छपते-छपते' (१३-१४ अप्रैल, १९६८) का सफल मंचन किया। १४ अप्रैल को 'छपते-छपते' के भी दो प्रयोग हुए।

सन् १९७० में अपने हास्य-नाटकों की शृंखला से कुछ दूर हट कर थ्री आर्ट्स ने एक गम्भीर अभिव्यंजनावादी नाटक 'वाह रे इन्सान' प्रस्तुत किया, जो एस० आर० नन्दी के तेलुगु नाटक 'मरो मोहनजोदड़ो' (अर्थात्

दूसरी बार मोहनजोदडो) का रमेश मेहता-कृत हिन्दी-रूपांतर है। यह नाटक आज की घिनौनी स्वार्थपरक राजनीति पर एक करारा प्रहार है। यह राजनीति उस समय और भी घिनौनी बन जाती है, जब पूंजीपति नेता बनने का ढोंग करता, चुनाव लड़ता और मन्त्री बनने का स्वप्न देखता है। नाटक का संपत इसी वर्ग का प्रतिनिधि है। संपत के धन से अक्रीत क्रांतिकुमार समाजवादी या हिंसक साम्यवादी विचारधारा का प्रतिनिधि है और संपत का चुनाव प्रतिद्वन्द्वी बनकर अन्ततः उसी के हाथों मारा जाता है। इस नाटक के सभी पात्र एक-दूसरे को मारकर मृत्यु का वरण करते हैं। मोहनजोदड़ो की विकसित सभ्यता के विनाश की यह पुनरावृत्ति मानवता के अंधकारपूर्ण भविष्य और नैराश्य की सूचक है। तो क्या मानवता का, आधुनिक सभ्यता का ऐसा ही करुण अन्त होगा, यह एक प्रश्न है, जिस पर यह नाटक सोचने के लिए यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है।

'वाह रे इन्सान' की कथा के अनुरूप उसकी अभिनय-पद्धति प्रतीक एवं अभिनटन (माइम) पर आधारित है। पिस्तौल चलाने, चेक भरने, सिगरेट जलाने आदि के कार्य संस्कृत नाटक के चित्राभिनय की भांति अभिनटन द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। कार्य के अतिरिक्त विचारों के प्रतीक भी अभिनटन द्वारा ही खड़े किये गये हैं, यथा संपत अपना दाहिना हाथ उठाकर दक्षिणपंथी होने का तथा क्रांतिकुमार अपना बायां हाथ उठाकर वामपंथी होने की सूचना देता है।

रमेश मेहता ने धनसेवक लाल के रूप में गंभीर अभिनय और अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति में जिस कला-दाक्षिण्य का परिचय दिया, वह उन्हें सभी पूर्ववर्ती हास्य-भूमिकाओं से पृथक् कर देता है। स्नेहलता वर्मा की पगली तुलसी की भूमिका सर्वोत्कृष्ट थी, जिसकी तुलना बंगला के 'हासि' नाटक में तृप्ति मित्र की पगली नायिका से की जा सकती है। इस नाटक के निर्देशन में मेहता ने नयी ऊँचाइयों को छुआ है।

'वाह रे इन्सान' के प्रतीकार्थ के अनुरूप उसकी रंग-सज्जा भी प्रतीकात्मक है—द्वितीय मोहनजोदड़ो की छः जीवन पुस्तकें, जिनमें छः विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की कहानी कही गई है और एक प्रकाश-दीप्त चार्ट, जिसके द्वारा इन व्यक्तियों की प्रवृत्ति एवं विशेषताओं का निर्देशन किया गया है। संपत की कोठी, भीखू (नौकर) की झोपड़ी अथवा धनसेवक का मकान, काले परदे पर, केवल सामाजिक की कल्पना में खड़े किये जाते हैं। अन्त के मृत्यु-दृश्य में गहरे रंगीन आलोक द्वारा सभ्यता के उपसंहार की अभिव्यक्ति बहुत प्रभविष्णु एवं संप्रेषक बन पड़ी थी।

क्लब के द्वारा ११ मई, १९६१ को सप्रू हाउस में प्रस्तुत मेहता के बच्चों के तीन एकांकी नाटक भी बहुत सफल रहे। ये हैं—'मूर्ख बिल्लियाँ', 'एक था बूढ़ा' तथा 'अँधेरा और उजाला'। 'मूर्ख बिल्लियाँ' में दो बिल्लियों के झगड़े में बंदर-बाँट की, 'एक था बूढ़ा' में पाँच परियों द्वारा प्रदत्त जादू की थाली तथा सोने का अंडा देने वाली मुर्गी की वृद्ध के चालाक मित्र द्वारा चोरी तथा दंडित होने पर मित्र द्वारा उनकी वापसी की तथा 'अँधेरा और उजाला' में 'अंधेर नगरी की' कहानी सन्निहित है। ये सभी लोकप्रिय कहानियाँ रमेश मेहता द्वारा नाट्य-परिवेश में बहुत रोचक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। 'मूर्ख बिल्लियाँ' की विशेषता उसके चुस्त, लघु और आवृत्तिमूलक संवादों के अतिरिक्त सभी पशु-पात्रों की परिधान-रचना थी, जो प्रत्येक पशु, यथा बिल्ली, कुत्ता, गधा, गाय, हाथी, सिंह आदि के अनुरूप प्रस्तुत की गई थी। इनके अभिमंचन में क्लब के वयस्क कलाकारों ने ही भाग लिया था।

इन बाल-एकांकियों का उद्घाटन तत्कालीन प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने किया था।

थ्री आर्ट्स क्लब ने गत ३५ वर्षों के अपने रंग-जीवन में जनता के रंगमंच के रूप में प्रतिष्ठित होने में सफलता प्राप्त की है। क्लब ने अपने नाटकों के लिए एक ऐसा सामाजिक-वर्ग बना लिया है, जो 'बुकिंग आफिस' पर टिकट खरीद कर रमेश मेहता के नाटक देखता है। यह उसकी एक महत् उपलब्धि है, जिससे हिन्दी रंगमंच के उज्ज्वल भविष्य की आशा बँधती है।

लिटिल थियेटर ग्रुप–थ्री आर्ट्स क्लब के दिल्ली के प्रथम नाटक 'भाई' के कुछ काल बाद लिटिल थियेटर ग्रुप ने सितम्बर, १९४८ में चेखव के 'दि थ्री सिस्टर्स' के हिन्दी-रूपांतर 'तीन बहनें' का प्रदर्शन वाई० एम० सी० ए० हाल में किया। इसमें दिल्ली में पहली बार अभिनय, निर्देशन, दृश्यबंध, रंग-सज्जा, रंगदीपन और ध्वनि-संकेत की आधुनिक विधियों का उपयोग किया गया था।

सन् १९४९ में जनपथ पर स्थित खुला रंगमंच–वावेल थियेटर इस ग्रुप को मिल गया, जिसके 'ग्रीन रूम' में उसका कार्यालय खुला। सन् १९५५ में इस थियेटर को गिरा देने का निश्चय हुआ और ग्रुप को वहाँ से हट जाना पड़ा। इस बीच ग्रुप ने अँग्रेजी में बर्नार्ड शा, बर्टोल्ट ब्रेख्त आदि के कई अँग्रेजी नाटक तथा हिन्दी में इब्सन, आस्ट्रोवस्की, गोगोल आदि के नाटकों के हिन्दी-रूपांतर प्रस्तुत किये। हिन्दी के कुछ मौलिक नाटक भी खेले गये। सबमें प्रमुख अभिनीत हिन्दी नाटक हैं–'बेगुनाह आँखें' (जुलाई, १९४९), इब्सन-कृत 'दि मास्टर बिल्डर' और 'ए डॉल्स हाउस' के हिन्दी-अनुवाद 'दि मास्टर बिल्डर' (नवंबर, १९४९) और 'औरत जागी' (दिसम्बर, १९५५), आस्ट्रोवस्की-कृत 'दि डायरी आफ ए स्काउन्ड्रेल' का रूपांतर 'चलते पुर्जे की डायरी' (जनवरी, १९५०), गोगोल के 'इंस्पेक्टर जनरल' का रूपान्तर 'गवर्नमेंट इंस्पेक्टर' (नवम्बर, १९५० और मई, १९५४), और 'दामाद की खोज' (नवम्बर, १९५१)।

इस अवधि में ग्रुप ने दिल्ली में पहली बार अखिल भारतीय नाट्य-समारोह एवं सम्मेलन का नवम्बर, १९४९ में और प्रथम अखिल भारतीय नाट्य-कला प्रदर्शिनी का अप्रैल, १९५५ में आयोजन कर अग्रदूत का काम किया।

रंगमंच के नये प्रयोगों की ओर भी इस ग्रुप का ध्यान केन्द्रित रहा है। उसने सर्वप्रथम मई, १९५४ में वृत्तस्थ मंच–एरेना स्टेज पर 'गवर्नमेंट इंस्पेक्टर' (हिन्दी-रूपान्तर) मंचस्थ किया। हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में यह एक विशिष्ट प्रयोग था। ग्रुप ने नवम्बर, १९६६ में बहुधरातलीय मंच पर 'ए सीवियर्ड हेड' नामक अँग्रेजी नाटक मंचस्थ किया।

अक्टूबर, १९५४ में डाक शताब्दी प्रदर्शिनी के अवसर पर ग्रुप ने पूरे एक माह तक नाट्य-प्रदर्शन किया। दिसम्बर, १९५४ में ज्याफरी केण्डल की नाट्य मंडली शेक्सपियराना ने भारत में शेक्सपियर के नाटकों (अँग्रेजी) का प्रदर्शन ग्रुप के तत्त्वावधान में किया।

सन् १९५५ और उसके बाद के नाट्याभिनयों में प्रमुख हैं–'रेत और पत्थर' ('ग्रेनाइट' का हिन्दी-रूपान्तर, मई, १९५५) 'चलते पुर्जे की डायरी' (अक्तूबर, १९५७), 'ढीले पुर्जे' (सितम्बर, १९५८), मराठी नाटककार पु० ल० देशपांडे के 'तुझे आहे तुजापाशी' का हिन्दी-रूपान्तर 'कस्तूरीमृग' (जनवरी, १९५९), चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'न्याय की रात' और प्रो० के० सी० आनन्द का 'श्री भोलानाथ' (मार्च, १९६०)।

इसके अतिरिक्त नवम्बर, १९५६ में दिल्ली में हुए यूनेस्को सम्मेलन के अवसर पर ग्रुप ने केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के आमन्त्रण पर हर्ष–'रत्नावली' (संस्कृत) के अँग्रेजी, रूपांतर का मंचन किया। मार्च, १९५७ में 'दि टी हाउस आफ दि आगस्त मून' तथा मार्च, १९५८ में 'दि रिमार्केबुल मि० पेनीपैकर' का प्रदर्शन कर ग्रुप ने दिल्ली नाट्य संघ की नाट्य-प्रतियोगिता में सर्वोत्तम उपस्थापन के पुरस्कार प्राप्त किये। मई, १९५७ में कुर्त वेशी-कृत 'साल्ट मार्च' (गाँधी जी के नमक सत्याग्रह पर अँग्रेजी नाटक) का भारत में प्रथम बार प्रयोग किया।

प्रस्तुत शती के सातवें दशक में ग्रुप ने अपनी प्रगति अक्षुण्ण रखी। इस दशक में उसके द्वारा मंचित नाटक हैं–रवीन्द्रनाथ-कृत 'नष्ट नीड़' (अक्टूबर, १९६१), 'इंस्पेक्टर विवेक' (अप्रैल, १९६२), 'श्री भोलानाथ' (अक्टूबर १९६२, अप्रैल, १९६५ तथा नवम्बर, १९६७), शेक्सपियर 'ऑथेलो' (हिन्दी-रूपांतर, जनवरी, १९६३), 'भगवज्जु-

कोयम्' (बोधायन के संस्कृत नाटक का हिन्दी-रूपांतर, जनवरी, १९६३) वसंत कानेटकर-कृत 'जंजीरें' तथा 'रंग-महल' (मई, १९६४), 'अजनबी' (सितम्बर, १९६४), अमानत-कृत 'इन्दरसभा' (दिसम्बर, १९६५), 'मीना-बाज़ार' (दिसम्बर, १९६५), स्टिफ़ेन कोस्तोव-कृत 'मिनिस्टर' (मार्च, १९६७) तथा 'नष्टनीड़' (१९६८, रवीन्द्र-नाथ के उपन्यास 'नष्टनीड़' का कमलेश्वर द्वारा हिन्दी-रूपातर) । इनमें 'इन्दरसभा' का 'प्रदर्शन आधुनिक भारतीय रंगमंच के इतिहास मे एक घटना' थी।[1] इसे मोहन उप्रेती के निर्देशन मे रहस-परम्परा के अनुरूप प्रस्तुत किया गया था । इसमें नृत्य और संगीत को प्रमुखता दी गई थी। इंदर (इन्द्र) के रूप में के० पन्नालाल तथा सब्ज परी के रूप में उर्मिला नागर की भूमिकाएँ अच्छी रहीं । दोनो के गायन मे परिष्कार और माधुर्य, गहराई और ओज था । गुलफ़ाम के रूप में दर्शनलाल उपयुक्त नहीं थे । संगीत-निर्देशन पन्नालाल ने तथा नृत्य-रचना दर्शनलाल ने की । लेनिन पंत द्वारा प्रस्तुत दृश्यबन्ध तथा सितांशु मुखर्जी का रंग-दीपन वातावरण को सजीव बनाने में समर्थ था ।

ग्रुप ने सन् १९६८ मे ही दो अन्य हिन्दी नाटक भी प्रस्तुत किये—'हम कौन ?' तथा 'हाय मार डाला' । दोनो सामान्य स्तर के नाटक थे ।

इसके अतिरिक्त ग्रुप के तत्वावधान मे अप्रैल, १९६२ में कानपुर के नाट्य-दल ने नौटंकी-शैली में 'रत्नावली' तथा जनवरी, १९६५ मे रञ्जन ने अपना एकाकी प्रदर्शन किया ।

ग्रुप ने अपनी सभी अभिनीत हिन्दी नाटको को प्रकाशित करने का निश्चय किया है, जो अभिनेय नाटकों की पांडुलिपियो की रक्षा के लिये नितात आवश्यक है ।

ग्रुप अब तक हिन्दी के लगभग तीन दर्जन मौलिक एव रूपातरित नाटक प्रस्तुत कर चुका है, जिनमें से अधिकांश का निर्देशन कुशल रग-निर्देशक इंदरदास ने किया । नेमिचन्द्र जैन के अनुसार ग्रुप का प्रदर्शन-स्तर साधारण शौकिया ढंग का होता है, जिसमे कलात्मक आग्रह अधिक नहीं रहता ।[2]

ग्रुप को व्यावसायिक सहकारी आधार पर खड़ा करने के लिए इसके सहकारी दल का सन् १९६४ में संगठन किया गया । इस दल में केवल वे ही कलाकार या शिल्पी भर्ती किये जाते हैं, जो अभिनय एवं रंगमंच को अपनी जीवन-वृत्ति बनाना चाहते हैं । क्रमशः यह दल इसकी हिन्दी रिपर्टरी मंडली के रूप में विकसित हो चला, जिसने हिन्दी के 'श्री भोलानाथ', 'मिनिस्टर', 'रंगमहल', आदि नाटक न केवल दिल्ली मे, वरन् फरीदाबाद, जयपुर, जोधपुर, देहरादून, लखनऊ, बरेली तथा कलकत्ते जैसे अन्य नगरों में भी प्रस्तुत किये ।

ग्रुप के पास अपने रंगदीपन-उपकरण, परिधान, दृश्यबन्ध आदि हैं, जिन्हें दूसरे नाट्य-दलो के उपयोग के लिये भी दिया जाता है ।

ग्रुप ने सन् १९५५ मे अपनी एक मासिक बुलेटिन 'थियेटर न्यूज' प्रकाशित की, जो नियमित रूप से निकल रही है । ग्रुप के पास अब अपनी एक रंगशाला भी लिटन रोड पर है । ग्रुप के नाटक अब इसी मे प्रदर्शित किये जाते हैं । इस रंगशाला मे नाट्य-प्रशिक्षण के अतिरिक्त एक नाट्य-पुस्तकालय एवं वाचनालय की भी व्यवस्था रहेगी ।

इस संस्था ने संगीत नाटक अकादमी की सहायता से 'इंगलिश-हिन्दी ग्लासरी आफ थियेटर टर्म्स' नामक अंग्रेजी-हिन्दी नाट्य शब्दकोश सन् १९६४ में प्रकाशित किया । यह सभी रंगकर्मियों के लिये एक उपयोगी पुस्तक है ।

भारतीय नाट्य संघ—सन् १९४८ मे श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय के प्रयास से दिल्ली में भारतीय नाट्य संघ की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों की बीस नाट्य-संस्थाएँ प्रादेशिक केन्द्रों के रूप मे चल रही हैं, जो समय-समय पर अपने नाट्य-प्रदर्शन भी करती हैं । स्वयं संघ एक अखिल भारतीय महासंघ

है, जिसका उद्देश्य देश के रंगमंच-आन्दोलन का विकास करना है। यह अन्तर्राष्ट्रीय थियेटर इन्स्टीट्यूट का सदस्य है। यह इन्स्टीट्यूट यूनेस्को से सबद्ध है। संघ अपने प्रादेशिक केन्द्रों को वित्तीय एवं प्राविधिक सहायता देता है और व्यक्तिगत रंगकर्मियो को छात्रवृत्ति एव अन्य सहायता भी देता है।

हिन्दी क्षेत्रो मे संघ के प्रादेशिक केन्द्रों की संख्या सर्वाधिक अर्थात् सात है। ये केन्द्र हैं : इलाहाबाद नाट्य संघ, एम्वेंसडर्स, (अब दर्पण) कानपुर, असोसिएशन आफ आर्ट्स एण्ड कल्चरल डेवलवमेंट, आगरा भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर, बिहार आर्ट थियेटर, दिल्ली नाट्य संघ और जयपुर नाट्य संघ।

भारत मे रंगमंच आन्दोलन के विकास के लिये किये गये संघ के कार्यों मे प्रमुख है–बंबई, मद्रास, कलकत्ता, मणिपुर आदि नगरो मे नाट्य प्रशिक्षण अकादमियों की स्थापना, पारंपरिक नाट्य-रूपों का अनुसंधान, लोकमंचीय उपकरणो-परिधान, मुखौटो, मंचोपकरणो आदि का संग्रह, परिचर्चाओं और नाट्य-प्रदर्शिनियो का आयोजन और 'नाट्य' नामक नाट्य सम्बन्धी त्रैमासिक पत्रिका का अंग्रेजी मे प्रकाशन। 'नाट्य' के अब तक कई महत्त्वपूर्ण विशेषांक निकल चुके है, यथा कठपुतली-नाट्य अंक, रंग-स्थापत्य अंक, लोकनाट्य अंक, नृत्य, नाटक एवं नृत्यनाट्यांक, ठाकुर शताब्दी अंक और शिशुनाट्य अंक। इस पत्रिका तथा उसके विशेषांकों मे नाटक एव रंगमंच के सम्बन्ध मे अमूल्य सामग्री रहती है।

संघ का नाट्य-संग्रहालय किसी उपयुक्त स्थान के अभाव मे संघ की अध्यक्षा श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय के निवास-स्थान, २ केनिंग लेन पर ही अवस्थित है, जिसमे पारंपरिक परिधान तथा अन्य नाट्योपकरण संग्रहीत हैं।

इसके अतिरिक्त संघ ने 'रंग-स्थापत्य' और 'उपस्थापकों (प्रोड्यूसरों) और नाटककारो की समस्याएँ' विषयो पर दो अखिल-भारतीय विचारगोष्ठियो का आयोजन किया। सन् १९५६ मे विश्व रंगमंच कांग्रेस भारतीय नाट्य संघ के प्रयास से बंबई मे हुई, जिसमे विश्व के रंगकर्मियो और विशेषज्ञों ने एकत्र होकर सर्वनिष्ठ विषयो पर विचार-विनिमय किया।

नाट्य-क्षेत्र मे सर्वेक्षण, अनुसंधान, अग्रिम प्रयास, प्रयोग एव शिल्पीय विनिमय की दिशा मे संघ जैसी स्वतंत्र संस्था का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उसके इस कार्य मे समय-समय पर सरकार और संगीत नाटक अकादमी से उसके विविध कार्यक्रमो की पूर्ति अथवा नये कार्यक्रमों के संचालन के लिये वित्तीय सहायता मिलती रहती है।

दिल्ली आर्ट थियेटर–उच्चकोटि के नाटक और श्रेष्ठ रंगमंच के संगम मे विश्वास रखने वाला दिल्ली आर्ट थियेटर संगीतक (ऑपेरा) के क्षेत्र मे अन्यतम है। इसकी स्थापना सन् १९५१ के आस-पास हुई थी। थियेटर को श्रीमती शीला भाटिया और बलवंत गार्गी जैसे प्रमुख नाटककारो एव रंगकर्मियो का सहयोग प्राप्त है। ये संगीतक विशेष रूप से पंजाबी मे है। थियेटर ने कुछ हिन्दी नाटक भी प्रस्तुत किये हैं, जो उपस्थापन की दृष्टि से थ्री आर्ट्स क्लब और लिटिल थियेटर ग्रुप के उपस्थापनो की अपेक्षा उच्च स्तर के रहे हैं। इस संस्था के प्रमुख हिन्दी नाटक है : उदयशंकर भट्ट–कृत 'पर्दे के पीछे' (१९५४ ई०), प्रेमचंद–कृत 'गोदान' का विष्णु प्रभाकर–कृत नाट्य-रूपांतर (१९५८ ई०) 'होरी' और मोलियर–'दि माइजर' का हज़रत 'आवारा-कृत नाट्य-रूपांतर 'कंजूस' (१९५८ ई०)। 'पर्दे के पीछे' का निर्देशन हिन्दी-नाटककार देवराज 'दिनेश' ने किया था। ये नाटक प्रायः एक ही सेट के हैं। थियेटर के अन्य हिन्दी नाटक है : विष्णु प्रभाकर –कृत 'देवी', शरतचंद्र–कृत 'षोड़शी' तथा रवीन्द्र-कृत 'डाकघर'।

थियेटर प्रायः अच्छे नाटक, पर्याप्त धन और प्रशिक्षित कलाकारो के अभाव के कारण उच्च स्तर के नाटक एवं संगीतक प्रस्तुत करने मे कठिनाई का अनुभव करता रहा है, किन्तु यह आज के अव्यावसायिक रंगमंच की

सर्वनिष्ठ कठिनाई है, जिसके समाधान पर ही उसका उज्ज्वल भविष्य निर्भर है।

भारतीय कला केन्द्र–दिल्ली आर्ट थियेटर के पंजाबी संगीतक की भाँति भारतीय कला केन्द्र की उपलब्धि है–उसके नृत्य-नाट्य। केन्द्र की स्थापना सन् १९५२ में हुई थी। इसका उद्देश्य प्राचीन नृत्य एवं संगीत-कलाओं के पारंपरिक मूल्यो का संरक्षण कर नवीन सृजन के लिये उनका उपयोग करना रहा है। तदनुसार उसने १९५७ में एक बैले सेन्टर की स्थापना की और उसी वर्ष तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के आधार पर 'रामलीला' नृत्य-नाट्य तैयार किया, जिसका निर्देशन नरेन्द्र शर्मा ने किया था। इसकी सफलता से उत्साहित होकर सन् १९५८ में एक नियमित बैले दल की स्थापना हुई, जो अब प्रतिवर्ष दशहरे के अवसर पर दिल्ली में 'रामलीला' प्रस्तुत करता है। दृश्य-परिवर्तन की सुविधा और पौराणिक वातावरण के निर्माण के लिये इसे त्रिकक्षीय मच (थ्री-प्लेटफार्म स्टेज) पर प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे मुख्य मच मध्य मे होता और शेप दोनो कक्ष उसके अगल-बगल कुछ आगे निकले हुए रहते हैं। इसमे नृत्य और सगीत के किसी एक रूप का उपयोग न कर आवश्यकतानुसार उनके सभी रूपो का यथास्थान प्रयोग हुआ है। वस्त्राभरण, दृश्यबन्धों, परदो, मुखौटो आदि के द्वारा कथा के वातावरण के निर्माण का सुन्दर प्रयास किया गया है।

यह बैले दल अपनी 'रामलीला' के साथ देश के विभिन्न नगरो, यथा कानपुर, लखनऊ आदि तथा काठमाडू (नेपाल) के दौरे कर चुका है। आजकल इसका निर्देशन कथाकली के आचार्य गुरु गोपीनाथ कर रहे हैं। तीन घंटे के इस नृत्यनाट्य की सभी भारतीय पत्रो ने मुक्तकंठ से प्रशसा की है।[८६]

केन्द्र ने कथक शैली मे भी 'कथक की कहानी' (१९५७ ई०), 'मालती माधव' (१९५८ ई०), 'कुमार-संभव' (१९५८ ई०) और 'शाम-ए-अवध' (१९६० ई०) नृत्य नाटक प्रस्तुत किये हैं। इनमें से प्रथम नृत्य-नाटक का निर्देशन शम्भु महाराज और शेप तीनों का विरजू महाराज ने किया है। 'मालती माधव' और 'कुमार-संभव' नृत्य-नाटकों के लिये केन्द्र को विश्व की प्रशस्ति प्राप्त हुई है।

केन्द्र की 'रामलीला' की भाँति भारतीय नाट्य सघ द्वारा स्थापित नाट्य-बैले सेंटर की 'कृष्णलीला' ने भी बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की है। इस सेंटर की निर्देशिका हैं श्रीमती कमला लाल। भगवानदास वर्मा के नृत्य-निर्देशन में 'कृष्णलीला' सन् १९६० में प्रस्तुत हुई थी।[८७] रंग-सज्जा और परिधान की परिकल्पना इंदर राजदान द्वारा की गई थी।

दिल्ली की अन्य अव्यावसायिक सस्थाओं मे इन्द्रप्रस्थ थियेटर, हिन्दुस्तानी थियेटर, नया थियेटर क ?। साधना मंदिर, हिन्दी शेक्सपियर मंच आदि उल्लेखनीय हैं।

इंद्रप्रस्थ थियेटर – इन्द्रप्रस्थ थियेटर के कर्णधार हैं–नाटककार-कलाकार-निर्देशक आर० जी० आनद। आनंद ने कई मराठी नाटको के हिन्दी-रूपांतर प्रस्तुत किये, जिनमे अत्रे-'लग्नाची बेडी' का हिन्दी-रूपांतर 'विवाह का बधन' 'यह घर मेरा है', आदि प्रमुख हैं। यह दल प्रायः आनद के ही नाटक खेलता है, जिनमे प्रमुख हैं–'हम हिन्दुस्तानी हैं' और 'नैया मोरी' (सगीतक), भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' का आनद-कृत नाट्य-रूपातर, 'दरबारे अकबरी' आदि। यह दिल्ली की एक अत्यधिक साधन-संपन्न संस्था है, अतः इसके नाट्य-प्रदर्शनों मे रग-एवं-परिधान-सज्जा की तड़क-भड़क दर्शनीय होती है।

हिन्दुस्तानी थियेटर–हिन्दुस्तानी थियेटर की स्थापना कर्नल बशीरहुसैन जैदी की विधवा पत्नी बेगम कुदेसिया जैदी ने हबीब तनवीर के सहयोग से सन् १९५४ मे की थी। इसी वर्ष तनवीर-कृत 'शतरंज के मोहरे' का केवल तीसरा अंक, 'तंबाकू के नुकसानात' चेखव के ('आन दि हार्मफुलनेस आफ टुबैको' पर आधारित) और 'किसका खून'? (दोस्तोवस्की की कथा 'दि मीक यंग गर्ल' का रूपांतर) तीनों एक साथ खेले गये।

सन् १९५७ में थियेटर के रजिस्टर्ड हो जाने पर उसे व्यावसायिक आधार पर पुनर्गठित किया गया, यद्यपि यह प्रयास दूर तक सफल न हो सका। थियेटर द्वारा कालिदास-'शाकुन्तलम्', शूद्रक-'मृच्छकटिक' और विशाख-'मुद्राराक्षस' के बेगम जैदी-कृत रूपातर क्रमशः 'शकुन्तला' (दिसम्बर, १९५७), 'मिट्टी की गाड़ी'

(दिसबर, १९५८) और 'मुद्राराक्षस' (१९६१ ई०) तथा 'चार्लीज आट' और बर्टोल्ट ब्रेस्ट–कृत 'काकेशियन चाक सर्किल' के उर्दू-रूपातर क्रमश. 'खालिद की खाला' (१९५८ ई०) और 'सफेद कुंडली' (१९६१ ई०) खेले गये। इसके अतिरिक्त 'शकुन्तला' को 'नृत्य-गीति-नाट्य के रूप मे सन् १९५९ मे और अगले वर्ष नियाज हैदर के 'आम्रपाली' को अभिनीत किया गया।

उपस्थापन की दृष्टि से हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित 'मिट्टी की गाडी' विशेष महत्त्वपूर्ण है। दस-अंकीय इस नाटक के सम्पूर्ण भीतरी दृश्यों के रूपायन के बीच मे एक गोलाकार चबूतरा तथा उसके चारो ओर का क्षेत्र बाहरी दृश्यों के लिये रखा गया था। इस चबूतरे के चारो ओर एक चक्कर लगा लेने पर दूसरा स्थान आ जाता था और एक ही चबूतरा हर बार नया रूप धारण कर लेता था। इस रंग-सज्जा के द्वारा संस्कृत नाटक के वातावरण को सजीव बनाना सभव हो गया। तत्कालीन वस्त्रो मे रगो के चटकीलेपन के साथ कुछ पात्रों के लिये मुखौटो का भी उपयोग किया गया। 'प्रकाश-योजना शैलीबद्ध, अयथार्थवादी, व्यजना-प्रधान और रंगहीन' रखी गई। 'सराउड' से प्राप्त सुनहरे रंग के कारण वस्त्रो के रंग उभर कर खिल उठे।[10]

मचोपकरणो का भी प्रयोग कम रखने के लिये वसतसेना के गहनो के अतिरिक्त रथ आदि का प्रदर्शन नाट्य (अभिनटन) द्वारा ही किया गया था। इस प्रकार प्रत्येक पात्र को नाट्य-लय के साथ चलने, अभिनय आदि के लिये नृत्य का सहारा लेना पडता था। नाट्यशास्त्रीय मुद्राओं के अतिरिक्त अवसरोपयुक्त अन्य मुद्राओं के उपयोग की भी छूट दी गई। अभिनय और नृत्य के साथ गायन और संगीत का भी अवसरानुरूप प्रयोग किया गया था। सस्कृत नाट्यशास्त्र के ध्रुवा सगीत के अनुरूप प्रवेश, प्रस्थान, युद्ध, सारथि और पीछा करने वालो की गतियों की ध्वनि को भी सगीत द्वारा ही प्रस्तुत किया गया था।[11] सभी चौदह गीत छत्तीसगढी के लोकगीतों की धुनो पर रखे गये थे। गीत सरलतम हिन्दी मे थे, जिनमे कुछ आचलिक शब्दो के प्रयोग भी हुये थे। चारुदत्त से प्रथम मिलन के समय वसतसेना और सखियो द्वारा गाये गये गीत 'बेला सांझ की' और चारुदत्त की दरिद्रता-सूचक गीत 'निर्धन का दुख दूर हो कैसे, जब कोई उसका मीत नहीं' की धुनें बड़ी मनोहारी बन पड़ी थी।[12] श्याम बहादुर ने चारुदत्त, रेखा रेवडी ने वसत सेना और स्वयं तनवीर ने शर्विलक की भूमिकाएँ की थी। हिन्दी-रगमच पर 'मिट्टी की गाड़ी' का उपस्थापन आधुनिक युग की विशिष्ट उपलब्धि है।

थियेटर के संस्कृत नाटकों के उपस्थापन में इसी पद्धति का विशेष आग्रह रहा है। अधिकाश नाटक एक ही दृश्यबंध पर प्रस्तुत किये गये, जो प्रतीकात्मक और सादा होता था।

सन् १९६० मे बेगम जैदी की मृत्यु के अनन्तर उनकी सुपुत्री शमा जैदी ने थियेटर के रगसज्जाकार एम० एस० सैथ्यू से निकाह कर लिया और इस दपति ने मिलकर इस थियेटर को सन् १९६५ तक चलाया।

नया थियेटर–हबीब तनवीर ने हिन्दुस्तानी थियेटर से पृथक् होकर कुछ पुराने कलाकारों के साथ सन् १९५९ मे नया थियेटर की स्थापना की। इस थियेटर ने प्रारम्भ मे कुछ एकाकी प्रस्तुत किये 'जालीदार पर्दे' (जून, १९५९, रूसी सुखात की 'फेमिनिन टच' का तनवीर-कृत रूपातर), 'जालीदार पर्दे' के साथ 'सात पैसे और 'आपके लिये' (८ अगस्त, १९५९) और 'फांसी' (अक्टूबर, १९५९, अंग्रेजी एकाकी 'दि मैन बार्न टु बी हैंग्ड' का तनवीर-कृत रूपातर)। ८ अगस्त के प्रदर्शन से प्राप्त ८००) रु० काश्मीर के बाढ-पीडितो के सहायतार्थ दिये गये।

सन् १९६१ में तनवीर ने अपने दल की एक कलाकार मोनिका मिश्र से विवाह कर लिया।

सन् १९६१ मे तनवीर के निर्देशन मे दो पूर्णांग नाटक खेले गये–'आगा 'हश्र'–कृत 'रुस्तम-सोहराब' और 'मिर्जा शोहरत' (मोलियर–'ल बुर्जुआ जेन्टिलाम' का सज्जाद जहीर द्वारा उर्दू-रूपातर)।

सन् १९६२ मे 'शतरंज के मोहरे' खेलकर यह सस्था भी प्राय: निष्क्रिय हो गई। यह नाटक एक दृश्यबंध पर ही खेला गया।
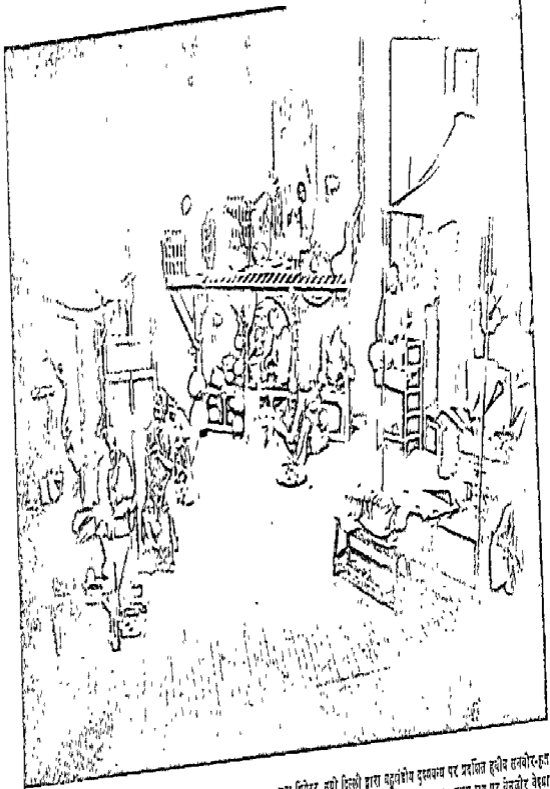
नया थियेटर, नयी दिल्ली द्वारा बहुतलीय दृश्यबन्ध पर प्रदर्शित हबीब तनवीर-कृत 'आगरा बाजार' का एक सुन्दर दृश्य। प्रथम तल पर बेनजीर वेश्या का कोठा है तथा नीचे और अगल-बगल बाजार है
(नया थियेटर, नयी दिल्ली के सौजन्य से)

अनामिका, कलकत्ता द्वारा प्रदर्शित दो नाटक '
(ऊपर) फाइन आर्ट्स थियेटर, नयी दिल्ली में २२ अगस्त, १९५९ को मंचस्थ
प्रसाद–'कामायनी' पर आधारित संगीतक का एक भवापूर्ण दृश्य तथा
(नीचे) अमृतलाल नागर के उपन्यास 'सुहाग के नूपुर' के नाट्य-रूपांतर
का एक दृश्य : मासात्तुवान (उत्तमराम नागर) तथा कन्नगी (अरुणा कपूर)
(क्रमश. छविचित्र प्रभाग, सू० एवं० प्र० मं०, भा० स० तथा
डॉ० शरद नागर के सौजन्य से)

इसी वर्ष भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने पंचमढ़ी में विश्वविद्यालय नाट्य-कर्मी शिविर का आयोजन किया, जिसमें अभिनय तथा उपस्थापन के पाठ्यक्रम के शिक्षण की व्यवस्था की गई थी। इस अवसर पर तनवीर ने ब्रेस्ट के नाटक 'गुड वूमन ऑफ सेट्ज़ान' को अंग्रेज़ी में प्रस्तुत किया।

सन् १९६२ में फोर्ड फाउण्डेशन की ओर से आयोजित 'रंगमंच पर्यवेक्षण भ्रमण' के लिये हबीब तनवीर अमेरिका की यात्रा पर चले गए। सन् १९६३ में यूरोप के नाटकों आदि को देखते हुए वे भारत लौटे।

सन् १९६४ में शिक्षा मंत्रालय ने मैसूर में विश्वविद्यालय नाट्यकर्मी शिविर का आयोजन किया, जिसमें तनवीर ने अंग्रेज़ी में गार्सा लोर्का के 'शूमेकर्स प्राडिजस वाइफ' का प्रस्तुतीकरण किया। इसी वर्ष दिल्ली के यूनिटी थियेटर के लिए उन्होंने शेक्सपियर-कृत 'टेमिंग ऑफ दि श्रयू' को अंग्रेज़ी में प्रस्तुत किया। सन् १९६५ में इरविन कालेज में आस्कर वाइल्ड के 'लेडी विन्डरमेयर्स फैन' का प्रयोग कर तनवीर टेलीविजन में प्रयोक्ता होकर चले गये

सन् १९६८ में नया थियेटर को तनवीर ने पुनः सक्रिय किया और उसका उद्घाटन फाइन आर्ट थियेटर शूद्रक—'मुद्राराक्षस' (पी० लाल द्वारा अंग्रेज़ी रूपान्तर) से किया। इसमें सफेद 'सराउंड' के अतिरिक्त किसी दृश्य-बंध का उपयोग नहीं किया गया था। गुप्तचरों का प्रवेश कुचिपुड़ि शैली के परदे के पीछे से दिखाया गया था। परिधान सभी रंगीन थे। अभिनय में संस्कृत नाट्य-पद्धति का अनुसरण इस ढंग से किया गया था कि वह एक सार्थक आधुनिक नाट्यानुभूति बन सके।

सन् १९६९ में गालिब शताब्दी पर 'मेरे बाद' नाटक खेला गया, जिसमें तनवीर ने कवि गालिब की भूमिका ग्रहण की। इसमें प्राचीन दिल्ली के कई दृश्यबंध दिखाए गये थे। अंग्रेज कलाकारों ने अंग्रेजों की भूमिकाएँ कीं। जेम्स टाइटलर ने सैनिक अधिकारी का सुन्दर अभिनय किया। इस नाटक में कुल ५४ कलाकारों ने भाग लिया।

इसी वर्ष 'शतरंज के मोहरे' को तीन अंकों में पुनः प्रदर्शित किया गया।

सन् १९७० में नया थियेटर ने 'आगरा बाजार' का प्रदर्शन किया। तनवीर-कृत 'आगरा बाजार' के परम्परा-मुक्त नाटकों से पृथक् एक विशिष्ट कृति है, जिसमें १८वीं शती के उर्दू के लोक-कवि नज़ीर अकबराबादी के जीवन की किसी घटना का वर्णन न होकर उनकी नज़्मों और गज़लों में अन्तर्हित भावों को मूर्त रूप दिया गया है। आगरे के एक बाज़ार और कोठे के सजीव एवं यथार्थवादी बहुखंडी दृश्यबंध पर प्रदर्शित इस नाटक में किसी एक केन्द्रीभूत कथावृत्त या किसी एक नायक के प्रति संवेदना के अभाव में भी मानवीय संवेदनाओं से यह नाटक भरपूर है। यह ब्रेस्ट-पद्धति का एक संगीत नाटक है, जिसमें फकीरों, फल-मिष्ठान्न-पतंग पुस्तक विक्रेताओं, कोठों और काव्य-प्रेमियों के बीच सर्वत्र नजीर की शेरो-शायरी आज से दो सौ वर्ष पूर्व के आगरा बाजार का पूरा माहौल खड़ा कर देती है। नजीर की कविता सभी को पुचकारती, दुलराती, प्रेरणा देती और मर्म को छूती हुई अनुराग, वैराग्य और आपसी स्पर्धा के लिये प्रोत्साहित करती है। नजीर सच्चे अर्थों में मानवतावादी एवं राष्ट्रीय एकता के प्रतिपादक कवि थे।

इस नाटक में तीन समानांतर कथा-प्रसंग हैं। प्रथम दो प्रसंग क्रमशः ककड़ी वाला और आर्थिक मंदी के कारण उसके व्यापार में गिरावट तथा बेनजीर वेश्या और उसकी वृत्ति से और तीसरा पुस्तक-विक्रेता, पतंग-विक्रेता उर्दू के परिष्कृत रुचि के कवि, काव्य-समीक्षक आदि से सम्बन्धित है। इन कथा-प्रसंगों के अन्तर्गत लोक-नृत्य एवं खेल-तमाशों का भी आयोजन किया गया था, जिससे नाटक के वृत्तहीन वृत्त में एक चमकीलापन, वैविध्य, सरसता और स्फूर्ति का संचार हो जाता है।

उपस्थापक, अभिनेता एवं कुशल निर्देशक हबीब तनवीर की यह एक सुन्दर कृति है। नाटक में समूहन या भीड़ की संरचना में उन्होंने अद्भुत कला-दाक्षिण्य का परिचय दिया है। चरित्राभिनय की दृष्टि से ककड़ी वाले (महंती), लड्डू वाले (ठाकुरदास), मजूर हुसैन (मसूद अहमद) बेनजीर (माला सेठी), अंधे साधु (लालू-

राम) पतग वाले (हबीब तनवीर) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय रहे हैं। रगशिल्पियो-सहित इसमे कुल ३७ कलाकारो ने भाग लिया।

यह नाटक सन् १९५४ मे तनवीर द्वारा कवि नजीर की वर्षगाँठ पर जामिया मिलिया नाटक क्लब की ओर से खेले गये 'आगरा बाजार' का परिष्कृत रूप है।

नया थियेटर 'आगरा बाजार' को लेकर श्रीनगर, चंडीगढ, लखनऊ, वाराणसी तथा इलाहाबाद की यात्रा कर चुका है। इस नाटक के देश भर मे पचास प्रदर्शन हो चुके हैं।

यात्रिक–यात्रिक दिल्ली की अर्द्ध-व्यावसायिक नाट्य-सस्था है, जो हिन्दी के साथ अँग्रेजी के नाटक भी प्रतिरक्षा मडप रगालय (डिफेन्स पैवीलियन थियेटर) मे प्रत्येक शनिवार और रविवार को किया करती है। सस्था के सभी कलाकारो मे रगमच के प्रति विशेष रुचि और लगाव है। यात्रिक द्वारा मचस्थ हिन्दी के नाटक हैं–गोगोल-कृत 'इन्स्पेक्टर-जनरल', आजर का ख्वाब' (१९६५ ई०, बर्नार्ड शा के 'माई फेयर लेडी' का बेगम कुदेसिया जैदी द्वारा उर्दू-मिश्रित रूपातर), आद्य रगाचार्य-कृत 'रहूँ कि न रहूँ' (हिन्दी-रूपातर) 'एवं इद्रजित्' (बादल सरकार के नाटक का भारत भूषण अग्रवाल तथा रामगोपाल बजाज द्वारा हिन्दी-रूपातर, सितंबर-अक्टूबर, १९६७), 'आवाज् का राज्' (१९६८ ई०, साउन्ड आफ मर्डर' का हिन्दी अनुवाद), राजेन्द्र सिंह वेदी-कृत 'एक चादर मैली-सी' (१९६९ ई०), विजय तेंदुलकर-कृत 'गिद्ध' (१९७० ई०) आदि। सभी नाटक अभिनय की दृष्टि से उच्च स्तर के होते हैं। 'आजर का ख्वाब' मे सलीमा रजा की रज्जो का अभिनय अविस्मरणीय था। 'आवाज का राज्' मे केवल कपूर का निर्देशन अच्छा रहा।

रगमच–रगमच (नाट्य-सस्था)ने दिल्ली मे अन्य कार्यों के साथ, कुछ नाट्य-प्रदर्शन भी किये। इन नाटको मे प्रमुख हैं–ब्रजमोहन शाह का–'अलगोजा' तथा 'केयर टेकर'।

अभियान–अभियान और दिशान्तर दिल्ली की अपेक्षाकृत दो नई नाट्य-सस्थाएँ हैं, जिनके प्रदर्शनो की अच्छी चर्चा रही है। अभियान द्वारा प्रस्तुत नाटकों मे प्रमुख हैं–बादल सरकार-कृत-'बाकी इतिहास' (१९६८ ई०) तथा राजेन्द्र सिंह वेदी-कृत 'एक चादर मैली-सी' (१९६८ ई०)। जीने और मरने की कशमकश के बीच 'बाकी इतिहास' के सीतानाथ की बिकलता, अबोध बालिका के साथ बलात्कार का कुरेदता पाप स्वय से घृणा की सुन्दर अभिव्यक्ति कुलभूषण सरबदा ने की। सीतानाथ की पत्नी कनक'के रूप मे सुधा चोपडा ने जीवत अभिनय किया। दृश्यबध नाटक के उपयुक्त न था। राजिन्दर नाथ का निर्देशन सतोषजनक था। 'एक चादर मैली सी' मे एक नारी की नहीं, समूचे समाज की कथा है, जो रानी-मगल के विवाह पर समाप्त हो जाती है। सुषमा मेहरा की रानी ने मनोदशाओ का सहज अकन किया। शाम अरोडा मंगल के पाठ (पार्ट) मे एक खिलाड़ी युवक द्वारा कर्तव्यानुभूति का निर्वाह करने मे सफल रहे।

अभियान द्वारा प्रस्तुत अन्य नाटक हैं–विजय तेंदुलकर-कृत 'पछी ऐसे आते हैं', 'सारी रात', विनायक पुरोहित-कृत 'स्टील फ्रेम' (धर्मवीर भारती-कृत' हिन्दी-रूपातर, (१९७१ ई०), डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'कर्फ्यू' (१९७१ ई०) आदि।

दिशातर स्था०, (१९६५ ई०)–ओम शिवपुरी के निर्देशन मे दिशातर का 'आधे-अधूरे' (१९६८ ई० ले० मोहन राकेश) प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से एक सफल कृति है। ओम शिवपुरी ने महेन्द्रनाथ तथा सिहानिया की अविस्मरणीय भूमिकाएँ की। सुधा शिवपुरी की सावित्री (महेन्द्रनाथ की पत्नी) पति की आड़ मे दूसरो के साथ खुलकर खेलने वाली नारी के रूप मे दूर तक सफल रही। रंगसज्जा और रगदीपन वातावरण को साकार बनाने मे सक्षम था।

इसके पूर्व दिशांतर ने 'गणदेवता' (१९६७, ताराशंकर बंद्योपाध्याय के बँगला उपन्यास का रामगोपाल बजाज द्वारा हिन्दी नाट्य-रूपान्तर) सफलता के साथ प्रस्तुत किया। निर्देशक थे ओम शिवपुरी, जिन्होंने नाटक के विविध दृश्यों को नेपथ्य-उद्घोषणा द्वारा एकसूत्रता में पिरोया। इसमें बंगाल के एक गाँव और उसके संघर्ष की कहानी बड़े मार्मिक एवं स्वाभाविक ढंग से कही गई है। नाटक में अनेक अवान्तर कथाओं के योग से कुछ शिथिलता आ जाना स्वाभाविक है।

दिशांतर द्वारा प्रस्तुत अन्य नाटकों में प्रमुख हैं—गिरीश कारनाड-कृत 'तुगलक', आद्य रंगाचार्य-कृत 'सुनो जनमेजय' तथा 'कभी विल कभी पट्ट,' बादल सरकार-कृत 'एवं इंद्रजित', विजय तेंदुलकर-कृत 'खामोश अदालत जारी है' बृजमोहन शाह-कृत 'त्रिशंकु' तथा 'ये सूद ये मात', सुरेन्द्र वर्मा-कृत 'द्रौपदी', 'हिरोशिमा' (१९७० ई०) 'बिल्ली चली 'पहन कर जूता' आदि।

दिशांतर को प्रमुख निर्देशकों का सहयोग-संरक्षण प्राप्त है। ओम शिवपुरी, ई० अल्काजी, मोहन महर्षि, बी० पी० कारंल, बृजमोहन शाह तथा जर्मन निर्देशक वोलफ्राम मेहरिंग।

मॉडर्नाइट्स—मॉडर्नाइट्स आकाशवाणी के कलाकारों की संस्था है, जो प्रायः सभी प्रकार के प्रहसन किया करती है। ये प्रहसन प्रायः अनुवाद या नाट्य-रूपांतर ही होते हैं। मोलियर-'स्कापिन' का हिन्दी-रूपांतर 'चलता पुर्जा' (१९६५ ई०) इसी प्रकार का एक प्रहसन है, जिसका प्रदर्शन सामान्य कोटि का था। सन् १९६६ में इसने 'माजरा क्या है ?' (गोल्डस्मिथ-कृत '(शीस्टूप्स टु काकर' का हिन्दी-रूपांतर) प्रस्तुत किया।

महाराष्ट्र परिचय केन्द्र : महाराष्ट्र परिचय केन्द्र, नई दिल्ली प्रत्येक वर्ष ५ नवंबर से प्रारम्भ कर चार-दिवसीय नाट्य समारोह आयोजित करता है, जिसमें मराठी नाटकों के साथ एक हिन्दी नाटक भी प्रस्तुत किया जाता है। हिन्दी नाटक प्रायः मराठी नाटक का अनुवाद होता है और समारोह के प्रथम दिन खेला जाता है। ५ नवबर, १९६८ को समारोह का उद्घाटन देवल-कृत 'सं० संशय कल्लोळ के हिन्दी रूपांतर 'फाल्गुनराव' (अनुवादक-द्वय बी० बी० कारंत तथा सई परांजपे) के साथ हुआ। उद्घाटन तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन ने किया। अनुवाद अच्छा होते हुए भी उपस्थापन कमज़ोर था। नायक-निर्देशक अरुण जोगलेकर फाल्गुनराव का अभिनय सजीव न बन सका। संदेह करने वाली पत्नी के रूप में सई परांजपे काफी सफल रहीं।

५ नवम्बर, १९७० को समारोह का उद्घाटन कालेलकर के मराठी नाटक 'दिल्या घरी तू सुखी रहा' का हिन्दी रूपांतर 'रात गई, बात गई' से बंबई के नाट्य वैभव दल द्वारा किया गया। नाटक में अविनाश तथा अलका की प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेमकथा कही गई है। अविनाश तथा अलका की भूमिकाएँ क्रमशः पुनीत पाल तथा कुमुद भोले ने की।

इस अवसर पर अभिनीत मराठी नाटक थे—'हा स्वर्ग सात पावलांचा तथा 'अशोक जालिस' का'।

दिल्ली नाट्य संघ : दिल्ली नाट्य संघ दिल्ली की एक ऐसी नाट्य-संस्था है, जो रंगमंच की विभिन्न समस्याओं पर विचारार्थ विचार-गोष्ठियाँ, नाट्य-समारोह आदि का आयोजन करती रहती है। सन् १९६५ के प्रारम्भ में संघ ने हिन्दुस्तानी रंगमंच की विभिन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिये दो दिन की गोष्ठी आयोजित की थी, जिसमें प्रथम दिन इब्राहीम अल्काजी, आर० जी० आनंद और रेवती शरण शर्मा ने तथा दूसरे दिन आर० एम० कौल, नेमिचंद्र जैन, ब्रजेन्द्र कुमार गिरि तथा जी० एस० खोसला विशेष प्रवक्ता थे। गोष्ठी में जो बात उभर कर सामने आई, वह थी—दर्शकों का अभाव एवं अनासक्ति, रंगमंच के पुराने स्तम्भों की जगह नये तत्वों का प्रवेश और रंगकार्य के प्रति उनकी तीव्र सजगता।

कला साधना मन्दिर एवं अन्य कला साधना मंदिर : नाटककार रेवतीशरण शर्मा की संस्था है, जो प्रायः

उन्ही के नाटक खेलती है । कविवर बच्चन की नाट्य-संस्था 'हिन्दी शेक्सपियर मंच' ने उनके अनूदित 'मैकबेथ' और 'आथेलो' खेले । दिल्ली के प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन की रगमच परिषद् भी यदा-कदा नाटक खेलती रहती है । परिषद् द्वारा अभिनीत प्रसादकृत 'ध्रुवस्वामिनी' बहु-धरातलीय मच की अकलात्मक रचना, निर्जीव अभिनय, आदि के कारण प्रायः असफल रहा । इनके अतिरिक्त दिल्ली में कुछ अन्य ऐसी सस्थाएँ भी हैं, जो वर्ष-दो-वर्ष पर हिन्दी के नाटक खेला करती है, किन्तु इनके उपस्थापन प्राय. सामान्य कोटि के होते रहे हैं ।

कलकत्ता-रगमच : आधुनिक युग मे दिल्ली के बाद नाट्यपुरी कलकत्ता ने हिन्दी रंगमंच के विकास मे सर्वाधिक योगदान दिया । यह व्यावसायिक और अव्यावसायिक, दोनो प्रकार के रंगमचों एवं विविध प्रकार की नाट्य-शैलियो का सगम-स्थल रहा है । व्यावसायिक क्षेत्र मे इसके कृतित्व और उपलब्धियो का उल्लेख इसी अध्याय मे पहले किया जा चुका है । उसी परम्परा मे कलकत्ते के सरस्वती नाट्य संघ ने रामचन्द्र 'आंसू' का ऐतिहासिक नाटक 'देश की लाज' शेखरराय और 'आंसू' के सह-निर्देशन मे २७-२८ दिसम्बर, १९५९ को मिनर्वा थियेटर मे खेला । इसमे कमल मिश्र, जुवेदा, एन० ए० प्रेम आदि कुछ पुराने कलाकारों ने भी भूमिकाएँ की थी ।

अव्यावसायिक रगमच पर हिन्दी—नाट्य परिषद् आधुनिक युग मे भी सक्रिय बनी रही, जिसका विवरण भी पहले दिया जा चुका है । इस युग की अन्य सक्रिय नाट्य-सस्थाएँ हैं—बिडला क्लब, तरुण सघ, भारत-भारती, अनामिका, सगीत कला मदिर, कला भवन, तथा अदाकार किन्तु अनामिका, सगीत कला मन्दिर तथा अदाकार को छोड शेष सस्थाएँ वर्ष मे दो-एक नाटक ही प्रस्तुत कर पाती हैं ।

बिड़ला क्लब—बिडला क्लब बिडला औद्योगिक प्रतिष्ठान के कर्मचारियो की नाट्य-सस्था है, जिसमे प्रारंभ मे एक वर्ष बँगला का और दूसरे वर्ष हिन्दी का नाटक हुआ करता था, किन्तु बाद मे सन् १९५८ से प्रत्येक वर्ष बँगला के अतिरिक्त हिन्दी का भी एक नाटक किया जाने लगा । इन हिन्दी-नाटकों में बँगला के व्यावसायिक मंच की कुछ लडकियो के अतिरिक्त ईसाई और हिन्दी-परिवारो की लडकियाँ भी स्त्री-भूमिकाएँ करती हैं । स्त्री-पात्रो का मंच पर अवतरण इस क्लब मे सन् १९५४ से प्रारम्भ हुआ । क्लब द्वारा अभिनीत हिन्दी के प्रमुख नाटक हैं—'उस पार' (१९५६ ई०, मू० ले० द्विजेन्द्रलाल राय), 'जीवन और कला' (मू० ले० अनन्त आचार्य, गुजराती), 'ताश के पत्ते' (मू० ले० प्रबोध जोशी, गुजराती), रमेश मेहता-कृत 'उलझन' और 'आर० जी० आनन्द-कृत' हम हिन्दुस्तानी हैं (१९६२ ई०) ।[111] सन् १९६४ ई० मे 'रुपया बोलता है', ('काचनरग' का हिन्दी रूपान्तर) तथा सन् १९६५ ई० में रमेश मेहता-कृत 'अडर सेक्रेटरी' तथा 'ढोंग' तथा शैलेश गुप्त वियोगी-कृत 'भाभी का विवाह' (हिन्दी अनुवाद) मचस्थ हुए ।

'उस पार' का निर्देशन हिन्दी नाट्य परिषद के निर्देशक ललितकुमार सिंह 'नटवर' ने और 'उलझन' तथा 'भाभी का विवाह' को छोड शेष नाटको का निर्देशन बद्रीप्रसाद तिवारी ने किया । 'भाभी का विवाह' का निर्देशन कृष्णकुमार श्रीवास्तव ने किया ।

तरुणसघ :—नाटक का समाज-सेवा के लिये नियोजन करने वाले तरुण संघ की स्थापना सन् १९४७ में हुई थी, किन्तु नाटक के क्षेत्र मे सन् १९४८ से ही उसने कदम रखा । सर्वप्रथम विष्णु प्रभाकर के दो एकाकी—'नया समाज' तथा 'नारी' ललितकुमार सिंह 'नटवर' के निर्देशन मे प्रस्तुत किये गये । इसके अनन्तर उपेन्द्रनाथ—'अश्क' के दो एकाकी—'विवाह के दिन' तथा 'अधिकार के रक्षक' तथा तरुण राय का 'समस्या' नाटक सन् १९५१ मे मंचस्थ हुआ । सघ ने प्रसाद—'कामायनी' को सन् १९५३ मे नृत्य-नाट्य के रूप मे प्रदर्शित किया ।

सघ द्वारा प्रदर्शित अन्य नाटक हैं—तरुण राय-कृत 'एक थी राजकुमारी' (१९५४ ई०), 'अश्क'—कृत 'अलग-अलग रास्ते' (१९५५ ई०), धर्मवीर भारती-कृत 'नदी प्यासी थी' (१९५५ ई०), द्विजेन्द्र 'शाहजहाँ' (१९५५ ई०) तथा 'चन्द्रगुप्त' ।

भारत भारती :—तीसरी संस्था है भारत-भारती, जिसकी स्थापना सन् १९५३ मे हुई थी। यह एक बहुद्देश्यीय संस्था है और यदा-कदा नाटक भी करती रही है। २१ अक्टूबर, १९६० को भारत भारती ने राजेन्द्र शर्मा द्वारा लिखित और निर्देशित 'परित्यक्ता' प्रस्तुत किया।

भारत भारती ने फरवरी, १९६० मे हिन्दी रगमंच सप्ताह मना कर नाटकाभिनय की विभिन्न शैलियों—नृत्यनाट्य, बिदेसिया, रामलीला, रासलीला, नौटंकी, पारसी शैली के नाटक और भारतेन्दु युग से पृथ्वी थियेटर्स तक के प्रयोगों को प्रस्तुत करने का निश्चय किया था, किन्तु उस वर्ष के अन्त तक यह योजना पूरी न उतर सकी।

अनामिका—सन् १९६८ मे भारत भारती ने 'डाउन ट्रेन' का प्रदर्शन किया, जिस पर अ० मा० नाट्य समारोह में उसे द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। अनामिका कलकत्ते की सर्वाधिक सक्रिय नाट्य-संस्था है, जिसकी स्थापना कलकत्ते के कुछ उत्साही नाट्य प्रेमियो ने २२ दिसम्बर, १९५५ को की। इसका उद्देश्य नाना माध्यमों से कलाकारों को आत्माभिव्यक्ति के अवसर देना रहा है, अतः इसके सभी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों मे उसके सदस्य एव सहयोगी कलाकार ही भाग लेते हैं। अनामिका ने सन १९५६ से लेकर सन् १९६० तक अनेक पूर्णांग एव एकाकी नाटक प्रस्तुत किये—आर० जी० आनन्द-कृत 'हम हिन्दुस्तानी हैं' (११ एवं २५ मार्च, १९५६), धर्मवीर भारती के दो एकाकी 'सगमरमर पर एक रात' (१० एव १८ सितम्बर, १९५६) और 'नदी प्यासी थी' (८ जनवरी, १९५७), कृष्णकिशोर श्रीवास्तव का एकाकी 'सत्य किरण' (१० एवं २४ सितम्बर, १९५६), विनोद रस्तोगी-कृत 'नये हाथ' (२३ अप्रैल, १९५७), कमलाकान्त वर्मा का एकांकी 'पाटलिपुत्र के खंडहर में' (२२ एवं २९ सितम्बर, ५७), सन्तोषनारायण नौटियाल-कृत 'चाय पार्टियाँ' (१६ जनवरी, ५९), उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—कृत 'अंजो दीदी' (५ मई एवं १३ सितम्बर, ५८), सत्येन्द्रशरत् का एकांकी 'नव ज्योति की नई हिरोइन' (५ मई, १९५८), 'जनता का शत्रु' (२२ एवं २७ मार्च, १९५६, इब्सन-'एन एनिमी आफ दि पीपुल' का श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल और श्यामानन्द जालान—कृत हिन्दी-रूपान्तर) और मोहन राकेश-कृत 'आषाढ़ का एक दिन' (१८ एवं २८ सितम्बर, १९६०)।

इनमें 'नये हाथ' ६ बार और 'आषाढ़ का एक दिन' सागोपांग बिना एक शब्द काटे चार बार प्रस्तुत किये जा चुके हैं। 'नये हाथ' के सफल उपस्थापन के लिये सन् १९५९ मे सगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित हिन्दी नाट्य—प्रतियोगिता में अनामिका को प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था।''

सन् १९५९ में जयशकर प्रसाद के अमर महाकाव्य 'कामायिनी' को भी कलकत्ता तथा दिल्ली के फाइन आर्ट्स थियेटर मे नृत्य-नाट्य के रूप में प्रस्तुत किया गया, जिसकी बहुत प्रशंसा हुई।''

अनामिका ने रवीन्द्र शताब्दी के अवसर पर दिल्ली में रवीन्द्र— 'घरे बाहरे' के डॉ० प्रतिभा अग्रवाल-कृत हिन्दी नाट्य-रूपांतर 'घर और बाहर' २६, २७, एवं २८ नवम्बर, १९६१ को दिल्ली में अभिमंचित किया। रवीन्द्र-कृत 'शेषेर रक्षा' का डॉ० प्रतिभा अग्रवाल-कृत हिन्दी रूपांतर 'शेष-रक्षा' का प्रदर्शन ३१ अगस्त तथा १-२ सितम्बर, १९६२ को कलकत्ते में ही किया गया।

सन् १९६२ से अब तक जो नाटक प्रस्तुत किये गये, उनमे से प्रमुख हैं—'सम्राज्ञी' (३० सितम्बर, ६२, मू० ले० गोपिकानाथ रामचौधरी, हिन्दी-रूपातर : श्रीमती कृष्ण रेलिन), धर्मवीर भारती-कृत 'नीली झील' (३० सितम्बर, ६२), 'छपते-छपते' (३ से ७ अप्रैल, १९६३, मू० ले० मिहेल सेबेरिशयन, हिन्दी रूपातर श्रीमती उमा गुप्त), डॉ० लक्ष्मीनारायण लालकृत 'मादा कैक्ट्स' (२४ मई, १९६४), परितोष गार्गी-कृत 'छलावा' (५-६ सितम्बर, १९६४), शम्भु मित्र एवं अमित मैत्र-कृत 'काचनरग' (६५), 'प्रतीक्षा' (सितम्बर, ६५, अंग्रेजी कहानी का प्रतिभा अग्रवाल द्वारा हिन्दी नाट्य-रूपातर), 'सुहाग के नुपूर' (२२ तथा २४ जनवरी, १९६६, अमृतलाल नागर के उपन्यास का प्रतिभा अग्रवाल-कृत नाट्य-रूपान्तर), मोहन राकेश-कृत 'लहरो के राजहंस'

(६६), ज्ञानदेव अग्निहोत्री-कृत 'शुतुरमुर्ग' (१९६७ ई०(। 'मन माने की बात', बादल सरकार-कृत 'एवं इन्द्रजित्', डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल-कृत 'दर्पन' (१९६९ ई०) तथा 'मेरे बच्चे' (१४ मार्च, १९६९) ।

इनमे से 'छपते-छपते' वृत्तस्थ मच (एरेना स्टेज) पर प्रस्तुत किया गया था । 'सुहाग के नूपुर', में एक ही मच पर, इसके दो भाग कर, एक ओर गणिका माधवी का कक्ष और दूसरी ओर महोश्रेष्ठि मासात्तुवान चेट्टियार का कक्ष प्रदर्शित किया गया था । रगसज्जा का एक नया प्रयोग होते हुए भी इससे एक गड़बड़ी हुई । माधवी के कक्ष के जल जाने के बाद भी वह यथावत् सामाजिकों को दिखता रहा । रंगदीपन भी सदोष था । इसका निर्देशन डॉ० प्रतिभा अग्रवाल ने किया था । यदि इस नाटक को परिक्रामी मच पर प्रदर्शित किया जाता, तो अधिक सफल रहता । 'शुतुरमुर्ग' की लोकप्रियता के कारण उसके अनेक प्रयोग हो चुके हैं ।

हिन्दी नाटककारों को प्रोत्साहन देने के लिये अनामिका ने कलकत्ते के थियेटर सेन्टर को सन् १९५६ एवं १९५७ मे एक-एक हजार रुपये की राशि सर्वश्रेष्ठ नाटक को पुरस्कृत करने के लिये प्रदान की । सन् १९५६ में 'नये हाथ', 'चाय पार्टियाँ', और डॉ० रामकुमार वर्मा के 'कला और कृपाण' को क्रमश. ५००) रु०, ३००) रु० और २००) रु० पुरस्कार स्वरुप दिये गये । दूसरे वर्ष कोई श्रेष्ठ नाटक न उपलब्ध हो सका । 'कला और कृपाण' त्रिअकी ऐतिहासिक नाटक है, जिसका उपजीव्य है–शब्दवेधी बाण से किरात-कन्या मंजुघोषा की सारिका की मृत्यु, मजुघोषा का आखेटक (उदयन) पर आक्रोश तथा महाराज उदयन के समक्ष अभियोग लेकर जाना, यह जानकर कि महाराज उदयन ही आखेटक थे, उनसे मजुघोषा का क्षमा-याचना करना, राजमहिषी वासवदत्ता की सहचरी के रूप मे मजुघोषा की नियुक्ति, कौशाम्बी मे भगवान बुद्ध के आगमन से रुष्ट हो उदयन का उन पर शब्द-वेधी बाण चलाना, बाण का उनकी परम प्रिय उपासिका मंजुघोषा के लगना, अन्त मे बुद्ध के समक्ष समर्पण तथा बौद्ध धर्म मे दीक्षा । नाटक खेलने के लिये तीन दृश्यबन्धों की आवश्यकता होगी–प्रथम विन्ध्यभूमि का वन प्रान्त, द्वितीय उदयन का राजकक्ष तथा कौशाम्बी के राजप्रासाद का ऊपरी कक्ष, जहाँ उदयन का सिंहासन है । संवाद छोटे, चुस्त, गठे हुए और वक्रतापूर्ण हैं, कहीं-कहीं काव्य और चिन्तन भी उनमे है ।

सन् १९६४-६५ मे अनामिका ने नाट्य महोत्सव का आयोजन किया, जिसमे नाटक–लेखक, नाटक-परिचालक तथा दर्शक समीक्षक की समस्याओ पर विचार-गोष्ठियों के आयोजन के साथ ६ नाटक तथा लोकनाट्य रामलीला (२९ दिसम्बर, १९६४) और नौटकी (३१ दिसम्बर, १९६४) के प्रदर्शन भी हुए । थियेटर यूनिट, बम्बई ने डॉ० धर्मवीर भारती-कृत 'अन्धायुग' (२४ दिसम्बर), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली ने 'शहशाह ईडियस' (२६ दिसम्बर), अनामिका ने 'छपते-छपते' (२७ दिसम्बर), मूनलाइट थियेटर, कलकत्ता ने आग्रा 'हश्र'–कृत 'सीता बनवास' (२८ दिसम्बर), थ्री आर्ट्स क्लब, नई दिल्ली ने रमेश मेहता-कृत 'अंडर सेक्रेटरी' (३० दिसम्बर) तथा श्रीनाट्यम्, काशी ने प्रेमचन्द– गोदान' (१ जनवरी, १९६५) मचस्थ किया । रामलीला का आयोजन लक्सा, वाराणसी की सौ वर्ष पुरानी रामलीला मडली ने तथा नौटंकी का आयोजन हाथरस की नौटंकी मडली ने किया ।

सन् १९६८ में अनामिका ने हिन्दी रगमच शतवार्षिकी महोत्सव का आयोजन किया, जिसमे कई नाटक मचस्थ किये गये । सन् १९६८-६९ मे अनामिका द्वारा २८ दिसम्बर, १९६८ से १ जनवरी, १९६९ तक एक नाट्य-प्रदर्शिनी का आयोजन ४८, शेक्सपियर्स सरणि (कलकत्ता) पर स्थित कला मन्दिर के भूतल कक्ष में किया गया, जिसमे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, के० टी० देशमुख, बम्बई, यूनाइटेड स्टेट्स इन्फारमेशन सर्विस, कलकत्ता तथा अन्य सस्थाओ ने भाग लिया ।

यह सस्था आज भी बड़े जोश-खरोश के साथ सक्रिय है और नाट्य-प्रदर्शनों एवं नये प्रयोगों के अतिरिक्त नाट्य महोत्सव और कई विचार-गोष्ठियों का आयोजन कर चुकी है । अनामिका हिन्दी का एक अस्थायी व्याव-

सार्थक रंगमंच बनाने की दिशा मे भी प्रयत्नशील है। अनामिका न केवल कलकत्ते, वरन् समूचे भारत की एक-मात्र संस्था है, जिसने हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककारों के नाटकों को लेकर नये प्रयोग किये हैं और उनकी प्रयोग-क्षमता प्रमाणित की है।

श्यामानन्द जालान, डॉ० प्रतिभा अग्रवाल, बद्रीप्रसाद तिवारी, कृष्णकुमार तथा शिवकुमार जोशी अनामिका के प्रमुख नाट्य-निर्देशक हैं।

अनामिका कला संगम--हिन्दी नाटकों के विकास तथा अन्य ललित कलाओं के उत्कर्ष एवं प्रदर्शन के उद्देश्य को लेकर कलकत्ता के नाट्य-एवं-कला प्रेमी युवकों ने १९६७ के प्रारम्भ में अनामिका कला संगम की स्थापना की, जिसका उद्घाटन १३ मई को सीताराम सेकसरिया ने हिन्दी हाई स्कूल के सुसज्जित सभागार मे किया। मुख्य अतिथि थे बँगला के कृतविद्य कथाकार ताराशंकर बंद्योपाध्याय। संगम के परिचालक श्यामानन्द जालान ने यह आशा व्यक्त की कि संगम कलकत्ते मे हिन्दी नाटकों के आरगण के लिये एक स्थायी रंगालय का निर्माण करेगा। संगम के बहुविध उद्देश्यों में एक यह भी है कि वह नाट्य महोत्सव, परिचर्चा, विचार-गोष्ठी तथा व्याख्यानशाला का आयोजन कर नाट्य-आन्दोलन को अग्रसर करे।

इस अवसर पर दिल्ली के लिटिल थियेटर ग्रुप ने १३ और १४ मई को क्रमशः 'श्री भोलानाथ' तथा 'मिनिस्टर' के दो-दो प्रदर्शन किये। रोचक कथा-विन्यास वाले इन हास्य-नाटकों से, उनसे प्रसंगनिष्ठ हास्य के कारण, सामाजिकों का अच्छा मनोरंजन हुआ।

१२ जुलाई को कलकत्ते के अदाकार ने कृष्णकुमार के निर्देशन मे वसन्त कानेटकर-कृत 'ढाई आखर प्रेम का' हिन्दी हाई स्कूल के सभागार मे मंचस्थ किया। इस नाटक में आधुनिक के स्वच्छन्द एवं मुक्त प्रेम की मीठी चुटकियाँ ली गई हैं। २० जुलाई को अनामिका ने श्यामानन्द जालान के निर्देशन मे ज्ञानदेव-'शुतुरमुर्ग' रवीन्द्र सदन मे प्रदर्शित किया। यह एक राजनैतिक प्रतीक नाटक है, जिसमे वर्तमान शासन की कागजी योजनाओं अपर्याप्त रक्षा-व्यवस्था तथा आत्म-तुष्टि की शुतुरमुर्गी नीति-पलायनवादी नीति-पर कडा प्रहार किया गया है। रीतिबद्ध शैली मे प्रस्तुत कर जालान ने लेखक के मंतव्य की सटीक व्याख्या कर उसे अर्थवान बनाने की चेष्टा की है। इसमे श्यामानन्द जालान (राजा), उत्तमराम नागर (अन्न मंत्री) और अमर गुप्त (मामूलीराम) की भूमिकाएँ उल्लेखनीय हैं।

१३ और १४ अगस्त को थ्री आर्ट्स क्लब, दिल्ली ने हिन्दी हाई स्कूल के सभागार में 'बड़े आदमी' तथा 'उलझन' के दो-दो प्रदर्शन किये।

संगम ने सितम्बर मे बम्बई के क्रिएटिव यूनिट को आमन्त्रित किया, जिसने श्रीमती रिजवी के निर्देशन में 'उसके बाद' (२३ सितम्बर, आर्थर मिलर के 'आफ्टर दि फाल' का श्रीमती रिजवी द्वारा हिन्दी-रूपान्तर) तथा 'मकडी का जाल' (२४ सितम्बर, विलियम हैनले के 'ए स्लो डास आन दि किलिंग ग्राउन्ड' का हिन्दी अनुवाद) के दो-दो प्रदर्शन किये। 'उसके बाद' मे केवल दो ही पात्र थे, जिसमे किसी प्रकार के दृश्यबन्ध आदि का प्रयोग नही किया गया था। 'मकडी के जाल' मे आधुनिक सभ्यता की दिशाहीन यात्रा पर विचार किया गया है।

अनामिका ने १६ दिसम्बर को शिवकुमार जोशी-कृत 'साप उतारा' (डॉ० प्रतिभा अग्रवाल द्वारा हिन्दी-रूपान्तर) मंचस्थ किया। 'इसमे दाम्पत्य-प्रेम के साथ-साथ एक अर्ध-विस्मृत प्रेम के पुनर्जागरण की सरस घटनाओं पर स्निग्ध विनोद की फुहारें बरसाई गई थीं।'[१]

१९६८-६९ का वर्ष सारे देश में हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह के रूप मे मनाया गया, फलतः संगम ने भी दिसम्बर, १९६८ तथा जनवरी, १९६९ में इसी प्रकार के पंचदिवसीय समारोह का आयोजन बड़े पैमाने पर किया। समारोह में कलकत्ता और दिल्ली की नाट्य-संस्थाओं द्वारा पाँच नाटक प्रदर्शित किये गये। राष्ट्रीय

नाट्य विद्यालय, दिल्ली द्वारा प्रसाद–'स्कन्दगुप्त' (श्रीमती शांता गांधी-कृत संक्षिप्त-संशोधित रूप) तथा बरटोल्ट ब्रेख्ट का 'खड़िया का घेरा' ('काकेशियन चाक सर्किल' का अनुवाद), अनामिका, कलकत्ता द्वारा बादल सरकार-कृत 'एवं इन्द्रजित्', कत्थक कला केन्द्र, दिल्ली द्वारा नृत्य-नाट्य 'कृष्णायन' तथा थ्री आर्ट्स क्लब, दिल्ली द्वारा रमेश मेहता-कृत 'ढोंग'।

'स्कन्दगुप्त' का निर्देशन श्रीमती शांता गांधी ने तथा दृश्यबन्ध-परिकल्पना इब्राहीम अल्काज़ी ने की। नाटक के इस संक्षिप्त रूप में स्कन्दगुप्त तथा देवसेना के आंतरिक द्वन्द्वों का अभाव खटकने वाली वस्तु थी। गीत भी कुछ अधिक ही रहे। दृश्य-सज्जा प्रतीकात्मक थी और एक ही दृश्यबन्ध में थोड़े परिवर्तनों से शेष सभी दृश्य प्रस्तुत हो जाते थे। स्थान-परिवर्तन के बोध के लिये गरुडध्वज, कमल, सूर्य आदि के प्रतीक-चिह्नों का उपयोग सार्थक था। परिधान-रचना के लिये जिन रंगों का उपयोग किया गया था, वे भारतीय परम्परा के अनुकूल न थे। वस्त्र पहनने का तरीका भी प्राचीन ढंग का न था। विजया, कमला और देवकी के चरित्र तो सन्तोषजनक रहे, किन्तु अन्य भूमिकाओं में अभिनय कमजोर रहा।[११७]

ब्रेख्ट के साथ काम करने वाले अमेरिकन निर्देशक कार्लवेबर के निर्देशन में प्रस्तुत 'खड़िया का घेरा' का उपस्थापन प्रभावी रहा। सर्वसाधारण तथा सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों के चरित्राभिनय में अन्तर प्रदर्शित करने के लिये प्रत्येक वर्ग की अभिनय-पद्धति, रूपसज्जा तथा परिधान-सज्जा में विशेष अन्तर रखा गया था। सर्वसाधारण अपने स्वाभाविक रूप में अवतरित हुए, जबकि सम्भ्रान्तवर्गीय कृत्रिम हाव-भाव तथा दिखावटी परिधानों में। कुल मिला कर अभिनय मर्मस्पर्शी था, किन्तु मंच पर मूत्र-स्राव, टब में नंगे स्नान और स्त्रियों द्वारा स्नान कराना आदि भारतीय संस्कृति एवं सुरुचि के प्रतिकूल थे। नाटक में यथार्थ एवं प्रतीक रंग-सज्जा का उपयोग किया गया था। श्रीमती रोशन अल्काज़ी की परिधान-रचना पात्रानुसार एवं उपयुक्त थी। नाटक का पद्यानुवाद सन्तोषजनक न था। नाटक में एक चीनी लोक-कथा के आधार पर जर्मनी की तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था एवं समाज-व्यवस्था पर तीखा प्रहार किया गया है।[११८]

अनामिका द्वारा श्यामानन्द जालान के निर्देशन में प्रस्तुत 'एवं इन्द्रजित्' के कथ्य का सम्प्रेषण मूक एवं अतिरंजित अभिनय, पृष्ठभूमि में जाज संगीत, पात्रों की गोलाकार गति अथवा निस्पंद स्थिरता द्वारा जीवन के प्रवाह और जड़ता को व्यक्त कर किया गया, जो सुन्दर प्रयोग था। कुछ स्थलों पर तीव्र स्वर में संवाद-कथन, शोर-गुल आदि अखरता रहा।[११९]

'कृष्णायन' में कत्थक नृत्य-प्रकार का उपयोग कर बिरजू महाराज ने उसे एक नई दिशा दी। कुछ पात्रों का नृत्याभिनय उच्च कोटि का था, किन्तु था वह परम्परा-मुक्त ही।[१२०] 'ढोंग' को देखने के लिये कलकत्ते के सामाजिक टूट पड़े। यह एक सुन्दर सामाजिक व्यंग्य-नाटक है।

इस अवसर पर एक विस्तृत रंगमंच प्रदर्शिनी का आयोजन किया गया, जिसमें राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, बम्बई के रंगमंच रिसर्च सेन्टर के निदेशक के० टी० देशमुख, अनामिका तथा अमेरिका के सूचना विभाग ने प्रमुख रूप से भाग लिया। विद्यालय ने अपने यहाँ की शिक्षण-प्रणाली, छात्रों द्वारा रचित दृश्यबन्धों के माडल तथा ब्रेख्ट एवं इलियट के प्रदर्शन-सम्बन्धी चित्र, देशमुख ने मराठी तथा पारसी रंगमंच के कलाकारों के चित्र, मराठी तथा कुछ पारसी नाटकों के मुखपृष्ठों के चित्र, समाचारपत्रों की कतरनें, विज्ञापन आदि, अनामिका के तथा उसके द्वारा आयोजित अन्य प्रदर्शनों के चित्र, सूचना विभाग ने समकालीन अमेरिकन नाट्यांदोलन के विवरण एवं चित्र प्रदर्शित किये। इसके अतिरिक्त हिन्दी के कुछ महत्त्वपूर्ण नाटकों, नाट्य-समीक्षाओं तथा नाट्य-विषयक शोध-ग्रन्थों का प्रदर्शन भी किया गया।[१२१] प्रदर्शिनी रंगमंच के किसी व्यापक स्वरूप की अभिव्यक्ति न कर सकी।

समारोह का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण अंग था–परिसंवाद, जिसमें 'कलाओं के प्रति समाज का दायित्व'

विषय पर विचार-विनिमय हुआ। प्रमुख वक्ता थे—डॉ० रमा चौधरी (रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय के कुलपति), डॉ० लेहनर (मैक्समूलर भवन के अध्यक्ष), राम नूनन (संयुक्त राष्ट्र सूचना कार्यालय के सांस्कृतिक विभाग के अध्यक्ष) बंगला के कथाकार अन्नदा राय, डॉ० कल्याणमल लोढा (कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष), भँवरमल सिंघी, श्यामानन्द जालान, डॉ० प्रतिभा अग्रवाल आदि। इस परिसवाद में रंगमंच के प्रति समाज के दायित्व की चर्चा के स्वर क्षीण ही रहे।[११]

संगम के आमंत्रण पर दिल्ली के अभियान ने २३-२४ मार्च, १९७० को ललित सहगल-कृत 'हत्या एक आकार की' का सफल प्रदर्शन किया।

संगीत कला मन्दिर—अनामिका कलकत्ते की यदि सर्वाधिक सक्रिय संस्था है, तो संगीत कला मन्दिर वहाँ की सर्वाधिक साधन-सम्पन्न संस्था कही जा सकती है, जिसकी स्थापना सन् १९४५ में बसन्तकुमार बिड़ला के संरक्षण मे हुई थी। सन् १९६३ मे प्रथम बार कला मन्दिर ने नाट्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया और सन् १९६७ तक अनेक नाटक मचस्थ किये, पार्थ प्रतिम चौधरी-कृत 'उँगलियों के निशान', हरिदास बनर्जी-कृत 'कलंक', 'रुपया बोलता है' (मई, १९६४, कांचनरंग' का हिन्दी-रूपान्तर), घनजय वैरागी-कृत 'एक प्याला काफी' (१९६५ ई०) तथा सुदर्शन बब्बर-कृत 'गुस्ताखी माफ'। सन् १९६८ में तीन नाटक प्रदर्शित किये गये—नरेश मेहता-कृत 'खंडित यात्राएँ', प्रबोध जोशी-कृत 'ताश के पत्ते' (२३-२४ फरवरी) तथा चिरंजीव-कृत 'घेराव'। बद्रीप्रसाद तिवारी इस संस्था के भी प्रमुख नाट्य-निर्देशक हैं। 'एक प्याला काफी' मे हिन्दी हाई स्कूल के परिक्रामी मच का दो दृश्य-बन्धो के साथ सुन्दर प्रयोग किया गया।

मन्दिर ने ८-९ अक्तूबर, १९६९ को सुदर्शन बब्बर-कृत 'गुस्ताखी माफ' नामक सामान्य स्तर का हास्य-नाटक अभिमचित किया। यह एक ऐसे युवक की कहानी है, जो पैतृक सपत्ति की वसीयत प्राप्त करने के लिये अपनी प्रेमिका, मकान-मालकिन और उसकी दासी को बारी-बारी से पत्नी के रूप मे और माँगे गये बच्चे को अपनी सन्तान के रूप में ट्रस्टी के समक्ष प्रस्तुत करता है, किन्तु बच्चे के पिता के आ जाने पर भंडाफोड हो जाता है, किन्तु ट्रस्टी उसे क्षमा कर देते हैं।

संगीत कला मन्दिर ने ४५ लाख रुपये की लागत से अपनी एक रंगशाला—कला मन्दिर भी बना ली है, जो सभी आधुनिक साज-सज्जाओ से युक्त है। यह ४८, शेक्सपियर सरणि पर अवस्थित है।

कला भवन—कला भवन, अदाकार तथा प्ले कार्नर कलकत्ते की अपेक्षाकृत नई नाट्य-संस्थाएँ हैं। कला भवन की स्थापना सन १९६५ मे हुई थी। इस संस्था द्वारा मंचस्थ नाटक हैं—नीहाररंजन सेन-कृत 'उल्का', विनोद रस्तोगी-कृत 'बर्फ की मीनार', बसन्त कानेटकर-कृत 'मत्स्यगंधा' तथा पार्थ प्रतिम-कृत 'उँगलियो के निशान'। प्रथम और अन्तिम नाटक बँगला के तथा तृतीय नाटक मराठी के नाटक का हिन्दी-रूपान्तर है। सन् १९६८ मे कला भवन द्वारा आयोजित नाट्य-प्रतियोगिता मे दर्पण (कानपुर), श्रीनाट्यम् (वाराणसी) तथा भारत भारती (कलकत्ता) द्वारा अभिनीत नाटकों, क्रमशः 'एण्टीगनी', 'मत्स्यगंधा' तथा अँधेरी रोशनी' को प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पुरस्कार प्राप्त हुए। प्रथम पुरस्कार १००१ रु० का, द्वितीय ७५१ रु० का तथा तृतीय ५०१ रु० का था।

अदाकार : अदाकार के मंत्री तथा निर्देशक कृष्णकुमार ने अपने कुछ मित्रो के सहयोग से इस सस्था की स्थापना सितम्बर, १९६६ मे की। इस संस्था द्वारा प्रदर्शित नाटक हैं :—'आवाज' (जे० बी० प्रीस्टले के 'एन इंस्पेक्टर काल्स' का हिन्दी-रूपान्तर), 'छायानट' (अप्रैल, १९६७, मू० ले० उत्पल दत्त), 'ढाई आखर प्रेम का' (जुलाई-सितम्बर, १९६७, मू० ले० बसंत कानेटकर), 'रजनीगंधा' (जुलाई, १९६८, मू० ले० धनंजय वैरागी) तथा आर० जी० आनन्द-कृत 'भूचाल' (अक्तूबर, १९६८)। अदाकार ने कुछ एकांकी नाटक भी प्रस्तुत किये हैं। सन् १९६९ में श्रीनाट्यम्, वाराणसी द्वारा आयोजित नाट्य-समारोह में अदाकार ने 'भूचाल' एवं 'रजनीगंधा'

प्रस्तुत कर सामाजिकों के हृदय पर अमिट छाप छोड़ी।

प्ले कार्नर : प्ले कार्नर ने ख्वाजा अहमद अब्बास-कृत 'लाल गुलाब की वापसी' (१९६५ ई०) मंचस्थ किया। यह एक व्यंग्य नाटक है, जो प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद लिखा गया था।

बम्बई रंगमंच : विस्तारित बेताब-युग के अनन्तर बम्बई का हिन्दी-रंगमंच प्रायः समाप्त होकर चेतनाशून्य हो चला। कुछ नवीन मंडलियों ने कुछ कलाकारों को बटोर कर आधुनिक युग में पुनः व्यावसायिक मंच की उखड़ी जड़ें लगाने की चेष्टा की, किन्तु वह विशेष फलवती न हो सकी। बम्बई में मारवाड़ियों के बाहुल्य एवं व्यावसायिक प्रसार के कारण मारवाड़ी मित्र मण्डल की स्थापना हुई, जिसने देश के स्वतन्त्र होने पर पारसी-शैली के राजस्थानी नाटकों के खेलने की नयी परम्परा स्थापित की, जो किसी-न-किसी रूप में बम्बई और कलकत्ते में प्रस्तुत अध्ययन की अवधि के अन्त तक चलती रही है। इन राजस्थानी नाटकों का एक अपना प्रेक्षक-वर्ग भी है, जो उसे पोषित करता और संरक्षण प्रदान करता है।

हिन्दी भारतीय भाषाओं, विशेषकर मराठी और गुजराती के विकासशील रंगमंच की प्रगति के आगे हिन्दी का पुनर्गठित व्यावसायिक मंच शिथिल पड़ गया और कुछ वर्षों तक भारतीय जन-नाट्य संघ और पृथ्वी थियेटर्स को छोड़ कर बम्बई की किसी अव्यावसायिक या अर्द्ध-व्यावसायिक नाट्य संस्था ने हिन्दी नाटक खेलने की ओर ध्यान नहीं दिया। सम्भवतः इसके तीन कारण थे-ये मंडलियाँ प्रायः स्थानिक थीं, जिनके प्रेक्षकों में मराठे और गुजराती लोग अधिक थे, दूसरे, इन कुछ वर्षों में पारसी शैली के पारम्परिक हिन्दी नाटकों की परम्परा विच्छिन्न हो जाने तथा प्रयोगवादी नाटकों के मंचन के कारण हिन्दी-प्रेक्षकों की संख्या संकुचित होकर रह गई, और तीसरे, जो भी हिन्दी नाटक प्रस्तुत किये जाते थे, उनका उपस्थापन-स्तर घटिया किस्म का होता था, जिससे अच्छे नाटक देखने के लिए भी प्रेक्षक तैयार न होते थे। देश में हिन्दी के राष्ट्रभाषा घोषित होने के उपरान्त उसके बढ़ते हुए महत्त्व को देख कर कुछ अव्यावसायिक मराठी, गुजराती अथवा बहुभाषी संस्थाओं ने हिन्दी के नाटक भी खेलने प्रारम्भ कर दिये। इनमें कुछ संस्थाएँ ऐसी भी रही हैं, जो प्रारम्भ में अँग्रेजी के नाटक खेलने में ही गौरव का अनुभव करती थीं।

भारतीय जननाट्य संघ के नाटकों के तात्कालिक समस्याओं और उनके राजनैतिक समाधानों के कारण उसने एक विशिष्ट प्रेक्षक-वर्ग अपने प्रयोगों के लिये चुना, जो विशेष रूप से बम्बई की चालों और निम्न मध्य वर्ग के शिक्षित किन्तु असन्तुष्ट समाज से आये। इन प्रेक्षकों के बीच संघ के नाटक बहुत लोकप्रिय हुए और वह अखिल भारतीय संगठन के रूप में सारे देश में, उसके आंचलिक भागों में फैल गया। उसके अपने नाटककार थे, जो विशेषकर अनुवादक या रूपान्तरकार थे। कुछ मौलिक नाटककार भी थे, यथा ख्वाजा अहमद अब्बास, राजेन्द्रसिंह बेदी, राजेन्द्र सिंह रघुवंशी, इस्मत चुगताई, बी० एम० अदिल, कैफी आजमी आदि। लेकिन उनकी संख्या उँगली पर गिनने योग्य थी। संघ के राष्ट्रीय नृत्य-नाट्यों ने अवश्य संभ्रान्त जनता को आकृष्ट किया और उनकी सर्वत्र प्रशंसा हुई। संघ ने कुछ अच्छे निर्देशक और कलाकार भी दिये, किन्तु संघ केवल हिन्दी-मंच न था, वह बहुभाषी मंच बन चुका था। वह मुख्य रूप से संगठक संस्था बन गया।

पृथ्वी थियेटर्स के राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित नाटक बम्बई में बहुत जनप्रिय हुए, किन्तु उसका अधिकांश समय बम्बई के बाहर दौरे पर ही बीतता रहा। कलाकारों को मिलने वाले प्रतीक वेतन, रंगशाला के अभाव, पृथ्वी थियेटर्स के संस्थापक पृथ्वीराज कपूर के 'स्व' की प्रमुखता अथवा आत्मप्रदर्शन की पिपासा तथा पैसे के अभाव के कारण वह भी बन्द हो गया।

नाट्य-निकेतन—सन् १९५५ या इसके आस-पास बम्बई की कुछ अव्यावसायिक संस्थाओं ने हिन्दी में नाटक खेलने प्रारम्भ किये। इस दिशा में एक प्रशंसनीय प्रयास मराठी की व्यावसायिक नाट्य-संस्था नाट्य-निके-

तन ने किया । उसने ऑपेरा हाउस में मोतीराम गजानन रांगणेकर के मराठी संगीत नाटक 'वहिनी' का अनुवाद सन् १९५५ में तीन माह तक खेला, किन्तु मंच पर सिने-अभिनेता देखने की भूखी जनता के बीच उसे हिन्दी-प्रेक्षक अधिक न मिल सके । यह प्रयोग अन्ततः असफल चला गया । इसके अतिरिक्त हिन्दी में 'पेइंग गेस्ट' और 'मेरा घर' (रांगणेकर के क्रमशः 'भटाला दिली ओसरी' और 'माझे घर' के अनुवाद) तथा 'आराम हराम है' (मराठी के एक नाटक का अनुवाद) भी, प्रस्तुत किए गये ।

इण्डियन नेशनल थियेटर -इसके पूर्व बहुभाषी रंगमंच-इण्डियन नेशनल थियेटर-ने अपनी स्थापना (१९४४ ई०) के बाद अन्य भाषाओं के नाट्य-दलों के साथ एक हिन्दी नाट्य-दल भी तैयार किया, जो यदा-कदा हिन्दी नाटक भी प्रस्तुत करने लगा । थियेटर द्वारा प्रस्तुत 'विटनेस फार दि प्रासीक्यूशन' का हिन्दी-रूपांतर 'मुझे जवाब दो' उसके लोकप्रिय उपस्थापनों में से एक है, जिसके ४-५ प्रयोग हुए । कमलाकर दाते-कृत 'पत्थर का देवता' (१९५९ ई०) थियेटर की एक अन्य प्रस्तुति है ।

थियेटर ग्रुप एवं थियेटर यूनिट—थियेटर ग्रुप ने भी कुछ हिन्दी नाटक प्रस्तुत किये । थियेटर ग्रुप से पृथक होकर इब्राहीम अकलाजी, सत्यदेव दुबे तथा साथियों ने थियेटर यूनिट की स्थापना सन् १९५४ में की । यूनिट मुख्यतः अंग्रेजी के और कभी-कभी हिन्दी के नाटक खेलता रहा है । आधुनिक युग की अव्यावसायिक संस्थाओं में यूनिट का बम्बई के हिन्दी रंगमंच को गति देने में विशेष योगदान रहा है । सर्वप्रथम विजय आनन्द के तीन एकांकी मंचस्थ हुये । उसके अनन्तर कई पूर्णाङ्ग नाटक खेले गये, जिनमें प्रमुख हैं-'सपने' (अल्बेअर कामू, के 'क्रास परपज्' का सत्यदेव दुबे-कृत अनुवाद), डा० धर्मवीर भारती का काव्य-नाटक 'अन्धा युग' (१९६२ ई०), डा० लक्ष्मी नारायणलाल का 'तोता मैना', आद्य रंगाचार्य-कृत 'सुनो जनमेजय' (हिन्दी), मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'आधे अधूरे', 'ज्ञान देव', 'शुतुरमुर्ग' (१९६९ ई०), इब्सन-'प्रेत' (अनु० नेमिचन्द्र जैन, १९६९ ई०), बहिल सरकार का 'एवं इन्द्रजित' आदि । इन सभी नाटकों का निर्देशन सत्यदेव दुबे ने किया है ।

'सपने' का मूलाधार है अस्तित्ववादी दर्शन, जिसके लिये खुले रंगमंच पर प्रतीक रंग-सज्जा का उपयोग किया गया था । दुबे द्वारा एक अन्य रूपान्तर 'सच्चाई क्या है ?' भी प्रस्तुत किया जा चुका है ।

'अन्धा युग' गीति-नाट्य यूनिट के उपस्थापन-कौशल का अन्यतम उदाहरण माना जाता है ।'" तोता-मैना' स्त्री-पुरुष के सनातन संघर्ष की एक लोककथा पर आधारित नौटंकी-शैली का नाटक है । खुले रंगमंच पर प्रतीक सज्जा के साथ इसका अभिनय बड़ा हृदयग्राही रहा । 'सुनो जनमेजय' में निर्देशन के अतिरिक्त सूत्रधार की प्रमुख भूमिका की । इसमें प्रतीक रंग-सज्जा की गयी थी । यूनिट का 'आषाढ़ का एक दिन' निर्देशन की दुर्बलता के कारण अन्य कृतियों की भाँति सफलता न प्राप्त कर सका । सन् १९७२ में यूनिट ने गिरीश करनाड के 'हयवदन' का संगीत नाटक के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें किसी हरचन्द का उपयोग नही किया गया था ।

अन्य संस्थाएँ—इसके अतिरिक्त बम्बई के नाट्य संघ, जुहू आर्ट थियेटर और राजस्थान कला केन्द्र भी हिन्दी में नाटक प्रस्तुत करते रहते हैं । इन संस्थाओं ने गुजरात के नए राज्य के बनने के अवसर पर बड़ौदा में १५ से २४ मई, १९६० के बीच हुए नाट्य-महोत्सव में क्रमशः 'बार्न इस्टर्ड' (गार्सन कानिन के इसी नाम के नाटक का ख्वाजा अहमद अब्बास-कृत रूपांतर), 'षोडशी' (शरद्-'षोडशी का अनुवाद) और सज्जन-कृत 'सयाना' अभिनीत किये । इनका निर्देशन क्रमशः हर्बर्ट मार्शल, सज्जन और बैंज शर्मा ने किया था ।

'बार्न इस्टर्ड' में एक सिद्धांतहीन व्यवसायी द्वारा अपने व्यापार के सम्वर्द्धनार्थ प्रयुक्त अशिक्षित सुन्दरी बेबी अपने गृह-शिक्षक से शिक्षा पाकर अज्ञान और भ्रष्टाचार से मुक्त हो अपने प्रणयी गृह-शिक्षक को भी प्राप्त कर लेती है । 'षोडशी' में सत्-असत् के संघर्ष के बीच एक देवी-तुल्य नारी को अन्ततः एक मानवीया के रूप में चित्रित किया गया है । 'सयाना' में यह सिद्ध किया गया है कि यह आवश्यक नही कि पागल का पुत्र भी पागल

ही हो।

भारतीय विद्या भवन कला केंद्र ने सन् १९५१ से अनन्तर–महाविद्यालय नाटक प्रतियोगिता प्रारम्भ करके गुजराती, मराठी और अंग्रेजी के एकांकी नाटकों के साथ हिन्दी–एकांकियों को भी प्रोत्साहन दिया। प्रथम वर्ष के कुल २८ एकांकियों में १० एकांकी हिन्दी के थे। प्रत्येक वर्ष इस प्रतियोगिता में १२-१३ एकांकी हिन्दी के होते रहे हैं। इसके अतिरिक्त कला केंद्र का अपना भी हिन्दी-दल है, जिससे फिल्म-अभिनेता आई० एस० जौहर पहले सम्बद्ध रहे हैं। आजकल इसके निर्देशक हैं–वी० के० शर्मा। हिन्दी की विजयी टीम को जौहर द्वारा प्रदत्त ट्राफी एक वर्ष के लिये दी जाती है।

इसके अतिरिक्त बम्बई के कुछ स्कूल-कालेज स्वतन्त्र रूप से भी नाटक खेलते रहते हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'अंजो दीदी' ३० जनवरी, १९५४ को सेंट जेवियर्स के छात्रों द्वारा खेला गया था।

अन्य नगरों के रंगमंच—इन अन्तर्प्रान्तीय महानगरियों के अतिरिक्त हिन्दी-क्षेत्र के विभिन्न नगरों में हिन्दी रंगमंच की स्थापना एवं विकास की दिशा में दीर्घ काल से प्रयास कर रहे हैं। इन नगरों में उल्लेखनीय हैं: उत्तर प्रदेश के कानपुर, लखनऊ, वाराणसी, प्रयाग, आगरा, मेरठ तथा गोरखपुर, बिहार के पटना, गया, आरा, तथा बख्तियारपुर, राजस्थान के उदयपुर तथा जयपुर, तथा मध्य प्रदेश के ग्वालियर, भोपाल, जबलपुर और बिलासपुर, शिमला (हिमाचल प्रदेश)।

कानपुर यह हम पहले देख चुके हैं कि कानपुर के रंगमंच की दीर्घकालीन परम्परा सन् १८७६ के अनंतर सदैव अखंडित रूप से चलती रही है। सन् १९४२ के पूर्व पारसी-हिन्दी मंडलियों, नौटंकियों, स्कूल-कालेजों एवं साहित्यकारों की शौकिया परिषदों और दुर्गा-पूजा पर बंगाल क्लब (स्था० १८८७ ई०) के हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन होते रहे हैं। सन् १९४२ में रवीन्द्र परिषद् और सन १९४३ में कानपुर जन-नाट्य संघ की स्थापना हुई, जिन्होंने क्रमशः राष्ट्रीय और मार्क्सवादी विचारधारा के अनुरूप नाटक लिखे-लिखाये और उनका नगर के विविध भागों में प्रदर्शन किया। हिन्दुस्तानी बिरादरी ने नाटककार, नट एवं निर्देशक परिपूर्णानंद की अध्यक्षता में 'नाना फडनवीस', 'सन् सत्तावन की क्रांति', 'वाजिदअलीशाह' आदि उनके कुछ ऐतिहासिक नाटक खेले, जिनमें वे और उनके परिवार की स्त्रियाँ–मीरा, माया, लीला आदि सफल अभिनय कर चुके हैं। कानपुर के एक अन्य नाटककार, नट एवं निर्देशक सिद्धेश्वर अवस्थी ने स्वलिखित गीति-नाट्य एवं छाया-नृत्य स्कूल-कालेजों की छात्र-छात्राओं के सहयोग से समय-समय पर प्रदर्शित कर कुछ नए प्रयोग किए। 'अश्क' के नाटकों को खेलने के भी कुछ छुटपुट प्रयास हुए।

कैलाश क्लब ने सन् १९४९ में पुनः चैतन्य होकर राधेश्याम–'ईश्वर-भक्ति' और 'बेताब', 'कृष्ण-सुदामा' प्रस्तुत किये। इसके अनन्तर द्विजेन्द्र–'चन्द्रगुप्त' (१९५० ई०), देवीप्रसाद धवन-कृत 'चन्द्रशेखर आजाद', 'दिल्ली की रानी उर्फ पृथ्वीराज' (१९५६ ई०) और 'तुलसीदास' (१९५७ ई०), राधेश्याम-कृत 'श्रवणकुमार' (१९२५ ई०) और परिवर्तन, सुदर्शन-कृत 'सिकन्दर' (१९५५ ई०), राधाकृष्णदास-कृत 'राणा प्रताप' (१९५७ ई०) और सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्ण' (१९५८ ई०) मंचस्थ किये गये। सन् १९५९ में गृह-विवाद के कारण नाटकाभिनय पुन. कई वर्षों के लिए स्थगित हो गया।[११४]

इन सभी संस्थाओं ने राष्ट्रीय, सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटक समय-समय पर खेल कर नवीन वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार की, कुछ नवीन विषय दिए, किन्तु रंगशिल्प की दृष्टि से रंगमंच आगे न बढ सका। जन-नाट्य-संघ हिन्दुस्तानी बिरादरी, लिटिल थियेटर तथा चेतना को छोड अन्यत्र प्राय: पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय करते रहे। प्रकाश के लिए पाद-प्रकाश, शीर्ष-प्रकाश आदि से आगे बढ कर कोई नये प्रयोग नहीं किये गये। इस रंगमंच की एक विशेषता यह भी थी कि सामाजिक एवं राष्ट्रीय विचारों के नाटक जहाँ दो बार परदों, दिन-प्रतिदिन की वेश-

भूषा, सामान्य रूप-सज्जा, परम्परागत दीपन आदि के सहारे बहुत कम व्यय में ही मंचस्थ हो जाया करते थे, तो ऐतिहासिक नाटक अपनी भड़कीली वेषभूषा और वस्तुवादी रंगसज्जा के कारण बहुत खर्चीले हुआ करते थे, जिनके लिए नाटककार-निर्देशक को चंदा करके धन एकत्र करना पड़ता था। जन-नाट्य-संघ को छोड़कर इस काल की अधिकांश नाट्य-संस्थाओं के संगठक एवं निर्देशक स्वयं नाटककार ही हुआ करते थे। सामाजिक प्रायः 'पास' अथवा निमन्त्रण के आधार पर नाटक देखने जाया करते थे। विशेष अवसरों पर अथवा विशेष कोषों के सहायतार्थ टिकट भी लगाये जाते थे, जो घर-घर जाकर बेचने पड़ते थे। बंगाली, मराठी या गुजराती सामाजिक की भांति इस काल का हिन्दी सामाजिक गाँठ से पैसा खर्च करके नाटक देखना पसंद नहीं करता था।

सन् १९५७ के आस-पास तक प्रायः अधिकांश नाट्य-संस्थाएँ या तो विघटित हो चुकी थीं अथवा सामाजिकों द्वारा रंगमंच के संरक्षण के अभाव में उनमें शिथिलता आ चुकी थी। चलचित्रों के प्रभाव के कारण सामाजिक रंगमंच के नाटक, रंगशिल्प, अभिनय, सभी में परिवर्तन की अपेक्षा करने लगे। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए दो संगठित प्रयास सामने आये : एक के प्रयोक्ता थे नाटककार विनोद रस्तोगी और दूसरे के प्रयोक्ता थे (अब डॉ०) अज्ञात। इन दो नाटककारों के प्रयास से सन् १९५७ में क्रमशः नूतन कला मंदिर और भारतीय कला मंदिर की स्थापना हुई।

नूतन कला मंदिर—नूतन कला मंदिर द्वारा जीवन और समाज के प्रश्नों पर लिखित रस्तोगी के पाँच एकांकी —'शैतान का दिल', 'खोपड़ी और बम', 'और मुन्ना मर गया', 'इण्टरव्यू' और 'धुएँ की परछाइयाँ' १ अक्टूबर, १९५७ को खेले गए, जिनमें पुरुष पात्रों के साथ दस अभिनेत्रियों ने भी पहले-पहल भाग लिया। इन एकांकियों का निर्देशन ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने किया। सादी रंगसज्जा और स्वाभाविक अभिनय-शैली के कारण यह प्रयोग सफल रहा। मई, १९५८ में कानपुर में हुए उत्तर प्रदेश जन-नाट्य संघ के छठे अधिवेशन में नूतन कला मंदिर को डॉ० रमेश श्रीवास्तव द्वारा निर्देशित कृष्णचन्द्र के 'कुत्ते की मौत' पर सर्वोत्तम उपस्थापन का सम्मान मिला।[१५]

भारतीय कला मंदिर—कानपुर का सामाजिक अब नवीन युग-बोध और समाज में व्याप्त नव-चेतना के प्रति जागरूक हो चुका था, अतः उसकी भूख लघु एकांकियों से नहीं बुझ सकती थी। वह सामाजिक यथार्थ के साथ अकृत्रिम अभिनय, वस्तुवादी रंगसज्जा एवं यथार्थ वातावरण को भी रंगमंच पर देखना चाहता था। फलतः अज्ञात ने १५ सितम्बर, १९५७ को हिन्दी-नाटकों के नये रंग-शिल्प के साथ अभिनय और हिन्दी रंगमंच के उन्नयन एवं विकास तथा परिक्रामी मंच की सुविधा के साथ आधुनिकतम साज-सज्जा से युक्त राष्ट्रीय रंगशाला की स्थापना के उद्देश्य को लेकर भारतीय कला मंदिर की स्थापना की। मंदिर ने २९ दिसम्बर, १९५७ को अज्ञात—कृत 'तूफान, नौका और घाटी' नामक पूर्णाङ्ग सामाजिक नाटक के० ई० एम० हाल, फूलबाग में अभिनीत किया। यह एक पूर्णाङ्ग सामाजिक नाटक था, जिसमें तूफान को पुरुष तथा नौका और घाटी को क्रमशः दो ऐसी नारियों का प्रतीक माना गया है, जिनमें से एक तूफान-रूपी पति के संकेत एवं इच्छा के अनुसार नौका की तरह परवश होकर बहती है और दूसरी घाटी की भाँति तूफान को अंचल में आश्रय देकर शान्त कर देती है। प्रस्तुत नाटक में पुरुष की प्रताड़ना, छल, वासना और विश्वासघात से पीड़ित तीन अबलाओं—बांझ, विधवा माँ तथा कुमारी माँ की करुण, दर्दीली किन्तु एक नये दिशाबोध से समन्वित कही गयी है और अन्ततः तीनों को अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण कारावास-दण्ड भोगना पड़ता है। अन्त में नायक राजेन्द्र अपनी आत्मा की भर्त्सना से प्रताड़ित होकर सद्बुद्धि प्राप्त करता है, किन्तु विलम्ब से। वनदेवी जेल में राजेन्द्र के मिलने आने पर उससे मिलने से इन्कार कर देती है।

इस नाटक में फिल्म 'रामभक्त हनुमान' में सीता का अभिनय करने वाली फिल्म-तारिका शोभा चटर्जी ने जन-नेता वसंत की प्रेयसी विधवा लता की भूमिका में प्राण फूँक दिये। अवैध शिशु के परित्याग के लिये समाज के भय और मातृ-हृदय का द्वन्द्व, शिशु रोदन और अश्रुओं की धारा के रूप में माँ की ममता और उमड़ता हुआ

प्यार जैसे मूर्तिमत हो उठे । राजेन्द्र की पत्नी और परित्यक्ता वनदेवी के रूप मे रेडियो तारिका प्रमोदबाला और कुमारी माँ मालती के रूप मे रग-अभिनेत्री एव नर्तकी रविबाला का अभिनय-कौशल सराहनीय था । रेडियो-तारिका एव रग-अभिनेत्री कृष्णा मिश्रा ने राजेन्द्र की माँ दुर्गा देवी और बाद में राजेन्द्र की नव-परिणीता वासंती की दोहरी भूमिकायें बडी सफलता के साथ की । पुरुष-कलाकारो मे सतीश शर्मा (राजेन्द्र), असित डैनियल्स (वसत) और एस० के० दुबे (आनन्द प्रकाश) की भूमिकाएँ सफल रही । वनदेवी की ननद बालिका कमला के रूप मे बेबी शशि टडन का अभिनय अकृत्रिम एव प्राणवान था ।

उपस्थापन (प्रोडक्शन), विशेष कर, रगसज्जा, रगदीपन और ध्वनि–सकेत की दृष्टि से भी यह प्रयोग कानपुर की एक नवीन उपलब्धि था । इसमे पहली बार अज्ञात के मार्ग दर्शन मे पाँच दृश्यबन्धों के साथ वन के 'कट सीन' और छाया-दृश्य का समायोजन किया गया था और यथार्थ रगोपकरणो के साथ रगदीपन और ध्वनि-सकेत के आधुनिक साधनो का सफल उपयोग किया गया था । नवजात शिशु के रोदन, आँधी के झटके और बिजली की गडगडाहट, नदी के बहने, क्लाक टावर की मधुर घटा-ध्वनि ने वातावरण को अनुप्राणित कर दिया । इसमे शास्त्रीय एव सरल सगीत की धुनो मे बँधे गीतो पार्श्व-सगीत और नृत्य का भी समावेश किया गया था । सगीत-निर्देशन बी० एन० सेन एव रेडियो गायक उस्ताद गुलाम मुस्तफा तथा नृत्य-निर्देशन कु० रविबाला ने किया था । 'मेरा एक सहारा टूट गया', 'पिया मिलन कैसे जाऊँ सखी री !', 'सोजा, सोजा, राजा मुन्ना, सोजा सोजा रे ।' आदि गीतों की धुनें बडी मोहक और कर्णप्रिय थी ।

यह नाटक टिकट मे खेला गया था । टिकट की दरें १), २), ३) और ५) रु० रखी गई थी । सभी अभिनेत्रियो को, जो लखनऊ से आई थी, पारिश्रमिक तथा लखनऊ से आने-जाने का किराया दिया गया था । आर्थिक दृष्टि से सफल न होने पर भी यह प्रयोग रगशिल्प और उपस्थापन की दृष्टि से बहुत सफल रहा ।

इसके अनन्तर प्रह्लाद केशव अत्रे-कृत 'लग्नाची बेडी' के हिन्दी-रूपान्तर 'विवाह का बन्धन' (८ नवम्बर, १९५८), भगवतीचरण वर्मा-कृत 'दो कलाकार' और रामकुमार वर्मा-कृत 'औरगजेब की आखिरी रात' (१७ जनवरी, १९६०) और डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'मादा कैक्टस' (२० नवम्बर, १९६०) नाटक मंचस्थ हुए ।

'विवाह का बन्धन' मे असित डैनियल्स, नरेश, कान्तिकृष्ण वाजपेयी, डी० बी० सत्सगी आदि के अतिरिक्त प्रमोदबाला, रविबाला, शारदा तथा नीलिमा ने प्रमुख भूमिकाएँ की । यह दो दृश्यबन्धो पर खेला गया था और प्रथम बार होटल के दृश्य मे द्विखण्डीय दृश्यबन्ध का उपयोग किया गया था–नीचे होटल का कार्यालय एवं भोजनागार तथा ऊपर रिहायशी कमरे । 'मादा कैक्टस' एक दृश्यबन्ध पर अभिनीत सामाजिक नाटक है, जिसका उद्घाटन कानपुर के तत्कालीन नगर प्रमुख रामरतन गुप्त ने किया था । इसमे हेमलता डैनियल्स, छवि भट्टाचार्य, असित डैनियल्स, नरेन्द्रनाथ सचदेव, सत्सगी, राज भसीन आदि कलाकारो ने सफल भूमिकाएँ की ।

सन् १९६१ तथा १९६२ मे करतारसिंह दुग्गल का वृहत् एकाकी 'दिया बुझ गया' प्रस्तुत किया गया । सन् १९६२ मे इससे हुई आय ३०१) रु० राष्ट्रीय सुरक्षा कोष मे दी गई । देश के लिए पुत्र का बलिदान करने वाली माँ नूरा और देशभक्त अलिया के रूप मे क्रमश श्रीमती कुसुम पाण्डेय तथा कान्तिकृष्ण वाजपेयी के अभिनय जीवन्त थे । यह नाटक एक ही दृश्यबन्ध पर खेला गया था ।

इन नाटको का निर्देशन जे० पी० सक्सेना ने किया था । सन् १९६४ में कातिकृष्ण वाजपेयी-कृत 'कानून' मचन के बाद से यह सस्था प्राय निष्क्रिय है ।

नवयुवक सांस्कृतिक समाज–सन् १९५७ के लगभग स्थापित एक अन्य संस्था–नवयुवक सांस्कृतिक समाज-ने अपने तीन वर्ष के लघु जीवन मे दो नाटक प्रस्तुत किये–'घर' और 'बाबू' (दिसम्बर, १९५८, प्र० के० अत्रे के मराठी नाटक का मुगनी अब्बासी-कृत अनुवाद) । 'बाबू' का निर्देशन मुकुन्दलाल बनर्जी ने किया था और ललित मोहन अवस्थी ने इसमे नायक की भूमिका की थी ।

लोक कला मंच–दिसम्बर, १९५८ में भारतीय नाट्य संघ की अध्यक्षा श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय के कानपुर आगमन पर हुई एक बैठक मे लोक कला मंच (लोकम) की स्थापना हुई।[11] मंच ने ज्ञानप्रकाश अहलूवालिया द्वारा लिखित एवं निर्देशित 'भल्ला दि ग्रेट' सफलता के साथ खेला। आपसी मतभेदों के कारण मंच अगस्त, १९५९ में विघटित हो गया। लोकम के कलाकारों ने अलग होकर यूनाइटेड कल्चरल यूनिट की स्थापना कवि नियाज हैदर की संरक्षकता में की। इस यूनिट ने एच० बी० टी० आई० मे 'भल्ला दि ग्रेट' का एक अंश प्रस्तुत किया।

कला नयन–इसके अनन्तर नगर में दो अन्य नाट्य-संस्थाओं की स्थापना हुई : कला नयन, और पर्फार्मर्स। कला नयन की स्थापना जे० के० परिवार के गोविन्दहरि और श्यामहरि सिंहानिया ने अगस्त, १९५९ मे बी० बी० सी०, लन्दन से सम्बद्ध जितेन्द्र मेहता तथा मंच के कुछ कलाकारों के सहयोग से की। कला नयन ने स्वयं कोई नाटक न प्रस्तुत कर विविध सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया। उसके तत्त्वावधान में भारतीय कला केन्द्र, दिल्ली ने 'रामलीला' (१९५९ ई०), शेक्सपियराना इंटरनेशनल थियेटर कम्पनी ने बी० आई० सी० क्लब में 'सी स्टूप्स टु कांकर' (१० अप्रैल, ६०) और 'पिगमेलियन' (११ अप्रैल, ६०) तथा नाट्य बैले सेंटर, दिल्ली ने कमला क्लब में 'कृष्णलीला' (२९ अक्टूबर से ७ नवम्बर, ६० तक) नृत्य-नाट्य प्रस्तुत किया। कला नयन भारतीय नाट्य संघ से सम्बद्ध है और इसका मुख्य उद्देश्य अपनी रंगशाला बनाना और नाट्य-प्रशिक्षण केन्द्र खोलना रहा है।

पर्फार्मर्स · फिल्म अभिनेता दिलीपकुमार के कानपुर आगमन पर उनकी प्रेरणा से यूनाइटेड कल्चरल यूनिट के कलाकारों (ज्ञानप्रकाश अहलूवालिया तथा मदन चोपड़ा) ने सन् १९५९ मे 'पर्फार्मर्स' की स्थापना की। पर्फार्मर्स ने कई नाटक खेले–अहलूवालिया-कृत 'चक्कर पर चक्कर', 'मिट्टी की गाडी' डॉ० रमेश श्रीवास्तव-कृत 'चीन का चक्कर', मदन चोपड़ा-कृत 'कयामत का चक्कर' तथा 'मँहगाई का चक्कर' आदि। 'चक्कर पर चक्कर' का निर्देशन मदन चोपड़ा ने किया। यह स्पुतनिकों पर एक व्यंग्य था, जिसमें समयानुसार परिवर्तन-परिवर्धन कर मीठी चुटकियों, व्यंग्य और हास्याभिनय द्वारा सामाजिकों को हँसाने का प्रयास किया गया था। यह कानपुर के सामाजिकों के बीच बहुत लोकप्रिय हुआ और इसके अब तक कानपुर में तथा अन्यत्र ५३ प्रयोग हो चुके हैं। 'मिट्टी की गाड़ी' (शूद्रक के 'मृच्छकटिक' का हिन्दी रूपान्तर) अहलूवालिया के निर्देशन में खेला गया। 'चीन का चक्कर' सन् १९६२ में चीनी आक्रमण के समय खेला गया और ५५००) रु० तथा दर्शकों से दानस्वरूप प्राप्त स्वर्ण-आभूषण भी राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में भेजे गये। फरवरी, १९६६ में पाकिस्तानी-आक्रमण से सम्बन्धित अहलूवालिया-कृत 'सीजफायर' बहराइच मे ४–५ फरवरी, १९६६ को खेला गया और १६०००) रु० एकत्र कर राष्ट्रीय सुरक्षा कोष मे दिये गये। 'मँहगाई का चक्कर' सन् १९६७ मे आई० आई० टी० (कल्याणपुर) में खेला गया। इसके अतिरिक्त प्रो० यशपाल-कृत 'पंजाबियों की रामलीला' भी अभिनीत हुआ, जो भाषा-प्रश्न पर एक मीठा व्यंग्य था।

काडा नाट्य भारती–सन् १९५९ में ही कानपुर एकादमी आफ ड्रामेटिक आर्ट्स (काडा) की स्थापना मुहम्मद इब्राहीम नामक एक मुसलमान सज्जन ने की। इब्राहीम ने हिन्दी मे दो सामान्य कोटि के प्रहसन लिखे थे–'अक्लमंदी' और 'मुनीम जी', जो इस संस्था द्वारा मंचस्थ किये गये। लगभग एक वर्ष बाद नाटककार–निर्देशक ज्ञानदेव अग्निहोत्री काडा में सम्मिलित हुए और उनके निर्देशन में विनोद रस्तोगी का 'नये हाथ', रमेश मेहता का 'ढोंग' आदि कई नाटक खेले गये।

काडा के अन्य उल्लेखनीय उपस्थापन हैं–ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'नेफा की एक शाम' (९ फरवरी, १९६४), 'वतन की आबरू', 'शुतुरमुर्ग' (१८ दिसम्बर, १९६५) आदि और 'स्थानिक स्वराज्य' (मराठी नाटककार माधव नारायण जोशी के 'सां० म्युनिसिपालिटी' का प्रमिला गोखले-कृत हिन्दी अनुवाद)। इन नाटकों का निर्देशन ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने किया।

'नेफा की एक शाम' चीन-भारत युद्ध तथा 'वतन की आबरू' भारत-पाकिस्तान युद्ध की पृष्ठभूमि पर आधारित है। दोनों एक दृश्यबन्धीय नाटक हैं। 'नेफा की एक शाम' ज्ञानदेव का एक लोकप्रिय नाटक है, जो सर्वप्रथम 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था और अब तक बँगला, मराठी, गुजराती तथा अँग्रेजी भाषाओं में अनूदित हो चुका है। इसमें ज्ञानदेव ने नायक नीमों की और रीटा रोहतगी ने नीमों की गूँगी चीनी प्रेमिका सुहाली की सफल भूमिकाएँ कीं। सन् १९६६ में केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय ने इस नाटक पर एक सहस्र रुपये का पुरस्कार दिया। मंत्रालय के गीत एवं नाटक प्रभाग के निर्देशक कर्नल एच० ए० गुहे के निर्देशन में दिल्ली तथा देश के विभिन्न नगरों में इस नाटक के लगभग १५०० प्रदर्शन हो चुके हैं। इसे महाराष्ट्र राज्य नाट्य प्रतियोगिता तथा उत्तर प्रदेश के राज्य नाट्य समारोह में प्रस्तुतीकरण के प्रथम पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।

'वतन की आबरू' के कानपुर तथा लखनऊ में सात-आठ प्रदर्शन हुए। नाटक की नायिका परामीना प्यार के सपनों में डूबी एक शर्मीली प्रेमिका है, किन्तु देश का काम पड़ने पर यह वीर बाला अपने प्रियतम, किन्तु देश-द्रोही महबूब को अपने हाथों गोली मारने से नहीं चूकती। वह अपनी सूझ-बूझ से पाकिस्तान की एक पूरी बटालियन का सफाया करा देती और दूसरी ओर अपने प्राण देकर अपनी छोटी बहन ऐशया के प्राणों की रक्षा करती है।

'शुतुरमुर्ग' ज्ञानदेव का एकाकदृश्यीय नाटक है, जिस पर सन् १९७० में उ० प्र० सरकार ने प्रसाद पुरस्कार दिया। यह आज की राजनैतिक अव्यवस्था, संवेदनाहीन तटस्थता और भ्रष्टाचार, कागजी योजना और दुर्दम प्रचार, अपर्याप्त रक्षा-व्यवस्था और राष्ट्रीय कुंठा तथा समस्याओं के नकली समाधान पर एक सटीक व्यंग्य है, जिसे शुतुरमुर्ग के उपासक शुतुरनगरी के राजा के माध्यम से ज्ञानदेव ने बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। इस नाटक के प्रस्तुतीकरण में ज्ञानदेव ने यथार्थवादी एवं रीतिबद्ध दोनों शैलियों को अपनाया। रीतिबद्ध शैली को केवल वहीं ग्रहण किया गया, जहाँ वह नाटकीय सम्प्रेषण के लिये आवश्यक था। लहरदार मंच पर एक कुर्सी के प्रतीक द्वारा सिंहासन और रामप्रसाद का बोध कराने में 'स्पाट लाइट' के प्रयोग ने अद्भुत योग दिया। पृष्ठभूमि में केवल एक काला परदा लगाया गया था। नायक (राजा और सूत्रधार) तथा रानी की भूमिकाएँ क्रमशः ज्ञानदेव अग्निहोत्री तथा अंजलि मित्तर ने कीं। सन् १९६८ में हिन्दी रंगमंच शताब्दी समारोह के अवसर पर इसे पुन. कानपुर के मर्चेन्ट्स चैम्बर हाल में मंचस्थ किया गया। शुतुरमुर्ग' ज्ञानदेव की एक प्रौढ़ कृति है, जिसे नाट्य, रंग-शिल्प और प्रस्तुति की दृष्टि से एक सुन्दर प्रयोग कहा जा सकता है।

इस नाटक के अनामिका, कलकत्ता के निर्देशक श्यामानन्द जालान, थियेटर यूनिट, बम्बई के निर्देशक सत्यदेव दुबे तथा दिल्ली के निर्देशक मोहन महर्षि ने कलकत्ते, दिल्ली, बम्बई तथा जयपुर में अपने-अपने ढंग से कई बार प्रयोग किये है। इस नाटक के लखनऊ, इलाहाबाद आदि अन्य कई नगरों में भी प्रदर्शन हो चुके हैं।

काडा ने कुछ वर्ष पूर्व अपना नाम परिवर्तित कर हिन्दी में 'नाट्य-भारती' रख लिया है और अब यह नाट्य-भारती के ध्वज से ही नाटक प्रस्तुत करता है। इस ध्वज के अन्तर्गत डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'मादा कैक्टस' (३-४ मई, १९६६) तथा आचार्य अत्रे-कृत 'मैं वह नहीं हूँ' (१९६८ ई०, मराठी नाटक 'तो मी नव्हेच' का डॉ० प्रमिला गोखले-कृत हिन्दी रूपान्तर) अभिनीत किये गये। इस नाटक के आठ प्रयोग हो चुके हैं।

नाट्य भारती को उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ द्वारा आयोजित प्रथम तथा द्वितीय अन्तर-जिला नाटक प्रतियोगिताओं में क्रमशः ज्ञानदेव 'अनुष्ठान' (१९७२ ई०) तथा अत्रे 'मैं वह नहीं हूँ' (१९७३ ई०) पर प्रथम तथा द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुए।

दि ऐम्वेसडर्स (दर्पण)—कानपुर की एक अन्य प्रमुख नाट्य-संस्था दि ऐम्वेसडर्स का उद्घाटन १५ जनवरी, १९६१ को रामगोपाल गुप्त, संसद्-सदस्य द्वारा हुआ। इस अवसर पर दो एकांकी प्रस्तुत किये गये—'नई समस्या'

वेद प्रोडक्शन्स, मद्रास द्वारा मंचस्थ डॉ० अज्ञात-कृत 'वह देश जहाँ भूख नहीं है' (जून, १९६७) में शांति (श्रीमती पी० कैम्फर), कुसुम (रीता कैम्फर), सुखनंदी मुनीम (डॉ० बी० सतसंगी) तथा नौकर रमैया (नरेन्द्र सचदेव)

नाट्य भारती, कानपुर द्वारा मंचित ज्ञानदेव अग्निहोत्री-कृत 'शुतुर-मुर्ग' (१९६५ ई०) में रानी (अंजलि मित्तर) तथा राजा (ज्ञानदेव अग्निहोत्री)
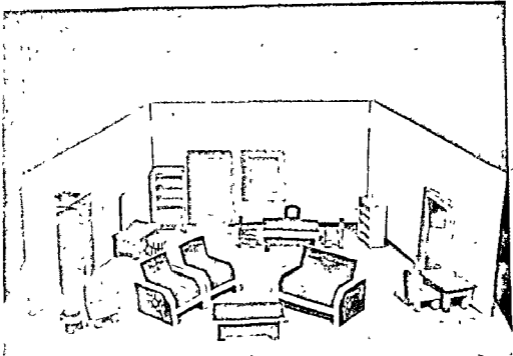
दर्पण, कानपुर द्वारा आयोजित रंगसज्जा एवं परिधान-रचना प्रशिक्षण पाठ्यक्रम (१९७० ई०)
ऊपर : मोहन राकेश-कृत 'आधे अधूरे' के दृश्यबंध का मॉडेल तथा
नीचे : राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के तत्कालीन निदेशक ई० अल्काज़ी रेखाचित्र
द्वारा 'आधे अधूरे' के कथा-विकास की व्याख्या करते हुए
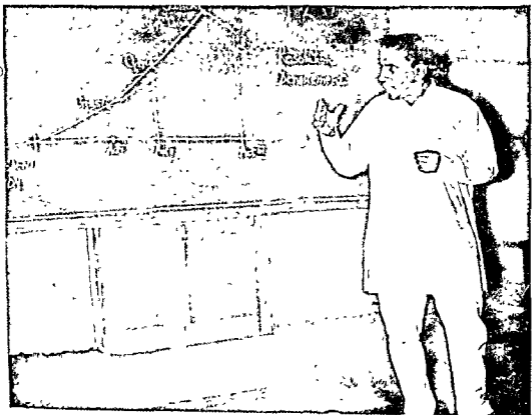
दर्पण, कानपुर द्वारा मंचस्थ
ऊपर : रमेश मेहता-कृत 'पैसा बोलता है' में पाँचू
(सुरेन्द्र तिवारी) तथा तारा (रीना कर) तथा
नीचे : 'फोक्सीज-ऐंटिगनी' में क्रियान (राकेश वर्मा)
तथा ऐंटिगनी (वर्षा महाजन)

(दर्पण, कानपुर के सौजन्य से)

इंडियन आर्टिस्ट्स एसोसिएशन, कलकत्ता द्वारा १९३६ ई० में एलिफस्टन पिक्चर पैलेस, पटना में प्रस्तुत डॉ० जिया निजामी-कृत 'नल दमयन्ती' का भित्ति-पत्रक (आकार ११ × १८ इंच)

(प्रेमशंकर 'नरसी' के सौजन्य से)

और करतारसिंह दुग्गल-कृत 'दिया बुझ गया'। इनमें प्रथम का निर्देशन बी० एन० सेठ और दूसरे का प्रो० यशपाल ने किया था। इसके अनन्तर कृष्णचन्दर के ध्वनि-एकांकी 'सराय के बाहर' पर आधारित 'जाड़े की एक रात' बी० एन० सेठ के निर्देशन मे जून, १९६२ मे खेला गया, जिनमे भास्कर, बन्धु, भूषण, पारो आदि कलाकारो ने भाग लिया। एकाकी के दृश्यबध सिद्धेश्वर अवस्थी ने तैयार किये थे।

कला नमन की भाँति दि ऐम्बेसडर्स के तत्वावधान मे भी सगीत-नृत्य के कुछ कार्यक्रम समय-समय पर आयोजित किये गये। इस संस्था द्वारा 'अव्यावसायिक रगमच की समस्या' तथा 'भारत का लोकमंच' विषयों पर द्वि-दिवसीय विचार-गोष्ठी का आयोजन ११-१२ अगस्त, १९६२ को स्थानीय बी० आई० सी० क्लब में किया गया। इसमे डॉ० सुरेश अवस्थी ने 'भारत मे लोकनाट्य का पुनरुद्धार', मोहनचन्द्र उप्रेती ने 'समसामयिक भारतीय मच पर लोकनाट्य और उसकी भूमिका', बी० एन० सेठ तथा डॉ० श्यामनारायण पाडेय ने 'अव्यावसायिक रगमच की समस्याएँ', ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने निर्देशन, शभुनाथ शर्मा ने नौटकी आदि विषयों पर अपने सारगर्भित लेख पढ़े। इस अवसर पर शभुनाथ शर्मा के निर्देशन मे रामनारायण लाल-कृत 'माधवानल-कामकंदला' नौटंकी भी सफलता के साथ प्रस्तुत की गई। इसमे स्वय शभुनाथ शर्मा ने माधवानल, श्रीमती एम० सिंह ने कामकदला, कपूरचद गुप्त ने विक्रम और रमाकात दीक्षित ने बैताल तथा रगा की भूमिकाएँ की।

ऐम्बेसडर्स का प्रथम पूर्णांग उपस्थापन था—के० बी० चन्द्रा का 'सरहद' (१४ अक्टूबर, १९६२), जिसका निर्देशन बी० एन० सेठ ने किया। दृश्यबन्ध सिद्धेश्वर अवस्थी द्वारा तैयार किये गये थे, जो बड़े सजीव थे। इसमे गगनिका का प्रयोग कर मदक (डिमर) द्वारा दिन-रात आदि, चिड़ियो की चहचहाहट, मुर्गे की बाँग, गोली-वर्षा एवं युद्ध के प्रभावी दृश्य प्रस्तुत किये गये थे। इसमे भास्कर दत्त (पठान), कु० रजना फसालकर (नूरी), बालेश्वर शर्मा (शराफत), श्रीमती कल्पना कापसी (सलीमा) आदि की भूमिकाएँ प्रभावी रही। इसके अनन्तर ज्ञानदेव अग्निहोत्री के निर्देशन में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'दर्पण' प्रस्तुत किया गया।

सन् १९६२ की विचार-गोष्ठी की सफलता से उत्साहित होकर कला नमन के सस्थापक स्व० श्यामहरि सिंहानिया की स्मृति मे २८ फरवरी से ३ मार्च, १९६६ तक आयोजित चार-दिवसीय अखिल भारतीय नाट्य-महोत्सव के अवसर पर ऐम्बेसडर्स ने द्विदिवसीय विचार-गोष्ठी का भी आयोजन किया।

नाट्य-महोत्सव मे थियेटर यूनिट, बम्बई, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, थ्री आर्ट्स क्लब, दिल्ली और स्वयं ऐम्बेसडर्स ने भाग लिया, किन्तु दुर्भाग्यवश हिन्दी रंगमंच की मर्यादा के अनुरूप एक भी मौलिक नाटक मंचस्थ न हो सका। थियेटर यूनिट का 'सुनो जनमेजय' बम्बई के कुशल नाट्य-निर्देशक सत्यदेव दुबे के निर्देशन मे प्रस्तुत हुआ, जो आद्य रगाचार्य के कन्नड नाटक का हिन्दी अनुवाद है। यह एक प्रतीक नाटक है, जिसके विशेष आकर्षण थे—उसके सुन्दर दृश्यबध एव रंग-दीपन। सभी कलाकारो का अभिनय सतुलित होते हुए भी नेताजी के रूप मे सत्यदेव दुबे की भूमिका अत्याभिनय (ओवर-ऐक्टिंग) और सम्भाषण की द्रुत गति के कारण प्रभावी न बन सकी। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निर्देशक इब्राहीम अल्काजी के सहज निर्देशन मे विद्यालय के छात्रो द्वारा अभिनीत 'कंजूस' भी मोलियर के प्रहसन 'दि माइजर' का हिन्दी रूपान्तर था। अभिनय, दृश्यबन्ध, रगदीपन सभी बहुत आकर्षक थे, जिससे सामाजिक अन्त तक मंत्रमुग्ध बने रहे। थ्री आर्ट्स क्लब का 'पैसा बोलता है' (शंभु मित्र तथा अमित मैत्र के बँगला नाटक 'कांचनरंग' का हिन्दी-रूपान्तर) रमेश मेहता के निर्देशन मे तीसरी रात को प्रस्तुत किया गया। नाटक अपनी रोचकता, व्यग्य और हास्य के कारण बहुत सफल रहा। ऐम्बेसडर्स द्वारा खेले जाने वाला 'आजर का ख्वाब' कुछ कारणों से इस अवसर पर मंचित नही किया जा सका।

हिन्दी रगमच की समस्याओं और संभावनाओं को लेकर आयोजित विचार-गोष्ठी मे हिन्दी के प्रमुख नाट्यालोचकों, निर्देशकों, शिक्षाविदों एव नाटककारो ने भाग लिया, जिसने देश के सभी नाट्यानुरागियों का ध्यान

अपनी ओर आकृष्ट किया। पहली मार्च को विचार-गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए 'धर्मयुग' के सम्पादक, कथाकार एवं नाटककार धर्मवीर भारती ने हिन्दी रंगमंच के उज्ज्वल भविष्य में आस्था प्रकट की और कहा कि रंगकर्मियों को आत्म-विश्वास, लगन और बौद्धिक ईमानदारी के साथ काम करना चाहिये। भारती ने रंग-नाटकों के अभाव के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि हिन्दी में रंग-नाटकों की अपेक्षा पाठ्य नाटक अधिक लिखे जा रहे हैं। प्रथम दिन गोष्ठी की अध्यक्षता राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निर्देशक इब्राहीम अल्काजी ने और दूसरे दिन संगीत नाटक अकादमी के सचिव डॉ० सुरेश अवस्थी ने की। गोष्ठी में अन्य भाग लेने वालों में प्रमुख थे—नेमिचंद्र जैन, सत्यदेव दुबे, आर० एम० कौल, सुरेन्द्र तिवारी, रणवीर सिंह, ज्ञानदेव अग्निहोत्री तथा सिद्धेश्वर अवस्थी।

गोष्ठी में इस बात पर मतैक्य रहा कि हिन्दी में रंग-नाटक कम लिखे जा रहे हैं, हिन्दी-नाटकों की संस्कृत-निष्ठ भाषा से रंगमंचीय यथार्थ की हानि होती है, हिन्दी रंगमंच पर निर्देशकों एवं उपस्थापकों की अँग्रेजी-भक्ति से हिन्दी रंगमंच का विकास अवरुद्ध हुआ है, हिन्दी में पेशेवर रंगकर्मियों की कमी है, स्थानीय निकायों को नाटक एवं रंगमंच के विकास की दिशा में सक्रिय होकर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए, हिन्दी रंगमंच के विकास के लिये सदैव सरकार का मुँह नहीं ताकना चाहिए तथा रंगकर्मियों को दूसरों की सम्पत्ति पर आश्रित न रह कर आस्था और संकल्प के साथ कार्य करना चाहिये। इन निष्कर्षों की पूर्ति की दिशा में नाटककार, उपस्थापक (प्रोड्यूसर) निर्देशक तथा सभी रंगकर्मियों को दृढ़ता से आगे कदम उठाना होगा। किसी भी प्रयोग की सफलता और हिन्दी रंगमंच के विकास और साकारत्व के लिये इन सभी का परस्पर सहयोग समीकरण एवं समन्वय आवश्यक है।

ऐम्बेसडर्स ने अपना 'आजर का ख्वाब', जो नाट्य-महोत्सव के अवसर पर नहीं खेला जा सका था, २० मार्च, १९६६ को बी० आई० सी० क्लब में प्रस्तुत किया। यह बर्नार्ड-शा के 'पिगमेलियन' का बेगम कुदेसिया जैदी-कृत उर्दू-रूपान्तर है। इसका उद्घाटन अमेरिकन कल्चर सेंटर, लखनऊ के निर्देशक श्री क्रिस्टोफर स्नो ने किया था। आजर, हज्जो फलवाली तथा हज्जो के बाप के रूप में क्रमशः जितेन्द्र मेहता, सुधा त्यागी और सुरेन्द्र तिवारी की भूमिकाएँ बड़ी स्वाभाविक रहीं। निर्देशन रंग-तारिका श्रीमती शमीम मित्तल ने किया।

अक्टूबर, १९६७ में ऐम्बेसडर्स ने अपने हिन्दी नामकरण 'दर्पण' के अन्तर्गत 'ऐंटिगनी' (यूनानी नाटककार सोफोक्लीज के नाटक के फ्रांसीसी अनुवाद का वसी खाँ द्वारा उर्दू-रूपान्तर) के० के० नैयर के निर्देशन में सफलता के साथ मंचस्थ किया। इसके पूर्व २५ अप्रैल, १९६७ को भारत भूषण के निर्देशन में सोफोक्लीज-कृत 'राजा ईडिपस' प्रस्तुत किया गया था।

गाँधी शताब्दी के अवसर पर ५ अक्टूबर, १९६९ को डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'मि० अभिमन्यु' का प्रदर्शन मर्चेन्ट्स चेम्बर हाल में किया गया। नाटक का नायक मि० अभिमन्यु उस नौकरशाही का प्रतीक है, जो राजनैतिक शोषण और बेईमानी के चक्रव्यूह में फँस कर अपनी आत्महत्या कर लेता है—शारीरिक नहीं, आत्मिक।

सन् १९७० में 'ऐंटिगनी' के कई प्रयोग कानपुर, कलकत्ता और लखनऊ में किये गये। इसी वर्ष मार्च में दर्पण ने रंगसज्जा एवं परिधान-रचना के प्रशिक्षण के लिये दस दिवसीय प्रशिक्षण पाठ्यक्रम का आयोजन किया, जिसमें १३ प्रशिक्षार्थियों ने भाग लिया, जिनमें चार महिलाएँ थीं। प्रशिक्षण पाठ्यक्रम का उद्घाटन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निर्देशक ई० अल्काजी ने किया। इस प्रशिक्षण का संचालन विद्यालय के रंगसज्जा विभाग के अध्यक्ष गोवर्धन पांचाल तथा परिधानकार श्रीमती रोशन अल्काजी ने किया।

दर्पण ने सन् १९७१ में विजय तेंदुलकर-कृत 'खामोश अदालत जारी है' सन् १९७२ में विनायक पुरोहित कृत 'स्टीलफ्रेम' तथा गिरीश कारनाड-कृत 'हयवदन', तथा सन् १९७३ में बादल सरकार-कृत 'एवं इंद्रजित' का मंचन किया।

उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित प्रथम तथा द्वितीय अन्तर-जिला नाटक प्रतियोगिताओं में

दर्पण को 'खामोश अदालत जारी है' (१९७२ ई०) तथा 'एवं इंद्रजित' (१९७३ ई०) पर क्रमशः द्वितीय तथा प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुए।

कंकार्ड-ऐम्बेसडर्स के अतिरिक्त कानपुर की एक अन्य नई सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था कंकार्ड ने 'रंगाभिनय की आधुनिक प्रवृत्तियाँ' विषय पर २७ फरवरी, १९६६ को एक परिचर्चा (सिम्पोजियम) का आयोजन किया, जिसमें अन्य वक्ताओं के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के चलचित्र प्रभाग के कृष्णसिंह ने अपने विचार व्यक्त किये। आचार्य नरेन्द्र देव महिला डिग्री कालेज, कानपुर की प्रिंसिपल श्रीमती हेमलता स्वरूप ने परिचर्चा की अध्यक्षता की।

फोनोविजन्स (रंगवाणी) कानपुर की अँग्रेजी नामधारी नाट्य-संस्थाओं की कड़ी के समाप्त होने के पूर्व ही सन् १९६६ के उत्तरार्ध में भारतीय कला मन्दिर के कलाकार असित डैनियल्स ने कुछ नये-पुराने कलाकारों के सहयोग से 'फोनोविजन्स' की स्थापना की। फोनोविजन्स का उद्घाटन १७ नवम्बर, १९६६ को इंडियन मेडिकल एसोसिएशन हाल में दो एकांकियों-विष्णु प्रभाकर के 'सवेरा' तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' के नाट्य-रूपान्तर से हुआ। 'सवेरा' में सुशील निगम की युवा मनोवैज्ञानिक की तथा 'उसने कहा था' में राजभसीन और सुकुमार विश्वास की क्रमशः लहनासिंह और बोधासिंह की भूमिकाएँ उल्लेखनीय रहीं। 'सवेरा' में आत्महत्या के लिये उद्यत युवती के रूप में कु० विचित्रा सिंह ने सफल अभिनय किया। 'उसने कहा था' की कथा 'फ्लैश बैक' प्रणाली पर कही गई है। युद्ध-भूमि में तोपों की गड़गड़ाहट, तूफानी गर्जन और हवा के बहने आदि की ध्वनियाँ उत्पन्न करने में रंग-शिल्पी असित डैनियल्स ने अच्छे कौशल का परिचय दिया।

फोनोविजन्स का प्रथम पूर्णांग नाटक था-'मि० डायरेक्टर', जो बँगला नाटककार धनंजय वैरागी के किसी नाटक का हिन्दी-रूपान्तर बताया जाता है, किन्तु इसके नाम की प्रेरणा डा० अज्ञात के अप्रकाशित नाटक 'मि० डायरेक्टर' से और कुछ संवाद भी उसी से लिये गये थे।

इसके अनन्तर १४ मई, १९६७ को 'तीन फरिश्ते' (फ्रांसीसी नाटककार आल्बेर्त सो-कृत 'ला-कुइजे दे जांजे' का ललित सहगल और श्यामलाल शर्मा कृत हिन्दी-रूपांतर) तथा १३ अगस्त, १९६७ को मोहन राकेश-कृत 'आषाढ़ का एक दिन' सफलता के साथ प्रस्तुत किये गये। 'तीन फरिश्ते' का निर्देशन राज भसीन ने और 'आषाढ़ का एक दिन' का श्रीमती पी० कैम्फर ने किया। ये दोनों नाटक संस्था के नये हिन्दी नाम 'रंगवाणी' के ध्वज के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये। 'रंगवाणी' नाम डॉ० अज्ञात के सुझाव पर रखा गया था। इसी के अनुकरण पर कानपुर की कुछ अन्य अँग्रेजी नामधारी नाट्य-संस्थाओं ने भी हिन्दी-नाम धारण किये, जिनमें ऐम्बेसडर्स प्रमुख है, जो बाद में 'दर्पण' के नाम से सामने आया।

'तीन फरिश्ते' में जॉन डेविड, रोजी, जगन्नाथ और करतारसिंह के रूप में क्रमशः रवीन्द्र मेहरोत्रा, श्रीमती तृप्ता अरोड़ा, असित डैनियल्स और राज भसीन के अभिनय अच्छे रहे। नाटक में पृष्ठभूमि-संगीत के रूप में पश्चिमी धुनों के सहारे भावोद्वेग और परिस्थितियों को अंकित करने का प्रयास किया गया था, किन्तु इस दिशा में चलचित्र का अंधानुकरण रंगमंच के भविष्य के लिये श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। नाटक का दुमंजिला दृश्यबंध बहुत सुन्दर और आकर्षक था। इसे कानपुर के हिन्दी रंगमंच के इतिहास में दूसरा साहसिक प्रयोग कहा जा सकता है इसके पूर्व भारतीय कला मंदिर द्विखंडीय मंच का प्रयोग 'विवाह के बन्धन' में सन् १९५८ में ही कर चुका था रंगदीपन अवसरानुकूल था।

'आषाढ़ का एक दिन' रंगवाणी का अन्तिम नाटक था। असित डैनियल्स ने कालिदास, रीटा कैम्फर ने मल्लिका, कांतिकृष्ण वाजपेयी ने विलोम, प्रमोदबाला ने अम्बिका तथा भगवतीप्रसाद आर्य ने विलोम की सफल भूमिकाएँ कीं। इसके अनन्तर कुछ काल तक यह संस्था मौन पड़ी रही, जिसका राज भसीन के प्रयास से कुछ वर्ष बाद पुनर्जन्म हुआ। पुनर्गठित रंगवाणी ने भी कुछ नाटक प्रस्तुत किये।

वेद प्रोडक्शन्स सन् १९६७ में (डॉ०) अज्ञात के प्रयास से एक नई नाट्य-संस्था का जन्म हुआ, जिसका नाम था—वेद प्रोडक्शन्स, मद्रास। चलचित्र-निर्माण एवं रंग-नाटकों के प्रदर्शन के युगल उद्देश्यों को लेकर उपस्थापक वेद प्रकाश गुप्त ने उत्तर प्रदेश, मुख्यतः कानपुर के नाटककारों और कलाकारों को लेकर प्रोडक्शन्स के कार्यालय की स्थापना १११/३३०, अशोकनगर, कानपुर में की और सर्वप्रथम प्रयोग के रूप में अज्ञात, एम० ए० (अब डॉ० अज्ञात) के सामाजिक नाटक 'वह देश जहाँ भूख नहीं है' का ११ जून, १९६७ को गणेशशंकर विद्यार्थी स्मारक मेडिकल कालेज प्रेक्षागार में आरंभण किया। नाटक में नौकरी, मकान, गरीबी तथा भूख की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में देश में छाये हुए अकाल, नित्य बढ़ती हुई महँगाई, जखीरेबाजी और काला बाजार के विरुद्ध एक जोरदार आवाज सशक्त और मर्मस्पर्शी संवादों, हास्य और चुटीले व्यंग्यों के साथ उठाई गई है। नाटक के द्वारा उस भावी क्रान्ति की ओर संकेत किया गया है, जो आज एक नवीन समाज-व्यवस्था, विशृंखल होते हुए देश के एकीकरण और पुनर्निर्माण के लिए अनिवार्य है।

'वह देश जहाँ भूख नहीं है' वेद प्रोडक्शन्स का प्रथम और अन्तिम, किन्तु एक युग-सापेक्ष्य, साहसपूर्ण प्रयोग था। यह दो दृश्यबन्धों पर खेला गया था। मुनीम सुखनन्दी के मकान के बरामदे और सेठ रामकिशन की कोठी के दृश्यबंध भव्य न होते हुए भी सामान्यतः अच्छे थे। यवनिका, रंग-दीपन और ध्वनि-संकेतों से वातावरण मुखरित हो उठा था।

सुखनन्दी मुनीम, सेठ रामकिशन और सेठ के पुत्र चन्द्रकिशोर की भूमिकाएँ क्रमशः भारतीय कला मंदिर के मँजे हुए पुराने कलाकार डी० बी० सक्सेना, एस० आर० सविता और कान्तिकृष्ण वाजपेयी ने की। मुनीम-पत्नी शान्ति और पुत्री कुसुम के रूप में श्रीमती पी० कैम्फर तथा कु० रीटा कैम्फर के अभिनय अच्छे रहे। हास्य-अभिनेता नरेन्द्र सचदेव (मद्रासी नौकर रमैया) तथा आर्य 'जल्लाद' (मकान मालिक नारायणसिंह) ने अपने शिष्ट और अकृत्रिम हास्य से न केवल सामाजिकों के हृदय को गुदगुदाया, उन्हें मुग्ध भी कर दिया। सैनिक वेश-भूषा में 'एक-दो-तीन-चार, सैनिको होशियार।' गाते हुए बाल-कलाकार दिलीप ने अच्छा अभिनय किया। निर्देशन जे० पी० सक्सेना ने किया।

नाटक के तत्काल बाद ही उपस्थापक और कलाकारों के आन्तरिक विग्रह के कारण वेद प्रोडक्शन्स भंग हो गया।

प्रतिध्वनि—आठवें दशक के अन्त में कानपुर में दो नयी संस्थाओं का जन्म हुआ—प्रतिध्वनि (१९६९ ई०) तथा नाटिका (१९७० ई०)।

प्रतिध्वनि ने अपने तरुण नाटककार-निर्देशक सुशीलकुमार सिंह के तीन नाटक मंचस्थ किये—'बापू की हत्या हजारवीं बार' (१९६९ ई०), 'सूरज जन्मा धरती पर' (१९६९ ई०) तथा 'अँधेरे के राही' (१९७० ई०)। इसके अतिरिक्त प्रतिध्वनि ने सुशीलकुमार के तीन एकांकी—'भारत, महान भारत', 'पत्नी-पुत्र निरोधक संस्था' तथा 'इंशा अल्लाह, फतह हमारी होगी' भी समय-समय पर प्रदर्शित किये।

जुलाई, १९७३ में सतोषनारायण नौटियाल-कृत 'एक मशीन जवानी की' मर्चेन्ट्स चैम्बर प्रेक्षागार में प्रस्तुत किया गया।

नाटिका—नाटिका ने ओ० रतनपाल के निर्देशन में राजेन्द्रकुमार शर्मा-कृत 'अपनी कमाई' (१९७० ई०), रमेश मेहता-कृत 'अण्डर सेक्रेटरी' (१९७१ ई०) तथा रामकुमार 'भ्रमर-कृत 'खून की आवाज' (१९७२ ई०) नाटक मंचस्थ किये। इसके अतिरिक्त यह नाट्य-संस्था राजेन्द्र शर्मा के 'अफसर', 'परदा उठने से पहले' (१९७१ ई०), 'अटैची केस', एक दिन की छुट्टी, 'नया मोड़', 'दाल में काला' आदि कई एकांकी भी अभिनीत कर चुकी है।

अतिथि संस्थाएँ—कानपुर-रंगमंच के इतिहास में उन नाट्य-संस्थाओं का उल्लेख भी आवश्यक है, जो बाहर

से आकर समय-समय पर नाटक या नृत्य-नाट्य प्रदर्शित करती रही हैं। इनमे से प्रमुख हैं–राष्ट्रीय नाट्य परिषद्, लखनऊ, सचीन शंकर बैले यूनिट, बम्बई, नवकला निकेतन, लखनऊ, गीत एवं नाटक प्रभाग, नई दिल्ली का वैभागिक नाट्य-दल अथवा उक्त प्रभाग द्वारा सरक्षित नाट्य-दल, अनामिका, कलकत्ता आदि।

राष्ट्रीय नाट्य परिषद् ने शिवसिंह 'सरोज'-कृत 'लवकुश' २२ मई, १९६० को, सचीन शंकर बैले यूनिट (सस्थापित १९५३ ई०) ने नरेन्द्र शर्मा की कथा पर आधारित नृत्य-नाट्य 'माहीगीर' और 'जलपरी' २ से ५ फरवरी, १९६२ तक तथा नवकला निकेतन ने के० बी० चन्द्रा-कृत 'सूखी डार फूली लतार' ८ और ९ जून, १९६३ को प्रदर्शित किया। गीत एवं नाटक प्रभाग के वैभागिक नाट्य दल ने कई बार आकर वीरेन्द्र नारायण-कृत 'धर्मशाला', 'आराम' (मराठी नाटक 'हे ही दिवस जातील' का गोविन्द वल्लभ पन्त-कृत हिन्दी-रूपान्तर), गोविन्द वल्लभ पंत कृत 'सोना ! सोन ! सोना !', ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' आदि 'पूर्णांग नाटक गत कुछ वर्षों के भीतर आरंगित किये। अभिनय, दृश्यबन्ध, रंगदीपन और ध्वनि-सकेत सभी दृष्टियों से ये उपस्थापन उच्च कोटि के रहे हैं।

अनामिका ने कानपुर मे दो नाटक प्रदर्शित किये–पिरांडेलो-कृत 'मन माने की बात' (डॉ० प्रतिभा अग्रवाल-कृत हिन्दी-रूपान्तर) तथा बादल 'एव इन्द्रजित'। प्रथम नाटक की निर्देशिका श्री डॉ० प्रतिभा अग्रवाल और दूसरे के निर्देशक थे श्यामानन्द जालान। बम्बई के अमित शाह के नाट्यदल ने कानपुर में 'कदम-कदम बढाये जा' (१९६८ ई०) तथा 'जब हम न होंगे' (१९६९ ई०) प्रदर्शित किये। सन् १९७० मे बम्बई के प्रख्यात कलाकार एवं निर्देशक सोहराब मोदी के दल ने 'सुबह का भूला' परिक्रामी मच पर प्रस्तुत किया।

कानपुर मे समय-समय पर होने वाले नाटको, नृत्य-नाटको तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमो के बावजूद मेडिकल कालेज प्रेक्षागार, किंग एडवर्ड स्मारक सभागार, रेलवे इस्टीट्यूट सभागार, मर्चेन्ट्स चैम्बर हाल तथा कुछ अन्य छोटे-मोटे सभागारो के अतिरिक्त कोई सर्वाङ्गपूर्ण रंगशाला नही है, जो उचित किराए पर उपलब्ध हो और जहाँ नियमित रूप से रंग-नाटक प्रदर्शित किये जा सकें। इस अभाव की पूर्ति के लिये भारतीय कला मंदिर, कला नयन आदि जैसी संस्थाओ ने रंगशाला-निर्माण के लक्ष्य को सामने रख कर एक आन्दोलन का प्रवर्तन किया। फलतः रवीन्द्र शताब्दी के अवसर पर कानपुर मे भी एक रवीन्द्र रगशाला बनाने का निर्णय किया गया और उसका शिलान्यास ३० अप्रैल, १९६२ को मोतीझील पर नगरमहापालिका भवन के पार्श्व में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री चन्द्रभान गुप्त द्वारा किया गया, किन्तु बाद मे अनेक राजनैतिक उथल-पुथलो के बीच यह योजना परित्यक्त कर दी गई।

इन नाट्य-सस्थाओं ने कानपुर के जीवन मे न केवल सतत् रस-धारा एवं सांस्कृतिक चेतना प्रवर्तित की, अपितु विश्वनाथ 'विश्व', सिद्धेश्वर अवस्थी, परिपूर्णानन्द वर्मा, विनोद रस्तोगी, (डॉ०) अज्ञात, देवीप्रसाद धवन 'विकल' तथा ज्ञानदेव अग्निहोत्री जैसे सफल रंग-नाटककार, नट एव निर्देशक, इन नाटककार-निर्देशकों के अतिरिक्त मुकुन्दलाल बनर्जी, अहलूवालिया, जे० पी० सक्सेना, डॉ० रमेश श्रीवास्तव, प्रो० यशपाल, आदि जैसे कुशल निर्देशक, उक्त नाटककार-नटो के अतिरिक्त साधन चटर्जी, ललितमोहन अवस्थी, गोविन्द मनिस, असित डैनियल्स, कातिकृष्ण वाजपेयी, मदन चोपड़ा, डी० बी० सत्संगी, नरेन्द्र सचदेव, राधेश्याम दीक्षित, भगवतीप्रसाद आर्य, इन्द्रा चक्रवर्ती, सुभाषिणी शर्मा, रंजना चटर्जी, इदिरा घोष, रीटा कैस्कर, अमिता कर, कुसुम पाडेय, प्रभा मिश्रा जैसे कलाकार भी प्रदान किये। दृश्यबन्ध के क्षेत्र मे मा० अहमद हुसैन और सिद्धेश्वर अवस्थी के नाम उल्लेखनीय हैं। ध्वनि-सकेत तथा संगीत के कार्य मे असित डैनियल्स तथा ओमप्रकाश अवस्थी ने विशेष कुशलता प्राप्त की है। हिन्दी-रंगमंच के विकास में इन नाटककारो एव रगकर्मियो का योगदान अविस्मरणीय है। कानपुर ने हिन्दी रगमंच के मानचित्र में अपना एक प्रमुख स्थान बना लिया है।

लखनऊ—कला-नगरी होने के कारण लखनऊ में नाट्यकला के प्रति अनुराग स्वाभाविक है । आधुनिक युग के प्रवेश के समय तक इंडियन रेलवे इंस्टीट्यूट क्लब ने अपना प्रेक्षागृह—रेलवे इंस्टीट्यूट हाल भी बना लिया था। कुछ अन्य संस्थाएँ भी नाटक खेलती रही हैं। सन् १९४१ में आकाशवाणी के तत्त्वावधान में अमानत—'इन्दरसभा' का सुन्दर प्रयोग किया गया। इसके अनंतर पाँचवें दशक में कोई सार्थक नाट्य-कृति लखनऊ में देखने में नहीं आई। सन् १९४२ के आंदोलन, द्वितीय महायुद्ध के आगे बढ़ते हुए चरण, भारत-विभाजन तथा शरणार्थी-समस्या के कारण यहाँ का रंग-जीवन अस्त-व्यस्त बना रहा।

राष्ट्रीय नाट्य परिषद्—भारत-विभाजन ने जिस तरह दिल्ली को कुछ कलाकार और नाट्य-संस्थाएँ दीं, लखनऊ को भी कुँवर कल्याणसिंह के रूप में एक कुशल निर्देशक एवं अभिनेता दिया, जिन्होंने सन् १९४९ के आस-पास राष्ट्रीय नाट्य परिषद् की स्थापना की। यह संस्था सन् १९६० तक कुँवर कल्याणसिंह के निर्देशन में ज्ञात-अज्ञात नाटककारों के लगभग दो सौ नाटक प्रस्तुत कर चुकी थी।[१७] संस्था द्वारा प्रस्तुत नाटकों में प्रमुख हैं : क० मा० मुंशी-कृत 'शंकरकन्या' का हिन्दी-अनुवाद, डॉ० कंचनलता सब्बरवाल-कृत 'भीगी पलकें' 'आँधी और तूफान' तथा 'हमारा देश' कुँवर कल्याणसिंह-कृत 'बन्दी' (१९६० ई०), 'गद्दार', 'शिवाजी', कलिंग-विजय की एक 'शाम', 'सम्राट अशोक', 'गौतम बुद्ध' आदि, रमेश मेहता-कृत 'अंडर सेक्रेटरी', 'हमारा गाँव', तथा 'दामाद' शिवसिंह 'सरोज'-कृत 'लवकुश', विनोद रस्तोगी-कृत 'बरफ की मीनार', 'रमई काका'-कृत 'रतौंधी' आदि।

'बन्दी' तीन अंकों का एक स्वच्छंदतावादी नाटक है, जिसमें पुजारी के असफल प्रेम के कारण दो राज्यों के बीच संघर्ष और नारी के दृढ़ संकल्प और साधना की कथा कही गई है। 'गद्दार' में सन् १९४७ में काश्मीर पर हुए कबाइली आक्रमण की पृष्ठभूमि में माँ के द्वारा देश की रक्षा के लिये पुत्र के बलिदान का अंकन हुआ है। 'गद्दार' की कहानी पर करतारसिंह दुग्गल के एकांकी 'दिया बुझ गया' का प्रभाव है। यह भी त्रिअंकी है। कुँ० कल्याणसिंह के ऊपर-लिखित शेष नाटक ऐतिहासिक हैं।

सन् १९६५ में परिषद् ने डॉ० कंचनलता सब्बरवाल-कृत 'माँ की लाज' तथा कृष्णकुमार श्रीवास्तव-कृत 'नींव की दरारें' तथा सन् १९६९ में ललित सहगल-कृत 'हत्या एक आकार की' प्रदर्शित किया। 'माँ की लाज', भारत-पाक युद्ध तथा सुरक्षा प्रयास-सम्बन्धी सामान्य कोटि का नाटक है, किन्तु 'नींव की दरारें' संयुक्त परिवार तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य, भारत-विभाजन तथा सन् १९५६ में हुए राज्य-पुनर्गठन पर आधारित एक सुन्दर कृति है। इसमें यज्ञदेव पंडित, देवीशंकर त्रिपाठी, सूर्यनारायण मिश्र तथा कु० सोना चटर्जी की भूमिकाएँ सुन्दर रहीं। 'हत्या एक आकार की' एक भूमिगत कमरे के दृश्यबंध पर प्रदर्शित एक सशक्त नाटक है, जिसमें अभियुक्त-नायक युवक गाँधी और सफाई का वकील बन कर, अपनी दोहरी भूमिका में, गाँधी जी पर लगाये गये झूठे-सच्चे आरोपों का खंडन करता है और अपने सबल तर्कों तथा तथ्यों द्वारा साम्प्रदायिकता के प्रतीक वादी और गवाह-इतिहासकार के पैर उखाड़ देता है। न्यायाधीश बना हुआ षड्यंत्रकारी पूर्व-धारणा के अनुसार गाँधी जी को 'सरे राह सरे आम' गोली से मार देने का दंड सुना देता है। अन्त में छाया में प्रदर्शित गाँधी जी के आकार को गोली मार दी जाती है। सरकारी वकील के रूप में देवेन्द्रनाथ टैगोर की भूमिका अन्यतम थी। इस नाटक का निर्देशन यज्ञदेव पंडित ने किया। भूमिगत कमरे के दृश्यबंध के फ्लैटों की ऊँचाई कम होने के कारण वह पूरा छलावा उत्पन्न करने में असमर्थ था।

आधुनिक युग की कुछ प्रमुख नाट्य-संस्थाएँ हैं—इप्टा (१९५३ के पूर्व), लखनऊ रंगमंच (१९५३ ई०), नटराज (१९५६ ई०), भारती (१९५८ ई०), सूचना विभाग की गीत एवं नाट्य शाखा, किंग जार्ज मेडिकल कालेज नाट्य समाज (१९६० ई० या पूर्व), सांस्कृतिक रंगमंच, नवकला निकेतन, स्वर्ण-मंच, मानसरोवर

कलाकेन्द्र, (१९६७-ई०), झंकार (१९६४ ई०), उ० प्र० इंजीनियर्स एसोसिएशन (१९६६ ई० या पूर्व), नक्षत्र अंतर्राष्ट्रीय (१९६६ ई०), नाट्य-शिल्पी (१९६७ ई०) तथा बंगाली क्लब (१९६८ ई० से) तथा उ० प्र० हिन्दी साहित्य परिषद् (१९६८ या पूर्व)।

इप्टा—इप्टा अर्थात् भारतीय जन नाट्य संघ लखनऊ में सन् १९५३ तक सक्रिय बना रहा। इस वर्ष संघ द्वारा बेगम रज़िया ज़हीर कृत 'ईदगाह' (प्रेमचंद की इसी नाम की कहानी का नाट्य-रूपांतर) रिफाह-ए-आम क्लब के हाल में खेला गया। खेल प्रारम्भ होते ही सरकार के नाट्य प्रदर्शन अधिनियम, १८७६ के अन्तर्गत प्रदर्शन रोकने का आदेश दिया, किन्तु संस्था के अधिकारियों ने इस आदेश की परवाह किए बिना प्रदर्शन जारी रखा। फलतः संस्था के अधिकारियों—गोकुलचंद्र रस्तोगी तथा बाबूलाल वर्मा, निर्देशक अमृत लाल नागर तथा बेगम रज़िया के विरुद्ध उक्त अधिनियम के उल्लंघन के अपराध में अभियोग चलाया गया। सन् १९५६ में उच्च न्यायालय की लखनऊ बेंच के न्यायाधीश आनन्दनारायण मुल्ला ने निर्णय देते हुए कहा कि सन् १८७६ के अधिनियम की धाराएँ भारतीय संविधान के विरुद्ध हैं, जिसके फलस्वरूप अभियोग से सभी लोग मुक्त कर दिये गये। काले अधिनियम के अत्याचारी पंजे से रंगकर्मियों की यह मुक्ति सम्पूर्ण रंग-जगत की एक ऐतिहासिक विजय थी।

लखनऊ रंगमंच—लखनऊ रंगमंच की स्थापना सन् १९५३ में हुई, जिसने हिन्दी के प्रसिद्ध कलाकार अमृतलाल नागर का 'परिवर्तन' मंचस्थ किया। सम्भवतः इसी संस्था के माध्यम से १९५४ में बाढ़-पीड़ितों के सहायतार्थ नागर-कृत 'परित्याग' खेला गया। सन् १९५६ में नवयुग कन्या महाविद्यालय के सहायतार्थ, उसी की भूमि पर अस्थायी मंच बना कर, प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' का विष्णु प्रभाकर द्वारा किया गया नाट्य-रूपांतर 'होरी' प्रस्तुत किया गया। नाटक टिकट से दो दिन खेला गया। इस नाटक के लिये परिक्रामी मंच अनुरचित किया गया था, जिस पर तीन त्रिभुजाकार दृश्यबंध लगाये गये थे—एक के बाद एक अर्ध-वृत्त के रूप में। ये दृश्यबंध पहियेदार 'ट्रालियों' पर लगाये गये थे और इन्हें रस्सियों द्वारा खींच कर सही स्थान पर लगाया जा सकता था। लाल-हरी बत्तियों से 'सिगनल' का काम लिया गया था और हरी बत्ती के जलते ही अपेक्षित दृश्यबंध सामने आ जाता था। दृश्यबंध के परिवर्तन के समय अन्य बत्तियाँ बुझा दी जाती थीं। इस मंच की रचना मिस्त्री गुलाम रसूल ने की थी।[१३८] उक्त सभी नाटकों का निर्देशन अमृतलाल नागर ने किया। 'होरी' में चरित्र-अभिनेता राधे बिहारी लाल, हास्य-अभिनेता कृष्णलाल दुआ, संतराम, पी० एन० श्रीवास्तव, श्रीमती कृष्णा मिश्र, रविबाला (कमर जहाँ) आदि ने भाग लिया। लखनऊ रंगमंच ने लखनऊ के अतिरिक्त आगरे और गोरखपुर में भी नाट्य-प्रयोग किये।

नटराज—सन् १९५६ में नाटककार सर्वदानन्द वर्मा की प्रेरणा से नटराज की नींव पड़ी और उसके द्वारा सर्वदानन्द-कृत ऐतिहासिक नाटक 'चेतसिंह' २२-२३ अगस्त, १९५६ को खेला गया। नाटक का निर्देशन अमृतलाल नागर ने किया। इस नाटक में चेतसिंह के प्रसाद का संदूकिया (त्रिपार्श्वीय) दृश्यबंध लगाया गया था। प्रासाद की छत में झाड़-फानूस भी लटके दिखाए गये थे।

इसके अनन्तर नटराज ने सर्वदानन्द वर्मा के दो अन्य नाटक प्रस्तुत किये—'सिराजुद्दौला' (१९५८ ई०) तथा 'भूमिजा' (१९५९ ई०)।

'चेतसिंह' 'काशी राज्य के संस्थापक महाराज बलवंतसिंह के अवैध कहे जाने वाले पुत्र चेतसिंह की अंग्रेजों से संघर्ष' की कथा पर आधारित ऐतिहासिक नाटक है। इस संघर्ष के अन्त में चेतसिंह को काशी से चले जाना पड़ा और काशी पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। नाटक में वीर एवं करुण रस प्रधान है, किन्तु चेतसिंह के भृत्य बसावन तथा दासी कजली के संवादों द्वारा हास्य का भी सृजन किया गया है।[१३९] नाटक में सर्वदानन्द

(चेतनसिंह), कृष्णलाल दुआ (बसावन), मीरा शर्मा (रानी), श्रीमती देवकी पांडे (राजमाता), कांता पंजाबी (कजली) आदि ने प्रमुख भूमिकाएँ कीं।

सर्वदानन्द-कृत 'सिराजुद्दौला' त्रिअंकी दुःखान्त नाटक है, जो राज्य सूचना विभाग द्वारा आयोजित नाट्य समारोह में ३१ जनवरी, १९५८ को दो दृश्यबंधों पर मंचित किया गया था। इसमें मुर्शिदाबाद के महल के एक कक्ष और आँगन की पृष्ठभूमि में सिराजुद्दौला के संगीत-प्रेम, प्रजा-वत्सलता, मानवतावाद तथा प्लासी के युद्ध में मीर जाफ़र के देशद्रोह के कारण उसकी पराजय और गिरफ़्तारी, मीर जाफ़र का नवाब होना तथा उसके और उसके पुत्र मीरन के षड्यंत्र में सिराजुद्दौला की बर्बरतापूर्ण हत्या की करुण कथा सशक्त एवं भावपूर्ण संवादों द्वारा कही गई है।

नाटक में सिराजुद्दौला और उसकी बेगम लुत्फुन्निसा की भूमिकाएँ सर्वदानन्द तथा रंग-एवं-फ़िल्म अभिनेत्री सोना चटर्जी ने किया था। मोहनलाल, मीरमदन, मीर जाफ़र तथा अमीचंद की भूमिकाएँ क्रमशः निर्मलकुमार घोषाल, किशनलाल दुआ, प्रभातकुमार घोष तथा अमर राय ने की थीं।

'भूमिजा' लव-कुश और सीता के पृथ्वी-प्रवेश की कथा से सम्बन्धित पौराणिक नाटक है। इसमें सर्वदानन्द (राम), सोना चटर्जी (सीता), मनमोहन शर्मा (भरत), प्रताप नारायण 'प्रवीण' (शत्रुघ्न), श्रीमती कुसुम शुक्ल (उर्मिला), किशोरी लाल पांडे (लव), गंगाराम पाल (कुश) तथा राजकुमार शर्मा (वाल्मीकि) प्रमुख भूमिकाओं में अवतीर्ण हुए। सीता के भूमि-प्रवेश के लिये 'ग्रेव' (कुएँ) का उपयोग न कर क्षणिक अंधकार कर मंच से सीता (सोना चटर्जी) के प्रस्थान द्वारा भूमि प्रवेश का दृश्य दिखा दिया गया था। 'भूमिजा' का प्रदर्शन २३ फरवरी, १९५९ को हुआ। इसमें सदृकिया दृश्यबन्ध के साथ वन के द्विपार्श्वीय दृश्यबन्ध का भी उपयोग किया गया था।

इसके अतिरिक्त जगदीशचंद्र माथुर का 'कोणार्क' तथा डॉ० रामकुमार वर्मा का 'कौमुदी-महोत्सव' भी सफलता के साथ मंचस्थ किये गये। इन दोनों नाटकों में भी सर्वदानन्द ने क्रमशः धम्मपद तथा चन्द्रगुप्त की प्रमुख भूमिकाएँ करके अपने कला-दाक्षिण्य का परिचय दिया, जो उन्हें सहज रूप से प्राप्त है।

भारती–लखनऊ के प्रमुख कवि, कथाकार एवं नाटककार भगवतीचरण वर्मा के प्रयास से भारती की स्थापना सन् १९५८ में हुई। इसका उद्देश्य था–हिन्दी रंगमंच की स्थापना और एतदर्थ तथा रंगमंच के विकास के लिये कार्य करना। इस संस्था का उद्घाटन १७ नवम्बर, १९५८ को वर्मा के नाटक 'रुपया तुम्हें खा गया' के प्रदर्शन से सूचना भवन के प्रांगण में हुआ। इसमें मंच-सम्बन्धी एक नया प्रयोग किया गया, जिसे शकट मंच (वैगन स्टेज) कह सकते हैं। इसमें अस्वस्थ सेठ के दस वर्ष पूर्व के जीवन को पश्चात् दर्शन-पद्धति (फ्लैश बैक) द्वारा दिखाया गया है। रामबिहारी लाल ने सेठ की भूमिका में प्राण फूँक दिये। सेठ के कमरे को एक 'ट्रॉली' के ऊपर बनाया गया था, जिसे आवश्यकतानुसार हटाया या मंच पर लाया जा सकता था।[11] निर्देशन अमृतलाल नागर का था।

सूचना विभाग की गीत-नाटक शाखा : सूचना विभाग की गीत-नाटक शाखा द्वारा आयोजित वार्षिक नाट्य-समारोहों के कारण भी लखनऊ में हिन्दी नाटकों को पर्याप्त गति मिली है।

इस शाखा के सम्बन्ध में जो भी विवरण उपलब्ध हैं, उससे पता चलता है कि नाट्य-समारोह प्रत्येक वर्ष गणतन्त्र दिवस के अवसर पर आयोजित किये जाते थे। इन समारोहों का प्रारम्भ १९५९ में डॉ० सम्पूर्णानन्द के मुख्य मन्त्रित्व-काल में हुआ और श्रीमती सुचेता कृपलानी के युग (१९६६ ई०) तक ये चलते रहे। राज्य में चरणसिंह के मुख्य मन्त्रित्व में प्रथम संविद सरकार के बनते ही गीत-नाट्य शाखा को बन्द कर दिया गया, फलतः समय-समय पर नाट्य-प्रदर्शन करने वाला उसका अपना नाट्य-दल भी विघटित हो गया। नाट्य-समारोहों की यह परम्परा भी आगे न चल सकी और उसने भी दम तोड़ दिये। समारोह के कार्यक्रमों में अच्छी खासी भीड़ हुआ

करती थी, किन्तु एक बार टिकट लगते ही इस भीड़ की संख्या ५०–६० पर उतर आई। भला हिन्दी का सामाजिक एक रुपये और आठ आने की टिकट लेकर नाटक कैसे देखता ! उसने समारोह का बहिष्कार कर दिया और टिकट हटते ही उसने फिर सूचना विभाग का पंडाल भर दिया।"[1]

सन् १९५९ में रंगमंच द्वारा प्रदर्शित 'आषाढ़ का एक दिन' को सर्वश्रेष्ठ अभिनीत नाटक के लिये तथा श्रीनाट्यम् के अवध बिहारी लाल ('वे भी इन्सान हैं') को सर्वश्रेष्ठ अभिनेता के लिये शाकुंतल पुरस्कार मिला था। सन् १९६१ के समारोह में ज्ञानदेव अग्निहोत्री के प्रथम नाटक 'माटी जागे रे' को प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ और इसके अनन्तर सूचना विभाग की गीत एवं नाट्य शाखा के नाट्य-दल ने उसे राज्य भर में प्रदर्शित किया। इस एक दृश्यबन्धीय नाटक के शताधिक प्रदर्शन हुए।

सन् १९६५ में राज्य की पाँच नाट्य-संस्थाओं ने भाग लिया। इलाहाबाद की नाट्य-संस्था ने ज्ञानदेव अग्निहोत्री-कृत 'नेफा की एक शाम', वाराणसी ने बंकिम-कृत 'आनन्दमठ', रायबरेली के 'फिर बजेगी शहनाई' तथा लखनऊ ने 'आवाज' नाटक प्रस्तुत किया। सूचना विभाग के नाट्य-दल ने समारोह के अन्तिम दिन भगवतीचरण वर्मा-कृत 'विजय-यात्रा' मंचस्थ किया। इनमें 'नेफा की एक शाम' तथा 'विजय-यात्रा' की प्रस्तुतियाँ मँजी और सधी हुई थीं।

इसी वर्ष सूचना विभाग के नाट्य-दल ने के० वी० चन्द्रा के निर्देशन में कुँवर नारायण-कृत प्रहसन 'शक' प्रस्तुत किया। संवादों के हास्य-व्यंग्यपूर्ण होते हुए भी नाटक सामान्य स्तर का था।

सन् १९६६ में देश की संकटकालीन स्थिति को देखते हुए सुरक्षा-प्रयासों से सम्बन्धित नाटक क्षेत्रीय आधार पर चुने गये, पर समारोह के प्रारम्भ होने से कुछ दिन पूर्व ताशकंद समझौता हो जाने से इन नाटकों के पाकिस्तान-विरोधी अंश निकाल दिये गये। इस समारोह में शारदा कला परिषद्, वाराणसी ने 'अपनी धरती', स्वतन्त्र नाट्य मंच, इलाहाबाद ने 'सपना रहिल अधूरो', विश्व भारतीय रंगमंच, लखनऊ ने 'खंडहर की आत्मा', सांस्कृतिक रंगमंच ने 'शान्ति का मूल्य', आदर्श कला कुंज, बरेली ने 'अंगार' कला संगम, गाजीपुर ने अब्दुल हमीद के जीवन से सम्बन्धित नाटक तथा महाराष्ट्र समाज, लखनऊ ने मधुकर शंकर प्रधान-कृत 'वह आया था' नाटक मंचस्थ किया।

लेखन और उपस्थापन, दोनों ही दृष्टियों से 'वह आया था' का प्रदर्शन बहुत प्रभावी था, अतः सर्वश्रेष्ठ निर्देशन का शाकुंतल पुरस्कार इस नाटक के निर्देशक मधुकर शंकर प्रधान को, सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का शाकुन्तल पुरस्कार इसी नाटक के कलाकार पु० मोनीवाले को तथा सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्रियों के शाकुन्तल पुरस्कार 'अपनी धरती' की स्त्री कलाकारों–प्रभाती मुखर्जी तथा सपना सेनगुप्त को प्रदान किये गये। 'अब्दुल हमीद' के रमेशचन्द्र वनाक को एक विशेष पुरस्कार दिया गया।

सन् १९६७ में प्रथम संविद सरकार के पदारूढ़ होते ही सूचना विभाग की गीत एवं नाटक शाखा भंग कर दी गयी।

किंग जार्ज मेडिकल कालेज नाट्य-समाज–स्थानीय किंग जार्ज मेडिकल कालेज का नाट्य समाज (ड्रामेटिक सोसायटी) प्रायः प्रत्येक वर्ष हिन्दी के नाटक खेलता रहा है, जिसमें कालेज के प्राध्यापक तथा छात्र-छात्राएँ भाग लेती रही हैं। सन् १९६० में कुमुद नागर-कृत 'बुद्ध और सुजाता' अभिनीत हुआ, जिसके तीन प्रयोग हुए। सन् १९६१ तथा १९६६ में रमेश मेहता के क्रमशः 'उलझन' तथा 'अंडर सेक्रेटरी' नाटक खेले गये, जिनके क्रमशः तीन और चार प्रयोग हुए। 'अंडर सेक्रेटरी' नाट्यकला केन्द्र के मंच पर खेला गया। इसके अनन्तर कुमुद नागर-कृत 'नींव के चूहे' (१९६२ ई०), कृष्णचन्द्र का 'दरवाजे खोल दो' (१९६४ ई०) तथा 'माजरा क्या है' ? (१९६५ ई०) गोल्डस्मिथ के 'शी स्टूप्स टु कान्कर' उर्दू-रूपान्तर) मंचस्थ किये गये। 'दरवाजे खोल दो' रवीन्द्रालय में प्रदर्शित किया गया था, जिसमें विमलेश मोहन, आर० एस० पंकज, वी० के० तिहल तथा सुशीला उलवानी ने

प्रमुख भूमिकाएँ की। 'नीव के चूहे' के तीन तथा 'माजरा क्या है ?' के चार प्रदर्शन हुए। इन सभी नाटकों का निर्देशन कुमुद नागर ने किया। सन् १९६८ मे बच्चन के निर्देशन में कणाद ऋषि भटनागर-कृत 'जहर' को 'लीडर' नाम से मचस्थ किया गया।

सास्कृतिक रगमच–सास्कृतिक रगमच ने 'रक्तदान', 'शान्ति का मूल्य' (१९६६ ई०), 'सपने' (जिसे बाद मे 'बापू के सपने' के नाम मे ३० दिसम्बर, १९६९ को खेला गया था) आदि कई नाटक मचस्थ किये।

नवकला निकेतन–नवकला निकेतन ने के० बी० चन्द्रा-कृत 'सूखी डार, फूली लतर' लखनऊ तथा कानपुर मे प्रदर्शित किया। सन् १९६५ मे इसके २५ प्रयोग पूरे हो चुकने के उपलक्ष्य मे इसकी रजत जयती मनाई गई।

स्वर्ण मच–स्वर्ण मच सोना चटर्जी तथा उनके भाई विश्वरूप चटर्जी की नाट्य-सस्था है, जिसने विश्वरूप चटर्जी-कृत 'जवान' नाट्य-कला केन्द्र के रगमच पर १६ सितम्बर, १९६५ को मचस्थ किया। नाटक सामान्य कोटि का था।

मानसरोवर कला केन्द्र–मानसरोवर कला केन्द्र ने कणाद ऋषि भटनागर-कृत 'हम एक है' ८ जनवरी, १९६६ को प्रस्तुत किया। प्रेम तिवारी द्वारा निर्देशित यह नाटक भी एक सामान्य कृति था।

झकार आर्केस्ट्रा एण्ड कल्चरल ग्रुप–झकार आर्केस्ट्रा एण्ड कल्चरल ग्रुप की स्थापना सन् १९६४ मे हुई। इस सस्था के निर्देशक अरिन्दम नन्दी का यह प्रयास रहा है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बँगला नाटको को हिन्दी-क्षेत्र के सामाजिको के लिये हिन्दी मे प्रस्तुत करें। इस उद्देश्य को सामने रख कर झकार ने रवीन्द्र-कृत 'ताशेर देश' तथा 'श्यामा' और 'चाडालिका' (१९७० तथा १९७१) नृत्य-नाटिकाएँ हिन्दी मे प्रस्तुत की, जो लखनऊ, उत्तर प्रदेश के अन्य नगरो तथा अन्य राज्यो, यथा पश्चिमी बगाल (कलकत्ता), मेघालय (मणिपुर), नागालैड, आसाम, जम्मू तथा काश्मीर आदि मे मचस्थ की जा चुकी है।

'चाडालिका' मे कु० ऋतु चटर्जी तथा उसकी माँ माया के रूप मे कु० मजुला चतुर्वेदी ने सुन्दर नृत्याभिनय प्रस्तुत किया। मजुला ने मत्राकर्षण-नृत्य में सबल गतियो तथा अगहारो का प्रदर्शन किया। दहीवाला के रूप में ए० नंदी का भावाभिनय सजीव था। परिधान एव रूप-सज्जा पात्रानुकूल थी। श्रीमती वीथी चटर्जी तथा श्रीमती गौरी नन्दी ने पार्श्व-गायन किया, जो श्रुति-मधुर एव रसानुकूल था।

उत्तर प्रदेश इजीनियर्स एसोसिएशन–उत्तर प्रदेश इजीनियर्स एसोसिएशन अपने वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्राय नाटक मचस्थ करता रहा है। एसोसिएशन के कलाकारो ने रवीन्द्रालय में रमेश मेहता के हास्य-नाटक 'उलझन' (१९६६ ई०), 'ढोंग' (१९६७ ई०) तथा 'दामाद' (१९६८ ई०) प्रस्तुत किये। इन तीनो नाटकों का निर्देशन आकाशवाणी के तत्कालीन प्रयोक्ता (प्रोड्यूसर) कुमुद नागर ने किया। इनमे से प्रत्येक के दो-दो प्रयोग हुए।

नक्षत्र अन्तर्राष्ट्रीय–सन् १९६६ मे नाट्य-समीक्षक शरद नागर द्वारा सस्थापित नक्षत्र अन्तर्राष्ट्रीय ने 'वाचनरग' (२५ दिसम्बर, १९६६, शभु मित्र तथा अमित मैत्र के सह-लेखन के बँगला नाटक का हिन्दी-रूपान्तर) तथा जगदीशचन्द्र माथुर-कृत 'कोणार्क' (२६ जून, १९६८) उत्तर प्रदेश सगीत नाटक अकादमी के तत्त्वावधान मे प्रस्तुत किये। कुमुद नागर ने ही इन नाटको का भी निर्देशन किया।

नक्षत्र अन्तर्राष्ट्रीय समय-समय पर नाट्य-विषयक गोष्ठियाँ आयोजित करता रहा है। इस प्रकार की एक *गोष्ठी २७ मार्च, १९६७ को विश्व नाट्य दिवस के अवसर पर आयोजित की गई थी,* जिसमे आधुनिक रगमच और उसकी समस्याओ के सम्बन्ध मे विचार हुआ।

भारतेन्दु रगमच अध्ययन एव अनुसधान केन्द्र–सन् १९६९ मे भारतेन्दु की ११९ वी जयन्ती (१६ सितम्बर, १९६९) के अवसर पर नक्षत्र के तत्त्वावधान मे भारतेन्दु रगमंच अध्ययन एव अनुसधान केन्द्र की स्थापना हुई,

जिसके निर्देशक शरद नागर तथा अध्यक्ष डॉ० अज्ञात हैं। इसका उद्देश्य हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में विस्तृत अध्ययन एवं अनुसंधान करना है। एतदर्थ हिन्दी रंगमंच के इतिहास-संकलन के लिये सर्वेक्षण किये जाते हैं तथा समय-समय पर रंगमंच के विभिन्न पक्षों पर नियमित रूप से विचार-गोष्ठियाँ भी आयोजित की जाती हैं। केन्द्र नाट्य-कला के प्रशिक्षण के लिये उत्तर प्रदेश में एक नाट्य विद्यापीठ की स्थापना के लिये भी प्रयत्नशील है।

केन्द्र का उद्घाटन करते हुए (अब पद्मभूषण) भगवतीचरण वर्मा ने इस बात पर जोर दिया कि हिन्दी में नाटकों के अभाव को दूर करने के लिये व्यावसायिक स्तर पर रंगमंच की स्थापना की जानी चाहिये।

नाटक और रंगमंच पर शोधकार्य करने वाले विभिन्न विश्वविद्यालयों के छात्र भारतेन्दु रंगमंच अध्ययन एवं अनुसंधान केन्द्र के अध्यक्ष डॉ० अज्ञात से मार्ग-दर्शन लेते रहते हैं। केन्द्र स्वयं भी रंगमंच और लोकनाट्य के क्षेत्रों में विस्तृत अनुसंधान-कार्य कर रहा है।

३ अप्रैल, १९७२ को 'उत्तर प्रदेश के नाट्य-आंदोलन की समस्याएँ' विषय पर एक विचार-गोष्ठी हुई। इस अवसर पर केन्द्र ने अपनी मासिक पत्रिका 'रंगमंच समाचार' का विमोचन किया। इस पत्रिका के संपादक थे—डॉ० अज्ञात और शरद नागर। यह पत्रिका अगस्त, १९७३ में 'रंगभारती' के रूप में नियमित रूप से निकलने लगी, किन्तु मार्च, ७५ में बन्द हो गई।

जून, १९७२ के अन्त में नक्षत्र, केन्द्र तथा उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी के संयुक्त तत्त्वावधान में रंगमंच अनुसंधान केन्द्र, बम्बई। नयी दिल्ली के निर्देशक श्री के० टी० देशमुख ने 'भारतीय रंगमंच पर शेक्सपियर का प्रभाव' प्रदर्शिनी लखनऊ में आयोजित की, जिसका उद्घाटन तत्कालीन राज्य शिक्षा मंत्री श्री नवीनारसिंह ने किया। इसे लगभग १५०० रंगकर्मियों एवं नाट्य प्रेमियों ने देखा।

३ अप्रैल, ७३ को कानपुर में इस केन्द्र के प्रधान कार्यालय की स्थापना हुई। इस अवसर पर 'हिन्दी रंगमंच: सीमाएँ और उपलब्धियाँ' विषय पर एक विचार-गोष्ठी भी हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रतापनारायण श्रीवास्तव की अध्यक्षता में हुई।

नाट्यशिल्पी—'नाट्यशिल्पी' उत्तर रेलवे के कर्मचारियों की नाट्य-संस्था है, जिसका जन्म 'वक्त की आवाज' नामक सुरक्षा-एकांकी के साथ सन् १९६३ में हुआ था। इसका प्रथम नाम था—नार्थ रेलवे रंगमंच, जो सन् १९६७ में 'नाट्यशिल्पी' के परिवर्तित नाम के साथ सामने आया। इस बीच 'प्रकाश की ओर' (१९६४ ई०), 'समय की पुकार' आदि कई सुरक्षा-एकांकी प्रस्तुत किये गये। नाट्यशिल्पी के ध्वज के अन्तर्गत प्रथम अभिनीत सामाजिक नाटक थे—केशवचन्द्र वर्मा-कृत 'तबेले के सिर' (३० सितम्बर, १९६७) तथा जगदीश चन्द्र वाजपेयी-कृत 'नाटक से पहले' (३० सितम्बर, १९६७) इसके अनन्तर कई पूर्णांग नाटक खेले गये—रमेश मेहता-कृत 'उलझन' तथा 'ढोंग' (१४ अप्रैल, १९६८), पु० ल० देशपांडे-कृत 'कस्तूरी मृग' (१२–१३ मार्च, १९६९), वसंत कानेटकर-कृत 'प्रेम तेरा रंग' (१४ सितम्बर, १९६९, 'प्रेमा तुझा रंग कसा' का हिन्दी-रूपांतर), जगदीश वाजपेयी-कृत 'माँ का आँचल' (३० नवम्बर, १९६९), के० पी० सक्सेना-कृत 'अँधेरे साये' (८ फरवरी, १९७०) तथा मनहर पुरी-कृत 'अभयदान' (२४ अप्रैल, १९७०)। इन सभी नाटकों का यह-निर्देशन किशन खन्ना तथा मनहर पुरी ने किया। इन नाटकों का मंचन रवीन्द्रालय में किया गया।

सभी पूर्णांग नाटकों में नायक और नायिका की भूमिकाएँ प्रायः किशन खन्ना तथा उनकी पत्नी श्रीमती अरुणा खन्ना ने की। इस दम्पति में अभिनय के प्रति नैसर्गिक रुचि और आन्तरिक निष्ठा-'डिवोशन' है, जिसके द्वारा उन्होंने लखनऊ के रंग-जगत को एक नई चेतना से अनुप्राणित कर दिया। पुरुष-कलाकारों में जगदीश वाजपेयी, मनहर पुरी, के० पी० सक्सेना तथा कमलजीत तथा स्त्री-कलाकारों में कु० ममता लिलौरी, श्रीमती कुंकुम टंडन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

'माँ का आँचल' को छोड़कर, जिसमे नौ दृश्यबन्धो का प्रयोग हुआ था, शेष सभी नाटक प्रायः एक ही दृश्यबन्ध पर प्रस्तुत किये गये। ये दृश्यबन्ध बड़े भव्य एवं सजीव होते रहे हैं। 'अभयदान' का द्विखंडीय दृश्यबन्ध बहुत सुन्दर एव आकर्षक था।

कलाकेत सांस्कृतिक मंच—कलाकेत सांस्कृतिक मंच ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'ताशों का देश' (१९६८ ई०), ज्ञानदेव अग्निहोत्री-कृत 'शुतुरमुर्ग' (१९६९ ई०), कुसुमलता मिश्र-कृत 'माँझी' (१९६९ ई०) तथा इब्सन-कृत 'प्रेत' (१९७३ ई०) नाटक मंचस्थ किये।

उदयन संघ—उदयन संघ ने अन्य नाटकों के साथ रमेश मेहता-कृत 'अंडर सेक्रेटरी' (१९७२ ई०) तथा वसंत कानेटकर-कृत 'ढाई आखर प्रेम का' (१९७३ ई०) प्रदर्शित किये। 'ढाई आखर प्रेम का' पर उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी की द्वितीय अन्तर-जिला नाटक प्रतियोगिता (१९७३ ई०) मे उसे ५०० रु० पुरस्कार प्राप्त हुआ।

दर्पण—सन् १९७२ में दर्पण, कानपुर की एक शाखा लखनऊ मे स्थापित हुई, जिसने इस वर्ष विनायक पुरोहित का 'स्टीलफ्रेम' तथा गिरीश का 'हयवदन' रवीन्द्रालय मे मंचस्थ किये। दोनो अपने रंग के उत्तम प्रयोग थे।

अन्य संस्थाएँ—इसके अतिरिक्त लखनऊ मे कलागन विविध कला संगम, फ्रेंड्स सर्किल थियेटर आर्ट वर्कशाप, नटराज, रंगशाला आदि कुछ अन्य नाट्य-संस्थाएँ भी हैं, जिनका आविर्भाव इस शती के सातवें दशक के अन्त अथवा आठवें दशक के प्रारम्भ मे हुआ। कलागन विविध कला संगम ने यशपाल के उपन्यास 'अमिता' का नाट्य-रूपांतर (१९७१ ई०), फ्रेंड्स सर्किल ने के० पी० सक्सेना-कृत 'जलकुंभी' (१९७२ ई०) थियेटर आर्ट वर्कशाप ने बादल सरकार-कृत 'बाकी इतिहास' (मई, १९७३) तथा 'गिनी पिग' (जून, १९७३) तथा नटराज रंगशाला ने विनोद रस्तोगी-कृत 'जनतंत्र जिंदाबाद' (१९७३ ई०) का आरंगण किया। थियेटर आर्ट वर्कशाप प्रारम्भ मे राज बिसरिया के निर्देशन मे अंग्रेजी के नाटक खेलता रहा है, किन्तु सन् १९७३ मे हिन्दी नाटकों के क्षेत्र मे प्रवेश कर उसने एक नयी दिशा ग्रहण की।

बंगाली क्लब—हिन्दी नाटकों के मंचन को प्रोत्साहन देने के लिये बंगाली क्लब तथा यंगमेन्स एसोसिएशन का योगदान, जिसकी स्थापना सन् १९०१ के आस-पास हुई थी, भुलाया नहीं जा सकता। सन् १९६८ में क्लब ने बंगला तथा हिन्दी रंगमंच के परस्पर सहयोग-विस्तार तथा रंगमंच-आंदोलन के विकास के लिये हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी के उपलक्ष्य मे सर्वप्रथम हिन्दी-बंगाली एकांकी नाटक प्रतियोगिता प्रारम्भ की और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुरस्कार तथा गिरीशचन्द्र घोष पुरस्कार की स्थापना की, जो क्रमशः बंगला तथा हिन्दी एकांकी की सर्वोत्तम प्रस्तुति के लिये दिये जाते हैं। प्रथम प्रतियोगिता (२० जून से २५ जून, १९६८ तक) मे हिन्दी की सात नाट्य-संस्थाओं तथा बंगला की चार नाट्य-संस्थाओं ने भाग लिया। इसमे नक्षत्र इंटरनेशनल द्वारा प्रस्तुत पद्मकांत त्रिपाठी-कृत 'लघुकेशिनी तिरुवल्लमिदम्' को बंगला-हिन्दी के एकांकियों मे सर्वोत्तम प्रस्तुति के लिये अतुलकृष्ण सिन्हा स्मारक चल-चषक, सर्वोत्तम हिन्दी नाटक के लिये गिरीशचन्द्र घोष पुरस्कार तथा सर्वोत्तम अभिनेत्री का पुरस्कार चित्रा मुखर्जी (उमा) को प्राप्त हुए। निर्देशन इकबाल मजीद ने किया। सर्वोत्तम बंगला एकांकी के लिये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुरस्कार अभियात्रिक के 'सूर्यचल' पर दिया गया। सर्वोत्तम अभिनेता का पुरस्कार 'सूर्यचल' के सुचित चौधरी (उस्ताद) को प्राप्त हुआ।

सन् १९७० मे पंच-दिवसीय (१४ से १९ जून तक) द्वितीय हिन्दी-बंगाली एकांकी नाटक प्रतियोगिता क्लब के अपने अतुल नाट्य मंदिर मे हुई। इसमे हिन्दी की केवल एक तथा बंगला की सात नाट्य-संस्थाओं ने भाग लिया। इस बार सप्ताग्रणी, कानपुर को हिन्दी-बंगला के एकांकियों मे रवीन्द्र भट्टाचार्य-कृत 'विचार' की सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुति के लिये अतुलकृष्ण स्मारक चल-चषक प्रदान किया गया। हिन्दी मे रिसर्च डिजाइन एण्ड स्टैंडर्ड आर्गेनाइजेशन, लखनऊ के रिक्रिएशन क्लब को 'मुजरिम' की सर्वोत्तम प्रस्तुति के लिये गिरीशचन्द्र घोष पुरस्कार तथा बंगला में 'विचार' की सर्वोत्तम प्रस्तुति के लिये सप्तग्रणी को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुरस्कार दिया गया।

सर्वोत्तम निर्देशन एवं अभिनय के लिये 'विचार' के नायक (बड़ा दरोगा) शिशिर गुप्त को तथा सर्वोत्तम अभिनेत्री के लिए श्रीमती सोनाली विश्वास ('बाघ' की नायिका) को पुरस्कृत किया गया ।

क्लब प्रत्येक वर्ष पूर्णांग बंगाली नाटकों की प्रतियोगिता आयोजित करता है ।

उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य परिषद्—उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य परिषद् ने भी अपने अन्य कार्यों के साथ कुछ नाटक एवं नृत्यनाट्य भी प्रदर्शित किये । परिषद् द्वारा प्रदर्शित प्रमुख नाटक हैं—मोहन राकेश-कृत 'लहरों के राजहंस' (१९६८ ई०), रमेश मेहता-कृत 'अंडर सेक्रेटरी' आदि । प्रसाद जयंती के अवसर पर २२ फरवरी, १९७० को एकाकी 'मधूलिका' (जयशंकर प्रसाद की कथा 'पुरस्कार' का नाट्य-रूपांतर) तथा नृत्य-नाट्य 'श्रद्धा' (प्रसाद 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग पर आधारित) रवीन्द्रालय में मंचस्थ किया गया । 'मधूलिका' अपने लघु दृश्यों, अपरिपक्व अभिनय आदि के कारण सफल न हो सकी, किन्तु 'श्रद्धा' नृत्यनाट्य एक प्रभावी प्रयोग था, जिसमें कु० निकुंज रस्तोगी ने श्रद्धा की भूमिका में सुन्दर भावाभिनय प्रस्तुत किया । नृत्य की गतियों, अगहारों तथा मुद्राओं द्वारा आनन्द और उल्लास की अभिव्यक्ति, प्रणय और समर्पण द्वारा मानव की जय-यात्रा का संदेश प्रसाद की कल्पना और नई समाज-रचना को साकार बना देता है । मनु की भूमिका कु० सुशीला रस्तोगी ने की । यह नृत्यनाट्य नीले आकाश की पृष्ठभूमि में सूर्योदय से उद्भासित हिमालय की पर्वत-शृंखला के दृश्यबन्ध पर प्रस्तुत किया गया था ।

परिषद् की मानस चतुश्शती समारोह समिति द्वारा आयोजित 'तुलसी भजनावली एवं रत्नावली' कार्यक्रम के अन्तर्गत सुमित्रा कुमारी सिन्हा-कृत 'रत्नावली' नाटिका राजभवन के दरबार हाल में राज्यपाल डॉ० बी० गोपाल रेड्डी के समक्ष १० अगस्त, १९७० को प्रस्तुत की गई । छवि विश्वास ने युवक तुलसीदास तथा कु० निकुंज रस्तोगी ने रत्नावली की भूमिकाएं की । इस समिति ने १३-१४ अगस्त को रवीन्द्रालय में तुलसी-'मानस' के आधार पर 'रामलीला' भाव-नाट्य का प्रदर्शन किया । इस द्विअंकी भाव-नाट्य की कथा का उपजीव्य था—अयोध्या की राजसभा में विश्वामित्र के आगमन तथा ताडका-वध के लिये राम-लक्ष्मण को माँग कर ले जाने से लेकर शबरी की कुटिया में राम के शुभागमन तक का कथांश । धनुर्यज्ञ के प्रसंग में परशुराम की अनुपस्थिति खटकने वाली वस्तु थी । दो पुरुष-पात्रों (रावण तथा बाणासुर) को छोड़ शेष सभी स्त्री-पुरुष भूमिकाएं किशोर बालाओं ने ग्रहण की थीं । नलिनी, सविता तथा अंजुल की क्रमशः राम, लक्ष्मण तथा सीता की भूमिकाएँ बहुत सुन्दर रहीं । केवट के रूप में निकुंज रस्तोगी तथा शबरी के रूप में सुमन भसीन के अभिनय सर्वोत्तम रहे ।

'रत्नावली' का निर्देशन डॉ० घनश्याम दास ने तथा 'रामलीला' का सह-निर्देशन डॉ० घनश्याम दास तथा गणेश प्रसाद मिश्र ने किया । 'रामलीला' के प्रथम दिन मुख्य अतिथि राज्यपाल डॉ० बी० गोपाल रेड्डी सपत्नीक अन्त तक मंत्रमुग्ध बैठे रहे ।

उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी—लखनऊ तथा राज्य के हिन्दी रंगमंच के विकास एवं प्रोत्साहन की दिशा में उत्तर प्रदेश संगीत नाट्य भारती (१९६३ ई०) जो अब उत्तर प्रदेश संगीत नाट्य अकादमी के नाम से प्रसिद्ध है, अपनी सीमाओं के भीतर, जो कुछ योगदान दे सकी है, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता । एतदर्थ उसने एक योजना बना कर राज्य की अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं द्वारा नाटकों के प्रदर्शन के लिये रंगशाला आदि की व्यवस्था अपने व्यय पर करने का निश्चय किया । स्थानीय नाट्य-संस्थाओं के पूर्वाभ्यास के लिए स्थानादि देने का भी प्रबन्ध किया । इस योजना के अन्तर्गत सर्वप्रथम नक्षत्र अंतर्राष्ट्रीय ने जगदीशचन्द्र माथुर-कृत 'कोणार्क' (२६ जून, १९६८) रवीन्द्रालय में प्रस्तुत किया । इसके अनन्तर ज्ञानदेव अग्निहोत्री-कृत 'शुतुरमुर्ग' (१९६९) लखनऊ की एक नाट्य-संस्था के द्वारा खेला गया । दिसम्बर, १९६९ में गांधी जन्म शताब्दी के अवसर पर संगीत नाट्य भारती ने अपने परिवर्तित नाम उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी के ध्वज के अन्तर्गत पहली बार सप्त दिवसी

नाट्य समारोह (२४ से ३१ दिसम्बर तक) का आयोजन किया, जो गाँधीवादी विचार-धारा और जीवन-दर्शन पर आधारित होने के कारण उत्तर प्रदेश मे ही नही, सम्पूर्ण भारत मे अपने ढग का प्रथम आयोजन या इसमे लखनऊ की पाँच नाट्य-सस्थाओ—राष्ट्रीय नाट्य परिषद् (ललित सहगल-कृत 'हत्या एक आकार की', २४ दिसम्बर), कला केत सास्कृतिक मच (श्रीमती कुसुमलता मिश्र-कृत 'माझी', २८ दिसम्बर), कल्यायतन (डॉ० एन० देवेश-कृत 'किसका है भगवान ?' २९ दिसम्बर), सास्कृतिक रगमच ('बापू के सपने', ३० दिसम्बर) तथा महिला विद्यालय (श्रीमती उषा सक्सेना-कृत 'पथ-अभिलाषी', ३१ दिसम्बर), आगरे के जन नाट्य सघ (प्रेमचन्द्र-'रंगभूमि' का राजेन्द्र रघुवंशी-कृत नाट्य-रूपान्तर 'सूर की आँखें' २५ दिसम्बर) तथा दिल्ली के थ्री आर्ट्स क्लब (रमेश मेहता-कृत 'रोटी और बेटी', २६ दिसम्बर) ने भाग लिया।

इस नाट्य-समारोह की सबमे बडी विशेषता यह थी कि उसके अन्तर्गत सभी नाटक मूलतः गाँधी जी के सत्य, अहिंसा, हरिजनोद्धार तथा मानववाद के चिर-परिचित सिद्धान्तो पर आधारित थे। इन विचारो की प्रयोगशाला थे—भारत के दीन-हीन गाँव, जो राष्ट्रीय नाट्य परिषद् के 'हत्या एक आकार की' नाटक को छोड़ कर प्राय. सभी नाटको की कथावस्तु की पृष्ठभूमि मे मूर्त हो गये थे। इन्ही गाँवो के चौक या घर-आँगन मे बापू के सपने साकार हो उठे। 'हत्या एक आकार की' की कथा नगर के एक भूमिगत कमरे मे ही आकार लेती और वही समाप्त हो जाती है।

इनमे 'रोटी और बेटी', 'सूर की आँखें' तथा 'माँझी' सशक्त नाटक थे, जिन्हें अभिनय, निर्देशन तथा रंगशिल्प की दृष्टि से क्रमश प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्थान दिया जा सकता है। पुरुष पात्रो मे रमेश मेहता (रविदास चमार), राजेन्द्र रघुवशी (भैरो ताड़ी-विक्रेता), देवेन्द्र नाथ ठाकुर (सरकारी वकील), बच्चन (शराबी और पागल जीवनदास) तथा विश्वनाथ मिश्र (भगत चमार तथा दीनू) की भूमिकाएँ अन्यतम थी—स्वर-नियन्त्रण, भावाभिव्यक्ति, सजीव कार्यानुकरण, रूप-सज्जा और परिधान, सभी दृष्टियो से। स्त्री-पात्रो मे उमा सहाय (गभो) और कु० राज मिश्र ('माँझी' मे ज्वाला तथा 'किसका है भगवान' मे नीली) के अभिनय सर्वश्रेष्ठ रहे। वीणा भाटिया तथा उषारानी रस्तोगी की भूमिकाएँ भी कलापूर्ण थीं।

सन् १९७० मे कई नाट्य-सस्थाओ ने अकादमी के तत्त्वावधान मे अपने नाटक प्रदर्शित किये, जिनमे प्रमुख थे—स्वजन, बम्बई की उत्तर प्रदेशीय शाखा द्वारा प्रस्तुत ओम तिवारी 'वरुण' कृत 'दायरे' (१६ जनवरी), उत्तर रेलवे कर्मचारियो की नाट्य सस्था अल्पना लखनऊ द्वारा प्रस्तुत आर० गोविन्द-कृत 'गुनाह के साये' (सितम्बर), दर्पण, कानपुर द्वारा प्रस्तुत सोफोक्लीज-कृत 'ऐण्टिगनी' (२७ नवम्बर)। 'दायरे की कथा परिवार-कल्याण-नियोजन, ग्राम जीवन की जर्जर अर्थ-व्यवस्था तथा बाल-अपराध पर आधारित है, तो 'गुनाह के साये' का उपजीव्य है नारी की अपराध-वृत्ति, जिसके वशीभूत होकर एक बहन अपने सगे भाई को अधिकारो से वचित करने के लिये उसे भाई मानने से भी इन्कार कर देती है। 'ऐण्टिगनी' सत्य और कर्तव्य के प्रति मानवीय निष्ठा की अभूतपूर्व गाथा है, जिसकी नायिका नन्ही ऐण्टिगनी उस जागरूक चेतना की, उस विद्रोह की प्रतीक है, जो एक ओर अकेले निरंकुश शासन के विरुद्ध सत्य और सुदृढ कर्तव्य का झडा उठाती है, तो दूसरी ओर कर्तव्य के लिये प्रेम, सुख और स्वप्न, अपने जीवन को मृत्यु के दाँव पर लगा देती है।

अकादमी ने ३ अप्रैल, १९६८ को हिन्दी रंगमच शतवार्षिकी के अवसर पर एक विचार-गोष्ठी का आयोजन किया, जिसमे अमृतलाल नागर, कालिदास कपूर, ठाकुर प्रसाद सिंह, भगवती चरण वर्मा, शरद नागर आदि पुराने रंगकर्मियो एव नाट्यकारो ने भाग लिया। गोष्ठी की अध्यक्षता डॉ० राधाकमल मुखर्जी ने की।

अतिथि सस्थाएँ—लखनऊ के राजधानी होने के कारण यहा बाहर से अनेक नाट्य-संस्थाएँ अपने नाट्य-प्रदर्शन के लिये आया करती हैं। इस युग मे आगन्तुक नाट्य-सस्थाओ मे प्रमुख रही है। वाराणसी की अखिल भार-

उ० प्र० सगीत नाटक अकादमी, लखनऊ द्वारा आयोजित गांधी जन्म
शताब्दी नाट्य समारोह (१९६९ ई०) :
ऊपर . भारतीय जन नाट्य सघ, आगरा द्वारा प्रस्तुत 'सूरे की आँखें' में
दयागिरि पुजारी, बजरगी एवं नायकराम पंडा तथा
नीचे : राष्ट्रीय नाट्य परिषद्, लखनऊ द्वारा प्रस्तुत 'हत्या एक आकार की'
में सरकारी वकील तथा इतिहासकार

(उ० प्र० सगीत नाटक अकादमी, लखनऊ के सौजन्य से)

उ० प्र० सगीत नाटक अकादमी, लखनऊ के तत्त्वावधान मे प्रदर्शित दो नाटकः
ऊपर : गांधी जन्म शताब्दी नाट्य समारोह मे कलाकेत सास्कृतिक मच
द्वारा मचस्थ 'मांझी' (१९६९ ई०) में
पंचम तथा ज्वाला (राज मिश्र) तथा
नीचे : रगनर्तन, बम्बई द्वारा मचित 'वसत रास' (१९७० ई०) मे कलावती
तथा झवेरी बहनें—नयना (राधा), रजना तथा दर्शना (कृष्ण)

(क्रमश उ० प्र० सगीत नाटक अकादमी, लखनऊ तथा रगनर्तन, बबई के सौजन्य से)

तीय विक्रम परिषद्, (१९५५ ई०), केन्द्रीय गीत एवं नाटक प्रभाग (१९६५ ई०), कानपुर की नाट्य भारती (१९६५ ई०), दिल्ली का थ्री आर्ट्स क्लब (मार्च तथा नवम्बर, १९७०), दिल्ली का नया थियेटर (जुलाई, १९७०), बम्बई के सोहराब मोदी की नाट्यसंस्था (सितम्बर, १९७०), हैदराबाद की सिटीजन्स आर्ट अकादमी (नवम्बर, १९७०) तथा बम्बई की झवेरी बहनों का रंगनर्तन (दिसम्बर, १९७०)।

विक्रम परिषद् ने आचार्य सीताराम चतुर्वेदी-कृत 'विक्रमादित्य' स्वयं नाटककार तथा डी० एन० सान्याल के सह-निर्देशन में भातखण्डे संगीत विद्यापीठ में १९, २० तथा २१ दिसम्बर, १९५५ को मंचस्थ किया, जिसमें सीताराम चतुर्वेदी, डॉ० राजेश्वर प्रसाद सक्सेना, काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', डी० एन० सान्याल तथा श्रीमती स्वरूप रानी बख्शी ने प्रमुख भूमिकाएँ कीं। यह नाटक नवीन आकाश रेखा संयुक्त पीठ मंच पर प्रस्तुत किया गया था, जिसे तीन दिन भीतर प्रायः डेढ़ लाख सामाजिकों ने देखा। डॉ० राजेश्वर प्रसाद सक्सेना के कथनानुसार इस प्रकार के मंच पर हर दृश्य संयुक्त रूप से प्राकृतिक दृश्यों में घुला-मिला होता है और खण्डों में विभक्त होता है। *यह पूर्ण बनावटी ही न होकर काफी हद तक असलियत का पुट लिये होता है।*[1] मंच पर प्रायः मंद प्रकाश ही रखा गया और प्रसाद के कक्ष और मंदिर में दीपदान द्वारा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य रक्षा की गई थी। रंग-दीपन के लिए बिन्दु प्रकाश, तीव्र प्रकाश तथा संगम प्रकाश (फोकस लाइट) का ही प्रयोग किया गया था।

केन्द्रीय संगीत एवं नाटक प्रभाग ने कर्नल एच० बी० गुप्ते के निर्देशन में गोविन्द वल्लभ पंत-कृत प्रहसन 'कठघर' प्रस्तुत किया। परिवार नियोजन सप्ताह के अवसर पर इस प्रहसन के सात प्रयोग हुए। नाट्य भारती ने १९६५ के उत्तरार्ध में ज्ञानदेव अग्निहोत्री-कृत 'वतन की आबरू' रवीन्द्रालय में प्रदर्शित किया। चुस्त एवं प्रवाह-पूर्ण संवाद, प्रभावी दृश्यबन्ध तथा सुन्दर पार्श्व संगीत के कारण यह नाटक उल्लेखनीय था। पशमीना तथा रेशमा के रूप में क्रमशः ज़रीना दाजी तथा दिलरोज़ दाजी की भूमिकाएँ स्वाभाविक रहीं। राधेश्याम दीक्षित का मौलाना इलाही बख्श, डेविस क्लीमेंट का महबूब तथा नरेन्द्र सचदेव का मुजाहिद सजीव रहा। *निर्देशन ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने किया।*

थ्री आर्ट्स क्लब के लेखक-अभिनेता-निर्देशक रमेश मेहता ने 'पैसा बोलता है (१६-१७ मार्च, १९७०) तथा 'अंडर सेक्रेटरी' (१८ मार्च, १९७०) रवीन्द्रालय में प्रस्तुत किये। पुरुषों में रमेश मेहता और ओम शर्मा तथा स्त्रियों में उमा सहाय और देवी कामलेश्वर की भूमिकाएँ सर्वोत्तम रहीं। रमेश मेहता का स्वर-विन्यास 'टिपिकल' ढंग का है, जिसमें बुलन्दी और गति की स्थिरता तो है, किन्तु उतार-चढ़ाव और प्रवाह कम है। उमा सहाय ने पात्रानुसार संवाद बोलने तथा नागरिक महिला सरोज ('अंडर सेक्रेटरी') तथा ग्रामीण नौकरानी तारा ('पैसा बोलता है') के रूप में एक-सा ही कला-दाक्षिण्य प्रदर्शित किया। दोनों नाटकों की कथा ड्राइंग रूम के भीतर ही चलती है, जिसके दृश्यबन्ध सुन्दर और भव्य थे। *प्रकाश-योजना में शीर्ष एवं पार्श्व प्रकाश का उपयोग किया गया था।*

क्लब ने १२ तथा १४ दिसम्बर, १९७० को रवीन्द्रालय में अपना 'बड़े आदमी' तथा १३ दिसम्बर को 'वाह रे इन्सान' अभिमंचित किये। इनमें प्रथम नाटक परिस्थितियों के व्यंग्य पर आधारित एक सुखांतिका है, तो द्वितीय एक घोर दुःखांतकी नाटक है—एक अभिव्यंजनावादी नाटक, जो सामाजिक को गहराई से सोचने के लिये विवश कर देता है। 'बड़े आदमी' का अभिनय-पद्धति स्वाभाविक और हास्य-नाटकोचित थी, जबकि 'वाह रे इंसान' की अभिनय-पद्धति प्रतीकत्व एवं अभिनटन पर आधारित थी। रमेश मेहता ने मिट्ठनलाल ('बड़े आदमी') की भूमिका में अपने आंगिक अभिनय एवं कार्य-व्यापार से हास्य उत्पन्न करने में जितनी कुशलता प्रदर्शित की, घन सेवकलाल ('वाह रे इन्सान') के रूप में गम्भीर अभिनय और अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति में उससे अधिक दाक्षिण्य का परिचय दिया। 'वाह रे इन्सान' में स्नेहलता वर्मा की तुलसी की भूमिका सर्वोत्कृष्ट रही। स्त्री-पात्रों में मोहिनी माथुर की

रतनी और आया यशोदा ('बड़े आदमी') की दोहरी भूमिकाएँ अच्छी थी। 'बड़े आदमी' के बहुधरातलीय बहुखंडीय मंच के प्रतिकूल 'वाह रे इन्सान' के प्रतीकार्थ के अनुरूप रंग-सज्जा भी प्रतीकात्मक थी।

नया थियेटर का एक दृश्यबन्धीय नाटक 'आगरा बाजार' (२, ३ और ४ जुलाई, १९७०) भारत सरकार के क्षेत्र प्रचार निदेशालय तथा गीत एवं नाटक प्रभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में रवीन्द्रालय में मंचस्थ हुआ। यह नाटक केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा पुरस्कृत हो चुका है।

रंग-एवं-फिल्म अभिनेता-निर्देशक सोहराब मोदी ने 'सुबह का भूला' (१३ सितम्बर १९७०) नाट्य कला केन्द्र में अनुरचित परिक्रामी मंच पर प्रस्तुत किया। मोदी द्वारा निर्देशित इस नाटक के संवाद सशक्त एवं चुटीले थे। यह श्रीमती ईवलिन हेनरी वुड के उपन्यास के प्रागजी दोशा के गुजराती नाट्य-रूपांतर का कवि 'मधुर'-कृत हिन्दी अनुवाद है। नाटक में एक चित्रकार के जीवन और उसकी शक्की पत्नी की कथा वर्णित है। अभिनय में पारसी-शैली का स्पर्श होते हुए भी वह कन्विंसिंग' था। रंगदीपन एवं रंग-सज्जा प्रभावी थी। संगीत फिल्मों के संगीत-निर्देशक अविनाश व्यास ने दिया।

यह उल्लेखनीय है कि मोदी अपने जीवन के प्रारम्भ में रंग-अभिनेता रहे हैं और अब वे फिल्म-जगत से विमुख हो पुनः रंगमंच आन्दोलन को गति देने में संलग्न हैं। इस कार्य में उन्हें अपनी पत्नी सुन्दरी मेहताब का सहयोग प्राप्त है।

'सुबह का भूला' के लखनऊ तथा कानपुर में कई प्रयोग हुए।

सिटीजन्स आर्ट अकादमी का बब्बन खाँ-कृत 'अदरक के पंजे' (९ से २० नवम्बर, ७० तक) परिवार-नियोजन के लिए प्रेरक आधार प्रस्तुत करने वाला सामान्य कोटि का एक लोकप्रिय प्रहसन है। लखनऊ (रवीन्द्रालय) में इसके १२ 'हाउस फुल' प्रदर्शन हुए। इस नाटक के हैदराबाद में १८२, बम्बई में १४०, बंगलौर, भोपाल तथा इंदौर में क्रमशः ५०, १२ तथा ६ प्रदर्शन हो चुके हैं। उर्दू-मिश्रित भाषा के इस प्रहसन के संवाद सामान्य स्तर के हैं, जिसमें हैदराबाद तथा बम्बई के आंचलिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। नाटक में क्लर्क रमतू खाँ (बब्बन खाँ) के असन्तुलित परिवार और दारिद्र्य की अप्रीतिकर कहानी के माध्यम से आबादी के विस्फोट के त्रासकारी परिणामों उसके दर्द और कराहों को हास्य के आवरण में लपेट कर व्यक्त किया गया है। हास्य के प्रसंगनिष्ठ होते हुए भी उसे शिष्ट और आह्लादकारी नहीं कहा जा सकता। घर आये बच्चों के मास्टर को 'उल्लू' तथा मकान-मालिक को 'गधा' बनाना इसी प्रकार का निम्नकोटि का हास्य है।

नायक रमतू खाँ की भूमिका में बब्बन खाँ तथा नायिका बिपाशा के रूप में कुमारी शाहनाज के अभिनय पात्रों के अनुरूप थे। केवल बब्बन खाँ ने ही सम्पूर्ण नाटक में प्राण डाल दिये, जबकि शाहनाज इस कार्य में सहायिका-मात्र रही है।

रंगनर्तन ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त झवेरी बहनों के मणिपुरी नृत्य-कार्यक्रम के अन्तर्गत दो नृत्य-नाटिकाएँ 'कैतव मिलन' तथा 'वसन्त रास' १८ दिसम्बर, १९७० को रवीन्द्रालय में प्रस्तुत किये। 'कैतव-मिलन' की कथा कृष्ण के मोहिनी का रूप धारण कर राधा से मिलन पर आधारित है, जबकि 'वसंत रास' में वसन्त अथवा होली के अवसर पर कृष्ण के चन्द्रावली के प्रति विशेष राग प्रकट करने पर राधा के मान मनुहार तथा अन्त में सभी के साथ मिल कर वसन्त रास करने की कथा वर्णित है। दोनों नाटिकाओं में राधा के रूप में नयना झवेरी तथा कृष्ण के रूप में दर्शना झवेरी के आंगिक अभिनय एवं कोमल गति-प्रचार एवं अंगहार अत्यन्त मोहक एवं सुन्दर थे।

रवीन्द्रालय—रवीन्द्र शताब्दी समारोह (१९६१ ई०) के उपलक्ष्य में भारत के अनेक राज्यों की राजधानियों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम पर रंगशालाएँ बनाई गई। लखनऊ का वातानुकूलित रवीन्द्रालय इसी रंग-

शृखला की एक महत्त्वपूर्ण कडी है, जो लगभग बीस लाख रुपये की लागत से सन् १९६४ में बन कर तैयार हुआ। इसका स्वत्व राज्य सरकार अथवा उसके सांस्कृतिक विभाग के पास न होकर नगर के प्रसिद्ध दातव्य ट्रस्ट–मोती-लाल स्मारक सोसाइटी के पास है। १९ नवम्बर, १९६४ को रवीन्द्रालय का उद्घाटन भारत के तत्कालीन प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री के कर-कमलो द्वारा हुआ। इसका प्रेक्षागार घोडे की नाल के आकार का है। इसमें नीचे तथा बालकनी दोनों में क्रमश. ४९३ या २८४ पीठासन (सीटें) हैं–कुल मिलाकर ७७७ पीठासन। इसमें श्रुतिसिद्धता, रगदीपन, यवनिका आदि की सुन्दर व्यवस्था है. यद्यपि इसे अभी पर्याप्त तथा आधुनिक रंग-शिल्प की दृष्टि से पूर्ण नही कहा जा सकता। मच के पृष्ठभाग (नेपथ्य) मे शृगार-कक्षों तथा स्नानागारो की व्यवस्था है। मच के साथ मंचाग्र (एप्रन स्टेज) भी है, जिसपर चढने को प्रेक्षागार से दोनों ओर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं।

नाट्य कला केन्द्र–सन् १९६४ मे नारी कला निकेतन में भी एक वृहत् रंगालय का निर्माण हुआ, जिसका नाम है–नाट्य कला केन्द्र।

इन दो रगालयों के बन जाने से न केवल नगर की रंगावश्यकता की पूर्ति हुई है, वरन् यहा की रग-चेतना को भी प्रोत्साहन मिला है।

मनोरंजन कर की समाप्ति–लखनऊ तथा उत्तर प्रदेश के रंग-इतिहास मे मनोरंजन कर को राज्य सरकार द्वारा दो बार हटाया जाना एक विशिष्ट घटना है–प्रथम बार उसे २१ अगस्त, १९६८ के एक राज्यादेश द्वारा हटाया गया था, किन्तु शीघ्र ही वह पुन. लगा दिया गया। अन्तिम बार मनोरंजन कर ३ अप्रैल, १९७० को चौधरी चरण सिंह की सरकार ने नाटकों को प्रोत्साहन देने के लिये हटाया। यह उल्लेखनीय है कि डॉ० अज्ञान ने २९ मार्च १९७० के 'नवजीवन' रमेश मेहता के दो नाटको–'पैसा बोलता है' तथा 'अन्डर सेक्रेटरी' की समीक्षा लिखते हुए सरकार के समक्ष यह सुझाव रखा था कि 'उत्तर प्रदेश में नाटको को जीवित रखने के लिये नाटक पर से मनोरंजन कर सदा के लिये हटा दिया जाय,' जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया। एतदर्थ उत्तर प्रदेश सरकार सभी रंगकर्मियों के अभिनन्दन की पात्र है।

कला-नगरी लखनऊ को कुँवर कल्याणसिंह, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा तथा सर्वदानन्द वर्मा जैसे प्रसिद्ध नाटककार और कुँवर कल्याणसिंह, अमृतलाल नागर, के० बी० चन्द्रा, कुमुदनागर, जे० एन० चोपड़ा, किशन खन्ना जैसे कुशल निर्देशक हिन्दी-रंगमंच को देने का गौरव प्राप्त है। लखनऊ मँजे हुए, सुरुचि-सम्पन्न और *अनुभवी स्त्री-पुरुष कलाकारो का तो गढ ही है। अमृतलाल नागर द्वारा हिन्दी-क्षेत्र में परिक्रामी एवं शकट रंगमंचों* का उपयोग लखनऊ की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

वाराणसी–नागरी नाटक मडली, रत्नाकर रसिक मडल और अखिल भारतीय परिषद् ने वाराणसी के हिन्दी रंगमच को सक्रिय बनाये रख कर उसे स्थिरता प्रदान की, किन्तु नागरी नाटक मडली को छोड़ शेष दोनों संस्थाएँ दीर्घायु न हो सकी। *नागरी नाटक मंडली की अद्यतन गतिविधियो का विवरण इस अध्याय मे पहले* दिया जा चुका है। वाराणसी में यही एकमात्र सस्था रही है, जो प्रसाद युग और आधुनिक युग में हिन्दी-रंगमंच के ध्वज को सदैव ऊँचे–और ऊँचे फहराती रही।

विक्रम परिषद्–पं० मदनमोहन मालवीय की प्रेरणा से वाराणसी में 'विक्रम परिषद्' की स्थापना हुई थी, जिसका उल्लेख द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है। इस परिषद् के तत्त्वावधान मे सीताराम चतुर्वेदी 'अभिनव भारत' के प्रयास से हिन्दू विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज मे संदूकिया रंगमच की स्थापना सन् १९३८ में हुई।[11] सीताराम चतुर्वेदी के अनुसार इस मच की यह विशेषता थी कि अभिनय-क्षेत्र (ऐक्टिंग एरिया) के तीनों ओर की दीवारें और उसकी छत भी तिपल्ली प्लाईवुड की बनाई गई थी और उसमें चित्रांकित परदो की जगह नीले, गहरे हरे और बैंगनी रंग के परदों का प्रयोग किया गया था, जो मंच के बाईं ओर बनी मचान पर बैठे

व्यक्ति द्वारा छत की ओर बनी चर्खी पर लपेट लिये जाते थे। इन परदों के साथ ही एक श्वेत परदे का भी उपयोग किया गया था, जिस पर छाया-दृश्य या चलचित्र भी दिखलाये जा सकते थे। वस्तुवादी रंगसज्जा को दृष्टि में रख कर वृक्ष, भवन, सीढ़ी इत्यादि के दृश्यबन्धों का भी उपयोग किया जाता था।[११] इस 'अभिनव रंगशाला' के रंगमंच पर सीताराम चतुर्वेदी के 'मंगलप्रभात', 'महाकवि कालिदास', 'शबरी' (१९४५ ई०), 'सेनापति पुष्यमित्र' (१९४६ ई०), 'अलका', 'अंगुलिमाल', 'उर्मिला', 'दतमुद्रा' आदि कई नाटक प्रदर्शित किये गये।[१४]

'सेनापति पुष्यमित्र' त्रिअंकी नाटक है, जिसके प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अंकों में क्रमश: पांच, तीन तथा पांच दृश्य हैं। नाटक का अन्त भरतवाक्य से होता है। इसमें सीताराम चतुर्वेदी (पुष्यमित्र), सुशीला शरणसिंह (पुष्यमित्र की कन्या शीला), केदारनाथ चतुर्वेदी (महाभाष्यकार पतंजलि), मुखर्जी (ज्योतिषी गोनर्दीय), सुमति भटनागर (बृहद्रथ की माँ राजमाता), अन्नपूर्णा वर्मा (बृहद्रथ की बहन देवनन्दा) ने प्रमुख भूमिकाएँ की थीं। नाटक की कथा सेनापति पुष्यमित्र द्वारा बृहद्रथ के वध तथा उसके सिंहासनासीन होने की ऐतिहासिक घटना पर आधारित है।

यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि सीताराम चतुर्वेदी ने अपने नाटकों को लेकर रंगमंच के साथ कुछ नये प्रयोग बम्बई में भी किये। उनके 'महाकवि कालिदास' (१९४७ ई०) में रूपाकृत दृश्यबन्ध (फार्म कट सेटिंग), 'देवता' (१९४८ ई०) में बहुधरातलीय मंच (जिसे उन्होंने 'एकदृश्य-बहुपीठात्मक दृष्टिबद्ध रंगमंच' नाम दिया है) और 'जय सोमनाथ' (१९५७ ई०) में वृत्तस्थ मंच (जिसे उन्होंने 'मध्यस्थ केन्द्रीय रंगमंच' कहा है) का उपयोग किया गया था। इसमें रंगशीर्ष पर सोमनाथ का त्रिपार्श्वीय मंदिर बनाया गया था। 'जय सोमनाथ' के रंगमंच का मंच-भाग ढका और प्रेक्षागार (स्टेडियम) खुला हुआ था।[१५] इसके अनन्तर सन् १९५८ में बम्बई के एक्सेलसियर थियेटर में हरिजन नगरी कोष के सहायतार्थ 'भगवान बुद्ध' नामक नृत्य-नाट्य निरंतर १५ दिन तक खेला गया।[१६] इसमें भारतीय विद्या भवन की ६० छात्र-छात्राओं ने भाग लिया था।

इसके अतिरिक्त वाराणसी, बलिया, लखनऊ में भी सीताराम चतुर्वेदी ने रंगमंच के कुछ उल्लेखनीय प्रयोग किये। परिषद् ने वाराणसी के चित्रा टाकीज में शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'पूर्व कालिदास' नाटक सन् १९४४ में मंचस्थ किया। वाराणसी के वसंत कन्या महाविद्यालय में 'मीराबाई' तथा 'जय सोमनाथ' एक दृश्यबन्ध पर खेले गये। इनमें यत्र-तत्र त्रिपार्श्वीय दृश्यपीठ की भी योजना की गई थी। यहीं पर चतुर्वेदी कृत 'मदन-दहन' नामक गीति-नृत्य-नाट्य भी मंचस्थ किया गया। बलिया में उनकी त्रिअंकी 'विश्वास' एक दृश्यबंध पर सन् १९४९, तथा 'पारस' सन् १९५८ में खेला गया था।

इन प्रयोगों के अतिरिक्त परिषद् ने स्त्री-पात्रों के लिए स्त्रियों का प्रयोग कर हिन्दी नाट्याभिनय के क्षेत्र में एक स्पृहणीय परम्परा का श्रीगणेश किया। परिषद् के नाटकों में भाग लेने वाली युवतियों में कमलिनी मेहता, विमला वैद्य, इन्दु मलकानी तथा पुष्पा मलकानी के नाम उल्लेखनीय हैं। सीताराम चतुर्वेदी न केवल मँजे हुए अभिनेता हैं, नाट्य-निर्देशक एवं कृतविद्य नाट्याचार्य भी हैं, जिन्हें अभिनय के साथ रंग-शिल्प का भी प्रगाढ़ ज्ञान है।

शिवराम नाट्य परिषद्—वाराणसी को शिवराम नाट्य परिषद् ने १४ दिसम्बर, १९४४ को बेनीराम त्रिपाठी 'श्रीमाली' तथा रसराज नागर के सह-लेखन के 'हमारे देश' नामक नाटक को मंचस्थ किया। 'श्रीमाली' ने इस नाटक का निर्देशन किया था।[१७]

आधुनिक युग में अन्य नगरों की भाँति वाराणसी ने भी करवट ली और यहाँ कई नाट्य-संस्थाएँ स्थापित हुईं—अभिनय कला मन्दिर (१९५० ई०), नटराज (१९५४ ई०) ललित संगीत-नाट्य संस्थान (१९५५ ई०), शारदा कला परिषद् (१९५६ ई०) तथा श्रीनाट्यम् (१९५७ ई०)।

अभिनय कला मन्दिर–अभिनय कला मन्दिर की स्थापना नवीन नाट्य-प्रयोगों तथा नाटक एवं रंगमंच के सैद्धान्तिक अध्ययन को दृष्टि में रखकर सन् १९५० में कुँवर जी अग्रवाल ने की। मन्दिर ने उपेन्द्रनाथ 'अश्क'–कृत 'लक्ष्मी का स्वागत', डॉ० रामकुमार वर्मा-कृत 'पृथ्वीराज की आँखें' तथा 'औरंगजेब की आखिरी रात', कृष्णदेवप्रसाद गौड-कृत 'दो बहरे प्रोफेसर', डॉ० धर्मवीर भारती-कृत *'नीली झील'* (१९५८ ई०) आदि कई एकांकी नाटक प्रस्तुत किये।

नटराज–नटराज की स्थापना सन् १९५४ में 'केशवराम टंडन, कृष्णदेवप्रसाद गौड़ तथा सर्वदानन्द वर्मा के प्रयास से हुई।[३३८] यह संस्था जगदीशचन्द्र माथुर-कृत 'कोणार्क' तथा डॉ० रामकुमार वर्मा-कृत 'कौमुदी महोत्सव' खेल कर निष्प्राण हो गई।

ललित संगीत-नाट्य संस्थान–जैन नाटक मण्डली की गतिविधियों को पुनः सुचारु रीति से चलाने के लिए सन् १९५५ में ललित संगीत-नाट्य संस्थान के नाम से उसका पुनर्गठन किया गया। संस्थान ने प्रेमचन्द के 'शतरंज के खिलाड़ी' तथा 'उग्र' की 'उसकी माँ' के नाट्य-रूपान्तरों का मंचन किया। इसके अतिरिक्त इसने 'चश्मे की दूकान', 'सोने का वरदान' तथा प्रसाद–'ध्रुवस्वामिनी' के प्रयोग भी किये, जिसके अनन्तर यह संगीत की ओर अभिमुख हो गई।[३३९]

शारदा कला परिषद्–शारदा कला परिषद् वाराणसी की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था है, जिसने सन् १९५८ से नाटकाभिनय के क्षेत्र में पग रखे। तब से यह संस्था प्रत्येक वर्ष एक या दो नाटक खेलती आ रही है। इसके द्वारा प्रस्तुत नाटक हैं–रामबालक शास्त्री-कृत 'महामना' (२४ नवम्बर, १९५८), सीताराम चतुर्वेदी-कृत 'विश्वास' (२२ नवम्बर, १९५९) *गोविन्द सिंह-कृत 'गुनहगार' (१७ अप्रैल, १९६०), विनोद रस्तोगी-कृत 'नये हाथ' (२५ सितम्बर, १९६०), उदयशंकर भट्ट-कृत 'नया समाज' (८ अप्रैल, १९६१), राजेन्द्रकुमार शर्मा-कृत* 'रेत की दीवार' (१७ फरवरी, १९६२), आचार्य आत्रेय-कृत 'हम भी इंसान हैं' (१२ फरवरी, १९६२) तथा रेवतीशरण शर्मा-कृत 'अपनी धरती'। 'हम भी इंसान हैं' के दो तथा 'अपनी धरती' के आठ प्रयोग हो चुके हैं। सन् १९६७ में १४, १५ तथा २६ जनवरी को रामकुमार 'भ्रमर'–कृत 'खून की आवाज' नाटक मंचस्थ किया गया।[३४०] इसके अनन्तर वसंत कानेटकर-कृत 'ढाई आखर प्रेम का' (१९६८ ई०), पु० ल० देशपांडे-कृत 'कस्तूरी मृग' (१९६९ ई०) तथा अशोक पराडकर-कृत 'वह दुल्हन बनेगी' (१९७० ई०) का मंचन किया गया।

श्रीनाट्यम्–श्रीनाट्यम की स्थापना सन् १९५७ में हुई। संस्थापकों में प्रमुख थे—प्रभात कुमार घोष, चन्द्रबहादुर सिंह, कुँअर बहादुर सक्सेना, त्रिलोचन प्रसाद भार्गव, अवधविहारीलाल, गोविन्द प्रसाद केजड़ीवाल आदि। श्रीनाट्यम् का वाराणसी में पहला नाटक अवधविहारीलाल तथा प्रभातकुमार घोष के सह-लेखन का 'प्लासी' (१९५८ ई०) था, जिसका उद्घाटन २२ जनवरी, १९५८ को तत्कालीन सूचना निदेशक डॉ० भगवती-*शरण सिंह ने किया था। जून, १९५८ में अवधविहारीलाल-कृत एकांकी 'मुझे मेरा मनुआ लौटा दो' और 'बहादुर-शाह का फैसला'* खेले गये। इसी वर्ष के अन्त में *नागरी नाटक मंडली की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर तथा सन्* १९५९ में राज्य सरकार द्वारा लखनऊ में आयोजित नाट्य-समारोह में 'वे भी इंसान हैं' *प्रस्तुत किया गया।* श्रीनाट्यम् के अवधविहारीलाल को समारोह में राज्य के सर्वश्रेष्ठ अभिनय के लिए पुरस्कार प्राप्त हुआ। यह सत्य वंद्योपाध्याय के 'एराओ मानुष' का दयागिरि द्वारा किया गया हिन्दी-रूपान्तर है। यह पाँच बार खेला जा चुका है।

इसके अतिरिक्त 'परिचय' (दयागिरि द्वारा एक बंगला नाटक का अनुवाद), 'जय सोमनाथ' (क० मा० मुंशी के उपन्यास 'गुजरातनो नाथ' का अवधविहारीलाल द्वारा नाट्य-रूपान्तर, १९५९ ई० डॉ० रामकुमार वर्मा का 'औरंगजेब की आखिरी रात' (एकांकी, १९५९ ई०) और कृष्णदेव प्रसाद गौड़ का 'दो बहरे प्रोफेसर' (हास्य

एकाकी, १९५९ ई०), 'बड़े घर की बेटी' (प्रेमचन्द की इसी नाम की कहानी का अवधविहारीलाल-कृत नाट्य-रूपान्तर, एकाकी), 'अपराधी', 'गोदान' (प्रेमचन्द के उपन्यास का के० बी० चन्द्रा-कृत नाट्य-रूपान्तर, १९६० ई०), 'नींव के पत्थर' (१९६१ ई०), अश्क का 'अलग-अलग रास्ते' (१९६१ ई०), आदि नाटक खेले जा चुके हैं।

'जय सोमनाथ' की तीन और 'गोदान' की दस रात्रियाँ हो चुकी हैं। 'जय सोमनाथ' की रंग-सज्जा और वेश-सज्जा में ऐतिहासिकता का पूरा ध्यान रखा गया था। इसके विपरीत 'गोदान' में ग्राम्य वातावरण और वेश-भूषा, लोकधुनों पर रचित संगीत, रंग-सज्जा और पात्रों के स्वाभाविक अभिनय के कारण उसके उपस्थापन की सर्वत्र प्रशंसा की गई। इसका उद्घाटन रूसी दूतावास के तत्कालीन सांस्कृतिक दूत डॉ० स० प० दीमशीत्स ने करते हुए कहा था–'भारत में ऐसा नाटक देखने का मेरा पहला अवसर है'।[११]

श्रीनाट्यम् ने इस शती के सातवें दशक में भी कई नाटक मंचस्थ किये, जिनमें प्रमुख हैं : 'आकाशदीप' (१४ जनवरी, ६२, प्रसाद की कहानी का नाट्य-रूपान्तर), रमेश मेहता-कृत 'जमाना' (१९६२), कृष्णचंदर-कृत 'दरवाजा खोल दो' तथा कु० कुसुम गिरि-कृत 'फाँसी' (२४ मार्च, १९६३), 'रक्तदान' (१९६३), द्विजेन्द्र–'शाहजहाँ' (२२-२३ दिसम्बर, १९६३), 'पाँच साल बाद' (१९६४), कु० कुसुम गिरि-कृत 'नारायणी के राम' (१२-१३ दिसम्बर, ६४ तथा २६ दिसम्बर, १९६६), कणादि ऋषि भटनागर-कृत 'संगम' (५-६ जून, १९६५), 'हमारा फर्ज' (१८-१९ दिसम्बर, १९६५), 'आराम हराम' (१९६६) आदि। यह उल्लेखनीय है कि 'जमाना' के इक्कीस तथा 'रक्तदान' के तेईस प्रयोग हो चुके हैं। २ जनवरी, ६४ को श्रीनाट्यम् ने अनामिका (कलकत्ता) के नाट्य समारोह में प्रेमचन्द 'गोदान' मंचस्थ कर प्रशंसा प्राप्त की।

सन् १९६९ में श्रीनाट्यम् ने २६ फरवरी से ३ मार्च तक छः-दिवसीय नाट्य समारोह का आयोजन मुरारीलाल मेहता स्मारक प्रेक्षागृह में किया, जिसका उद्घाटन सीताराम चतुर्वेदी ने किया। इस अवसर पर *श्रीनाट्यम् द्वारा प्रेमचन्द–'गोदान' (के० बी० चन्द्रा का नाट्य-रूपान्तर)*, कलाकार, कलकत्ता द्वारा *'कलाएँ जाग* उठीं (रूपक), तथा कृष्णप्रसाद श्रीवास्तव-कृत *'काश्मीर हमारा'* एवं 'बेढब' बनारसी-कृत 'अभिनेता' (एकाकी), अदाकार, कलकत्ता द्वारा आर० जी० आनन्द-कृत 'भूचाल' तथा 'रजनीगन्धा' (धनंजय वैरागी के बँगला नाटक का डॉ० प्रतिभा अग्रवाल कृत हिन्दी अनुवाद), तथा प्रगति द्वारा रेवतीशरण शर्मा-कृत 'अपनी धरती' नाटक मंचस्थ किये गये।

'गोदान' के होरी और धनिया के रूप में रामउजागर शर्मा तथा श्रीमती लता मिश्र के अभिनय सजीव रहे। *'काश्मीर हमारा' का मंचन एवं रंग-सज्जा अच्छी थी, किन्तु सामाजिकों के* शोर-गुल के कारण पूरा नहीं खेला जा सका। 'द्विअंकी भूचाल में' कृष्णकुमार तथा श्रीमती वीणा दीक्षित की भूमिकाएँ काफी प्रभावी रहीं। 'रजनीगन्धा' भी द्विअंकी है, जिसमें श्रीमती सुषमा सहगल ने नायिका आशा चौधरी की भूमिका का निर्वाह उत्तम ढंग से किया। 'अपनी धरती' के संवाद मर्मस्पर्शी थे और अभिनय भी उत्तम रहा।

११ अक्टूबर, १९६८ को कला भवन, कलकत्ता द्वारा आयोजित नाट्य-प्रतियोगिता में शिवमूरत सिंह-कृत 'अँधेरी रोशनी' रवीन्द्र सदन के विशाल मंच पर प्रदर्शित कर श्रीनाट्यम् ने *तृतीय स्थान तथा ५०१) रु० का* पुरस्कार प्राप्त किया।

२७-२८ दिसम्बर, ६९ को प्रेमचन्द–'निर्मला' (शिवमूरत सिंह-कृत नाट्य-रूपान्तर) प्रभात कुमार घोष के निर्देशन में खेला गया, जिसमें दहेज और अनमेल विवाह की समस्या को उजागर किया गया है। कु० कुमुद ने निर्मला की तथा राम उजागर शर्मा और अनिल कुमार मुखर्जी ने क्रमशः मुं० तोताराम तथा उदयभानुलाल की भूमिकाएँ कीं।

श्री नाट्यम् के १३वें वार्षिकोत्सव पर ४ मार्च से ८ मार्च, १९७० तक द्वितीय पंच-दिवसीय नाट्य-समारोह का आयोजन किया गया। इसमें श्रीनाट्यम् ने 'निर्मला' (४ मार्च), प्रगति ने बादल सरकार-कृत 'बाकी इतिहास' (५ मार्च, प्रतिभा अग्रवाल-कृत हिन्दी-रूपान्तर), त्रिवेणी नाट्य मंच, इलाहाबाद ने भोलानाथ गहमरी-कृत 'लम्बे हाथ' (७ मार्च) तथा अनामिका, कलकत्ता ने बादल सरकार-कृत 'एवम् इन्द्रजित्' (८ मार्च, प्रतिमा अग्रवाल-कृत हिन्दी-रूपान्तर) मंचस्थ किया।

'बाकी इतिहास' में नायक शरद की भूमिका अवतारकृष्ण बुदकी ने तथा पत्नी वासन्ती की भूमिका प्रतिभा बजाज ने की। निर्देशक एस० राजदीप ने सीतानाथ का पाठ (पार्ट) किया। 'बाकी इतिहास' आत्महत्या, सामूहिक अपराध-भावना तथा असगत दर्शन की एक मनोवैज्ञानिक कथा है, जिसके नायक शरद को जब यह पता चलता है कि नौकरी मे उसकी पदोन्नति होने वाली है, तो आत्महत्या का विचार त्याग कर अनन्त जीवन और भविष्य के प्रति आशावान एव आस्थावान हो उठता है।

'लम्बे हाथ' एक समस्यामूलक सामाजिक नाटक है, जिसमे देश के वर्तमान राजनैतिक एव सामाजिक विरोधाभास के बीच आगे बढने की प्रेरणा दी गई है।

'एवं इन्द्रजित्' बादल सरकार की एक विचारोत्तेजक कृति है, जिसका नायक इन्द्रजित् थक कर जीवन के सत्य को स्वीकारता है और उसकी पत्नी मानसी भी 'जैसे भी हो, पथ सामने है और उस पर बढ़ना है' कल्याण चटर्जी का इन्द्रजित तथा अन्नपूर्णा घोष की मानसी, दोनों अपनी भूमिकाओं का ईमानदारी से निर्वाह करते हैं।

६ मार्च को श्रीनाट्यम के बाल-कलाकारो ने 'अनोखी सूझ' (एकाकी) तथा ललित कला संगम, शिवपुर ने 'लव-कुश' (एकाकी) प्रस्तुत किया।

गत १३ वर्षों की अल्पायु मे श्रीनाट्यम् लगभग ४३ नाटक एव नाट्य-रूपान्तर प्रस्तुत कर चुका है, जो अपने आप मे एक उपलब्धि है।

श्रीनाट्यम् को भारत सरकार के सास्कृतिक मंत्रालय से ७५००) रु० का अनुदान प्राप्त हो चुका है।

लोक कला केन्द्र—लोक कला केन्द्र ने दिसम्बर, १९६९ में जगदीश चन्द्र माथुर-कृत 'कोणार्क' अध्यापक-कलाकारों के सहयोग से प्रस्तुत किया।

नव सस्कृति सगम—नव सस्कृति संगम वाराणसी की अपेक्षाकृत एक नई सस्था है, जिसने गत दशक में कुछ सुन्दर नाट्य-प्रदर्शन किये। ३० अक्टूबर, १९६७ को सगम ने डॉ० शम्भुनाथ सिंह-कृत 'दीवार की वापसी' संस्कृत विश्वविद्यालय के रगमंच पर अभिनीत किया। २५ फरवरी, १९६८ को नगर में बाल रंगमंच की प्रतिष्ठा के लिये सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के हाल में एक गोष्ठी का आयोजन किया गया और सायंकाल बच्चों के अनेक रोचक कार्यक्रमों के साथ काव्य-नाटक 'छोटा-सा घर' मचस्थ किया गया।

विचार-विमर्श के अनन्तर गोष्ठी इस बात पर एकमत रही है कि प्रत्येक विद्यालय मे रग-कार्यों के संचालन के लिए एक रंग-विशेषज्ञ की नियुक्ति की जानी चाहिए तथा साथ ही, उपयुक्त एवं प्रशिक्षित निर्देशकों की सेवाएँ भी उपलब्ध की जानी चाहिए। प्रत्येक मुहल्ले मे बच्चो के नाट्य-दल बनाये जाने चाहिए।[३५]

'छोटा-सा घर' सैम्युअल मार्शाक की कृति का हिन्दी काव्य-रूपान्तर है, जिसका निर्देशन सुतपा चटर्जी ने किया। नाटक मे एक बालक यह प्रस्ताव करता है कि आओ, इस नाटक को खेलें और सादे मच पर उपस्थित सभी बालक-बालिकायें तख्त, मेज, कुर्सी, धोती, गमलो आदि की सहायता से रंग-सज्जा तैयार कर नाटक प्रारम्भ कर देती हैं। नाटक पशु-पक्षियों की लोक-कथा पर आधारित है।

हिन्दी मे बाल रंगमच की प्रतिष्ठा की दिशा में संगम का यह एक शुभ प्रयास है।

प्रगति-प्रगति भी वाराणसी की एक नयी संस्था है, जिसकी स्थापना विजय कुमार अग्रवाल ने साहित्य, संगीत तथा नाट्य-कला के चतुर्दिक् विकास के उद्देश्य से १४ जनवरी, १९६८ को की थी। प्रगति द्वारा अब तक अभिनीत नाटक हैं—प्रेम कश्यप 'सोज'-कृत 'शहीदों की बस्ती', विजय कुमार अग्रवाल-कृत 'दीप जलता ही रहा', रेवतीसरन शर्मा-कृत 'अपनी धरती', अज्ञेय-कृत 'बाबू' तथा बादल-सरकार-कृत 'बाकी इतिहास' (५ मार्च, १९७०, श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल-कृत हिन्दी-रूपान्तर)। अन्तिम नाटक श्रीनाट्यम् द्वारा आयोजित नाट्य-समारोह के अवसर पर प्रस्तुत किया गया था। निर्देशन एस० राजदीप ने किया।

ललित कला संगम—नवम्बर, १९६९ में शिवपुर (वाराणसी) में ललित कला संगम की स्थापना संगीत, नृत्य तथा नाटक के विकास के लिए हुई। संगम 'अनहोनी' 'कैदी की कराह' तथा 'लव-कुश' (१९७० ई०) मंचस्थ कर चुका है। 'लवकुश' निर्देशक महेश्वर पति त्रिपाठी (राम), ज्वाला प्रसाद केशरी (लक्ष्मण), गिरीश कुमार (वाल्मीकि), सर्वभूषण शाह (लव), पुरुषोत्तम कुमार जालान (कुश), मधु (सीता) आदि ने प्रमुख भूमिकाएँ कीं।

अन्य नाट्य-संस्थाएँ—वाराणसी में अनुपमा, नाला परिषद् आदि अपेक्षाकृत नयी संस्थाएँ भी इस दिशा में अच्छा कार्य कर रही हैं। अनुपमा ने सन् १९७१ में मोहन राकेश-कृत 'आधे अधूरे' का आरगण किया। नाट्य परिषद् 'माटीर दाम' (१९७२ ई०) का सफल प्रदर्शन कर चुकी है।

हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह—वाराणसी का गत सौ वर्षों का रंग-इतिहास हिन्दी रंगमंच के इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ रहा है। ३ अप्रैल, १८६८ को यहाँ के थियेटर रायल ('असेम्बली रूम्स') में 'जानकीमंगल' खेला गया था, जिसकी पुण्य स्मृति में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह का चार-दिवसीय आयोजन ३ अप्रैल, १९६८ से किया। इस दिन सायंकाल ६ बजे वाराणसी के साहित्यकारों तथा कलाकारों ने कबीर चौरा के राधास्वामी बाग में माल्यार्पण और दीपदान किया। कहते हैं कि यहीं पर कथित 'बनारस थियेटर' था, जहाँ 'जानकीमंगल' का अभिनय हुआ था, परन्तु ये दोनों तथ्य भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं। कुँअर जी अग्रवाल की नई खोज के अनुसार 'जानकीमंगल' का अभिनय नगर के पश्चिम में तीन-चार मील दूर स्थित सैनिक-क्षेत्र में बने 'असेम्बली रूम्स एण्ड थियेटर' में हुआ था, जिसे अब 'पुराना नाच-घर' कहते हैं। इस थियेटर का भवन विजयनगर के महाराजा ने १९ वीं शती के प्रारम्भ में सैनिकों के मनोरंजनार्थ बनवा कर उन्हें भेंट कर दिया था।[1] इस महत्वपूर्ण खोज से सभी अनुमानों और कथित जनश्रुतियों के आधार पर लगाई गई अटकलबाजियों का अन्त हो जाना चाहिए, तथापि स्वयं 'जानकीमंगल' के अन्तर्साक्ष्य से यह बात प्रमाणित नहीं होती।

४ और पाँच अप्रैल को क्रमशः भारतेन्दु तथा प्रसाद के निवास-स्थानों पर प्रत्येक की कृतियों, पाण्डुलिपियों तथा अन्य प्राप्य वस्तुओं की प्रदर्शिनियाँ की गईं।

५ अप्रैल को सभा के प्रांगण में नाट्य परिषद् द्वारा ज्ञानदेव—'नेफा की एक शाम' तथा ६ अप्रैल को भारतेन्दु—'सत्य हरिश्चन्द्र' (संक्षिप्त रूप में) प्रस्तुत किया गया। ६ अप्रैल के समापन समारोह की अध्यक्षता पृथ्वीराज कपूर ने की और उसका उद्घाटन भारत के गृह मन्त्री यशवन्तराव चव्हाण ने की। इस अवसर पर सभा ने 'नागरी पत्रिका' का 'हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी विशेषांक' (मार्च—अप्रैल, १९६८) प्रकाशित किया।

हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी देश भर में धूमधाम से मनाई गई।

प्रयाग—प्रसाद युग की भाँति आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में भी प्रयाग की नाट्य-विषयक गतिविधियाँ विशेष रूप से मुखर होकर सामने नहीं आयी। सन् १९४५ में भारतीय जन-नाट्य संघ की शाखा खुलने पर और बाद में

सन् १९४८ और उसके बाद पृथ्वी थियेटर्स के उत्तरी भारत के दौरे के मध्य यहाँ आने पर इस क्षेत्र मे कुछ सक्रियता आई । प्रयाग के नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र यद्यपि प्रसाद युग के अन्त में इब्सन की नई नाट्य-पद्धति पर नवीन विषयों को लेकर नाटक लिखने लगे थे, जो आधुनिक रंगमंच पर सरलता से खेले भी जा सकते थे, किन्तु उनके नाटक प्रयोगक्षम न बनकर पाठ्य ग्रंथ बनकर रह गये । उनकी पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में चर्चा खूब हुई—इसलिए कि उनके बौद्धिक समाधान भारतीय जनमानस की प्रकृति के अनुकूल न थे । मिश्र के 'सिन्दूर की होली' के अभिनीत होने के अतिरिक्त उनके अन्य नाटकों के मंचन की चर्चा कही सुनने मे नही आई ।

सन् १९५० के उपरान्त प्रयाग मे नाटक होने प्रारम्भ हो गए और उनको प्रेक्षक वर्ग भी ऐसा मिला, जो प्रबुद्ध और जागरूक था । जो सस्थायें यहाँ बनी, वे भी ऐसी थी, जो नये प्रयोगों मे, नाटक के उच्चस्तरीय उपस्थापन मे विश्वास करती थी, किन्तु उपस्थापन की संख्या की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है । आज की जीवित अधिकाश नाट्य-संस्थायें बीसवी शती के छठें दशक या बाद की उपज हैं, जिनमे उल्लेखनीय हैं : नीटा (१९५१ ई०), इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोशिएसन (१९५५ ई०), रंगवाणी (१९५५ ई०), रंगशाला (१९५६ ई०) थी आर्ट्स सेंटर, नाट्य केन्द्र (१९५८ ई०), सेतुमंच, ड्रामेटिक आर्ट्स क्लब (१९५९ ई०), प्रयाग रगमच (१९६१ ई०), त्रिवेणी नाट्य संघ (१९६३ ई०) प्रयाग नाट्य सघ (१९६४ ई०) आदि ।

नीटा—सन् १९५१ में स्थापित नीटा (नार्थ इंडियन थियेट्रिकल एसोशिसन) ने सर्वप्रथम उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—कृत 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' तथा 'मस्केबाजो का स्वर्ग' एकाकी प्रस्तुत किए । १८ दिसम्बर, १९५३ को नीटा ने 'अश्क'-कृत 'अलग-अलग रास्ते' पैलेस थियेटर (छविगृह) के मंच पर आरंगित किया ।

२६ सितम्बर, १९५४ को रवीन्द्रनाथ ठाकुर—कृत प्रहसन 'चिर कुमार सभा' का हिन्दी रूपान्तर भी पैलेस थियेटर मे मंचस्थ किया गया, जिसका निर्देशन कवि भारत भूषण अग्रवाल ने किया । इसमे आशा पाल, देशी सेठ आदि ६ स्त्री कलाकारो ने स्त्री भूमिकाएँ की । इसके पूर्व कल्चरल सेंटर, इलाहाबाद के साथ मिलकर नीटा ने ३-४ सितम्बर, १९५४ को 'अनारकली' प्रस्तुत किया ।

इस सस्था ने भगवतीचरण वर्मा के दो एकांकी—'दो कलाकार' तथा 'सबसे बड़ा आदमी' भी मचावतरित किए ।

इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोसिएशन—इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोसिएशन ने *अपनी स्थापना (१९५५ ई०) से आलोच्य अवधि के अन्त तक कई नाटक खेले, जिनमे प्रमुख हैं—जगदीशचन्द्र माथुर-कृत 'कोणार्क', के० बी० चन्द्रा-कृत 'सरहद', दयाप्रकाश सिन्हा-कृत 'भँवर', सोफोक्लीज—'सेन्टिगनी' (१९६४ ई०) आदि*[११]

१९६८-६९ ई० के वित्तीय वर्ष की अन्तिम तिमाही मे एसोसिएशन ने दो नाटक प्रस्तुत किए—'पहचाना चेहरा' (माइकिल क्लटनहटन-कृत 'राउण्ड एबाउट' का केशवचन्द्र वर्मा-कृत हिन्दी रूपांतर) तथा शान्ति मेहरोत्रा-कृत 'एक और दिन' । 'पहचाना चेहरा' में पति, पत्नी और प्रेयसी का त्रिकोण तथा प्रेयसी के प्रति पति की आसक्ति के फलस्वरूप पत्नी की प्रतिक्रिया का निरूपण हुआ है । निर्देशन मे लेखक के मन्तव्य के विरुद्ध व्याख्या, दृश्य-बहुलता और रंगोपकरणो के प्राचुर्य के कारण नाटक का उपस्थापन सफल न हो सका । इस त्रिअंकी नाटक का निर्देशन डॉ० सुधीरचन्द्र ने किया । 'एक और दिन' में परिवार के परम्परागत संस्कारों तथा नवीन मूल्याकन में संघर्ष तथा तरुण पीढी की कुंठा और विद्रोह का चित्रण हुआ है । दृश्यबन्ध, रंगदीपन, ध्वनि-संकेत आदि की उपयुक्तता के कारण नाटक की प्रस्तुति प्रभावपूर्ण रही । निर्देशन हीरा चड्ढा ने किया । इसमे 'कमल सकलानी' (लडकी), अतुल सकलानी (लडका) हीरा चड्ढा (माँ) तथा विजय श्रीवास्तव (पिता) के अभिनय सजीव थे ।

इन नाटकों के अनन्तर एक विचार-गोष्ठी हुई, जिनमे इन नाटको के कथ्य, उपस्थापन, अभिनय, दृश्य-सज्जा, पार्श्व सगीत आदि विविध पक्षों पर विचार किया गया ।

सन् १९६९ मे ज्ञानदेव–'शुतुरमुर्ग' मचस्थ हुआ, जिसे ब्रेख्ट की नाट्य पद्धति पर सरनबली श्रीवास्तव के निर्देशन मे प्रस्तुत किया गया। सुधीन्द्रचन्द्र (राजा), उषा सप्रू (रानी), प्रभात मण्डल (महामत्री), मामूलीराम (सरनबली श्रीवास्तव) आदि ने प्रमुख भूमिकायें की। सन् १९७० मे बादल सरकार–कृत 'बाकी इतिहास' तथा मोलियर-'बिच्छू' प्रस्तुत किये गए।

रगवाणी—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के १०६वें जन्म-दिन (२३ सितम्बर, १९५५) पर महादेवी वर्मा द्वारा स्थापित रगवाणी ने अमृतलाल नागर-कृत 'युगावतार' का मचन किया, जिसमे विजय घोष ने भारतेन्दु की सफल भूमिका की। बडे-बडे साहित्यकारो और रगकर्मियो के सहयोग से बनी यह सस्था अधिक काल तक सक्रिय न रह सकी।

रगशाला—श्रीमती विमला रैना द्वारा स्थापित रगशाला (१९५६ ई०) ने 'न्याय' (१९५६ ई०), विमला रैना-कृत 'तीन युग', विष्णु प्रभाकर-कृत 'सवेरा', 'खडहर', 'रोटी और कमल का फूल', आदि कई नाटक आरगित किये। सन् १९५७ मे प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध की शताब्दी के अवसर पर 'बहादुर शाह' 'जफर' नाटक मचस्थ किया गया।

थ्री आर्ट्स सेन्टर—थ्री आर्ट्स सेन्टर के नाट्य-क्षेत्र मे एसोसिएशन के विचारोत्तेजक नाटको की अपेक्षा हल्के-फुलके मचोपयोक्त नाटक खेलकर अधिक सफलता प्राप्त की है। सेंटर द्वारा प्रस्तुत नाटको मे उल्लेखनीय हैं–चन्द्रा-'सरहद', रमेश मेहता-कृत 'ढोग' और 'जमाना', प्रसाद की कहानी 'आकाशदीप' का नाट्य-रूपान्तर, 'लोहा-सिह' (भोजपुरी बोली का हास्य-नाटक) [१०] मोलियर–'बिच्छू' (स्कार्पियन' का उर्दू रूपान्तर), नरेश मेहता-कृत 'सरोवर के फूल' (१९६५ ई०) तथा नृत्य-नाट्य 'अगुलिमाल' (१९६५ ई०)।

कुछ काल बाद थ्री आर्ट्स सेंटर ने अपने हिन्दी नामक 'रगशिल्पी' के ध्वज के अन्तर्गत नाटक प्रदर्शित करने प्रारम्भ कर दिए। १० मार्च, १९६८ को उसने दो एकाकी नाटक प्रयाग महिला विद्यापीठ के रंगभवन मे प्रस्तुत किये–धर्मवीर भारती-कृत 'सृष्टि का आखिरी आदमी' तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा-कृत 'तीसरा आदमी'। 'सृष्टि का आखरी आदमी' काव्य-एकाकी है, जिसे अवधेशचन्द्र के निर्देशन मे बहुधरातलीय मच पर प्रस्तुत किया गया। निमाई बोस का शासक तथा गोविन्द बनर्जी का वैज्ञानिक जीवन्त पात्र थे। पार्श्व-सगीत तथा ध्वनि-सकेत कानपुर के असित डैनियल्स ने दिये। 'तीसरा आदमी' भी अवधेशचन्द्र के निर्देशन मे काफी सफल रहा।

रगशिल्पी–सन् १९६९ मे रगशिल्पी ने दो नये नाटक अभिमचित किये–दुष्यन्त कुमार का गीति-नाटक 'एक कठ विषपायी' तथा विनोद रस्तोगी-कृत 'दैनिक जनतन्त्र'।

नाट्य केन्द्र–जनवरी, १९५८ मे नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, श्रीमती सादिका सरन आदि के प्रयास से नाट्यकेन्द्र की स्थापना हुई, जिसके अध्यक्ष थे स्व० पुरुषोत्तमदास टण्डन और कोषाध्यक्ष थे कविवर सुमित्रानन्दन पन्त। अगस्त, १९५८ मे इस केन्द्र ने नाट्य-प्रशिक्षण का कार्य आरम्भ किया।

केन्द्र ने लक्ष्मीनारायण लाल के कई नाटक मचस्थ किए–'सुन्दर रस' (४ नवम्बर, १९५८), 'रातरानी' (२१ फरवरी, १९६१, आदि। ये नाटक पैलेस थियेटर के रगमच पर प्रस्तुत किये गये। नाटको का निर्देशन स्वय डॉ० लाल ने किया। सघ को जनवरी, १९६१ से सगीत नाटक अकादमी से मान्यता प्राप्त हो गई।

सेतुमच–सेतु मच ने प्रयाग के हिन्दी रगमच पर प्रयोगशील साहित्यिक कहे जाने वाले नाटक खेलकर विशेष ख्याति अर्जित की है। प्रसाद–'चन्द्रगुप्त' और भारती–'अन्धा युग' तथा 'नदी प्यासी थी' (एकाकी) उसके विशिष्ट नाट्य-प्रयोग हैं।[११] सेतुमच द्वारा प्रस्तुत अन्य नाटक हैं–लक्ष्मीकान्त वर्मा-कृत 'सीमान्त के बादल' (काव्य-नाटक') जो भारत पर चीनी आक्रमण से सम्बन्धित है।

ड्रामेटिक आर्ट क्लब—ड्रामेटिक आर्ट क्लब (सस्था० १९५९ ई०) ने भी अगले कुछ वर्षों के भीतर कई

नाटक प्रस्तुत किये, जिनमे अंग्रेजी के उपन्यास–'विटनेस फार प्रासिक्यूशन' का हिन्दी नाट्य-रूपांतर 'उसे मालूम था' तथा विमला रैना के नाटक 'सवेरा', 'रोटी और 'कमल का फूल' तथा 'तीन युग' (१९६४ ई०) उल्लेखनीय हैं।[१३७]

प्रयाग रंगमंच– रंगकर्म के योग्य व्यक्तियो के निर्माण' तथा 'नाटक और रंगमचीय कला के अध्ययन और अन्वेषण' के उद्देश्य को लेकर ३० जुलाई, १९६१ को प्रयाग रंगमच की स्थापना हुई। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक ओर गोष्ठियो, व्याख्यान-मालाओ, नाट्य-कला के अध्ययन एवं अभ्यास और दूसरी ओर विभिन्न शैलियो के नाटकों के उपस्थापन का आयोजन किया गया। हिन्दी-रगमंच आंदोलन को सही मानों में क्रियाशील बनाने के लिये इस सस्था ने सन् १९६४ मे नगर की अन्य दो नाट्य-संस्थाओ के सहयोग से प्रयाग नाट्य संघ की स्थापना की और उसके तत्त्वावधान मे होन वाले विविध कार्यक्रमो मे सक्रिय रूप से भाग लिया।[१३८]

रग-आदोलन की सबसे बड़ी दुर्बलता है–सामाजिकों का अभाव, अतः इस अभाव को दूर करने के लिए प्रयाग रगमच ने सामाजिक सदस्यता का आन्दोलन (ड्राइव) प्रारम्भ किया। प्रयाग मे सर्वाधिक सामाजिक-सदस्य प्राप्त करने मे यह सस्था सफल रही है।

प्रयाग रगमच ने हिन्दी के अनेक मौलिक नाटक तथा नाट्य-रूपातर प्रस्तुत किये हैं, यथा–रवीन्द्र 'गोरा' (७-८ अक्टूबर तथा २४-२५ नवम्बर. १९६१, जीवन लाल गुप्त-कृत नाट्य रूपातर), 'कस्तूरी मृग' (१७ फरवरी तथा १३ दिसम्बर, १९७२, पु० ल० देशपाडे-कृत 'तुझे आहे तुजे पाशी' का हिन्दी-रूपातर), उपेन्द्रनाथ 'अश्क'-कृत 'कैद' (४ अक्टूबर, ६२), 'प्रेम तेरा रग कैसा' (५ अक्टूबर, ६३ तथा १५ अक्टूबर, ६५, बसत कानेटकर-कृत 'प्रेमा तुझा रंग कसा' का नाना पराजपे-कृत (हिन्दी-रूपांतर), तथा राकेश मोहन-कृत 'लहरो के राजहस' (१५ दिसम्बर, १९६३)। अप्रैल, १९६३ को तीन एकांकी–डॉ० विपिन अग्रवाल-कृत 'तीन अपाहिज' (एकांकी) जीवन लाल गुप्त-कृत 'मच के पीछे' तथा कृष्णचन्द्र-कृत 'सराय के बाहर' मंचस्थ किये गये।

२२ सितम्बर, १९६४ को 'काँच के खिलौने' (टेनेसी विलियम-कृत नाटक 'दि ग्लास मिनेजरी' का ललित सहगल-कृत (हिन्दी रूपातर) डॉ० सत्यव्रत सिन्हा के निर्देशन में मंचस्थ किया गया। रंग-दीपन का यत्र-तत्र अनावश्यक तथा सदोष ध्वनि-प्रसारण खटकने वाला रहा। लज्जालु किन्तु हीन-ग्रन्थि से पीडित नायिका लोरा की भूमिका मे सुनीति ओबेराय का अभिनय सजीव और सुन्दर था। लोरा के भाई टॉम तथा माँ एमेंडा के रूप में क्रमश जीवनलाल गुप्त तथा हीरा चड्ढा की भूमिकाएँ उत्तम रही। २३ दिसम्बर ६४ को इस नाटक का पुनः प्रदर्शन किया गया।

२५ अक्टूबर, १९६४ को प्रयाग रगमच ने पुनः तीन हास्य-एकाकी प्रस्तुत किए–अश्क-कृत 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन', केशवचन्द्र वर्मा-कृत 'तबेले के सिर' तथा डॉ० विपिन अग्रवाल-कृत 'ऊँची-नीची टाँग का जाँघिया'। प्रथम एकाकी में अभिनदन द्वारा कुछ कार्य-व्यापारों का प्रदर्शन किया गया था। नायक के रूप में जीवनलाल गुप्त का अभिनय उत्तम रहा। 'तबेले के सिर' का नायक साहब न होकर वह चपरासी है, जो कार्यालय के कार्य-व्यापारों पर सहज रूप में टीका-टिप्पणी करता चलता है। चपरासी की भूमिका का रामचन्द्र गुप्त ने अच्छा निर्वाह किया। 'ऊँची-नीची टाँग का जाँघिया' एक प्रकार का प्रतीकात्मक असंगत एकाकी है, किन्तु वे 'न तो पूरे उतर सके और न वे स्पष्ट ही थे'।[१३९]

सन् १९६५ मे चार एकाकी या लघु नाटक प्रस्तुत किये गये–विजय तेंदुलकर-कृत 'चार दिन' (२५ अप्रैल, वसंतदेव-कृत हिन्दी रूपांतर) तथा २६ दिसम्बर को भारतेन्दु-कृत 'अंधेर नगरी', भुवनेश्वर-कृत 'ताँबे के कीड़े' तथा डॉ० विपिन बिहारी अग्रवाल-कृत 'एक स्थिति'। 'चार दिन' घटनी में निकाली गई एक युवती की करुण कहानी है, जो बाद मे अर्द्धविक्षिप्त सी हो जाती है। सुनीति ओबेराय ने इस युवती की सफल भूमिका की।

'अन्धेर नगरी' को आधुनिक अभिनय-पद्धति पर मंचस्थ किया गया, जिसमे सभी पात्रो को आधुनिक परिधान दिये गये थे और प्रतीकात्मक रंगसज्जा का उपयोग किया गया था। मुखौटों के उपयोग द्वारा एक कलाकार ने कई-कई भूमिकाएँ कीं—बनिया, भिश्ती और गड़रिया की। जीवन लाल गुप्त तथा शान्तिस्वरूप प्रधान ने क्रमशः चौपट राजा और उसके दायित्वहीन मंत्री की सार्थक भूमिकाएँ प्रस्तुत कीं।

'तांबे के कीड़े' मुख्यतः ध्वनि-एकांकी है, जिसमे मंचस्थ एक 'एनाउंसर' (सुनीति ओबेराय) को छोड़ शेष सभी पात्र नेपथ्य से ही संवाद-कथन करते हैं, किन्तु निर्देशक ने संकेत-योजना और सटीक, रंगदीपन द्वारा अन्य प्रतीक-पात्रो को भी मंच पर ला उतारा, जिनमे थका अधिकारी (मनहरपुरी), रिक्शे वाला (शांतिस्वरूप प्रधान), पति (जीवनलाल गुप्त) आदि प्रमुख हैं।

'एक स्थिति' के शिक्षित माधो के अतिरिक्त सभी पात्र कुण्ठाग्रस्त चपरासी हैं, जो अपनी माँगें प्रस्तुत करते हैं।

फरवरी, १९६६ मे प्रयाग रंगमंच ने प्रयाग में प्रथम बार एक अखिल भारतीय नाट्य समारोह का आयोजन किया, जिसमे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली ने मोलियर—'कंजूस' तथा आद्य रंगाचार्य-कृत 'सुनो जनमेजय', प्रयाग रंगमंच ने कुँवरनारायण-कृत 'खाली जगह' (२८ फरवरी) तथा बहुरूपी, कलकत्ता ने 'राजा ईडिपस' (१ मार्च, ६६) प्रस्तुत किया।

यथार्थवादी दृश्यबंध पर प्रस्तुत 'कंजूस' का निर्देशन इब्राहीम अल्काजो ने किया। ओम शिवपुरी का 'कंजूस' यथार्थ के बहुत निकट था। सुधा शर्मा की फ़रजीना की भूमिका उत्तम रही। मोहन महर्षि के निर्देशन मे 'सुनो जनमेजय' अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि के कारण पूर्णतः सम्प्रेषित न हो सका। इसमे ओम शिवपुरी (सूत्रधार), रामगोपाल बजाज (नेता), हरजीत (अनुभवी राम), सुरिन्दर सिद्धू (मामूली राम) ने प्रमुख भूमिकाएँ कीं। 'खाली जगह' एक सामान्य नाट्य-कृति है, जिसमे दायित्व के बन्धन मे बँधे क्रांतिकारी को अत्यन्त दुर्बल बताकर एक उपहासास्पद स्थिति मे डाल दिया गया। कथ्य तथा रंगशिल्प की कमजोरी आदि के कारण सफल न हो सका। 'राजा ईडिपस' (बँगला) के अभिनय ने, विशेष कर शंभु मित्र और तृप्ति मित्र की जोड़ी ने सबको मंत्र मुग्ध कर लिया। 'यह समारोह की श्रेष्ठ नाट्य-प्रस्तुति' थी।

इस समारोह के अवसर पर २७—२८ फरवरी तथा १ मार्च को तीन विचार-गोष्ठियो का आयोजन किया गया। प्रथम दो गोष्ठियो मे क्रमशः 'नाटक मे परम्परा और प्रयोग' तथा रंगमंच मे 'परम्परा और प्रयोग' विषयो पर विचार-विमर्श हुआ, जबकि तीसरी गोष्ठी 'आज का सामाजिक परिवेश और नाटक की सम्भावनायें—नाटक कैसा, क्यो और किसके लिए ?' विषय पर हुई। प्रत्येक दिन विषय-प्रवर्तन क्रमशः डॉ० सुरेश अवस्थी, नेमिचन्द्र जैन तथा डॉ० विपिन कुमार अग्रवाल ने किया। इन गोष्ठियो मे दिल्ली के डॉ० सुरेश अवस्थी, इब्राहिम अल्काजी, नेमिचन्द्र जैन तथा डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, कलकत्ते के शंभु मित्र तथा प्रयाग के डॉ० रघुवंश, प्रो० सतीश चन्द्र देव, प्रो० एहतेशाम हुसैन, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, विजयदेव नारायण साही, मसीहुज्जमाँ, बालकृष्ण राव, डॉ० जगदीश गुप्त, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि विद्वानो ने भाग लिया।

'नाटक परम्परा और प्रयोग' विषयक गोष्ठी का समाहार करते हुए उसके अध्यक्ष प्रो० एहतेशाम हुसैन ने कहा कि 'हम किसी भी किस्म के प्रयोग करने के लिये तैयार हों', किन्तु भारत की सभ्यता और उसकी 'परिपाटियो से उसका सम्बन्ध अवश्य' होना चाहिए। दूसरी ओर विदेशो मे जो कला या विद्या आती है, उसे भी छोड़ना नहीं चाहिए।'[1]

'रंगमंच मे परम्परा और प्रयोग' विषयक गोष्ठी का समाहार करते हुये उसके अध्यक्ष शंभु मित्र ने कहा कि 'परम्परा हमारे भीतर जीवित है', जिसे हमे 'स्पष्ट रूप दिखलाने का प्रयास' करना चाहिये। उनके विचार से

'परम्परा एक अनुभव है।' उन्होंने बताया कि 'विदेशों में थियेटर की जो धारा चली है, वह प्रयोग नहीं है, वह एक नकल है'।[1]

अन्तिम गोष्ठी का समाहार करते हुये उसके अध्यक्ष डॉ० रामकुमार वर्मा ने बताया कि गुलदस्ते के रंग-बिरंगे फूलों की भाँति नाटक की अनेक कलाएँ हैं, अनेक प्रेरणाएँ हैं, वह ऐसा सामाजिक रंगमंच तैयार कर दे, जिससे जनता अपना मुँह देख सके।' नाटक में केवल जन-जीवन को प्रतिबिम्बित करने की ही शक्ति न हो, उसको 'जन-जीवन को नया बल' दे सकने की क्षमता भी होनी चाहिये।[1]

इसके अनन्तर प्रयाग रंगमंच ने डॉ० *विपिन अग्रवाल-कृत 'आँख-रोशनीकोण'* (११ दिसम्बर, ६६), डॉ० *शम्भूनाथ सिंह-कृत 'दीवार की वापसी'* (१२ मार्च, ६७) *तथा मिहेल सेबेस्टियन-कृत 'छपते-छपते' मंचस्थ किया।* सन् १९६९ में डॉ० सत्यव्रत सिन्हा के निर्देशन में भारतेन्दु-'अन्धेर नगरी' को 'ट्विस्ट' की शैली में प्रस्तुत किया गया। नाटक के विभिन्न पात्रों को प्राचीन, अर्वाचीन अथवा पाश्चात्य परिधानों में प्रस्तुत कर भारतेन्दु के व्यंग्य को, उनके मन्तव्य को सही प्रकार से सम्प्रेषित नहीं किया जा सका। कुछ पात्रों का अभिनय उत्कृष्ट होते हुए भी यह एक प्रयोग मात्र ही बन कर रह गया।

प्रयाग रंगमंच ने एक नाट्य पुस्तकालय की भी स्थापना की है, जिसमें नाटक और रंगमंच-सम्बन्धी पुस्तकें संग्रहीत हैं।

त्रिवेणी नाट्य मंच–त्रिवेणी नाट्य मंच की स्थापना सन् १९६३ के आस-पास हुई थी। यह एक सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था है, जिसका उद्देश्य समाज-सुधार एवं सामाजिक सेवा, साहित्य-गोष्ठियों के आयोजन आदि के अतिरिक्त नाटकों का उपस्थापन भी रहा है। नाटक के शिक्षाप्रद कथ्य के माध्यम से भी वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये सचेष्ट है।

अब तक यह संस्था 'जमघट', 'जाल', 'लोहे की दीवार', 'बाबू कुँवर सिंह' आदि खड़ी बोली के तथा 'सपना रहल अधूरा', 'लोहा सिंह' तथा शिवमूरत सिंह-कृत 'नयकी पीढ़ी' भोजपुरी बोली के नाटक मंचस्थ कर चुकी है। प्रयाग नाट्य संघ द्वारा सन् १९६८ में आयोजित द्वितीय अखिल भारतीय लघु नाटक प्रतियोगिता में मंच द्वारा प्रस्तुत 'जमघट' तथा उसके नायक धनञ्जय को प्रशस्ति-पत्र प्राप्त हुआ। मार्च, १९७० में श्रीनाट्यम वाराणसी द्वारा आयोजित पंच दिवसीय नाट्य समारोह में मंच ने भोलानाथ गहमरी-कृत 'लम्बे हाथ' मंचस्थ किया। इसमें मुरारी लाल (मुन्ने मियाँ), कमरुज्जमा (असगर अली), शुभ्रजीत चंद्र (लेखक रतन सिंह), रानी कार्नर (रंजना), श्रीमती विलफ्रेड (रजिया बेगम) आदि ने प्रमुख भूमिकायें की।

प्रयाग नाट्य संघ—प्रयाग नाट्य संघ की स्थापना सन् १९६४ में प्रयाग रंगमंच तथा अन्य दो नाट्य-संस्थाओं–इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोसिएशन तथा सेतुमंच के योगदान से हुई थी। संघ ने १९६४ तथा १९६५ ई० में विश्व नाट्य दिवस के उपलक्ष्य में द्वि-दिवसीय विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया और प्रत्येक वर्ष दो-दो नाटक भी प्रस्तुत किये गये। सन् १९६५ में इस अवसर सेतुमंच ने *'अपना-अपना जूता'* तथा प्रयाग रंगमंच ने 'चार-दिन' (२५ *अप्रैल) अभिनीत किया। 'अपना-अपना जूता' को निर्देशक लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अ-नाटक के रूप में प्रस्तुत* करने का प्रयास किया, किन्तु ये सफल न हो सके।

संघ ने पूर्णाङ्ग नाटकों के अतिरिक्त *अखिल भारतीय स्तर पर लघु नाट्य प्रतियोगिताओं का प्रारम्भ सन्* १९६७ में किया। सन् १९६८ में द्वितीय अखिल भारतीय लघु नाटक प्रतियोगिता आयोजित की गई, जिसमें हिन्दी के अतिरिक्त बँगला, मराठी, गुजराती तथा उड़िया के नाट्य-दलों ने भी भाग लिया। हिन्दी में त्रिवेणी नाट्य मंच द्वारा प्रस्तुत 'जमघट' तथा उसके नायक धनञ्जय को प्रशस्ति-पत्र प्राप्त हुआ। बँगला नाट्य-दलों द्वारा प्रस्तुत लघु नाटक थे–द्विबाहु 'काबुलीवाला' (गीतिछदम, हुगुली) 'शबरी' (सप्तर्षि धनबाद), 'समुद्र-ओ-मानुष' (बंगाली

क्लब), काली बाड़ी, (नयी दिल्ली), 'नाट्यकारेर सधाने' (चेतना महल, नई दिल्ली) आदि। 'कावले' (महाराष्ट्र नाट्य समाज, जबलपुर) मराठी का तथा 'मैदाने जग' गुजराती का नाटक था। 'काबुलीवाला' के निर्देशक एवं नायक मिर्ज़ा मुहम्मद अली को सर्वोत्तम नाटक, सर्वोत्तम निर्देशक तथा सर्वोत्तम अभिनेता तथा 'कावले' की कलाकार श्रीमती वी दात्ते को सर्वोत्तम अभिनेत्री के पुरस्कार मिले।

इस प्रतियोगिता के उपरान्त 'समाज के विकास मे नाटक का योगदान' विषय पर एक विचार-गोष्ठी का भी आयोजन हुआ, जिसमे प्रो० सतीशचन्द्र देव, मार्कण्ड भट्ट, ओंकार शरद, प्रभाकर गुप्ते आदि ने भाग लिया। वक्ताओं ने व्यावसायिक रगमच के योगदान और महत्त्व का निदर्शन किया।

सातवें दशक के उत्तरार्ध मे कुछ अन्य नाट्य-संस्थाओं का जन्म हुआ, जिनमे प्रमुख हैं—कालिदास अकादमी, भरत नाट्य-सस्थान, रग भारती तथा कल्पना।

कालिदास अकादमी—कालिदास अकादमी ने १६ नवम्बर, १९६८ को भारतेन्दु जयती के अवसर लक्ष्मीकांत वर्मा तथा अवधेश चन्द्र के सह-निर्देशन मे भारतेन्दु—'सत्य हरिश्चन्द्र' मचस्थ किया। कुसुम अग्रवाल (नारद), दिनेश मिश्र (रोहिताश्व), कमलेशदत्त त्रिपाठी (हरिश्चन्द्र) तथा सूर्या अवस्थी (शैव्या) ने प्रमुख भूमिकाएँ कीं।

सन् १९६९ के आरम्भ में अकादमी ने पचदिवसीय नाट्य-समारोह का आयोजन किया। इस अवसर पर सस्कृत का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' (अकादमी द्वारा), बँगला के दो नाटक—'मजरी आमार मंजरी' तथा 'मानुषेर अधिकारे' (उत्पल दत्त की नाट्य मडली लिटिल थियेटर ग्रुप द्वारा), तेलगू का 'पेंडिंग फाइल', कन्नड़ का 'तीसरी पत्नी' तथा हिन्दी का दुष्यन्त कुमार—कृत 'एक कण्ठ विषपायी' मंचस्थ किया गया। बँगला नाटकों में उत्पलदत्त का अभिनय प्रभावी एवं सशक्त रहा।

भरत नाट्य संस्थान—भरत नाट्य सस्थान की स्थापना नाटककार डॉ० रामकुमार वर्मा ने सन् १९६० में रूस-यात्रा से लौटने के बाद की, जिसके अन्तर्गत नाट्याभिनय के अतिरिक्त दो वर्ष के नाट्य-प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की भी व्यवस्था है। सस्थान प्रयाग मे एक सर्वाङ्ग रगशाला की स्थापना करना चाहता है।

इस सस्थान की स्थापना के पीछे मूल भावना यह थी कि केवल पाश्चात्य अभिनय-एव-उपस्थापन-पद्धति का अन्धानुकरण न कर, वल्कि उसे पचा कर एक ऐसी भारतीय उपस्थापन पद्धति का सूत्रपात किया जाय, जिसकी उपज अपनी ही धरती से हुई हो। इस प्रकार के सस्थान के सचालन मे डॉ० वर्मा शिष्ट मर्यादा एवं संयम' के साथ न केवल संलग्न हैं, वरन् नाट्य-कला के प्रशिक्षण तथा हिन्दी रगमच के विकासार्थ जीवनोत्सर्ग करने के लिये भी कृत-सकल्प हैं।

डॉ० वर्मा ने आठ पूर्णाङ्ग नाटकों—'सत्य स्वप्न' (१९५४ ई०), 'विजय पर्व' (१९५६ ई०) 'कला कृपाण' (१९५८ ई०), 'नाना फड़नवीस' (१९५२ ई०) आदि के अतिरिक्त शताधिक एकांकियों की रचना की है, जिनमें से 'शिवा जी' (१९४५ ई०), 'कौमुदी महोत्सव' (१९४९ ई०), 'ध्रुवतारिका' (१९५० ई०) आदि कुछ बड़े एकांकी होने के कारण स्वतन्त्र रूप से और शेष कृतियाँ उनके विविध संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं, जिन्होंने एकांकी-विषयक अनेक प्रयोग किये। उन्होंने एकांकी के रचना-शिल्प तथा पूर्णांग नाटक से उसके पृथकत्व का भी सांगोपांग विवेचन किया है। एकांकी के प्रति की गयी उनकी अविस्मरणीय सेवाओं के लिये सन् १९६२ में लालबहादुर शास्त्री (जो सन् १९६५ मे भारत के द्वितीय प्रधानमत्री बने) के सुझाव पर डॉ० वर्मा के जन्म दिन १५ सितम्बर को 'एकांकी दिवस' के रूप मे मनाया जाने लगा है।

भरत नाट्य संस्थान प्रत्येक वर्ष एकांकी दिवस के अवसर पर डॉ० वर्मा के एकांकी प्रस्तुत करता है। १५ सितम्बर, १९६० को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रंग-भवन (ड्रामेटिक हाल) मे सस्थान का उद्घाटन डॉ० वर्मा-कृत 'कलक रेखा' से हुआ, जिसमे कृष्णकुमारी की प्रमुख भूमिका मनोजकुमारी चतुर्वेदी ने की, जो सर्वोत्तम रही।

निर्देशन अवधेश अवस्थी ने किया। एकांकी का कथ्य उदयपुर की राजकुमारी के विषपान तथा महाराणा (पिता) के आत्म-सम्मान की रक्षा से सम्बन्धित है।

१५ सितम्बर, १९६१ को *'पृथ्वी का स्वर्ग' (व्यंग्य-प्रधान सामाजिक एकांकी) मंचस्थ हुआ। इसमें एक कंजूस सेठ और उसके उदारमना भतीजे-कलाकार के साथ एक ऐसी ईमानदार भिखारिन की कथा वर्णित है, जो* शाल में लिपटे सेठ के पाँच हजार के नोट, जिन्हें सेठ ने आयकर से बचाने के लिए एक पुरानी सदूक में उक्त शाल के भीतर छिपाकर रख दिये थे, वापस लौटा जाती है। शाल सेठ के भतीजे ने भिखारिन को उसके अस्वस्थ बच्चे की प्राण-रक्षा के लिये संदूक खोलकर दे दिया था। सेठ अपने नोट वापस पाकर भिखारिन को पुरस्कार-स्वरूप एक अठन्नी देता है। कंजूस के हाथ से एक अठन्नी का छूटना भी बहुत है।

१९६२ में प्रमाद–'कामायनी' के आधार एक गीति-नाट्य तथा वर्मा–कृत 'तैमूर की हार' एकांकी प्रस्तुत किया गया। 'तैमूर की हार' में कठोर और आततायी तैमूर के हृदय की कोमलता का चित्रण हुआ है। तैमूर की भूमिका 'अनजान' जी ने की। इस अवसर पर डॉ० वर्मा का अभिनन्दन भी किया गया। इस अवसर पर लाल बहादुर शास्त्री प्रधान अतिथि के रूप में उपस्थित थे।

सन् १९६३ से १९६६ तक प्रत्येक वर्ष उनके एकांकी नियमित रूप से आरंगित होते रहे। आरंगित एकांकी इस प्रकार हैं–'पानीपत की हार' (१९६३ ई०), 'दीप दान' (१९६४ ई० तथा १९६५ ई०, पन्नादाई के त्याग पर आधारित) तथा 'कवि पतंग' (१९६६ ई०)। 'कवि पतंग' हास्य रस की अतिरंजना का सुन्दर एकांकी है, जिसमें कवि पतंग की भूमिका राज जोशी ने की। प्रत्येक एकांकी के तीन-तीन प्रयोग हुये। प्रथम दो दिन के प्रयोग क्रमशः बी० ए० तथा एम० ए० के छात्रों के लिये तथा तीसरे दिन का प्रदर्शन नागरिकों, प्राध्यापकों, न्यायाधीशों आदि के लिये आयोजित किया जाता था।[५५]

इन एकांकियों का निर्देशन डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने किया। यह उल्लेखनीय है कि १५ सितम्बर, १९६४ को कला भारती, मुजफ्फरपुर (बिहार) की ओर से विश्वविद्यालय के रंगभवन (ड्रामेटिक हाल) में डॉ० रामकुमार वर्मा को एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया गया–'पद्म भूषण रामकुमार वर्मा : कृतित्व और व्यक्तित्व', जिसके सह-सम्पादक हैं–डॉ० विद्यानाथ मिश्र, डॉ० सियारामशरण प्रसाद तथा प्रो० पूर्णेन्दु।

सन् १९६६ में एकांकी दिवस *समारोहपूर्वक मनाया गया और विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद् की ओर से इस अवसर पर परिषद्-पत्रिका 'कौमुदी' का डॉ० रामकुमार वर्मा विशेषांक निकाल कर उन्हें अभिनन्दन भेंट किया गया।*

सन् १९६९ में भरत नाट्य संस्थान की ओर से ३० सितम्बर से २ अक्टूबर तक एक त्रिदिवसीय नाट्य-समारोह तथा नाट्य-प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया। इस अवसर पर डॉ० वर्मा के तीन एकांकी अभिनीत हुए–'साँप' (३० सितम्बर), 'समय-चक्र' (१ अक्टूबर) तथा 'महाभारत में रामायण' (२ अक्टूबर)। 'साँप' एक प्रतीक-एकांकी है, जिसमें साँप के प्रतीकत्व द्वारा असामाजिक तत्त्वों के विविध रूपों का नग्न चित्रण किया गया है। एकांकी का नायक नाटककार मेले में खोई युवती को डसने के लिए आये साँप को मार कर ठगनी वृद्धा और गुण्डों के रूप में आये हुए उन अनेक साँपों की ओर संकेत करता है, जो उसके अपहरण के लिए सचेष्ट हैं। 'समय-चक्र' एक स्वप्न-एकांकी है, जिसमें भटार्क, सम्राट अशोक, चारुमित्रा, चाणक्य आदि पात्र विद्यार्थी विजय के स्वप्न में आकर अतीत के वातावरण का सृजन करते हैं। 'महाभारत में रामायण' एक सामाजिक हास्य-एकांकी है, जिसमें महाकवि कपूर की पत्नी रंजना के संदेह, ईर्ष्या, रोष, अन्तर्द्वन्द्व और मनुहार का सजीव चित्रण है।

निर्देशन क्रमशः सी० भूषण, सुरेश बिहारी लाल तथा कु० राजलक्ष्मी वर्मा ने किया। अन्तिम एकांकी में आरती श्रीवास्तव ने रंजना की कठिन भूमिका का सुन्दर निर्वाह किया।

भरत नाट्य संस्थान की उत्तर प्रदेश (लखनऊ, जौनपुर, वाराणसी, आजमगढ़, कानपुर तथा इटावा) बिहार (मुजफ्फरपुर), मध्य प्रदेश (जबलपुर) तथा महाराष्ट्र (बम्बई) में कुल नौ शाखायें हैं।[५३] इनमें लखनऊ की शाखा विशेष रूप से सक्रिय रही है। इस शाखा का उद्घाटन ७ फरवरी, १९७१ को डॉ० वर्मा–कृत एकांकी 'महाभारत में रामायण' के नवयुग कन्या विद्यालय डिग्री कालेज, राजेन्द्र नगर में आरम्भ से हुआ था।

रंग भारती—रंग भारती एक सामाजिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था है, जिसका नाट्य विभाग सन् १९६८ में प्रारम्भ हुआ था, किन्तु गत दशक के अन्त तक किसी प्रकार का नाट्य-प्रदर्शन नहीं हो सका। 'हिन्दी रंगमंच की दिशा' पर एक विचार-गोष्ठी सन् १९६९ में डॉ० रामकुमार वर्मा की अध्यक्षता में हुई थी। इस गो— में प्रभावी रंगमंच के निर्माणार्थ एक समिति बना दी गई थी, यद्यपि इस दिशा में कोई प्रगति न हो सकी।

कल्पना—कल्पना की स्थापना सन् १९६९ में हुई थी। यह अपने अल्पजीवन में तीन नाटक प्रदर्शित कर चुकी है—भोलानाथ गहमरी-कृत 'लम्बे-हाथ', शिवमूरत सिंह-कृत 'नयकी पीढ़ी' (भोजपुरी नाटक) तथा 'ग्रेजुएट मिस्टर एण्ड मिसेज १९७०' (७ फरवरी, १९७१, रवीन्द्रनाथ मैत्र के बँगला नाटक का हिन्दी-रूपांतर)। 'लम्बे हाथ' में साम्प्रदायिकता की विकृतियों तथा मानवता के सौंदर्य एवं प्रेम का, 'नयकी पीढ़ी' में विधवा-विवाह के औचित्य एवं समर्थन का तथा 'ग्रेजुएट मिस्टर एवं मिसेज १९७०' में शिक्षितों की बेकारी तथा धार्मिक समन्वय की भावना का चित्रण किया गया है। इनमें प्रथम नाटक का प्रदर्शन वाराणसी में तथा अन्तिम का कानपुर में किया गया था।

अतिथि संस्थायें—प्रयाग की नाट्य-संस्थाओं के आमन्त्रण पर प्रायः बाहर की प्रमुख नाट्य संस्थायें यहाँ अपने नाट्य-प्रदर्शन के लिये आती रही हैं। सन् १९६९ में इस प्रकार की प्रयाग वाह्य संस्थाओं में प्रमुख थी—बहुरूपी तथा अनामिका।

बहुरूपी ने रवीन्द्र—'राजा' तथा 'दशचक्र' का मंचन प्रयाग संगीत समिति के मंच पर किया। अनामिका ने आकर पेरेंडेले—'मन माने की बात' तथा बादल सरकार-कृत 'एवं इन्द्रजित' नाटक प्रदर्शित किये।

प्रयाग का स्थान नवीन नाट्य-प्रयोगों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', डॉ० रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीकांत वर्मा, धर्मवीर 'भारती', विमला रैना, शान्ति मेहरोत्रा, डॉ० विपिन *अग्रवाल, जीवनलाल गुप्त तथा केशवचन्द्र वर्मा जैसे रंग-नाटककार, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ० सत्यव्रत सिन्हा,* डॉ० सुधीर चन्द्र, लक्ष्मीकान्त वर्मा, अवधेश चन्द्र, हीरा चड्ढा, सुनीति ओबेराय, शान्तिस्वरूप प्रधान, मनहर पुरी, रामचन्द्र गुप्त, कमल सकलानी, उमा सप्रू तथा रानी जैसे अभिनेता-अभिनेत्रियाँ प्रयाग की उपज और देन हैं।

आगरा—विविध नाट्य-संस्थाएँ—आगरा में लोकमंच विशेष कर भगत या नौटंकी की पुरानी परम्परा होने के बावजूद आधुनिक हिन्दी-रंगमंच के मानचित्र में उसे उचित स्थान दिलाने का श्रेय आगरा जन-नाट्य को है। संघ के कार्य-कलापों का उल्लेख इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है, अतः उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं। इस क्षेत्र में अब अन्य कई संस्थायें सक्रिय हैं, जिनमें ब्रज कला केन्द्र, नीलकमल कला मन्दिर, भारतीय कला परिषद, कला संगम आदि उल्लेखनीय हैं। ब्रज कला केन्द्र द्वारा पावस समारोह के अवसर पर प्रदर्शित राजेन्द्र रघुवंशी-कृत एवं निर्देशित नाटक 'केंचुएँ' एक सुन्दर प्रयोग था। इसमें संवादों के लिये खड़ी बोली और ब्रज भाषा दोनों का उपयोग हुआ है।[५४]

आगरे की शिक्षा-संस्थाएँ भी समय-समय पर नाटक खेलती रहती हैं। सिन्ध एजुकेशनल सोसाइटी का विद्यालय प्रसाद—'राज्यश्री' प्रस्तुत कर चुका है।[५५]

मेरठ—उत्तर प्रदेश के 'कँवाल' नगरों—कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, आगरा तथा लखनऊ के अतिरिक्त मेरठ तथा गोरखपुर ने भी रंगमंचीय जागृति में यत्किंचित् योग देकर स्पृहणीय कार्य किया है। आधुनिक युग के

पूर्व का इन नगरो का रंगमचीय इतिहास यद्यपि अभी तक अन्धकार के गर्त मे छिपा हुआ है, तथापि यह सहज विश्वास किया जा सकता है कि इन नगरो की भी प्राचीन परम्परायें रही हैं । मेरठ की व्याकुल भारत नाटक मण्डली का इतिहास द्वितीय अध्याय मे दिया जा चुका है। गोरखपुर तथा गोरखपुर जिले के अन्तर्गत देवरिया आदि कस्बो में दौरे कर पारसी-हिन्दी नाटक मंडलियाँ एवं रास मडलियाँ अपने नाटक चौथे दशक तक प्रदर्शित करती रही हैं। लेखक ने १९३९ ई० के पूर्व इन मडलियो के नाटक देवरिया मे देखे थे। गोरखपुर मे रास भी देखने का अवसर मिला था ।

मुक्ताकाश सस्थान–मेरठ ने आधुनिक युग मे फिर करवट ली। सन् १९६४ के आस-पास स्थापित मुक्ताकाश सस्थान ने कई पूर्णा ग तथा एकाकी नाटक प्रस्तुत किये, जिनमे प्रमुख है–डॉ० धर्मवीर भारती-कृत एकाकी 'नीली झील' (१९६४ ई०), ललित मोहन थपल्याल-कृत एकाकी 'अछरियो का तालाब' (१९६४ ई०), सोफोक्लीज-'राजा ओडिपस', चन्द्रधर शर्मा गुलेरी–कृत 'उसने कहा था' (कहानी का नाट्य-रूपान्तर), 'रक्तचन्दन', 'नकाब', 'नई हीरोइन', 'उलझन', 'औरंगजेब', 'कफन' आदि ।

नवम्बर, १९६८ मे सस्थान ने करतार सिंह दुग्गल का वृहत् एकाकी 'दिया बुझ गया' मचस्थ किया। रजनी राठौर (माँ), सलीम (सुल्तान), राजेन्द्र मनोज (अलिया) तथा सुमन (रानी) की भूमिकाएँ सुन्दर रही।

इन सभी नाटको का निर्देशन प्रायः सुरेन्द्र कौशिक ने किया।

दिसम्बर, १९६८ मे संस्थान ने एक प्रदर्शिनी का आयोजन किया, जिसमे सस्थान द्वारा प्रस्तुत नाटको के छवि चित्र प्रदर्शित किये गये ।

गोरखपुर–आधुनिक युग में गोरखपुर की नाट्य-सस्थाओं-सकेत, नाट्यम् आदि ने रगमंचीय सक्रियता प्रदर्शित की। गोरखपुर मे विश्वविद्यालय खुल जाने के उपरान्त वहाँ के रगभवन में कुछ अच्छे नाटक मंचस्थ किये गये, जिनमे प्रमुख हैं–धर्मवीर भारती–कृत 'अधा युग' तथा डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'मादा कैक्टस'। मोहन राकेश-कृत 'आषाढ का एक दिन' सेंट एड्रयूज कालेज के रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। सन् १९६७ मे दीक्षात समारोह के अवसर पर विश्वविद्यालय की छात्राओ ने 'चित्रागदा' नृत्य-नाट्य का प्रदर्शन किया, जिसका निर्देशन डॉ० (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी तथा श्रीमती शान्ता सिंह ने किया। आशालता गुप्त तथा पूनम श्रीवास्तव ने क्रमशः अर्जुन और चित्रांगदा की भूमिकाएँ कीं। १६ फरवरी, १९६८ को 'पत्नी का फोटो' (फिक्र तौंसवी की कृति का नाट्य-रूपान्तर) का प्रदर्शन डॉ० गिरीश रस्तोगी के निर्देशन मे हुआ। यह आधे घण्टे का एक हल्का-फुल्का प्रहसन है।[१७]

१८ जनवरी, १९६९ को विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग ने अखिल भारतीय मुद्रा विज्ञान तथा पुरातत्व परिषद् के सम्मान मे विशाखदत्त–'मुद्राराक्षस' (संस्कृत) पूर्वोत्तर रेलवे के हाल (रेलवे इंस्टीट्यूट) मे मचस्थ किया। निर्देशक थे सस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० अतुलचंद्र बद्योपाध्याय। विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी की चाणक्य तथा अतुलचद्र बंद्योपाध्याय की राक्षस की भूमिकायें सराहनीय थी। जगदीशचद्र श्रीवास्तव (चद्रगुप्त), रामअवध पाडेय (मलयकेतु), रीना अग्रवाल (विजया) तथा मंजुला उपाध्याय (शोणोत्तरा) ने मुख्य भूमिकाओ का अच्छा निर्वाह किया।

रूपान्तर–इसी वर्ष (१९६९) विश्वविद्यालय मे 'रूपान्तर' नामक नाट्य-संस्था का गठन हुआ, जिसमे सर्वप्रथम मोहन राकेश के 'लहरो के राजहस' को २ फरवरी को अभिमंचित किया। शभु तरफदार (नन्द), आभा घूलिया (सुन्दरी), अजितकुमार विश्वास (भक्षु आनन्द), छाया सहाय (अलका) के अभिनेत्रियो के जीवन की झलक थी। निर्देशन किया डॉ० (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी तथा परमानन्द श्रीवास्तव ने। इस अवसर पर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल एव कुलपति डॉ० बी० गोपाल रेड्डी तथा कैनबरा (आस्ट्रेलिया) विश्वविद्यालय मे प्राच्य

विद्या सकाय के अध्यक्ष ए० एल० वेंशम भी उपस्थित थे।

भुवाली–*पर्वत की सुरम्य गोद मे स्थित भुवाली अपने क्षय आरोग्यालय (टी० बी० सैनेटोरियम)* के लिये प्रसिद्ध है। इस आरोग्यालय मे एक खेलघर है, जो एक प्रकार का लघु रंगभवन है। यहाँ सन् १९५२ के पूर्व तक पौराणिक-ऐतिहासिक नाटक ही होते रहे हैं। सन् १९५३ में प्रत्येक वर्ष की भाँति मनोरंजन एवं क्रीड़ा समिति और उसके अन्तर्गत नाट्य उपसमिति गठित हुई, लेखक जिनका महासचिव नियुक्त हुआ, जो वहाँ उन दिनो प्लूरिसी से पीडित हो स्वास्थ्य-लाभ के लिये भर्ती हुआ था। नाट्य उपसमिति की ओर से इस लेखक के निर्देशन मे डॉ० रामकुमार वर्मा का एकांकी 'परीक्षा' (जुलाई, ५३) तथा भुवाली के एक भूतपूर्व क्षयरोगी द्वारा लिखित 'डॉक्टर' (अगस्त, ५३) नाटक मचस्थ किये गये–लगभग एक-सवा माह के अन्तर पर। 'परीक्षा' के प्रारम्भिक शिथिल अंश को हटा, कुछ प्रारम्भिक सवाद जोड तथा नाटक को दो अको में विभाजित कर उसे पूर्णांग नाटक के रूप मे प्रस्तुत किया गया था। डॉ० रुद्र की भूमिका (अब डॉ०) अज्ञात, रत्ना की भूमिका बालकृष्ण तथा रत्ना के पति प्रोफेसर केदार की भूमिका एक स्टाफ नर्स ने की थी। अभिनय, रूप-परिवर्तन आदि इतना यथार्थ हुआ कि स्टाफ नर्स की पत्नी, जो नाटक देख रही थी, अपने पति के केशो के सफेद हो जाने पर रो पड़ी। क्रीड़ा समिति के अध्यक्ष डॉ० गोपालदास ने नाटक समाप्त होते ही इस प्रथम सामाजिक नाटक की सफलता के लिये निर्देशक को बधाई दी।

इन दो नाटको के बाद अज्ञात स्वस्थ होकर कानपुर लौट गये, किन्तु नाटको की यह परम्परा वहाँ बाद मे भी चलती रही और कई नाटक खेले गये।

पटना–आधुनिक युग के पूर्व पटना में हिन्दी-नाटक प्रायः दुर्गा-पूजा, चित्रगुप्त-पूजा अथवा दीपावली के अवसर पर ही हुआ करते थे। देश के स्वतंत्र होने पर पटना ने भी करवट बदली और कुछ नाट्य-संस्थाओं की स्थापना हुई।

उदय कला मन्दिर–प्रारम्भ की इन संस्थाओ मे उदय कला मंदिर का स्थान प्रमुख है। उदय कला मंदिर की स्थापना सन् १९४७ म हुई थी। प्रारम्भ मे कुछ नाटक खेलने के अतिरिक्त नाटक-लेखन और उपस्थापन, नृत्य और सगीत की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। यह संस्था आज भी सक्रिय है और उसने बिहार संगीत-नृत्य-नाट्य कला परिषद् की प्रतियोगिताओ मे भाग लेने के अतिरिक्त २६ जनवरी, १९५६ को 'शेरशाह का न्याय' तथा रामवृक्ष बेनीपुरी-कृत 'अंबपाली' प्रस्तुत किया था।

इस नाटक में चार अंक है और प्रथम अंक मे पाँच तथा शेष में से प्रत्येक अंक मे चार-चार दृश्य हैं। इसे परदे, प्रतीक रंगमच अथवा परिक्रमी मच पर खेला जा सकता है। रंग-सकेत विस्तृत हैं और वर्णनात्मक होने के कारण औपन्यासिक या कथावाचकी ढग के हैं। सवाद लम्बे हैं, किन्तु सरस और भावपूर्ण हैं। संवादो मे, बौद्ध-कालीन नाटक होने के कारण, उर्दू शब्दो की भरमार खटकने वाली है। जिन्दगी, ग़म, रोशनी, जवानी मुमानियत, गिरफ्तार, खबर, जिन्दादिली, जरूरत आदि उर्दू शब्दों का प्रयोग धडल्ले से किया गया है। एकाध स्थल पर काल-दोष भी है, यथा 'कोउ नृप होहि, हमहि का हानी.('पृ० १०७)का उल्लेख। इसमे वैशाली की राजनर्तकी अंबपाली (आम्रपाली) द्वारा प्रणयाकाक्षी वैशाली-विजेता अजातशत्रु की नैतिक पराजय, भगवान बुद्ध का आतिथ्य-सत्कार तथा अन्त में उनकी शरणागता हो भिक्षुणी बनने की कथा वर्णित है। नाटक मे अनेक गीतों का समावेश भी है।

बिहार जन नाट्य संघ—इसी वर्ष बिहार जन नाट्य संघ ने 'भोजपुरी सभ्यता का विकास' गीति-नाट्य तथा रामेश्वरसिंह कश्यप-कृत 'रोबट' और पटना शाखा ने 'ब्लैक चेक' नाटक प्रदर्शित किये। बिहार के नाट्य-दल ने इप्टा के आठवें अधिवेशन (दिल्ली) मे चतर्भुज शर्मा-कृत 'पीर अली' मचस्थ किया था। सन् १९६२ मे चीनी आक्रमण के समय संघ ने 'डाकिया' का मचन किया।

आलोच्य युग के अन्त मे विकसित संस्थाओ मे आर्ट्स एण्ड आर्टिस्ट्स, बिहार आर्ट थियेटर, थियेटर आर्ट्स,

पाटलिपुत्र कला मंदिर लोकमंच, कला संगम, कला निकेतन आदि उल्लेखनीय हैं।

आर्ट्स एण्ड आर्टिस्ट्स–आर्ट्स एण्ड आर्टिस्ट्स पटना की एक पुरानी संस्था है, जो नियमित रूप से हिन्दी नाटक खेलती है, किन्तु उसके नाटकों पर बँगला रंगमंच का प्रभाव रहता है।

बिहार आर्ट थियेटर–बिहार आर्ट थियेटर की स्थापना संस्थापक-अध्यक्ष अनिल कुमार मुखर्जी ने २५ जून, १९६१ को की। थियेटर के भ्रमणशील नाट्य-दलों ने बिहार, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, दिल्ली तथा राजस्थान के नगरों में जाकर हिन्दी, बँगला तथा अंग्रेजी के प्रयोगशील नाटक प्रस्तुत किये।

सन् १९६५ में थियेटर ने अनिल मुखर्जी-कृत 'विप्लवी' तथा 'जली खिचड़ी' (मूल बँगला के स्वयं मुखर्जी-कृत हिन्दी-रूपांतर) मंचस्थ किये। 'विप्लवी' में सलाम तथा विश्वकर्मा ने अच्छा अभिनय किया। सन् १९६८ में आर्थर मिलर के 'डेथ आफ ए सेल्समैन' का हिन्दी-रूपांतर 'एक सेल्समैन की मृत्यु' मेडिकल एसोसिएशन हाल में प्रस्तुत किया गया। मुहम्मद समी खाँ (सेल्समैन), ऑलिव फ्रांसिस (लिंडा), अमित विश्वास (बर्नार्ड) आदि ने प्रमुख भूमिकाएँ कीं। अभिनय और रंगशिल्प की दृष्टि से नाटक प्रभावी था, किन्तु आमंत्रित सामाजिकों की संख्या अत्यल्प (लगभग पचास) रही, जो पटना के रंगजगत के लिये एक दयनीय वस्तु है।

मार्च, १९६९ में आठवें विश्व रंगमंच दिवस के उपलक्ष्य में बिहार आर्ट्स थियेटर ने हिन्दी के चार नाटक 'पालकी', 'हम जीना चाहते हैं,' 'बिन दुल्हन की शादी' तथा 'एक सेल्समैन की मृत्यु', तथा बँगला के तीन नाटक (जो प्रथम तीन हिन्दी-नाटकों के बँगला रूपांतर थे) प्रस्तुत किये। आठवाँ नाटक अंग्रेजी का 'साउंड ऑफ म्यूजिक' था, जिसे नाट्डेम अकादमी ने मंचस्थ किया। बहु-अभिनीत 'पालकी' का उपस्थापन अभिनय, रंग-शिल्प तथा पार्श्व-संगीत की दृष्टि से काफी परिष्कृत एवं भव्य था। आर० एम० चोपड़ा के कुमार बहादुर तथा लक्ष्मी देवी की वसुंधरा के अभिनय सराहनीय थे। अपराध-वृत्ति पर आधारित 'हम जीना चाहते हैं' में 'सस्पेन्स' अन्त तक बना रहता है। समी खाँ (पर्वत), लक्ष्मी देवी (स्त्री जासूस), आर० पी० तरुण (मगपू) की मुख्य भूमिकाएँ थीं। शेष दोनों हिन्दी-नाटकों में 'बिन दुल्हन की शादी' एक हल्का-फुलका हास्य नाटक है। 'एक सेल्समैन की मृत्यु' में पश्चात्दर्शन (फ्लैश बैक) के दृश्य सुन्दर बन पड़े थे।

सन् १९६९ की अंतिम तिमाही में इस नाट्य-संस्था ने अनिल मुखर्जी का नया नाटक 'असम मेल' के कई प्रयोग किये। ऑलिव फ्रांसिस (मीता) तथा रामशरण चोपड़ा (रूसी अधिकारी) की भूमिकाएँ उल्लेखनीय थीं। इसका बँगला-रूपांतर भी कई बार प्रदर्शित हुआ, जिसकी (क्षिप्रा शाह) की मीता अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशालिनी रही।

थियेटर के अन्य नाटकों में प्रमुख हैं–'हत्या एक आकार की', 'बिल्ली', 'ट्रायल ऑफ मुजीबुर रहमान', 'प्रेसीडेंट रूल' (१९७० ई०), 'काकटेल', 'शुतुरमुर्ग', पेपर वेट', 'भगवान रामचन्द्र एक अच्छे आदमी की खोज में', 'पल्ली समाज', 'कारखाना', 'बहुरूपी', 'कटघरे में कैद एक और इतिहास' (बँगलादेश-युद्ध पर) आदि। इन नाटकों के लगभग १००० प्रदर्शन हो चुके हैं।

बिहार आर्ट थियेटर को, उसकी नाट्य-क्षेत्र में की गई सेवाओं को दृष्टि में रखकर, बिहार सरकार ने एक रुपये के प्रतीक वार्षिक किराये पर मध्य पटना में ५ लाख रुपये मूल्य की भूमि दे दी। इस पर थियेटर काम्प्लेक्स 'कालिदास रंगालय' का निर्माण किया जा रहा है, जिसके अन्तर्गत तीन चरणों में क्रमशः लघु भूगर्भ रंगालय (प्रियंवदा), वृहद् व्यावसायिक रंगालय (शकुन्तला) तथा कलावीथी (अनुसूया) का निर्माण किया जायगा। प्रियंवदा में ६०० पीठासन तथा शकुन्तला में १००० पीठासन होंगे। अनुसूया के लिये छः मंजिले भवन का निर्माण तीसरे चरण में होगा। इसमें बिहार नाट्य एवं दूरदर्शन प्रशिक्षण संस्थान, अतिथि गृह आदि भी रहेंगे।

कालिदास रंगालय की संपूर्ण योजना को बिहार की पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित कर लिया

गया है। रगालय के प्रथम चरण के १९७७ तक पूर्ण हो जाने की सभावना है।

थियेटर भारतीय नाट्य सघ के माध्यम से यूनेस्को के अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य सस्थान से सबद्ध है।

यह पटना की एकमात्र नाट्य-सस्था है, जो अनेक आर्थिक एवं व्यावहारिक कठिनाइयो के बावजूद सक्रिय है।

थियेटर आर्ट्स एव पटिलपुत्र कला मदिर–थियेटर आर्ट्स ने रमेश मेहता के 'अंडर सेक्रेटरी' को खेलकर नवीन रग-सज्जा का सूत्रपात किया। प्यारे मोहन सहाय के निर्देशन मे पाटिलपुत्र कला मदिर ने कुछ सुन्दर हिन्दी नाटक खेले–जगदीशचन्द्र माथुर-कृत 'कोणार्क', 'इन्द्रधनुष', 'आदमी के रूप,' 'मणि गोस्वामी' आदि।

लोकमच–लोकमच निर्देशक प्यारेमोहन सहाय द्वारा सस्थापित अपेक्षाकृत एक नयी सस्था है, जिसने सन् १९६४ मे मि० विवेक' (प्रीस्टले-कृत 'एन इस्पेक्टर काल्स' का हिन्दी-रूपातर) एक प्रयोग के रूप मे किया। सन् १९६५ मे लोकमच ने राज्य-स्तर पर एक विचार-गोष्ठी का आयोजन किया, जो बिहार मे अपने ढग की प्रथम थी। गोष्ठी जिन निष्कर्षों पर पहुँची, उनमे प्रमुख थे, राष्ट्र-युद्ध मे जनता के मनोबल को बनाये रखने के लिये रग-नाटक लिखे और प्रदर्शित किये जायें, भारतेन्दु तथा प्रसाद के नाटक खेले जांय, हिन्दी रंगमच की व्यावसायिक स्तर पर स्थापना की जाय, नाटक का प्रदर्शन-स्तर ऊंचा उठाया जाय और एतदर्थ किसी भी नाटक के मंचन के पूर्व नाटक-विशेषज्ञ समिति की स्वीकृति प्राप्त कर ली जाय।

कला सगम–कला सगम की स्थापना सन् १९६२ मे हुई। सन् १९६६ मे सगम ने 'रिश्ते की ज़रूरत' तथा 'प्रायश्चित' नामक दो नाटक प्रस्तुत किये।

कला सगम ने सन् १९६८ में 'पैसा बोलता है' ('कांचनरग' का रमेश मेहता कृत–हिन्दी-रूपांतर) का मचन गोपाल प्रसाद मिश्र के निर्देशन मे किया। इसी वर्ष भगवान प्रसाद के निर्देशन मे नरेश मेहता-कृत 'देवर-भाभी' का प्रदर्शन किया गया। भाभी के रूप मे शीला डायसन तथा देवर के रूप मे सतीश आनद की भूमिकाएँ प्रभावी थी। रग-शिल्प की दृष्टि से भी यह एक सुन्दर प्रयोग था। सन् १९६९ मे बादल सरकार-कृत 'बाकी इतिहास' का प्रयोग दर्शको के बीच विशेष चर्चित रहा। १७ मई, १९७० का मोहन राकेश-कृत 'आधे-अधूरे' मचस्थ किया गया, जिसका निर्देशन सतीश आनद ने किया। सतीश आनंद (नायक), विमी कपूर (सावित्री) तथा सविता (छोटी लडकी) ने मुख्य भूमिकाएँ की। सन् १९७२ मे सतीश आनद के ही निर्देशन मे मुद्राराक्षस-कृत 'मरजीवा' के तीन प्रदर्शन हुए।

कला निकेतन–नवबर, १९६८ में कला निकेतन द्वारा राजेन्द्र कुमार शर्मा-कृत हास्य-नाटिका 'रेत की दीवार' पटना के रवीन्द्र भवन के रगमच पर प्रस्तुत की गई। निर्देशक आर० रमण सामाजिको को हँसाने मे काफी सफल रहे। सुमन कुमार ज्योतिर्मयी (रेखा), सविता (कमला), शिवकुमार (रामनाथ) ने प्रमुख भूमिकाएँ ग्रहण की।

आर० एम० एस० ड्रामेटिक क्लब–इन सस्थाओ के अतिरिक्त पटना के कुछ सरकारी कार्यालयो से सबधित नाट्य-सस्थाएँ तथा अन्य नाट्य-सस्थाएँ भी यदा-कदा नाट्य-प्रदर्शन करती रहती हैं। आर० एम० एस० ड्रामेटिक क्लब ने सन् १९६५ मे इम्तियाज अली-कृत हास्य-नाटक 'कमरा न० ५' का अभिनय प्यारेमोहन के निर्देशन मे किया। रगशाला सामाजिको के कहकहो से गूंजती रही। इसके अनतर बोधाय-'भगवज्जुकीयम्' के नेमिचन्द्र जैन-कृत हिन्दी-रूपान्तर का मचन किया गया। सातवी शती के इस प्रहसन मे गूढ दार्शनिक मीमासा के साथ तत्कालीन (और आज की भी) धार्मिक रूढियो पर प्रहार किया गया है। नाटक के पात्र कई वर्गों मे बँट कर वार्ता करते हैं, जिसे दूसरे वर्ग के लोग नही सुनते। स्थान-परिवर्तन के बोध के लिये पात्र मच पर ही भ्रमण करते हैं। विदेश्वरी प्रसाद (परिव्राजक) तथा गोपालशरण (शाडिल्य) की भूमिकाएँ उत्तम रही। परिधान-रचना प्राचीन, किन्तु

रंग-सज्जा आधुनिक ढंग की थी ।[1] डाक-तार विभाग की प्रतियोगिता में इस नाटक को पुरस्कृत किया गया । इस प्रतियोगिता में डाक-तार ड्रामेटिक क्लब ने एकांकी 'परिवर्तन' का मंचन किया ।

एकांकी नाटक समारोह सांस्कृतिक संघ—नवोदित नाट्य-संस्था पटना के एकांकी नाटक-समारोह सांस्कृतिक समाज ने सन् १९६९ की अन्तिम तिमाही में एकांकी नाटक-प्रतियोगिता का आयोजन किया, जिसमें अँग्रेजी-हिन्दी के बाईस एकांकी प्रस्तुत किये गये । समारोह का प्रथम पुरस्कार अँग्रेजी एकांकी 'थर्सडेज एट होम' को तथा सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का पुरस्कार उसी की एक अभिनेत्री मंजुल चोपड़ा को मिला। सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार यूनिवर्सिटी कल्चरल एसोसिएशन द्वारा प्रस्तुत अँग्रेजी एकांकी 'दि कलेक्शन' के श्यामल बोस को प्रदान किया गया। हिन्दी में प्रस्तुत एकांकियों में प्रमुख थे—नव कला निकेतन द्वारा प्रदर्शित पु० ल० देशपांडे-कृत 'जहाँ कोई न हो' तथा सुरसागर द्वारा प्रदर्शित 'उलझन' ।

अरग-अरग नाट्य-संस्था ने राधेश्याम-कृत 'गुमशुदा औरत की तलाश' नामक एक अभिव्यंजनावादी नाटक (१९६९ ई०) प्रस्तुत किया, जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रतीक तीन व्यक्ति एक ऐसी मानवीय सभ्यता की तलाश में हैं, जहाँ युद्ध न हो, मशीनगनें और टैंक न हों ' हों, तो केवल 'सत्य शिव सुन्दर' और कुछ न हो ।[1] यह एक सशक्त नाटक का सुन्दर प्रयोग था, जिसमें सतीश आनंद (अतीत), राधेश्याम (वर्तमान) तथा एल० एन० दास (भविष्य) ने प्रमुख भूमिकाएँ की ।

रंग-तरंग—यह संस्था सन् १९६० से कार्य-रत है—पहले पटना ड्रामेटिक क्लब के नाम से, फिर नव कला भारती के नाम से और अब रंग-तरंग के ध्वज के अन्तर्गत ।

इस संस्था द्वारा प्रस्तुत नाटक हैं रमेश मेहता-कृत 'जमाना', डॉ० रामकुमार वर्मा-कृत 'पृथ्वी का स्वर्ग', राजेन्द्र कुमार शर्मा-कृत 'एक से बढ़ कर एक' (१९७६ ई०) । अन्तिम नाटक का निर्देशन सुरेन्द्र लाल मदान ने किया ।

बिहार में पटना हिन्दी रंगमंच का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, जहाँ नाटककार, निर्देशक और कलाकार तो हैं, किन्तु भोजपुरी फिल्मों के बढ़ते हुए आकर्षण ने उन्हें गत दशक में कुछ काल तक दिग्भ्रांत कर दिया, अतः दिल्ली, कानपुर, लखनऊ अथवा कलकत्ते की तुलना में उसकी उपलब्धियाँ बहुत उत्साहवर्धक नहीं रहीं ।

गया—गया में भी दशहरा, दीवाली आदि अवसरों पर ही नाटक खेलने की प्रथा रही है । आधुनिक युग में रोटरी क्लब और साधना मंदिर ही कभी-कभी नाटक खेल कर वहाँ की सांस्कृतिक चेतना को जगाने का प्रयास करते रहे हैं ।

रोटरी क्लब—रोटरी क्लब द्वारा प्रदर्शित प्रमुख नाटक हैं—प्रबोध जोशी-कृत 'पागल' (१९६५ ई०), जिसका निर्देशन बद्री विशाल ने किया । इसमें विनोद तथा रामेंद्रभूषण ने मुख्य भूमिकाएँ कीं।

साधना मंदिर—साधना मंदिर की स्थापना चीनी आक्रमण के समय सन् १९६२ में हुई । सन् १९६५ में मंदिर ने चतुर्भुज-कृत ऐतिहासिक नाटक 'अरावली का शेर' रेलवे रिक्रिएशन क्लब के प्रांगण में मंचस्थ किया । इसके अनंतर चतुर्भुज-'बहादुरशाह ज़फ़र' सन् १९६६ के प्रारम्भ में रेलवे चलचित्र भवन में किया गया । भव्य एवं आकर्षक दृश्यबंध तथा बहादुरशाह की भूमिका में गुर्जर के अभिनय ने सामाजिकों को अत्यधिक प्रभावित किया ।

अन्य संस्थाएँ—इन दो प्रमुख संस्थाओं के अतिरिक्त गया में कुछ अन्य नाट्य-संस्थाएँ भी हैं, जो वर्ष में एकाध नाटक खेल लेती हैं । सन् १९६४ में शेक्सपियर-चतुश्शती के अवसर पर मगध विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर छात्रों ने शेक्सपियर—'ऑथेलो' का अँग्रेजी में सफल प्रदर्शन किया । अभिनय का स्तर उच्च कोटि का था ।

इसी वर्ष अजंता आर्ट्स ने तीन एकांकी प्रस्तुत किये–धर्मवीर भारती-कृत 'आवाज का नीलाम', 'शेष प्रश्न' तथा सत्येन्द्र शरत-कृत 'नवज्योति की नई हीरोइन'।

गया के मिनिस्टीरियल क्लब ने ज्ञानदेव–'नेफा की एक शाम' (१९६४ ई०) मंचस्थ किया।

गया की दुर्गाबाड़ी द्वारा समय-समय पर बंगला नाटक खेले जाते हैं। सन् १९६५ में शंभुमित्र एवं अमित मैत्र का 'कांचनरंग' और दुर्गापूजा के अवसर पर एक सप्ताह तक बंगला-हिन्दी के नाटक खेले गये, जिनमें बंगला के 'सिपाही विद्रोह', 'दमकल' तथा 'पहाड़ी फूल' उल्लेखनीय थे। २६ अक्टूबर, ६५ को नयी गोदाम पूजा समिति ने प्रबोध जोशी कृत 'पागल' तथा दूसरे दिन रवि तीर्थ ने रवीन्द्र के ऋतु-गीतों पर आधारित 'ऋतुरंग' नृत्य-नाट्य कृष्णा गुप्त के निर्देशन में प्रस्तुत किया। नगर के कुछ कलाकारों ने मिलकर 'नेफा की एक शाम' का मंचन किया। बद्रीनाथ अग्रवाल, विदेश्वरी तथा ब्रजकिशोर की भूमिकाएँ उच्च स्तर की रहीं।[११३] इसके पूर्व दुर्गाबाड़ी के रंगमंच पर दो बंगला नाटक प्रस्तुत किये गये–'ताहार नाम रंजना' तथा चेना लोक, अचेना मानुष'।

गया के गौतम बुद्ध महाविद्यालय की छात्राओं ने १९६६ के प्रारम्भ में 'फेल्ट हैट' तथा 'ऑथेलो' का एक दृश्य प्रस्तुत किया।

आरा : रंगमंच–आरा की नाट्य-संस्था रंगमंच गत कई वर्षों से सक्रिय रही है।

रंगमंच ने सन् १९६५ में दो नाटक प्रस्तुत किये–प्रथम था प्रो० श्याम मोहन अस्थाना-कृत पूर्णांग नाटक 'तवांग' तथा दूसरा था प्रो० राणा-कृत एकांकी 'मुजरिम कौन ?' 'तवांग' भारत पर चीनी आक्रमण की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसके उपस्थापन में उक्त प्रदेश के पार्वत्य संगीत, नृत्य तथा वेशभूषा पर दृष्टि रखी गई थी और वहाँ के जनजीवन में प्रचलित रीति-रिवाजों, उत्सवों आदि का भी समावेश किया गया था।[११४] दोनों नाटकों में पात्रों का अभिनय अच्छा रहा।

बख्तियारपुर–बख्तियारपुर में मगध कलाकार ने चतुर्भुज, एम० ए० के कई नाटक मंचस्थ किये, जिनमें प्रमुख हैं–'कृष्ण कुमारी' (१९४८ ई०), 'मेघनाद' (१९४९ ई०), 'सिराजुद्दौला' (१९४९ ई०), 'श्रीकृष्ण' (१९५१ ई०), 'कंस-वध' (१९५१ ई०), 'कुँवर सिंह' (१९५२ ई०), 'अरावली का शेर' तथा 'कलिंग-विजय'। इनमें 'मेघनाद', 'श्रीकृष्ण,' तथा 'कंस-वध' पौराणिक नाटक हैं और शेष ऐतिहासिक।

मुजफ्फरपुर–मुजफ्फरपुर में भी नाट्य-विषयक गतिविधियाँ चलती रहती हैं। सन् १९६८ में यहाँ की साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था कला भारती ने डॉ० सियाराम शरण प्रसाद-कृत 'कौन विश्वास करेगा ?' का सफलता पूर्वक मंचन किया। इस नाटक के भागलपुर, गया आदि नगरों में भी प्रयोग हो चुके हैं।[११५]

शिमला–शिमला का हिमाचल थियेटर्स (संस्थापित १९५० ई०) सन् १९५५ से प्रतिवर्ष अखिल भारतीय एकांकी प्रतियोगिता का आयोजन करता है,[११६] जिसमें अनेक नाट्य-दल भाग लेते हैं और विजेता दल एवं सर्वश्रेष्ठ कलाकारों को पुरस्कार दिया जाता है। प्रतियोगिताएँ प्रायः शिमला के गेयटी थियेटर में होती हैं।

उदयपुर : भारतीय लोक कला मंडल–लोक-कलाओं के शोध-सर्वेक्षण, अध्ययन, उन्नयन, प्रदर्शन प्रशिक्षण आदि के उद्देश्य से २२ फरवरी, १९५२ को संस्थापित उदयपुर का भारतीय लोक कला मंडल एक भारत-प्रसिद्ध संस्था बन चुका है। मंडल लोक-संगीत के ध्वनि-संकलन (रेकॉर्डिंग), लोक-संस्कृति के चित्रांकन का कार्य भी करता है। इसके संस्थापक और प्राण हैं–नाटककार एवं नर्तक पद्मश्री देवी लाल सामर।

सन् १९६५ में बुखारेस्ट (रूमानिया) में होने वाले तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय समारोह में मंडल ने भारत का प्रतिनिधित्व कर परम्परागत कठपुतली-प्रदर्शन का प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। सन् १९६९ (या १९७० ई० ?) में ट्यूनीशिया में होने वाले पंचम अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य-समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व कर मंडल ने द्वितीय सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार प्राप्त किया। इस संस्था के नृत्य-नाट्य दल और कठपुतली दल ईरान (फरवरी, १९७१)

तथा अन्य मध्यपूर्वी देशों, जर्मनी, इटली आदि देशो मे भ्रमण कर अपने प्रदर्शनो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति एवं प्रशस्ति प्राप्त कर चुके हैं। इस संस्था का उदयपुर मे अपना निजी भवन तथा लोककला-संग्रहालय है, जिसे देखने के लिये प्रायः देश-विदेश के सम्भ्रांत एवं जिज्ञासु यात्रियो का ताँता बँधा रहता है । मंडल के भवन में एक रंगशाला की भी व्यवस्था है, जहाँ पाँच हजार सामाजिक बैठ सकते है। भवन के एक भाग मे कठपुतली रंगालय भी है, जहाँ पारंपरिक पुतलियो को नये रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

यहाँ का अनुसंधान विभाग मंडल का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसके द्वारा अन्तर्भारतीय लोकधर्मी कलाओं के सर्वेक्षण, अध्ययन तथा प्रकाशन का उल्लेखनीय कार्य होता है। केन्द्रीय गृह-मंत्रालय के सहयोग से इस विभाग द्वारा मध्य प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा तथा राजस्थान की आदिवासी जातियो का सास्कृतिक सर्वेक्षण एवं अध्ययन किया जा चुका है।

दिल्ली के भारतीय नाट्य संघ की ओर से राजस्थान के लोकनाट्यों का सर्वेक्षण कर मंडल ने न केवल एक विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की, वरन् अनेक मुखौटे, कठपुतलियाँ, परिधान एवं आभूषण तथा मंचोपकरण भी संग्रहीत किये, जिनमे से कुछ तो डेढ सौ वर्ष पुराने है।[१९६] ख्याल की तीन सौ पुस्तकें भी प्राप्त हुई हैं।[१९७]

मंडल नियमित रूप से दो पत्रिकाएँ प्रकाशित करता है—'रंगायन' तथा 'लोक कला'। 'रंगायन' डॉ० महेन्द्र भानावत के संपादन मे प्रकाशित एक मासिक पत्रिका है, जिसमें लेख, सर्वेक्षण-प्रतिवेदन, मंडल के बहुमुखी कार्यों का विवरण तथा 'ग्रन्थमान' स्तंभ के अन्तर्गत पुस्तक-समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं। 'लोक कला' मंडल की अर्द्ध-वार्षिक शोध-पत्रिका है, जिसके संपादक द्वय हैं—देवीलाल सामर तथा डॉ० महेन्द्र भानावत। इसमे शोधाश्रित विस्तृत निबन्ध, पुस्तक-समीक्षाएँ आदि प्रकाशित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त मंडल ने शोध-सर्वेक्षण पर आधारित दो दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित की हैं, जो राजस्थान के लोक-संगीत, लोक-नृत्य, लोकनाट्य, लोककला, लोकानुरंजन एवं लोकोत्सव आदि से संबंधित हैं।

अनुसंधान विभाग का लोक-साहित्य तथा लोक-संस्कृति-विषयक अपना एक समृद्ध पुस्तकालय भी है, जहाँ देश-विदेश के विद्वान एवं अनुसंधित्सु आकर उससे लाभ उठाते रहते हैं। इसके अतिरिक्त देश-विदेश के कलाकार, नृत्यकार, गीतकार आदि भी आकर यहाँ के शोध, सर्वेक्षण तथा नवीन प्रयोगो से लाभान्वित होते हैं।

मंडल का छविचित्र एवं फिल्मायन विभाग सांस्कृतिक खोजो तथा लोक-कला की विविध विधाओं से सम्बन्धित छविचित्र तैयार कर उनके रक्षण का कार्य करता है। आदिवासी-एवं-लोक-कलाओं के संरक्षण एवं इन्हें लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से वृत्तचित्र भी इसी विभाग मे बनाये जाते हैं। इस प्रकार के प्रमुख वृत्तचित्र हैं—'कुदरत के लाडले' (आदिवासी भीलो के सम्बन्ध में), 'मणिपुर और त्रिपुरा की आदिम जातियाँ अपनी रंगीनियों में' (मणिपुर तथा त्रिपुरा के आदिवासियों के संबंध मे), 'मध्य प्रदेश के आदिवासी' (मध्य प्रदेश के आदिवासियों के संबंध मे), मूमल (मूमल-महेन्द्र के प्रसिद्ध प्रेमाख्यान पर आधारित नृत्यनाट्य), 'संस्कृति के रखवाले' (राजस्थानी नृत्य-गायको के सम्बन्ध में), 'गवरी नाच' आदि।[१९८]

छविचित्र विभाग की भाँति यहाँ का ध्वनि-आलेखन विभाग भी मंडल की स्थायी धरोहर है। इस विभाग द्वारा मानव-जीवन के विविध संस्कारो के गीतों, नृत्यो, विविध ख्यालो, विशिष्ट गायकियो एवं जातियो के गीतों आदि का ध्वनि-आलेखन किया जा चुका है।[१९९]

लोक-कला एवं संस्कृति की खोज, अध्ययन तथा विवेचन से आगे बढ़ कर मंडल ने लोकनृत्यों, लोकनाट्यों तथा कठपुतलियो के देशव्यापी तथा विश्वव्यापी प्रदर्शन कर न केवल यश तथा धन अर्जित किया, वरन् भारतीय लोक-कला एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार तथा कलाकर्मियों के मार्गदर्शन में भी योग दिया है। मंडल के प्रदर्शन विभाग के दलों ने लोक-नृत्यो तथा कठपुतलियों के प्रदर्शनो मे अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त कर भारतीय कला एवं

हस्तलाघव का विश्व-प्रांगण मे सिक्का जमा दिया है। दूसरी ओर मंडल की नृत्य-नाटिकाओ ने देश भर में सर्वत्र बडी लोकप्रियता प्राप्त की है। इनमे से 'ढोला-मारू' 'इन्द्र-पूजा', 'गंगा-पार', 'म्हाने चाकर राखो जी', 'पणिहारी', 'मूमल', 'रामलीला' आदि नृत्य-नाटिकाओ के तो देश के सभी प्रमुख नगरो मे प्रदर्शन हो चुके हैं। 'इंद्रपूजा' के लगभग तीन सौ से कम प्रदर्शन नही हुए हैं।[1] आजकल मुख्य रूप से तीन नृत्य-नाटिकाएँ प्रदर्शित की जाती हैं– 'म्हाने चाकर राखो जी', 'मूमल' तथा 'पणिहारी'।

'म्हाने चाकर राखो जी' की कथा का उपजीव्य है–भक्त मीरा का बाल्यकाल, विवाह, वैधव्य, साधु-सत्संग, वृन्दावन तथा द्वारका की यात्राएँ, कृष्ण के दर्शन और गोलोकवास।

'मूमल' मे जैसलमेर की सुन्दर राजकुमारी मूमल की दुःखान्त प्रेम-कथा वर्णित है। मूमल अमरकोट के राजकुमार महेन्द्र को झरोखे से देखकर उस पर मुग्ध हो जाती है। उसकी शर्त के अनुसार उसका उलझा रेशम सुलझा तथा उसके प्रश्नो का संतोषजनक उत्तर दे उससे विवाह का अधिकारी बन जाता है। वह नित्य रात को अमरकोट से जैसलमेर आता और प्रातः होते ही वापस चला जाता। एक बार घायल हो जाने से उसके न पहुँच पाने पर मूमल की छोटी बहन महेन्द्र का वेश धर मूमल के महल गई और अधिक रात हो जाने पर उसके पलंग पर सो गई। स्वस्थ होने पर महेन्द्र जब रात को वहाँ पहुँचा, तो पर-पुरुष को देखकर लौट गया और फिर कभी मूमल से मिलने नही गया।

'पणिहारी' राजस्थान मे प्रचलित पणिहारी लोकगीत पर आधारित है। जैसलमेर की एक पनिहारी का पति विवाह के बाद ही परदेश चला गया और बारह बरस तक नही लौटा। एक दिन जब वह लौट कर पनिहारी से पनघट पर छेड़छाड़ करने लगा, तो वह उसे न पहिचान सकी। अन्त मे सास को जब उसने उसका हुलिया बताया, तो सास ने कहा कि वही तो उसका परदेशी पति था। सब जाकर उसे लिवा लाते और नृत्य-गान से उसका स्वागत करते हैं।

मंडल के कठपुतली-नाटको मे प्रमुख हैं–'रामायण' (तुलसी-'रामचरितमानस' पर आधारित), 'मुगल दरबार', 'सर्कस', 'सुजाता' ('पंचतंत्र' की एक कथा पर आधारित) तथा 'लंगोटी की माया' (एक पारम्परिक कथा)। 'मुगल दरबार' पर ही अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह मे प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इनके प्रदर्शनों के लिये विशिष्ट कठपुतली मंच तैयार किये जाते हैं। ये कठपुतली-नाटक न केवल मनोरंजक हैं, वरन् शिक्षाप्रद भी हैं। पद्मश्री देवीलाल सामर के अनुसार वांछित प्रकार के कठपुतली-नाटको के माध्यम से समस्या मूलक एवं मानसिक रूप से अस्वस्थ बालको तथा वयस्क रोगियो की मनोग्रन्थियो का अध्ययन कर रोग का निदान और उपचार भी किया जा सकता है।[2]

कठपुतलियो के निर्माण, परिधानो की रचना, रंगसज्जा के उपकरण तैयार करने आदि के लिए मंडल मे एक पृथक् विभाग है–कठपुतली तथा शिल्प विभाग। कठपुतली-प्रशिक्षण के लिये मंडल के होनहार कार्यकर्ता एवं पुतली-प्रयोक्ता स्व० गोविन्द की स्मृति मे गोविन्द कठपुतली प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की जा चुकी है, जहाँ सूत्र-संचालित पुतली, दस्ताना पुतली, पशु-पक्षी पुतली, कागज़ की लुगदी तथा अन्य अनुपयोगी वस्तुओ से पुतलियाँ बनाने के साथ उनकी रंग-योजना, परिधान एवं अलंकार-रचना, नाट्यलेखन तथा नाट्य-प्रयोग की शिक्षा दी जाती है। इस केन्द्र को राजस्थान सरकार से मान्यता प्राप्त है। इस केन्द्र द्वारा २०० से अधिक शिक्षक–शिक्षिकाओं को प्रशिक्षण दिया चुका जा है।[3] यह स्मरणीय है कि गोविन्द जी ने सन् १९६२ मे जेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में कठपुतली प्रशिक्षण मे योग दिया था।

राजस्थान संगीत नाटक अकादमी ने भी मंडल के सहयोग से विभिन्न स्थानो पर कठपुतली-प्रशिक्षण शिविर प्रारम्भ कर दिये हैं।

भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर द्वारा मंचस्थ दो नृत्य-नाट्य

मूमल महेन्द्र' में खलनायक दुर्गुण सिंह (मध्य में देवीलाल सामर)

'म्हाने चाकर राखो जी' में विक्रमसिंह (देवीलाल सामर)

(भा० लो० क० मंडल के सौजन्य से)

कला मन्दिर, ग्वालियर द्वारा मंचस्थ दो नाटक :
ऊपर : प्रेमचन्द कश्यप 'सोज़'-कृत 'अभी दिल्ली दूर है' (१९६१ ई०) तथा
नीचे : सोज़-कृत 'शहीदो की बस्ती' (१९६७ ई०) के दृश्य

(कला मन्दिर, ग्वालियर के सौजन्य से)

मडल का अपना एक संग्रहालय भी है, जो अपनी विरल कला-सामग्री के कारण अद्वितीय है। यद्यपि यह संग्रहालय अभी शैशवावस्था में ही है, तथापि उसे भारत का पहला 'लोक-संग्रहालय' कहा जा सकता है।[३७] इस संग्रहालय में विविध प्रकार के लोकमंचों, वाद्यो, लोक-प्रतिमाओं, आदिवासी कला-उपकरणों, भित्ति-चित्रों, पट-चित्रों परिधानों एवं अलंकरणों, मेहदी-आलेखनों, देश-विदेश की कठपुतलियों, काष्ठकला के उपकरणो आदि का अपूर्व संग्रह है। देश-विदेश के पर्यटक एवं शोधार्थी, जिज्ञासु एव कलानुरागी इसे कलातीर्थ मान कर देखने आते रहते हैं।

राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन के शब्दों मे 'भारतीय लोक कला मंडल ने लोक नाट्य-सम्बन्धी कलाओ के अनुसंधान, प्रयोगो तथा उपस्थापन मे महत्वपूर्ण प्रगति की है।'[३८]

राजस्थान सगीत नाटक अकादमी ने १५-१६ मार्च, १९७० को तृतीय लोक नाट्य समारोह उदयपुर में भारतीय लोक कला मडल के प्रांगण मे किया। इसमें राजस्थान के गगाराम वैरागी के रासधारी दल के अतिरिक्त कहला (ब्रज) के प० गंगाधर की रासलीला पार्टी, जावरा (मध्य प्रदेश) के फकीरचन्द के नाच-दल तथा बड़ौदा (गुजरात) के लोक भवाई दल ने भी भाग लिया।

इस अवसर पर *'लोकनाट्य आधुनिक सन्दर्भ मे'* विषय पर एक द्विदिवसीय विचार-गोष्ठी भी हुई। प्रथम दिन जगदीशचन्द्र माथुर ने और दूसरे दिन डॉ० श्याम परमार ने अध्यक्षता की। इसमें राजस्थान विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उप कुलपति डॉ० मोहनसिंह मेहता, अकादमी के अध्यक्ष देवीलाल सामर, अकादमी की सचिव सुधा राजहस तथा डॉ० महेन्द्र मानावत के अतिरिक्त डॉ० सुधा आर० देसाई (बड़ौदा), डॉ० रामप्रसाद दाधीच (जोधपुर) तथा डॉ० नरेन्द्र मानावत (जयपुर) ने भी भाग लिया। विवेच्य विषय पर सभी विद्वानों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये, जिनमे एक ओर यह कहा गया कि लोक-कलाओ के पारम्परिक रूप को बनाये न रख कर युगानुकूल परिवर्तन होना चाहिए (देवीलाल सामर) तथा परम्परा की वस्तु होते हुए भी लोकनाट्यो के स्वरूप में परिवर्तन होते रहे हैं और जिन लोककलाओं में आज के जीवन के साथ बने रहने की क्षमता है, वे स्वयं ही नई परिस्थितियो मे किसी-न-किसी तरह अपना अस्तित्व साक्षात् कर लेती हैं (डॉ० श्याम परमार), तो दूसरी ओर यह मत रहा कि परम्परा को छोड़ना उचित नहीं, क्योंकि उसी के कारण बाहरी लोग उसके प्रति आकृष्ट होते हैं, अतः परम्परा की रक्षा करते हुए भी उसका आधुनिकीकरण किया जाना चाहिये (डॉ० नगेन्द्र मानावत)।[३९]

जयपुर–जयपुर राजस्थान की राजधानी है और प्रत्येक राजधानी मे रवीन्द्र रंगशाला बनाने की योजना के अन्तर्गत यहाँ भी रवीन्द्र मंच बन चुका है। रवीन्द्र मंच के बन जाने के बाद विशेष रूप से और स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन रग-चेतना के स्वाभाविक देशव्यापी विकास के फलस्वरूप जयपुर मे भी अनेक नाट्य-सस्थाएँ बनी और उन्होंने रगमच को जगाया। इनमें एमेच्यर आर्टिस्ट्स एसोसिएशन तथा राजस्थान विश्व विद्यालय का रिपर्टरी ग्रुप प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त सरकारी विभागो के कर्मचारी तथा कालेजो की छात्र-छात्राएँ भी रगदेवता की अर्चना मे पीछे नहीं हैं।

एमेच्यर आर्टिस्ट्स एसोसिएशन–सितम्बर, १९६८ मे एमेच्यर आर्टिस्ट्स एसोसिएशन ने मोहन महर्षि के निर्देशन मे मोहन राकेश-कृत 'आषाढ का एक दिन' रवीन्द्र मच की छत पर खुले रगमंच पर मंचस्थ किया। इस प्रकार का मुक्ताकाश प्रदर्शन जयपुर के सामाजिको के लिए एक नई वस्तु थी। इसके चार प्रयोग हुए। मीनाक्षी शर्मा की मल्लिका तथा रेडियो कलाकार नन्दलाल शर्मा का मातुल बहुत सप्राण थे। कालिदास की भूमिका में सरताज माथुर प्रभावी न बन सके। इला पाडे, रमा पाडे तथा अरुण माथुर ने क्रमशः प्रियगुमंजरी, अम्बिका तथा कालिदास के प्रतिद्वन्द्वी विलोम की भूमिका की। ग्राम्य पृष्ठभूमि पर रचित दृश्यबन्ध तथा भारतीय परिधान-सज्जा सुन्दर

थी, किन्तु अभिनय में गतियों तथा संवाद-कथन से यान्त्रिकता का आभास मिलता था। ध्वनि-संकेत उत्तम थे।[७७] महाकवि कालिदास के जीवन पर आधारित यह कल्पना-प्रसूत नाटक कालिदास के चरित्र और गौरव के अनुकूल नहीं है।

राजस्थान विश्वविद्यालय रिपर्टरी ग्रुप—नवम्बर, १९६८ में राजस्थान विश्वविद्यालय के रिपर्टरी ग्रुप ने 'ढाई आखर प्रेम का' (वसन्त कानेटकर-कृत 'प्रेमा तुझा रंग कसा' का वसंत देव-कृत हिन्दी-रूपान्तर) का मंचन फिल्म-कलाकार पिंचो कपूर के निर्देशन में किया। प्रो० मार्तण्ड वर्मा की भूमिका में विजय वकाया ने सजीव अभिनय किया। बबली, बबली की माँ तथा राजाराम के रूप में क्रमशः मौलश्री मुखर्जी, कमलजीत कौर तथा भारतरत्न भार्गव का काम अच्छा रहा। इस नाटक के जयपुर और अलवर में नौ प्रयोग हो चुके हैं।[७८]

जयपुर का नाट्य शिविर—जोधपुर में राजस्थान संगीत नाटक अकादमी की स्थापना इस राज्य के लोक-नाट्यों के संपोषण-संवर्द्धन की दृष्टि से एक वरदान रही है। सन् १९६८ से प्रत्येक वर्ष अकादमी लोकनाट्य समारोहों एवं विचार-गोष्ठियों का आयोजन करती रही है। जनवरी, १९६९ में अकादमी ने जयपुर में एक नाट्य-शिविर का आयोजन किया, जिसका संचालन रंग-निर्देशक मोहन महर्षि ने किया। इसमें चालीस नाट्यानुरागियों ने शिक्षण प्राप्त किया। शिविर के समापन पर वहाँ के कुछ कलाकारों ने मोहन महर्षि के निर्देशन में ज्ञानदेव-'शुतुरमुर्ग' का मंचन किया। महर्षि के निर्देशन पर भारतरत्न भार्गव ने सूत्रधार के स्थान पर पद्यात्मक कोरस तथा शुतुरनगरी की राजनीति के अन्तर्गत छात्र-असन्तोष, विदेशी ऋण तथा आतंक आदि की नवीन समस्याओं का समावेश कर नाटक के व्यंग्य को तीव्र बनाने की चेष्टा की, यद्यपि उसमें वे अधिक सफल न हो सके। अभिनय बहुत-कुछ असंगत नाट्य-शैली का था, जिससे आधुनिक शासन-तन्त्र के खोखलेपन को उभार कर सामने रखा जा सका। इस दृष्टि से निर्देशन सफल रहा। विजय वकाया (महामन्त्री), वासुदेव सिंह (राजा), भारतरत्न भार्गव (विरोधीलाल) तथा इला पाण्डे (रानी) ने अपनी भूमिकाओं के साथ पूरा न्याय किया।[७९]

'शुतुरमुर्ग' के प्रयोग जोधपुर और उदयपुर में भी किये गये।

कला समारोह—मार्च, १९६९ में जयपुर में एक कला-समारोह का आयोजन किया गया, जिसमें दिल्ली की नाट्य-संस्था दिशान्तर ने मोहन राकेश का 'आधे-अधूरे' प्रस्तुत किया। नाटक में एक सामान्य निम्न मध्यवर्गीय परिवार की कमाऊ गृहिणी के अतिरंजित चरित्र तथा विविध काम-सम्बन्धों द्वारा उसके अन्तर्विद्रोह को चित्रित किया गया है। वह स्वयं तो अधूरी रहती ही है और किसी पूर्ण पुरुष को भी नहीं खोज पाती। नाटक के निर्देशक एवं नायक ओम शिवपुरी ने पति महेन्द्रनाथ के साथ प्रेमी जुनेजा, सिंहानिया तथा जगमोहन की चतुर्मुखी भूमिकाएँ कम-बेश सफलता के साथ प्रस्तुत कीं। सावित्री के रूप में सुधा शर्मा पूरी तरह सफल न हो सकीं—चरित्र की व्याख्या और अभिनय, दोनों ही दृष्टियों से। निर्देशन में ओम शिवपुरी ने ईमानदारी का परिचय दिया। रंगसज्जा उत्कृष्ट थी।[८०]

बीमा कर्मचारी मनोरंजन क्लब—इसी वर्ष नगर के बीमा कर्मचारियों के मनोरंजन क्लब ने जगदीशचन्द्र माथुर-कृत 'शारदीया' डॉ० के० दत्त के निर्देशन में रंगायित किया। मराठी इतिहास के परिप्रेक्ष्य में लिखे गये इस त्रिअंकी नाटक में बायजाबाई तथा नरसिंहराव के प्रेम की अमरगाथा अंकित है। इस बहुदृश्यीय नाटक में केवल तीन दृश्यबन्ध ही हैं – सर्जेराव घाटगे के मकान का कमरा, युद्ध-शिविर तथा ग्वालियर के किले का तहखाना, किंतु रंग-शिल्प की दृष्टि से क्लब का प्रयास सफल न हो सका।

जयपुर के कालेज-छात्रों ने इस वर्ष एकांकी नाट्य-प्रतियोगिता का आयोजन किया, जिसमें पाँच एकांकी—'मेहदत्त', 'यमराज की अदालत', 'एक समस्या' तथा हरिराम आचार्य-कृत 'अकाल संध्या' एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरं' प्रस्तुत किये गये।

ग्वालियर–मध्य प्रदेश मे ग्वालियर हिन्दी रंगमंच का एक प्रमुख केन्द्र है। आधुनिक युग में जिन दो नाट्य-संस्थाओं ने इस रंगमंच को जागृत बनाये रखने की दिशा में स्मृहणीय कार्य किया है, वे है–आर्टिस्ट्स कम्बाइन (१९४० ई०) तथा कला मन्दिर (१९५३ ई०)। इसके अतिरिक्त यहाँ की कुछ नवोदित नाट्य-सस्थाएँ तथा कालेजो की छात्र-छात्राएँ भी समय-समय पर नाटकाभिनय किया करती हैं।

आर्टिस्ट्स कम्बाइन–आर्टिस्ट्स कम्बाइन प्राय अपने वार्षिकोत्सव पर हिन्दी के अतिरिक्त मराठी के और प्रमुख रूप से मराठी नाटक खेलता रहा है, क्योंकि इसके अधिकाश कलाकार मराठे ही हैं। सन् १९६५ मे पचीस वर्ष पूर्ण होने पर सस्था ने अपनी रजत-जयन्ती मनाई। इसकी अपनी एक रगशाला भी है।[८०]

सन् १९६७ मे कम्बाइन ने मन्नू भंडारी-कृत 'बिना दीवारों के घर' प्रस्तुत किया। संभवतः यह नाटक का प्रथम प्रयोग था, जो लेखिका की उपस्थिति मे किया गया था। नौकरपेशा दो पति-पत्नी (अजित और शोभा) सदेह की दीवाल खडी कर एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। यह तनाव यहाँ तक बढ जाता है कि छ वर्ष की उनकी पुत्री अप्पी की अस्वस्थता भी दोनो को नही मिला पाती। अन्धकार में मच पर इस अप्पी की उपस्थिति की अनुभूति तो की जाती है, किंतु प्रकाश मे वह कही नही दीखती। बार-बार मंच पर अन्धकार करने से कथा की एक सूत्रता और संप्रेषणीयता में आने वाले व्याघात, कथा की कसावट के अभाव तथा निर्देशन की कुछ अन्य त्रुटियो के बावजूद पुरुषोत्तम खानवलकर ने अजित की तथा उषा सुर्वे ने जीजी की भूमिकाओ मे प्राण फूँक दिये। नवोदित कलाकार पद्मा खडकरे शोभा की भूमिका के साथ न्याय न कर सकी। निर्देशन भैया साहब भागवत ने किया।[८१]

सन् १९६९ मे दो मराठी नाटको के साथ कम्बाइन ने हिन्दी का 'काचनरग' (शम्भु मित्र के बँगला नाटक का हिन्दी अनुवाद) सफलता के साथ मचित किया।

कला मन्दिर–कला मन्दिर ग्वालियर की एक अर्थ-सपन्न नाट्य-सस्था है, जो गत १७ वर्षों से सगीत, नृत्य और नाटक के क्षेत्र में अनवरत सेवा करती आ रही है। ग्वालियर की राजमाता विजयाराजे सिंधिया मन्दिर की महासरक्षिका हैं। मन्दिर ने न केवल ग्वालियर मे, वरन् बाहर जाकर भी अपना कला-प्रदर्शन किया है।

सन् १९५८ से १९६१ तक शास्त्रीय गायन-वादन एव नृत्य प्रतिक्रियाओ के अतिरिक्त प्रत्येक वर्ष अखिल भारतीय एकाकी नाटक प्रतियोगिता का भी आयोजन किया गया, जिसमे देश की विभिन्न नाट्य-संस्थाओ ने भाग लिया। विजेता संस्थाओं और कलाकारों को पुरस्कृत कर उन्हें सम्मानित भी किया गया। दिसम्बर, १९६१ मे मन्दिर ने प्रेमचन्द कश्यप 'सोज'-कृत 'अभी दिल्ली दूर है' नाटक मंचस्थ किया। सन् १९६२ मे चीनी आक्रमण के कारण रेल किराये की रियायत मिलना बन्द हो जाने से ये प्रतियोगिताएँ स्थगित कर दी गई। सन् १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमण के कारण कई वर्ष तक ये प्रतियोगिताएँ न हो सकी। देश मे सकटकालीन स्थिति के समाप्त हो जाने पर ये प्रतियोगिताएँ अब पुनः प्रारम्भ कर दी गयी हैं। प्रतियोगिताएँ प्राय. दिसम्बर-जनवरी मे होती हैं और भाग लेने वाले नाट्य-दलो के लिए ५० प्रतिशत रेल-रियायत, नि शुल्क निवास एवं प्रकाश की व्यवस्था की जाती है।

मन्दिर अपने वार्षिकोत्सवों अथवा एकाकी नाटक प्रतियोगिताओ के अवसर पर स्वयं भी अपने नाटक प्रस्तुत करता रहा है। १२ सितम्बर, १९६६ को अपने तेरहवें वार्षिकोत्सव पर मन्दिर ने ज्ञानदेव-'वतन की आबरू' तथा २१ अक्टूबर, १९६७ को अपने चौदहवें वार्षिकोत्सव पर प्रेमचन्द कश्यप 'सोज'-कृत 'शहीदो की बस्ती' आरंगित किया। दोनों अवसरो पर मध्य प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री गोबिन्द नारायण सिंह मुख्य अतिथि के रूप मे उपस्थित थे। प्रथम द्विअंकी और द्वितीय त्रिअंकी नाटक हैं और दोनो का उपजीव्य है–काश्मीर में पाकिस्तानी आक्रमण एव घुसपैठ। 'शहीदों की बस्ती' का दृश्यबंध तथा रगदीपन बहुत सुन्दर था। दिनेश दीक्षित

(करीमा), संतोष शर्मा (सोहनी), उषा सुर्वे (काशी बुआ) तथा रमेश उपाध्याय (मूसा मामू) की भूमिकाएँ विशेष रूप से सराहनीय थी। हसन बाबा की भूमिका में प्रेम कश्यप का अभिनय सजीव था। निर्देशक थे–भैया साहब भागवत।[८९]

९ नवम्बर, १९६८ को १५ वें वार्षिकोत्सव पर टीपू सुल्तान के जीवन पर आधारित ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'चिराग जल उठा' गोकुल किशोर भटनागर के निर्देशन में नाट्य मंदिर में खेला गया। उषा सुर्वे (रुही बेगम), नानकराम नगानी (टीपू सुल्तान), रमेश उपाध्याय (नाना फडनवीस), आनन्द गुप्त (कप्तान लैली), अनन्त सबनीस (दीवान) ने मुख्य भूमिकाएँ की।[९०]

३० सितम्बर १९६९ को मन्दिर ने सतीश डे-कृत 'किसका हाथ ?' नाटक मंचस्थ किया। यह एक जासूसी नाटक है, जिसका रमेश उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत दृश्यबन्ध बहुत भव्य था।[९१]

कला मन्दिर सातवें दशक के अन्त तक लगभग एक दर्जन नाटकों का आरंगण कर चुका है।

मन्दिर के आमन्त्रण पर दिल्ली तथा अन्य स्थानों की नाट्य-संस्थाएँ ग्वालियर आकर नाट्य-प्रदर्शन करती रही हैं। इनमें दिल्ली का फाइव आर्ट्स सेंटर तथा थ्री आर्ट्स क्लब प्रमुख हैं। फाइव आर्ट्स सेंटर ने सतीश डे-कृत 'धरती से गगन तक' (१९६७) तथा थ्री आर्ट्स क्लब ने 'पैसा बोलता है' (३ जनवरी, १९६८) का प्रदर्शन किया। 'धरती से गगन तक' जनसंख्या की कल्पनातीत वृद्धि और परिवार-नियोजन की समस्या पर आधारित है।

अन्य संस्थाएँ–ग्वालियर की नवोदित नाट्य-संस्थाओं में उल्लेखनीय हैं–अभिनव कला केन्द्र तथा कला भारती (१९६९ ई०)। अभिनव कला केन्द्र ने जनसंख्या की समस्या पर आधारित सतीश डे का हास्य-नाटक 'श्रीमती जी' (१९६९ ई०) तथा कला भारतीय ने सतीश डे का एक अन्य नाटक 'इंसान, पैसा और भगवान' (१७ अगस्त, १९६९) को आरंगण किया। दोनों सामान्य कोटि के नाटक हैं।

ग्वालियर की छात्र-छात्राओं में नाटकाभिनय के प्रति विशेष रुचि है। सन् १९६९ में महारानी लक्ष्मीबाई महाविद्यालय के छात्रों ने ज्ञानदेव अग्निहोत्री–कृत 'बुद्धिजीवी' तथा डॉ० रामकुमार वर्मा का 'झुमके', पद्मा विद्यालय के छात्रों ने डॉ० रामकुमार वर्मा–कृत 'चारुमित्रा', डॉ० भगवत सहाय स्मारक महाविद्यालय के छात्रों ने डॉ० रामकुमार वर्मा का 'किराये का मकान', गजरा राजा स्कूल के छात्रों ने 'मन्दिर की ज्योति' तथा मिस हिल विद्यालय की छात्र-छात्राओं ने ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग' मंचस्थ किया।

इनमें कमल वशिष्ठ द्वारा निर्देशित 'शुतुरमुर्ग' लोक-शैली में प्रस्तुत किया गया था, जो सफल रहा। रानी की भूमिका में डोरथी ओलियाई का अभिनय सर्वोत्कृष्ट रहा।

भोपाल–देश की स्वतन्त्रता ने भोपाल में भी नये प्राण फूँके और वहाँ के नवाब ने सन् १९४७ में पारसी-शैली के एक नाटक का आयोजन किया, जिसमें इन्दौर, ग्वालियर, दिल्ली, लखनऊ आदि के कलाकारों ने भी भाग लिया। इसके अनन्तर भोपाल की नगरपालिका ने सन् १९५४ में 'हमारी आजादी' नाटक खेला।[९२] मध्य प्रदेश की राजधानी बनने के बाद से यहाँ कला केन्द्र, लोक कला केन्द्र आदि कई नाट्य-संस्थाएँ जाग उठी है। ये संस्थाएँ प्राय. मराठी के साथ हिन्दी के नाटक भी खेलती हैं। लोक कला केन्द्र के हिन्दी-नाटकों में 'संघर्ष और बलिदान' तथा 'पाप और प्रकाश' (मू० ले० टाल्सटाय) उल्लेखनीय हैं। प्रयोक्ता ए० ए० खान द्वारा प्रस्तुत 'आम्रपाली', 'रोटी और बेटी' (रमेश मेहता) आदि नाटक भी सफल रहे।

जबलपुर : शहीद भवन रंगशाला–रंगमंच के मानचित्र में भारत के कोने-कोने में फैले उपर्युक्त नगरों की गौरवपूर्ण शृंखला की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कड़ी है–जबलपुर, जहाँ हिन्दी का प्रथम और एकमात्र परिक्रामी रंगमंच शहीद भवन के भीतर सभा-कक्ष में अवस्थित है। रंगमंच लगभग पैंतालिस हजार की लागत से बन कर सन् १९६१

में तैयार हो गया था। शहीद भवन गोलबाजार मे दस एकड़ से कुछ अधिक भूमि में बना है, जिसके वृत्ताकार प्रेक्षागार (सभा-कक्ष) की दीवारों पर भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के अनेक कलापूर्ण चित्र, नन्दलाल बोस के निर्देशन मे शान्ति निकेतन के कलाकारों द्वारा अंकित किए गये हैं। इसमे २० फुट बाँस के मंच की व्यवस्था भी है। मूल रंगमच की गहराई २२ फुट तथा लम्बाई ३२ फुट हैं। यह रगशाला आधुनिक रगदीपन एवं ध्वनि-यन्त्रों से सुसज्जित है। परदो, कटसीनों और यवनिका आदि की पूर्ण व्यवस्था है। इसमें बालकनी (गैलरी) के १८० पीठासनो सहित कुल ४६४ पीठासन हैं।

इस रंगशाला के उद्‌घाटन के अवसर पर १५ से १८ अक्टूबर तक चार दिन का समारोह हुआ। रगशाला का उद्‌घाटन तत्कालीन सूचना एव प्रसारण मत्री डॉ० वी० सी० केसकर ने १६ अक्टूबर को किया। दूसरे दिन भारतीय नाट्य संघ (नई दिल्ली) की मध्यप्रदेशीय शाखा का उद्‌घाटन श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय के कर-कमलो से हुआ। इस अवसर पर नाटक और रगमच पर चार विचार-गोष्ठियों के अतिरिक्त हिन्दी तथा मराठी, बँगला और तमिल भाषाओं के कुल दस नाटक खेले गये। हिन्दी के नाटको मे प्रमुख थे–सेठ गोविन्ददास-कृत 'शंकराचार्य' और डॉ रामकुमार वर्मा कृत–'कौमुदी महोत्सव'।

प्रत्येक वर्ष १६ अक्टूबर से माह-व्यापी नाट्य समारोह इस परिक्रामी रगमंच पर होता है। इसमें पूर्णांक एव एकाकी, दोनों प्रकार के नाटक अभिनीत होते हैं। अक्टूबर १९७४ तक हिन्दी (६०० नाटक), मराठी (१०० नाटक), बँगला (७० नाटक), गुजराती (७ नाटक), मलयालम, कन्नड, तेलगु पंजाबी, तमिल आदि भाषाओं के कुल मिला कर प्राय: ९०० नाटक इस रंगमंच पर मचस्थ हो चुके हैं।

हिन्दी के इस परिक्रामी रंगमंच की स्थापना का श्रेय हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार और हिन्दी-भक्त अब स्व० सेठ गोविन्ददास को है, जो उनके जीवन की ही नही, समूचे हिन्दी-जगत की एक महान उपलब्धि है।

बिलासपुर —हिन्दी रगमच के मानचित्र में, मध्यप्रदेश के अन्तर्गत ग्वालियर, भोपाल तथा जबलपुर के साथ ही बिलासपुर को भी अंकित किये बिना नही रहा जा सकता। यद्यपि यहाँ बंगालियों की संख्या पर्याप्त होने के कारण दुर्गा-पूजा के अवसर पर अनेक नाट्य-सस्थाएँ बँगला नाटक प्रतिवर्ष खेलती हैं, उनमें नव नाट्यम् एक ऐसी संस्था है, जो बँगला के साथ हिन्दी के नाटक भी खेल दिया करती है। यह संस्था अब तक ज्ञानदेव अग्निहोत्री-कृत 'माटी जागी रे', कृष्णचन्द्र-कृत 'दरवाजे खोल दो' (एकाकी) तथा रमेश मेहता-कृत 'ढोंग' का मंचन कर चुकी है।[१८९]

यहाँ की हिन्दी की नाट्य-संस्थाओं में उल्लेखनीय हैं–हिन्दी साहित्य समिति, रंगमंच (१९६६ ई०) तथा नव प्रभात कला सगम (१९६८ ई०)।

हिन्दी साहित्य समिति:–हिन्दी साहित्य समिति कृष्णकुमार गौड-कृत 'सरहद', सतीश डे-कृत 'हिमालय ने पुकारा' तथा 'इन्सान और शैतान', रमेश मेहता-कृत 'अंडर सेक्रेटरी' आदि कई नाटकों का अभिनय कर चुकी है।[१९०]

रंगमच :—रंगमंच ने रमेश मेहता-कृत 'ढोंग', राजकुमार अनिल-कृत 'मौत के साये मे' आदि नाटक मंचस्थ किये। नवप्रभात कला सगम ने सतीश डे के 'संयोग' का मंचन हामिद अली खाँ के निर्देशन में किया।[१९१]

निर्देशकों की संस्थाएँ :–इसके अतिरिक्त किसी ध्वज का प्रयोग किये बिना निर्देशक विजय मुखर्जी ने ज्ञानदेव–'नेफा की एक शाम', निर्देशक राजकुमार अनिल ने सतीश डे का 'नया सूरज, नई किरण' तथा वीरू मुखर्जी का 'चुनाव के चोचले' तथा निर्देशक सुनील मुखर्जी ने रमेश मेहता का 'उलझन' (१ अक्टूबर, १९६८) की प्रस्तुति की।

प्राय ये सभी नाटक विलासपुर के नार्थ-ईस्ट रेलवे इन्स्टीट्यूट के रंगमंच पर खेले जाते हैं। इस इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रत्येक वर्ष नाटक प्रतियोगिता भी की जाती है, जिसमें हिन्दी नाटकों के अतिरिक्त बंगला, तेलगू तथा अँग्रेजी के नाटक भी खेले जाते हैं।[५८]

अन्य —ग्वालियर की भाँति विलासपुर की छात्र-छात्राएँ भी नाटकाभिनय की दिशा में विशेष रूप से सक्रिय हैं। ये नाटक प्राय वार्षिकोत्सवों के अवसर पर ही होते हैं। राजकीय महिला महाविद्यालय की छात्राओं ने धर्मवीर भारती–'अंधा युग' तथा सी० एम० दुबे महाविद्यालय के छात्रों ने मोहन राकेश–'आषाढ का एक दिन' का सफल मंचन किया। दुबे महाविद्यालय के छात्रों ने डॉ० सुरेशचन्द्र शुक्ल 'चन्द्र'-कृत 'रंगीन चश्मा' तथा वहाँ की छात्राओं ने 'चन्द्र'-कृत 'गृह-कलह' का प्रदर्शन किया।

उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ —हिन्दी-रंगमंच के इस सिंहावलोकन के उपरान्त यह दृढता से और विश्वास-पूर्वक कहा जा सकता है कि भले ही नई-नई नाट्य-संस्थाएँ बनें और बिगड़ें, किन्तु हिन्दी-रंगमंच के चरण अबाध गति से आगे बढ रहे हैं। उनकी परिसीमाएँ हैं, अनर्हताएँ हैं, किन्तु उनकी उपलब्धियों का पलड़ा फिर भी भारी है। संक्षेप में, ये उपलब्धियाँ और परिसीमाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) *आधुनिक युग प्रधानतया अव्यावसायिक रंगमंच का युग है*, किन्तु उसके साथ व्यावसायिक एवं अर्द्ध-व्यावसायिक मंच का सह-अस्तित्व इस युग की विशेष उपलब्धि है।

(२) *दोनों क्षेत्रों में स्थायी रंगशालाएँ हैं, किन्तु कुछ संस्थाओं की अपनी रंगशालाओं को छोड़ कर शेष ने* बहुधा बहु-प्रयोजनीय, नगरपालिका, रेलवे अथवा शिक्षा-संस्थाओं के रंगभवनों या सभागारों (हालों) को किराए पर लेकर नाटक खेले। *बड़े समारोहों, छोटे नगरों आदि में अस्थायी पंडाल एवं मंच बना कर ही काम चला* लिया गया।

(३) हिन्दी-रंगमंच के क्षेत्र में खुले (मुक्ताकाश) मंच और वृतस्थ मंच (एरेना स्टेज) से लेकर परिक्रामी मंच तक अनेक प्रकार के मंचों के सफल प्रयोग किये गये।

(४) हिन्दी के व्यावसायिक एवं अर्द्ध-व्यावसायिक मंच पर पारसी शैली के नाटक से लेकर आधुनिकतम नाट्य-प्रयोग किये गये, किन्तु आधुनिक हिन्दी-रंगमंच का प्रतिनिधित्व अव्यावसायिक मंच द्वारा किया गया, जो मुख्यत प्रयोगवादी बना रहा। मंच पर गद्य-नाटकों के साथ गीति-नाट्य एवं नृत्यनाट्यों के प्रयोग भी हुए। पूर्णांक नाटकों के अतिरिक्त एकांकी नाटकों को भी मंचस्थ किया गया, यद्यपि प्रत्येक दशा में प्रदर्शन की अधिकतम समय-सीमा ढाई से तीन घण्टे तक ही रखी गई।

(५) आधुनिक युग के उत्तरार्ध में, विशेषकर देश की स्वतन्त्रता के बाद, परदों की जगह त्रिपार्श्वीय दृश्यबंधों, बहुधरातलीय, बहुस्थलीय मंचों, प्रतीक-सज्जा का उपयोग किया जाने लगा। समर्थ नाट्य-संस्थाओं द्वारा रंग-दीपन और ध्वनि-संकेत के लिये आधुनिकतम साधनों का उपयोग किया गया।

(६) हिन्दी-रंगमंच ने इस युग को अनेक मौलिक रंग-नाटककार, निर्देशक एवं कलाकार दिये, जो एक शुभ लक्षण है।

रंग-नाटककारों में रमेश मेहता ख्वाजा अहमद अब्बास, राजेन्द्रसिंह बेदी, इस्मत चुगताई, हबीब तनवीर, राजेन्द्र रघुवंशी, सीताराम चतुर्वेदी (अभिनव भरत), परिपूर्णानन्द वर्मा, पृथ्वीराज कपूर, विनोद रस्तोगी, डॉ० अज्ञात, मोहन राकेश, वीरेन्द्रनारायण, के० बी० चंद्रा, कुँवर कल्याण सिंह, सर्वदानन्द वर्मा, रणधीर साहित्यालंकार वृद्धिचन्द्र अग्रवाल 'मधुर', रामचन्द्र 'आँसू', ज्ञानदेव अग्निहोत्री, डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल, विमला रैना, आर० जी० आनन्द, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामेश्वरसिंह कश्यप, चतुर्भुज शर्मा, राजकुमार, मन्नूलाल 'शील', डॉ० विपिन अग्रवाल, धर्मवीर भारती, शंभूनाथ सिंह, राजेन्द्रकुमार शर्मा, मुद्राराक्षस, शिवमूरत सिंह, बृजमोहन शाह, सुरेन्द्र वर्मा, आदि

उल्लेखनीय हैं। कुछ अन्य नये-पुराने नाटककारों में जयशंकर 'प्रसाद' भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, गोविन्द वल्लभ पंत, हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगदीशचन्द्र माथुर, डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सुदर्शन आदि के नाटक भी रंगमंच पर प्रस्तुत किये गये।

निर्देशकों में पृथ्वीराज कपूर, सीताराम चतुर्वेदी, ई० अल्का जी, सत्यदेव दुबे, प्रेमशंकर 'नरसी', माधव शुक्ल, हबीब 'तनवीर', ललितकुमारसिंह 'नटवर', श्यामानन्द 'जालान' मोहन महर्षि, ओम शिवपुरी, कर्नल एच० वी० गुप्ते, शीला भाटिया, रमेश मेहता, प्रभातकुमार घोष, कुँवर कल्याणसिंह, अमृतलाल नागर, आर० जी० आनन्द, बलराज साहनी, सोहराब मोदी, आई० एस० जौहर, देवीलाल सामर, नरेन्द्र शर्मा, गुरु गोपीनाथ, नयना झवेरी आदि तथा कलाकारों में पृथ्वीराज कपूर, 'नरसी', माधव शुक्ल, रमेश मेहता, श्यामानन्द जालान, ओम शिवपुरी, कुमुद नागर, आदि जैसे अभिनेता-निर्देशकों के अतिरिक्त राजकपूर, प्रेमनाथ, सज्जन, जोहरा सहगल, पुष्पा हंस, अवधबिहारीलाल, त्रिलोचन झा, केशवराम टंडन, देवदत्त मिश्र, सीतादेवी, सोना चटर्जी, कृष्णा मिश्र, उमा सहाय, प्रमोदावाला, अजरा, इन्दुमती, विश्वनाथ शर्मा, केशव खत्री, अंबा शंकर, जमुनाप्रसाद पाण्डेय, केशवराम टंडन, सुधा शर्मा, कुंकुम टंडन, रानी बार्नर, राज मिश्र, सुनीति ओबेराय, ओंकार नाथ बाजपेई आदि प्रमुख हैं। विश्वनाथ शर्मा, केशव खत्री, अम्बाशंकर आदि अपनी स्त्री-भूमिकाओं के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। कलाकारों विशेषकर स्त्री-कलाकारों द्वारा मुक्त एवं स्वाभाविक अभिनय इस युग की विशेष देन है।

(७) प्रत्येक संस्था के प्रायः अपने नाटककार होते हैं अथवा अधिकांश संस्थाएँ नाटककार-निर्देशकों की संस्थाएँ होती हैं और उन्होंने अधिकांशतः उन्हीं के नाटक खेले। हिन्दी क्षेत्र के प्रतिष्ठित नाटककारों में से कुछ थोड़े से नाटककारों के नाटक ही अपनाये गये।

रंगमंच से सम्बन्धित अधिकांश नाटककारों ने विदेशी, संस्कृत और हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के नाटकों के रूपान्तर अथवा विभिन्न भाषाओं के प्रसिद्ध उपन्यासों के नाट्य-रूपान्तर किये, जिससे हिन्दी-रंगमंच की अपनी निजी परम्परा का निर्माण न हो सका। मौलिक कृतियों की अवहेलना हिन्दी-रंगमंच के विकास में बाधक रही।

(८) आधुनिक युग में न केवल हिन्दी-रंगमंच ने साकारत्व ग्रहण किया, रंगमंच, रंग-शिल्प और नाटकोपस्थापन की विविध समस्याओं पर पत्र-पत्रिकाओं, विचार-गोष्ठियों, परिचर्चाओं, सम्मेलनों आदि में खुल कर विचार-विमर्श भी हुआ, जिससे रंगमंच के विकास के लिये कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आये। नाट्य-शिक्षण की दिशा में भी सराहनीय प्रयास हुए।

(९) सम्पूर्ण देश में, विशेषकर उत्तरी भारत में हिन्दी-नाटकों को देखने वाला सामाजिक-वर्ग तैयार हुआ, किन्तु 'बुकिंग आफिस' पर जाकर टिकट खरीदने वालों की अभी भी कमी है। इस दृष्टि से हिन्दी के सामाजिक बँगला, मराठी या गुजराती के सामाजिकों से पीछे हैं।

(४) निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग के प्रारम्भ के समय तक चलचित्रों के उत्कर्ष और प्रसार व्यावसायिक मंडलियों के आन्तरिक विग्रह एवं पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, नाट्योपस्थापन के बढ़ते हुए व्यय और संचालकों की अनुभवशून्यता आदि के कारण मराठी और हिन्दी का व्यावसायिक मंच प्रायः समाप्त हो चला था, किन्तु बँगला और गुजराती के व्यावसायिक मंच बदलते हुए प्रबन्धों के अन्तर्गत, एकाध अपवाद को छोड़कर निरन्तर चलते रहे, क्योंकि उनकी नींव गहरी थी। बँगला और गुजराती क्षेत्रों के सामाजिक चलचित्रों के बावजूद नाटक बराबर देखते रहे और इसमें उन्हें आत्मतोष, गौरव और गर्व का अनुभव होता रहा, किन्तु मराठी और

हिन्दी में पुन: व्यावसायिक मंच का क्रमश: नाट्य-निकेतन और मूनलाइट थियेटर के रूप में अभ्युदय हुआ। इस युग के अन्तिम दशक (सातवें दशक) के प्रारम्भ होते-होते नाट्यनिकेतन की सक्रियता घट गई, और मूनलाइट भी इस दशक के अन्त में निष्क्रिय हो गया।

इस युग में अव्यवसायिक मंच पल्लवित होकर विकसित हुआ और उसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ हिन्दी तथा आलोच्य भाषाओं के क्षेत्र में फैल गईं। इस क्षेत्र में बंगाल के अकाल ने एक नवीन नाट्य-आन्दोलन को जन्म दिया, जिसने बंगला, हिन्दी, गुजराती और मराठी के नाट्य-आन्दोलनों को प्रभावित किया और अन्त में एक विशिष्ट विचारधारा से सम्बद्ध होकर उत्तरोत्तर सारे देश में फैल गया, किन्तु अन्ततः इसी एकांगी विचारधारा और राष्ट्रीय नाट्य-आन्दोलन के बढ़ते हुए दबाव के कारण नव-नाट्य आन्दोलन की शक्ति क्षीण हो गई। केवल हिन्दी में इसके पदचिन्ह कुछ देर तक शेष बने रहे। अब इस नव नाट्य-आन्दोलन ने उक्त विशिष्ट विचारधारा से पृथक् हो अभिनय, रंगशिल्प, विषय-वस्तु, नाट्य-पद्धति, उपस्थापन आदि की दृष्टि से एक क्रांति उपस्थित कर दी है। यह क्रांति बंगला आदि की भाँति हिन्दी में विशेषरूप से परिलक्षित हो रही है, जिसमें प्रतीकवादी, अभिव्यंजनावादी तथा असंगत नाटकों के भी प्रयोग होने लगे हैं। आज का हिन्दी नाटककार इस क्रांति के प्रति सजग और संवेदनशील है, किन्तु हिन्दी रंगमंच की अपनी परिसीमाओं और पूर्वाग्रहों के कारण उसे मराठी या गुजराती नाटक की भाँति पूरा सम्मान नहीं प्राप्त हो सका है। नाटकों के अभाव के कथित दैन्य से यद्यपि सभी भाषाओं के आधुनिक रंगमंच पीड़ित हैं किन्तु हिन्दी का रंगमंच दूसरों की जूठन को बटोरकर ही बड़े संतोष का अनुभव कर रहा है। रूपान्तरों या नाट्यरूपान्तरों की अपेक्षा मौलिक नाटक प्रस्तुत करने वाली नाट्य-संस्थाओं को विशेष सम्मान और लोकप्रियता प्राप्त है।

इस युग में रंगशालाओं का अभाव, किन्तु जहाँ रंगशालाएँ हैं, वहाँ उनके पूरे सप्ताह प्रयोग का न होना अपने में एक विचित्र विरोधाभास है, जिससे सभी भाषाक्षेत्रों की रंगशालाएँ प्रभावित हैं। फिर भी यह सत्य है कि बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, पूना, नागपुर, वाराणसी, जबलपुर, लखनऊ, आगरा, पटना, जयपुर, चंडीगढ़ आदि कुछ स्थानों को छोड़ कर कहीं भी सुसज्जित रंगशालाएँ नहीं है, और अन्यत्र जो रंगशालाएँ हैं भी, वे वास्तव में रंगशाला कहे जाने योग्य नहीं हैं। देश को राष्ट्रीय रंगशालाओं की एक सुसंबद्ध शृंखला की नितान्त आवश्यकता है। इस शृंखला में मुक्ताकाश रंगशालाएँ भी बनाई जा सकती हैं। आलोच्य युग के अन्त तक हिन्दी-क्षेत्र में मुक्ताकाश या खुली रंगशालाएँ भी बन चुकी थी। ये रंगशालाएँ सभी नाट्य-संस्थाओं को बिना किसी भेद-भाव के सस्ते या सहायता-प्राप्त किराये पर उपलब्ध होनी चाहिये।

श्री आर्ट्स क्लब, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत बच्चों के नाटक इस युग की एक विशेष उपलब्धि है। हिन्दी में इस ओर अभी बहुत कम ध्यान दिया गया है। बंगला का शिशुरंगमहल इस दिशा में अग्रणी है।

इस युग की सामान्य प्रवृत्ति ऐसे त्रिअंकी या द्विअंकी नाटकों की ओर है, जिनमें कोई दृश्य-विभाजन न हो और यदि कोई दृश्य-विभाजन हो भी, तो वह स्थानाश्रित न होकर कालाश्रित हो, जिससे एक ही दृश्यबंध पर नाटक खेले जा सकें। बंगला के नाटक प्रायः अनेक दृश्यों में होते हैं, जिनका कारण वहाँ का उन्नत परिक्रामी मंच है, जिस पर वे अपने बहुदृश्यीय नाटकों को सरलता से दिखा सकते हैं। हिन्दी में मराठी और गुजराती की भाँति एक दृश्यबन्ध वाले नाटकों को प्राथमिकता प्राप्त है। प्रयोगावधि की दृष्टि से मराठी के चार घंटे वाले लम्बे नाटकों के विपरीत हिन्दी में बंगला या गुजराती की भाँति तीन घण्टे के नाटक पसन्द किये जाते हैं। हिन्दी में नृत्य, गान या अभिनय के लिये महिलाओं की उपलब्धता की अब कोई समस्या नहीं है यद्यपि यहाँ भी मराठी या गुजराती की भाँति कुछ वर्षों पूर्व तक पुरुष ही स्त्रियों के रूप में काम करते रहे हैं।

आधुनिक युग में हिन्दी में नाट्य-शिक्षण की दिशा में अन्य भाषाओं की भाँति सराहनीय प्रयास हुए,

किन्तु हिन्दी के व्यापक क्षेत्र को देखते हुए ये प्रयास नगण्य हैं। इसके लिये हिन्दी-क्षेत्र के प्रत्येक विश्वविद्यालय में नाट्य शिक्षण की विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए। कुछ नाट्य-विषयक पत्रिकाएँ भी निकली, जिनमे दिल्ली के 'नटरंग', उदयपुर के 'लोककला' तथा रंगायन', जोधपुर के 'रंगयोग' तथा लखनऊ की 'रंगभारती' का विशेष स्थान रहा है। अनेक स्थानो पर विचार-गोष्ठियो के आयोजन हुए और पत्र-पत्रिकाओ के नाट्य-स्तभों एवं कुछ पत्रिकाओ के नाट्य-विशेषांको द्वारा रंगमच के विभिन्न उपादानो और उनके स्वरूपो पर विस्तृत विचार-विमर्श हुआ।

अभिनय के क्षेत्र मे कुछ ऐसे प्रयोग हुए, जो भारत की आत्मा के अधिक निकट रहे हैं, किन्तु पाश्चात्य गद्य-नाटक और उसकी अभिनय-पद्धति के प्रहार के आगे भारतीय नाट्य-शास्त्र के आदर्शों को हिन्दी में ही नही, सभी भारतीय भाषाओं मे भुला-सा दिया गया है। अभिनय के विविध प्रकारों भावाभिनय, मुद्राओं एव गति-संप्रचार का जितना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन भरत-नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है, वैसा ससार की किसी भी भाषा मे दुर्लभ है। अत. यह आवश्यक है कि नाट्यशास्त्र का गंभीरता के साथ व्यापक एवं विस्तृत अनुशीलन किया जाय। अभिनय की एक अपनी निजी भारतीय पद्धति के विकास के लिये नाट्याचार्यों एवं उपस्थापको को विशेष रूप से इस ओर ध्यान देना चाहिये।

सन्दर्भ

५--आधुनिक युग (सन् १९३८ से १९७० तक)

१. जवाहरलाल नेहरू, दि डिस्कवरी आफ इण्डिया, लन्दन, मेरिडियन बुक्स लि०, चतुर्थ सस्करण, १९५६, पृ० ४३४।

२-३. निरंजन सेन, भारतीय जननाट्य संघ का एक दशक (नया पथ, नाटक विशेषांक, मई, १९५६, पृ० ४८२)।

४. इन्द्र मित्र, साजघर, पृ० ४०४।

५ डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य, बागला नाट्यसाहित्येतर इतिहास, द्वि० ख०, पृ० ५७८।

६. डॉ० हेमेन्द्रनाथदास गुप्त, भारतीय नाट्यमंच, द्वि० भा० पृ० २९३-२९४।

७. वही, पृ० २९९। ८--वही, पृ० ३००।

९-१०. देवनारायण गुप्त, निर्देशक, स्टार थियेटर, कलकत्ता से एक भेंट (२४ दिसम्बर, १९६५) के आधार पर।

११. ध्रुवगुप्त, आज का बंगला रगमंच ('नटरंग', जनवरी, १९६५), पृ० ९७।

१२ ९-१०-वत्।

१३. ६, वत्, पृ० ३०६।

१४. वही, पृ० ३०७-३०८।

१५. वही, पृ० ३०९ तथा ३११-३१४।

१६. शंभु मित्र, कलकत्ता सीन (नाट्य, थियेटर आर्किटेक्चर नम्बर, विंटर, १९५९-६०, पृ० १४३)।

१७. ध्रुव गुप्त, आज का बंगला रगमंच ('नटरंग', नई दिल्ली, जनवरी, १९६५), पृ० ९८।

१८ डॉ० हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, भारतीय नाट्यमंच, द्वि० भा०, पृ० २९२।
१९ वही, पृ० २८७।
२०. वही, पृ० २८८।
२१. वही, पृ० २९६।
२२ (क) वही, पृ० २८८, तथा
(ख) डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य, बांगला नाट्यसाहित्येर इतिहास, द्वि० खं०, पृ० ५७९।
२३ २२ (ख)-वत्, पृ० ५७९-५८०।
२४. वही, पृ० ५८८।
२५. वही, पृ० ५८९।
२६ वही, पृ० ५८८।
२७. १८-वत्, पृ० ३१४।
२८. वही, पृ० ३१५।
२९. भँवरमल सिंघी, हमारे रंगमच कलकत्ता-रंगमच की राजधानी (हिन्दी नाट्य महोत्सव, १९६४, कलकत्ता, अनामिका, पृ० ४९)।
३०. २२ (ख)-वत्, पृ० ५९९।
३१. वही, पृ० ६०२।
३२ वही, पृ० ६०२-६०३।
३३. तापस सेन, बध्यस, लिटिल थियेटर ग्रुप, कलकत्ता से एक भेंट (दिसम्बर, १९६५) के आधार पर।
३४ २२ (ख)-वत्, पृ० ६०८।
३५. बहुरूपी, कलकत्ता, १९५५, पृ० ८।
३६. २२ (ख)-वत्, पृ० ६१३।
३७. शम्भु मित्र, रक्तकरबी : टू प्वाइट्स आफ व्यू (नाट्य, टैगोर सेंटिनरी नबर, १९६२, पृ० ६१)।
३८ २२ (ख)-वत्, पृ० ६१४।
३९. वही, पृ० ६१५।
४०-४१. वही, पृ० ६१६।
४२. वही, पृ० ६१८।
४३ वही, पृ० ६०४।
४४. वही, पृ० ६०५।
४५ २९-वत्।
४६. साहित्य अकादमी, नई दिल्ली के सहायक सचिव लोकनाथ भट्टाचार्य से २६ नवम्बर, १९६७ को हुई एक भेंट-वार्ता के आधार पर।
४७. ध्रुव गुप्त, आज का बंगला रंगमच (नटरग, नई दिल्ली, जनवरी, १९६५), पृ० १००।
४८. वही, पृ० १०१।
४९. २२ (ख)-वत्, पृ० ५८७।
५०. शम्भु मित्र, दि न्यू थियेटर इन बगाल (दि इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इण्डिया, बम्बई, ३० अप्रैल, १९६७, पृ० ३८)।

५१. ज्ञानेश्वर नाडकर्णी, न्यू डाइरेक्शंस इन दि मराठी थियेटर, नई दिल्ली, महाराष्ट्र इन्फार्मेशन सेंटर, नवम्बर, १९६७, पृ० २५।
५२. ज्ञानेश्वर नाडकर्णी, मराठी रंगभूमि : पुढली दिशा (आजचें मराठी नाटक, स्मृति-पुस्तिका, बम्बई, इंडियन नेशनल थियेटर, १९६१)।
५३. अनन्त काणेकर, मराठी रंगभूमीचें भवितव्य (उपर्युक्त आजचें मराठी नाटक)।
५४. आज 'कुलवधू' है, अतः छाता मत लो।
५५-५६. मोतीराम गजानन रागणेकर, बम्बई से एक भेंट (जून, १९६५) के आधार पर।
५७. श्री० ना० बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि नाट्यवाङ्मय, पृ० १९९।
५८. दि मराठी थियेटर - १८४३ टु १९६०, बम्बई, पापुलर बुकडिपो, पृ० ५४।
५९-६०. ५५-५६-वत्।
६१. ५८-वत्, पृ० ५८-५९।
६२. वही, पृ० ५६।
६३. नाट्यविषयक कार्य (मुम्बई मराठी साहित्य संघ : साहित्य संघ मन्दिर उद्‌घाटन स्मृति-ग्रन्थ, १९६४)।
६४. उगम आणि विस्तार (मु० म० सा० सं० : साहित्य संघ मंदिर उद्‌घाटन स्मृति-ग्रंथ, १९६४)।
६५. ५८-वत्, पृ० ६१।
६६ (क) ५८-वत्, पृ० ६२, तथा
(ख) ६४-वत्।
६७. ६४-वत्।
६८, ६९ एवं ७०. दि इण्डियन नेशनल थियेटर एण्ड स्टेजक्राफ्ट (जेसल-तोरल, स्मृति-पुस्तिका, १९६३)।
७१ रेखा मेनन, संपादिका, कल्चरल प्रोफाइल्स : बम्बई-पूना, नई दिल्ली, इंटरनेशनल कल्चर सेंटर, १९६१, पृ० ४५।
७२. प्रीपेयर फार ड्रामा, बम्बई, भारतीय विद्या भवन, १९६३, पृ० ८४।
७३. मराठी स्टेज : ए सोवनीर, मराठी नाट्य परिषद् : फार्टी-थर्ड एनुवल कन्वेंशन, नई दिल्ली, १९६१, पृ० ३५।
७४. वही, पृ० १।
७५. ७१-वत्, पृ० १११।
७६-७७ विदर्भ साहित्य संघ, नागपुर के महासचिव श्री गो० स० देहाड़राय से ६ फरवरी, १९७५ को हुई वार्ता के आधार पर।
७८. विदर्भातील प्रमुख नाट्यसंस्था ('युगवाणी', नाट्यमहोत्सव विशेषांक, संपा०, पा० कृ० सावलापूरकर), पृ० १०२।
७९. वही, पृ० १०३।
८०, ८१ एवं ८२. महोत्सवात भाग घेणाऱ्या संस्थांचा परिचय (आजचें मराठी नाटक, स्मृति-पुस्तिका, बम्बई, इंडियन नेशनल थियेटर, १९६१)।
८३. ५१-वत्, पृ० ४७।
८४. एनुवल रिपोर्ट, १९६२-६३, नई दिल्ली, संगीत नाटक एकाडमी, पृ० २४-२५।
८५. ५१-वत्, पृ० ४६।

८६ ज्ञानेश्वर नाडकर्णी, न्यू डाइरेक्शन्स इन दि मराठी थियेटर, पृ० ४८।
८७ मराठी थियेटर ए ग्लिम्प्स, नई दिल्ली, म० इ० सें०, पृ० १७।
८८ डॉ० डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, ४० पारिख स्ट्रीट, सरदार वल्लभभाई पटेल रोड, बम्बई-४ से एक साक्षात्कार (जून,१९६५) के आधार पर।
८९ रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरण मंजरी, पृ० २६१।
९०. मणिलाल भट्ट, कर-मुक्ति (गुजराती नाट्य, बम्बई, अप्रैल-मई, १९५३, पृ० ३१)।
९१. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, रंगभूमिना विकासनी उडती समीक्षा (गुजराती नाट्य, जनवरी-फरवरी, १९५८, पृ० ४७)।
९२-९८. जयन्तिलाल र० त्रिवेदी, इतिहासनी दृष्टिअे श्री देशी नाटक समाज (श्री देशी नाटक समाज : अमृत महोत्सव (१८८९-१९६४), बम्बई, १९६४।
९९. (क) वही, तथा
(ख) ८९-वत्, पृ० ३०४-३०६।
१००, १०१ एवं १०२. ९२-९८-वत्।
१०३ ८८-वत्।
१०४-१०५. कासमभाई नथुभाई मीर, निर्देशक, देशी नाटक समाज, बम्बई से एक भेंट (२८ जून, १९६५) के आधार पर।
१०६. ९२-९८-वत्।
१०७ प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी, विद्यावारिधि भारवि, बम्बई, एन० एम० त्रिपाठी लि०, १९५१, पृ० ९।
१०८ वही, पृ० ८३।
१०९, ११० एवं १११. ९२-९८-वत्।
११२. ८८-वत्।
११३-११४. ९२-९८-वत्।
११५ ८९-वत्, पृ० २९९।
११६. प्रफुल्ल देसाई, आजनी वात . नाटिकाना गायनो अने टूंकसार, निवेदन, फरेदुन आर० ईरानी, १९४९, पृ० १।
११७ रमणिक श्रीपतराय देसाई, गुजराती नाटक कम्पनीओनी सूचि (गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक-ग्रंथ, बम्बई, १९५२, पृ० ११२)।
११८. ८९-वत्, पृ० २७३-२७४।
११९. वही, पृ० २७८-२८१।
१२०. वही, पृ० २८४।
१२१. वही, पृ० २८८।
१२२-१२३ वही, पृ० २९४।
१२४. ९२-९८-वत्।
१२५-१२६. ११७-वत्, पृ० १०५।
१२७ ८९-वत्, पृ० २७७।
१२८. वही, पृ० २७८।

१२९. (क) 'मनस्वी' प्रातिज्वाला, प्रस्तावना (एकज आशा, ले० मणिलाल 'पागल' बम्बई, दि खटाऊ आल्फेड थियेट्रिकल कं०, १९४४, पृ० १, तथा
(ख) रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरण मंजरी, पृ० २९९ ।
१३०. १२९ (क)-वत् ।
१३१. (क) वही, तथा
(ख) प्रफुल्ल देसाई, नन्दनवन, बम्बई, दि खटाऊ आल्फ्रेड थियेट्रिकल क०, आवरण पृष्ठ ।
१३२. १२९ (क)-वत् ।
१३३. प्रफुल्ल देसाई, अबोल हैया : गायनो अने टुंकसार, लेखकना बे बोल, पृ० १ ।
१३४. तेरसिंह उदेशी, मृगजल : नाटकना गायनो-टुंकसार, बम्बई, नवयुग कला मन्दिर, १९४४ ।
१३५. (क) भारती साराभाई, नटमंडल, अहमदाबाद (गुजराती नाट्य, बम्बई, अप्रैल-मई, १९५३, पृ० ४०), तथा
(ख) यशवन्त ठाकर, श्री जयशकर 'सुन्दरी'-नी दिग्दर्शन-कला, नडियाद, मधुसूदन ठाकर, १९५७, पृ० २३ ।
१३६. प्रागजी ज० डोसा, उघडते पडदे (गुजराती नाट्य, बम्बई, जनवरी-फरवरी, १९५८, पृ० ३) ।
१३७. १३५ (ख)-वत्, पृ० २४-२५ तथा पृ० २९ ।
१३८. वही, पृ० ४३ ।
१३९. (क) नटमंडल, अहमदाबाद (ड्रामा फेस्टिवल सोवनीर, बड़ौदा, मध्यस्थ नाट्य-संघ, १९६०, पृ० ७२), तथा
(ख) धनसुखलाल मेहता, गुजराती बिनधधारी रंगभूमिनो इतिहास, पृ० ९१ ।
१४०. १३९ (ख)-वत् ।
१४१. भारती साराभाई, नटमडल, अहमदाबाद, पृ० ४२ ।
१४२. घनसुखलाल मेहता, नाट्यविवेक, सातांक्रुज, बम्बई, स्वयं, १९६०, पृ० २२ ।
१४३. घ० मेहता एव अविनाश व्यास, स० ले० अर्वाचीन, बम्बई, एन० एम० त्रिपाठी लि०, १९४६, पृ० ८ ।
१४४. १४२-वत्, पृ० १०५-१०६ ।
१४५-१४६. दामू झवेरी, इण्डियन नेशनल थियेटर : १९४४-१९५४ (अंग्रेजी), बम्बई, १९५४, पृ० २ ।
१४७. वही, पृ० ३-४ ।
१४८-१५२. दि इंडियन नेशनल थियेटर एण्ड स्टेजक्राफ्ट (जेसल-तोरल, बम्बई, इं० ने० थि०, १९६३) ।
१५३. १४२-वत्, पृ० १६५ ।
१५४. १३९ (ख)-वत्, पृ० ९२ ।
१५५. वही, पृ० ९४ ।
१५६-१५७. गौतम जोशी, इडियन नेशनल थियेटर, बम्बई से एक भेंट (१ जुलाई, १९६५) के आधार पर ।
१५८-१५९. प्रवीणचन्द्र वी० गाँधी, एबाउट आवरसेल्व्स (डिस्कवरी आफ इंडिया, स्मृति-पुस्तिका, बम्बई, इं० ने० थि०, १९६४) ।
१६०. नवीन टी० खाडवाला, दि इंटर-कालेजिएट ड्रामा कम्पटीशन : ए रिव्यू (प्रीपेयर फार ड्रामा, बम्बई, भारतीय विद्या भवन, १९६३, पृ० ६) ।

१६१. प्रीपेयर फार ड्रामा, बम्बई, भा० वि० भ०, १९६३, पृ० ८४ ।

१६२. प्रबोध जोशी, आई० सी० डी० सी० एण्ड दि थियेटर मूवमेंट इन बाबे (प्रीपेयर फार ड्रामा, बम्बई, भा० वि० भ०, १९६३, पृ० १४) ।

१६३ धनसुखलाल मेहता, गुजराती बिनधंधादारी रगभूमिनो इतिहास, पृ० ७६ ।

१६४ यशवन्त ठाकर, श्री जयशकर 'सुन्दरी'-नी दिग्दर्शन-कला, नडियाद, म० ठाकर, १९५७, पृ० १६ ।

१६५. रंगभूमि, बाम्बे (ड्रामा फेस्टिवल सोवनीर, बड़ौदा, म० ना० संघ, १९६०, पृ० ७१) ।

१६६, १६७ एवं १६८. प्रो० मधुकर रादेरिया, बम्बई से एक भेंट (१ जुलाई, १९६५) के आधार पर ।

१६९ (क) गुजराती नाट्य मडल (गुजराती नाट्य, बम्बई, अप्रैल-मई, १९५३, पृ० ८३, तथा (ख) १६६-१६८-वत् ।

१७०. प्रागजी ज० डोसा, उघडते पडदे (गुजराती नाट्य, जनवरी-फरवरी, १९५८, पृ० ९) ।

१७१. १६६-१६८-वत् ।

१७२. १६३-वत्, पृ० ७१-७२ ।

१७३ वही, पृ० ७३ ।

१७४. वही, पृ० ९८ ।

१७५. धनसुखलाल मेहता, नाट्य-विवेक, सांताक्रुज, बम्बई, स्वयं, १९६०, पृ० १७५-१७६ ।

१७६. आवर कालेज : ए ब्रीफ हिस्ट्री (सेविन्टीएथ एनिवर्सिरी सोवनीर, सं०, रमेश भट्ट, बड़ौदा, कालेज आफ इण्डियन म्यूजिक, डास एण्ड'ड्रामेटिक्स, १९५६, पृ० २५-२६) ।

१७७-१७८. भारतीय संगीत, नृत्य अने नाट्य महाविद्यालय (माझम रात (स्मृति-पुस्तिका), बड़ौदा, का० आफ ई० म्यू० डा० एण्ड ड्रा०, १९५७) ।

१७९-१८०. दत्तू पटेल, निर्देशक, भारतीय कला-केन्द्र, बड़ौदा से एक भेंट (५ जुलाई, १९६५) के आधार पर ।

१८१-१८२. मध्यस्थ नाट्य संघ, बडोदरा (ड्रामा फेस्टिवल सोवनीर, बड़ौदा, म० ना० संघ, १९६०, पृ० ६९) ।

१८३. (क) १६३-वत्, पृ० ६३, तथा
(ख) रंगमंडल, अहमदाबाद (ड्रामा फेस्टिवल सोवनीर, बड़ौदा, म० ना० संघ, १९६०, पृ० ७२) ।

१८४. १८३ (ख)-वत् ।

१८५. (क) प्रागजी ज० डोसा, शताब्दी महोत्सव अने तेने पगले-पगले (गुजराती नाट्य, बम्बई, अप्रैल-मई, १९५३, पृ० ७६-७७), तथा
(ख) प्राणलाल दे० नानजी, निवेदन (गु० ना० श० म० स्मा० ग्रंथ, बम्बई, १९५२, पृ० ५-६) ।

१८६. प्रो० मधुकर रादेरिया, मेहता इण्टरनेशनल हाउस, बैंक बे रिक्लेमेशन, बम्बई-१ से एक भेंट (जून, १९६५) के आधार पर ।

१८७. डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, हिन्दी रंगमच और समस्याएँ (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, १ जनवरी, १९६१, पृ० ३५) ।

१८८. गुजराती नाट्य-शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रंथ, बम्बई, १९५२, पृ० १२१ ।

१८९. वही, पृ० १२२ ।

१९०-१९१. युगलकिशोर मस्करा "पुष्प", नेक बानु डी० खरास उर्फ मुन्नीबाई बेटी खुरशेद बालीवाला (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, २ अगस्त, १९७०), पृ० २७ ।

१९२. राधेश्याम कथावाचक, *मेरा नाटक-काल*, पृ० २१२ ।

१९३. प्रेमशंकर 'नरसी', निर्देशक, मूनलाइट थियेटर्स, कलकत्ता, से एक साक्षात्कार (दिसम्बर, १९६५) के आधार पर।

१९४. १९२-वत्, पृ० १८३ ।

१९५, १९६ एवं १९७. १९३-वत् ।

१९८. १९२-वत्, पृ० २७१-२७३ ।

१९९, २०० एवं २०१. १९३-वत् ।

२०२. रणधीरसिंह, साहित्यालंकार, कलकत्ता से एक भेंट (२६ दिसम्बर, १९६५) के आधार पर।

२०३. पोस्टर में वर्ष नहीं दिया है, किन्तु अनुमानतः यह वर्ष सन् १९४५ ही होना चाहिये, क्योंकि इसी के बाद ९ जनवरी, १९४६ को हिन्दुस्तान थियेटर्स की स्थापना हुई थी और मिनर्वा थियेटर की सीतादेवी आदि कलाकार प्रेमशंकर 'नरसी' के साथ हिन्दुस्तान थियेटर्स में सम्मिलित हो गये थे। – लेखक

२०४. घनसुखलाल मेहता, *गुजराती विनधंधादारी रंगभूमिनो इतिहास*, पृ० १०४ ।

२०५. सी० बी० पुरडम, *दि वर्क आफ दि प्रोड्यूसर* (थियेटर एंड स्टेज, भाग २, लंदन, दि न्यू एरा पब्लिशिंग कं० लि०, पृ० ७४३) ।

२०६. एफ० ई० डोरन, *प्रोडक्शन प्रिंसिपुल्स* (*थियेटर एंड स्टेज, भाग २, पृ० ८६८*) ।

२०७, २०८ एवं २०९. राजकुमार, मन्त्री, नागरी नाटक मंडली, वाराणसी से एक भेंट (२८ दिसम्बर, १९६५) के आधार पर।

२१०. (क) २०७-२०९-वत्, तथा
(ख) *श्री नागरी नाटक मंडली, वाराणसी : स्वर्णजयन्ती समारोह, १९५८ : संक्षिप्त इतिहास*, पृ० ४ ।

२११. २१० (ख)-वत्, पृ० ६ ।

२१२, २१३ एवं २१४. २०७-२०९-वत् ।

२१५ कुँवरजी अग्रवाल, वाराणसी : नाट्यवृत्त ('नटरंग', हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी अंक, जनवरी-मार्च, १९६९), पृ० ९६ ।

२१६. शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', हिन्दी रंगमंच को काशी की देन (*श्री ना० ना० म०, वाराणसी : स्वर्ण जयंती समारोह स्मारक ग्रंथ*, १९५८, पृ० १८) ।

२१७. प्रो० रामप्रीत उपाध्याय, राष्ट्रकवि पं० माधव शुक्ल (जनभारती, त्रैमासिक, कलकत्ता, वर्ष १३, अंक १, सं० २०२२, पृ० ४४) ।

२१८-२१९. ललितकुमारसिंह 'नटवर', ४७ जकरिया स्ट्रीट, कलकत्ता से एक भेंट (२२ दिसम्बर, १९६५) के आधार पर।

२२०. 'नटवर' के सौजन्य से देखने को प्राप्त कलकत्ते के एक अंग्रेजी दैनिक की कतरन से। यह समाचार १८ अगस्त, १९४३ का था। – लेखक

२२१. २१८-२१९-वत् ।

२२२. २१७-वत् ।

२२३. देवदत्त मिश्र, सं०, विश्वमित्र, कानपुर से एक भेंट (१० दिसम्बर, १९६७) के आधार पर।

२२४. (क) २१८-२१९-वत्, तथा

(ख) अभिनय, मासिक, आगरा, सितम्बर, १९५६, पृ० ३९।

२२५. निरंजन सेन, *भारतीय जननाट्य संघ का एक दशक* (*नया पथ, लखनऊ, नाटक विशेषांक,* मई, १९५६, पृ० ४८२)।

२२६ डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य, बांगला नाट्यसाहित्येर इतिहास, द्वि० खं०, पृ० ४३७।

२२७-२२८. राजेन्द्रसिंह रघुवंशी, ५१५१, किदवई पार्क रोड, राजामंडी, आगरा से एक भेंट (९ नवम्बर, १९६७) के आधार पर।

२२९. बलवंत गार्गी, थियेटर इन इंडिया, न्यूयार्क-१४, थि० आ० बु०, पृ० १८७।

२३०. २२५-वत्, पृ० ४८३।

२३१. २२९-वत्, पृ० १८९।

२३२-२३३. उपेन्द्रनाथ अश्क, नौटंकी से पृथ्वी थियेटर्स तक (नाटककार अश्क, सं० कौशल्या अश्क, इलाहाबाद, नीलाभ प्रकाशन, प्र० सं०, १९५४), पृ० ३७१-२।

२३४ २२५-वत्, पृ० ४८३।

२३५. शम्भु मित्र, दि न्यू थियेटर इन बंगाल (दि इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इंडिया, १० अप्रैल, १९६७, पृ० ३८)।

२३६. (क) २२९-वत्, पृ० १८९, तथा

(ख) २२६-वत्, पृ० ४५९।

२३७. २३२-२३३-वत्, पृ० ३७५।

२३८. वही, पृ० ३७६।

२३९. २२९-वत्, पृ० १९०।

२४०. हबीब तनवीर, निर्देशक, हिन्दुस्तान थियेटर, नई दिल्ली से एक भेंट (२५ नवम्बर, १९६७) के आधार पर।

२४१ २३२-२३३-वत्, पृ० ३७४।

२४२-२४३. २४०-वत्।

२४४. राजेन्द्रसिंह रघुवंशी, आगरा से एक भेंट (९ नवम्बर, १९६७) के आधार पर।

२४५. बच्चन श्रीवास्तव, भारतीय फिल्मों की कहानी, शाहदरा (दिल्ली), हिं० पा० बु० प्रा० लि०, पृ० ८६।

२४६ २४४-वत्।

२४७. निरंजन सेन, भारतीय जननाट्य संघ का एक दशक, पृ० ४८५।

२४८. हरिप्रकाश वाशिष्ठ, भारतीय जननाट्य संघ का दिल्ली अधिवेशन : रंग-बिरंगे कार्यक्रम पर एक दृष्टि (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १९ जनवरी, १९५८, पृ० ३२)।

२४९. २४४-वत्।

२५०, २५१ एवं २५२. २४८-वत्, पृ० ३३।

२५३. २३५-वत्।

२५४. २४४-वत्।

२५५-२५६. कान्फ्रेंस सर्कुलर नं० ४, उत्तर प्रदेश जननाट्य संघ, आगरा, १९५८।

२५७-२५८. २४४-वत्।

२५९. राजेन्द्र रघुवंशी, 'हिन्दी रंगमंच को इप्टा की देन' (श्रमजीवी, लखनऊ, अप्रैल, १९६९), पृ० ११ ।

२६०-२७१. राजेन्द्रसिंह रघुवंशी, आगरा से एक भेंट (९ नवम्बर, १९६७) के आधार पर ।

२६२-२६३. उमाकांत वर्मा, बिहार जननाट्य संघ : गतिविधि (अभिनय, आगरा, सितम्बर, १९५६, पृ० १९) ।

२६४. प्रथम नाट्यकला विचार-गोष्ठी (बिहार थियेटर, पटना, क्रम सं० ९, अक्टूबर, १९५७) ।

२६५. बलवन्त गार्गी, थियेटर इन इंडिया, न्यूयार्क-१४, थि० आ० बु०, पृ० १८६ ।

२६६. शील, आधुनिक हिन्दी रंगमंच और पृथ्वी थियेटर (नया पथ, लखनऊ, नाटक विशेषांक, मई, १९५६, पृ० ४८८) ।

२६७. २६५-वत्, पृ० १८१ ।

२६८. बलराज साहनी, पृथ्वीराज और नाट्यकला (पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन-ग्रंथ इलाहाबाद, कि० मं०, १९६२-६३, पृ० ३१४) ।

२६९. बलराज साहनी, कहानी एक थियेटर की (स्मारिका, कला मन्दिर, ग्वालियर, १९६८), पृ० ८ ।

२७०. नरोत्तम व्यास, पैसे का प्रभाव, 'पैसा' (सह-ले० ला० चं० बिस्मिल तथा पृ० कपूर, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, १९५४), पृ० १४३ ।

२७१. बलवन्त गार्गी, पृथ्वी थियेटर्स (पृ० क० अ० ग्रन्थ, इलाहाबाद, कि० मं०, १९६२-६३, पृ० ३४१) ।

२७२-२७३. २६५-वत्, पृ० १८२ ।

२७४-२७५ २६९-वत्, पृ० १३ ।

२७६. नरोत्तम व्यास, प्रशस्ति, आहुति (ले० लालचन्द 'बिस्मिल'), बम्बई, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, पृ० १५१ ।

२७७. २६५-वत्, पृ० १८२ ।

२७८. २६९-वत्, पृ० १३ ।

२७९-२८०. लालचन्द 'बिस्मिल', अभिवादन, आहुति, बम्बई, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, द्वि० आ०, मार्च १९५३ ।

२८१. २६६-वत्, पृ० ४८९ ।

२८२. उपेन्द्रनाथ अश्क, नौटंकी से पृथ्वी थियेटर्स तक (नाटककार अश्क, राक० कौशल्या अश्क, इला०, नीलाभ प्रकाशन, प्र० सं०, १९५४), पृ० ३८५ ।

२८३. नरोत्तम व्यास, पैसे का प्रभाव, पैसा, (सह० ले० लालचन्द 'बिस्मिल' और पृथ्वीराज कपूर), पृ० १४२ ।

२८४. मानिक कपूर, मेरा निवेदन, 'पैसा' (सह-ले० ला० चं० 'बिस्मिल' तथा पृ० कपूर, बम्बई, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, प्र० सं०, जनवरी, १९५४), पृ० १४५ ।

२८५-२८६. मन्नूलाल 'शील' से इलाहाबाद में एक भेंट (मार्च, १९६२) के आधार पर ।

२८७. २६५-वत्, पृ० १८४ ।

२८८. पृथ्वीराज कपूर, मुझे भी कुछ लिखना चाहिए ? 'पैसा' (सह-ले० लालचन्द 'बिस्मिल' तथा पृथ्वीराज कपूर, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, १९५४), पृ० ७ ।

२८९. घुमक्कड़ की डायरी (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २९ मई, १९६०, पृ०, ३५) ।

२९०. २६५-वत्, पृ० १८६ ।

२९१. एनुवल रिपोर्ट, १९६२-६३, नई दिल्ली, संगीत नाटक अकादमी, पृ० १ ।

२९२. एस० सी० सरकार, हिन्दुस्तान इयर बुक एण्ड हूज हू, १९५६, कलकत्ता, एम० सी० सरकार एण्ड सन्स लि०, १९५६, पृ० ५६२-५६३।

२९३ वही, पृ० ५६३ ।

२९४. कासमभाई मीर, निर्देशक, देशी नाटक समाज, भाँगवाड़ी थियेटर, बम्बई से एक भेंट (२८ जून, १९६४) के आधार पर।

२९५. एनुवल रिपोर्ट, १९६२-६३, नई दिल्ली, संगीत नाटक अकादमी, पृ० २४-२५ तथा १९६५-६६, पृ० २५-२७ ।

२९६ इब्राहिम अल्काजी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ('नटरंग', नई दिल्ली, जन०, ६५), पृ० ३९-४० ।

२९७-२९८. डॉ० सुरेश अवस्थी, शेक्सपियर समारोह ('नटरंग', नई दिल्ली, जनवरी, १९६५), पृ० ४२।

२९९ वही, पृ० ४४।

३०० वीरेन्द्रनारायण, उप-निदेशक, गीत एवं नाटक प्रभाग, प्रदर्शिनी मैदान, मथुरा रोड, नई दिल्ली से एक भेंट (नवम्बर, १९६७) के आधार पर।

३०१ अमृतलाल नागर, हिन्दी रंगमंच : कुछ सुझाव और कुछ प्रयोग ('श्रमजीवी', लखनऊ, अप्रैल, १९६९), पृ० ६।

३०२. (क) नेमिचन्द्र जैन, दिल्ली : रंग-विविधा (हिन्दी नाट्य-महोत्सव (स्मृति पुस्तिका), कलकत्ता, अनामिका, १९६४, पृ० ५०), तथा

(ख) नेमिचन्द्र जैन, दिल्ली का हिन्दी रंगमंच, रंगदर्शन, दिल्ली, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, १९६७, पृ० २१४।

३०३. राजेन्द्रपाल, दिल्ली थियेटर रिव्यू (नाट्य, भाग ९, अंक ४, विंटर नम्बर, १९६६-६७, पृ० ५२)।

३०४-३०५. रमेश मेहता, निर्देशक, थ्री आर्ट्स क्लब, नई दिल्ली से एक भेंट (नवम्बर, १९६७) के आधार पर।

३०६. जितेन्द्र कौशल, दिल्ली नाट्यवृत्त ('नटरंग', दिल्ली, अक्टू०-दिसं०, १९६५), पृ० १२७।

३०७. ३०२ (ख)-वत्, पृ० २१७।

३०८. (क) 'भारतीय कला केन्द्र का नृत्यनाट्य 'रामलीला' रामायण के विशद काव्य-सौंदर्य के अनुरूप ही एक वृहत् उपस्थापन है।' (अनु० लेखक)

— नेशनल हेराल्ड, लखनऊ, ६ नवम्बर, १९५९।

(ख) 'लोकप्रिय शैली में प्रस्तुत नृत्यनाट्य के रूप मे 'रामलीला' विशद प्रशंसा के योग्य है। (अनु० लेखक)

— स्टेट्समैन, नई दिल्ली, १९५९।

३०९. कृष्णलीला (नाट्य, डांस, ड्रामा, एण्ड बैले नम्बर, भाग ७, अंक ४, दिसम्बर, १९६३, पृ० १०४)।

३१०. हबीब तनवीर, मेरा 'मृच्छकटिक' का प्रयोग : एक अधूरी कहानी (नटरंग, दिल्ली, वर्ष १, अंक १, जनवरी, १९६५), पृ० १२।

३११. वही, पृ० १३।

३१२. हबीब तनवीर, नई दिल्ली से एक भेंट (२५ नवम्बर, १९६७) के आधार पर।

३१३. बद्रीप्रसाद तिवारी, निर्देशक, बिड़ला क्लब, कलकत्ता से एक भेंट (२४ दिसम्बर, १९६५) के आधार पर।

३१४. अनामिका : संक्षिप्त परिचय और कृतित्व (*हिन्दी नाट्य-महोत्सव, स्मृति-पुस्तिका, कलकत्ता, अनामिका*, १९६४, पृ० ९)।

३१५. वही, पृ० ९ तथा १२।

३१६. कमलाकांत वर्मा, अनामिका कला संगम : प्रथम वर्ष का सिंहावलोकन ('नटरंग', दिल्ली, अप्रैल-जून, ६८), पृ० ६६।

३१७ वाचस्पति, अनामिका कला संगम . हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह (नटरंग, दिल्ली, जनवरी-मार्च, ६९), पृ० १०५-१०६।

३१८. वही, पृ० १०६-१०७।

३१९. वही, पृ० १०७।

३२० वही, पृ० १०७-१०८।

३२१. वही, पृ० १०३-४।

३२२. वही, पृ० १०४।

३२३. अंधायुग (हिन्दी नाट्य महोत्सव, १९६४, कलकत्ता, अनामिका, पृ० २०)।

३२४. रुद्रप्रसाद वाजपेयी, कैलास क्लब, कानपुर से एक भेंट (११ दिसम्बर, ६७) के आधार पर।

३२५. विनोद रस्तोगी, कानपुर : अविच्छिन्न परम्परा (हि० ना० म०, १९६४, कलकत्ता, अनामिका, पृ० ५६)।

३२६. ललितमोहन अवस्थी, राममोहन का हाता, कानपुर से एक भेंट के आधार पर।

३२७. तरन तारन, राष्ट्रीय नाट्य परिषद् (*बंदी, ले० कुँवर कल्याणसिंह, लखनऊ, रा० न० पा०, १९६०, पृ० तीन*)।

३२८. (क) शरद नागर, लखनऊ (नटरंग, त्रैमासिक, नई दिल्ली, वर्ष ३, सख्या ९, जनवरी-मार्च, १९६९, पृ० ६६-६७), तथा
(ख) अमृतलाल नागर, हिन्दी रंगमंच : कुछ सुझाव और कुछ प्रयोग ('श्रमजीवी', लखनऊ, अप्रैल, १९६९, पृ० ७)।

३२९. सर्वदानन्द वर्मा, रंगमंच, आगरा, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, प्र० सं० १९६६, पृ० ६१-७४।

३३०. (क) ३२८ (क)-वत्, पृ० ६७,
(ख) ३२८ (ख)-वत्, पृ० ७-८, तथा
(ग) ३२९-वत्, पृ० ४१-४२।

३३१. ३२८ (ख)-वत्, पृ० ६-७।

३३१-क. प्रो० राजेश्वर प्रसाद सक्सेना, हिन्दी रंगमंच पर एक नया प्रयोग (भटनागर अभिनन्दन ग्रंथ, १९६१, पृ० ३६२), तथा

३३१-ख. वही, पृ० ३६२-३६३।

३३२-३३३. सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, लखनऊ, हिन्दी समिति, पृ० ५२८।

३३४. (क) वही,
(ख) कृष्णाचार्य, *हिन्दी नाट्य साहित्य, कलकत्ता, अनामिका*, १९६६, पृ० १३६-१३७, तथा
(ग) सीताराम चतुर्वेदी, हिन्दी रंगमंच-सम्बन्धी मेरे प्रयोग, स्मारिका : श्रीनाट्यम्, वाराणसी. १९६९-७०, पृ० १८।

३३५. सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमच, लखनऊ, हिन्दी समिति, पृ० ५२८-५२९ ।

३३६. वही, पृ० ५३१ ।

३३७ धीरेन्द्रनाथ सिंह, हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक · जानकीमंगल (ना० प्र० पत्रिका), सम्पूर्णानन्द स्मृति अंक, वर्ष ७३, अक १-४, सं० २०२५), पृ० २४ ।

३३८. वही, पृ० २५ ।

३३९. वही, पृ० २५-२६ ।

३४०. वही, पृ० २६ ।

३४१. श्रीनाट्यम्, वाराणसी, वर्ष १, अक १, १९६२, पृ० १० ।

३४२ कुँवर जी अग्रवाल, वाराणसी . नाट्यवृत्त ('नटरग', दिल्ली, अप्रैल-जून, १९६८), पृ० ७२ ।

३४३. कुँवर जी अग्रवाल, बनारस थियेटर की खोज ('नटरंग', नई दिल्ली, अप्रैल-जून, १९७०), पृ० ४३-४४ ।

३४४-३४५ *डॉ० जगदीश गुप्त एव डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, इलाहाबाद : अन्वेषण और प्रयोग* (हि० ना० म०, १९६४, कलकत्ता, अनामिका, पृ० ५३) ।

३४६. वही, पृ० ५४ ।

३४७. वही, पृ० ५३ ।

३४८. प्रयाग रंगमच एक सक्षिप्त परिचय (प्रयाग रंगमच : अखिल भारतीय नाट्य समारोह प्रतिवेदन, फरवरी, १९६६), पृ० ७५-७६ ।

३४९. हीरा चड्ढा, इलाहाबाद : नाट्यवृत्त (नटरंग, नई दिल्ली, जन०, १९६५), पृ० ११० ।

३५०. प्रो० एहतशाम हुसैन (प्रयाग रगमंच : अ० भा० नाट्य समारोह प्रतिवेदन), पृ० ३० ।

३५१. शम्भु मित्र (वही), पृ० ४७ ।

३५२. डॉ० रामकुमार वर्मा (वही), पृ० ६५ ।

३५३-३५४. नाटककार डॉ० रामकुमार वर्मा से एक साक्षात्कार (२१ फरवरी, १९७१) के आधार पर ।

३५५. राजेन्द्र रघुवशी, *आगरा* (नटरग, नई दिल्ली, वर्ष १, अक १, जनवरी, १९६५), पृ० ११२ ।

३५६. परमानन्द श्रीवास्तव, गोरखपुर : नाट्य-रूपान्तर ('नटरंग', नई दिल्ली, अप्रैल-जुन, १९६८), पृ० ७४ ।

३५७. वही ('नटरग', नई दिल्ली, जनवरी-मार्च, १९६९), पृ० ९८-९९ ।

३५८. ३५५-वत्, पृ० ११२-११३ ।

३५९. बिहार की नाट्य-सस्थाएँ (बिहार थियेटर, पटना, क्रम सं० ९, अक्टूबर १९५७) ।

३६०. उपेन्द्रदयाल श्रीवास्तव, पटना : नाट्यवृत्त ('नटरग', नई दिल्ली, जनवरी-मार्च, ६६), पृ० ९८ ।

३६१. अरुण कुमार सिन्हा, पटना : नाट्यवृत्त ('नटरग', नई दिल्ली, अक्टू०-दिसं०, ६९), पृ० ७९ ।

३६२. अरुण कुमार सिन्हा, गया : नाट्यवृत्त ('नटरग'. नई दिल्ली, अक्टू०-दिसं०, ६५), पृ० १३५ ।

३६३. विजय मोहन सिंह, आरा : नाट्यवृत्त ('नटरंग', नई दिल्ली, अक्टू०-दिस०, ६५), पृ० १३६-७ ।

३६४ डॉ० सियाराम शरण प्रसाद के २ अप्रैल, ७१ से एक पत्र के आधार पर ।

३६५. सत्येन्द्र शर्मा, *हिन्दी रंगमच और श्री सुदर्शन गौड़* (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, १२ जून, १९६०, पृ० १३) ।

३६६. भारतीय नाट्य सघ, टेन्थ एनुवल कन्वेंशन (नाट्य, वर्ष ६, सं० १, मार्च, १९६२, पृ० ४२) ।

३६७. मोट्स एण्ड न्यूज (नाट्य, वर्ष ६, सं० १, मार्च, १९६२, पृ० ४३) ।
३६८. भारतीय लोक मंडल, उदयपुर, राजस्थान : परिचय पुस्तिका, पृ० ९ ।
३६९. वही, पृ० ९-१० ।
३७०. महेन्द्र भानावत, *राजस्थान की लोककला और और उसके उत्कर्ष मे कला मंडल का योग* (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, १४ जनवरी, १९६२, पृ० २३) ।
३७१. देवीलाल सामर, कठपुतलियाँ और मानसिक रोगोपचार, उदयपुर, भारतीय लोक कला मंडल, पृ०१-५९ ।
३७२. ३६८-वत्, पृ० १० ।
३७३. दुर्गालाल माथुर, लोक संग्रहालय ('रंगायन', उदयपुर, मार्च, १९७०, पृ० १-२) ।
३७४. ३६८-वत्, प्रशस्तियाँ, पृ० १४ ।
३७५. डॉ० महेन्द्र भानावत, *लोकनाट्य समारोह एवं संगोष्ठी* ('रंगायन', उदयपुर, मार्च, १९७०), पृ० ७-१० ।
३७६. हरिराम आचार्य, जयपुर : नाट्यवृत्त ('नटरंग', नई दिल्ली, जनवरी-मार्च, १९६९), पृ० ८८ ।
३७७. वही, पृ० ८८-८९ ।
३७८. वही, पृ० ८९ । ३७९. वही, पृ० ९० ।
३८०. विजय वापट, ग्वालियर : नाट्यवृत्त ('नटरंग', नई दिल्ली, अप्रैल-जून, १९६८), पृ० ७७ ।
३८१. (क) आर० कांत, *ग्वालियर : रंगमंच की उपलब्धियाँ* (*स्मारिका, कला मन्दिर, ग्वालियर, जन०, १९६८*), पृ० ३४-३६, तथा
(ख) ३८०-वत्, पृ० ७७-७८ ।
३८२. (क) पारसकुमार गगवाल, *कला मन्दिर : संक्षिप्त परिचय* (*स्मारिका, कला मन्दिर, १९७०*), पृ० ११, तथा
(ख) ३८०-वत्, पृ० ७८ ।
३८३. ३८२ (क)-वत्, पृ० १४-१५ ।
३८४. विजय वापट, ग्वालियर : १९६९ (स्मारिका, कला मन्दिर, १९७०), पृ० १६ ।
३८५. कुमुद चासकर, भोपाल (नटरंग, वर्ष १, अंक १, जनवरी, १९६५, पृ० ११४) ।
३८६, ३८७ एवं ३८८. चन्द्र, बिलासपुर : नाट्यवृत्त ('नटरंग', नई दिल्ली, अक्टू०-दिसं०, १९६८), पृ० ५२ ।
३८९. वही, पृ० ५३ ।

६

भारतीय रंगमंच : एक तुलनात्मक अध्ययन

हिन्दी तथा हिन्दीतर भारतीय भाषाओं (बँगला, मराठी और गुजराती) के रंगमंच को भरत और अन्य नाट्याचार्यों द्वारा प्रवर्तित दीर्घकालीन नाट्य-परंपरा और लोकमंच के विविध स्वरूप विरासत में प्राप्त रहे हैं, किन्तु देश में अंग्रेजों आदि के आने के बाद पाश्चात्य रंगमंच और रंगशिल्प ने न केवल हिन्दी को वरन् सभी इतर भारतीय भाषाओं के रंगमंचों को अपनी ओर आकृष्ट किया और नये सिरे से नाट्यान्दोलन प्रारम्भ हो गया। प्रयोगों के बाद हिन्दी तथा इतर भाषाओं के रंगमंच को एक नवीन स्वरूप, एक नई दिशा प्राप्त हुई। हिन्दी और गुजराती के रंगमंचों ने कुछ नवशिक्षितों के प्रयत्नों से विकसित होकर व्यावसायिक नाटक मंडलियों का रूप ग्रहण किया। मराठी के रंगमंच ने राज्याश्रय का परित्याग कर जन-साधारण के रंगमंच की स्थापना की। इसके कुछ काल बाद ही बँगला का रंगमंच भी राजाओं और सम्भ्रांत जनों का आश्रय त्याग कर जन-साधारण की सेवा के लिए आगे आया। स्वतन्त्र उपस्थापकों (मालिकों एवं परिचालकों) ने इस रंगमंच का पोषण एवं पुरस्करण किया और उसे सामाजिकों का खुला संरक्षण प्राप्त हुआ। जहाँ भी व्यावसायिक मंडलियाँ जातीं या नाट्य-प्रदर्शन होते, सामाजिक-वर्ग टूट पड़ता और रंगशालायें या पंडाल खचाखच भर जाते। फिर भी रंगमंच के अभ्युत्थान-काल में कलाकारों की आर्थिक स्थिति संतोषजनक न थी और न उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा ही प्राप्त थी। यह स्थिति हिन्दी तथा अन्य सभी भाषाओं के मंचों पर प्रायः एक-सी ही थी।

बेताब युग—बेताब युग और अन्य भाषाओं में इनके समवर्ती युग व्यावसायिक रंगमंच के स्वर्ण-युग रहे हैं। यद्यपि रंगशालाओं का निर्माण कलकत्ता और बंबई में इससे बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु हिन्दी, गुजराती तथा बँगला भाषाओं की अधिकांश रंगशालाएँ प्रायः इसी युग में अथवा इसके कुछ पूर्व बनीं। हिन्दी में बंबई के विक्टोरिया थियेटर, अल्फ्रेड थियेटर, एल्फिन्स्टन थियेटर आदि तथा अहमदाबाद का मास्टर थियेटर, गुजराती और हिन्दी के लिए बंबई के इम्पायर थियेटर, नावेल्टी थियेटर आदि, गुजराती के लिए बंबई के भेंडी थियेटर, झवेरी थियेटर, माँगवाड़ी थियेटर और दुबाश थियेटर, अहमदाबाद के आनन्दभुवन थियेटर और शान्ति-भुवन थियेटर तथा सूरत का सूर्यप्रकाश थियेटर और बँगला में कलकत्ते के स्टार थियेटर, एमरेल्ड थियेटर, सिटी थियेटर, मिनर्वा थियेटर, कोहिनूर थियेटर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। मराठी के लिए इस युग में कोई पृथक् स्थायी रंगशाला नहीं बनी और मराठी की नाटक मंडलियाँ प्रायः किराये पर थियेटर लेकर अपने नाट्य-प्रयोग किया करती थीं।

इस युग में गुजराती और हिन्दी का चोली-दामन का साथ रहा है, क्योंकि गुजराती रंगमंच से ही हिन्दी

रंगमंच का विकास हुआ और हिन्दी का रंगमंच पारसी–गुजराती-रंगमंच अथवा डाह्याभाई युग की सभी नाट्य-परंपराओं और प्रवृत्तियों को लेकर विकसित हुआ। पारसी–हिन्दी मंडलियों के अधिकांश कलाकारों के पारसी या गुजराती होने के कारण हिन्दी नाटकों की रंगावृत्ति गुजराती में तैयार की जाती थी और उनके आवरण-पृष्ठ पर यह लिखा रहता था –"हिन्दुस्थानी जबान गुजराती हरफे"। पारसी-हिन्दी रंगमंच के नाटकों के 'कोरस', पद्य-बाहुल्य, तुकांत संवाद, 'कॉमिक' आदि पर पारसी-गुजराती या गुजराती रंगमंच का प्रभाव है। इस युग के नाटकों के गीतों की रागबद्धता पर मराठी संगीत नाटक का और संगीत पर हिन्दुस्तानी या पारसी-गुजराती संगीत का प्रभाव परिलक्षित होता है। बाद में मराठी के संगीत में भी इस हिन्दुस्तानी और पारसी-गुजराती संगीत को अपनाया गया।

मराठी रंगमंच ने अपने अभ्युदय-काल में ही, गुजराती रंगमंच से बहुत पहले, हिन्दी रंगमंच का अपने ढंग से विकास करने की चेष्टा की, किन्तु उन्नीसवीं शती के अन्त तक यह परंपरा प्रायः समाप्त हो गई। मराठी नाटककारों ने हिन्दी नाटक-लेखन और मराठी मंडलियों ने हिन्दी नाटकों का उपस्थापन बंद कर दिया, फलस्वरूप पारसी-हिन्दी रंगमंच की भांति मराठी-हिन्दी रंगमंच की परंपरा दूर तक न चल सकी।

पारसी-हिन्दी रंगमंच के नाटकों में संस्कृत नाट्य-पद्धति के अनुसार मंगलाचरण, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि का समावेश रहा है, किन्तु इसके विपरीत बँगला और मराठी के नाटक इस पद्धति से मुक्त रहे। बाद में गुजराती और हिन्दी नाटकों के प्रारम्भ में समूह-गान ('कोरस') का प्रचलन हुआ, जिसे बाद में मराठी नाटकों ने भी अपनाया। बँगला के नाटकों के प्रारम्भ में भी 'गान' का प्रयोग किया जाता रहा है। नाट्य-पद्धति का यह साम्य इस युग की अपनी विशेषता है। नाटकों के संवाद, वस्त्र-सज्जा और अभिनय में इस युग के हिन्दी, गुजराती और मराठी नाटकों में एक प्रकार की कृत्रिमता रही है, जबकि इस दृष्टि से बँगला नाटकों के संवाद अधिक स्वाभाविक एवं काव्यपूर्ण, वस्त्र-सज्जा तथा अभिनय अधिक वस्तुवादी, रसानुकूल एवं युगानुरूप रहे हैं। गुजराती और हिन्दी रंगमंचों पर विशेष रूप से चमत्कार-प्रदर्शन के लिए रंग-सज्जा या सीन-सीनरी पर, 'ट्रिक' की विविध विधियों एवं यन्त्रों के निर्माण पर पुष्कल धन व्यय किया जाता था। रंगदीपन के लिए मशाल, चालीस की बत्ती, कडुए, गैस आदि का प्रयोग किया जाता था। मेघ-गर्जन, आँधी आदि के ध्वनि-संकेतों के लिए कृत्रिम साधनों या यन्त्रों का उपयोग किया जाता था।

इस युग के नाटक प्रायः लम्बे हुआ करते थे। हिन्दी और गुजराती के नाटक तीन अंकों के, मराठी के तीन से पांच अंकों तक के और बँगला के प्रायः पांच अंकों के होते रहे हैं, जो छः-सात घंटों तक चला करते थे।

इस युग में कलाकारों का सम्मान बढ़ा और वेतन भी। हिन्दी तथा सभी इतर भाषाओं में प्रायः नाटककार–निर्देशकों (नाट्य-शिक्षकों) की प्रधानता रही और उन्हें अच्छा वेतन दिया जाता था। बँगला में वेतन के अतिरिक्त बोनस देने की भी प्रथा रही है। बँगला को छोड़ कर अन्य भाषाओं के रंगमंचों पर पुरुष ही प्रायः स्त्रियों की भूमिकाएँ किया करते थे।

विस्तारित बेताब युग में अनेक परिवर्तन उपस्थित हुए। हिन्दी के व्यावसायिक रंगमंच का विस्तार हुआ और बंबई से लेकर उत्तरी भारत में प्रसार पाते हुए वह कलकत्ते तक पहुँच गया। बंबई की अनेक नाटक मंडलियों को कलकत्ते के मादन थियेटर्स ने खरीद लिया और मंडलियों की शृंखला के साथ उसने कलकत्ते में कोरिंथियन थियेटर, अल्फ्रेड थियेटर आदि के रूप में रंगशालाओं की एक शृंखला भी स्थापित की। अन्ततः इस युग के अन्त तक हिन्दी का व्यावसायिक रंगमंच क्षीण होकर पतनोन्मुख हो गया। मराठी के व्यावसायिक रंगमंच की भी यही दशा हुई, किन्तु बँगला और गुजराती के रंगमंच, चलचित्रों के आविर्भाव से कुछ समय के लिए निष्प्रभ होकर भी सजीव बने रहे और आज भी उनका अस्तित्व बना हुआ है। हिन्दी और मराठी के व्यावसायिक मंच भी बाद

चल कर आधुनिक युग में करवट लेकर जागे ।

प्रसाद युग—व्यावसायिक रंगमंच की विकृति, गतानुगतिकता और कृत्रिमता के विरुद्ध हिन्दी तथा सभी इतर भारतीय भाषाओं मे अव्यावसायिक रगमंच की स्थापना हुई, जिसका नेतृत्व भारतेन्दु युग मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और प्रसाद युग में जयशकर 'प्रसाद' ने, बँगला मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने, मराठी मे भार्गवराम विट्ठल (मामा) वरेरकर ने तथा गुजराती में चंद्रवदन मेहता और कन्हैयालाल मुन्शी ने किया। इस रंगमंच ने नवीन शैली के नाटक और रंगशिल्प का प्रयोग किया ।

प्रसाद युग के नाटको ने संस्कृत नाट्य-पद्धति का परित्याग कर पश्चिमी नाट्य-पद्धति का प्रभाव तेजी से ग्रहण किया । इस युग के प्रारम्भ मे शेक्सपियर की अकों के दृश्यों मे विभाजन, संवादो की भावुकता, काव्यात्मकता और अलंकृति के साथ शब्दों द्वारा ही दृश्य-बोध एव काल-बोध, सक्षिप्त रग-सकेत, स्वगत आदि की पद्धति को अपनाया गया, किन्तु उत्तरार्ध में इस पद्धति का परित्याग कर इब्सन-पद्धति के एकाक-प्रवेशी नाटकों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ । मराठी, मे इब्सन का प्रभाव इस युग के पूर्वार्ध में और गुजराती, बँगला तथा हिन्दी मे उसके उत्तरार्ध मे आया ।

रवीन्द्र और वरेरकर के नाटको को छोड कर किसी भी उपर्युक्त युग-प्रवर्त्तक के नाटक किसी व्यावसायिक मडली द्वारा नही खेले गये । मेहता-मुन्शी और रवीन्द्र ने अपने नाटको को अपने ही प्रयासों से मचस्थ किया । मेहता-मुन्शी ने अपने नाटको के उपस्थापन के लिये पाश्चात्य रग शिल्प का उपयोग किया, जबकि रवीन्द्र ने इस शिल्प का कम से कम प्रयोग कर सादे एव प्रतीक मंच को प्रधानता दी । रवीन्द्र ने अनेक गीतिनाट्य एव नृत्य-नाट्य भी प्रस्तुत किये । स्वय प्रसाद ने अपने नाटको के उपस्थापन की दिशा मे कोई विशेष प्रयास नही किया, इसलिये उनके नाटको की रग-परीक्षा ठीक से नही हो सकी । उनके नाटकों के अभिनय के लिए पृथक् रगावृत्ति तैयार करने और नाटक के अनुरूप रंग-सज्जा की आवश्यकता है । अधिकाश नाटक सादे या प्रतीक मच पर अथवा बहुधरातलीय, परिक्रामी या शकट मंच पर खेले जा सकते हैं । उपस्थापक की शक्ति, क्षमता और सूझ-बूझ के अनुसार अन्य प्रकार के व्यय-साध्य यान्त्रिक मच भी बनाये जा सकते हैं । प्रसाद—'ध्रुवस्वामिनी' को छोड़कर (इसके प्रस्तुतीकरण मे दो या तीन दृश्यबन्धो की आवश्यकता है) अन्य नाटको के उपस्थापन मे तो एक दृश्य-बंध पर नाटक खेलने वालो को अवश्य निराशा ही हाथ लगेगी । आधुनिक युग मे किसी भी नायक की अभिनेयता के लिये उसके रंगशिल्प और रगमचीय स्वरूप या बनावट का अध्ययन पहले करना आवश्यक है । प्रसाद के नाटक कुछ परिवर्तनों एवं समायोजनो के साथ अनेक अव्यावसायिक संस्थाओ द्वारा अभिनीत हो चुके हैं ।

रग शिल्प की दृष्टि से हिन्दी तथा बँगला रंगमंच पर अननेक नवीनताएँ देखने मे आई । परिक्रामी मंच (१९३१ ई०) का सर्वप्रथम प्रयोग हिन्दी मे और शकट मच (१९३३ ई०) का सर्वप्रथम प्रयोग बँगला में हुआ। इस दृष्टि से इस युग मे हिन्दी तथा बँगला रंगमंच अन्य भाषाओ के रगमंच से कहीं आगे रहे ।

बिजली के प्रसार के कारण इस युग की रंगदीपन-पद्धति बदली और आधुनिक दीप्ति-एव-ध्वनि-उपकरणो का प्रयोग प्रारम्भ हो गया । बँगला, मराठी और गुजराती के रंगमंचो ने इस दिशा में विशेष प्रगति की । हिन्दी रंगमच पर भी विद्युत-प्रकाश जगमगाया, किन्तु बँगला की तुलना मे यहाँ का दीपन-शिल्प आरम्भिक ढंग का ही बना रहा । प्रसाद युग में पाद-प्रकाश आदि के साथ कारबाइड और मैजिक लैंटर्न का उपयोग होने लगा ।

प्रसाद युग मे जहाँ अव्यावसायिक मच पर बँगला की भाँति मराठी और गुजराती में स्त्रियाँ ही स्त्रियों का काम करने लगी, वहाँ हिन्दी का अव्यावसायिक मच विशुद्धतावादी ही बना रहा और वहाँ पुरुष ही स्त्री-भूमिकाएँ करते रहे, किन्तु व्यावसायिक क्षेत्र मे बडे पैमाने पर स्त्रियाँ मंच पर उतरने लगी ।

इस युग मे अधिकाश व्यावसायिक मडलियो का विघटन हो जाने से अधिकांश कलाकार सिनेमा-क्षेत्र मे चले गये और रगशालायें छविगृहो के रूप मे परिणत हो गई । हिन्दी, मराठी और गुजराती रगमचो के लिए इस युग का उत्तरार्ध बहुत सकटपूर्ण रहा । इस युग मे व्यावसायिक रगमच के विशृंखल होने से सामाजिक भी खिच कर छविगृहो मे जाने लगे, क्योंकि अव्यावसायिक रगमच अपने अपरिपक्व एव रगहीन (कलरलेस) प्रयोगो से उन्हें अपनी ओर आकृष्ट न कर सका ।

बँगला के शिशिरकुमार भादुडी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर को छोडकर, जिन्होने भावो की अभिव्यक्ति मे यथार्थता लाने का प्रयास किया, अन्यत्र अभिनय-पद्धति रूढ ही बनी रही । गुजराती और हिन्दी की अभिनय-पद्धति तो पारसी शैली से प्रभावित बनी रही । मराठी मे भी कृत्रिम अभिनय का बोलबाला रहा । यद्यपि ललितकलादर्श जैसी प्रयोगनिष्ठ मडली ने वरेरकर के प्रयास से स्वाभाविक अभिनय को प्रश्रय तो दिया, किन्तु उसे अपने प्रयोगो मे आर्थिक क्षति भी उठानी पडी । गुजराती के अव्यावसायिक मच पर भी स्वाभाविक अभिनय को लाने के प्रयास किये गये ।

इस युग मे प्रयोग की अवधि घट कर चार-साढे चार घण्टे तक आ गई, यद्यपि व्यावसायिक नाटक ६-७ घण्टे के ही हुआ करते थे ।

आधुनिक युग बदलता युगबोध : आधुनिक युग नाटक मडलियो एवं नाट्य-सस्थाओ के सगठन के आधार, रगशिल्प, अभिनय-पद्धति और नाट्य-पद्धति की दृष्टि से विस्तार और विविधता का युग रहा है । यह युग-वैविध्य एक आन्दोलन के रूप मे विकसित हुआ और आज यह आदोलन अपने कौमार्य को पार कर तारुण्य की ओर बढ रहा है । इस आदोलन को हम नवनाट्य आदोलन के रूप मे जानते हैं । प्रारम्भ मे यह आदोलन एक विशिष्ट नाट्य-पद्धति, रगशिल्प और वर्ण्य विषय को लेकर चला और बँगला और हिन्दी मे यह नवनाट्य आदोलन एक विशिष्ट आर्थिक एव राजनैतिक विचार-धारा से बँध जाने के कारण छठे दशक के अत तक प्राय. मृतप्राय-सा होकर रह गया । गुजराती और मराठी के, विशेषकर मराठी के रगमच पर इस एकागी विचार-धारा का कोई विशेष प्रभाव परिलक्षित नही हुआ और वहाँ का नवनाट्य आदोलन प्राचीन नाट्य-पद्धति और रगशिल्प, अभिनय-कला और पुरातनवादी, विशेषकर पौराणिक एवं ऐतिहासिक विषयो के विरुद्ध विद्रोह के रूप मे उपजा और इस नवीन युगबोध के साथ जुडा रहा । बँगला ने तो इस विचार-धारा को बँगाल के अकाल के परिप्रेक्ष्य मे जन्म देकर एक दशक के भीतर ही, उसके शिकजे मजबूत होने के पूर्व ही, उस विचारधारा को झकझोर दिया और शभु मित्र जैसे सजग कलाकारो ने केवल उसके शिल्प और नाट्य-पद्धति को ग्रहण कर बँगला के नाट्य आदोलन को एक नई दिशा दी, जिसमे पश्चिम का अन्धानुसरण न था । उनके अभिनय और उपस्थापनो मे नाट्यशास्त्र के अभिनय-सूत्रो एव मुद्राओ और 'लोकनाट्य के विविध रूपो का समन्वय' उत्तरोत्तर होता चला गया' तथा उन्होने भारत की आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया । हिन्दी-क्षेत्र मे इस आन्दोलन ने व्यापकता प्राप्त कर हिन्दी-रगमंच को सबल बनाया, नये नाटककार, निर्देशक एवं कलाकार इस क्षेत्र मे आये, किन्तु एक दशक के बाद ही क्रमश. उसका प्रभाव और तीव्रता घटती चली गई । दूसरी ओर, इस नवनाट्य आन्दोलन ने शीघ्र ही एक जागरूक राष्ट्रीय नाट्य-आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया । इस जागरूक आन्दोलन के सूत्रधार थे–प्रसिद्ध रग-एव-फिल्म अभिनेता पृथ्वीराज कपूर । पृथ्वीराज ने शभु मित्र से दो कदम आगे बढ कर सीधे राष्ट्र की सोई हुई आत्मा को जगाया और हिन्दी-रगमच को एक विशिष्ट अभिनय-पद्धति, आधुनिक रगशिल्प और नवीन विषय दिये । हिन्दी मे यह आन्दोलन कथित नवनाट्य आन्दोलन के समानान्तर चलता रहा और कुछ ही वर्षों मे वह अपनी अनेक शाखाओ–प्रशाखाओ के साथ सघन हो गया । देश की बदली हुई परिस्थितियो मे विशिष्ट राजनैतिक विचारो पर आश्रित एकागी नाट्य-आन्दोलन स्वत: म्रियमाण हो गया ।

व्यावसायिक रंगमंच के विविध स्वरूप : संगठन के स्वरूप और आधार पर रंगमंच दो प्रकार का माना गया है–व्यावसायिक और अव्यावसायिक । आधुनिक युग मे अर्थ-तन्त्र के विविध स्वरूपो को दृष्टि में रखकर व्यावसायिक रंगमंच के सगठन का स्वरूप भी बदला और इस क्षेत्र मे भी कुछ नये प्रयोग हुए । प्रसाद युग और समवर्ती काल मे हिन्दी और इतर भारतीय भाषाओ मे व्यावसायिक मडली के दो ही स्वरूप थे–एकाधिपत्य अथवा भागीदारी । एकाधिपत्य से अभिप्राय है, एक व्यक्ति की मालकियत अर्थात् ऐसी मडली का स्वामी या उपस्थापक एक ही व्यक्ति हुआ करता था । कुछ मडलियाँ ऐसी भी थी, जिनके कई स्वामी अर्थात् भागीदार हुआ करते थे, जिनमे दो-एक भागीदार विशेष रूप से सक्रिय हुआ करते थे । भागीदारों की सख्या तीन-चार से अधिक बढने पर मडली के सचालन के लिये कही-कही प्रबन्ध अभिकर्ताओ (मैनेजिंग एजेन्ट्स) का एक प्रतिष्ठान बना लिया जाता था । आधुनिक युग मे व्यावसायिक मच के सगठन के दो नये आधार सामने आये–सहकारिता और अर्ध-व्यावसायिकता ।

सहकारिता का क्षेत्र अपेक्षाकृत नया है और जब देश के वर्तमान अर्थ-तन्त्र मे भी उसके प्रयोगो की सफलता सदिग्ध है, तब इस प्रकार के दो सफल प्रयोग हमे व्यावसायिक मच-जगत मे दिखाई पडते हैं : एक प्रयोग है अहमदाबाद के नटमंडल (गुजराती) का और दूसरा है कलकत्ते के मिनर्वा (बँगला) का । क्रम की दृष्टि से नटमण्डल प्रथम सहकारी नाट्य-सस्था है । मराठी और हिन्दी मे इस प्रकार के कोई प्रयोग दिखलाई नही पड़ते ।

व्यवसाय-क्षेत्र मे अर्ध-व्यावसायिकता का कोई अर्थ नही, क्योंकि वर्तमान अर्थ-तन्त्र मे इस प्रकार के प्रतिष्ठान या उद्योग देखने में नही आते । नाट्य-जगत मे अर्ध-व्यावसायिक सस्था की स्थापना एक अभिनव प्रयोग है, क्योकि इसका आधार होता है–कला की सेवा और कला की सेवा द्वारा कलाकारो के जीवन-यापन का प्रबन्ध । इसमें प्रबन्धक-वर्ग या उपस्थापक केवल प्रतीक वेतन लेता अथवा अवैतनिक सेवा करता है, और उसका उद्देश्य लाभ कमाना नही होता । उसका यह कर्तव्य होता है कि वह यह भी देखे कि यदि उसकी संस्था को कोई लाभ न हो, तो उसे आर्थिक क्षति भी न उठानी पडे । इस प्रकार की नाट्य-संस्था का लक्ष्य 'लाभ नहीं, हानि नहीं' के आधार पर मुख्यतः कला की सेवा करना होता है । अनेक अव्यावसायिक नाट्य-सस्थाएँ अर्ध-व्यावसायिक संस्था बनने को अपना अगला कदम मान कर अर्ध-व्यावसायिक बनने का स्वप्न सँजोती रहती हैं । अतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इस प्रकार की नाट्य-सस्थाएँ अपने दृष्टिकोण में व्यावसायिक न होकर अव्यावसायिक अधिक हैं । हिन्दी-क्षेत्र मे पृथ्वी थियेटर्स और गुजराती-मराठी-हिन्दी क्षेत्र मे इडियन नेशनल थियेटर अर्ध-व्यावसायिक नाट्य-संस्थाएँ हैं । इस प्रकार की कोई सस्था बँगला मे नही दिखलाई पड़ती । मराठी या गुजराती की भी इस प्रकार की कोई एकात पृथक् संस्था नही है ।

व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओ का सह-अस्तित्व : आधुनिक युग मुख्यतः अव्यावसायिक रंगमंच का युग होते हुये भी इस युग मे हिन्दी तथा प्रत्येक आलोच्य भाषा में व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं का सह-अस्तित्व बना रहा । हिन्दी आदि भाषाओ मे यह सह-अस्तित्व आज भी कम-वेश बना हुआ है, मराठी क्षेत्र में अब व्यावसायिक मंडलियाँ समाप्तप्राय हो चुकी हैं और उनकी जगह विकासशील अव्यावसायिक रंगमच ने ले ली है । अभिनय, रंगशिल्प, नाट्यवस्तु, उपस्थापन आदि की दृष्टि से बँगला का व्यावसायिक रगमंच हिन्दी और गुजराती के व्यावसायिक रंगमच से बहुत आगे है ।

रंगमंच के नये प्रयोग : रगमंच और रंगशिल्प की दृष्टि से हिन्दी तथा सभी भारतीय भाषाओं में अनेक स्थायी, अस्थायी या अनुरचित (इम्प्रोवाइज्ड) मच के प्रयोग हुए । बँगला की अनेक रंगशालाओं में स्थायी रूप से परिक्रामी रंगमच की व्यवस्था है, जिनमें स्टार, विश्व-रूपा और रंगमहल प्रमुख हैं । बंबई मे भी बिड़ला मातुश्री

सभागार में स्थायी परिक्रामी मंच है, किन्तु यह केवल हिन्दी की रंगशाला न होकर मराठी और गुजराती के नाटकों के लिये भी उपलब्ध है। हिन्दी-क्षेत्र में जबलपुर के शहीद भवन के सभा-कक्ष में भी स्थायी परिक्रामी मंच है। हिन्दी और मराठी क्षेत्रों में तात्कालिक उपयोग के लिए अनुरचित परिक्रामी मंचों का भी उपयोग हो चुका है। बँगला में परिक्रामी मंच के अतिरिक्त शकट मंच का उपयोग हो चुका है, जिसमें दृश्य-परिवर्तन प्रत्येक दृश्य के रेलगाड़ी के डिब्बे की भाँति आगे बढ़ने या पीछे हटने से होता है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी और गुजराती में वृत्तस्थ मंच (एरेना स्टेज) के अनुरचित प्रयोग किये गए। बँगला और मराठी में इस प्रकार के मंच विधान की ओर दृष्टि नहीं गई।

हिन्दी, मराठी, बँगला और गुजराती में द्विखण्डीय मंचों एवं बहुधरातलीय मंचों पर नाटक खेले जा चुके हैं। गुजराती में इंडियन नेशनल थियेटर ने प्रथम बार त्रिखण्डीय मंच का उपयोग 'लग्नोत्सव' में किया। इस संस्था के पास सचल मंच भी है।

खुले रंगमंच का प्रयोग भी इधर बहुत लोकप्रिय हुआ है और दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और बड़ौदा में विशेष रूप से मुक्ताकाश रंगशालाओं का निर्माण हुआ है। हिन्दी और बँगला में इस प्रकार की रंगशालाओं में होने वाले अभिनय विशेष लोकप्रिय रहे हैं।

नया रंगशिल्प : रंग-सज्जा की दृष्टि से हिन्दी तथा अन्य सभी भाषाओं के रंगमंचों पर परदों की जगह दृश्यबन्धों या सन्निवेशों का उपयोग होने लगा है, फिर भी हिन्दी और गुजराती के व्यावसायिक मंच पर परदों, कट-सीनों, 'फ्लाटों' आदि का उपयोग अभी चालू है, जिनके साथ वे बीच-बीच में आधुनिक दृश्यबन्धों का भी उपयोग करते हैं। जहाँ परिक्रामी मंच नहीं है, वहाँ प्रायः एक दृश्यबन्ध (सेट) के नाटक खेलना अधिक पसन्द किया जाता है। हिन्दी, मराठी और गुजराती में एक दृश्यबन्ध के नाटक खेलने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसके विपरीत बँगला रंगमंच पर बहुदृश्यीय नाटकों का प्रचार है, जिन्हें परिक्रामी अथवा बहुधरातलीय मंच पर सरलता से प्रस्तुत किया जा सकता है।

रंगदीपन और ध्वनि-संकेत के सहारे अब समुद्र में खड़े जलयान, चलती हुई ट्रेन, पुल, खान, जलप्लावन, अग्निदाह, युद्ध की मोर्चेबन्दी और युद्ध, कार के आगमन और प्रस्थान, आँधी और जलवृष्टि, चलते हुए बादल और तारों-भरा आकाश, विद्युत-नर्तन आदि प्रत्यक्ष रूप में दिखलाए जा सकते हैं। दिन-रात, प्रातःकाल-संध्या, इन्द्रधनुष, बहती हुई नदी, समुद्र, शिशु-रोदन, कुत्तों या पक्षियों के बोलने, क्लाक टावर के घण्टे आदि आधुनिक रंगशिल्प के लिए कोई असाध्य वस्तु नहीं। इस दृष्टि से बँगला और हिन्दी के रंगमंच बहुत समृद्ध हैं। मराठी और गुजराती के रंगमंच भी अब इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

जिन रंगशालाओं में गगनिका ('साइक्लोरामा') की व्यवस्था है, वहाँ काल-परिवर्तन, बादल, नदी, समुद्र आदि के दृश्य सरलता से प्रदर्शित किये जा सकते हैं। प्रायः सभी भाषा-क्षेत्रों में गगनिका-युक्त रंगशालायें हैं।

स्वाभाविक अभिनय और नाट्य-प्रशिक्षण : आधुनिक युग में माइक और लाउडस्पीकर के बढ़ते हुए उपयोग ने पारसी शैली के 'गलाफाड़' और 'छातीठोक' अभिनय को अतीत की वस्तु बना दिया। फिर भी गुजराती और हिन्दी के व्यावसायिक मंच की, विशेषकर देशी नाटक समाज, बम्बई और मूनलाइट थियेटर, कलकत्ता की अभिनय-पद्धति पर पारसी शैली के इस कृत्रिम अभिनय का प्रभाव रहा है। पात्रों को इतने जोर से, इस अंदाज और स्वर-पात के साथ बोलने की शिक्षा दी जाती है कि रंगशाला के अन्तिम आसन (सीट) का सामाजिक भी उनकी वाणी को सुन सके, किन्तु इन भाषाओं में तथा शेष दोनों भाषाओं में भी अब स्वाभाविक अभिनय, भावों की सहज अभिव्यक्ति और उतार-चढ़ाव, संवाद के उचित एवं सन्तुलित आरोहावरोह पर बल दिया जाने लगा है। इसके लिए सभी भाषाओं में नाट्य-शिक्षण की स्थायी अथवा आकस्मिक व्यवस्थायें की जाती हैं। गुजराती, हिन्दी

और बँगला के क्षेत्रों मे विशेष रूप से एतदर्थ नाट्य-विद्यालय खुले हुये हैं। दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय मे न केवल हिन्दी-क्षेत्र के, वरन् सभी भाषा-क्षेत्रो के कलाकार एव नाट्यानुरागी नाट्य-शिक्षा प्राप्त करते हैं। मराठी और हिन्दी मे नाट्य-शिक्षण के लिए प्रशिक्षण-शिविर भी चलाये जाते हैं। पूना मे नियमित नाट्य-शिक्षा के लिए थियेटर आर्ट्स अकादमी की स्थापना हो चुकी है। इन शिक्षण-सस्थाओ के स्नातक-कलाकारों ने अभिनय-कला के सस्कार और उन्नयन मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। हिन्दी और गुजराती रगमच पर सस्कृत नाटकों के रूपातरों को प्रस्तुत करने में जहां तत्कालीन वातावरण के निर्माण पर विशेष दृष्टि रखी जाती है, वहीं आगिक, वाचिक एवं आहार्य अभिनय द्वारा नाट्यशास्त्र के आदर्शो को भी चरितार्थ करने की चेष्टा की गई है। हिन्दुस्तानी थियेटर और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के सस्कृत नाटकों के प्रदर्शन मे शास्त्र-सम्मत अभिनय के प्रति विशेष आग्रह रहा है। गुजराती मे जयशकर 'सुन्दरी' के निर्देशन मे हुए सस्कृत नाटको मे भी अभिनय का स्तर सदैव अत्यन्त उच्च रहा है। रसानुसार अभिनय और रसोद्रेक के लिए आलम्बन-रूप वातावरण के निर्माण और नट-समूह की सरचना ('कम्पोजीशन') की ओर 'सुन्दरी' ने विशेष ध्यान रखा है।

नृत्य-नाटक . बँगला, गुजराती और हिन्दी रगमचो पर नृत्य-नाटकों के प्रयोग मे कलाकारो ने नृत्य, गति-सप्रचार और मुद्राभिनय में भी अपनी दक्षता का परिचय दिया है। इन सभी भाषा-क्षेत्रों मे नृत्य-नाट्यो को सामान्य गद्य या संगीत नाटकों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। मराठी मे नृत्य-नाटकों की ओर कोई रुझान नही दिखाई पडता।

गीति-नाटक : बँगला में नृत्य-नाटको के अतिरिक्त गीति-नाट्यो का भी प्रचलन है। हिन्दी में भी कुछ गीतिनाट्य अभिनीत हुए हैं, किन्तु ये अभिनय अपवाद-स्वरूप ही कहे जा सकते हैं। गुजराती में भवाई-शैली पर कुछ गीति-नाट्य प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु वे नियमित रग-नाट्य के अन्तर्गत न आकर लोकनाट्य की सीमाओ मे बँधे हैं, अतः वहाँ शुद्ध गीति-नाट्य का अभाव ही माना जायगा। मराठी मे गीति-नाट्य की जगह संगीत नाटकों को बहुत लोकप्रियता प्राप्त है और उन्हें सामाजिक उनकी संगीत-बहुलता के कारण ही देखना अधिक पसंद करते हैं। मराठी के इन सगीत नाटको मे गीतों के साथ गद्य-संवाद भी पुष्कल मात्रा मे रहता है।

गद्य-नाटक : सामान्यतः इन सभी भाषाओ के मंचो पर गद्य-नाटक की प्रधानता है और प्रवृत्ति न रखने और अनिवार्य होने पर कम से कम गीत रखने की ओर रही है। स्वगत और लम्बे संवादो का प्रायः बहिष्कार किया जा चुका है। संवाद प्रायः छोटे, चुस्त, सरल, व्यजनात्मक, चुटीले, सशक्त और नाट्योपयोगी विशेष रूप से पसंद किये जाते हैं।

नाटक प्राय· त्रिअकी ही खेले गए, किन्तु गुजराती और हिन्दी मे दो अको के नाटक भी प्रस्तुत किए गए। बँगला मे भी यदा-कदा द्विअकी नाटक खेले गये। इसके अतिरिक्त बहुदृश्यीय बड़े एकाकी नाटक भी बँगला मे मचस्थ हुए। सभी भाषाओ में लघु एकांकी नाटको को भी मच पर, विशेषकर अव्यावसायिक मच पर लोकप्रियता प्राप्त हुई। इन एकाकियो का उपयोग नवनाट्य आन्दोलन के प्रचार-माध्यम के रूप मे विशेष रूप से और बाद में स्कूल-कालेजों के वार्षिकोत्सवों की शोभा बढ़ाने और समय पर होने वाली नाट्य-प्रतियोगिताओं के साधन के रूप में बड़े पैमाने पर किया गया। व्यावसायिक मंच ने इन्हें बहुत कम प्रश्रय दिया।

अनुवाद एव नाट्य रूपान्तर : हिन्दी तथा इतर आलोच्य भाषाओं में रंगमचीय नाटकों का अभाव सदैव एक प्रश्नचिन्ह बनकर सामने आया। इस अभाव को दूर करने के लिए गुजराती, हिन्दी और मराठी मे अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद बड़े पैमाने पर किये गए। बँगला में कुछ अँग्रेजी नाटकों के अनुवाद के अतिरिक्त विदेशी और बँगला उपन्यासो के नाट्यरूपातर भी किए गए। गुजराती मे कुछ गुजराती उपन्यासों के नाट्यरूपातर के अलावा

मराठी और बँगला के कई नाटक भी अनूदित किये गये । हिन्दी मे हिन्दी के कुछ उपन्यासो एवं कथाओ के नाट्य-रूपान्तरो के अतिरिक्त बँगला, मराठी और गुजराती से भी कुछ नाटक रूपातरित किये गये । मराठी और गुजराती के रगमचो पर कुछ हिन्दी-रूपान्तर भी खेले गये । कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली की प्रमुख बँगला नाट्यसस्था–चतुरंग के एक प्रमुख अधिकारी ने एक बँगला नाटक के हिन्दी-रूपान्तर को खेलने की इच्छा इन पक्तियो के लेखक के समक्ष व्यक्त की थी ।'

नाटक सूचियां ग्रथों के रूप में . भारत की किसी भी भाषा के रंगमच का परस्पर आदान-प्रदान बुरा नही है, बल्कि श्रेयस्कर है, किन्तु नाटक के अभाव के नाम पर विदेशी नाटको के अनुवाद अथवा विदेशी उपन्यासों या कहानियो के बडे पैमाने पर नाट्य-रूपातर से रंगदेवता के शृगार का औचित्य कहाँ तक है, यह प्रश्न विचारणीय है। रगदेवता की प्रतिमा पर सभी प्रकार के फूलो को चढाया जा सकता है, किन्तु जिन फूलो मे सुरभि न हो, जो इस देश के सामाजिको के मानस को मुग्ध न कर सकें, उनसे भला रगदेवता कैसे प्रसन्न होगा ? इस विषम स्थिति के कई कारण हैं। सबसे प्रमुख कारण है–नये-नये उपस्थापको एवं निर्देशको का अज्ञान, जो अपनी भाषा के नाटको के प्रति सम्मान तो बहुत दूर, उनका सम्यक् ज्ञान भी नही रखते । इधर हिन्दी तथा अन्य भाषाओ के नाटको की विस्तृत सूचियाँ ग्रथो के रूप मे प्रकाशित हुई है, जिनमे उल्लेखनीय हैं . (१) डॉ० धीरुभाई ठाकर द्वारा सपादित 'अभिनेय नाटको' (१९५८ ई०), जिसमे गुजराती के ३६० अभिनेय नाटको की सूची उनके कथासार के साथ दी गई है, (२) डॉ० मु० श्री० कानडे द्वारा सपादित 'प्रयोगक्षम मराठी नाटकें' (१९६२ ई०), जिसमे मराठी के ५०० नाटको की सूची उनके कथासार के साथ दी गई है, (३) 'बिब्लियोग्राफी आफ स्टेजेबुल प्लेज इन इण्डियन लैंग्वेजेज,' जो भारतीय नाट्य सघ, नई दिल्ली द्वारा दो भागो मे प्रकाशित हुई है और जिसमें हिन्दी के साथ अन्य भारतीय भाषाओ के प्रसिद्ध नाटको की सूचिया भी है, (४) कृष्णाचार्य द्वारा सकलित 'हिन्दी नाट्य-साहित्य ग्रथपुटी १८६३–१९६५' (१९६६ ई०), जो अनामिका, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुई है और जिसमे सन् १८६३ से १९६५ ई० तक के हिन्दी नाटको की अधिकृत सूची नाटककार, प्रकाशक, प्रकाशन-काल, पृष्ठ आदि के उल्लेख के साथ दी गई है, तथा (५) डॉ० दशरथ ओझा द्वारा सकलित-सपादित 'हिन्दी नाटक कोश' (१९७५ ई०), जिसमे सन् १३२५ से १९७० ई० तक के हिन्दी के द्विसहस्राधिक नाटको के अक, दृश्य, पात्रादि की सख्या सहित प्रत्येक नाटक की सक्षिप्त कथा और मचन का विवरण (यदि नाटक मचित हुआ है) भी दिया हुआ है। *अतिम तीनो ग्रथो के प्रकाशन मे सगीत नाटक अकादमी ने वित्तीय सहायता दी है । प्रत्येक उपस्थापक या निर्देशक* को इन सन्दर्भ-ग्रंथो से अपनी-अपनी भाषाओ के नाटको की जानकारी और उनके चयन मे सहायता लेनी चाहिए । इसके अतिरिक्त समकालीन अन्य मौलिक नाटककारो की उन कृतियो का भी उसे ज्ञान होना आवश्यक है, जो वास्तव मे रगोपयोगी हैं । अपनी सस्था के लिए नाटक के चयन मे स्थानीय प्रभावो से मुक्त रह कर अभिनेय कलाकृतियो का चयन किया जाना चाहिये । इस चयन मे अपनी रुचि, जन-रुचि तथा सस्था के साधन-सामर्थ्य पर अवश्य दृष्टि रखनी चाहिए । पुनश्च, नाट्य-सस्थाओ को मौलिक कृतियो का उपस्थापन कर अपने नये-पुराने सभी नाटककारो का समादर करना चाहिए । इससे नाट्य-साहित्य और रगमच, दोनो समृद्ध होगे ।

रग-नाटक का कथित अभाव और आपा-धापी : नाटक के अभाव का अर्थ है–एक दृश्यबन्ध के नाटक का अभाव, तो इस प्रकार के नाटक भी प्रत्येक भाषा मे लिखे और खेले जा चुके हैं । प्रश्न माँग और पूर्ति का है। यदि इस माँग को लेकर नाटककार के पास जाया जाय, तो कोई कारण नही कि वह उस माँग की पूर्ति न करे। इस दिशा मे उपस्थापक को पहल करनी होगी । इसके लिए नाटककार को भी रगमच से सम्बन्ध बनाना होगा और उसकी व्यावहारिक कठिनाइयो और परिसीमाओ को समझकर माँग की पूर्ति करनी होगी । रगदेवता की

अर्चना में उपस्थापक और नाटककार के लिए सम्मिलित अर्घ्य चढ़ाना आवश्यक है।

इन उपस्थापकों एवं निर्देशको की एक और भी दुर्बलता है। अधकचरे नाटक का निर्माण, जो स्वयं उनके या उनकी संस्था के किसी कलाकार द्वारा नाटको की चोरी या नकल कर प्रस्तुत कर दिया जाता है। यह दोष हिन्दी की नवीन नाट्य सस्थाओ मे बहुत पाया जाता है। मराठी, गुजराती और बँगला की नाट्य-सस्थाएँ ऐसा न कर मच-जगत में प्रसिद्ध नाटककारों की रचनायें ही अपने उपस्थापनों के लिए चुनती हैं। इसका यह अर्थ नही कि नये नाटककारो की कृतियो को उपस्थापन का अवसर न दिया जाय। उन्हें भी अवसर मिलना चाहिए, किन्तु उनके गुण-दोष का सम्यक् विवेचन करने के उपरान्त ही ऐसा करना चाहिए।

नाटको के अभाव का एक और भी कारण है और वह है—नाटक के प्रति प्रकाशक और पाठक की उदासीनता, जिसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश अच्छे नाटक भी प्रथम संस्करण के बाद दुबारा नही छपते और यदि वे प्रकाशित होने पर या इसके पूर्व मंचस्थ नही हुए, तो आगे भी उनके मंचस्थ किए जा सकने की सभावना समाप्त हो जाती है। हिन्दी, गुजराती और मराठी, इन सभी भाषाओ मे नाटको की यही स्थिति है। अधिकाश पुराने अभिनीत नाटक या तो अप्रकाशित हैं अथवा यदि प्रकाशित भी हैं, तो उनका मिलना अब दुर्लभ है। मौलिक रग-नाटको के अभाव के लिए देश के विश्वविद्यालय तथा शिक्षा-मडल भी कुछ सीमा तक उत्तरदायी हैं। उन्हें पाठ्यक्रम मे केवल सु-अभिनीत एव रंगोपयोगी नाटको को ही स्थान देना चाहिए, तथाकथित पाठ्य या साहित्यिक नाटको को नही। दूसरे, इस प्रकार के नाटको के अध्यापन का ढग भी बदलना चाहिए। केवल उनके शास्त्रीय विवेचन पर ही जोर न देकर उनके रंगमचीय मूल्याकन का ज्ञान भी छात्रो को कराना चाहिए, जिनके लिये उन्हें वाचन, सभाषण और अभिनय के विविध अगो की व्यावहारिक शिक्षा देनी होगी। गुजराती को छोड आलोच्य भाषा-क्षेत्रो के किसी भी विश्वविद्यालय मे अभी ऐसी व्यवस्था नहीं है। बड़ौदा विश्वविद्यालय के अंतर्गत एतदर्थ भारतीय संगीत, नृत्य एवं नाट्य महाविद्यालय में पृथक् से नाट्य-शिक्षा की व्यवस्था अवश्य है, किन्तु स्वय विश्वविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय से सबद्ध अन्य महाविद्यालयों के गुजराती विभागो में इस प्रकार की कोई भी अंगभूत व्यवस्था नही है।

नाटको के अभाव की शिकायत बहुत-कुछ कृत्रिम एव सापेक्षिक है, क्योकि रंगमंच अपने अभाव, अपनी परिसीमाओ की ओर ध्यान नही देता। उपस्थापक का पूर्वाग्रह, उपलब्ध कलाकारों की अभिनय-क्षमता की विशिष्ट दिशा और कभी-कभी उपयुक्त कलाकारों की अनुपलब्धता, धनाभाव, रगमंच और रगशिल्प के ज्ञान और साधन के अभाव पर भी नाटक का अभाव बहुत-कुछ निर्भर है। इसका एकमात्र तो नही, किन्तु एक समाधान यह हो सकता है कि नाटक को आवश्यकताओं के अनुरूप रगमंच का निर्माण किया जाय और उस रंगमंच की आवश्यकता के अनुरूप रगशिल्प का नियोजन किया जाना चाहिए। इस प्रकार अनेक उत्तम नाटको को, जिन्हे 'पाठ्य' कह कर छोड़ दिया गया है, रगमच पर उतारा जा सकता है। इसके लिए रंगमच और नाटक के ज्ञाता कुशल निर्देशकों की आवश्यकता है—न केवल हिन्दी को, वरन् बँगला, मराठी और गुजराती, सभी को।

सामाजिको का सरक्षण : आधुनिक युग मे रगमच के विकास मे सामाजिक के सरक्षण का महत्त्व बढता जा रहा है। बँगला, मराठी और गुजराती के रगमचो के सामाजिक पैसा देकर नाटक देखने में गौरव का, आल्हाद का अनुभव करते हैं, किन्तु हिन्दी के सामाजिक आज भी नि:शुल्क नाटक देखने के लिए लालायित रहते हैं। वे 'पास' की माँग करते हैं, किन्तु पास का पैसा नही देना चाहते। फिर भी कुछ क्षेत्रो मे सामाजिक 'बुकिंग आफिस' तक जाने लगे हैं और रमेश मेहता के नाटक 'बाक्स आफिस' की दृष्टि से सफल समझे जाते हैं। यह संतोष का विषय है। कोई भी रगमच सामाजिकों के हार्दिक सरक्षण के बिना जीवित नही रह सकता।

रगशालाओं का अभाव : इस युग मे हिन्दी तथा अन्य आलोच्य भाषाओं के क्षेत्र में कुछ नई रंगशालाएँ

बनी–बन्द रंगद्वार वाली भी और खुली भी, किन्तु खुली रंगशालाएँ, कलकत्ते के मुक्तांगन रंगालय को छोड़ कर, प्रायः सभी सन् १९६० के बाद बनीं। नवनाट्य आन्दोलन के बढ़ते हुए चरण के साथ जगह-जगह, नई-नई नाट्य संस्थाएँ खुलीं, नाटक भी खेले गये–कहीं रंगशालाओं एवं सिनेमाघरों को ऊँचे-ऊँचे किराये पर लेकर, कहीं स्कूल-कालेजों के हाल या प्रेक्षागृह अथवा किसी संस्था, क्लब या संस्थान के सभागार या रंगभवन लेकर। इनके लिये भी नाट्य-संस्थाओं को अच्छी-खासी दक्षिणा देनी पड़ती है, यद्यपि इनमें रंगशाला के आवश्यक गुण और साधन उपलब्ध नहीं होते। आवश्यकता इस बात की है कि कम किराये पर सुसज्जित रंगशालाएँ उपलब्ध की जायँ, जिसके लिए भारत सरकार के प्रयास से देश के विभिन्न भागों में रवीन्द्र नाट्य मंदिर, रवीन्द्रालय, रवीन्द्र सदन या टैगोर थियेटर बने हैं, किन्तु इनका निर्माण भी सन् १९६० के बाद ही हो सका। आलोच्य अवधि में रंगशालाओं के अभाव में नाट्य-आन्दोलन कुंठित बना रहा, उसे सफलता न प्राप्त हो सकी। बंबई, दिल्ली और कलकत्ते जैसे नगरों में यह अभाव उस समय और भी तीव्रता से अनुभूत होता है, जब रंगशालाओं को 'बुक' कराने के लिए दो-तीन महीने पूर्व से ही चेष्टा करनी पड़ती है। यह स्थिति समाप्त होनी चाहिए। हर एक, दो या तीन नाट्य-संस्थाओं के बीच एक रंगशाला सुलभ होनी चाहिए।

किन्तु इसके विपरीत यह भी कटु सत्य है कि 'सीजन' को छोड़कर या शनिवार और रविवार को छोड़कर प्राय रंगशालाएँ खाली पड़ी रहती हैं और अन्य नगरों में तो रंगशालाओं में वर्ष में दस-पन्द्रह से अधिक नाटक ही नहीं हो पाते। हिन्दी-क्षेत्र की यह प्रमुख समस्या है। हिन्दी में नाट्य-संस्थाएँ तो बहुत हैं, किन्तु अधिकांश तो वर्ष में एक या दो से अधिक नाटक ही नहीं प्रस्तुत करतीं। फिर कोई भी नाटक एक या दो बार से अधिक नहीं खेला जाता। इसके विपरीत हिन्दी के कुछ ऐसे भी नाटक हैं, जो कलकत्ते और दिल्ली में निरन्तर प्रदर्शित होते हैं और उनके उक्त नगरों में १०० या अधिक प्रयोग हो चुके हैं। रमेश मेहता के कुछ नाटक के तो समस्त हिन्दी-क्षेत्र में तथा अन्य भाषाओं में रूपांतरित होकर १००० से लेकर ३५०० तक प्रयोग हो चुके हैं। हिन्दी नाट्य-आँदोलन का यह विरोधाभास अन्य भाषाओं में उपलब्ध नहीं होता।

प्रयोग-संख्या : व्यावसायिक हिन्दी रंगमंच सबसे आगे . प्रति सप्ताह प्रयोग की संख्या की दृष्टि से हिन्दी का व्यावसायिक रंगमंच सभी इतर भारतीय भाषाओं से आगे है। कलकत्ते के मूनलाइट थियेटर में प्रत्येक सप्ताह खड़ी बोली (हिन्दी) के नाटक के नौ प्रयोग और राजस्थानी नाटक के कम से कम ४ प्रयोग होते रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक सप्ताह कुल १३ प्रयोग होते थे, जबकि बँगला या गुजराती में प्रति सप्ताह चार प्रयोग से अधिक नहीं होते। गुजराती में तो नये खेल के केवल दो ही प्रयोग शनिवार और रविवार को होते हैं और दो दिन–बुधवार और वृहस्पतिवार को प्राय पुराने खेल होते हैं। मराठी में भी गुजराती से भिन्न स्थिति नहीं है। नये नाटक प्राय शनि और रविवार या केवल रविवार को खेले जाते हैं।

प्रयोग की अवधि की दृष्टि से बँगला और हिन्दी के नाटक प्राय. ढाई-तीन घण्टे, गुजराती के तीन-साढ़े घण्टे के और मराठी के चार घण्टे के होते हैं। इस दृष्टि से मराठी के नाटक सर्वाधिक लम्बे होते हैं।

स्त्री-भूमिकायें : आज-कल इन सभी भाषाओं के मंचों पर स्त्री-भूमिकाएँ स्त्रियों द्वारा ही की जाती हैं, क्योंकि अब ऐसा माना जाने लगा है कि पुरुष स्त्री भूमिकाओं के साथ पूरा न्याय नहीं कर सकते, किन्तु बीसवीं शती के पूर्वार्ध के अन्त तक हिन्दी, मराठी और गुजराती के रंगमंचों पर पुरुष-कलाकार या बाल-अभिनेत्रियाँ ही स्त्रियों का कार्य किया करती थीं। हिन्दी के विश्वनाथ शर्मा, केशव खत्री, अंबाशंकर और मा० फिदा हुसेन (बाद में प्रेमशंकर 'नरसी'), मराठी के बालगंधर्व और केशवराव दाते और गुजराती के जयशंकर 'सुन्दरी, मा० गोरधन और हिन्दी-गुजराती के मा० निसार। जैसी बाल-अभिनेत्रियाँ स्त्री भूमिकाओं के लिए आदर्श और गौरव की पात्र समझी जाती रही हैं। इन भाषाओं के मंच पर स्त्री-पुरुषों का मुक्ताभिनय बहुत हाल की ही वस्तु है।

इसके विपरीत बँगला रगमच इस युग के प्रारम्भ होने के बहुत पूर्व से ही बहुत प्रगतिशील रहा है और वहाँ इस युग में स्त्रियाँ ही स्त्रियो की भूमिकाओ मे अवतरण करती रही हैं। बँगला को छोड़ कर शेष भाषाओ मे मंच पर स्त्रियो की अवतारणा भी नव-नाट्य आन्दोलन का एक आवश्यक अग रहा है। मराठी नाटको मे महाराष्ट्र की नव-शिक्षित युवतिया, गुजराती रगमच पर गुजराती, मराठी और पारसी स्त्रियाँ तथा हिन्दी मे सम्भ्रान्त घरो की उत्तरी भारत के समस्त हिन्दी राज्यों की नवयुवतियो के साथ पंजाब और बगाल की बालाएँ भी खुलकर भाग ले रही हैं। आलोच्य युग के अंतिम दो दशक इस दृष्टि से सदैव स्मरणीय रहेंगे।

सन्दर्भ

६--भारतीय रंगमंच : एक तुलनात्मक अध्ययन

१- डॉ० डी० जी० व्यास, कला-समीक्षक, बम्बई से एक साक्षात्कार (जून १९६५) के आधार पर।

२- व्यक्ति-दर्शन शंभु मित्र (दिनमान, नई दिल्ली, २९ अप्रैल, १९६६, पृ० २५)।

३- एम० सी० सर्वाधिकारी, महासचिव, चतुरग, २६-ए शकर मार्केट, नई दिल्ली मे एक भेंट (नवबर, १९६७) के आधार पर।

७

भारतीय रंगमंच : समस्याएँ, अनुप्रेरणाएँ और भविष्य

भारतीय रंगमंच : समस्याएँ, अनुप्रेरणाएँ और भविष्य | ७

(१) रंगमंच की समस्यायें और उनका समाधान

रंगमच ने बेताब युग या उसके समकालीन युग से लेकर आधुनिक युग तक उत्थान-पतन, संगठन एवं विघटन की अनेक कुहेलिकाओं को विदीर्ण कर आज एक निश्चित दिशा ग्रहण कर ली है। यह दिशा उसे एक निश्चित लक्ष्य तक ले जायगी, जहाँ रंगमंच के विविध उपादानों रंगशाला, नाटक और अभिनय की त्रिवेणी का सुखद सामंजस्य-संगम-उपलब्ध होगा। इन उपादानो के अनुपात के बिगड़ने से अनेक समस्याओं का जन्म होता है और रगमच का संतुलन, उसका सामंजस्य बिगड जाता है। प्रत्येक युग मे इस सामंजस्य को बनाए रखने के लिए पुष्कल धन की या उसके अधिष्ठाता सरक्षक की सदैव आवश्यकता होती रही है, जिसके बिना न तो नाटक-मडली का सगठन सम्भव है और न ही रगशाला की स्थापना। व्यावसायिक मण्डली में नटों को नियमित पारिश्रमिक भी देना पड़ता है, अत. ऐसी मण्डली के लिए धन की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है, किन्तु अव्यावसायिक नाट्य-सस्थाएँ भी, जिनके अधिकाश अभिनेता प्राय. अवैतनिक होते हैं, धन के बिना नहीं चल सकतीं। धन के अभाव में रग-सज्जा और मचोपकरणों, रगदीपन एवं ध्वनि-यन्त्रों की व्यवस्था, रंगशाला के किराये, मनोरंजन कर की पूर्व-अदायगी, प्रचार-पोस्टरों, हैंडबिलो आदि के मुद्रण, समाचार-पत्रों में महँगी विज्ञापनबाजी आदि कार्य सम्भव नहीं हैं। अव्यावसायिक संस्थाएँ इस अनिवार्य व्यय की पूर्ति के लिए एक ओर चन्दे, दान या अनुदान का सहारा लेती हैं, तो दूसरी ओर टिकट-बिक्री तथा स्मारिका के द्वारा उपलब्ध विज्ञापन एवं बिक्री राशि पर भी उनके उपस्थापन की 'बाक्स-आफिस' सफलता या असफलता निर्भर है। आजकल नाटक के उपस्थापन, रगदीपन एवं ध्वनि-उपकरणों के क्रय आदि के लिए कुछ नाट्य-सस्थाओं को सगीत नाटक अकादमी से अनुदान या वित्तीय सहायता भी मिल जाती है, जिससे अव्यावसायिक रगमच का मार्ग सुकर हो जाता है, किन्तु यह सुविधा केवल उन्हीं नाट्य-संस्थाओं के लिए है, जो एक निश्चित अवधि तक अपनी शक्ति पर निर्भर रह कर कुछ नाट्य-प्रयोग कर चुकी हों। नई सस्थाओ को तो अपनी ही शक्ति पर भरोसा रख कर सघर्ष करना पड़ता है।

बहुमुखी समस्याएँ

इस प्रकार आधुनिक रंगमच को हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में, कम-बेस, जिन समस्याओं

का सामना करना पडता है, सक्षेप मे ये है

(क) धनाभाव,
(ख) रग-सज्जा के साधनो एव रगोपकरणो की उपलब्धि मे कठिनाई,
(ग) कुशल एव प्रशिक्षित निर्देशको का अभाव,
(घ) प्रशिक्षित, अनुभवी एव निष्ठावान रग-कलाकारो, विशेषकर स्त्री-कलाकारो का अभाव,
(ङ) नाट्य-सस्थाओ मे अनुशासन एव नैतिकता का अभाव,
(च) रग-नाटको की अनुपलब्धता,
(छ) रगशालाओ का अभाव,
(ज) प्रचार-माध्यमो की उपेक्षा एव दुर्लभता,
(झ) मनोरजन-कर,
(ञ) यातायात की समस्या, तथा
(ट) सामाजिको का अभाव।

(क) धनाभाव धनाभाव एक ऐसी अदृश्य समुद्री चट्टान है, जिस पर टकरा कर किसी भी नाट्य-संस्था का जलपोत डूबे बिना नही रहता, अत प्रत्येक नवोदित अथवा पुरानी सस्था के लिए यह नबर एक की समस्या है। एक बार रघुनाथ ब्रह्मभट्ट के 'सूर्यकुमारी' के दो-तीन दृश्यो की सज्जा के लिए आर्यनैतिक नाटक समाज के मालिक नकुभाई शेठ को कई सहस्र रुपयो की आवश्यकता हुई, तो समाज के निर्देशक मूलचन्द मामा ने अपनी बहन के आभूषण गिरवी रख और अपने घर का सामान बेच कर तीन हजार रुपये एकत्र करके दिये।[1] लक्ष्मीकात नाटक समाज का उसके मालिक चन्दूलाल शेठ के घुडदौड, सट्टे, जुए आदि के व्यसन और द्विवेदी–'अक्षयराज' की आर्थिक असफलता के कारण अन्तत पतन हो गया।[2] अव्यावसायिक सस्था के किसी एक ही खेल की असफलता उसके पतन का कारण बन जाती है। इस क्षेत्र मे मामा–जैसा त्याग विरले ही कर पाते हैं। हिन्दी तथा कुछ अन्य भाषाओ की अधिकाश नाट्य-सस्थाएँ प्राय. धनाभाव, हानि आदि के कारण दो-एक प्रयोगो के बाद ही समाप्त हो जाती हैं। इस वित्तीय आघात को सहन कर लेने पर कुछ ही वर्षों मे नाट्य-सस्था अपने पैरो पर खडे हो सकने मे समर्थ हो जाती है।

हम यह मान भी लें कि कभी-कभी उपस्थापक, निर्देशक या नाटककार के त्याग, सहिष्णुता और निष्ठा से सस्था का जलपोत डूबने से बच जाता है, किन्तु प्रत्येक त्याग या निष्ठा की एक सीमा होती है, जहाँ पहुँच कर "अब और नही" की तख्ती लग जाती है। उस समय जलपोत भँवर मे पड चुका रहता है। उसे बचा लेना कलाकारो तथा सस्था के प्रबन्धकीय सदस्यो के हाथो मे होता है। यदि सभी कलाकार-सदस्य जुट कर लग जायें, तो व्यक्तिगत सदस्यता शुल्क चुकार, दान दे, मित्रो और पडोसियो को टिकट बेंच तथा नगर के धनी-मानियो से चन्दा, दान या विज्ञापन प्राप्त कर आवश्यक धन एकत्र कर सकते है। सम्पन्न सदस्य बिना ब्याज के ऋण के रूप मे भी कुछ धन सस्था को दे सकते हैं और इस प्रकार डूबते के लिए तिनके का सहारा बन सकते हैं।

कल्याणकारी, राष्ट्रीय और/या समाजवादी/राज्य मे शासन का यह कर्तव्य है कि वह सभी नाट्य-सस्थाओ की एक सूची अपने यहाँ रखे और कम से कम एक वर्ष की स्थिति ('स्टैंडिंग') वाली सस्था को एक निश्चित मात्रा मे नियमित वित्तीय सहायता दे। यदि वह सहायता प्रत्येक प्रयोग के हिसाब से दी जाय, तो उत्तम होगा। कुछ काल बाद यह सस्था जब आत्म-निर्भर हो जाय, तो सहायता बन्द की जा सकती है। यदि मात्र धनाभाव के कारण कोई नाट्य-सस्था टूटती है, तो समाज और राष्ट्र, दोनो के लिए यह श्रेयस्कर न होगा। नाट्य-कला और रगमंच ने देश और सामाजिको को न केवल मनोरजन, चारित्रिक शिक्षा और प्रेरणा दी है, वरन् स्वातत्र्य-यज्ञ

मे अनेको बार आहुतियाँ भी दी हैं, अत स्वतंत्रता के उपरात नवोदित समाज और देश को उसे, अपने सास्कृतिक विकास के एक महत्त्वपूर्ण अंग या कडी के रूप मे, पर्याप्त सरक्षण प्रदान करना चाहिए।

सस्थाओ के घनाभाव को दूर करने का अन्तिम किन्तु सर्वाधिक व्यावहारिक उपाय है, उनका व्यावसायिक आधार पर सगठन, सचालन एव प्रयोग। *व्यावसायिक रगमच का कठोर प्रतिस्पर्धा के बावजूद चलचित्र, आकाशवाणी तथा दूरचित्रण (टेलीविजन) के साथ सह-अस्तित्व समव है और इसे हम भारत मे ही कलक्त्ते और बम्बई मे प्रत्यक्ष देख सकते हैं। हाथ कंगन को आरसी क्या! कल्पनाशील और साहसी रगानुरागी व्यवसायियो* को पुन. एक बार इस क्षेत्र मे अपनी भाग्य-परीक्षा करनी चाहिए।

(ख) रग-सज्जा के साधनो एव रगोपकरण की उपलब्धि में कठिनाई : नाट्य-सस्थाओं के स्थायित्व एव प्रयोग-क्षमता को बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि उसके पास दृश्यबध, रंग-दीप्ति एवं ध्वनि-उपकरणो, वस्त्राभरणो आदि की अपनी व्यवस्था हो। इनके अभाव मे भारी किराये पर ये चीजे अन्यत्र से मँगानी पडती हैं और अनेक सस्थाएँ प्रदर्शन के बाद इस किराए की राशि चुका न पाने के कारण ही भंग हो जाती है। इस विषम स्थिति से बचने के लिये प्रत्येक खेल के समय कुछ न कुछ उपकरण, वस्त्रादि स्वय खरीदने का प्रयास किया जाना चाहिए। अकादमी द्वारा एतदर्थ दी जाने वाली वित्तीय सहायता एक स्पृहणीय कदम है। हिन्दी-क्षेत्र मे अनेक सस्थाओ के पास अपनी रंग-सज्जा, रगोपकरण आदि उपलब्ध हैं और कुछ को अकादमी से अनुदान भी प्राप्त हो चुके हैं।

रगोपकरण मे दीप्ति-एव-ध्वनि उपकरण प्राय मँहगे होते हैं और कुछ वर्ष पूर्व तक दीप्ति-उपकरण इसलिये भी अधिक महँगे पडते थे कि उनका निर्माण इस देश मे नही होता था और उनका आयात विदेशों से करना पडता था, किन्तु विविध दीप्ति उपकरण—तीव्र प्रकाश, लघु तीव्र प्रकाश, बिन्दु प्रकाश, आलोकचित्र-प्रक्षेपक, मदक (डिमर) आदि बम्बई, मद्रास तथा दिल्ली में बनने लगे हैं और वे अपेक्षाकृत कम और सस्ते मूल्य पर उपलब्ध हैं। ध्वनि-उपकरणो में स्टूडियो माइक, लाउडस्पीकर, टेप रिकार्डर अथवा विभिन्न ध्वनि-रेकार्ड भी अब स्पर्धात्मक मूल्य पर सहज उपलब्ध हैं। अत इनकी उपलब्धि मे व्यावहारिक कठिनाई एकमात्र धन की है, स्वयं उपकरणो की प्राप्ति की नही।

आधुनिक रग-शिल्प मे दीप्ति-एवं-ध्वनि उपकरणों की अनिवार्यता एक कठोर सत्य है, जिसके बिना किसी भी प्रयोग को उसके सही और यथार्थ परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत नही किया जा सकता। अधिकाश नाट्य-संस्थाएँ आधुनिक रग-शिल्प की इस चुनौती को, उसके इस कठोर सत्य को स्वीकार कर चुकी हैं, और वे सदैव इन उपकरणों की उपलब्धि के लिये लालायित रहती हैं। इस लालसा की पूर्ति के लिए सस्थाओ को धन की व्यवस्था स्वय करनी चाहिये, किन्तु जो सस्थाएँ इसकी व्यवस्था नही कर सकती, उनके लिये कम ब्याज और आसान किश्तों पर राष्ट्रीयकृत बैंकों से ऋण उपलब्ध *किया जाना चाहिए, जिसे वापस करना संस्था के सभी सदस्यो का* सयुक्त दायित्व होना चाहिए। ऋण न चुकने तक सभी उपकरण बैंक के पास बंधक रहेगे। यदि बैंको के ऋण-विधान मे यह व्यवस्था न हो, तो राष्ट्रीय सरकार द्वारा इसका प्रावधान भी किया जाना चाहिए।

(ग) निर्देशकों का अभाव : आज की कुछ चोटी की मंडलियो या नाट्य-सस्थाओ को छोड़ कर अधिकांश के पास कुशल एव प्रशिक्षित निर्देशको तथा कलाकारो का अभाव है।[1] केवल नाट्य-प्रेम, शौक, रेडियो *या फिल्मी अनुकरण* अथवा उपस्थापन के पाश्चात्य सिद्धान्तों के अधकचरे अध्ययन को ही निर्देशक या नट की *योग्यता या अर्हता मान लिया जाता है और जहाँ उनका नाम पोस्टर,* हैंडबिल या किसी समाचार-पत्र के *विज्ञापन मे छपा कि वे निर्देशक या रग-कलाकार बन जाते हैं। इस प्रकार के स्वयभू निर्देशको आदि* के हाथों में हिन्दी-रगमच की आत्मा तडप कर रह जाती है। भारतीय अभिनय-पद्धति एव उपस्थापन के सिद्धान्तो का कोई ज्ञान न होने के कारण उनकी कला अपरिपक्व एवं अपूर्ण रह जाती है। इन स्वयभू निर्देशको को यह जानना

चाहिए कि भरत ने सूत्रधार (निर्देशक) उसे माना है, जो शिष्ट जनो से शिक्षा पाकर गीत, वाद्य और पाठ (गायन) को एकत्व मे लाने के सूत्रो (सिद्धान्तो) को जानता हो और आचार्य (नाट्याचार्य) बनने के लिये उसके लिये यह आवश्यक है कि ताल-स्वर-वाद्य के ज्ञान के अतिरिक्त धर्मनीति, राजनीति, अर्थशास्त्र, ज्योतिष और नक्षत्र-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, भूगोल आदि सभी शास्त्रो, गति एव संचरण, रस और भाव का भी ज्ञान उसे हो। इसके अतिरिक्त उसे समस्त कलाओ, शिल्प, काव्यशास्त्र, नाटकोपस्थापन, गणिकाओ की रीति-नीति का ज्ञाता भी होना चाहिए। आज के कुछ निर्देशक इतने से ही सतुष्ट नही होते और शीघ्र ही अपने को 'प्रोड्यूसर' (उपस्थापक) कहने लग जाते हैं। भरत ने नाट्य-प्रयोक्ता (उपस्थापक) के लिये यह आवश्यक बताया है कि वह सम (गान और नृत्य के मध्य विविध कलाओं और अगचेष्टाओ का समन्वय), अग-माधुर्य, पाठ्य (वस्तु और संवाद), प्रकृति (पात्र-ज्ञान एवं भूमिका-वितरण), रस, गान, वाद्य, वस्त्र और नेपथ्य (रूप-सज्जा आदि) का पूरा ज्ञाता हो। इन गुणो या कम से कम इनमें से कुछ गुणो के बिना कोई भी निर्देशक सफल उपस्थापक नही बन सकता। भरत द्वारा प्रयोक्ता के लिये निर्धारित मानदड चिरतन हैं, जो आज के परिप्रेक्ष्य मे भी उतने ही सत्य हैं, जितने वे आज से लगभग सत्तरह सौ वर्ष पूर्व थे। इन गुणो का विकास सतत् जिज्ञासा, अध्ययन एव अभ्यास द्वारा ही संभव है।

निर्देशक रगमच की त्रिमूर्ति का एक महत्त्वपूर्ण देवता है, जिसके शिक्षण की ओर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये। चतुर्विध अभिनय, मनोविज्ञान और अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति, रग-भाषण एव मौन के महत्त्व का ज्ञान और सतुलन, आज के वैज्ञानिक युग में विकासशील मच तथा रग-शिल्प का परिचय, अभ्यास तथा उसके सविवेक प्रयोग की क्षमता, उपयुक्त नाटक का चयन और उसकी प्रयोग-क्षमता, सभी का उसे पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसकी दृष्टि पश्चिम की रगोपलब्धियो की ओर रहे तो, किन्तु उनका सम्मिश्रण इतना ही हो कि वे अपने देश की धरती से दूर न जा पड़ें। उनकी रग-कला, नाटक की व्याख्या और प्रत्यक्षीकरण सभी पर भारतीयता की छाप हो। ऐसा न हो कि कोई विदेशी उसकी कृति को भारतीय मानने से ही इन्कार कर दे। वह रगमच का नाविक है, कुतुबनुमा उसके हाथ मे है, अत. रंगमच को वाछित दिशा की ओर ले जाना उसका ही काम है। हिन्दी रगमच को ऐसे कुशल नाविक-निर्देशक की बहुत बडी आवश्यकता है। हिन्दी के पास कुछ अच्छे और कुशल निर्देशक हैं अवश्य, किन्तु उनमे से अधिकांश दिग्भ्रात हैं। प्रयोग के नाम पर वे पश्चिम के अनेक वादो एव अभिनय-पद्धतियो के अधानुकरण मे व्यस्त हैं। समर्थ नाट्य-समीक्षक उनके दिग्भ्रम की ओर सकेत कर उन्हें सही दिशा-निर्देश दे सकते है।

(घ) रग कलाकारों, विशेषकर स्त्री-कलाकारों का अभाव : रग-कलाकार (नट) की अर्हताएँ निर्धारित करते हुए भरत ने कहा है कि उसमें बुद्धि, शक्ति, शारीरिक सौन्दर्य (सुरूपत्व), ताल, लय, रस और भाव का ज्ञान, ज्ञान एव कला की उपलब्धि एव धारण, मौखिक सगीत एव नृत्य की अभिज्ञता, रग-भय का अभाव, उत्साह और उत्सुकता हो और वह उपयुक्त आयु का हो। यह निश्चित है कि इन अर्हताओ को प्राप्त करने के लिये कलाकारो को सतत् अभ्यास, अध्ययन और अध्यवसाय करना आवश्यक है।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के क्षेत्रो मे भी निर्देशन, उपस्थापन तथा अभिनय की शिक्षा के लिये विद्यालय, सस्थान या शिविर चलाये जाते हैं, जहाँ निर्देशक, उपस्थापक या कलाकार बनने की आकाक्षा रखने वाले प्रशिक्षण प्राप्त कर लाभ उठा सकते हैं। जो इतना समय नही दे सकते, वे किसी नाट्य-सस्था से सबद्ध होकर पूर्वाभ्यास द्वारा अनुभव प्राप्त कर दक्षता प्राप्त कर सकते हैं। प्रशिक्षित तथा अनुभवी कलाकार ही अपनी भूमिका के प्रति न्याय कर सकता है।

कलाकार की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रशिक्षित तथा अनुभवी होने के अतिरिक्त रगमच के प्रति निष्ठावान भी हो। रगमच को किसी ऊँची उछाल या अन्य उद्देश्य के लिये केवल 'लाचिग पैड'

बनाने वाले कलाकार की निष्ठा संदेहास्पद होगी । यों हिन्दी अथवा किसी अन्य भाषा के रंग-जगत में कलाकारों का अभाव नहीं है, परन्तु उपर्युक्त सर्वगुण-संपन्न कलाकारों का सर्वत्र व्यापक अभाव है । भारतेन्दु, माधव शुक्ल, मिस कज्जन, प्रेमशंकर 'नरसी' और ओम शिवपुरी, गिरीशचन्द्र घोष, शिशिर भादुड़ी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अहीन्द्र चौधरी, शंभु मित्र और उत्पल दत्त, बाल गंधर्व, गणपतराय भागवत, नाना साहब फाटक तथा ज्योत्सना भोले, कासमभाई मीर, सोराबजी केरेवाला, जयशंकर 'सुन्दरी' और दीना गाँधी जैसे नैष्ठिक एवं 'मिशनरी' कलाकार किसी भी भाषा में थोड़े ही होते हैं ।

जैसे-तैसे कर पुरुष-कलाकार तो मिल ही जाते हैं, किन्तु निष्ठावान रंग-अभिनेत्रियों का अभाव एक खटकने वाली वस्तु रहा है । हिन्दी-क्षेत्रों में अबसे लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व तक अभिनय-कला के प्रति कुछ शिक्षित परिवारों को छोड़ अन्यत्र हेय भावना एवं विरक्ति का भाव व्याप्त था, जिसमें हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच को, नये दिशाबोध, नये आयामों के साथ अग्रसर होने में, अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । प्रारम्भ में बंगाली, मुसलमान, ईसाई तथा पंजाबी युवतियों ने इस दिशा में नेतृत्व प्रदान किया । आकाशवाणी से संबंधित स्त्री-कलाकार भी मंच पर उतरीं और फिर तो संकोच, लज्जा और हीनता, घृणा तथा उपेक्षा के संकीर्ण दायरे एक के बाद एक टूटने लगे । आज हिन्दी-क्षेत्र में सभ्रांत घरों की शिक्षित युवतियाँ तथा महिलाएँ मंचावतरण को गर्व एवं गौरव का चिन्ह तथा आय का एक अच्छा स्रोत मानने लगी हैं और अब स्त्री-कलाकारों का अभाव हिन्दी-रंगमंच के लिये कोई समस्या नहीं रह गया है । आज किसी भी हिन्दी-नाटक का आरंगण ऐसा नहीं होता, जिसमें दो से लेकर पाँच तक स्त्री-कलाकारों का योगदान न हो । प्रायः सभी नाट्य-संस्थाओं के पास अपनी स्त्री-कलाकार होती हैं, जिनमें से कुछ का अभिनय प्राय: उच्च स्तर का होता है ।

हिन्दी के अव्यावसायिक कलाकारों की निष्ठा में वृद्धि तथा उनके बिखराव को रंगमंचीय अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में संगठित करने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें स्थायी रंगशालाएँ तथा उनसे संलग्न व्यावसायिक नाट्य-संस्थाएँ दी जायँ । कोई भी राष्ट्र कितना सुसंस्कृत है, यह उसकी रंगशालाओं की देशव्यापी शृंखला तथा देशवासियों के मनोरंजन के स्तर से आँका जा सकता है । अतः देश की राष्ट्रीय सरकार को अपेक्षाकृत अधिक सजग और कर्मठ होकर राष्ट्रीय रंगशालाओं की शृंखला का विस्तार करना चाहिए ।

(ड) अनुशासन एवं नैतिकता का अभाव : कलाकारों में परस्पर ईर्ष्या, राग-द्वेष, अहम् के प्राधान्य, अनियमितता, पूर्वाभ्यास की उपेक्षा, समयाभाव आदि के बहाने आदि के कारण नाट्य-संस्था का न केवल अनुशासन टूटता है, कभी-कभी संस्था के कार्यक्रम भी भंग हो जाते हैं और उसके टूटने की नौबत आ जाती है । व्यावसायिक मंडली में अव्यावसायिक संस्था की अपेक्षा अधिक अनुशासन रहता है, क्योंकि वेतनभोगी कलाकार को इनमें से किसी भी एक या अधिक त्रुटि के लिये कभी-कभी जीविका से ही हाथ धोना पड़ जाता है । अव्यावसायिक कलाकारों को अनुशासन की शिक्षा व्यावसायिक सहधर्मियों से लेनी चाहिये और अपने दल की सफलता के लिये अनुशासनबद्ध होकर कार्य करना चाहिये ।

दल की सुदृढ़ता के लिये नैतिकता या चरित्रबल की बड़ी भारी आवश्यकता है । कलाकार या निर्देशक को मद्य-पान, घुड़दौड़, जुआ आदि के व्यसन से बचना चाहिये । दल में स्त्रियों के संसर्ग से कभी-कभी नैतिक पतन, परस्पर प्रणय या विवाह के दृष्टांत भी देखने में आते हैं, किन्तु किसी भी दल की स्थिरता के लिये स्त्री-पुरुषों के बीच सम्बन्धों का पवित्र होना आवश्यक है । रंगमंच के प्रणय-व्यापार को वहीं तक सीमित रखना चाहिये और सम्बन्धों के स्खलन द्वारा कोई नैतिक संकट नहीं उत्पन्न होने देना चाहिये । नवोदित दल के लिये तो इस नियम का पालन अत्यंत आवश्यक है ।

अनुशासन और नैतिकता के अभाव में किसी भी संस्था का अधिक दिन तक चलना संभव नहीं है ।

(च) रंग-नाटकों की अनुपलब्धता : यदि किसी संस्था या मंडली के पास धन, संगठन, निर्देशन, अभिनय आदि की कोई समस्या नहीं है, फिर भी उसे यदि कोई रंगोपयोगी नाटक न मिले, तो उसकी समस्त शक्ति अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम न पाकर अधूरी ही रह जायगी। प्रायः यह कहते सुना जाता है कि नाटक यदि कमजोर भी हो, तो निर्देशन द्वारा उसे सफल बनाया जा सकता है, किन्तु निर्देशन का अर्थ है—लेखक द्वारा बनाई गई सीमा के भीतर नाटक की व्याख्या, तो या तो वह ऐसा उस सीमा के बाहर जाकर कर सकता है अथवा उसकी गलत अथवा अतिरंजित व्याख्या करके कर सकता है, अतः यह उक्ति सत्य के निकट न होकर भ्रान्तिमूलक है। उत्तम निर्देशन के लिये नाटक भी उत्तम होना चाहिए। उत्तम नाटक भले ही कम हो, किन्तु रंगोपयोगी नाटक बहुत हो सकते हैं। विशेष प्रकार के रंगमंच के लिये नाटकों की कमी अनुभूत हो सकती है, किन्तु यह तो रंगमंच की सीमा का ही द्योतक हुआ। सभी नाटक एक ही प्रकार के रंगमंच के लिये नहीं लिखे गये, अतः जैसा नाटक हो, उसके उपयुक्त रंगमंच की रचना अर्थात् रंग-सज्जा करनी चाहिये। इस संदर्भ में हम अपना मत षष्ठ अध्याय में पहले ही व्यक्त कर चुके हैं। यदि नाटक के चयन और उपस्थापन के समय इस दृष्टिबिंदु को ध्यान में रखा जाय, तो नाटकों की अनुपलब्धता या अभाव की शिकायत स्वतः दूर हो जायगी। यह रंगमंच की कोई बहिरंग समस्या नहीं, अपनी निज की एक अंतरंग समस्या है।

(छ) रंगशालाओं का अभाव : रंगशालाओं का अभाव भी रंगमंच की अपनी एक अंतरंग समस्या है, क्योंकि रंगशाला उसका प्रथम उपादान है। रंगशाला भले ही अस्थायी हो या स्थायी, उसके बिना रंगमंच की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। रंगशालाओं के अभाव से तात्पर्य आधुनिक रंग-सज्जा, रंगोपकरणों आदि से युक्त स्थायी रंगशालाओं के अभाव से है, क्योंकि अस्थायी रंगशालाओं का कभी अभाव नहीं रहता और उन्हें आवश्यकतानुसार तात्कालिक उपयोग के लिये बनाया या अनुरचित किया जा सकता है। अनेक विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों (इंस्टीट्यूट्स) के प्रेक्षागार अथवा स्थानीय निकायों, संस्थाओं एवं क्लबों के सभामंडप या सभागार भी रंगशाला नहीं हैं, क्योंकि न तो उनके मंच वांछित आकार-प्रकार के होते हैं और न उनमें यवनिका, पर्दनिका, रंगदीपन एवं ध्वनि-कक्षों, रूपसज्जाकक्षों, दृश्यबंधादि रखने के लिये तलगृह आदि की व्यवस्था रहती है। अनेक प्रेक्षागारों या सभागारों में प्रेक्षकों के लिये आवश्यक ढलान की व्यवस्था नहीं रहती और रंगमंच भी दृष्टि-रेखाओं (साइट लाइन्स) को ध्यान में रख कर नहीं बनाया जाता। आधुनिक रंगशाला की एक अन्य आवश्यकता-श्रुतिसिद्धता (एकास्टिक्स) को भी दृष्टि में नहीं रखा जाता। सामाजिकों की सुविधा के लिए रंगशाला का वातानुकूलित होना भी आवश्यक है। हमारे अध्ययन के भाषा-क्षेत्रों में वातानुकूलित रंगशालाओं में प्रमुख हैं : स्टार थियेटर (कलकत्ता), भारतीय विद्याभवन की रंगशाला (बम्बई), बिड़ला मातुश्री सभागार (बंबई), रवीन्द्र नाट्य मन्दिर (बम्बई), फाइन आर्ट्स थियेटर (नई दिल्ली), सप्रू हाउस (नई दिल्ली), मावलंकर भवन (नई दिल्ली), रवीन्द्रालय (लखनऊ), मर्चेन्ट्स चैम्बर प्रेक्षागार (कानपुर) आदि।

कहने के लिये हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं (बँगला, मराठी और गुजराती) की अपनी-अपनी रंगशालाएँ हैं और रवीन्द्र शती के सन्दर्भ में सन् १९६१ से ठाकुर रंगालयों (टैगोर थियेटर्स), रवीन्द्र नाट्य मन्दिरों या रवीन्द्रालयों के नाम से कुछ राष्ट्रीय रंगशालाएँ देश के कुछ नगरों, यथा बम्बई, अहमदाबाद, जयपुर, दिल्ली, चंडीगढ़, लखनऊ, पटना, कलकत्ता आदि में बनी हैं, किन्तु इनसे हिन्दी या किसी भी अन्य भाषा के रंगमंच की भूख नहीं मिट सकती। बंबई के भारतीय विद्याभवन रंगालय, बिड़ला मातुश्री सभागार (१९५८ ई०), भूलाभाई आडिटोरियम, डॉ० अमृतनारायण भालेराव नाट्य-गृह (१९६४ ई०) और रवीन्द्र नाट्य मंदिर (१९६४ ई०), जयपुर का रवीन्द्र-मंच, दिल्ली के फाइन आर्ट्स थियेटर (१९५४ ई०), सप्रू हाउस (१९५५ ई०), डिफेन्स पेविलियन (१९५८ ई०), रंगमंच, त्रिवेणी कला संगम (१९६३ ई०), टैगोर थियेटर (१९६७ ई०) और मावलंकर भवन

(१९६७ ई०), जबलपुर का शहीद भवन रंगालय (१९६१ ई०), लखनऊ का रवीन्द्रालय (१९६४ ई०), वाराणसी का मुरारीलाल मेहता प्रेक्षागृह (१९६८ ई०), पटना का रवीन्द्र भवन आदि सुन्दर रगालय हैं। इनमें त्रिवेणी कला सगम और टैगोर थियेटर मुक्ताकाश रगालय है, जिनमे क्रमश. २३० और ८००० सामाजिकों के बैठने का स्थान है। टैगोर थियेटर देश का सबसे बड़ा रंगालय हैं। प्राय: ये सभी रंगशालाएँ कलकत्ता, बंबई, दिल्ली, लखनऊ, जयपुर, पटना आदि जैसे नगरों मे ही केन्द्रित हैं और अन्य नगरो मे सुसज्जित रगशालाओ का घोर अभाव है। दूसरी ओर रगशालाएँ, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र की रगशालाएँ 'सीजन' मे या शनिवार-रविवार को तो 'बुक' हो जाती हैं, किन्तु वर्ष मे अधिकाश दिनो खाली पड़ी रहती हैं। इस विसगति में एक कटु सत्य छिपा है और वह है ऐसी नाट्य-सस्थाओ का अभाव, जो नियमित रूप से इन रगालयो का उपयोग कर नाट्य-प्रदर्शन कर सकें। अतः जब तक नाट्य-सस्थाओ को व्यावसायिक आधार न प्राप्त हो अथवा हिन्दी-क्षेत्र के सामाजिको का संरक्षण न प्राप्त हो, रंगालयों के अभाव को दूर नही किया जा सकता। यदि कुछ और रगालय बन भी जायें, तो उपर्युक्त स्थिति में उनका व्यावसायिक एव लाभप्रद उपयोग सभव न हो सकेगा। फिर भी प्रयोग के रूप मे प्रत्येक प्रमुख नगर मे एक राष्ट्रीय रगशाला का होना आवश्यक है। इसी प्रकार प्रत्येक ग्राम पचायत मे वहाँ के साधनों के अनुरूप एक खुली या बद रगशाला की व्यवस्था होनी चाहिये।

रगशाला के प्रश्न से सबंधित एक आनुषगिक समस्या है—वर्तमान रगालयो का ऊँचा किराया। अनेक प्रयोक्ताओ ने इस समस्या की गंभीरता पर विचार करते हुए शोधकर्ता के समक्ष यह सुझाव रखा कि सगीत नाटक अकादमी या सरकार का कोई अन्य अभिकर्ता (एजेन्सी) प्रत्येक प्रयोग के समय उसके किराये के बराबर या कम से कम उसका आधा धन वित्तीय सहायता के रूप मे दे। अकादमी सुस्थापित एव निबधित सस्थाओं को प्रयोग (उपस्थापन) के लिये वित्तीय सहायता देती है। इस सहायता की राशि मे रंगालय के किराये की राशि भी जोड़ी जा सकती है। इस प्रकार की सहायता उस समय तक आवश्यक है, जब तक वह सस्था आत्मनिर्भर न बन जाय। इस सहायता का एक दूसरा रूप भी हो सकता है और वह यह है कि रंगालय सहायता-प्राप्त किराये (सब्सिडाइज्ड रेंट) पर उपलब्ध कराया जाय या उसका किराया नाममात्र का या प्रतीक रूप मे रखा जाय, जो प्रत्येक सस्था की पहुँच के भीतर हो, किन्तु यह तभी संभव है, जब देश में राष्ट्रीय रंगशालाओ का जाल बिछ जाय। सरकार रवीन्द्र शताब्दी के समानान्तर प्रसाद शताब्दी (१९८८ ई०) या हिन्दी नाट्य सपाद शताब्दी महोत्सव (१९९३ ई०) या भारतेन्दु की १५०वीं जयन्ती (२००० ई०) या इसी प्रकार के अन्य कार्यक्रमों को अपना कर राष्ट्रीय रंगशालाओं की स्थापना का महान कार्य सम्पन्न कर रगमंच की चिर-अपूर्ण आकांक्षा की पूर्ति कर सकती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उत्तर प्रदेश की सगीत नाटक अकादमी उन नाट्य-संस्थाओं के लिये स्वयं व्यय वहन कर स्थानीय रवीन्द्रालय उपलब्ध करा देती है, जो उसके तत्वावधान में अपने नाटक प्रदर्शित करना चाहती हैं अथवा अकादमी के आमत्रण पर लखनऊ आकर नाटक प्रदर्शित करती हैं। इससे नाट्य-सस्थाओं की एक बहुत बड़ी समस्या का समाधान हो जाता है। केन्द्रीय अथवा अन्य राज्यो की संगीत नाटक अकादमियाँ अपने-अपने नगरो या क्षेत्रो मे इस प्रकार की व्यवस्था कर रगमच-आन्दोलन को गति प्रदान कर सकती हैं।

(ज) प्रचार माध्यमो की उपेक्षा एवं दुर्लभता : प्रचार माध्यमों की उपेक्षा और दुर्लभता एक जटिल समस्या है। इस प्रश्न का संबध एक ओर वित्तोपलब्धता से है, तो दूसरी ओर समाचार-पत्रों की रगमच के प्रति-सामान्य उपेक्षा' और विज्ञापन की बढ़ती हुई दरों, मुद्रण, परिकल्पन (डिज़ाईनिंग) तथा चित्रण (पेंटिंग) के उत्तरोत्तर वर्द्धनशील व्यय से है। प्रत्येक नाट्य-सस्था अपने उपस्थापन-व्यय का एक-तिहाई या इससे अधिक अंश प्रचार-कार्य पर व्यय करती है, जिसमे हैंडबिल, पोस्टर, बैनर, स्मारिका (सोवनीर) या कार्यक्रम का प्रकाशन, विज्ञापन आदि सम्मिलित हैं, किन्तु इतने के बावजूद किसी समाचार-पत्र द्वारा उक्त संस्था के कार्यक्रम अथवा

प्रयोग-सम्बन्धी समाचारो के साथ उसके द्वारा लिखी गई उत्साहवर्द्धक समीक्षा का मूल्य प्रचार की दृष्टि से कहीं अधिक है । हिन्दी के अधिकाश समाचार-पत्र अपनी अनुदारता, अदूरदर्शिता और कठोर विज्ञापन-नीति के कारण नाट्य-सस्था को उचित प्रोत्साहन नही देते, फलत न तो किसी प्रयोग के सम्बन्ध मे जनमत तैयार हो पाता है और न सामाजिक-वर्ग । इसके विपरीत किस फिल्म-अभिनेत्री को कौन-सा साबुन, फेस-पाउडर या लिपस्टिक प्रिय है, इसका प्रकाशन वे अधिक मोटी सुर्खियो के साथ और रस लेकर करते हैं । बँगला, मराठी और गुजराती के पत्रों मे रंगमंच की समीक्षा के लिये प्राय नियमित स्तम्भ रहते हैं और वे अपनी भाषा के रगमंच के पुरस्करण में गौरव का अनुभव करते हैं । हिमाचल थियेटर्स, शिमला के सुदर्शन गौड के अनुसार 'हिन्दी के पत्र' भी यदि चाहें, तो 'हिन्दी रगमच के विकास-प्रयत्नो को आन्दोलन का रूप देने मे महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं' ।[१] 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (नई दिल्ली), 'दिनमान' (नई दिल्ली), 'नटरग' (नई दिल्ली), 'धर्मयुग' (बम्बई), दैनिक 'नवजीवन' (लखनऊ), 'रगभारती' (लखनऊ), दैनिक 'नवभारत टाइम्स' (नई दिल्ली) आदि का इस दिशा मे योगदान स्पृहणीय है । 'नटरग' तो पूर्णत. नाट्य-विषयक त्रैमासिक पत्रिका है, जिसमे नाट्य-सम्बन्धी लेखो, नाटको आदि के अतिरिक्त 'नाट्य-वृत्त' स्तम्भ के अन्तर्गत हिन्दी तथा देश की अन्य भाषाओं के आरगित नाटको का समीक्षात्मक विवरण प्रकाशित किया जाता है । गत कुछ वर्षों से 'नवजीवन' के साप्ताहिक परिशिष्टाक में 'हिन्दी रगमच' स्तम्भ के अन्तर्गत नियमित रूप से नाट्य-समीक्षाएँ प्रकाशित की जाती हैं । 'रगभारती' (अगस्त, १९७३) भी 'नटरग' की भाँति समग्र नाट्य-पत्रिका (मासिक) है, जो भारतेन्दु रगमच अध्ययन एवं अनुसधान केन्द्र, कानपुर/लखनऊ द्वारा प्रकाशित की जा रही है ।

इसके अतिरिक्त लोक-नाट्य तथा अन्य लोक-कलाओ के प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में उदयपुर के 'रगायन' (मासिक) तथा 'लोक-कला' (अर्द्धवार्षिक) की सेवाएँ अविस्मरणीय हैं । लोकनाट्य और रंगमंच की मिली-जुली पत्रिका है–'रगयोग' (त्रैमासिक), जिसका प्रकाशन राजस्थान सगीत नाटक अकादमी, जोधपुर द्वारा नियमित रूप से किया जा रहा है । अँग्रेजी मे नाट्य-विषयक कुछ पत्रिकाएँ निकल रही हैं, जिनमे उल्लेखनीय हैं–संगीत नाटक अकादमी, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'सगीत नाटक' (त्रैमासिक) तथा राजिन्दर पाल द्वारा सपादित 'इनैक्ट' (मासिक, दिल्ली) । इन पत्रिकाओ के अतिरिक्त भारतीय नाट्य सघ द्वारा प्रकाशित 'नाट्य' (त्रैमासिक, दिल्ली) का भी रगमच-आन्दोलन के सवर्धन मे यथेष्ट योगदान रहा है ।

(ड) मनोरजन कर : रगमच के विकास मे सबसे बडी बाधा है मनोरजन कर, जो प्रयोक्ता की सबसे बडी समस्या है । अनेक राज्यो मे प्रयोग के पूर्व ही, रगालय की सीटो को दृष्टि मे रखकर, पूरा मनोरजन कर चुका देना पडता है । मडलियो या सस्थाओ की आय का एक बहुत बडा अश मनोरजन कर मे चला जाता है । पृथ्वी थियेटर्स अपने कुल व्यय का लगभग एक-चौथाई भाग मनोरजन कर मे दिया करता था । देशी नाटक समाज (गुजराती) को सन् १९५० मे लगभग ७५००० रु० और १९५१ मे ८० हजार रुपये मनोरजन कर के रूप मे देने पडे थे ।[२] कर-मुक्ति आन्दोलन और शासकीय संरक्षण के फलस्वरूप अब बबई, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश (सन् १९७० ई०) और मद्रास मे नाटक पर से मनोरजन कर उठा लिया गया है, किन्तु अन्यत्र यह ज्यो का त्यो बना हुआ है । यह प्रयोक्ता के अतिरिक्त सामाजिक को भी खलता है और उन क्षेत्रो के लिये तो यह एक अभिशाप है, जहाँ किसी प्रयोग की सफलता-असफलता पर प्रयोगकर्त्री सस्था का भविष्य निर्भर है । भारतीय जन-नाट्य सघ ने इस कर-मुक्ति के आन्दोलन को अपने नव-नाट्य आन्दोलन के अग-रूप मे चलाया था, किन्तु इस सस्था के ह्रास के उपरान्त आज कर-मुक्ति आन्दोलन का पुरस्कर्ता ही कोई नही रहा, जो खेद का विषय है । शासन यदि वास्तव मे रगमच का सरक्षक बनना चाहता है, तो उसे मनोरजन कर यथाशीघ्र समाप्त करना होगा । इस दिशा मे बबई, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि की राज्य सरकारो के दृष्टान्त अनुकरणीय हैं ।

(ञ) यातायात की समस्या : दौरा करने वाली मंडलियो अथवा नाट्य-समारोहों या प्रतियोगिताओ मे भाग लेने वाली नाट्य-संस्थाओं को यातायात या ऊँचे रेल-भाड़े की समस्या का सामना करना पड़ता है। नाट्य-दल या कलाकारों एवं शिल्पियों को ले जाने ले-आने के अतिरिक्त दृश्यबंध के फ्लैटों, रंगोपकरणों आदि को भी ले जाना आवश्यक होता है, किन्तु इस कार्य के लिये जहाँ व्यावसायिक मंडली को रेल-भाडे मे रियायत प्राप्त है, वहाँ अव्यावसायिक संस्था को यह सुविधा उपलब्ध नही हुआ करती थी। रेल प्रशासन को अव्यावसायिक संस्थाओं को भी समानता के आधार पर आवश्यक रियायत देनी चाहिए, जिससे रंगमंच के प्रचार-प्रसार और देश की सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता के संवर्द्धन मे सहायता मिले। इधर गत कुछ वर्षों से अब प्रतियोगी अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओ को रेल-भाड़े की रियायत अवश्य प्राप्त होने लगी है।

(ट) सामाजिकों का अभाव : रंगमंच की, विशेषकर हिन्दी रंगमंच की अन्तिम और सबसे कठिन समस्या है—सामाजिको के संरक्षण का अभाव। इस समस्या के मूल कारणो पर पाँचवें अध्याय मे प्रकाश डाला जा चुका है, अतः यहाँ इतना ही कहना अलम होगा कि लोकतंत्र मे रंगमंच को वास्तविक संरक्षण सरकार से नही, सामाजिक-वर्ग से प्राप्त होता है। उसी के संरक्षण पर हिन्दी या दूसरी भाषाओं के रंगमंच का भविष्य निर्भर है। हिन्दी को अन्य भाषाओ के सामाजिको की भाँति आज यदि अपने सामाजिको का संरक्षण प्राप्त हो जाय, तो हिन्दी रंगमंच की अधिकांश समस्याएँ स्वत हल हो सकती हैं, क्योंकि सभी समस्याओ का सम्बन्ध मूलतः धनोपलब्धता से है, जो सामाजिको के आश्रय के बिना संभव नही है। हिन्दी रंग-मंच के कायाकल्प का एक ही मंत्र है—निरंतर प्रयोग, निरन्तर सामाजिक। रंगमंच-रूपी यज्ञ मे प्रयोक्ता द्वारा सामाजिक का और सामाजिक द्वारा प्रयोक्ता का परस्पर भावन आवश्यक है। प्रयोक्ता सामाजिक को पूरा मनोरंजन दे और उसके मन-प्राणों को उत्फुल्ल करे और सामाजिक बदले में टिकट खरीद कर प्रयोक्ता के उत्साह को बढाये। इसी मे रंगमंच का उत्कर्ष निहित है।

हिन्दी के शौकिया रंगमंच पर और विशेषकर शासकीय अथवा अर्धशासकीय नाट्य-समारोहो मे एक ऐसी दुष्प्रवृत्ति विकसित हो रही है, जो रंगमंच के विकास के लिये घातक है। यह दुष्प्रवृत्ति है—बिना किसी प्रकार का प्रवेश-शुल्क, टिकट या दान लिये सामाजिको को आमंत्रण या 'पास' देना। इससे दो प्रकार की हानियाँ होती हैं—एक तो प्रदर्शन की महत्ता घटती है और दूसरे अनेक आमंत्रित सामाजिक नही आते अथवा अपने बच्चों या मित्रो को भेज कर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। इसमे सबसे बड़ी हानि यह होती है कि सामाजिक निःशुल्क नाटक देखने का अभ्यस्त हो जाता है और टिकट से नाटक खेलने वालों का टिकटघर ('बाक्स आफिस') घाटे मे चला जाता है। टिकट-शुल्क के आर्थिक बन्धन से मुक्त सामाजिको के पर्याप्त मात्रा में और समय से न आने पर कलाकारों और उपस्थापकों का उत्साह भंग हो जाता है। कभी-कभी इसके विपरीत यह होता है कि प्रसिद्ध संस्थाओ के नाटक देखने के लिये आमंत्रित सामाजिक अपने इष्ट मित्रों के साथ तो आकर भीतर जम जाते हैं, किन्तु अन्य रंग-प्रेमी सामाजिक बाहर खड़े रहकर निराश हो वापस लौट जाते हैं। सामाजिकों का एक ऐसा वर्ग, जो टिकट लेकर भी अच्छे नाटक देखना पसन्द करेंगे, नाटक देखने से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि प्रेक्षागार मे प्रवेश केवल वे ही पा सकते हैं, जो उक्त संस्था या शासन-तंत्र के निकट हैं या उसके संपर्क मे हैं अथवा किसी प्रकार अपने प्रभाव का उपयोग कर निमंत्रण-पत्र या 'पास' प्राप्त कर सकते हैं।

अभी कुछ समय पूर्व हैदराबाद की एक नवोदित नाट्य-संस्था लखनऊ आई थी, जिसका नाटक सामान्य स्तर का होते हुए भी हास्य और व्यंग्य से परिपूर्ण था। फलतः दस दिन तक यहाँ के सामाजिको ने पाँच तथा दस रुपये तक की टिकट खरीद कर उस नाटक को देखा था। भले ही यह उनकी सुरुचि का परिचायक न हो, किन्तु इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि सामाजिक के पास पैसे का अभाव नही है, अभाव है उस विशद कल्पना का,

जो शौकिया सस्थाओ या नाट्य-समारोहो के आयोजको के पास नही होती। नाटक मे कुछ कहने को होगा और कला, मनोरजन और शिल्प या चमत्कार की पूरी सामग्री भी होगी, तो कोई कारण नहीं है कि चलचित्रो की एकरसता और घिसे-पिटे फार्मूला' आख्यानो से ऊबा हुआ सामाजिक टिकट लेकर नाटक न देखे। अभाव सामाजिको का भी नही है, क्योकि यथेष्ट प्रचार के अभाव मे वह नाटक की ओर कैसे अग्रसर हो सकता है। अधिकाश रगशालाओ (या नाट्य-सस्थाओ) के एक-दिवसीय प्रदर्शन उस चचल दामिनी-से होते हैं, जो क्षण भर के लिये कौध कर अन्धकार मे विलीन हो जाते हैं। सामाजिक किसी नाटक के सम्बन्ध मे अपनी, अथवा किसी नाट्य-समीक्षक के विचारो के आधार पर, कोई सम्मति बनाये कि उस समय तक वह सस्था नगर छोड चुकी होती है और यदि कोई स्थानीय सस्था होती है, तो वह अपना प्रदर्शन बन्द कर चुकी रहती है। किसी भी हिन्दी नाटक की पुन-पुन आवृत्ति या पुनरावृत्ति कम होती है, अत- वह अपने सामाजिको का निर्माण नहीं कर पाता। यह हिन्दी रगमच का दुर्भाग्य है। किसी भी नाटक के सशुल्क प्रयोग तीन, चार या पाँच से कम नही किये जाने चाहिए और उन्हें चर्चा का विषय बना कर लोकप्रिय बनाने के लिये प्रत्येक दैनिक समाचार-पत्र को चाहिये कि वह प्रयोग होते ही उसका समाचार उसी रात को अपने स्थानीय स्तभ मे दे दे और फिर दूसरे या तीसरे दिन उसकी विस्तृत समीक्षा, अपने कला या नाट्य-समीक्षक मे लिखवा कर, छापे। प्राय. सभी रंगप्रेमी सामाजिक दैनिक पत्रो के रगमच-सम्बन्धी स्तम्भो मे नाटको की सतुलित समीक्षाएँ बड़े चाव से पढते हैं। सामाजिको के निर्माण और रगमच के विकास मे दैनिक पत्रो को अपनी इस दायित्वपूर्ण भूमिका का सजगता से निर्वाह करना चाहिए।

(२) रंगमंच की बहुमुखी अनुप्रेरणाएँ

रगमच की यद्यपि अपनी अनेक समस्याएँ हैं, फिर भी उसके विकास का मार्ग प्रशस्त है। विकास के लिये उसकी अपनी अन्तरग शक्ति और संबल तो बढ ही रहा है, बहिरंग अनुप्रेरणाओ के अनेक नवीन स्रोत भी उसके समक्ष खुल गये हैं, जिनमे प्रमुख हैं :

(क) नाट्य-लेखन, उपस्थापन तथा अभिनय की शिक्षा,
(ख) नाटककारों को प्रोत्साहन,
(ग) नाट्य-समारोह एव प्रतियोगिताएँ,
(घ) स्वस्थ आलोचना और अभिनिर्णय,
(ङ) सम्मेलन, गोष्ठियाँ, परिचर्चाएँ एवं वार्तामाला तथा
(च) रगशालाओ की स्थापना।

(क) नाट्यलेखन, उपस्थापन तथा अभिनय की शिक्षा : अभी तक रगमंच के त्रिमूर्ति-नाटककार, उपस्थापक या निर्देशक तथा अभिनेता अपने को स्वयभूदेवता मानते थे और यह मानते थे कि जिस कला-कृति का सृजन वे करते हैं, उसके लिए किसी पूर्व-शिक्षण की आवश्यकता नही है, किन्तु अब यह अवधारणा बदल चुकी है और त्रिमूर्ति का प्रशिक्षण आवश्यक समझा जाने लगा है। अमेरिका में इस प्रकार के प्रशिक्षण की नीव सन् १९०७ मे जार्ज पियर्स बेकर ने डाली थी। प्रारंभिक विरोध के बावजूद इस समय वहाँ सहस्रो स्त्री-पुरुष प्रशिक्षित होकर रंगमंच के माध्यम से अपना जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। लगभग दो दशक पूर्व सन् १९५६ मे बेकर की प्रशिक्षण सस्था ने अपनी स्वर्ण जयन्ती मनाई थी।" अमेरिका की भाँति रूस, इग्लैंड आदि देश भी इस दिशा में सचेष्ट हैं। भारत मे इस विचार को सगीत नाटक अकादमी की स्थापना (जनवरी, १९५३ ई०) के बाद संबल प्राप्त हुआ, क्योकि उसके प्रमुख कार्यो मे नाट्यकला (अभिनय-सहित), रगशिल्प और नाटकोपस्थापन की शिक्षा देने वाली सस्थाओ की स्थापना को प्रोत्साहन देना सम्मिलित था। इसी वर्ष बड़ौदा के भारतीय सगीत महाविद्यालय

में नृत्य और नाट्य विभाग जोड़े गये और इस प्रकार जून, १९५३ में वर्तमान भारतीय संगीत-नृत्य-नाट्य महाविद्यालय अस्तित्व में आया। भारत का यह प्रथम नियमित नाट्य विद्यालय है। इसके अतिरिक्त रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कलकत्ता तथा आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर में भी नाटकाभिनय, निर्देशन आदि की विधिवत् शिक्षा दी जाती है।

हिन्दी-क्षेत्र में सर्वप्रथम जनवरी, १९५८ में प्रयाग के नाट्य केन्द्र के अन्तर्गत नाट्य-प्रशिक्षण के लिये 'स्कूल आफ ड्रामेटिक आर्ट' की स्थापना हुई। इस विद्यालय का प्रथम सत्र अगस्त, १९५८ से अप्रैल, १९५९ तक चला। इसमें नियमित रूप से दो वर्ष के पाठ्यक्रम की व्यवस्था थी। प्रत्येक वर्ष २० स्त्री-पुरुषों को प्रवेश दिया जाता था। प्रवेश-शुल्क २ रु० और मासिक शुल्क १ रु० प्रतिमाह था। छात्रों को व्यावहारिक शिक्षा सी० एम० पी० डिग्री कालेज के मच पर दी जाती थी। नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल इस विद्यालय के संचालक रहे हैं। इस विद्यालय (शिक्षण केन्द्र) के पाठ्यक्रम के विषय रहे हैं—भारतीय और पाश्चात्य रंगमंच की मूल प्रकृति और इतिहास रंगमच का सगठन तथा उसके विविध पक्ष, रंगमच और मंच में अन्तर, अर्थबोध, कार्यक्षेत्र और मर्यादाएँ, मच और प्रेक्षागार, मच का भूगोल, अभिनय-क्षेत्र, प्रवेश और प्रस्थान, नाट्य-सम्प्रेषणीयता के बौद्धिक, भावात्मक तथा सौन्दर्यबोधात्मक मूल्य, सम्प्रेषणीयता के तात्त्विक एव व्यावहारिक पक्ष, अभिनय तथा मच-संचालन। नाट्यकेन्द्र के इस शिक्षण केन्द्र को सगीत नाटक अकादमी की मान्यता प्राप्त रही है।

इस दिशा में दूसरा महत्त्वपूर्ण केन्द्र था—राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय एवं एशियाई नाट्य-संस्थान, जिसके सम्बन्ध में पाँचवें अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है।

दिल्ली में नाट्य-प्रशिक्षण सम्बन्धी एक अन्य नाट्य-सस्था नाट्य अकादमी भी है, जिसकी स्थापना दिल्ली नाट्यसघ ने सन् १९६० में की थी।" श्रीमती जोहरा सहगल इसकी आचार्य (प्रिन्सिपल) रही हैं। इस अकादमी का प्रारम्भ दो छात्रों से हुआ, किन्तु शीघ्र ही छात्रों की संख्या ४७ तक पहुँच गई। सन् १९६१ में ६० छात्रों ने शिक्षा प्राप्त की। अकादमी का पाठ्यक्रम एक वर्ष का है, जिसमें रगमंच से सम्बन्धित प्रायः सभी विषय सम्मिलित हैं। छात्रों को उपस्थापन, रंग-भाषण (डिलीवरी आफ स्पीच), मच पर गति-प्रचार एवं कार्य-व्यापार (ऐक्शन) की पूरी शिक्षा दी जाती है। उन्हें भारतीय और पश्चिमी रगमच का ऐतिहासिक ज्ञान भी कराया जाता है। कक्षा सप्ताह में तीन बार लगती है और एक 'नाट्य फोरम' अर्थात् नाट्य-विषयक परिचर्चा का आयोजन भी किया जाता है। समय-समय पर विशेषज्ञों के व्याख्यानों आदि की भी व्यवस्था रहती है।

छात्रों से १० रु० मासिक लिया जाता है और कालेज के विद्यार्थियों से केवल ५ रु० मासिक। सफल छात्रों को अकादमी द्वारा प्रमाण-पत्र दिये जाते हैं।

नाट्य-कला, अभिनय, नाटकोपस्थापन और रंगशिल्प के प्रशिक्षण के लिये उपर्युक्त विद्यालयों या संस्थानों की व्यवस्था इस दिशा में शुभारम्भ का लक्षण है, परन्तु प्रशिक्षण तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक उसके अन्तर्गत नाट्यलेखन की शिक्षा भी न दी जाय। नाटककार नाट्य-संसार की विभूति का एक महत्त्वपूर्ण देवता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस देवता की शक्तियों के समुचित विकास एवं प्रतिफलन के लिये यह आवश्यक है कि उसे भी आधुनिक मंच की आवश्यकताओं और माँगों से तथा उपस्थापन और अभिनय के मूल सिद्धांतों से पूर्णतः परिचित कराया जाय, जिससे उसके नाटक 'श्रव्य' (पाठ्य इसमें निहित है) कोटि के न रह कर सही माने में 'दृश्य' बन सकें। इस प्रकार के शिक्षण-संस्थानों को चाहिए कि वे अपने पाठ्यक्रमों में नाटक-लेखन की शिक्षा को भी सम्मिलित कर लें। आंध्र विश्वविद्यालय में अन्य विषयों के साथ नाटक-लेखन की भी शिक्षा दी जाती है। देश के प्रत्येक बड़े नगर में इस प्रकार के शिक्षण-संस्थान, विद्यालय या महाविद्यालय खोले जाने

चाहिये, जहां आधुनिक रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुकूल प्रशिक्षित नाटककार, उपस्थापक एवं अभिनेता तैयार किये जा सकें।

इन संस्थानों में विशेष अध्ययन एवं शोधकार्य के लिये साथ में एक सुसम्पन्न पुस्तकालय एवं वाचनालय भी होना चाहिये। पुस्तकालय में नाट्यशास्त्र, रंगमंच और नाट्यसाहित्य के इतिहास, अभिनयकला, रूप-सज्जा, रंगशिल्प, नाट्य-लेखन आदि से सम्बन्धित समस्त उपलब्ध साहित्य संग्रहीत होना चाहिये तथा वाचनालय में नाट्य, नाटक और रंगमंच से सम्बन्धित पत्र-पत्रिकाएँ नियमित रूप से मँगाई जानी चाहिये। छात्र एवं शोधकर्ता इनसे पूरा लाभ उठा सकते हैं। दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिये संगीत नाटक अकादमी का पुस्तकालय उपलब्ध है। इस शिक्षण के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ उसके व्यावहारिक पक्ष की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक महाविद्यालय, विश्वविद्यालय या संस्थान के साथ एक आधुनिक रंगशाला भी सबद्ध हो, जिससे छात्र प्रशिक्षण के मध्य न केवल व्यावहारिक अभिनय देख सकें, वरन् स्वयं प्रशिक्षण के मध्य अथवा अन्त में नाटक-लेखन, अभिनय और मंच-सज्जा के विविध कार्यों में अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार भाग ले सकें।

प्रशिक्षण को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिये छात्रों को देश-विदेश की रंगशालाओं और उनमें होने वाले अभिनय की पद्धतियों, कला एवं शिल्प का ज्ञान कराने के लिये अध्ययन-भ्रमण पर भी ले जाना चाहिए। इस कार्य के लिये सरकार द्वारा वित्तीय सहायता भी दी जानी चाहिये और संबंधित संस्थान एवं प्रत्येक छात्र को स्वयं भी यथाशक्ति उसमें योगदान देना चाहिये।

संग्रहालय भी व्यावहारिक प्रशिक्षण का बहुत बड़ा साधन होता है। संगीत नाटक अकादमी ने इसी दृष्टि से नृत्य, नाटक और संगीत के क्रमिक विकास को लेकर एक संग्रहालय की स्थापना की है, जिसका उल्लेख पाँचवें अध्याय में किया जा चुका है। इस प्रकार के संग्रहालय की स्थापना दिल्ली के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य की राजधानी में की जानी चाहिये।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के सर्वांगपूर्ण प्रशिक्षण से त्रिमूर्ति का मानस-क्षितिज न केवल आलोकित एवं उद्बुद्ध हुआ है, निकट भविष्य में नाटक, उपस्थापन और अभिनय के क्षेत्र में प्रौढ़ कृतियों के सृजन की संभावनाएँ भी बढ़ गई हैं।

(ख) नाटककारों को प्रोत्साहन - नाट्याभिनयों, नाट्य-समारोहों अथवा पुरस्कारों की प्राप्ति से नाटककारों को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु यह प्रोत्साहन कुछ विरले ही भाग्यशाली नाटककारों को उपलब्ध हो पाता है। हिन्दी का औसत नाटककार तो इस सौभाग्य से वंचित ही रह जाता है। इसका कारण यह है कि अधिकांश नाटककारों की कृतियाँ अव्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं की आर्थिक और रंगमंचीय परिसीमाओं, अभिनेय नाटकों एवं नाटककारों से निर्देशक की अनभिज्ञता, कभी-कभी नाटककार-निर्देशक के अहम्, उपेक्षा आदि के कारण सामाजिकों के समक्ष नहीं आने पातीं, अतः स्वान्तः सुखाय अथवा पाठ्यक्रमों के लिये लिखने वाले नाटककारों का उत्साह धीरे-धीरे ठंडा पड़ जाता है और उनके नाटकों के प्राण संकुचित हो जाते हैं। जिन नाटककारों को अपने नाटकों के अभिनय देखने अथवा प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त भी होता है, उन्हें हिन्दी की नाट्य-संस्थाओं द्वारा कोई 'रायल्टी' नहीं दी जाती।

मार्च-अप्रैल, १९६१ में दिल्ली के भारतीय नाट्य संघ द्वारा नाटककारों और उपस्थापकों की एक त्रिदिवसीय गोष्ठी आयोजित की गई थी। इस गोष्ठी ने एकमत से इस बात पर जोर दिया कि व्यावसायिक अथवा अव्यावसायिक, दोनों प्रकार के रंगमंच-परिचालकों को चाहिए कि वे कापीराइट कानून का सम्मान कर जिन लेखकों की कृतियाँ मंच पर उतारें, उन्हें शुल्क और रायल्टी दें।" इस गोष्ठी में यह तय पाया गया कि

भारतीय नाट्य संघ एक समिति नियुक्त करे, जो नाटको के 'कापीराइट' शुल्क और 'रायल्टी' के कानूनी और अन्य पहलुओं का विस्तृत अध्ययन करे।[१]

यदि नाटककारो को अपने अभिनीत नाटको के लिये शुल्क या 'रायल्टी' मिलने लगे, तो सहज ही नाटक-लेखन उनके लिये एक आकर्षण का विषय बना रहेगा। इंग्लैण्ड में लेखकों को बिना 'रायल्टी' दिये कोई नाटक नही खेला जाता। महाराष्ट्र और गुजरात मे भी यही परपरा है। हिन्दी के कुछ नाटककारों को भी यह सौभाग्य प्राप्त होने लगा है, किन्तु अधिकांश नाटककार नाट्य-सस्थाओ की अकिंचनता या धीगा-मुस्ती के कारण इस अधिकार से वंचित रह जाते हैं। इसके लिये उन्हें सगठित होकर नाट्य-सस्थाओं से यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि वे उनके नाटक बिना 'रायल्टी' दिये नही खेल सकती। कुछ नाटककार अपनी पुस्तको मे अब इस प्रकार का प्रतिबंध लगा देते हैं। रंगमंच के विकास और लोकरजन मे नाटककार का भी बहुत बडा हाथ है और उसे इसके लिये यथेष्ट पारिश्रमिक दिया जाना चाहिये।

नाटककारो के उत्साह को ढीला कर देने के लिये प्रकाशक भी कम उत्तरदायी नही है। वह केवल उन्ही नाटको को प्रकाशित करना चाहता है, जिन्हें वह सरलता से पाठ्यक्रमो मे लगा कर यथेष्ट धनोपार्जन कर सके। अभिनेय और अन्य प्रकार से उत्तम नाटकों के प्रकाशन मे अनेक प्रकाशको की कोई रुचि नही होती। ऐसी दशा मे नाटककारो को प्रोत्साहन देने के दो उपाय हैं—एक तो जो सस्थाएँ जिन अप्रकाशित नाटको का अभिनय करें, वे उनके प्रकाशन का भी प्रबध करें, और दूसरे, सरकार की ओर से नाटकों के प्रकाशन के लिये उचित आर्थिक सहायता की व्यवस्था की जाय। प्राय सभी नाट्य-सस्थाएँ आर्थिक दृष्टि से इतनी संपन्न नही होती कि नाटको का अभिनय करके उनका प्रकाशन भी कर सकें, परन्तु देखा जाय, तो कुछ थोडे से अधिक व्यय से यह कार्य भी संपन्न किया जा सकता है। प्राय. अधिकाश सुस्थापित नाट्य-सस्थाएँ नाटक खेलने के अवसर पर कोई न कोई स्मृति-पुस्तिका या स्मारिका अवश्य निकालती हैं। वे इसकी जगह अभिनीत नाटक को प्रकाशित कर धन और पुण्य दोनों की भागी बन सकती हैं। जो व्यय उसके प्रकाशन पर वे करेंगी, वह उन्हें बेंच कर वसूल कर सकती है। मराठी मे नाट्याभिनय के साथ नाट्य-प्रकाशन की भी परपरा है। पुस्तक रूप में नाटक को प्रकाशित कर नाटककार को उचित रायल्टी दी जानी चाहिये।

इसके अतिरिक्त नाटककारों को उनके अभिनीत और/अथवा प्रकाशित उत्तम नाटकों पर सरकार और नाट्य-सस्थाओ द्वारा पुरस्कार दिये जाने चाहिये। संगीत नाटक अकादमी द्वारा नाटक-लेखन पर पुरस्कार दिये जाते हैं। १५ अक्टूबर, १९६१ को भारत सरकार ने 'एकता के लिये भारत की उत्कंठा' विषय पर भारत की प्रत्येक भाषा मे सर्वोत्तम नाटक लिखने वाले नाटककारों को 'उपयुक्त पुरस्कार' देने की घोषणा की थी।[१] भारत सरकार ने निबंधित (रजिस्टर्ड) नाट्य-संस्थाओं को भी नए नाटक खेलने के लिये प्रत्येक को ७५००) रु० की वित्तीय सहायता देने का निश्चय किया है।[१] इससे भी नए नाटककारो को प्रकारातर से प्रोत्साहन मिलेगा। उत्तर प्रदेश सरकार ने नाटककारों को प्रोत्साहित करने के लिए १८ नवम्बर, १९६१ को २५००) रु० के 'प्रसाद पुरस्कार' की घोषणा की थी।[१] उ० प्र० सगीत नाटक अकादमी ने भी मौलिक नाट्य-लेखन पर भारतेन्दु पुरस्कार देना प्रारम्भ कर दिया है।

नाट्य-संस्थाओ मे कलकत्ते की अनामिका सन् १९५६ से प्रत्येक वर्ष हिन्दी के सर्वोत्तम नाटकों पर १०००) रु० के पुरस्कार देती रही है। अन्य नाट्य-सस्थाएँ अनामिका द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण कर सकती हैं।

नाटककारो को उचित प्रोत्साहन देकर रग-नाटकों की कथित कमी दूर की जा सकती है।

(ग) नाट्य समारोह एवं प्रतियोगिताएं : नाटककार के साथ रंगमंच की त्रिमूर्ति के अन्य देवताओ-उपस्थापको या निर्देशको तथा अभिनेताओ के प्रोत्साहन और उनकी कला, क्षमता और प्रतिभा के विकास के लिये समय-समय पर होने वाले नाट्य-समारोहो और प्रतियोगिताओ का महत्त्व स्वयसिद्ध है। केन्द्र, राज्य और सस्था के स्तर पर होने वाले एकभाषीय अथवा बहुभाषीय नाट्य-समारोहो एव प्रतियोगिताओ का विस्तृत उल्लेख पाँचवें अध्याय मे यथास्थान किया जा चुका है। इस प्रकार के आयोजनो मे सर्वश्रेष्ठ नाटक, उपस्थापन, निर्देशन, अभिनय एव रंग-शिल्प पर पुरस्कार और/या प्रमाणपत्र दिये जाते हैं, जिससे त्रिमूर्ति न केवल सतोष और गौरव का अनुभव करती है, अगले वर्ष और अच्छा प्रदर्शन प्रस्तुत करने की भावना लेकर वापस लौटती है।

नाटक और रगमंच के क्षेत्र मे यह स्पर्धा कहाँ तक श्रेयस्कर है? प्रायः देखने मे आता है कि अनेक प्रतिष्ठित नाटककार एव सुस्थापित नाटक मडलियाँ या संस्थाएँ प्रतियोगिताओ मे भाग लेना पसद नही करती। उन्हें अपनी प्रतिष्ठा या स्थान से च्युत होने का भय बना रहता है, और इस भय या पराजय की सम्भावना से वे इस प्रतियोगिता के विरोधी बन बैठते हैं, किन्तु स्वस्थ प्रतियोगिताओ मे अभिनिर्णायको के समक्ष आने मे उन्हें सकोच नही करना चाहिये। अभिनिर्णायक की कसौटी उनके लिये एक चुनौती है, जिसे स्वीकार कर प्रत्येक बड़े नाटककार, मडली या सस्था को अपने जीवत होने का परिचय देना चाहिये। प्रतियोगिता-विहीन रगमच निष्क्रिय होकर कभी आगे नही बढ सकता। स्पर्धा की भावना से मुक्त नाट्य-समारोह रगमच का 'शो केस' है, किन्तु प्रतियोगिता है एक से एक बढ कर सामने आने वाली गर्ल-मॉडेलों की प्राणवन्त प्रदर्शिनी। यह हमारे विवेक पर निर्भर है कि आने वाले युग मे हम इन दोनो मे से किसे चुनेंगे? 'शो केस' रगमच की समाधि और चलती-फिरती प्रदर्शिनी उसकी उष्ण श्वास है।

(घ) स्वस्थ आलोचना और अभिनिर्णय : रंगमच के स्वस्थ विकास के लिये यह आवश्यक है कि उसके गुण-दोषो, अर्हताओ और विशेषताओ का नीर-क्षीर विवेचन किया जाय, परन्तु सामान्यत होता यह है कि नाट्यालोचक (ड्रामा-क्रिटिक) प्राय इतना कह कर कि अमुक नाटक बहुत सफल रहा, अमुक के निर्देशन ने कमजोर नाटक को सजीव बना दिया और अमुक-अमुक अभिनेताओ या अभिनेत्रियो का अभिनय बहुत सराहनीय रहा, प्रयोग की अभ्यर्थना या स्तवन करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं अथवा दो-चार खरी-खोटी सुना कर नाटक की असफलता की डुग्गी पीटने लगते हैं। अधिकाश नाट्यालोचक नगर के सवाददाता या कला के ककहरे को न जानने वाले कला-प्रतिनिधि होते हैं, जो सर्वज्ञता की विरदावली के साथ सर्वत्र आमंत्रित किये जाते हैं। प्रारम्भ के कुछ दृश्य अथवा अधिक से अधिक पहला अक देख कर, प्रेस लौटने की जल्दी मे ये कला-समीक्षक निर्देशक अथवा सस्था के अध्यक्ष या प्रचार मत्री के अनुरोध की रक्षा के लिये किसी प्रकार पाँच-चार पक्तियाँ लिख देना ही पर्याप्त समझते हैं। इस प्रकार की समीक्षा से सस्था के अधिकारियो को कोई बल नही मिलता और न इससे सामाजिको को ही रगमच की ओर आकृष्ट होने की प्रेरणा मिलती है। वस्तुतः अधिकाश नाट्यालोचक 'प्रायः रगमच के साधारण ज्ञान से भी शून्य होते हैं, अतः उनकी आलोचना अवास्तविक और नाटक के मूल्याकन की दृष्टि से सर्वथा अनुपयोगी' होती है।[१८] वास्तविक और अनुभवी नाट्यालोचकों के अभाव मे स्वस्थ आलोचना की आशा भी कैसे की जा सकती है?

पिछले कुछ वर्षों मे नाट्यालोचको का एक ऐसा वर्ग विकसित हुआ है, जो किसी-न-किसी नाट्य-संस्था या मडली से निर्देशक या कलाकार के रूप मे सबद्ध है। वे रगमच के प्रति सवेदनशील होते हैं, किन्तु प्रायः अपने निजी राग-द्वेष से ऊपर नही उठ पाते। वे जब अपनी मडली की नाट्य-समीक्षा लिखते हैं, तो सपूर्ण अर्थवत्ता और शक्तिमत्ता उस मडली के नाटक एवं उसके निर्देशन-उपस्थापन मे आ जाती है और ऐसा बोध होता है कि यदि कोई नाट्य-प्रयोग हुआ है, तो वह यही है, न भूतो न भविष्यति। किन्तु जब अपने ही नगर की किसी अन्य सस्था

के प्रयोग के सम्बन्ध में उन्हें लिखना होगा, तो महज अपनी समीक्षा मे तटस्थ भाव से उल्लेख मात्र कर देंगे और यह उनका महत्तम अनुग्रह ही समझिये कि उस संस्था के नाम का 'ब्लैक आउट' उन्होंने नही कर दिया, किन्तु यदि वह संस्था कही उनकी मडली की विरोधी या प्रतिद्वन्द्विनी हुई, तो सात जन्म की कुंडली खोल कर उसके प्रयोग की खाल मे भूसा भरे बिना न छोड़ेगे। ऐसा ही कुछ अन्तर्विरोध दिल्ली मे तब देखने मे आया, जब वहाँ के कुछ निर्देशकों ने समाचार-पत्रो के संपादकों मे मिल कर यहाँ तक अनुरोध किया कि अमुक आलोचक को हटा दिया जाय। उनके मत से ऐसे नाट्यालोचक 'रगमच के विकास मे बाधक' हैं। इसमे दो मत नही हो सकते कि नकारात्मक आलोचना, जिसे 'संहारात्मक समीक्षा' भी कहा जा सकता है, किमी भी मंडली के स्वस्थ विकास अथवा रगमच आन्दोलन के संवर्धन में सहायक नही हो सकती। इसी के साथ यह भी मान लेना होगा कि केवल प्रशसात्मक अथवा तथाकथित प्रोत्साहन देने वाली आलोचना भी किसी प्रकार हितकर नही है, क्योकि इससे एक प्रकार का आत्मतोष पैदा होता है और यह आत्मतोष आगे विकास की सभावनाओ को अवरुद्ध कर देता है। निर्देशक या रंगकर्मी को ऐसी ही आलोचना मे ईमानदारी और समझदारी की झलक मिलती है, क्योकि वे दोष-दर्शन करने को प्रस्तुत नही रहते। दोषो की ओर सकेत करने वाली आलोचना से उनके कान खड़े हो जाते हैं और वे नाट्यालोचक को बुरा-भला कहने में भी नही चूकते।

नाट्यालोचको का एक तीसरा वर्ग भी है, जिसे पेशेवर या सिद्धान्तवादी समीक्षा कह सकते है। अपने अध्ययन, ज्ञान और अभ्यास के बल पर वे हर नाट्य-प्रयोग को अपने सिद्धातो, मानको अथवा मान्यताओ की कसौटी पर कसते हैं। यह कसौटी अत्याधुनिक भी हो सकती है और अति प्राचीन भी, जिसे कभी नवयुग की हवा ही न लगी हो। उनकी कसौटी पर, एक ओर यह संभावना है, कोई प्रयोग बावन तोले पाव रत्ती खरा ही न उतरे, तो दूसरी ओर यह भी सभावना है कि उनकी समीक्षा कोरी किताबी एव तथ्य से दूर बन कर ही रह जाय। नाटक और नाट्य-शास्त्र (पूर्वी या पश्चिमी या दोनो) का ज्ञान रगमच के व्यावहारिक ज्ञान से सर्वथा पृथक् है। अतः कुछ सीमा तक ऐसे नाट्यालोचको की उपेक्षा नही की जा सकती, जो किसी-न-किसी रूप मे रगमच या उसके किसी घटक से सम्बन्धित है। आवश्यकता इस बात की है कि वे आस्था एव व्यवसायात्मिका बुद्धि से, राग-द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठ कर, दूध का दूध और पानी का पानी कर दें। उनका प्रत्येक प्रयास ऐसा हो, जिसमे भारतीय रंगमच की आत्मा की खोज तथा उसके बाह्य रूप के संतुलित शृगार के लिये अथक तड़प अन्तर्निहित हो। वे रगमच को सही दिशा-निर्देश कर सकें, जिससे वह नैराश्य और किंकर्त्तव्यता के मरुस्थल मे दिग्भ्रांत होकर, भटक कर स्वत: नष्ट न हो जाय। वे जिन प्रश्नों को रखें, वे सार्थक हो और उनके उत्तरों को खोज भी सार्थक हो। रगमच को, उसके त्रिदेवो-नाटककार, निर्देशक और कलाकार को भी इन प्रश्नो पर गभीरता से विचार करना होगा। ये प्रश्न ऐसे होने चाहिए, जो अपनी धरती मे उपजें। रगमच ने यदि दूसरो की जूठन ही बटोरी और उसका अपना कोई स्वतंत्र दाय न हुआ, तो वह दिशा-निर्देश तो अर्थहीन होगा ही, भारतीय रगमच की सत्ता के लिये भी सकट उत्पन्न हो जायगा। रगमंच को ऐसे ही नाट्यालोचक चाहिए, जो उसको सही दिशा-बोध दे सकें।

रगमच की जडें जन-समाज मे गहरी होती जा रही हैं और प्राय: हर छोटे-बड़े नगर मे कोई-न-कोई नृत्य, नाटक आदि के आयोजन होते रहते हैं। दिल्ली, लखनऊ, पटना, कलकत्ता और विविध राज्यो की राजधानियो मे तो प्राय: इस प्रकार के प्रदर्शन होते ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में स्वस्थ एवं रचनात्मक नाट्यालोचन की ओर पत्र-पत्रिकाओ के मंच-एवं-सिने-समीक्षको का ध्यान जाना चाहिये। 'नवभारत टाइम्स' मे वररुचि तथा 'नवजीवन' मे डॉ० अज्ञात की नाट्यालोचनाएँ प्राय: नाटकों और अभिनय के संबंध मे स्वस्थ एव संतुलित होती रही हैं। संतुलित आलोचना के लिये भारतीय तथा पश्चिमी नाट्यशास्त्र के व्यापक अध्ययन, रंगमंच और

उसके शिल्प, नाटकोपस्थापन की सीमाओ आदि का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये। एक विद्वान के अनुसार नाट्यालोचन मे 'काव्य के दोनो आयामो' अर्थात् काव्य के शास्त्रीय मूल्याकन तथा उसमे निहित कार्य-व्यापारो, भावो आदि के 'उद्‌घाटन और मूल्याकन की माग' अपेक्षित हैं।[८] इग्लैंड मे नाट्यालोचको का एक अलग ही वर्ग है, जो 'क्रिटिक्स सर्किल' के नाम से सगठित है। इस 'सर्किल' के सदस्यो द्वारा की गई आलोचनाओ को सर्वत्र आदर के साथ देखा जाता है। स्वस्थ एव रचनात्मक आलोचना से रगमच को, विशेषकर अव्यावसायिक रगमच को प्रोत्साहन और बल मिलता है।

यही बात अभिनिर्णायक (एडजुडीकेटर) के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। उसका रगमंच और नाट्याभिनय के सम्बन्ध में ज्ञान विस्तृत होना चाहिये। अच्छा हो कि उसे रगमच के सभी आयामो-नाटक-लेखन, उपस्थापन और अभिनय का कुछ प्रत्यक्ष अनुभव भी हो, यद्यपि प्रतिभाशाली अभिनिर्णायक इसका अपवाद भी हो सकता है। उसकी वृद्धि न्यायपरक और दृष्टि तीव्र होनी चाहिये। पूर्वाग्रहो एव सिद्धान्त-पक्ष के दुराग्रहो से उसे मुक्त होना चाहिये। उसका दायित्व नाट्यालोचक से भी बडा है, क्योंकि आधुनिक रंगमच का विशेषकर अव्यावसायिक रगमंच का विकास उसकी सवेदनशीलता और निर्णय पर निर्भर है। उसे नाट्य-समारोहो या प्रतियोगिताओं मे अभिनीत होने वाले विविध नाटकों का एक सतुलित एव सहृदय आलोचक की भाँति तुलनात्मक मूल्याकन करना पडता है। इस मूल्याकन मे कठिनाई यह है कि न तो वह सत्य को उभार सकता है और न ही उसे दबा सकता है। 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' का अनुपालन उसके लिये आवश्यक है। इस कला मे उसे निपुण होना चाहिये, जो बिना व्यापक अनुभव और सूझ बूझ के सभव नही है। फिर भी उसका मत निर्णायक होना चाहिए और जो कुछ वह अपने निर्णय मे मौखिक या लिखित रूप से कहेगा, उसका औचित्य भी उसे साथ में देना होगा। यह आवश्यक नही कि सभी सामाजिक अभिनिर्णायक के मत से पूर्णत. सहमत ही हों, परन्तु यह आवश्यक है कि अभिनिर्णायक जो भी निर्णय दे, उसका तर्क सभी को माननीय हो।

आधुनिक नाट्यालोचक और अभिनिर्णायक से मिलता-जुलता और दोनो के कार्यों को सम्पन्न करते हुए, किन्तु अभिनिर्णायक के अधिक निकट एक व्यक्ति प्राश्निक (एसेसर) का उल्लेख नाट्यशास्त्र मे भी मिलता है। वह मच से लगभग १८ फुट की दूरी पर बैठ कर नाटक (जिसमे नाट्य-प्रयोग अर्थात् उपस्थापन भी सम्मिलित है) और पात्रो के गुण-दोषो को गणको (रेकनर्स) द्वारा लिखवाता था। इन दोषो मे दैवी घात (अर्थात् आँधी, अग्निकाड, वृष्टि, हस्तिभय. सर्पभय, विद्युत्-पात आदि), उत्पात (अर्थात् भूकप, उल्कापात आदि) और शत्रुघात (अर्थात् शत्रुओ अथवा शत्रुओ के अभिकर्ताओ द्वारा सर्वत्र चीख-पुकार, विस्फोटित (भनभनाहट), शोर करते हुए ताली बजाना (हूटिंग), गोबर मिट्टी के ढेले, पत्थर फेंकने आदि का उल्लेख नहीं करना चाहिये।[१०] भरत ने दस प्रकार के प्राश्निक बताये हैं। ये हैं : यज्ञविद्, नर्तक (नट), छन्दविद् (सिद्ध कवि), शब्दविद् (वैयाकरण), राजा, इष्वस्त्रविद् (धनुर्विद्या-विशेषज्ञ), चित्रविद् (पेंटर), वेश्या, गंधर्व (संगीतज्ञ) तथा राजसेवक।[११] इस सूची से ही प्राश्निक की अर्हता और गुणो का अनुमान लगाया जा सकता है। फिर भी दो या अधिक प्राश्निको में 'सघर्ष' (मतभेद या विवाद) होने पर स्वय शास्त्र (यहाँ नाट्यशास्त्र) को प्रमाण मानने का निर्देश दिया गया है।[१२]

प्राश्निक के लिये यह आवश्यक था कि वह केवल नाट्य-प्रयोग की सिद्धि-असिद्धि (सफलता-असफलता) मात्र का उल्लेख न कर उसके कारणो या आधार पर भी प्रकाश डाले। मोटे तौर पर सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं—मानुषी और दैविकी। मानुषी सिद्धि कुछ वाङ्‌मय एव शारीरी तत्त्वो पर आधारित है। वाङ्‌मय तत्त्व हैं—स्मित (हल्की मुस्कान), अर्धहास्य (मुस्कान), अतिहास्य (अट्टहास) साधु (साधुवाद देना), अहो ! (विस्मय प्रकट करना), कष्टम् (सवेदनशीलता) तथा प्रवृद्धनाद (जोरदार प्रशसा) तथा शारीरी तत्त्व हैं—सरोमाच पुलक, अभ्युत्थान (आसन या सीट से उछल पडना), चेलदान (वस्त्रादान) तथा अंगुलिक्षेप (अंगूठी देना)।[१३] दैविकी सिद्धि

सब होती है, जब प्रयोग में सत्व का अतिशय प्रदर्शन हो और भावों की अभिव्यक्ति बहुत स्पष्ट हो ।[४] दैविकी सिद्धि मंच पर पात्रों के सफल अभिनय पर आधारित है, जबकि मानुषी सिद्धि का सबंध सामाजिक की प्रतिक्रियाओं से है ।

असिद्धियाँ तीन प्रकार की कही गई हैं–मिश्र, सर्वगत (संपूर्ण) और एकदेशज (आंशिक) ।[५]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भरत के युग में प्राश्निक को वही स्थान प्राप्त था, जो आज नाट्यालोचक या अभिनिर्णायक को प्राप्त है । भरत की सर्वग्राही दृष्टि से प्राश्निक की यह महत्त्वपूर्ण भूमिका भी छिपी न रह सकी और उन्होंने पूरे विस्तार के साथ उसकी गरिमा और दायित्व का प्रतिपादन किया । बेताब युग में भी यह प्राश्निक अपने आंशिक दायित्व अर्थात् केवल दोषों को लिखने के कर्त्तव्य के साथ वर्तमान था । यह प्राश्निक की भाँति ही नाटक या पात्र के दोषों को अपने सहायक गणक ('मिस्टेक' नोट करने वाला कर्मचारी)[६] को लिखवाता रहता था । प्राश्निक का यह काम स्वयं 'स्टेज मैनेजर' (मंच-प्रबन्धक) किया करता था । 'मिस्टेक' नोट करने वाला कर्मचारी स्वयं भी 'मिस्टेक बुक' (त्रुटि-पुस्तिका) में पात्रों की गलतियाँ लिखा करता था, जो दूसरे दिन पूर्वाभ्यास के समय निर्देशक द्वारा ठीक करा दी जाती थी ।[७]

देश में नाट्य-समारोहों, अन्तर्विश्वविद्यालय या अन्तर्महाविद्यालय नाटक प्रतियोगिताओं, युवक समारोहों संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित नाट्य-प्रदर्शनों के कारण अभिनिर्णायक या प्राश्निक का महत्त्व अब बहुत अधिक बढ़ गया है । वास्तव में सही अभिनिर्णायक को खोज पाना बड़ा कठिन है, क्योंकि पर्याप्त शास्त्र-ज्ञान, सम-दृष्टि, निस्संगता, सहृदयता और दूसरों के कार्यों के प्रति संवेदनशीलता के बिना वह सही निर्णय नहीं कर सकता । इसके लिये इस वर्ग के लोगों के उचित प्रशिक्षण की बहुत आवश्यकता है ।

इंग्लैण्ड में इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिये सन् १९४६ में नाट्याभिनिर्णायक संघ (गिल्ड आफ ड्रामा एडजुडिकेटर्स) की स्थापना हुई थी और उसने अभिनिर्णय के स्तर को ऊँचा उठाने की दिशा में बड़ा स्पृहणीय कार्य किया है ।[८] इस संघ के सदस्य या तो सहायक सदस्य होते हैं या पूर्ण सदस्य । सहायक सदस्यों को अनुभव और अर्हता प्राप्त कर लेने पर पूर्ण सदस्य बना लिया जाता है । इस संघ को ब्रिटिश ड्रामा लीग, स्काटिश कम्युनिटी ड्रामा एसोसिएशन (एस० सी० डी० ए०) तथा अन्य नाट्य-संस्थाओं से मान्यता प्राप्त है ।

भारत में भी अभिनिर्णायकों के प्रशिक्षण की पृथक् व्यवस्था होनी चाहिये । संगीत नाटक अकादमी और राज्य की एकादमियाँ इस कार्य को अपने हाथ में लेकर अग्रणी का कार्य कर सकती हैं ।

(ड) सम्मेलन, गोष्ठियाँ, परिचर्चाएँ एवं वार्तामाला : चलचित्रों द्वारा लोकरंजन का कार्य एवं दायित्व ले लिये जाने के फलस्वरूप लोक-जीवन में रंगमंच का प्रभाव कुछ काल के लिये घटा, परन्तु देश के स्वतंत्र होने के बाद पुनः लोकरंजन के इस अद्वितीय साधन के पुनरुद्धार की ओर ध्यान गया । सामाजिक चलचित्रों को देख कर काफी प्रबुद्ध हो चला है और अब वह यह चाहता है कि रंगमंच पर वह वे सभी बातें, यथा सत्क्रिया दृश्यबंध रंग-दीप्ति, विशेषकर चित्रालोक के चमत्कार, ध्वनि-संकेत, स्वाभाविक अभिनय, नृत्य-गान, अश्रु हास आदि देखे, जो सहज ही उसे किसी भी चलचित्र में उपलब्ध हो जाते हैं । वह यह भी चाहता है कि वह जो भी नाटक देखे, वह उसके मनोलोक में तादात्म्य स्थापित करे और कहीं भी उसकी मानसिक कल्पना में प्रबंधक किसी कलाकार अथवा 'प्राम्प्टर' की असावधानी से कोई व्याघात न पहुँचे । वह यह भी चाहता है कि नाटक उसकी जेब की पहुँच के भीतर हो, परन्तु रंगमंच पर अनेक आधुनिक उपलब्धियों के प्रयोग के बावजूद कुछ-न-कुछ, कहीं-न-कहीं कोर-कसर रह जाती है । दूसरी ओर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मँहगाई और लोगों के गिरते हुए जीवन-स्तर के कारण हिन्दी-क्षेत्र की जनता नाटक की ऊँची टिकटें ले सकने में अपने को असमर्थ पाती है । आवश्यकता इस बात की है कि रंगमंच के सम्बन्ध में जो वस्तुस्थिति है, उसकी जो दुर्बलताएँ या उपलब्धियाँ हैं, उनसे सामाजिकों को

अवगत कराया जाय, जो रगमच के वास्तविक सरक्षक हैं। रग-आन्दोलन को झोपडी के कोने-कोने तक पहुँचाने के लिये समय-समय पर सम्मेलनो, विचार-गोष्ठियो (सेमिनार्स) या परिचर्चाओ (सिम्पोज़ियम्स) की आवश्यकता है।

इन सम्मेलनो, विचार-गोष्ठियो आदि का महत्त्व सामाजिको के शिक्षण अथवा लोकमत के जागरण तक ही सीमित नही है, वरन् विभिन्न प्रदेशो अथवा देशो की अभिनय-पद्धति, नाट्य-विषयक विचारों एवं मच के शिल्पिक ज्ञान के आदान-प्रदान मे भी इनसे प्रोत्साहन मिलता है। इनसे एक-दूसरे को कुछ सिखाने और दूसरो से कुछ सीखने का अवसर मिलता है और प्रादेशिक या आंचलिक कूपमडूकता दूर होती है। इससे रंगमंच के त्रिदेवो—नाटककार, उपस्थापक एव अभिनेता, तीनों को पारस्परिक लेन-देन से लाभ होता है और उन्हें अपनी-अपनी दुर्बलताओ को दूर करने का अवसर प्राप्त होता है। वे पुन शक्ति बटोर कर और तीव्र गति से प्रगति-पथ पर अग्रसर हो चलते हैं।

सगीत-नाटक अकादमी के कार्य-कलापो मे विविध प्रदेशो के नृत्य, नाटक एव सगीत-विषयक विचारों के आदान-प्रदान की व्यवस्था है। अप्रैल, १९६१ मे भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधियो का सास्कृतिक सम्मेलन नई दिल्ली मे हुआ था, जिसमे नृत्य, नाटक और सगीत के क्षेत्र मे विगत कुछ वर्षो मे हुई प्रगति पर विचार किया गया था। भारतीय रगमच और नाटको पर विचार के समय नटराज पृथ्वीराज कपूर ने यह मत व्यक्त किया कि 'हमे सदैव पश्चिम से ही उधार नही लेना चाहिये। हम नाटको के क्षेत्र मे भी दूसरो को बहुत-कुछ दे सकते हैं।' पश्चिमी रगमच के अत्यधिक मशीनीकरण के विरुद्ध भारत की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया है।

इन्ही दिनो दिल्ली के भारतीय नाट्य सघ द्वारा ३१ मार्च मे २ अप्रैल, १९६१ तक एक त्रिदिवसीय विचार-गोष्ठी आयोजित की गई थी, जिसमे समसामयिक नाट्य-लेखन तथा नाटकोपस्थापन के दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया था। गोष्ठी के कुछ निष्कर्ष या अनुशसाऐं अत्यन्त विचारोत्तेजक हैं। नाटककार और उपस्थापक के सम्बन्धो के प्रसग मे यह मत व्यक्त किया गया कि दोनो को एक-दूसरे के मूल तत्त्वो का अध्ययन करना चाहिये और यह अनुशसा की कि प्रत्येक नाट्य-दल मे कुछ सदस्य-नाटककार होने चाहिये, जो दल की आवश्यकताओ और परिसीमाओ, उपस्थापन की व्यावहारिक समस्याओ और रगमच की प्रकृति को समझ कर नाटक लिखें। रगमच के विकास मे मूल सस्कृत नाटको और उनके रूपातरो के उपस्थापन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया गया कि सस्कृत रगमच की परपरा और शिल्प से आधुनिक नाटककार एव उपस्थापक बडी स्फूर्ति ग्रहण कर सकते हैं। इसके विपरीत अभिव्यजना के नये मार्गो की खोज मे पश्चिम की शैली और शिल्प के अधानुकरण के खतरो के प्रति सचेत करते हुए यह अनुशसा की गई कि पश्चिमी नाटको और उनके उपस्थापनो के मूल्य और स्तर का विवेकपूर्ण मूल्याकन इस दृष्टि से किया जाना चाहिये कि भारतीय रगमच के विविध रूपो के साथ उनका कहाँ तक सामजस्य है और हमारे जीवन और युग की व्याख्या इन नये मार्गो एव शैलियो के द्वारा कहाँ तक की जा सकती है। उत्तम नाटको के अभाव के प्रश्न पर मतैक्य व्यक्त करते हुए गोष्ठी ने यह अनुशसा की कि प्रत्येक भाषा के सर्वश्रेष्ठ नाटको को चुन कर राजकीय सहायता से उनका प्रकाशन किया जाय। गोष्ठी ने सबसे अन्त मे रगमच के साथ नाटककार के योग की आवश्यकता को स्वीकार कर उसे प्रोत्साहन देने के लिये सभी मडलियो एवं नाट्य-सस्थाओ से यह आग्रह किया कि वे कापीराइट कानून का सम्मान कर प्रत्येक उपस्थापित नाटक का शुल्क और रायल्टी लेखक को दें, उसके नाम का प्रचार करें और अपने नाटको के उपस्थापन मे उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त करें।[१५] ये निष्कर्ष और अनुशसाएँ नाटक और रगमच के विकास के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार की विचार-गोष्ठियों के आयोजन कानपुर, कलकत्ता और प्रयाग मे सन् १९६२ मे १९६६ के बीच हो चुके हैं, जिनमे लोक-मन्च, अव्यावसायिक रगमच की समस्याओं एवं कठिनाइयों, नाटक और रंगमंच की परम्परा और प्रयोग, नाटककार और परिचालक की समस्याओं, प्रेक्षक और समीक्षक के प्रश्नों पर विचार-विनिमय हुआ । इस प्रकार की गोष्ठियो का स्तर यद्यपि सर्वत्र बहुत ऊँचा नही था, तथापि हिन्दी रंगमंच से सम्बन्धित अनेक ज्वलंत प्रश्नो और उनके विविध पक्षो पर कुछ विचार सामने आये । रंगकर्मियों एव नाट्य-मनीषियो को एक साथ बैठ कर अपनी समस्याओ, अपनी सीमाओं और उपलब्धियो का लेखा-जोखा लेने का एक सुअवसर मिला, जो रंगमच के नवोत्थान की माग की पूर्ति के लिए आवश्यक है ।

भारतीय नाट्य सघ, दिल्ली ने अभिनय, स्वर-साधना आदि के सोदाहरण प्रदर्शन के लिए एक वार्तामाला का सितम्बर, १९६१ मे आयोजन किया था । वार्ताकारो ने अपने विषय को स्पष्ट करने के लिए अभिनय, स्वर का आरोह-अवरोह, कार्य-व्यापार आदि का प्रदर्शन भी साथ मे किया ।" इस वार्तामाला की अन्तिम वार्ता थी— 'नृत्यनाटिकाओ का सगीत और गायक का स्वर ।' यह वार्ता श्रीमती शन्नो खुराना ने दी थी । उन्होने बताया कि स्वर का माधुर्य और विभिन्न भावो को साकार करने की क्षमता अपने मे एक विशेषता है । उन्होने वार्ता के अन्त में 'हीर-रांझा' की नायिका हीर का अभिनय-प्रस्तुत कर अपनी स्वर-साधना का परिचय भी दिया ।

इस प्रकार के सास्कृतिक सम्मेलन, गोष्ठियाँ, वार्ताएँ आदि दिल्ली मे प्रायः हुआ करती हैं, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि अन्यत्र भी इनके आयोजन हों, जिससे रंगमच के प्रति सामाजिको और सम्बन्धित त्रिमूर्ति की चेतना प्रबुद्ध हो ।

(च) रंगशालाओं की शृखला . बीसवी शती के चौथे दशक मे बोलपट के आविर्भाव और विकास ने इस तीव्रता और व्यापकता के साथ जन-मानस को आच्छादित किया कि अधिकाश परम्परागत पारसी-गुजराती, पारसी-हिन्दी, बगला और मराठी रगशालाएँ छविगृहो मे परिणत हो गयी, किन्तु बोलपट की इस चुनौती को स्वीकार कर बंगला और गुजराती को कुछ रगशालाएँ सिर ऊँचा किये हुये खडी रहीं । कलकत्ता के स्टार, मिनर्वा, रंगमहल और विश्वरूपा तथा बंबई का भांगवाडी थियेटर (जहाँ देशी नाटक समाज अवस्थित है) आज भी अपनी विजय-वैजयन्ती ऊँची फहरा रहे है । मिनर्वा के समतल रगमच पर 'अगार' मे कोयले की खान मे विस्फोट और जल-प्लावन तथा 'कल्लोल' (१९६५ ई०) मे युद्धपोत की 'कैबिन' और 'डेक' तथा युद्ध के दृश्य बड़ी सफलता के साथ दिखाये जा चुके हैं । विश्वरूपा के 'सेतु' नाटक में एक पूरी ट्रेन का गुजरना प्रदर्शित किया गया था । पारसी-हिन्दी रंगमच के अलौकिक चमत्कारो की अविश्वसनीयता का स्थान अब वैज्ञानिक रंगोपकरणो की सहायता से आधुनिक रगमच के लौकिक चमत्कारो की बुद्धिग्राह्यता एव तार्किक औचित्य ने ले लिया है । सामाजिक चलचित्रो के चमत्कारपूर्ण यथार्थ को रगमच पर देखना चाहता है और उसकी इसी माग की पूर्ति कर आधुनिक रंगमच ने बगाल मे असाधारण लोकप्रियता प्राप्त कर ली है । वहाँ सभी पुराने रगालय व्यावसायिक सफलता का वरण कर यह सिद्ध कर चुके हैं कि आज भी रंगशालाओ को व्यावसायिक आधार पर सफलता के साथ चलाया जा सकता है ।

गुजराती और हिन्दी मे भी व्यावसायिक रगालय क्रमश. बम्बई और कलकत्ते मे आठवें दशक के अन्त तक चलते रहे हैं । गुजराती के देशी नाटक समाज के उपस्थापनो मे आधुनिकता का प्रवेश तो हुआ है, किन्तु आज भी उसकी अभिनय-शैली पाँच दशक पुरानी है । हिन्दी मे मूनलाइट थियेटर के मच पर 'काश्मीर हमारा है' (१९६५ ई०) मे फिल्म की सहायता से नायक के पैराशूट से उतरने के बाद काश्मीर-युद्धक्षेत्र का मंचीय दृश्यबंध बड़े सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया था । शिल्प की दृष्टि से हिन्दी का व्यावसायिक रंगमच बंगला रगमंच की

स्पर्धा नही कर सकता, किन्तु मूनलाइट ने निरन्तर प्रयोग करके हिन्दी रंगमंच की व्यावसायिक संभावनाओ के द्वार उन्मुक्त कर दिये हैं।

प्रस्तुत अध्ययन की अवधि के अंतिम कुछ दशको मे बम्बई, नागपुर, दिल्ली, वाराणसी, जबलपुर, अहमदाबाद, लखनऊ, जयपुर, पटना आदि कई नगरों में समतलमचीय, परिक्रामी-मचीय अथवा मुक्ताकाश रंगशालाएँ बनी हैं। इनमे बम्बई के भारतीय विद्याभवन रंगालय, बिडला मातुश्री सभागार (१९५८ ई०) भूलाभाई आडिटोरियम, डॉ० अ० ना० भालेराव नाट्यगृह (१९६४ ई०), रंगभवन तथा रवीन्द्र नाट्य मदिर (१९६४ ई०), नागपुर का धनवटे रगमदिर (१९५८ ई०), दिल्ली के फाइन आर्ट्स थियेटर (१९५४ ई०), सप्रू हाउस (१९५५ ई०), डिफेन्स पेविलियन थियेटर (१९५८ ई०), टैगोर थियेटर तथा मावलकर भवन (१९६७ ई०), वाराणसी का मुरारीलाल मेहता प्रेक्षागृह (१९६८ ई०), जबलपुर का शहीद भवन रंगालय (१९६१ ई०), अहमदाबाद का टैगोर थियेटर, लखनऊ का रवीन्द्रालय (१९६४ ई०), जयपुर का रवीन्द्रमच, पटना का रवीन्द्र भवन, कलकत्ते के रवींद्र सदन, कला मदिर आदि प्रमुख हैं। इनमे से रगभवन, रवीन्द्र नाट्य मदिर, डिफेंस पेविलियन, टैगोर थियेटर, मावलंकर भवन, रवीन्द्रालय, रवीन्द्र मच, रवीन्द्र भवन तथा रवीन्द्र सदन को छोडकर शेष रगालय शैक्षिक, साहित्यिक, सास्कृतिक या राजनैतिक संस्थाओ अथवा कलानुरागी सपन्न व्यक्तियो द्वारा बनवाये गये हैं।

इनमे से इन पक्तियो के लेखक को अनेक रंगशालायें देखने का अवसर मिला है, जिनमे से कुछ का विवरण आधुनिक रगालय-स्थापत्य, रगदीपन-योजना आदि के अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी होगा।

बिड़ला मातुश्री सभागार : बिड़ला मातुश्री सभागार का निर्माण लगभग २३ लाख रु० के व्यय से बम्बई हास्पिटल ट्रस्ट ने किया है, जिसका उद्घाटन नवम्बर, १९५८ मे तत्कालीन केन्द्रीय गृहमन्त्री (अब स्व०) गोविन्द-वल्लभ पन्त ने किया था। इसके मंच की चौड़ाई-गहराई क्रमश. ४० फुट और ३० फुट है, किन्तु मुख्य रंगपीठ (अभिनय-क्षेत्र) का आकार ३० फुट × ३० फुट है। इसके मध्य भाग मे २८ फुट व्यास के परिक्रामी मंच की व्यवस्था है, जिसे आवश्यकता होने पर काम मे लाया जा सकता है। मंच के पृष्ठ भाग मे एक लोहे का सरकाने-योग्य द्वार है, जिसे खोल कर गुफा का दृश्य दिखाया जा सकता है। इसके पीछे नेपथ्य मे तीन शृंगार एवं रूप-सज्जा-कक्ष है। सभागार मे पादप्रकाश, शीर्षप्रकाश, तीव्रप्रकाश और प्रेक्षागार-प्रक्षिप्त प्रकाश (फ्रट आफ दि हाउस लाइट) की व्यवस्था है, किन्तु गगनिका नही है। रगालय वातानुकूलित है और इसके विशालकाय प्रेक्षागार मे ११६२ व्यक्तियो के बैठने का स्थान है। इसमें कोई 'बालकनी' नही है। सभागार का सामान्य किराया ६०० रु० प्रति रात्रि है, किन्तु शनिवार, रविवार तथा बैंक की छुट्टी के दिन इसका किराया ८०० रु० हो जाता है।

रवीन्द्र नाट्य मन्दिर . रवीन्द्र नाट्य मन्दिर रवीन्द्र शताब्दी समारोह (१९६१ ई०) के अन्तर्गत सभी राज्यो की राजधानियो मे रगशालाएँ बनाने की भारत सरकार की योजना के अन्तर्गत २०.७५ लाख रु० की लागत से बनाया गया है। इसके निर्माण मे भारत सरकार ने २.५० लाख रु० का योग दिया। प्रवेश द्वार पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रतिमा स्थापित है। मदिर के रगमच की चौडाई ५० फुट और गहराई ४० फुट है, किन्तु मुख्य अभिनय-क्षेत्र का आकार है : ४०फुट × ३० फुट। मंच का रगमुख (प्रॉसेनियम) ३९ फुट चौडा और २०फुट ऊँचा है। पृष्ठाश मे श्रुतिसिद्ध गगनिका है, जिस पर प्राकृतिक दृश्य, दीप्ति-प्रभाव, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि प्रदर्शित किये जा सकते हैं। आलोक दीप्ति-नियन्त्रण-कक्ष से भी फेंका जा सकता है। मच के लिए सभी प्रकार की आधुनिक रगदीप्ति और प्रेक्षागार के लिए छिपे ढग के प्रकाश की पृथक्-पृथक् व्यवस्था की गई है। नेपथ्य मे १२

डॉ. अमृतनारायण भालेराव नाट्यगृह का रेखाचित्र (भूमिखंड)

संकेत - चिन्ह
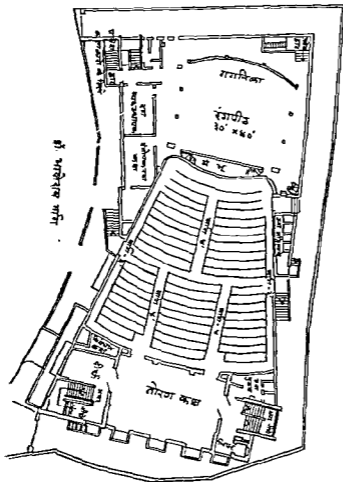
(चित्र सं. १८)

प्रतिरक्षा मंडप रंगालय (डिफेन्स पैविलियन थियेटर) का रेखाचित्र
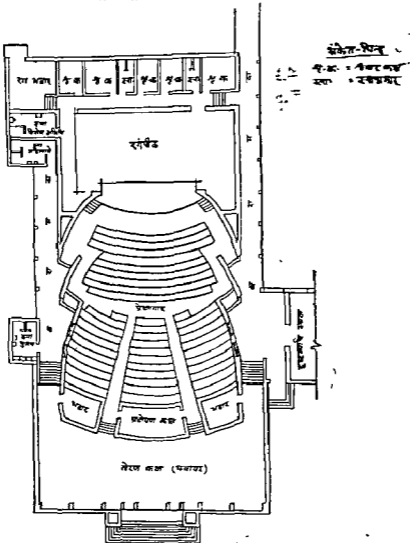
(चित्र स १८)

शृंगार-कक्ष हैं, जिनमें दो बड़े हैं, जिनमें भीड की वस्त्र एव रूप-सज्जा की जा सकती है। परिधान-कक्षो (वार्डरोब रूम्स), निर्माणी (वर्कशाप) आदि की भी सुन्दर व्यवस्था है। अभिनेताओ के विश्रामादि के लिए एक पृथक् कक्ष (ग्रीन रूम) भी है। मच मे तीन कुओं (ट्रैपो) की भी व्यवस्था है। आवश्यक होने पर परिक्रामी मच की स्थापना के लिए भी प्रबन्ध किया गया है। मचाग्र में वृन्दवादकों के लिए भूमितलस्थली (पिट) की भी व्यवस्था है। मंदिर के ढालू प्रेक्षागार मे सामाजिको के लिए ६४९ आसन (सीटें) नीचे और २७४ आसन ऊपर बालकनी मे हैं। इस प्रकार कुल मिला कर ९२३ आसन हैं। कुर्सियाँ 'पुश बैक' ढग की हैं। मच पर प्रयोग के लिए छ- और घोषणाओ आदि के लिए एक पृथक् माइक और लाउडस्पीकरो की व्यवस्था है। रंगमच पर स्वनियंत्रित तीन परदो के अतिरिक्त दो दृश्यांकित परदे और ६ ऊपर से गिरने वाले परदे भी हैं। मदिर भी बिड़ला मातुश्री की भांति वातानुकूलित है। रगालय की भीतरी दीवालें भारतीय शैली के चित्रों से सुसज्जित है।

इस रगशाला मे बाहर से आने वाले नाट्य-दलों के ठहरने की भी सुन्दर व्यवस्था है।

भालेराव नाट्यगृह : डॉ० अमृतनारायण भालेराव नाट्यगृह (देखें चित्र स० १७) मुंबई मराठी साहित्य सघ मन्दिर के चौमंजिले भवन के भूमिखण्ड में स्थित है। रगमच की चौडाई - गहराई ५१ फुट×५० फुट है, किन्तु वास्तविक अभिनय-क्षेत्र ४० फुट×३० फुट है। इस रगमच के नीचे १० फुट गहरा तलगृह है, जहा दृश्यबंध आदि के निर्माण एव रखने की व्यवस्था है। मच मे कई कुओ (ट्रैप्स) की भी व्यवस्था है। मच के पृष्ठ भाग में खण्डचन्द्राकार गगनिका और रंगमुख के लिए दो परदे हैं-एक ऊपर उठने वाला और दूसरा पार्श्व मे सरकने वाला। अर्धवृत्ताकार मंचाग्र (एप्रन) प्रेक्षागार की ओर ६ फुट निकला हुआ है, जिसके नीचे भूमितलस्थली (पिट) है। रंगमंच के एक ओर रग-व्यवस्थापक कक्ष के अतिरिक्त रंगोपकरण रखने के लिए भी एक कक्ष की व्यवस्था है। दाहिनी ओर के एक कक्ष मे मूल्यवान नाट्य-साहित्य सुरक्षित है। यह नाट्यगृह उत्तम दृष्टि रेखायुक्त एव श्रुतिगुण सम्पन्न है और इसके प्रेक्षागार मे नीचे ५५९ और बालकनी मे २७६ अर्थात् कुल मिलाकर ८३५ सामाजिको के बैठने के लिए आरामदायक कुर्सियो की व्यवस्था है।

साहित्य सघ मन्दिर के चौथे मंजिले में पूर्वाभ्यासादि के लिए एक पृथक् लघु मच भी है। रंगदीपन और ध्वनि-संकेतो के नियंत्रण के लिए प्रेक्षागार के पृष्ठभाग मे व्यवस्था है। सभी प्रकार के आधुनिक दीप्ति-उपकरणो से रंगमच और प्रेक्षागार सुसज्जित है। यह नाट्यगृह सस्थागत प्रयास का एक सुन्दर उदाहरण है।

धनवटे रंगमन्दिर : विदर्भ साहित्य सघ ने अपने प्रयास, पुरानी मध्य प्रदेश सरकार, नई बबई सरकार तथा रगानुरागी महानुभावों की उदार सहायता से धनवटे रगमदिर की स्थापना की। रंगमन्दिर के लिए श्रीमन्त दादासाहब धनवटे ने ५१००० रु० का दान सघ को दिया। इसका उद्घाटन बंबई राज्य के तत्कालीन मुख्यमन्त्री यशवन्त राव चह्वाण ने २९ नवम्बर, १९५८ को किया। उद्घाटन के अनन्तर रात्रि में नाटक खेला गया।

मंच की कुल गहराई ४५ फुट, चौडाई २६ फुट तथा मंचोपरि छत की ऊँचाई १७ फुट है। पृष्ठ भाग मे गगनिका है। मच के पार्श्व मे विशाल पार्श्वकक्ष (विंग्स) तथा नेपथ्यगृह (ग्रीन रूम) की व्यवस्था है। मंच पर बाहर से कार लाई जा सकती है, जिसके लिए उपयुक्त द्वार एवं मार्ग की व्यवस्था की गई है। मंच के दोनो बाजुओ के ऊपरी भाग मे नाटक मडलियो के ठहरने का प्रबन्ध है।

प्रेक्षागार मे कुल ९२५ आरामदायक पीठासनो की व्यवस्था है, जिनमे से २६४ पीठासन बालकनी मे हैं। प्रेक्षागार अर्धगोलाकार है। रगमन्दिर श्रुतिसिद्ध है। इस दृष्टि से यह महाराष्ट्र की बृहत् रगशालाओ मे से एक है।

प्रेक्षागार के बाहर चौड़ा बरामदा तथा स्वल्पाहार के लिए एक उपाहारगृह भी है।

रगमन्दिर के निर्माण का श्रेय मुख्यत: नाटककार नाना जोग को है, जिनकी मूर्ति रंगमन्दिर के प्रांगण में लगी हुई है। इसके निर्माण पर लगभग साढे तीन लाख रुपये का व्यय हुआ।" मुझे वहा के एक प्रमुख पदाधिकारी ने बताया कि इस रगमन्दिर को पूरा करते-करते दस लाख रुपये लग चुके हैं।"

रगमदिर मे उद्वाह् मच ('लिफ्ट स्टेज) लगाने की भी योजना है।" व्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं के लिए रगमदिर का किराया ४०० रु० तथा अव्यावसायिक सस्थाओ के लिये शनिवार तथा रविवार को प्रत्येक रात्रि का २५० रु० तथा इतर दिवसो का २०० रु० है।

मोर हिन्दी भवन नागपुर मराठी के साथ हिन्दी का भी केन्द्र है। धनवटे रंगमंदिर के सामने ही मोर हिन्दी भवन की स्थापना विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रयास से हुई है, जिसकी रगशाला मे हिन्दी के नाटक होते रहते हैं।

मुरारीलाल मेहता प्रेक्षागृह : हिन्दी-क्षेत्र मे वाराणसी का मुरारीलाल मेहता प्रेक्षागृह सस्थागत रगालय निर्माण का दूसरा सुन्दर प्रयास है। इस प्रेक्षागृह के आकार-प्रकार का विवरण पचम अध्याय मे दिया जा चुका है। इन पक्तियों के लेखक की यात्रा (दिसम्बर, १९६५) के समय प्रेक्षागार के बनने का कार्य प्रारम्भ हो चुका था, जो सन् १९६८ मे बन कर पूर्ण हो चुका है।

फाइन आर्ट्‌स थियेटर : नई दिल्ली के फाइन आर्ट्‌स थियेटर की स्थापना आल इडिया फाइन आर्ट्‌स एण्ड क्राफ्ट्स सोसाइटी ने सन् १९५४ मे की थी। इस रगशाला के निर्माण मे लगभग ढाई लाख रुपये व्यय हुए। मच पर रगदीपन द्वारा बादल, बरसात, आग, विद्युत्-नर्तन आदि के दिखलाने की व्यवस्था है। बालकनी सहित कुल ६०० प्रेक्षको के बैठने का स्थान है। रंगशाला वातानुकूलित है, जिसके लिए गर्मी मे १५० रु० अधिक अर्थात् ४८५ रु० प्रति रात्रि किराया देना पडता है।

सप्रू हाउस : सप्रू हाउस नई दिल्ली की दूसरी वातानुकूलित रंगशाला है। रंगमंच की चौड़ाई गहराई क्रमश ३३ और ५० फुट है, किन्तु अभिनय-क्षेत्र २७ फुट × ४० फुट है। इसमें यवनिका के साथ सभी प्रकार के दीपनोपकरणो की व्यवस्था है। इसके दाहिने पार्श्व मे दो शृगार-कक्ष हैं। एक पुरुषो के लिये दूसरा स्त्रियो के लिये। प्रेक्षागार मे ६६४ गद्देदार गोदरेज कुर्सियो का प्रबंध है। शीतकाल मे इसका किराया ३९५ रु० और ग्रीष्म काल मे वातानुकूलन के कारण ५१५ रु० है। इस रंगशाला का निर्माण विख्यात विधिविद् एवं राजनीतिज्ञ सर तेज बहादुर सप्रू की स्मृति मे हुआ था। रगशाला का उद्घाटन १ मई १९५५ को हुआ था।

प्रतिरक्षा मडप रगालय : नई दिल्ली के मध्यम आकार के रगालयो मे प्रदर्शिनी मैदान के एक पार्श्व मे अवस्थित प्रतिरक्षा मंडप रगालय (डिफेन्स पेविलियन थियेटर) (देखें चित्र स० १८) उल्लेखनीय है। इसे 'भारत १९५८ प्रदर्शिनी' के अवसर पर ५ सप्ताह के भीतर स्थापत्यकार मानसिंह राणा ने बना कर तैयार किया था। इसका उद्घाटन तत्कालीन प्रधान मत्री प० जवाहरलाल नेहरू ने किया था। मच का अभिनय-क्षेत्र ३५ फुट चौडा और ३० फुट गहरा है। मच से ही रंगदीप्ति का पूरा नियंत्रण होता है। नेपथ्य में पाँच सुसज्जित शृगार कक्ष है, जिनमे से कुछ के साथ स्नानागार भी संलग्न हैं। नेपथ्य के एक ओर एक कक्ष मे दृश्यबन्धो, रंगोपकरणो आदि के रखने की व्यवस्था है। प्रेक्षागार में ५५० प्रेक्षकों के बैठने का स्थान है। मच का अग्रभाग उसे प्रेक्षको के निकट ले आता है। रगशाला श्रुतिसिद्ध है। इसके विस्तृत तोरण-कक्ष (पदावर) का क्षेत्रफल २५०० वर्गफुट है।"

ठाकुर रंगालय : भारत का सबसे बडा रंगालय है—नई दिल्ली का ठाकुर रंगालय (टैगोर थियेटर), जिसका विस्तृत विवरण प्रथम अध्याय मे दिया जा चुका है।

मावलकर भवन : फाइन आर्ट्‌स थियेटर के निकट स्थित शीतोष्णानुकूलित मावलंकर भवन नई दिल्ली का गौरव-स्थल है। इसकी नीव तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने १४ फरवरी, १९६५ को रखी

शहीद भवन रंगशाला, जबलपुर का रेखाचित्र
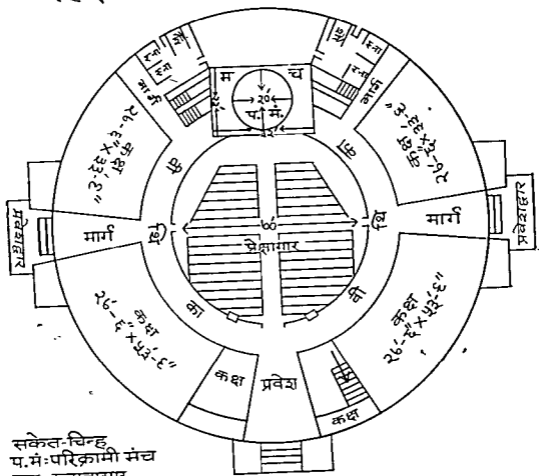
संकेत-चिन्ह
प. मं.=परिक्रामी मंच
स्ना.= स्नानागार
शौ.= शौचालय

मुख्य प्रवेश द्वार

चित्र सं. १६

रवीन्द्रालय, लखनऊ का रेखाचित्र (भूमिखण्ड)
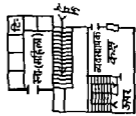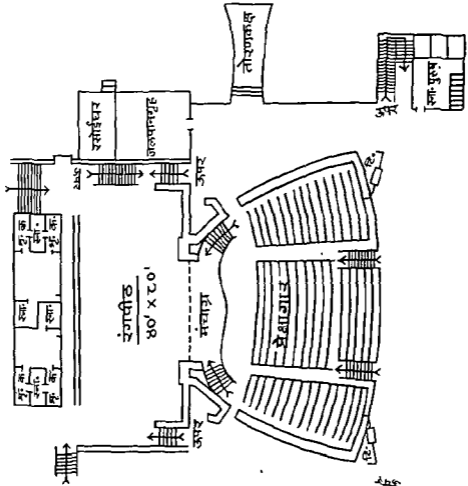
थी और इसका उद्घाटन भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने ९ जून, १९६७ को किया था। यह लोकसभा के अध्यक्ष स्व० जी० वी० मावलंकर की स्मृति में लगभग २० लाख रुपये की लागत से निर्माण एवं आवास मंत्रालय द्वारा बनवाया गया है। भवन का रंगमंच ४२ फुट चौड़ा और २८ फुट गहरा है। पृष्ठ भाग में संटचंद्राकार गगनिका है। रंगदीप्ति के सभी आधुनिक उपकरणों (डिमर-सहित) की व्यवस्था है। दीपन और ध्वनि-संकेतों की नियंत्रण दीर्घाएं बाईं ओर जीने के ऊपर बनी हुई हैं। प्रेक्षागार में बालकनी सहित ७१२ सामाजिकों के बैठने का आयोजन है। बैठने की व्यवस्था तीन कतारों में की गई है, जिनके बीच में आने-जाने का मार्ग बना है। प्रेक्षागार में प्रवेश के लिये चार द्वार हैं—दो तोरण कक्ष की ओर से और दो प्रेक्षागार के बाएँ-दाएँ में रंगमंच के निकट। मंचाग्र में वृन्दवादन के लिए भूमितलस्थली (पिट) की व्यवस्था भी है। प्रत्येक ऋतु के लिये रंगालय का किराया ७५० रु० प्रति रात्रि है।

शहीद भवन रंगालय हिन्दी के नाटककार सेठ गोविन्ददास द्वारा निर्मित शहीद भवन रंगालय हिन्दी क्षेत्र का एकमात्र ऐसा रंगालय है, जिसमें परिक्रामी रंगमंच है। इसी के साथ मुक्ताकाश प्रेक्षागार की भी व्यवस्था है। इस रंगालय का विवरण पाँचवें अध्याय में यथास्थान दिया जा चुका है।

रवीन्द्रालय : लखनऊ का रवीन्द्रालय (देखें चित्र संख्या १९) राजकीय प्रयास से बना मध्यम आकार का एक सुन्दर रंगालय है, जिसका प्रबन्ध अब मोतीलाल स्मारक समिति के पास है। रंगालय श्रुतिसिद्ध एवं वातानुकूलित है। मंच पर गगनिका की व्यवस्था तो है, किन्तु रंगदीपन की अपर्याप्त व्यवस्था तथा आलोकचित्र प्रक्षेपक (इफेक्ट्स प्रोजेक्टर) के अभाव में वह यथा-वांछित प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ है। रंगदीपन के लिये सामान्यतः यहाँ त्रिपदाधारी तीव्र प्रकाश (फ्लड लाइट), लघु तीव्र प्रकाश (बेबी फ्लड), बिन्दु प्रकाश (स्पाट लाइट), शीर्ष प्रकाश आदि की व्यवस्था है। नेपथ्य में चार शृंगार-कक्ष है, जिनमें से प्रत्येक दो शृंगार-कक्षों के साथ एक-एक स्नानागार संलग्न है। दो पृथक् स्नानागारों की भी व्यवस्था है। रंगपीठ ४० फुट गहरा और ८० फुट चौड़ा है, जिसके साथ प्रेक्षागार की ओर निकला हुआ मंचाग्र संलग्न है। मंचाग्र के पीछे स्वचालित यवनिका है, जो आवश्यकता होने पर दो भागों में बंट कर दायें-बाएँ सरक जाती है।

रवीन्द्रालय का प्रेक्षागार ढालू और घोड़े की नाल के आकार का है, जिसकी गद्देदार कुर्सियाँ तीन पार्श्वों में बंटी हुई हैं, जिनके बीच में आने-जाने की वीथी बनी है। नीचे ४९३ तथा बालकनी में २८४ आसनों की अर्थात् कुल ७७७ पीठासनों की व्यवस्था है। प्रेक्षागार छत में छिपे कलापूर्ण प्रकाश से आलोकित होता है। प्रेक्षागार के एक पार्श्व में व्यवस्थापक कक्ष और महिलाओं का स्नानागार तथा दूसरे पार्श्व में पुरुषों का स्नानागार और ऊपर बालकनी में जाने का मार्ग है। तोरणकक्ष से वीथी (गैलरी) में प्रवेश करने पर दाहिनी ओर एक जलपानगृह का भी प्रबंध है।

रवीन्द्रालय का उद्घाटन भारत के तत्कालीन प्रधान मंत्री (अब स्व०) लाल बहादुर शास्त्री ने बृहस्पतिवार, दिनांक १९ नवम्बर, १९६४ को किया थे। इन व्यक्तिगत, सस्थागत एवं राजकीय प्रयासों के फलस्वरूप कुछ नगरों में तो रंगशालाओं का जाल सा बिछ गया है, और इसने रंगमंच के विकास के लिये न केवल अनुप्रेरणा मिलती है, अनेक संभावनाओं के द्वार भी खुल गये हैं। फिर भी अनेक ऐसे नगर हैं, जहाँ किसी प्रकार की कोई रंगशाला नहीं है। रवीन्द्र शती के उपलक्ष्य में हिन्दी तथा सभी आलोच्य भाषाओं के राज्यों की राजधानियों में रवीन्द्र नाट्य मंदिर, ठाकुर रंगालय, रवीन्द्रालय, रवीन्द्र भवन या रवीन्द्र सदन बनाये गये, जिनमें से अधिकांश राजधानियों में ये रंगशालाएँ बन चुकी हैं, परन्तु सभी भाषाओं, विशेषकर हिन्दी-राज्यों की बढ़ती रंगमंचीय प्रवृत्तियों के पुरस्करण के लिये प्रत्येक नगर में राष्ट्रीय रंगशालाओं की स्थापना आवश्यक है। राज्य सरकारों के अतिरिक्त कुछ नगरों की नगर महापालिकाएँ या समर्थ नाट्य-संस्थाएँ भी इस दिशा में प्रयत्नशील

है कि उनके नगर मे कम से कम एक रगशाला अवश्य हो, जो उचित एव कम दरो पर सभी नाट्य-संस्थाओ के लिये बिना किसी भेदभाव या पूर्वाग्रह के बराबर उपलब्ध रहे। इस रगशाला के किराए के भीतर ही या कुछ अतिरिक्त सस्ते किराये पर दृश्यबंध, रंगोपकरण, दीपन एव ध्वनि-संकेत यंत्र, वस्त्राभरण आदि भी सुलभ रहने चाहिये। आगरा नगर महापालिका ने ११०० आसनो के 'सास्कृतिक भवन' का निर्माण किया है। (१९७७ ई०) कानपुर नगर महापालिका के प्रयास से मोतीझील पर उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री चन्द्रभानु गुप्त के द्वारा एक रगशाला की नीव ३० अप्रैल, १९६२ को रखी गई थी। इसके निर्माण के लिये राज्य सरकार ने नगर महा-पालिका को पाँच लाख रुपये का ऋण भी स्वीकृत किया था[१]. किन्तु रगशाला बनाने की बात तो बहुत दूर रही, नीव के पत्थर उस शिलान्यास का भी आज मोतीझील पर कही पता नही है, जिसको आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व समारोह के साथ वहाँ रखा गया था। किसी भी दशा मे कानपुर नगर महापालिका की नाट्य कला और रगमंच के प्रति यह उपेक्षा, यह वितृष्णा श्लाघनीय नहीं कही जा सकती, विशेषकर उस समय जबकि कानपुर नगर की बढती हुई रग-चेतना की अभिव्यक्ति के लिए आधुनिक साज-सज्जा एव परिक्रामी मच से युक्त एक रंगशाला की नितात आवश्यकता है।

अनेक नाट्य-सस्थाओ ने रगशाला की स्थापना के उद्देश्य को सामने रख कर प्रचारान्दोलन और कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। यह आन्दोलन सन् १९५७ या इसके आस-पास से ज़ोर पकडता जा रहा है। यदि इन नाट्य-संस्थाओ के प्रयास सफल हुए, तो मुबई मराठी साहित्य सघ बबई अथवा नागरी नाटक मंडली, वाराणसी की रगशालाओ के अनुकरण पर प्रत्येक नगर मे कम से कम एक रगशाला अवश्य बन जायगी। जब तक देश मे रगशालाओ की एक सुसबद्ध श्रृखला का विस्तार नही होता, हिन्दी अथवा किसी भी अन्य भाषा के रगमच को अधिक काल तक सजग एव जीवित रख सकना सभव न होगा। रगशाला से पृथक् रंगमंच का पोषण सभव नही है। यदि लोकशक्ति अथवा जन-समाज अपने सुरुचिपूर्ण मनोरजन के लिये प्रत्येक नगर, प्रत्येक कुछ ग्राम-समूहों के बीच, वहाँ की स्थानिक आवश्यकताओ को दृष्टि मे रख कर, कम से कम एक रगशाला न बना सका तो वह दिन दुर्भाग्यपूर्ण ही होगा। इस पावन कार्य के लिए सरकार के कदमो की प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं और फिर कोई भी समर्थ से समर्थ सरकार देश भर मे रगशालाओ की शृखला स्थापित नही कर सकती। इसके लिये नगर महापालिकाओ, नगरपालिकाओ, नाट्य-संस्थाओ तथा नगर के नाट्यानुरागी धनाढ्य व्यक्तियों को आगे आकर यह गुरु-गभीर भार अपने कंधो पर उठाना चाहिये।

प्रत्येक आधुनिक साज-सज्जा से युक्त राष्ट्रीय अथवा स्थानीय रगशाला मे अपने समतल या परिक्रामी रगमच के अतिरिक्त पूर्वाभ्यास के लिए पृथक् लघुमचो, नाट्य-सम्बन्धी पुस्तकालय एव वाचनालय, एक शोध-कक्ष (रिसर्च सेल), एक सग्रहालय ('म्यूजियम'), एक रग-निर्माणी (थियेटर, वर्कशाप), परिधान-परिकल्पनालय आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिये। इस प्रकार की किसी भी आत्मभरित आदर्श रगशाला मे प्रस्तुत कोई भी उत्तम नाटक निष्फल नहीं जायगा।

सक्षेप मे, भारतीय रगमच को आज अनेक अनुप्रेरणाएँ उपलब्ध हैं, जिनमे उसके उज्ज्वल भविष्य के लिए अनेक सभावनाएँ छिपी हुई हैं।

(३) रंगमंच का भविष्य : कुछ रचनात्मक सुझाव

भविष्य-कथन ज्योतिष शास्त्र अथवा नक्षत्र विज्ञान का अग है, अत. इस अध्ययन के द्वारा ज्योतिर्विद् की भाँति रगमच के भविष्य का उद्घोष सभव नही है। कार्य-कारण-सम्बन्ध के शाश्वत नियम के आधार पर कुछ निश्चित परिस्थितियो मे कुछ निश्चित परिणामो की सभावना अवश्य की जा सकती है। इन सभावनाओं के

आधार पर यह कहा जा सकता है कि रगमंच प्रयोग की विविध अवस्थाओ से होकर गुजर रहा है, किन्तु कोई निश्चित स्वरूप अभी तक नही ग्रहण कर सका है । उसका जो स्वरूप अनेक प्रयोगो के बाद निखर कर सामने आ रहा है, वह है–एक दृश्यबन्ध, दो या तीन दृश्यहीन अको का नाटक, गीत, नृत्य और स्वगत का बहिष्कार, गर्भनिका और उस पर कुछ कालाश्रित या प्राकृतिक दृश्य, कुछ ध्वनि-सकेत, स्वाभाविक या सहज अभिनय और अनलंकृत किन्तु सीधे, सरल, चुस्त और मर्मस्पर्शी सवाद । ढाई-तीन घण्टे से अधिक समय न लगे । किसी अच्छी रगशाला में और यदि वह उपलब्ध न हो, तो जैसी भी रगशाला उपलब्ध हो, नाटक प्रस्तुत किया जाय । प्राय. यह नाटक सामाजिक होता है। इन सामाजिक नाटको के अन्तर्गत न तो शुद्धत स्वच्छन्दतावर्मी और न विशुद्ध समस्यावादी नाटक ही पसन्द किये जाते हैं, वरन् एक प्रकार के ऐसे नाटक चुने जाते हैं, जिनमें स्वच्छन्दतावर्मी नाटक का कुतूहल और विनोद तो हो, किन्तु व्यक्ति की आत्मपरक समस्या को न लेकर व्यक्ति बनाम समाज की समस्या, वर्ग की समस्या को उरेहा गया हो और व्यक्ति के सकुचित घेरे को तोड़ने का आह्वान किया गया हो । पौराणिक या ऐतिहासिक नाटको का समय समाप्त हो गया । देश के स्वतन्त्र होने के उपरान्त राष्ट्रीयता का स्वरूप भी बदला है और अब राष्ट्रीय नाटको मे देश की भावनात्मक एकता और विदेशी आक्रमण से देश की सीमाओ की रक्षा के प्रश्न को प्रमुखता प्राप्त है । हास्य-व्यग्य नाटक का प्रहसन भी आज के रंगमंच पर काफी लोकप्रिय हैं । प्रयोगवादी नाटक, जिनमे प्रतीक, महाकाव्यात्मक, अभिव्यजनावादी या असगत नाटक प्रमुख हैं, कुछ प्रबुद्ध सामाजिको, नाट्य-समीक्षकों तथा विद्वानों के बीच चर्चा के विषय बने हुए हैं । पर्याप्त सप्रेषणीयता के अभाव मे साधारण सामाजिक उनसे असंपृक्त रहता है ।

रगमंच के त्रिदेव–नाटककार, उपस्थापक (निर्देशक-सहित) और अभिनेता-अब उद्बुद्ध हो चले हैं । नाटककार यह समझने लगे हैं कि वे रंग–निरपेक्ष होकर या रगमच की उपेक्षा सह कर नही रह सकते और दूसरी ओर उपस्थापक भी अपनी मंडली या संस्था के लिये नाटककार के सक्रिय योगदान को आवश्यक समझने लगा है । भरत मुनि ने भी अपने नाट्यशास्त्र के ३५ वें अध्याय में भरत (नाट्यमडली) के जिन सदस्यों का वर्णन किया है, उनमें 'नाट्यकार' को भी उसका एक अनिवार्य सदस्य माना था । भरत ने 'नाट्यकार' (नाटककार) उसे माना था, जो नाटक के विभिन्न पात्रो में शास्त्रानुसार रस, भाव और सत्त्व को भरता है ।"

इस प्रकार नाटककार का रंगमंच या उसके प्रयोक्ता (उपस्थापक) से और प्रयोक्ता का नाटककार से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । दोनो एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं । नाटककार रगमच की आवश्यकताओ और सीमाओ को दृष्टि मे रख कर नाटक लिखता है और उपस्थापक नाटक द्वारा प्रस्तुत सीमाओ में रह कर उसका सामाजिकों के लिये प्रत्यक्षीकरण करता है और इस प्रत्यक्षीकरण के माध्यम हैं–अभिनेता, जिनके अभिनय-कौशल पर ही किसी मंडली की सफलता निर्भर है । रगमंच के इन त्रिदेवों के मानस–क्षितिज पर परस्पर योगदान और समन्वय का जैसा स्पष्ट चित्र आज उदित हुआ है, वैसा इसके पहले किसी युग में संभव नहीं हो सका था । इस समन्वय के लिये मंडली या संस्था के संगठन के स्वरूप, युग की माँग के अनुरूप रंगमंच के विविध आयामों का सुचारु कार्य-विभाजन, त्रिदेवो की शिक्षा, रगशिल्प के उत्तरोत्तर विकास आदि ने पृष्ठभूमि तैयार कर दी है । किसी भी एक पक्ष की असावधानी या त्रुटि से समूचा प्रयोग निष्फल जा सकता है। स्वस्थ आलोचना और अभि-निर्णय द्वारा प्रत्येक पक्ष को अपनी त्रुटियों या गल्तियो का ज्ञान हो जाता है, जिन्हें वे परवर्ती प्रयोगों मे दूर करने की चेष्टा करते हैं । इसी के साथ आज का प्रबुद्ध उपस्थापक इस बात के लिये भी सजग है कि वह नाटककार की मौलिक कृति का ही उपस्थापन करे, जिसमे रगमच की भारतीय आत्मा का स्वरूप विकृत न हो । वह यह अनुभव करता है कि विदेशी नाटकों के रूपान्तर भारत की मूल चेतना के अनुरूप नहीं हैं और उन्हें बहुत दिनो तक यहाँ रंगमच का उपजीव्य बनाकर नही रखा जा सकता ।

रंगाभिनय और चलचित्र—अभिनय के क्षेत्र मे चलचित्रो की तारक–तारिकाओं के अभिनय के भद्दे अनुकरण के परित्याग का महत्त्व स्पष्ट हो चला है, और अनेक रग-अभिनेताओ ने अभिनय की अपनी पद्धति विकसित कर ली है, जिनमे पृथ्वीराज कपूर, इब्राहिम अलकाजी, शम्भु मित्र, जयशंकर 'सुन्दरी,' नानासाहब फाटक, सत्यदेव दुबे, श्यामानन्द जालान, ओम शिवपुरी आदि प्रमुख हैं। रगाभिनय चलचित्रीय अभिनय की अपेक्षा बहुत कठिन और अभ्यास-साध्य है, क्योकि चलचित्र मे संरचना (कम्पोजीशन) ठीक न होने पर उसके ठीक होने तक 'री-टेक' की गु जाइश रहती है, जबकि मच की अपनी सीमाएँ हैं। जो भी सरचना हो, एक ही बार मे पूर्णत. शुद्ध होनी चाहिये। इसी प्रकार रगमच और चलचित्र की स्वर-साधना, सभाषण आदि मे भी बहुत बडा अन्तर है। चलचित्र मे 'प्ले-बैक' के कृत्रिम साधन का उपयोग किसी भी न गाने वाले कलाकार के लिये सम्भव है, मच पर भी सम्भव है, किन्तु सामाजिक इससे सतुष्ट नही होते और सामान्यत. वे कलाकार के प्रत्यक्ष स्वर-माधुर्य के आनन्द का ही उपभोग करना अधिक पसद करते हैं। यही बात सभाषण के सम्बन्ध मे है। चलचित्र मे सवाद के किसी एक अश की शूटिंग हो जाने के बाद न उसे स्मरण रखने की आवश्यकता है और न उसी भाव या मुद्रा को दुबारा प्रस्तुत करने की, किंतु रगमच पर प्रत्येक सवाद का प्रत्येक दिन कठाग्र रहना, उसी भाव या मुद्रा की पुनरावृत्ति एवं परिमार्जन आवश्यक है, जो केवल सिद्ध कलाकार के ही द्वारा सम्भव है। रगमच का भविष्य, उसकी सफलता और समृद्धि ऐसे ही रस सिद्ध कलाकार के हाथ मे सुरक्षित है, जो उक्त अर्हताओ के साथ प्रत्यक्षीकरण के सिद्धान्त से अवगत है। वह प्रति दिन, प्रत्येक प्रयोग मे एक-सी ही सिद्धि एवं कौशल के साथ अश्रु और हास, कम्प और स्वेद, भय और व्रीड़ा का नाट्य कर सकता है। यह नाट्य कृत्रिम न होगा, स्वाभाविक होगा, कम से कम स्वाभाविकता का आभास उसमे होगा। यही रस-सिद्ध कलाकार की सफलता है। आज का कलाकार इस सफलता के लिये प्रयत्नशील है। चलचित्र की भाँति आकाशवाणी (रेडियो) और टेलीविजन भी रगमच के प्रतिद्वन्द्वी नही हैं। अमेरिका रूस, इंग्लैण्ड आदि देशो मे, जहाँ अभिनय के इन तीनो माध्यमो का जाल-सा बिछा हुआ है, रगमच की मर्यादा और लोकप्रियता पूर्ववत् बनी हुई है। ब्राडवे (अमेरिका) मे बर्नर्ड शा के 'पिगमेलियन' का सगीत रूपान्तर 'माई फेयर लेडी' ७ जुलाई १९६२ को छ वर्ष से कुछ अधिक चल कर बन्द हुआ।[१] यह इस सुखांत सगीत नाटक (म्यूजिकल कामेडी) की लोकप्रियता का प्रमाण है।

नया रगशिल्प—प्रयोग मे अब अभिनय की अपेक्षा कही अधिक ध्यान उसके रगशिल्प की ओर दिया जाने लगा है। सामाजिक जो कुछ चलचित्रो मे देखता है, उसकी प्रतिकृति वह रगमंच पर देखना चाहता है, अत. आज के रगमच को रगशिल्प के क्षेत्र में चलचित्र की स्पर्धा मे खडा होना पड रहा है। सामाजिक रच-मात्र भी अपनी कल्पना पर जोर नही डालना चाहता। सवाद मे किसी स्थल स्थान या काल का सकेत-मात्र होने अथवा प्रतीक के रूप मे एक वृक्ष को देख कर अपने मानसिक रंगमच पर उसका साक्षात्कार तब तक नही करना चाहता, जब तक रगशिल्प द्वारा छलावा इस कोटि का न हो कि वह 'स्व' को भूल कर रग-लोक मे न विचरण करने लगे। आज का रगशिल्पी इस छलावे को यथा सम्भव पूर्ण बनाने के लिये सचेष्ट है। आज की यथार्थवादी रग-सज्जा उसकी इस चेष्टा का परिणाम है। आधुनिक दीपन–योजना और ध्वनि-सकेत इस रग-सज्जा को और भी प्रभावी बना देते हैं। आज की प्रत्येक नाट्य-सस्था ऐसे रंगशिल्पी की खोज मे रहती है जो इस सर्वांगपूर्ण छलावे को रगमच पर प्रस्तुत कर सके। यही कारण है कि छलावे के विविध उपकरणो–दृश्यबन्धो, दीपनोपकरणो और ध्वनिसकेत–यन्त्रो का *सग्रह सभी नाट्यसस्थाओ का अभीष्ट बन गया है।* सगीत नाटक अकादमी आदि जैसी सस्थाओ द्वारा एतदर्थ दी जाने वाली सहायता मे रगोपकरणो की उपलब्धि की यह दौड़ तीव्र हो उठी है, किन्तु यही रगमच का सब कुछ नही है, क्योकि उसकी आत्मा अभिनय है, जबकि रगशिल्प उसका शृगार है। यह शृंगार अवास्तविक है, क्योकि उसका उद्देश्य छलावा है, भ्रान्ति या आभास उत्पन्न करना है, रस-दशा का सृजन करना नही। रस-निष्पत्ति एवं

प्रत्यक्षीकरण के लिये पात्र का अभिनटन एवं चित्राभिनय (स्पेशल रिप्रेजेन्टेशन) आवश्यक है, इसलिये भरत ने रंग-शिल्प, विशेषकर पुस्त (रंगोपकरणादि तैयार करना) को आहार्य अभिनय का अंग माना है और स्तंभ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, कंप, अश्रु आदि सात्विक भावों के द्वारा सात्विक अभिनय को सर्वश्रेष्ठ माना है । अतः आज के उपस्थापक के समक्ष यह प्रश्न विचारणीय है कि रंगशिल्प को क्यों न एक सीमा के भीतर ही रखा जाय, जिससे वह अभिनय के ऊपर न छा सके ।

व्यवसायिक रंगमच की सम्भावनाएँ : वर्तमान आन्दोलन रंगमच अभी तक सस्थागत एवं अव्यावसायिक है और हिन्दी, बंगला और गुजराती के प्राचीन व्यावसायिक रगालयों को छोड़ अन्य व्यावसायिक मंडलियों का अभ्युदय स्थायी आधार पर नहीं हो सका है । व्यावसायिक संभावनाएँ वर्तमान हैं और अनेक अव्यावसायिक संस्थाएँ व्याव-सायिक स्तर पर उतरने की चाह रख कर भी धनाभाव अथवा समयाभाव के कारण उनर पाने में एक कसमकस का, असमर्थता का अनुभव कर रही है । हिन्दी-क्षेत्र मे इस कसमकस के मूल कारण हैं—सामाजिकों की उदासीनता, उप-स्थापन-व्यय की वृद्धि, उत्तम रग-नाटकों का कथित अभाव, प्रशिक्षित एवं रंगमंच को अपनी जीविका का साधन मान कर चलने वाले उपस्थापकों एव कलाकारों की कमी, मध्यम दर पर सुमज्जित रंगशालाओं की अनुपलब्धता आदि । किन्तु एक बार व्यावसायिक स्तर पर काम करने के सकल्प को उठा लिया जाय, तो इन सारी कठिनाइयों पर विजय पाई जा सकती है । तीव्र गति वाले या हल्के-फुलके गद्य-नाटकों, गीति-नाटकों एव नृत्य-नाटकों के प्रयोग मे व्यावसायिक सभावनाएँ निहित हैं । आवश्यकता है कल्पनाशील उपस्थापक की, जो व्यावसायिक आधार पर अपने प्रयोग प्रारम्भ करे । इसके लिये कुछ पूर्णकालिक रंगकर्मियों की आवश्यकता होगी, जिन्हें जीवन-निर्वाह-योग्य वेतन देकर रखा जा सकता है । इस प्रकार व्यावसायिक प्रयोग सर्वप्रथम दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, लखनऊ, वाराणसी, पटना, जयपुर जैसे बड़े नगरों में ही प्रारम्भ होने चाहिये । बिना व्यावसायिक प्रयोगों के नाट्यालोक द्वारा तैयार किया गया जनमन व्यर्थ चला जाता है, जिससे निरन्तर प्रयोग करके ही लाभ उठाया जा सकता है । तृतीय श्रेणी के चलचित्र की अपेक्षा प्रत्येक सामाजिक उत्तम नाटक देखना अवश्य पसंद करेगा । शर्त यह है कि उसका उपस्थापन भी सर्वांगपूर्ण हो । सर्वांगपूर्ण उपस्थापन एव रंगमंच के स्थायित्व के लिये उसे शीघ्र से शीघ्र व्यावसायिक आधार प्रदान किया जाना चाहिये ।

कुल मिला कर रगमंच की वर्तमान प्रगति उसके उज्ज्वल भविष्य की द्योतक है, किन्तु इस भविष्य को सु-निश्चित बनाने और एक निश्चित दिशा देने के लिये यह आवश्यक है कि उस पर, बल्कि यों कहें कि समूचे रंगमंच पर लगे युग-विरोधी कानूनी प्रतिबन्धों को दूर किया जाय, उसकी परिसीमाओं के दायरे तोड़े जायें और एक निश्चित अन्तरिम अवधि मे व्यावसायिक रंगमंच के विकास के लिये उसको वित्तीय सहायता प्रदान की जाय ।

सेंसर : नयी दृष्टि की आवश्यकता : देश की विदेशी सरकार युगों-पुराने अधिनियम—नाट्य-प्रदर्शन-नियंत्रण अधिनियम, १८७६ का सहारा लेकर राष्ट्रीय नाटकों के प्रदर्शनों पर रोक लगाती रही है । इस अधिनियम के अन्त-र्गत प्रत्येक जिलाधिकारी को नाटक 'सेंसर' करने का अधिकार प्राप्त है । एक बार जयपुर के जिलाधिकारी को एक नाट्य-मंडली द्वारा नाटक के 'पास' न दिये जाने पर उसने राजस्थान सगीत नाटक अकादमी को इस अधिनियम के अन्तर्गत नोटिस दे दिया कि उसने बिना पूर्व-स्वीकृत के रवीन्द्र मच पर नाट्य-प्रदर्शन की अनुमति क्यों दे दी ।[६८] बम्बई मे वहाँ के 'सेंसर बोर्ड' के पास नाटक भेज कर उसकी पूर्व-स्वीकृति तो प्राप्त करनी ही होती है, पुलिस-अनु-मति भी प्रदर्शन के पूर्व लेनी पड़ती है । बम्बई के 'सेंसर बोर्ड' की अधिकार-सीमा महाराष्ट्र तक ही है, उसके बाहर नहीं, अतः जब किसी मंडली को महाराष्ट्र के बाहर जाना पड़ता है, तो उसे वहाँ के जिलाधिकारी की पुनः अनुमति लेनी पड़ती है, जिसके बिना नाटक प्रदर्शित नहीं किया जा सकता । पृथ्वी थियेटर्स को महाराष्ट्र के बाहर पगे-पगे सेंसर के इस नागपाश से मुक्त होने के लिये अनेक बाधाओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था । कई

जगह जिलाधिकारी एव पुलिस की अनुमति मात्र औपचारिकता होने के बावजूद वस्तुत: नागपाश बन जाती है। एक बार पु० ल० देशपाडे को बडौदा के जिलाधीश ने अपना नाटक खेलने की अनुमति नही दी। निर्धारित तिथि और समय पर यह नाटक तभी हो सका, जब देशपाडे के वैयक्तिक मित्र-बडौदा के तत्कालीन पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट ने व्यक्तिगत हस्तक्षेप कर नाटक प्रारम्भ होने के पूर्व आवश्यक अनुमति दिलाई।[1] लखनऊ मे जन नाट्य सघ को प्रेमचन्द्र–'ईदगाह' (१९५३) का आरगण पुलिस की पूर्व-अनुमति के बिना करने पर उसके आक्रोश का शिकार बनना पडा, जिसके फलस्वरूप नाटक के उपस्थापको पर अभियोग चला और सन् १९५६ मे लखनऊ के उच्च न्यायालय ने नाट्य-प्रदर्शन नियन्त्रण अधिनियम, १८७६ की आपत्तिजनक धाराएँ रद्द घोषित कर दी।[2]

इस अधिनियम के अवैध घोषित कर दिये जाने के बाद अब इस प्रतिक्रियावादी अधिनियम की कोई आवश्यकता नही है, किन्तु रगमच के दुर्भाग्य से आज भी यह लागू है और इसके रहते स्वच्छन्द नाट्य-प्रदर्शन संभव नही है। अत इसे सशोधित कर केवल वस्तुत अश्लील एव राष्ट्रविरोधी और विघटनकारी तत्त्वो को प्रश्रय देने वाले नाट्य-प्रदर्शनो पर ही रोक लगायी जानी चाहिये। राजनैतिक दलबन्दी को लेकर उस पर उस समय तक कोई प्रतिबन्ध नही लगाया जाना चाहिये। जब तक वह राष्ट्र-हित के लिये घातक न सिद्ध हो। किसी भी दशा मे कटु सत्य के प्रदर्शन पर उसका गला नही घोटा जाना चाहिये। अधिनियम मे अश्लील, राष्ट्रविरोधी एव विघटनकारी तत्त्वो तथा अन्य आपत्तिजनक बातो की स्पष्ट व्याख्या कर दी जानी चाहिये, जिससे उसकी आड लेकर कोई भी स्वेच्छाचरी सरकार रगमच पर निरर्थक अकुश न लगा सके।

नाट्य-प्रदर्शन-नियत्रण अधिनियम जैसे नाट्य-विरोधी अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारो के कारण नौकरशाही की स्वचारिता बढी है और उसका प्रयोग सर्वत्र एक रूप नही हो पाता। इसके कारण एक नगर, जिले या राज्य मे स्वीकृत एव अनुमति-प्राप्त नाटक दूसरे नगर आदि मे बिना वहाँ के जिलाधिकारी की अनुमति के नही हो सकता, जबकि ऐसा नही होना चाहिए। इस अधिनियम के प्रयोग मे एकरूपता लाई जानी चाहिए, जिससे केन्द्रीय अथवा प्रादेशिक बोर्ड अथवा जिलाधिकारी से एक बार किसी नाटक पर स्वीकृति प्राप्त होने के उपरान्त भारत मे कही भी उसे बेरोक-टोक प्रदर्शित किया जा सके।[3] रंगमच ने भारत के स्वातंत्र्य यज्ञ मे असख्य आहुतियाँ दी हैं, अत: उसके प्रति देश की लोकप्रिय राष्ट्रीय सरकार की दृष्टि संवेदनात्मक होनी चाहिए, उसे निगल जाने वाली शनि-दृष्टि की आवश्यकता नही है और न उसका कोई औचित्य ही दीखता हैं।

नाटक की चोरी और कापीराइट : कुछ उपस्थापक कुछ देशी-विदेशी नाटको के कथानक, सवाद आदि चोरी कर अपने नाटक मे रख लेते हैं, और मूल नाटककार का नाम न देकर अपने दल के किसी सदस्य का नाम दे देते हैं। यह प्रवृत्ति रंगमच और मौलिक नाटक के विकास के लिये घातक है, जिसे रोका जाना चाहिये। वर्तमान कापीराइट अधिनियम के अन्तर्गत नाटककार अथवा किसी भी अन्य साहित्यकार के लिये अपनी पाण्डुलिपि का रजिस्ट्रेशन कराने की व्यवस्था है। यदि नाटककार किसी भी नाट्य-सस्था को अपना नाटक देने के पूर्व उसे 'रजिस्टर्ड' करा ले, तो इस प्रकार चोरी को रोका जा सकता है, किन्तु मुद्रित नाटको के सवादो आदि की चोरी उपस्थापक के विवेक, नाट्यालोचक की स्पष्ट टीका और कानूनी कार्यवाही द्वारा रोकी जा सकती है। दूसरी ओर इस कापीराइट अधिनियम का एक अभिशाप भी है, और वह है व्यावसायिक मंडली द्वारा नाटक के साथ ही उसके प्रकाशन का कापीराइट खरीद कर उसे न तो स्वयं प्रकाशित करना और न लेखक को ही उसके प्रकाशन की अनुमति देना। यह प्रवृत्ति नाटक के अस्तित्व के लिये ही घातक है, अत. यह व्यवस्था की जानी चाहिये कि यदि कोई मडली या संस्था प्रयोग के साथ ही उसका प्रकाशन न करे, तो उसके प्रकाशन का अधिकार नाटककार के पास सुरक्षित रहे और वह उस अवसर पर अपना नाटक प्रकाशित कर सके। यह व्यवस्था न होने से बेताब-युग और आधुनिक युग मे भी व्यावसायिक रगमंच से सम्बन्धित अधिकाश नाट्यसाहित्य अप्रकाशित है, जिसके काल-यापन के साथ

विलुप्त हो जाने की सभावना है।

नयी रंगशाला का स्वरूप · रगमच और उसके विविध उपादानों–रगशाला, नाटक और अभिनय की कुछ परिसीमाएँ हैं, जिसके आगे जाने मे रंगमच अपने को असमर्थ पाता है। रंगमंच का प्रसार एव विकास रंगशालाओं की उपलब्धता, सज्जा और विस्तार पर निर्भर है। रंगमच और रगशाला मे जीवात्मा और शरीर का सम्बन्ध है। रगशाला ही अपार्थिव को पार्थिव रूप प्रदान कर सकती है, अत रगशाला का विस्तार रगमंच के विकास की पहली शर्त है। यह रंगशाला प्रथम अध्याय में वर्णित १२ प्रकार की रगशालाओ मे से किसी भी प्रकार की हो सकती है। इन रगशालाओ के निर्माण मे पाश्चात्य शिल्प और विज्ञान को तो ग्रहण किया जाय, किन्तु उनका बहिरंग भरत नाट्य-शास्त्र मे वर्णित रगशालाओं के अनुरूप रखा जाना चाहिये, जिसमे वे भारतीय स्थापत्य एव संस्कृति के प्रतीक बन सकें।

प्रयोग के विविध पक्षों मे समन्वय रगमच की दूसरी परिसीमा है—नाटक का चयन और चुने गये नाटक द्वारा प्रस्तुत सीमाओ मे उनका सर्वोत्तम उपस्थापन। नाटक के चयन मे मडली या सस्था उपलब्ध रगशाला, रग-सज्जा एव रगोपकरणो, अपने कलाकारो की रुचि, क्षमता और अभिनय-कौशल, उपस्थापन के दृष्टिकोण एव सभा-व्यता आदि का ध्यान रखती है और इन परिसीमाओ के भीतर रह कर वह नाटक का चुनाव करती है। सी० बी० पुरडम ने नाटक-चयन के चार नियम बताए हैं–नाटक उपस्थापक (या निर्देशक) के मर्म को स्पर्श करे, देखने वालों को अपनी ओर आकृष्ट करे, सभावित सामाजिको को प्रसन्न कर सके और उसका उपस्थापन व्यावहारिक हो।[१२] एक बार नाटक का चुनाव कर लेने पर उपस्थापक और या निर्देशक को नाटक की सीमाओ को मर्यादा मे बँध जाना पड़ता है। कुछ योग्य निर्देशक कभी-कभी उन सीमाओं को लाँघ कर प्रयोग को यशस्वी बना देते हैं, परन्तु इससे कभी-कभी नाटक की आत्मा मुखरित नही हो पाती। कभी-कभी एक ही भूमिका को एक कलाकार प्रभाव-शाली बना देता है, जबकि दूसरा कलाकार उसमें बुरी तरह असफल हो जाता है। प्रयोग की सफलता में उपस्थापक निर्देशक और अभिनेता के अतिरिक्त सामाजिक का योगदान भी आवश्यक है। यदि किसी भूमिका में कोई नट सामाजिक के मन पर छा जाता है, तो वह उस भूमिका में किसी दूसरे नट को देखना-सुनना पसंद नही करता और उस नट की अनुपस्थिति मे प्रयोग निष्फल चला जाता है। इस प्रकार नाट्य-प्रयोग एक सहकार्य ('टीम वर्क') है, जिसमे नाटककार से लेकर सामाजिक तक सभी का योगदान अपेक्षित है। प्रयोग के सरक्षक के रूप मे सामाजिक का योगदान सर्वोपरि है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। अतः यह उपस्थापक का कर्तव्य है कि वह सामाजिक की अपेक्षा के अनुसार उसका पूरा प्रतिपादन दे, उसको पूरा मनोरजन प्रदान करे, उसकी भावनाओ को स्पर्श करे तथा उसकी कल्पना को जागृत करे। जिससे सामाजिक की जिन समस्याओ को उठाया जाय, उनका सर्वमान्य समाधान प्रस्तुत करे, जिससे सामाजिक प्रयोग के साथ आत्मीयता का अनुभव करे। कुशल उपस्थापक का यह कर्तव्य है कि वह इन सभी परिसीमाओ मे रह कर भी उनसे ऊपर उठे और प्रयोग के विविध पक्षो मे सहयोग और समन्वय स्थापित करे।

नाट्य-संग्रहालय एवं पुस्तकालय : आज का सामाजिक इतना जागरूक है कि वह पात्रो के आहार्य अभिनय विशेषकर पात्रों के वस्त्राभरण, शस्त्रादि, अग-रचना आदि को युगानुरूप ही देखना चाहता है, अतः किसी भी पौराणिक, ऐतिहासिक या सामाजिक नाटक में आहार्य की थोड़ी-सी त्रुटि देख कर भी क्षुब्ध हो उठता है। वह चाहता है कि मच की सज्जा भी नाटक के युग के अनुरूप हो। अनुभवहीन उपस्थापक के लिये युगानुरूप समस्त सामग्री जुटाना सम्भव नहीं हो पाता और प्रयोग की सफलता सदेहास्पद बन जाती है। यदि किसी ऋषि की दाढी मच पर प्रवेश करते ही गिर पडे या किसी स्त्री के केश खोचते ही उसका कृत्रिम केश-जाल ('विग') उखड आया तो पात्र की मर्यादा और सामाजिक का भुलावा दोनों जाते रहते हैं। यदि किसी नर्स की नीली 'कैप' और 'एप्रन'

मे, कृष्ण को सूट और पैण्ट मे, सेठ को पगडी की जगह हैट या लाल टोपी मे और वकील को डाक्टर का सफेद कोट पहना कर न्यायालय मे उपस्थित कर दिया जाय, तो सामाजिक की कल्पना भंग हो जायगी और उसका अवचेतन मन इस गलत वेशभूषा को स्वीकार न कर विद्रोह कर उठेगा और यह विद्रोह 'हूटिंग', शोरगुल आदि के रूप मे अभिव्यक्त हो जायगा । प्रयोग के समय नेपथ्य की व्यवस्था ठीक न होने पर प्रायः इस प्रकार की असावधानी हो जाती है । कभी-कभी कोई अभिनेता दम्भ अथवा भ्रमवश सेनापति का मुकुट न लगा राजा का मुकुट लगा कर मंच पर आ जाता है और सामाजिक के उपहास और व्यंग्य का शिकार बन जाता है इन सब के मूल मे कमी है उस विशद कल्पना, ज्ञान और अनुभव की, जो किसी भी उपस्थापक, शिल्पी या कलाकार के लिये अपेक्षित है । इस अभाव की पूर्ति के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक नगर की रंगशाला के साथ एक संग्रहालय और एक नाट्य पुस्तकालय की व्यवस्था हो । इस संग्रहालय मे विभिन्न युगो एवं जनजातियो के वस्त्राभरण, शस्त्र, पात्र, प्राचीन मूर्तियो आदि का प्रदर्शन होना चाहिये । प्राचीन मूर्तियो को देख कर तत्कालीन केश-सज्जा, वस्त्र-सज्जा, नृत्य-मुद्रा आदि सीखी जा सकती है । पुस्तकालय मे भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के ग्रन्थो के अतिरिक्त हिन्दी तथा अन्य भाषाओ के नाटक, इतिहास, संस्कृति, रंगमंच और उसके स्थापत्य, रंगशिल्प आदि से सम्बन्धित पुस्तकें होनी चाहियें । इसके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, पुराण आदि जैसे सदर्भ-ग्रन्थ भी उसमे रखे जाने चाहिए । इनके अतिरिक्त नाट्य विषयक पत्रिकाएँ भी उसमे आनी चाहिए । नाट्य-विषयक पत्रिकाओं की इस देश मे बहुत कमी है । प्रत्येक राज्य से कम से कम या अधिक नाट्य-विषयक पत्रिकाएँ निकलनी चाहिए । इस प्रकार की पत्रिकाओ को आत्मभरित बनाने के लिये नाट्य-संस्थाओ और कलाकारो को तो उसके प्रचार-प्रसार मे योगदान देना ही चाहिये, शिक्षा-संस्थाओं, पुस्तकालयों और सरकार को भी आगे बढ़ कर इस दिशा मे योग देना चाहिये ।

इस प्रकार की आदर्श रंगशाला की स्थापना के अभीष्ट होने पर भी यह कार्य अत्यन्त कठिन है । इसकी स्थापना धनीमानी नाट्यानुरागी या सरकार ही कर सकती है । संस्थागत प्रयासो से भी इस अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है, किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि इस संस्था के सभी सदस्य, सभी रंगकर्मी निस्पृह एवं 'मिशनरी' हो और वे रंगशाला की स्थापना के लिये उत्सर्ग-भावना से अहर्निशि काम करें ।

हम यह देख चुके हैं कि रंगमंच मे व्यावसायिक सभावनाएँ निहित हैं, किन्तु धनाभाव के कारण अधिकांश मंडलियाँ या संस्थाएँ और अपनी रंगशालाएँ बनाने और रंगोपकरण आदि खरीदने मे असमर्थ हैं । हिन्दी-क्षेत्र में ऐसे कल्पनाशील व्यवसायियो की कमी है, जो अपनी पूँजी का विनियोग नाट्यप्रयोग के लिये करें, अतः सरकार का यह कर्तव्य है कि रंगशाला बनाने के लिये उत्सुक नाट्य-संस्थाओं को कम से कम ६० प्रतिशत अनुदान और ४० प्रतिशत ऋण साधारण ब्याज पर प्रदान करे । यह ऋण साधारण किस्तो मे २० वर्षो मे चुकाया जाय । इसी के साथ दीप्ति एवं-ध्वनि उपकरणो के क्रयादि के लिये उन्हे उपर्युक्त अनुपात मे ही सहायता दी जाय । ये संस्थाएँ सप्ताह मे कम से कम आठ प्रयोग दें—रविवार को मैटिनी सहित दो और सप्ताह के शेष दिनो मे एक-एक, जिससे रंगशाला का निर्माण एक सफल व्यावसायिक परियोजना (बिजनेस प्रोपोजीशन) बन सके । इसमे यह भावना निहित है कि लेखक को उचित 'रायल्टी', प्रत्येक कलाकार एवं शिल्पी को जीवन-निर्वाह-योग्य वेतन, किन्तु उपस्थापक तथा निर्देशक को वेतन न देकर विशेष मानदेय (स्पेशल आनरेरियम) दिया जायगा ।

मनोरंजन कर से मुक्ति रंगमंच के विकास मे अन्तिम परिसीमा—मनोरंजन कर, जो हिन्दी क्षेत्रो मे (मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश को छोड़ कर) आज भी लागू है । मराठी और गुजराती का केन्द्र बम्बई मनोरंजन कर से मुक्त है । एक ओर यह सामाजिक की जेब पर छापा मारता है, तो दूसरी ओर उपस्थापक की आय पर प्रहार करता है । अतः ऐसी स्थिति मे मंडली या संस्था की आर्थिक स्थिति और प्रयोग के स्तर पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । हिन्दी ही नही, जिन-जिन राज्यो में यह मनोरंजन कर है, वहाँ सभी जगहों से इसे उठा लेना आवश्यक है ।

है। सरकार को इस दिशा मे गम्भीरता से विचार करना चाहिये। मनोरंजन कर के नाम पर राष्ट्रोत्थान एवं समाज-शिक्षा के माध्यम रंगमंच की कार्यवाहियो को कुण्ठित करना अन्ततः राज्य के हित मे भी नही होगा।

अप्रकाशित नाटकों का प्रकाशन-संरक्षण : कर-मुक्ति के साथ रंगमंच, विशेषकर पारसी-हिन्दी रंगमंच के अधिकांश अप्रकाशित नाटकों को प्रकाशित कर अथवा उनकी 'माइक्रो कापी' तैयार करा कर उनका संरक्षण करना अत्यावश्यक है, जिससे इस विशाल नाट्य-साहित्य को लुप्त होने से बचाया जा सकता है। प्रयास करने पर बम्बई और कलकत्ते मे यह नाट्य-भण्डार अभी भी मिल सकता है। सरकार को इस ओर तत्काल ध्यान देना चाहिए।

उपसंहार : संक्षेप मे, रंगमंच का अतीत अपनी परिसीमाओ और उपलब्धियों के साथ गौरवपूर्ण रहा है, आज उसकी परिसीमाएँ दूर हो रही हैं और उसकी समस्याओं के समाधान प्रस्तुत हो रहे हैं, किन्तु हमें उनके भविष्य को सम्पूर्ण आस्था और विश्वास के साथ इससे अधिक उज्ज्वल, अधिक गौरवमण्डित बनाना है, जिसके लिए प्रत्येक मण्डली या संस्था के समस्त सदस्यो को साधना और उत्सर्ग करना होगा तथा रंग-देवता के चरणों मे अपने जीवन की, अपनी कला और शिल्प की पुष्पांजलि निरन्तर चढानी होगी। इस पुष्पांजलि मे ऐसे पुष्प होने चाहिए, जो इस देश की मिट्टी से उपजे हो और जिनका इस देश की हवा और प्रकाश मे संपोषण हुआ हो।

संदर्भ

७–हिन्दी रंगमंच : समस्याएँ अनुप्रेरणाएँ और भविष्य

१. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरणमजरी, पृ० ६३।

२. वही, पृ० १५९ तथा २७०-२७१।

३. डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, हिन्दी रंगमंच : समस्याएँ और सुझाव (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, १ जनवरी १९६१, पृ० २३)।

४. मनमोहन घोष, सं०, दि नाट्यशास्त्र, भाग २, ३५।९१।

५. वही, ३५।६६-७१।

६. वही, भाग १, २७।८२।

७. वही, २७।१००-१०१।

८. नेमिचन्द्र जैन, रंग-दर्शन, दिल्ली, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, १९६७, पृ० १५९।

९. सत्येन्द्र शर्मा, हिन्दी रंगमंच और श्री सुदर्शन गौड़ (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, १२ जून, १९६० पृ० १३)।

१०. मणिलाल भट्ट, कर-मुक्ति (गुजराती नाट्य, बम्बई, अप्रैल-मई, १९५३, पृ० ३२)।

११. गोविन्दप्रसाद केजरीवाला, हिन्दी रंगमंच की संभावनाएँ (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, २६ नवंबर, १९६१, पृ० २१)।

१२. बच्चन श्रीवास्तव, राजधानी के अंचल में (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, १४ जनवरी, १९६२)।

१३-१४ कान्टेम्पोरेरी प्लेराईटिंग एंड प्ले-प्रोडक्शन, रिपोर्ट आफ सेमिनार, मार्च ३१ अप्रैल २, १९६१, नई दिल्ली-भारतीय नाट्य संघ, पृ० ११८।

१५. दैनिक आज, वाराणसी, १७ अक्टूबर, १९६१।

१६. दैनिक जागरण, कानपुर, १३ अगस्त, १९६२।

१७. नेशनल हेराल्ड, लखनऊ, १९ नवम्बर, १९६१।

१८. नेमिचन्द्र जैन, रंग दर्शन पृ० १५-१६।

१९. वही, पृ० १५७ ।

२० म० घोष, स०, दि नाट्यशास्त्र, भाग१, २७।७३-७६ ।

२१. वही, २७।६२-६८ ।

२२. वही, २७।७० ।

२३. वही, २७।२-५।

२४. वही, १७।१६-१७ ।

२५ वही, २७।३७ ।

२६ राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटक-काल, पृ १५७-१५८ ।

२७. वही, पृ० १५८ ।

२८. जान बोर्न, फेस्टिवल्स एण्ड कम्पटीशम्स (थियेटर एण्ड स्टेज, भाग १, पृ० २९९) ।

२९. १३-१४-वत्, पृ० ११६-११८ ।

३०. प्रो० श्री गो० काशीकर, विदर्भ साहित्य संघाचे घनवटे रंगमदिर (युगवाणी, नाट्य महोत्सव विशेषांक, दिसम्बर, १९५८ जनवरी १९५९, पृ० ४४) ।

३१. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, २२ सितम्बर, १९६१ ।

३२-३३ विदर्भ साहित्य सघ, नागपुर के सर चिटणीस (महासचिव) श्री गो० स० देहाडराय से ६ फरवरी, १९७५ को हुई वार्ता के आधार पर।

३४ सम इडियन थियेटर्स (नाट्य, नई दिल्ली, थियेटर आर्किटेक्चर नम्बर, विंटर, १९५९-६०, पृ० १००) ।

३५. स्वतन्त्र भारत, लखनऊ, ६ अप्रैल १९६८ ।

३६. म० घोष, स०, दिनाट्यशास्त्र भाग २, कलकत्ता, रा० ए० सो० व०, ११५०, पृ० ३५।९९ ।

३७ लोकनाथ भट्टाचार्य, दि म्यूजिकल कामेडी (स्पैन, नई दिल्ली, नवम्बर, १९६२) ।

३८. रणवीरसिंह, भारतीय रंगमच और सेंसर ('नटरग', नई दिल्ली, अक्टू०-दिसम्बर, ६५), पृ० ९७ ।

३९. वही, पृ० ९७-९८ ।

४०. डॉ० अज्ञात, स्वतन्त्रय-यज्ञ मे रगमच की आहुतियाँ ('नवजीवन', लखनऊ, साप्ताहिक परिशिष्टाक, १४ फरवरी, १९७१), पृष्ठ ३ ।

४१. ३८-वत् पृष्ठ ९९ ।

४२ सी० बी० पुरडम, दि वर्क आफ दि प्रोड्यूसर (थियेटर एण्ड स्टेज, भाग २, लदन, दि न्यू एरा पब्लिशिंग क० लि०, पृ० ७४३) ।

परिशिष्ट

१. हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक 'विद्याविलाप
२. कतिपय ऐतिहासिक भित्तिपत्रक (पोस्टर)

परिशिष्ट-एक

१. हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक 'विद्याविलाप'

हिन्दी के अनेक नाटको के उपलब्ध न होने अथवा शोधकों को अनुसधान मे विलम्ब से उपलब्ध होने और उनका भली प्रकार अध्ययन एव विश्लेषण न हो पाने के कारण नाट्य-वाड्मय के इतिहास मे अनेक भ्रांतियाँ अथवा अपरिपक्व धारणाएँ प्रसार पा चुकी हैं। हिन्दी के प्रथम अभिनीत नाटक के निर्धारण के सम्बन्ध मे अनेक मत-मतातर हैं। डॉ० दशरथ ओझा राजस्थानी-हिन्दी मे लिखित 'गयसुकुमार-रास' को हिन्दी का प्रथम नाटक मानते है, जिसका रचना-काल वि० स० १२८९ (१२३२ ई०) (या वि० स० १३०० के सन्निकट ?) है। इस नाटक के प्रारम्भ मे 'मंगलाचरण' और अन्त मे 'आर्शीवचन' है।[1] इस रास का अभिनय किस वर्ष हुआ, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है, परन्तु चूकि ये धार्मिक रास अभिनय के लिये ही लिखे जाते थे, अत: यह सहज अनुमान्य है कि इसका अभिनय अपने रचनाकाल के वर्ष और उसके अनन्तर भी समय-समय पर किया जाता रहा होगा। डॉ० ओझा का मत है कि राजस्थान मे आज भी तालियो के ताल और डॉडियों की परस्पर तालबद्ध चोट के साथ रास-नाटकों का अभिनय किया जाता है।[2]

इसके विपरीत बाबू गुलाबराय[3] तथा उमेशचन्द्र मिश्र[4] ने रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह के आनंद-रघुनन्दन नाटक' (रचनाकाल ईसा की १९वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध तथा उमेशचंद्र मिश्र के अनुसार १७०० ई०, जो सही प्रतीत नही होता) को हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना है। बा० वृजरत्नदास जी ने भी भारतेन्दु जी की साक्षी देकर यह कह दिया है कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र ने 'आनद-रघुनन्दन नाटक' को प्रथम नाटक माना है[5], यद्यपि भारतेन्दु जी ने अपने 'नाटक' निबन्ध मे ऐसी कोई मान्यता नही व्यक्त की है। उन्होने केवल इतना ही कहा है कि 'देवमाया प्रपच नाटक', 'प्रभावती नाटक' तथा 'आनन्दरघुनंदन नाटक' 'यद्यपि नाटक-रीति से बने हैं, किन्तु नाटकीय यावत् नियमो का प्रतिपालन इनमे नही है और ये छन्द-प्रधान ग्रंथ है।[6] उन्होने अपने पिता गिरिधरदास (बा० गोपालचन्द्र) के 'नहुष 'नाटक' को 'विशुद्ध नाटक रीति से पात्र-प्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा (हिन्दी) का प्रथम नाटक' माना है।[7] इसका रचना-काल १८५७ ई० है। उपर्युक्त दोनों नाटको का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह विदित होता है कि दोनो नाटको मे पात्र-प्रवेशादि नियमो का पालन किया गया है, और रग-सकेत भी है दोनों मे नांदी और प्रस्तावना है। 'आनंदरघुनदन' मे सस्कृत-नियम के अनुसार अक के साथ विष्कमक का प्रयोग है और एक ही अंक मे 'सर्वे निष्क्रान्ता.' कह कर कई-कई दृश्यो की सूचना भी है, यद्यपि नहुष मे अंक के साथ कोई दृश्य या गर्भांक नही है। 'आनंदरघुनंदन नाटक' मे पात्रानुसार भाषा का प्रयोग भी किया गया है, परन्तु इन दोनो नाटको के अभिनीत होने का कोई उल्लेख नही प्राप्त होता।

उमेशचंद्र मिश्र ने सैयद आगाहसन 'अमानत' की 'इदरसभा' (रचनाकाल १८५३ ई०, जो वस्तुत: १८५२ई० में लिखा गया था और उसी वर्ष प्रकाशित भी हो गया था) को 'सर्वप्रथम रंगमंचीय नाटक' बताया है।[8] यह वस्तुतः नाटक न होकर एक सगीतक या गीति-नाट्य है, जिसका अभिनय सन् १८५७ में हुआ था।

इसी प्रसग मे डॉ० शारदा देवी विद्यालकार की एक खोज का उल्लेख श्रीकृष्णदास ने करते हुए कहा कि

'श्रीकृष्णचरित्रोपाख्यान' नामक नाटक का अभिनय काठमाडू मे, इद्र-यात्रा के अवसर पर, भाटगाँव नेपाल के नेवारियो द्वारा १ सितबर, १८३५ ई० को किया गया था। यह नाटक १ सितम्बर से १७ सितम्बर, १८३५ के बीच आठ रातो तक खेला गया। मगलाचरण और स्तुतियाँ संस्कृत मे, बीच-बीच मे आने वाले पद्य मैथिली-मिश्रित अवधी और व्रजभाषा मे है। गद्य-सवादो की भाषा खडी बोली है और कुछ नेवारी और पहाडी भाषा के शब्द भी उसमे है। नाटककार का नाम अज्ञात है। यह नाटक अको के बजाय ९ सर्गो मे है।

नेपाल मे मैथिली नाटको की एक प्राचीन और समृद्ध परम्परा रही है. जो चौदहवी शताब्दी मे 'वर्ण रत्नाकर' के रचयिता ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य, कृत मैथिली प्रहसन 'धूर्तसमागम' (१३२४ ई० के लगभग) से प्रारम्भ होती है। ज्योतिरीश्वर को महाराज हरसिंह द्वारा 'अभिनव भरत' कह कर उनकी प्रशसा की गई है। 'धूर्त समागम' के सवाद सस्कृत और प्राकृत और गीत मैथिली मे है जो रागबद्ध हैं' यह नाटक महाराज हरसिंह जिन्हें 'नरसिंह' भी कर गया है, के समय मे लिखा गया था। 'श्रीकृष्णचरित्रोपाख्यान' इस नाट्य-परपरा का एक विकसित रूप है, जिसके सवाद सस्कृत मे न होकर खडी बोली मे हैं। नेपाल मे नाटकाभिनय की भी दीर्घ परपरा रही है, अत डॉ० शारदा देवी विद्यालकार की खोज का महत्त्व केवल इसी बात मे है कि 'श्रीकृष्णचरित्रोपाख्यान' एक ऐसा अभिनीत नाटक है, जिसके सवाद 'आनदरघुनदन नाटक' की भाँति व्रजभाषा गद्य मे नही, खडी बोली गद्य मे है। इसके विपरीत तेरहवीं शताब्दी के 'गयसुकुमार रास' की भाषा अपभ्रंश मिश्रित राजस्थानी है और उसके पद्य-प्रधान होने के कारण गद्य-सवाद तत्त्व का अभाव है। दूसरे यह प्राय नृत्य-गान-प्रधान है।

कुछ विद्वानो ने मैथिली का सर्वप्रथम नाटक 'विद्या-विलाप' को माना है, जो भाटगाँव (भक्तपत्तन नगरी) के शासक महाराज विश्वमल्ल के शासनकाल मे सन् १५३३ ई० या इसके आस-पास लिखा और उनकी सभा मे खेला गया था।[11] इसमे बँगला प्रभावित हिन्दी (व्रज, मैथिली और खडी बोली) मे गद्य-सवाद हैं। इस नाटक के सवाद-तत्त्व मे और कल्पित होते हुए भी कथावस्तु मे नाटकीयता है। इस दृष्टि से यह मैथिली का ही नही, हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक माना जा सकता है। कहते हैं कि 'विद्याविलाप' नाटक की एक खडित हस्त-लिखित प्रति मिल चुकी है।

भारतेन्दु जी ने शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'जानकी मगल' नाटक को हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक माना है।[12] यह चैत्र शुक्ल ११ स० १९२५ तदनुसार ३ अप्रैल, १८६८ ई० को खेला गया था। इस भ्रान्ति का कारण सम्भवत. यह है कि उनके समय तक मैथिली नाटको का अनुसधान एव अध्ययन नही हुआ था।

हिन्दी का आदि नाटक हमारे मत के अनुसार भाटगाँव मे लिखित एव अभिनीत नाटक 'विद्याविलाप' ही है। यद्यपि इसके लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व अपभ्रंश और राजस्थानी के जैन रास नाटको की परम्परा उपलब्ध होती है, तथापि इस सम्बन्ध मे अभी तक हुआ अध्ययन इतना पर्याप्त नही है कि उन्हें हिन्दी के आदिकाल के नाटक मान कर उनके प्रभाव को स्वीकार किया जा सके। इसके विपरीत मैथिली के 'विद्याविलाप' से प्रारम्भ कर लगभग साढे तीन-चार सौ वर्ष के बीच एक दीर्घ नाट्य-परपरा प्राप्त होती है, जिसका क्रमिक इतिहास डॉ० ए० सी० बागची और डॉ० जयकात मिश्र के प्रयासो से अब उपलब्ध है। इस दिशा मे डॉ० बागची की पुस्तक 'नेपाल भाषा नाटक' और डॉ० जयकात की पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर' से अच्छा प्रकाश पडता है। मैथिली नाटको की कुछ पाँडुलिपियाँ भी उपलब्ध हुई हैं और उनमे से कुछ नाटक डॉ० मिश्र के सपादन मे अखिल भारतीय मैथिली साहित्य समिति, प्रयाग से प्रकाशित भी हुए हैं। डॉ० बागची ने भी कुछ मैथिल नाटकों को सम्पादित कर प्रकाशित किया है।

नेपाल मे हिन्दी की मैथिली बोली में जिन कीर्तनिया नाटकों का विकास हुआ, वे मुख्यतः दो प्रकार के

थे । एक तो वे थे, जिनके संवाद और पद्य-भाग अधिकांशतः संस्कृत तथा प्राकृत में लिखे जाते थे और जिनकी रचना-पद्धति पर संस्कृत शैली का प्रभाव रहता था । पद्य-भागों के गायन के लिए उनके अनुवाद या भाव मैथिली गीतों में रखे जाते थे । विद्यापति के 'गोरक्ष-विजय नाटक' और 'मनिमंजरी नाटक', रामदास झा का 'आनंदविजय नाटक', गोविन्द का 'नलचरित' उमापति का 'पारिजात हरण' आदि नाटक इसी कोटि के थे ।

दूसरे प्रकार के *कीर्तनिया नाटकों में मैथिली का ही सर्वत्र प्रयोग किया जाता था ।* इनमें रागबद्ध गीत मैथिली में हुआ करते थे और संवाद भी मैथिली पद्य या यत्र-तत्र संस्कृत गद्य में हुआ करते थे । इनमें रंग-संकेत प्रायः संस्कृत में होते थे । इस प्रकार के नाटकों में प्रमुख हैं–'विद्याविलाप' (१५३३ ई०), लाल कवि और कान्हा रामदास के 'गौरी स्वयंबर' नाटक, नन्दीपति का 'श्रीकृष्णकेलिमाला' शिवदत्त के 'पारिजात-हरण' और 'गौरीपरिणय' आदि । इसे मैथिल नाटकों का द्वितीय चरण माना जा सकता है ।

मैथिल नाटकों की एक तीसरी शाखा आसाम के अंकिया नाटकों के रूप में मिलती है । इस शाखा के *प्रथम नाटककार शंकरदेव थे, जिन्होंने 'कालिय-दमन', 'राम-विजय' अथवा 'सीता-स्वयंवर', 'रुक्मिणी-हरण', 'पत्नी-प्रसाद', 'केलिगोपाल' और 'पारिजात हरण' नाटक लिखे हैं । ये नाटक प्रकाशित भी हो चुके हैं ।* इनकी *भाषा* बंगला प्रभावित मैथिली है । *संवाद प्रायः मैथिली गद्य में हैं और गीत भी मैथिली में हैं ।*

मैथिल नाटकों का प्रारम्भ यद्यपि विद्यापति से माना जाता है, परन्तु हिन्दी के नाटकों का प्रारम्भ हमने सोलहवीं शताब्दी के 'विद्याविलाप' से माना है, जिसमें संस्कृत-शैली के प्रभाव को त्याग कर मैथिली का प्रयोग केवल गीतों के लिए न होकर पद्य-संवाद के लिए भी हुआ है । कहीं-कहीं मैथिली गद्य में भी संवाद हैं । 'विद्या-विलाप' की कथा चौर कवि-कृत 'चौर पंचाशिका' की लोकप्रिय कथा पर आधारित है, जिसने उत्तर भारत की प्रायः अधिकांश भाषाओं के नाटकों में स्थान प्राप्त कर लिया है । भैरवचन्द्र हालदार-कृत बंगला का 'विद्यासुन्दर' यात्रा नाटक (१८२३ ई०) और भारतेन्दु का 'विद्यासुन्दर' (हिन्दी, १८६८ ई०), दोनों इसी 'विद्याविलाप' *की कथा को लेकर लिखे गये हैं । उक्त नाटक के अलावा मैथिली में जो अन्य नाटक लिखे गये, वे राम, कृष्ण और* शिव अथवा उनके पारिवारिकों के चरित्रों को लेकर ही मुख्य रूप से लिखे गये हैं । नेपाल में मैथिली नाटकों के द्वितीय चरण से प्रारम्भ होने वाली यह दीर्घ नाट्य-परंपरा बीसवीं सदी के प्रारम्भिक कुछ दशकों तक चलती रही है, यद्यपि अब इस प्रकार के कीर्तनिया नाटकों का लेखन अवरुद्ध हो चुका है ।

वस्तुतः, नेता और रस की दृष्टि से इन मैथिली नाटकों का तात्त्विक विवेचन करने पर निम्नांकित तथ्य सामने आते हैं :–

१–संस्कृत और/या प्राकृत के संवादों के क्रमशः लुप्त हो जाने के बाद भी भरत द्वारा स्थापित नाट्य-*नियमों का पालन होता रहा ।* प्रारम्भ में गणेश, गौरीशंकर और शक्ति" *अथवा* कुछ नाटकों में केवल शंकर की *स्तुति करने के बाद" सूत्रधार का प्रवेश होता है । सूत्रधार या तो आश्रयदाता (राजा)* और देश का वर्णन करने के बाद" अथवा सीधे ही *नटी के साथ अभिनय के लिये* नाटक की प्रस्तावना करता और उसके लेखक की चर्चा करता है । इसके बाद मूल नाटक प्रारंभ हो जाता है । अन्त में भरत-वाक्य भी होता है ।"

२–प्रत्येक नाटक एक या अधिक अंकों में विभाजित होता है । अंकों का यह विभाजन कथा-वस्तु के प्रायः एक दिन में अभिनीत हो सकने योग्य अंश के आधार पर किया जाता था । एक नाटक का अभिनय कई दिनों में पूरा हुआ करता था ।" अभिनय प्रायः दिन में ही हुआ करता था । सम्भवतः इसी से अंक के प्रारंभ में 'अथ प्रथम दिवसे', 'अथ द्वितीय दिवसे' आदि और अंक के समाप्त होने 'इति प्रथमोऽङ्कः' या 'इति द्वितीयोऽङ्कः' लिखा रहता है । नाटक प्रायः एक अंक (*लाल कवि-कृत 'गौरी-स्वयंबर'* और विष्णुसिंह *मल्ल-कृत 'उषाहरण अथवा कृष्णचरित्'*), दो अंक (*ज्योतिरीश्वर-कृत 'धूर्तसमागम'*) चार अंक (*वंशमणि झा-कृत 'गीता-दिगम्बर'*

१६५५ ई० रामदास झा-कृत 'आनंद विजय नाटिका नंदीपति-कृत 'कृष्णकेलिमाला' आदि), पाँच अंक (हर्षनाथ झा-कृत 'उषाहरण') छ अंक (रमापति उपाध्याय-कृत 'रुक्मिणी परिणय' अथवा 'रुक्मिणी स्वयंवर) तथा सात अंक (महाराज भूपतीन्द्रमल्ल-कृत-'विद्याविलाप', काशीनाथ-कृत-'विद्याविलाप', और गोकुलानंद-कृत 'मानचरित्') के मिलते है। भाटगाँव के शासक भूपतीन्द्रमल्ल के शासन-काल मे सन् १७०२ ई० मे 'महाभारत' नामक नाटक की रचना हुई, जिसमे २३ अक है।[१] नाटको मे गर्भो को या दृश्यो का विधान नही है।

३—नाटक मे सूत्रधार, नटी, विदूषक, नारद, घटक या घटकराज का उपयोग मिलता है। नारद का देव-पात्र के रूप मे उपयोग कीर्तनिया नाटकों की विशेषता है, जो कथासूत्र को जोड़ने और विकसित करने का काम करता है। सम्भवत इसकी आवश्यकता इसलिए भी पड़ती है कि शिव, कृष्ण आदि के पौराणिक आख्यानो मे नारद एक अनिवार्य अंग के रूप मे जुड़े हुए हैं और इस प्रकार इन आख्यानों से सम्बन्धित नाटको मे नारद का स्थान पाना स्वाभाविक है। अधिकाश कीर्तनिया नाटको के नायक कृष्ण और शिव जैसे देव-पात्र हैं। कुछ मे कृष्ण के वशज अनिरुद्ध और प्रद्युम्न नायकत्व ग्रहण करते है। तदनुरूप राधा, रुक्मिणी, सत्यभामा, उषा, गौरी आदि नायिका के रूप मे अवतरित हुई हैं। इसका कारण सभवत यह है कि वे कीर्तनकारों के इष्ट रहे है और हर कीर्तनकार ने अपने-अपने इष्टो को लेकर ही नाटक लिखे, जिसके कारण वस्तु की पुनरावृत्ति बार-बार देखने मे आती है।

'विद्याविलाप' नाटक ही इस काल का एकमात्र स्वच्छंदताधर्मी नाटक है, जिसका नायक राजकुमार सुंदर तथा नायिका राजकुमारी विद्या है। इसमे किसी देव-पात्र या नारद का प्रयोग नही हुआ है।

४—सवाद प्राय दोहा, श्लोक और रागबद्ध गीतो मे हैं। गीतो मे प्राय. असावरी, भैरवी, धनाश्री (धनछी), माल कौशिक, तोडी, बसन, कल्याण, सारग, (शालगी), कानल, विभास, ललित देश (देशास), आदि जैसे प्रसिद्ध रागो का समावेश है तथा लोक-धुनो को भी अपनाया गया है।

गद्य मे भी सवाद हैं, किन्तु प्राय गद्य का अश बहुत थोडा रहता है और कही-कही तो सस्कृत मे भी सवाद दिये गये हैं।[१]

रागबद्ध गीतो को नाट्य मडली (जिसे 'जमाती' कहते थे) के कलाकार विधिवत् गाते और उनका भावाभिनय भी करते थे। नाटक मे कुछ रागबद्ध पद्याश होते थे, जिन्हें सूत्रधार द्वारा गाया जाता था और इनके बीच मे आने वाले सवादो को अभिनेता या तो बोल देते थे अथवा उन सवादो की भावना के अनुसार नाट्य करते थे। मेरे इस मत की पुष्टि लाल कवि-कृत 'गौरी-स्वयंवर' नाटक के उस रागबद्ध गीत से होती है, जिसमे नारद का हिमालय के पास जाना तथा गौरी से विवाह के लिये शकर का प्रस्ताव लेकर आने की बात कहना, हिमालय का सुनकर प्रसन्न होना और गौरी-शकर के विवाह का सकल्प लेकर मैना के पास दौड कर जाना एक ही गीत मे वर्णित है, जिसे सम्भवत सूत्रधार द्वारा आसावरी राग मे गाया जाता है।[१] विष्णुदास भावे (उन्नीसवी शताब्दी) के मराठी नाटको मे भी सवाद और अभिनय की इसी मिलती-जुलती पद्धति का प्रयोग होता था।

कीर्तनिया नाटको की एक विशेषता है—'प्रवेश गीत' द्वारा नाटक के पात्रो का परिचय देना। पात्र-परिचय की इस पद्धति का श्रीगणेश नंदीपति के 'श्रीकृष्ण केलिमाला' नाटक से होता है, जो १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे। तभी से नांदी-पाठ के अनंतर प्रवेश गीत का समावेश सभी नाटको मे होने लगा था।[१]

५—नाटको मे प्राय. शृंगार, वीर, हास्य, करुण आदि रसो का ही मुख्य रूप से आश्रय लिया गया है।

सोलहवी शताब्दी मे एक ओर जहाँ नेपाल मे मैथिली नाटको का विकास हो रहा था, वही दूसरी ओर ब्रजप्रदेश मे भी ब्रजभाषा के रास-नाटको का सृजन प्रारभ हो चुका था। डॉ० दशरथ ओझा ने रास-नाटकों की तीन धाराओं—(१) लकुट रास, ताल-रास के विकसित रूप शृंगार प्रधान जन-नाटको रूप मे प्रवर्तित रासधारा

धारा, (२) जैन-धर्म के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ 'गयसुकुमार', नेमिरास जैसे शान्तरस-प्रधान धार्मिक रासों की धारा तथा (३) 'रासो' के रूप मे राजचरित् को लेकर रचित वीररस-प्रधान नाटकों की धारा"[१] का उल्लेख कर एक चौथी धारा व्रजभाषा की कृष्णरास-धारा का विस्तृत वर्णन कर उसका प्रादुर्भाव 'श्रीमद्भागवत' से होना बताया हैं, यद्यपि उसका नियमित प्रारम्भ उन्होने नददास के प्रारम्भिक रामलीला नाटकों से माना हैं।

यदि इस मोह का परित्याग कर दिया जाय कि हिन्दी नाटको का जन्म सुदूर अतीत मे होने की बात सिद्ध करती हैं, तो हम देखेंगे कि लकुट रास, ताल रास आदि मुख्य रूप से नृत्य-गीत-प्रधान लोक-नाट्य मात्र थे, जैसा कि स्वय डॉ० ओझा ने स्वीकार भी किया है।"[२] सोलहवी शती मे व्रजमडल मे जिस रासलीला नाटक का अभ्युदय हुआ, उसमे मडल रास या मडलाकार नृत्य के साथ तालियो और डाँडियो का भी, थाप देने के लिये, उपयोग किया गया था। इस रासलीला मे लोक-नृत्य के साथ शास्त्रीय नृत्य-पद्धति को भी अपनाया गया था। राजस्थान के मदिरो मे व्रजमडल के रास के प्रचार-प्रसार होने के उपरान्त उसने कुमावतो के योग से उन्नीसवीं शती मे लोकजीवन मे भी प्रवेश पाया। उगारियावास के शिवलाल, ईसरराम (ईश्वरराम) आदि कुमावत अच्छे सगीतज्ञ एव लीलाकार थे, अत उन्होने व्रज के शास्त्रीय नृत्य-सगीत की परपरा को दूर तक अक्षुण्ण बनाये रखा।"[३] इसी बीच राजस्थान मे रामलीलाओं का प्रभाव बढा और इन रासधारियो ने कृष्णेतर चरित्, विशेषकर रामचरित् को अपनाया और उसे वे ख्याल के रूप मे प्रस्तुत करने लगे। क्रमश 'रामधारी' किसी व्यक्ति या मडली का वाचक न रहकर राजस्थान की विशिष्ट लोकनाट्य शैली के अर्थ मे रूढ हो गया। इसका विकास वहाँ की जलवायु, सस्कृति एव लोक-प्रतिभा के अनुरूप हुआ, जिसमे न तो शास्त्रीय नृत्य के दर्शन होते हैं और न उसमे शास्त्रीय राग-रागिनियों का ही उपयोग होता है। रासधारी के बाह्य रूप एव कथ्य मे भारी परिवर्तन हुआ है। एक ओर इसमे लोक-संगीत एवं लोकनृत्य का प्रचलन बढा है, तो दूसरी ओर उसके कथ्य के अन्तर्गत कृष्णलीला के अतिरिक्त राम, हरिश्चन्द्र तथा नागजी-नागवंती की कथाएँ भी सम्मिलित कर ली गई है।"[४]

इसी प्रकार दूसरी धारा के 'गयसुकुमार' आदि नाटक जैन धर्म के प्रचार ग्रथ हैं, उन्हें नाटक की कोटि में नही रखा जा सकता।

'रासो' का वास्तविक रास-नाटकों से कोई व्यक्त सम्बन्ध नही है। केवल 'रासो' और 'रास' के नाम साम्य के आधार पर उन्हें रास-नाटक नही माना जा सकता। 'रासो' का राजस्थानी भाषा मे अर्थ है—'रासा' या सघर्ष, अत इस शैली मे मुख्य रूप से वीरगाथा-काव्य ही लिखे गये हैं, जिन्हें नाटक नही कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सन् १५३३ मे या इसके आस-पास भाटगाँव (भक्तपुर, नेपाल) में अभिनीत)'विद्याविलाप' ही हिन्दी का प्रथम विधिवत् अभिनीत) नाटक है।

संदर्भ

१. डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, दिल्ली, राजपाल एंड संस, तृतीय सस्करण, मई, १९६२, पृष्ठ ८४।
२. वही, पृष्ठ ८४ तथा ४५८।
३. बा० गुलाबराय, हिन्दी नाट्य-विमर्श, पृष्ठ ७६।
४. उमाशचन्द्र मिश्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक, इलाहाबाद, साहित्य भवन प्रा० लि०, प्र० सं० १९५९, पृष्ठ १२।
५. बा० व्रजरत्नदास, हिन्दी नाट्य-साहित्य, बनारस, हिन्दी साहित्य कुटीर, च० स०, १९४९, पृष्ठ ६२।
६. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'नाटक' निबन्ध (भारतेन्दु ग्रथावली, पहला भाग), पृष्ठ ४७८।
७. वही, पृष्ठ ४७८-४७९।

८. ४-वत्, पृष्ठ १३ ।
९. श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परंपरा, परिशिष्ट ४, प्रयाग, साहित्यकार संसद्, प्र० सं०, १९५६, पृष्ठ ६८६-६८८ ।
१०. ज्योतिरीश्वर मैथिली 'धूर्तसमागम', सं० डॉ० जसवंत मिश्र, अखिल भारतीय मैथिली साहित्य समिति, १९६० ।
११. 'श्रीमत् श्री भक्तपत्तन नगरी सकल गुणिजनशोभित, तार महिमा शुन——श्री श्री विश्वमल्ल नृपती——श्री श्री जय विश्वमल्ल देवस्य सभा के महिमा शुन——श्री भक्तपत्तन नगरे 'विद्याविलाप' नाटक प्रवर्त्त हैलो, ता देखि निमित्त आश्रे जावो ।'
१२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'नाटक' निबंध (भारतेन्दु ग्रंथावली, पहला भाग), पृ० ४८३ (क) डॉ० ए० सी० बागची, नेपाल भाषा नाटक, पृ० १७२ तथा (ख) डॉ० जयकांत मिश्र ए हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, भाग १ इलाहाबाद, तिरुभुक्ति पब्लिकेशन्स, १९४९, पृ० २६२ ।
१३. देखें—लाल कवि, गौरी-स्वयंवर (अठारहवीं शती), पृ० ५—६ ।
१४. देखें—काशीनाथ, विद्याविलाप (अठारहवीं शती) (परिशिष्ट २, हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, ले० डॉ० दशरथ ओझा), पृ० ४४६-७ ।
१५. वही पृ० ४४७-८ ।
१६. (क) १४-वत् पृ० ४५३, तथा
(ख) श्री कृष्णदास, हमारी नाट्य-परंपरा, प्रयाग, साहित्यकार संसद्, प्र० सं०, १९५६, पृ० २५२ ।
१७. १६-(ख)—वत्, पृ० २२६ ।
१८. वही, पृ० २३० ।
१९. 'महादेव—(तस्माद्देशादागत्य नारदमाणीतवान्) भवद्भिर्हिमालये वक्तव्य, मह्य च सुतामर्पय्यति ।
नारद :—यथा ज्ञापयति भवान् ।'
—'गौरी-स्वयंवर', लाल कवि, पृ० १४ ।
२०. (असावरीरागेण गीत गायति)
हे माइ नारद घटकराज, हेमत सो अछि मिलन-काज ।
गौरि-सुता पदपल्लव आय, विहल विहि विवाह उपाय ।।
आगा ठाड मेल कर जोरि, कहलन्हि मुनि-'मागल अछि गौरि ।
तेहि काजे पठोलन्हि मोहि, सेह कहय अयलहुं हम तोहि' ।।
हेमत से सुनि हरषित भेल, दौरि मेनाइन निकट गैल ।
'करब से जे परम निबाह, गौरी-शंकर होयत विवाह' ।।
—गौरी-स्वयंबर, लाल कवि, पृ० १४ ।
२१. १६ (ख)-वत् पृ० २४५ तथा २५३ ।
२२. १—वत्, पृ० ८५-८६ ।
२३. वही, पृ० ८५ ।
२४. डॉ० महेन्द्र भानावत, राजस्थान की लीलाएँ, परंपरा और परिच्छेद (मेवाड़ के रासधारी, सं० डॉ० महेन्द्र भानावत, उदयपुर, भारतीय लोककला मंडल, प्र० सं०, जन०, ११७०), पृ० २८ ।
२५. देवीलाल सामर, मेवाड़ के रासधारी : परंपरा और प्रस्तुतीकरण (मेवाड़ के रासधारी, सं० डॉ० महेन्द्र भानावत, उदयपुर, भारतीय लोककला मंडल, प्र० सं० जन० १९७०), पृ० १५ से १९ तक ।

परिशिष्ट-दो

२. कतिपय ऐतिहासिक भित्तिपत्रक (पोस्टर)

अपने अध्ययन-भ्रमण के मध्य मुझे ऐतिहासिक महत्त्व के सवा सौ से ऊपर भित्तिपत्रक प्राप्त हुए हैं, जो आधुनिक युग की व्यावसायिक मंडलियों से सम्बन्धित हैं, जिनमें कुमारी जहाँआरा कज्जन के इंडियन आर्टिस्ट्स एसोसिएशन, शाहजहाँ थियेट्रिकल कंपनी, नरसी थियेट्रिकल कंपनी, हिन्दुस्तान थियेटर्स, मिनर्वा थियेटर, मूनलाइट थियेटर्स, पँवार थियेटर्स, भारतीय नाट्य निकेतन आदि प्रमुख हैं। इनमें इंडियन आर्टिस्ट्स एसोसिएशन द्वारा अभिनीत 'नल-दमयंती' का भित्तिपत्रक सन् १९३६ या उसके आस-पास का है। भित्तिपत्रकों की सहायता से हिन्दी रंगमंच के इतिहास की छुटी हुई कड़ियों को खोजने तथा उन्हें परस्पर जोड़ने में बड़ी सहायता मिली है। इनमें से कुछ मंडलियाँ खड़ी बोली के नाटकों के साथ राजस्थानी भाषा के नाटक भी खेलती रही हैं। बंबई का मारवाड़ी मित्र मंडल, पँवार थियेटर्स और भारतीय नाट्य निकेतन तो विशुद्ध राजस्थानी नाटकों का ही अभिनय करते थे। कलकत्ते का मूनलाइट थियेटर्स सप्ताह में दो दिन नियमित रूप से राजस्थानी नाटक-मंचस्थ करता रहा है और सप्ताह के शेष दिनों में (सोमवार को छोड़कर) खड़ी बोली के नाटक खेले जाते थे।

इन भित्तिपत्रकों से प्रयोक्ता मंडली, नाटक नाटककार, निर्देशक, कलाकारों आदि के नाम के अतिरिक्त प्रयुक्त रंगालय खेल के नाम, दिनांक, समय आदि का तो पता चल जाता है, किन्तु इनमें से किसी में भी प्रयोग का वर्ष नहीं दिया हुआ है, अतः ये नाटक किस वर्ष खेले गये, इसके निर्धारण में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। भारतीय नाट्य निकेतन का भित्तिपत्रक इस नियम का अपवाद है, जिसमें प्रयोग का वर्ष भी दिया हुआ है। इसके अनुसार 'म्हारी कांकड़-म्हारो झंडो' १ मार्च, १९५९ को खेला गया था। लेखक ने इस संदर्भ में मूनलाइट थियेटर्स के तत्कालीन निर्देशक प्रेमशंकर 'नरसी' से दिसम्बर, १९६५ में लगभग तीन सप्ताह तक निरंतर कई बार भेंट-वार्ताएँ कीं और अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य एवं सूचनाएँ संकलित कीं, जिनके आधार पर आधुनिक युग में हिन्दी के व्यावसायिक रंगमंच का विस्तृत विवरण पंचम अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

इन भित्तिपत्रकों में से कुछ के चित्र आगे दिये जा रहे हैं। ये सभी श्री प्रेमशंकर 'नरसी' के सौजन्य से लेखक को प्राप्त हुए थे।

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

१ (मुंशी) अनवर हुसेन 'आरजू', सती सारधा या मातृभक्ति, बनारस, उपन्यास बहार आफिस, १९२-।
२ उदयशंकर भट्ट, विक्रमादित्य, लाहौर, हिन्दी भवन, १९२९।
३. " सगर विजय, नई दिल्ली, श्रमजीवी प्रकाशन, १९३२।
४. " दाहर अथवा सिन्ध-पतन, लाहौर, मोतीलाल बनारसीदास, १९३३।
५ " विद्रोहिणी अम्बा, " " १९३५।
६. उमेशचन्द्र मिश्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक, इलाहाबाद, साहित्य भवन प्रा० लि०, प्र० सं०, १९५९।
७. कान्फ्रेंस सर्कुलर नं० ४, आगरा, उत्तर प्रदेशीय जननाट्य संघ, १९५८।
८. काशीनाथ त्रिवेदी, अनुवादक, आत्मकथा (मूल लेखक मोहनदास कर्मचन्द गांधी), अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, १९५७।
९. काशीनाथ, विद्याविलाप (अठारहवीं शती)।
१०. किशनचन्द्र 'जेबा', गरीब हिन्दुस्तान, लाहौर, संतसिंह एण्ड सन्स, १९२२।
११. कुँवर कल्याणसिंह, बदी, लखनऊ, राष्ट्रीय नाट्य परिषद्, १९६०।
१२. कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, हिन्दी-नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, प्रथम खण्ड, दिल्ली, भारती ग्रन्थ भण्डार, १९६४।
१३. कौशल्या अश्क, सं०, नाटककार अश्क, इलाहाबाद, नीलाभ प्रकाशन, प्र० सं०, १९५४।
१४ कृष्णाचार्य, हिन्दी नाट्य-साहित्य, १८६३-१९६५, कलकत्ता, अनामिका, १९६६।
१५. (राजा) खड्गबहादुर मल्ल, महारास, १८८५।
१६ (डॉ०) गोपीनाथ तिवारी, भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, इलाहाबाद, हिन्दी भवन, १९५९।
१७. गंगाप्रसाद (जी० पी०) श्रीवास्तव, उलट-फेर, कलकत्ता, हिन्दी पुस्तक एजेंसी, द्वितीय संस्करण, १९२६।
१८. " " लालबुझक्कड़ इलाहाबाद, चन्द्रलोक, १९३९।
१९. गुलाबराय, हिन्दी नाट्य-विमर्श, लाहौर, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, १९४०।
२०. (सेठ) गोविन्ददास, हर्ष, जबलपुर, महाकोशल साहित्य मंदिर, १९३५।
२१. " प्रकाश, " " १९३५।
२२. " कर्त्तव्य पूर्वार्द्ध " " दूसरा संस्करण, १९३५।
२३ " कर्त्तव्य उत्तरार्द्ध " " " "
२४. " विकास, प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, शकाब्द १८८६।
२५. " नाट्यकला-मीमांसा, भोपाल, मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद, १९६१।
२६. गोविन्दवल्लभ पन्त, कंजूस की खोपड़ी, बनारस, उपन्यास बहार आफिस, १९२३।

भारत-विख्यात हिन्दी रंगमंच मूनलाइट थियेटर द्वारा मचस्थ पं० इंद्र-कृत 'ढोला-मरवण' (राजस्थानी) तथा विनोद शर्मा-कृत 'दिल भी तेरा हम भी तेरे' (खड़ी बोली) का भित्ति-पत्रक (आकार १५×२० इंच)

(पृ० ४११)

(र 'न ों के सौ से)

मूनलाइट थियेटर्स, कलकत्ता द्वारा अभिनीत 'शकुन्तला' का भित्तिपत्रक (आकार ११×१८ इंच
(पृ० ४१०)

(प्रेमशंकर 'नरसी' के सौजन्य से)

कलकत्ते के देशविख्यात हिन्दी रंगमंच मूनलाइट थियेटर्स द्वारा प्रस्तुत 'घूँघट में चाँद' तथा 'लुगायाँ को राज' (राजस्थानी) का भित्ति-पत्रक (आकार ११ × १८ इंच) (पृ० ४१०)

(प्रेमगबर 'नरसा' के सौजन्य से)

मूनलाइट थियेटर्स का सप्ताह-व्यापी कार्यक्रम 'गलियों की रानी' तथा अन्य नाटकों का संयुक्त भित्तिपत्रक (आकार १५×२० इंच।
(पृ० ४१०)

(प्रेमशंकर 'नरसी' के सौजन्य से)

२७. गोविन्दवल्लभ पन्त वरमाला, लखनऊ, गंगा ग्रंथागार, आठवां संस्करण, १९५४।
२८. " राजमुकुट लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, उन्नीसवाँ संस्करण, १९५४।
२९. " अंगूर की बेटी, गंगा पुस्तकमाला, १९३७।
३०. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अशोक, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, १९६२।
३१. " रेवा " " दूसरा संस्करण, १९५७।
३२. (डॉ०) चन्दूलाल दुबे, हिन्दी रंगमंच का इतिहास, मथुरा, जवाहर पुस्तकालय, १९७४।
३३. जगदीशचन्द्र माथुर, कोणार्क, इलाहाबाद, भारती भण्डार, सं० २००८ वि०।
३४. " " शारदीया, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल, १९५९।
३५. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, मधुर मिलन, कलकत्ता, हिन्दी पुस्तक भवन, १९२३।
३६. " तुलसीदास, लखनऊ, गंगा ग्रन्थागार, १९३४।
३७. जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', प्रताप-प्रतिज्ञा, इलाहाबाद, हिन्दी भवन, १९२३।
३८. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, कुन्दकली, १९२८।
३९. (डॉ०) जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, बनारस, सरस्वती मन्दिर, १९४३।
४०. जनेश्वर प्रसाद मायल', सम्राट चन्द्रगुप्त, बरेली, राधेश्याम पुस्तकालय, द्वि० सं०, १९५१।
४१. (प्रो०) जयनाथ 'नलिन', हिन्दी नाटककार, दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्स, द्वि० सं०, १९६१।
४२. जयशंकर 'प्रसाद', राज्यश्री, इलाहाबाद, भारती भण्डार, पचम संस्करण, १९४४।
४३. " विशाख, बनारस, हिन्दी ग्रन्थ-भण्डार, प्रथम संस्करण, १९२१।
४४. " अजातशत्रु " " १९२२।
४५. " कामना, इलाहाबाद, भारती भण्डार, द्वितीय संस्करण, १९३५।
४६. " जनमेजय का नागयज्ञ, " " अष्टम संस्करण, १९६०।
४७. " स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य " " तृतीय " १९३५।
४८. " चन्द्रगुप्त मौर्य " " विद्यार्थी "
४९. " ध्रुवस्वामिनी " " ग्यारहवाँ " १९५३।
५०. " काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध प्रथम संस्करण, १९३९।
५१. तुलसीदास, रामचरितमानस (कल्याण, वर्ष १३, सं० १, गोरखपुर, गीता प्रेस, अगस्त १९६८)।
५२. तुलसीदास, गीतावली।
५३. (डॉ०) दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, दिल्ली, राजपाल एण्ड संस, तृतीय संस्करण, मई, १९६१।
५४. (मुन्शी) दिल, लैला मजनूँ, दिल्ली, शंकरदास साँवलदास बुकसेलर, प्रथम संस्करण।
५५. दुर्गाप्रसाद गुप्त, श्रीमती मञ्जरी, बनारस, उपन्यास बहार आफिस, १९२२।
५६. देवदत्त शास्त्री, सम्पादक पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, इलाहाबाद, किशलय मंच, १९६२-६३।
५७. देवर्षि सनाढ्य, हिन्दी के पौराणिक नाटक, वाराणसी, चौखम्भा विद्याभवन, १९६१।
५८. देवीलाल सामर, कठपुतलियाँ और मानसिक रोगोपचार, उदयपुर, भारतीय लोककला मण्डल, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७०।
५९. (डॉ०) धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक) एवं अन्य, हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, वाराणसी, ज्ञानमण्डल लि०, द्वितीय संस्करण, १९६३।

६०. (डॉ०) धीरेन्द्र वर्मा (प्र० स०) एव अन्य, हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, वाराणसी, ज्ञानमण्डल लि०, प्र० स०, १९६३।
६१. घोकल मिश्र, शकुन्तला, १७९९।
६२ (डॉ०) नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, आगरा, साहित्य रत्न भण्डार, षष्ठ सस्करण, १९६०।
६३ (डॉ०) नगेन्द्र (प्रधान सम्पादक) तथा डॉ० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा (सम्पादिका), पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, दिल्ली, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दूसरा सस्करण, १९६६।
६४ (डॉ०) नगेन्द्र एव अन्य, सम्पादक, (सेठ) गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, नई दिल्ली, गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, १९५६।
६५ (श्री) नागरी नाटक मण्डली, वाराणसी : स्वर्णजयन्ती समारोह स्मारक ग्रन्थ, १९५८।
६६. (श्री) नागरी नाटक मण्डली, वाराणसी · स्वर्णजयन्ती समारोह, ११५८ . सक्षिप्त इतिहास।
६७. (श्री) नागरी नाटक मण्डली, वाराणसी का नौवां वार्षिक विवरण।
६८. नारायण प्रसाद अरोडा एव लक्ष्मीकात त्रिपाठी, सहलेखक, प्रतापनारायण मिश्र, कानपुर. भीष्म एण्ड ब्रदर्स १९४७।
६९ नारायण प्रसाद 'बेताब', बेताब-चरित्र (देखे ब्रह्मभट्ट कवि-सरोज, सम्पादक, दुर्गाप्रसाद शर्मा)।
७०. " रामायण, दिल्ली, बेताब पुस्तकालय, द्वितीय सस्करण, १९६१।
७१. " महाभारत, " " तृतीय सस्करण, १९६१।
७२. " कृष्ण-सुदामा " " " १९६१।
७३ " पत्नी-प्रताप, दिल्ली, बेताब प्रिंटिंग प्रेस, १९२०।
७४. नेमिचन्द्र जैन, रग-दर्शन, दिल्ली, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, १९६७।
७५. पृथ्वीराज कपूर एव अन्य, सह-ले०, दीवार, बम्बई, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, प्र० स०, जुलाई, १९५२।
७६. प्रयाग रगमंच, अखिल भारतीय नाट्य समारोह : प्रतिवेदन, फरवरी, १९६६।
७७. बच्चन श्रीवास्तव, भारतीय फिल्मो की कहानी, शाहदरा (दिल्ली), हिन्द पाकेट बुक्स प्रा० लि०।
७८. (मास्टर) बच्चेलाल, सगीत-थियेटर, काशी उपन्यास बहार आफिस, छठा स० १९२३।
७९ बलवन्त गार्गी, रगमच, दिल्ली राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०, प्रथम हिन्दी स०, १९६८।
८०. (पाडेय) बेचन शर्मा 'उग्र' महात्मा ईसा, बनारस, मनमोहन पुस्तकालय (नीची बाग), १९२२।
८१. " चुम्बन, कलकत्ता, हिन्दी पुस्तक एजेंसी, १९३७।
८२. " गगा का बेटा, इदौर, रूप ब्रदर्स, १९४०।
८३. (पाडेय) बेचन शर्मा 'उग्र', अन्नदाता माधव महाराज महान्, उज्जैन, मानकिचन्द बुक डिपो, १९४३।
८४. भारतीय लोक कला मण्डल परिचय-पुस्तिका, उदयपुर, राजस्थान।
८५. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नाटक (निबन्ध), १८८३ (भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय भाग, सं०, ब्रजरत्नदास, इलाहाबाद, रामनारायण लाल प्रथम सस्करण, १९३६)।
८६. मनोरमा शर्मा, नाटककार उदयशकर भट्ट, आत्माराम एण्ड सस प्रथम स०, १९६३।
८७. (डॉ०) महेन्द्र भानावत, सम्पादक, मेवाड के रासधारी, उदयपुर, भारतीय · लोक कला मण्डल, प्र० सं० जन०, १९७०।
८८. माखनलाल चतुर्वेदी, कृष्णार्जुन-युद्ध, कानपुर, प्रताप कार्यालय, १९१८।
८९. माधव शुक्ल, महाभारत पूर्वार्द्ध, भूमिका (मू० ले० रामचन्द्र शुक्ल), प्रयाग, प्रथम सस्करण, १९१६।

९०. (मुंशी) मुहम्मदशाह 'आगा 'हश्र' एवं नारायण प्रसाद 'बेताब', मद्-लेखक, सीता-बनवास, दिल्ली, देहाती पुस्तक भण्डार।
९१. (मुंशी) मुहम्मदशाह 'आगा 'हश्र', दिल की प्यास (पाडुलिपि, लिपिकार एम० एन० गुजराती, १९६०)।
९२. " भीष्म-प्रतिज्ञा, दिल्ली, देहाती पुस्तक भण्डार।
९३. " खूबसूरत बला, बरेली, श्री राधेश्याम पुस्तकालय, १९३५।
९४. " ख्वाबे हस्ती " " १९३६।
९५. " अछूता दामन " " द्वि० सं०, १९६३
९६. (मुंशी) मेहदीहसन 'अहसन' चलता पुर्जा, बरेली, राधेश्याम पुस्तकालय, १९३५।
९७. " भूल भुलैया " " १९३५।
९८. " शरीफ बदमाश " " द्वि० सं०, १९६२।
९९. मैथिलीशरण गुप्त, अनघ, चिरगांव (झांसी), साहित्य सदन, पांचवां संस्करण, १९४८।
१००. रघुवंश, नाट्य कला, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६१।
१०१. (डॉ०) रणधीर उपाध्याय, हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६६।
१०२. रमेश मेहता, फैसला, दिल्ली, बलवन्त एण्ड कम्पनी।
१०३. " जमाना " १९५३।
१०४. " हमारा गांव "
१०५. " उलझन, दिल्ली, बलवन्त राय एण्ड कम्पनी, १९५४।
१०६. " ढोंग, " " १९५७।
१०७. " अण्डर सेक्रेटरी, " १९५८।
१०८. " रोटी और बेटी " १९६०।
१०९. " पैसा बोलता है
११०. " बड़े आदमी
१११. " खुली बात, नई दिल्ली, बलवन्त प्रकाशन, १९६९।
११२. " वाह रे इन्सान! - १९७०।
११३. " बच्चों के नाटक, नई दिल्ली, बलवन्त प्रकाशन।
११४. राधाकृष्ण नेवटिया एवं अन्य, सम्पादक श्री जमुना प्रसाद पाड़ेय अभिनन्दन-वीथी, कलकत्ता, १९६०।
११५. राधेश्याम कथावाचक, मेरा नाटक-काल, बरेली, श्री राधेश्याम पुस्तकालय १९५७।
११६. " वीर अभिमन्यु " रा० पु०, तेरहवां सं०, १९६२।
११७. " श्रवण कुमार " " " १९६३।
११८. " परिवर्तन " पांचवां सं०, १९५५।
११९. " परमभक्त प्रह्लाद " सातवां सं०, १९६०।
१२०. राधेश्याम कथावाचक, उषा-अनिरुद्ध, बरेली, रा० पु०, चतुर्थ संस्करण, १९५८।
१२१. " श्रीकृष्ण अवतार " " १९६२।
१२२. " ईश्वर भक्ति " " १९५७।
१२३. " द्रौपदी स्वयंवर " चतुर्थ " १९५९।

१२४. राधेश्याम कथावाचक, रुक्मिणी-मंगल बरेली, रा० पु० तृतीय संस्करण १९५० ।
१२५ " महर्षि वाल्मीकि " " प्रथम " १९४३ ।
१२६. " सती पार्वती " " द्वितीय " १९५२ ।
१२७ " देवर्षि नारद " " प्रथम " १९६१ ।
१२८ " कृष्ण-सुदामा (एकाकी) " छठा " १९४९ ।
१२९ (डॉ०) रामकुमार वर्मा, कौमुदी महोत्सव, इलाहाबाद, साहित्य भवन लि०, १९५९ ।
१३०. " कला और कृपाण, इलाहाबाद, रामनारायण लाल बेनीमाधव, तृ० सं०, अगस्त, १९६२ ।
१३१. (आचार्य) रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, १९४२ ।
१३२ (डॉ०) रामचरण महेंद्र, सेठ गोविन्ददास : नाट्य-कला तथा कृतियाँ, दिल्ली, भारती साहित्य मन्दिर, १९५६ ।
१३३. रामदीन सिंह, चरिताष्टक, प्रथम भाग (अनु० प० प्रतापनारायण मिश्र), प्र० स०, १८९४ ई० ।
१३४ रामनरेश त्रिपाठी, जयन्त, इलाहाबाद, हिन्दी भवन, १९३८ ।
१३५ " प्रेमलोक, इलाहाबाद, हिन्दी मन्दिर, १९३४ ।
१३६ " बफाती चाचा " " १९३९ ।
१३७ रामवृक्ष बेनीपुरी, अम्बपाली, पटना, अनुपम प्रकाशन, १९६२ ।
१३८. (डॉ०) रायगोविन्द चन्द्र, भरत नाट्यशास्त्र में नाट्यशालाओं के रूप, वाराणसी, काशी मुद्रणालय, १९५८ ।
१३९. लक्ष्मीकांत त्रिपाठी, सम्पादक अभिनन्दन-भेंट : श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा, कानपुर, अरोड़ा अभिनन्दन समिति, १९५१ ।
१४० लक्ष्मी नारायण मिश्र, सन्यासी, इलाहाबाद, साहित्य भवन, १९२९ ।
१४१. " राक्षस का मन्दिर " १९३२ ।
१४२. " मुक्ति का रहस्य " १९३२ ।
१४३. " राजयोग, वाराणसी, भारती भण्डार, १९६४ ।
१४४ " सिंदूर की होली, इलाहाबाद, " १९३४ ।
१४५. " आधी रात " " १९३४ ।
१४६. (डॉ०) लक्ष्मीनारायण लाल, रंगमंच और नाटक की भूमिका, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६५ ।
१४७. लाल कवि, गौरी-स्वयंवर (अठारहवीं शती) ।
१४८ लालचन्द 'बिस्मिल', आहुति ,बम्बई, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, द्वि० आ०, मार्च, १९५३ ।
१४९. " एवं पृथ्वीराज कपूर, सह-लेखक, पैसा, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, प्रथम संस्करण जनवरी, १९५४ ।
१५०. व्रजरत्नदास, हिन्दी नाट्य-साहित्य, बनारस, हिन्दी साहित्य कुटीर, चतुर्थ स० १९४९ ।
१५१. " भारतेन्दु नाटकावली, द्वितीय भाग, इलाहाबाद, रामनारायण लाल, १९३६ ।
१५२. (प्रो०) विजय कुमार शुक्ल एवं गोविन्द प्रसाद श्रीवास्तव, सह-लेखक, सेठ गोविन्ददास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व साहित्य भवन (प्रा०) लि०, १९६५ ।

१५४. डॉ० विनयकुमार, हिन्दी के समस्या नाटक, इलाहाबाद, नीलाभ प्रकाशन, प्र० सं०, १९६८।
१५५. विनायक प्रसाद 'तालिब', सत्य हरिश्चंद्र, बनारस सिटी, बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर, १९६१।
१५६. (डॉ०) विश्वनाथ मिश्र, हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, १९६६।
१५७. विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', हिन्दू विधवा, बरेली, राधेश्याम पुस्तकालय, तृतीय संस्करण, १९६०।
१५८ (डॉ०) विश्वंभर सहाय 'व्याकुल', बुद्धदेव अथवा मूर्तिमान त्याग, इलाहाबाद, लीडर प्रेस, १९३५।
१५९. (डॉ०) वीरेन्द्रकुमार शुक्ल, भारतेन्दु का नाटक साहित्य।
१६०. (डॉ०) वेदपाल खन्ना 'विमल', हिन्दी नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, दिल्ली, भारत भारती लि०, १९५८।
१६१. (डॉ०) शांतिगोपाल पुरोहित, हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन, देहरादून साहित्य सदन प्र० सं०, १९६४।
१६२. (डॉ०) श्यामनारायण पाण्डेय, सं० साहित्य-दिग्दर्शन, कानपुर, हिन्दी प्रचारिणी समिति १९६७।
१६३. (डॉ०) श्यामसुन्दर दास एवं पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, सह-लेखक, रूपक-रहस्य, प्रयाग, इंडियन प्रेस लि०, द्वितीय संस्करण, १९४०।
१६४. (डॉ०) श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन, प्रयाग, इंडियन प्रेस लि० छठी आवृत्ति, १९४२।
१६५. शिवनंदन सहाय, भारतेन्दु चरित्।
१६६. शीतला प्रसाद त्रिपाठी, जानकीमंगल नाटक, प्रयाग, ज्ञानमार्तण्ड यंत्रालय, वि० सं० १९६३ (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, संपूर्णानन्द स्मृति अंक, वर्ष ७३, अंक १–४, सं० २०२५ वि०)।
१६७. श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य-परंपरा, प्रयाग, साहित्यकार संसद्, १९५६।
१६८. „ अनु०, रंगमंच (मूल लेखक शेल्डान चेनी), लखनऊ, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश, १९६५।
१६९. (डॉ०) श्रीपति शर्मा, हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, १९६१।
१७०. सर्वदानन्द वर्मा, रंगमंच, आगरा, श्रीराम मेहरा एण्ड कं०, प्र० सं०, १९६६।
१७१. (डॉ०) सावित्री शुक्ल, नाटककार सेठ गोविन्ददास, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९५८।
१७२. सियाराम शरण गुप्त, उन्मुक्त।
१७३. „ पुण्य पर्व, चिरगांव (झाँसी), १९३३।
१७४. सीताराम चतुर्वेदी एवं शिवप्रसाद रुद्र, सह० ले० महाकवि कालिदास, काशी, अमर, भारती, सं० २००१ वि०।
१७५. सीताराम चतुर्वेदी, सेनापति पुष्यमित्र, बनारस, पुस्तक सदन, प्र० आ०, सं० २००८ वि०।
१७६. सीताराम चतुर्वेदी, शबरी, काशी. अ० भा० विक्रम परिषद्, स० २००९ वि०।
१७७. सीताराम चतुर्वेदी, देवता, बनारस, पुस्तक सदन, १९५२ ई०।
१७८. सीताराम चतुर्वेदी, भगवान बुद्ध और सिद्धार्थ, काशी, अ० भा० विक्रम परिषद्, स० २०१३ वि०।
१७९. सीताराम चतुर्वेदी, जय सोमनाथ, काशी, अ० भा० विक्रम परिषद्, सं० २०१३ वि०।
१८०. सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच लखनऊ, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९६४।
१८१. सुमित्रानंदन पंत, ज्योत्स्ना, लखनऊ, गंगा ग्रंथागार, १९३४।

१८२ सूरज प्रसाद (एस० पी०) खत्री, नाटक की परख, इलाहाबाद, साहित्य भवन (प्रा०) लि०, तृतीय संस्करण १९५९।
१८३. सूर्यनारायण दीक्षित एवं शिवनारायण शुक्ल, सह-अनुवादक, चन्द्रगुप्त (मू० ले० द्विजेन्द्रलाल राय), बंबई, हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर (प्रा०) लि०, चौदहवाँ सं०, १९६०।
१८४. (डॉ०) सोमनाथ गुप्त, हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद, हिन्दी भवन, चौथा संस्करण, १९५८।
१८५. स्मारिका कला मंदिर, ग्वालियर, जनवरी, १९६८ तथा १९७०।
१८६. हरिकृष्ण प्रेमी, स्वर्ण-विहान, अजमेर, सस्ता साहित्य मंडल, १९३०।
१८७. ,, रक्षा-बंधन, लाहौर, हिन्दी भवन, १९३४।
१८८. ,, पाताल-विजय, लाहौर, भारत प्रिंटिंग प्रेस, १९३६।
१८९. ,, शिवा-साधना, लाहौर, भारती प्रेस, १९३७।
१९०. ,, प्रतिशोध, ,, ,, १९३७।
१९१. हिन्दी नाट्य महोत्सव (स्मृति-पुस्तिका), कलकत्ता, अनामिका, १९६४।
१९२. ज्ञानदेव अग्निहोत्री, माटी जागी रे, लखनऊ, गीत एवं नाट्य शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९६२।
१९३. ज्ञानदेव अग्निहोत्री, नेफा की एक शाम, दिल्ली, राष्ट्रभाषा, प्रकाशन, १९६४।
१९४. ज्ञानदेव अग्निहोत्री वतन की आबरू, दिल्ली उमेश प्रकाशन, १९६६।
१९५. ज्ञानदेव अग्निहोत्री, शुतुरमुर्ग, वाराणसी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र० सं०, १९६८।

बँगला, बँगला-हिन्दी एवं बँगला-अँग्रेजी

१. अशोक सेन, अभिनय-शिल्प ओ नाट्य-प्रयोजना, कलकत्ता, ए० मुखर्जी, एंड कं० प्रा० लि०, १९६०।
२. (डॉ०) आशुतोष भट्टाचार्य, बांगला नाट्यसाहित्येर इतिहास, प्रथम खंड, १८५२–१९००, कलकत्ता ए० मुखर्जी एंड कं० प्रा० लि०, द्वितीय संस्करण १९६०।
३. (डॉ०) आशुतोष भट्टाचार्य, बांगला नाट्यसाहित्येतर इतिहास, द्वितीय खंड, १९००-१९६०, कलकत्ता, ए० मुखर्जी एंड क० प्रा० लि० द्वितीय संस्करण १९६१।
४. इंदु मित्र, साजघर, कलकत्ता, त्रिवेणी प्रकाशन प्रा० लि०, द्वितीय संस्करण, १९६४।
५. ओमप्रकाश गुप्ता, अनुवादक, शरत् के नाटक (विजया, षोडशी और रमा), दिल्ली, एन० डी० सहगल एंड सन्स, द्वितीय संस्करण, १९६४।
६. क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद, क्षीरोद ग्रंथावली, द्वितीय भाग, कलकत्ता, वसुमती साहित्य मंदिर।
७. गिरीश चंद्र घोष, गिरीश ग्रंथावली, तृतीय भाग, कलकत्ता, गुरुदास चट्टोपाध्याय एंड संस तृतीय संस्करण १९०१।
८. गिरीशचंद्र घोष, गिरीश ग्रंथावली, सप्तम-नवम भाग, कलकत्ता, वसुमती साहित्य मंदिर, १९१४।
९. गिरीशचंद्र घोष, गिरीश ग्रंथावली, दशम-द्वादश भाग, कलकत्ता, वसुमती साहित्य मंदिर १९१४।
१०. गिरीशचंद्र घोष, सिराजुद्दौला, कलकत्ता, गुरुदास चट्टोपाध्याय एंड संस चतुर्थ संस्करण :
११. ज्वाला प्रसाद 'केशर', रवीन्द्र के श्रेष्ठ नाटक (चंडालिका, मालिनी, डाकघर, बाँसुरी और रक्तकरबी), नई दिल्ली, राजधानी प्रकाशन, १९६१।
१२. द्विजेन्द्रलाल राय, नूरजहाँ, कलकत्ता गुरुदास चट्टोपाध्याय एंड सन्स सप्तम संस्करण।
१३. ,, सीता ,, ,, ,, चतुर्थ ,, १९५७।

१४. पी० सी० बागची, नेपाली भाषा नाटक बंगीय साहित्य परिषद् बंगाली संवत् १३३६ ।
१५. प्रमनाथ विशी, रवीन्द्रनाथ ओ शान्तिनिकेतन ।
१६. भैरवचंद्र हालदार, विद्यासुंदर, कलकत्ता, भूपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, १९१३ ।
१७. मणिलाल वंद्योपाध्याय, अहिल्याबाई, कलकत्ता, पूर्णचंद्र कुंडू, द्वितीय संस्करण ।
१८. ,, ,, बाजीराव, कलकत्ता, सिटि बुक कम्पनी, नवम संस्करण ।
१९. महादेव साहा, अनुवादक, नीलदर्पण (हिन्दी) (मूल लेखक दीनबंधु मित्र), इलाहाबाद, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लि०, १९६४ ।
२० रवीन्द्र ठाकुर, तपती, कलकत्ता, विश्वभारती, ग्रंथालय, १९४९ ।
२१ ब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय, बंगीय नाट्यशालार इतिहास, १७९५-१८७६, कलकत्ता, बंगीय साहित्य परिषद्, चतुर्थ संस्करण, १९६१ ।
२२. शचीन सेनगुप्त, बांगलार नाटक ओ आलोचना, कलकत्ता, गुरुदास चट्टोपाध्याय एंड संस, १९५७ ।
२३. (डॉ०) हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, भारतीय नाट्यमंच, द्वितीय भाग, कलकत्ता, गिरीश नाट्य संसद् (मुनीन्द्र कुमार दासगुप्त), १९४७ ।
२४. (डॉ०) हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, दि इंडियन स्टेज, द्वितीय भाग, कलकत्ता, मुनीन्द्र कुमार दासगुप्त, द्वितीय संस्करण, १९४६ ।
२५. (डॉ०) हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त, दि इंडियन स्टेज चतुर्थ भाग ।

मराठी एवं मराठी-अंग्रेजी

१. आजचें मराठी नाटक (स्मृति-पुस्तिका), बंबई, इंडियन नेशनल थियेटर, १९६१ ।
२. के० नारायण काले, थियेटर इन महाराष्ट्र, नई दिल्ली, महाराष्ट्र इन्फार्मेशन सेंटर, १९६४ ।
३. के० नारायण काले, नाट्य-विमर्श, बम्बई, पापुलर बुक डिपो, १९६१ ।
४. (डॉ०) चारुशीला गुप्ते, हास्यकारण आणि मराठी सुखात्मिका, १८४३–१९५७, बंबई इंदिरा प्रकाशन, १९६२ ।
५. द० रा० गोमकाले, वरेरकर आणि मराठी रंगभूमि, १९५८ ।
६. दि मराठी थियेटर. १८४३ टु १९६०, बम्बई, पापुलर बुकडिपो फार मराठी नाट्य-परिषद् ।
७. बापूराव नायक, ओरिजिन आफ मराठी थियेटर, नई दिल्ली, महाराष्ट्र इन्फार्मेशन सेंटर, १९६४ ।
८. मराठी थियेटर, ए ग्लिम्पस, नई दिल्ली, महाराष्ट्र इन्फार्मेशन सेंटर ।
९. मराठी स्टेज (ए सोवनीर), मराठी नाट्य परिषद् फार्टी-थर्ड एनुवल कन्वेंशन (नई दिल्ली), १९६१ ।
१०. मामा वरेरकर, माझा नाटकी संसार, खंड दूसरा, बंबई, ग० पा० परचुरे प्रकाशन मंदिर, १९५२ ।
११. मामा वरेरकर, माझा नाटकी संसार, खंड ३, १९१४ से १९२०, बम्बई, वसंतकुमार सराफ, १९५९ ।
१२. मामा वरेरकर, माझा नाटकी संसार. भाग ४, बंबई, सागर साहित्य प्रकाशन, १९६२ ।
१३. मुंबई मराठी साहित्य संघ : साहित्य संघ मंदिर उद्घाटन, १९६४ (स्मृति-ग्रंथ) ।
१४. (प्रो०) मो० द० ब्रह्मे, मराठी नाट्य-सत्र, पुणें, सुविचार प्रकाशन मंडल, १९६४ ।
१५. श्रीनिवास नारायण बनहट्टी, मराठी रंगभूमीचा इतिहास, १८४३-७९, खंड पहिला, पूना, वीनस-प्रकाशन, १९५७ ।
१६. श्रीनिवास नारायण बनहट्टी, मराठी नाट्यकला आणि नाट्य वाङ्मय, पूना, पुणें विद्यापीठ, १९५९ ।
१७. ज्ञानेश्वर नाडकर्णी, न्यू डाईरेक्शंस इन दि मराठी थियेटर, नई दिल्ली, महाराष्ट्र इन्फार्मेशन सेंटर, १९६४ ।

गुजराती और गुजराती-अंग्रेजी

१. के० का० शास्त्री अने आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य, बडौदा, भारतीय संगीत-नृत्य-नाट्य महाविद्यालय, १९५७।
२ गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव स्मारक ग्रंथ, बंबई, प्रकाशन समिति, गुजराती नाट्य शताब्दी महोत्सव, १९५२।
३ चंद्रवदन मेहता, बांध गठरिया, भाग २, प्रथम संस्करण।
४. ,, माझमरात (स्मृति-पुस्तिका), बडौदा, कालेज आफ इंडियन म्यूजिक, डांस एंड ड्रामेटिक्स, १९५७।
५. चंद्रवदन मेहता, ए हंड्रेड इयर्स आफ गुजराती स्टेज (सोवनीर, बडौदा, कालेज आफ इं० म्यू० डां० एण्ड ड्रा०, १९५६)।
६ चंदुलाल दलमुखराम झवेरी, सती पद्मिनी, अहमदाबाद, स्वयं, १९१४।
७. छोटालाल रूपदेव शर्मा, अजीतसिंह . नाटकना गायनो तथा टुंकसार, ग्यारहवां संस्करण, १९३५।
८. जेसल-तोरल (स्मृति-पुस्तिका), बंबई, इंडियन नेशनल थियेटर, १९६३।
९. डिस्कवरी आफ इंडिया (स्मृति-पुस्तिका), बंबई, इं० ने० थि०, १९६४।
१०. तेरसिंह उदेशी, मृगजल नाटकना गायनो-टुंकसार, बंबई, नवयुग कला मंदिर, १९४४।
११ दामू झवेरी, इंडियन नेशनल थियेटर, १९४४-१९५४ (अंग्रेजी), बंबई, १९५४।
१२. (श्री) देशी नाटक समाज - अमृत महोत्सव (स्मृति-ग्रंथ), १८८९-१९६४, बंबई, श्री देशी नाटक समाज अमृत महोत्सव समिति, १९६४।
१३. (डॉ०) धनजीभाई न० पटेल, पारसी तख्तानी तवारीख, १९३१।
१४. धनसुखलाल, कृष्णलाल मेहता, गुजराती बिनधंधादारी रंगभूमिनो इतिहास, बड़ौदा, भारतीय संगीत-नृत्य-नाट्य महाविद्यालय, १९५६।
१५. धनसुखलाल कृष्णलाल मेहता, नाट्य विवेक, सांताक्रुज, बम्बई स्वयं, १९६०।
१६. धनसुखलाल मेहता एवं अविनाश व्यास, अर्वाचीना, बंबई, एन० एम० त्रिपाठी लि०, १९४६।
१७ (डॉ०) धीरुभाई ठाकर, अभिनेय नाटको, बडौदा, भारतीय संगीत-नृत्य-नाट्य महाविद्यालय, १९५८।
१८. प्रफुल्ल देसाई, आजनी बानः नाटिकाना गायनो अने टुंकसार, बंबई, फरेदुन आर० ईरानी, १९४९।
१९. प्रफुल्ल देसाई, नंदनवन (गायनो अने टुंकसार), बंबई, धी खटाऊ आल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी।
२०. प्रफुल्ल देसाई, बोल हैया गायनो अने टुंकसार, बंबई, श्री प्रेमलक्ष्मी नाटक समाज, १९५२।
२१. प्रभुलाल दयाराम द्विवेदी, विद्यावारिधि, बंबई-२, एन० एम० त्रिपाठी लि०, १९५१।
२२ मणिलाल 'पागल' एकज आशा (गायनो अने टुंकसार), बंबई, धि खटाऊ आल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी, १९४४।
२३. यशवंत ठाकर, श्री जयशंकर 'सुन्दरी' नी दिग्दर्शन-कला, नाडियाद, मधुसूदन ठाकर, १९५७।
२४. रघुनाथ ब्रह्मभट्ट, स्मरण मंजरी, बंबई, एन० एम० त्रिपाठी लि०, १९५५।
२५. रमेश भट्ट, संपादक, ड्रामा फेस्टिवल सोवनीर, बडौदा, मध्यस्थ नाट्य-संघ, १९६०।
२५. सेविन्टीएथ एनिवर्सिरी सोवनीर बडौदा, कालेज आफ इंडियन म्यूजिक, डांस एण्ड ड्रामेटिक्स, १९५६।

संस्कृत, संस्कृत–हिन्दी एवं संस्कृत–अंग्रेजी

१. (डॉ०) ए० बी० कीथ, दि संस्कृत ड्रामा इन इट्स ओरिजिन, डेवलपमेंट, थियरी एण्ड प्रैक्टिस, आक्सफोर्ड, क्लैरेण्डन प्रेस, १९२४।

२. (सर) एम० मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास ।
३. एम० रामकृष्ण कवि, सम्पादक, नाट्यशास्त्र आफ भरतमुनि, भाग १, बड़ौदा, ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, १९५६।
४. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, लाहौर ।
५. गुरुप्रसाद शास्त्री, सम्पादक, अमरकोष (मूल लेखक अमरसिंह), बनारस, भार्गव पुस्तकालय, १९३८ ।
६. (डॉ०) नगेन्द्र (प्रधान सम्पादक) तथा आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांतशिरोमणि, सम्पादक एवं भाष्यकार, हिन्दी अभिनवभारती, दिल्ली, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६० ।
७. (डॉ०) नगेन्द्र (प्र० स०) तथा अन्य, हिन्दी नाट्यदर्पण (मूल लेखक रामचन्द्र–गुणचन्द्र), दिल्ली, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६१ ।
८. भोलाशंकर व्यास, व्याख्याकार, दशरूपकम् (मूल ले० धनंजय), बनारस, चौखम्भा विद्याभवन, १९५५ ।
९. मनमोहन घोष, सम्पादक, दि नाट्यशास्त्र, भाग १ एवं २, कलकत्ता, रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, १९५० ।
१०. मैक्समूलर, डाइ सेजेन्ट्स आफ दि ऋग्वेद ।
११. देवदत्त शास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार, कामसूत्र (मूल ले० वात्स्यायन मुनि), वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, १९६४ ।
१२. गोविन्दराजीय भूषण, व्याख्याकार, रामायण (मूल ले० वाल्मीकि), कल्याण (बम्बई), लक्ष्मी वेंकटेश्वर मुद्रणालय ।
१३. वामन शिवराव आपटे, संस्कृत-हिन्दी कोष, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास ।
१४. (डॉ०) सत्यव्रत सिंह, सम्पादक, हिन्दी साहित्य दर्पण (मू० ले० विश्वनाथ), वाराणसी, चौखम्भा विद्याभवन, १९६३ ।

अंग्रेजी

१. एनुवल रिपोर्ट, १९६२–६३, नई दिल्ली, संगीत नाटक एकाडेमी ।
२. बलवन्त गार्गी, थियेटर इन इंडिया, न्यूयार्क–१४, थियेटर आर्ट्स बुक्स ।
३. कान्टेम्पोरेरी प्ले-राइटिंग एण्ड प्ले-प्रोडक्शन : रिपोर्ट आफ सेमिनार, मार्च ३१ –अप्रैल २, १९६१, नई दिल्ली, भारतीय नाट्य संघ, १९६१ ।
४. कान्स्टेन्टिन स्टैनिस्लवस्की, माई लाइफ इन आर्ट, मास्को फारेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, १९२५ ।
५. कोनराड कार्टर, प्ले प्रोडक्शन, लंदन, हर्बर्ट जेन्किन्स लि० १९५३ ।
६. डी० जे० स्मिथ, ए० डी० डी०, ऐमेच्यर ऐक्टिंग एण्ड स्टेज इन्साइक्लोपीडिया, किंग्सवुड सुरे, इलियट्स राइटर्स बुक्स ।
७. डोरोदी एवं जोसेफ सैमेक्मन, दि ड्रामेटिक स्टोरी आफ दि थियेटर, न्यूयार्क, एबलार्ड–शूमैन, १९५५ ।
८. (डॉ०) जयकांत मिश्र, ए हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर, भाग १, इलाहाबाद, तिरु मुक्ति पब्लिकेशन्स, १९४९ ।
९. जार्ज फ्रीडले एवं जान ए० रीव्स, ए० हिस्ट्री आफ दि थियेटर, न्यूयार्क, क्राउन पब्लिशर्स, सप्तम संस्करण, १९४७ ।
१०. हैरोल्ड डाउस, सम्पादक, थियेटर एण्ड स्टेज भाग १ एवं २, लदन, दि न्यू एरा पब्लिशिंग कं० लि० ।
११. जे० बर्गेस, इण्डियन एंटिक्वेरी, १९०५ ।
१२. जवाहरलाल नेहरू, दि डिस्कवरी आफ इंडिया, लंदन, मेरिडियन बुक्स लि०, फोर्थ एडीशन, १९५६ ।

१३. प्रीपेयर फार ड्रामा, बम्बई–७, भारतीय विद्या भवन, १९६३।
१४. रेखा मेनन, संपादिका, कल्चरल प्रोफाइल्स · बम्बई–पूना, नई दिल्ली, इन्टर नेशनल कल्चर सेंटर, १९६१।
१५. एस० सी० सरकार, हिन्दुस्तान इयर बुक एण्ड हूज हू, १९५६, कलकत्ता, एम० सी० सरकार एण्ड सन्स लि०, १९५६।
१६ विन्सेन्ट ए० स्मिथ, दि आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया, लंदन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, थर्ड एडीशन, १९५८।

पत्र-पत्रिकायें

हिन्दी

१. अभिनय (मासिक), आगरा, सितम्बर, १९५६।
२ आज, दैनिक, वाराणसी, २ फरवरी, १९२२, २८ अप्रैल, १९२७ तथा १७ अक्टूबर, १९६२।
३ आलोचना (त्रैमासिक), नाटक विशेषांक, सम्पादक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, दिल्ली, जुलाई, १९५६।
४ कल्याण (मासिक), संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त पुराणांक, वर्ष ३७, संख्या १।
५ जनभारती (त्रैमासिक), कलकत्ता, बंगीय हिन्दी परिषद्, वर्ष १३, अंक १, संवत् २०२२।
६. जागरण (दैनिक), कानपुर, १३ अगस्त, १९६२।
७. दिनमान (साप्ताहिक), नई दिल्ली, २९ अप्रैल, १९६६।
८. धर्मयुग (साप्ताहिक), बम्बई, २७ नवम्बर, १९६६।
९. नटरंग (त्रैमासिक), नई दिल्ली के विविध अंक।
१०. नया पथ (मासिक), नाटक विशेषांक, लखनऊ, मई, १९५६।
११ नवजीवन (दैनिक), लखनऊ, साप्ताहिक परिशिष्टांक, ३१ मार्च, १९६८ तथा १९६९, १९७०–१९७१, के विविध परिशिष्टांक।
१२ नवभारत टाइम्स (दैनिक), दिल्ली, २५ अप्रैल, १९६७।
१३. नागरी पत्रिका (मासिक), काशी, हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी विशेषांक, मार्च–अप्रैल, १९६८।
१४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक), सम्पूर्णानन्द स्मृति अंक, वर्ष ७३, अंक १–४, सं० २०२५।
१५. प्रताप (दैनिक), कानपुर, ६ नवम्बर, १९२७।
१६ बालसखा (मासिक), नवम्बर, १९५५।
१७. ब्राह्मण, सं० प्रतापनारायण मिश्र, कानपुर के विविध अंक।
१८. बिहार थियेटर (अंग्रेजी–हिन्दी), पटना, क्रम संख्या ९, अक्टूबर, १९५७।
१९ माधुरी (मासिक), लखनऊ, वर्ष ८, खण्ड १।
२०. माधुरी (पाक्षिक), बम्बई, स्वरहृम विशेषांक, ८ जनवरी, १९७१। १६ ख–रंगायन (मासिक), उदयपुर, भारतीय लोक कला मण्डल, मार्च, १९७०।
२१ रामराज्य (साप्ताहिक), कानपुर, २४ अप्रैल, १९६७।
२२ वर्तमान (दैनिक), कानपुर, २८ जुलाई, १९३६।
२३. श्रमजीवी (मासिक), लखनऊ, अप्रैल, १९६९।
२४. श्रीनाट्यम्(वार्षिक), वाराणसी, वर्ष १, अंक १, १९६२ तथा वर्ष ५, अंक ५, १९६६।
२५ साहित्य-संदेश (मासिक), अन्त. प्रान्तीय नाटक विशेषांक, आगरा, जुलाई–अगस्त, १९५५।
२६. " नाटक परिशिष्टांक, सितम्बर, १९५५।

२७. सुर सिंगार (षट्मासिक), बम्बई, सुर सिंगार संसद्. अप्रैल–अक्टूबर, १९६५ ।
२८. स्वतन्त्र भारत (दैनिक), लखनऊ, ६ अप्रैल, १९६८ ।
२९ हिन्दी प्रदीप, जनवरी–फरवरी, १९०५ ।
३०. हिन्दी मिलाप, लाहौर, १४ जनवरी, १९३० ।
३१. हिन्दुस्तान (साप्ताहिक), नई दिल्ली के विविध अंक ।

बँगला

१. बंगदर्शन, पौष, १३०९ (सन् १९०२ ई०) ।
२. बहुरूपी (मासिक), कलकत्ता के विविध अंक ।
३. भारत संस्कारण, कलकत्ता, ७ नवम्बर, १८७३ ।

मराठी

१. युगवाणी, नाट्यमहोत्सव विशेषांक, दिसम्बर, १९५८–जनवरी, १९५९ ।
२. साहित्य, " अंक, दिसम्बर, १९४८ ।

गुजराती

१. गुजराती नाट्य, बम्बई, गुजराती, नाट्य मंडल, के विविध अंक ।

अँग्रेजी

१. दि इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इंडिया, बम्बई, ३० अप्रैल, १९६७ ।
२. नाट्य (क्वार्टर्ली), नई दिल्ली, भारतीय नाट्य संघ के विविध अंक ।
३. नेशनल हेराल्ड (डेली), लखनऊ, ६ नवम्बर, १९५९ तथा १९ नवम्बर, १९६१ ।
४. सिविल मिलिट्री गजट, लाहौर, १४ जनवरी, १९३८ ।
५. स्टेट्समैन (डेली), नई दिल्ली, १९५९ ।
६. स्पैन (मंथली), नई दिल्ली, यूनाइटेड स्टेट्स इन्फार्मेशन सर्विस, नवम्बर, १९६२ ।

सहायक ग्रन्थ सूची-परिशिष्ट

हिन्दी

१. अब्दुल कुद्दूस नैरंग, आगा हश्र और नाटक (अप्रकाशित)
२ (डॉ०) अज्ञात, रंगमंच : सिद्धांत और व्यवहार, दिल्ली, हिमालय पाकेट बुक्स प्रा० लि०, १९७४।
३ ज्योतिरीश्वर, मैथिली धूर्तसमागम, डॉ० जयकांत मिश्र, प्रयाग, अखिल भारतीय मैथिली साहित्य समिति, १९६०।
४. (डॉ०) माहेश्वर, हिन्दी-बंगला नाटक, दिल्ली, मैकमिलन कम्पनी आफ इंडिया लि०, प्र० सं, १९७४।
५. (डॉ०) लक्ष्मीनारायण लाल, पारसी-हिन्दी रंगमंच, दिल्ली, राजपाल एण्ड संस, प्र० सं०, १९७३।
६. (डॉ०) वासुदेवनंदन प्रसाद, भारतेन्दु युग का नाट्य-साहित्य और रंगमंच, पटना, भारती भवन, १९७३।
७. (डॉ०) विद्यानाथ मिश्र एवं अन्य, सह-संपा०, पद्मभूषण रामकुमार वर्मा : कृतित्व और व्यक्तित्व।

उर्दू

१. (डॉ०) अब्दुल नामी, उर्दू थियेटर, कराची, अंजुमन तरक्किये उर्दू, १९६२।
२. सैयद बादशाह हुसैन हैदराबादी, उर्दू में ड्रामानिगारी, हैदराबाद (दक्षिण), शमशुल मताबे मशीन प्रेस, १९३५।
३. सैयद मसूद हसन रिजवी 'अदीब', लखनऊ का अवामी स्टेज, लखनऊ, किताबघर, द्वितीय संस्करण, १९६८।

अंग्रेजी पत्रिका

१. संगीत नाटक (क्वार्टर्ली), नयी दिल्ली, संगीत नाटक अकादमी, सं० २, अप्रैल, १९६६।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
५	३	ओर	और	२२	३२	—	अन्त में रखें-
६	२१	ये	वे				संदर्भ-५१३-५२५
८	१७	अनेक	उनके	२३	४	—	अन्त में रखें-
१०	२७	की	को				संदर्भ—५३९।
११	९	पारिभाषित	पारिभाषिक		५	हिन्दी	भारतीय
१२	१	ए	एव		६	५४३	५४३—५५२
१३	७ (बाएँ)	Baleony	Balcony		७	का रंगोपकरणों	एव रंगोपकरणों
	२२ (,,)	Symbolic	Symbolic			एवं	की
	१४ (दाएँ)	सत्याभाए	सत्याभास		२४	५८४-५८५	५८४-५९५
१४	२१ (बाएँ)	light	Light	३३	१७	संवेग	सवेग
१५	२२ (,,)	प्रत्यावर्त	प्रत्यावर्तन	३५	१	(१)	(एक)
	१२ (दाएँ)	cnsemble	ensemble		१३	नाट्पमंडप	नाट्यमंडप
	१९ (,,)	actyr	actor	३९	१५	पद-भाग	पाद-भाग
१६	२५ (बाएँ)	eraftsman	*craftsman*	५०	२७	(देखें पृ०	निरस्त करें
	१ (दाएँ)	Terribie	Terrible			१९२०)	
	५ (,,)	Erotie	Erotic	६३	३५	कोई भी	कोई भी नायक
	३२ (,,)	Acousties	Acoustics			नायक...	या नायिका बन
	३५ (,,)	unitics	unities				सकती है, परन्तु
१७	१ (दाएँ)	स्वागत	स्वगत				सामाजिक के
	१० (,,)	Diaiogue	Dialogue				लिए नायक
१८	१९	शोर्षक	शीर्षक	६४	२६	अमूताहरण	अभूताहरण
१९	४-५	पारसी नाटक	निरस्त करें	७३	१	कंडल	कुंडल
		मंडली		७४	१९	दीर्घवतियों	दीर्घव्रतियों
२०	६	२६०-२७९	२६०-२६९	७६	३२	विद्यमान	विद्यमान
२१	८	अध्यावसातिक	अध्यावसायिक	७७	११	फांस	फ्रांस
२२	२	यांत्रिक	यान्त्रिक	८०	१०	करती है और	करती और
	९	फोनोबिजम्स	फोनोविज्म्स	८६	१५	मी	भी
	२७	बख्यिारपुर	बख्तियारपुर	८८	१८	१[illegible]	१½
	३२	५११-	५११-५१३	९४	३	रंग	रंग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
१०१	५	ेन्शिएंट	ऐन्शिएंट		३१	संगोत	संगीत
१०३	३०	२४१–वत्	१२४–वत्	१५७	२०	—	१९४५ के बाद
	३५	१७०.(क)वही, निरस्त करें					रखें–मे
		१९/३३, तथा		१५९	१	उकना	उनका
१०५	१६	वेबर	वेबर	१६१	७	नाट्निकेतन	नाट्यनिकेतन
	२२	कोमिस्सास्जे–	कोमिस्सारजे-	१६३	२२	वाल्टेयर म०स०	वाल्टेयर। म०
		वस्की	वस्की				स०
१११	२	'प्रेड् स्वण'	प्रेड्स्वण	१६४	२३	(क)	(एक)
११५	२०	मिश्र	मित्र	१६६	२१	सोरवाजी	सोराबजी
११६	२२	विवस्त	विवस्त्र	१६९	५	यात्र-गानो	यात्रा-गानों
१२१	१०	आयं	आर्य	१७५	३	सद्दमरी	गहमरी
१२३	३५	—	वाक्यांत पर	१७७	९	१७०-वत्	१७०(क)-वत्
			सदर्भ सं ७७ दे	२०१	३५	सावनवहार	सावनब्रहार
१२६	५	राजसमा	राजसभा	२०३	२४	किर्लोस्कर के	किर्लोस्कर को
१३१	३३	किलोंस्कर	किर्लोस्कर	२०९	११	द्यू	ध्यू
१३३	१२	व्यवसामिक	व्यावसायिक		२६	अम्धास	अभ्यास
१३७	१३	दुष्यवचो	दस्यवधो	२११	२८	फूट का रण	फूट का कारण
	३०	श्रयंबकलाल	त्र्यंबकलाल	२१२	१	इससे	इसके
१३९	३४	दलोल	दलाल	२१४	६	कृष्णचरिन	कृष्णचरित्र
१४०	८	—	मोहनारानी 'के		२२	११०	१३०
			पूर्व' छैलबटाऊ-	२१६	२५	११८	१३८
			रखें		३२	वाह्यत	वाह्यतः
	२४	हुरमसजी तातार	होरमसजी	२१८	२१	विद्यावर्धक	विद्यावर्धक
			तातेरा	२१९	४	शृखल	शृखला
	३३	'फरेदुम'	'फरेदुन'	२२०	१९	बोतब	बेताब
१४५	१०	—	लेखक के बाद	२२३	३४	स्त्रियों	स्त्रियों
			रखें–तथा	२२४	१७	लिये और ट्रिको	लिए ट्रिकों
	१२	आग्रा	आगा	२२६	१२	निदशक	निर्देशक
१४६	२९	मुब्बत	मुहब्बत		२०	१८८६ १९३७	१८८६ से १९३७
	३२	अभिमन्यू	अभिमन्यु	२२९	२५	फल	फूल
१४७	६	हुसेन	हुसेन	२३४	१२	स्वागत	स्वगत
	२१	कग्ने	कर	२३६	२३	२ ६	२२६
	३५	विद्या	विधा	२३७	७	केसरे-हिन्दी	केसरे-हिन्द
१५०	३४	११०	२१०	२४१	३	किन्तू	किन्तु
१५१	फोलियो	पुष्ठभूमि	पृष्ठभूमि	२४२	४	मी	भी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
२४३	२९	अनूलाल	अमृतलाल
२४६	२	लवबी	लवजी भाई
२४८	२३	सर्वश्रेष्ठ	सर्वश्रेष्ठ
२५६	१०	सूंदकों	संदूकों
२६४	१३	सुदना	सुदाना
	२०	माली	मार्गी
२६६	४	दूरक	दृश्य
२६८	१६	(क)–२८६-वत्	२८६ (क)-वत्
२७३	१५	अनुकूल	अनुकूल
२७९	२२	जहरा	जहरी
२८०	१२	सके	इसके
२८३	१३	कन्हैलाल	कन्हैयालाल
२८९	फोलियो	पुग	युग
	१९	निशरकुमार	शिशिरकुमार
२९३	३	ध्वनि	ध्वनि
	३५	बंगाली	बंगाली
२९८	२६	१९२२ ई०	१९१२ ई०
२९९	१५	शिवरज	शिवराज
	३०	मोटीराम	मोतीराम
३०२	३१	१३	१२२
	३५	का	तक
३०३	३३	ने विचार	ने जो विचार
३०४	१५	१९१३	१९२३
	२२	१२९	१३९
३०५	२५	मा० फकीरा	मा० फकीरा
	२९	मोतीराम	मोतीराम
३०८	२०	'आँखों'	'अखों'
३११	१२	लिदे	लिखे
३१२	१०	—	वाक्यांत पर संदर्भ सं. १८१ दें
३१४	२९	मी	भी
३२६	१२	तक्ष मूर	त अमूर
३३०	२६	कननोठ	कननेठ
३३९	२१	'सिद्धान्त, 'स्वा-तन्त्र्य'	'सिद्धांत-स्वा-तंत्र्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
	२७	स्वमत का	स्वमत या
	१५–१६	किना या	किया गया या
३४१	३३	मैं	मैं
३४४	३२	एकाकी	एकाकी
३४६	१२	वानना	वासना
३४७	५	—	वाक्यांत पर संदर्भ सं. २७२ दें
३५०	१६	जीवन-काल	जीवन-काल
	२६	ठेठे	ठेठ
३६१	९	फलस्वरूपां	फलस्वरूप
	११	मंडलिन	मंडलियां
३६३	२	वंगला	बंगला
३६५	१२	—	वाक्यांत पर संदर्भ सं० ४ दें
३६७	३०	प्रबन्धक	प्रबन्ध
३६९	३२	नीहाररंजन	नीहाररंजन
३७६	३३	'लैवेडेन्, 'रंगियों'	'लेवेडेन् रंगियों'
३७८	२२	सहन	सहन
३८३	१५	नागपर	नागपुर
३८६	३३	कुठ	कुंठ
३८७	३०	आवस्थायी	आवस्थायी
३८८	२	नाइब	नाइब
	३१	परिस्फुट	परिस्फुत
	३६	संस्य	संस्था
३९१	३०	की	को
३९३	८	१२१	१११
३९८	५	थयेटर	थियेटर
	३४	चन्द्रवनद	चन्द्रवदन
४०१	३३	शान्तिनिकेतन	शान्तिनिकेतन
४०५	६	प्रमावादी	प्रमादवादी
	२५	देसाई	देसाई का
	२६	(तीन)	(३)
४०६	२७	—	वाक्यारंभ पर उपशीर्षक दें- दि सटाड बल्केड

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
			थियेट्रिकल कंपनी,				रखें–को
			बंबई	४३५	४	से	के
४०७	३२	१९०१	१८९९		११	बलेटिन	बुलेटिन
४०९	३५	प्रत्तेक	प्रत्येक	४३६	१७	को	के
	३६	बृहस्पति	वृहस्पति	४४०	३४	जुड़ी	,बड़ा
४१०	१२	हिन्द	हिन्दू	४४१	३०	इरतही	सतही
	२७	भिनीत	अभिनीत	४४२	१२	अभिनीति	अभिनीत
४११	१	कानयुर	कानपुर		२८	नाटकी	नाटकीय
	२३	को	की		२९	बाबूराम	बूराराम
४१२	२	जाती	जाती		३५	गृहणी	गृहिणी
४१४	२	कलकत्ते	कलकत्ते	४४३	१८	से	के
४१७	१६	आधार	अवसर		२०	–	तथा के बाद
४२५	४	अध्यक्ष	एक उपाध्यक्ष				१ रखें
	९	मुगुलसरायं	मुगलसराय		२५-२६	काचनामाश्र-	काचनमाश्र-
	१४	–	कोतवाल के बाद			यन्ति	यन्ति;
			रखें--द्वारा		३३	–	वाक्यारंभ में के
		लोमर्पक	लोमहर्षक				रखें
	१५	–	(तत्कालीन रा-			बनाना	बनना
			जाओं . ..किया	४४४	५	–	लेकर के बाद
			गया था।) को				रखें–नौकर
			निकाल दें।		२२	श्री	थी
	३०	सूर	सूरे		२५	–	रोटी के बाद
४२६	१६	–	और के बाद				रखें–और
			रखें–जो	४४७	१	बोघापन	बोधायन
	१८	पटीश	पडोश		४	इन्दसभा	इन्दरसभा
	२८	तीन	टीन		१५	अपनी	अपने
४२७	१	रोल	ढोल		१७	दर्शन	दर्जन
	२५	प्रदेश	प्रदेय	४४८	५	डेवलवमेंट	डेवलपमेंट
४२९	२६	उपन्यास	उपस्थापन		१७	उपास्थापको	उपस्थापको
	३०	'९ अगस्त,१९-	(९ अगस्त,	४५०	३०	हेंग्ड	हैंग्ड
		४५'	१९४५)		३५	हरणबंध	दृश्यबंध
	३१	दो	निरस्त कर दें	४५१	८	श्रयू	श्र्यू
४३२	६	पश्चाताप	पश्चात्ताप		१०	–	आर्ट थियेटर के
	२४	'कस्यविद्नम्'	'कस्यचिद्नम्'				बाद रखें–में
४३४	१९	–	स्थापना के बाद		१९	–	'आगरा बाजार'

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
			तथा 'के' के मध्य रखें—हिन्दी
४५२	२३	सरवदा	सरबंदा
	३१	स्या०,(१९६५ ई०)	(स्या०, १९६५ ई०)
४५३	६	आछ	आद्य
	८	शूद्र	शह
	११	बी० पी० कांरल	बी०वी० कारंत
	२१	—	जोगलेकर के बाद रखें—का
	२४	बल	दल
४५४	२४	गुत	गुह
	३५	प्लासी	प्यासी
४५५	७	अनामिका	इसे प्रस्तर के दूसरे वाक्य (पंक्ति ८ में) के पूर्व रखें
	२५	६१५	३१५
	३१	रामचौधरी	रायचौधरी
	३२	सेवेरियशन	सेबेस्शियन
४५६	४	महोश्रेष्ठि	महाश्रेष्ठि
	२५	ईडियस	ईडिपस
		आम्रा	आगा
	२८	लवसा	लवसा
	३६	अस्थायी	स्थायी
४५७	१२	व्याख्यानशाला	व्याख्यानमाला
	१४	उनसे	उनके
	१७	—	आधुनिक के बाद रखें—युग
४५८	२	बाक	चाक
	२६	परम्परा-मुक्त	परम्परा-भुक्त
४६०	११	हिन्दी भारतीय	हिन्दीतर भारतीय
	२७	चुगतरि अदिल	चुगतई आदिल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
४६१	१५	अल्बेअर	आल्बेमर
	१८	'ज्ञान देव', 'शुतुरमुर्ग'	ज्ञानदेव-'शुतुर-मुर्ग'
	१९	बहिल	बादल
	२४	—	मे के बाद रखें—सत्यदेव दुबे
	२६	करनाड के 'ह्यवदन' का	कारनाड के 'हयवदन' को
	२७	हरचन्द	दृश्यवध
	३०	इस्टडं	इस्टर्ड
४६२	२	अनन्तर	अन्तर
	११	कर	चल
	२८	१९२५	१९५५
	३६	बार	चार
४६३	३१	—	समन्वित के बाद रखें—कथा
४६४	३३	—	मंचन के पूर्व रखें—के
४६५	२८	काडा नाट्य भारती	काडा (नाट्य भारती)
४६६	६-७	कर्मल एस० ए०	कर्नल एच०वी०
		गुहे	गुप्ते
	१०	परामीना	पशमीना
	१३	ऐशया	रेशमा
	२०	रामप्रसाद	राजप्रासाद
	२५	श्यामनन्द	श्यामानन्द
	३०	'तो भी नह्वचे'	'तो मी नव्हचे'
४६९	६	परिचर्या	परिचर्चा
	१९	'ला-कुइजे दे जाजे'	'ला-कुइजो दे जांजे'
४७०	३०	नौहियाल	नौटियाल
४७१	१३	—	बादल के बाद रखें—सरकार-कृत
		श्री	थीं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
	१४	अमित	अजित	४८२	२१	दारिद्र	दारिद्र्य
	३०	मनिस	मूनिस	४८३	३	१९	२९
	३२	कैंम्फर	कैम्फर		५	या	तथा
४७३	२	–	बंगाली के पूर्व		८	एग्न	एग्रन
			'तथा' को निर-		१७	–	'नवजीवन' के
			स्त करें				बाद रखें–में
	६	के	ने		३३	भारत	भरत
४७४	१	चेतन सिंह	चेतसिंह		३४	तीनो	तीनों
		पंजाबी	पंजानी	४८४	२३	त्रिपाश्वींव	त्रिपार्श्वीय
	७	मीस	मीरन		२४	उनकी	उनका
	१०	किया था	की थीं	४८५	१६	१९५८	१९५५
	३३	कृपलानी	कृपालानी		२३	दुल्लन	दुल्हन
४७५	६	जागे	जागी	४८६	१२ तथा १६	'रक्तदान'	'रत्नदान'
	१०	के	ने	४८७	६	बूदकी	सूदकी
	३५	तु	टु		२९	–	रही के बाद 'हैं'
		–	उर्दू के पूर्व				को निरस्त करें
			रखें–का	४८८	१२	नाला	नाट्य
४७७	२७	नया	तथा			नवीं	नयी
	३०	यह-निर्देशन	सह-निर्देशन	४८९	२५	'सेन्टिगनी'	'एन्टिगनी'
४७८	११	–	गिरीश के बाद	४९०	१३	के	ने
			रखें–कारनाड		१८	नामक	नाम
		रंग	ढंग	४९१	१७	राकेश मोहन-	मोहन राकेश-
	३७	सप्तग्रणी	सप्ताग्रणी			कृत	कृत
४७९	३६	दिवसी	दिवसीय		२२	–	तथा के पूर्व
४८०	७	सूर	सूरे				रखें–प्रयोग
४८१	९	–	दिन के बाद	४९२	३	वनिया	कल्लू बनिया
			रखें–के		१०	—	करते के बाद
	११	३३१	३३१-क				रखें–हैं
	१२	प्रमाद	प्रामाद		१३	ईडियस	ईडिपस
		–	परिप्रेक्ष्य के		२०	गंगशिल्प	रंगशिल्प
			बाद रखें–की			–	कारण के बाद
	१३	–	वाक्यात में संदर्भ				रखें–नाटक
			दें–३३१ क		३१	–	नाटक के बाद
	१६	अबारू	आबरू				रखें–में
	३२	का	की		३३	में	को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
	३६	—	रूप के बाद रखें-से
४९३	५	उमको	उसमें
	२१	वघु	लघु
	२४	कार्नर	वार्नर
	२९	—	अवसर के बाद रखें—पर
४९४	१	चेतना	चेना
	१०	—	अवसर के बाद रखें—पर
	२१	—	कला के बाद रखें—और
	२२	१९५२ ई०	१९६२ ई०
४९५	२४	अभिनंदन	अभिनदनपूर्वक
	२९	की	को
४९६	२०	पेरेंडेले	पिरेंडेलो
		चन्द्रजित	इन्द्रजित
	२७	—	नाट्य के बाद रखें—संघ
४९७	३४	मक्षु	मिक्षु
		अभिनेत्रियों के अभिनयों में	
४९८	१	—	वाक्यांत पर सदर्भ संख्या रखें—३५८
४९८	२३	—	वाक्यात पर सदर्भ दें--३५९
४९९	१	पाटिलपुत्र	पाटलिपुत्र
५००	४	पटिलपुत्र	पाटलिपुत्र
	५	पाटिलपुत्र	पाटलिपुत्र
	२०	१९७० का	१९७० को
	३१	बोवाय	बोधायन
५०१	३३	संसयएँ	संस्थाएँ
५०२	३१	—	लोक-संस्कृति के बाद रखें— एव कला

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
		—	चित्राकन के बाद रखें—तथा फिल्मायन
५०४	२	'पाणिहारी'	'पणिहारी'
५०५	११	कहुला	करहला
	१६-१७	मानावत	मानावत
	२३-२४	नगेन्द्र मानावत	नरेन्द्र मानावत
५०६	२	२७६	३७६
	२५	जुनेखा	जुनेजा
५०७	१२	मत्र	मंच
	१५	खंडकरे	खडकर
	२२	प्रतिक्रियाओ	प्रतियोगिताओं
५०८	१८	भारतीय	भारती
	१९	को	का
	२१	पद्या	पद्मा
५०९	३	बांस के मंच	व्यास के परिक्रामी मंच
	६	४६४	४५४
	८	बी० सी० केसकर	बी० वी० केसकर
	१५	तमिल	सिन्धी
	१८	अब स्व०	(अब स्व०)
	२८	'सरहद'	'साहब'
	३५	१	९
५१०	२	तेलगू	तेलुगु
	६	अपाढ	आपाढ
	३१	इशार	इस्मत
	३६	शर्ते	शर्मा
५११	१२	शर्मा	शर्मा
५१२	१४	नाटक	नाटककार
५१३ संदर्भ	१३	६, वत्	६-वत्
५१९ संदर्भ		२१८-११९	२१८-२१९
५२१ संदर्भ		२६०-२७१	२६०-२६१
”		२८२	२८२
”		३८७	२८७

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
५२२	संदर्भ ३१२	वहीब	हुवीब
५२४	संदर्भ ३३५	एास्वात्य	पाश्चात्य
	संदर्भ	३५६	३५७
	"	३५७	३५८
	"	३५८	३५९
५२५	संदर्भ ३७०	ओर	निरस्त करें
५३१	१४	ओर	और
	२३	नायक	नाटक
५३३	९ तथा १७	अर्थ	अर्द्ध
५३५	१०	ओर	और
	२२	—	प्रवृत्ति के बाद रखें–गीत
५३६	१४	नाटकों	नाटकों
५३७	३१	आल्हाद	आह्लाद
५४०	२५	वडी	बड़ी
५५२	३१	बेकार	बेकर
५५७	१३	को	को
	१४	समीक्षा	समीक्षक
५५९	१८	नाट्याभिनिर्णानक	नाट्याभिनिर्णायक
५६४	३०	दृश्यबंधों	दृश्यबंधो
५६५	१३	१९	२०
	२९	थे	था
	३३	रवींदन्द्र नस	रवीन्द्र सदन
५६६	८	१५	१६
	२०	आवश्यकताओं	आवश्यकताओं
५६७	१३	का	या
५६९	६	व्यवसायिक आदोलन रंग-मच	व्यावसायिक रंगमंच आन्दोलन
	१९	नाट्यालोक	नाट्यालोचक
५७०	१७	स्वचारिता	स्वैराचारिता
५७१	१६	सीमाओं को	सीमाओं की
	२५	प्रतिपादन	प्रतिदान
५७२	९	पाद्य	वाद्य
	१५	—	या के पूर्व रखें–एक
		निललनी	निकलनी
	३२	—	परिसीमा के बाद रखें–है
५७३	१	है।	निरस्त करें।
	संदर्भ ८	नैमिचन्द्र	नेमिचन्द्र
	संदर्भ १६	काननुर	कानपुर
५७४	संदर्भ ३६	वं., ११५०,पृ०	वें०, १९५०
	संदर्भ ४०	स्वतन्त्रय	स्वातन्त्र्य
५७७	१३	बृजरत्नदास	ब्रजरत्नदास
	१४	मारतेन्दु	भारतेन्दु
	२२	विष्कंभक	विष्कभक
५७८	८	अविनव	अभिनव
	१०	कर	कहा
५७९	२४	वस्तुत	वस्तु
	३४	—	होने के बाद रखें-पर
५८०	३६	—	जन-नाटकों के बाद रखें—के
५८१	१	धारा	निरस्त करें
	१७	ओर	और
	संदर्भ ४	उपशचन्द्र	उमेशचन्द्र
५८२	संदर्भ १०	संघ	संपा०
		जसवंत	जयकांत
	संदर्भ १२	तिरुमुक्ति	तिरुभुक्ति
	संदर्भ १९	महादेव	महादेवः
		भवद्धिहिमालये	भवद्भिर्हिमालये
		सुतामर्पय्पति	सुतामर्पयति
	संदर्भ २४	११५०	१९७०
५८३	६	छुटी	छूटी
५८४	क्र० ८	ननजीवन	नवजीवन
	क्र० १८	१९३९	१९३०
	क्र० २६	उपन्थास	उपन्यास
५८५	क्र० ३७	१९२३	१९२९

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध/निर्देश
	क्र० ५७	चोखम्भा	चौखम्भा
५८६	क्र० ६६	११५८	१९५८
	क्र० ८९	मू. ले.	भूमिका लेखक
५८७	क्र० १०२	—	बलवन्त के बाद रत्ने–राय
	क्र० १२१	,,	छठा संस्करण।
	क्र० १२३	द्रोपदी	द्रौपदी
५८८	क्र० १२९	रामकूमार १९५९	रामकुमार १९४९
	क्र० १४३	१९६४	१९३४
	क्र० १५२	कृतित्त्व	साहित्य, इलाहाबाद
	क्र० १५३	(डॉ०) विद्यावती लक्ष्मण राव नम्र, हिन्दी रंगमंच और प० नारायण प्रसाद 'बेताब', वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९७२।	
५८९	क्र० १५८	(डॉ०)	निरस्त करें
	क्र० १६४	प्रेम	प्रेस
५९१	क्र० १५	प्रमनाथ	प्रमथनाथ
५९२	क्र० १	—	शास्त्री के बाद रखें-नाट्यशास्त्र
	क्र० ७	रूपदेव	रुखदेव
	क्र० २०	बोल	अबोल
५९३	क्र० ६	सिद्धान्त सिरो-मणि	सिद्धांतशिरो-मणि
	क्र० ६ (अँग्रेजी)	ऐमेच्चर	एमेच्यर
		सुरे	सूरें
	क्र० ७	एवलार्ड	एबलार्ड
	क्र० ८	तिरु मुक्ति	तिरुभुक्ति
५९४	क्र० १६-ख	१६-ख	२०-क
		रंगावन	रंगायन
५९५	क्र० २८	६ अप्रैल, १९६८	४ जुलाई, १९-७६